HINDI




श्री रविशंकर शुक्ल
अभिनंदन ग्रंथ

प्रकाशक
रामगोपाल माहेश्वरी
प्रधान मन्त्री, म. प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन

मूल्य
साधारण संस्करण १०)
राज संस्करण १५)

प्राप्ति-स्थान
म. प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यालय
श्री फतेहचन्द मोर हिन्दी भवन
वर्धा रोड, नागपुर १



पण्डित रविशंकर शुक्ल

रवि से ले प्रकाश शंकर से
जन-शिव का उद्देश्य विमल,
अपनी हृदय-शुक्लता से हैं
जिनका यश सुश्वेत कमल।
उन विभुति के चरणों में
अर्पित यह पत्र-पुष्प अभिराम,
चिरजीवी हों श्रेय हमारे
श्रेय हमारे श्रद्धा धाम ॥

—श्री उदयशंकर भट्ट

सम्मानपूर्वक समर्पित

दिनांक २ अगस्त १९५५


७८वीं
जन्म-तिथि

मुद्रक

रंगीन चित्र :

न्यू जेक प्रिन्टिग वर्क्स, बम्बई

मुख-पृष्ठ और दुरंगे पृष्ठ :

शिवराज फाइन आर्ट लिथो वर्क्स, नागपुर

कलेवर

सुबोध सिन्धु प्रेस, नागपुर

शासन मुद्रणालय, नागपुर

(सम्पूर्ण विविध खण्ड, साहित्यखण्ड के पृष्ठ
१५५ से २०६ सम्पूर्णसन्देश और
पृष्ठ ५१ से शेष जीवन खंड)

सहायक मुद्रक :

सुरुचि प्रेस, नागपुर

श्री शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादन समिति—

ब्रिजलाल बियाणी
डा. बल्देवप्रसाद मिश्र
डा. हीरालाल जैन
विनय मोहन शर्मा
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
प्रभुदयाल अग्निहोत्री
नर्मदाप्रसाद खरे
कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर'
रामगोपाल माहेश्वरी

रंगीन चित्र सूची

शुक्ल

अभिनंदन-ग्रंथ

श्री शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ



दानदाताओं की सूची

१ श्री सेठ किरोड़ीमल जी व सेठ पालूराम जी	रायगढ़	२१०१ रुपये
२ श्रीमती रानी साहिबा	सारंगढ़	२१०० ,,
३ श्री एन. के. डूंगाजी	रायपुर	१५०१ ,,
४ एक मित्र हस्ते श्री बियाणी जी	नागपुर	१५०१ ,,
५ राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह जी	नागपुर	१५०० ,,
६ श्री परमानन्द भाई पटेल	जबलपुर	१००१ ,,
७ मे. बागमल वीरमल	रायपुर	१००१ ,,
८ सेठ खुशालचन्द जी डागा	नागपुर	१००१ ,,
९ श्री नरसिंहदासजी मोर तथा श्री दुर्गाप्रसादजी सराफ	नागपुर	१००१ ,,
१० श्री पी. बी. काले, प्राविन्शिअल ओटोमोबाइल कं.	नागपुर	१००१ ,,
११ मे. नागपुर इलेक्ट्रिक लाइट एण्ड पावर कम्पनी	नागपुर	१००१ ,,
१२ एक मित्र हस्ते श्री बियाणी जी	नागपुर	१००१ ,,
१३ मे. एम. पी. स्टेशनरी इम्पोरियम, माउन्ट रोड,	नागपुर	५०१ ,,
१४ मेसर्स करमचन्द थापर एण्ड ब्रदर्स, (दि बल्लारपुर पेपर एण्ड स्ट्रा बोर्ड लि)	नागपुर	५०० ,,
		१६,७११ रुपये

यह क्यों ?

मानव की महानता दो रूपों में प्रगट होती है। कहीं किसी गुण विशेष की प्रतिशयता में महानता है तो कहीं विविध और अनेक गुणों के संविकास की जीवन-शक्ति में महानता का दर्शन होता है। आदरणीय पण्डित रविशंकरजी शुक्ल का जीवन दूसरे प्रकार की महानता का उदाहरण है। उनमें अनेक गुणों का समुच्चय है और जीवन के अनेकविध पहलुओं में उनका जीवन विकसित हुआ है। मध्यप्रदेश में आज उम्र के नाते उनका अपना स्थान है, स्वास्थ्य-सम्पत्ति में इस अवस्था में भी उनकी अपनी विशेषता है, कार्यक्षमता में तरुणों को भी लज्जित करने की क्रियाशीलता है, विचारों की दृढ़ता है, कार्य की लगन है, बालकों के समान हंसी की पवित्रता है और कभी-कभी उनकी दृढ़ता में कठोरता के दर्शन हो जांय तब भी उसके भीतर प्रेम का प्रवाह है और अहिंसा का स्रोत है। उनका हृदय उनके शरीर के समान ही विशाल है और गहन है जिस में साथियों के स्वल्प अपराधों को समा लेने की शक्ति है। किसी के कन्धे पर हाथ रखते ही या किसी के हाथ को दृढ़ता से पकड़ लेते ही उनके प्रेम का स्रोत मानों बह उठता है और एक अनोखी निकटता का अनुभव होता है। उन्हें साहित्य में रस है। संगीत से प्रेम है। इस अवस्था में भी नवीन विचारों को ग्रहण करने की वृत्ति तथा जन-सेवा और जन-कल्याण की उत्कट अभिलाषा है। उनकी ज्ञानपिपासा आज भी प्रखर है।

राजकर्ताओं में उनकी उम्र के कारण उनकी खास विशेषता है और वे उनमें Grand old man की श्रेणी में अग्रणी हैं। उनके समस्त गुणों का वर्णन करना कुछ कठिन है और जितनी उनकी निकटता में मनुष्य आता है, उतना ही उनके विशिष्ट गुणों का उस पर असर पड़ता है, छाप पड़ती है और वह सदैव के लिए उनका बन जाता है। मनुष्यों को और साथियों को निकट रखने का उनमें अजीब जादू है और इसी कारण समस्त मध्यप्रदेश में वे आज इतने लोकप्रिय हैं और उनका जितना व्यक्तिगत परिचय है उतना और किसी का नहीं है।

हिन्दी भाषा की शुक्ल जी ने आजीवन सेवा की है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष के नाते उन्होंने मार्ग-दर्शन किया है। हिन्दी की प्रगति के लिए उनका सतत परिश्रम रहा है। मध्यप्रदेश में हिन्दी को राजभाषा का जो स्थान मिला है इसका सारा श्रेय उनकी दृढ़ता और हिन्दी-प्रेम को ही है। मध्यप्रदेश में हिन्दी भाषा के क्षेत्र में व्यापक सेवा के नाते यदि किसी का सर्व प्रथम स्थान है तो वह आदरणीय शुक्ल जी का। अतः साहित्य सम्मेलन उन्हें यह अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर अपने कर्त्तव्य का पालन ही कर रहा है।

नागपुर
दिनांक, २ अगस्त १९५५

बिजलाल बियाणी
अध्यक्ष,
म. प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

निवेदन तथा आभार

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १६ वें दुर्ग अधिवेशन में छत्तीसगढ़ के साहित्य-सेवी मित्रों ने एक प्रस्ताव द्वारा यह भावना व्यक्त की कि सम्मेलन की ओर से प्रान्त के वयोवृद्ध अग्रणी पं. रविशंकर शुक्ल को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जावे। तत्पश्चात् सम्मेलन की कार्यकारिणी ने अपनी दिनाङ्क २८ नवम्बर १९५४ की सभा में इस विषय में विचार किया और यह निश्चय किया कि श्री शुक्ल जी की हिन्दी सम्बन्धी दीर्घ तथा विशिष्ट सेवाओं को दृष्टिगत रखते हुये उन्हें सम्मेलन की ओर से उनके आगामी ७९ वें जन्म-दिवस पर "अभिनन्दन ग्रन्थ" अर्पित किया जावे। यह ग्रंथ उसी निश्चय की पूर्ति है।

पं. रविशंकर जी शुक्ल का नाम समस्त देश में सुपरिचित हैं। उनकी सेवायें सुदीर्घ तथा विविध हैं। वे इस प्रान्त के सार्वजनिक जीवन में उस समय आये, जब हमारे देश की चेतना ने जागृति की प्रथम बलवती करवट ली और तब से, देश की राजनैतिक प्रगति एवं राष्ट्रीय बल-वृद्धि के साथ, उनकी सेवायें सम्बद्ध रही हैं। राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक, तीनों क्षेत्रों में उन्होंने बन्दिनी माता का उत्पीड़न अनुभव किया और इन तीनों क्षेत्रों में, जो हमारे देश की जागृति की साधक व पारस्परिक पूरक प्रवृत्तियां रही हैं, उनकी सेवाओं का योग महत्त्व-पूर्ण रहा है। पं. रविशंकर जी शुक्ल को वर्तमान में प्रान्त का सर्वोपरि व्यक्तित्व का गौरव प्राप्त है और यह उनकी लोकप्रियता का मेरुदण्ड है। प्रान्तीय क्षेत्र में स्वाधीन शासन की प्रथम झलक के समय सन् १९३७ में खरे काण्ड के बाद ही वे प्रान्त के प्रधान मंत्री निर्वाचित हुये और पश्चात् दोनों चुनावों में अपना स्थान अक्षुण्ण रख वे प्रान्त के मुख्य मन्त्री की धुरी आज भी ओजपूर्वक सम्हाले हैं। इस बीच राजनैतिक उतार-चढ़ावों से यह प्रान्त मुक्त नहीं रहा, तथापि श्री शुक्ल जी अपने व्यक्तित्व व विशेषताओं—जिनमें बढ़ती उम्र की लोक-श्रद्धा का ही हाथ नहीं, उनके अपने मस्तिष्क की शक्ति, हृदय का माधुर्य और शारीरिक कार्य-निष्ठा सभी का प्रचुर प्रमाण सम्मिलित है, यदि सबका सम्मान प्राप्त करते हुये इस पद के अधिकारी बने रहे, तो यह उनके व्यक्तित्व के समय की कसौटी पर खरा सिद्ध होने का स्वयं प्रमाण है।

परन्तु उनके कर-कमलों में यह अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का कारण उनका उक्त पद नहीं, यद्यपि वह स्वयं भी उसका अधिकारी कहा जा सकता है। ग्रन्थरूपी यह श्रद्धा-सुमन तो उनकी विशिष्ट हिन्दी सम्बन्धी सेवाओं को दृष्टिगत रख के ही प्रदान किया जा रहा है। पं. रविशङ्कर जी शुक्ल इस प्रान्त के हिन्दी संगठन के जनक कहे जा सकते हैं। उनके उद्योग से ही सन् १९१८ में मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। आपने प्रान्त में भ्रमण कर उसे सफल बनाने का उद्योग किया। इसके बाद भी वे प्रायः प्रत्येक सम्मेलन में उपस्थित रह संस्था को सक्रिय बनाने में सहायता देते रहे। उनकी इन सेवाओं के सम्मान स्वरूप ही सन् १९२२ के पंचम नागपुर अधिवेशन का अध्यक्ष पद आपको प्रदान किया गया। उनका हिन्दी सम्बन्धी दृढ़ अनुराग और राष्ट्र-निर्माण के लिये उसकी चरम उपयोगिता किस आस्था और आत्मविश्वासपूर्ण शब्दों में बोलती रही हैं, यह उनके अध्यक्ष पद से दिये गये प्रथम

भाषण से ही व्यक्त होता है। हिन्दी की एकान्त साधना उनका लक्ष्य रहा है—जो चाहे साहित्य की कृतियों में न हो, परन्तु हिन्दी के पुरस्कार की उनकी प्रवृत्तियों और ध्वनियों में बोलता रहा है। भारत की संविधान सभा में उन्होंने प्रबल वेग के साथ हिन्दी का समर्थन किया, जो स्मरणीय रहेगा। लखनऊ के नागरी लिपि सम्मेलन में भी उनकी हिन्दी और नागरी लिपि सम्बन्धी आस्था उतनी ही तीव्रता से अभिव्यक्त हुई। अंग्रेजी के स्थान में इस प्रान्त की प्रादेशिक भाषाओं—हिन्दी–मराठी को राज्यभाषा घोषित करने और शासन का प्राय: सभी कार्य, कुछ अपवादों को छोड़कर, हिन्दी में करने का निर्धारण, उनका भारत में राज्यभाषाओं को उनका स्वाभाविक अधिकार प्रदान करने का प्रथम साहसपूर्ण निश्चय है। इस कदम के द्वारा उन्होंने राज्य-भाषाओं का गौरव उन्हें पुन: प्रदान किया और हिन्दी की चिरसाधना की पूर्ति की, जिसे इस प्रदेश की बहुसंख्यक जनता की मातृभाषा होने का ही श्रेय प्राप्त नहीं है, बल्कि जो संविधान में उद्घोष के बाद अब राष्ट्र की निर्विवाद राष्ट्रभाषा-पद की अधिकारिणी है। इसके पूर्व मध्यप्रदेश सरकार की ओर से डॉ. रघुवीर को सम्मानपूर्ण आश्रय प्रदान कर शब्द निर्माण के क्षेत्र में भारत में प्रथम व्यापक प्रयास भी कम उल्लेख का विषय नहीं है। डॉ. रघुवीर के हिन्दी सम्बन्धी इस महान प्रयत्न की पार्श्वभूमि का महत्त्व तो सदा रहेगा, चाहे उसका मूल्य आज अधिक या न्यून नापा जाता हो। श्री शुक्ल जी की हिन्दी सम्बन्धी निष्ठा उनके उद्‌गारों में सदैव बोलती रही है और उस निष्ठा को ही यह श्रेय प्राप्त है कि वे देश में हिन्दी के दो–चार प्रमुख पुरस्कर्ताओं में से एक माने जाते हैं। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा उन्हें 'अभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित करने के निश्चय की यही भूमिका है। इस निश्चय द्वारा सम्मेलन उनकी हिन्दी सेवा की प्रशंसा कर रहा है, उनका ऋण चुकाना तो प्रान्त के लिये संभव नहीं।

परन्तु शुक्ल जी की हिन्दी सेवाओं के साथ उनकी अन्य उतनी ही महत्त्वपूर्ण सेवाओं का विस्मरण या उनकी उपेक्षा संभव नहीं और यही कारण है कि ग्रन्थ सम्पादन समिति ने यह उचित समझा कि ग्रन्थ की सामग्री मध्यप्रदेश के सभी उच्छ्‌वासों का प्रतिनिधित्व करे—वह मध्यप्रदेश का प्रतिनिधि चित्र पाठकों के सम्मुख रक्खे। इसी कल्पना से प्रेरित हो ग्रन्थ को चार खण्डों में विभाजित किया गया है जिनमें भूतकाल का चित्र, वर्तमान का विवरण और भविष्य की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु यह निश्चय इतना विशाल था कि ग्रन्थ में उसकी यदि झलक मात्र दिखलायी पड़े तो यह आश्चर्यजनक नहीं। तथापि वह मध्य-प्रदेश की गति और प्रगति का सबल चित्र सिद्ध होगा—मध्यप्रदेश के निर्माण में जिनका महत्त्वपूर्ण हाथ है, उन श्री शुक्ल जी के बलशाली चरित्र की भांति ही, इसमें कोई संदेह नहीं।

इस ग्रन्थ के आलेखन और सम्पादन में सम्पादन समिति के मित्रों के साथ विविध उप-समितियों के संयोजकों तथा अनन्य मित्रों का सहयोग रहा है। अत्यल्प समय में यदि यह ग्रंथ मूर्तिमान रूप धारण कर रहा है तो वह इसी सहयोग के बल पर। डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र, श्री विनयमोहन शर्मा तथा डॉ. हीरालाल जी जैन ने ग्रंथ के सम्पादन का विशेष भार वहन किया है। श्री प्रयागदत्त जी शुक्ल का सहयोग हर विभाग की सामग्री जुटाने में, उनकी दीर्घ साहित्य-साधना की भांति ही, विशेष प्रशस्त रहा है। श्री कालिकाप्रसाद जी दीक्षित ने प्रान्त की भूमिका से उतने परिचित न होते हुए भी सतत उद्योग द्वारा साहित्य, कला और संगीत सम्बन्धी सामग्री सम्मुख लाने में बड़ी लगन का परिचय दिया है।

श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति ने जीवनी-विभाग के आलेखन व संग्रह तथा ग्रन्थ की छपाई आदि का लगनपूर्वक भार सम्हाला है। श्री शिवनारायण जी द्विवेदी तथा श्री राजेन्द्रप्रसाद अवस्थी ने प्रूफ देखने में सहायता दी है। सम्मेलन के स्थायी कर्मचारी श्री रेवाशंकर परसाई ने सम्मेलन के अन्य कार्यों की भांति ही इस कार्य के प्रति भी लगन का परिचय दिया है। सुबोध सिन्धु प्रेस के संचालक श्री एन. एल. प्रयागी तथा शासन मुद्रणालय के श्री वी. के. अय्यर का भी मैं आभारी हूं, जिन्होंने असुविधाओं के बावजूद अल्पकाल में मुद्रण का कार्य पूर्ण किया। शिवराज फाइन आर्ट लिथो वर्क्स के अधिपति श्री बाबूराव धनवटे व न्यू जैक प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई के संचालक श्री तेकसरिया बंधु के प्रति भी मैं आभार प्रदर्शित करता हूं, जिन्होंने मुखपृष्ठ तथा भीतर के रंगीन चित्रों की छपाई में अच्छा सहयोग दिया। श्री मुलगांवकर, श्री आठवले और श्री कुलकर्णी आदि कलाकारों ने ग्रंथ को सजाने में सहायता दी है। ग्रन्थ का कलेवर जिनकी सामग्री से पुष्ट हो रहा है उन लेखक-मित्रों का महत्त्व तो स्वयं सिद्ध ही है—मैं इन्हें क्या धन्यवाद दूं?

अन्त में, मैं श्री शुक्ल-अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के सदस्यों तथा ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले सज्जनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं, जिन्होंने अपने सहयोग तथा सहायता से इस ग्रन्थ के निर्माण का निश्चय पूर्ण होने में मदद दी है।

सम्मेलन के अध्यक्ष श्री ब्रिजलाल जी बियाणी को धन्यवाद देना तो संभवतः मेरी मर्यादा के बाहर होगा, जिनकी सतत प्रेरणा और सक्रिय अभिरुचि से ही ग्रन्थ की योजना इतने शीघ्र मूर्त रूप धारण कर सकी है।

सम्मेलन कार्यालय
२ अगस्त, १९५५

रामगोपाल माहेश्वरी
प्रधान मंत्री, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा
प्रधान संयोजक, शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ समिति

श्री शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ समिति

कार्य का संक्षिप्त विवरण

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दिनांक २८ नवम्बर १९५४ की कार्य-समिति की बैठक में निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुआ:—

"पं. रविशंकर जी शुक्ल सम्मेलन के जन्मदाताओं में से हैं तथा उनकी हिन्दी सम्बन्धी सेवायें, जिनमें संविधान सभा में हिन्दी के सम्बन्ध में प्रयत्न, नागरी लिपि सुधार सम्मेलन में विशिष्ट योग, शासकीय कार्य में प्रान्तीय भाषाओं का समावेश आदि कदम अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। इन सेवाओं तथा आपकी वृद्धावस्था को देखते हुए सम्मेलन यह आवश्यक समझता है कि आगामी जन्म-दिवस पर आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाय।"

इस कार्य के लिए सम्मेलन ने ६ सज्जनों की एक उपसमिति गठित की। इस समिति को अधिकार दिया गया कि वह इस सम्बन्ध में प्रान्त के अन्यान्य विशिष्ट सज्जनों को समिति में सम्मिलित कर ले। इस उपसमिति की बैठक दिनांक १६ जनवरी १९५५ को हुई जिस में यह निश्चय किया गया कि वर्तमान सदस्यों को मिलाकर कुल ३१ सदस्यों की शुक्ल-अभिनन्दन-ग्रन्थ-समिति गठित की जाय। तदनुसार गठित समिति की नामावलि इस प्रकार निश्चित हुई:—

श्री ब्रिजलाल बियाणी	अध्यक्ष
पं. माखनलाल चतुर्वेदी	सदस्य
डा. बलदेव प्रसाद मिश्र	"
श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी	"
पं. कुंजीलाल दुबे	"
महन्त लक्ष्मीनारायण दास	"
श्री लोचनप्रसाद पांडे	"
डा. हीरालाल जैन	"
श्री प्रयागदत्त शुक्ल	"
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	"
डा. वेणीशंकर झा	"
महामहोपाध्याय व्ही. व्ही. मिराशी	"
ब्योहार राजेन्द्रसिंह	"
श्री विनयमोहन शर्मा	"
श्री वि. रा. थोक	"
श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री	"
श्री रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल'	"

श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी	सदस्य
श्री शेषराव वानखेड़े	"
श्री मनोहरभाई पटेल	"
श्री नर्मदाप्रसाद खरे	"
श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित "कुसुमाकर"	"
श्री नरसिंहदास मोर	"
रानी पद्मावती देवी	"
श्री परमानन्दभाई पटेल	"
श्री किरोड़ीमल अग्रवाल	"
श्री सूरजमल सिंघी	"
श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति	"
श्री उमाशंकर शुक्ल	"
श्री खुशालचन्द डागा	"
श्री रामगोपाल माहेश्वरी	प्रधान संयोजक

समिति की इसी बैठक में ग्रन्थ की सम्पादन समिति का भी निर्वाचन हुआ। यह भी निश्चय किया गया कि ग्रंथ में चार खण्ड रहें जो निम्न सामग्री के अनुसार विभक्त हों :—

१. जीवनी एवं संस्मरण।
२. प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व।
३. मध्यप्रदेश का साहित्य।
४. विविध—जिसमें मध्यप्रदेश के सिंहावलोकन के ढंग की सामग्री भी रहे।

उक्त विषयों के आधार पर सामग्री के संकलन हेतु निम्न उपसमितियां गठित की गईं।

१. **जीवनी एवं संस्मरण :—**	डा. वेणीशंकर झा श्री हृषीकेश शर्मा श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति (संयोजक)
२. **साहित्य :—**	श्री विनयमोहन शर्मा श्री रामेश्वर शुक्ल "अंचल" श्री प्रभुदयाल अग्निहोत्री श्री नर्मदाप्रसाद खरे (संयोजक)
३. **मध्यप्रदेश का प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व :—**	डा. हीरालाल जैन श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय महामहोपाध्याय श्री व्ही. व्ही. मिराशी श्री प्रयागदत्त शुक्ल (संयोजक)

४. **सिंहावलोकन : (मुख्य समिति)** डा. बलदेवप्रसाद मिश्र
श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी
श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह
पं. कालिकाप्रसाद दीक्षित "कुसुमाकर"
(संयोजक)

५. **कला एवं प्राकृतिक सौन्दर्य :—** ब्योहार राजेन्द्रसिंह
श्री ईश्वरसिंह परिहार
श्री गोपाल शर्मा
श्री जगदीश चतुर्वेदी

६. **सार्वजनिक जीवन :—** डा. बलदेवप्रसाद मिश्र
श्री उमाशंकर शुक्ल

७. **प्राकृतिक एवं आर्थिक साधन :—** प्राचार्य पन्नालाल बल्लुआ
श्री खुशालचन्द डागा
श्री रामानन्द झा

८. **मराठी साहित्य :—** श्री आर. जी. सर्वटे
श्री व्ही. आर. ओक
श्री त्रि. गो. देशमुख

अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी अनुमानित व्यय-पत्र भी स्वीकार किया गया।

समिति की दूसरी बैठक दिनांक ६ फरवरी १९५५ को हुई जिसमें ग्रन्थ की सामग्री के सम्बन्ध में विस्तृत विचार हुआ।

इस बीच विभिन्न उपसमितियां एवं सम्पादन समिति अपने कार्य में जुटी रहीं। समय की अत्यल्पता को देखते हुए पचमढ़ी में सम्मेलन का एक विशेष शिविर एक माह के लिए आयोजित किया गया। सम्पादन समिति की बैठकें भी इस काल में होती रहीं। सम्पादन समिति की अन्तिम बैठक १० जुलाई को हुई।

श्री शुक्ल अभिनन्दन ग्रंथ समिति की दि. २२ जुलाई की बैठक में समारोह के सम्बन्ध में विचार हुआ।

ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य के लिए जिन सज्जनों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई उसकी सूची अलग दी जा रही है।

विषय सूची

साहित्य खण्ड—चालू.

विविध खण्ड

श्री शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थ स्वामी

आशिष :

मध्यप्रदेशांसचिवत्वजशीर्षमध्य-
रत्नायितेन रविशंकरनैजनाम्ना ।
शुक्लाभिधान्वयसमुद्भवविग्रहेण
प्रेम्णोद्यमेन सततं प्रचुरप्रचारम् ॥ १ ॥

हिन्दी गिरः साधु विधीयमानं
तदीयनैसर्गिकभावसिद्धान् ।
तद्व्यक्तितातत्कृतिपाटवादीन्-
स्वीयानुभूत्या विदितान्विचिन्त्य ॥ २ ॥

मध्यप्रदेशस्थितराष्ट्रभाषा-
सम्मेलनस्वामिव संस्थयाद्य ।
कृतज्ञतापूर्वमतीव राष्ट्र-
भाषाप्रचारप्रवणैकबुद्धया ॥ ३ ॥

अभिनन्दननिजलक्ष्य-
ग्रन्थसमर्पणकृते प्रेम्णा ।
विरचितमुत्सवमेनं
ज्ञात्वात्यन्तप्रमोदभरभरिताः ॥ ४ ॥

आशिषः प्रयुञ्ज्महेऽभ्यर्थयाम ईश्वरान्-
सर्वदांश्च सर्वदानन्दपूरपूरितम् ।
दीर्घमायुरामयैर्हीनमेव सर्वतो
दातुमस्य निर्मलं भुक्तिमुक्तिसाधनम् ॥ ५ ॥

यो देवः सर्वसाक्षी यमिवरनिकरायं भजन्तेऽनुयत्नं
येन व्याप्ता त्रिलोकी विदधति मनुजश्चापियस्मैनमांसि ।
यस्माद्विश्वं प्रजातं जगति जनिमता अंशवो यस्य सर्वे
यस्मिन्वोभूयते च प्रसृमरकृपया पात्विमं सर्वरूपः ॥ ६ ॥

वाणी हिरण्यगर्भौ
कमलाकमलेक्षणौ शिवाशम्भू ।
निखिला निर्जरनिकराः
क्रियासुरस्यानिशं श्रेयः ॥ ७ ॥

अभिनन्दनपद्यमालिकेयं
रचितास्माभिरनन्तभव्यसिद्धयै ।
रविशंकरशर्मशुक्लनाम्नो
ऽखिलकल्याणकृते लसत्वजस्रम् ॥ ८ ॥



मध्यप्रदेश के जननायक पं. रविशंकर जी शुक्ल, राष्ट्र-प्राण श्री नेहरू के साथ।



सन्देश





शुभ संदेश

राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।
१२ जुलाई '५५.

बहुत वर्ष हुए श्री रविशंकर जी शुक्ल से कांग्रेस के कार्य के सम्बन्ध में मेरी मुलाकात हुई थी। कालान्तर में हमारा परिचय घनिष्ठता में परिणत हो गया। श्री शुक्ल जी जनसाधारण की सेवा और अपनी लगन के लिए शुरू से ही प्रसिद्ध हैं। वे चतुर ही नहीं, एक निर्भीक कार्यकर्ता हैं। जब कभी मौका आया उन्होंने इन गुणों का पूरा परिचय दिया। उदाहरण के रूप में, एक समय जब वे जेल में थे, अधिकारियों ने सब कैदियों के अंगूठे का निशान लेने का नियम बनाया। इनसे भी अंगूठे का निशान देने के लिए कहा गया, परन्तु इन्होंने देने से इन्कार कर दिया। अन्त तक ये अपनी बात पर डटे रहे यद्यपि जबरदस्ती निशान लेने में इनके साथ बड़ी सख्ती की गई।

सार्वजनिक कार्य में अथवा प्रशासन के काम में जब कभी भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, शुक्ल जी धैर्य और बुद्धिमत्ता से काम लेते हैं और अपनी सूझबूझ से हर समस्या का कोई न कोई हल निकाल लेते हैं। ७९ वर्ष की अवस्था में भी ये किसी से कम शारीरिक परिश्रम नहीं करते। दफ्तर के काम के अलावा, दौरों आदि का काम भी बराबर करते रहते हैं। उनके परिश्रम और व्यस्त जीवन से नवयुवक भी प्रेरित हुए बिना नहीं रह सकते। दीर्घ अवस्था और भरपूर अनुभव के अतिरिक्त शुक्ल जी के दूसरे व्यक्तिगत गुणों के कारण सभी लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं।

श्री रविशंकर जी शुक्ल मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री और उस राज्य के प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ता ही नहीं हैं, बल्कि उच्च कोटि के साहित्य-सेवी भी हैं। अपनी विद्वता, कार्य-शैली और साहित्यानुराग द्वारा इन्होंने साहित्य की, विशेष रूप से हिन्दी भाषा की, जो सेवा की है वह बड़े महत्त्व की है। ऐसे वयोवृद्ध विद्वान्, अनथक कार्यकर्ता और अनुभवी प्रशासक के आदरार्थ जो प्रयास मध्यप्रदेश साहित्य सम्मेलन द्वारा किया जा रहा है, उसका मैं स्वागत करता हूं और सहर्ष श्री शुक्ल-अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए अपनी श्रद्धांजलि भेजता हूं।

—राजेन्द्रप्रसाद

उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन्

नई दिल्ली।

२९ जून '५५.

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पं. रविशंकर जी शुक्ल उन्नासीवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। यह योग्य ही है कि आप अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर इस प्रसंग का समारोह मनायें। भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम में एवं स्वतंत्रता के पश्चात् की उनकी सेवायें सुविदित हैं। अपनी अवस्था के बावजूद वे मन की स्फूर्ति एवं उल्लेखनीय कार्यशक्ति का परिचय दे रहे हैं। वे चिरायु हों और आने वाले दीर्घकाल तक देश-सेवा में रत रहें।

—एस. राधाकृष्णन्



मध्यप्रदेश के राज्यपाल डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या

राजभवन,
नागपुर।
२७ जुलाई '५५.

मुझे हमारे आदरणीय मुख्य मंत्री पं. रविशंकर जी शुक्ल के जन्म-दिवस के उपलक्ष में संदेश भेजते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। देश इस बात से परिचित है कि हमारे मुख्य मंत्री, जो इस पद पर प्रथम सन् १९३७ में अधीष्ठित हुए थे और जिन्होंने उस पद से अक्टूबर १९४० में, युद्धारम्भ के बाद त्याग-पत्र दे दिया था, किस प्रकार तीसरी बार इस पद का भार निबाह रहे हैं। दूसरी बार में उनका राज्य का यह नायकत्व १९४६–१९५२ के बीच, लगभग ६ वर्ष का रहा। न केवल अपने निर्वाचन-क्षेत्र में, बल्कि समस्त राज्य में उनकी सतत लोकप्रियता एवं उनके प्रति विश्वास ही के कारण राज्य के राज्यपाल द्वारा उन्हें तीसरी बार मंत्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया गया।

हम सबको यह विदित ही है कि वे अब अपना ७८ वां वर्ष पूर्ण कर रहे हैं, तथापि उनकी मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति के शैथिल्य का कहीं परिचय नहीं मिलता। उन्हें सुस्वास्थ्य तो प्राप्त है ही, साथ ही प्रसन्न मुद्रा के कारण, एक बार अपना मंत्रिमंडल बनाने के बाद वे अपनी समस्त 'टीम' की सुसम्बद्धता बनाये हैं और इस प्रकार सुशासन की दृढ़ और सच्ची नींव रख रहे हैं। अपनी माधुर्ययुक्त कार्यप्रणाली, हँसमुख स्वभाव, साथ ही प्रमाणयुक्त दलीलों द्वारा वे अपने विरोधी को भी जीत लेते हैं। इस प्रकार उनकी अवस्था के प्रति श्रद्धा तो पैदा होती ही है, साथ ही उनकी बुद्धिमत्ता और व्यक्तित्व भी बरबस आकर्षण पैदा करते हैं।

हमारी भावी पीढ़ी के लिए वे एक ज्वलंत उदाहरण हैं और उसके जीवन-संग्राम एवं संशय-ग्रस्त बुद्धि के बीच उनका व्यक्तित्व प्रकाश की भांति रहेगा।

हमारे मुख्य मंत्री का जीवन उन वर-पात्रों की भांति नहीं है जो ऐश्वर्य के बीच आगे बढ़े हों। वे आजीवन एक विश्वस्त सैनिक रहे हैं और राष्ट्र के उतार-चढ़ाव में उनकी निष्ठा सदैव एक-सी रही है, प्रसंग के अनुसार आज्ञा देने अथवा आज्ञा मानने को सदैव तत्पर। आज के पद के उपभोग के पूर्व उन्होंने एक युग तक ब्रिटिश साम्राज्य की जेलों की यातना सहनकर अपनी पात्रता सिद्ध की है। शासन की समस्याओं का निजी अनुभव प्राप्त करने के लिए इस अवस्था में भी वे जिलों, तहसीलों और ग्रामों में भ्रमण करने में आनन्द अनुभव करते हैं और यह उनका सौभाग्य है कि अपना व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य कायम रखते हुए भी अपने साथियों के साथ सहयोग की भावना से काम करते हैं। वास्तव में भारत का प्रजा-प्रतिनिधि शासन, जिसके पीछे साढ़े सत्रह करोड़ मतदाताओं की मुक्त

इच्छा है, विज्ञान की अपेक्षा कला का ही अधिक रूप रखता है और शासन की सफलता राजकीय समस्याओं की संकीर्ण व्याख्या अथवा नियमों, उपनियमों के कड़े निर्बन्ध की बजाय शासन के नायक के व्यक्तित्व पर ही अधिक निर्भर करती है। व्यक्तित्व की खूबी न केवल सही धारणा और वस्तुस्थिति के योग्य विचार पर ही निर्भर है बल्कि औचित्य, प्रमाण और प्रभाव से प्रेरित सही भावना का विकास उसका आधार होना चाहिए। क्या मैं यह कहने का साहस करूं कि ये गुण ही हमारे मुख्य मंत्री जी की सफलता के आधार हैं? सैन्य-अश्व की भांति संघर्ष में वे और भी उभरते हैं। विरोध से उनकी शक्ति और भावनाएं और जागृत होती हैं। राजनीतिज्ञ अथवा योद्धा—दोनों ही अवस्थाओं में वे अपने में निपुण हैं। मध्यप्रदेश की प्रगति और उत्थान का, चाहे वह कृषि के क्षेत्र में हो, अथवा उद्योग के, श्रेय उनके ही अध्यवसाय को है।

—बी. पट्टाभि सीतारामय्या



श्री. चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

मद्रास।
१७ जुलाई '५५.

यदि किसी को अभिनन्दन-ग्रन्थ मिलना चाहिए, तो वे हैं वीर-वृद्ध रविशंकर शुक्ल—हमारे जी. ओ. एम. (भीष्म-पितामह)।

—सी. राजगोपालाचार्य

आचार्य विनोबा भावे

उड़ीसा पड़ाव।
१० जुलाई '५५.

मुझे जानकर खुशी हुई, हमारे वयोवृद्ध आदरणीय नेता पंडित रविशंकरजी शुक्ल के जन्म-दिवस के उपलक्ष में हमारे भाइयों ने उन्हें कुछ प्रेमोपहार समर्पण करने का तय किया है। उनका देश-प्रेम, त्याग और सेवा सबको मालूम है। बहुत से कार्यकर्त्ताओं और सेवकों के लिये वे एक पितृस्थान हैं।

"अमानी मानदः" इस कोटि के भक्त तो वे नहीं हैं, पर "स्वाभिमानी मानदः" इस कोटि के युक्त पुरुष हैं और लोक-नेता के लिये यह गुण-समुच्चय शोभादायक भी है। आशा करता हूं "जीजीविषेत् शतं समाः" इस श्रुति का वे यथाशक्य समादर करेंगे।

—विनोबा के प्रणाम

गृह-मंत्री पं. गोविन्दवल्लभ पन्त

नई दिल्ली।
१९ जुलाई '५५.

यह जानकर कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन रविशंकरजी को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर रहा है, मुझे खुशी हुई। रविशंकरजी ने देश के स्वतंत्रता संग्राम में जो-जो काम किये हैं उसे मध्यप्रदेश का बच्चा-बच्चा जानता है। उनकी सरलता, मृदु स्वभाव और सहृदयता सबका मन बरबस अपनी ओर खींच लेती है। कांग्रेस मंत्रिमण्डल की बागडोर सम्भालने के बाद भी उन्होंने मध्यप्रदेश को जिस प्रगति के रास्ते पर बढ़ाया वह सदा के लिए मध्यप्रदेश के इतिहास में अंकित रहेगा। उनकी विद्यामंदिर शिक्षा-प्रणाली ने देश की शिक्षा-पद्धति को एक नया रास्ता दिखाया। कांग्रेस में भी उनका कार्य हमेशा ठोस रहा। हिन्दी की प्रगति में रविशंकरजी का कार्य सराहनीय रहा है। इन सब प्रयत्नों का फल है कि मध्यप्रदेश में हिन्दी की उनके कार्यकाल में सर्वांगीण उन्नति हुई है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे ताकि देश को उनका पथ-प्रदर्शन मिलता रहे।

—गो. ब. पन्त

प्रतिरक्षा-मंत्री डा. कैलाशनाथ काटजू

नई दिल्ली।
२ अगस्त '५५.

आज, जो पंडित रविशंकर शुक्ल का जन्म-दिवस है, मध्यप्रदेश एवं बाहर के अगणित लोग यह प्रार्थना करेंगे कि वे दीर्घकाल तक मातृभूमि की निष्ठापूर्ण सेवा के लिये हमारे बीच रहें। उनका व्यक्तित्व अनोखा है। उनमें प्रबल आकर्षण है और वे अपने प्रति शत्रुत्व पैदा नहीं कर सकते। जो उनके सम्पर्क में आते हैं, वे उनके हो जाते हैं और उनकी संख्या महती है। उन्होंने मध्यप्रदेश की जनता की मन, वचन और कर्म से सेवा की है। निःसंदेह नव-भारत के राष्ट्र-निर्माताओं में उनका भी नाम गिना जायगा। मेरा उनका दीर्घकाल से परिचय है और मैंने उन्हें अपना मार्गदर्शक, परामर्शदाता और मित्र माना है। हम इस समय भारत के महान विकास के पथ में खड़े हैं, और उनका मार्गदर्शन हमारे लिये बहुमूल्य होगा। हमें दीर्घकाल तक वह प्राप्त रहे।

—कैलाशनाथ काटजू

मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा

बम्बई।
१ जुलाई '५५.

मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध तथा आदरणीय नेता का इस मौके पर आप सब लोगों के साथ दिल से अभिनन्दन करते हुए मुझे बहुत खुशी होती है। आपके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में की गयी सेवाओं से लोग भलीभांति परिचित हैं। राष्ट्रभाषा के प्रति आपका प्रेम सब लोगों को मालूम है और वे उसकी कदर करते हैं। हिन्दी को प्रशासन में दाखिल कराने तथा उसका जनता में प्रचार करने की कोशिशों में मध्यप्रदेश आगे रहा है और पीढ़ियों बाद जनता को पहली बार सरकार से अपनी भाषा में सीधे सम्बन्ध स्थापित करने का मौका मिला है। मेरी भगवान से प्रार्थना है कि वे आपको मातृभूमि की सेवा के लिये आरोग्य तथा दीर्घायु बनाये रहें।

—मंगलदास पकवासा

भारतीय लोक सभा के अध्यक्ष श्री मावलंकरजी

सेवा कुटीर,
अहमदाबाद।
५ जुलाई '५५.

पंडित रविशंकर जी शुक्ल के ७९वें जन्म दिवस के शुभ अवसर पर मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से उनको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट होनेवाला है, यह जानकर आनंद हुआ। सम्मेलन को हार्दिक धन्यवाद।

पंडित रविशंकर जी उन अग्रगण्य नेताओं में हैं जिन्होंने देश की आजादी के लिए सारा जीवन देशकार्य में लगाया और आजादी के बाद देश की नवरचना के लिए जिन्होंने अपनी पूरी शक्ति और समय अर्पण किया है। साहित्य क्षेत्र में भी उनकी सेवाएं देश को मिल रही हैं, यह हमारा सद्भाग्य है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु और आरोग्य प्रदान करे यही मेरी हार्दिक शुभ कामना है।

—ग. वा. मावलंकर

उत्तरप्रदेश के मुख्य-मन्त्री श्री सम्पूर्णानंदजी

नैनीताल।
४ जुलाई '५५.

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने २ अगस्त १९५५ को पंडित रविशंकर शुक्ल जी को उनकी उन्नासिवीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है। यों तो शुक्लजी हिन्दी के पुराने सेवक और समर्थक हैं परन्तु उन्होंने जिस दृढ़ता के साथ मध्यप्रदेश में हिन्दी को राजभाषा बनाने के काम को अपने हाथ में लेकर सफलतापूर्वक सम्पादन किया है उससे सभी हिन्दी प्रेमियों को नैतिक बल मिला है। मैं इस अवसर पर हिन्दी लेखक के नाते उनके प्रति अपना समादर प्रकट करता हूं।

—सम्पूर्णानन्द

बिहार के मुख्य-मंत्री श्री श्रीकृष्णसिंह जी

रांची।
जुलाई २०, ५५.

मुझे यह जानकर अतीव हर्ष हुआ कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से मित्रवर पंडित रविशंकर शुक्ल को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है। शुक्ल जी भारतीय कांग्रेस के अग्रणी नेताओं में से हैं और राष्ट्र के लिए जो त्याग और बलिदान उन्होंने किया है उससे कांग्रेस-जनों को बड़ी प्रेरणा प्राप्त होती रही है। मुख्य-मंत्री के रूप में शुक्ल जी ने जिस खूबी के साथ मध्यप्रदेश की समस्याओं को संभालते हुए उसे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाया है वह उनकी संगठन शक्ति एवं प्रशासन-कुशलता का उदाहरण है। राजनीतिक जीवन की जटिलताओं में रहते हुये भी उन्होंने जनजीवन के सांस्कृतिक पक्ष को ओझल नहीं होने दिया है। हिन्दी के उन्नयन में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है और "विद्या-मन्दिर योजना" शिक्षा के क्षेत्र में उनकी एक मौलिक देन है। आज के इस संक्रमण-काल में जब राष्ट्र दासता के बंधनों से मुक्त होकर निर्माण के महान प्रयोग में संलग्न हो रहा है शुक्ल जी के जैसे नेताओं की देश को बड़ी आवश्यकता है। मैं अभिनन्दन ग्रंथ के आयोजकों को इस शुभ कार्य के लिये बधाई देता हूं।

—श्रीकृष्ण सिंह

मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश जी

प्रवास कोटलिम् ।
२५ जुलाई '५५.

यह जानकर अन्य बहुत से मित्रों और सहयोगियों के साथ-साथ मुझे भी बहुत आनन्द हुआ कि मध्यप्रदेश के मुख्य-मंत्री पंडित रविशंकर जी शुक्ल की ७९ वी वर्षगांठ के शुभ अवसर पर प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ से उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन हो रहा है। मैं इस पुनीत उत्सव के समय अपने वयोवृद्ध आदरणीय मित्र और नेता को हार्दिक बधाई देता हू, और मेरी यही शुभ कामना है कि वे अभी बहुत दिनों तक हमारे बीच रहकर हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहें और अपने कुशल हाथों में प्रदेश का नियंत्रण रख सकें।

पाठकों को संभवतः यह जानकर आश्चर्य होगा कि शुक्ल जी का और मेरा संपर्क सन् १९१० से है जब वे रायपुर में वकालत करते थे और मैं काशी के अन्य विद्यार्थियों के साथ सैर करता हुआ वहां पहुंचा था और उनका अतिथि था। स्वतंत्रता-संग्राम के आरम्भ से ही मुझे उनके साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बड़े-बड़े आन्दोलनों का उन्होंने नेतृत्व किया है। हर्ष है कि उनके सत्कार्यों का परिणाम हमें अपनी आंखों के सामने देखने का सौभाग्य मिला है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि वे इस अवस्था में भी शरीर और मस्तिष्क से सर्वथा स्वस्थ हैं, और हममें से कितने ही जो उनसे आयु में छोटे हैं, यही चाहते हैं कि हममें भी उनकी ही तरह आंतरिक शक्ति होती जिससे हम भी अपना सब काम उनकी ही तरह निर्भीकता, प्रसन्नता और कुशलता के साथ कर सकते।

राजनीतिक कार्य के साथ-साथ शुक्ल जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की भी बहुत सेवा की है और ऐसे समय जब अंगरेजी का साम्राज्य चारों तरफ फैला हुआ था और हिन्दी भाषा का लोग निरादर कर रहे थे, उस समय उन्होंने उसकी आवश्यकता बतलाई, और अपने उदाहरण से उसका महत्त्व सिद्ध किया। शुक्ल जी ऐसे साहित्यिकों के ही उत्साह और आयास का यह फल है कि आज हिन्दी भाषा देश की राष्ट्रीय भाषा मानी गयी। जब और प्रदेश इस संबंध में संकोच कर रहे थे, उस समय शुक्ल जी ने अपने प्रदेश में इसको शासन के कार्यों के लिए सफलता सहित प्रचलित कर दिया। यह भी प्रशंसा की बात है कि उनके ऊपर दुराग्रह अथवा संकीर्णता का अभियोग नहीं लगाया जा सकता और उन्होंने शासनीय कार्यों में अपने प्रदेश में मराठी भाषा को भी पर्याप्त पद दे रखा है। यह उनकी विशेषता है कि उनसे किसी को कोई द्वेष नहीं है और सभी भाषा-भाषी उन्हें अपना ही मानते हैं। इस संबंध में मध्यप्रदेश का उदाहरण सभी प्रदेशों के लिए अनुकरणीय है।

ईश्वर से प्रार्थना है कि पंडित रविशंकर जी शुक्ल सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहें और चिरंजीवी होकर अपने आचार और विचार से हम सब लोगों को भी ठीक मार्ग पर रखें, सबको समुचित रीति से बल प्रदान करें और सबको ही देश, भाषा और समाज की सेवा की तरफ प्रवृत्त और उत्साहित करते रहें।

—श्रीप्रकाश

भारतीय परिवहन मन्त्री श्री जगजीवनरामजी

नई दिल्ली।
५ जुलाई '५५.

यह कहना कि राष्ट्रभाषा हिन्दी भारतीय राष्ट्रीयता की देन है संभवतः सर्वमान्य न हो, लेकिन यह तो निर्विवाद है कि हिन्दी भाषा के विकास और प्रसार में हमारी राष्ट्रीयता का बहुत बड़ा हाथ रहा है। भारत के उन राष्ट्रनायकों में, जिन्होंने राजनीतिक संघर्ष के नेतृत्व के साथ-साथ हिन्दी भाषा को विकसित करने तथा उसे समृद्धशाली बनाने के प्रयत्नों का भी नेतृत्व किया है, मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध तथा आदरणीय मुख्य मंत्री पंडित रविशंकरजी शुक्ल का स्थान बहुत ऊंचा है।

मध्यप्रदेश के सचिवालय तथा अन्य सभी सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के द्वारा ही कार्य करने की पद्धति का समावेश करके उन्होंने हिन्दी की महान सेवा की है। इस कार्य के लिए जिस तुलनात्मक कोष की रचना हुई है उसका श्रेय शुक्लजी को है। ये कार्य उनकी हिन्दी-सेवा के महान स्मारक रहेंगे।

मेरी हार्दिक कामना है शुक्ल जी दीर्घायु हों जिसमें हिन्दी भाषा को अधिकाधिक परिष्कृत तथा समृद्धशाली बनाने के अपने प्रयत्नों को निर्दिष्ट सीमा तक शीघ्रातिशीघ्र पहुंचा सकें।

—जगजीवनराम

हैदराबाद के मुख्य-मंत्री श्री बी. रामकृष्णराव

शाह मंजिल,
हैदराबाद दक्षिण।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से, मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध आदरणीय मुख्य मंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल जी के ७९ वें जन्म-दिवस के शुभ अवसर पर उनकी हिन्दी भाषा के प्रति जो सेवाएं हैं, उनके आदरार्थ उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया है।

हिन्दी भाषा के प्रति पंडित शुक्ल जी की सेवाएं इतनी अधिक हैं कि अभिनंदन ग्रंथ की परिधि में उन्हें बांधना सरल काम नहीं। परन्तु यह स्वाभाविक है कि जनता अपने जननायक का आदर करे। इसलिए मैं इस आयोजन का हृदय से स्वागत करता हूं और शुक्लजी को श्रद्धांजलि भेंट करनेवालों की पंक्ति में सहर्ष सम्मिलित होता हूं। ईश्वर से प्रार्थना है कि यह दिन बार-बार आए।

—रामकृष्णराव

मध्यभारत के मुख्यमंत्री श्री तख्तमलजी जैन

ग्वालियर।
१८ जुलाई '५५.

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने राज्य के मुख्य मंत्री पंडित रविशंकरजी शुक्ल को उनके ७९ वें जन्म-दिवस पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है। शुक्लजी देश के एक यशस्वी और वयोवृद्ध नेता हैं। उन्होंने समस्त देश की, और विशेष कर राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो सेवायें की हैं वे सर्वविदित हैं। इस अवसर पर मैं अपनी हार्दिक शुभ कामनायें भेजता हूं।

—तख्तमल

लोकनायक माधव श्रीहरि अणे

पूना।

१९ जुलाई '५५.

पंडित रविशंकर जी शुक्ल के ७९ वें जन्म दिवस पर मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाओं के साथ उनका अभिनन्दन करता हूं। भारत के स्वतंत्रता-संग्राम और उत्थान में उन्होंने गौरवपूर्ण योग दिया है। मध्यप्रदेश में शासक के नाते भी उनकी सेवायें कम उल्लेखनीय नहीं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनमें सदा दृढ़ अनुराग रहा है। उत्तम स्वास्थ्य कायम रखते हुए, अपनी वृद्धावस्था के बावजूद प्रान्त की सेवा करने की उनकी भावना आज भी उतनी ही प्रबल है। मध्यप्रदेश और मातृभूमि की सेवा के लिए मैं उनके दीर्घजीवन और सुख की कामना करता हूं।

शतम्जीव शरदो वर्धमानः
शतम् हेमन्तान् शतभुवसन्तान्। (ऋग्वेद)

—एम. एस. अणे

विन्ध्यप्रदेश के मुख्य-मन्त्री श्री शम्भूनाथजी शुक्ल

रीवां।

१९ जुलाई '५५.

पूज्य रविशंकरजी शुक्ल की ७९ वीं वर्षगांठ के अवसर पर अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जानेवाला है, इस शुभ समाचार से मुझे बड़ी खुशी हुई। लगभग २० वर्षों से मेरा तथा उनका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। मैंने उनको बहुत निकट से भी देखा है। उन्होंने अपने जीवन में जो उतार-चढ़ाव देखे हैं, शायद बहुत कम लोगों ने देखा होगा। उनका देश-प्रेम अत्यंत ही सराहनीय रहा है। उन्होंने देश की आजादी की लड़ाई में जो सक्रिय सहयोग दिया वह किसी से छिपा नहीं है। जिन आंधी-तूफानों का धैर्य से मुकाबला करते हुए उन्होंने मध्यप्रदेश के शासन को संचालित किया है उसकी सराहना सभी करते हैं। इतनी अवस्था होने पर भी आज जिस अदम्य उत्साह से वे अपने कर्त्तव्य-मार्ग में आगे बढ़ रहे हैं उससे नवयुवकों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

मेरी यही शुभ कामना है कि पूज्य शुक्ल जी बहुत दिनों तक स्वस्थ तथा प्रसन्न रहकर अपने कर्तव्य मार्ग पर डटे रहें ताकि हमारे ऐसे लोगों को उनके जीवन से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिलती रहे।

—शम्भूनाथ शुक्ल

भोपाल के मुख्य-मन्त्री डा. शंकरदयाल शर्मा,

भोपाल।
२ जुलाई '५५,

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारत के वयोवृद्ध नेता, पंडित रविशंकर शुक्ल को उनकी ७९ वीं वर्षगांठ पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर रहा है।

पंडित रविशंकर शुक्ल भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के कर्मठ कार्यकर्त्ता रहे हैं। श्री शुक्ल जी ने अंग्रेजी शासन के दमन और आतंक से अविचलित रहकर और कांग्रेस के आदर्शों पर चलकर भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अनथक परिश्रम किया है। उनके बलिदानी साहस ने स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों को सदैव प्रेरणा दी है।

हिन्दी के लिए पंडित रविशंकर शुक्ल के हृदय में अटूट प्रेम है। आपने सर्वदा हिन्दी को बढ़ाने का प्रयास किया है। संविधान परिषद् में श्री. शुक्ल जी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में पूरी कोशिश की और आज मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री के रूप में हिन्दी के साहित्यकों को प्रोत्साहित करके तथा हिन्दी के विविध शब्दकोष बनवाकर हिन्दी को समृद्धशाली बनाने में दत्तचित्त हैं।

मध्यप्रदेश के सर्वतोमुखी विकास के जो कार्य श्री. शुक्ल जी के मुख्य-मंत्री काल में हो रहे हैं उनके लिए मध्यप्रदेश की जनता उनकी सदैव आभारी रहेगी और मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित अभिनन्दन में निश्चय ही सम्पूर्ण मध्यप्रदेश की जनता की शुभ कामनाएं सम्मिलित हैं।

मैं भी श्री शुक्ल जी को उनकी ७९ वीं वर्षगांठ के अवसर पर अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह जनसेवा और मार्गदर्शन के लिए अनेक वर्ष तक श्री शुक्ल जी को हमारे मध्य रखें।

—शंकरदयाल शर्मा



अजमेर के मुख्य-मंत्री श्री हरिभाऊजी उपाध्याय

अजमेर।

२० जुलाई '५५.

माननीय पंडित रविशंकर शुक्ल की गणना हमारे देश की उन गिनी-चुनी विभूतियों में है जिन्होंने भारत के आधुनिक इतिहास के निर्माण में सक्रिय योग दिया है और आज ७८ वर्ष की आयु में भी नौजवानों की तरह क्रियाशील हैं। संसदीय कार्य से उनका सम्बन्ध सन् १९२३ से रहा है जबकि वे स्वराज्य पार्टी के टिकट पर तत्कालीन प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य चुने गये। अत: इस कार्य का उन्हें पूरा अनुभव है और यही कारण है कि उनके मुख्य-मंत्रित्व में मध्यप्रदेश ने सर्वांगीण उन्नति की है।

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा प्रणाली के अनुसार १९३७ में आपकी चलाई हुई विद्यामंदिर योजना का काफी विरोध हुआ था, परन्तु शुक्ल जी ने उसे सफल करके दिखा दिया। उस समय भारत में इस प्रणाली का सबसे पहले (शायद) यहीं प्रयोग किया गया था।

आपने विविध स्थितियों में रहकर अपनी प्रतिभा तथा योग्यता का परिचय दिया है। प्रारम्भ में ३ वर्ष तक खैरागढ़ हाईस्कूल में प्रधानाध्यापक रहे। स्वतंत्रता के आन्दोलन में कई बार कृष्णमंदिर (जेल) को आपने सुशोभित किया। अपने प्रान्त के प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल के मुख्य-मंत्री और कांग्रेस के प्रधान स्तम्भ बनकर आपने मध्यप्रदेश को आगे बढ़ाने में अपने जीवन का प्राय: सारा भाग अर्पण कर दिया। ऐसे बहुमुखी प्रतिभाशील नेता आज हमारे बीच मौजूद हैं यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है।

उनकी ७९ वीं वर्षगांठ पर हम सबकी यही मनोकामना है कि भगवान् शुक्ल जी को चिरायु करे और देश को उनकी बुद्धि तथा उनके परिपक्व अनुभव का लाभ प्राप्त होता रहे।

—हरिभाऊ उपाध्याय

भारत सरकार के कृषिमन्त्री श्री पंजाबराव देशमुख

नई दिल्ली।

दि. १८ जुलाई' ५५.

उद्‍भट देशभक्त और प्रसिद्ध नेता पं. रविशंकर जी शुक्ल के जन्म दिवस समारोह में अपनी शुभकामना द्वारा मैं भी सम्मिलित हो रहा हूं। शुक्लजी ने अपनी उच्च ख्याति और जनता की कृतज्ञता अपने त्याग और नि:स्वार्थ सेवा द्वारा अर्जित की है। हिन्दी के उत्थान में उनका योग प्रसिद्ध है। मैं उनकी दीर्घायु: की कामना करता हूं ताकि आगे आनेवाले अनेक वर्षों तक वे राष्ट्र और मध्यप्रदेश की उपयोगी सेवा करते रहें।

—पी. एस्. देशमुख

आचार्य श्रीमन्नारायणजी, महामन्त्री, अ. भा. कॉं. कमेटी

७, जन्तर-मन्तर रोड,
नई दिल्ली–१
दि. २२ जुलाई, १९५५.

जानकर प्रसन्नता हुई कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से दिनांक २ अगस्त को "रविशंकर शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ" प्रकाशित हो रहा है। पं. शुक्ल जी ने मध्यप्रदेश की इतने लम्बे अरसे तक जो सेवा की है वह किसी से छिपी नहीं है। आज भी वे इस उम्र में मध्यप्रदेश के उत्थान के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे।

—श्रीमन्नारायण

श्री एस. के. पाटिल, अध्यक्ष, बम्बई प्रां. कां. कमेटी

बम्बई।
दि. १९ जुलाई १९५५.

आदरणीय पं. रविशंकरजी शुक्ल के ७९ वें जन्म दिवस के शुभ अवसर पर हिन्दी भाषा के प्रति जो उनकी सेवाएं हैं उनके आदरार्थ मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रस्तुत योजना के लिए मैं सम्मेलन का हार्दिक अभिनन्दन करता हूं।

पं. शुक्ल जी से मेरा घनिष्ट संबंध रहा है। देश, समाज और हिन्दी साहित्य के प्रति उन्होंने जो सेवाएं प्रदान की हैं, वे निःसंदेह आदरणीय, अप्रतिम एवं स्मरणीय हैं। पं. शुक्ल जी स्वभावतः अत्यंत मिलनसार, सेवापरायण, त्यागी, साहित्यप्रेमी एवं कुशल शासक होने के नाते उनका समुचित जीवन नवोदित समाज के लिए प्रेरक और अनुकरणीय रहेगा, ऐसी मेरी मनोभावना है।

लोककल्याणार्थ, परमेश्वर उनके शेष जीवन में उन्हें अधिक मांगल्य एवं आरोग्य सम्पन्नता प्रदान करे, यही मेरी उसके प्रति विनम्र प्रार्थना है।

—स. का. पाटिल

आचार्य शंकरराव देव

आश्रम सासवड़ (पूना)
दि. १३ जुलाई, ५५.

पंडित रविशंकरजी शुक्ल के ७९ वें जन्म दिवस के शुभ अवसर पर उनकी हिन्दी भाषा के प्रति जो सेवायें हैं, उनके आदरार्थ उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने निश्चय किया है, यह पढ़कर खुशी हुई। पंडितजी हमारे पुराने दोस्त हैं। शुक्लजी पुराण-पुरुष हैं। उन्होंने अपने देश की और समाज की दीर्घकाल के लिए सेवा की है। लेकिन पुराण-पुरुष होते हुए भी जो दुर्दम्य उत्साह है वह नवयुवकों को भी शरमिन्दा करनेवाला है। इस बात में वे आदरणीय हैं। उनको दीर्घ-आयु और आरोग्य का लाभ हो यह हमारी इच्छा है।

—शंकरराव देव

महाकोशल प्रां. कां. क. के अध्यक्ष बाबू गोविन्ददासजी

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, श्री. शुक्लजी को उनके ७९ वें जन्म-दिवस पर अभिनन्दन-ग्रंथ अर्पित कर रहा है यह जानकर प्रसन्नता हुई।

श्री शुक्लजी के और मेरे कुटुम्ब का पीढ़ियों का संबंध है। यह संबंध इतना पुराना और घनिष्ठ है कि हमारे कुटुम्ब के विषय में जितनी जानकारी उन्हें है उतनी मुझे भी नहीं। उनके हमारे इस संबंध को देखते हुए मैं उनके संबंध में क्या लिखूं?

श्री. शुक्लजी मध्यप्रदेश के सर्वप्रमुख कार्यकर्ताओं और जन-सेवकों में से एक हैं। उनकी सेवा में विविधता से सभी परिचित हैं। मैं श्री शुक्लजी चिरायु हों यह मनोकामना प्रगट करता हूं।

—गोविन्ददास

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

लगभग ढाई महीने की रोग शय्या पर से माननीय श्री रविशंकर जी शुक्ल के अभिनन्दन में मैं अपना हार्दिक अभिनन्दन अर्पित कर रहा हूं। प्रार्थना है, उनकी सक्रियता का लाभ दूर-दूर तक जनता को मिलता रहे।

—मैथिलीशरण

महाकवि श्री निराला

श्री शुक्ल अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए मेरी हार्दिक बधाइयां। कुछ लिख कर भेजता किन्तु अस्वस्थ हूं, फिर बुढ़ापे का शरीर—रुग्ण एवं जर्जर। सिवाय इसके कि शुक्लजी के दीर्घायु होने की मंगलमय से कामना करूं, और कर ही क्या सकता हूं।

वे मध्यप्रान्त की कीर्ति-कौमुदी को भविष्य में भी भासमान रखें।

—निराला

बिहार लोक सेवा-आयोग के अध्यक्ष डॉ. अमरनाथ झा

मैं इसको अपना सौभाग्य समझता हूं कि मैं वर्षों से श्री शुक्लजी से परिचित हूं और उनकी कृपा मुझपर सदा रही है। जब कभी मुझे उनसे मिलने का अवसर मिला है, मैं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ हूं। शासन कार्य में उनकी कुशलता समस्त देश में प्रसिद्ध है। जिस सफलता से उन्होंने मध्यप्रदेश का शासन इतने दिनों से चलाया है, जो सहयोग उनको जनता से प्राप्त हुआ है, जो आधिपत्य उनका राज्य के सभी अंगों पर है, इससे भी देश का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। मध्यप्रदेश के सभी भागों की समस्याओं को सुलझाना और लोकप्रिय निर्णय करना केवल उन्हीं का काम है। इस अवस्था में भी जितना परिश्रम शुक्लजी करते हैं, वह युवकों के लिये भी कठिन है। जो कोई शुक्लजी से मिलता है, उनकी सहृदयता और सरलता से मुग्ध हो जाता है और यह स्मरण रखना कि इतने बड़े प्रदेश के वे शासक हैं और इतनी बड़ी जनता के नेता हैं, सुलभ नहीं होता। उनका प्रसन्न-चित्त और उनकी विनोदप्रियता विशेषरूप से सब को आकर्षित करती है। उन्होंने अपने शासन काल में मध्यप्रदेश की बहुत उन्नति की है और प्रदेश प्रगति के मार्ग पर बढ़ता जा रहा है। देश का हित चाहनेवाले सभी की ईश्वर से यह प्रार्थना है कि शुक्लजी स्वस्थ और दीर्घायु हों। मैं बड़े हर्ष से अपनी श्रद्धांजली अर्पित करता हूं।

—अमरनाथ झा.

मध्यप्रदेश विधान सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त

पं. रविशंकर जी शुक्ल से मेरा सम्बन्ध लगभग सन १९११ से है जब कि मैंने गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) से अपनी सेवाओं के पश्चात् अपने पैतृक गृह दुर्ग में आकर कार्य आरम्भ किया। बिलासपुर में स्वर्गवासी श्री राघवेन्द्र राव जी और रायपुर में पं. रविशंकरजी शुक्ल हमारे नेता थे। रायपुर, दुर्ग और बिलासपुर तीनों जिलों का कार्य प्रायः एक सूत्र से हुआ करता था। श्री राघवेन्द्र राव जी में यदि राजनीति की कुशलता थी तो हमारे शुक्ल जी में कार्य करने के लिये चट्टान की दृढ़ता और साहस था। एक बार कोई कोई कार्यक्रम निश्चित हो जाने पर कोई ताकत नहीं थी जो कि शुक्ल जी को उसे कार्यान्वित करने से रोक सके। रायपुर की परिषद् का मुझे स्मरण है जब कि अपने घर के सामने पुलिस कोतवाली की हिरासत में बन्द होकर भी शुक्ल जी ने निश्चित कार्यक्रम को कराया।

हिन्दी के वे सदा से ही परम भक्त रहे हैं और जिन जिन संस्थाओं में वे रहे उन सब में ही हिन्दी की प्रगति क्रियात्मक रूप से करते रहे, क्या डिस्ट्रिक्ट कौंसिल, क्या म्युनिसिपालिटी और क्या लोक सभा जहां भी उनसे बन पड़ा राष्ट्र भाषा हिन्दी के लिये उन्होंने पूरा यत्न किया। मुझे स्मरण है, वर्ष का ठीक स्मरण नहीं, परंतु बहुत वर्ष हो गये जब नागपुर विश्वविद्यालय के कोर्ट की वार्षिक बैठक में नागपुर विश्वविद्यालय में मातृभाषा हिन्दी और मराठी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये एक प्रस्ताव मैंने प्रस्तुत किया था तो पं. शुक्ल जी के प्रबल समर्थन का यह परिणाम हुआ कि उसके लिये एक समिति नियुक्त हुई और विश्वविद्यालय में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये इस पैमाने में किसी शासकीय विश्वविद्यालय में प्रयत्न होना भारतवर्ष में सर्वप्रथम था।

संविधान सभा में भी हिन्दी-हिन्दुस्थानी और हिन्दी-अंग्रेजी के झगड़े में हिन्दी को जो विजय प्राप्त हुई उसमें बहुत थोड़े अन्य व्यक्तियों के साथ श्री शुक्ल जी का प्रमुख हाथ था।

पं. शुक्ल जी का एक वाक्य में यदि मैं अभिनन्दन करूं तो वह इस प्रकार होगा :—

"पं. शुक्ल जी निर्भीक और निश्चय के पक्के हैं, निश्चित कार्य को करने में कोई विघ्न बाधा उनके आड़े नहीं आ सकती और लड़ाई से भय खाकर वे पराङ्मुख होने वाले व्यक्ति नहीं हैं।"

—घनश्यामसिंह गुप्त

नागपुर हाईकोर्ट के प्रमुख न्यायाधिपति श्री हिदायतउल्ला

पं. रविशंकर जी शुक्ल के ७९ वें जन्म-दिवस के अवसर पर प्रस्तावित अभिनंदन-ग्रंथ के आयोजकों के साथ राष्ट्र के अभिनन्दन-स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए मुझे वास्तविक तथा हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। मेरी कामना है कि इस दिवस की अनेकशः पुनरावृत्ति हो। राष्ट्र के प्रति की गई उनकी सेवाएं जितनी दीर्घकालीन हैं उतनी ही उज्वल भी हैं। इस राज्य की शासन-नौका के कर्णधार रहते हुए उन्होंने जनता के उत्थान तथा नैतिक एवं आर्थिक सुधार के क्षेत्र में अनुकरणीय तथा आदर्श कार्य किया है। राष्ट्र भाषा के प्रति की गई उनकी सेवाएं चिरत्व की आशा के साथ फलवती हो रही हैं। मैं कामना करता हूं कि वे शतायु हों तथा इस राज्य की जनता के कल्याण के लिये सतत प्रयत्न-शील रहें।

—म. हिदायतउल्ला

मध्यप्रदेश के शिक्षा मन्त्री श्री भगवंतराव जी मंडलोई

मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध नेता हमारे मुख्य मंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल जी के प्रति जब भी हम विचार करते हैं तो हमारे हृदय में सहज ही उनके प्रति श्रद्धा और आदर उत्पन्न होता है। उनके व्यक्तित्व में एक अजीब आकर्षण है। इस उमर में भी उनका शरीर सुदृढ़ है और उनमें कार्य करने की अद्‌भुत क्षमता है। जहां एक ओर उनमें सरलता, सादगी और सुहृदयता है वहां उनमें कार्यरत होने की शक्ति और अपने निश्चय की दृढ़ता भी है। आशा और उत्साह भरे मुस्कराहते चेहरे से तेज टपकता है।

देश के स्वातंत्र्य संग्राम में उनका विशेष स्थान है। स्वतंत्रता के प्रत्येक आन्दोलन का उन्होंने सफल संचालन किया है। गत ४० वर्षों से प्रांत की राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक उथल पुथल में उनका हाथ रहा है। इस तरह गत कई वर्षों का प्रदेश का इतिहास उनके कार्यों का विवरण हो गया है।

जब से प्रदेश के शासन की बागडोर उनके हाथों में आई है तब से इस प्रदेश की बहुमुखी उन्नति हुई है। मध्य-प्रदेश जो कि एक पिछड़ा हुवा प्रदेश समझा जाता था, आज कई कार्यों में देश में अगुआ समझा जाता है। इसका विशेष श्रेय शुक्लजी को है। वे हमेशा प्रदेश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। उनकी हार्दिक इच्छा यही है कि हमारा प्रदेश सभी तरह से सुखी व सम्पन्न बने।

श्रद्धेय शुक्लजी के ७९ वी वर्षगांठ के शुभ अवसर पर इन शब्दों के साथ में अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं व ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि उन्हें दीर्घायु प्रदान करे ताकि इस राष्ट्र निर्माण के युग में हमें उनका मार्गदर्शन प्राप्त होवे।

—भ. अ. मंडलोई

मध्यप्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री श्री कन्नमवार जी

मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध आदरणीय मुख्य मंत्री पंडित रविशंकर जी शुक्ल के, दिनांक २ अगस्त १९५५ को ७९ वें जन्म-दिवस पर उनके आदरार्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

उनके जीवन के विषय में कई वर्षों के राजनैतिक क्षेत्र में और मंत्रित्व काल में मुझे जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है वह निवेदन करूंगा। शुक्लजी में अध्ययनशीलता, विचारशीलता, सहनशीलता, दूरदर्शिता, लोक संग्राहकता, समयसूचकता और राजनैतिक कुशलता ये प्रमुख गुण हैं। उनका जीवन बुद्धिमत्ता, सहृदयता और व्यवहारिकता का सुंदर त्रिवेणी संगम है। वे तोड़ना नहीं जानते, जोड़ना ही जानते हैं। "राखावी बहुतांची अंतरे। भाग्य येते तदनंतरे"। समर्थ स्वामी रामदास के इस वचनानुसार वे किसी का दिल नहीं दुखाते। निराश हुआ व्यक्ति उनसे मिलकर सांत्वना पाता है। सब के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और सहृदयशील बर्ताव से उन्होंने असंख्य व्यक्तियों का प्रेम संपादन किया है।

वे जितने हृदय से कोमल हैं उतने ही कर्तव्य कठोर भी हैं। सारे पहलू से विचार करने पर उनका जो निश्चय हो जाता है उसकी पूर्ति करने में वे जमीन आसमान एक कर देते हैं। उनका मस्तिष्क कभी अशांत नहीं रहता। समतोल दृष्टि से वे हरएक समस्या पर विचार किया करते हैं।

एक समय एक समस्या और वही विचार—यह उनकी कार्यप्रणाली रहती है। जब उनके सामने कोई एक समस्या आ जाती है तब वह सुलझाने में वे अपना सारा दिल और दिमाग लगा देते हैं। कोई भी सुखदायी या दुखदायी घटना उनको कर्तव्यपरायणता से हटा नहीं सकती। उनकी स्मरणशक्ति इतनी उम्र में भी अवर्णनीय है।

उनकी सहनशीलता सफलता की कुंजी है। बातचीत के दौरान में प्रतिपक्षी उनसे कितने ही तेजी से पेश आवें वे अपना संतुलन नहीं खोते। शांतता से बार बार अपनी बात समझाकर विरोधी के दिल पर काबू कर लेते हैं। कुछ दिन पूर्व की एक घटना है। विरोधी व्यक्तियों के समूह ने करीब त.न घंटे तक कुछ बातों के विषय में उनसे बहस की। वही बात बार बार दुहराने पर भी शुक्लजी भी पहले दिया हुआ जवाब दुहरा दिया करते थे—पूर्ण प्रसन्नता और शांतता पूर्वक। इस प्रकार तीन घंटे बीत गये। उनके साथियों को भी इस समूह के बारे में चिढ़ पैदा हुई परन्तु शुक्लजी हिमालय पर्वत की भांति अटल रहे। अंत में उस समूह के नेता ने चिढ़कर अपमानजनक शब्द निकाले उस पर हंसते हुए पंडितजी ने बड़ी शांतिसे जवाब दिया, "अच्छा भाई मेरी बात झूठ और आपकी सच वैसा ही मान लो, और मुझे छुट्टी दो।" इसका असर सब पर हुआ और समूह के नेता बिदा लेते समय शुक्लजी से गले मिले।

शुक्लजी का जीवन महान है—वे दीर्घायु हों यह प्रभु से प्रार्थना है।

—मा. सां. कन्नमवार

मध्यप्रदेश के समाज कल्याण मंत्री श्री दीनदयाल जी गुप्ता

आदरणीय मुख्य मंत्री पंडित रविशंकर जी शुक्ल का स्थान हमारे प्रदेश के ही नहीं भारत के भी सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अग्रगण्य है। उन्होंने अपने वात्सल्य प्रेम से नई पिढ़ी का हृदय हमेशा के लिये अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस प्रदेश में उनका स्थान हम नयी पीढ़ीवालों के लिये पितृतुल्य है। समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिये उनके अथक परिश्रम एवं लगन हमारे लोगों के लिये सदा स्फूर्ति और प्रेरणा के स्रोत रहेंगे। उनका अभिनन्दन यह हमारे प्रदेश की जनता का एक अनिवार्य कर्तव्य है। यह पूरा होता देख प्रदेश का हर व्यक्ति आनन्द से परिप्लुत हो जावेगा। प्रदेश के राजनैतिक जीवन में हिन्दी को राजभाषा घोषित करने में उनके प्रयत्न हिन्दी के लिये एक अभिमान की और गौरव की स्मृति बनकर रहेंगे इसमें सन्देह नहीं। उनके अभिनन्दन में मेरा हृदय सम्मेलन के साथ है। मैं आशा करता हूं कि यह ग्रंथ हमारे प्रदेश की जनता के लिये एक गौरव की चीज बन कर रहेगा।

—दीनदयाल गुप्ता।

मध्यप्रदेश के स्वायत्त शासन मंत्री श्री पु. का. देशमुख

मुझे हर्ष है कि २ अगस्त १९५५ को मध्यप्रदेश के सम्मान्य वयोवृद्ध मुख्य मंत्री पं. रविशंकर जी शुक्ल के ७९ वें जन्म-दिवस के पुनीत अवसर पर मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा उन्हें अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है।

हिन्दी को अपनी मातृभाषा कहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं है ; परन्तु हिन्दी के प्रति मुझे सदैव बड़ा अनुराग और रुचि रही है। फलस्वरूप, मैं पितामह-तुल्य शुक्ल जी की हिन्दी सेवा से परिचित रहा हूं। उनकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि वे जिस कार्य में हाथ लगाते हैं, उसे वात्सल्य प्रेम से पूर्णरूपेण निबाहते हैं। हिन्दी भाषा को उनके इस गुण का लाभ मिला ही है, परन्तु उनके वात्सल्य की परिधि विशाल है और उसमें राष्ट्र-निर्माण के अन्य सभी महत्वपूर्ण कार्यों को भी उसी प्रकार फलने फूलने का पूर्ण अवसर मिला है। यह हमारे देश का सौभाग्य है कि इस अवस्था में भी हमें उनकी सेवाएं पूर्ववत् उपलब्ध हैं। मुझे इसका व्यक्तिगत ज्ञान है कि पूज्य पंडित जी के सदैव प्रयत्नशील रहने के कारण ही राष्ट्रभाषा हिन्दी इस देश में उच्चतम गौरव प्राप्त कर सकी। यह सर्वथा स्वाभाविक एवं उचित है कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन इस अभिनंदन-ग्रंथ द्वारा उनका आदर करे। उनके चरणों में इस भेंट को समर्पित करके सम्मेलन तथा समस्त हिन्दी प्रेमी कृतार्थ हो रहे हैं।

मैं कामना करता हूं कि आदरणीय पंडित जी का जीवनकाल सुदीर्घ एवं मंगलमय हो और राष्ट्र उनकी सेवाओं का पूर्ण लाभ उठा सके।

—पु. का. देशमुख।

मध्यप्रदेश के कृषि मंत्री श्री शंकरलाल जी तिवारी

पंडित रविशंकर जी शुक्ल जन्म-जात नेता हैं। हजारों की भीड़ में वे अलग दिख जाते हैं। उनका अपूर्व तेज, अदम्य साहस और विशाल करुणामय हृदय उनकी विशेषताएं हैं, जो उन्हें सहज ही महान् जन-नायकों की श्रेणी में ला रखती हैं। वे निर्भीक नेता हैं। जहां तूफान हो वहीं कूदना जानते हैं। कठिनाइयां जितनी बड़ी हों, उतने ही वे ऊंचे उठते जाते हैं। परीक्षा-काल में उनके गुण और भी उभर आते हैं। प्रान्त की विच्छिन्न शक्तियों को उन्होंने एकत्रित किया है और उसे व्यक्तित्व और प्रेरणा दी है। ऐसे नेता को पा कौन धन्य न मानेगा? ईश्वर उन्हें चिरायु बनावें।

—शंकरलाल तिवारी।

राजाबहादुर वीरेन्द्रबहादुर सिंह जी, उप-मंत्री, मध्यप्रदेश

खैरागढ एक ऐसी छोटी-सी बस्ती है जहां लगभग सब निवासी एक-दूसरे से स्नेह-बंधन में बंध जाते हैं। जो वहां कुछ दिन का ही प्रवास करते हैं, वे भी खैरागढ-निवासियों की स्मृति में सुरक्षित रहते हैं। यह तो साधारण निवासियों की बात है। जिन असाधारण व्यक्तियों ने यहां कुछ दिन निवास किया है, वे कथा-गाथा या पूर्वेतिहास के रूप में सदा-सर्वदा विद्यमान रह जाते हैं।

पंडित जी खैरागढ के लिये इसी पूज्य कोटि के एक प्रातःस्मरणीय पात्र हैं। मैं ने सर्वप्रथम अपने बड़े-बूढ़ों से उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता तथा भव्यता की अनकानेक गाथाएँ सुनी थी। वे खैरागढ हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप में कुछ वर्ष वहां निवास कर चुके थे। उनके शिष्यों में अनेकों ने अपने जीवन में अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में विशेष सफलता प्राप्त की। खैरागढ के भूतपूर्व सुपरिन्टेन्डेन्ट स्व. श्री हरप्रसाद वर्मा, राजनांदगांव के भूतपूर्व दीवान स्व. श्री बेनीप्रसाद तिवारी, सरस्वती के स्वनामधन्य सम्पादक श्री पदुमलाल जी बक्शी तथा उनके अग्रज श्री वंशलाल जी बक्शी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

मेरे पिता, राजा लालबहादुर सिंह जी ने भी खैरागढ में उनसे शिक्षा प्राप्त की थी। बाद में राजकुमार कालेज, रायपुर में फिर उनसे कानून तथा राज्य-शासन की शिक्षा प्राप्त की। अतएव पितृगुरु के नाते वे मेरे पितामह तुल्य हैं।

बाल्यकाल ही से मुझे पंडित जी के दर्शन होने लगे थे। पिताजी के निधन के बाद मेरी माता जी बहुधा उन से अपने कार्य-कलाप के सम्बन्ध में सलाह लिया करती थीं। ऐसे समय मुझ से कुछ वार्तालाप होता था। जैसे-जैसे आयु बढ़ती गई, सम्पर्क भी बढ़ता गया। उनके परामर्श से मैंने सदैव लाभ उठाया।

राज्याधिकार प्राप्त करने के बाद जब कभी मुझे किसी कठिन समस्या का सामना करना पड़ता, तब मुझे पंडित जी की सहायता प्राप्त रहती थी। तत्कालीन शासन की हमारे सम्बन्ध पर वक्र-दृष्टि रहती थी परन्तु जब पंडित जी कृष्णमंदिर में रहते थे, तब भी हमारा पत्र-व्यवहार चलता ही रहता था।

एक मनोरंजक घटना यह है कि एक बार पंडित जी मेरी अदालत में वकील के रूप में उपस्थित हुए। मुझे बड़े संकोच का अनुभव हो रहा था, परन्तु उन्होंने अपने व्यवहार से ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया कि मेरा कार्य भली प्रकार संचालित हो सका। बाद में उन्होंने मेरे शासन के सम्बन्ध में पूछताछ की और अपना संतोष प्रगट किया। यह लगभग सन् १९३६-३७ की घटना है। इस के बाद ही वे प्रान्तीय मंत्री-मंडल में आ गए।

जब मध्यप्रदेशीय रियासतों का प्रदेश में विलीनीकरण हुआ तब तो क्या मेरा, क्या अन्य राजाओं का उनसे रोज-रोज का सम्पर्क होने लगा। सरदार पटेल तो इस प्रकरण के नायक थे ही, मुझे यह स्वीकृत करने में कोई संकोच नहीं कि पंडित जी के कारण राजाओं तथा उन की प्रजा के भविष्य पर सहानुभूतिपूर्वक विचार हुआ और दोनों का उपकार हुआ। इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि पंडित जी राजाओं और उन की प्रजा की समस्याओं से पूर्णरूप से परिचित थे।

पंडित जी के अधीन कार्य करने में मैं अत्यंत गौरव का अनुभव करता हूं। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है पंडित जी का पथप्रदर्शन हमें सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहे।

—वीरेन्द्रबहादुर सिंह।

विदर्भ प्रां. कां. क. के अध्यक्ष श्री गोपालराव जी खेडकर

यह जानकर हर्ष हुआ कि मध्यप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन माननीय शुक्ल जी के ७९ वें जन्मदिन के अवसर पर अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशित कर रहा है। आज मध्यप्रदेश में ही नहीं बल्कि समस्त भारतवर्ष में पं. रविशंकरजी शुक्ल ने अपनी सेवाओं द्वारा अपना विशेष स्थान प्राप्त किया है और उन्हें सभी आदर की निगाह से देखते हैं। इस प्रदेश में तो कांग्रेसियों के कुटुम्ब के वे प्रपितामह गिने जाते हैं। जगदीश्वर पूज्य पण्डित जी को आयुरारोग्य प्रदान करे।

—गोपालराव खेडकर।

पंडित जी हमारे सूबे के वयोवृद्ध पुरुष हैं। मैं, पंडित जी को सार्वजनिक क्षेत्र में, स्वर्गीय राघवेन्द्र राव, स्वर्गीय पूज्य मालवीय जी के सम्पर्क में था, तब से जानता हूं। कांग्रेस प्रवेश के बाद से तो नजदीक से केवल जानता ही नहीं हूं बल्कि साथ में कार्य करने का तथा जेलों में साथ रहने तक का सम्बन्ध आया और आज तक बढ़ता ही रहा।

पंडित जी अनेकों उथल-पुथल में भी स्थिर रहे ; यहां तक कि खरे कांड का मुकाबिला करना पड़ा और पंडित मिश्र जी जैसे परम मित्र तक को त्यागना पड़ा किन्तु डिगना तो दूर रहा पंडित जी अपने सिंहासन पर अक्षुण्ण रहे।

सम्मेलन उन्हें अभिनंदन ग्रंथ, उनके ७९ वें-जन्म-दिवस पर भेंट कर रहा है तथा इस प्रकार उचित रूप से उनका सत्कार कर रहा है—मैं उसके साथ हूं।

—पूनमचंद रांका।

भूतपूर्व न्यायाध्यक्ष श्री भवानी शंकरजी नियोगी

दिनांक २ अगस्त को ७९ वें वर्ष में पदार्पण करनेवाले पं. रविशंकर जी शुक्ल को मध्यप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से आदर-श्रद्धापूर्वक जो "अभिनन्दन ग्रन्थ" समर्पित किया जा रहा है, इस मांगलिक अवसर पर मैं शुक्ल जी का अत्यंत प्रसन्नता, उत्सुकता और शुभकामना पुरस्सर अभिनन्दन करता हूं। मैं आपको पूरी अर्ध शताब्दी से जानता हूं और बराबर देख रहा हूं कि वे अपनी तरुणाई के साथ ही देश सेवा के अनेक रचनात्मक कार्यों में आत्म-समर्पण के साथ संलग्न हैं। शुक्लजी में अदम्य उत्साह, अखंड राष्ट्रभक्ति, बुद्धिचातुरी, कार्यपटुता, हृदय की विशालता, धीरोदात्त नेतृत्व तथा ईश्वरनिष्ठा पूर्णतया भरी हुई है।

ईशावास्य उपनिषद में एक जगह पर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा:" ऐसा वचन है। जन-सेवा के विविध कार्यों में प्रतिक्षण जागरूक रहकर आत्म-बलिदान करने के लिये मैं अपने चिर परिचित महाभाग को "शतं जीव शरदो वर्धमान:" इस मंत्र के साथ अपनी शुभ कामना अर्पित करता हूं। वे स्वस्थ, सक्षम बने रहकर दीर्घायु हों।

—भवानीशंकर नियोगी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संघ संचालक श्री गोळवलकर जी

आदरणीय पंडित रविशंकर जी शुक्ल के सम्मान हेतु अभिनन्दन ग्रन्थ उन की ७९ वीं वर्ष गांठ पर समर्पित करने का विचार अत्यंत स्तुत्य है। मान्यवर शुक्लजी का संपूर्ण जीवन राष्ट्र विमोचनार्थ व्यतीत हुआ है और अंग्रेजों के यहां से जाने के उपरान्त अपने प्रान्त का शासन-भार संभालने में पिछले ८ वर्ष आपको अतीव परिश्रम के होते हुए भी आपने यह भार अतीव योग्यता से निभाया है, यह सर्वविश्रुत है। जिस अवस्था में साधारण व्यक्ति कार्यभार से निवृत्त हो विश्राम की कामना करता है उस परिपक्व वृद्धावस्था में अनेकविध समस्याओं से जटिल बने शासन के दायित्वपूर्ण कार्य को इतनी योग्यता से चलाना कोई सामान्य बात नहीं है। परन्तु मान्यवर पंडित जी के जीवन में जो धर्मश्रद्धा तथा तदनुरूप नियमपूर्वक आचरण करने की दृढ़ता है उसीके कारण मन शान्त, संतुलित रखकर श्रेष्ठ सफल-कर्मी का जीवन निभाकर महान दायित्व पूरा करने की शक्ति उनमें प्रकट हुई है। श्री परमात्मा की उपासना—वैध या विधि-निषेध के परे होकर कैसी भी हुई तो सद्य: फलदायिनी सिद्ध होती है इसका माननीय पंडित जी का जीवन प्रत्यक्ष उदाहरण है—ऐसा मैं मानता हूं। आपका यह परिश्रम से भरा कर्मी-जीवन, देश के हेतु सर्व प्रकार के कार्यों में अविरत रूप से व्यस्त जीवन, आज की तरुण पीढ़ी में अध्यवसायी वृत्ति, श्रम करने का उत्साह, कर्तव्य-पथ पर अडिग रहने का धैर्य प्रदान करने में समर्थ है। मैं आशा करता हूं कि इन गुणों का तथा धर्म-प्रेम एवं आचरण का यह आदर्श अपनाकर देश का युवक-वर्ग अपने आप को योग्य राष्ट्र-सेवक के रूप में उपस्थित करने में प्रयत्नशील होगा।

व्यक्तिश: मेरे लिये यह मंगल अवसर अतीव आल्हाद देनेवाला है। श्रद्धेय पंडित जी के सहाध्यायी तथा एक ही पाठशाला के छात्र के रूप में मेरे पूज्यपाद् चाचाजी तथा पूजनीय पिताजी थे इस कारण मैं आपको अपने इन गुरुजनों की भांति ही अति प्रेमास्पद एवं आदरणीय मानता हूं। अत: मान्यवर पंडित जी की इस ७९ वीं वर्ष गांठ के पुण्य अवसर पर उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हुआ परमकृपालु परमात्मा के चरणों में नम्र प्रार्थना करता हूं कि माननीय पंडित रविशंकर जी शुक्ल को उत्कृष्ट स्वास्थ्य, सुखपूर्ण दीर्घ-जीवन प्राप्त हो जिससे कि देशवासी बांधवों के सम्मुख यह श्रेष्ठ आदर्श प्रत्यक्ष देखकर अपना जीवन योग्य बनाने की चिरकाल प्रेरणा मिलती रहे।

—मा. स. गोळवलकर।

शक्तिनरेश श्री लीलाधर सिंह जी

भारतीय कांग्रेस के प्रौढ़तम सेनानी, एवं देश के सच्चे गौरव, आदरणीय पण्डित रविशंकर जी शुक्ल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों में सदैव प्रथम पंक्ति के वीर रहे हैं तथा अपने त्याग, शौर्य एवं दृढ़ संकल्प से भारत मां की दासता के बन्धनों को काटने में आपने अकथनीय योग दिया है। स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में आप का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायेगा।

आप से मेरा अनेक दिनों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है अत एव आप को पास से देखने का मुझे पर्याप्त अवसर मिला है। अपने जीवन के प्रभात काल से ही आप ने देशभक्ति की शपथ ले, विश्व-वंद्य बापू के निर्देशन में अपना सर्वस्व त्याग, देश सेवा का पथ अपनाया। अनेक बार आप ने कठोर कारावास यातना एवं अन्य कष्ट सहे, किन्तु आपने अपनी देशभक्ति के व्रत में तनिक भी आंच न आने दी। ज्यों ज्यों आप तपते गये, त्यों त्यों कंचन की नाईं और भी निखरते गये। धीरता विद्वत्ता, गंभीरता, कार्य-परायणता, नीतिज्ञता आदि अनेक सात्विक गुणों का, एक अद्वितीय संग्रह आपके विशाल मानस में हुआ है। इतना ही नहीं अपने समय के आप एक कुशल खिलाड़ी भी रहे हैं। इस प्रकार नैतिक, बौद्धिक एवं शारीरिक गुणों का आपमें एक अद्भुत सामंजस्य है। अनेक दिनों तक आप मध्यप्रदेश के "शिक्षण मंत्री" रहे तथा एक कुशल शिक्षक के अनुभव से आपने "विद्यामंदिर" पद्धति को जन्म दिया, जो भारतीय संस्कृति, उद्योग तथा कला-कौशल्य का सुन्दर नमूना है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से आप मुख्य मंत्री के पद को सुशोभित कर रहे हैं। किंतु फिर भी दम्भ आपको छू तक नहीं पाया है। अपने हृदय की आर्द्रता तथा वाणी की कोमलता से आप कोटि कोटि जन के हृदय हार बने हुए हैं।

आप हिन्दी भाषा के कट्टर समर्थकों में से हैं तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में आप का सक्रिय सहयोग एवं बहुत बड़ा हाथ रहा है। साथ ही साथ ज्ञान की गरिमा तथा सद्भावों की महिमा से आपका अन्तर आप्लावित है। आप अपने नामानुकूल ही "शुक्ल" हृदययुक्त ऐसे कल्याणकारी "शंकर" हैं जिनके शीर्षभाग में "रवि" का तेज विराजमान है। आप आज अपने जीवन के ७९ वर्ष समाप्त कर चुके हैं। सप्तऋषियों का सौम्य तथा नवग्रहों का तेज आप में अभी भी विद्यमान है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपका यश अनादिकाल के वक्षस्थल पर अमिट चिन्ह बनकर रहेगा।

मैं आप के प्रति अपनी शतशत शुभकामनाएं व्यक्त करता हूं तथा परम-पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि आपको दीर्घायु प्रदान कर आपके जीवन का पथ मंगलमय बनावें।

"जीवेत् शरदःशतम्"

—लीलाधर सिंह।

वीर वामनराव जी जोशी, अमरावती

आदरणीय पं. रविशंकर जी शुक्ल के आगामी जन्म-दिवस के शुभ अवसर पर उनको "अभिनन्दन-ग्रन्थ" समर्पित किया जाने वाला है, यह जानकर मुझे संतोष हुआ।

पं. शुक्ल जी के विषय में एक विस्तृत लेख लिखने की मेरी इच्छा थी। परंतु अस्वास्थ्य के कारण वह पूरी नहीं हो सकी। ईश्वरेच्छा।

उनसे मेरा घनिष्ठ स्नेह संबंध है एवं मैं स्वानुभव से यह निश्चित कह सकता हूं कि ऐसा मित्र मिलना एक बड़ा सौभाग्य है।

परमेश्वर उनको दीर्घआयुरारोग्य प्रदान करे, यही मेरी प्रार्थना है।

—वामन गोपाल जोशी।

विदर्भ साहित्य संघ के अध्यक्ष श्री बाबासाहेब खापर्डे

पं. रविशंकर जी शुक्ल से मेरा घनिष्ट संबंध बहुत वर्षों से है। आपके राज्यशासन, सामर्थ्य और कौशल के विषय में मेरे हृदय में समादर सदा ही रहा है। इस प्रान्त का यह सौभाग्य है कि आप जैसा मुख्य मंत्री यहां है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि पंडितजी शतायु होकर भी अधिक वर्षों तक निरामय जीवन व्यतीत करें।

—बा. ग. खापर्डे।

विद्वद्रत्न श्री दफ्तरी जी, नागपुर

मुझे आज होम्योपैथी के प्रचार के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं अतः मैं उसी दृष्टि से लिख सकूंगा। मैं होम्योपैथी बोर्ड की तरफ से उनका आभारी हूं कि उन्होंने मुझे होम्योपैथी बोर्ड का अध्यक्ष बनाकर एक समिति का भी गठन किया एवं भारत सरकार के विरोध के बावजूद दो वर्षों का होम्योपैथी अभ्यास का छोटा पाठ्क्रम निश्चित करने एवं उसे मान्यता दिलाने का धैर्य दिखलाया। अभी ही उन्होंने नवेगांव में डा. सेन द्वारा स्थापित होम्योपैथी आरोग्य-धाम शासन के अधीन ले लिया जिसके लिये रोगी उन्हें आशीष देंगे। हमारे अनुरोधपूर्ण आग्रह पर उन्होंने होम्योपैथी महाविद्यालय का उद्‌घाटन करके होम्योपैथी को प्रोत्साहन दिया है इसलिये हमारी शुभकामना यही है कि होम्योपैथी के उत्कर्ष के सहाय्य के सामर्थ्य में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो।

—के. ल. दफ्तरी।

'तरुण भारत' के सम्पादक श्री माडखोलकर जी

मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध आदरणीय मुख्यमंत्री पं. रविशंकर जी शुक्ल के आगामी जन्म-दिवस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन अभिनन्दन ग्रंथ भेंट कर रहा है यह बहुत आनन्द की बात है और वह जितने आनन्द की बात है उतनी ही उचित भी; कारण पं. रविशंकर जी शुक्ल ने हिन्दी भाषा के प्रसार एवं अभिवृद्धि का जितना निरन्तर प्रयास निष्ठा एवं दृढ़ता के साथ किया है, उतना अन्य किसी राज्य के मंत्री ने नहीं किया। व्यवहारोपयोगी कोष रचना से लेकर ग्रंथकारों को प्रोत्साहन तक भाषा एवं साहित्य की प्रगति के जितने उपक्रम इस राज्य में हुए हैं अथवा शासकीय कार्य-व्यवस्था में अंग्रेजी भाषा का प्राधान्य एकदम हटाकर हिन्दी तथा मराठी को इस राज्य की राज्य-भाषा घोषित करने तक की श्रृंखला में मध्यप्रदेश अग्रणी रहा है एवं उसका समस्त श्रेय भी शुक्लजी के स्वाभिमान को है। राज्य-भाषा विधेयक के संबंध में मेरा कुछ मतभेद हुआ तो भी उनकी सर्वसामान्य नीति हिन्दी के साथ मराठी को भी प्रोत्साहन देने की है, इसमें मुझे सन्देह नहीं। मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद उनकी साहित्याभिरुचि की मूर्तिमान स्मृति है।

पं. रविशंकर शुक्ल का साहित्य विधायक कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही उनका सांस्कृतिक कार्य भी। उनके द्वारा मूर्तरूप धारण करनेवाली विद्या मन्दिर योजना, आदिवासी समुदाय के लिये किये गये उनके विविध प्रयत्न, समाज शिक्षा, विधायक कार्य एवं भारतीय संस्कृति के अभिमान की भावना से हिन्दी एवं मराठी के साथ ही संस्कृत भाषा को दिया गया प्रोत्साहन, आयुर्वेद जैसी प्राचीन विद्या के पुनर्जीवन के लिये स्थापित संस्थाएं उनकी सांस्कृतिक दृष्टि के उदाहरण हैं। गत १५ वर्षों के कार्यों का यह सिलसिला "कुलपति" शब्द के सम्बोधन से ही यथार्थतः व्यक्त हो सकता है।

उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुरूप ही उनके सौहार्द एवं औदार्य के गुण हैं। इस कारण मुद्रण स्वातंत्र्य में भी मध्यप्रदेश अग्रसर रहा है। तरुण-भारत के सम्पादक के नाते मुझे मध्यप्रदेश के मंत्रिमंडल एवं पं. रविशंकर जी शुक्ल की निजी नीति पर टीका करने का अनेक बार प्रसंग आया है। इसमें पत्र की कर्तव्य भावना ही प्रमुख रही है। इसके बावजूद शुक्ल जी की सहृदयता में मैंने कोई अन्तर नहीं पाया। इस देश में प्रजातन्त्र प्रणाली के विकास के लिये यह आवश्यक है कि शासकीय प्रमुख पक्षोपपक्षों से समदृष्टि एवं उदार-वृत्ति का व्यवहार करें। पं. शुक्ल जी का औदार्य मैं मध्यप्रदेश के लोकाभिमुख शासन का लोकोत्तर भूषण समझता हूं।

परमेश्वर उन्हें दीर्घायु दे एवं प्रान्त पुनर्रचना के बाद भी उनके प्रौढ़ अनुभव का जनता को लाभ मिले, यह मेरी कामना है।

—ग. त्र्यं. माडखोलकर।

महाकोशल प्रां. कां. क. के उपाध्यक्ष महन्त लक्ष्मीनारायणदास जी, रायपुर

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने की प्रेरणा तो मुझे स्वर्गीय पं. माधवराव सप्रे के जीवन-काल में ही मिली थी परन्तु मेरे राजनैतिक जीवन का यथार्थ प्रारम्भ सन् १९१८ से ही हुआ जब कि मेरी आयु १८ वर्ष की थी। मेरे राजनैतिक जीवन के मुख्य निर्माता पं. रविशंकरजी शुक्ल हैं। सन् १९२२ के पूर्व उनके साथ मेरा तीव्र मतभेद रहा परन्तु उसके बाद जो मतैक्य स्थापित हुआ वह आज तक कायम है क्योंकि मैं इनकी महानता से प्रभावित हो गया। इनके निकट संसर्ग में मैं सन् १९२२ से हूं।

आदरणीय पं. शुक्लजी रायपुर जिले के सार्वजनिक जीवन तथा राष्ट्रीय कार्यों के प्राण हैं। आपकी राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक सभी प्रकार की सेवाओं को जनता कभी नहीं भूल सकती।

आप सन् १९२६ से सन् १९३७ तक रायपुर की डिस्ट्रिक्ट कौन्सिल के चेयरमन रहे। उस अवधि में आपके द्वारा समूचे जिले भर में राष्ट्रीय जागृति के जो-जो और जैसे-जैसे कार्य हुए वैसे भारतवर्ष में बहुत थोड़े नगरों में हुए होंगे। वह हृदयहीन विदेशी शासन का जमाना था। संघर्ष के उन दिनों में रायपुर की डिस्ट्रिक्ट कौन्सिल के निजी छापाखाने ने जिले की जागृति और संगठन में बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा विशेष कार्य किया। दृढ़ संगठन के कठिन कार्य में वार्षिक ग्राम-शिक्षक सम्मेलनों का आयोजन किया गया था। यह आपकी ही नीतिमत्ता और अपूर्व सेवा का परिणाम है कि मध्यप्रदेश में रायपुर जिला प्रत्येक राष्ट्रीय कार्य में तभी से अग्रगण्य रहता आया तथा अब भी वैसा ही है। गत तीन साल से मुख्य मंत्री पद आपकी लोकप्रियता का स्वयं प्रमाण है।

आपकी सेवाओं से प्रभावित होकर रायपुर जिले की जनता ने तारीख ४ अगस्त १९४७ को आपकी ७१ वीं वर्ष गांठ मनाने का निश्चय किया था। उस समय आपके सम्मानार्थ एक लाख छिहत्तर हजार रुपये एकत्रित किये गये थे। इस थैली की भेंट एक आम सभा में की गई थी। इन रुपयों में से शुक्लजी ने महाकोशल शाखा के भारत सेवक समाज को एक लाख रुपये, जबलपुर के शहीद स्मारक कोष को पचास हजार रुपये और रायपुर के खादी विद्यालय को दस हजार रुपये दिये हैं। इस तरह भेंट की सारी रकम राष्ट्रीय कार्यों में व्यय की जा रही है।

यह आपके ही प्रभाव का परिणाम था कि गांधी स्मारक निधि के रूप में प्रान्त भर में ग्यारह लाख रुपये एकत्रित हुए जिनमें से ५,०३,७४४-४-० केवल रायपुर जिले से प्राप्त हुए थे। इससे आपकी धन-संग्रह शक्ति का कुछ परिचय मिलता है।

माननीय शुक्लजी के जीवन में निस्वार्थ और निष्पक्ष सेवा करने के अनेक अवसर आये हैं परिणामस्वरूप आपकी कई बार अग्नि परीक्षा भी हुई है। उनमें एक सफल सेनानी की तरह उत्तीर्ण होकर आपने सभी मोर्चों पर विजय प्राप्त की है। आपका हृदय विशाल है जिससे आप किसी के कोप को प्रेम एवं सहयोग से जीत लेते हैं और अपने विरोधियों को उनके हितों की रक्षा कर अपना कर लेते हैं। वयोवृद्ध शुक्लजी का यह सिद्धान्त-सा बन गया है जो मेरे लिये कांटे बोता है, उसके लिये मैं फूल उत्पन्न करना चाहता हूं। इनका हिन्दी प्रेम और निष्ठा तो सब पर विदित ही है।

स्थान और समय के अभाव में यह सम्भव नहीं कि कार्य-कुशल शुक्लजी के यशस्वी जीवन की घटनाओं और अनेक राजनैतिक सफलताओं का पूरा-पूरा वर्णन किया जा सके। उनका जीवन-क्रम आरम्भ से अभी तक एक-सा रहता आया है, मैं उनका आज्ञाकारी सहयोगी रहा हूं और अभी भी हूं। मेरे हृदय में उनके प्रति बड़ा आदरभाव है। परमात्मा से प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हों और वे दीर्घकाल तक हमारे पथदर्शक का काम करें।

—लक्ष्मीनारायणदास।

लोकसभा सदस्य श्री रामरावजी देशमुख, बार-एट-लॉ

मेरे मित्र पं. रविशंकर शुक्ल के आगामी जन्म-दिवस पर मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाने वाला है, उसका मैं हार्दिक स्वागत करता हूं एवं ईश्वर उन्हें भरपूर आयु दे उसकी कामना करता हूं।

मैं ईश्वर से यह भी प्रार्थना करता हूं कि उन्होंने जिस तरह इस राज्य का आज तक कार्यभार सम्हाला है वे उसे उसी प्रकार संचालित करते रहें एवं ईश्वर उन्हें उनके कार्यों की पूर्ति एवं संकल्पित योजना को पूर्ण करने के हेतु दीर्घ आयु एवं शक्ति दें।

उनके द्वारा प्रकट मनोरथों के अनुसार उनके कार्यकाल में ही उन्हीं के हाथों मराठी प्रदेश का विलगीकरण एवं नए राज्य की स्थापना हो, यह मेरी शुभेच्छा है।

—रामराव देशमुख।

नागपुर प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं विधान सभा सदस्य श्री मदनगोपाल अग्रवाल

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदरणीय पंडित रविशंकरजी शुक्ल को उनके आगामी जन्म-दिवस पर अभिनंदन ग्रंथ भेंट कर रहा है। पंडितजी ने अपनी दीर्घकालीन सेवाओं द्वारा इस प्रान्त की प्रगति में सबसे ज्यादा हाथ बटाया है। स्वतंत्रता की लड़ाई में भी वे अग्रणी रहे और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश को प्रगति पथ पर ले जाने में भी उन्होंने पूरा हाथ बटाया। मुझ सरीखे नौजवानों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस तरह वे दिन-रात कार्य करते रहते हैं।

उनकी भव्य आकृति, मृदुल स्वभाव, और सौजन्य-पूर्ण व्यवहार किसी को भी मुग्ध किये बिना नहीं रह सकता। जब वे प्रेम से हमारे कंधों पर हाथ रख देते हैं तो हम अपना विरोध भूल जाते हैं मानों उन्होंने हमारे ऊपर कोई मोहिनी कर दी हो।

उनका जीवन हम नौजवानों के लिये अनुकरणीय है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे जिससे वे देश की व इस प्रांत की जनता की अधिकाधिक सेवा कर हमें मार्ग दर्शन कर सकें।

—मदनगोपाल अग्रवाल।

अकोला के प्रमुख व्यापारी श्री गोपालदासजी मोहता

मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध, आदरणीय मुख्य-मंत्री पं. रविशंकरजी शुक्ल के ७९ वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर मध्यप्रदेश साहित्य सम्मेलन उन्हें "अभिनन्दन ग्रंथ" भेंट कर रहा है, यह जानकर खुशी हुई। इस शुभ अवसर पर मैं अपनी शुभ कामनायें प्रकट करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि वे उन्हें दीर्घ आयुरारोग्य प्रदान करें, और उनके तथा सम्मेलन के द्वारा हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी की अधिक से अधिक सेवाएं उत्तरोत्तर बनती रहें।

—गोपालदास मोहता।

भू. पू. संसद सचिव श्री रामगोपालजी तिवारी

पं. रविशंकर शुक्ल प्रांत में आज सर्वश्रेष्ठ सम्माननीय पुरुष हैं। यह श्रेष्ठता उन्हें सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्राप्त है। वे बड़ा दिल रखते हैं और उनके सब काम बड़े होते हैं। राष्ट्रीय, सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में उनकी लगन बोलती रही है एवं रायपुर में उनके द्वारा संस्थापित अनेक संस्थाएं इसका प्रमाण हैं। सभी प्रवृत्तियों में वे प्रमुख रहे हैं—वकालत में वे अग्रगण्य रहे और स्वातंत्र्य-संग्राम में भी उनकी प्रखरता उसी प्रकार सामने आयी। रायपुर जिला कौन्सिल के द्वारा ग्रामीण-क्षेत्रों तक राष्ट्रीयता के अंकुर प्रस्फुटित करने में उन्होंने दूरदर्शिता का परिचय दिया है। प्रान्त की प्रगति का उन्होंने सर्वांगीण प्रयत्न किया है। वे बाधाओं से कभी डिगते नहीं और जो संकल्प कर लेते हैं, उसे पूरा करने में सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ भिड़ जाते हैं, प्रान्त का जीवन-स्तर उठाने में उनके नायकत्व में प्रशंसनीय कार्य हो रहा है।

स्व. श्री वल्लभभाई पटेल के रियासतों के विलीनीकरण के कार्य में मध्यप्रदेश में भी शुक्लजी ने योग दिया। छत्तीसगढ़ में शुक्लजी का जो सम्मान एवं राजाओं पर उनका जो प्रभाव था उसी के फलस्वरूप नरेशों ने उनकी बात मानने में ही अपना कल्याण समझा।

मैं शुक्लजी के चरणों में उनके जन्मदिवस के अवसर पर सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

—रामगोपाल तिवारी।

साहित्य अकादमी के सहायक सचिव, श्री प्रभाकर माचवे

पं. रविशंकरजी शुक्ल हिंदी के बहुत बड़े सेवक और तपे हुए राष्ट्रकर्मी ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध सज्जन हैं। उनके प्रति मेरे मन में आदर भाव है। उन्हें अभिनंदन-ग्रंथ देकर सम्मेलन अपने प्रदेश का एक बड़ा ऋण अंशतः चुका रहा है।

वे बहुत मिलनसार हैं ; सहज-स्मितयुक्त मुद्रा से, सब लोगों से समान भाव से मिलते हैं। वे शब्द-निर्माण के विषय में उदार-चेतन् हैं। हिन्दी का हित उनके मन में सर्वोपरि है।

ऐसे सच्चे अर्थों में 'महानुभाव' के दीर्घायु-आरोग्य का चिंतन करते हुए मैं अभिनंदन-ग्रंथ की सफलता की शुभ-कामना करता हूं।

—प्रभाकर माचवे।

राष्ट्र-संत श्री तुकड़ोजी महाराज

पंडित रविशंकरजी शुक्ल का इतनी उमर में इतना कठिन परिश्रम करने को मैं उनकी अजीब शक्ति का द्योतक समझता हूं। जब जब मैंने उनसे मुलाकात की है वे किसी न किसी कार्य में व्यस्त मिले हैं। उनको देखने के बाद मेरी यही धारणा हो गई है कि राजकीय कार्यभार भी सेवा का पर्वत है। इस उमर में भी वे याद के इतने पक्के हैं कि हरएक व्यक्ति के स्वभाव का नक्शा उनके सामने रहता है। हर आदमी का पूर्ण समाधान करना और अपनी बात को नहीं छोड़ना यह उनका खास ढंग है। उनकी धार्मिकता का भी मुझे परिचय हुआ है। जब वे शंकर की 'मूर्ति-स्थापना' की पूजा में रहते थे तब दो-दो तीन-तीन बजे तक भी मुंह में पानी नहीं लेते थे। सारे आदमी भोजन करके चले गये किन्तु वे पूजन पर ही बैठे रहे—यह उनकी ही निष्ठा है। वे अपनी सावधानी के लिये हमेशा तैयार रहते हैं। पं. शुक्लजी से मेरा काफी दिनों से परिचय है। मैं उनके प्रति एक सेवक की भावना रखता हूं। सारे काम अपने ढंग से ही चलें, यह उनकी अपनी दृष्टि है मगर वे समाज का दिल भी नहीं तोड़ते, ऐसे भोले भी हैं। जो उनके नाम का संबंध शंकर के शब्दों में लगाता है, वह गलत नहीं। मैंने कभी उनसे राजकारण पर चर्चा नहीं की। हम तो चाहते हैं कि वे देश सेवा के हित और भी काफी वर्ष तक जिएं और आजीवन आलीशान काम करने और ईश्वरनिष्ठा से सब पर प्रेम रखने का लाभ इनसे छोटी उमर वालों को और भी मिले।

—तुकडलादास।

सागर विश्वविद्यालय के कुलपति, श्री रामप्रसादजी त्रिपाठी

पंडित रविशंकरजी शुक्ल के दर्शन मुझे सर्वप्रथम प्रयाग में हुए थे। उस समय मैं उनको दूर से ही देख सका, किन्तु उनके व्यक्तित्व और सौम्य स्वभाव का मुझपर तुरन्त प्रभाव पड़ा। उसके उपरान्त सागर विश्वविद्यालय में उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब से आज तक, जहां तक मैं उन्हें समझ सका और देख सका, उनकी शिष्टता, उनकी दयालुता, उनकी उदारता और बन्धुता के प्रति मेरी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। मध्यप्रदेश का सौभाग्य है कि ऐसा महान् व्यक्ति यहां का मुख्य मंत्री है। जिस ओर मैं देखता हूं, उनके व्यक्तित्व की झलक दिखलाई पड़ रही है। ईश्वर से प्रार्थना है कि शुक्लजी को दीर्घ जीवन और यथेष्ट स्वास्थ्य प्रदान करे जिससे वे इस प्रदेश की सेवा अनेक वर्षों तक करते रहें।

—रामप्रसाद त्रिपाठी।

शिक्षा-शास्त्री श्री लज्जाशंकर जी झा, जबलपुर

हमारे प्रांत के मुख्य मंत्री माननीय पं. रविशंकर शुक्ल ७८वां वर्ष समाप्त कर दिनांक २ अगस्त १९५५ को ७९वां वर्ष आरंभ करेंगे। इतनी उम्र पा लेना कुछ कम महत्व की बात नहीं है, पर मेरे मत से विशेष महत्व इस बात का है, कि इस अवस्था में भी स्वस्थ हैं, जमकर नवयुवकों के समान काम करते हैं और देश की सेवा कर रहे हैं। फुर्ती भी काफी है। मुझे तो विशेष संतोष यह देखकर होता है, कि प्रभुता पाकर भी उनमें मद नहीं आया, इन्सानियत पहले सरीखी बनी है। वेदों में एक प्रार्थना है कि—

शतंजीवेम शरदः सवीराः।

यही प्रार्थना उनकी ओर से ईश्वर से करता हूं कि वे सौ वर्ष जियें।

—लज्जाशंकर झा।

"नागपुर टाइम्स" के भूतपूर्व और "ज्वाला" के वर्तमान संपादक श्री नारायणन्

अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण के सुखद अवसर पर चरित्रनायक के अभिनन्दन पात्र में मुझे भी अपने पत्र-पुष्प के योग का अवसर मिला है। शुक्लजी ने चुनौतियों का आव्हान किया है एवं जब वे ७९ वर्ष के तरुण हैं तब भी पौरुषपूर्ण होकर सभी को चुनौती दे रहे हैं। प्रभावशाली स्वास्थ्य एवं झुर्रियांविहीन उनका मस्तिष्क हमारे इस लघु विश्व में उन्हें सर्वदा जीवनमय जीवन की प्रेरणा देते रहते हैं।

उन्होंने भीष्म-पितामह की भांति स्वातन्त्र्य युद्ध का नेतृत्व किया है। स्वाधीन भारत में संसद सदस्य, राजनीतिज्ञ, मुख्य मंत्री एवं अग्रणी कूटनीतिज्ञ के रूप में उनके परिचय की आवश्यकता नहीं है। आज हम जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं, वे माननीय गुणों, विनम्रता, हास्य-स्मित में अनुपम एवं अजेय हैं। स्वाधीन भारत में मध्यप्रदेश के इस शिल्पी के व्यक्तित्व में समाविष्ठ मानव उनके शासक से भी ऊपर है। सत्य तो यह है कि वह उच्च व्यक्तित्व है—शब्दों एवं शरीर में। एवं व्यक्तित्व का आकर्षण पुष्प में सुगंध-सा रहना चाहिये। शुक्लजी में वह सुगंध अनन्त है। वह दीर्घकाल तक सजीव रहें।

—के. पी. नारायणन्।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के मंत्री, श्री मोहनलाल जी भट्ट

पण्डित रविशंकर शुक्ल-अभिनन्दन-ग्रन्थ श्रद्धेय शुक्लजी को अर्पण करने का आपका निर्णय अभिनन्दनीय है। शुक्लजी की सेवाएं महान् और अनुकरणीय हैं। भारत के निर्माण में—विशेषकर मध्यप्रदेश के निर्माण कार्यों में उनका बहुत बड़ा योग रहा है। निर्माण के सब पहलुओं पर वे पूरा ध्यान दे रहे हैं। राजकार्य में हिंदी को उसका उपयुक्त स्थान दिलाने में भी उन्होंने बड़ा परिश्रम किया है। मध्यप्रदेश ही एक ऐसा द्विभाषी प्रदेश है कि जिसके शासनकार्य में हिन्दी तथा मराठी सर्वप्रथम अपनाई गई है और अंग्रेजी के स्थान पर उनका उपयोग होने लगा है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उनके नेतृत्व में हिन्दी तथा मराठी का समान रूप से व्यवहार हो रहा है तथा ये दोनों भाषाएं एक दूसरे की समृद्धि तथा विकास में सहायक हो रही है।

मुझे स्वयं तथा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं उसके कार्यकर्ताओं को श्रद्धेय शुक्लजी में सम्पूर्ण श्रद्धा है। समिति को उनका प्रेम तथा सहानुभूति सदा मिलते रहे हैं। हिन्दी का पारिभाषिक कोश, शासनोपयोगी शब्दों तथा प्रयोगों को तैयार कराने में उन्होंने बहुत श्रम किया है और कराया भी है। हिन्दी जगत् सदा-सदा इसके लिए उनका ऋणी रहेगा।

देश को अभी श्री शुक्लजी की सेवाओं की बड़ी आवश्यकता है। देश का निर्माण-कार्य अभी आरंभ ही हुआ है। ऐसे अवसर पर श्री शुक्लजी सदृश कर्मठ, दूरदर्शी तथा अनुभवी नेता का मार्गदर्शन देश के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

मंगलमय परमात्मा से प्रार्थना है कि वे शतायु हों और देश को समृद्ध तथा स्वावलम्बी बनाने में सहायक हों।

—मोहनलाल भट्ट।

तुमसर के प्रमुख व्यवसायी श्री नरसिंहदास जी मोर

श्रद्धेय पं. रविशंकर जी शुक्ल मध्यप्रदेश के गौरव और भारत राष्ट्र की विभूति हैं। उनका समस्त जीवन राष्ट्रोत्थान और लोक-कल्याण के कार्य में व्यतीत हुआ है। मध्यप्रदेश के राष्ट्रीय जीवन के तो वे सर्वस्व ही हैं। उनके मुख्य-मंत्रित्वकाल में मध्यप्रदेश ने बहुमुखी प्रगति की है और देश की समृद्धि तथा प्रगति में महत्वपूर्ण योग दिया है। गत ३५ वर्षों से वह ऋषि की भांति जनता जनार्दन की सेवा में संलग्न हैं। राष्ट्र देवता की आराधना के साथ-साथ उन्होंने अपनी संस्कृति एवं राष्ट्रभारती हिन्दी की भी अनन्य सेवा की है। मध्यप्रदेश में आज हिन्दी को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये जो भगीरथ प्रयत्न किया जा रहा है, वह श्री शुक्ल जी की ही प्रेरणा का फल है। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष पद को श्री शुक्ल जी ने ही अलंकृत किया था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन कराने में भी श्री शुक्ल जी का बहुत बड़ा हाथ है। इसके लिये उन्होंने संविधान सभा में राजर्षि टंडन जी के साथ मिलकर जो अथक श्रम किया वह सदा स्मरणीय रहेगा।

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आदरणीय शुक्ल जी को उनकी ७१ वीं वर्षगांठ के अवसर पर २ अगस्त को अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने का जो निश्चय किया है वह अत्यंत प्रशंसनीय है। इस आयोजन के द्वारा हिन्दी जगत श्री शुक्ल जी के प्रति किंचित रूप में अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर सकेगा। मैं इस शुभ अवसर पर श्रद्धास्पद शुक्ल जी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन के लिये मंगल कामना करता हूं।

—नरसिंहदास मोर।

आयुर्वेद बृहस्पति पं. गोवर्धन शर्मा छांगाणी

पंडित रविशंकर शुक्ल में सेवा, संयम तथा सहिष्णुता आपाद-मस्तक समाये हुए हैं। उनका कार्यक्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। मुख्य मंत्री ही क्या, वे आज मध्यप्रदेश के सर्वेसर्वा हैं। आपके जीवन काल में ही मध्यप्रदेश को विशाल-रूप प्राप्त हुआ है। इसकी प्रगति, उन्नति, समृद्धि और विकास के लिये शुक्लजी के हाथों अनेक संस्थाओं को जन्म मिला और वे भले भांति फूली और फली भी।

संस्कृत, हिन्दी और नागरीकी उन्नति में, उन्हें उनके उचित स्थान दिलाने में शुक्लजी सदा एक निष्काम तथा कर्मठ कर्मयोगी बने रहे हैं। भारत की विभिन्न भाषाएं भी आपकी दृष्टि में अत्यधिक आदरणीय हैं। अपनी प्रादेशिक हिन्दी-मराठी भाषाओं का भी आप सदैव हृदय से उत्कर्ष चाहते हैं।

आयुर्वेद की उन्नति में भी श्रीमान शुक्लजी ने हमारा समय समय पर हाथ बटाया। मध्यप्रदेश में आज जो कुछ आयुर्वेदीय चिकित्सापद्धति को राज्य का प्रश्रय प्राप्त है इसका पूर्ण श्रेय आपको ही है। संक्षेप में मैं शुक्लजी को सदा इस रूप में देखता आया हूं :—

नहीं संतप्त वैसे ही कभी भी सर्द ही देखा। रफा हो दर्द मों सबका सदा हमदर्द ही देखा ॥
स्वच्छ इक रंग में देखा, न स्याहो जर्द ही देखा। सदा गिरिराजना इनको जवानों मर्द ही देखा ॥

मेरी हार्दिक शुभाकांक्षा है कि शुक्लजी सौ से भी अधिक चिरायु प्राप्त करें और सर्वथा सुखी रहें।

—गोवर्धन शर्मा छांगाणी

जबलपुर के रईस ब्योहार रघुवीरसिंहजी

अत्यंत आनन्द का विषय है कि श्री शुक्लजी को उनकी महान सेवाओं और कार्यों के लिये अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का आयोजन किया गया है। श्री शुक्लजी तो मेरे भाई की तरह रहे हैं। मैं कालेज में उनका सहपाठी रहा हूं एवं उनके साथ मेरी घनिष्ठ आत्मीयता रही है। सन् १९३३ में जब महात्मा गान्धी मेरे निवास स्थान पर ठहरे तब शुक्लजी मेरे साथ थे। वह पुनीत एवं मधुर स्मरण मुझे कभी न भूलेगा। मैं और वे करीब करीब एक ही आयु के हैं। उनका स्वास्थ्य और कार्यकुशलता देखकर मुझे बहुत हर्ष है। मुझे गौरव है कि आज वे इस प्रदेश के मुख्य मंत्री पद को सुशोभित कर रहे हैं।

इस मंगल अवसर पर श्री शुक्लजी को समस्त हार्दिक शुभ कामनाएं भेज रहा हूं।

—ब्योहार रघुवीरसिंह

मध्यप्रदेश के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व मंत्री श्री घनश्याम प्रसाद "श्याम"

सन् १९३९ में मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवां अधिवेशन रायपुर में हुआ। इसके अध्यक्ष रायगढ़ नरेश स्व. चक्रधरसिंह जी थे। इस सम्मेलन का उद्घाटन माननीय पं. रविशंकरजी शुक्ल ने किया था। अपने भाषण में पंडित शुक्ला ने घोषित किया था कि वह समय अब दूर नहीं है जबकि हिन्दी समस्त देश की राजभाषा के सम्मान को प्राप्त करेगी। अतएव हिन्दी के प्रति उसके लेखकों को जागरूक होकर उस में ठोस निर्माण की ओर अग्रसर होना चाहिये। नई पीढ़ी के लिये उन्होंने अध्ययन का जोर दिया था और कहा था कि साहित्य हृदय और मस्तिष्क दोनों की उपज है जो विचार द्वारा मन्थन होकर शब्द द्वारा व्यक्त होकर अक्षरों द्वारा उतर आता है।

अन्य समारोहों के अवसरों पर भी शुक्लाजी ने अपने विचार प्रकट किये जिन में उन्होंने हिन्दी के प्रति आस्था ही नहीं कर्त्तव्यनिष्ठा को व्यक्त किया और साहित्य और साहित्यकारों के प्रति सदैव ही उन्होंने अगाध प्रेम प्रदर्शित किया। मध्यप्रदेश साहित्य सम्मेलन को वे सजीव संस्था के रूप में देखने के इच्छुक थे यह बात ईश्वर की कृपा से सफल सिद्ध हो गई। उनके ७९ वें जन्मदिवस के अवसर पर मैं उनके दीर्घजीवन की कामना करता हूं।

—घनश्याम प्रसाद "श्याम"

महात्मा भगवानदीनजी

शुक्लजी से मेरा पुराना परिचय है। हिन्दुस्तान की आजादी के सिपाही की हैसियत से हम दोनों साथ काम कर चुके है।

शुक्ल जी के चेहरे पर सदा सच्ची प्रसन्नता खेलती रहती है। प्रसन्नता से पहिले 'सच्ची' शब्द मैं सोच समझ कर और जान बूझ कर जोड़ रहा हूं। प्रसन्नता सदा सच्ची नहीं हुआ करती, बनावटी भी हुआ करती है। सच्ची प्रसन्नता उसीके चेहरे पर खेल सकती है, जो बहुतों का भला चाहता हो। भला चाहने का यह गुण शुक्लजी में है।

मुख्य मन्त्री में जो एक गुण होना जरूरी है और जो बहुत कम मुख्य मन्त्रियों में पाया जाता है, वह शुक्ल जी में है। उस गुण से उनके दुश्मन भी इन्कार नहीं कर सकते। वह गुण है, उनका खुले दिल मिलन सार होना। उनसे मिल कर शायद ही कोई उदास लौटे। अगर कोई उदास ही लौटता है तो इसमें शुक्ल जी का कोई दोष नहीं रहा होगा।

शुक्ल जी को मैं 'हुकूमत की घोडी' का पक्का शहसवार मानता हूं। 'हुकूमत की घोडी' अपने सवार को कदम कदम पर गिराने के लिये तैयार रहती है। रानों का पक्का ही उस पर टिका रह सकता है। 'हुकूमत की घोडी' जब चिराग पा जाती है, तब सवार के साथी तक घबरा उठते है, पर शहसवार के माथे पर जरा बल नहीं पड़ने पाती। उन्यासी की उमर में इस अड़ियल घोडी की कूद फांद को सम्भाल लेना क्या कम तारीफ की बात है?

इस सफलता के लिये बधाई और मेरा प्रणाम।

—भगवानदीन

श्रीमती जानकीदेवीजी बजाज, वर्धा

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हमारे प्रान्त के वयोवृद्ध कार्यकर्त्ता एवं देशभक्त के लिए यह आयोजन किया गया है। श्री शुक्लजी सब प्रकार से अभिनन्दन के योग्य है।

भारतीय राजनीति में मध्यप्रान्त का महत्त्व रहा है और मध्यप्रान्त में शुक्लजी की सेवाएं सदैव सराहनीय रही हैं। स्वतंत्रता के लम्बे युद्ध से लेकर आज तक शुक्लजी ने देश की गतिशील शक्तियों का साथ दिया है। ऊपर मैंने उनके लिए 'वयोवृद्ध' विशेषण दिया है, परन्तु उनकी कार्यक्षमता को देखकर कई युवक भी चकित रह जाते होंगे। बापूजी कहा करते थे कि 'भगवान् को सेवा लेनी है तो १२५ वर्ष तक लेंगे' इसी तरह, मैं चाहती हूं कि शुक्लजी की सेवा भी देश को चिरकाल तक प्राप्त होती रहे।

श्री शुक्लजी जब जब बजाजवाडी में आते थे, उनके लिये अपवाद रूप से पान का विशेष प्रबन्ध किया जाता था, क्योंकि बजाजवाडी से पान का वातावरण ही उठ गया था। शुक्लजी को पान की विशेष आदत है और उनके कारण सबके मुख लाल हो जाया करते थे। जब जब घर में पान आते, तभी समझ लिया जाता कि शुक्लजी आए हैं अथवा आनेवाले हैं।

इस शुभ अवसर पर मैं भगवान से प्रार्थना करती हूं कि शुक्लजी चिरायु हों और अन्य सेवाओं के साथ अपना अधिकांश समय गोवंश की वृद्धि और विकास के निमित्त प्रदान करते रहें।

—जानकीदेवी बजाज

डॉ. रामकुमारजी वर्मा, प्रयाग विश्वविद्यालय

माननीय शुक्लजी के अभिनन्दन का संवाद प्रान्त ही के लिए नहीं वरन् देश भर के लिए स्फूर्तिदायक है। माननीय शुक्लजी केवल राजनीति के आचार्य ही नहीं—वे भाषा और साहित्य के समर्थ महारथी भी हैं। उनके अभिनन्दन पर कृपया मेरी श्रद्धाञ्जलियां स्वीकार कीजिए।

—रामकुमार वर्मा

अखिल भारतीय बिड़ी निर्माता संघ के अध्यक्ष श्री परमानंदभाई पटेल

शुक्लजी की ७९ वीं वर्षगांठ के अवसर पर बधाई देने में मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। भारतवर्ष के इस निर्माण काल में उन्होंने जिस लगन से अथक परिश्रम किया है उसके लिये हम सब सदैव उनके आभारी रहेंगे। इस प्रदेश की दलगत राजनीति एवं वैयक्तिक महत्वाकांक्षा को मर्यादित रख कर उन्होंने इस प्रदेश के शासन में जो दृढ़ता एवं प्रगतिशीलता स्थापित की है वह स्तुत्य है। मैं उनका सादर अभिनन्दन कर कामना करता हूं कि मध्यप्रदेश को गौरवशाली बनाने के लिये वे भविष्य में भी अनेक वर्षों तक हमारा मार्ग प्रदर्शन करते रहें।

—परमानंद पटेल

रायगढ़ के ख्यातनामी सेठ पालूरामजी धनानियां

यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि मध्यप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन मध्यप्रदेश के यशस्वी मुख्यमंत्री पं. रविशंकरजी शुक्ल को उनकी ७९ वीं वर्षगांठ के सुअवसर पर अभिनन्दन ग्रंथ भेंट कर रहा है।

श्रद्धेय शुक्लजी की सार्वजनिक सेवाओं की चर्चा करना सूर्य को दीपक दिखलाने के समान है। मां भारती की शृंखलाओं को छिन्न-विछिन्न करने में शुक्लजी सदैव प्रथम पंक्ति में रहे हैं। त्याग, तपस्या, सेवा, उदार हृदयता के कारण समस्त मध्यप्रदेश में उनकी गणना सर्वाधिक लोकप्रिय एवं श्रद्धेय नेताओं में होती है। इस आयु में श्रद्धेय शुक्लजी की कठोर दिनचर्या नवयुवकों को नतमस्तक करनेवाली है।

शुक्लजी राष्ट्रभाषा हिंदी के बड़े हिमायती हैं। मध्यप्रदेश में ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष में हिन्दी को राजभाषा और राष्ट्रभाषा बनाने में उनके प्रयत्न स्वर्णिम अक्षरों में अंकित किये जाने के योग्य हैं.

ऐसे महामनीषी का अभिनन्दन कर हिंदी साहित्य सम्मेलन ने स्वयं को गौरवान्वित किया है। प्रभु से करबद्ध प्रार्थना है कि शुक्लजी को चिरायु बनावें ताकि राज्य और देश की सेवा अधिकाधिक उनके द्वारा होती रहे।

—पालूराम धनानियां

मध्यप्रदेश मिल मालिक संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष सेठ मथुरादासजी मोहता, हिंगणघाट

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आदरणीय मुख्य मंत्री पंडित रविशंकरजी शुक्ल की ७९ वीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। पंडितजी की सेवायें देश के लिये चिरस्मरणीय हैं। सन् १९२० के नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन से लगातार आज तक की आपकी सेवायें मध्यप्रदेश के लिये ही नहीं किन्तु सारे भारतवर्ष के लिये गौरवमय हैं। नागपुर विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बनाने के जो साहसयुक्त कदम आपने उठाया उसे शिक्षण एवं हिन्दी साहित्य का इतिहास कभी नहीं भुला सकता। वयोवृद्ध होते हुए भी आप जिस स्फूर्ति और लगन से शासन एवं सामाजिक कार्यों में रत रहते हैं वह स्फूर्ति तरुणों में भी कतिपय ही लक्षित होती है। जब से आपने मध्यप्रदेश के शासन की बागडोर सम्हाली है तब से तो पंडितजी में शक्ति और स्फूर्ति और भी विशेष रूप से दिखाई दे रही है—कई बार देखा जाता है कि रात्रि में प्रवास करने के उपरान्त दिन में पुनः शासन कार्य में व्यस्त हो जाते हैं। इस अवस्था में यह लगन एवं शक्ति कोई मामूली बात नहीं है—यह ईश्वर की देन है।

हमारे सारे देश में शासन की बागडोर सम्हालने वालों की "टीम्स" में पंडित रविशंकरजी शुक्ल सब में अधिक वयोवृद्ध हैं। यही नहीं, आपकी सफलतायें भी विशेष महत्व रखती हैं। जो कार्य आप हाथ में ले लेते हैं उसे पूर्णरूपेण सफल कर दिखलाते हैं। भिलाई में निर्माण किये जाने वाला इस्पात का कारखाना इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। मध्यप्रदेश के सूत कपड़ा मिल असोसियेशन के चेअरमन एवं सदस्य की हैसियत से बैठकों में और अन्य कार्यों के लिये मुझे पंडितजी से बारबार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिस कारण से पंडितजी के सरल स्वभाव की जानकारी मुझे मिलती रही है। उनकी ७९ वीं वर्षगांठ के अवसर पर मैं परमेश्वर से कामना करता हूं कि पंडितजी शतंजीवी होकर राष्ट्र सेवा में संलग्न रहें और उनकी सेवाओं से मध्यप्रदेश आलोकित होता रहे।

—मथुरादास मोहता

गोंदिया के प्रमुख व्यवसायी श्री मनोहरभाई पटेल

हमारे प्रांत के लोकाग्रणी वयोवृद्ध आदरणीय मुख्य मंत्री पंडित रविशंकरजी शुक्ल के ७९ वी वर्षगांठ के शुभ अवसर पर उन्हें उनकी इस प्रांत के साहित्यिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, सामाजिक व हर प्रकार के दूसरे क्षेत्रों में जो बहुमोल सेवायें की है उस सम्बन्ध में मध्यप्रांत हिंदी साहित्य सम्मेलन ने अभिनंदन ग्रंथ समर्पित करने का निश्चय किया है उसका हार्दिक स्वागत करते हुये मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि उन्हें शतायु कर हमारे प्रांत का गौरव बढाने में समर्थ करें।

पूज्य पंडितजी इस प्रांत के एकमात्र धुरंधर राजनीतिज्ञ व अत्यंत लोकप्रिय नेता ही नहीं परंतु अग्रगण्य जनसेवक भी हैं। उनकी देश सेवा व स्वार्थत्याग अतुल हैं। उनका चरित्र महान पवित्र व गौरवशाली है। परिणाम स्वरूप इस प्रांत की जनता उनको बडी श्रद्धा व आदर से देखती है। मैं उनके प्रति अपना हार्दिक अभिनंदन प्रगट करता हूं।

—मनोहरभाई

मध्यभारत के व्यवसायी श्री हुकमचन्द पाटनी

मेरा जन्म स्थान सिवनी (मालवा), जिला होशंगाबाद होने के कारण मध्यप्रदेश और वहां के प्रमुख राजनीतिक कर्णधारों के प्रति मेरे हृदय में आकर्षण होना स्वाभाविक है। बचपन में अक्सर पत्र पत्रिकाओं में मैं प्रान्त के इन प्रमुख कर्णधार माननीय पंडित रविशंकरजी शुक्ल का चित्र भी देखा करता था और इनके बारे में नाना कल्पनाएं किया करता था किन्तु विधि विधान के कारण मेरी शिक्षा-दीक्षा ही इन्दौर में नहीं हुई वरन मेरा स्थायी निवास भी इन्दौर हो गया। सिवनी आना जाना तो मेरा प्रायः होता ही रहता है परन्तु शुक्लजी के प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य सन् १९५३ में जब इन्दौर में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति का अधिवेशन हो रहा था तब प्राप्त हुआ। इस अधिवेशन में भाग लेने के लिए शुक्लजी पधारे थे और उनके साथ मध्यप्रदेश के वित्त मंत्री आदरणीय श्री बिजलालजी बियाणी भी थे। जब मैं शुक्लजी से मिला और उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं भी उनके प्रान्त का ही रहने वाला हूं तो उनका सहज स्नेह मेरी तरफ उमड पडा और उन्होंने मेरी प्रार्थना पर मेरे निवास स्थान पर स्वल्पाहार के लिए आना स्वीकार कर लिया, यद्यपि उन्हें इन्दौर से महू जाना था तथा वहां के एक विशेष कार्यक्रम में भाग लेकर खंडवा की गाडी भी पकडनी थी।

शुक्लजी का मध्यप्रदेश के निर्माण में बहुत बडा हाथ है। उन्होंने प्रांत की उन्नति के लिए लड झगड कर भी भिलाई में लोहे का विशाल कारखाना स्थापित करवाया है जो प्रान्त का आर्थिक ढांचा ही बदल देगा। जीवन में वैसे तो अनेक राजनीतिज्ञों, धर्माचारियों एवं साहित्यकारों से मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है किन्तु कहना नहीं होगा कि शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति शीतलता देनेवाले शुक्लजी का व्यक्तित्व अपनी अलग ही विशेषता रखता है।

उपर्युक्त अवसर के बाद जब कभी शुक्लजी से जब वे इधर से कहीं आते जाते होते हैं तब मिलने का मौका मिल जाता है उस अल्प समय की मुलाकात का क्षण भी अत्यन्त आनन्ददायक तथा सुखकारी हो जाता है।

—एच. सी. पाटनी

महाराष्ट्र के सम्पादक श्री हवळेजी

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में अर्ध शताब्दि तक अग्रणी और आज भी नवचैतन्य निर्माण में अपना सम्मानपूर्वक स्थान रखनेवाले पं. रविशंकरजी शुक्ल ७९ वे वर्ष में पदार्पण कर रहे हैं। उनका जीवन हम जैसे उनसे छोटी अवस्था वालों के लिये आदर्शवत है। दीर्घोद्योग, साहस, अविश्राम कार्य-शक्ति आज उनकी उतरती अवस्था में भी एकदम हमारी आंखों के सन्मुख आते हैं। उनका मन उनके भव्य शरीर की भांति ही विशाल और उदार है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वाभिमान और आत्म-प्रतिष्ठा कायम रखना, सूझ-बूझ और अपने सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणित करने के उनके गुण, उनके अन्य अनेक गुणों के साथ उल्लेखनीय हैं। वे भारतीय परम्परा और भारतीय तत्वों की रक्षा करने की उत्कट भावना रखते हैं। उनके व्यक्तित्व में एक साथ अनेक विशेषताओं का समुच्चय है। मैं उनके जन्म-दिवस पर उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूं।

—पुरुषोत्तम दिवाकर हवळे

मध्यप्रदेश के भूतपूर्व गवर्नर श्री तांबे

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन श्री रविशंकरजी शुक्ल को उनकी ७९ वें जन्म-दिवसपर "अभिनंदन ग्रन्थ" भेंट कर रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। मैंने श्री शुक्लजी का साहित्य तो नहीं पढ़ा, तथापि इस प्रान्त में हिन्दी भाषा का मान बढ़ाने और उसका उत्कर्ष बढ़ाने में उन्होंने ४० वर्ष से निरन्तर प्रयत्न किया है। अतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन उनका जो सम्मान कर रहा है, वह उचित ही है। मैं ७९ वें जन्म-दिवस के अवसर पर श्री शुक्लजी का अभिनंदन करता हुआ ऐसी अनेक तिथियां आयें यह कामना करता हूं।

—श्रीपाद बलवंत तांबे.

नागपुर प्रांत कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री चतुर्भुजभाई जसानी, गोंदिया

श्रद्धेय श्री रविशंकर शुक्ल हमारे देश के महान् राजनीतिज्ञ पुरुषों में से एक हैं। एक ही संस्थाके साथी होने के कारण हमें कई मर्तबा उनके सम्पर्क में आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कुछ बातों में कभी कभी उनके साथ मेरा मतभेद भी रहा है।

श्री शुक्लजी ने विरोधीओं को जीतने की अद्भुत कला हस्तगत की है। जब कोई विरोधी भावसे उनके पास पहुंचता है तब वे वात्सल्यभाव और मुस्कराहटसे विरोध करने वालेकी पीठ पर हाथ रखकर उसे शान्त कर देते हैं। विरोध करने की इच्छा से आनेवाले के हृदय में उनके प्रति पितृतुल्य भावना जाग्रत होती है। मुझे इसका कई दफा अनुभव हुआ है।

श्री शुक्लजी की ७९ वी वर्षगांठ के उपलक्ष में हिन्दी साहित्य संमेलन में उन्हें अभिनंदन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है वह सराहनीय है।

श्री शुक्लजी के समान राजनीतिक पुरुष हमारे बीच सौ साल तक रहकर हमारा मार्गदर्शन करते रहें यही हमारी शुभ कामनाएं हैं।

—चतुर्भुज वि. जसानी

श्रीमती राधादेवीजी गोयनका, एम.एल.ए.

माननीय पंडित रविशंकरजी शुक्ल हमारे देश के उन वयोवृद्ध नेताओं में से है, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग स्वातंत्र्य संग्राम के वीर सैनिक के रूप में बिताया है। उन्होंने मुख्य मंत्री का पद ग्रहण करके मध्यप्रदेश की बहुमुखी उन्नति करने का संकल्पमय सफल प्रयास किया है। हमारे प्रदेश का यह सौभाग्य है, जो हमें माननीय शुक्लजी के समान त्यागी, प्रतिभासम्पन्न, प्रभावशाली, व्यवहारकुशल, तथा कर्मठ व्यक्ति शासन की बागडोर संभालने के लिये उपलब्ध हो सका है। शुक्लजी कर्म-कठोर हैं। उनके जीवन में, कई क्षण ऐसे भी आये हैं, जब उन्हें अपने निकटतम मित्रों को छोडकर अपना मार्ग अकेले बनाना पड़ा है। किन्तु मित्रों से अधिक प्रिय अपने सिद्धांतो को मानकर चलने वाले शुक्लजी का व्यक्तित्व समय के थपेडों से और भी उज्ज्वल होकर ऊंचा उठा है। कठिनाइयों ने मानों उन्हें हताश करने के बदले सम्बल देने का कार्य किया है। आपकी हिन्दी सेवायें तो बहुत उल्लेखनीय है ही। "स्त्री-उन्नति" के सम्बन्ध में भी उनके विचार बहुत सुलझे हुए हैं। वे न तो आजकल की पाश्चात्य सभ्यता में ही बहना स्त्रियों के लिए उचित समझते है और न उनका परदा, अशिक्षा, दहेज आदि से घिरा हुआ कूपमण्डूक जीवन ही पसन्द करते हैं। यद्यपि कान्यकुब्ज ब्राम्हणों में पर्दा-प्रथा प्रचलित है तथापि शुक्लजी के परिवार में कोई भी बहूबेटी परदे की जेल में नहीं है। जब कभी महिला-उत्कर्ष के कार्य में सहयोग मांगा जाता है तो वे सदा उसके लिए तैयार रहते हैं। गुण्डों के हथकंडों से स्त्रियों की रक्षा हो सके तथा वेश्यावृत्ति समाप्त हो—इन हेतुओं से तो उन्होंने कानून बनवाये ही हैं, साथ ही मध्यप्रदेश में "द्वि-विवाह प्रतिबन्ध" कानून बनाने में भी शुक्लजी की अत्यधिक मदद रही है।

मैं दीर्घ जीवन की कामना के साथ उनका हृदय से अभिनन्दन करती हूं।

—राधादेवी गोयनका

लाल प्रद्युम्नसिहजी, खैरागढ़

पं. रविशंकरजी शुक्ल का खैरागढ़ से सन् १९०३ से सम्बन्ध रहा है। मेरा परिचय तभी से है। खैरागढ़ में उस वक्त दो एक घटनाएं ऐसी हुई कि जिसमें शुक्लजी का साहस एवं मानव प्रेम ज्वलन्त रूप में सामने आया। उनकी सूझबूझ पर तात्कालीन खैरागढ़ नरेश स्व. लालबहादुरसिंहजी बड़ा भरोसा करते थे। खैरागढ़ में उन दिनों में किसी के बीच विवाद होता तो वे लोग शुक्लजी के पास मध्यस्थता के लिये पहुंचते थे। उनकी ये तमाम विशेषताएं ही विकसित होकर उनके व्यक्तित्व का निर्माण करती रही है। वे सदाचार की मूर्ति हैं एवं वे अनेक गुणों के समूह हैं। प्रान्त को उनपर अभिमान है। जगदीश्वर उन्हें चिरंजीवी करें।

—लाल प्रद्युम्नसिंह

महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के उपाध्यक्ष श्री बाबूलालजी तिवारी

पूज्य शुक्लजी से मेरा सम्बन्ध तीस वर्षों का है। मैंने उनको अनेक रूपों में देखा और अत्यन्त निकट से समझने का प्रयास किया है। आलीशान वकील के रूप में, समाज सुधारक के रूप में, स्वातंत्र्य आन्दोलन के सबल खेवनहार के रूप में और जाज्वल्य शासक के रूप में उनका जीवन एक ऐसी इतिहास पुस्तिका बन गया है जिसके पृष्ठ पृष्ठ पर से पीढ़ियों के लिये प्रेरणा स्त्रोत झर रहे हैं। भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से आज तक जो व्यक्ति सतत् मुख्य मंत्री पद पर रह कर एक प्रान्त का सफल शासन संचालन करता रहा, जिसने कांग्रेस संगठन की एकता कायम रखने के लिये सर्वतोमुखी प्रयत्न किये, जो प्रान्त में होनहार नवयुवकों के चयन की समर्थ दृष्टि से वरद है, ऐसे वयोवृद्ध सेनानी का साहित्य के प्रांगण में यह सम्मान अत्यन्त संगत कहा जायगा।

प्रान्त की साहित्यिक गतिविधियों में शुक्लजी का सदा से सक्रिय हाथ रहा है। हिन्दी को सर्वप्रथम राजकीय भाषा के स्तर पर आसीन करने का मध्यप्रदेश शासन को पूर्ण श्रेय है। हिन्दी के उत्थान के लिये शुक्लजी के अथक प्रयत्न रहे हैं। शुक्लजी का यह अभिनन्दन वास्तव में साहित्य का अभिनन्दन है। मैं इस अवसर पर सश्रद्धा शुक्लजी के प्रति विनत होते हुए, आपके इस कार्य की भूरि भूरि प्रशंसा करता हूं।

—बाबलाल तिवारी

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, एम.एल.ए.

पंडित रविशंकरजी शुक्ल का अभिनन्दन मध्यप्रदेश की राष्ट्र-साधना के उस अक्षयवट का पूजन है जो उत्कट स्वदेश प्रेम की यमुना, निर्माण भाव की गंगा और शासन संचालन की सरस्वती-रूपा त्रिवेणी के तट पर स्थित है। शुक्लजी राष्ट्र के संघर्षकाल में प्रांत की तेजस्विता के प्रतीक थे। राष्ट्रहित के लिये सर्वस्व समर्पण की भावना रखनेवाला उनका वह तेजस्वी स्वरूप प्रांत के तारुण्य के लिये सतत चेतना का स्त्रोत रहेगा।

आज के निर्माण युग में सारे प्रांत की दृष्टि पंडित रविशंकरजी शुक्ल पर लगी है। विन्ध्यारण्य और नर्मदा की तलहटी में बसी लक्ष लक्ष जनता के भविष्य के निर्माण का उत्तरदायित्व उनके सुदीर्घ-अनुभवशील, सबल सूत्रों पर है।

शुक्लजी ने संघर्ष काल में लगभग एक अर्ध शताब्दि तक प्रांत का नेतृत्व किया। प्रभु उन्हें स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य प्रदान करें ताकि वे संघर्ष काल से शत-शत गुणी शक्ति एवं चेतना के साथ राष्ट्र निर्माण के महान अनुष्ठान में अपना श्रेष्ठतम योग एवं नेतृत्व प्रदान कर सकें।

—ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी

लोकसभा सदस्या श्रीमती अनसूयाबाई काळे

पंडित शुक्लजी का व्यक्तित्व असामान्य है। उनकी कार्य करने की शक्ति आश्चर्यजनक और कुतूहलपूर्ण है। उनकी आयु ७८ वर्ष की होते हुए भी वृद्धावस्था का उन पर कोई विशेष असर नहीं हुआ। और आजतक वे अपना कार्य पूर्णतया सम्हाल रहे हैं। यह इनकी विशेषता है। वे अपना कारोबार अच्छी तरह से चला रहे हैं। उनकी कार्यप्रणाली से किसका विरोध हो सकता है, एवं जिस उत्साह से वे काम निभा रहे हैं, यह अनुकरणीय है। पंडितजी में अनेक गुण हैं, जिनकी वजह से १५ साल से हमारे प्रान्त की बागडोर उनके हाथ में है। इतना कहना मुझे आवश्यक मालूम पड़ता है कि उनके गुण, उनकी काम करने की शक्ति, उनके व्यक्तित्व, उनके प्रभाव से ही वे इतने समय तक मुख्य मंत्री रहे हैं।

—अनसूयाबाई काळे

मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध मैंगनीज व्यवसायी श्री डी. पी. आर. कासद

मध्यप्रदेश चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज, नागपुर इलेक्ट्रीक लाइट एण्ड पावर कम्पनी, लिमिटेड, एवं सी.पी. सिण्डीकेट, लिमिटेड, की ओर से मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल के ७९ वें वर्षगांठ पर उनका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए मुझे अतीव हर्ष है। वे विगत १८ वर्षों से एक शासक के नाते मध्यप्रदेश के भाग्य-विधायक रहे हैं। उनके शासन काल में, नेपा मिल्स, बल्लारपुर मिल्स, भिलाई इस्पात, कोरबा कोयला क्षेत्र एवं अनेक भावी उद्योगों की रूपरेखाएं बनी और बन रही हैं। उद्योगों के साथ ही उन्होंने दूसरे क्षेत्रों एवं ग्राम-विकास की ओर भी समान रूप से ध्यान दिया है। उनकी उद्योगशीलता अनुकरणीय है। मैं उनके दीर्घजीवी होकर राष्ट्र की सतत सेवा में संलग्न रहने की कामना करता हूं।

—डी. पी. आर. कासद

अखिल भारतीय समाचारपत्र सम्पादक परिषद के अध्यक्ष और "हितवाद" के सम्पादक श्री ए. डी. मणी

यह प्रसन्नता का विषय है कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल का आगामी जन्म दिवस समारोहपूर्वक मना रहा है। इस आयु में भी उनकी जीवनशक्ति, कार्यक्षमता एवं जागरूकता नवजवानों को भी लज्जित करती है। वे राष्ट्रीय चेतना के स्त्रोत रहे हैं एवं ब्रिटिश शासन के अनेक प्रलोभनों को छोड़कर राष्ट्र के अन्धकारमय वर्षों में कांग्रेस के एक सिपाही की तरह मार्ग दर्शन भी करते रहे।

उनके शासन के सतत १० वर्षों में उनकी कार्य-कर्मठता ने उन्हीं के निपुण निर्णयों द्वारा आलोचकों को शान्त किया है। उनके ही सतत उद्योगों के परिणामस्वरूप मध्यप्रदेश को भिलाई इस्पात कारखाना मिला है।

उनके प्रभावशाली व्यक्तित्त्व ने ही मध्यप्रदेश की राजनीति को स्थायित्व दिया है। वे कभी तटस्थ नहीं रहे। उनके स्वीकारात्मक व्यक्तित्त्व ने अपने विरोधियों का भी हित ही किया है। पंडित शुक्ल क्रिकेट के खिलाड़ी हैं। वे ८० पर पहुंच रहे हैं। ईश्वर उन्हें कर्तव्यरत होने की शक्ति दे।

—ए. डी. मणी

प्रांत के वयोवृद्ध साहित्यसेवी श्री सुखराम चौबे, 'गुणाकर'

श्रीमान शुक्लजी का और मेरा मातुलगृह एक ही गांव में होने से मैं उनके कुटुम्ब की विशेषताओं से परिचित हूं। शुक्लजी के पूज्य पितामह मन्नोलालजी अनन्य रवि-भक्त और उनके नानाजी शिवभक्त थे। शायद उनके भक्ति-प्रसाद से ही 'रवि-शंकर' जी का शुभ जन्म हुआ। शुक्लजी के एक मामा बड़े बली थे। रहेली में उन्होंने चूने की चक्की दोनों हाथों से सर पर ली थी जिसे देख लोग आश्चर्यचकित रह गये थे। उनके अन्य मामा अन्य विद्याओं में निपुण थे। उनके पिताजी कुशाग्र बुद्धि के थे और उनके पिताजी के बड़े भाई गदाधर प्रसादजी शुक्ल का व्यक्तित्व अनोखा था। शुक्लजी में उन सबके गुणों और विशेषताओं की छाप है। शुक्लजी की बुद्धिमत्ता, लगन, अध्यवसाय और निष्ठा प्रसिद्ध है और उसी के बल से उन्होंने अपने लिये वर्तमान स्थान अर्जित किया है। भगवान उन्हें चिरायु करे ताकि वे दीर्घ काल तक जनता-जनार्दन की सेवा के लिये उपलब्ध रहें।

—'गुणाकर'

डॉ. बाबूराम सक्सेना, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

अठ्ठारह वर्ष पहले की बात है। उस समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति सेठ जमनालाल बजाज थे और मैं उसका प्रधान मन्त्री। सम्मेलन की स्थायी समिति का अधिवेशन वर्धा में बजाजवाडी में हुआ। अधिवेशन के उपरान्त हम लोग प्रयाग लौटे जा रहे थे। साथ में श्रद्धेय राजर्षि टंडन जी थे। नागपुर में राजर्षि जी से मिलने एक सज्जन आए—गौर वर्ण, श्वेत वस्त्र, लम्बा कद, ऐसी आकर्षक आकृति कि बरबस आप उनकी ओर खिंच जायं। भवभूति की यह उक्ति याद आ गई—

आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमायतनं महत्।

मिलकर हृदय को सन्तोष और शान्ति मिली। यह थे श्रद्धेय पंडित रविशंकरजी शुक्ल। उस समय से मैं उनके सम्पर्क में हूं और मुझे उनका स्नेह प्राप्त है। यह स्नेह मेरी अमूल्य निधि है। संस्कृत की एक सूक्ति है—"यत्र कृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"। शुक्लजी आर्य संस्कृति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं जिन में अन्य संस्कृतियों के उत्तम गुणों को आत्मसात करके अपने व्यक्तित्व को कायम रखने की अद्भुत शक्ति है।

संस्कृत के शुक्लजी भक्त हैं और यथा शक्ति उसके प्रचार-प्रसार और अध्ययन-अध्यापन में दत्तचित्त हैं पर वह संस्कृत को हिन्दी की जगह आरूढ़ करने के विरोधी हैं। संस्कृत विश्व परिषद् के नागपुर अधिवेशन में उन्होंने प्रथम बार दृढ़तापूर्वक घोषणा की कि यदि परिषद् संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाना चाहती है तो उनका सहयोग उसे प्राप्त न हो सकेगा। तब से ही परिषद् के भीतर संस्कृत के राष्ट्रभाषा होने की चर्चा समाप्त हुई।

हिन्दी के शुक्लजी निष्ठावान सेवक हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन को उनका पूरा बल प्राप्त है। मुझे जब कभी भी उनके दर्शन करने का अवसर होता है, शुक्लजी की स्नेहसरिता आप्लावित कर देती है और मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। सचमुच ही शुक्लजी हैं—

आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमायतनं महत्।

—बाबूराम सक्सेना

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. धीरेन्द्र वर्मा

पूज्य शुक्ल जी का स्नेहभाजन होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके व्यक्तित्व में ऐसी सरलता और सहज आकर्षण है कि उनके संपर्क में आते ही व्यक्ति उनका हो जाता है। देश के नेताओं में शुक्लजी उन गिने चुने व्यक्तियों में हैं जिन्हें भारतीय संस्कृति से सच्चा अनुराग है। हिन्दी की सेवा तो वे प्रारंभ से ही करते रहे हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे कम से कम सौ वर्ष तक इसी प्रकार देश की सेवा करते रहें। सादर मंगल कामनाओं सहित—

—धीरेन्द्र वर्मा

ब्रह्मर्षि जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, प्रयाग

पण्डित रविशंकर शुक्लजी यों तो भारतीय भाग्याकाश के एक समुज्ज्वल ग्रह हैं, किन्तु मध्यप्रदेश इधर के ६० वर्षों से उनके उद्योग, परिश्रम और कर्तव्यप्रेरणा से अधिक प्रभावित होता रहा है। इधर स्वराज्य प्राप्ति के समय से तो मध्यप्रदेश के मुख्य मन्त्री के रूप से आप प्रधान भाग्य विधाता हैं। मध्यप्रदेश की उन्नति, मध्यप्रदेश की गौरव वृद्धि, एक भारतीय प्रदेश के रूप में उसका प्रभाव विस्तार, मध्यप्रदेश के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में कर्तव्य प्रेरणा और उत्साह की बिजली भरने वाले आप प्रधान केन्द्रीय शक्ति के स्वरूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मध्यप्रदेश को एक वन्य प्रदेश गोंडवाना के रूप से बढ़ाकर कौशल पूर्वक महाकोशल के पद को चमकाने पर उसे सांस्कृतिक गौरव मिला है वह आपके सतत उद्योगों का फलस्वरूप परिणाम है।

शुक्लजी से मेरा परिचय सन १९०१ से है। मैंने शुक्लजी को उदारचेता, कर्तव्यनिष्ठ और साहित्यिक हृदयवाला पाया। अतएव आपसे सुहृद भाव हो गया। तबसे मैं आपका प्रशंसक हूं। साहित्यिक प्रसंगों में, राजनैतिक अवसरों में और कान्यकुब्ज सभा सम्बन्धी सामाजिक क्षेत्रों में जब जब मुलाकात हो जाती है तब तब पुराना परिचयात्मक स्नेह उमड़ उठता है और मुझे अनुपम सुख और सन्तोष की प्राप्ति होती है। आप जैसे अडिग और साहसी निष्ठा के सज्जन को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय कर सम्मेलन ने स्तुत्य कार्य किया है।

श्री शुक्लजी दीर्घायु हों और मध्यप्रदेश विजयशाली हो यही मेरी शुभकामना है।

—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल



पंडित रविशंकर जी शुक्ल, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के
अध्यक्ष श्री ब्रिजलाल जी बियाणी के साथ



श्री रविशंकर जी शुक्ल अपनी धर्मपत्नी श्रीमती भवानी देवी शुक्ल के साथ



જીવન



बुद्ध्याचश्मश्रुणा क्षान्त्या विद्यया राष्ट्सेवया,
भाषयाभूषयाशुक्लः शुक्लः ख्यातिपदंगतः ।
रविशङ्करशुक्लो वै प्रधानमन्त्री सुधीः,
ज्ञान–विद्या–वयोवृद्धः शतायुर्भवतु ध्रुवम् ।।

—श्री गंगाविष्णु पाण्डे

श्री पं. रविशंकर जी शुक्ल

(संक्षिप्त जीवन-चरित्र)

शुक्ल जी के पूर्वज उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के "टेढ़ा बीघापुर" स्थान के निवासी थे। वहां से शिवदीन *तथा गंगादीन नाम के दो भाई आजीविका की खोज में निकले थे। ये दोनों भाई पहले ग्वालियर पहुंचे। उन दिनों अंग्रेजी व मराठी सेनाओं में उत्तरप्रदेश के निवासियों तथा गोरखों को सैनिक कार्य के लिये विशेष योग्य समझा जाता था। ग्वालियर में दोनों भाई विभिन्न कार्य करते रहे उसके बाद वे मध्यप्रदेश के सागर नगर पहुंचे। अंग्रेजों के उदय एवं मराठा शासन के अन्त की सन्धिवेला में शुक्ल जी के पूर्वज इस नगर में आये थे। इन दोनों में से एक भाई श्री शिवदीनजी का विवाह सम्बन्ध रहेली में हुआ था। उन्हीं का यह वंश प्रचलित है। इनके पुत्र गणेश शुक्ल थे। उन दिनों सागर नगर एक बड़ी व्यापारिक लेनदेन की मण्डी थी। मध्यभारत की विभिन्न रियासतों, भोपाल, भोंसला, निजाम आदि के सिक्कों का विनिमय इसी नगर में होता था। यहां पर सराफे की एक प्रसिद्ध दुकान का संचालन श्री गणेश शुक्ल करते थे। सन् १८१७ में अंग्रेजों ने सागर का राज्य बाजीराव पेशवा से छीन लिया था। इस प्रकार सागर की सूबेदारी का अन्त होने पर सागर की पुरानी टकसालों को बन्द कर दिया गया। उस समय अंग्रेजों की ओर से गणेश शुक्ल को कार्य करने का आश्वासन दिया गया था जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनका निश्चय था कि वे अंग्रेज सरकार की नौकरी नहीं करेंगे। इसके कुछ दिनों बाद ही इनका स्वर्गवास होगया। गणेश शुक्ल के दो पुत्र थे—मणि शुक्ल और रामचन्द्र शुक्ल। इन दोनों ने अपने पैत्रिक व्यवसाय के अनुसार कई रजवाड़ों के सिक्कों के विनिमय, कर्ज तथा सराफे का कार्य शुरू किया। उन दिनों बिहारी दुबे (गयाप्रसाद दुबे इन्हीं के पुत्र थे) सागर के एक प्रसिद्ध व्यवसायी व रईस थे। बिहारी दुबे के साथ मिलकर मणि शुक्ल साझे में कार्य करने लगे और जल्दी ही इस कार्य में बड़ी उन्नति होगयी।

१८५७ के प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध के विफल हो जाने पर जब अंग्रेजों ने सागर नगर पर पुनः अधिकार कर लिया तो बिहारी दुबे की उक्त दुकान पर एक लाख रुपये का तावान लगाया गया। उस समय तक मणि शुक्ल सागर छोड़कर जा चुके थे, तावान लगनेपर बिहारी दुबे भी चले गये। उन दिनों रामचन्द्र शुक्ल दुबे जी की जायदाद के मुख्य प्रबन्धक बनाये गये। शुक्ल जी के दादा रामचन्द्र शुक्ल शारीरिक सम्पत्ति की दृष्टि से बहुत ही सबल थे। वे एक ही दिन में करेली से सागर घोड़ेपर पहुंच जाते थे। ये बड़ी ही लगन से सारी जायदाद का काम देखा करते थे और गांव-गांव जाकर लगान की वसूली किया करते थे। वे छः फायर की पिस्तौल अपने साथ रखते थे और बड़े ही दबंग थे। जायदाद के ८० गांवों में वे चक्कर लगा आते थे।

---

*प्रयाग के बालकराम सालिगराम (हाथी के निशान वाला) पण्डा के यहां उनकी पुस्तकों में शुक्ल जी के जन्म से तीन वर्ष पूर्व का निम्न ब्योरा मिला है। इससे शुक्ल जी के परिवार, वंश एवं पूर्वजों के नाम की जानकारी होती है:—कान्यकुब्ज ब्राह्मण शुक्ल, गोत्र भारद्वाज, वासी सागर, ठिकाना बुधीपुरा, श्री प्रयाग आए। शिवदीन जी के बेटा, नाती गणेश जी के, लड़का मन्नीलाल। भाई रामचन्द्र, व लड़का गजाधर व हरी शंकर, व भतीजा जगन्नाथ जी। आगे जो कोई हमारे वंश को आवे, पुरोहित सालिगराम बालकराम के जी, पडेन, हाथी निशान वाले को माने पूजा।

मिती: पूष सुदी, सप्तमी, संवत् १९३१। मन्नीलाल जी आए थे। इनके दस्तखत बही सागर, पुरानी, पन्ना ३२७ में है।

शुक्ल जी के पिता पं. जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल तथा उनके चाचा पं. गजाधरप्रसाद जी शुक्ल के समय सागर नगर में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ हुआ था। दोनों भाइयों ने श्री आधारसिंह गौर के साथ मैट्रिक की परीक्षा दी। उन दिनों सागर में कुश्ती का बड़ा रिवाज था। सब विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से कुश्ती सिखायी जाती थी। सभी अखाड़े में जाकर व्यायाम करते थे। पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल का विवाह गुढ़ा संग्राम के दुबे वंश में हुआ था। इनकी पत्नी का शरीर बड़ा सुपुष्ट एवं सबल था। उनका रंग उज्ज्वल गौरवर्ण का था और वे बड़ी ही कार्यक्षम और सशक्त थीं। मैट्रिक तक पढ़ाई पूरी करने के बाद पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल रायली ब्रदर्स के यहां सब एजेन्ट होगये और उनके चचेरे भाई पं. गजाधर प्रसाद शुक्ल राजा गोकुलदास मिल्स के सेक्रेटरी बन गये। बाद में इनके प्रयत्नों से राजनांदगाव की सी. पी. मिल्स की स्थापना हुई। सागर तथा नागपुर के राज्यों पर अधिकार करने के बाद अंग्रेजी कम्पनी ने "मध्य प्रदेश" नामक एक नवीन प्रान्त की स्थापना की थी। अंग्रेजी शासन के अग्रदूत के रूप में अंग्रेज व्यापारी हमारे देश में छा गये थे। उस समय विभिन्न अंग्रेज व्यापारिक संस्थायें देश भर में अपने राष्ट्र की तिजारत फैला रही थीं। रायली ब्रदर्स नामक ऐसी ही एक व्यापारिक संस्था में शुक्ल जी के पिता पं. जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल सब एजेण्ट थे। कम्पनी के कार्य के सिलसिले में आपको मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों में रहने का अवसर मिला।

बालक रविशंकर का जन्म सागर नगर के रविशंकर वार्ड (पुराना नाम चमेली चौक, खुशीपुरा) मोहल्ले के एक दोमंजले पैतृक गृह में बृहस्पतिवार श्रावण कृष्ण अष्टमी विक्रमी सम्वत् १९३४ तदनुसार २ अगस्त १८७७ ई. के दिन सिंह लग्न में हुआ था। बालक रविशंकर की बाल्यावस्था के दिन सागर ताल के चारों ओर बसे मोहल्लों में व्यतीत हुए थे। बालक रविशंकर शुक्ल की हिन्दी की शिक्षा पं. सुन्दरलाल गुरु की पाठशाला में हुई। उन दिनों शिक्षकों को वेतन नाम मात्र का दिया जाता था। प्रति अमावस्या-पूर्णिमा को सब विद्यार्थी अपने-अपने घरों से सीधा एवं दक्षिणा का सामान ले जाकर गुरुजी को दे आते थे। सीधे में आटा-दाल, चावल, हल्दी, नमक, मसाला आदि सब सामान होता था। सुन्दर गुरु की पाठशाला प्रान्त की उन पहली छः पाठशालाओं में से एक थी जिन्हें अंग्रेजों ने प्रान्त में स्थापित किया था। सन् १८८५ में ८ वर्ष की आयु में बालक रविशंकर ने प्रायमरी की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी। किशोर रविशंकर को निरन्तर दो-तीन वर्ष तक १० वर्ष की आयु तक अपने पिता के साथ होशंगाबाद, टिमरनी, पिपरिया आदि स्थानों पर रहना पड़ा, इसलिये वह अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका, फलतः किशोर रविशंकर शुक्ल को उनके पितामह पं. रामचन्द्र शुक्ल ने शिक्षा की दृष्टि से सागर अपने पास बुलवा लिया। यहां पर १८९१ तक आपकी व्यवस्थित रूप से अंग्रेजी की शिक्षा हुई। दादा पं. रामचन्द्र शुक्ल के स्वर्गवास पर मिडल के बाद रविशंकर जी नान्दगांव में अपने पिताजी एवं पितृव्य पं. गजाधर प्रसाद शुक्ल के पास आ गये। उन दिनों पं. गजाधर प्रसाद जी सी. पी. मिल्स के एजेंण्ट व मुख्य भागीदार थे। बम्बई की अंग्रेज व्यापारिक संस्था मैकबेथ ब्रदर्स कम्पनी की संचालक थी। मैकबेथ ब्रदर्स ने कम्पनी शावालिस को बेच दी थी। इस नयी कम्पनी ने मिल का नाम बंगाल नागपुर काटन मिल्स रखा था और मिल का प्रधान कार्यालय कलकत्ता में स्थानान्तरित कर लिया था, फलतः कम्पनी का रायपुर दफ्तर बन्द कर दिया गया।

शुक्ल जी की माध्यमिक शिक्षा रायपुर में हुई। राजनान्दगांव व रायपुर में शुक्ल जी को क्रिकेट तथा व्यायाम का शौक था। स्कूल जीवन के सहपाठियों में ठाकुर हनुमानसिंह, गोविन्दलाल पुरोहित व रेवतीमोहन सेन थे। ये तीनों ही शुक्ल जी के आजीवन मित्र रहे। युवक रविशंकर शुक्ल ने मैट्रिक की परीक्षा सन् १८९५ में रायपुर हाईस्कूल से उत्तीर्ण की। दो वर्ष बाद उन्होंने जबलपुर के सरकारी कालेज से इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। बी. ए. की स्नातक परीक्षा के अध्ययन के लिये आपको नागपुर जाना पड़ा और वहां के हिस्लाप कालेज में आपके सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। आप जिस समय तृतीय वर्ष के विद्यार्थी थे आपका सम्पर्क कालेज के प्रोफेसर स्व. लाला भगीरथप्रसाद से हुआ। वे कालेज में एक लोकप्रिय प्रोफेसर के अतिरिक्त कांग्रेस कमेटी के मन्त्री भी थे। नागपुर में होने वाले गणपति उत्सव इस समय सार्वजनिक रूप में मनाये जाने लगे थे। इन

उत्सवों ने तथा शिवाजी एवं लोकमान्य तिलक के चरित्र ने शुक्ल जी तथा उन जैसे युवकों के हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला था। इन दिनों नागपुर के सभी कालेजों के विद्यार्थी अपने को तिलक की विचारधारा के अनुगामी मानते थे। लोकमान्य का यह वाक्य विद्यार्थियों के हृदय पर अंकित हो गया था कि 'ब्रिटिश हुकूमत ताम्र-पत्र के ऊपर पट्टा लिखा कर नहीं आयी है।' इन्हीं दिनों राजद्रोह के अभियोग में श्री बाल-गंगाधर तिलक पर एक मुकदमा किया गया था। इस मुकदमे की कारंवाई ने विद्यार्थियों के मन पर इतना अधिक प्रभाव डाला था कि 'तिलक ट्रायल' नामक पुस्तक के आधार पर शुक्ल जी तथा उनके साथी विद्यार्थियों ने लोकमान्य तिलक के मुकदमे का एक प्रहसन खेला था। इस प्रहसन में प्रभु नामक विद्यार्थी तिलक बना था, श्यामाचरण दुबे जस्टिस स्ट्रेची बने थे और श्री मूलचन्द तिवारी पब्लिक प्रासीक्यूटर बने थे। जब जूरी से मुकदमे के दौरान में अभि-युक्त के विषय में पूछा गया कि 'वह अपराधी है या निरपराधी'—तो जूरी ने उत्तर दिया—'निरपराधी'। तिलक के इस मुक-दमे के प्रहसन ने बोर्डिंग में रहने वाले छात्रों तथा कालेज के अधिकारियों में बड़ी सनसनी पैदा कर दी। शुक्ल जी तथा उनके साथियों में राष्ट्रीय कार्यों के प्रति दिलचस्पी बढ़ती गयी। शुक्ल जी अपने कुछ सहपाठियों के साथ जिनमें मूलचन्द तिवारी आदि सम्मिलित थे, प्रो. भगीरथप्रसाद जी की अध्यक्षता में स्वयंसेवक बन कर अमरावती कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिये गये थे। हिस्लाप कालेज के विद्यार्थियों में राष्ट्रीय वृत्ति प्रेरित करने में प्रो. भगीरथप्रसाद जी का बड़ा हिस्सा था। सन् १८९७ में अमरावती की १३ वीं कांग्रेस में प्रो. भगीरथप्रसाद के नेतृत्व में विद्यार्थियों के जाने से कालेज के अधिकारी बड़े विक्षुब्ध हो गये थे, उन्होंने प्रो. साहब को कालेज छोड़ने का आदेश दे दिया। प्रो. साहब एक आदर्श शिक्षक थे। वे केवल ५०) मासिक में अपना सारा गुजर-बसर कर लेते थे। वे सादा जीवन एवं उच्च विचार के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। १८९९ में शुक्लजी ने बी. ए. की उपाधि कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इन दिनों शुक्ल जी के सहपाठियों में श्री भगवतीचरण दुबे, श्री मूलचन्द तिवारी, श्री प्यारेलाल मिश्र और माधवराव सप्रे आदि थे। इन्हीं दिनों एम. ए. की श्रेणियों में श्री सीताचरण दुबे आदि विद्यार्थी थे। इन सब बन्धुओं के साथ शुक्ल जी ने विद्यार्थी जीवन के बाद भी अपना स्नेह-सम्बन्ध स्थिर रखा। ये सभी बन्धुगण शुक्ल जी के सार्वजनिक एवं गृहस्थ जीवन में भी सदा स्नेही मित्र बने रहे। विद्यार्थी जीवन के इन प्रारम्भिक संस्कारों ने ही शुक्लजी के भावी सार्वजनिक जीवन की नींव रखी थी।

कार्यक्षेत्र में :—बी. ए. की परीक्षा के बाद शुक्ल जी छः महीने के लिये हिस्लाप कालेज में फैलो हो गये और छः महीने कानून की श्रेणियों में सम्मिलित हुए। इन्हीं दिनों सरकार दुर्भिक्ष के विषय में विशेष अधिकारी नियत कर रही थी। हिस्लाप कालेज का कार्यकाल पूर्ण हो जाने पर शुक्ल जी ने दुर्भिक्ष की अफसरी के लिये प्रान्त के चीफ कमिश्नर सर फ्रेजर को सीधे एक पत्र लिखा। यह पत्र शनिवार के दिन चीफ कमिश्नर को मिला। सर फ्रेजर व्हाई. एम. सी. ए. के साप्ताहिक अधिवेशनों में नियमपूर्वक जाते थे। उस अवसर पर उन्होंने प्रिंसिपल से शुक्ल जी के विषय में पूछा। प्रिंसिपल रेवरेन्ड विटन ने शुक्ल जी को सोमवार के दिन चीफ कमिश्नर से मिलने के लिये कहा। सोमवार के दिन चीफ कमि-श्नर ने शुक्ल जी से मिलने पर प्रसन्नता प्रकट की और नौकरी के सम्बन्ध में चीफ सेक्रेटरी से मिलने के लिये कहा। इस सम्बन्ध में चीफ सेक्रेटरी से जब शुक्ल जी मिले तो अंग्रेज चीफ सेक्रेटरी ने शुक्ल जी से पूछा कि तुम चीफ कमिश्नर के पास सीधे कैसे पहुंच गये ? इस पर शुक्ल जी ने अपने प्रिंसिपल का हवाला दिया। चीफ सेक्रेटरी ने कहा कि ५०) मासिक की एक जगह खाली है। उन दिनों चीफ कमिश्नर के दो क्लर्क होते थे—एक सीनियर क्लर्क होता था और दूसरा उसका असिस्टेन्ट होता था। इस असिस्टेन्ट की जगह खाली थी। शुक्ल जी ने उस काम को करने की स्वीकृति दे दी। शुक्ल जी डेढ़ मास तक इस स्थान पर कार्य करते रहे, इस जगह पर विशेष काम न था, हां, नगदी सम्भालने की जिम्मेदारी अवश्य थी। विशेष कार्य न होने से शुक्ल जी इन दिनों सरकारी गोपनीय (कान्फिडेन्शल) फाइलें देखते रहते थे जो कि उन दिनों चीफ कमिश्नर के पास रहती थीं। शुक्ल जी ने देखा कि इन फायलों में किसी अफसर को बहुत ही ईमानदार लिखा होता था तो उसी को कहीं बहुत ही भ्रष्टाचारी लिखा रहता था। शुक्ल जी को फायलों का यह अध्ययन व निरीक्षण बहुत ही दिलचस्प लगता था।

चीफ कमिश्नर के सेकण्ड कैम्प क्लर्क का कार्य करते हुए भी जब शुक्ल जी को अपना वेतन नहीं मिला तो उन्होंने चीफ सेक्रेटरी को लिखा कि उनके वेतन के बारे में क्या बात है ? इस पर चीफ सेक्रेटरी की टिप्पणी लिखी आयी कि इस जगह पर पुराने कर्मचारी को ५०) मिलते थे, आपको इस काम के लिये ३०) ही रुपये मिल सकते हैं। यह कागज् मिलते ही शुक्ल जी के सिर से पैर तक आग लग गयी वे तुरन्त चीफ कमिश्नर के पास गये और उन्होंने वह पुर्जा उनके सामने रख दिया। चीफ कमिश्नर ने कागज् को देखा और परिस्थिति समझ कर कहा कि इस पर लिख दो कि यह मुझे मंजूर है और मैं जल्दी ही तुम्हारे लिये काम दिलवा दूंगा। शुक्ल जी ने चीफ कमिश्नर के कहने पर उस कागज पर अपनी स्वीकृति लिख दी। सप्ताह भर के अन्दर ही शुक्ल जी को दुर्भिक्ष के विशेष अफसर की नियुक्ति का आज्ञा-पत्र मिल गया।

सेवा-कार्य में :—शुक्ल जी ने रायपुर से ४४ मील की दूरी पर (सरायपाली की ओर) सिरपुर स्थान से ८ मील दूर बोडरा कैम्प में दुर्भिक्ष के विशेष अधिकारी के रूप में कार्य किया। वहां कार्य करते हुए आपने एक उदार कर्मठ सेवा-भावी नवयुवक के रूप में कार्य किया। उस समय सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ प्रदेश अकाल की भीषण विभीषिका से झुलसा जा रहा था, परन्तु काम करने वाले अफसर व ठेकेदार दुर्भिक्ष पीड़ित जनता के हितों पर ध्यान देने के स्थान पर अपना-अपना घर भरने में लगे हुए थे। सरकारी नियमों के अनुसार ठेकेदार सामान नहीं देते थे, भ्रष्टाचारी अफसर ऐसे ठेकेदारों से हिस्सा लेकर उनके बिल मंजूर कर देते थे। शुक्ल जी ने अकाल-पीड़ित क्षेत्र में पहुंच कर यह परिस्थिति देखी। उन्होंने ठेकेदारों के बिल नामंजूर कर दिये, इस पर ठेकेदारों ने बड़ा शोर मचाया परन्तु शुक्ल जी अपने रास्ते पर बढ़ते रहे। सरकारी व्यवस्था के अनुसार शुक्ल जी को जो भी सामान मिलता था वे उसे पूरा का पूरा दुर्भिक्ष शिविर के बच्चों को खिला देते थे। इससे शिविर के बच्चे बहुत ही हृष्ट पुष्ट हो गये। शिविर बन्द होने पर शुक्ल जी को दुर्भिक्ष सम्बन्धी विशेष अधिकारियों में प्रथम संख्या का (नम्बर वन) अधिकारी घोषित किया गया। सिरपुर में दुर्भिक्ष सम्बन्धी कार्य करते हुए ही शुक्ल जी ने यहां की सामान्य जनता से सुना कि यहां पर एक समय बड़ा नगर था जो कि महाकोशल की राजधानी थी। महाकोशल की प्रसिद्ध राजधानी श्रीपुर की किम्वदन्ती सुन कर शुक्ल जी के मन में इस भूगर्भ स्थित अतीत के गौरव-चिह्नों की खुदाई की बात घर कर गयी।*

दुर्भिक्ष के विशेष अधिकारी के रूप में कार्य करने के बाद कुछ समय तक शुक्ल जी स्व. डा. हीरालाल के साथ गजेटियर बनाने के कार्य में लगे रहे। इस समय आपके सहकारी के रूप में स्व. पं. प्यारेलाल मिश्र भी कार्य कर रहे थे।

शिक्षा-क्षेत्र में:—कुछ समय तक आप मर्दुमशुमारी विभाग में भी कार्य करते रहे। इन सरकारी विभागों में शुक्ल जी ने युवकोचित लगन से कार्य किया परन्तु उन्हें जल्दी ही अनुभव हो गया कि सरकारी नौकरी उनकी रुचि के अनुकूल नहीं है इसलिये जब उक्त सरकारी विभागों में आपके कार्य को देखते हुए आपको नायब तहसीलदारी की जगह का अवसर मिला तो उसे ठुकराते हुए आपने विद्याध्ययन एवं अध्यापन के मार्ग को अपनाना ही श्रेयस्कर समझा। मुंसिफी के कार्य के लिये शुक्ल जी को दमोह में नियुक्त किया गया था। शुक्ल जी इस कार्य के लिये घर से चले परन्तु रेल के सफर में उन्हें सरकारी नौकरी से इतनी अधिक विरक्ति हुई कि कटनी स्टेशन पर उन्होंने सरकारी नौकरी न करने का संकल्प कर लिया और दमोह न जाकर जबलपुर चले गये। जबलपुर में शुक्ल जी अपने जीवन के भावी मार्ग प्रदर्शन के लिये अपने पिताजी के मित्रों-श्री बिहारीलाल खजांची, देवीप्रसाद चौधरी व राजा गोकुलदास जी आदि से मिले। इस प्रकार १९०१ में मुंसिफी की जगह ठुकराते हुए शुक्ल जी ने एक शिक्षक की वृत्ति धारण की।

---

*सन् १९५३-५५ में मध्यप्रदेश राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में श्री रविशंकर जी शुक्ल ने सिरपुर के ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्व के स्मारकों की खुदाई प्रारम्भ करवायी। वहां पर पुरातत्त्व के अमूल्य स्मारक प्राप्त हुए हैं। अभी इस स्थान की खुदाई प्रचलित है। इस स्थान का उल्लेख गजेटियर में भी है।

सन् १९०१ में श्री शुक्ल जी ने सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और आपने अपनी कानून की पढ़ाई प्रचलित करने के लिये जबलपुर रहने का निश्चय किया। कानून की पढ़ाई प्रचलित रखने के लिये उन्होंने जबलपुर के हितकारिणी हाईस्कूल के प्रबन्धकों के आमन्त्रण पर हाइस्कूल में अध्यापन कार्य भी स्वीकार कर लिया। शुक्ल जी की योग्यता तथा उनके पढ़ाने के ढंग से पं. रघुवरप्रसाद त्रिवेदी बहुत ही सन्तुष्ट थे। हितकारिणी संस्था में शुक्ल जी एक सफल अध्यापक सिद्ध हुए। जबलपुर में रहते हुए शुक्ल जी का दूसरा विवाह १९०२ के जून मास में हुआ था। विवाह के छः महीने ही व्यतीत हुए होंगे। उन दिनों शुक्ल जी कानून की श्रेणियों में नियमपूर्वक जाते थे। दिसम्बर का महीना था। जबलपुर नगर में प्लेग की महामारी फैल गयी। १९ दिसम्बर की दोपहर को चूहे की घटना हुई। उन दिनों शुक्ल जी अन्धेरदेव की सड़क पर एक बंगाली द्वारकानाथ सरकार के किराये के मकान में रहते थे। शुक्ल जी के चाचाजी जिन दिनों गोकुलदास मिल के सेक्रेटरी थे उन दिनों भी उनका परिवार इसी मकान के साथ के एक बड़े मकान में रहता था। मध्यप्रदेश के प्रमुख शिक्षाविज्ञ पं. लज्जाशंकर जी झा भी शुक्ल जी के पड़ोस के मकान में रहते थे। इनके मकानों के पीछे कुछ झोंपड़ियां थीं। पहले इन झोंपड़ियों में रहने वाली निर्धन जनता (कुंजड़े) ही प्लेग की शिकार बनी। उन दिनों जबलपुर नगर में प्रतिदिन प्लेग से मरने वालों की गिनती बहुत अधिक थी। घटना के दिन एक छोटी सी चुहिया शुक्ल जी के मकान में पिछली झोंपड़ियों से आयी और ठीक रसोई के बीच में आ गिरी। शुक्ल जी खाना खाकर कानून पढ़ने कालेज जा चुके थे, पीछे घर पर उनकी नवविवाहिता अबोध धर्मपत्नी थीं। रसोई में चुहिया को छटपटाते व चक्कर खाते देखकर शुक्ल जी की पत्नी ने सोचा कि शायद चुहिया भूख प्यास से व्याकुल होकर छटपटा रही है। उन्होंने उस चुहिया के पास आटा बिखेर दिया और पास में पीने के लिये पानी रख दिया, परन्तु चुहिया फिर न उठी और छटपटा कर मर गयी। थोड़ी देर में बरौनी चौका साफ करने आयी। उसने मरी चुहिया उठा कर बाहर फेंक दी और चौका साफ कर दिया। दो दिन बाद शुक्ल जी की पत्नी को तेज बुखार चढ़ गया। इस समय शुक्ल जी के पड़ोस में पं. लज्जाशंकर झा के घर में भी प्लेग ने एक आहुति ली। शुक्ल जी के घर में भी प्लेग अपने भीषण रूप में परीक्षा लेने लगी। शुक्ल जी रात-दिन हिम्मत रख कर पत्नी की सुश्रूषा करने लगे। आपने उन दिनों अपनी पत्नी की आयुर्वेद तथा एलोपैथी दोनों ही प्रकार की चिकित्सा करवायी। बहुत अधिक कमजोरी हो जाने से डाक्टर ने शुक्ल जी को सलाह दी कि रोगिणी का स्वास्थ्य सुरक्षित रखने के लिये उसे मांस के शोरवे का पौष्टिक पदार्थ दिया जाना आवश्यक है। परम वैष्णव कुल में जन्म लेकर एवं निरन्तर कट्टर शाकाहारी भोजन करने पर भी अर्धांङ्गिनी की प्राण-रक्षा के लिये शुक्ल जी ने उस आपद्धर्म के प्रयोग को उचित समझा और 'वान्ड्स एसन्स आफ मटन्स एण्ड चिकन्स' बन्द डिब्बों से लेकर देने लगे। रोग दूर करने एवं हृदय की गति को ठीक रखने के लिये, वैद्य की सलाह के अनुसार आप अपनी पत्नी को समय-समय पर अभ्रक भस्म भी देते रहे। प्लेग की गांठ को दबाने के लिये एलोपैथी दवाइयों के लेप बेकाम सिद्ध हुए। हिन्दुस्तानी आयुर्वेदिक दवाई के एक थोड़े से नुस्खे ने बड़ा काम किया। शुक्ल जी भिलवा, फिटकरी और अफीम को समान मात्रा में लेकर चन्दन के समान घिस कर लेप बनाते थे। फिर इसे गरम कर गांठ पर लगाते थे। इसे कण्डे की आग पर सेकते थे। इसे निकालते नहीं थे, उसी गांठ पर बार-बार लगाते थे। इससे गले की गांठ बैठ गयी परन्तु जांघ की गांठ को चीरना पड़ा। इस बीमारी के दिनों में घर की बरौनी मर गयी, घर में दूध लाने वाला भी जाता रहा और दूसरे पास-पड़ोस वाले भी मोहल्ला छोड़ कर चले गये परन्तु शुक्ल जी अपने आत्मीय श्री गयाप्रसादजी अवस्थी (जो उन दिनों विद्यार्थी थे) के साथ रोगिणी की परिचर्या पर डटे रहे। स्वयं भोजन बनाते, चिकित्सा करते और रात-दिन परिचर्या करते अन्त में पत्नी को रोग-मुक्त कर पूरे एक महीने ५ दिन के जीवन-मृत्यु के संग्राम में सफलतापूर्वक जूझ कर आप २० जनवरी को नादगांव पहुंचे। पत्नी के रोगमुक्त होने पर आपने शोरवे के टिनों की माला उन्हें पहना दी और बतलाया कि किस प्रकार प्राण-रक्षा के लिये उन्हें यह पौष्टिक पदार्थ विवश होकर देना पड़ा।

कानून की पढ़ाई पूर्ण करने एवं प्लेग की घटना के बाद खैरागढ़ राज्य के प्रबन्धकों की ओर से शुक्ल जी को खैरागढ़ हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक बनने का आमन्त्रण दिया गया। अध्यापन कार्य में रुचि एवं छत्तीसगढ़ के प्रति अपने आकर्षण के कारण शुक्ल जी ने इस कार्य को स्वीकार कर लिया। प्रधानाध्यापक के रूप में शुक्ल जी एक लोकप्रिय शिक्षक एवं सफल अनुशासन प्रिय प्रबन्धक सिद्ध हुए। आपके प्रधानाध्यापक का कार्य-काल यद्यपि दो वर्ष तक ही मर्यादित रहा परन्तु अपने कार्यों के कारण वह वर्षों तक खैरागढ़ में श्रद्धा व प्रेम से स्मरण किये जाते रहे। आज भी उनके छात्र बड़ी श्रद्धा से उन्हें याद करते हैं। इस समय की दो-तीन घटनाओं से शुक्ल जी की अनुशासन-प्रियता एवं प्रबन्धक वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है।

उन दिनों खैरागढ़ राज्य के दीवान खान बहादुर मौलवी मोहम्मद हुसैन थे। इन्हीं दिनों खैरागढ़ के हाईस्कूल में अलीगढ़ का एक साम्प्रदायिक मुस्लिम लीगी ग्रेजुएट आया। यह दीवान का बहुत ही मुहलगा था। इसने आकर कहना शुरू किया कि सी. पी. के ग्रेजुएट कुछ दम ही नहीं रखते। उसने स्कूल में अपना रौब जमाने की बहुत कोशिश की परन्तु शुक्ल जी ने विद्यालय और अपने पद की प्रतिष्ठा रखी। इन दिनों रायपुर में फिलिप नामक एक कमिश्नर आया। शुक्ल जी ने इसके हाथों पुरस्कार-वितरण के कार्यक्रम की व्यवस्था करवायी थी। इस कार्यक्रम की इतनी अधिक सुन्दर एवं नियमित व्यवस्था शुक्ल जी ने की थी कि खैरागढ़ में वह घटना उन दिनों स्मरणीय बन गयी थी। इस अवसर पर शुक्ल जी ने फर्श, गलीचे की बिछायत एवं कार्यक्रम की व्यवस्था बहुत ही सुन्दर की परन्तु इस अवसर पर इनाम दिये जाने के योग्य विद्यार्थियों की सूची बनाने के प्रश्न पर दीवान ने कुछ अनुचित हस्तक्षेप किया। शुक्ल जी विद्यालय के रिकार्ड के अनुसार सर्वोत्तम विद्यार्थियों को पुरस्कार दिलवाना चाहते थे परन्तु दीवान ने हस्तक्षेप कर विद्यार्थियों का जो चुनाव शुक्ल जी ने किया था, उसे बदल दिया। कार्यक्रम सफलतापूर्वक निपटाने के बाद शुक्लजी ने प्रधानाध्यापक के पद से त्याग-पत्र दे दिया। दो चार-दिन बाद राजा साहेब ने मामले के बीच में पड़ कर शुक्ल जी को अपना त्याग-पत्र वापस लेने के लिये मंजूर किया। इसके पश्चात् फिर कभी दीवान ने शाला के मामले में हस्तक्षेप नहीं किया। इसके बाद ही एक घटना और घटी—खैरागढ़ में भी प्लेग की बीमारी शुरू हो गयी। खैरागढ़ के दीवान मौलवी मोहम्मद-हुसैन का छोटा लड़का प्लेग से पीड़ित हुआ था। प्रधानाध्यापक शुक्ल जी ने रात दिन अपने विद्यार्थी की इस बीमारी में परिचर्या कर रोगमुक्त करने में निस्संकोच पूरी मदद की। जिस समय घर के सदस्य भी प्लेग के रोगी की चिकित्सा करने एवं उसके पास तक जाने में संकोच करते थे उस समय शुक्लजी ने उसकी परिचर्या तथा सुश्रुषा कर मोहम्मद हुसैन का हृदय जीत लिया था। शुक्लजी एक बहुत ही दयालु शिक्षक थे, वे लड़कों की उन्नति एवं विद्याध्ययन के लिये उन्हें सदा प्रवृत्त करते रहते थे परन्तु साथ ही वे किसी भी स्थिति में नियम-भंग को सहन नहीं करते थे। एक बार दीवान का लड़का आले हसन रिजवी तथा फारेस्ट-अफसर का लड़का नकल करते हुए पकड़े गये। शुक्ल जी ने इस लड़कों को छः छः बेंतों की सजा दी। उसपर दीवान साहब के लड़के ने तो चुपचाप बेंत खा ली परन्तु फारस्ट अफसर के लड़के ने दीवान को दरख्वास्त दी कि उनके हेडमास्टर ने उन्हें बेंतों की सजा दी है। इस पर दीवान ने उस पर लिख दिया कि उन्हें मेरी ओर से भी छः छः बेंतों की सजा और दीजिये। यह दरख्वास्त लेकर जब फारेस्ट के अधिकारी का लड़का शुक्ल जी के पास गया तो शुक्ल जी ने उसे यह कह कर छोड़ दिया कि आगे से ऐसी शरारत फिर कभी नहीं करना।

शुक्ल जी खैरागढ़ में अनुशासनप्रिय शिक्षक एवं एक सहृदय अभिभावक के रूप में वर्षों तक स्मरणीय बने रहे। शिक्षक के रूप में शुक्ल जी जितने ही कड़े थे एक खिलाड़ी नेता के रूप में वे विद्यार्थियों के लिये उतने ही लोकप्रिय थे। क्रिकेट तथा दूसरे खेलों के प्रति शुक्ल जी की दिलचस्पी पहले की तरह बनी रही। स्कूल के घण्टों में शुक्ल जी की कड़ाई प्रसिद्ध थी तो खेल के मैदान में वे पक्के खिलाड़ी थे। वे अपने समय में क्रिकेट के एक प्रसिद्ध खिलाड़ी थे, वे बायें हाथ के (लेफ्ट हैण्ड बाउलर) बल्लेबाज थे। एक बाजी (ओव्हर) में तीन-तीन खिलाड़ियों को आऊट कर देते थे। उनका गेंद का एक-एक निशाना अचूक पड़ता था।

खैरागढ़ के हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक का कार्य करते समय शुक्लजी को छत्तीसगढ़ की रियासतों से फिर आमन्त्रण मिला। छत्तीसगढ़ स्टेट एजन्सी के एजेन्ट की मांग पर शुक्ल जी बस्तर के महाराजा रुद्रप्रताप-देव और कवर्धा के स्वर्गीय राजा ठाकुर यदुनाथसिंह के ट्यूटर-शिक्षक नियत कर दिये गये। १९०४ से १९०६ तक इन दोनों राजाओं के शिक्षक के रूप में आपने कार्य किया। शिक्षक के रूप में शुक्ल जी ने केवल पुस्तकीय ज्ञान सीखाने पर ही बल नहीं दिया प्रत्युत वे अपने शिष्यों के चरित्र-निर्माण एवं गुणों के विकास पर भी बहुत बल देते थे। सन् १९०४ में शुक्ल जी बस्तर के राजा को लेकर बम्बई कांग्रेस में एक दर्शक के रूप में सम्मिलित हुए। उन्होंने बस्तर के राजा को प्रदर्शनी भी दिखलायी। शुक्ल जी जहा स्वतः राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे वहां वे अपने शिष्यों पर भी इस नवीन विचारधारा का प्रभाव डालना आवश्यक समझते थे। इस कांग्रेस में उन्होंने प्रथम बार गान्धीजी के दर्शन किये।

शुक्ल जी ने कुछ समय तक खैरागढ़ के स्व. राजा लालबहादुर सिंह के शिक्षक का कार्य भी किया। बस्तर, कवर्धा एवं खैरागढ़ के शासकों के शिक्षक का कार्य करते हुए शुक्ल जी ने जहां अपनी गुरु की गम्भीर मर्यादा को निबाहा वहां उन्होंने एक सच्चे देशभक्त एवं समाज-सुधारक होने के लिये आवश्यक प्रेरणाओं को भी ग्रहण किया। शुक्ल जी इस अवधि में कांग्रेस आदि में सम्मिलित हुए, दूसरी ओर १९०४ में रा.ब. पण्डा बैजनाथ ई.ए.सी. के प्रभाव से थियो-साफिस्ट विचारधारा के अनुगामी भी बने। हिन्दू धर्म की विभिन्न परम्पराओं, संस्कारों एवं रीतियों को थियोसाफिस्ट ग्रन्थों एवं विचारों के द्वारा शुक्लजी को एक नयी बुद्धिगम्य व्याख्या मिली। शुक्ल जी के शुद्ध चारित्रिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक निरीक्षण एवं अध्यापन से छत्तीसगढ़ के उक्त नरेशों को विशेष लाभ मिला और वे आगे चलकर सफल शासक बने। खैरागढ़ राज्य के हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक एवं खैरागढ़ में राज्य के शिक्षक का कार्य करते हुए शुक्ल जी ने प्रायवेट रूप से कानून की परीक्षा दे दी और कानून की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने एक वकील के रूप में जीवन-क्षेत्र में पदार्पण किया।

वकालत का प्रारंभ : शुक्ल जी ने सन् १९०७ के प्रारम्भिक दिनों से राजनान्दगांव में वकालत का कार्य शुरू कर दिया। राजनान्दगांव में वकालत के लिये व्यापक क्षेत्र न होने के कारण शुक्ल जी ने जल्दी ही राजनान्दगांव छोड़ कर रायपुर में वकालत प्रारंभ करने का निश्चय किया। विजयादशमी से उन्होंने स्थिर रूप से रायपुर में अपना निवास बना लिया और वकालत शुरू कर दी। कुछ ही वर्षों में अपनी प्रतिभा, अपूर्व सूझबूझ एवं संकटों तथा बाधाओं से जूझने की वृत्ति से शुक्ल जी रायपुर के ही नहीं, समस्त प्रदेश के प्रमुख वकीलों में गिने जाने लगे। शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में पदार्पण कर संकोच वृत्ति का परित्याग कर दिया, उन्होंने यह देखना प्रारम्भ किया कि वकालत में सबसे सफल कौन व्यक्ति है? रायपुर के चोटी के वकीलों के मुकदमों का वे ख्याल करते थे और इन मुकदमों में वे बड़ी तैयारी, प्रमाणों व युक्तियों के साथ मामला लड़ते थे। कई बार उन्होंने बिल्कुल साधनहीन, निर्धन व असहाय व्यक्तियों का मामला बड़े-बड़े वकीलों से लड़ा, इसका फल यह हुआ कि सभी मामलों में शुक्ल जी को वकील बनाया जाने लगा। शुक्ल जी की धारणा थी कि There is always room at the top – उच्च स्थान पर होड़ के लिये सदैव अवसर रहता है, शुक्ल जी ने अपनी लगन से इस बात को सार्थक कर दिखलाया। विभिन्न मुकदमों में विशेषतः उत्तराधिकार के मामलों में शुक्लजी को विशेष यशस्विता मिली।

शुक्लजी ने जिन दिनों वकालत के धन्धे का प्रारम्भ किया था, वह काल देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन में एक नवीन क्रान्ति का युग था। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन उन दिनों तीव्र हो उठा था। सर्वत्र देशभर में स्वदेशी आन्दोलन का बिगुल बजाया जा रहा था। 'वन्दे मातरम्' के तुमुल नाद को भारत का युवक समाज देश भर में गुंजाने लगा था। उन दिनों 'लाल-बाल पाल' का युग था, अर्थात् लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिन चन्द्र पाल देश के क्षितिज पर अपनी ओजस्विनी वाणियों से नवीन क्रान्ति का सूत्रपात कर रहे थे। इन्हीं दिनों योगी अरविन्द भी क्रान्ति की अलख जगा रहे थे। 'मेरे देशवासियों के नाम' लिखे उनके एक सन्देश ने शुक्ल जी पर बहुत

प्रभाव डाला था। देशभक्तों के लिये उन दिनों स्वदेशी, विदेशी बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्रीयता के मूलमन्त्र बन गये थे। उन दिनों स्वतन्त्र आजीविका एवं चिन्तन के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी के रूप में डाक्टर एवं वकील वर्ग ही आ रहे थे। १९०७ में सूरत कांग्रेस के अवसर पर राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस नरम एवं गरम दलों में विभक्त हो गयी थी। रायपुर में भी दोनों ही विचारधाराओं को मानने वाले लोग थे। डा. हरिसिंह गौर, रायबहादुर देवेन्द्रनाथ चौधरी और बैरिस्टर सी. ए. ठक्कर नरम विचारों के पक्षपाती थे तो श्री रविशंकर शुक्ल, श्री वामनराव लाखे, ठाकुर हनुमानसिंह और श्री लक्ष्मणराव उदगीरकर की गिनती लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के समर्थक गरम विचारधारा को मानने वालों में थी। लोकमान्य तिलक एवं श्री अरविन्द के लेखों को छापने एवं दूसरे अभियोगों पर इस प्रदेश में भी सरकार ने कुछ मामले चलाये और प्रदेश की नवीन चेतना को कुचलने का प्रयत्न किया। प्रदेश के चीफ कमिश्नर सर रेजिनाल्ड क्रडॉक ने राष्ट्रीय चेतना को कुचलने का पूरा प्रयत्न किया परन्तु वह प्रयत्न पूरी तरह सफल नहीं हो सका।

सार्वजनिक क्षेत्र में :—शुक्ल जी ने वकालत के पेशे को अपनाने के साथ-साथ विविध सार्वजनिक आन्दोलनों में भी अधिकाधिक भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। वे सांस्कृतिक परम्पराओं की बुद्धिसंगत व्याख्या के लिये थियोसाफिस्ट विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे तो दूसरी ओर वे देश की राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन के लिये तिलक की प्रणाली को उचित मानते थे। इसी के साथ उनकी यह भी धारणा थी कि राष्ट्रीय जागरण के लिये सामाजिक सुधारणा आवश्यक है। समाज की समस्याओं का सुधार कर ही हम देश की सर्वाङ्गीण प्रगति कर सकते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति उन दिनों बड़ी व्यापक थी। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्व. रानडे ने सामाजिक सुधारणाओं के माध्यम से ही देश की राष्ट्रीय प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया था। हमारे प्रदेश में स्व. जमनालाल जी बजाज, बाबू गोविन्ददास, श्रीकृष्णदास जाजू आदि का सम्बन्ध भी प्रारम्भ में अग्रवाल व माहेश्वरी सभाओं से था। इसी प्रकार शुक्ल जी भी जातीय एवं सामाजिक सुधारों के द्वारा व्यक्ति व समाज को राष्ट्रीय कार्यों के उपयुक्त बनाना चाहते थे। सन् १९१० में प्रयाग में कांग्रेस का अधिवेशन था, उसके अध्यक्ष श्री वेडरन थे। शुक्ल जी इस कांग्रेस में एक प्रतिनिधि के रूप में गये थे। इस कांग्रेस के अवसर पर शुक्ल जी का सम्पर्क महामना मदनमोहन मालवीय जी से हुआ था। इस अवसर पर कान्यकुब्ज महासभा का अधिवेशन भी हुआ था। शुक्ल जी महासभा के इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। इस कांग्रेस से लौट कर आपने अपने प्रदेश में कान्यकुब्ज महासभा स्थापित करने का प्रयत्न किया था जिसके फलस्वरूप नागपुर में २९-३० मार्च सन् १९१२ में प्रान्तीय कान्यकुब्ज सभा की स्थापना हुई। इस अधिवेशन के सभापति 'भारतमित्र' सम्पादक पं. अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेई थे। सभा का दूसरा अधिवेशन रायपुर में हुआ और तीसरा अधिवेशन जबलपुर में हुआ था। इन सभी अधिवेशनों को प्रत्येक दृष्टि से सफल बनाने में शुक्ल जी ने बड़ा योग दिया था। प्रान्तिक कान्यकुब्ज सभा के संचालन में शुक्ल जी १९२० तक निरन्तर योग देते रहे। उन दिनों सभा में कार्य करनेवाले राष्ट्रीय भावना के कार्यकर्ता शुक्ल जी आदि कुछ इने-गिने कार्यकर्ता थे। सभा के प्रारम्भिक दिनों में शुक्ल जी के प्रयत्नों से एवं उनके नेतृत्व में सभा की मुख्य प्रवृत्तियाँ ऊँच-नीच की प्रथा को दूर कर विवाहादि सम्बन्ध में समता का व्यवहार, ठहरौनी की परम्परा को नष्ट करना एवं स्थान-स्थान में कान्यकुब्ज सभाओं एवं नवयुवक सभाओं की स्थापना का प्रयत्न था। शुक्ल जी के प्रयत्नों से रायपुर में एक कान्यकुब्ज छात्रावास की स्थापना होगयी जिसमें ४० विद्यार्थियों के निवास की व्यवस्था की गयी थी। प्रगतिशील एवं संघटित कान्यकुब्ज समाज की आवाज़ को बलवती करने के लिये "कान्यकुब्ज नायक" नामक एक मासिक पत्र की स्थापना की गयी जिसका सम्पादन भी श्री रविशंकर जी शुक्ल ने किया। सन् १९१९ तक शुक्ल जी कान्यकुब्ज समाज की उन्नति में बड़ा योग देते रहे। १८ अप्रैल सन् १९१९ के दिन मध्यप्रदेश बरार की प्रान्तीय सप्तम कान्यकुब्ज सम्मेलन की खण्डवा में अध्यक्षता करते हुए पं. रविशंकर जी शुक्ल ने जो भाषण दिया था वह सामाजिक कुरीतियों एवं योग्य सुधारों का एक विस्तृत विवेचन था। ऊँच-नीच की प्रथा को नष्ट करना, समाज में संघ-शक्ति

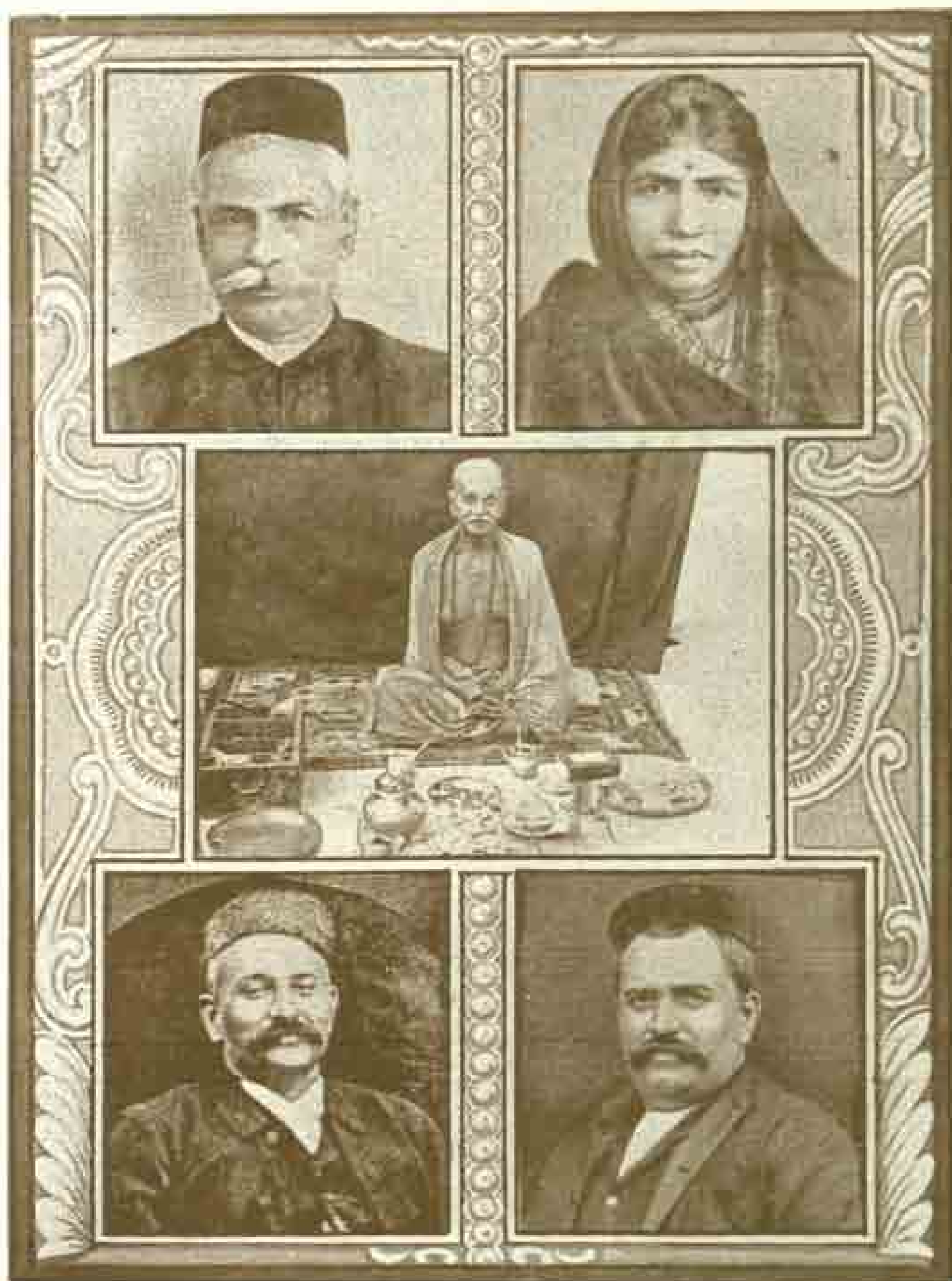


शुक्लजी का जीवन-विकास

[१] विद्यार्थी अवस्था में १८९६ [२] अध्यापक १९०१-२ [३] मंत्र में १९३६-३७ के समय
[४] वकालत १९२२ [५] पिताजी की मृत्यु के समय १९२४



माता पिता के साथ शुक्ल परिवार



ऊपर–शुक्लजी की माताजी श्रीमती तुलसीदेवी एवं पिताजी पं. जगन्नाथ प्रसादजी शुक्ल

बीच में–पितामह पं. मन्नीलालजी शुक्ल

नीचे–शुक्लजी के चाचाजी श्री पं. गजाधर प्रसादजी शुक्ल

और दूसरे चाचाजी पं. हरिशंकरजी शुक्ल



शुकल–परिवार

शुक्लजी अपने पुत्र श्री ईश्वरीचरण एवं श्री विद्याचरण तथा पौत्रों के बीच



शुक्लजी का रायपुर स्थित निवास–स्थान

दूसरे चित्र में ऊपर जो कमरा दिखलाई पड़ रहा है उसी में महात्माजी और अन्य नेता ठहरा करते थे

का निर्माण करना, स्त्रियों की बिगड़ी दशा को सुधारना, ठहरौनी की परम्परा को समूल नष्ट करना, समाज के शैक्षणिक, औद्योगिक एवं धार्मिक स्तर को समुन्नत करना आदि सुधारों का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने अपने उक्त भाषण में कहा था—"इस प्रकार अनेक कुरीतियों और विघ्न बाधाओं के रहते हुए भी यदि हम लोग इस बात का निश्चय कर लेवें कि देशोन्नति के अपने परम उद्देश्य की पूर्ति के लिये जाति सम्बन्धी अपने कर्तव्य का पालन करना परम धर्म है, तो मेरा विश्वास है कि यह कान्यकुब्ज जाति भारतमाता की सेवा करने का वह गौरव फिर भी प्राप्त कर सकती है, जो उसे पूर्व-काल में प्राप्त था।" भाषण को समाप्त करते हुए शुक्ल जी ने कहा था—"मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि जातिसेवा का पवित्र भाव हमारे सब कान्यकुब्ज भाइयों में जागृत हो जाय।"

समाज-सुधार एवं भारत माता की सेवा के विषय में सन् १९१९ के प्रारम्भ में शुक्ल जी के विचार "समाज सुधार' के विषय में केन्द्रित हो गये थे परन्तु असहयोग आन्दोलन एवं गान्धी की आन्धी आते ही केवल एक वर्ष में ही सन् १९२० में शुक्ल जी के समाज सुधार सम्बन्धी विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आगया।

विविध दिशाओं में कान्यकुब्ज समाज को समुन्नत करना भी जल्दी ही शुक्ल जी के लिये गौण बात हो गयी। शुक्ल जी को अपने सामाजिक संघटन की सीमाओं में रहना अच्छा नहीं लगा, फलतः उन्होंने अपने मानसिक चिन्तन की प्रतिध्वनि के रूप में बम्बई प्रान्तीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिषद् के अमलनेर (खानदेश) में १९२० में हुए वार्षिक अधि-वेशन की अध्यक्षता करते हुए कहा था—"ठहरौनी आदि बुराइयाँ समाज की जड़ काटने वाले भयंकर कीट हैं और उनसे जितने शीघ्र समाज मुक्त हो जाय उतना ही अच्छा, तथापि उन बुराइयों से हमारे लक्ष्य या आदर्श का बोध नहीं होता। ठहरौनी दूर हो गई, जितने सुधार हम चाहते हैं सब हो गये, उसके बाद क्या हमारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है? नहीं, वे तो गौण सुधार हैं। हमारा लक्ष्य राष्ट्र का उत्थान अत्यन्त महान् है और उसकी प्राप्ति समय, श्रम, एकाग्रता, दृढ़-निश्चय और स्वार्थत्याग की अपेक्षा करता है। अबतक जातीय सभाओं ने उस लक्ष्य को विशद रूप से प्रकट नहीं किया। समय आगया है कि हम उस आदर्श को अपने सामने रखकर कार्य करें।" इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने अपने भाषण में आगे कहा—"दस पांच ग्रेजुएटों की सृष्टि से, केवल मात्र वार्षिक जल्सों से और मनबहलाव के लिये लिखे गये सामयिक पत्रों के लेखों से जाति में उस शिक्षा और उस चारित्र्य का आवेश नहीं हो सकता, जिसकी इस महान समय में नितान्त आवश्यकता है। वह धार्मिक स्वाधीनता और निश्चिन्तता नहीं प्राप्त हो सकती जो मौलिक विचारों की उत्पादक और सभ्यता के विकास के लिये अनिवार्य है। राष्ट्र की मांग है कि प्रत्येक भारतवासी मनुष्य बने। मानवी शक्तियों की महत्ता और पवित्रता का उसे पूर्ण ज्ञान हो और मानवी स्वत्वों की रक्षा, उपयोग करने की आकांक्षा और बल हो। वह यह समझे कि हम संसार की एक शक्ति हैं और संसार में हमारा न्यायोचित और महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह निर्भय हो। हमारा उद्योग होना चाहिये कि इस मांग की हम पूर्ति करें।"

इस प्रकार सामाजिक सुधारों को राष्ट्रीय उत्थान के महान् लक्ष्य के लिये सामान्य साधन मानते हुए शुक्ल जी असहयोग एवं राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवृत्त हो गये।

राजनीति में :—मध्यप्रदेश में दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में राजनीतिक प्रगति पर्याप्त मन्द रही है। सन् १९०८–९ में लोकमान्य तिलक और श्री अरविन्द के लेखों व भाषणों के छापने पर सरकार ने कुछ मुकदमे चलाये थे। श्री माधवराव जी सप्रे द्वारा क्षमा-याचना कर जेल से मुक्त होने की घटना ने प्रदेश के राज-नीतिक जीवन में पर्याप्त निराशा का संचार कर दिया था। सप्रे जी को अपने कार्य पर बड़ा पछतावा हुआ था और वे रायपुर में जाकर एकान्त निवास करने लगे। यहां पर वे मधुकरी मांगकर बहुत ही सादगी और तपस्या का जीवन व्यतीत करने लगे। १७ जून सन् १९१४ को लोकमान्य तिलक जेल से मुक्त कर दिये गये। उनकी मुक्ति का जनता द्वारा देश भर में स्वागत किया गया और इस प्रदेश के नवयुवकों में भी नवीन उत्साह का संचार हो गया। इस उत्साह एवं परिवर्तित समय का लाभ उठाकर प्रयत्न किया गया कि प्रदेश में नरम व गरम पक्षवालों के मध्य जो मतभेदों की

दरार है उसे पाट दिया जाय। श्री जी. एस. खापर्डे, डा. मुंजे, पं. विष्णुदत्त शुक्ल और पं. रविशंकर शुक्ल गरम विचारों के प्रतिनिधि थे तो सर गंगाधरराव चिटनवीस, श्री मुधोलकर और डा. गोरे नरम विचारों के पक्षपाती थे। दोनों विचारधाराओं के प्रतिनिधियों को एकत्र करने के लिये १६-१७-१८ नवम्बर सन् १९१५ को रा. ब. पं. विष्णुदत्त शुक्ल की अध्यक्षता में नागपुर में मध्यप्रदेश की राजनीतिक परिषद् हुई। इस परिषद् में मध्यप्रदेश के कुछ प्रमुख शिक्षा अधिकारियों ने दर्शक के रूप में भाग लिया था। श्री भवानीशंकर जी नियोगी ने इस परिषद् में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा विषयक एक प्रस्ताव रखा था। प्रस्ताव का समर्थन करते हुए पं. रविशंकर जी शुक्ल ने सरकारी रिपोर्ट के आधार पर कुछ आंकड़े उपस्थित किये थे। इस पर शिक्षा विभाग के संचालक की ओर से कहा गया था-"शुक्ल जी द्वारा रखे आंकड़े ठीक नहीं हैं।" इस अभियोग का उत्तर देते शुक्ल जी ने संचालक को कहा था-"यदि सरकारी रिपोर्ट गलत है तो मैं आपकी बात मान लूंगा"। इस पर संचालक महोदय मौन रह गये।

श्री रविशंकर जी शुक्ल कांग्रेस की गरम विचार-धारा को मानने वाले थे। वे प्रारम्भ से ही लोकमान्य तिलक की विचारधारा के समर्थक थे, सांस्कृतिक दृष्टि से शुक्ल जी डा. एनी बीसेण्ट की विचारधारा से भी बड़े प्रभावित थे। इतने पर भी जहां तक राजनीति का सम्बन्ध था, वे एनी बीसण्ट की होमरूल लीग के सदस्य नहीं बने थे और जब लखनऊ कांग्रेस से पूर्व बेलगांव में २८ अप्रैल १९१६ को लोकमान्य तिलक ने होमरूल लीग की स्थापना की तो शुक्ल जी उसकी रायपुर शाखा के एक प्रमुख संघटनकर्त्ता बन गये थे। इन दिनों शुक्ल जी की राजनीतिक विचारधारा के समर्थकों एवं सहायकों पं. प्यारेलाल मिश्र बार. एट. ला., श्री वामनराव लाखे, पं. माधवराव सप्रे और पं. विष्णुदत्त शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय थे। सन् १९१५ से शुक्ल जी भारतीय कांग्रेस कमेटी के नियमित सदस्य तो नहीं बने थे परन्तु वे यथा सम्भव प्रतिवर्ष कांग्रेस अधिवेशनों में जाते रहते थे। सन् १९१५ में कांग्रेस का अधिवेशन सर सत्येन्द्र प्रसन्नसिंह (लार्ड सिन्हा) की अध्यक्षता में बम्बई में हुआ था। शुक्ल जी इस कांग्रेस में गये थे। सौभाग्य से इस कांग्रेस में शुक्ल जी और मध्यप्रदेश के प्रतिनिधियों को मारवाड़ी सीताराम विद्यालय में ठहराया गया था। इसी विद्यालय की निचली मंजिल में गान्धी जी, कस्तूरबा गान्धी और साबरमती आश्रम के विद्यार्थी ठहरे हुए थे। शुक्ल जी को इस कांग्रेस के अवसर पर गान्धी जी को समीप से देखने-सुनने का अवसर मिला। गान्धीजी की प्रातः कालीन प्रार्थनाओं, उनकी दैनिक दिनचर्या, सादे रहन-सहन का शुक्ल जी पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।

हिन्दी के प्रसार में योग:—शुक्ल जी राष्ट्रीय संघटन के निर्माण में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के महत्त्व को प्रारम्भ से ही अनुभव करते थे, इस दृष्टि से उन्होंने प्रदेश में राष्ट्रभाषा एवं प्रादेशिक भाषा के रूप में हिन्दी की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये निरन्तर प्रयत्न किया। अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रदेश में हुए १९१६ तथा १९३६ में हुए दोनों अधिवेशनों में आपने योग दिया था। सन् १९१६ में अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सातवां अधिवेशन जबलपुर में पं. रामावतार शर्मा की अध्यक्षता में हुआ था। इस अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष पं. विष्णुदत्त शुक्ल थे और पं. रविशंकर जी शुक्ल स्वागत समिति के उपाध्यक्ष थे। अ. भा. सम्मेलन का सफल अधिवेशन हो जाने पर इस प्रयत्न से उत्साहित होकर शुक्ल जी तथा सप्रे जी आदि ने मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्राण प्रतिष्ठा की। प्रदेश के पुराने नेता रा. ब. पं. विष्णुदत्त शुक्ल ने संस्था के संघटित करने के सुझाव का स्वागत किया। ३० मार्च सन् १९१८ को रायपुर में मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन म. प्र. विधान सभा के सदस्य एवं सुलेखक पं. प्यारेलाल मिश्र बार. एट. ला. की अध्यक्षता में हुआ। इस प्रथम अधिवेशन तथा सम्मेलन के अगले अधिवेशनों में शुक्ल जी ने बड़ी दिलचस्पी ली।

म. प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पांचवां अधिवेशन ४ मार्च १९२२ को पं. रविशंकर शुक्ल की अध्यक्षता में नागपुर में हुआ। इस अवसर पर शुक्ल जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राजभाषा बनाने के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था—"प्रश्न यह उठता है कि एक विदेशी भाषा हमारी जातीय आकांक्षाओं एवं जातीय मनोवृत्ति को यथार्थ रूप से प्रकट करने में कहां तक सहायक हो सकेगी? इसके स्थान में हमें किसी एक

सबसे व्यापक और उपयुक्त भारतीय भाषा को स्थानापन्न करना ही होगा।" अपनी इस सुनिश्चित सम्मति को व्यक्त करते हुये शुक्ल जी ने हिन्दी एवं हिन्दी का प्रचार करने वाली संस्थाओं की महती उत्तरदायिता को स्पष्ट करने में भी कोई संकोच नहीं किया। आपने सन् १६२२ में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"मेरी व्यक्तिगत राय है कि भारतीय राष्ट्र निर्माण के इस कठिन प्रसंग में यदि हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्राचीन संकीर्णताओं को स्वीकार किए हुए देश की वर्तमान परिस्थितियों से उदासीन बना रहेगा तो वह देश का सच्चा कल्याणकारी कभी नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्येक हिन्दी साहित्य प्रेमी को अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। यदि आज भारत की किसी भाषा या साहित्य के सामने जवाबदारी का विराट प्रश्न उपस्थित है तो वह हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के सामने है। इस विषय की समस्या को हल करने के लिये हमें दूरदर्शिता, बुद्धि और हृदय की उदारता और कार्य-तत्परता, इत्यादि अनेक गुणों की आवश्यकता है क्योंकि आपको यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे सामने हिन्दू राष्ट्र स्थापित करने का प्रश्न नहीं है। यदि प्रश्न इतना ही होता तो वह कोई बड़ी बात नहीं थी। प्रश्न हमारे सामने भारतीय राष्ट्र स्थापित करने का है और इसी कारण हमारे लिए राष्ट्र संगठन का काम अत्यन्त कठिन हो रहा है। चाहे जो हो, यदि हम संसार में जीना चाहते हैं तो हमें यह काम अवश्य करना पड़ेगा।"

हिन्दी की क्षमता के विषय में शुक्ल जी ने अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा था—"मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि हिन्दी अपने स्वरूप को इतना परिवर्तित कर दे कि उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाय और अपने वर्तमान की सारी विशेषता वह खो बैठे। जिस समय मैं यह कह रहा हूँ कि हिन्दी को उन्नतिशील होते हुए परिवर्तनशील और उदार होना चाहिये, उस समय मैं यह आशय प्रकट करना चाहता हूँ कि उसमें एक जीती-जागती और प्रौढ़ भाषा की विशेषतायें आ जानी चाहियें। इससे उसके व्यक्तित्व के नष्ट हो जाने की आशंका जरा भी नहीं है, प्रत्युत उससे शालीनता और प्रभुता के बढ़ जाने की ही सम्भावना है।"

पांचवें अधिवेशन के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में सभी कार्यकर्ताओं के संलग्न हो जाने से अगले १२ वर्ष तक प्रादेशिक सम्मेलन सुषुप्त रहा। सन् १६३६ में नागपुर में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के अवसर पर प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की गतिविधि में फिर तीव्रता आयी। नागपुर अधिवेशन में शुक्ल जी स्वागत समिति के उपाध्यक्ष थे। राजनीतिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण शुक्ल जी प्रादेशिक सम्मेलन की हलचलों में प्रत्यक्ष भाग तो नहीं ले सके, परन्तु राष्ट्रभाषा एवं प्रादेशिक भाषा के रूप में हिन्दी भाषा व साहित्य एवं देवनागरी लिपि की समुन्नति करने में शुक्ल जी ने जो सक्रिय योग दान किया है, उसका विशेष महत्त्व है। शासन-सूत्र सम्भाल कर एवं भारतीय संविधान परिषद् में शुक्ल जी ने इस विषय में उल्लेखनीय कार्य किया है, जिसका यथासमय ग्रन्थ के अगले पृष्ठों में उल्लेख किया जा रहा है।

असहयोग के युग में—प्रथम विश्व महायुद्ध के दिनों में बढ़ते हुए भारतीय असन्तोष को शान्त करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने भारत में तत्कालीन भारतमन्त्री श्री मान्टेग्यू को भारत की स्थिति का निरीक्षण करने के लिये भेजा था। उन दिनों ब्रिटिश सरकार के समक्ष लोकमत को प्रकट करने के लिये स्थान-स्थान पर सभायें की जाती थी। इसी प्रकार की एक सभा २६ अगस्त १६१७ को रायपुर में माननीय सी. एम. ठक्कर के सभापतित्व में हुई थी। इस सभा में श्री रविशंकर जी शुक्ल ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया था—"कांग्रेस और लीग ने शासन प्रबन्ध के विषय में जो सुधार शासन के सामने रखे हैं, उसके बिना देश का उत्कर्ष नहीं होगा और उसके अभाव में उपनिवेशों की भांति भारत स्वयं शासन के योग्य नहीं हो सकेगा। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिये जब-जब स्वार्थत्याग करने का अवसर उपस्थित हो, तब-तब देश का प्रत्येक नागरिक सत्कार्य समझ कर आनन्द से करे।"

एक ओर भारतमन्त्री मान्टेग्यू बढ़ते हुए भारतीय असन्तोष को दबाने के लिये चिकनी-चुपड़ी बात कर रहे थे, तो दूसरी ओर देश के जाग्रत लोकमत को कुचलने के लिये विदेशी सरकार ने काले रोलट कानून को प्रचलित किया। इस कानून के स्वीकार हो जाने से देश भर में भीषण असन्तोष व्याप्त हो गया। केन्द्रीय धारा सभा में मध्यप्रदेश की ओर से

निर्वाचित एक प्रतिनिधि रा. ब. पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल ने इस असन्तोष को व्यक्त करने के लिये केन्द्रीय धारा सभा की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। रोलट कानून के विरोध में जाग्रत पंजाब को कुचलने के लिये जब अंग्रेजों ने जलियांवाला बाग में खून की होली खेली तो गान्धी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने असहयोग का बिगुल बजा दिया। कलकत्ता में हुए सन् १९१९ के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में शासन से असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के अन्तर्गत तारीख २४ दिसम्बर १९१९ को मध्यप्रदेश का शासन चीफ़ कमिश्नर के हाथ से लेकर गवर्नर तथा उसकी शासन परिषद् को सौंपा गया। योजना के अन्तर्गत प्रदेश में द्वैध शासन (डायर्की) की स्थापना की गयी। इस योजना के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान सभा के सदस्यों की संख्या २७ से ७० की गयी तथा सभा का अध्यक्ष भी सरकारी व्यक्ति के स्थान पर ग़ैर सरकारी होने लगा। सरकारी सुधार नाम-मात्र के थे, इन से जनता की वास्तविक मांगों की पूर्ति नहीं होती थी, इनसे केवल कुछ असन्तुष्ट व्यक्तियों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने रोलट एक्ट भी प्रचलित किया, जो स्वातन्त्र्य संघर्ष को एक चुनौती थी। महात्मा गान्धी जी ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि अपने नैतिक साधनों के द्वारा रोलट कानून के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। सत्याग्रह के आन्दोलन ने देश भर में एक अपूर्व क्रान्ति का वातावरण प्रस्तुत कर दिया। विद्यार्थियों ने सरकारी कालेज छोड़ दिए, वकीलों एवं डाक्टरों ने देश-सेवा अपना मुख्य धन्धा बना लिया। श्री शुक्ल जी इस समय से पूर्व अपना समय सामाजिक, जातीय एवं सांस्कृतिक कार्यों में लगाते थे, पर इस गान्धी की आन्धी में उनका भी काया-कल्प होगया। उन्होंने अपने शौक के सुन्दर एवं मोहक कपड़ों को तिलांजलि दे दी और खद्दर के मोटे कपड़े पहनने प्रारम्भ कर दिये। शुक्ल जी ने अपने बड़े परिवार एवं विविध सामाजिक कार्यों की जिम्मेदारी को निबाहने के लिये दूसरी किसी आमदनी का सहारा न होने से वकालत तो नहीं छोड़ी परन्तु वे अपने तन-मन-धन सभी साधनों एवं शक्तियों के साथ वे राष्ट्रीय आन्दोलन में संलग्न हो गये। देश की राजनीतिक परिस्थिति पर विचार करने के लिये सितम्बर सन् १९१९ में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इस विशेष कांग्रेस में शुक्ल जी और पण्डित विष्णुदत्त जी शुक्ल भी गये हुए थे। दोनों ने मध्यप्रदेश की ओर से कांग्रेस के अगले अधिवेशन के लिये निमन्त्रण दिया था। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सम्मुख यह विचारणीय विषय रखा गया कि प्रस्तावित अधिवेशन नागपुर में हो, अथवा जबलपुर में। इस समय नागपुर के सदस्यों ने तीन रुपये वाले बहुसंख्यक सदस्य बना कर कमेटी में अपना बहुमत कर लिया और बहुमत से निश्चय किया गया कि अगला अधिवेशन नागपुर में किया जाय। हिन्दी मध्यप्रदेश के सदस्यों ने यह निश्चय स्वीकार तो किया, परन्तु खिन्न मन से। नागपुर के विशेष अधिवेशन में असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इस अधिवेशन में कांग्रेस के विधान में भी परिवर्तन किया गया। महात्मा गान्धी ने यह प्रस्ताव रखा था। भाषा के आधार पर अखिल भारतीय कांग्रेस संगठन २१ प्रान्तों में विभक्त किया गया। इसी विधान के अनुसार मध्यप्रदेश का हिन्दी भाषी विभाग नागपुर और विदर्भ के मराठी-भाषी विभाग से पृथक् हो गया। प्रारम्भ में हिन्दी प्रदेश को हिन्दुस्तानी या हिन्दी सी. पी. कहा जाता था, परन्तु १९३० में रायपुर में हुई राजनीतिक परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार इसे महाकोशल नाम दे दिया गया। नागपुर कांग्रेस के अवसर पर एक दुःखद प्रसङ्ग भी हुआ, पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल के स्वर्गवास से प्रदेश का एक कर्मठ नेता सदा के लिये उठ गया।

कलकत्ता तथा नागपुर कांग्रेस से नव-सन्देश लेकर शुक्ल जी ने अपने जिले तथा प्रान्त की सक्रिय राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। वे सन् १९१४ से ही रायपुर नगरपालिका के सदस्य थे और इस पद पर सन् १९२४ तक बने रहे। सन् १९२१ से आप कांग्रेस के भी नियमित सदस्य बन गये और अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के सदस्य चुन लिये गये। तब से वे आज तक इसके निरन्तर सदस्य बने रहे। सन् १९२१ से आप जिला कौंसिल के सदस्य चुने गये और सन् १९३६ तक इस संस्था के भंग होने की अवधि को छोड़कर सन् १९३६ तक इस स्थान पर सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। सन् १९२१ में नवीन विधान के अनुसार रायपुर में कांग्रेस का प्रथम चुनाव हुआ।

शुक्ल जी जिला कांग्रेस के मन्त्री थे। शुक्ल जी के विरोध में कई शक्तियां एकत्र हो गयी थीं, कुछ सरकार परस्त लोग, कुछ व्यक्तिगत विरोधी और कुछ कांग्रेसजन। शुक्ल जी ने भी अपना पक्ष सुदृढ़ किया। शुक्ल जी इससे पूर्व रायपुर तथा समीपस्थ क्षेत्रों में तिलक स्वराज्य कोश के लिये धन-संग्रह का कार्य कर चुके थे, और पांच दिन में ही २१ हजार रुपया एकत्र कर चुके थे, इसलिये उनका परिचय पर्याप्त व्यापक हो गया था। मन्त्री के रूप में शुक्ल जी ने दोनों पक्षों को खूब रसीद बहियां दीं। दोनों पक्षों ने खूब सदस्य बनाये। रायपुर शहर में पहली बार हजारों की गिनती में कांग्रेस के सदस्य बने। दोनों पक्षों ने व्यापक प्रचार-कार्य किया। सारे चुनाव को पूर्ण व्यवस्थित बनाने के लिये व्यवस्थित मतदाता सूची बनायी गयी, पूरे रजिस्टर भरे गये, इस बड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिये दस अतिरिक्त क्लर्क रखे गये थे। चुनाव में, जो कि पहली बार प्रजातान्त्रिक पद्धति से लड़ा गया था, शुक्ल जी को सर्वाधिक मत मिले। शुक्ल जी हिन्दी सी. पी. कांग्रेस में भी चुने गये। कौंसिल के बहिष्कार की असहयोग विषयक नीति को भी आपने अपनाया। आप न तो स्वयं कौंसिल में गये और न आपने स्वर्गीय रा. ब. चौधरी और स्वर्गीय सी. एम. ठक्कर, बैरिस्टर, आदि अपने सहयोगियों को ही कौंसिल में जाने दिया। तारीख २६ मई सन् १९२० ई. की प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् में शुक्ल जी ने हिस्सा लिया था। आपकी उपस्थिति से परिषद् के विचार विमर्श में एक प्रकार की गम्भीरता आ गयी थी—इस घटना का उल्लेख करते हुए "कर्मवीर" ने लिखा था—"जहां दादा साहब खापर्डे, डॉ. मुंजे, बैरिस्टर राव, श्री उमाकान्त घाटे, बाबू नाथूराम और अन्य बीसियों प्रतिनिधियों ने परिषद् को गरम बनाया था, वहां पण्डित रविशंकर शुक्ल, पण्डित मनोहर पन्त गोलवलकर और पण्डित प्यारेलाल मिश्र, आदि सज्जनों ने अपनी उपस्थिति से उदारता ला दी थी।"

शीघ्र ही शुक्ल जी रायपुर तथा प्रान्त की राजनीतिक प्रवृत्तियों में अधिकाधिक भाग लेने लगे। तारीख २ जुलाई सन् १९२१ ई. को बिलासपुर के दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रेट) ने कर्मवीर सम्पादक पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी को आठ मास की सख्त सजा दी थी। मजिस्ट्रेट ने दण्ड देते हुए अपने निर्णय में लिखा था—"जो व्यक्ति जनता की दृष्टि में सरकार की प्रतिष्ठा को गिराता है, वह राजद्रोह के अपराध में दण्डनीय है।" यह दण्ड सुनाने के दिन ही जनता का विरोध प्रदर्शित करने एवं माखनलाल जी के कार्य का अभिनन्दन करने के लिये एक बड़ी सार्वजनिक सभा की गयी। इस सभा के अध्यक्ष थे—पण्डित रविशंकर जी शुक्ल और प्रधान वक्ता के रूप में बैरिस्टर राघवेन्द्रराव ने व्याख्यान दिया। अध्यक्षीय भाषण देते हुए शुक्ल जी ने माखनलाल जी के कार्य एवं तपस्या की सराहना करते हुए कांग्रेस के कार्यक्रम का समर्थन किया।

शुक्ल जी की गिरफ्तारी—सन् १९२२ के मई मास में रायपुर में छिन्दवाड़े के श्री घाटे वकील की अध्यक्षता में रायपुर जिला राजनीतिक परिषद् का आयोजन किया गया। इस परिषद् का आयोजन करने के लिये शुक्ल जी की अध्यक्षता में एक स्वागत समिति का निर्माण किया गया था। परिषद् के कारण रायपुर की जनता में एक अभूतपूर्व उत्साह का वातावरण व्याप्त हो गया था। सरकार ने स्थिति का नियन्त्रण करने के लिये पूरी तैयारी कर ली। राजनीतिक परिषद् में क्या होता है, यह देखने के लिये जिलाधीश और पुलिस कप्तान ने शुक्ल जी से परिषद् में प्रवेश पाने के लिये पांच नि:शुल्क प्रवेश-पत्र (पास) मांगे थे। स्वागत समिति ने यह नियम बनाया था कि परिषद् में प्रवेश-पत्र या टिकट के बिना कोई प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। स्थानीय सरकारी अधिकारियों द्वारा प्रवेश-पत्र मांगे जाने पर शुक्ल जी ने उन्हें सूचित किया कि वे टिकट खरीद कर ही परिषद् में प्रवेश पा सकते हैं। स्वागत समिति का यह निर्णय मालूम होने पर सरकारी अधिकारियों ने शक्ति-प्रयोग कर परिषद् में घुसने का निर्णय किया। घटना के दिन, दोपहर से ही शहर भर में यह खबर फैल गयी थी कि शुक्ल जी गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। परिषद् के ठीक समय पण्डाल के सामने स्वयंसेवकों की तीन-तीन कतारें खड़ी हुई थीं—इनके सामने शुक्ल जी और श्री लाखे खड़े थे। मजिस्ट्रेट, सिटी कोतवाल के साथ पण्डाल के प्रवेश द्वार पर पहुँचे। ये मजिस्ट्रेट खैरागढ़ के भूतपूर्व दीवान खा. ब. मौलवी मोहम्मद हुसैन के पुत्र एवं एक समय खैरागढ़ हाई स्कूल में शुक्ल जी से पढ़े हुए श्री आले हसन रिजवी थे। पुलिस अधिकारियों ने पण्डाल के भीतर जाना चाहा। शुक्ल जी ने कहा कि टिकट दिखला दीजिये और अन्दर चले जाइये। शुक्ल जी और श्री लाखे ने एक दूसरे

का हाथ पकड़ लिया और पुलिस अधिकारियों को अन्दर जाने से रोका। ज्यों ही पुलिस अधिकारियों ने यह विरोध देखा, उन्होंने शुक्ल जी के हाथों में हथकड़ी डाल दी। रायपुर में पुलिस कोतवाली या चावड़ी घटनास्थल के निकट ही है। पुलिस शुक्ल जी को गिरफ्तार कर हथकड़ी के साथ ही रास्ते से प्रदर्शन करती हुई ले गयी और हवालात में बन्द कर दिया। शुक्ल जी की गिरफ्तारी की खबर कुछ ही मिनटों में रायपुर शहर भर में फैल गयी। खबर सुनते ही परिषद् की कार्यवाही अगले दिन के लिये स्थगित कर दी गयी। हजारों के उत्तेजित जन-समूह ने एकत्र होकर पुलिस कोतवाली में घुसने का प्रयत्न किया। इस अवसर पर सर्वश्री माधवराव सप्रे, ई. राघवेन्द्रराव व वामनराव लाखे ने उत्तेजित जनता को नियन्त्रण में रखा, अन्यथा इस अवसर पर गोली चल जाती, क्योंकि सशस्त्र पुलिस के सिपाही समीपस्थ एक मकान में लाकर रखे गये थे। जनता देर तक खड़ी होकर पुलिस इन्सपेक्टर को बाहर निकालने के लिये ललकारती रही।

अगले दिन प्रातः स्वयंसेवकों की एक रैली की गई। इस अवसर पर पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी ने एक बहुत ही जोशीला व्याख्यान दिया। चतुर्वेदी जी दो-चार दिन पहले ही जेल से छूट कर आये थे। राजनीतिक परिषद् की स्वागत समिति ने एवं महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी ने श्री ई. राघवेन्द्र राव की अध्यक्षता में बैठक कर सारी परिस्थिति पर विचार किया और एक पत्र लिख कर जिला अधिकारियों से पूछा कि किस सरकारी कायदे के अनुसार सरकारी अधिकारी एक खासगी जगह पर टिकट या प्रवेश पत्र के बिना घुसना चाहते हैं। इस विषय में दोनों पक्षों का दिन भर पत्र-व्यवहार होता रहा। अधिकारियों ने स्वीकार किया कि वे किसी कायदे के अन्तर्गत ऐसा नहीं कर रहे, परन्तु इस विषय में शासन-अधिकारियों के जो आदेश (एक्जीक्यूटिव इन्स्ट्रक्शन्स) हैं, उन्हीं का पालन किया जा रहा है। इस पर कांग्रेस एवं राजनीतिक परिषद् की ओर से जवाब दिया गया कि वे एक्जीक्यूटिव इन्स्ट्रक्शन्स मानने के लिये तैयार नहीं हैं और कानून को अपना कार्य करने का अवसर देना चाहिये (लेट दि ला हैव इट्स ओन कोर्स)।

उस दिन प्रातः से सायंकाल तक नगर के छोटे व बड़े २०० से अधिक व्यक्तियों ने अपना नाम उन लोगों की सूची में लिखाया, जो पुलिस वालों को रोक कर गिरफ्तार होने के लिये तैयार थे, इस सूची में केवल कांग्रेस वाले ही नहीं थे, परन्तु शहर के आनरेरी मजिस्ट्रेट तक सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त सदर बाजार के अनेक प्रतिष्ठित सेठ-साहूकार व शुक्ल जी के मोहल्ले के बहुत से महाराष्ट्रीय सज्जन एवं नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति इस सूची में शामिल थे। इन २०० व्यक्तियों में से पहले दिन के लिये दस व्यक्ति चुने गये, जिनमें सर्वश्री माधवराव सप्रे, राघवेन्द्रराव, वामनराव लाखे, नारायणराव मेघा, पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र (जो उस समय कालेज के एक विद्यार्थी थे), आदि व्यक्ति सम्मिलित थे। इन दस स्वयंसेवकों के नेता श्री माधवराव सप्रे थे।

जब सभा प्रारम्भ होने का समय हुआ तब जिलाधीश श्री सी. ए. क्लार्क, अंग्रेज पुलिस कप्तान जोन्स के साथ सभा-स्थल पर आये। इन्होंने दरवाजे के सामने खड़े सप्रे जी से कहा कि वे भीतर जाकर स्वागत समिति के पदाधिकारियों से बात करना चाहते हैं। पण्डित सप्रे ने कहा कि "वे उन्हें बिना टिकट या प्रवेश-पत्र के अन्दर जाने की अनुमति नहीं दे सकते हैं।" उन्होंने एक स्वयंसेवक से कहा कि वह परिषद् के मन्त्री और गवर्नर को बुला लाये। यह सुन कर जिलाधीश ने कहा—"यह दूसरा गवर्नर कौन है?" ("हू इज दिस सैकण्ड गवर्नर?") सप्रे जी ने उत्तर दिया—प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष श्री राघवेन्द्रराव (प्रेजीडेन्ट ऑफ प्राविन्शियल कांग्रेस, मि. ई. राघवेन्द्रराव)। थोड़ी देर में स्वयंसेवक मन्त्री को बुला लाया और सप्रे जी को कहा कि राघवेन्द्रराव कहते हैं कि मैं अपनी ड्यूटी पर तैनात हूं, इसलिये नहीं आ सकता (आई एम एट माई पोस्ट, आई कैन नाट कम।)। इस पर सप्रे जी ने कहा कि उन्हें बुला लाओ और कहो कि सप्रे उन्हें बुला रहे हैं। इस बीच परिषद् के मन्त्री ने अधिकारियों से कहा कि आप लोग अन्दर जा सकते हैं, परन्तु यदि कोई समझौता नहीं होता, तो उन्हें बाहर आना पड़ेगा और बाजाब्ता प्रवेश करना होगा। अधिकारियों ने यह बात मान ली और वे अन्दर गये। पण्डाल में अन्दर जाकर इन अधिकारियों ने परिषद् के अधिकारियों से बातचीत की और टिकट लेकर अन्दर जाना मान लिया। इन अधिकारियों ने श्री राघवेन्द्रराव से कहा कि वे अभी रुपया

नहीं लाये हैं, पर वे टिकट खरीदने के लिये तैयार हैं। श्री राव ने कहा—"आपका कथन हमारे लिये खरे सोने के बराबर है" (योर वर्ड इज एज गुड एज गोल्ड) और सबको अन्दर जाने दिया। दो दिन तक शुक्ल जी जेल में रहे। टिकटों का मामला सुलझने पर शुक्ल जी को जेल में रखना कठिन हो गया। इस पर उन पर से मुकदमा उठा लिया गया और दोपहर के तीन बजे उन्हें छोड़ दिया गया। इन दो दिनों में पुलिस की हवालात में शुक्ल जी से एक खतरनाक अपराधी की नाईं व्यवहार किया गया। उनके एक हाथ में हथकड़ी पकड़े सिपाही खड़ा रहता था और उसी स्थिति में उन्हें शंका-समाधान करना पड़ता था। शुक्ल जी की इस गिरफ्तारी से रायपुर और प्रान्त की जनता में बड़ा विक्षोभ उत्पन्न हो गया था और श्री मुंजे तथा श्री नारायणराव, आदि कार्यकर्त्ता रायपुर आ गये थे। इस घटना का एवं जनता के उत्साह एवं देशभक्ति का रायपुर की समस्त पुलिस के सिपाहियों पर बहुत अधिक असर पड़ा था। इनमें से १६ सिपाहियों ने त्याग-पत्र दे दिये। इस घटना से स्पष्ट था कि पुलिस व अफसरों की भी आन्तरिक सहानुभूति जनता के साथ थी।

उक्त गिरफ्तारी तथा पुलिस कार्रवाई के विषय में समाचार-पत्रों में खूब चर्चा हुई। इस सम्बन्ध में असन्तुष्ट लोकमत को व्यक्त करने के लिये भारत लोक सेवा समिति (सर्वेन्ट आफ इण्डिया सोसायटी) के सदस्य श्री अप्पाजी नटेश द्रविड़ ने मध्यप्रान्त व बरार की धारासभा में एक स्थगित प्रस्ताव रख कर मांग की कि घटना की जांच करने के लिये सरकार एक निष्पक्ष जांच समिति नियुक्त करे। सर्वश्री काशीप्रसाद पाण्डे, सेठ शिवलाल, श्री रामराव देशमुख, श्री पचौरी व श्री जायसवाल, आदि सदस्यों ने इस मांग का समर्थन किया और जोरदार भाषण किये। इस पर तत्कालीन गृहमन्त्री सर मोरोपन्त जोशी ने बहस का उत्तर देते हुए स्वीकार किया—"निस्सन्देह शुक्ल जी के समान प्रभावशाली नागरिक के साथ पुलिस ने खेदजनक व्यवहार किया। यह वस्तुत: एक दु:खद घटना है, तिस पर भी घटना में सरकारी कर्मचारियों ने कोई विशेष भूल नहीं की। उन्हें परिस्थिति से बाध्य होकर ही ऐसा करना पड़ा। घटना को छ: मास हो चुके हैं; अब उसकी जांच कराने का कोई लाभ नहीं होगा"। सरकार के मुख्य सचिव श्री नेल्सन तथा प्रमुख परामर्शदाता (एडवायजर) सर टण्डन ने भी इसी प्रकार के उत्तर दिये थे।

प्रान्त की राजनीति में—सन् १९२२ के दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में पटना में देशबन्धु चितरंजनदास की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के अधिवेशन में कौंसिल में प्रवेश के प्रश्न पर बड़ा तीव्र वाद-विवाद हुआ, परन्तु इसका कोई निर्णय नहीं हुआ। अधिवेशन समाप्त होते ही, दिनांक ३१ दिसम्बर सन् १९२२ ई. को विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के अन्तर्गत ही "स्वराज्य पार्टी" नामक एक संस्था को जन्म दिया। देशबन्धु चितरंजन दास इस पार्टी के अध्यक्ष तथा पण्डित मोतीलाल नेहरू, विठ्ठलभाई पटेल, चौधरी तथा खलीकुज्जमा मन्त्री चुने गये। कौंसिल में प्रवेश कर उन्हें भंग करना, इस नवीन दल का उद्देश्य था। महाकोशल में इस नवीन दल का संगठन कार्य एवं नेतृत्व सेठ गोविन्द दास, बैरिस्टर राघवेन्द्रराव व पण्डित रविशंकर शुक्ल कर रहे थे। प्रारम्भ में पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी, आदि अपरिवर्तनवादी सदस्यों ने प्रान्तीय कांग्रेस में कौंसिल प्रवेश के कार्य का विरोध किया। श्री चतुर्वेदी ने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री राव एवं कांग्रेस संघटन के विषय में एक प्रस्ताव रखा, जो स्वीकृत होगया। कांग्रेस जनों का कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर विरोध अधिक दिनों तक नहीं चला। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से प्रान्तीय कांग्रेस समितियों से कौंसिलों में प्रवेश के विषय में सम्मति मांगी गयी थी। इस पर प्रान्तीय कांग्रेस ने विचार कर एक घोषणा-पत्र द्वारा कौंसिल प्रवेश का समर्थन किया। इस पत्रक पर हस्ताक्षर करने वाले प्रमुख व्यक्तियों में सर्व श्री राघवेन्द्रराव, पण्डित रविशंकर शुक्ल, बाबू गोविन्द दास, श्रीखण्डे, घाटे, छेदीलाल, वामनराव खानखोजे, मुहम्मद अकबर, अब्दुर क़ादिर, वासुदेवराव सूबेदार, आदि सम्मिलित थे। सन् १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर विचार करने के लिये किया गया। इस अधिवेशन में स्वराज्य पार्टी को कौंसिल प्रवेश की अनुमति दे दी गयी। इस प्रकार स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवारों को कांग्रेस का अधिकृत

समर्थन प्राप्त हुआ। मध्यप्रदेश में स्वराज्य पार्टी के संघटन को सुदृढ़ करने में जिन प्रमुख व्यक्तियों का योग रहा, उनके नाम ये हैं :—स्वर्गीय बैरिस्टर अभ्यंकर, डा. मुंजे, पण्डित रविशंकर शुक्ल, बैरिस्टर श्री ई. राघवेन्द्रराव, श्री ताम्बे, श्री माधवराव श्रीहरि अणे, सेठ गोविन्ददास, श्री दुर्गाशंकर मेहता और बैरिस्टर छेदीलाल आदि।

सन् १९२४ में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचन हुए। इस निर्वाचन में सम्पूर्ण मध्यप्रान्त और बरार में स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवारों को बड़ी सफलता मिली। कौंसिल के निर्वाचित ५४ सदस्यों में से ३९ सदस्य स्वराज्य पार्टी के तथा ३ स्वराज्य पार्टी द्वारा सहायता प्राप्त सदस्य थे। इस प्रकार स्वराज्य दल के ४२ सदस्य थे। धारा सभा के कुल ७० सदस्यों में सरकारी सदस्य १६ थे और स्वतन्त्र १२ थे। इन ४२ स्वराज्य दलीय सदस्यों में से पण्डित रविशंकर शुक्ल भी एक प्रमुख सदस्य थे। व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचनों में सम्पूर्ण देश की दृष्टि से मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल की विजय बहुत महत्त्वपूर्ण थी। यहां स्वराज्य दल को सभा में निर्णायक बहुमत प्राप्त हो गया था, फलतः प्रान्त के राज्यपाल (गवर्नर) सर फ्रैंक स्लाय ने धारा सभा में स्वराज्य दल के नेता डा. मुंजे को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये निमन्त्रित किया, किन्तु दल का लक्ष्य पद-ग्रहण न होने से उन्होंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस अवसर पर देशबन्धु चित्तरञ्जनदास और पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वयं नागपुर पधारे और उन्होंने व्यवस्थापिका सभा के स्वराज्य दल सदस्यों को आवश्यक परामर्श दिया। गवर्नर ने एक अल्प-दलीय मन्त्रिमण्डल बना कर कार्य प्रारम्भ किया। स्वराज्य दल की ओर से इस मन्त्रिमण्डल पर अविश्वास का प्रस्ताव रखा गया, जो कि २४ मतों के विरुद्ध ४४ मतों से स्वीकार कर लिया गया। विदेशी माल के बहिष्कार, सरकारी बजट अस्वीकृत करने एवं मन्त्रिमण्डल के वेतन को अस्वीकृत करने विषयक स्वराज्य दल के प्रस्ताव २२ मतों के विरुद्ध ४० मतों के भारी बहुमत से स्वीकार कर लिये गये। बजट के कटौती प्रस्ताव पर शुक्ल जी ने बहुत ही जोशीला भाषण दिया था। इन्हीं दिनों जब मध्यप्रदेश में स्वराज्य पक्ष की विजयों से समस्त राष्ट्र का ध्यान इस प्रान्त की ओर आकर्षित हो रहा था, स्वराज्य दल द्वारा मन्त्रिमण्डल के कार्य में सहयोग न देने एवं अड़ङ्गे की नीति प्रचलित रखने की घोषित नीति के बावजूद महाराष्ट्र में श्री न. चि. केलकर एवं श्री जयकर एवं मध्यप्रान्त बरार में श्री अणे और डा. मुंजे पदग्रहण के पक्षपाती हो गये थे। इस प्रकार स्वराज्य पार्टी में आन्तरिक फूट हो गयी। पण्डित रविशंकर शुक्ल और बैरिस्टर अभ्यंकर ने पदग्रहण के समर्थक सदस्यों को बहुत समझाया।

इसी बीच प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के नव-निर्वाचन के अनन्तर नवीन अध्यक्ष के निर्वाचन का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय स्वराज्य पक्ष का बहुमत चाहता था कि पण्डित रविशंकर शुक्ल, सभा के अध्यक्ष पद पर चुने जांय, परन्तु पद-ग्रहण के पक्षपाती लोग अपना व्यक्ति इस पद पर चाहते थे। हिन्दी सी. पी., नागपुर और विदर्भ-तीनों प्रान्तों के तीन नेता थे और सम्पूर्ण दल के संयुक्त नेता डा. मुंजे थे। अध्यक्ष पद के उम्मीदवार के चुनाव के लिये स्वराज्य दल ने एक दिन नियत किया था। अध्यक्ष पद के लिये दल के बहुसंख्यक हिन्दी भाषी सदस्य शुक्ल जी का नाम रखना चाहते थे, परन्तु उन्हें रायपुर में जिला कौंसिल के आवश्यक चुनाव में भाग लेना था। सी. पी. हिन्दी वालों की ओर से मांग की गयी कि दल की संयुक्त बैठक दूसरे दिन के लिये स्थगित की जाय, परन्तु बैठक उसी दिन हो गयी और श्री ताम्बे व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष पद के लिये उम्मीदवार चुन लिये गये। दूसरे दिन हिन्दी सी. पी. वाले आये, इन्होंने इस प्रश्न पर पुनर्विचार के लिये सुझाव भी दिया, परन्तु बहुमत होते हुए भी कोई बल नहीं दिया। पदग्रहण के पक्षपातियों को वह मान्य नहीं हुआ फल यह हुआ कि श्री ताम्बे अध्यक्ष चुन लिये गये, उनके चुनाव में सरकारी पक्ष का समर्थन मिला और वह बहुत प्रसन्न हुआ और हिन्दी सी. पी. वाले मौन रहे। कुछ समय बाद गृहमन्त्री सर मोरोपन्त जोशी ने गृहमन्त्री का पद छोड़ दिया। इस पद पर स्वराज्य दल के श्री ताम्बे कौंसिल की अध्यक्षता छोड़ कर आसीन होगये। श्री केलकर और जयकर ने ताम्बे के चुनाव पर उन्हें बधाई दी। स्वराज्य दल को इस घटना से बड़ा धक्का लगा। तत्कालीन स्थिति पर विचार करने के लिये तारीख ८ नवम्बर १९२५ ई. को नागपुर में अखिल भारतीय स्वराज्य दल की एक बैठक हुई जिसमें बैरिस्टर अभ्यंकर द्वारा प्रस्ताव उपस्थित करने पर श्री ताम्बे की भर्त्सना की गयी और प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।



शुक्लजी कवर्धा और बस्तर के राजकुमारों का अध्यापन करते हुए



शुक्लजी कान्यकुब्ज सभा के अधिवेशन के समय



शुक्लजी का सिवनी जेल से छूटने पर स्वागत



शुक्लजी मीरा बेन के साथ रायपुर में। चित्र में अन्य – डा. प्यारेलाल,
महन्त लक्ष्मीनारायणदास एवं सुन्दरलाल त्रिपाठी

ताम्बे काण्ड से मध्यप्रदेश की राजनीति बड़ी विक्षुब्ध रही। श्री ताम्बे के बाद श्री यादव माधव काले व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष बन गये। स्वराज्य दल मन्त्रियों का वेतन एवं सम्पूर्ण बजट की मांगें अस्वीकृत कर कौंसिल के बाहर चला गया। इन दिनों श्री ई. राघवेन्द्रराव और डा. मुंजे पदग्रहण के पक्ष में थे। इस परिस्थिति में तारीख ८ मार्च सन् १९२५ ई. को स्वराज्य दल के नेता पण्डित मोतीलाल नेहरू ने श्री राव को एक तार भेज कर आदेश दिया कि वे कानपुर कांग्रेस के आदेशानुसार कार्य करें। इस तार से स्वराज्य दल की बैठक में खलबली मच गयी। इस सभा में भाषण देते हुए पण्डित रविशंकर शुक्ल ने परामर्श दिया था—"हमें प्रत्येक हालत में श्री नेहरू के आदेश का पालन करना ही होगा।" स्वराज्य दल के सदस्यों ने बहुमत से अपनी पूर्व नीति रखी और पद-ग्रहण की नीति का विरोध किया।

इन्हीं दिनों राष्ट्र की राजनीतिक परिस्थिति में बड़ा परिवर्तन आ गया था। महात्मा गान्धी जेल से छूटने पर अपने साथियों के साथ साबरमती आश्रम में विधायक कार्यक्रम पूर्ण करने में संलग्न हो गये थे। मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक नीति भी पनपने लगी थी, उसके मुकाबले में पण्डित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द "हिन्दू संगठन" का कार्य करने लगे थे। ताम्बे प्रकरण से सारा महाराष्ट्र कांग्रेस की कौंसिल में विरोध की नीति से असन्तुष्ट हो गया था। नागपुर की बैठक में "एक प्रति सहकार दल" (रिस्पान्सिव कोआपरेशन पार्टी) की स्थापना हो चुकी थी। सन् १९२५ ई. के अप्रैल मास में कांग्रेस दल और प्रति सहकार दल में साबरमती में एक समझौता भी हुआ परन्तु तुरन्त भंग हो गया, फलत: दोनों दलों ने पृथक् चुनाव करने का निर्णय किया। तारीख १९ मार्च सन १९२५ ई. को गवर्नर द्वारा प्रान्तीय धारा सभा भंग किये जाने पर नवीन निर्वाचन हुआ। इस चुनाव में कांग्रेस के विरोध में मराठी जिलों में डा. मुंजे और श्री अणे के नेतृत्व में प्रति सहकार दल (रिस्पान्सिव कोआपरेशन पार्टी) ने चुनाव लड़ा, मराठी क्षेत्र में स्वराज्य दल के नेता श्री अभ्यंकर थे। महाकोशल में स्वराज्य दल के नेता सेठ गोविन्ददास थे। यहां पर एक स्वतन्त्र कांग्रेस दल का संघटन किया गया। इस दल के नेता श्री ई. राघवेन्द्र राव थे। कौंसिल के नवीन निर्वाचन में स्वतन्त्र कांग्रेस दल के प्रचार कार्य के लिये महामना मदनमोहन मालवीय जी रायपुर पधारे। ये पण्डित रविशंकर जी शुक्ल के घर पर ही ठहरे। मालवीय जी के आग्रह करने पर शुक्ल जी ने स्वतन्त्र कांग्रेस की ओर से खड़ा होना स्वीकार कर लिया।

कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा स्वराज्य दल को पूर्ण सहयोग देने के निश्चय से कांग्रेस संघटन की सारी शक्ति स्वराज्य दल के पक्ष में लग गयी। रायपुर में शुक्ल जी की परिस्थिति बड़ी विचित्र हो गयी। वे एक ओर रायपुर कांग्रेस के मन्त्री थे, कांग्रेस संस्था की विज्ञप्तियों में कांग्रेस को वोट देने के लिये कहा जा रहा था और स्वयं शुक्लजी स्वतंत्र कांग्रेस के उम्मीदवार थे। शुक्ल जी ने इस विचित्र परिस्थिति में भी अपने पूरे मानसिक सन्तुलन का परिचय दिया। उनका घर पहले की तरह स्वराज्य दल एवं कांग्रेस पक्ष के कार्यकर्त्ताओं व नेताओं का शिविर बना रहा। उनके निवासस्थान की पहली मंजिल पर स्वराज्य दल के सेठ गोविन्ददास जी, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र और उनके सहयोगी ठहरे हुए थे। नीचे स्वतन्त्र कांग्रेस के श्री ई. राघवेन्द्रराव तथा शुक्ल जी के दूसरे सहयोगी ठहरे हुए थे। दोनों पक्ष अपने-अपने कार्य में लगे रहते थे और सर्वत्र शोर मचा रहता था। इसे देख कर उस समय के एक प्रेक्षक ने कहा था—'कुछ हुल सी मची है, त्रिपुरारि के तबेले में'।

चुनाव हुआ, स्वराज्य पक्ष के सेठ शिवदास डागा विजयी हुए और शुक्ल जी असफल हो गये। शुक्लजी ने परिणाम निकलते ही प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष सेठ गोविन्ददास को एक बधाई का तार भेजा। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में शुक्ल जी अपनी व्यक्तिगत मजबूरियों के बावजूद राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रश्न पर सदा सुदृढ़ रहे। उनकी यह स्थिति उस समय के निष्पक्ष प्रेक्षक भी स्वीकार करते थे। 'कर्मवीर' सम्पादक पं. माखनलाल चतुर्वेदी श्री राव की राजनीति के विरुद्ध थे पर साथ ही वे शुक्लजी की व्यक्तिगत सिद्धान्तवादिता में भी विश्वास करते थे। इस निर्वाचन के अवसर पर चतुर्वेदीजी ने घोषित किया था 'कर्मवीर' और 'देशबन्धु' में शुक्ल जी के विरुद्ध कुछ

भी न छपेगा और न उनके विरुद्ध आन्दोलन के लिये रायपुर ही जाऊँगा।" चतुर्वेदी जी ने 'कर्मवीर' में लिखा था—"शुक्ल जी ने राजनैतिक विरोधों के कारण कभी किसी पर नाराजी प्रकट नहीं की। सजग राजनैतिक मतभेदों के बीच इस पीढ़ी के मित्रों का बन्धुत्व ही महाकोशल के निर्माण में और कांग्रेस की दृढ़ता के लिये श्रेष्ठ साबित हुआ।" शुक्ल जी ने इस समय से श्री राव से अपना राजनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और वे कांग्रेस कार्यों में पूरी तरह जुट गये। वैसे तो वे १६२२ से ही अखिल भारतीय कांग्रेस के निरन्तर सदस्य रहे हैं परन्तु सन् १६२६ से वे उसके एक प्रमुख स्तम्भ बन गये।

नागपुर विश्वविद्यालय में : १६२३ के लगभग नागपुर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी। इससे पूर्व प्रान्त के कालेज प्रयाग व कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे। नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर बिपिन कृष्ण बोस थे। सन् १६२६ में प्रान्त के शिक्षामन्त्री श्री ई. राघवेन्द्रराव ने शुक्ल जी को विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति का सदस्य नियत किया। शुक्ल जी सन् १६२६ से लेकर सन् १६२६ तक नागपुर विश्वविद्यालय के कोर्ट तथा कार्यकारिणी के सदस्य बने रहे। अपने कार्यकाल में शुक्ल जी ने एक प्रस्ताव द्वारा मांग की थी कि नागपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाय। इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिये प्रो. हंटर के संयोजकत्व में एक समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति ने श्री शुक्ल जी के प्रस्ताव के मूल सिद्धान्त को उचित बतलाया परन्तु प्रस्ताव को कार्यान्वित करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों को बाधक बतलाया।

जिला कौंसिल के माध्यम से राष्ट्रीय सेवा-कार्य

सन् १६२१ से ही पं. रविशंकर शुक्ल रायपुर जिला कौंसिल के सदस्य चुन लिये गये। प्रारम्भ से ही इन स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं में प्रवेश करने एवं उन पर अधिकार करने के विषय में श्री शुक्ल जी का विश्वास था कि स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से स्वराज्य की ओर बढ़ा जा सकता है (फ्रीडम थ्रू लोकल बॉडीज)। इसी के साथ इन संस्थाओं के द्वारा वे शिक्षा-प्रसार एवं राजनीतिक जागरण के लक्ष्य को पूर्ण करना चाहते थे। सन् १६२२ से सरकार ने जिलों की ग्रामीण शालाओं के प्रबन्ध का भार जिला कौंसिलों को सौंप दिया था। इस परिवर्तन से इन विद्यालयों को चलाने की आर्थिक जिम्मेदारी तो जिला कौंसिलों पर आगयी, परन्तु उनके निरीक्षण, प्रबन्ध एवं परीक्षा सम्बन्धी नियन्त्रण शिक्षा विभाग के स्कूल इन्स्पेक्टरों के हाथ में रहा। प्रारम्भ में शुक्ल जी ने इन सभी विद्यालयों के शिक्षकों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये एवं उनमें सार्वजनिक राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने के लिये एक शिक्षक सम्मेलन आयोजित किया, सम्मेलन का लक्ष्य शिक्षकों की उन्नति, ग्रामीण शिक्षा में सुधार एवं शिक्षा तथा शिक्षकों को अधिक उपयोगी तथा लोकप्रिय बनाना था।

जिला कौंसिल के अन्तर्गत विद्यालयों की गिनती ३१० थी, जिनमें २६७ प्रायमरी या प्राथमिक विद्यालय थे और १३ माध्यमिक (मिडल) शालायें थीं। इन विद्यालयों के अध्यापकों की गिनती ६०० के लगभग थी। विद्यालयों में प्रतिवर्ष ३०,००० के लगभग विद्यार्थी पढ़ा करते थे। शुक्ल जी ने जिले के शिक्षकों से सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिये प्रतिवर्ष 'अध्यापक सम्मेलन' करने की नवीन परम्परा का सूत्रपात किया। इन सम्मेलनों में शिक्षा प्रणाली की उन्नति, शारीरिक स्वास्थ्य सुधार, स्वच्छता और राष्ट्रीय जाग्रति के प्रश्नों पर चर्चा की जाती थी।

शुक्ल जी रायपुर जिला कौंसिल के अध्यक्ष पद पर जेल यात्रा के दिनों को छोड़ कर १६२७ से १६३७ तक लगातार कार्य करते रहे। इस पद पर कार्य करते हुए शुक्ल जी ने रायपुर जिले भर में पाठशालाओं का जाल फैलाया, उनमें प्रचलित पाठ्यक्रम के मान-दण्ड को ऊंचा करने, पाठशालाओं की आर्थिक स्थिति आदि सुधारने के कार्य किये। इन पाठशालाओं पर अपना सीधा एवं कारगर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये शुक्ल जी ने जिला कौंसिल के निरीक्षक (सुपरवाइजर) नियत किये। जिलाधीश ने प्रान्तीय सरकार की ओर से जिला कौंसिल के इस कार्य का निषेध किया कि विद्यालयों में शिक्षा, परीक्षा एवं प्रबन्ध आदि कार्यों का निरीक्षण प्रान्तीय शिक्षा विभाग एवं सरकार करेगी, इस

कार्य के लिये निरीक्षक नियुक्त करना जिला बोर्डों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर की बात है। इस पर जिला कौंसिल ने अपने निरीक्षकों का नाम व्यायाम शिक्षक रखा और शारीरिक स्वास्थ्य निरीक्षण एवं बालकों के स्वास्थ्य के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिये उन्होंने व्यायाम-शिक्षक नियत करने प्रारम्भ किये। प्रमुख व्यायाम शिक्षक के पद पर जिला कौंसिल ने डा. खूबचन्द बघेल को नियत किया। इस पर प्रान्तीय सरकार ने जिलाधीश के माध्यम से जिला कौंसिल की आर्थिक मदद की वृत्ति या ग्रान्ट का ½ देना बन्द कर दिया। तब शुक्ल जी के नेतृत्व में जिला कौंसिल ने टीका लगाने के लिये दिये जाने वाले धन का देना बन्द कर दिया। कौंसिल की ओर से लिखा गया कि हमारे पास पैसा नहीं है अतः हम टीका लगाने वालों को पृथक् करते हैं। सरकार ने इस पर कौंसिल भंग कर दी। चुनाव में पुरानी कौंसिल ही चुनी गयी।

१९२२ से १९३७ तक के कार्य-काल में शुक्ल जी के नेतृत्व में जिला कौंसिल ने जो उल्लेखनीय कार्य किये और जिन से उन्होंने जिले में राष्ट्रीय जागरण एवं स्वातन्त्र्य संग्राम के लिये वातावरण उत्पन्न किया, उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है:—

१ शुक्ल जी के नेतृत्व में जिला कौंसिल ने सबसे प्रथम कार्य अपनी कार्यवाही का समस्त ब्यौरा हिन्दी में रखना प्रारम्भ किया। कौंसिल के कार्यालय की ओर से कार्यवाही का विवरण हिन्दी में तैयार कर भेजा जाने लगा जिसे जिलाधीश वापस कर देते थे और मांग करते थे इसका अंग्रेजी अनुवाद करवा कर भेजा जाय इस पर शुक्ल जी ने कौंसिल की ओर से उत्तर लिखा कि आपके यहां अनुवादक हैं उनसे ही यह कार्य करा लिया जाय। जिलाधीश ने इसका उत्तर दिया था, हमारे पास अनुवादक अवश्य हैं, पर वे ठीक अनुवाद नहीं कर सकते। शुक्ल जी की ओर से उत्तर में कहा गया जब आपकी यह स्थिति है तब हम भी विवश हैं।

सरकार के निरन्तर विरोध के बावजूद जिला कौंसिल ने शुक्ल जी के पथ-प्रदर्शन में अपनी सम्पूर्ण कार्यवाही हिन्दी में करने की परिपाटी को स्थिर रखा।

२ शुक्ल जी के नेतृत्व में जिला कौंसिल ने यह नियम बना दिया था कि विद्यार्थियों में प्रतिदिन अध्ययन एवं विशिष्ट कार्यक्रमों के अवसर पर प्रारम्भ में हमेशा झण्डा वन्दन एवं 'वन्दे मातरम्' गायन अवश्य किया जाय। इस विषय में शुक्ल जी ने कौंसिल के अधीन समस्त विद्यालयों के नाम एक परिपत्र* भी प्रचारित किया। जिलाधीश की ओर से झंडावन्दन तथा 'वन्दे मातरम्' गान पर आपत्ति की गयी। इस पर शुक्ल जी की ओर से लिखा गया कि जब आपके गवर्नर श्री गावन 'वन्दे मातरम् गान' के अवसर पर खड़े होते हैं† तब आपको उस पर आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

---

* आपके पास 'वन्देमातरम्' और राष्ट्रीय झण्डे की वन्दना की एक-एक प्रति भेजी जाती है। इन्हें पुट्ठों पर चिपका कर हिफाजत के साथ रखिये कि आपके शाला के दैनिक कार्यों के आरम्भ में विद्यार्थी 'वन्दे मातरम्' और राष्ट्रीय झण्डे के गीत गाया करें और राष्ट्रीय झण्डे को प्रणाम किया करें। तैयार होने पर झण्डे प्रत्येक शाला में भिजवा दिये जायेंगे और उनका मूल्य शाला से वसूल किया जायेगा। यह भी स्मरण रहे कि आपकी शाला में किसी समय कोई प्रतिष्ठित सज्जन, निरीक्षक, पदाधिकारी अथवा सरकारी अफसर आवे तो उनका अभिवादन अथवा स्वागत 'वन्देमातरम्' गायन तथा राष्ट्रीय झण्डे के प्रणाम द्वारा ही किया जावे। प्रत्येक सुपरवायजर, हेडमास्टर तथा स्काउट मास्टर को इस सूचना-पत्र के ठीक पालन कराने का ध्यान रखना चाहिये— रविशंकर शुक्ल, अध्यक्ष डिस्ट्रिक्ट कौंसिल (समस्त विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों के नाम ४४९९ संख्या का आदेश)

†एक बार तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर श्री गावन की उपस्थिति में 'वन्दे मातरम्' गान गाया था। अपने राष्ट्रीय गीत 'गाड सेव दि किंग' के समय खड़े होने की परिपाटी के अनुसार श्री गावन इस अवसर पर तुरन्त खड़े हो गये थे।

३ जिला कौंसिल के अध्यक्ष के रूप में श्री शुक्ल जी ने समस्त अधीनस्थ विद्यालयों के शिक्षकों को राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने का आदेश दिया था। शुक्ल जी का यह कार्य जिलाधीश एवं प्रान्तीय सरकार को बहुत आपत्तिजनक लगा था। उन्होंने इस विषय में कौंसिल से स्पष्टीकरण की मांग की थी। शुक्ल जी ने अपने पत्र-व्यवहार में * बड़ी निर्भीकता के साथ राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष में भाग लेना प्रत्येक राष्ट्रीय प्रजाजन का परम कर्त्तव्य घोषित किया था।

४. कांग्रेस द्वारा लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति का राष्ट्रीय लक्ष्य घोषित किये जाने पर एवं २६ जनवरी १९३० के दिन स्वतंत्रता दिवस मनाने एवं उस दिन स्वातंत्र्य प्रतिज्ञा करने का निश्चय करने पर रायपुर जिला कौन्सिल ने शुक्ल जी के नेतृत्व में समस्त विद्यालयों को यह राष्ट्रीय दिवस पूर्ण समारोह के साथ मनाने का अनुरोध किया था। इस अवसर पर शुक्ल जी ने प्रधानाध्यापिकों को राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा फहराने एवं कांग्रेस की सूचना के अनुसार कार्यक्रम सम्पन्न करने के लिये भी सुझाव दिया था।† शुक्ल जी द्वारा हेडमास्टरों को स्वतंत्रता दिवस मनाने के विषय परिपत्र प्रसारित करने पर रायपुर के जिलाधीश ने आपत्ति एवं विरोध प्रकट किया था परन्तु शुक्ल जी ने बड़ी स्पष्टता

---

* रायपुर के जिलाधीश डिप्टी कमिश्नर श्री व्हाई. एन. सुकठणकर इस्क्वायर, आई. सी. एस. के नाम डिस्ट्रिक्ट कौंसिल रायपुर के कार्यालय से शुक्ल जी ने जो कई पत्र लिखे थे उनमें से एक का मुख्य भाग दिया जाता है—
(२३ फरवरी १९३० का पत्र)

I am in receipt of your D. O. letter dated the 14th inst. regarding the greeting of revenue officers by school boys with the National Flag and national songs. I feel sure you must be realising that National Flag is an embodiment of the most patriotic sentiments of a nation, whether dependent or independent or whether within the British Empire or outside it. A flag is said to be necessity for all nations. It is a dire necessity for India, where we have to cultivate in our children the same sentiments towards our National Flag which the infurling of the Union Jack evokes in the English breasts. When even the honourable ministers of the Crown and along with highly placed European revenue officers have received such greetings and have in true English spirit stood up in all reverence when the national song was sung, it is too late in the day for you and any one else to object to such greetings by National Flag and by national song. As administrative head of the District Council I have issued instructions to greet all visitors, official or non-official with National Flag and national song. Revenue officers are not the only persons to be greeted. There is no resolution of the District Council but if you require one I shall place the matter before the District Council and send you a copy of the resolution.

† ७ जनवरी १९३० के दिन रायपुर डिस्ट्रिक्ट कौन्सिल के अध्यक्ष के नाते श्री रविशंकर शुक्ल ने समस्त हेडमास्टरों को यह परि-पत्र भेजा था :—

आपके पास मन्त्री, जिला कांग्रेस कमेटी रायपुर की ओर से भेजा हुआ सूचना-पत्र पहुंचा होगा, जिसमें कांग्रेस का सन्देश बतलाया गया है। २६ तारीख इतवार को पूर्ण स्वराज्य-महोत्सव यानी पूर्ण स्वतन्त्रता दिवस मनाने का निवेदन किया गया है। आशा है कि आप उस पत्र पर पूरा-पूरा ध्यान देंगे और अपने तथा हो सके तो अपने पड़ोस के गांव में नीचे लिखे कार्यक्रमों का प्रबन्ध करें।

१. २६ जनवरी रविवार को प्रातःकाल ठीक ८ बजे राष्ट्रीय झण्डा फहराया जाय और तिरंगे झण्डे का गीत गाकर अभिवादन किया जाय।

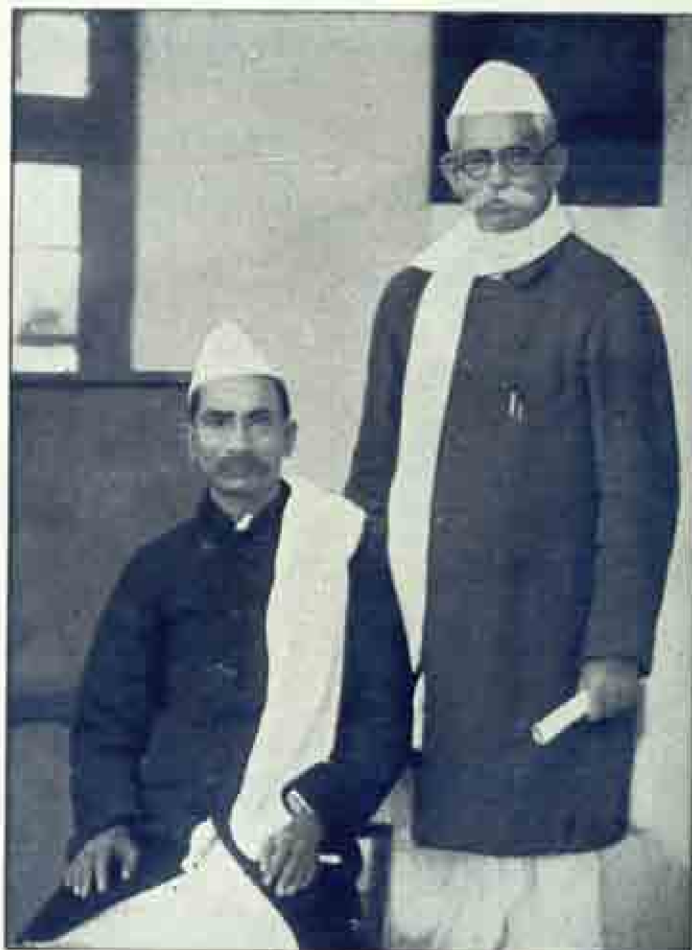


पं. रविशंकरजी शुक्ल सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ
रायपुर के अपने भवन में
(२५ नवम्बर १९३६)



पं. रविशंकरजी शुक्ल पं. जवाहरलालजी नेहरू के साथ

(१५ नवम्बर १९३६)



पं. रविशंकरजी शुक्ल देशरत्न बाबू राजेंद्र प्रसाद के साथ
(११ दिसम्बर १९३५)



महात्मा गांधी पं. रविशंकरजी शुक्ल की विद्या मंदिर
योजना के प्रथम विद्यामंदिर का शिलान्यास करते हुए

के साथ राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल का उत्तर देते हुए कहा था राष्ट्रीय झण्डा फहराना एवं राष्ट्र की स्वतंत्रता के विषय में सोचना कोई पाप की बात नहीं है।*

५. जिला कौंसिल के अन्तर्गत समस्त विद्यालयों के भवनों के अन्दर नेताओं के चित्र लगाये गये थे। शिक्षकों को आदेश था कि ये चित्र शालाओं में सुरक्षित रखे जाँय। सरकारी अधिकारियों द्वारा झण्डा वन्दन बन्द करने एवं नेताओं के चित्र उतारने के प्रयत्न किये गये, परन्तु कौंसिल तथा शिक्षकों ने दोनों की मर्यादा को यथासम्भव सुरक्षित रखा।

६. शुक्ल जी ने डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के अन्तर्गत एक प्रेस की व्यवस्था की थी। इस प्रेस में डिस्ट्रिक्ट कौंसिल की सारी छपाई का कार्य तो किया ही जाता था, साथ ही यहां बाहरी जॉब की छपाई का कार्य भी किया जाता था। इस बाहरी जाब के कार्य के सिलसिले में डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के प्रेस में कांग्रेस की समस्त सूचनायें एवं परिपत्र छापे जाते थे और इन्हें वितरित किया जाता था। सरकार की ओर से डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के प्रेस द्वारा फुटकर छपाई का कार्य करने पर आपत्ति की गयी थी और प्रेस चलाने की पूर्व अनुमति न लेने की शिकायत की गयी थी। परन्तु शुक्ल जी ने दृढ़तापूर्वक अपनी नीति प्रचलित रखी।

७. डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के अन्तर्गत ग्राम्य विद्यालयों में सर्वत्र डाकखाने स्थापित थे। इन में शिक्षक लोग ही पोस्ट मास्टर का कार्य करते थे। जिला कौंसिल के प्रेस में कांग्रेस एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की सूचनायें छापी जाती थीं और वे जिला कौंसिल के ३२५ विद्यालयों के हेडमास्टरों द्वारा गांव-गांव में वितरित कर दी जाती थीं। इस प्रकार से ये विद्यालय जिले में राष्ट्रीय जागरण एवं संघर्ष के केन्द्र बन गये थे।

८. डिस्ट्रिक्ट कौंसिल की ओर से प्रतिवर्ष ग्राम शिक्षा सम्मेलन किये जाते थे। इन सम्मेलनों में चुने हुए विद्वानों व शिक्षाशास्त्रियों के व्याख्यान होते थे। कौंसिल ने अपने समस्त व्यवहार के लिये हिन्दी को अपनाया था। कौंसिल की ओर से 'उत्थान' नामक एक मासिक पत्र भी निकाला था। यह पत्र कई वर्ष तक निरन्तर प्रकाशित होता रहा। पत्र का सम्पादन पं. सुन्दरलाल त्रिपाठी करते थे। इस पत्र में शुक्ल जी ने 'आयरलैण्ड का इतिहास' भी क्रमिक रूप में प्रकाशित करवाया था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में विद्यार्थी और शिक्षक लोग आयरलैण्ड के इतिहास में शहीद हुए वीर

---

२. राष्ट्रीय झण्डा फहराने के बाद एक जलूस धूमधाम से निकाला जाय जिसमें मन्त्री जिला कांग्रेस कमेटी के बताये हुए कार्यक्रम का पालन कराया जाय।

३. इस सूचना के अनुसार आप जो कुछ काम करें उसकी रिपोर्ट उसी दिन फार्मों पर लिख भेजिये। एक ब्यौरा मन्त्री जिला कांग्रेस कमेटी के नाम पर और एक मेरे पास भेज दीजिये।

४. अखिल भारतीय राष्ट्रीय सभा कांग्रेस कमेटी से कोई कार्यक्रम निकले तो उसका पालन किया जाय। आशा है कि सूचनाओं का पालन सावधानी के साथ किया जावेगा।

* २३ फरवरी १९३० के दिन शुक्ल जी ने रायपुर के जिलाधीश को यह पत्र भेजा था :—

I am in receipt of your D. O. letter dated the 14th inst. regarding the teachers and boys of the District Council Schools taking part in the Independence Day celebrations on the 26th January last. Yes, they took part under my directions. A copy of my circular letter is herewith sent as desired. I issued that letter on my own authority but if you desire a resolution of the District Council I shall place the matter before the council and send you a copy of its resolution. I may, however say, it is futile for anyone to present the irresistible march of events under the present political circumstances and it is certainly no sin for any one to think of Independence of his country.

देशभक्तों की अमरगाथा से सीख लेकर मातृभूमि के स्वातन्त्र्य संग्राम में प्रवृत्त हों, शुक्ल जी द्वारा उक्त जीवनी लिखने का यह लक्ष्य था। "उत्थान" एवं राष्ट्रीय पत्रकों ने रायपुर जिले में बहुत अधिक जागृति उत्पन्न कर दी।

६. जिला कौंसिल की ओर से प्रतिवर्ष स्कूल टूर्नामेंण्ट एक वार्षिक समारोह के रूप में मनाया जाता था, इस अवसर पर जिले के शिक्षक एवं चुने हुए विद्यार्थी एकत्र हो जाते थे। एक बार रायपुर के टाऊनहाल के मैदान में इस वार्षिक टूर्नामेंट का आयोजन किया गया था। टाऊन हाल के अहाते में पंचम जार्ज की एक मूर्ति थी। टूर्नामेंट का मण्डप इस प्रकार बनाया गया था कि यह मूर्ति बिल्कुल पीछे पड़ गयी। इस पर रायपुर के जिलाधीश बहुत ही अधिक जलभुन गये। इन्हीं की अदालत में शुक्ल जी को एक मुकदमे के सिलसिले में जाना पड़ा। शुक्ल जी के पहुंचते ही उस समय अदालत में पेश मामले को एक तरफ रखकर जिलाधीश ने पूछा—"आपने किस की अनुमति से सरकारी भूमि पर मण्डप बनाया?" शुक्ल जी ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—"इस भूमि पर आपका नहीं, वारिग मास्तरीवालों (लोक कर्म विभाग) का अधिकार है। आप इस बारे में पूछने वाले कोई नहीं होते।" डिप्टी कमिश्नर ने वारिग मास्तरी वालों से उनके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिये कहा, परन्तु उन्होंने कहा कि वे कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने पहले कोई आपत्ति नहीं उठाई। इस पर जिलाधीश ने पुलिस कप्तान से कार्यवाही करने के लिये कहा, पर उसने भी किसी कार्यवाही करने को उचित नहीं कहा। जिलाधीश इस पर चुप रह गया।

शिक्षा-प्रसार, राष्ट्रीय जागरण, आदि विविध क्षेत्रों में श्री शुक्ल जी के नेतृत्व में रायपुर जिला कौंसिल ने बहुत ही उल्लेखनीय कार्य किया था। सन् १९२७ के रायपुर जिला अध्यापक सम्मेलन की वार्षिक रिपोर्ट के प्राक्कथन में (प्रान्त के भूतपूर्व गृह-सदस्य तथा भू. पू. राज्यपाल) डा. ई. राघवेन्द्र राव ने लिखा था—"..... उच्च राष्ट्रीयता की सृष्टि करने के लिये सर्वसाधारण को शिक्षित करने के लिये किसी सुसंघटित पद्धति का घनिष्ट सम्बन्ध जनता के अर्वाचीन आदर्शों के साथ रहना चाहिये—इस विश्वास को कार्य रूप में परिणत करने के लिये अपने अध्यक्ष शुक्ल जी के देश-भक्तिपूर्ण पथ-प्रदर्शन में रायपुर की जिला कौंसिल ने अनुकरणीय उत्साह दिखलाया है। ...... रायपुर की जिला कौंसिल ने जो आदर्श उपस्थित किया है, उसका अनुकरण दूसरे जिलों में किया जायेगा, इसका मुझे विश्वास है।"

रायपुर जिला कौंसिल की राष्ट्रीयतापूर्ण नीति से विक्षुब्ध होकर तारीख १२ जून सन् १९३० ई. को तत्कालीन स्वायत्त शासन मन्त्री श्री रामराव देशमुख ने रायपुर जिला कौंसिल को भंग कर दिया और इसका प्रबन्ध रायपुर जिलाधीश के अन्तर्गत एक विशेष कर्मचारी श्री मुनरुद्दीन को सौंपा गया। इस विशेष अधिकारी ने शासन सूत्र सम्भालते ही सरकारी तथा गैर-सरकारी निरीक्षकों के स्वागत के समय एवं दैनिक कार्य के प्रारम्भ में "वन्दे मातरम्" गान और राष्ट्रीय झण्डे की वन्दना के नियम को तुरन्त बन्द करवा दिया। राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेने के कारण बहुत से शिक्षक गिरफ्तार भी किये गये।

इस सम्पूर्ण दमन के बावजूद रायपुर जिला कौंसिल की राष्ट्रीय वृत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। अपने कार्य के कारण शुक्ल जी इतने अधिक लोकप्रिय हो गये थे कि वे जेल में रहते हुए जिला कौंसिल के पुनः सभापति चुन लिये गये। जेल से छूटते ही शुक्ल जी ने पहला कार्य यही किया था कि जितने शिक्षकों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने अथवा उनके राष्ट्रीय विचारों के कारण सजा दी गयी थी, वे सब अपने स्थान पर रख लिये गये और उनको आवश्यक वेतन व भत्ता देते हुए उनकी अनुपस्थिति बिना वेतन की छुट्टी मान ली गयी।

सन् १९३० के सविनय अवज्ञा भंग आन्दोलन में :—लाहौर कांग्रेस में भारत का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता प्राप्ति घोषित करने पर तारीख २६ जनवरी सन् १९३० ई. के दिन सम्पूर्ण भारत राष्ट्र ने पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ग्रहण की थी। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक सारे देश में राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। सत्याग्रह आन्दोलन का श्रीगणेश महात्मा गान्धी ने डाण्डी यात्रा द्वारा किया था। इस यात्रा के अवसर पर श्री रविशंकर शुक्ल, पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र तथा सेठ गोविन्ददास जी के साथ महात्मा गान्धी के पास उनका आशीर्वाद तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने के लिये गये। यद्यपि पिछले दस-पन्द्रह वर्ष से शुक्ल जी विभिन्न राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में संलग्न थे, परन्तु इस डाण्डी यात्रा के अवसर पर उनके खान-पान एवं व्यवहार में एकदम अन्तर आ गया। जीवन में प्रथम बार उन्होंने चौके के बाहर सबकी पंक्ति में बैठ कर

बाना प्रारम्भ किया। सन् १९३० ई. के वर्ष में प्रारम्भ से शुक्ल जी ने महाकोशल कांग्रेस कमेटी के प्रधान सेठ गोविन्ददास जी और पण्डित द्वारकाप्रसाद जी मिश्र के साथ मध्यप्रदेश के कोने-कोने में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये प्रारम्भ हुए सत्याग्रह आन्दोलन का महत्त्व प्रतिपादित किया। इससे पूर्व कांग्रेस संगठन में मध्यप्रदेश का हिन्दीभाषी भाग हिन्दी या हिन्दुस्तानी सी. पी. कहलाता था। श्री मिश्र जी के सुझाव पर रायपुर में हुई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने प्रान्त का नाम महाकोशल रखने का निर्णय किया। तारीख १३ अप्रैल सन् १९३० ई. के दिन रायपुर में महाकोशल राजनीतिक परिषद् का अधिवेशन रखा गया था, परिषद् की अध्यक्षता करने के लिये प्रयाग से पण्डित जवाहरलाल नेहरू आ रहे थे। नेहरू जी को प्रयाग से चलते ही छिवकी रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया। इस घटना से प्रान्त भर में एक नवीन उत्साह का संचार हो गया। राजनीतिक परिषद् के अधिवेशन के अवसर पर शुक्ल जी, पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र और सेठ गोविन्ददास आदि ने बहुत ही ओजस्वी भाषण दिये जिनका रायपुर की जनता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। प्रान्त भर में सविनय अवज्ञा भंग आन्दोलन करने के लिये रायपुर में राजनीतिक परिषद् एवं प्रान्तीय कांग्रेस ने एक बड़ी व्यवस्थित योजना बनायी थी। इस योजना के अन्तर्गत प्रान्त भर में सत्याग्रह आन्दोलन का संचालन करने के लिये प्रान्तीय कांग्रेस भंग कर एक युद्ध मण्डल की स्थापना की गयी। इस युद्ध मण्डल ने प्रान्त में सत्याग्रह का श्रीगणेश करने के लिये जबलपुर के निकट रानी दुर्गावती की समाधि का स्थान नियत किया। वहाँ पर सत्याग्रहियों ने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली। तारीख ६ से १३ अप्रैल तक प्रान्त भर में सत्याग्रह का एक अपूर्व वातावरण व्याप्त हो गया। महात्मा गांधी की डाण्डी यात्रा के समाचारों को पढ़ कर जनता में नवीन उत्साह का संचार हो गया। तारीख ८ अप्रैल को रायपुर में श्री शुक्ल जी, आदि नेताओं ने सार्वजनिक रूप से अवैध नमक बनाया। इस अवसर पर नमक बनाने के लिये विशेष रूप से समुद्री पानी लाया गया था। इस बार सत्याग्रह आन्दोलन के अवसर पर स्थान-स्थान पर नमक बनाया गया, जब्त साहित्य पढ़ा गया और सरकारी जंगल काट कर जंगल क़ानून तोड़ा गया।

शुक्ल जी ने अपने साथियों के साथ महाकोशल विशेषतः छत्तीसगढ़ में आन्दोलन के व्यापक विस्तार के लिये नव-युवकों को तैयार किया। जिला कौंसिल के अन्तर्गत विद्यालयों के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को संघटित किया। राष्ट्रीय विद्यालय के विद्यार्थी लेजम पर 'रणभेरी बज चुकी वीरवर, पहरो केसरिया बाना'*, इतने अधिक स्वर एवं

*** रणभेरी बज चुकी वीरवर पहरो केसरिया बाना**

उठो! उठो! हे भारत वीरो, ऋषियों की प्यारी सन्तान,
स्वतंत्रता के महा समर में, हो जावो सहर्ष बलिदान,
धर्म-युद्ध में मरना भी है, महा अमर पद को पाना,
रणभेरी बज चुकी वीरवर, पहरो केसरिया बाना ।।१।।

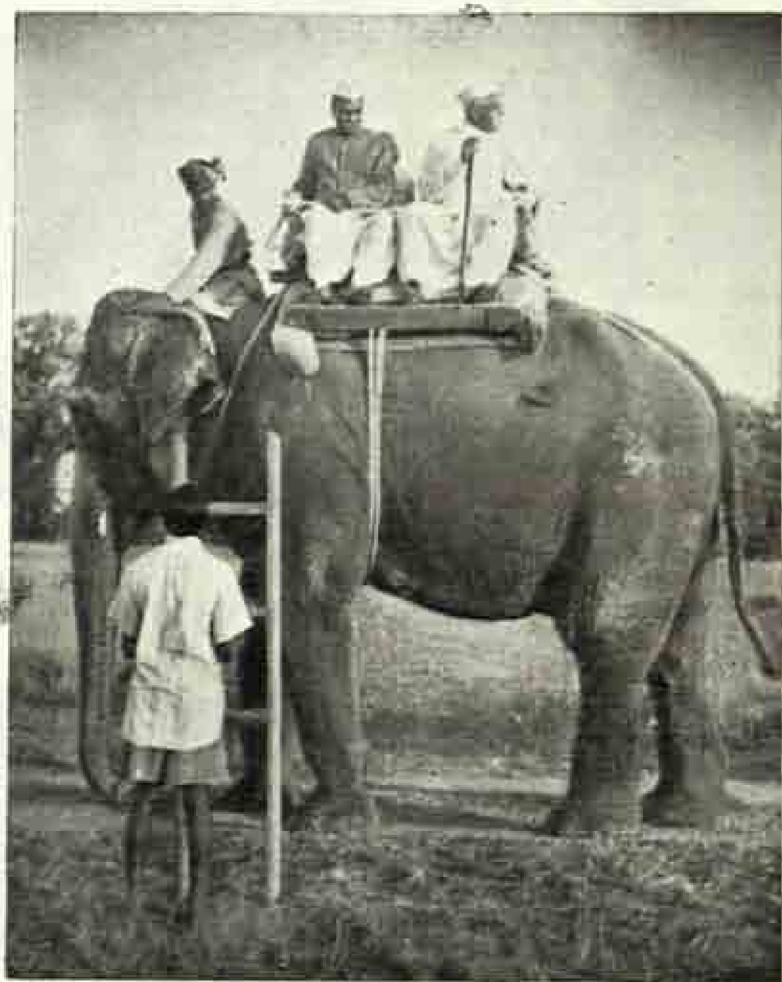
माता के सच्चे पूतों की, आज कसौटी होना है,
देखें कौन निकलता पीतल, कौन निकलता सोना है
उतरेगा जो आज समर में, वही वीर है मरदाना,
रणभेरी बज चुकी वीरवर, पहरो केसरिया बाना ।।२।।

यह मदान्ध शासन उल्टा दो, अपने प्रबल प्रहारों से,
अन्यायी अरि को दहला दो, निज केहरि-हुङ्कारों से,
स्वतंत्रता की विजय पताका, ऊँची फहराते जाना
रणभेरी बज चुकी वीरवर, पहरो केसरिया बाना ।।३।।

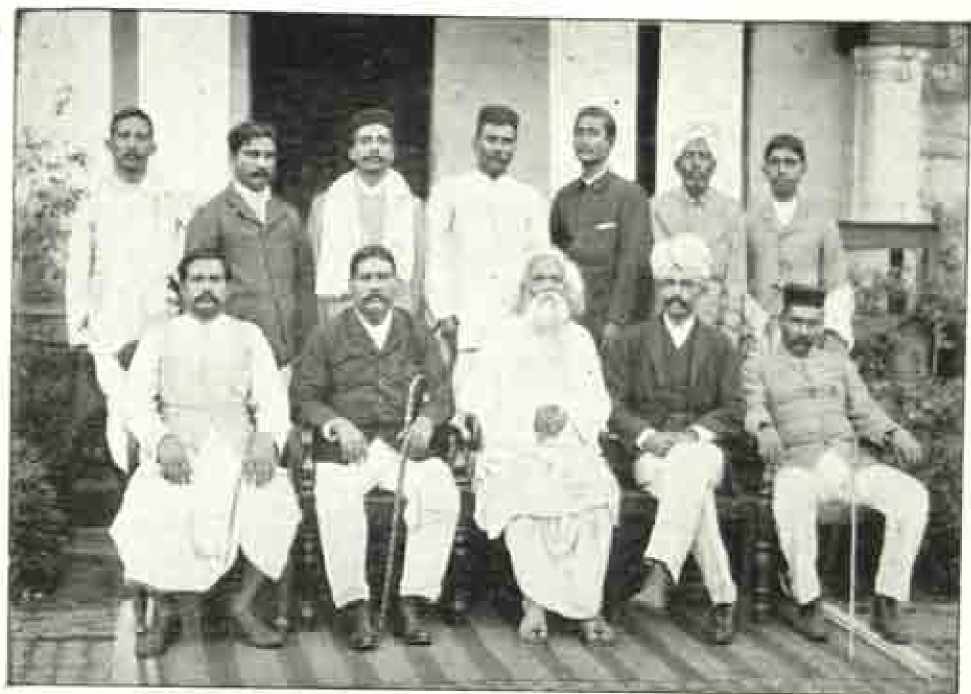
साठ बरस के बूढ़े गांधी, देख बढ़े जाते हैं आज,
तुमको किन्तु युवक कहलाते उर में तनिक न आती लाज,
इस विडंबनामय जीवन से, तो अच्छा है मर जाना
रणभेरी बज चुकी वीरवर पहरो केसरिया बाना ।।४।।

उत्साह से गाते थे कि सुनने वाले मन्त्रमुग्ध एवं उत्साहित हो जाते थे। चुने हुए युवक विद्यार्थियों की एक टोली राष्ट्रीय गान के लिये तैयार की गयी थी। चुने हुए दस विद्यार्थी केसरिया बाना पहने रायपुर से प्रचार करते हुए जबलपुर तक गये थे। गाड़ी रुकते ही ये प्रत्येक स्टेशन पर जोशीले राष्ट्रीय गान गाते थे, स्टेशनों पर ये जब्त साहित्य की बिक्री करते थे। इन लड़कों ने रायपुर से जबलपुर तक धूम मचा दी थी। इन दिनों मध्यप्रदेश के राष्ट्रीय नेता अपने-अपने नगरों से बाहर राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व व संचालन कर रहे थे। तारीख २८ और २६ अप्रैल के दिन प्रान्त के सभी प्रमुख नेता प्रान्तीय सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये। पण्डित रविशंकर शुक्ल बालाघाट से लौटते हुए गोन्दिया स्टेशन पर तारीख २८ अप्रैल को गिरफ्तार कर लिये गये। अगले दिन तारीख २६ अप्रैल को जबलपुर में पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी, सेठ गोविन्ददास, पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र और श्री विष्णुदयाल भार्गव प्रान्तीय सरकार के आदेश से गिरफ्तार कर लिये गये। जबलपुर की जेल में अंग्रेज मजिस्ट्रेट लिली की अदालत में इन पाँचों नेताओं पर मुकदमा चलाया गया। (ये लिली मजिस्ट्रेट ही प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनने पर शुक्ल जी के सचिव (सेक्रेटरी) बने थे)। जेलर ने शुक्ल जी से पूछा कि आपका पेशा क्या है—शुक्ल जी ने उत्तर दिया "क़ानून बनाने वाले का परन्तु इस समय क़ानून भंग करने वाले का (ला मेकर, बट नाउ ए ला ब्रेकर)। मजिस्ट्रेट ने श्री भार्गव को एक वर्ष की क़ैद की सजा, परन्तु शेष नेताओं को दो-दो वर्ष की सजा दे-दी।

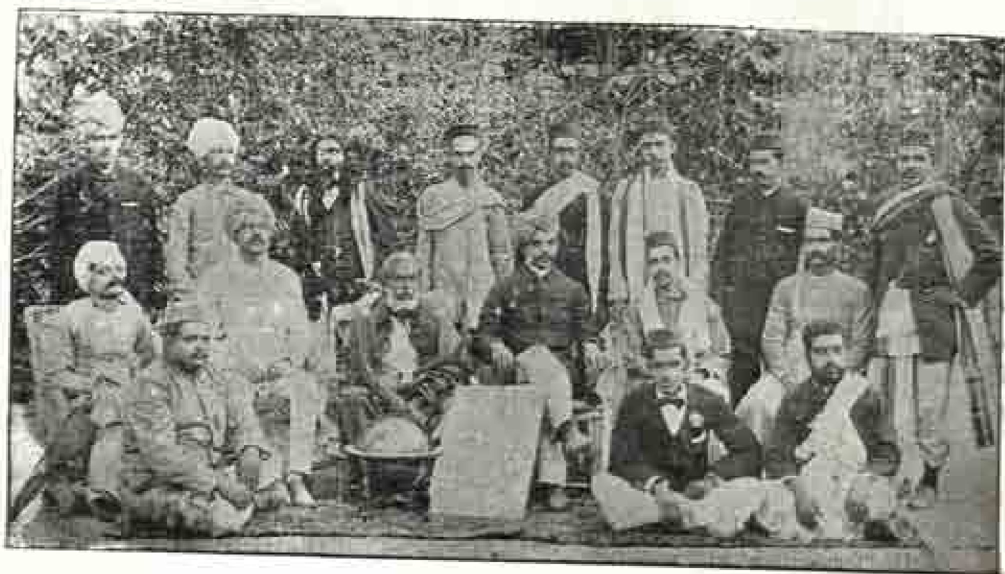
अँगूठे के निशानों की घटना—शुक्ल जी आरम्भ में जबलपुर जेल में रखे गये, परन्तु जल्दी ही उन्हें सिवनी जेल ले जाया गया। इस जेल में शुक्ल जी के अतिरिक्त लोकनायक माधव श्रीहरि अणे तथा विदर्भ के नेता श्री वामनराव जोशी भी रखे गये थे। कई महीने तक शुक्ल जी इस जेल में रहे। इस अवसर पर उन्हें जेल जीवन की ज्यादतियों के विरुद्ध पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा। सिवनी जेल में ही अँगूठे तथा अँगुलियों के निशान के छाप लेने की भी स्मरणीय घटना घटित हुई, जिसमें शुक्ल जी ने अपने अदम्य साहस, दृढ़ता तथा स्वाभिमान का परिचय दिया। उन दिनों जेल में यह परिपाटी या नियम सा बन गया था कि प्रत्येक बन्दी की पहचान के लिये उसकी अँगुलियों के निशान ले लिये जाय। जेल अधिकारियों ने एक दिन श्री वामनराव जोशी को बुलाया और उनके अँगूठे तथा अँगुलियों के निशान ले लिये। जब ये अपने साथियों के पास लौटे तो उनके काले हाथ देख कर शुक्ल जी आदि ने पूछा, कि क्या बात है? श्री जोशी ने बतलाया कि जेल वालों ने उनके निशान लिये हैं। सन् १६०७ के बन्दी जीवन में भी उन्होंने ये निशान दिये थे। तीसरे दिन शुक्ल जी को जेल अधिकारियों ने दफ्तर में बुलवाया, और उन्हें अँगूठे व अँगुलियों के निशान देने के लिये कहा, शुक्ल जी ने ये निशान देने से इन्कार किया और जेल मेनुअल निकाल कर दिखला दिया कि सुपरिन्टेन्डेन्ट को इसका कोई अधिकार नहीं है। सरकार की ओर से जेल-नियम भंग करने के अभियोग में शुक्ल जी पर मुक़दमा चलाया जाने वाला था। इन्होंने अपने क़ानूनी सलाहकारों से परामर्श मांगा और १०० से अधिक क़ानून की पुस्तकों की सूची दे कर उन्हें मंगाने की अनुमति मांगी। जब सरकार ने देखा कि इनसे पार पाना कठिन है, तो उसने मामला चलाने का विचार छोड़ दिया। शुक्ल जी ने इस विषय में पुलिस अधिकारियों से कोई बात करने से भी इन्कार किया। सिवनी पुलिस अधिकारी इस विषय में उन पर कार्रवाई करना चाहते थे, परन्तु उन्हें जबलपुर के पुलिस अधिकारियों ने लिखा कि उन्हें शुक्ल जी पर मुक़दमा चलाना अभीष्ट नहीं है, वे उनके निशान चाहते हैं। इस विषय में आवश्यक हो तो जिलाधीश की सहायता भी ली जाय। अन्त में इस कार्य के लिये एक मजिस्ट्रेट बुलाया गया। शुक्ल जी ने बिना किसी अभियोग के मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित होने से इन्कार किया। इस पर जेल व तहसील के वार्डर, खलासी, चपरासी, इस कार्य के लिये एकत्र कर लिये गये। इस पर शुक्ल जी ने वक्तव्य दिया कि वे अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगूठे तथा अँगुलियों के निशान नहीं देंगे और इस कार्य का विरोध करेंगे और यदि उनको कुछ क्षति पहुँची तो उसकी समस्त जिम्मेदारी सरकार की होगी। इतने पर भी अधिकारी बलपूर्वक निशान लेने के लिये तुले हुए थे। अधिकारियों ने शुक्ल जी को जमीन पर गिरा कर जबर्दस्ती निशान लेने का प्रयत्न किया। शुक्ल जी ने पूरी इच्छा शक्ति और दृढ़ता से



कान्हा किसली के आदिवासी क्षेत्र के जंगलों में
राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के साथ शुक्ल जी



जीवन के प्रारंभिक काल में थियोसौफिकल चित्र समूह में
शुक्ल जी श्री नारायण स्वामी आदि के साथ



शुक्लजी ज्योतिष सीखते हुये

इस कार्य का विरोध किया। शुक्ल जी कर्मचारियों से पूरे ३५-४० मिनट जम कर संघर्ष करते रहे। इन कर्मचारियों ने शुक्ल जी को बुरी तरह दबा दिया। इनके दोनों हाथ वार्डरों के नाखूनों के निशान से भर गये। बड़ी कठिनाई से जैसे-तैसे शुक्ल जी के अंगूठे तथा अंगुलियों के निशान लेने का प्रयत्न किया पर वे ठीक तरह से नहीं ले सके। इसका फल यह हुआ कि शुक्ल जी के दोनों हाथ बुरी तरह सूज गये थे और काफी चोट या जाने से उन्हें बुखार भी आ गया था। शुक्ल जी द्वारा इस प्रतिरोध का परिणाम यह हुआ कि घटना के चार दिन बाद ही नागपुर से प्रान्त भर में आदेश प्रसारित हो गये कि जब तक पुलिस के डिप्टी इन्स्पेक्टर-जनरल का आदेश न हो, किसी राजबन्दी की अंगुलियों के निशान न लिये जायें। जेल से छूटने पर शुक्ल जी ने सरकार के विरुद्ध दस हजार रुपये की क्षतिपूर्ति का दावा किया और मांग की कि उनके साथ जेल नियमों का भंग करते हुए सरकार ने दुर्व्यवहार किया था। नीचे की अदालत से यह दावा खारिज हो गया था, जिसके विरुद्ध शुक्ल जी ने नागपुर हाईकोर्ट में अपील की थी। नागपुर हाईकोर्ट ने यद्यपि उनकी अपील स्वीकार नहीं की, परन्तु हाईकोर्ट के एक न्यायाधीश ने उनकी मांग को अपनी अल्पमतीय सम्मति में उचित कहा था। फिर भी इस विषय में दोनों न्यायाधीशों में मतभेद था। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी प्रिवी कौंसिल में अपील करना चाहते थे, पर सम्बन्धित अधिकारी रिटायर हो चुके थे और शुक्ल जी शिक्षामन्त्री बन गये थे, फलत: उन्होंने मामला आगे नहीं बढ़ाया। ब्रिटिश शासन में न्याय के लिये लड़ कर अपने स्वाभिमान की रक्षा की उक्त घटना उल्लेखनीय है।

फिर सत्याग्रह :—सन् १९३१ के प्रथम चरण में गान्धी इर्विन समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार सविनय अवज्ञा भंग आन्दोलन के सब कैदी छोड़ दिये गये। प्रान्त के दूसरे राजबन्दियों के समान शुक्ल जी तारीख १३ मार्च के दिन छोड़े गये। रायपुर की जनता ने शुक्ल जी का राजसी स्वागत किया। अप्रैल मास में सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन कराची में हुआ। महात्मा गांधी से हुए समझौते के बावजूद सरदार भगतसिंह को उनके दो साथियों के साथ फांसी दे देने पर राष्ट्रीय भारत का मन बेचैन हो गया था, फिर भी महात्मा गांधी गोलमेज परिषद् में भाग लेने लन्दन चले गये। उनके भारत लौटने से दो दिन पूर्व ही बम्बई जाते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिये गये। नये भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर ने शासन सूत्र सम्भालते ही अपना दमन-चक्र पूरी तेजी से चला दिया था। इस बार ब्रिटिश सरकार ने पूरी शक्ति लगा कर कांग्रेस को शक्तिहीन करने का प्रयत्न किया। सन् १९३२ ई. के जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में ही सरकार ने अनेक कांग्रेस संस्थाओं को अवैध घोषित कर दिया। तारीख ४ जनवरी को महात्मा गांधी भी गिरफ्तार कर लिये गये और सारे देश में गिरफ्तारियों का तांता लग गया। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के विरोध में जबलपुर, सागर, रायपुर, नागपुर, आदि में सभायें हुई, जिन्हें तितर-बितर करने के लिये पुलिस ने लाठियां चलायी और नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। तारीख १४ जनवरी के दिन जबलपुर में शुक्ल जी आन्दोलन के डिक्टेटर नियत किये गये। आपने दो मास तक सारे प्रान्त में युद्ध समितियों का संघटन सुदृढ़ किया। अप्रैल मास में शुक्ल जी गिरफ्तार कर लिये गये। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राजद्रोह करने के अभियोग में आपको धारा १२४ "अ" के अन्तर्गत दो वर्ष की सजा तथा जुर्माना कर दिया गया। रायपुर जेल में सब राजबन्दियों को सुपरिन्टेन्डेन्ट के आने पर अपनी-अपनी तख्ती लेकर खड़े होने के लिये कहा जाता था। जेल अधिकारियों ने शुक्ल जी से भी खड़े होने के लिये कहा। इस पर शुक्ल जी ने उत्तर दिया कि वे कोई खूनी या अपराधी नहीं हैं। जल्दी ही शुक्ल जी नागपुर जेल में भेज दिये गये। वहां उनकी सब सुविधायें बन्द कर एकान्त कालकोठरी की सजा दे दी गयी। मुलाकात के लिये यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि जाली के भीतर से भेंट करो। इस पर शुक्ल जी ने किसी से भी भेंट करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने पत्र लिखना तक बन्द कर दिया क्योंकि उनकी चिट्ठी सेन्सर की जाती थी। अन्त में सरकार ने सब प्रतिबन्ध उठा लिये। इस समय श्री ई. राघवेन्द्रराव गृहमन्त्री थे।

महात्मा गांधी का हरिजन दौरा—ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री रामजे मैकडानल्ड के करार के अनुसार हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक् करने के निर्णय की घोषणा किये जाने पर महात्मा गांधी ने यरवदा जेल में अपना ऐतिहासिक उप-

वास प्रारम्भ कर दिया था। इस पर देश भर के हिन्दू एवं हरिजन नेता एकत्र हुए और उन्होंने हिन्दुओं के स्थानों के अन्तर्गत हरिजनों को अधिक स्थान देने के विषय में एक समझौता किया। ब्रिटिश सरकार ने यह समझौता मान्य कर हरिजनों को चुनाव की दृष्टि से हिन्दुओं का एक अंग मान्य कर लिया। महात्मा गांधी ने यह निर्णय होने पर अपना अनशन भंग कर दिया। जल्दी ही सरकार ने महात्मा गांधी को जेल से मुक्त कर दिया। महात्मा गांधी ने पूरा एक वर्ष हरिजन कार्य में लगाने का निश्चय किया। नौ महीने तक महात्मा गांधी ने सारे देश का दौरा किया और हरिजन कार्य के लिये आठ लाख रुपये के लगभग धनराशि एकत्र की। इस दौरे के कार्यक्रम में महाकोशल एवं झांसी तक के क्षेत्र में दौरे की व्यवस्था एवं कोश-संग्रह का सारा कार्य ठक्कर बापा ने शुक्ल जी को सौंप दिया था। शुक्ल जी अपने चुने हुए स्वयंसेवकों के साथ सारे दौरे के कार्यक्रम की व्यवस्था करते थे। सन् १९३३ के नवम्बर मास के तृतीय सप्ताह में महात्मा जी ने महाकोशल में प्रवेश किया। छत्तीसगढ़, सिवनी, छिन्दवाड़ा, बैतूल, जबलपुर, सागर, बालाघाट के क्षेत्र में महात्मा गांधी ने शुक्ल जी के साथ ६०० मील से अधिक का दौरा किया। इन दिनों ७४,००० रुपये से अधिक धनराशि छत्तीसगढ़ व महाकोशल में गांधी जी को मिली थी। अकेले रायपुर में ही १४॥ हजार रुपये मिले थे। सम्पूर्ण प्रदेश में रायपुर धन-संग्रह में अग्रणी रहा था।

तारीख ७ अप्रैल सन् १९३४ ई. को महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित करने का आदेश दे दिया। इसी बीच बिहार प्रान्त में भयंकर भूकम्प आ गया था। इससे बिहार की जनता बेघर, निराश्रित तथा अन्न-वस्त्र हीन हो गयी थी। इस अवसर पर भी शुक्ल जी ने छत्तीसगढ़ क्षेत्र से अन्न- वस्त्र व धन की बड़ी मदद बिहार को भिजवायी थी। जल्दी ही सरकार ने कांग्रेस को पुनः वैध घोषित कर दिया। पटना एवं वर्धा में महात्मा गांधी के परामर्श को मान कर कांग्रेस कार्यकारिणी ने कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम को मान्यता दे दी। केन्द्र तथा प्रान्तों में चुनाव के कार्यक्रम को व्यवस्थित एवं एकसूत्र में लाने के लिये सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्ड की स्थापना की गई।

जेल में बन्दी रूप में रहते हुए भी दिनाङ्क २४ अक्तूबर सन् १९३० ई. को शुक्ल जी रायपुर डिस्ट्रिक्ट कौंसिल द्वारा अध्यक्ष चुन लिये गये। इस पर दिनाङ्क १६ नवम्बर सन् १९३० ई. के दिन प्रान्तीय सरकार ने रायपुर जिला कौंसिल को असाधारण गजट की घोषणा द्वारा तीन वर्ष के लिये सरकारी नियन्त्रण में ले लिया। सरकारी शासन के अन्तर्गत शुक्ल जी के नेतृत्व में चल रहे कौंसिल के समस्त राष्ट्रीय कार्य बन्द करवा दिये गये। दिनाङ्क ८ मार्च सन् १९३४ ई. को कौंसिल का प्रबन्ध पुनः शुक्ल जी को सौंपा गया। शुक्ल जी ने सरकारी शासन के अन्तर्गत बन्द हुए कार्यों को पुनः प्रारम्भ करवाया।

प्रान्त में राष्ट्रीय जागरण के कार्य को व्यवस्थित एवं संघटित करने के लिये सन् १९३५ ई. में शुक्ल जी ने नागपुर से साप्ताहिक हिन्दी पत्र 'महाकोशल' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। एक वर्ष बाद इसे रायपुर में स्थानान्तरित कर दिया गया। यह पत्र पिछले कई वर्षों से छत्तीसगढ़ के एकमात्र हिन्दी दैनिक के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

कांग्रेस द्वारा विधायक एवं वैधानिक कार्यक्रम पर पुनः बल देने पर शुक्ल जी ने रायपुर जिला कौंसिल के संघटन को फिर सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। तारीख ९, १० और ११ दिसम्बर सन् १९३५ ई. को कौंसिल के तत्वावधान में रायपुर के पांचवें वार्षिक शिक्षक सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन का उद्‌घाटन पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी ने किया और सम्मेलन के अन्तिम दिन कांग्रेस के अध्यक्ष राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद पधारे थे। सम्मेलन के अवसर पर बालचर प्रदर्शन, स्वदेशी प्रदर्शनी एवं व्यायाम प्रतियोगितायें भी की गयीं, जिनमें जनता ने बड़ी दिलचस्पी ली। बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने राष्ट्रीय झण्डा फहराया। शिक्षक सम्मेलन के बाद शिक्षा-ग्रामोद्योग व खादी प्रदर्शनी का उद्‌घाटन भी राष्ट्रपति ने किया।

डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के माध्यम से रचनात्मक कार्य :—रायपुर के शिक्षा सम्मेलन का सातवां वार्षिक अधिवेशन, दिनाङ्क १५ और १६ दिसम्बर सन् १९३६ को आयोजित किया गया था। इस अवसर पर कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष राष्ट्रपति पण्डित जवाहरलाल नेहरू पधारे थे। कौंसिल की ओर से राष्ट्रपति का अभिनन्दन करते हुए शुक्ल जी ने कहा था—"प्रान्तीय शासन द्वारा अधिकृत किये साढ़े तीन वर्ष के समय को छोड़ कर यह कौंसिल निरन्तर राष्ट्रीय सेवा के कार्य में लगी रही है। कौंसिल इस समय भी स्थानीय कांग्रेस के नियन्त्रण में कार्य कर रही है। इस जिले के प्रत्येक देहाती स्कूल पर राष्ट्रीय झण्डा फहराता है और नियमानुकूल अभिवादन किया जाता है। कौंसिल की शालाओं में राष्ट्रीय नेताओं के चित्र लगे हुए हैं और सर्वत्र राष्ट्रीय भावों के उद्‌बोधक सन्देश वाक्य भी लगाये गये हैं। विद्यालय के कार्य के अतिरिक्त शिक्षक जन-सेवा के राष्ट्रीय कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। कौंसिल के सैकड़ों शिक्षक व हजारों विद्यार्थी खादी की कला को जीवन में अपना रहे हैं। कौंसिल ग्रामीण जनता के स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिये प्रयत्नशील है। शिक्षा, रचनात्मक कार्यक्रम, कृषि आदि क्षेत्रों में शिक्षकों एवं विद्यार्थियों का स्थायी पथ-प्रदर्शन करने के लिये कौंसिल "उत्थान" मासिक पत्र प्रकाशित कर रही है। प्रत्येक विद्यालय में "हरिजन सेवक" पत्र मंगाया जा रहा है। डिस्ट्रिक्ट कौंसिल प्रति वर्ष शिक्षक सम्मेलन, व्यायाम प्रदर्शन, खादी एवं औद्योगिक प्रदर्शनी कर ग्रामीण जनता में उद्योग, शिल्प तथा कला का प्रचार कर रही है।

शुक्ल जी ने नेहरू जी का अभिनन्दन करते हुए विगत दस वर्षों में रायपुर जिला कौंसिल द्वारा किये कार्यों का सिंहावलोकन किया और कहा—"प्रान्त की हुकूमत कौंसिल के कार्य को कड़ी नजरों से देखती है। कानूनी प्रतिबन्ध डाल कर नामजद तथा सरकारी सदस्यों की अधिक संख्या का लाभ उठा कर सरकार इस प्रकार के कानून बना रही है, जिनसे ये स्वायत्त संस्थायें पराधीन हो कर निरुपयोगी बन जायें, परन्तु जनता निकट भविष्य में इसका योग्य उत्तर देगी। शुक्ल जी ने नवीन चुनाव के बाद प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में शिक्षा तथा कृषि मन्त्री का पद स्वीकार करने पर जिला कौंसिल की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया और उनका स्थान रायपुर के कर्मठ कार्यकर्ता महन्त लक्ष्मीनारायण दास ने ग्रहण किया।

प्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल—कांग्रेस द्वारा कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार करने पर सन् १९३५ ई. में केन्द्रीय धारा सभा का निर्वाचन हुआ। इस चुनाव के फलस्वरूप केन्द्र में कांग्रेस दल सबसे संघटित एवं बड़ा दल बन गया। महाकोशल, नागपुर व विदर्भ सर्वत्र कांग्रेसी उम्मीदवार विजयी हुए। जल्दी ही सन् १९३६ में प्रान्तीय धारासभाओं का भी निर्वाचन हुआ। दूसरे छः प्रान्तों के समान मध्यप्रान्त और बरार में कांग्रेस को धारासभा में निर्णायक बहुमत प्राप्त हुआ। सरकार द्वारा मन्त्रिमण्डल के दैनिक कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न करने का आश्वासन मिलने पर सात कांग्रेसी प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल निर्मित हुए। मध्यप्रदेश में स्थिति कुछ विचित्र थी। पहले मुख्य नेताओं में पद-ग्रहण के विषय में एकमत न था। लखनऊ कांग्रेस द्वारा पदग्रहण करने के निश्चय एवं सरकार द्वारा हस्तक्षेप न करने के आश्वासन पर विचारणीय विषय यह हो गया कि प्रान्त में धारासभा दल का नेता कौन चुना जाय? चुनाव से कुछ समय पूर्व ही बैरिस्टर अभ्यंकर के स्वर्गवासी हो जाने से प्रान्त का एक सर्वमान्य नेता सदा के लिये उठ गया था। प्रान्तीय धारासभा में नागपुर-विदर्भ तथा महाकोशल तीनों क्षेत्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। संख्या बल की दृष्टि से महाकोशल का नेता प्रान्त के पार्लमेण्टरी दल का नेता बन सकता था, परन्तु महाकोशल में दो दल हो गये थे। एक दल श्री ई. राघवेन्द्रराव से पण्डित रविशंकर जी शुक्ल की पुरानी मैत्री का ख्याल कर उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता था। यद्यपि पिछले ६ वर्षों में शुक्ल जी का श्री राव से पूर्ण राजनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था और शुक्ल जी ने प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संकट की घड़ी में सदा मातृभूमि एवं देशवासियों की सम्मान-रक्षा के लिये अपनी तथा परिवार की आहुति दी थी। कुछ मित्र इस समय शुक्ल जी को नेता बनाना चाहते थे, परन्तु महाकोशल के आन्तरिक विरोध को देखते हुए शुक्ल जी ने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ने का संकल्प कर लिया। तारीख १८ जुलाई सन् १९३७ ई. को व्यवस्थापिका सभा के कांग्रेस दल की सभा में शुक्ल जी ने स्वयं डा. नारायण भास्कर खरे को कांग्रेस दल का नेता बनाने का प्रस्ताव रखा, जो स्वीकार कर लिया गया।

तारीख १४ जुलाई सन् १९३७ ई. को डा. खरे के नेतृत्व में प्रान्त में प्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हो गयी। डा. खरे मुख्य मन्त्री थे तथा पण्डित रविशंकर शुक्ल, पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्री रामराव देशमुख, श्री पुरुषोत्तम बलवन्त गोले, श्री दुर्गाशंकर मेहता और बैरिस्टर मुहम्मद यूसुफ़ शरीफ़ मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य थे। तारीख ३० जुलाई को नव-निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा का प्रथम अधिवेशन 'वन्देमातरम्' के गान से प्रारम्भ हुआ। सभा के अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त चुने गये। तारीख २१ सितम्बर को कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल की ओर से रखा गया यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया—"भारतीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कांग्रेस के मौलिक अधिकार विषयक प्रस्ताव द्वारा भली प्रकार होती है, विधान सभा इसलिये सन् १९३५ ई. के भारत शासन कानून को हटा कर कांग्रेस निर्मित विधान स्वीकार करने की सिफ़ारिश करती है।" मध्यप्रदेश विधान सभा का प्रस्ताव जनता के स्वभाग्य-निर्णय में अधिकार का समर्थक था।

विद्यामन्दिर की योजना–शिक्षा एवं कृषि मन्त्री का पद सम्भालते ही पं. रविशंकर शुक्ल ने प्रान्त की शिक्षापद्धति में मौलिक परिवर्तन करने के लिये एक नवीन कार्यक्रम रखा। शुक्ल जी का विश्वास था कि अंग्रेजों के १५० वर्षों के शासन में शिक्षा की दूषित नीति के कारण केवल मुट्ठी भर लोग ही शिक्षित हुए हैं। जो शिक्षा जनता के संस्कार नहीं सुधारती, जिससे वह जीवन का सदुपयोग करना नहीं सीख सकती और जिस शिक्षा पद्धति से स्वावलम्बन की समस्या हल नहीं होती, शुक्ल जी की सम्मति थी कि ऐसी शिक्षा पद्धति बदली जानी चाहिये। सन् १८३६ में ५.८ प्रतिशत भारतीय जनता साक्षर थी, १०० वर्ष से अधिक समय बाद सन् १९४१ में जनता की साक्षरता का प्रतिशत ८ हुआ। एक शताब्दी में भारतीय जनता की साक्षरता में केवल २.२ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। अशिक्षित जनता से जनतन्त्र व्यवस्था की प्रगति नहीं हो सकती, इस तथ्य का अनुभव कर शुक्ल जी ने स्वावलम्बन् के आधार पर शिक्षा प्रसार के एक राष्ट्रीय कार्यक्रम पर विचार किया। इस विषय में शुक्ल जी ने पहले प्रान्त के कई जिलों की यात्रा की। इस योजना को जन-सम्मति के लिये प्रचारित किया गया। जनमत के आधार पर पुष्ट योजना शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टरों के सामने रखी गयी। इन्होंने बहुमत से योजना को उचित कहा। शिक्षा विभाग की स्थायी समिति ने भी योजना के औचित्य को स्वीकार किया। योजना को प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण कर शुक्लजी ने अपने विद्यामन्दिर विषयक शिक्षा कार्यक्रम को कांग्रेस धारासभा दल के सामने रखा। मिश्र जी ने योजना का समर्थन किया, कांग्रेस दल ने सर्वसम्मति से योजना को मान्य कर लिया। इस प्रकार विशेषज्ञों तथा कांग्रेस दल से समर्थित विद्यामन्दिर योजना शुक्ल जी ने मन्त्रिमण्डल के सम्मुख रखी। प्रान्त के तत्कालीन वित्त सचिव श्री चिन्तामणि देशमुख ने वित्तीय दृष्टि से योजना को अच्छा कहा और इसका समर्थन किया परन्तु मुख्यमन्त्री डा. खरे ने योजना को विफल करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा योजना को एक परीक्षण के रूप में अपनाया जाय परन्तु शुक्लजी का आग्रह था कि योजना सरकारी योजना के रूप में कार्यान्वित की जानी चाहिये। प्रारम्भ में योजना प्रचलित करने के लिये १०० विद्यालय खोलने का निश्चय किया गया। इन विद्यालयों के लिये भूमिदान के निमित्त ३०० प्रार्थनापत्र आये थे जिन में से केवल ८३ स्वीकार किये गये।

विद्यामन्दिर योजना का मूलमन्त्र शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना है। इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये बालकों की शिक्षा का प्रारम्भ किसी उपयोगी कार्य से करने की व्यवस्था की जाय जिससे वे पढ़ाई के साथ कुछ पैदा भी कर सकें। इस प्रकार शिक्षा संस्थायें स्वावलम्बी बनायी जा सकती हैं। शुक्ल जी ने अपनी अध्यक्षता में एक समिति बना दी थी जिसने ३१ अगस्त १९३७ को विद्यामन्दिर की योजना प्रस्तुत कर दी। म. गांधीजी ने योजना में अपनी बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त सम्मिलित होने से योजना को अपना आशीर्वाद दिया। १४ दिसम्बर के दिन प्रान्तीय धारासभा ने भी योजना स्वीकार कर ली। योजना स्वीकृत होते ही शुक्ल जी ने योजना के अनुकूल पाठ्यक्रम बनाने के लिये जमिया मिलिया के श्री जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त कर दी थी। सम्बन्धित समितियों में डा. मुहम्मद अशरफ, श्री आर्यनायकम, श्री डिसल्वा, डा. वेणीशंकर झा, बैरिस्टर छेदीलाल आदि सदस्य थे। समिति

ने योजना के पाठ्यक्रम में कताई, बुनाई, गृह-शिल्प, कृषि, सामाजिक शिक्षण, सामान्य विज्ञान, गणित, भूगोल, मातृभाषा, संगीत एवं ड्राइंग आदि विषयों का प्रारम्भिक ज्ञान आवश्यक रखा था।

योजना रखी जाने पर कांग्रेस के कई राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता भी विद्यामन्दिर नाम बदलना चाहते थे परन्तु मध्यप्रदेश की जनता का एवं राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन देख कर उन्होंने योजना को अपनी सम्मति दे दी। मुस्लिम लीग ने इस योजना के विरुद्ध सत्याग्रह करने की धमकी दी थी। उसे मन्दिर नाम रखने में ही आपत्ति थी। कांग्रेस मन्त्रिमण्डल एवं शुक्ल जी ने मुस्लिम लीग के महामन्त्री मियां लियाकत अली खां और उनके साथियों को योजना की सभी बातें विस्तार से समझायीं जिससे वे पूर्ण सन्तुष्ट हो गये और आन्दोलन बन्द करने का निर्णय किया।

शुक्ल जी की विद्यामन्दिर योजना म. गांधी की बुनियादी शिक्षा योजना से मिलती-जुलती थी। शुक्ल जी अपनी योजना द्वारा प्रान्त भर में शिक्षा को स्वावलम्बन के आधार पर व्यापक बना देना चाहते थे। योजना से म. गांधी बड़े प्रभावित हुए थे, उन्होंने विद्यामन्दिर ट्रेनिंग स्कूल के शिक्षकों को प्रमाण-पत्र दिये थे। इन शिक्षकों ने भारत लोक सेवा समिति के सदस्यों की तरह सेवा, स्वावम्बन के आधार पर शिक्षा प्रसार के लिये तन-मन न्योछावर करने के लिये म. गांधी के सामने प्रतिज्ञा की थी। म. गांधी ने ही विद्यामन्दिर के पाठकों के अभ्यास के लिये एक प्राथमिक भवन का शिलान्यास किया था।

डा. खरे का विद्रोह—डा. खरे के मन्त्रिमण्डल में प्रारम्भ से ही ऐक्य न था। मन्त्रिमण्डल में दो दल बन गये थे। मुख्यमन्त्री (जो उस समय प्रधानमन्त्री कहलाता था) डा. खरे मन्त्रिमण्डल के सहयोगियों की अपेक्षा बाहरी व्यक्तियों से घिरे रहते थे। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का आपसी मनमुटाव इतना अधिक बढ़ा कि अन्त में कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्ड को हस्तक्षेप करने के लिये विवश होना पड़ा। २४ मई १९३८ के दिन यह आपसी मनमुटाव दूर करने के लिये कांग्रेस धारासभा दल के सदस्य पचमढ़ी में आमन्त्रित किये गये। इस समस्या को सुलझाने के लिये कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्ड के प्रधान सरदार पटेल एवं दूसरे प्रमुख नेता मौलाना आजाद तथा श्री जमनालाल जी बजाज भी पचमढ़ी पहुंच गये थे। कांग्रेस हाई कमाण्ड के नेताओं ने दोनों पक्षों की बात सुनकर एक समझौता दोनों दलों में करवा दिया। डा. खरे ने इस समझौते का पालन नहीं किया उल्टे बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी के परामर्श को न मानते हुए महाकोशल के तीन मन्त्रियों से त्यागपत्र मांगा। पं. शुक्ल, पं. मिश्र तथा श्री मेहता ने केन्द्रीय पार्लमेण्टरी बोर्ड की स्वीकृति के बिना त्याग-पत्र देना स्वीकार नहीं किया। इस पर डा. खरे तथा उनके दो साथी मन्त्रियों ने २० जुलाई १९३८ को गवर्नर के पास जाकर त्याग-पत्र दे दिया। गवर्नर ने यह त्यागपत्र स्वीकार करते हुए महाकोशल के उक्त तीनों मन्त्रियों को पदच्युत (डिसमिस) कर दिया और कांग्रेस दल के नेता के रूप में डा. खरे को नया मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये कहा। डा. खरे ने महाकोशल के उक्त मन्त्रियों के स्थान पर तुरन्त तीन नये सदस्य नियत कर दिये।

डा. खरे का उक्त कार्य कांग्रेस संस्था के अनुशासन की दृष्टि से अनुचित था। गवर्नर के सहयोग से पार्लमेण्टरी बोर्ड की उपेक्षा कर डा. खरे ने जो कार्य किया था उस पर सर्वत्र कड़ी टीका हुई। केन्द्रीय कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्ड ने डा. खरे पर अनुशासन-भंग का अभियोग लगा कर उन्हें पद-त्याग करने का आदेश दिया। स्थिति पर विचार करने के लिये २१ से २३ जुलाई तक वर्धा में बाबू सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। मौलाना आजाद, सरदार पटेल और बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने घटना का विवरण एवं कांग्रेस के दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया, इस पर डा. खरे ने अपनी भूल स्वीकार कर ली और पदग्रहण के तीन दिन के बाद उन्होंने इस्तीफा देना स्वीकार कर लिया। डा. खरे ने टेलिफोन द्वारा गवर्नर को नवीन मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया, इसे गवर्नर ने स्वीकार कर लिया।

कांग्रेस कार्यकारिणी ने डा. खरे के विषय में निर्णय किया कि मध्यप्रदेश के गवर्नर ने कांग्रेस में फूट कराने का प्रयत्न किया और डा. खरे व उनके साथियों ने गवर्नर से षड्यन्त्र कर कांग्रेस की प्रतिष्ठा को क्षति पहुंचाने का यत्न किया इसलिये वे कांग्रेस संस्था में रहने के पात्र नहीं हैं। २६ जुलाई को

वर्धा में बाबू सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में धारा सभा के कांग्रेस दल की बैठक अपना नवीन नेता चुनने के लिये हुई। दल ने पं. रविशंकर शुक्ल को अपना नेता चुन लिया।

उक्त काण्ड के बाद डा. खरे ने 'माई डिफेन्स'— मेरी सफाई-नामा से अपना एक स्पष्टीकरण प्रकाशित किया था जिसके उत्तर में तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष सुभाष बाबू ने तथ्यों एवं घटनाचक्र का पूरा ब्यौरा देते हुए पुस्तिका में डा. खरे के अभियोगों को निराधार सिद्ध किया था। २५ सितम्बर को अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति में कार्यकारिणी के डा. खरे सम्बन्धी प्रस्ताव को डा. पट्टाभि सीतारामैया ने रखा और उसका समर्थन श्री शंकरराव देव ने किया। प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

मुख्य मन्त्री के रूप में— धारासभा कांग्रेस दल द्वारा नेता चुन लिये जाने पर पं. रविशंकर जी शुक्ल को प्रान्त के गवर्नर ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सौंपा। वे पुनर्गठित मन्त्रिमण्डल के भी प्रधान हुए और सर्वश्री पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र, पं. दुर्गाशंकर मेहता, संभाजीराव गोखले और छगनलाल भारुका उनके मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य हुए। यह मन्त्रिमण्डल अगस्त १९३८ से नवम्बर १९३९ के प्रथम सप्ताह तक निर्विघ्न कार्य करता रहा। इस एक वर्ष में हरिपुरा कांग्रेस में शुक्ल जी द्वारा प्रान्त की ओर से दिये निमन्त्रण के फलस्वरूप कांग्रेस का त्रिपुरी अधिवेशन श्री सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। त्रिपुरी का अधिवेशन विचित्र परिस्थिति में हुआ। त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये म. गांधी जी डा. पट्टाभि सीतारामैया को चाहते थे परन्तु श्री सुभाष बोस उनके विरुद्ध खड़े हो गये और बहुमत से विजयी हो गये। राजकोट के ठाकुर के वचन-भंग के विषय में म. गांधी अपना आमरण अनशन राजकोट में कर रहे थे, इसलिये वे त्रिपुरी कांग्रेस में नहीं आ सके। इस अधिवेशन के बीच श्री सुभाष बोस ज्वर से पीड़ित हो गये, त्रिपुरी का अधिवेशन बड़े गम्भीर वातावरण में हुआ। कांग्रेस महासमिति द्वारा पं. पन्त का प्रस्ताव मान्य कर लेने पर यह भी विदित हुआ कि महासमिति का बहुमत म. गांधी में विश्वास रखता है। यह परिस्थिति देख कर श्री सुभाष बोस ने त्यागपत्र दे दिया और संकटमोचक के रूप में श्री राजेन्द्रबाबू स्थानापन्न कांग्रेस अध्यक्ष बने। जहां तक त्रिपुरी कांग्रेस के अधिवेशन का प्रश्न है, वह उपस्थिति, व्यवस्था एवं विचारणीय विषयों की दृष्टि से सफल रहा। इसमें देश के हजारों प्रतिनिधि तथा लाखों दर्शक आये। इस अवसर पर मिश्र से आये एक प्रतिनिधि-मण्डल ने भी अधिवेशन की कार्रवाई देखी।

इस समय तक प्रान्त में एक भी कांग्रेसी विचारधारा का लोक प्रिय अंग्रेजी दैनिक पत्र नहीं था। इस अभाव को अनुभव करते हुए शुक्ल जी ने एक लिमिटेड कम्पनी का निर्माण कर 'नागपुर टाइम्स' को कांग्रेसी राष्ट्रीय विचारधारा का पत्र बनाया। इस पत्र को आन्दोलन के दिनों में शुक्ल जी के जेलजीवन में सब प्रकार के आर्थिक संकट एवं शासन का कोप सहन करना पड़ा। पत्र को कई बार जमानतें देनी पड़ीं, परन्तु पत्र ने कांग्रेस समर्थक राष्ट्रीय नीति प्रचलित रखी। दुबारा मुख्यमन्त्री बनने पर शुक्ल जी ने पत्र की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होते हुए भी राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अपना व्यक्तिगत नियन्त्रण त्याग कर एक सार्वजनिक कम्पनी को पत्र का संचालन सौंप दिया था।

१ सितम्बर १९३९ को जर्मनी ने पोलैण्ड के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। दो ही दिन में यह युद्ध विश्वव्यापी बन गया। अंग्रेज वायसराय ने भारतीय प्रान्तों तथा केन्द्र की व्यवस्थापिका सभा के मतामत पूछे बिना युद्ध में भारत को सम्मिलित कर दिया। कांग्रेस ने इस नीति का विरोध किया और अन्य कांग्रेसी प्रान्तों की तरह मध्यप्रदेश में शुक्ल जी के नेतृत्व में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने नवम्बर १९३९ के प्रथम सप्ताह में त्यागपत्र दे दिया और युद्ध विरोधी आन्दोलन में योग देने के लिये पुनः मैदान में आगया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह तथा भारत छोड़ो आन्दोलन

युद्ध के प्रश्न पर सरकार से किसी प्रकार का समझौता न होने पर सन् १९४० में म. गान्धी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह करने की घोषणा की। यह सत्याग्रह पूर्व आन्दोलनों से सर्वथा भिन्न था। देश भर की कांग्रेस कमेटियों से ऐसे व्यक्तियों

की सूची म. गांधी ने ली थी जो अहिंसा का पालन करते हुए स्वेच्छा से कानून भंग सत्याग्रह करने को उत्सुक हों। यह सत्याग्रह सामूहिक न होकर पूरी तरह व्यक्तिगत था। म. गांधी द्वारा स्वीकृत एक-एक सत्याग्रही ग्रामों में युद्ध विरोधी प्रचार करता हुआ तब तक पैदल बढ़ता था जब तक उसे गिरफ्तार न कर लिया जाय। कुछ ही महीनों में यह व्यक्तिगत सत्याग्रह बड़ा व्यापक होगया। अप्रैल महीने तक देश में २० हजार व्यक्ति गिरफ्तार किये जा चुके थे। इसी मास में शुक्ल जी भी भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार कर लिये गये। भारतीय जनता का असन्तोष बढ़ते देखकर एवं जर्मनी व जापान की विजयों को देखकर ब्रिटिश सरकार ने भारत विषयक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक समझा। उसने सत्याग्रहियों को उनका अपराध केवल सांकेतिक होने के कारण मुक्त कर दिया। शुक्ल जी आदि प्रान्त के सभी राजबन्दी मुक्त कर दिये गये। कांग्रेस महासमिति ने क्रिप्स योजना पर विचार किया। उसने मांग की कि भारत में अंग्रेजी राज्य का अन्त हुए बिना देश आत्म-रक्षण में समर्थ न हो सकेगा। वर्धा में कांग्रेस कार्यसमिति ने 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया। ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में कांग्रेस महासमिति ने यह 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दूसरे ही दिन प्रातः म. गांधी तथा देश के प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। गांधी जी एवं नेताओं के गिरफ्तार होते ही शुक्ल जी मध्यप्रदेश में "करो या मरो" आन्दोलन संघटित करने के लिये अपने साथियों के साथ प्रान्त की ओर चल पड़े। पुलिस इनकी निगरानी कर रही थी, ज्यों ही शुक्ल जी आदि प्रान्तीय नेता ११ अगस्त को मलकापुर स्टेशन पर पहुंचे उन्हें पुलिस ने भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार कर लिया। शुक्ल जी गिरफ्तार हो कर अपने साथियों के साथ मद्रास प्रान्त की वेलोर जेल में भेज दिये गये। वहां शुक्ल जी के साथी साहित्य निर्माण के कार्य में लगे रहे। इस जेल-यात्रा में शुक्ल जी को नासिका रोग के कारण बड़ा कष्ट रहा। महीनों लिखा-पढ़ी के बाद इन्हें अस्पताल भेजा जाता था। नासिका व्रण को दूर करने के लिये कई बार आपरेशन किये गये परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। सब प्रकार का शारीरिक कष्ट होने पर भी सरकार ने उन्हें जेल से नहीं छोड़ा। तीसरी बार नाक का आपरेशन होने पर उन्हें नासिका सम्बन्धी कष्ट नहीं हुआ और यह रोग पूरी तरह दूर होगया। इस बार पूरे तीन वर्ष तक शुक्ल जी जेल में रहे।

१९४२ के अन्त तक देश में ६० हजार व्यक्ति गिरफ्तार किये जा चुके थे और ९० लाख रुपया जुर्माने के रूप में वसूल किया जा चुका था। प्रान्त में भी ५००० से अधिक व्यक्ति गिरफ्तार किये गये थे और दर्जनों स्थानों पर ब्रिटिश सरकार को गोलियां चलानी पड़ी थीं। शक्ति के द्वारा यद्यपि ब्रिटिश शासन ने भारतीय जनमत को कुचलने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता न मिली। अन्त में विश्व की परिस्थिति को देखते हुए एवं विक्षुब्ध भारतीय लोकमत को सन्तुष्ट करने के लिये लार्ड वैवल ने शिमला में सब प्रान्तों के मुख्य मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिये शुक्ल जी मण्डला जेल से १३ जून १९४५ को छोड़ दिये गये। दूसरे ही दिन आप शिमला सम्मेलन में भाग लेने के लिये गये।

शिमला सम्मेलन ब्रिटिश सरकार की भेदपूर्ण नीति के कारण सफल न हुआ। इसी बीच यूरोप में मित्रराष्ट्र विजयी हो गये थे और ब्रिटेन में मजदूर दली सरकार आम चुनाव में जीत कर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भारत में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं के निर्वाचन किये गये। १९४५ में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचन में कांग्रेस को पहले ही की तरह सफलता मिली। १९४६ में प्रान्तों में हुए आम-निर्वाचन में भी कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता मिली। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के ११२ स्थानों में कांग्रेस को ९४ स्थान प्राप्त हुए और उसे निर्णायक बहुमत प्राप्त होगया।

अन्त में २७ अप्रैल १९४६ को भारत सरकार के कानून की ९३ धारा के अन्तर्गत स्थापित गवर्नर के निरङ्कुश शासन का अन्त हुआ और पं. रविशंकर जी शुक्ल के नेतृत्व में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल ने पदग्रहण किया। युद्ध काल में प्रदेश-प्रदेश में एवं सम्पूर्ण भारत में भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी बढ़ गयी थी। उस समय बंगाल के भीषण अकाल के बाद देश भर में भीषण अन्नाभाव भी व्याप्त होगया था, इतने पर भी पुराने कानून के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकार के पास

मर्यादित अधिकार थे। मुख्य मन्त्री बनने पर शुक्ल जी ने बड़े साहस के साथ सारे कष्टों तथा बाधाओं का सामना किया। मन्त्रिमंडल बनते ही शुक्ल जी ने समस्त राजबन्दियों को मुक्त किया सामूहिक जुर्मानों की वसूली रोकी। फांसी तथा आजन्म कारावास का दण्ड पाये सैकड़ों राजबन्दी जेलों से मुक्त कर दिये गये। प्रतिबन्धित राजनीतिक प्रकाशनों को उन्मुक्त किया गया, समाचार पत्रों की जमानतें लौटायी गयीं। इसी बीच आर्थिक दुरवस्था के कारण आर्थिक संघर्ष हुए, मुस्लिम लीग की नीति के कारण एवं ब्रिटिश सरकार की भेदपूर्ण नीति के कारण साम्प्रदायिक वातावरण भी विक्षुब्ध हुआ परन्तु शुक्ल जी की सरकार प्रत्येक परिस्थिति का दृढ़तापूर्वक सामना करती रही।

इसी बीच २ सितम्बर १९४६ को पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में केन्द्र के अन्त:कालीन (अन्तरिम) शासन की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इसमें मुस्लिम लीग सम्मिलित नहीं हुई परन्तु बाद में वह अड़ंगा डालने के लिये शामिल हो गयी। ब्रिटिश सरकार की भेदपूर्ण नीति के कारण इन दिनों देश भर में साम्प्रदायिक दंगे हुए। बंगाल बिहार के दंगों से देश कांप उठा। प्रत्येक भारतीय के हृदय में सन्देह व्याप्त होगया। भारत से कांग्रेस, मुस्लिम लीग आदि के नेताओं को ब्रिटिश मजदूर सरकार ने चर्चा के लिये बुलाया। भारत में ब्रिटिश मिशन भेजा गया। अन्त में २० फरवरी १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह जून १९४८ तक भारत छोड़ देगी। यह घोषणा होते ही पंजाब में भीषण दंगे हुए। ३ जून १९४७ की घोषणा से ब्रिटिश सरकार ने १५ अगस्त १९४७ तक भारत छोड़ने का निर्णय किया। इस घोषणा के द्वारा अंग्रेजों ने भारत के दो विभक्त भागों को स्वतन्त्रता देने का निर्णय किया। अंग्रेजों ने जाते हुए पंजाब और बंगाल भी विभक्त कर गये। पंजाब में देश के इस विभाजन के फलस्वरूप भीषण नर-संहार व सम्पत्ति की क्षति हुई।

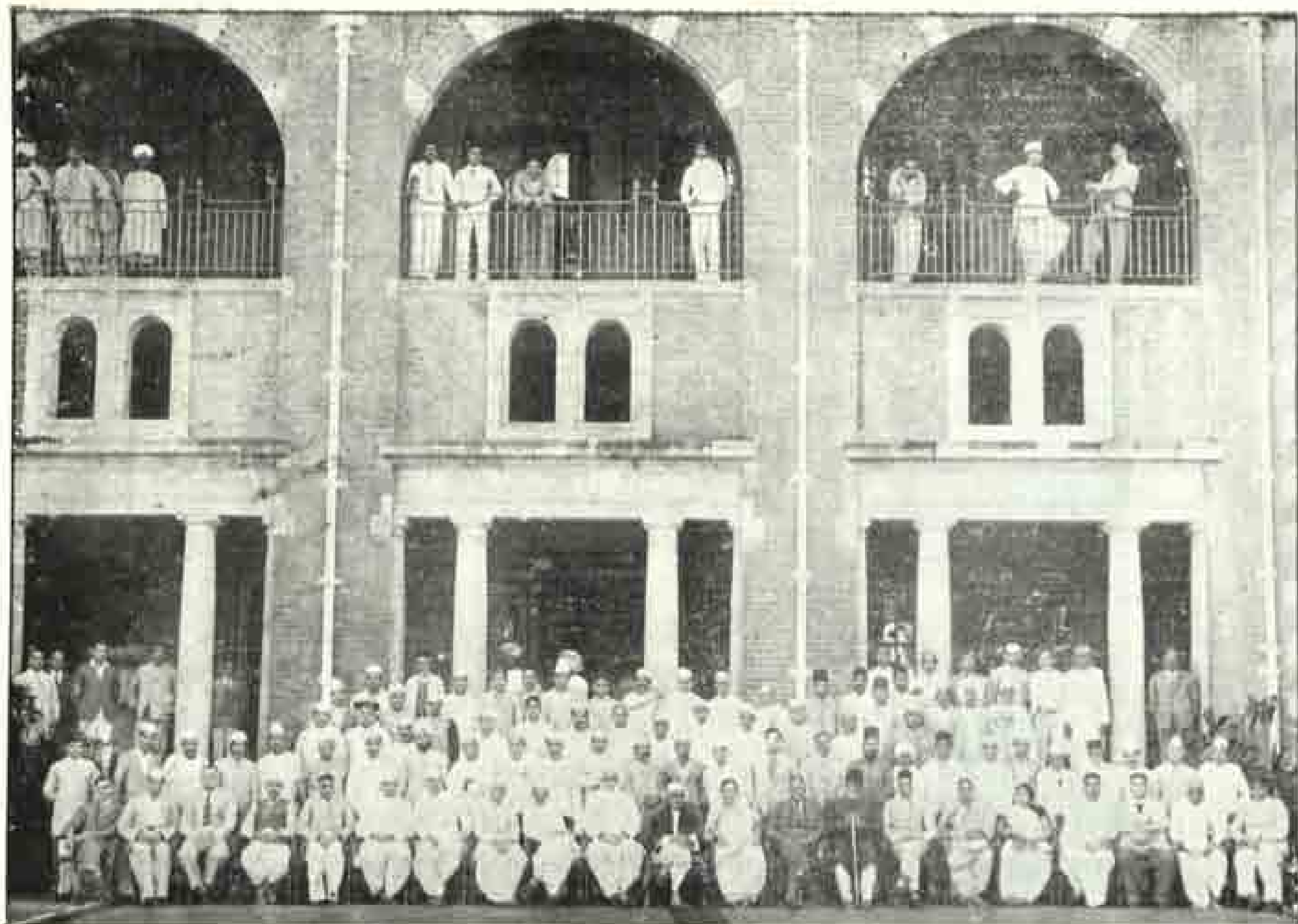
इस बीच निजाम सरकार ने भी बरार पर दावा किया। प्रान्त का वातावरण हैदराबाद में रजाकारों की कार्रवाई के कारण बड़ा विक्षुब्ध होगया। शुक्ल जी के मन्त्रिमण्डल ने प्रान्त में सतर्कतापूर्वक स्थिति का नियन्त्रण किया। शुक्ल जी एवं उनके मन्त्रिमण्डल की सतर्कतापूर्ण कार्यवाहियों के कारण देश के विभिन्न भागों में हो रही घटनाओं से हमारा मध्यप्रदेश मुक्त रहा।

१४ अगस्त १९४७ के दिन मध्यप्रदेश से अन्तिम अंग्रेज गवर्नर विदा होगया और उसने अपने अधिकार प्रदेश के प्रथम भारतीय गवर्नर श्री मंगलदास पकवासा को सौंप दिये। १५ अगस्त के दिन प्रान्त भर में आनन्द एवं उत्सव मनाया गया। अंग्रेजों ने सन् १८१७ की लड़ाई के बाद सीताबर्डी के किले पर अधिकार कर लिया था। अंग्रेजों ने भोंसलों के भगवे झंडे के स्थान पर अपना यूनियन जैक फहराया था। १५ अगस्त १९४७ के दिन प्रान्त की जनता के प्रतिनिधि के रूप में शुक्ल जी ने अंग्रेजी प्रतीक हटा कर स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र के चक्र से चिह्नित तिरंगा राष्ट्रीय ध्वज लहरा दिया। १५ अगस्त को स्वतंत्रता के समारोह में भाषण देते हुए शुक्ल जी ने कहा था—"हमने जो स्वाधीनता प्राप्त की है वह किसी दल, पार्टी या सम्प्रदाय की नहीं है। यह इस पुरातन देश में रहने वाले प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बच्चे की है। इस अवसर पर हमें मातृभूमि की सेवा की शपथ लेकर आत्म विश्वास एवं ईश्वर पर पूर्ण आस्था के साथ सबके सद्भाव को ग्रहण कर किसी से भी घृणा न करते हुए सब प्रकार के जातीय व साम्प्रदायिक भेदभाव को भूल कर उस महान भविष्य की ओर—जो हमारा स्वागत करने के लिये प्रस्तुत है— कदम बढ़ाना चाहिये।"

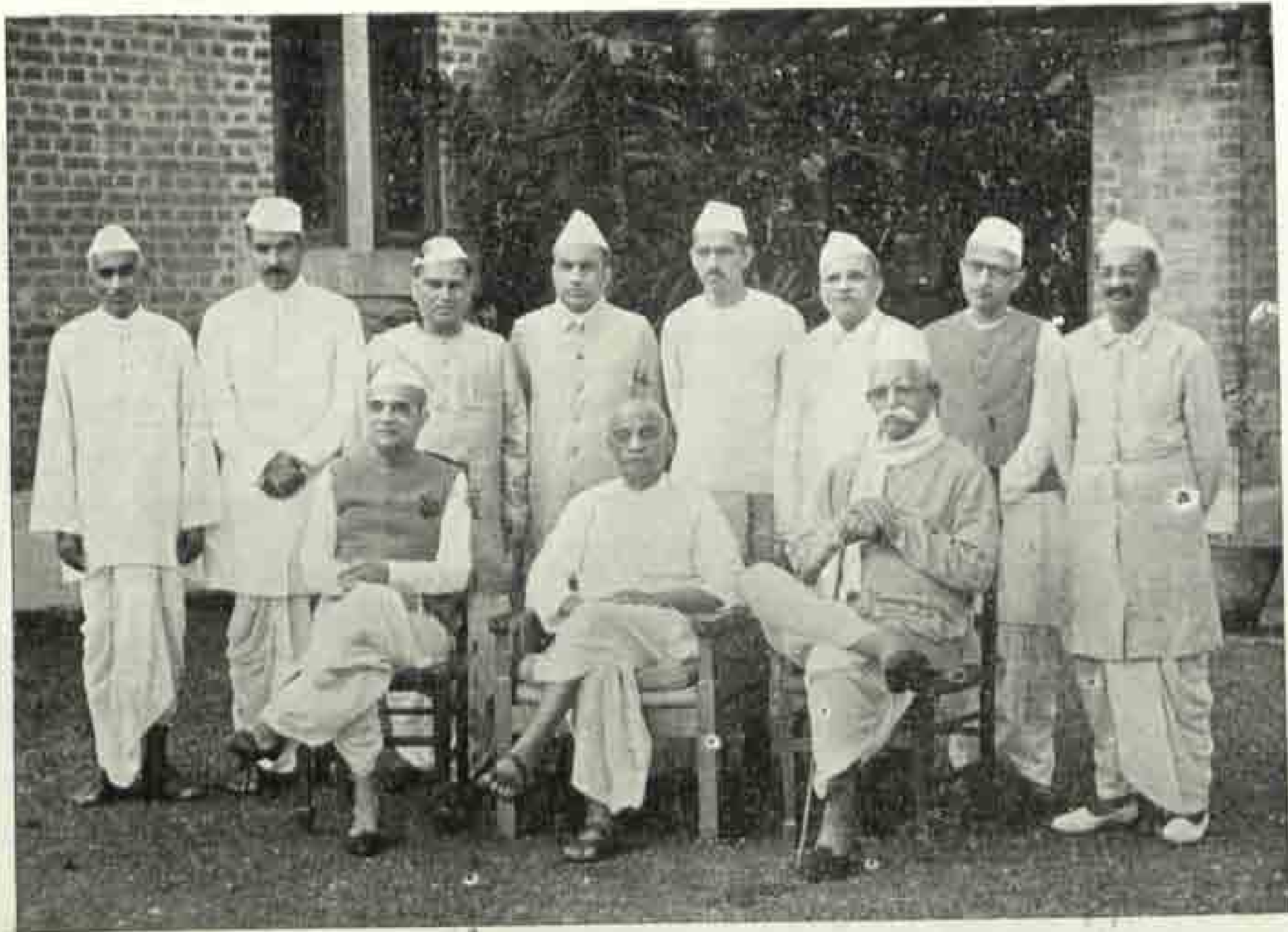
वे संकट की कुछ घड़ियां :—भारत के विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान से आये लाखों शरणार्थियों को बसाने की समस्या भी बड़ी कठिन थी। शुक्ल जी ने पंजाब तथा सिन्ध से आये शरणार्थियों को विभिन्न बस्तियों में एवं नगरों में बसाया। इसी प्रकार पड़ोसी भोपाल एवं हैदराबाद में साम्प्रदायिक शासन से पीड़ित हिन्दुओं को भी इन्होंने आश्रय दिया। हैदराबाद में रजाकार आतंक उत्पन्न होने पर समीपस्थ प्रदेशीय जिलों में भी प्रान्तीय शासन ने बड़ी तत्परतापूर्वक शान्ति रखी। इस समय स्थिति बड़ी विचित्र थी। शुक्ल जी ने प्रदेश में आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के लिये गृहरक्षकों के सैन्य की दूसरी रक्षापंक्ति बनाने का निर्णय किया। "प्रान्त का यह होम गार्डस् का संगठन इतना अधिक व्यवस्थित होगया था कि लार्ड माउण्टबैटन ने उसे देश की सर्वोत्तम होमगार्ड सेना स्वीकार किया था।



राजर्षि टंडन जी के साथ शुक्ल जी, बाबू गोविंददास जी
तथा महंत श्री लक्ष्मीनारायणदास जी



मध्यप्रदेश विधान सभा (१९३९) के सदस्य
(शुक्ल जी प्रथम मंत्री मण्डल में मंत्री, उनके अलावा सर्वश्री द्वारकाप्रसाद मिश्र, दुर्गाशंकर जी मेहता, छगनलाल जी भारुका एवं संभाजीराव गोखले चित्र में दिखाई दे रहे हैं। विधान सभा के अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह जी गुप्त बीच में)



स्वाधीनता के बाद मध्यप्रदेश का प्रथम मंत्रिमण्डल सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ

बैठे हुए—(१) शुक्लजी (२) सरदार वल्लभभाई पटेल (३) भू. पू. राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा

खड़े हुए—(१) पं. द्वारका प्रसाद मिश्र (२) पं. दुर्गाशंकर मेहता (३) श्री संभाजीराव गोखले

(४) श्री आर. के. पाटील (५) डॉ. बालिंगे (६) श्री रामेश्वर अग्निभोज (७) श्री पी. के. देशमुख (८) श्री माकड़े गुरूजी



पचमढ़ी राज-भवन के उद्यान में राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसादजी और डॉ. पट्टाभि सीतारामैया के साथ शुक्लजी



शुक्लजी अपने तृतीय मंत्रिमण्डल के साथ

(बाईं ओर से) श्री मा. सा. कन्नमवार, श्री ब्रिजलाल बियाणी, श्री दुर्गाशंकर मेहता, [बैठे हुए] श्री रविशंकरजी शुक्ल एवं डॉ. पट्टाभि सीतारामैया; श्री भगवन्तराव मण्डलोई श्री शंकरलालजी तिवारी, राजा नरेशचंद्र, श्रीमती प्रभावती जकातदार [उपमंत्रिणी], श्री दीनदयाल गुप्ता; श्री पी. के. देशमुख



निगेरियन सद्भावना मंडल के नेता डॉ. अवोलियो के साथ
पं. रविशंकरजी शुक्ल

इसी समय हैदराबाद के चुने हुए २०० राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी प्रान्त के होमगार्ड संघटन में लिये गये और इन्हें तीन महीने में ही पूर्ण शिक्षित कर दिया गया। इन होम गार्डस् का शस्त्रागार बहुत ही अच्छा था। सीताबर्डी किले में इन्हें पूर्ण शिक्षित किया गया। होमगार्ड संघटन को सुदृढ़ करने में कर्नल गांगुली का बड़ा हिस्सा था। वे एक सच्चे देशभक्त थे।

जिन दिनों देश की आन्तरिक स्थिति संकटपूर्ण थी, जब अंग्रेज भारत छोड़ने का निश्चय कर चुके थे पर गये नहीं थे उस समय हमारे प्रान्त तथा राष्ट्र के लिये बड़ी संकट की घड़ियां उत्पन्न हो गई थी। निजाम हैदराबाद वाले बस्तर के विस्तीर्ण क्षेत्र पर अधिकार करना चाहते थे। बस्तर में बहुत अधिक खनिज पदार्थ एवं प्राकृतिक सम्पदा भरी हुई है। निजाम इस प्रदेश पर अधिकार कर अपने को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में स्थापित करना चाहता था। बस्तर पर अधिकार कर रियासत का गोदावरी का समुद्र से निकटस्थ भाग भी निजाम को एक खुले बन्दरगाह के रूप में शेष संसार से सम्बन्ध स्थापित करने में मदद दे सकता था। इस समय शुक्ल जी को किसी तरह इस षड्यन्त्र का भेद लगा। उन्होंने इस विषय में सरदार पटेल का ध्यान खींचा। इसके बाद शुक्ल जी ने बड़े प्रयत्न से छत्तीसगढ़ की १४ रियासतों को मध्य-प्रदेश में विलीन करवा लिया। इससे जहां प्रान्त के क्षेत्रफल में ३१,५८८ वर्ग मील क्षेत्र की वृद्धि हुई और ३० लाख जनसंख्या तथा २ करोड़ रुपया आय बढ़ी वहां इन रियासतों से भारतीय राष्ट्र को होने वाले संकट को दूर कर दिया गया।

संकट की इन घड़ियों में शुक्ल जी ने हमारे प्रान्त तथा राष्ट्र को किन बड़े संकटों से बचाया इसकी पूरी कहानी अभी भी अज्ञात है। राष्ट्रीय-रक्षा भेद एवं गोपनीयता की दृष्टि से उनकी चर्चा नहीं हो सकती फिर भी इतना कहा ही जा सकता है कि मध्यप्रदेश एवं राष्ट्र को संकट के इन क्षणों में कई भीषण षड्यन्त्रों एवं आपत्तियों से शुक्ल जी ने बचाया था। सरदार पटेल ने शुक्ल जी के इन कार्यों को बहुत ही अधिक सराहा था। इन कार्यों का पूरा विवरण भविष्य के इतिहास के पन्नों में कभी प्रकाशित हो सकेगा।

७२ वीं वर्षगांठ : जनता का प्रेम:—१९४७ के अगस्त मास में रायपुर में शुक्ल जी की ७२ वीं वर्षगांठ धूमधाम से मनायी गयी। इस अवसर पर जनता की ओर से शुक्ल जी को १ लाख ७१ हजार रुपयों की थैली भेंट की गयी थी। इस में शुक्ल जी ने ५० हजार रुपये जबलपुर के शहीद स्मारक के लिये, २१ हजार रुपये खादी विद्यालय, रायपुर को, चालीस हजार रुपया समाज सेवा आश्रम शंकर नगर, रायपुर को समर्पित कर दिये। शेष धनराशि जनता के ट्रस्टी एवं पंचों के नेता महन्त लक्ष्मीनारायणदास को सार्वजनिक कार्य के लिये दे दी गयी। इस जयन्ती के अवसर पर महासमुन्द की जनता ने शुक्ल जी को चान्दी की मुद्राओं से तौलकर तुलादान किया। शुक्ल जी ने यह सारी चान्दी कांग्रेस संस्था को दे दी। उक्त घटनायें जहां शुक्ल जी की लोकप्रियता की साक्षी हैं वहां इनसे उनकी त्यागवृत्ति का भी परिचय मिलता है।

म. गांधी का बलिदान:—३० जनवरी १९४८ को राष्ट्रपिता म. गांधी की निर्मम हत्या एक हिन्दू युवक द्वारा कर दी गयी। इससे सारे देश के साथ हमारा प्रान्त विक्षुब्ध होगया। म. गान्धी नोआखाली की यात्रा के बाद पहली बार मध्यप्रदेश लौट रहे थे। शुक्ल जी के नेतृत्व में प्रान्त की जनता उनका हार्दिक स्वागत करना चाहती थी परन्तु दुर्भाग्य से यह अवसर कभी न मिला। शुक्ल जी ने इस दुःखद अवसर पर कहा था :—"हमारी आंखें चौंधिया गयी हैं, हम कांप उठे हैं, किन्तु इस शोकार्त वेला में हमें नहीं भूलना चाहिये कि गान्धी जी शान्ति और सद्भावना के लिये जीवित रहे और इसी के लिये शहीद होगये।"

सागर विश्वविद्यालय:— शुक्ल जी के मुख्य मन्त्रित्व में सागर विश्वविद्यालय की स्थापना भी एक उल्लेखनीय घटना है। डा. हरिसिंह गौर ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये अपनी अधिकांश सम्पत्ति दे दी थी। जबसे सागर विश्वविद्यालय स्थापित हुआ है, शुक्ल जी उसके कुलपति बने हुए हैं। १९५२ से विश्वविद्यालय का शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो गया है।

हिन्दी के लिये विविध ठोस कार्य:—प्रान्त के मुख्य मन्त्रित्व के कार्य के साथ शुक्ल जी भारतीय संविधान परिषद् के सदस्य भी चुने गये थे। भारतीय संविधान की विविध महत्त्वपूर्ण धाराओं के निर्माण, संशोधन एवं परिवर्द्धन में शुक्ल जी का बड़ा योग रहा। संविधान सभा में शुक्ल जी का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी परिच्छेद में भाग लेना था। संविधान परिषद् में १३ सितम्बर १९४९ के दिन राष्ट्र की मुख्य राजभाषा का प्रश्न उपस्थित था। उस अवसर पर पं. जवाहरलाल नेहरू ने भाषा सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया। नेहरू जी के भाषण के तुरन्त बाद पं. रविशंकर जी शुक्ल ने भारत की राष्ट्रभाषा एवं हिन्दी के प्रश्न पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। इस भाषण का इतना अधिक प्रभाव हुआ कि श्री एन. गोपालस्वामी आयंगर ने एक समझौते का ऐसा प्रस्ताव रखा जिसमें राष्ट्रभाषा सम्बन्धी मतभेदों को दूर करने के लिये एक मध्यवर्ती मार्ग निकाला गया था। शुक्ल जी ने अपने भाषण में तथ्यों, प्रमाणों, युक्तियों के आधार पर हिन्दी का पक्ष रखा था, इसमें किसी तरह की कट्टरता, संकीर्णता तथा संकुचित स्वार्थ की गन्ध न थी। उसमें राष्ट्रीय एवं भाषा सम्बन्धी आधार पर हिन्दी का पक्ष रखा गया था, फल यह हुआ कि राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी प्रस्ताव में हिन्दी की स्थिति सुदृढ़ होगयी। संविधान परिषद् में दिये शुक्ल जी के भाषण का आवश्यक भाग शुक्ल जी के "विचार सम्बन्धी भाग" में प्रकाशित किया जा रहा है।

संविधान परिषद् में भाग लेकर भारतीय संविधान में हिन्दी को उसकी गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त कराने के कार्य का अभिनन्दन करने के लिये पं. रविशंकर जी शुक्ल अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३७ वें हैदराबाद अधिवेशन का उद्घाटन करने के लिये निमन्त्रित किये गये थे। २४ दिसम्बर १९४९ के दिन सम्मेलन के अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए शुक्ल जी ने कहा था :—"भारत की ३२ करोड़ जनसंख्या में १८ करोड़ की मातृभाषा होने एवं लगभग २२ करोड़ द्वारा सरलतापूर्वक समझी जाने के कारण जनता ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में तो पहले ही वरण कर लिया था, किन्तु संविधान सभा का निश्चय एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। राज्य मान्यता तो यात्रा का आरम्भ मात्र है। अभी एक और लम्बी तथा कठिन मंजिल तय करना है। संविधान सभा के लम्बे वाद-विवाद और विचार-संघर्ष तो केवल हमारी अंग्रेजी की दासता से मुक्ति पाने की अधीरता के द्योतक थे, क्योंकि यह निश्चित था कि जबतक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न तय नहीं होता अंग्रेजी ही भारत की आत्मा को जकड़ी रहती। म. गांधी की पारदर्शी दृष्टि ने यह बात पहले-पहल समझी थी और इसीलिये उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को स्वराज्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना था......हिन्दी जनभाषा से राष्ट्रभाषा होने जा रही है, वह केन्द्र और प्रान्त, प्रान्त और प्रान्त के परस्पर व्यवहार की भाषा होगी। हिन्दी के लिये यह गौरव का विषय है। किन्तु यह स्मरण रहे कि यह विजयोल्लास का कारण नहीं हो सकता है, यह तो है केवल आत्म निरीक्षण का कारण..........

शुक्ल जी ने इस अवसर पर कहा था कि "हिन्दी प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे भारतीय विधान के राष्ट्रभाषा सम्बन्धी परिच्छेद के प्रत्येक मद का, उसकी धाराओं और उपधाराओं का ध्यानपूर्वक मनन कर लें। तब उन्हें ज्ञान पड़ेगा कि अपने अभीष्ट उद्देश्य तक पहुंचने के लिये उन्हें कौन-कौन से सोपान पार करने हैं। हिन्दी का यह ठोस कार्य का युग है। देवनागरी अंकों के लिये अभी सब द्वार बन्द नहीं हुए हैं। १५ वर्ष के भीतर ही सम्भवत: और नहीं तो उसके बाद भी, नागरी अंकों के पुनरुद्धार के लिये विधान में स्थान है किन्तु यह हृदय-परिवर्तन के मार्ग द्वारा ही सम्भव है।" शुक्ल जी ने कहा था—"आजतक हिन्दी का क्षेत्र कथा, कहानी, नाटक, उपन्यास, भक्ति और दर्शन शास्त्र तक ही सीमित रहा है। शासन, कला और विज्ञान में अंग्रेजी का साम्राज्य रहा है। अंग्रेजी राज्य की समाप्ति पर और हिन्दी राजभाषा घोषित होने पर हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान लेने योग्य बनायें। इन १५ वर्षों में उसके सारे अभावों की पूर्ति कर दें।"

शुक्ल जी ने हिन्दी के क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय ठोस कार्य किये हैं। हिन्दी की शब्दावली प्रामाणिक एवं सम्पूर्ण देश में व्यवहार्य बनाने के लिये आपने नागपुर में प्रमाणीकरण परिषद् का आयोजन किया था। इसमें विविध शासनों, सरकारों एवं संस्थाओं के चुने हुए प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विषय के विशिष्ट विद्वान भी आये थे। शुक्ल जी

ने डा. रघुवीर तथा दूसरे विद्वानों की मदद से शासन शब्दकोष का निर्माण कर उसे शासन में व्यवहृत किया। शुक्ल जी ने देवनागरी लिपि को यन्त्रों की दृष्टि से अधिक सक्षम बनाने के लिये लखनऊ में हुई लिपि परिषद् में भी भाग लिया। मध्यप्रदेश में हिन्दी तथा मराठी को राजभाषा के रूप में प्रचलित कर आपने उल्लेखनीय कार्य किया। आपकी इन विशिष्ट सेवाओं को देखते हुए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने हीरक जयन्ती पर आयोजित साहित्य परिषद् के उद्घाटन करने का सम्मान आपको प्रदान किया था।

मध्यप्रदेश के निर्माता :—मध्यप्रदेश एवं राष्ट्र के विविध क्षेत्रों में शुक्ल जी की देन का पूरा लेखा-जोखा देना कठिन है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से मध्यप्रदेश की प्रगति का इतिहास शुक्ल की जीवनी का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। दूसरे प्रदेशों में मध्यप्रदेश का नाम स्मरण करते ही उसके वयोवृद्ध, अनुभवी एवं मिलनसार मुख्यमन्त्री की विशाल मूर्ति सम्मुख आ जाती है। पिछले वर्षों में मध्यप्रदेश की शैक्षणिक, आर्थिक, औद्योगिक एवं विविध क्षेत्रों में हुई प्रगति में शुक्ल जी का उल्लेखनीय योग रहा है। युद्धोत्तरकालीन विकास योजनायें, जिनसे गांवों में बसे असली भारतवर्ष का कायाकल्प हो रहा है, सदा उनकी व्यक्तिगत दिलचस्पी से पनपी हैं। पिछले ८ वर्षों में प्रान्त में जो नवीन औद्योगिक चेतना उत्पन्न हुई, गांव गांव, नगर-नगर में जो औद्योगिक जागरण हो रहा है उसमें शुक्ल जी तथा उनके सहयोगियों का यशस्वी भाग है। जब देश भर में अन्नाभाव का संकट मंडरा रहा था तब शुक्ल जी ने प्रान्त में इस प्रकार की अन्न की नीति रखी कि यहां प्रदेश में कभी अन्नाभाव अनुभव नहीं हुआ, उल्टे हमारे प्रदेश ने अन्न देकर अपनी जिम्मेदारी निबाही। खापरखेड़ा का विद्युत कारखाना, नेपा का पहला अखबारी कागज का कारखाना तथा प्रान्त भर में फैले दूसरे नवीन छोटे-बड़े उद्योग शुक्ल जी और उनके सहयोगियों के कर्तृत्व के प्रतीक बन गये हैं।

भिलाई का कारखाना :—इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दुर्ग नगर के समीप भिलाई स्थान पर १ अरब रुपयों की लागत से बनने वाला लोहे एवं फौलाद का कारखाना शुक्ल जी के अदम्य उत्साह तथा कर्तृत्व का जीता जागता स्मारक बनने जा रहा है। दो लाख की आबादी का भिलाई का यह बड़ा कारखाना जब अगले तीन-चार वर्षों में अपना पूरा उत्पादन प्रारम्भ कर देगा तो प्रान्त के औद्योगिक जीवन में कायाकल्प ही आ जायेगा। दस लाख टन तैयार लोहा प्रस्तुत करने वाले कारखाने के निर्माण से मध्यप्रदेश के आर्थिक जीवन का स्वरूप ही बदल जायेगा।

विभिन्न संस्थाओं के भव्य भवन, रायपुर, नागपुर, जबलपुर तथा सागर के विविध महाविद्यालयों की प्रगति, निर्माण एवं विस्तार में शुक्ल जी का योग रहा है। उन्होंने विद्यामन्दिर योजना के द्वारा प्रान्त में शिक्षा प्रसार की एक क्रान्तिकारी योजना प्रस्तुत की थी। एक शिक्षक से अपना जीवन प्रारम्भ कर शुक्ल जी एक लोकप्रिय, सफल शासक सिद्ध हुए हैं उनका नेतृत्व मध्यप्रदेश को वर्षों तक मिले। वे प्रदेश, राष्ट्र एवं सर्वत्र अपने महान् गुणों की देन देते हुए चिरायु हों।

शुक्ल जी आयु से राष्ट्र के सबसे वयोवृद्ध मुख्यमन्त्री होते हुए भी अपने कार्यों से चिर युवा बने हुए हैं। ब्राह्म-मुहूर्त में प्रातः ५ बजे से उठकर रात्रि में १०—११ बजे तक निरन्तर विविध क्षेत्रों में कार्य करते हुए युवा के अदम्य उत्साह से संलग्न रहते हैं। वे समाज, प्रदेश एवं राष्ट्र की समुन्नति एवं प्रगति में सदा प्रवृत्त रहते हैं। भगवान से प्रार्थना है कि वह प्रदेश के यशस्वी नेता शुक्ल जी को दीर्घायु करे।

मेरे कुछ संस्मरण

श्री रविशंकर शुक्ल

मेरे जीवन के इन ७८ वर्षों की कहानी काफ़ी लम्बी है। विभिन्न संघर्षों, संकटों और उतार-चढ़ावों में यह मेरा जीवन व्यतीत हुआ है। इसलिये इस सम्पूर्ण जीवन की कहानी सुनाने के लिये तो इस समय अवकाश नहीं है परन्तु अपने इस दीर्घ जीवन में मैंने जिन आत्मीय जनों से कुछ सीखा, जिन महापुरुषों के सम्पर्क-सहयोग से मैं आगे बढ़ा और जिन ग्रन्थों ने मुझे प्रेरणा दी उन सबके विषय में कतिपय पृष्ठों में अपनी स्मृतियों को प्रस्तुत कर रहा हूं।

हमारे दादा पं. रामचन्द्र जी शुक्ल पं. गयाप्रसाद दुबे की जायदाद के जनरल मैनेजर थे। वे ७०-८० गांवों का प्रबन्ध देखते थे। मैं अपने दादाजी (आजा) के साथ वहां जाया करता था। हमारे दादा की कान्यकुब्ज समाज में अच्छी प्रतिष्ठा थी। उनके साथ की एक-दो घटनाओं की याद आज भी ताज़ी है। मैं उनका अकेला नाती था इसलिये मैं उनके साथ ही रहता था। उस ज़माने में शादी-विवाह में हंसी-मज़ाक बहुत हुआ करते थे, इन अवसरों पर कई बार बड़े दिलचस्प मज़ाक भी हो जाते थे। उन दिनों बरात का भोजन रात को अधिक हुआ करता था। सागर के बुन्देलखण्डी जिले में रीति-रिवाज बहुत मनोरंजक हैं। आजकल तो हमें दूध देखने को नहीं मिलता है परन्तु उस ज़माने में घी-दूध की बड़ी प्रचुरता थी। एक बार किसी बरात में रात के समय पक्का भोजन कराया गया। भोजन के अन्त में दूध, शक्कर और मैदा की पूरियां परोसने का रिवाज़ था। बड़े आग्रह से इन्हें परोसा जाता था। मुझे स्मरण है कि जब रात को दूध परोसने का समय आया तो एक बड़ा गंज जिसमें दस-बारह सेर दूध था उनके सामने लाकर रख दिया गया। यह घटना सम्भवतः रहली की थी। दूसरी बात मुझे उनके साथ अपनी बुआ के लड़के कन्हैयालाल दीक्षित की बरात में जाने का अवसर मिला था। यह विवाह आवन्दा गांव (जिला होशंगाबाद) में हुआ था। हम लोगों का डेरा एक अमराई में था। उन दिनों गर्मी का मौसम था। मैं तो बहुत छोटा था। छोटे बच्चों को बरात में जाने का शौक रहता है। मुझे इस अवसर पर लू लग गयी थी तो आजा ने मेरी बड़ी सेवा-सुश्रूषा की। वे मुझे आम का शरबत पिलाते थे इसे देह में लगाते थे और इसे ही सूप में लगा कर उससे हवा करते थे। एक-दो रोज में ही मैं अच्छा होगया और उनके साथ हाथी पर बैठकर लौटा।

हमारे दादा (आजा) बड़ी दृढ़ प्रकृति के थे। उनकी शारीरिक सम्पत्ति भी बहुत अच्छी थी। उनका देहान्त सन् १८६१ में ६२ वर्ष की अवस्था में हुआ। उस समय भी वे ३०–३२ मील घोड़े पर सवार होकर जाते थे। वे घोड़े के पक्के सवार थे। उन दिनों उनके साथ दौरे पर सदा ४–६ सिपाही रहते थे। ये सिपाही इतने हट्टे-कट्टे और मजबूत रहते थे कि कन्धोपर लट्ठ रख कर घोड़े के साथ पैदल दौड़ते थे। अगर कोई आदमी दौड़ने व साथ जाने में कम निकलता था तो नौकरी से अलग कर दिया जाता था। घर के नौकरों को तनख्वाह के रूप में ४–५ रुपये ही दिये जाते थे परन्तु खाने को भरपूर दिया जाता था। उन दिनों कोई ऐसा नौकर न था जो २–३ सेर अनाज से कम खाता हो। मुझे मातावदल नामक एक बहुत ही सबल नौकर की भी याद है। यह बहुत ही हट्टा-कट्टा और मजबूत था। वह एक बार में पांच सेर आटा और पाव-पाव भर घी खा जाता था। यह व्यक्ति असाधारण था। उस ज़माने में कोई असामी चीं-चपड़ करता था तो यह आदमी उसे ठोंक कर लौट आता था।

उस जमाने में जब मैं छोटा था तो घर के नौकर केवल नौकर की हैसियत से न रहते थे, वे घर के वंश की दृष्टि से देखे जाते थे, उनमें हिन्दू और मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता था। हमारे घर में बरौआ, धोबी, मेहतर आदि को सब काका-बाबा कहते थे और वैसे ही वे बड़े प्रेम से हमारे साथ बरताव करते थे। हमारे यहां हिन्दू-मुसलमान का ऐसा कोई मतभेद नहीं था जैसे कि आजकल है, हां, धार्मिक आचार-व्यवहार में कट्टरता अवश्य थी। हमारे यहां एक मुसलमान नौकर था। उस नौकर ने एक बार मुझे नर्मदा में डूबने से बचाया था। उस समय मेरी उम्र डेढ़-दो वर्ष की थी। वह नौकर इतना अधिक विश्वासपात्र था कि जहां घर की बहू-बेटियां जाती थीं उनके साथ जाता था। एक बार बैलगाड़ियों में हम माता जी के साथ जबलपुर जा रहे थे। नर्मदा जी के घाट पर रेती पर गाड़ी खड़ी कर हम सब लोग चैन से सो रहे थे। इतने में रात को नर्मदाजी का पूर आगया। उस विश्वासपात्र नौकर बहादुरखां ने हम सबको बचाया। वह हम सबको तथा सारे सामान को किनारे पर ऊपर ले आया और सबको बचा लिया। वह घटना बर्मान घाट पर हुई थी। मुझे यह भी स्मरण है कि जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो वह घुटनों तक की धोती पहनकर हमें खिलाया करता था।

मैं अपनी माता का इकलौता लड़का था। यद्यपि मेरी तीन सगी बहनें थीं परन्तु बचपन से ही माता जी का मेरे ऊपर विशेष प्रेम था। जब मेरी अवस्था लगभग ७-८ वर्ष की थी तब मुझे और मुझ से छोटी बहन को भी मियादी बुखार या टायफायड होगया। दोनों अलग-अलग कमरे में रखे गये थे और दोनों को डिलीरियम (उन्माद) होगया। इन दिनों मैं निरन्तर अचेतनावस्था में रहता था। ८-१० दिन के बाद जब मुझे होश आया तो मुझे सबसे पूर्व अपनी स्नेहमयी मां के दर्शन हुए। मैंने देखा कि वे मेरे पास बैठी हुई हैं। उन दिनों मुझे डाक्टर की दवा दी जाती थी और मेरी बहन को वैद्यक की (वैद्य दुर्गाप्रसाद द्वारा)। टायफायड की बीमारी में और बीमारी दूर होने पर हम भाई-बहनों की कमजोरी के दिनों में माता जी ने जिस अपूर्व स्नेह एवं ममता से हमारी सेवा की है उसका चित्र मेरे हृदय-पटल पर आज भी मौजूद है, उस चित्र को मैं कभी भी भूल नहीं सकता। वैद्य की दवा से मेरी बहन तो बहुत जल्दी नीरोग हो गयी और जैसा कि कहा जाता है कि टायफायड की बीमारी से उठने के बाद व्यक्ति सामान्यतया मोटे-ताजे हो जाते हैं, मेरी बहन तो नीरोग हो जाने के बाद जल्दी ही हृष्ट-पुष्ट होगयी परन्तु मुझे स्मरण है कि डाक्टर द्वारा साल भर तक पोर्ट वाइन नियमित रूप में दिये जाने पर भी मैं उतना मोटा-ताजा नहीं हो पाया जितनी मेरी बहन।

जबतक मैं अपने आजा की मृत्यु के पश्चात् राजनांदगांव नहीं आया तबतक मेरा सम्पर्क पिताजी से बहुत कम रहा। माताजी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, उनमें शक्ति भी विशेष थी और काम करने की इच्छा भी। घण्टों का काम मिनटों में पूरा करने की उनकी क्षमता थी। परोपकार करने की उनकी विशेष लगन थी। किसी पड़ोसी के यहां कोई बीमारी हो जाने या कठिनाई उत्पन्न हो जाने पर वे सदा उसकी सहायता के लिये रात-दिन तैयार रहती थीं। माताजी में धार्मिक भावना तो थी ही परन्तु उन्हें कान्यकुब्जों की सामाजिक परम्परा का भी बड़ा गर्व था। जबतक वे जीवित रहीं और स्वस्थ रहीं तबतक रिश्तेदारों को छोड़कर अन्य किसी का रसोईघर में प्रवेश असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। वे बड़े जतन से रसोई का सारा काम सम्भालती थीं। उनके काम में मेरी पत्नी उनका हाथ बटांती थी। उन दिनों रसोई में कोई नौकर नहीं रखा जाता था; कुछ समीप के रिश्तेदारों को छोड़कर कोई दूसरा व्यक्ति हमारे यहां रसोई नहीं बनाता था। घर की इस परम्परा का मेरे ऊपर भी बड़ा प्रभाव रहा और जबतक सत्याग्रह में भाग लेकर जेल जाने का निश्चय मैंने नहीं किया तबतक मैं भी उस कट्टरता का पक्षपाती बना रहा। इन बन्धनों को तोड़ने का निश्चय मैंने उस समय किया जब मैंने इस बात का निश्चय कर लिया कि मुझे गान्धी जी के नमक सत्याग्रह में भाग लेने पर जेल जाना पड़ेगा। पहली बार मैंने बम्बई के सरदारगृह में ये जातीय बन्धन तोड़े वहां सरदारगृह में बना भोजन किया। बम्बई से हम म. गान्धी की डाण्डी यात्रा के कार्यक्रम में दो स्थलों पर सम्मिलित होने के लिये गये। मेरे साथ सेठ गोविन्ददास और पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र थे। इस ऐतिहासिक राष्ट्रीय यात्रा के अवसर पर मैंने इन सब बन्धनों को तिलांजलि दे दी।

हर बार जब मैं जेल जाता था तब मेरी मां मुझ से कहा करती थीं—"भैय्या ! पता नहीं तुमसे अब भेंट होगी या नहीं ?" मैं उन्हें सदैव आश्वासन देता था कि "मेरे लौट कर आने तक तुम जीती रहोगी।" १९३० में एक बार वे मुझ से मिलने बीमारी की हालत में सिवनी जेल गयी थीं। फिर, १९३० से ४० तक के दस वर्षों में वातरोग के कारण वे चाहते हुए भी मुझ से मिलने जेल न जा सकी थीं। १९४० में जब मैं सिवनी जेल में था तब उनकी मृत्यु होगयी। मध्यप्रदेश सरकार ने इस घटना की सूचना मिलते ही, मुझ से बिना पूछे ही कि मैं जाना चाहता हूँ या नहीं, मुझे छोड़ने का आदेश सिवनी जेल सुप्रिन्टेन्डेन्ट को पहुँचा दिया था। परन्तु इस आदेश में एक बड़ी दिलचस्प बात यह थी कि उस समय के चीफ सेक्रेटरी ने जो कि एक हिन्दू थे—मुझे केवल दस दिन की मोहलत जेल से जाने के लिये दी थी। तेरहवीं के लिये मुझे पूरे तेरह दिन का समय तथा आने-जाने के लिये दो दिन-कुल मिलाकर पन्द्रह दिन का अवसर चाहिये था। इस सम्बन्ध में मैंने चीफ सेक्रेटरी को पत्र लिखकर पन्द्रह दिन की मोहलत चाही, जिसके लिये मुझे अनुमति मिल गयी। पन्द्रह दिन की अवधि समाप्त होने पर जब मैं सिवनी जेल के दरवाजे पर गया तो मुझ पर दूसरा नज़रबन्दी का आदेश लागू किया गया। यह नज़रबन्दी का आदेश पहले से ही तैयार था और यह दरवाजे पर मुझे दिया गया था। कानून की दृष्टि से जेल से एक बार छोड़े जाने पर पुराने नज़रबन्दी आदेश के अनुसार मुझे पुनः जेल में रखा नहीं जा सकता था फलतः मुझे नवीन आदेश के अन्तर्गत नज़रबन्द किया गया।

मेरी माता जी में अतिथि-सत्कार की भावना बहुत अधिक थी। वे बहुत प्रेम से घर में आये मेहमानों तथा अति-थियों का सत्कार किया करती थीं। उनमें धार्मिक प्रवृत्ति बहुत अधिक थी, वही धार्मिक प्रेरणा मेरी धर्मपत्नी में भी है जो पुरातन पारिवारिक सांस्कृतिक परम्पराओं को बड़ी निष्ठा और श्रद्धा से निबाहती रहती हैं। धर्मप्राण परिवार में जन्म लेने के कारण बचपन से ही मेरे जीवन पर धार्मिक संस्कारों का बड़ा प्रभाव रहा है। मेरे चाचा श्री गजाधर-प्रसाद जी शुक्ल के पिता प्रतिदिन पार्थिव पूजन किया करते थे, वे प्रतिदिन पार्थिव शिवलिंग बनाते थे और सूर्य का पूजन करते थे। उनके संस्कारों का ऐसा प्रभाव हुआ है कि वे जिस मुद्रा में बैठकर पूजा करते थे लगभग उसी प्रकार की स्थिति एवं मुद्रा में मैं भी भक्तिभाव से पूजापाठ किया करता हूं।

मेरे पिता जी (पं. जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल) और चाचा जी (पं. गजाधरप्रसाद शुक्ल) दोनों की ही शारीरिक सम्पत्ति बहुत अच्छी थी। उनके जमाने में खाने-पीने की चीजें और दूध-घी बहुत सस्ता था। मेरे बचपन में रुपये का सोलह सेर दूध मिलता था और घर में कभी दूध-घी की कमी नहीं रहती थी। उन दिनों सागर के हर मोहल्ले में अखाड़े होते थे और हमारे पिता व चाचा अखाड़े में कुश्ती लड़ते थे। दोनों के शरीर पहलवानों के समान गठीले और सुन्दर थे।

मुझे स्मरण है कि हमारे खेलने और व्यायाम करने के लिये घर में ही एक अखाड़ा बना दिया गया था। हमारे चाचा जब सागर आते थे तो मोहल्लेवाले पटा-बनेटी आदि के एक से एक अच्छे खेल दिखाते थे। वे बहुत ही अच्छा प्रदर्शन किया करते थे। मुझे यह भी स्मरण है कि जबलपुर में जब मेरे चाचा गोकुलदास मिल के सेक्रेटरी थे तब उन्होंने गोकुलदास के वर्तमान महल के पीछे की तरफ एक बड़ा अखाड़ा बनवाया था। यह अखाड़ा इतना बड़ा था कि इसमें ५०–१०० आदमी दण्ड-बैठक कर सकते, मुगदर घुमा सकते और कुश्ती लड़ सकते थे। मेरे चाचा अपने साथ मुझे भी अखाड़े में ले जाते थे। उन दिनों मैं उनके साथ रहता था। एक बार का मुझे स्मरण है कि मैं और सेठ गोविन्ददास के पिता श्री जीवनदास जी जांघिया लगा कर इस अखाड़े में कुश्ती लड़े थे। परम्परागत मिली सुन्दर पैत्रिक शारीरिक सम्पत्ति, अच्छे घी-दूध और व्यायाम के शौक से मुझे यह इतना सुन्दर शरीर मिला हुआ है। वकालत के दिनों में नियमपूर्वक दण्ड-मुगदर करता रहा, क्रिकेट तथा दूसरे खेल भी बड़े शौक से खेलता रहा।

चाचा के देहान्त के पश्चात् और राजनांदगांव की सी. पी. मिल्स का स्वामित्व शा वालिस को हस्तान्तरित होने के बाद भी हमारे पिता जी को मिलवालों ने अपनी नौकरी पर कायम रखा था। जब मैं नागपुर के हिस्लाप कालेज

न पढ़ता था या जब मैं खैरागढ़ में हैडमास्टर था तब अनेक बार राजनांदगांव में कई दिनों तक रहने का अवसर मिलता था। राजनांदगांव में रहने वाले कुछ प्रमुख अफसर पुलीसघर के मैदान में क्रिकेट खेला करते थे। वहां पिताजी के साथ मैं भी जाया करता था। जब मैं कालेज में विद्यार्थी था उन दिनों राजनांदगांव मिल्स में एक बंगाली मुसलमान डाक्टर थे। उनसे मेरे पिताजी की घनिष्ट मित्रता थी। डाक्टर साहब को भी कसरत का अच्छा शौक था, और वे डम्बल्स करते थे। डाक्टर साहब कसरती नवजवान थे, वे डम्बल्स करने से सुपुष्ट अपनी मांस पेशियां सबको दिखाया करते थे। एक दिन की बात है कि डाक्टर साहब ने सबको चुनौती दी कि जो कोई चाहे उनसे कुश्ती लड़ ले। डाक्टर साहब मेरे पिताजी से उलझ पड़े। पिताजी तो अखाड़े में कुश्ती लड़े हुए थे। पिता जी ने उन्हें उठा कर एक दांव मारा तो डाक्टर साहब चारों खाने चित्त होगये। पांच–छः साल के बाद फिर एक बार क्रिकेट के मैदान पर ऐसा ही मौका आगया डाक्टर साहब दुबारा पिताजी से भिड़ गये। पिताजी ने उन्हें फिर दे मारा और डाक्टर साहब से कहा कि अब फिर मेरे पास आने की हिम्मत न करना।

जब मैं रायपुर में वकालत करने लगा तो पिता जी ने नौकरी छोड़ दी और वे मेरे साथ ही रहने लगे। जब असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तब पिताजी इस बात के विरुद्ध थे कि मैं वकालत छोड़ूं। उनकी आज्ञा का पालन कर मैंने वकालत छोड़ने की घोषणा तो नहीं की क्योंकि मैं जानता था कि मेरे पास इतना धन नहीं है कि मैं कुटुम्ब का पालन वकालत छोड़ कर भी कर सकूं, इसलिये मैंने वकालत तो नहीं छोड़ी किन्तु मेरा अधिक समय कांग्रेस के कार्य में लगता रहा। मई १९२२ में रायपुर जिला राजनीतिक परिषद् के अवसर पर जब मुझे गिरफ्तार किया गया तब पुलिस अधीक्षक (सुप्रिन्टेण्डेन्ट) तथा जिलाध्यक्ष दोनों अंग्रेज अधिकारियों ने मेरे पिता जी को बुला कर कहा कि यदि वे व्यक्तिगत मुचलका दे दें तो इन्हें छोड़ दिया जायगा। उस समय पिताजी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था —"मैं अपने लड़के की मर्जी के खिलाफ कुछ नहीं कर सकता। मैं अपना कर्तव्य पालन करता हूं, वह अपना कर्तव्य पालन करता है।" तब वे दोनों अंग्रेज अधिकारी पिता जी को मेरे पास ले आये। उनकी आपसी बातचीत को जाने बिना मैंने पिता जी से कहा था—"मैं अपने कर्तव्य का पालन करता हूं। आप अपने कर्तव्य का पालन करें।"

उन दिनों जिला राजनीतिक परिषद् के सिलसिले में मेरे घर पर श्री राघवेन्द्रराव तथा परिषद् के दूसरे बहुत से प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। पिताजी ने इन लोगों से भी कहा कि आप लोग किसी संकोच में न पड़िये। आप अपना काम कीजिये। मेरी अनुपस्थिति में पिता जी ने उन लोगों का आतिथ्य-सत्कार मुझ से ज्यादा किया और उन लोगों को यह मालूम न होने दिया कि मेरी गिरफ्तारी से उन्हें किसी बात की चिन्ता है।

इस घटना के दो वर्ष बाद सन् १९२४ में उनका स्वर्गवास होगया।

* * *

मेरे जीवन में कुछ पुस्तकों ने भी विशेष प्रभाव डाला। शैशव एवं बाल्यावस्था में सबसे पूर्व मेरे जीवन पर प्रभाव डालने वाली पुस्तक रामायण थी। यह ग्रंथ भारत की अमूल्य सांस्कृतिक थाती है। इसने कोटि-कोटि भारतीय-जनों के जीवन को सुख, शान्ति और सन्तोष प्रदान किया है। गांव-गांव की चौपालों में, मौहल्ले-मोहल्ले और घर-घर में प्रतिदिन श्रद्धा-भक्ति से रामायण की चौपाइयां गायी जाती हैं। मैं कह सकता हूं कि जीवन के प्रभात में मिली इस पुण्य प्रेरणा ने अनजाने ही मेरी शक्ति और साधना के आदि स्रोत का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। समय-समय पर आज भी अनेक चौपाइयां आकर मेरे स्मृति-पटल पर मंडराने लगती हैं और मेरे मानस को एक नई स्फूर्ति और चेतना दे जाती हैं। मुझे अपने जीवन में आयी प्रत्येक उलझन का सामना करने के लिये रामायण से प्रेरणा मिली है और संकट के क्षणों में अपना मार्ग बनाने व आगे बढ़ने में इससे उत्साह मिला है।

बाल्यावस्था के संस्कार जीवन भर स्थिर रहते हैं। मेरे बचपन के धार्मिक संस्कार मेरे जीवन में आज भी स्थिर हैं। हम उन दिनों रामायण पढ़ते थे। तुलसीकृत रामायण तो घर में पढ़ी जाती थी, साथ ही मैं बड़े मनोयोग से गद्य में रामायण की कथा भी पढ़ा करता था। रामायण के संस्कारों ने मुझे रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं

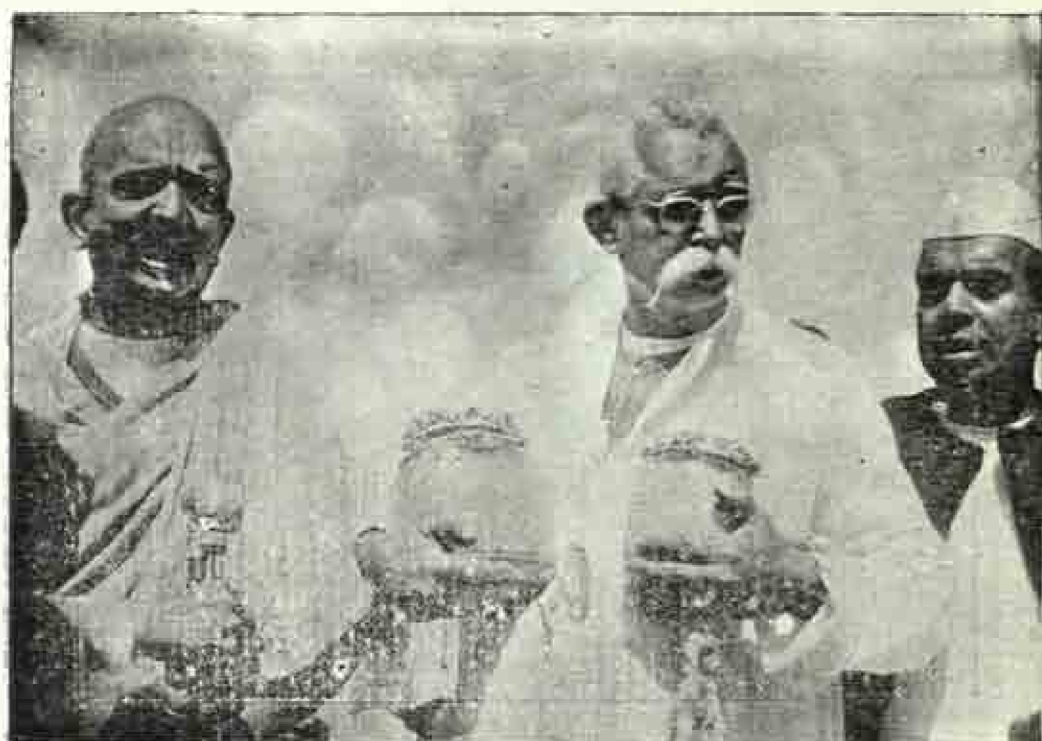
के प्रति भी आकर्षित किया। कृष्णलीला की रुचि ने मुझे 'प्रेमसागर' पढ़ने में प्रवृत्त किया। रामायण से यदि मुझे जीवन का आदर्श समझने की सीख मिली तो गीता से मुझे जीवन का वास्तविक दर्शन हुआ। लोकमान्य तिलक के 'गीता रहस्य' के पढ़ने व अध्ययन का अवसर मिलने के पूर्व ही मैं लखनऊ के नवलकिशोर छापाखाना की छपी गीता का प्रति-दिन पाठ किया करता था। मैं इन ग्रन्थों को जितना गुनता था उतना ही रस मुझे मिलता था। इन्हीं दिनों मुझे अपने मित्र स्व. श्री माधवराव सप्रे द्वारा अनूदित लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की प्रसिद्ध कर्मयोगिनी टीका "गीता रहस्य" को पढ़ने और समझने का अवसर मिला। मेरा विश्वास है कि गीता का जीवन-दर्शन प्रत्येक जाति, धर्म, देश और काल को अमर संदेश देता है। यह ग्रंथ-रत्न मानव समाज की अक्षय सम्पत्ति है।

किशोरावस्था में मैंने रामायण और महाभारत से सन्देश लिया था। यौवन के प्रारम्भ से ही मैं हिन्दू जीवन की बुद्धिसङ्गत व्याख्या ढूंढने के लिये लालायित हो उठा। इन्हीं दिनों मेरे हाथों में थियोसाफिकल सोसायटी की अंग्रेजी मासिक पत्रिका "आर्य बाल बोधिनी" (Arya Bal Bodhini) आयी। एनी बीसेण्ट की प्रभावशालिनी लेखनी ने जल्दी ही मुझे मुग्ध कर दिया और मैं इस मासिक पत्रिका का नियमित पाठक बन गया। उनकी "आइडिया आफ हिन्दू यूनिवर्सिटी" शीर्षक लेखमाला से मुझे हिन्दू दर्शन का नवीन वैज्ञानिक स्वरूप देखने और समझने का अवसर मिला। उन दिनों विदेशी दासता में जकड़े हम भारतीय अपने हीन भाव के कारण अपनी प्रत्येक भारतीय परम्परा व रीति को तिरस्कृत एवं हीन समझने लग गये थे। एनी बीसेण्ट की लेखमालाओं ने मेरे तथा मेरे जैसे जिज्ञासु व्यक्तियों की आंखें खोल दीं और हम लोग अपने देश और संस्कृति के प्रति गर्व करने लगे। लेडबिटर की "हिडन साइड आफ थिंग्ज"—"वस्तुओं का अदृष्ट पक्ष" तथा "एन्शियेन्ट विजडम"—'पुरातन ज्ञान' नामक एनी बीसेण्ट की पुस्तकों ने मुझ पर विशेष प्रभाव डाला। रामायण और गीता का पाठ करते हुए जिन सिद्धान्तों की शिक्षा मैंने ग्रहण की थी उन्हीं की बुद्धिसङ्गत व्याख्या पढ़ कर मुझे हार्दिक प्रेरणा मिली। इन्हीं दिनों मुझे कई दूसरी थियोसाफिक पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। इन पुस्तकों में एनी बीसेण्ट द्वारा हिन्दू कालेज के लिये लिखी गयी प्राइमरें, एल्काट और मैडम-ब्लेवेट्स्की की "सिक्रेट डाक्टरिन," डा. भगवानदास की "लाज आफ मनु इन दि लाइट आफ थियोसोफी" नामक पुस्तकों ने मेरे ऊपर इतना अधिक असर डाला कि मैं सन् १९०३ में थियोसाफिकल सोसायटी का सदस्य भी बन गया। सोसायटी के एक लेख "ह्वाट डज हेप्पीनेस कनसिस्ट इन" में बतलाये इस सिद्धान्त को कि 'इन थॉट, वर्ड एण्ड डीड, बी लीस्ट हार्मफुल एण्ड मोस्ट हेल्पफुल टू आल लिविंग बीइङ्गस' अर्थात् मन, वाणी और क्रिया से सभी जीवित प्राणियों के लिये न्यूनतम हानिप्रद और अधिकतम सहायक बनो।"—मैंने अपने जीवन का गुरुमन्त्र स्वीकार कर इसके अनुसार स्वयं को ढालने का प्रयत्न किया। भारत के राष्ट्रीय एवं बौद्धिक जागरण में एनी बीसेण्ट तथा थियोसाफिकल विचारधारा का विशेष महत्त्व रहा है। इस बौद्धिक जागरण की पृष्ठभूमि में एनी बीसेण्ट और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के "होमरूल" आन्दोलन का जन्म हुआ और परिणामस्वरूप राष्ट्र में उस अदम्य राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ जिससे स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य में बड़ी सहायता मिली।

मेरी सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारधारा को इस प्रकार बुद्धिसंगत व्याख्या मिली और राष्ट्रीय जागरण के लिये उचित प्रेरणा। इसी समय एक बहुत ही प्रभावपूर्ण पुस्तकमाला पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। रेवरेण्ड डी. आल्टन की आठ जिल्दों में लिखी गयी ऐतिहासिक पुस्तक 'हिस्ट्री आफ आयरलैण्ड' का मेरे ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा। एक छोटे तथा अदम्य भावना वाले राष्ट्र के अपूर्व त्याग की रोमांचक कथा मेरे हृदय पर सदा के लिये अङ्कित होगयी। इस अपूर्व ग्रंथ का अध्ययन करने के बाद मुझे अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण का निर्माण करने के लिये दो मौलिक तत्त्व प्राप्त हुए। पहला मौलिक तत्त्व मुझे यह मिला कि कोई राष्ट्र अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिये दूसरे राष्ट्र को अपनी अधी-नता में रखने के लिये कितने अत्याचार कर सकता है, वह अपने इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये विजित देश की भाषा, संस्कृति और धर्म का अपहरण कर पूर्णतया उसे आत्मसात् करना चाहता है। देश की भाषा, संस्कृति और धर्म को नष्ट कर अंग्रेजों ने आयरलैण्ड पर ऐसे-ऐसे विचित्र व भयंकर अत्याचार किये, जिन्हें पढ़-सुनकर रोमांच हो जाता है।



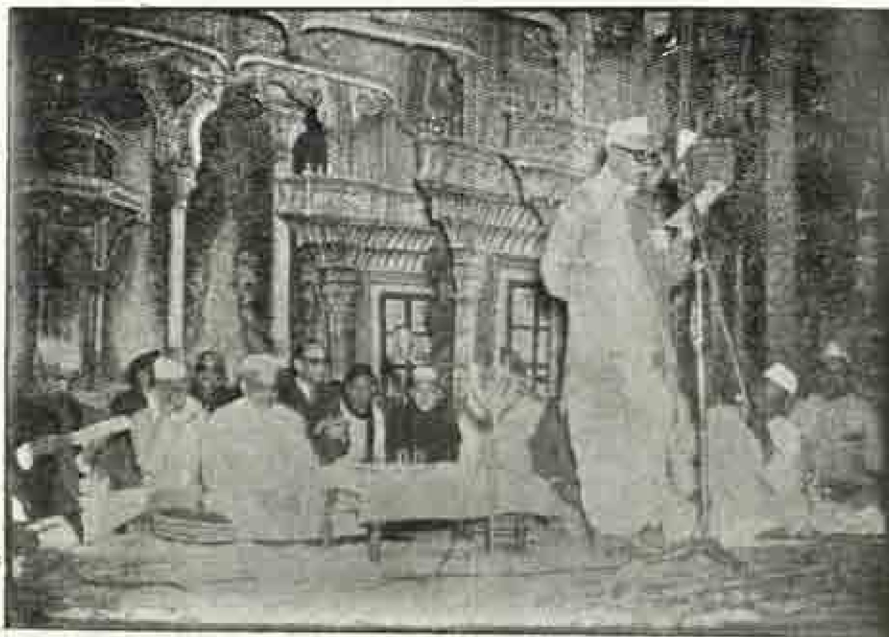
शुक्लजी महात्माजी के निधन के पश्चात्
सेवाग्राम की कुटिया में पंडित नेहरू के साथ



शुक्लजी तिलवारा घाट में महात्माजी की अस्थियों का विसर्जन करते हुये
प्रांताध्यक्ष बाबू गोविंददास जी के साथ



जैतूसाव छात्रालय के उद्घाटन प्रसंग पर सरदार वल्लभ भाई पटेल के साथ शुक्लजी और अन्य कार्यकर्ता



शुक्लजी नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक जयंति के अवसर पर राष्ट्रभाषा सम्मेलन का उद्घाटन भाषण करते हुए

कुछ विशिष्ट प्रसङ्गों में शुक्लजी



गोल्फ खेलते हुए



राज्यपाल डा. पट्टाभि के साथ मंत्रियों की क्रिकेट टीम के कैप्टन के रूप में



पौत्र के साथ मनोरंजन



पिस्तौल के साथ



शुक्लजी गोंदिया में महात्मा गांधी की मूर्ति का अनावरण करते हुए



शुक्लजी भारत के तत्कालीन सेनापति जनरल करिअप्पा के साथ

आयरलैण्ड का रोमांचक इतिहास पढ़ कर दूसरा तत्त्व मुझे यह प्राप्त हुआ कि पराधीन राष्ट्र के लोग स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये कितने असीम कष्ट सहन कर सकते हैं। आयरलैण्ड का ७५० वर्षों का स्वातंन्त्र्य प्राप्ति का इतिहास इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। आयरिश जनता ने अपूर्व देश-प्रेम, मनोबल, त्याग और शौर्य का प्रदर्शन किया था। आयरिश जनता का स्वतन्त्रता का आन्दोलन हम भारतीयों के लिये अमेरिकन क्रान्ति से भी अधिक प्रेरणादायक बन गया था। उसने हमें सिखाया कि बड़े से बड़ा पशुबल भी किसी राष्ट्र की जनता के मनोबल या निष्ठाबल को नहीं झुका सकता। मुट्ठी भर आयरिश जनता ने ऐसे कष्ट सहन किये जिनकी आज कल्पना नहीं की जा सकती। आयरिश स्वातन्त्र्य-योद्धाओं का उदाहरण अनुकरणीय था और हमारे लिये पथ-प्रदर्शक बन गया था। उनका संगठन और अनुशासन विलक्षण था। सारे देश में एक ही लगन थी, एक ही धुन थी कि विदेशी सत्ता से अपने को कैसे मुक्त किया जाय। हर आयरिश बालक प्रत्येक क्षेत्र में इसी लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये दीवाना बन उठा था।

अपने राष्ट्र, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिये उन्होंने सारे देश में अलख जगा दी थी और सब सम्भव उपायों का अवलम्बन कर उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता, संस्कृति, धर्म और भाषा की सुरक्षा की। आयरलैण्ड में रोमन कैथोलिक अपने धर्म का प्रचार नहीं कर सकते थे। आयरिश पादरी यूरोप में अपनी धार्मिक शिक्षा पूर्णकर देश में आते थे और बढ़ईगिरी, लुहारी आदि के विविध उद्योग-धन्धे करते थे। साथ ही मौका पाते ही वे अपने धर्म का प्रचार भी किया करते थे। जासूसों के डर से वे खुली सभाओं में अपना प्रचार नहीं कर सकते थे, तीन ओर से पर्दे खड़े कर के पर्दे की ओट में वे खेल के मैदान में सभा कर के भाषण देते थे। मरने से पूर्व रोमन कैथोलिक लोग पादरी के सम्मुख अपने पापों को स्वीकार (confession) करते हैं। यह कार्य आयरलैण्ड में कानून द्वारा निषिद्ध था। बहुत बार ऐसे व्यक्ति को पकड़ने पर उसे टीन के डामर भरे जूते पहनाते, सिर पर गरम डामर भरी केटली रख और उसके पैरों के नीचे आग जला कर तपाते—जब पैरों का मांस गल-गल कर हड्डी रह जाती तब ऐसे देशसेवक को अपना अपराध मानने के लिये कहा जाता, पर इस पर भी जब वह नहीं मानता, तो भीषण कालकोठरी में रख कर उसे फांसी की सजा दे दी जाती थी। इतना सब करने पर भी आयरिश लोगों की धर्म की भक्ति ऐसी अटूट थी कि जब अंग्रेजों ने गणना करवायी, तो उन्हें मालूम हुआ कि उन दिनों उस छोटे से देश में ३,००० धर्म-प्रचारक कार्य कर रहे थे। अंग्रेजों ने देश पर अंग्रेजी भाषा लादने की भी भगीरथ चेष्टा की थी और सन् १६१० में स्थिति ऐसी आ गयी थी कि केवल २१,००० व्यक्ति ऐसे थे, जो केवल आयरिश भाषा जानते थे, और शेष द्विभाषाभाषी हो गये थे। परन्तु आयरिश देशभक्तों ने अपनी मृतप्राय भाषा का पुनरुद्धार किया और अन्त में देश को भी स्वतन्त्र किया। इस आन्दोलन में नवयुवकों का बड़ा हाथ था। बड़े से बड़ा त्याग और बलिदान उनके लिये बड़ा नहीं था। आयरिश जनता ने अपने त्याग और बलिदान से संसार भर के पराधीन राष्ट्रों के सामने एक श्रेष्ठ उदाहरण रख दिया है। हमारे जैसे प्राचीन और विशाल राष्ट्र की जनता को, जो कि सात समुद्र पार के अंग्रेजों की राजभक्ति की प्रतिज्ञा लिया करती थी, आयरलैण्ड के उदाहरण ने आत्म-ग्लानि से भर दिया और आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा दी। आयरलैण्ड के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के इतिहास से मैंने अनेक पाठ सीखे और अपने क्षेत्र में उनके सफल प्रयोग का प्रयत्न किया।

* * *

महापुरुषों से प्रेरणा—मेरे जीवन में जहां तक उक्त महान ग्रन्थों ने प्रेरणा दी, वहां कुछ महापुरुषों ने भी मेरे जीवन को अपने व्यक्तित्व तथा सन्देश से अनुप्राणित किया है। जब मैं नागपुर में बी. ए. की पढ़ाई करने के लिये १८९५ में गया तब वहां गणेशोत्सव देखा। उस समय गणेशोत्सव केवल धार्मिक उत्सव नहीं रह गया था। गणेशोत्सव को सामूहिक व सार्वजनिक रूप से मनाने का प्रचार नागपुर में ही नहीं समस्त महाराष्ट्र व समीपस्थ प्रदेशों में किया जा रहा था। इस प्रकार के गणेशोत्सव को जब मैंने पहली बार देखा और उसमें बाजर के डण्डों से क्रमबद्ध होकर खेलते एवं जोशीले तथा उत्साहवर्द्धक राष्ट्रीय गाने गाते हुए बालकों की टोलियों को देखा तो सहसा मेरा युवक हृदय उनकी ओर खिंच गया। इन जोशीले गानों में स्वदेशाभिमान की भावनायें उत्पन्न करने की शक्ति थी। इन गानों में बतलाया जाता था कि जिस प्रकार छत्रपति शिवाजी ने देश में स्वतन्त्र

राष्ट्र कायम करने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार देश के युवकों को भी सन्नद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये। इन उत्सवों एवं नवयुवकों के प्रदर्शनों ने मेरे युवक मन पर विशेष प्रभाव डाला। गणेशोत्सव को सामूहिक राष्ट्रीय उत्सवों के रूप में बदलने का श्रेय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को ही था। कुछ दिनों के बाद लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक पर सरकार ने राज-द्रोह का मुकदमा चलाया। मुकदमा अंग्रेज न्यायाधीश स्ट्रेची के सामने पेश था। इस मुकदमे का मेरे तथा मेरे जैसे विद्यार्थियों के समाज पर बहुत गहरा असर पड़ा। रानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के उत्सव पर पूना में रैण्ड और अयर्स्ट की हत्या के अभियोग में चाटू बन्धुओं पर जो मुकदमा चला, उसने भी हम सब का ध्यान खींचा। लोकमान्य तिलक के पत्र "केसरी" के लेखों ने भी मेरे तथा युवकों के मानस को बड़ा प्रभावित किया। स्वर्गीय माधवराव सप्रे द्वारा अनूदित लोकमान्य तिलक के प्रसिद्ध ग्रन्थ "गीता रहस्य" तथा स्वदेशी आन्दोलन व बहिष्कार सम्बन्धी श्री सप्रे के ग्रन्थों ने हमारे हृदयों को विशेष आकृष्ट किया। बंगाल के बंगभंग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन का भी इस जन-जागरण में विशेष योग रहा।

बंगभंग आन्दोलन के दिनों में मेरे ऊपर प्रसिद्ध भारतीय विचारक योगी श्री अरविन्द द्वारा 'देशवासियों के नाम' लिखी अपील का भी विशेष प्रभाव पड़ा था। उक्त आन्दोलनों एवं विचारों से हम लोग क्रमशः स्वातन्त्र्य आन्दोलन में दिलचस्पी लेने लगे थे। उन दिनों हम लोगों की मनोवृत्ति भी हिंसा की तरफ अधिक झुकती थी। युवावस्था में थियोसाफिस्ट विचारकों व प्रचारकों से भी प्रभावित हुआ। महामना पण्डित मदनमोहन जी मालवीय से भी मेरा सम्पर्क सुदृढ़ हुआ। सन् १९१५ की बम्बई कांग्रेस के अवसर पर दो दिन तक विषय निर्द्धारिणी समिति में उनके साथ सम्पर्क का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ। बाद में जब मेरे तथा निकटस्थ सम्बन्धियों के बच्चों ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करनी प्रारम्भ की तो मुझे महामना मालवीय जी से निकट सम्पर्क का सुयोग मिला। मैं उनकी विद्वत्ता, सरलता, संघटन-शक्ति और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अपूर्व निष्ठा से बहुत अधिक प्रभावित रहा हूँ। गोहाटी कांग्रेस में मुझे पुनः उनके साथ घनिष्टता बढ़ाने का सुयोग मिला। उस अवसर पर मैं उनकी आत्मीयता से विशेष प्रभावित हो गया था। कांग्रेस के मंच पर पण्डित मदनमोहन मालवीय के भाषण सुन कर हम लोग मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे।

मेरे जीवन पर जिन महापुरुषों के व्यक्तित्व एवं सन्देश ने सबसे अधिक और चिरस्थायी प्रभाव डाला है, उनमें महात्मा गांधी प्रमुख हैं। जहां तक मुझे स्मरण है कि सन् १९०४ की बम्बई की कांग्रेस में मुझे पहली बार बैरिस्टर गांधी जी के दर्शन हुए थे। वे कांग्रेस में दक्षिण अफ्रीका से आये थे और दक्षिण अफ्रीका की परिस्थिति के विषय में कुछ कहना चाहते थे। उन दिनों माइक्रोफोन थे ही नहीं, गांधी जी का भाषण बहुत कम लोगों को सुनाई दिया, बड़ा हल्ला-गुल्ला हुआ, उन्हें अपना भाषण बन्द करना पड़ा। उनकी काली अचकन, शेरवानी और शिमले वाली काली पगड़ी की मूर्ति मेरी आंखों के सामने आज भी मौजूद है। मुझे जहां तक स्मरण है, उस समय गांधी जी ने लोगों से कहा था कि "अभी तुम मुझे सुनो या न सुनो, पर एक समय आयेगा, जब तुम्हें सुनना पड़ेगा।"

उसके पश्चात् मैंने गांधी जी को सन् १९१५ में बम्बई में ही कांग्रेस के अधिवेशन के समय फिर देखा। उन दिनों मारवाड़ी विद्यालय के ऊपर की मंजिल के कमरों में उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के अनेक सूट-बूट धारी प्रतिनिधि ठहरे हुए थे और नीचे के एक कमरे में साबरमती आश्रम के अनेक छोटे-छोटे बच्चों के साथ गांधी जी और श्रीमती कस्तूरबा ठहरी हुई थीं। हम लोग ४ बजे सुबह उनके भजन सुनते थे। हम यह भी देखते थे कि कस्तूरबा खाना बना कर बड़े प्रेम से बच्चों को खिलाती थीं और गांधी जी कच्छी पगड़ी लगाये, बारह बण्डी और धोती पहने हुए फ़र्श पर बैठे रहते थे और जिन्हें मिलना होता था, वहीं उन से मिलते रहते थे।

सन् १९२० की कलकत्ता की विशेष कांग्रेस से पूर्व महात्मा गांधी रायपुर आये थे। इससे पूर्व मैं कोट पतलून पहनता था, हैट नहीं लगाता था, फेंटा बांधता था। मैंने अपने अंग्रेजी लिबास को बदल कर हिन्दुस्तानी लिबास पहना—शेरवानी और चूड़ीदार पायजामा। पर यह वेष बहुत दिनों तक नहीं चला। सन् १९२० के दिसम्बर मास

में कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में हुआ। उसके पश्चात् तो खादी की बात चल पड़ी और मैंने पायजामा, शेरवानी छोड़ कर खादी की धोती, कुरता और कोट तथा खादी का फेंटा पहनना प्रारम्भ कर दिया। उन दिनों मेरे पहनने के लायक धोती तो मिलती ही नहीं थी, इसलिये बीच में जोड़ कर धोती बनानी पड़ती थी और वह धोती भी इतनी मोटी होती थी कि डर होता था कि कहीं खिसक न जाय, क्योंकि उसने तो ढाका की मलमल और अहमदाबाद की पतली धोतियों का स्थान लिया था। एक अंग्रेज ने जो कि राजनान्दगांव मिल का मैनेजर था और जिसके साथ हम क्रिकेट, आदि खेलते थे, एक बार मुझे खादी की वेषभूषा पहने देख कर कहा था—"तुम इसे कैसे पहन सकते हो?" उस समय मैंने उत्तर दिया था—"यह तो देश की स्वतन्त्रता मिलने का बाना है और जब तक देश से तुम्हारा राज नहीं उठ जाता तब तक यह वेषभूषा नहीं बदल सकती।"

सन् १९२१ में गांधी जी की वेषभूषा में बड़ा परिवर्तन आ गया था। उन्होंने घुटनों तक की छोटी धोती, और गांधी टोपी पहननी शुरू कर दी थी। अहमदाबाद की कांग्रेस में उन्होंने स्वतन्त्रता का बिगुल फूंका था, इससे हम देशवासियों में नवीन उत्साह का संचार हो गया था। देश के सविनय अवज्ञा भंग आन्दोलन (असहयोग) का नेतृत्व ग्रहण करने वाले प्रस्ताव को रखते हुए गांधी जी ने कहा था—"यह सत्ता को उद्धत चुनौती नहीं है, परन्तु यह औद्धत्य (घमण्ड) से परिपूर्ण सत्ता को एक विनम्र चुनौती है।" (This is not an arrogant challenge to authority; it is an humble challenge to authority enshrined in arrogance.)

राजनीतिक जीवन में मैं जितनी तेजी से आगे बढ़ रहा था, उतनी तीव्रता से गांधी जी से मेरा सम्पर्क बढ़ता गया। वैसे तो गांधी जी से सम्पर्क एवं भेंट के बहुत से अवसर मिले, परन्तु १९३३ की हरिजन यात्रा के समय उनके साथ यात्रा की कुछ ऐसी मधुर स्मृतियां हैं, जो आज भी मेरे हृदय-पटल पर अंकित हैं। महात्मा गांधी जी के महाकोशल में हरिजन कोष संग्रह सम्बन्धी सारे दौरे की जिम्मेदारी ठक्कर बापा मेरे ऊपर डाल कर दिल्ली चले गये। समय कम था और गांधी जी की मांग थी कि उन्हें प्रतिदिन ३ हजार रुपये मिलने चाहिये। प्रयत्न करने पर अकेले रायपुर में ही १४॥ हजार रुपये एकत्र किये गये और समस्त महाकोशल में ७४ हजार रुपये एकत्र कर हमने गांधी जी की मांग को पूरा कर दिया। इसी हरिजन दौरे के सिलसिले में जब गांधी जी सागर जिले के बरमान घाट पर पहुंचे तो वहां हुई एक घटना बड़ी स्मरणीय है।

बरमान घाट पर नौका चलाने वाले मल्लाहों ने गांधी जी को उस समय तक नौका पर चढ़ाने से इन्कार कर दिया जब तक गांधी जी अपने पैर उन लोगों से न धुलवा लें। गांधी जी ने कहा कि वे ऐसा काम नहीं कर सकते, पर मल्लाह भी अड़ गये और उन्होंने गांधी जी के चरण धुलाये बिना उन्हें नौका पर चढ़ाना स्वीकार नहीं किया। अन्त में, हम लोगों ने भी गांधी जी से प्रार्थना की कि जब इन सरल व सीधे सादे लोगों का इतना अधिक आग्रह है, तो आप इन से पैर धुलवा लीजिए। लाचार होकर गांधी जी को इन मल्लाहों से अपने पैर धुलवाने पड़े। बरमान घाट की इस घटना से मेरी आंखों के सामने श्री राम के पैर धुलवा कर ही नौका पर गंगा जी पार करने देने की रामायणकालीन केवट की कहानी बरबस याद आ जाती है।

इसी हरिजन दौरे के समय की एक दूसरी घटना है। वर्णाश्रम स्वराज्य संघ का स्वामी लालनाथ हम लोगों का पीछा करता था। वह जगह-जगह हमारे रास्ते पर अपने आदमियों को लेटा देता था। इसके इस दुराग्रह को रोक-थाम करने के लिये हम गांधी जी के आगे पीछे एक-एक मोटर में ५-५ स्वयंसेवक रखते थे जो स्वामी लालनाथ व उनके साथियों द्वारा रास्ता रोकने पर उन्हें उठा कर रास्ते से हटा देते थे। हम इन लोगों की गड़बड़ से दौरे के कार्यक्रम को लगभग निर्विघ्न रखने में सफल हो गये थे। जबलपुर में अवश्य एक दुर्घटना होते-होते बच गयी। वहां पर गांधी जी को जिस ठिकाने पर ठहराया गया था, उसका रास्ता बहुत तंग था (श्री ब्योहार राजेन्द्र सिंह जी का साठिया कुआं के समीप वाला घर), वहां पर भी स्वामी लालनाथ ने लौटते समय अपना विरोध प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया था। हमारे सौभाग्य से महात्मा गांधी की मोटर पहले ही निकल चुकी थी और वे स्टेशन पहुंच गये थे। कुछ उत्तेजित लोगों

ने स्वामी लालनाथ को मारा जिससे उनके सिर से थोड़ा खून बह निकला। स्वामी लालनाथ इसी भेस में सीधे स्टेशन पहुँच गये। मैं लालनाथ को अलग डिब्बे में ले गया और उन का वक्तव्य लेकर उस पर दस्तखत ले लिये। उनसे पूछा कि उनके मारने वालों में क्या कांग्रेस जन थे? उन्होंने उत्तर दिया, नहीं। हम लोगों ने बड़े प्रयत्न से इस संकट का निवारण किया। जैसे-तैसे महात्मा गांधी की यह यात्रा बड़ी ही निर्विघ्न एवं परिणाम में सन्तोषजनक रही। बापू का दौरा झांसी तक मेरे सुपुर्द कर ठक्कर बापा दिल्ली पहिले ही चले गये थे। इस दौरे में १५ दिन २४ घण्टे साथ रहते-रहते बापू के स्नेह का बन्धन बहुत बढ़ गया था। जब मैंने उन्हें झांसी में रेल में बैठाया तब उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक अपनी प्रसन्नता प्रकट की। कुमारी मीरा बेन तथा स्वर्गीय ठक्कर बापा ने इस दौरे की सफलता पर हमें बधाई दी। इस दौरे से हमें जहां प्रान्त भर में जन-सम्पर्क का सुनहरा अवसर मिला, वहां हम लोगों को रात-दिन महात्मा जी के साथ रहने से उनके महान् गुणों एवं विशेषताओं को देखने व समझने का भी अवसर मिला। मैंने देखा कि उनका जीवन घड़ी के कांटों की तरह नियमित एवं व्यवस्थित चलता है। वे प्रातः ४ बजे उठ जाते थे और प्रार्थना से पहले और पीछे आवश्यक पत्रों का जवाब लिखते या लिखवा देते थे। वे आये हुए पत्रों का सामान्यतया संक्षेप में उत्तर लिखा दिया करते थे। आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण पत्रों का ही वे विस्तार में उत्तर लिखा करते थे, अन्यथा वे संक्षेप में अपना पत्र-व्यवहार करते थे। हमने यह भी देखा कि वे प्रत्येक आयी हुई चिट्ठी को पढ़ते थे और उसके महत्त्व को देखते हुए उसका बड़ी सावधानता से जवाब लिखाते थे। मैंने महात्मा गांधी जी में दूसरी बात जो देखी, वह यह थी कि वे अपना सारा सामान बहुत ही व्यवस्थित रखते थे। उनके आवश्यक काग़ज़पत्र एवं निजी पोर्टफोलियो एक थैले में समाये रहते थे। दिन के समय वह थैला उनका चलता-फिरता दफ्तर था और रात के समय वही थैला उनके तकिये का कार्य करता था। इसी के साथ हमने यह भी देखा कि महात्मा गांधी जी और उनके दल वाले बहुत ही कम चीज़ों से अपना काम चला लेते थे। स्वच्छता, मितव्ययता और व्यवस्था उनके जीवन में एक रस हो गयी थीं। तीसरी बात हमने यह देखी कि महात्मा गांधी ने अपने शरीर को इतना अधिक नियमित एवं नियन्त्रित कर लिया था, यहां तक कि उनका नींद पर बड़ा नियन्त्रण हो गया था। काम करते-करते अथवा सफ़र करते-करते ५—१० मिनट का समय पाकर एक झपकी ले लिया करते थे। इस झपकी के बाद वे पूरी ताज़गी के साथ अपने काम में लग जाते थे। वे जितने मिनट के लिये सोते थे, उतने मिनट बाद बिना किसी की मदद के या अलार्म के उठ जाया करते थे और अपने काम में पूरे दत्तचित्त हो कर लग जाते थे।

महात्मा गांधी के उन्नत जीवन से मैंने बहुत कुछ सीखा, उनका 'सरल जीवन और उन्नत विचार' मुझे सदा प्रेरणा देते थे। मन्त्री बनने के बाद मेरा उन से सम्पर्क अधिक घनिष्ट ही होता गया। यह मेरा सौभाग्य था कि महात्मा गांधी का हेड क्वार्टर वर्धा एवं सेवाग्राम में था। हम लोगों को जब भी ज़रूरत होती थी, अथवा हमें किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता था, तो हम उनके पास पहुँच जाते थे। मुझे उन तक पहुँचने के लिये किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। वे मुझे सदा उपयोगी, स्पष्ट परामर्श देते थे। बड़े से बड़े संकट में मुझे उनकी सलाह बड़ी उपयोगी सिद्ध होती थी। उनका व्यवहार बड़ा मृदु, बोल बड़े मधुर और सीख बड़ी गहरी होती थी। जब तक वे सेवाग्राम रहे मुझे सदा उनका सहारा मिलता रहा। सन् १९३७ ई. में महात्मा जी ने अपनी नयी तालीम (Basic Education) की घोषणा की। लगभग उसी समय मेरी विद्यामन्दिर की भी घोषणा हुई। मैंने महात्मा गांधी की योजना का लाभ विद्यामन्दिर योजना के लिये उठाया और डा. ज़ाकिर हुसेन के सभापतित्व में एक समिति नियुक्त की, जिसने विद्यामन्दिर का पाठ्य-क्रम बना दिया। महात्मा जी ने मेरी योजना को पसन्द किया था। मुझे वह दिन याद है जब महात्मा जी ने विद्यामन्दिर के पाठक-विद्यार्थियों को आशीर्वाद दिया था। जब विद्यार्थियों ने उनके सम्मुख शपथ ली थी कि वे २१ वर्ष तक विद्यामन्दिर के पाठक का काम करेंगे। बापू ने उन्हें चेतावनी दी थी कि वे शपथ लें तो उसका पालन करें। उसी समय जहां तक मेरा ख्याल है विद्यामन्दिर की एक प्राथमिक शाला (प्रैक्टिसिंग स्कूल) की नींव वर्धा नार्मल स्कूल के समीप बापू ने डाली थी। खेद है कि हम लोगों के मन्त्रिपद से त्याग-पत्र देने के पश्चात् ही ब्रिटिश शासन ने उसका नाम व निशान भी मिटा दिया।



पं. रविशङ्करजी शुक्ल मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल
श्री मंगलदास पकवासा को विदा देते हुये



मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद की बैठक में मुख्यमंत्री पं. रविशङ्करजी शुक्ल



सागर विश्वविद्यालय में कुलपति रविशङ्करजी शुक्ल उपकुलपति डा. रामप्रसाद त्रिपाठी के साथ



आकाशवाणी केन्द्र नागपुर में भाषण प्रसारित करते हुए शुक्लजी



शुक्लजी अमेरिका के भूतपूर्व राजदूत श्री चेस्टर बावेल्स के साथ



शुक्लजी रायपुर में स्व० श्री लाखेजी की स्मृति में स्थापित लाखेनगर में



शुक्लजी सेवाग्राम में श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, आ०श्रीमन्नारायण एवं जानकीदेवीजी बजाज के साथ



शुक्लजी रायगढ़ में किरोड़ीमल ट्रस्ट के विविध शिल्प विद्यालय का शिलान्यास करते हुए,
सेठ किरोड़ीमलजी एवं पालूरामजी के साथ

राजनीतिक जीवन में कांग्रेस के अध्यक्ष एवं प्रधान मन्त्री के रूप में पण्डित जवाहरलाल नेहरू से सम्पर्क के बहुत अवसर मिले हैं। उनके निकट सम्पर्क से उनकी विद्वत्ता, उनकी शालीनता एवं दृढ़ चरित्र का परिचय हुआ। वैसे तो दर्जनों बार उनके साथ रहने तथा यात्रा करने का सुयोग मिला है, परन्तु उनके साथ की दो प्रारम्भिक यात्राओं की स्मृति हृदय पर आज भी अंकित है। पहिली यात्रा पहिले चुनाव प्रचार के सिलसिले में हुई थी। फ़ैज़पुर कांग्रेस के बाद उन्होंने मुझे सूचित किया था कि वे चुनाव प्रचार के लिये महाकोशल में दो दिन के लिये आना चाहते हैं उन दिनों विन्ध्यप्रदेश के कप्तान अवधेशप्रतापसिंह महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। हमें केवल ४ घंटे में ही सब प्रबन्ध करना था, इस बीच मैंने इटारसी, होशंगाबाद, पिपरिया, मटकुली, छिन्दवाड़ा होते हुए यथासम्भव अधिक स्थानों पर दौरे के कार्यक्रम की व्यवस्था की। दूसरे स्थानों के लिये मैंने फोन या तार द्वारा सब आवश्यक प्रबन्ध करवाया। मैंने दौरे के लिये इटारसी से एक मोटर टैक्सी का प्रबन्ध किया था, पर पहले ही दिन के मेरे तूफानी दौरे से ड्राइवर घबरा गया और उसने दूसरे दिन के लिये चलने से इन्कार कर दिया। होशंगाबाद पहुंच कर मुझे पता लगा कि श्री शालिग्राम द्विवेदी, वकील के यहां नयी मोटर है। मैं उनके यहा गया। वे पूजा कर रहे थे, मैं सीधे उनकी पूजा की जगह पर ही चला गया। उन्होंने पूछा कैसे आये? मैंने उनसे कहा कि एक विशेष काम से आया हूं। वायदा करो कि उसे पूरा करोगे। उन्होंने कहा कि क्या चाहिये? मैंने उन्हें नेहरू जी के दौरे का हाल सुनाते हुए अपनी कठिनाई बतलाई और उनकी मोटर मांगी। उन्होंने सहर्ष अपनी मोटर देने का वचन दिया। मोटर आने में थोड़ा विलम्ब था इसलिये टैक्सीवाला मोटर लेकर चला। शोभापुर पहुंचे। पण्डित जी व्याख्यान देने लगे कि ड्रायवर ने आगे मोटर ले चलने से इन्कार कर दिया मैंने उस ड्रायवर की बड़ी खुशामद की, उसे सब तरह से मनाने की कोशिश की पर वह किसी भी हालत में आगे चलने के लिये तैयार नहीं हुआ। ऐसे समय में बहुत ही असमंजस में पड़ गया कि अब क्या होगा? पण्डित जी का व्याख्यान समाप्त होने को था, साथ आया हुआ टैक्सी ड्रायवर आगे चलने के लिये तैयार नहीं था, वहां बस्ती में भी किसी गाड़ी के मिलने की उम्मीद नहीं थी। मैं मन में बहुत ही परेशान हो रहा था, इतने में ही शालिग्राम जी की मोटर लेकर शम्भूदयाल मिश्र आगये। मेरा जी ठिकाने आगया। अब हम इस नयी मोटर से आगे चले।

तामिया के पासबीच बियाबान जंगल में मोटर की लाइट खराब हो गयी। देरी होने से पण्डित जी बेचैन होने लग गये। कड़ी ठण्ड के दिन थे, फिर तामिया ठण्डी जगह, सुनसान बियाबान रास्ता, मोटर बीच रास्ते में ठप्प हो गयी। पण्डितजी की बेचैनी बढ़ रही थी, पर मोटर का ड्रायवर होशियार था, उसने कुछ ही मिनटों में फ्यूज़ ठीक कर बत्ती की रोशनी ठीक कर दी। हम रात को १२ बजे छिन्दवाड़ा पहुंचे। उस ठण्ड के मौसम में भी जनता बैठी हुई पण्डित जी की प्रतीक्षा कर रही थी। पण्डित जी ने अपना भाषण दिया, भोजन कर हम लोग सो गये। सुबह ५ बजे हम सब फिर उठ गये और पण्डित जी के साथ दौरे पर आगे चल पड़े। इस यात्रा की दो उल्लेखनीय बातें हैं। हम लोग मुंगेली जा रहे थे। रास्ते में कांग्रेसी उम्मीदवार श्री कुंजबिहारीलाल अग्निहोत्री चुनाव के सम्बन्ध में कुछ निराशाजनक बात करने लगे। उनकी बात सुनते ही नेहरूजी ने कहा—"आप लोगों ने कैसा उम्मीदवार खड़ा किया है। कांग्रेस की ओर से एक वालण्टियर चुनाव में खड़ा कर दो, वह जीत जायेगा।"

मुंगेली से पहले रास्ते में एक पुल पड़ता है। हमारी मोटर आते देख कर गजाधर साव नाम का एक आदमी मोटर के रास्ते में लेट गया। मोटर रुकते ही साव को रास्ते में लेटा देख कर पण्डित जी कूद पड़े। हम सब किंकर्तव्यविमूढ़ से थे, हमारे साथ् स्वयंसेवक थे। इससे पूर्व हम कुछ करते पण्डितजी दौड़ पड़े और साव की छाती पर चढ़ गये और बोले–'तू क्या चाहता है?' बद-तमीज़! तू कराची में आया था, वहां भी गड़बड़ किया था फिर इलाहाबाद में आया था वहां से भी दो दिन में भगा दिया गया था। अब फिर आ गया है।" स्वयंसेवकों द्वारा साव को रास्ते से हटा कर फिर हम आगे बढ़ गये। सोहागपुर के पास चुनाव सभा का एक और अनुभव भी हुआ। वहां रास्ते

में एक जगह चुनाव सभा की व्यवस्था की गयी थी। सभा में उपस्थित जनता नेहरू जी का स्वागत करने के लिये एक फर्लांग दूर सड़क पर चली गयी थी, इसलिये जब हम लोग सभास्थल पर गये तो वहां सभा में कोई उपस्थित नहीं था। थोड़ी देर में सभा के प्रबन्धक और जनता वहां आगयी परन्तु नेहरू जी ने उस सभा में भाषण करना स्वीकार नहीं किया। इस अनुभव से हम लोगों को सीख मिल गयी। आगे की सभाओं के लिये हमने यह व्यवस्था की कि अवधेशप्रतापसिंह कुछ पहले अगली सभा में चले जांय और वे उस सभा में भाषण करने लगें। इस अग्रिम दल की व्यवस्था करने से नेहरू जी को बाद में सब सभायें व्यवस्थित मिलने लगीं और नेहरू जी ने इस व्यवस्था से अपना समय बचने के कारण बहुत सन्तोष प्रकट किया।

राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रबाबू से मेरा सम्बन्ध असहयोग आन्दोलन के समय से आया, विशेषतः गया कांग्रेस से। डा. राजेन्द्रबाबू हमारे यहां जिला राजनीतिक सम्मेलन की अध्यक्षता करने आये थे। सम्मेलन की अध्यक्षता स्वीकार करने पर डा. राजेन्द्र बाबू को रायपुर की विभिन्न संस्थाओं की ओर से बहुत से मान-पत्र दिये गये थे। एक मान-पत्र मेरे बड़े लड़के अम्बिकाचरण ने दिया था। उसने रायपुर नगर हिन्दू सभा के अध्यक्ष की हैसियत से एक ताम्रपत्र पर मानपत्र प्रस्तुत कर सांस्कृतिक धरातल पर श्री राजेन्द्रबाबू को मानपत्र दिया था। जब यह मानपत्र दिया गया तो राजेन्द्रबाबू को बड़ा विचित्र अनुभव हुआ। सभा खत्म होने पर राजेन्द्र बाबू ने कहा कि "रायपुर में हिन्दू महासभा कांग्रेस की पाकेट में है या कांग्रेस हिन्दू महासभा की पाकेट में ?" तब मैंने उत्तर दिया था कि नगर में कांग्रेस की पाकेट में हिन्दू महासभा है। असल में बात यह थी कि कालेपानी से लौट कर भाई परमानन्द रायपुर आये हुए थे और उन्होंने हम लोगों को चुनौती दी थी कि वे वहां पर हिन्दू महासभा की स्थापना करके ही जायेंगे। वे दो-तीन दिन रहे और उन्होंने हिन्दू महासभा के सदस्य बनाने प्रारम्भ कर दिये। उनके इस अभियान को नष्ट करने के लिये बहुत से कांग्रेस से सहानुभूति रखने वाले और कुछ कांग्रेस जन भी हिन्दू महासभा के सदस्य बन गये थे। परिणाम यह हुआ कि अम्बिकाचरण शुक्ल भी हिन्दू महासभा के सदस्य एवं अध्यक्ष बन गये और उन्होंने सभा की ओर से श्री राजेन्द्रबाबू को मान-पत्र दिया।

बिहार भूकम्प के समय रायपुर से हमने पर्याप्त धनराशि एकत्र कर डा. राजेन्द्रबाबू के पास भिजवायी थी। इस अवसर पर भी रायपुर और छत्तीसगढ़ ने अपनी शानदार परम्परा के अनुसार धन-संग्रह में बड़ा योग दिया था जिसे बाबू साहब और बिहार के दूसरे कार्यकर्त्ताओं ने बड़ा सराहा था। इसके बाद बाबू साहब के कांग्रेस अध्यक्ष बनने के बाद हम सबका सम्पर्क बढ़ता ही गया। जब-जब कांग्रेस संघटन में अध्यक्ष पद संकटाकीर्ण हुआ तब डा. राजेन्द्रबाबू ही संकटमोचक सिद्ध हुए हैं और उन्होंने यह पद सम्हाला है। इस प्रकार हमारा और उनका सम्पर्क निरन्तर बढ़ता ही रहा। उनके सरल, मृदु और शालीनता भरे व्यवहार का मेरे ऊपर बहुत ही अधिक प्रभाव हुआ है। उनके त्याग और सादगी का असर बिना पड़े रह ही नहीं सकता। वे बहुत ही निष्कपट एवं साधु व्यक्ति हैं, उन्होंने जिस स्नेह और प्रेम के साथ हम लोगों को अपनाया उससे हमारा एक दूसरे पर स्नेह और विश्वास बढ़ गया, जो न केवल अभी तक स्थिर है वह निरन्तर बढ़ता चला है। संकट एवं बाधाओं के उपस्थित होने पर आपका सत्परामर्श मुझे बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। संकट की कई घड़ियों में जब कभी मुझे अपना कोई सहारा नहीं दिखता था तब एकमात्र वे ही मुझे अपने अवलम्ब मालूम हुए और ऐसे अवसरों पर जब मैंने उनके सामने अपनी स्थिति सच्चे हृदय से खोल कर रख दी, उन्होंने मुझे अपनी अमूल्य सलाह दी और अवसर पड़ने पर मेरे सम्बन्ध में उठी भ्रान्ति को दूर किया है। संक्षेप में कहा जाय तो वे मेरे मित्र, उपदेष्टा और पथप्रदर्शक (फ्रेण्ड, फिलोसोफर एण्ड गाइड) सिद्ध हुए हैं।

हमारे देश के स्वतन्त्रता संग्राम में अग्रणी और गुलामी से मुक्त कराने वाले साहसी व्यक्तियों में महात्मा गान्धी प्रमुखतम व्यक्ति थे। हमारा यह दुर्भाग्य था कि स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही उनका देहावसान हो गया। ऐसे समय इस नौका की पतवार को सम्भालने के लिये अन्य शक्तिशाली और दृढ़ निश्चय व्यक्ति मौजूद थे जिन्होंने दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रीति से इस नैया को पार लगाया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जो व्यक्ति उत्तरदायी थे या समझे जा सकते हैं उनमें सरदार

पटेल का नाम प्रमुख है। यदि महात्मा गान्धी सत्याग्रह विचारधारा के पिता तथा अहिंसात्मक प्रतिरोध की सम्पूर्ण कला के जनक थे तो सरदार पटेल उन सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने में एक कुशल सेनानी थे। १९२३ में नागपुर के झण्डा सत्याग्रह की उल्लेखनीय सफलता से अहिंसात्मक सत्याग्रह के उपयोग की दिशा में सरदार वल्लभ-भाई पटेल के प्रेरणादायक नेतृत्व का सबसे पहला उदाहरण देखने को मिला। नागपुर से बारदोली तक उन्हें अधिकाधिक सफलता प्राप्त होती गई। इस समय तक सरदार गुजरात के कर्णधार बन चुके थे और महात्मा गान्धी ने आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिये बारदोली को ही अपना तूफानी केन्द्र चुना था। चौरीचौरा काण्ड के कारण आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। १९२८ में यह आन्दोलन फिर से आरम्भ हुआ और इसका संचालन वल्लभभाई पटेल को सौंपा गया। यहां यह दिख पड़ा कि किस तरह वल्लभभाई पटेल ने मिट्टी के पुतलों में जीवन फूंक दिया और बतला दिया कि संगठन में क्या शक्ति है। ब्रिटिश सरकार और उसके कर्मचारियों ने नर-नारियों पर बेतहाशा अत्याचार किये पर वहां योद्धा पटेल नेतृत्व कर रहे थे, उनकी बात ग्रामीणों के लिये ब्रह्म-वाक्य थी। आन्दोलन इतने अच्छे ढंग से संचालित किया गया कि ब्रिटिश सरकार को मालूम होने लगा कि इसका शासन बारदोली में डगमगा रहा है। सरकार को यह भी अनुभव होने लगा कि बिना जनता के सहयोग के कानून और व्यवस्था नहीं रह सकती। परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश सरकार ने वल्लभभाई पटेल से समझौते की बातचीत की। इस प्रकार यह संग्राम समाप्त हुआ और तब महात्मा गान्धी ने उस महान् किसान वल्लभभाई को 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया। तब से कांग्रेस की शक्ति दृढ़तर होती गई। बारडोली से डांडी और डांडी से अहमदनगर तक सरदार ने नवजाग्रत राष्ट्र के एक अजेय सेनानी के रूप में स्वतन्त्रता संग्राम को चलाया। वे एक महान् अनुभवी सेनानी थे। महात्मा गान्धी के प्रेरणात्मक नेतृत्व में वे बहादुरी से लड़े और हंसते-हंसते सब कष्ट झेलते रहे। यह तो सरदार की संगठन शक्ति और पं. नेहरू की अपार लोकप्रियता ही थी जिसके कारण सन् १९३६ और १९४६ के चुनावों में कांग्रेस को सबसे अधिक मत प्राप्त हुए थे। सरदार चुनाव की तैयारी में हर कदम का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे अर्थात् उम्मेदवारों के चुनावों से लेकर मत-दान की वास्तविक व्यवस्था तक का पूरा हाल वे जान रखते थे। जब कभी, देश के किसी भी कोने से दल की शक्ति तथा अनुशासन के विरोध में किन्हीं भी तत्वों द्वारा हानि पहुंचाने का उपक्रम किया जाता था तो सरदार का बलिष्ट हाथ उन्हें तुरन्त समाप्त कर देता था। इस राज्य में डा. खरे के अल्पकालीन मन्त्रिमण्डल के मामले में उन्होंने जो कार्रवाई की वह उदाहरण मुझे आज भी स्मरण है। सरदार पटेल की इस अनुशासनप्रियता से तत्कालीन राज्यपाल सर फ्रांसिस वाइली तक, जो एक कट्टर तानाशाह थे, प्रभावित हुए बिना न रह सके। उन्होंने तब कहा था कि सरदार ने यह कार्य करके अपने राजनीतिक स्तर को कई गुना बढ़ा दिया है।

जब स्वतन्त्रता के साथ-साथ विभाजन के फलस्वरूप असंख्य दुःखदायी कठिनाइयां भी आ गयीं तो सरदार पटेल के भव्य व्यक्तित्व का दूसरा पहलू अर्थात् उनमें कुशल प्रशासक तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के भी दर्शन हुए। उन्होंने विभाजन के पश्चात् देश में फैली हुई लगभग ६०० रियासतों को विलीन कर भारत का एकीकरण किया। यह एक ही कार्य उन्हें इतिहास में अमर रखेगा। वे इस महान् उद्देश्य की ओर दृढ़ता तथा सहानुभूति के साथ अग्रसर हुए। मुझे स्मरण है कि किस प्रकार उन्होंने यहां नागपुर में पूर्वीय एजेन्सी की छत्तीसगढ़ रियासतों के राजाओं को एक साथ बुलाया तथा उनसे नम्रता से परन्तु साफ-साफ बातचीत की। उन में से तब एक राजा ने कहा कि जिस प्रकार उन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाता था और जिनके वे सदा सच्चे अनुयायी रहते थे उसी तरह यदि अब भी राष्ट्रीय सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया जावे तो उनके भी वे सच्चे अनुयायी रहेंगे। इस पर सरदार का उत्तर था कि हम निश्चय ही आपका संरक्षण करेंगे परन्तु यदि आपकी जनता ही आपके विरोध में उठ खड़ी हुई तब? इसका कोई उत्तर नहीं था और दूसरा दिन निकलने से पूर्व ही राजाओं ने विलीनीकरण समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये थे।

कुछ लोगों ने सरदार पटेल की बिस्मार्क से तुलना की है। दोनों ने अपने देश में एकता का सूत्रपात किया परन्तु इन दोनों के कार्यों में अन्तर है। सरदार पटेल ने ऐसे देश का एकीकरण किया जो बिस्मार्क के देश से कई गुना बड़ा था। सरदार पटेल ने भारतीय संघ के अन्तर्गत लगभग ७ लाख वर्गमील क्षेत्र का समावेश किया जो सम्पूर्ण जर्मनी की अपेक्षा बहुत बड़ा है। सरदार बिस्मार्क से कहीं विशाल पैमाने पर कार्य करनेवाले शिल्पकार थे। ऊपर से कठोर दिखाई देते हुए भी वे अन्दर से स्नेहमय और मानवीय संवेदना से लबालब थे। अवसर पड़ने पर युद्ध या शान्ति दोनों समय वे एक कुशल सेनानी और दृढ़ नेता थे, जो खतरों से और भी अधिक साहसी बन जाते थे। वे जन्मजात नेता, स्वतंत्रता के महान् सेनानी, यथार्थवादी स्वप्नद्रष्टा, देश के निर्माता और नियामक थे। गांधीजी उन्हें अपना पुत्र सा समझते थे, जवाहरलाल जी उन्हें शक्ति का स्तम्भ मानते थे। बारदोली के सरदार से वे भारत के सरदार बन गये। उनकी स्मृति से भावी पीढ़ियों को भारत की श्रीवृद्धि के लिये प्रेरणा मिलती रहेगी, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। अपने जीवन में मैंने उनसे अनुशासनप्रियता, दृढ़ता तथा सचाई के गुण सीखे हैं।

सत्याग्रही शुक्लजी

श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र

अपनी बारह वर्ष की आयु से मैं श्रद्धेय पंडित रविशंकर शुक्ल से परिचित रहा हूं। इन ४२ वर्षों में उनके सम्पर्क में आने का मुझे जितना अवसर मिला हैं उतना शायद ही किसी दूसरे जनसेवी को प्राप्त हुआ हो। उनके सम्बन्ध के अगणित संस्मरण मेरे मानस-पटल पर अंकित हैं जिन्हें लेखबद्ध करने से एक पोथी ही तैयार हो जावेगी। इस लेख में मैं केवल स्वातंत्र्य-संग्राम-सम्बन्धी कुछ संस्मरणों को ही दे रहा हूं।

सन् १९२२ की बात हैं। मैं कुछ ही समय पूर्व कलकत्ते से 'अमृतबाजार पत्रिका' से पत्रकारिता का कुछ अनुभव प्राप्त कर रायपुर वापिस लौटा था। वहां रायपुर जिला राजनीतिक परिषद् होने जा रही थी। किसी को तनिक भी ख्याल न था कि इस अवसर पर किसी भी प्रकार की अशान्ति होगी। परिषद् के प्रारंभ होने के कुछ ही घंटों पूर्व मुझे एक विश्वस्त सूत्र से पता चला कि सरकार ने शुक्ल जी को गिरफ्तार कर परिषद् को समाप्त कर डालने का निश्चय किया हैं। मैंने यह समाचार स्वर्गीय पण्डित माधवराव सप्रे तथा शुक्ल जी को दिया। पहले तो किसी को विश्वास ही नहीं हुआ, परन्तु अंत में हम सबने भी अपनी तैयारी कर ली। परिषद् प्रारम्भ होते ही विवाद इस बात पर हुआ कि पुलिस तथा जिले के अन्य अधिकारी बिना प्रवेश-टिकिट खरीदे परिषद में प्रवेश कर सकते हैं या नहीं। पुलिस ने बिना टिकिट खरीदे परिषद् के कम्पाउण्ड में घुसने का प्रयत्न किया। शुक्ल जी के रोकने पर सिर्फ उन्हें गिरफ्तार ही नहीं किया गया बल्कि उनके हाथों में हथकड़ी भी डाल दी गयी। रात को भोजन आदि लेकर जब हम लोग कोतवाली पहुंचे तो शुक्ल जी को सींकचों के अन्दर पाया। पिंजरबद्ध केसरी की सी शुक्ल जी की वह मूर्ति आज भी मेरे मानस पर ज्यों की त्यों अंकित हैं। चूंकि सप्रेजी के नेतृत्व में हम सब पुलिस को परिषद् में जाने से रोकने के लिये सत्याग्रही प्रहरी बन गये, अतएव अंग्रेजी सरकार को अंत में झुकना पड़ा और शुक्ल जी को भी मुक्त करना पड़ा।

१९३० के सत्याग्रह आन्दोलन में शुक्ल जी ने प्रमुख भाग लिया। जिन दिनों बापू अपने साथियों को लेकर डांडी की ओर जा रहे थे, उन्हीं दिनों अहमदाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। अहमदाबाद जाते हुए मार्ग में हम लोग बम्बई ठहरे। बम्बई में सरदार-गृह में टिके, जो लोकमान्य तिलक के वहीं स्वर्गवास होने के कारण समस्त भारतवर्ष में ख्याति प्राप्त कर चुका था। अब तक "आठ कनौजिया नौ चूल्हे" की कहावत के अनुसार शुक्लजी खानपान में पूरे परम्परावादी थे, सदा रसोइया लेकर साथ चलते थे। लखनऊ में मैंने स्वयं उन्हें भोजन बनाने में अपने रसोइया की सहायता करते देखा था। सरदार-गृह में मैंने उनसे कहा—अब तो जेल-यात्रा करनी ही होगी और वहां न जाने किस-किस के हाथ का खाना होगा, अतएव अब आप सरदार-गृह में महाराष्ट्र ब्राम्हणों के बनाये हुये भोजन को ग्रहण करने की कृपा करें। इसी सिलसिले में अपनी बातचीत में शुक्लजी ने बताया कि एक मुवक्किल की ओर से उनका इंग्लैंड जाना तय हो गया था, परन्तु जेल जाने के लिए ही उन्होंने उसकी कई सहस्र रुपयों की फीस भी वापिस कर दी। उन्हें सरदार-गृह में भोजन करने की मेरी बात पट गई और इस तरह खान-पान के सम्बन्ध में उनके जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ, जिसकी पूर्णाहुति तब हुई जबकि सन् १९४२ में वेल्लौर जेल में उन्होंने और उनके साथी महन्त लक्ष्मीनारायणदास जी ने कैदी अब्दुला के हाथ का पकाया हुआ भोजन किया। मैं इसे देश की स्वतन्त्रता के लिए महान् त्याग मानता हूं क्योंकि शारीरिक कष्ट भोगने से भी अधिक महत्ता वैचारिक परिवर्तन की होती हैं।

अहमदाबाद की बैठक समाप्त हो जाने के पश्चात् हमलोग डांडी की ओर जाते हुये बापू से मिले। इसके पश्चात् प्रान्त-प्रान्त में सत्याग्रह का आन्दोलन छिड़ गया। अनेक वर्षों के पश्चात् फिर रायपुर में महाकोशल की राजनीतिक परिषद् हुई। पुलिस को चुनौती देकर वहीं पर नमक बनाने के रूप में महाकोशल के सत्याग्रह का प्रारंभ किया गया। नमक बनाने वाले पांच सत्याग्रहियों में शुक्ल जी अग्रगण्य थे। इसके पश्चात् महाकोशल की राजधानी जबलपुर में हमलोगों ने कई सरकारी कानून तोड़े। उधर शुक्ल जी ने रायपुर में राष्ट्रीय स्कूल के कुछ विद्यार्थियों को राष्ट्रीय-गीत सिखाये। मेरे द्वारा सम्पादित "लोकमत" में "रणभेरी" शीर्षक एक गाना छपा था। यह गाना किसी अज्ञात कवि ने, जो कि उत्तर-प्रदेश निवासी थे, "लोकमत" में प्रकाशनार्थ भेजा था। मेरे किसी

सहायक सम्पादक ने उसे अस्वीकृत कविताओं के बंडल में बांधकर रख दिया था। इसी बीच में माधव कालेज, उज्जैन से स्वर्गीय श्री. रमाशंकर शुक्ल "लोकमत" के मेरे प्रथम सहायक सम्पादक होकर आये। वे स्वयं सुकवि थे और उन्होंने इस कविता को ढूंढ़ निकाला। श्रद्धेय पंडित रविशंकर जी शुक्ल ने उसे देखते ही इतना पसन्द किया कि विद्यार्थियों को उसे सिखाया ही नहीं प्रत्युत उनके लिए केसरिया-वस्त्र भी बनवा दिये। वे उन विद्यार्थियों को लेकर एकबार जबलपुर आये। जबलपुर की तिलक भूमि की आम-सभा में जब केसरिया वस्त्र धारण किये हुये विद्यार्थियों ने अपने परिष्कृत कण्ठ से—

रणभेरी बज चुकी वीरवर,
पहिनो केसरिया बाना।

गाया, तब सभा में उपस्थित तीस हजार जनता मन्त्र-मुग्ध हो गई। दूसरे दिन जबलपुर नगर की गली गली में साधारण जनता के कंठ से यह गाना फूट पड़ता सुनायी दिया। इसके पश्चात् यह महाकोशल के नगरों में ही नहीं गांवों में भी प्रवेश पा गया। कहना न होगा कि इस गायन के कारण सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन को अभूतपूर्व प्रगति प्राप्त हुई। यह गीत शुक्ल जी के उस ओज का द्योतक था जो कि जब तक स्वातंत्र्य-संग्राम चलता रहा, तब तक मैंने शुक्ल जी में सभी परिस्थितियों में पाया।

यह असम्भव था कि सरकार बहुत दिनों तक हम लोगों को कानून पर कानून तोड़ने देती। आखिर वह दिन आ ही गया जबकि एक रात को सूर्योदय के पहिले सेठ गोविन्ददास जी, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, श्री विष्णुदयाल भार्गव तथा मैं—ये चार व्यक्ति गिरफ्तार कर जबलपुर जेल में पहुंचा दिये गये। प्रातःकाल जब हमलोगों ने देखा कि हमारी बैरेक के सामने चार के बदले पांच कुर्सियां रखी हुई हैं, तभी हमलोगों का माथा ठनका कि कोई पांचवां गिरफ्तार कर लाया जाने वाला है। कुछ ही घन्टों में हमलोगों ने शुक्ल जी को मुस्कराते हुये अपनी बैरेक के कम्पाउन्ड में प्रवेश करते देखा। सब लोगों से वे गले मिले और हम लोगों को बताया कि वे बालाघाट जा रहे थे, परन्तु मार्ग में ही उन्हें वारन्ट दिखाकर गिरफ्तार किया गया और जबलपुर पहुंचा दिया गया। वहीं जबलपुर जेल में हम लोगों का मुकदमा हुआ और तीन "अपराधों" के लिए दो-दो साल की सजा मिली। इसके पश्चात् हमलोग अलग अलग जेलों में भेज दिये गये। कुछ समय के पश्चात् सरकार के दिमाग में आया कि साधारण कैदियों के समान हमलोगों के भी अंगूठे के निशान लिये जावें। हम लोगों को एक दूसरे से दूर रहने के कारण सलाह करने का कोई अवसर नहीं था, परन्तु सभी ने स्वतंत्ररूप से सरकार की आज्ञा पालन करने से इंकार कर दिया। अन्य जेलों के अफसर और जिलाधिकारी समझदार सिद्ध हुये और कुछ दिनों के बाद हम लोगों का पीछा छोड़ दिया गया। परन्तु सिवनी के अधिकारी, जहां की जेल में शुक्ल जी कैद थे, बर्बर सिद्ध हुये और उन्होंने शुक्लजी पर कई मातहतों को वन्य मनुष्यों के समान छोड़कर बल प्रयोग किया। शुक्लजी के लिए यह असह्य था अतएव उन्हें भी शारीरिक बल का प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि इतनी नृशंसता के बाद भी उन्हें शुक्लजी के अंगूठे का निशान न प्राप्त हो सका। कहना न होगा कि आज भी अंग्रेजी सरकार का यह दुष्कृत्य जब याद आता है तब हृदय क्षोभ से भर आता है। सन् १९३२ के आन्दोलन में तो हम सब लोग इतने शीघ्र अपने-अपने नगरों में पकड़े गये कि सत्याग्रह की तैयारी करने का भी हमें अवसर प्राप्त न हुआ। उस आन्दोलन के पश्चात् धारा सभाओं में प्रवेश करने का युग आया और १९३७ से १९३९ तक मैं शुक्ल जी के साथ मध्यप्रदेश के प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल में रहा। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के आरंभ होने के पश्चात् हम लोगों ने त्यागपत्र दिया और देश में फिर सत्याग्रह का वातावरण आ उपस्थित हुआ। रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन के पश्चात् १९४० के नवम्बर मास में फिर गिरफ्तारियां हुईं और मुझे अधिकांश समय शुक्लजी के साथ सिवनी जेल में बिताने का अवसर आया। सिवनी जेल में रहते समय ही रायपुर में शुक्ल जी की वृद्धा माता का देहान्त हुआ। कुटुम्ब के लोगों ने उन्हें तार दिया कि वे पैरोल पर छूटने की दरख्वास्त दें और बाहर आकर अपनी माता की अंत्येष्टि-क्रिया अपने हाथ से करें। शुक्ल जी के लिये एक बड़ी ही विकट समस्या उपस्थित हुई। एक ओर माता के अंतिम दर्शन करने की बलवती अभिलाषा और दूसरी ओर सरकार से किसी भी प्रकार की प्रार्थना न करने का उनका वीर-व्रत। तथापि मैंने देखा कि निर्णय करने में उन्हें कुछ ही क्षण लगे और उन्होंने किसी भी प्रकार का प्रार्थनापत्र भेजने से साफ इंकार कर दिया। परन्तु ईश्वर ने सरकार को सुबुद्धि दी और उसने सीमित समय के लिये उन्हें आप ही आप छोड़ दिया।

सन् १९४२ का आन्दोलन एक प्रकार से कांग्रेस द्वारा चलाया हुआ आन्दोलन न होकर अंग्रेजी-सरकार द्वारा प्रारंभ किया हुआ आन्दोलन था। हम सब लोग अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी की बैठक के लिए बम्बई गये हुए थे और सदा के अनुसार सरदार-गृह में ही ठहरे थे। जिस समय रात को बापू के भाषण के पश्चात् कमेटी का अधिवेशन

समाप्त हुआ उसी समय हम लोगों को कुछ-कुछ आभास हो गया था कि इस बार सरकार अचानक आक्रमण करेगी। फिर भी हम लोगों ने यह कभी न सोचा था कि कांग्रेस कार्यकारिणी के साथ बापू उसी रात को गिरफ्तार कर लिये जावेंगे। दूसरे दिन प्रातःकाल ज्योंही हम लोगों की नींद खुली उसी समय सारे सरदार-गृह में कोलाहल मचा हुआ था कि वह अकल्पित घटना रात को ही घट गई। बम्बई नगर हर सत्याग्रह आन्दोलन में अन्य नगरों का नेता रहा है। हम लोग स्नानादि से निवृत्त भी न हो पाये थे कि बम्बई के नागरिकों ने सम्पूर्ण नगर में हड़ताल कर दी। हमें बम्बई के सत्याग्रह के दृश्य देखने का अवसर प्राप्त हो गया। एक मित्र की मोटर में हम लोग शहर घूमने के लिए निकल पड़े। थोड़ी ही दूर जाकर देखा कि बम्बई की सड़कें कांग्रेस के वालन्टियरों के कब्जे में हैं। क्या मजाल थी कि कोई भी मोटर किसी भी रास्ते से निकल सके। परन्तु ज्योंही हम लोगों ने महात्मा गांधी का जय-घोष किया त्योंही हमारी मोटर के चारों ओर कांग्रेसी वालन्टियर एकत्रित हो गये। शुक्लजी की मूछें भारत प्रसिद्ध हैं और पल में ही वालन्टियरों ने उन्हें पहिचान लिया। उन्होंने शुक्लजी के नाम का नारा लगाया और बड़े उत्साह से हम लोगों की मोटर को आगे बढ़ने दिया। इसके बाद बापू और कांग्रेस का जयघोष करते हुए शुक्लजी आगे बढ़े। हम लोगों ने कुछ ही घन्टों में सारा शहर मथ डाला। जिस-जिस मार्ग से हम लोग निकले उसी-उसी मार्ग पर जनता ने शुक्लजी को घेर कर नया उत्साह प्रकट किया। यदि मैं यह कहूं तो अत्युक्ति न होगी कि उस दिन कुछ घन्टों के लिए शुक्लजी बम्बई नगर के नेता बन गये।

शाम को दादर के शिवाजी पार्क में श्रीमती कस्तूरबा गांधी का भाषण होनेवाला था। हम लोग भी उसी ओर गये। पुलिस ने बा को तो मार्ग में ही गिरफ्तार कर लिया और पार्क में एकत्रित अगणित जनसमूह को अश्रुगैस से तितर-बितर करने का प्रयत्न किया। शुक्लजी ने उस सभा में भी भाग लेने की इच्छा प्रकट की परन्तु चूंकि मेरे हृदय में अभी भी मध्यप्रदेश पहुंचने की कुछ आशा थी अतएव मैंने अपने प्रदेश के सत्याग्रह आन्दोलन की सफलता की दृष्टि से उन्हें रोक लिया। इस पर शुक्लजी ने कहा कि यदि सभा में भाग नहीं लेना है तो सरदार-गृह वापिस जाना चाहिए, क्योंकि उनसे जनता पर अश्रुगैस का प्रहार देखा नहीं जा सकता। उनके इस कथन को आज भी याद कर मुझे उन लोगों पर हंसी आती है जो कि शुक्लजी को भावुक न मानकर ठंडे दिमाग का राजनीतिज्ञ मानते हैं।

सरदार-गृह में अनेक प्रान्तों के कांग्रेसी नेता तथा कार्यकर्ता उपस्थित थे। हम सभी ने भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में परस्पर अनेक चर्चायें कीं। सभी का यही मत था कि किसी भी प्रकार अपने-अपने प्रान्त में पहुंचकर आन्दोलन को प्रगति दें। परन्तु उधर बम्बई की पुलिस भी सतर्क थी और शायद सभी प्रान्तों की सरकारों से उसके टेलीफोन चल रहे थे। हम लोग जब विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर पहुंचे तो साथ में मध्यप्रदेश के करीब २५-३० लोग थे। शुक्लजी सभी की ओर से टिकिट खरीदने के लिए जब जा रहे थे तब मेरे मुंह से निकल गया कि शायद हम लोग अपने प्रदेश की प्रथम स्टेशन मलकापुर में गिरफ्तार कर लिये जावेंगे। शुक्लजी ने मेरी बात पकड़ ली और सिर्फ मलकापुर तक के लिए सभी के टिकिट खरीदे। दूसरे दिन प्रातःकाल मेरी नींद ठीक मलकापुर स्टेशन पर खुली। सामने देखा कि प्लेट फार्म पर पुलिस कतार बांधकर खड़ी है। जो सो रहे थे वे जगाये गये। जब हम सब प्लेटफार्म पर उतरे तो बुलढाना जिले का अंग्रेज पुलिस कप्तान बहुत खुश नजर आया। हम लोगों को ऐसा लगा मानों वह हम लोगों को अचानक गिरफ्तार कर लेने के लिए अपने को बधाई दे रहा है। शुक्लजी ने अपनी जेब से सबके टिकिट निकाले और उसके सामने करते हुए कहा—टिकिट सिर्फ मलकापुर तक के हैं अतएव बहुत खुश होने की जरूरत नहीं है। इस पर मैंने व्यंग किया—दि रेस्ट ऑव दि जर्नी एट गवर्नमेंट कॉस्ट (आगे का सब सफर सरकारी खर्च पर)।

हम लोगों को मलकापुर से ले जाकर बुलढाना की जेल में २-३ दिन रखा गया और उसके बाद नागपुर भेजने के लिए उसी अंग्रेज कप्तान की निगरानी में पुलिस लारी में बैठाया गया। मार्ग में उसने शुक्लजी के साथ कुछ राजनीतिक चर्चा छेड़ने की मूर्खता की। सत्याग्रह की भावना से अपरिचित वह अंग्रेज जब अनाप-शनाप बकने लगा तब शुक्लजी ने कुछ रोष में आकर उससे कहा—"यदि मैं सत्याग्रही न होता तो गिरफ्तारी से बचकर अपने जिले रायपुर में पहुंच जाता और यदि मुझमें तोड़फोड़ (सैबोटाज) की भावना होती तो मैं जिले भर के पुलिस-थानों में आग लगवा कर पूरे जिले को विद्रोही बना देता।" जान पड़ता है कि शुक्ल जी के इतना कहने पर भी वह सत्याग्रहियों के दर्शन-शास्त्र को न समझ पाया क्योंकि कुछ समय के पश्चात् जब टॉटनहेम सरक्यूलर प्रकाशित हुआ तब उसमें देश के अन्य प्रमुख कांग्रेसी नेताओं के साथ-साथ शुक्लजी पर भी आरोप किया गया कि उन्होंने बुलढाना के डी. एस. पी. से यह कहा था कि यदि वे अचानक न पकड़ लिये गये होते तो उन्होंने रायपुर जिले के सब पुलिस थाने जलवा दिये होते!

कुछ हफ्ते नागपुर में रखे जाने के बाद हम लोग मद्रास प्रदेश के वेल्लोर जेल में भेज दिये गये। इधर एक-दो वर्षों से शुक्लजी नासिका-रोग से पीड़ित रहे थे। वेल्लोर में धीरे-धीरे उन्हें ज्वर रहने लगा और कभी-कभी १०१ डिग्री तक पहुंच जाता। जेल के अंग्रेज सुपरिन्टेंडेंट ने, जो कि भला आदमी था, मद्रास सरकार को इसकी सूचना दी। मद्रास सरकार ने उन्हें मद्रास शहर के मेडिकल कालेज में ले जाकर आपरेशन करवा देने का प्रस्ताव किया परन्तु साथ ही कुछ शर्तें भी लगा दीं। शुक्लजी को ये शर्तें अपमानजनक प्रतीत हुईं परन्तु श्री दुर्गाशंकर मेहता ने उन्हें स्वीकार कर लेने की सलाह दी। इस पर शुक्ल जी को रोष हो आया। मैंने अनेक बार देखा था कि शुक्लजी के हृदय में श्री मेहता जी के सम्मति के लिए कभी कोई स्थान नहीं रहा और इस बार भी ऐसा ही हुआ। इसके बाद शुक्लजी का स्वास्थ्य गिरता ही गया। अन्त में मद्रास की सरकार को लाचार होकर उन्हें मद्रास के मेडिकल कालेज में बिना किसी शर्त के आपरेशन के लिए ले जाना पड़ा। शुक्लजी के मद्रास चले जाने के पश्चात् हम शेष कैदी अपने प्रदेश की जेलों में वापिस भेज दिये गये। मैं मंडला की जेल में रखा गया और आपरेशन के पश्चात शुक्ल जी भी वहीं आ गये।

ऊपर मैंने जिन घटनाओं का उल्लेख किया है उनसे यह सहज ही समझा जा सकता है कि आज जो शुक्ल जी मध्यप्रदेश के पुनर्निर्माण के सूत्रधार होकर अपनी रचनात्मक शक्ति का परिचय दे रहे हैं, वही शुक्लजी सत्याग्रह के दीर्घकालीन आन्दोलन में उत्साह तथा वीरत्व से भरे हुए थे। मध्यप्रदेश के कुछ लोगों को तो अवश्य ही पता होगा कि शुक्लजी ने आयरलैंड के स्वाधीनता के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया है। मेरा ऐसा ख्याल है कि इस अध्ययन ने उनकी मातृभूमि तथा मातृभाषा की उस भक्ति को और भी प्रबल कर दिया है जो कि उन्हें ईश्वर की देन के रूप में जन्म से ही प्राप्त हुई थी।



पण्डित रविशंकर शुक्ल : एक दृष्टि

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

यों तो संसार की जनगणना संख्या में अधिक हुआ करती है किन्तु जनगणना की संख्या की अपेक्षा 'उचित संख्या' की जनगणना करें तो वह संख्या बहुत छोटी हो जायगी। प्रजासत्ता में बाहुबल की अपेक्षा बहुबल ही प्रतिनिधित्व करता है, और इस तरह से पंडित रविशंकर जी शुक्ल इस प्रान्त के बहुबल के, बहुमत के प्रतिनिधि हैं जो निस्संदेह परम गौरव की बात है ; किन्तु चिन्तन की आंखों के सामने अठहत्तर वर्ष के शुक्लजी इसलिए जन-जीवन में आगे हैं कि वे परिस्थिति, देश की आवश्यकता और अपनी क्षमता के आरपार देखने में अपनी शक्ति रखते हैं। कभी-कभी कार्य-संचालक को अपने कार्य में बहुत भय, बहुत घबड़ाहट, बहुत चिन्ता होने लगती है। सच तो यह है कि कठिनाइयां वहीं विजयनी होती हैं जहां समूह, समाज अथवा व्यक्ति का विश्वास कमजोर पड़ जाता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके उपद्रव को आधार नहीं चाहिए। . वे लोग अपनी अवस्था ऐसी बनाए हुए हैं कि अपनी सारी गड़बड़ों में, गड़बड़ों के परिणामस्वरूप, जिनके पास खोने के लिए कुछ नहीं है, केवल गड़बड़ से जो पा जाय वही उनके लिए लाभ है। एक समय कमजोर विश्वास के आदमी के लिए भयभीत होने का यह होता है।

दूसरा समय वह होता है जब वह ऐसे लोगों से घिर जाता है जिन्हें केवल परिवर्तन चाहिए। परिवर्तन की अच्छाई-बुराई द्वारा निश्चित भविष्य का जिनके पास कोई ज्ञान नहीं। वे तो परिवर्तन करके मानेंगे। तुलसीदास के बताये वर्ण, अर्थ-संघ, रस, छन्द अर्थात् अक्षर अथवा समूह, ग्रन्थ अथवा जाति-संगम, साहित्य के नवरस अथवा जगत के छः रस और अर्थ को अपने में छुपाकर बैठने वाला साहित्य, अर्थ को अपने में छुपाकर बैठने वाली कविता अथवा इरादों को अपने में छुपा कर बैठने वाली विश्व की नृप-नीति, तुलसीदास की धारणा में इन सबका कार्य मंगल करना होना आवश्यक है। कुछ को प्रारम्भ से मंगल कार्य होना चाहिए, कुछ को मंगल कार्यों की गौरव वृद्धि करना चाहिए और शेष को मंगल परिणामों की जननी होना चाहिए। किन्तु परिवर्तन करने के हठी पागल को समाज के मंगल-अमंगल से कुछ लेना-देना नहीं है। वह तो किसी भी मूल्य पर वर्तमान में परिवर्तन चाहता है, भले ही भाग्य-वशात् उससे मंगल हो जाय, भले ही वह चिर अमंगल का कारण बने।

तीसरे वे होते हैं जो भावनारहित योजना के बड़े पक्षपाती होते हैं यद्यपि बड़ी से बड़ी देशव्यापी और विश्व-व्यापी योजना को अपनी सफलता के लिए जन-जीवन के सम्मुख बार-बार घुटने टेकने पड़ते हैं और जन-जीवन के सद्भावों को जागरण देना होता है ; किन्तु बाहर से योजना की आदत उधार लेनेवाला आदमी योजना ही को सम्पूर्ण मानता है,—योजना ही को सम्पूर्ण मानने का अभ्यासी हो जाता है। वह योजना का घायल, योजना का बीमार है। राष्ट्रनायक जवाहरलाल जी की कोमलता की उपेक्षा कर योजना के बीमार अपनी नन्हीं नन्हीं योजनाओं को ही सब कुछ समझते हैं। वे ईमान की निर्मलता और भावना की समर्पणशीलता को भूल जाते हैं।

चौथे वे होते हैं जिन्हें शहीद बनने या शहीद होने में मजा आता है। रावण के खिलाफ राम का झण्डा उठे तो वे शहीदों में नाम लिखा लेंगे ; किन्तु यदि राम के खिलाफ रावण का झण्डा खड़ा हो तो उन्हें आप रावण की सेना में भी देख सकेंगे। न वे राम के हैं न रावण के, वे तो अपनी शहीद होने की प्रवृत्ति के प्रति ही ईमानदार हैं। जिस तरह राजनैतिक गाली-गलौज करनेवाली कलम, यदि राज अथवा राष्ट्र में गाली-गलौज को जगह न मिले, तो विश्व की घटनाओं की गाली-गलौज में हिस्सा बंटाने लगती है, उसी प्रकार शहीदाना तन्तुओं से भरा हुआ, विधायकता से रहित व्यक्ति, अपनी शहीद प्रवृत्ति के लिए देश, काल और पात्र की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के लिए नहीं ठहरता।

पांचवें वे लोग हैं, जो कभी भी कोई निश्चित निर्णय नहीं कर पाते। उनके लिए यदि रूस के प्रधान मंत्री बुलगानिन कहते हैं तो ठीक कहते हैं ; किन्तु अमेरिकन राष्ट्रपति आइसनहावर कहते हैं वे भी ठीक कहते हैं और पण्डित

जवाहरलाल नेहरू कहते हैं वह भी—हां, ठीक ही तो कहते हैं। इस अनिश्चित वृत्ति के लोगों की संख्या किसी भी देश के किसी भी समाज में कम नहीं हुआ करती। अतः इनके समर्थन या विरोध के मूल्य पर कार्य करना कठिन होता है।

छठवें वे व्यक्ति होते हैं जो परम आज्ञाकारी हैं—परम आज्ञाकारी हैं! उनकी दृष्टि में जीता हुआ डाकू भगवान का अवतार है और हारा हुआ अवतार, डाकू से भी भयंकर अपराधी। वे यह जहमत लेते ही नहीं कि इसकी भलाई या उसकी बुराई अथवा इसका सम्मान और उसका खतरा अपने सिर पर लेते बैठें। अतः वे निरीह सब अवस्थाओं में खप जाते हैं किन्तु उनके विश्वास के बल पर राष्ट्र-संचालन नहीं होता।

सातवें वे होते हैं जिन्हें केवल क्रान्ति चाहिए। क्रान्ति वह नहीं जो विश्व रचना के एक हिस्से की अपेक्षा दूसरे को उन्नततर बनाने में लग जाय। इनके लिए तो वही क्रांति है जो स्थापित व्यवस्था के हर कील-कांटे को उखाड़कर फेंक दे। इनका धंधा है—इनका प्रथम कार्य है कि इसको गिरा, उसको नष्ट कर, उस होते हुए काम को बन्द कर और अमुक समाज रचना में लकवा उत्पन्न कर। क्योंकि जन-जीवन का असन्तोष इनका मूलधन होता है और उस असंतोष को उत्पन्न कर चुकने के पश्चात् इन्हें समाज या देश से कुछ लेना-देना नहीं है। विरोध के गर्म तवे पर इन्हें तो अपनी रोटियां सेंकनी हैं!

ये सात अवस्थाएं तथा ऐसी ही कुछ और अवस्थाएं हैं। विश्व के कुछ ऐसे क्षण होते हैं जब समाज व्यवस्था का ईमान डावांडोल होने लगता है। समाज के व्यवस्थापक भयभीत, भीरु और क्षीणमना होने लगते हैं। जब संकट साम्प्रदायिक, धार्मिक अथवा विशुद्ध स्वार्थ का विपरीत रूप धारण करके आते हैं तब समाज के—प्रजासत्ता के—नियमन करने वाले तक को यह भय होने लगता है कि वे जहर के इन कड़वे प्यालों को पीने में असमर्थ हैं। ऐसे समय के लिए हमें उस कार्यकर्ता की आवश्यकता होती है जिसके लिए कहा गया है कि—

नरपति हितकर्ता द्वेष्यताम् यातिलोके,
जनपद हितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्र,
इति महति विरोधे विद्यमाने समाने,
नृपति जनपदानाम् दुर्लभः कार्यकर्ता।

ऐसा ही कार्यकर्ता समाज के हित को अपने हित से ऊपर रख सकता है।

मैं यह कह सकता हूं कि विरोध अथवा समर्थन की भूमिका ले चुकने के पश्चात् पंडित रविशंकर जी शुक्ल को उल्लिखित सामाजिक विकृतियों के बीच मैंने कभी डावांडोल नहीं देखा। मुझे तो यह चिन्ता है कि समर्थन और विरोध के बीचोंबीच इस निर्भयता से खड़े रहने वाले व्यक्तियों को मैं अपने बीच इस राज्य में 'बहुत कम' पा रहा हूं—जो भाई शुक्लजी की सी क्षमता व्यक्त कर सकें। कॉरलाइल के कथनानुसार यदि हम जीवन को ऐसा 'अवसर' मान लें जो दूसरी बार नहीं मिलेगा, तो हममें से कितने हैं जो गुण, स्वभाव, वस्तुओं को समझने की शक्ति और उच्च रुचि के माप पर यह कह सकें कि हमारा जीवन-समय वृक्ष के सूखे हुए पत्तों की ढेरी नहीं, किन्तु यथार्थ में सांस लेता हुआ प्राणवान और परम पुरुषार्थमय अस्तित्व है। नन्हें बच्चों की तरह यह कहना कि प्राप्त अवसर केवल दुःख है अथवा सुख है, अधूरा है। भले ही ऐसी बात कहते समय हम वेदान्त की दुहाई देते हों किन्तु यह है हमारा निरा पागलपन ही। सुख और दुःख तो उत्तरदायित्व निबाहते समय व्यक्त की जाने वाली हमारी क्षमता अथवा क्षमताहीनता ही के नाम हैं। हम भारतीय लोग, दार्शनिक दृष्टिकोण से मुक्त नहीं हो सकते। हम अपने कार्यों में, अपने विश्वासों को अन्तरात्मा की लगन और आराधना के बीच में जब व्यक्त करते हैं तब हम अपनी कृति को अपने अन्तःकरण और घर से बाहर भेजते हुए सन्तोष का अनुभव करते हैं। मैं इस बात से सदा सुखी हुआ हूं कि पंडित रविशंकर शुक्ल में भगवान के प्रति अटूट विश्वास है और अपने कार्यकौशल के प्रति अमित श्रद्धा है। वे अधीर नहीं होते, भयभीत नहीं होते, डावांडोल होते भी प्रायः नहीं देखे जाते।

मेरा परिचय पंडित रविशंकर जी शुक्ल से सन् १९१६ में हुआ जब वे अड़तीस वर्ष के थे। ऐसे कितने ही क्षण आये हैं, जब मैं समस्याओं को रविशंकरजी की दृष्टि से नहीं देख सका अथवा वे समस्याओं को मेरी दृष्टि से न देख पाये। किन्तु मैंने उनमें ऐसा पारिवारिक व्यक्तित्व पाया, जिससे लड़कर भी जिसके हाथों में मनुष्य अपने को अत्यन्त निश्चिन्तता से सौंप सकता है।

कदाचित् बहुत कम लोग यह जानते हैं कि मध्यप्रदेश के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जन्मदाता पंडित रविशंकर शुक्ल और उनके तत्कालीन साथी ही हैं। पहला सम्मेलन जहां तक मुझे याद है सन् १९१६-१७ में रायपुर ही में हुआ था जिसके अध्यक्ष स्वर्गीय पंडित प्यारेलाल मिश्र, बार एट लॉ हुए थे। पंडित रविशंकर जी में दो विरोधी भावनाओं का विचित्र सामन्जस्य है। वे सोचते बहुत ठण्डे हैं, इतने ठण्डे कि लगभग पन्द्रह वर्षों तक मैं उन्हें ज्वलन्त राष्ट्रीय दल का आदमी ही नहीं मानता था। सन् १९२० की सागर में होने वाली प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् के समय जिसके अध्यक्ष स्वर्गीय डॉक्टर मुंजे थे, मैंने अपने दो प्राणप्रिय मित्रों को अर्थात् पंडित रविशंकर जी शुक्ल और स्वर्गीय पंडित मनोहर कृष्ण गोलवलकर को 'कर्मवीर' के अग्रलेखों में नरम दल का लिखा था। उन अग्रलेखों को पढ़कर पूज्य पंडित माधवरावजी सप्रे ने मुझसे कहा था कि रविशंकरजी के विषय में तुम्हें अपना मत बदलना पड़ेगा। हां, तो मैं कह रहा था कि रविशंकरजी में विचारों की ठण्डक बहुत है। किन्तु दूसरी ओर सिपाही की बहादुरी भी उनकी ऐसी अद्भुत है कि ब्रिटिश सरकार से लोहा लेते समय जिन्होंने उन्हें अटल और अडिग देखा है तथा राजनैतिक परिषदों के समय और रायपुर में भी उन्हें तरुणों की सेना का संगठन करते हुए देखा है वे उनकी सिपहगिरी का गुणगान किये बिना नहीं रह सकते। पश्चिम में तो ज्यों-ज्यों उम्र पकती है त्यों-त्यों मनुष्य अधिक विवेक और सावधान क्रियाशीलता के लिए योग्य माना जाता है। पूरब भी इसका अपवाद नहीं रहेगा। पंडित रविशंकरजी में अपने युग के प्रति व्यवहार करने में एक अद्भुत सहानुभूति है। मेरे नम्र विचार से वे या तो व्यक्ति को ग्रहण करना जानते हैं या छोड़ देना। उपयोगिता की फी सदी से उपयोग करने की जोड़-बाकी करने में नहीं बैठते। यह बात इस देश के सर्वोच्च अथवा विश्व के सर्वोच्च राजनीतिज्ञों में भी पाई जाती है। इस प्रान्त में सेवा करते हुए पंडित रविशंकरजी तथा उनके और साथी भी द्विभाषी मनोवृत्ति के रहते रहे हैं। स्वयं रविशंकरजी ने जब रायपुर में काम शुरू किया तब उन्होंने रायपुर के महान् कार्यकर्त्ता स्वर्गीय भाई वामनरावजी लाखे को अपने साथ लिया। लोग यह बहुत ही कम जान पाते थे कि लाखेजी के बिना शुक्लजी और शुक्लजी के बिना लाखेजी कोई काम करना स्वीकृत करेंगे। शुक्लजी गृह-जीवन में अत्यन्त पारिवारिक हैं। एक बार मैं रायगढ़ के तत्कालीन दीवान पंडित बलदेवप्रसादजी मिश्र के आमंत्रण पर रायगढ़ जा रहा था। मार्ग में शुक्लजी के पास रायपुर ठहरा। उन दिनों पंडित रविशंकर शुक्ल की माताजी बीमार थीं। शुक्लजी के बड़े पुत्र चिरंजीव श्री अम्बिकाचरण की उम्र उस समय बीस वर्ष से कम न होगी। हां, तो शुक्लजी की माताजी बीमार थीं। मैं भी उन्हें देखने पंडित रविशंकरजी शुक्ल के भवन में ऊपर के कमरे में गया। उस समय मां जितने कड़े शब्दों में अपने इकलौते पुत्र की खबर ले रही थीं और पुत्र जिस श्रद्धा और स्नेह से खिलखिला कर मां की नाराजी को शान्त करने में व्यस्त था, उसे देखकर मेरा हृदय गद्गद् हो गया। मित्र चाहे कोई स्वर्गीय हों या आजकल के कोई और, जो भी शुक्लजी के विश्वास का हो जाता है, शुक्लजी की इसी निर्मलता के कारण वह उन पर अतिरेकमय रूप से छाने की कोशिश करता है। किन्तु यह सब थोड़े ही दिनों के लिये हो पाता है। जब शुक्लजी का निर्मल और कोमल व्यक्तित्व शीघ्र ही उभर उठता है तब लोग उनकी निर्मलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। हिन्दी और मराठी के इस प्रान्त में समान स्थान दिये जाने के लिये शुक्लजी ने विश्वासों की जिस निर्मलता को व्यक्त किया है उस भावना से इस राज्य की बड़ी से बड़ी समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। जब गांधीजी ने यरवदा जेल के अपने महान् उपवास के पश्चात् हरिजन आन्दोलन को उठाया तो मध्यप्रदेश में उन्होंने पंडित रविशंकरजी को अपने साथ लिया और लोग जानते हैं कि उसका कितना सुन्दर परिणाम हुआ।

जब सन् १९२३ में नागपुर में झण्डा सत्याग्रह हुआ तब शुक्लजी स्वराज्य पार्टी में थे। स्वराज्य पार्टी झण्डा सत्याग्रह का समर्थन नहीं कर रही थी। नागपुर के स्वराज्य दल के मित्रों ने तो उसका कितनी ही बार खुला विरोध भी किया था किन्तु विदेशी ताकत से लड़े जाने वाले किसी भी आन्दोलन में शुक्लजी विरोधी हो सकें यह बात संभव ही नहीं थी। ऐसे समय शुक्लजी पहले 'ईमानदार राष्ट्रीय' रहे हैं और फिर कुछ और। मैं झण्डा सत्याग्रह के संचालक के नाते जब रायपुर गया तब शुक्लजी ही के भवन में बैठकर नागपुर के झण्डा सत्याग्रह में जाने वाले स्वयं-सेवकों का संगठन किया गया और शुक्लजी की ही मोटर लेकर जिले में जहां-तहां भ्रमण किया गया। सच पूछिये तो शुक्लजी के व्यक्तित्व को इस प्रान्त के जन-जीवन ने कभी अपना रहने ही नहीं दिया। जब खादी का आन्दोलन लेकर प्रान्तव्यापी संगठन किया गया और स्वर्गीय भाई गणपतरावजी टिकेकर के साथ मैं रायपुर गया तब शुक्लजी का व्यक्तित्व, रायपुर का राष्ट्रीय स्कूल और रायपुर के नागरिक ऐसे अद्भुत ढंग से काम में लग गये कि खादी की सबसे अधिक बिक्री महाकोशल में उस समय रायपुर में हुई। उस जमाने की अर्ध-सरकारी संस्थाओं को सरकार के हाथ में से व्यवहारतः छीनकर सर्वथा राष्ट्रीय बना लेने की क्षमता उस समय पंडित रविशंकरजी में ही देखी गयी। उन्होंने डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल के अध्यापकों और कर्मचारियों को मानों स्वराज्य की सेना में काम करने वाले सेवक ही बना डाला था।

शुक्लजी इस समय ७८ वर्ष के हैं। मेरी प्रभु से प्रार्थना है वे इतने ही दृढ़ रह कर खूब जियें और इस प्रान्त को उत्तरोत्तर उन्नत बनावें। नागपुर और सागर दोनों विश्वविद्यालय चल रहे हैं, बौद्धिक और आर्थिक योजनाएं खूब काम में लाई जा रही हैं, यह देखकर सुख होता है। किन्तु मेरे मन में इस अवसर पर प्रान्त वासियों से कुछ कहने की इच्छा है—

(१) शुक्लजी तथा उनके साथियों ने महात्मा गांधी के नियंत्रण, संचालन और मार्गदर्शन में शिक्षण प्राप्त किया है अतः यह याद रखना अत्यन्त आवश्यक है कि अपने सामने हम एक ऐसी पीढ़ी निर्माण कर दें जो आज के कार्यों का सफल संचालन करके ले जा सके। इसमें जो कठिनाइयां हों उन्हें स्वीकृत करना ही होगा।

(२) इस प्रदेश के जिन लोगों ने गांधी युग से पहले यंत्रणा सही है उन क्रान्तिवादी परिवारों की खोज-खबर ली जाय और इस बात की सावधानी ली जाय कि उन त्यागी परिवारों की ओर केवल इसलिये दुर्लक्ष न हो कि उनके बलि-पन्थी अभिभावकों ने ब्रिटिश विरोध में पिस्तौलों का या षड्यंत्रों का सहारा लिया था। ऐसे परिवार अन्य राज्यों की तरह इस राज्य में भी हैं और उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

(३) कला के क्षेत्र में—(अ) इस प्रदेश के गायक, वादक आदि कलाकारों का उत्तरदायित्व केवल रेडियो संस्था पर न छोड़ दिया जाय। जिन्होंने साधनापूर्वक कला की सेवा और रक्षा की है शासन की सबलभुजा उनको सुख दे।

(आ) जो साहित्य सेवी स्वर्गवासी हो गये हैं, उनके परिवारों और अप्रकाशित साहित्य की ओर हमारी दृष्टि जा सके। स्वर्गीय विनय कुमार, स्वर्गीय मंगलीप्रसाद सूबेदार तथा स्वर्गीय इन्द्रबहादुर खरे आदि कितने ही साहित्यिकों की रचनाएं पड़ी हैं कि जिनकी ओर ध्यान देते ही एक नया काम हमारी साहित्यिक गतिविधि में हो सकेगा।

(इ) समस्त देश में और उसी प्रकार इस प्रदेश में साहित्य लिखने वाले की दुर्दशा है। इस श्रेणी में जो लोग शिक्षा विभाग में अथवा किसी सरकारी विभाग में नौकरी पा गये उनके सिवाय जो लोग केवल मैनस्क्रिप्ट लिखकर ही जीना चाहते हैं उन्हें जीवन-दान मिलना चाहिये। १९३९ के पहले उदासीन ब्रिटिश शासन के सिवाय उनका शत्रु वह गरीबी रही है जो प्रकाशक की उस लाचारी से पैदा होती थी जो कहता था कि "हम तुम्हारी पुस्तकें कैसे छापें, कहीं से कोई मांग भी तो हो"। युद्ध के दिनों में प्रकाशक ने कह दिया कि "हम तुम्हारी पुस्तकें कैसे छापें, कहीं से कागज भी तो मिले!" युद्धोत्तरकाल में—नये स्वराज्य में—प्रकाशक ने कहा "तुम्हारी पुस्तकें छापने के बजाय हमें तो स्कूली किताबें छापना है, तुम्हारी किताबें कैसे छापें?" इस तरह इस देश के और इस प्रदेश के भी मैनस्क्रिप्ट राइटर को मार डालने और मर जाने पर उसके पुनः पैदा न होने देने का षड्यन्त्र बेजाने ही कुछ ऐसा सध गया है कि कोई मैनस्क्रिप्ट राइटर होकर जीने का साहस नहीं करता। हमारे अनन्त प्रयत्नों में ऐसा न हो कि हमारे शान पर मैनस्क्रिप्ट राइटर के मरण के खून के दाग लगें। हमें उसे जीवित करना चाहिए और जीवित रहने देना चाहिए। हमारे प्रयत्नों में भाषा-भेद और किसी की नाराजी-खुशी के भेदों को कोई जगह नहीं होनी चाहिए।

(ई) इस राज्य के तथा साहित्य जगत के रोगी और अपाहिज कलाकारों की ओर भी हमारी दृष्टि जानी चाहिए। मौसम में दूध निकालकर फिर कसाईखाने में बेची जाने वाली गाय की तरह उनके प्रति दुर्लक्ष नहीं होना चाहिए; क्योंकि साहित्य और कला की पीढ़ियां तभी पनप सकती हैं जब सामाजिक व्यवस्था उनका ध्यान रखे। हम यह भी देखें कि क्या ऐसा वातावरण हम दे सके हैं कि स्वदेश में अथवा विदेशों में जाकर साहित्य और कला की इकाइयां, सौन्दर्य, पहुंच, और चिरन्तनता के क्षेत्र में—नई पीढ़ियां, मध्य जीवन की पीढ़ियां तथा परिपक्व अनुभव की पीढ़ियां—प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकें। बाहर का लेखक अपनी रचनाओं में बड़ी सरलता से चीन का और स्विटजरलैण्ड का अपनी पुस्तक के एक ही पृष्ठ पर उदाहरण दे देता है; भारतीय लेखक उसे टुकुर-मुकुर देखकर पढ़ लेता है। साहित्यिकों को लम्बे उपदेश देने वाले असाहित्यिक इस बात को अनुभव ही नहीं करते कि साहित्यिक को भूख लगती है, उसकी ज्ञान पिपासा में उसे दूर और पास जाने और मानव-मन तथा प्राकृतिक विविध व्यवस्थाओं को समझने देखने की आवश्यकता है।

मैं इन बातों का विस्तार नहीं करता, केवल एक दिशा की तरफ संकेत मात्र करना अपना कर्तव्य समझता हूं। कभी-कभी वे फेहरिस्तें उठाकर देखने की आवश्यकता है कि किन राज्यों के लेखकों की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं सरकारी रीति से हमारे राज्य में चलती हैं और हमारे राज्य का साहित्य उन राज्यों में नहीं चल पाता। यदि इस बात की

तरफ ध्यान देने वाला कोई न होगा तो अन्य प्रान्तों की टेक्स्ट-बुक कमेटीज तथा सरकारी विभाग इन बातों पर ध्यान न दे पायेंगे। एक दो लेखन के धनी तो अपने लिए स्थान बना ही लेते हैं किन्तु हमें समूचे राज्य के लेखकों और कलाकारों के हित-अहित पर दृष्टि रखनी पड़ेगी।

मैंने ये सब बातें इसलिए लिख दी कि पंडित रविशंकर शुक्ल के युग में इन बातों की ओर अधिक ध्यान दिया जा सकता है। राज्य के अन्दर भी और बाहर भी। यदि शासक, नेता अथवा अग्रगामी अपने स्वयं के लिये साहित्य को आगे बढ़ाने का मोह न छोड़ सकें तो वे समाज के साहित्य और कला अंश की निस्वार्थ-सेवा करने में सफल नहीं हो सकते। पंडित रविशंकर जी ने इस प्रान्त की नन्हीं पीढ़ियों को गोद खिलाया है अतः मैं इन उत्तरदायित्वों की ओर इस सुअवसर पर उनका ध्यान खींचना चाहता हूं।

यह हमारे भूल जाने की वस्तु नहीं है कि राष्ट्रभाषा प्रचार का देशव्यापी कार्यालय हमारे ही राज्य में है तथा नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन अथवा और भी कुछ संस्थाएं अखिल भारतीय आधार पर राष्ट्रभाषा के उत्तरदायित्व के निर्माण-कार्य में लगी हुई हैं। मुझे हर्ष है कि हमारे प्रान्त का, रविशंकर जी के अधिनायकत्व में, उन सब बातों की ओर लक्ष्य है। पंडित रविशंकरजी को यह गौरव है कि केन्द्रीय शासन और अनेक राज्यीय शासन जिस हिन्दी का प्रयोग करने जा रहे हैं उसका निर्णय और निर्माण इन वर्षों में अधिकतर मध्यप्रदेश में ही हुआ है। किन्तु भाषा का क्षेत्र ऐसा है कि सांस, व्यापार, और सूझ की तरह इनकी यात्रा वन-वे ट्रैफिक की तरह नहीं होती। अतः हमारे शासन की शक्ति बढ़ाये रखने के लिये आदान-प्रदान की परम्परा को सबल बनाये रखना आवश्यक है। मराठी भाषा के साथ हिन्दी का बन्धु-भाव बहुत पुराना है और पंडित रविशंकर शुक्ल ने उस बन्धुत्व की रक्षा करने में जो कुछ किया है, उस भाव-भूमि पर आगे बढ़कर हमें—हम मराठी और हिन्दी भाषियों को—दक्षिण भारत की भाषाओं के मधु-संचय को अपने साहित्य के रस-घट में भर-भर कर निहाल होना चाहिए।

पंडित रविशंकर शुक्ल की भुजाओं पर नर्मदा की निर्मलता, ताप्ती का अखण्ड सौन्दर्य और महानदी की गौरव-गरिमा शोभित रहे, और कपास, ज्वार और गेहूं के लहलहाते पौधे उनकी भुजा के संरक्षण पर गर्व कर सकें तथा हमारी खदानें, हमारे जन-जीवन के नरनारी इस बूढ़े तरुण के अन्तःकरण में अपने विश्वासों को संजोकर रखते रहें—यह मेरी भगवान से प्रार्थना है।

शुक्लजी की विशेषताएँ

श्री दुर्गाशंकर मेहता, उद्योग-मंत्री, मध्यप्रदेश

लम्बे अरसे की बीमारी से काफी शिथिलता आ गई थी। ऐसी अवस्था में कुछ भी लिखना जी पर आ रहा था।

बियाणीजी का पत्र मिलने पर भी और इच्छा होते हुए भी लाचारी मालूम हो रही थी कि तारीख १५ का रामगोपालजी का पत्र जिसमें लाल स्याही से 'जरूरी' टँका हुआ था, तारीख २० को आ ही धमका। बूढ़े-नेता का ऋण और मित्रों का आग्रह एक बार फिर जाग उठा और हिम्मत करके दो-चार टूटे-फूटे शब्दों की श्रद्धांजलि अर्पित करने को बैठ ही गया।

दिसंबर १९०९ की बात है। मैं और मेरा छोटा भाई मित्रवर श्री करुणाशंकर दवे के साथ कलकत्ता पहुंचे थे कि वहां शुक्लजी से भेंट हो गई। उसी धर्मशाला में, जहां हम ठहरे थे, वे भी ठहरे थे। मैं मुसीबत का मारा छोटे भाई की मेडिकल कालेज में पढ़ाई की चिन्ता में था। शुक्ल जी आये थे जी बहलाने। चिन्ता के बीच भी थोड़ा-बहुत चित्त बहलाने का अवसर कौन नहीं निकाल लेता। खैर, शुक्लजी की तीव्र इच्छा थी आपेरा (Opera) देखने की। मैं भी साथ हो लिया। यह थी मेरी पहली भेंट। फिर कई दिनों तक उनसे भेंट नहीं हुई, क्योंकि मैं था पंडित सुन्दरलाल के केम्प में और शुक्लजी थे श्री राघवेन्द्रराव के केम्प में। अन्ततः श्री राव ने जादू का हाथ शुक्लजी पर फेरा ही पर मुझपर उनका मंत्र बेकार साबित हुआ यद्यपि डा. मुंजे भी उनके सहयोगी थे। श्री राव, शुक्लजी और मैं अपने-अपने जिले की डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के सभापति थे। इस तरह का हमारा दूर का सम्बन्ध था जरूर, परन्तु सन् १९२१ के झण्डा-सत्याग्रह के ये दोनों विरोधी थे और मैं उसमें डूब चुका था। यद्यपि बाद में १९२३ में हम तीनों श्री चित्तरंजनदास की स्वराज्य पार्टी में शामिल हो गए तो भी मेरी और शुक्लजी की कार्य-पद्धति में फर्क था। जहां वे डिस्ट्रिक्ट कौंसिल को कांग्रेस की सहचरी बनाने में संलग्न थे, मैं उस नीति को अनीति मानकर इस संस्था को कांग्रेस से अलग रखना चाहता था। परंतु सन् १९३० के सत्याग्रह में रायपुर के स्कूल मास्टरों ने कांग्रेस का साथ देकर मेरी धारणा को असत्य ठहराया। इसी अवसर पर मैंने शुक्लजी की संगठन-शक्ति का नमूना पाया और वह शक्ति उनके कार्यों में आज तक पाई जाती है। यदि कहीं मेरा मतभेद आया तो उनकी अपनी मुर्गी की एक टांग की दलील से। हम लोग १९४२ के आंदोलन में एक ही जेल में नजरबंद थे। रात्रि में शुक्लजी जब बुलडाना से नागपुर लाए जा रहे थे, मैं भी साथ था। वे आंदोलन के विषय में डींग मारने बैठ गए और पुलिस इंस्पेक्टर जो मुसलमान था, उसके सामने कह बैठे कि रायपुर में जेल की दीवार ढा देने का वे पूरा-पूरा प्रबंध कर चुके थे। एक दिन का समय मिलता तो "डाइनामेंट" लगाकर दीवार तोड़ दी जाती। इसका परिणाम तत्काल तो कुछ भी नहीं हुआ परन्तु जब वेलोर जेल में हम लोग बंद कर दिए गए तब बात आई हम लोगों को कम्पाउंड के भीतर खुले रहने की। तब आई. जी. जेल्स के सामने यह चर्चा निकली कि यदि कैदी यह वचन देवें कि वे बाहर निकलने का प्रयत्न नहीं करेंगे तो खुले रह सकते हैं। शुक्लजी अपनी आदत के अनुसार दमक कर बोले कि हमको मौका मिले तो हम आज दीवार फाँदकर निकल जाने पर आमादा हैं। गनीमत थी कि वहां का जेल सुपरिटेंडेंट अंग्रेज था। उसने बात सँभाल ली और यह कह आई. जी. को शांत किया कि सारी जिम्मेदारी उसकी है और वह इस जिम्मेदारी को अपने आप पर झेलने को तैयार है।

दूसरी बात जो मैंने पाई और जो शुक्ल जी के स्वभाव की खासियत है वह है उनकी कार्यपरता की। कार्य स्वयं अपने हाथों करने की आदत जो उनकी विशेषता है वह सराहनीय अवश्य है; परंतु इस तरह का अविश्वास जो दूसरों के किए हुए कार्य पर उत्पन्न होता है और जो औरों की कार्यपरता की क्षति करता है उनके स्वयं के ऊपर पड़े हुए बोझ को कई गुना बढ़ाता है और कार्य की प्रगति में बाधक होता है। हर काम में दिलचस्पी लेना एक बात है और उसे अपने ही हाथों करने की इच्छा रखना दूसरी। जब काम कम हो तब तो बात सध जाती है परंतु जहां काम की प्रचुरता हो वहां तो काम बांट लेना आवश्यक हो जाता है।

यह सब होते हुए भी शुक्ल जी की कार्य करने की शक्ति की सराहना करनी होगी कि वे दिन-रात समय का विचार बिना किए काम करते रहते हैं। भोजन का समय टल भले ही जावे, सोने का समय भी खर्च हो जावे, इन सब बातों को बरदाश्त कर काम में लगे रहना, स्वास्थ्य का विचार न रखते हुए कुतूहल उत्पन्न करने वाला है। इतनी अवस्था में, इस तरह दौड़-धूप के साथ साथ, काम करने की उनकी शक्ति अद्भुत है। इतना होकर भी वे अपने आपको विचल नहीं होने देते। जब भी मिलो उनका हृदयहारी स्मित उनके वदन पर खेला ही करता है। चारों ओर से विरोधी गण उन्हें भले ही विचल करने का प्रयत्न करते हों तब भी वे अचल और निर्भीकता से कार्य में लगे रहते हैं। यह है उनके स्वभाव की विशेषता।

गुरुदेव

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

खैरागढ़ के छोटे-बड़े सभी लोगों के लिये हमारे प्रान्त के मुख्यमंत्री प. रविशंकरजी शुक्ल गुरुदेव हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होगा जिसकी सच्ची श्रद्धा और गुरु की तरह आदर के पात्र वे न हों। जब वे खैरागढ़ में हेडमास्टर होकर आये तब मैं बिलकुल छोटा था। परन्तु उन्हीं दिनों में हिन्दी कथा-साहित्य के मायालोक में प्रविष्ट हो चुका था। सन् १९०३ कितनी ही बातों के लिये मेरे लिये चिरस्मरणीय वर्ष है। इसी वर्ष खैरागढ़ में पहिली बार प्लेग का आगमन हुआ। मेरे एक सहपाठी तत्कालीन दीवान साहब के सबसे छोटे पुत्र थे। उन्हीं पर सबसे पहले प्लेग का आक्रमण हुआ। सभी लोग खैरागढ़ छोड़कर भाग निकले। सुना कि हम लोगों के हेडमास्टर शुक्ल जी ही उस लड़के की सेवा के लिये रुक गये। उस लड़के की तो मृत्यु हो गई परन्तु खैरागढ़ के सभी लोगों के हृदय-सिंहासन पर शुक्ल जी अनायास ही अपने उसी एक कृत्य से आसीन हो गये।

उस समय खैरागढ़ में राजा कमलनारायण सिंह जी शासन करते थे। साहित्य और संगीत दोनों की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी। खैरागढ़ में मैंने साहित्य का एक विशेष वातावरण अपने बाल्यकाल में पाया। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि आजकल खैरागढ़ में शिक्षा और सभ्यता की विशेष वृद्धि हो गई है तो भी अब साहित्य का वह विशुद्ध वातावरण नहीं रहा। उस समय के अधिकांश लोगों में मैंने साहित्य के प्रति एक विशेष अनुराग पाया। उसका एक कारण यह है कि राजा साहब के कारण कितने ही लब्ध-प्रतिष्ठ विज्ञ लोग खैरागढ़ आया करते थे। यह भी एक सौभाग्य की बात थी कि शुक्ल जी हेडमास्टर होकर आये और उनके कारण स्कूल में ही नहीं नगर में भी ज्ञान का एक विशेष वातावरण हो गया। आजकल भी प्रायः सभी स्कूलों में एक डिबेटिंग सोसाइटी रहती है। उसमें मास्टर और छात्र सभी लोग सम्मिलित होकर कितने ही विषयों पर विचार किया करते हैं। परन्तु शुक्ल जी के समय में विक्टोरिया हाई स्कूल में डिबेटिंग सोसाइटी की बैठक एक महत्वपूर्ण बात थी। उसमें मास्टर और छात्र ही नहीं उपस्थित रहते थे परन्तु नगर के कितने ही विज्ञ-जन सम्मिलित होते थे। लगभग तीन बजे से बैठक प्रारम्भ होती थी और आठ-नौ बजे रात्रि तक उसकी समाप्ति नहीं होती थी। मैं इतना छोटा था कि विवाद के विषय को समझ नहीं सकता था। जब और लोग ताली पीटते थे तब मैं भी ताली पीटता था। पर मन में एक विस्मय और कौतूहल का भाव अवश्य उत्पन्न होता था सोचता था कि इन वक्ताओं में ज्ञान की वह कैसी गरिमा होगी जिसके कारण इतने लोग वहां मंत्र-मुग्ध बैठे हैं। प्रायः सबसे अंत में शुक्लजी बोलते थे। उनके बोलने की एक विशेषता उस समय मैंने अवश्य लक्षित की थी। वे जब खड़े होते थे तब हाथ में एक पेन्सिल अवश्य रखे रहते थे और उस पेन्सिल को अपनी टेबिल से दबाये रखते थे। उनकी वाणी में एक गम्भीरता थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानों वे किसी बात का अंतिम निर्णय दे रहे हैं। उसमें उनके विश्वास की एक दृढ़ता लक्षित होती थी। वे कभी विक्षुब्ध प्रतीत नहीं हुए। आवाज स्पष्ट होने पर भी कभी कर्कश नहीं होती थी।

उन दिनों स्कूल की कुछ दूसरी ही नीति थी। लड़कों के लिये बेंतों की सजा अत्यंत साधारण बात थी। छोटे से छोटे लड़के से लेकर बड़े से बड़े लड़के तक को बेंत की सजा दी जाती थी। बेंत की गणना स्कूल मास्टरों के लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तुओं में होती थी। ऐसा कोई भी मास्टर नहीं था जो बेंत लेकर नहीं जाता था और कदाचित् ऐसा कोई भी मास्टर नहीं था जिसको दूसरे दिन फिर नई बेंत की आवश्यकता न पड़े। स्कूल से भाग जाने वाले विद्यार्थियों के लिये एक चपरासी भी नियुक्त था। उसका काम था खोज-खोज कर विद्यार्थियों को पकड़ लाना। सारे स्कूल में ५० से अधिक विद्यार्थी रहे भी नहीं। इसीलिये छोटे-बड़े सभी छात्रों पर मास्टरों और हेडमास्टर की दृष्टि रहती थी। अभाग्यवश या सौभाग्यवश उन दिनों मैं देवकीनंदन खत्री के मायाजाल में बद्ध हो चुका था। स्कूल के पाठ मुझे अत्यंत नीरस प्रतीत होते थे। अवसर पाते ही मैं घर से 'चन्द्रकान्ता संतति' का कोई भाग लेकर भाग जाता था। पर कभी न कभी मैं पकड़ा भी जाता था। तब मैं हेडमास्टर के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। कम से कम छः बेंतों की सजा तो मुझे अवश्य ही मिलती थी। उसके बाद क्लास के भीतर भी मैं खूब पिटता था। एक बार शुक्ल जी ने पूछा कि तुम स्कूल आते क्यों नहीं ? मैंने कहा 'एक टोनही के कारण मैं स्कूल नहीं आ सकता।" शुक्ल जी खूब हंसने लग गये ; परन्तु उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारी टोनही को बेंतों की मार से भगा दूंगा। यह बात

वे अभी तक नहीं भूल सके। जब कभी वे खैरागढ़ आये तब उन्होंने इस बात का उल्लेख अवश्य किया। यथार्थ में किसी चुड़ैल के माया-पाश से कहीं अधिक दृढ़तर पाश खत्री जी का मायाजाल था। मैं यह नहीं समझता था कि मैं "भैरोसिंह" नहीं हो सकता। मैं टूटे-फूटे घरों में अवश्य घूमने जाया करता था। मैं खेतों में जाकर उस आसमानी रंग के फूल की खोज करता था जिसके रस से जगन्नाथ ने वीरेन्द्रसिंह को चैतन्य किया था। मैं तो छोटा था पर मेरे इस काम में सहायक जो गजराज बाबू थे वे ऊंची कक्षा में पढ़ते थे। यह सच है कि वे स्कूल से नहीं भागते थे। पर अवसर मिलते ही वे भी मेरे साथ घूमा करते थे। चन्द्रकान्ता संतति के मायाजाल में वे भी आबद्ध हो चुके थे। एक बार हम लोगों ने बड़े परिश्रम से एक बेहोशी की दवा तैयार की। हमें विश्वास था कि तम्बाकू के साथ किसी को वह दवा पिला देने से वह बेहोश हो जायेगा। हमने उसे एक व्यक्ति को दिया। वह गंजेड़ी था। उसे पीकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। परन्तु वह बेहोश नहीं हुआ।

कुछ दिनों के बाद शुक्ल जी चले गये। उनके स्थान में एक दूसरे वयोवृद्ध विद्वान हेडमास्टर होकर आये। उनका नाम था श्री बिहारीलाल जी शास्त्री। उनकी बड़ी प्रशंसा थी। तब तक अज्ञात रूप से मैं हिन्दी साहित्य से विशेष परिचित हो गया था। उस समय आर्यसमाज के शास्त्रार्थों की विशेष चर्चा हमारे नगर में होती थी। बिहारीलाल जी शास्त्री मध्यप्रान्त के पहिले ग्रेजुएट माने जाते थे। परन्तु स्कूल में वह आतंक नहीं रहा जो शुक्ल जी के समय में था। कुछ समय के बाद बिहारीलाल जी तत्कालीन युवराज दिवंगत राजा लालबहादुरसिंह के प्राइवेट ट्यूटर हो गये और उनके स्थान में फिर शुक्ल जी नियुक्त हुए। मैं तब तक सेवंथ क्लास में पहुंच गया था और मेरी गणना अब साधारण अच्छे लड़कों में होने लगी थी। उन्होंने जब ट्रांसलेशन का पेपर जांचा तब उसमें मुझे सबसे अधिक मार्कस् मिले। इस पर उन्होंने फिर मुझे बुलाकर कहा "देखो तुम्हारी वह चुड़ैल किस तरह भाग गई।" फिर साल-डेढ़ साल बाद वे एल.एल. बी. की परीक्षा पास कर रायपुर चले गये और वहीं वे रहने लगे।

शुक्लजी के प्रति मेरे हृदय में जो एक आतंक का भाव था वह अभी तक विलुप्त नहीं हुआ है। मैं अभी तक उनके समक्ष खड़ा नहीं हो सकता। यह मेरे लिये असंभव बात है कि वे मुझे कुछ आज्ञा दें और उसे मैं तुरन्त ही न करूं। मैं हिन्दी के कितने ही मासिक पत्रों में १९११ से लेख लिखता आ रहा हूं। यह बात उनसे छिपी नहीं थी। मेरी उन्नति से उन्हें संतोष ही हुआ। जब मैं 'सरस्वती' का सम्पादन छोड़कर नांदगांव में मास्टर हुआ, तब वे रायपुर की डिस्ट्रिक्ट कौंसिल में चेयरमेन थे। एक बार उन्होंने शिक्षकों का जो सम्मेलन कराया उसमें उन्होंने मुझे भी व्याख्यान देने के लिये बुलाया। उसके पहिले दो-चार स्थानों में मैं व्याख्यान दे चुका था। मेरे लिये सबसे कठिन समस्या यह हुई कि मैं उनकी उपस्थिति में कैसे बोल सकूंगा। परन्तु जब मैंने उस अवसर को टालना चाहा तब फिर उनकी आज्ञा आई और मुझे जाना पड़ा। पहिली बार उनकी उपस्थिति में मैंने उस शिक्षक-सम्मेलन में व्याख्यान दिया। पर उसका यह परिणाम अवश्य हुआ कि अब किसी की भी उपस्थिति में मैं बोलने का साहस कर सकता हूं।

साहित्य के क्षेत्र में काम करने के कारण मैं कितने ही स्थान गया और कितने ही लोगों से मिला भी पर शुक्ल जी के विशेष सम्पर्क में मैं कभी नहीं आया। एक बार उन्होंने मुझको अपने एक साप्ताहिक पत्र में काम करने के लिये भी बुलाया परन्तु मैं नहीं जा सका। मैं बम्बई चला गया। वहां से लौटकर मैं जबलपुर आया। जबलपुर से जब मैं खैरागढ़ लौटा तब मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिस थर्ड क्लास के डिब्बे में मैं बैठा हुआ था वहीं शुक्लजी ठाकुर प्यारेलालसिंह के साथ आकर बैठ गये। मुझसे भी बातें करने लगे। बम्बई में उन्हीं दिनों सेठ गोविंददास जी के 'धुवाधार' नामक चल-चित्र का प्रदर्शन हो रहा था। उसके संबंध में भी चर्चा हुई। मैंने यह देखा कि शुक्लजी सभी बातों की ओर अनुराग रखते थे और सभी तरह की बातें जानने के लिये उत्सुक रहते थे। उसके बाद फिर भेंट नहीं हुई। जब खैरागढ़ में सोशल गेदरिंग की रजत-जयन्ती मनाई गई तब विशेष रूप से उन्हें निमंत्रण दिया गया। मैं भी विक्टोरिया हाईस्कूल में मास्टर था। उस समय उन्होंने बड़ा ही प्रभावशाली व्याख्यान दिया। उसका प्रभाव अभी तक मुझपर है।

समय चला जाता है। परिस्थिति भी बदल जाती है। मैं उनके सामने कभी बालक था। अब मैं स्वयं वृद्ध हो गया हूं। अतीत काल की सभी बातें स्पृहणीय हो जाती हैं। काल की गति की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें भावों की तीव्रता नहीं रह जाती। मैं आज यह स्पष्ट अनुभव कर रहा हूं कि मेरे जीवन में जिस एक व्यक्ति का सबसे अधिक प्रभाव अलक्षित रूप से विद्यमान रहा वे पंडित रविशंकर जी शुक्ल हैं। वे मेरे शिक्षा-गुरु नहीं रहे परन्तु शिक्षा-गुरुओं के द्वारा मैंने जो कुछ भी शिक्षा प्राप्त की उससे कहीं अधिक प्रभावोत्पादक शुक्ल जी का व्यक्तित्व मेरे लिये रहा। इसीलिये आज मैं उनको अपना सच्चा प्रणम्य गुरुदेव मानकर अपने हृदय की सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर अपने को कृतकार्य समझ रहा हूं।

शुक्लजी का व्यक्तित्व

पंडित कुंजीलाल दुबे, अध्यक्ष, विधान सभा, मध्यप्रदेश

यह हमारे राज्य का सौभाग्य है कि उसे देश की स्वतंत्रता के प्रथम दशक ही में पंडित रविशंकर जी शुक्ल सरीखे राष्ट्र-व्रती और सुदृढ़ शासक की सेवाएं मुख्य मंत्री के रूप में, प्राप्त हुई हैं।

शुक्लजी मध्यप्रांत के राजनैतिक जीवन के नेता और निर्माता दोनों ही रहे हैं। इतिहास में तीन प्रकार के नेता होते आये हैं—(१) वे जिन्हें नेतृत्व की शक्ति प्रकृति से प्राप्त होती है, (२) वे जिन्हें परिस्थिति नेता बना देती है, और (३) वे जिनके नेतृत्व का आधार केवल उनकी आत्म-कल्पना ही होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तीन कोटियों में से शुक्ल जी किस कोटि के नेता हैं। उनके व्यक्तित्व की सुघरता, उसकी गठन और ओज, मुख की मुस्कुराहट और मूछों की फर्राहट,—ये सभी पुकार-पुकार कर कहते हैं कि यहां जनता का एक जन्मजात नेता मौजूद है।

उच्च कोटि के नेता और शासक होने पर भी उनका सब कार्य मानवीय धरातल पर ही चलता है। कायदा-कानून की भूल-भुलैय्यों में वे यह कभी नहीं भूलते कि राज्य और राजनीति का सारा खेल, सुख-दुख और इच्छा-द्वेष के उन केन्द्रों के लिये है जो मनुष्य कहलाते हैं। यही दृष्टिकोण सदा उनके सन्मुख रहता है और इसीलिये उनकी सहज मैत्री की सरल मुद्रा के सन्मुख, अपनों का और दूसरों का, दोनों ही का विरोध, आप ही आप गलित होने लगता है। अपनों से सख्ती की और विरोधियों से स्नेह की आवाज में बोलने की कला के उनके सरीखे प्रकृति-प्रवीण कलाकार विरले ही मिलेंगे।

सिद्धान्त, कानून और सहज बुद्धि इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध और तीनों के क्षेत्र की इयत्ता शुक्ल जी खूब समझते हैं। मित्र, अमित्र और उदासीन, सभी पर उनकी स्कंध-स्पर्शिनी अच्युत सम्मोहन-शक्ति की सफलता का यही रहस्य है।

भारत के प्राचीन नीति-शास्त्रियों ने मंत्रियों के जिस आदर्श का विशद वर्णन किया है, आधुनिक युग में हमें उसकी झांकी शुक्ल जी के व्यक्तित्व में मिलती है।

शुक्ल जी ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, मध्यप्रदेश की जो सेवा की है, आज उसका यथार्थ मूल्य आंकना सम्भव नहीं। हमारे प्रदेश के इस राजनैतिक भीष्म-पितामह का योगदान अभी भी प्रदेश की राजनीति ही का अंग है, इतिहास का नहीं। प्रदेश के राजनैतिक क्षेत्र के प्रायः सभी नेताओं के व्यक्तित्व में शुक्ल जी के व्यक्तित्व की छाप है—फिर चाहे वह उनके सहयोग से पड़ी हो, चाहे उनके विरोध से।

पर हाल में उन्होंने हमारे प्रदेश की जो दो प्रमुख सेवाएं की हैं, वे अवश्य ही उल्लेखनीय हैं—एक आर्थिक क्षेत्र में, दूसरी सांस्कृतिक क्षेत्र में। अपने सतत् प्रयत्न से भिलाई में लोहे का बड़ा कारखाना स्थापित कराकर उन्होंने जो अपने राज्य और अपने राष्ट्र की सेवा की है, उसके आर्थिक फल की विशालता, कुछ काल के पश्चात् पूर्ण रूप से दृग्गोचर होगी। और मेरा विश्वास है कि हिन्दी और मराठी को राज्य की राजभाषा बनाकर शुक्ल जी ने जो हमारी संस्कृति और आत्म-गौरव के लिये कार्य किया है, उसका प्रभाव न केवल मध्यप्रदेश के शासन और संस्कृति पर, किन्तु देश के अन्य राज्यों के शासन और संस्कृति पर भी, बहुत कल्याणकर सिद्ध होगा। आयर्लेन्ड के इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप, शासन और शिक्षा में भाषा का महत्व शुक्ल जी ने जितना हृदयंगत किया है उतना हमारे देश के बहुत कम शासक अभी कर सके हैं। इस विषय में हमारे प्रदेश को अग्रणी होने का अभिमान है।

शुक्ल जी शतायु-सहस्रायु हों, इस अवसर पर मंगलमय भगवान् से मेरी यही प्रार्थना है।

प्रेरणास्रोत या प्रकाशस्तंभ

डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र

श्रद्धेय श्री पंडित रविशंकर जी शुक्ल प्रायः रायपुर में रहते रहे हैं और मैं राजनांदगांव में। हम दोनों की आयु का अन्तर भी प्रायः वही है जो सामान्यतः पिता और पुत्र के बीच हुआ करता है। परन्तु जिस तरह पिता और पुत्र में एक नैसर्गिक निर्हेतुक आकर्षण हो जाया करता है, कुछ उसी तरह का आकर्षण हम दोनों के बीच रहता आया है। अलग-अलग स्थानों में रहने का व्यवधान इस भाव में बाधक होने ही नहीं पाया। श्री शुक्ल जी के चाचा राजनांदगांव की सूती मिल के पहिले मैनेजर रहे हैं और मेरे पिताजी के चाचा उस मिल के प्रथम निर्माता (इमारती ठेकेदार)। दोनों घरानों में तब से स्नेह-सम्बन्ध चला आ रहा है। परन्तु हम दोनों के पारस्परिक आकर्षण का कारण केवल उतना ही नहीं है। मान्यवर शुक्ल जी में कुछ गुण ही ऐसे हैं कि हम सरीखे न जाने कितने व्यक्ति ऐसी ही आत्मीयता के साथ उनकी ओर आकृष्ट हुए होंगे।

लोग कहते हैं कि खाद्य पदार्थों में सम्मिलित किया जाने वाला बड़ा भी बड़ा तब बनता है जब वह खारे जल को सोख लेने की शक्ति रखे, पत्थर के सिल-लोढ़े के प्रहार भलीभांति सह सके और स्नेह (तेल या चिकनाई) में अच्छी तरह पक उठने की क्षमता लिये हुए हो। तभी वह लोगों की जिव्हा का आकर्षण बन पाता है। मनुष्य का बड़प्पन भी तभी निखरता है जब वह खारे आंसुओं को पी जाने की पूरी क्षमता रखे, अपनी निजी व्यथा की कहीं चर्चा तक न करे, परिस्थितियों के शिला-संघर्ष को भलीभांति सह सके, किसी भी प्रकार की बाधा या विपत्ति में अपनी आशावादिता, अपना धैर्य, अपनी शक्ति न खोवे और बड़ी से बड़ी विपत्ति का प्रसन्नतापूर्वक साहस और सफलता के साथ मुकाबिला करे। परन्तु यह सब होते हुए भी उसका हृदय इतना स्नेहसिक्त रहे कि न केवल समूची मानव-जाति को ही किन्तु अखिल प्राणिवर्ग को भी वहां तक पहुंचने पर स्निग्धता का अनायास भान हो जाय। श्री शुक्ल जी में कुछ ऐसा ही बड़प्पन है जिसके कारण हृदय में बरबस उनके प्रति एक श्रद्धापूर्ण आत्मीय भावना-सी जाग्रत हो उठती है। हमने ऐसे अनेक व्यक्ति देखे हैं जो तीव्र आलोचक-भावना अथवा विरोध-भावना लेकर श्री शुक्ल जी के पास पहुंचे हैं, परन्तु उनके स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व से कुछ ऐसे प्रभावित होकर लौटे हैं कि फिर उनके पास श्री शुक्ल जी की प्रशंसा के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं रह गये।

राजनांदगांव की पाठशाला के छात्र की हैसियत से मैं श्री शुक्ल जी का वही रूप देखा करता था जो एक अच्छी खासी फीस की रकमें बटोरने वाले भव्य वेषभूषाधारी उस जमाने के वकील का हो सकता था। ईश्वर ने उन्हें नेतृत्व के योग्य शरीर-सम्पत्ति भी अच्छी दी है। बलिष्ठ श्री शुक्ल के प्रभावशाली गौर मुखमण्डल पर विजय-वैजयन्ती-सी फहराती मूंछें दूरदर्शिनी और सूक्ष्मदर्शिनी शक्तियों से भरी हुई आकर्षक तेजस्विनी आंखें और संक्रामक उन्मुक्त हास्य से भरी उज्ज्वल दन्तपंक्ति तथा इन सबके साथ बढ़िया से बढ़िया फैशनेबल कपड़े और फिर उत्तम से उत्तम सवारी इत्यादि, इत्यादि। मैंने जब कालेज में प्रवेश किया तब हिन्दी की रचनाएं आरम्भ कर दीं। श्री शुक्ल जी ने मुझे एकदम प्रोत्साहित करना आरम्भ कर दिया। बड़ा प्रेमपूर्ण सम्मान देते हुए वे मेरी रचनाएं सुनने का आग्रह करते। जिसकी भव्यता के आगे एक नवयुवक दबा दबा-सा रहे वही यदि उस नवयुवक के मानसिक धरातल पर उतर कर उसे प्रोत्साहन देने लग जाय तो अनायास कितना बल प्राप्त हो जाता है यह भुक्तभोगी ही जान सकते हैं।

सन् १९२०–२२ के आन्दोलन के दिनों में राजनांदगांव के बन्धुओं की यत्किंचित सेवा करने के बाद जब मैं अपनी वकालत की तख्ती टांगने रायपुर पहुंचा, तब श्री शुक्ल जी ने मुझे तुरन्त अपना सहकारी नियुक्त कर लिया और दो ऐसे मूलमन्त्र बताए जो आज तक मेरे लिये प्रेरणास्रोत रहे हैं। पहिली बात तो उन्होंने यह बताई कि वकीलों की श्रेणी में अनेक लोगों को विद्यमान देखकर मुझे यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिये कि नवागन्तुक के लिये क्षेत्र नहीं है। क्षेत्र सदैव शिखर पर रहा करता है न कि पदतल पर (देयर इज आलवेज वेकेन्सी एट दी टॉप)। नवागन्तुक इसी भावना से ऊपर चढ़ने का उत्साह रखे। दूसरी बात उन्होंने अपने ही जीवन की घटनाओं का आधार

देते हुए यह बताई कि संघर्ष का अवसर आने पर चाहे वह वकालत के ही मैदान में क्यों न हो, अपना 'प्रतिद्वन्द्वी' जितना प्रबल होगा उतना ही अपने लिये उत्तम अवसर मानना चाहिये। क्योंकि ऐसे ही अवसर पर तो मनुष्य की सोई हुई शक्तियां जागती और उसे अपने जौहर दिखाने का मौका देती है, जिससे न केवल उसका नाम बढ़कर चारों ओर फैल उठता है किन्तु भविष्य के लिये उसकी धाक भी अच्छी जम जाती है। ऐसे द्वन्द्व में यदि हार भी हुई तो वह कोई लज्जा की बात नहीं होती और यदि जीत हुई, जिसकी सदैव आशा रखनी चाहिये, तब तो फिर कहना ही क्या है। इस दूसरी बात के सम्बन्ध में उनका मनोबल इतना प्रबल रहा है कि वे न केवल व्यक्तियों के संघर्ष ही सफलतापूर्वक झेल सके हैं किन्तु परिस्थितियों और दैवी व्याधियों के संघर्ष में भी विजयी होकर आगे बढ़े हैं। मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है जिस दिन वे उग्र ज्वर के भीषण ताप से कराहते जाते और घण्टों-घण्टों में ली जाने वाली खुराकें मिनटों मिनटों ही में साफ करते चले जारहे थे, किन्तु एक पेचीदे मामले की भारी मिसल का अध्ययन छोड़ नहीं रहे थे। उनका दृढ़ निश्चय था कि वे दूसरे ही दिन उस मुकदमे की लम्बी बहस निपटा देंगे। आखिर यही हुआ। बुखार को भाग जाना पड़ा और दूसरे दिन अपनी सहज प्रसन्न मुद्रा में श्री शुक्ल जी घण्टों खड़े-खड़े उस मुकदमे पर अपनी बहस करते रहे और प्रतिपक्षी को करारे उत्तर देते रहे।

राजनैतिक क्षेत्र में उतरने के पूर्व भी श्री शुक्ल जी में लोकसेवा की लगन पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। जो भी व्यक्ति उनके पास नेक सलाह के लिये गया वह विमुख नहीं लौटा। जहां-जहां उन्होंने समझा कि उनकी सेवाओं की आवश्यकता है वहीं-वहीं वे निःसंकोच आगे बढ़ गये। हिन्दी के लिये उनके मन में पहिले ही से बहुत लगन थी और वे न केवल अपने प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रह चुके हैं किन्तु उसके जन्मदाताओं में से भी एक हैं। जाति के लिये—कान्यकुब्ज समाज के लिये—तो उन्होंने इतना किया है जितना इस भारत भर में शायद ही किसी अन्य कान्यकुब्ज सज्जन ने किया हो। कान्यकुब्ज सभा का संस्थापन, 'कान्यकुब्ज नायक' नामक सुयोग्य मासिक पत्र का संचालन, अनेकानेक छात्रवृत्तियों का व्यवस्थापन और इन सबसे बढ़कर कान्यकुब्ज छात्रावास के भव्यभवन का निर्माण, जिसमें उन्होंने अपनी ओर से भी हजारों रुपये लगा दिये, उनके इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य हैं। फिर भी उन्होंने जाति को राष्ट्र से बढ़कर महत्ता कभी नहीं दी। अपने भाषणों में उनका सदैव यही कहना रहा कि जाति को राष्ट्र का एक अंग मानकर ही उसकी सेवा की जाय और जब कभी जातीय स्वार्थ तथा राष्ट्रीय स्वार्थ के बीच द्वन्द्व उपस्थित होने की संभावना दिखाई दे, उस समय निःसंकोच राष्ट्रीय स्वार्थ के हित में जातीय स्वार्थ की बलि दे देनी चाहिये।

राजनैतिक क्षेत्र में उनकी सफलता के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी रहा है कि वे 'किस व्यक्ति से कौन सा काम लिया जा सकता है' इसकी परख करने में और तदनुसार उससे काम ले लेने में बड़े दक्ष हैं। रायपुर में राजनैतिक कान्फरेन्स होने वाली थी और पंडित जवाहरलाल नेहरू उसका अध्यक्षत्व करने आने वाले थे। वह धर-पकड़ का जमाना था। मैंने उसके पूर्व ही रायपुर छोड़कर रायगढ़ में मुलाजिमत कर ली थी। एक दिन अपने काम से रायपुर आया और सहज ही श्रद्धेय शुक्ल जी के दर्शन करने भी चला गया। उन्होंने तुरन्त निश्चय कर लिया कि मुझसे उक्त कान्फरेन्स के लिये एक जोशीला पद्य लिखवा लिया जावे। उन्हें इस बात की झिझक नहीं रही कि मैं तो अब मुलाजिमत में चला गया हूं। उन्हें पद्य ऐसा चाहिये था जो आग भड़का दे, फिर भले ही उसके लिये चाहे उन्हें और उनके साथियों को जेल जाना पड़े। उन्होंने श्री. महन्त लक्ष्मीनारायणदास जी को मेरा पहरेदार बनाया और अपना मनचाहा पद्य लिखा ही लिया। आज भले ही उसमें आग न दिखाई पड़े परन्तु उस जमाने के लिये वही पर्याप्त था। श्री शुक्ल जी ने कोई विशेष पैतृक सम्पत्ति नहीं पाई थी। जो कुछ था वह प्रायः सबका सब उनका स्वतः अर्जित द्रव्य था और न केवल उनका शानदार रहन-सहन, किन्तु उनके विशाल आतिथ्य-सत्कार के कारण दस-पांच सज्जन उनके यहां नित्य रहे ही आया करते थे। जब राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेते रहने के कारण उन्हें जेल पर जेल जाना पड़ा और वकालत ठप्प पड़ गई तब उन्हें और उनके कुटुम्बियों को जिस आर्थिक संकट से होकर गुजरना पड़ा है उसका आभास मनस्वी शुक्ल जी ने अपने समीपी मित्रों तक को नहीं दिया। ऐसे ही एक अवसर पर स्वर्गीय ई. राघवेन्द्रराव ने, जबकि वे इस प्रान्त के गृह मंत्री थे, एकान्त में मुझसे कहा "मिश्र जी, आप जानते हैं कि श्री शुक्ल जी से मेरा कितना स्नेह-सम्बन्ध है और आपको शुक्ल जी की कौटुम्बिक जिम्मेदारियों और आर्थिक स्थिति का भी पता है। अतएव मेरी ओर से समझाकर कहिये कि वे इस समय जान-बूझकर आग में न कूदें। उनके नाम वारंट कटा हुआ रखा है। यदि वे उत्कट सक्रियता छोड़कर कुछ दिनों के लिये थोड़ी तटस्थता का भाव स्वीकार कर लेंगे तो मैं वचन देता हूं कि उन्हें जेल न जाना पड़ेगा"। शुक्ल जी ने इसका उत्तर मुझे जो दिया वह इस प्रकार था "मैं संघर्ष-सागर के उस छोर तक पहुंच चुका हूं जहां जानबूझकर मैंने अपनी सब नावें डुबो दी हैं। अब मेरे कदम किसी प्रकार भी पीछे नहीं पड़ सकते। भगवान् की जो इच्छा होगी वह होगा"।

भगवान् की इच्छा हुई और श्री शुक्ल जी तीन-तीन बार इस प्रान्त के मुख्यमंत्री बने। मुख्यमंत्री-पद से श्री. शुक्ल जी गौरवान्वित हुए हों ऐसा मानने के बदले में तो यही समझता हूं कि प्रदेश का मुख्यमंत्री-पद ही श्री. शुक्ल जी के व्यक्तित्व से गौरवान्वित हो उठा है। परस्पर-विरोधी तत्वों को अपना कर आगे बढ़ा ले चलने की जैसी क्षमता उनमें है वैसी प्रान्त के किसी विरले ही व्यक्ति में होगी। व्यक्ति के लिये वे प्रखर प्रेरणास्रोत हैं और शासन-शक्ति के लिये सुदृढ़ प्रकाश-स्तंभ। यह सब होते हुए भी उनमें आस्तिक्य की विनम्रता इतनी है कि हाल ही के मेरे पचमढ़ी प्रवास के अवसर पर वे पूर्ण श्रद्धापूर्वक लगातार इक्कीस दिनों तक मानस के "सुन्दर काण्ड" की कथा सकुटुम्ब सुनते रहे और सहयोगियों ही को नहीं, किन्तु राज्यपाल और राष्ट्रपति तक को सुनाते रहे। धर्म-निरपेक्षता के युग-प्रवाह में ऐसा वही कर सकता है जो धर्म-निरपेक्षता को सही अर्थों में समझ सकता हो तथा जिसके पास अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त मनोबल हो। कदाचित् उनके इस विनम्र आस्तिक्य का ही प्रभाव है कि राष्ट्रपति भी उनके स्नेह-बन्धन में आबद्ध होकर पचमढ़ी को मनचाहा महत्व दे रहे हैं और भारतीय-शासन भी भिलाई सरीखे उनके प्रस्तावों को शिरोधार्य करता जा रहा है। भगवान् करे कि यह प्रेरणास्रोत और यह प्रकाशस्तंभ उत्तरोत्तर व्यापक उपयोगिता के लिये वार्धक्य में भी सुदीर्घ यौवन की शक्ति बनाये रखे।

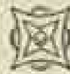
ग्रहयोग

ज्योतिषाचार्य श्री सूर्यनारायण व्यास

विक्रम संवत् १९३४ शके १७९९ श्रावण मासीय तिथौ गुरुवासरे होरा यंत्रतः समय घ. ८ मि. ५ इंष्टम घ. ५ प. ४० दिनम् ३२/४०, नक्षत्र भरणी ५३-३६, सूर्य भोग ३।१७।३०, सूर्यकांतिः उत्तरा १८।२ लग्नम् ४।१७, जन्म स्थानम् सागर, (मध्यप्रदेश)।

जन्मचक्र





चलित कुण्डली



श्री रविशंकर शुक्लजी से मुझे मिलने का कभी सद्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ, न मैं उनके व्यवहार, स्वभाव, आदि से ही परिचित हो सका हूं। यही जानता हूं कि वे मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री हैं और एक विशिष्ट व्यक्ति। जब मुझे उनकी पत्रिका पर अपने विचार व्यक्त करने को कहा गया तब क्षण भर यह सोचना पड़ा कि आखिर क्या लिखूं ? किन्तु ज्योतिर्विज्ञान एक ऐसा विषय हैं कि प्रायः अपरिचितों का चरित्रण उसकी ग्रह स्थिति की गहराई देखकर किया जा सकता हैं। जन्मकाल में जिस प्रकार के ग्रहयोग हों उसी प्रकार मानव की शरीर रचना, स्वभाव, व्यवहार, उत्थान, पतन, आदि संभव होते हैं।

संयोगवश श्री शुक्लजी की जन्म कुण्डली मुझे प्राप्त है। उनके ग्रहयोगों की सूक्ष्म स्थिति की जानकारी के लिए उनका गणित भी मेरे समक्ष हैं। ऐसी स्थिति में शुक्लजी का भौतिक व्यक्तित्व मेरे समक्ष न भी हो तो उनकी शरीर और मनोरचना के वे तात्विक कारण मेरे निकट प्रत्यक्ष हैं जिनसे शुक्लजी के व्यक्तित्व ने विकास किया हैं। आज तो शुक्लजी का उन्नति की चरम सीमा को स्पर्श करने वाला स्वरूप इस देश के समक्ष है। यदि वर्षों पूर्व उनकी कुण्डली के ग्रहयोग देखने का किसी विज्ञ व्यक्ति को अवसर मिलता तो वह निःसंकोच शुक्लजी के इस रूप का चित्रण ग्रहों के माध्यम से अवश्य कर सकता था। कौन जानता था, आज से १५—२० वर्ष पूर्व कि पंडित जवाहरलाल नेहरू इस देश के इतने महान् व्यक्ति बन जाएंगे, किन्तु जब उनकी सास ने १९३६ में मेरे पास उनकी कुण्डली भिजवाई तो मैं उनके तेजस्वी ग्रह देखकर चौंक गया था और १९३७ के अनेक पत्रों में मैंने ग्रहयोगों के कारण उनके प्रचण्ड व्यक्तित्व का विश्लेषण कर स्पष्ट प्रकट किया था कि १९४६ के बाद वे भारतवर्ष के लेनिन माने जाएंगे। उस समय शायद यह किसी ने विश्वास भी न किया हो, परन्तु आज यह कितना स्पष्ट और प्रत्यक्ष हैं। ठीक यही बात शुक्लजी की कुण्डली के तेजस्वी तारकों को देखकर कभी भी कही जा सकती थी।

शुक्लजी की कुण्डली बुद्धिप्रधान व्यक्ति की है। उनके अपने घर में बैठे हुए पंचम गुरु और राज्य के स्वामी शुक्र को देखकर सहज ही उनके तेजस्वी राजयोग को बतलाया जा सकता था। इसी प्रकार शनि-मंगल की युति भी उनको शासक निर्माण करनेवाली है। यद्यपि शुक्लजी का शुक्र ग्रह उनको सात्विक, संयमी और प्रचार प्रवृत्ति से पराङ्मुख बनानेवाला संकोची—एकांतप्रिय रखने वाला है, किन्तु श. मं. रा. की युति उन्हें उतना ही साहसी, दृढ़-निश्चयी और तेजस्वी बना देती है। एक बार काम हाथ में लेकर वे विपत्ति की और परिणाम की परवाह किए बिना बढ़े जाते हैं। आरंभ में वे संघर्षप्रिय नहीं, अपनी साधना और कर्म में रत रहनेवाले व्यक्ति हैं—किन्तु टकरा जाने पर वे समस्त शक्ति से जूझना भी जानते हैं—पीछे नहीं रह सकते। शुक्लजी स्वभावतः अध्यात्मप्रिय, विवेकशील और सरल पथगामी हैं, किन्तु उनका गुरु (प्रज्ञा) और शुक्र (प्रतिभा) तथा शनि-मंगल से प्रेरित उनका हठवादी शासक जागृत हो जाता है—तो उनकी तीखी प्रतिभाप्रेरित (कूटनीतिक) वकालत चमक उठती है और तर्क की तलवार से अपना मैदान हाथ कर लेती है। शनि-राहु उनके जीवन में उनके उत्थान के लिये प्रतिस्पर्धा और संघर्षों को ही कारण बना देते हैं। चाहे वकालत का क्षेत्र हो, चाहे राजनीति, उनमें स्पर्धा और संघर्ष ने तेजस्विता प्रेरित की है और परिणाम में यश हाथ लगता गया है। वस्तुतः वे बुद्धिप्रधान, सहृदय, सात्विक, विवेकशील, आचरण और चरित्रशील व्यक्ति हैं। उनका स्वभाव उनकी सरलता, सीधापन, वकालत के अनुकूल नहीं है, किन्तु शनि-मंगल की पर-प्रेरित सजगता ही उन्हें सफल वकील बनाने का कारण बन गई है।

शुक्लजी की राजनीति भी समान-धर्म साथियों की स्पर्धा-संघर्ष से चमकने का अवसर पाती रही है और परिस्थितियों की विवशता ने ही उन्हें उत्तरदायित्व कन्धे पर वहन करने को बाध्य बनाया और वे उसमें भी ऊपर उठते गए व सफल शासक बने। संघर्ष उनके जीवन का एक अंग रहा है और अंतिम निराशा के क्षणों में भी शुक्लजी की कुशलता, आत्मविश्वास, स्थिरता, दृढ़ता, अचल रही है। यह शनि-मंगल युति का कारण है जो कुसुम-कमनीयता रखते हुए वज्र-दृढ़ता प्रदान करती है। साथ ही राहु के कारण घर और बाहर संघर्षों को पोषित करती रहती है। शुक्लजी कुलीन वंश में उत्पन्न होते हैं। प्रतिष्ठित परिवार उनका जन्मस्थान बनता है। आरंभ में सीमित स्थान होता है, साधारण नगर या ग्राम उनका जन्मस्थल होता है और ज्ञान-साधना विभिन्न स्थानों में होती है और व्यवसाय उनसे स्वतंत्र सुदूर प्रदेश नगर में होता है, किन्तु चंद्र के दशाकाल में उनकी व्यवसाय रुचि जागृत होती है। भौम का दशाकाल उनको प्रतिस्पर्धा में लाकर खड़ा कर देता है और मुकाबले में वे चमकने की प्रेरणा प्राप्त करते चलते हैं। यश, लाभ उनके साथ चलने लगते हैं। सहयोग मिलता है। सहयोग में ही स्पर्धा जन्म लेती है और वही प्रकाश में लाती है। आरंभ से दुर्बल, संकोची शुक्लजी २८ वर्ष वय के पश्चात् धीरे-धीरे आकर्षक सबल व्यक्तित्व वाले बनते जाते हैं। वृद्धि और बल के साथ उनकी तेजस्विनी प्रज्ञा भी चमत्कार बतलाने लगती है। सुन्दर व्यक्तित्व भी प्रभावोत्पादक बन जाता है। विशाल परिवार, व्यापक उत्तरदायित्व और सीमाबद्ध लाभ ने शुक्लजी को वैभवशाली न बनने दिया, किन्तु यश, प्रतिष्ठा और प्रभाव ने वर्चस्व प्रतिष्ठित किया होगा, और शुक्लजी प्रगति करते ही गए होंगे। जब वस्तुतः इनका वैभव की दृष्टि से उर्जित काल आ रहा था शुक्लजी के समक्ष यह समस्या प्रस्तुत रही होगी कि वे शासक के साथी बनें और अधिकारारूढ़ हों या विद्रोह का झंडा लेकर वैभव को तिलांजलि दें। तब गुरु-प्रभावित शुक्लजी के विवेक, विचार-ज्ञान ने ब्राम्हणत्व (त्याग) को जागृत किया होगा और लोभ के पथ से मोड़कर संघर्ष की सीढ़ी पर उतार दिया होगा।

राहु दशाकाल उनका संघर्ष की कसौटी का समय रहा है और गुरु के समय से ही शुक्लजी आदर, प्रतिष्ठा और गौरवभाजन बनकर निरंतर ऊपर उठते गए हैं। यह इनके जीवन का महत्वपूर्ण काल ही है, जिसने त्याग तप के बल पर शुक्लजी का बहुत गौरवपूर्ण व्यक्तित्व बनाने में योगदान किया और बड़ी बड़ी शक्तिओं ने चाहे शासकीय हों, सबल स्नेहियों की हों, टकराकर शुक्लजी को कांचन की तरह उज्ज्वलतर बनाया।

वैसे तो गुरु में मंगल के समय से शुक्लजी के निकट शासन चक्कर काटता रहा, अधिकार आधीनता बतलाता रहा, परन्तु शनि ने उन्हें शक्तिसम्पन्न, साधनसम्पन्न और प्रान्त का विधाता बनाकर स्थिरता प्रदान की। चूंकि शुक्लजी अपनी एक आस्थावाले व्यक्ति हैं, विश्वास-सम्पन्न हैं, मित्र-वत्सल हैं, इसलिये वे आत्मीय और परकीय में भी निर्भरता आरोपित कर लेते हैं। किन्तु उनका सौम्य ग्रह बुध व्ययगामी होकर निर्बल हो गया है। उनकी इस स्वाभाविक निर्बलता का दूसरे लाभ उठाने का प्रयत्न कर बैठते हैं, और शुक्लजी की स्थिति को भी डगमगा देते हैं। तथापि उस समय शुक्लजी सहज सतर्क बन सकते हैं। उनका गुरु उनके विवेक को जागृत कर संतुलन बना देता है और उसमें से भी शुक्लजी को सहसा ऊपर उठा देता है। यह क्षमता उनके सबल गुरु और सुन्दर शुक्र में है। सहज

विश्वासी शुक्लजी समय पर जागरूक बनकर अपने को ऊपर उठा लेने की क्षमता रखते हैं। फिर भी शुक्लजी कूटनीतिज्ञ या धूर्त राजनीतिज्ञ नहीं हैं। वे सच्चे सज्जन, नीतिवान, सहिष्णु किन्तु गरिमाशाली राजनीति-निपुण एक उच्च ब्राम्हण ही हैं।

शुक्लजी के सहयोगों से उनके विचार-कार्य-नैपुण्य, संचालन-क्षमता पर बहुत कुछ विचार-विश्लेषण किया जा सकता है। उनके पारिवारिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला जा सकता है जिसकी दुर्बलता ने शुक्लजी के मन की स्वस्थता को यथावत् सुरक्षित नहीं रखा, किन्तु व्यक्तिगत विषयों के लिये न तो यह स्थान है, न अवसर है। तथापि जहां तक उनके व्यक्तित्व का प्रश्न है शुक्लजी को गुरु, शुक्र, शनि ने भरा बना दिया है। श्री शुक्लजी दीर्घजीवी हों, यही हमारी कामना है।

शुक्लजी

(एक रेखा चित्र)

श्री 'ईश'

सैकड़ों की भीड़ में शुक्लजी सहज ही अलग दिखलायी पड़ेंगे। उनका ढांचा सेनापतियों और सरदारों का है। गौर वर्ण, उन्नत ललाट, अखाड़ों की मिट्टी में सना कसरती शरीर, ऊंचा-पूरा कद, विशाल कंधे और गज भर की छाती, लंबे डग भरते मजबूती से जब वे चलते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि रौब का आलम चल पड़ा हो! इस उम्र में भी उनकी रीढ़ सीधी और सीना सिंह-सा तना। वे जहां भी हों, उनको देखकर कोई अनदेखा कर जाय, यह संभव नहीं। उनके भव्य शुभ्र व्यक्तित्व पर उनकी दुग्धश्वेत मूछें और बाल श्रृंगार-सा शोभते हैं। सम्पूर्ण व्यक्तित्व में एक ऐसी अनोखी आभा है, ऐसा तेज है कि बरबस ध्यान आकर्षित हुये बिना नहीं रहता और ढब, बनावट, आवाज, रंग-रूप उनका सब कुछ साधारण से भिन्न है।

वे एक जन्म-जात नेता हैं। सच्चे नेता की तरह आफत और तूफान से पहले स्वयं ही जूझना जानते हैं। खतरा देख वे अपना लोभ संवरण नहीं कर सकते। परंतु उनके वज्रादपि शरीर में कुसुमादपि उनका हृदय है, करुणा से ओत-प्रोत। पराये दुख के सामने उनका मन पसीज उठता है। उनका यदि कहीं साहस टूटता है, तो वह किसी की आँखों में आँसू देखकर ही। उनके विशाल हृदय में सबके लिये स्थान है। उनकी क्षमाशीलता असीम है। कल का कैसा भी विरोधी क्यों न हो—जानता है कि शुक्लजी सद्भाव के अवसर पर अपने विकार सामने न आने देंगे। अपूर्व मोहक उनका व्यक्तित्व है।

शुक्लजी के नेतृत्व की झलक पाने के लिये इस प्रांत के गौरव का इतिहास जानना होगा। एक इतिहास के विद्यार्थी ने तो उन्हें प्रांत-पिता ही कह दिया। अनेक तरह से आज के मध्यप्रदेश के वे निर्माता हैं। मध्यप्रदेश नामकरण भी विधान-सभा में उन्हीं का प्रस्ताव था। प्रांत के बिखरे टुकड़ों के बीच की वे सुनहरी कड़ी हैं। प्रांत के मानस का वे शिलाधार हैं। प्रांत को उन्होंने व्यक्तित्व दिया है, देश में उसका स्थान बनाया है। जब इतिहासकार लेखा करेगा तो उसके सामने समस्या होगी कि वह उनकी सफलताओं को किस क्रम से रखे। पर शायद वह सब में बेजोड़ मानेगा, हिन्दी-मराठी जन-भाषा को उनका सम्मानित स्थान देने के उनके महान सुधार को। अनोखी अंतर्दृष्टि और अप्रतिम साहस के बिना यह संभव नहीं था। दिन और वर्ष बीतने पर कहीं इस अनजान मनोविज्ञानिक-क्रांति का स्वरूप पहचान में आयेगा। आज का मध्यप्रदेश उनके सबल व्यक्तित्व की छाया में निर्मित हो रहा है और उसका कल का रूप निश्चय ही उनके स्वप्नों में चित्रित हो रहा है।

श्री शुक्लजी के कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विचार

मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री पं. रविशंकर जी शुक्ल द्वारा समय-समय पर दिये कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विचार यहाँ दिये जा रहे हैं। प्रत्येक विचार के अन्त में दी गयी टिप्पणी में इन विचारों के समय, स्थान आदि की जानकारी दी गयी है। यहाँ केवल शुक्ल जी के महत्वपूर्ण साहित्यिक एवं भाषा सम्बन्धी विचारों का ही संकलन व प्रकाशन किया जा रहा है। दूसरे विविध क्षेत्रों में दिये उनके विस्तीर्ण भाषणों को चाहते हुए भी देना सम्भव नहीं हुआ।

हिन्दी राजभाषा : उसका दायित्व

अभी हमने, सदन के अनेक प्रमुख सम्माननीय सदस्यों के भाषण सुने। अपने देश के ऐसे प्रख्यात व्यक्तियों का विरोध करने में कभी कभी परेशानी होती है किंतु राष्ट्रों के इतिहास में ऐसे अवसर आते हैं जबकि अपनी बात कह देने के अतिरिक्त, हमारे पास अन्य कोई विकल्प नहीं बचता। मैं केवल विरोध के लिये विरोध नहीं कर रहा हूं। इस ऐतिहासिक अवसर पर मैं अपना मत प्रस्तुत करने के लिये उपस्थित हुआ हूं।

इस प्रश्न के संबंध में दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टि उनकी है जो यह चाहते हैं कि इस देश में अंग्रेजी-भाषा, जितने अधिक समय और जितनी दूरी तक संभव हो, जारी रहे ; और दूसरा दृष्टिकोण उनका है जो चाहते हैं कि जितनी जल्दी संभव हो अंग्रेजी के स्थान पर एक भारतीय भाषा का उपयोग हो। माननीय श्री. गोपालस्वामी आयंगार द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव पर हम इन दो दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। मेरे द्वारा प्रस्तुत समस्त संशोधन, द्वितीय दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किये गये हैं। यदि मैं यह पाता कि अध्याय १४-अ में समावेष्टित अनुच्छेद इस प्रकार के हैं जो हमारे उद्देश्य को क्षति नहीं पहुंचाते हैं, तो मैं यहां बोलने के लिये कभी नहीं आता। यह ठीक है कि हमने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को एक उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है। अंकों के संबंध में, मैं बाद में बोलूंगा।

इतना कहने के बाद मैं इस अध्याय के परवर्ती भाग पर आता हूं जिसमें कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रस्तावित रीति और उपाय दर्शाये गये हैं। हिंदी भाषा को राष्ट्र भाषा देश की प्रशासकीय भाषा होना है और देवनागरी लिपि इस भाषा की लिपि होगी। यह सब स्वीकार करने के बाद, क्या यह ठीक नहीं है कि हम इसे संभव बनाने के तरीके और उपाय खोजें ? यदि हम इस अध्याय के विभिन्न भागों पर दृष्टिपात करें, तो हमें ऐसा लगेगा कि उद्देश्य यह है ही नहीं। इस अध्याय में प्रस्तुत विभिन्न बाधाओं को देखने से हिन्दी के यथाशीघ्र आगमन को रोकना ही उद्देश्य प्रतीत होता है। यदि इन बाधाओं को पार नहीं किया जाता, यदि इन बाधाओं को हटाया नहीं जाता और हिंदी को अपनाना आसान नहीं बनाया जाता है तो हमारे मार्ग में बहुत बड़ी कठिनाइयां हैं। जब आप अध्याय के उस भाग पर आते हैं जिसमें आयोग और समिति का उल्लेख किया गया है, उसके एक प्रावधान में बहुत कुछ ऐसा कहा गया है कि केन्द्र और राज्यों में भी पांच वर्षों तक अंग्रेजी को ही प्रशासकीय भाषा के रूप में जारी रखना होगा तथा अध्याय के अन्य भागों में और भी बाधायें उपस्थित की गई हैं। आप देखेंगे कि प्रांतों में शीघ्रातिशीघ्र हिंदी को प्रचलित करना हमारे लिये कठिन होगा।

सदन के अनेक सदस्यों का कथन है कि यह एक ऐसा प्रस्ताव है जिस पर उनके ही दृष्टि कोण से विचार किया जाना चाहिये। प्रांतों में हम इसे कठिन पाते हैं। हम अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी कैसे लायेंगे ? यही हमारे सामने प्रस्ताव है। केन्द्र में जो कुछ भी किया जावे, प्रांतों में हमें इस समस्या का मुकाबला करना पड़ेगा। हमारे मार्ग में बहुत बड़ी कठिनाइयां हैं। जब हमने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली, हमने ऐसे विभागों की स्थापना का प्रयत्न किया जो हिन्दी का प्रचलन शीघ्रातिशीघ्र सम्भव बना सकें। अपने प्रान्त में, मैंने लोक भाषा प्रचार विभाग की स्थापना

की है। तात्पर्य यह कि हमने ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया है जो पुस्तकों का अनुवाद करेंगे। समस्त वैज्ञानिक कार्यों के लिये चौबीस हजार शब्दों—पारिभाषिक शब्दों का कोश है। हमारे प्रान्त में इंटरमीजिएट स्तर तक मान्य दोनों भाषाओं—हिन्दी और मराठी में अनुदित वैज्ञानिक पुस्तकें हैं तथा सामग्री एकत्र कर ली गई है जिससे कि बी.ए. स्तर तक की मौलिक विज्ञान, रसायन शास्त्र तथा उन सब विषयों, जोकि कठिन और तांत्रिक हैं, की पुस्तकों का हिन्दी और मराठी में अनुवाद किया जा सके। वहां सब कुछ तैयार है, किन्तु यहां प्रस्तावित अनुच्छेद के कारण उनका उपयोग सम्भव नहीं होगा।

शिक्षा का माध्यम.—दूसरा मुद्दा जो मैं पेश करना चाहता हूं वह यह है कि मेरे प्रान्त में दो विश्व विद्यालय हैं। उनमें से एक में तय किया है कि महाविद्यालयों में इस वर्ष या अगले वर्ष से शिक्षा का माध्यम हिन्दी और मराठी होगा और दूसरे विश्वविद्यालय ने तय किया है कि सन् १९५२ से हिन्दी का शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग प्रारम्भ करेगा। हमने अपने प्रान्त में शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का उपयोग पूर्णतः बन्द कर दिया है और सन् १९४६ से हमारी उच्चशालाओं में हिन्दी और मराठी के माध्यम से शिक्षा दी जा रही है। हमारे प्रान्त में दोनों भाषाओं को मान्यता प्राप्त है। जिन शालाओं, उच्च शालाओं में शिक्षा का माध्यम बंगला, उर्दू या अन्य कोई भाषा है, उन्हें हम अनुदान देते हैं। इसीलिये मेरे प्रान्त में, तीन वर्ष बाद विश्वविद्यालयों से उत्तीर्ण स्नातक यदि अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता नहीं हुए तो उनका राष्ट्र द्वारा उनका उपयोग नहीं किया जावेगा और प्रान्त बड़ी विचित्र स्थिति में पड़ जावेगा।

प्रान्त और भाषा का व्यवहार.—मैं समझता हूं कि इस संविधान में ऐसी व्यवस्था करना हमारे ऊपर ही निर्भर है जिससे कि जहां तक संभव हो हम आगे प्रगति कर सकें। मेरा मत है कि देवनागरी लिपि में हिन्दी राष्ट्र भाषा या प्रशासकीय भाषा होने का प्रावधान करने वाले अनुच्छेद के अनुरूप विकास करने के लिये प्रांतों को स्वतंत्र रहने दिया जाना चाहिये।

यदि आप प्रावधानों का सावधानी के साथ अध्ययन करेंगे तो आप पायेंगे कि प्रान्त ऐसा करने के लिये स्वतंत्र नहीं है। मूल संशोधन क्रमांक ६५ में कहा गया है कि: "अनुच्छेद ३०१-डी और ३०१-ई के प्रावधानों की सीमाओं में राज्य अधिनियम द्वारा कोई भी भाषा अपना सकती है।" यदि आप अनुच्छेद ३०१-डी और ३०१-ई को देखेंगे तो आप पर लगाई गई आपको मालूम होंगी। अनुच्छेद ३०१-डी में कहा गया है: "संघ के शासकीय कार्यों के लिये फिलहाल प्राधिकृत भाषा ही दो राज्यों के बीच तथा राज्य और संघ के बीच परस्पर संचार की शासकीय भाषा होगी।" फिर आगे आप पायेंगे, "परन्तु यदि दो या अधिक राज्य सहमत हों कि हिन्दी भाषा इन राज्यों के बीच परस्पर संचार की शासकीय भाषा होनी चाहिये तो वह भाषा परस्पर संचार के लिये प्रयुक्त हो सकती है।" जहां तक उस भाग का संबंध है यह मूल प्रारूप में सुधार है परंतु जहां तक किसी राज्य में शासकीय भाषा का संबंध है वह अनुच्छेद ३०१-डी से नियंत्रित होता है। उस कार्य के लिये शासकीय भाषा ही राज्यों के बीच तथा राज्य और संघ के बीच परस्पर संचार की भाषा होगी। सभी कार्यों के लिये आपको अंग्रेजी भाषा का उपयोग करना पड़ेगा। प्रावधान किया गया है कि जहां दोनों राज्य हिन्दी भाषा का उपयोग स्वीकार करें केवल तभी उसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु जहां तक अन्य राज्यों का संबंध है तथा विभिन्न राज्यों व राज्य और संघ के बीच परस्पर संचार का संबंध है केवल अंग्रेजी भाषा का ही उपयोग किया जा सकता है। इसलिये मैं कहता हूं कि भाषा का उपयोग करने की हमारी स्वतंत्रता कम की जा रही है। उस हद तक मुझे इस प्रावधान से आपत्ति है।

न्यायालयों में अंग्रेजी.—इस प्रारूप में मैं जिस प्रावधान को सर्वाधिक खतरनाक समझता हूं वह है न्यायालयों और उच्च न्यायालयों में अंग्रेजी भाषा का उपयोग। जब तक न्यायालयों—उच्च न्यायालयों की भाषा नहीं बदलती है हमें कोई आशा नहीं है।

जहां तक निचले न्यायालयों का संबंध है हिन्दी और मराठी ही हमारे न्यायालयों की भाषाएं हैं: ये न्यायालयों की मान्य भाषाएं हैं। जहां तक न्यायालयों का संबंध है निस्संदेह हम अपने दावे और लिखित वक्तव्य हिन्दी में पेश कर सकते हैं किन्तु हो यह रहा है कि न्यायाधीश गवाही अंग्रेजी में ही दर्ज करते हैं और अंग्रेजी में ही फैसला देते हैं। इसलिए वास्तविकता यह है कि समस्त कार्यों में अंग्रेजी भाषा का ही उपयोग हो रहा है और जब तक इन व्यक्तियों का स्थान लेने के लिये हमें लोग नहीं मिलते, प्रान्त की भाषा के रूप में हिन्दी को अपनाना बहुत कठिन है।

अंग्रेजी प्रावधान.—इसलिए, सभी प्रावधानों को मैं इस दृष्टिकोण से देख रहा हूं। जितनी जल्दी हो सके सभी विभागों में और सभी स्तर पर हिन्दी लागू करने के लिये हमें तैयार होना चाहिये। उस दृष्टिकोण से मैं कहता हूं कि हम पर लगे बन्धन हटा लिये जाना चाहिये। जहां तक केन्द्र का संबंध है इसका प्रावधान किया जा चुका है

और उस पर कोई बंधन नहीं है। जहां तक राज्यों का संबंध है एक अनुच्छेद में उन्होंने लिख दिया है कि वे अपने समस्त अधिनियम, विधेयक, नियम और उपनियम और सभी कुछ अंग्रेजी भाषा में रखने के लिये आबद्ध हैं। तात्पर्य यह कि जब तक वहां अंग्रेजी है तब तक हमें अपनी सभी बातें भी अंग्रेजी में ही रखना पड़ेगी। मेरा निवेदन है कि इस सम्बन्ध में प्रान्तों को स्वतंत्र रहने दिया जाना चाहिये। जहां तक संघ का संबंध है संसद निश्चय कर सकती है। किन्तु यदि राज्य विधान सभा इन बातों को राज्य की भाषा में ही रखने का निश्चय करती है तो उन्हें इसकी स्वतंत्रता होनी चाहिये। मैंने अपने संशोधन में प्रावधित किया है कि राज्य विधान सभा द्वारा पारित किये जाने वाले विधेयक और अन्य बातें राज्य की भाषा में ही हों किन्तु उनके साथ ही प्राधिकृत और प्रमाणिक अनुवाद भी रहे।

आयरलैण्ड का उदाहरण.—मैं सदन के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूं। विश्व इतिहास में इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण है। यह आयरलैण्ड में है। ब्रिटिश सरकार से संधि के बाद सन १९२१ में पहली बात जो अपने संविधान में उन्होंने रखी वह यह थी कि आयरिश राष्ट्रभाषा होगी और अंग्रेजी को द्वितीय शासकीय भाषा रखा। मैं इस के कारण बताऊंगा। अंग्रेज सरकार ने अपने शासन-काल में आयरलैण्ड में आयरिश भाषा सीखना प्रतिबन्धित कर दिया था और परिणाम यह हुआ कि प्राथमिक से महाविद्यालयीन स्तर तक अंग्रेजी भाषा ही पढ़ाई जाती थी और पूरी १९ वीं शताब्दि के लिए आयरिश भाषा लुप्त प्राय हो गई थी और प्रत्येक आयरलैण्डवासी अंग्रेजी ही बोलता था। १९१० की जनगणना में ३० से ४० लाख की जनसंख्या में केवल २१ हजार व्यक्ति ही आयरिश भाषा जानते थे। संविधान में आयरिश भाषा को राष्ट्रभाषा उन्हीं आयरलैण्डवासियों ने घोषित की जोकि आयरिश भाषा नहीं जानते थे। केवल २१ हजार ही आयरिश जानते थे और शेष अंग्रेजों से भी अधिक अंग्रेज थे। अंग्रेजी को एकदम बहिष्कृत करना संभव नहीं होने के ही कारण उन्हें अंग्रेजी को द्वितीय भाषा के रूप में रखना पड़ा। किन्तु प्रस्तुत किए जाने वाले सभी विधेयक, देश की ही भाषा आयरिश में ही पेश किए जाते थे। और उसका एक अनुवाद साथ रहता था। दोनों के बीच विवाद की स्थिति में आयरिश भाषा का मूलपाठ ही प्राधिकृत और प्रामाणिक माना जाता था। इसीलिए मैंने अपने संशोधन में प्रावधित किया है कि हमें अपने राज्य की भाषा—हिन्दी अथवा मराठी—में अधिनियम बनाने दिए जावें और उसके साथ ही एक अंग्रेजी भाषा में भी प्रामाणिक पाठ हो। विवाद की स्थिति में जहां अंग्रेजी आवश्यक हो, अंग्रेजी का मूल पाठ ही प्रामाणिक माना जावे, शेष सभी कार्यों के लिए राज्य-भाषा का मूलपाठ ही प्रामाणिक माना जावे। इसलिए मैं समझता हूं कि हमें स्वतंत्र छोड़ दिया जाय। इस उद्देश्य के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करने से प्रान्तों को नहीं रोका जाना चाहिए। यदि हम हिन्दी चाहते है तो हमें हिन्दी का प्रयोग करने दिया जाना चाहिये। हमारी स्वतंत्रता कम न कीजिए।

अंकों का प्रश्न.—जहां तक अंकों का सम्बन्ध है, पिछले कुछ समय से पूरे सदन में इस प्रश्न पर उत्तेजना रही है। हमने पंडितजी के भाषण में सुना कि जहा तक अंतर्राष्ट्रीय अंकों का सम्बन्ध है—विभिन्न कारणोंवश वे आवश्यक हैं—जिन में से कुछ का उन्होंने उल्लेख भी किया। कुछ सदस्य जिन में मैं भी एक हूं—सोचते हैं कि वे (अंतर्राष्ट्रीय-अंक) आवश्यक भी हैं। इसीलिये हमने इस आशय का भी एक संशोधन प्रस्तुत किया है कि कुछ कार्यों के लिये अंग्रेजी अंकों का उपयोग किया जाता रहे—जैसे लेखांकन, अधिकोषण आदि व्यापारिक मामलों तथा शासकिय कार्य जिन के लिये वे जरूरी हों। १४-अ. अध्याय के प्रस्तावक द्वारा यह स्वीकार कर लिया जाता है तो हमारी कठिनाइयां हल हो जानी चाहियें। भाषा के प्रश्न के साथ उन्हें भ्रामक ढंग से सम्बन्ध नहीं किया जाना चाहिये। हम सब समझते हैं—इसे समझना कठिन नहीं है। हिन्दी अंकों का हिन्दी भाषा के अविभाज्य अंग के रूप उपयोग होने दिया जावे और जिन कार्यों के लिये अंग्रेजी अंकों का उपयोग आवश्यक हो, वहां स्वतंत्र रूप से उनका उपयोग किया जावे। उन के सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं है और मैंने अपना संशोधन को इसी दृष्टि से निर्मित किया है। मेरा कहना है कि उनका उपयोग राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित कार्यों के लिये किया जा सकता है। इसीलिये यदि आप अंग्रेजी अंकों को हिन्दी से निकाल लेते हैं तो कोई भ्रान्ति नहीं रह जावेगी और मैं समझता हूं कि इस विषय पर यहां उपस्थित सभी सहमत हो सकेंगे। इससे प्रश्न टल जावेगा, किन्तु सभी के मन में यह विचार चल रहा है कि अंग्रेजी अंकों को राष्ट्रभाषा—हिन्दी—के अविभाज्य अंग के रूप में समाविष्टित किया जा रहा है। इस सदन मन्तव्य यह नहीं है। अंग्रेजी अंकों का, जिन कार्यों में आवश्यक हो प्रयोग किया जा सकता है—उन से हमारा कोई झगड़ा नहीं है और जिन प्रान्तों की भाषा में अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग किया जाता है उनसे भी हमारी कोई लड़ाई न ी है—वे उन का उपयोग जारी रख सकते हैं। किन्तु यदि उन के द्वारा इस बात पर जोर दिया जाता है कि संघ की शासकीय भाषा—हिन्दी में भी अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग किया जावे तो मैंने अपने संशोधन में प्रावधित किया है कि जहां शासकीय पत्र-व्यवहार एवं परस्पर-संचार के लिये अंग्रेजी अंकों का उपयोग आवश्यक हो वहा उन प्रान्तों के साथ परस्पर-संचार में अंग्रेजी अंकों का उपयोग किया जा सकता है किन्तु शेष भारत पर जहां उन की आवश्यकता नहीं है, उन्हें लादा नहीं जाना चाहिये। जहां तक

हिन्दी प्रान्तों का सम्बन्ध है उनसे परस्पर संचार में हिन्दी अंकों का ही प्रयोग किया जावेगा किन्तु देश के जिन भागों की भाषाओं में अंग्रेजी अंकों का ही उपयोग होता है वहां हिन्दी के साथ अंग्रेजी अंक भेजे जावें—उनसे मेरा कोई झगड़ा नहीं है क्योंकि मैं उससे सम्बन्धित नहीं हूं।

हिन्दी और प्रान्तों की स्थिति.—एक माननीय सदस्य ने पूछा है : "यदि कोई प्रांत हिंदी नहीं चाहता तो क्या आप उसे स्वतंत्रता देंगे ?" इस विषय में मेरा निवेदन है कि यह अखिल भारतीय संघ ही कह सकता है कि आप इसे चाहते हैं या नहीं। यदि आप कहते हैं कि देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी ही संघ की भाषा होगी और यदि केन्द्र अथवा संसद यह निर्णय करती है कि आप को हिन्दी भाषा द्वारा ही संसूचित किया जावे तो आप को केन्द्र द्वारा हिन्दी भाषा में ही संसूचित किया जावेगा। हम प्रान्त वालों का जहां तक संबंध है हमारे और आपके बीच में कुछ नहीं है। आप अपना मामला केन्द्र से निपटा सकते हैं। हमारा कथन है, आप चाहें तो अंग्रेजी अंक रखें, या हिन्दी अंक रखें और जो दोनों रखना चाहें उन्हें दोनों रखने दें, किंतु जहां तक हिन्दी भाषी प्रान्तों का सम्बन्ध है—जहां की राज्य भाषा हिन्दी है वहां अंग्रेजी अंकों का उपयोग करने के लिये तब तक बाध्य न करें जब तक की ये प्रांत अंग्रेजी अंकों को अपनी भाषा के अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करने का निर्णय न कर लें।

उत्तर या दक्षिण.—इसीलिये मैंने संशोधन में दो धाराएँ ऐसी रखी हैं जिनके अनुसार अंग्रेजी अंकों का इस प्रकार उपयोग किया जा सकता है। यदि संशोधन के प्रस्तावक द्वारा यह स्वीकार कर लिया जावे तो अंकों का प्रश्न हल हो जावेगा। इस प्रश्न का हल यही है और उत्तर और दक्षिण के बीच कोई संघर्ष नहीं है। मैं सदन का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूं कि भाषा के प्रश्न को उत्तर या दक्षिण की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिये। हिन्दी भाषा जब तक केन्द्र या संघ द्वारा स्वीकार नहीं कर ली जाती तब तक वह एक प्रान्तीय भाषा ही है। आप प्रशासकीय अथवा राष्ट्र भाषा के रूप में किसी भी भाषा को स्वीकार कर सकते हैं चाहे वह हिन्दी हो या हिन्दुस्तानी, बंगला अथवा मराठी —और ये सब भाषा में प्रस्तावित भी की गई है किन्तु एक बार राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकार कर लिये जाने के बाद आप उसे प्रान्तीय भाषा न कहें। मैं आप से आग्रह करता हूं कि एक बार संघीय भाषा के उच्चासन प्रतिष्ठित होने के बाद वह आप की भी भाषा हो जाती है और मेरी भी तथा वह एक प्रान्तीय भाषा नहीं रह जाती है। वह एक प्रांतीय भाषा नहीं रह जाती है और आप का और मेरा समान रूप से यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उसे अधिकाधिक सम्पन्न बनावें।

शब्दों का प्रयोग.—अनेक माननीय सदस्यों ने कहा है कि एक ही अर्थ के लिये विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उनका कथन है कि एक ही अर्थ के लिये पण्डित सुन्दरलाल भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं, जब कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मेरे मित्र सेठ गोविन्ददास दूसरे शब्द का, इत्यादि। शब्दों का कोई अन्त नहीं है। यदि आप किसी भी भाषा के शब्द कोष के पन्ने पलटें तो आप पायेंगे कि एक ही अर्थ के अनेक पर्याय मिलते हैं और लोगों को अपनी इच्छानुसार किसी भी शब्द का प्रयोग करने की छूट होती है। संस्कृत में भी "अमर कोष" है, जिसमें अनेक पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। इसी प्रकार एक ही अर्थ के संस्कृत, हिन्दी, फारसी और बंगाला में भिन्न-भिन्न शब्द हो सकते हैं, किन्तु ये सब एक ही भाषा के अभिन्न अंग हो सकते हैं और शब्द कोष में उनके सम्मिलित किये जाने के बाद हम सब उनका उपयोग कर सकते हैं।

राष्ट्रभाषा : सब की सहमति से.—अतः मेरा निवेदन है कि आप यह न समझें कि हम इस भाषा को किसी पर बलपूर्वक लाद रहे हैं। सदन किसी भी भाषा को चुनने के लिये स्वतन्त्र है और एक बार जब आप उस भाषा को चुन लें तो यह न समझें कि वह आपके ऊपर हमारे द्वारा लादी गई है। आपने उसे अपनी भाषा के रूप में स्वीकार किया है और वह समान रूप से मेरी और आपकी भाषा हो जाती है। इसके बाद कोई प्रश्न अथवा कोई विवाद नहीं उठाया जा सकता। जैसा कि बतलाया गया है और मुझे भी इसका दृढ़ विश्वास है कि देवनागरी लिपि में लिखी गई हिन्दी भाषा को ही सदन के द्वारा संघ की भाषा स्वीकार किया जावेगा। अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का उपयोग संघ के लिये आवश्यक सभी कार्यों में हिन्दी भाषा से पृथक् रूप में किया जा सकता है। किन्तु यदि कुछ प्रान्तों को सन्तुष्ट करने के लिये आवश्यक समझा जावे तो उनके लिये संघ अंग्रेजी अंकों का प्रयोग कर सकता है। किन्तु शेष भारत के लिये, जहां हिन्दी भाषा ही उपयोग में लाई जाती है और जहां इन अंकों की आवश्यकता नहीं है, वहां हिन्दी को अ-मिश्रित रूप में—अंग्रेजी अंकों से पूर्णतया पृथक् जारी रहने दें।

हिन्दी का व्यवहार—हमारे पास, पन्द्रह वर्षों की अवधि है। मैं अपने दक्षिण के मित्रों से कह सकता हूं कि यथाशीघ्र हिन्दी सीखना उनके ही श्रेष्ठ हित में होगा। क्योंकि यदि वे शीघ्र ही हिंदी नहीं सीखते पर वे पिछड़ जा सकते हैं। जहां तक मेरे दक्षिण भारतीय मित्रों का संबंध है मैं कह सकता हूं कि वे अत्यधिक बुद्धिमान हैं। साथ ही वे बहुत परिश्रमी भी होते हैं तथा मैंने अपने प्रांत में देखा है कि जिन विभागों में मद्रासी मित्र काम कर रहे हैं वे अन्य हिन्दी भाषियों के समान ही अथवा उनसे भी अधिक सक्षम हैं। वस्तुस्थिति यह है। मैं अपने दीर्घकालीन प्रशासकीय अनुभव के आधार पर यह कह रहा हूं और मैं समझता हूं कि मैं उत्तर दायित्व-पूर्ण विचार व्यक्त कर सकता हूं। मेरे प्रांत में अनेक दक्षिण भारतीय हैं। मेरे प्रांत की सेवाओं में रहे हुए एक मित्र यहां हैं जो हिन्दी और संस्कृत किसी भी अन्य व्यक्ति के समान सुन्दर ढंग से बोल सकते हैं। मेरा कहना है कि मेरे यहां मद्रासी नागर अधिकारी भी हैं और प्रांतीय अधिकारी भी तथा मैं आप को बताऊं कि मेरे प्रांत में एक ऐसा विभाग भी है जिसमें सभी जगह हिंदी में ही कार्य होता है चाहे वह मराठी जिला हो, चाहे हिंदी जिला और उस विभाग में मराठी भाषी लोग हैं और तेलगू भाषी भी। उस विभाग में पंजाबी, बंगाली सभी व्यक्ति कार्य करते हैं तथा गत पच्चीस वर्षों से इस विभाग के छोटे-बड़े समस्त अधिकारी हिन्दी में ही कार्य कर रहे हैं। यह विभाग पुलिस विभाग है। इन कर्मचारियों द्वारा विभागीय भाषा हिन्दी में सारा कार्य इच्छित क्षमतापूर्वक किया जा रहा है। मेरी समझ में नहीं आता कि यहां मेरे मित्र हिन्दी सीखने से भयभीत क्यों होते हैं।

इस झिझक के मूल में यह भय है कि उनके लिये कुछ बाधायें उत्पन्न न हो जाये। इसीलिये मेरा कहना है कि आप हिन्दी सीखने में जितनी शीघ्रता करेंगे उतना ही आपके लिये, हमारे लिये और सारे देश के लिये हितकर होगा क्योंकि तब आपके मार्ग में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी और आप सारा सदा के समान ही हमारे साथ रह सकेंगे। यह न समझें कि हिन्दी को यथासंभव शीघ्रता से लाने में हमारा मन्तव्य किसी के लिये कठिनाई उत्पन्न करना है।

इस समय मेरे पास एक पुस्तिका है जो सदन के ही एक सदस्य मित्र ने मुझे दी है और जिसमें कहा गया है कि सन् १८७४ बंगाल के महान समाज सुधारक, श्री. केशवचन्द्र सेन, का एक लेख "सुलभ समाचार" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में कहा गया था कि यदि भारत के लिये एक भाषा के अभाव में एकता असंभव है तो इस प्रश्न का हल क्या है। इसका एक मात्र इस समस्त देश में एक ही भाषा का प्रयोग है। भारत में प्रचलित विभिन्न भाषाओं हिन्दी मिश्रित है और हिन्दी का प्रचलन लगभग हर स्थान पर है। यदि हिन्दी को भारत की सामान्य भाषा बना दिया जावे तो यह कठिनाई आसानी से हल की जा सकती है।

यह लेख सन् १८७४ में लिखा गया था और यह एक प्रकार की भविष्यवाणी ही थी क्योंकि आज हम इसी प्रश्न पर विचार कर रहे हैं।

भाषा का निर्माण जनता द्वारा।—इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तानी, संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा का प्रश्न हो उपस्थित नहीं होता। जहां तक हिन्दी का सम्बन्ध है मैं केवल यह कह सकता हूं कि इस अध्याय के निर्माता ने भली भांति समझ लिया था कि हिन्दुस्तानी हिन्दी भाषा की ही एक शैली है। अध्याय में दी गई अनुसूची में उन्होंने हिन्दुस्तानी को भाषा के रूप में सम्मिलित नहीं किया है। उन्होंने निर्देशक धारा में हिन्दुस्तानी को हिन्दी की ही एक शैली कहा है और इससे हमारा कोई मतभेद नहीं। हम उसे अपनायेंगे और हर सम्भव उपाय से उस का उपयोग करेंगे। जैसा कि दावा किया गया है भाषा संविधान स्वीकार करने से ही निर्मित नहीं हो सकती। उसके प्रति आस्था रखने वाले व्यक्ति ही उस का निर्माण करते हैं। हम लोग यहां पर भाषा का निर्माण नहीं करते, किन्तु सदन के बाहर जन साधारण ही उसका निर्माण करेगा हम संविधान चाहे जो भी स्वीकार कर लें।

अतः मेरा निवेदन है कि इन चार आधारों पर मेरे संशोधन स्वीकार किये जावें। प्रथम तो भाषा का प्रश्न और दूसरे अंकों के प्रश्न को हल करना ही मेरे संशोधन का लक्ष है। प्रांतों को स्वयं ही अपने भाषा का निर्माण करने दीजिये और विभिन्न "किन्तु" "परंतुकों" तथा शर्तों द्वारा उनका मार्गावरोध न करे तथा उन्हें आत्म विकास की स्वतन्त्रता दें। हम आपको बता देंगे कि हमारे प्रान्त में दक्षिण भारतीय मित्र पांच वर्षों में ही हिन्दी भलीभांति सीख लेंगे। हमारे यहां सामग्री भी है और कार्य करने वाले अनेक मित्र भी। जो विभाग हमने अपने प्रांत में खोला है उसमें उन के मद्रासी मित्र भी कार्य कर रहे हैं। इसी लिये मेरा कहना है कि उच्च-न्यायालय की भाषा भी राज्य भाषा

ही हो और भले ही अन्यस्थानों पर यह भाषा अंग्रेजी हो—हमें स्वतंत्रता मिलनी चाहिये कि हम अपनी विधान सभा में अपने विधेयक अपनी राज्य भाषा में ही स्वीकार करें। इन चार आधारों पर मैंने अपने संशोधन प्रस्तुत किये हैं और आशा है कि सदन के द्वारा उन्हें स्वीकार किया जावेगा।

अंकों के संबंध में जहां तक लेखांकन का प्रश्न है कि मैंने अन्तिम उपाय के रूप में इस समझौते को स्वीकार कर लिया है कि कुछ विशेष कार्यों में अंग्रेजी अंकों का उपयोग पन्द्रह वर्ष की अवधि के बाद भी किया जा सकता है, किन्तु मेरा मूल संशोधन यह है कि अनुच्छेद ३०१-अ की धारा ३ को निकाल दिया जावे।

इस सदन के हम सब सदस्य जो कांग्रेस के भी सदस्य हैं, कांग्रेस का ही अनुसरण करते आये हैं। कांग्रेस ने निर्णय किया है कि हमें १५ वर्ष की अवधि से आगे जाने की आवश्यकता नहीं है। अतः हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि पन्द्रह वर्षों के बाद क्या होगा। हम अब पीढ़ियों के लिये प्रावधान न करें और उन्हें किसी बन्धन में न बांधें। पन्द्रह वर्षों बाद जब हमारे प्रतिनिधि मिलेंगे तब वे निर्णय करेंगे कि उन्हें क्या करना चाहिये। जहां तक हमारा सम्बन्ध है हम पन्द्रह वर्षों के लिये निर्णय करते हैं। कांग्रेस ने हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग का आदेश दिया है और मेरे द्वारा प्रस्तुत संशोधनों से इसे सम्भव बनाया जा सकता है तथा पन्द्रह वर्षों के अन्दर ही हम इसे कर सकते हैं। मेरा प्रस्ताव है कि दस वर्षों के अन्दर हम आयोगों और समितियों का सारा कार्य समाप्त कर दें। संसद इस बात का निर्णय करेगी कि पन्द्रह वर्षों की अवधि के अन्दर ही किन साधनों और उपायों से हिन्दी को अपनाया जा सकता है। कांग्रेस कार्य समिति के प्रस्ताव की भाषा के ठीक-ठीक अनुरूप ही मैंने अपने संशोधनों का निर्माण किया है तथा आशा है कि सदन उन्हें स्वीकार करेगा। जहां तक कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव का सम्बन्ध है मैं नहीं समझता कि "हिन्दुस्तानी" शब्द का उसमें प्रयोग किया गया है। उसमें कहा गया है कि देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी भाषा ही हमारी शासकीय हो।*

देवनागरी लिपि में सुधार संबंधी सुझाव

जैसा कि हम जानते हैं, भारतीय संविधान की ३४३ वी धारा के अनुसार देवनागरी लिपि में हिन्दी, भारतीय संघ की राज भाषा घोषित की गई है। अब इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त कदम उठाना हमारा काम है। यह सच है कि इस परिवर्तन के लिये संविधान ने हमें १५ वर्षों का समय दिया है, फिर भी इसके लिये आखिरी घड़ी तक ठहरना सर्वथा अनुचित होगा। यह तो मानना ही होगा कि जब तक हम देवनागरी लिपि को टाइपराइटर, मोनो टाइप, लाइनो टाइप तथा टेलीप्रिंटर के अनुरूप न बना लें तब तक हिन्दी का शीघ्र प्रचार संभव न होगा। इस युग में इन्हीं यंत्रों के अधिक से अधिक उपयोग पर ही किसी भी देश की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति निर्भर है। यह समस्या और भी कठिन इसलिये हो जाती है कि ये यंत्र मुख्यतः रोमन लिपि की आवश्यकता को ध्यान में रख कर बनाये गये हैं और रोमन लिपि की तथा देवनागरी लिपि की आवश्यकताएं एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि हमारी लिपि की विशेषताओं के अनुसार ही इन यंत्रों में सुधार किये जायं। साथ ही, जहां अनिवार्य हो, अपनी लिपि में भी यथानुसार परिवर्तन कर दिये जायं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि नागरी लिपि मूलतः एक वैज्ञानिक लिपि है तथा ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। किन्तु गति, यांत्रिक सुविधा और सुगमता के युग में हमारी लिपि को एक चुनौती सी है। रोमन लिपि इन सब दृष्टियों से खरी उतरी है, विशेष कर व्यवसाय, पत्रकारिता और शिक्षा के क्षेत्रों में। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि देवनागरी भी बिना किसी मूलभूत परिवर्तन के केवल थोड़े ही सुधारों से इस चुनौती का सामना कर सकती है। मैं इस सिद्धान्त को काफी महत्व देता हूं कि लिपि में किसी तरह के मूलभूत परिवर्तन न किये जायं, क्योंकि हर देश के लोगों की भाषा और लिपि उनकी विशेषताएं व्यक्त करती हैं और उनकी जन्मजात प्रतिभा ही इनका आदि स्त्रोत है। इस दिशा में जापान के प्रयासों के संबंध में हमें जो कुछ मालूम है उससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। जहां तक हो सके, हमें मशीन को अपनी लिपि के अनुरूप बनाना है, लिपि को मशीन के अनुरूप नहीं। देवनागरी लिपि सुधार के प्रश्न पर हमें इसी पृष्ठ भूमि को ध्यान में रख कर विचार करना होगा। संविधान सभा तथा बम्बई और उत्तर प्रदेश की सरकारोंने इस प्रश्न पर विचार करने के लिये अलग अलग समितियां स्थापित की थीं जिनके कार्यक्षेत्र में थोड़ा बहुत अन्तर था। इनमें से पहली दो समितियों के

*दिनांक १३ सितम्बर १९४९ ई. को भारतीय संविधान सभा में प्रधानमन्त्री, श्री जवाहरलाल नेहरू, के भाषण के बाद श्री पण्डित रविशंकर शुक्ल द्वारा दिया भाषण।

प्रधान श्री. काका कालेलकर थे और अंतिम के आचार्य नरेन्द्रदेव। शब्दावली, वर्ण विन्यास, व्याकरण तथा लिपि की दृष्टि से हिन्दी को प्रामाणिक बनाने के लिये मध्यप्रदेश सरकारने १९५० में एक अखिल भारतीय सम्मेलन आमंत्रित किया था जिसका उद्घाटन संविधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, के हाथों हुआ था। इस सम्मेलन में देवनागरी लिपि से संबंधित अनेक प्रश्नों पर विचार किया गया और यह निश्चय किया गया कि इसे प्रामाणिक बनाने के लिये प्रचलित चिन्हों और परम्पराओं को, जहां तक हो सके, यथावत् रखा जावे तथा साथ ही जहां आवश्यक हो, उनमें इस प्रकार परिवर्तन किया जावे कि छपाई और टाइप करने की आधुनिक मशीनों पर उन्हें ज्यों का त्यों लिया जा सके अथवा उनमें ऐसा ही फेर बदल किया जावें जो कम खर्च में सुविधापूर्वक हो सके। सम्मेलन ने यांत्रिक सुधार आदि पर बारिकी से विचार नहीं किया वरन् दोनों समितियों की रिपोर्टों की प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर समझा। सम्मेलन ने केवल यह स्थिर किया कि केवल यांत्रिक सुविधाओं के लिये नागरी लिपि की प्रकृति और स्वरूप का परित्याग न किया जावे।

इन समितियों की रिपोर्ट अब प्रकाशित हो चुकी है। कालेलकर समिति ने हिन्दी शीघ्रलेखन (शार्ट हैन्ड) पर भी विचार किया है जो कि संभवतः इस सम्मेलन के विचार का विषय नहीं है। लिपि को सुधार कर यंत्रों के उपयुक्त बनाने की समस्या के प्रायः प्रत्येक पहलू पर नरेन्द्रदेव समिति ने विचार किया है। मुझे प्रसन्नता है कि नागपुर के भाषा प्रमाणीकरण परिषद् द्वारा स्वीकृत मूल सिद्धान्तों से यह समिति सहमत है। नरेन्द्रदेव समिति की सिफारिशों पर हमारे सुझाव निम्नलिखित हैं :—

(१) लिपि के गुण, स्वरूप अथवा चिन्हों में किसी भी प्रकार के मूलभूत परिवर्तन से हमारी आने वाली पीढ़ियां नागरी लिपि में निहित हमारी महान् बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विरासत से वंचित रह जायेंगी। अतः ऐसा परिवर्तन स्वीकार नहीं किया जा सकता। नागरी लिपि के सुधार के विषय में समिति के इस दृष्टिकोण से हम सहमत हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित लिपि संबंधी परिवर्तनों से हम सहमत नहीं हैं।

(२) उपर्युक्त कारण से ही, हमें काका कालेलकर की 'अ' की स्वराखडी स्वीकार नहीं।

(३) जहां तक छोटी 'इ' की मात्रा और 'र' का प्रश्न है, यह सत्य है कि उनके सुधार से टाइप करने की गति में सुविधा होगी, किन्तु ये परिवर्तन सर्वथा आवश्यक नहीं जान पड़ते। नागरी लिपि के मूल रूप को न बदलने के सिद्धान्त के अनुसार इन दोनों को अपवाद स्वरूप मूल रूप में रखना अधिक अच्छा होगा यद्यपि इनके कारण कुछ असुविधा होगी।

(४) 'अ', 'छ', 'झ', 'ण', 'भ', 'ल' और 'ह' के लिये सुझाये रूप हमें मान्य है। साथ ही शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर भी हमें स्वीकार है।

(५) हम इससे सहमत हैं कि 'क्ष' और 'त्र' संयुक्ताक्षर 'ष' तथा 'त' के रूप में लिखे जायं, यद्यपि अच्छा तो यह होता कि हम इन्हें उनके रूप में बनाये रख सकें।

(६) शिरोरेखा वाली देवनागरी का आधुनिक रूप यथावत् रखा जावे किन्तु साथ साथ लिखावट की नागरी लिपि बिना शिरोरेखा के भी लिखने की अनुमति हो।

(७) यह सुझाव कि स्वतंत्र संयुक्ताक्षरों के बदले हलन्त का प्रयोग किया जावें, हमें मान्य है। साथ ही 'श्र' 'ओइम' तथा 'ल' अक्षर भी स्वीकार किये जा सकते हैं।

(८) जहां आवश्यक हो, नई ध्वनियों के लिये नये चिन्हों की अपेक्षा ध्वनि भेद दर्शानेवाले चिन्हों का प्रयोग किया जावे। किन्तु सरलता बनाये रखने के लिये फिलहाल ध्वनि भेद दर्शानेवाले चिन्हों के उपयोग को प्रोत्साहन न दिया जावे।

(९) रोमन लिपि में प्रचलित विराम तथा अन्य चिन्ह जैसे इत्यादि स्वीकार कर लिये जावें।

(१०) 'ड' और 'ड' के लिये भी व्यवस्था करना आवश्यक प्रतीत होता है।

नागरी टाइपरायटर.—श्री. अजितसिंह द्वारा प्रस्तुत नागरी टाइपराइटर योजना के सिद्धान्त नरेन्द्र देव समिति के सुझावों के साथ हमें ठीक मालूम होते हैं. इस सम्बन्ध में समिति की सिफारिशों से हम सहमत है. नागरी टाइप ढालते समय उनकी सुन्दरता का भी ध्यान रखना चाहिए.

यद्यपि नरेन्द्रदेव समिति द्वारा मात्राओं में जो परिवर्तन सुझाये गये हैं उनके सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु श्री. प्रयागी की (अलग से वितरित) योजना को देखने से यह स्पष्ट हो जावेगा कि इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं. श्री. प्रयागी ने देवनागरी अक्षरों को पाईयुक्त और पाई रहित ऐसी दो श्रेणियों में बांटा है. उन्होंने आधे अक्षर को मूल माना है और उसे खड़ी पाई द्वारा पूरा किया है. जिन अक्षरों के अन्त में पाई नहीं है उनसे संयुक्त अक्षर बनाने के लिये उन्होंने हलन्त का उपयोग सुझाया है. पाई का प्रयोग कर उन्होंने मात्राओं की भी ऐसी व्यवस्था की है कि वे पाई के साथ ही होंगी। इस प्रकार 'इ' 'ई', 'ऊ', 'ए', 'ऐ', 'ओ', 'औ' की मात्राएं आवश्यकतानुसार कभी एक और कभी दो खड़ी पाई के साथ और अलग से भी लगाई जा सकेंगी। इस प्रकार 'लाइनो' अथवा 'हैन्ड कम्पोज़िंग' दोनों ही दिशाओं में, जैसा कि सुझाया गया है, मात्राओं को कुछ दूरी पर अलग से रखने की आवश्यकता नहीं रह जावेगी। श्री. प्रयागी ने इसी आधार पर हिन्दी 'लाइनो टाइप' के लिये सफलतापूर्वक एक 'की बोर्ड' भी प्रस्तुत किया है।

श्री. अजितसिंह ने भी अपने प्रस्तावित 'की बोर्ड' में इस सिद्धांत को आधार माना है। श्री. प्रयागी द्वारा सुझाये गये सुधार श्री. अजितसिंह के 'की बोर्ड' में शामिल किये जा सकते हैं या नहीं, इस प्रश्न पर विचार करना उचित जान पड़ता है।

हिन्दी लायनोटाइप.—जहां तक हिन्दी लाइनो टाइप का प्रश्न है हम आज कल की ९० चैनेल वाली लाइनों के उपयोग का सिद्धांत स्वीकार करते हैं और हम चाहेंगे कि सम्मेलन श्री. एन. एल. प्रयागी द्वारा प्रस्तुत ९० प्रमुख तथा ३० सहायक 'कीज' की योजना पर विचार करें।

हस्त संग्रथन (हैन्ड कम्पोज़िंग).—नागरी हैन्ड कम्पोज़िंग को सुधारने और सरल बनाने के सम्बन्ध में डॉ. गोरखप्रसाद की योजना तथा नरेन्द्रदेव समिति द्वारा प्रस्तुत सुझावों को हम सैद्धांतिक रूप से स्वीकार करते हैं। इस संबंध में श्री. प्रयागी के सुझाये हुये सुधारों पर भी विचार किया जाय।

अंत में, मैं एक बात फिर से कह देना चाहता हूं। देवनागरी आधुनिक यंत्रों के अनुरूप नहीं है, इसलिये कई लोग यह सोचने लग जाते हैं कि लिपि में आमूल सुधार करना ही इस समस्या का सब से सीधा हल है। किन्तु हमारा तो यह मत है कि यह हमारे कौशल्य की परिक्षा है। विज्ञान की प्रगति के इस युग में, मशीनों में ही ऐसा सुधार करना कठिन न होना चाहिये कि जिनसे हमारी लिपि में कोई मूलभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता मिट जाय। यदि हम अपनी लिपि को विकृति से बचा कर अपनी सांस्कृतिक परम्परा को अविच्छिन्न रखना चाहते हैं, तो यह हमारा परम कर्तव्य होगा कि इस दिशा में ईमानदारी से जुट जायं। इस सम्मेलन के निर्णयों से हमारे भविष्य का गहरा संबंध है। इसलिये मेरा यह अनुरोध है कि एक ऐसे अन्वेषण केंद्र की स्थापना की जाय जो नागरी लिपि की विशेषताओं के अनुरूप यांत्रिक साधनों का आविष्कार करने का प्रयास करे। यदि इस दिशा में कोई संस्था प्रयत्नशील हों तो उन्हें भी सरकारी सहायता दी जाय।*

मध्यप्रदेश शासन की भाषा सम्बन्धी नीति†

आज से लगभग तीन माह पूर्व हमने मध्यप्रदेश भाषा अधिनियम, १९५०, के अनुसार राज्य में राज्य-भाषाओं के रूप में हिन्दी तथा मराठी का उपयोग आरम्भ करने का ऐतिहासिक निश्चय किया था। स्थिति पर पूरी तरह विचार करते हुए यह ज्ञात होता है कि हमने जो साहसपूर्ण निश्चय किया था, उसके लिये हमें गर्व होना चाहिए। जन-तन्त्र में इससे बढ़ कर और कोई दयनीय विरोधाभास नहीं हो सकता कि राज्य का कार्य ऐसी भाषा में सम्पादित हो जो जनता की भाषा नहीं है। हमारी भाषा कितनी ही अविकसित क्यों न हो, यदि हमें सही अर्थों में जनतन्त्र स्थापित करना है तो अन्त में हमें अपनी ही भाषा को अपनाना होगा। सच तो यह है कि जनतान्त्रिक सत्ता स्थापन करने की प्रणाली में, मैं, वयस्क मताधिकार के बाद, प्रशासन में अंग्रेजी के स्थान पर जनता की भाषाओं के उपयोग को दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान दूंगा। अतः कोई कारण नहीं है कि हम अपने उस निश्चय पर खेद करें। इस निश्चय द्वारा पहिले ही मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हो चुका है। जनता तथा जनता की सरकार को पृथक् करनेवाली विदेशी भाषा की विशाल दिवाल

---

* दिनांक २८ और २९ नवम्बर १९५३ को लखनऊ में हुये देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन में दिया भाषण।

† दिनांक २४ नवम्बर १९५३ को एक पत्र प्रतिनिधि सम्मेलन में मध्यप्रदेश की भाषा सम्बन्धी नीति पर प्रकट किये विचार।

अन्ततोगत्वा ढह गई है। अंग्रेजी भाषा के कारण लगभग दो वर्ग बन गये थे—पहिला वर्ग उन लोगों का था जो अंग्रेजी जानते थे तथा दूसरा वर्ग सर्वसाधारण जनता का था, जो अंग्रेजी नहीं जानती थी। दोनों वर्ग अब तक एक दूसरे से पृथक सीमा में रहे हैं। अब इन सीमाओं को हटाने का कार्यारम्भ किया गया है। मुझे आपसे यह कहते हुए हर्ष होता है कि राज्य के सभी भागों में इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्साहजनक प्रतिक्रिया हुई है। जिलों, तहसीलों, आदि से जो समाचार मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि सामान्यत: सर्वसाधारण जनता ने व्यापक रूप से तथा विस्तृत कर्मचारी दल ने विशेष रूप से परिवर्तन का स्वागत किया है। वे जो कहना चाहते हैं, अब वही लिख भी सकते हैं और ऊपर की हिदायतें भी अब सही तौर पर समझ जाते हैं। जिला कार्यालयों के कार्य के स्तर में सुधार दिखने लगा है।

परिवर्तन में सुविधा.—मेरे इस कथन से कृपया आप एक क्षण के लिए भी यह न समझ लें कि मैं उपस्थित होनेवाली कठिनाइयों की गुरुता कम कर रहा हूँ। कठिनाइयां तो हैं ही तथा उन्हें दूर होने में कुछ समय भी अवश्य लगेगा। पिछले पत्रकार सम्मेलन में मैंने आपको इस परिवर्तन में सुविधा पहुँचाने के लिए शासन द्वारा किये जाने वाले तात्कालिक उपाय बताये थे। उस समय जो कार्य हाथ में लिये गये थे, उनमें अन्य बातों के अलावा हिन्दी या मराठी टाइपिस्टों तथा स्टेनोग्राफरों का प्रशिक्षण, जो लोग हिन्दी या मराठी या इनमें से कोई भी भाषा नहीं जानते, उन्हें इन भाषाओं को सिखाना, प्रशासनिक पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी-हिन्दी-मराठी तथा हिन्दी-मराठी-अंग्रेजी शब्दकोष तैयार करना तथा विभिन्न विभागों के नियमों तथा उनमें उपयोग में आने वाले फार्मों का अनुवाद कार्य शामिल था। विभागों में उपयोग में आने वाले फार्मों के अनुवाद का कार्य पूरा हो चुका है। प्रशासनिक पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी-हिन्दी-मराठी शब्दकोष सभी कार्यालयों को भेज दिया गया है तथा हिन्दी-मराठी के पारिभाषिक शब्दों का एक दूसरा अंग्रेजी शब्दकोष छप रहा है और वह शीघ्र ही प्रकाशित हो जावेगा। टाइपिस्टों तथा स्टेनोग्राफरों के प्रशिक्षण के लिये नागपुर, जबलपुर, रायपुर तथा अमरावती में दिनांक १ सितम्बर से प्रशिक्षण कक्षाएँ आरम्भ की जा चुकी हैं। इनमें लगभग ५० प्रतिशत सरकारी नौकरीवाले टाइपिस्ट और स्टेनोग्राफर प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। इस अल्पकाल के अनुभव से ही हमें ज्ञात होता है कि प्रशिक्षणार्थी शीघ्र ही हिन्दी-मराठी टाइपिंग तथा स्टेनोग्राफरी सीख ले रहे हैं और वह दिन दूर नहीं है जब हिन्दी तथा मराठी टाइपिस्टों तथा स्टेनोग्राफरों की कमी भूतकाल की बात हो जावेगी। जो कर्मचारी हिन्दी या मराठी नहीं जानते उन्हें इनमें से कोई भी एक भाषा सिखाने के लिये और भी वर्ग खोले जा रहे हैं। एक मार्गदर्शिका भी अलग से तैयार की जा रही है, जिसमें आदर्श टिप्पणियां, ज्ञाप, अर्ध-सरकारी पत्र, आदेश, सारांश, आदि, हिन्दी तथा मराठी में दिये रहेंगे ताकि विभागों को हिन्दी और मराठी से कार्य करने में सुभीता हो। इनके सिवा, विभागीय पुस्तिकाओं के अनुवाद का कार्य भी हाथ में ले लिया गया है तथा कई पुस्तिकाओं का तो अनुवाद पूरा हो भी चुका है।

शब्दों का निश्चित स्वरूप.—प्रशासनिक शब्दावली का कोष इसलिये तैयार किया गया है कि प्रशासन के उपयोग में आने वाले ऐसे शब्दों को निश्चित रूप दिया जावे, जिनका एक निश्चित अर्थ होता है, उदाहरणार्थ, पारिभाषिक शब्द, कार्यालयों के नाम, आदि. आप सहमत होंगे कि यदि ऐसा न हुआ तो चारों तरफ भ्रम उत्पन्न हो जावेगा। आपको शब्दकोष से पता लगेगा कि इन शब्दों के एक से अधिक समानार्थी शब्द दिये गये हैं, जिनमें सामान्य उपयोग में आने वाले शब्द भी शामिल हैं। किसी शब्द को निश्चित स्वरूप देने की दृष्टि से और हमेशा उपयोग में आने वाले शब्द न मिलने पर, जहां कोई शब्द आवश्यक हुआ वहां संविधान के आदेशों के अनुसार मूल संस्कृत के आधार पर नया शब्द बनाया गया है। संविधान के अनुच्छेद ३५१ में स्पष्टतया कह दिया गया है कि—

"हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना, ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्थानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा, जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां, उसके शब्द भांडार के लिये मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।"

यह संविधान द्वारा स्वीकृत एवं सुदृढ़ सिद्धान्त है, क्यों कि संस्कृत अधिकांशतः सब भारतीय भाषाओं की जननी है। इसके अलावा, सरकार ने सदा ही सरल और जनता की भाषा के उपयोग को प्रोत्साहन दिया है। अनेक ज्ञापों द्वारा समय समय पर सरकार ने इस प्रश्न की ओर कर्मचारियों का ध्यान आकर्षित किया है कि हिन्दी को राज्य भाषा का रूप देने का अर्थ सरकार और जनता के बीच विचारों के आदान-प्रदान को सरल तथा सुगम बनाना है और साथ ही इस बात पर भी जोर दिया गया है कि तान्त्रिक नामों को छोड़ कर शेष बातों में जनता की भाषा का उपयोग करना ही उचित होगा। अंग्रेजी मुहावरों को अक्षरशः हिन्दी में अनुवाद करने या कृत्रिम भाषा का उपयोग करने की प्रवृत्ति

की सरकार ने स्पष्ट शब्दों में निन्दा की है। यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि भाषा में सब प्रचलित शब्दों का उपयोग, उनका उद्गम चाहे जहां से भी हुआ हो, किया जा सकता है। हमने यहां तक भी सुवि । दी है कि सरकारी कार्य में अंग्रेजी शब्दों को भी कोष्ठकों में लिखा जा सकता है।

सरल और सुबोध भाषा.—शासकीय कार्यों में लिखी जाने वाली भाषा जहां तक हो सके सरल और सुबोध हो। विधिविषयक पारिभाषिक शब्दों तथा ऐसे शब्दों को छोड़कर जिनके गलत उपयोग से राज्य-कार्य में अव्यवस्था उत्पन्न होने की सम्भावना है, दूसरे सभी शब्द प्रचलित भाषा से ही लिए जाएँ। यदि अंग्रेजी के किसी शब्द या भाव के लिए कोई हिन्दी या मराठी शब्द या अभिव्यक्तियां न मिलें, तो कुछ समय तक, अंग्रेजी के शब्द या अभिव्यक्तियां लिखने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

समस्त देश के लिये हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के एक सामान्य शब्द-संग्रह की आवश्यकता का हम अनुभव करते हैं। इस दिशा में भारत सरकार कदम उठा रही है और जब राज्यों के परामर्श से भारत सरकार द्वारा यह शब्द-संग्रह बना लिया जावेगा, तब वह अन्तिम हो जावेगा और स्वाभाविक है कि वह समस्त देश को स्वीकार होगा।

हमारी भाषाओं में नये नये विचारों और कार्यों का समावेश हो रहा है। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इन भाषाओं का इतना विकास हो जावेगा कि वे नवीन कार्य के उपयुक्त सिद्ध होंगी और शीघ्र ही सुगमता से इन भाषाओं में कार्य सम्पादित होने लगेगा। मैं समस्त भाषा-शिल्पियों के सहयोग की कामना करता हूं कि वे इस कार्य में यथाशक्ति योग-दान दें ताकि हम विदेशी भाषा पर अवलम्बित होने के कलंक से मुक्त हो सकें।

राष्ट्रभाषा हिन्दी : कुछ समस्यायें

संविधान सभा का ऐतिहासिक निश्चय.—भारत की ३२ करोड़ जन-संख्या में से १८ करोड़ की मातृभाषा होने और लगभग २२ करोड़ द्वारा सरलतापूर्वक समझी जा सकने के कारण जनता ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा तो पहिले ही वरण कर लिया था, किन्तु संविधान सभा का निश्चय एक ऐतिहासिक महत्व रखता है। राज्य-मान्यता तो यात्रा का आरंभ मात्र है। अभी एक और लंबी और कठिन मंजिल तय करना है। हिन्दी का अपना कोई पक्ष नहीं, न उसकी उसे कभी कोई आवश्यकता ही रही या है। कोई पक्ष ही कैसा जब कि उसकी किसी अन्य भाषा से प्रतिस्पर्धा नहीं! संविधान सभा के लंबे वाद-विवाद और विचार-संघर्ष तो केवल हमारी अंग्रेजी की दासता से मुक्ति पाने की अधीरता के द्योतक थे क्योंकि यह निश्चित था कि जब तक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न तय नहीं होता, अंग्रेजी भारत की आत्मा को जकड़े रहती। महात्मा गांधी की पारदर्शी दृष्टि ने यह बात पहिले पहल समझी थी और इसीलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को स्वराज्य से कम महत्वपूर्ण नहीं माना था। भाषा, देश और समाज का प्रतिबिम्ब होती है। उसमें राष्ट्र के उत्थान-पतन, गौरव-ग्लानि, गीत-विलाप, सुख-दुःख की कहानी अंकित होती है, राष्ट्रीय आत्म-सम्मान गुंथा होता है, राष्ट्र की आत्मा निहित रहती है। तब यह प्रश्न राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्न से क्योंकर कम हो सकता था? जिस तरह हो, अन्त में प्रश्न ने हल पाया। हिन्दी जनभाषा से राष्ट्रभाषा होने जा रही है। वह केन्द्र और प्रान्त, प्रान्त और प्रान्त के परस्पर व्यवहार की भाषा होगी। राज्य-प्रासाद में उसकी प्रतिष्ठा हुई है। हिन्दी के लिए यह गौरव का विषय है। किन्तु स्मरण रहे कि यह विजयोल्लास का कारण नहीं—हो सकता है तो केवल आत्मनिरीक्षण का कारण। हमें भूल न जाना चाहिए कि हिन्दी की यह प्रतिष्ठा बिना इतर भाषा-भाषियों की सद्भावना के संभव न थी। इसलिए अब हिन्दी चाहे भी तो अपने संकुचित दायरे में नहीं रह सकती। उसे एक कुटुम्ब के नायक की तरह औरों की इच्छा-अनिच्छा, आवश्यकताओं, कठिनाइयों का पहिले ध्यान रखना पड़ेगा। इसलिए, आइये, हम हिन्दी के इस नये उत्तरदायित्व से अवगत हो लें।

भारती-भक्तों का उत्तरदायित्व—सारे हिन्दी-प्रेमियों से मेरी प्रार्थना है कि वे भारतीय विधान के राष्ट्र-भाषा-संबंधी परिच्छेद के प्रत्येक मद का, उसकी धाराओं और उप-धाराओं का ध्यानपूर्वक मनन कर लें. तब उन्हें ज्ञान पड़ेगा कि अपने अभीष्ट उद्देश्य तक पहुंचने के लिये उन्हें कौन-कौन से सोपान पार करना है। हिन्दी का यह ठोस कार्य का युग है। देवनागरी-अंकों के लिए अभी सब द्वार बन्द नहीं हुए हैं। १५ वर्ष की अवधि के भीतर ही सम्भवतः, और नहीं तो उसके बाद भी, नागरी अंकों के पुनरोद्धार के लिए

विधान में स्थान है। किन्तु यह हृदयपरिवर्तन के मार्ग द्वारा ही संभव है। अनेक राष्ट्रभाषा-प्रेमियों को १५ वर्ष की अवधि कभी-कभी व्याकुल बना देती है। समय आ गया है कि हिन्दी-मां के सारे लाल जुट जायं और अपने आराध्य को राष्ट्र-मन्दिर की प्रतिमा के योग्य बना दें। आज तक हिन्दी का क्षेत्र कथा-कहानी, नाटक, उपन्यास, भक्ति और दर्शनशास्त्र तक ही सीमित रहा है। शासन, कला और विज्ञान में अंग्रेजी का साम्राज्य रहा है। अंग्रेजी राज्य की समाप्ति पर और हिन्दी राजभाषा घोषित होने पर हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान लेने योग्य बनायें। इन १५ वर्षों में उसके सारे अभावों की पूर्ति कर दें। विज्ञान और कानून की सार्वत्रिक मूलभूत बौद्धिक एकता को बिना ठेस पहुंचाये राष्ट्रभाषा को उनका साधन बना सकें और उसे बाजार और शिवालयों से लेकर धारा-सभा, प्रयोग-शालाओं और न्यायालयों तक पहुंचा दें। मां-भारती का भंडार इस तरह लबालब भर दें कि वह सर्वोच्च शिक्षा, अनुसंधान, ज्ञान-विज्ञान, कानून इत्यादि, संपूर्ण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की विविध और जटिलतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके. हिन्दी के सभी लेखकों, कवियों, विचारकों, शब्दकारों, भाषा-शास्त्रियों, वैय्याकरणों, संकलनकर्त्ताओं, निर्माताओं को यह एक बड़ा आह्वान है। मुझे आशा और विश्वास है कि सम्मेलन हिन्दी की सारी बिखरी शक्तियों को बटोरकर उन्हें इस दिशा में अनुप्रेरित कर उनका सफल मार्ग-संचालन करेगा। हिन्दी-हितों की रक्षा के लिए सच्चा आन्दोलन आज यही हो सकता है। और हिन्दी के लिए—तुलसी और सूर, कबीर और नानक, दयानन्द और गांधी की हिन्दी के लिए—यह कार्य दुस्तर नहीं। यह जनता की वाणी है, भारत की वाणी है ; और भाषा का बल जनता में समाई उसकी जड़ें होती हैं। हिन्दी में राष्ट्रभाषा का आसन सुशोभित करने की सारी क्षमता विद्यमान है ; उसे केवल विकसित करने की आवश्यकता है।

इतर भाषा-भाषियों से निवेदन.—किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि अन्य प्रांतीय भाषाएं हिन्दी से किसी तरह हीन हैं। सच में तो बंगला और तामिल जैसी भाषाओं से हिन्दी को बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है। हिन्दी की ऐसी महत्वाकांक्षा नहीं कि प्रांतीय भाषाओं का स्थान ले। राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं, दोनों का अलग-अलग क्षेत्र और अलग अलग स्थान है : सच में तो अखिल भारतीय दृष्टि-कोण से वे एक दूसरे की परस्पर विरोधिनी नहीं, पूरक हैं। और राष्ट्रभाषा आज प्रांतों के लिए विदेशी या गैर तो रही नहीं, वह सब की एक सी हो गई है। हमारा यह उत्तरदायित्व भी हो गया है कि हमारे इतर भाषा-भाषी बन्धुओं के मन का अनावश्यक भय और सन्देह दूर करें और उनका अधिकाधिक सद्भाव संचय करें। बिना एक उदार और सहनशील वृत्ति के हम कभी अपनी कल्पना के राष्ट्रीय भाषा-मन्दिर का निर्माण नहीं कर सकते। अन्य भाषा-भाषियों से भी मेरी अपील है कि वे हिन्दी को शीघ्र अपनाने लगें। जब हम सात समुद्र पार से आई अंग्रेजी को इस तरह गले लगा सके, तब हिन्दी, जो भारतभूमि में ही जन्मी, बढ़ी और फली-फूली, उसका यह भय और विरोध कैसा ! मैं विशेषकर अपने दक्षिणी बन्धुओं से कहना चाहता हूं—उनके मानसिक चिन्तन की शक्ति और परिश्रमशीलता विख्यात है ; इसी के द्वारा अंग्रेजी पर उन्होंने मातृभाषा-सा अधिकार पा लिया है। एक बार वे हिन्दी की ओर आमुख हो जायं, फिर तो आश्चर्य नहीं कि भविष्य में हमें ही कहीं उनसे हिन्दी न सीखनी पड़े। अन्य भाषाओं के साहित्यकों से मैं निवेदन करूंगा कि वे राष्ट्रभाषा के नवनिर्माण में योगदान दें और उसके सुयश में भागीदार हों।

समान शब्दावली की आवश्यकता.—यह सर्वमान्य है कि शासन, कला, उद्योग, वाणिज्य और विज्ञान के क्षेत्रों में भारतवर्ष की एक ही शब्दावली होनी चाहिये। शब्दावली हिन्दी की हो अथवा किसी अन्य भाषा की हो, हमारे सामने वास्तव में यह प्रश्न उठता ही नहीं। हिन्दी की शब्दावली प्रायः संस्कृत की शब्दावली होगी और वही शब्दा-वली अन्य भाषाओं की भी होगी। इसलिए जब भारत की राज्य भाषा हिन्दी घोषित की गई तो इसका व्यवहार में अर्थ यही है कि साहित्य और विज्ञान की विद्यमान शब्दावली तथा भविष्य में बनने वाली शब्दावली भी समान होगी। अतः आवश्यक हो गया है कि एक ही दिशा के अनेक प्रयत्नों का एकीकरण किया जावे और एक प्रामाणिक अखिल-भारतीय पारिभाषिक शब्दकोष की रचना की नींव डाली जावे। इसी तरह हिन्दी के व्याकरण और उच्चारणों में भी अखिल भारतीय दृष्टिकोण से यथोचित सुधार करने की आवश्यकता है। हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि भावी हिन्दी के निर्माण में हम अब अन्य भाषा-भाषी बन्धुओं का प्रभाव न रोक सकेंगे। सच में तो हमें इसका स्वागत करना चाहिए। आदान-प्रदान से भाषा जीवन्त बनती है, समृद्धिशाली होती है। हमें चाहिए कि देश की सब महान् प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकारों को निमंत्रित करें कि वे राष्ट्रभाषा के भावी भवन के निर्माण में योग दें। नागरी लिपि को आधुनिक छपाई के यंत्रों, तार और टेलीप्रिंटर के अनुकूल सुगम

बनाने की भी आवश्यकता है ताकि इस यंत्रों के युग में हमारी राष्ट्रभाषा और देश की भाषाओं से पीछे न रह जाय। इसी से संबंधित हिन्दी में शीघ्रलिपि और टाइपिंग का प्रश्न है।*

†हिन्दी के राजभाषा घोषित होने का वास्तविक अर्थ तो यही है कि निश्चित अवधि में हिन्दी भारतीय संघ के समस्त सरकारी कारबार की तथा अहिंदी-भाषी प्रांतों में भी अखिल-भारतीय संबंधवाले सरकारी कार्यों की भाषा हो जाय. प्रांत और केन्द्र दोनों में जहां तक भाषा का संबंध है, सरकारी व्यवहार जिनमें होता है वे हैं—संसदों की भाषा, न्यायालयों की भाषा, केन्द्र और प्रान्त के बीच की तथा अंतर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा, केन्द्रीय नौकरियों की परीक्षा की भाषा, सरकारी दफ्तरों की भाषा, अनुसंधान और गवेषणा की भाषा, तथा शाला, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम की भाषा। इनमें प्रान्त और केन्द्र के अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित करना होगा। भाषा का प्रश्न लाख-लाख जनता की भावना से संबंधित होता है। इसलिये यहां हर कदम सतर्कता से उठाया जाना आवश्यक होता है। पर हिन्दी और अन्य प्रांतीय भाषाओं या एक प्रांतीय भाषा और दूसरी के बीच किसी विरोध की आवश्यकता ही नहीं। हरएक का अपना-अपना निर्दिष्ट, अलग क्षेत्र होगा। हिन्दी केन्द्र की भाषा होगी, किन्तु प्रांतों में तो प्रांतीय भाषा या भाषाओं का ही एकछत्र अधिकार होगा—वहां के संसद्, सरकारी दफ्तर, हाईकोर्ट के अतिरिक्त अन्य अदालतों और शिक्षा का माध्यम इन सबकी भाषा उस प्रांत की एक या अनेक भाषाएं होंगी। कहीं-कहीं अहिंदी भाषा-भाषी भाइयों के मन में यह संदेह हो गया है कि हिन्दी प्रांतीय भाषाओं को पदच्युत कर देगी। यह संदेह निराधार है। भारत की सारी प्रांतीय भाषाओं का समान दर्जा है। हिंदी का जो स्थान है, वह केवल समान दर्जे-वालियों में पहली (Prime Inter Pares) के सिवा कुछ नहीं। आखिर, आज तक लगभग १५० वर्षों से, अंग्रेजी हम पर लदी रही, तो क्या उससे हमारी प्रांतीय भाषाएं कुंठित हो गईं? क्या धुंआधार अंग्रेजी की चकाचौंध तुलसी और कबीर, चंडीदास और चैतन्य, नरसी मेहता और तुकाराम के बोल धूमिल कर सकी? मैं यह कभी मानने को तैयार नहीं कि हमारी प्रांतीय भाषाओं को जो ऐसे प्राणघाती विदेशी प्रहारों को सह सकीं अपनी ही सहोदरा हिंदी से किसी प्रकार का भय हो सकता है। अखिल-भारतीय क्षेत्रों और सम्बन्धों में अवश्य हिंदी को, उस पर जो दायित्व सौंपा गया है, उसका निर्वाह करना ही होगा, किंतु प्रांतीय भाषाओं से उनके क्षेत्रों में उसकी कोई स्पर्धा नहीं, कोई संघर्ष नहीं। तो फिर विद्वेष का प्रश्न उठता ही कहां है? जो हो, इतर-भाषा-भाषियों के मन में बसे अकारण भय को हमें अपनी उदार भावना, संयत वाणी और सहनशील वृत्ति के द्वारा निर्मूल करना होगा। हमें याद रखना होगा कि देश भर की सद्भावना और स्नेह पाकर ही राष्ट्रभाषा का पौधा किसी दिन लहलहा सकेगा।

किन्तु साथ ही, राजभाषा और प्रांतीय भाषाओं के विभिन्न क्षेत्रों और उनके पारस्परिक संबंधों की एक स्पष्ट भूमिका भी सदा ध्यान में रखना होगी। अंततः केंद्रीय संसद और सुप्रीम और हाईकोर्टों में राष्ट्रभाषा प्रस्थापित होगी ही—देश भर के कानून और न्याय की हिंदी भाषा होगी। केंद्र और प्रांत, और प्रांत और प्रांत के व्यवहारों का वह माध्यम होगी। केंद्रीय दफ्तरों की वह भाषा होगी। केंद्रीय नौकरियों की परीक्षाओं की वह भाषा होगी और देश की बौद्धिक इकाई अक्षुण्ण बनी रहे, इसलिये उच्च-शिक्षा और अनुसंधान का भी वह माध्यम हो जायगी। संघीय राजभाषा का तो यही गौरव और गुरुतर दायित्व होता है। पर क्या हिंदी इस दायित्व के लिये तैयार है? क्या समय आने पर देश के कारबार को बिना ठेस पहुंचाए वह अंग्रेजी का स्थान ले लेगी? शायद ये आशंकाएं उठती ही नहीं, यदि अंग्रेजी का प्रभुत्व हम पर इस तरह न छाया होता। आखिर अंग्रेज और अंग्रेजी आने के पहिले देश का कारबार तो चलता ही था और तब हमारी अपनी भाषाओं के सिवा और कौन सी भाषा थी? अभी अभी विलीनी-करण के पहिले तक मध्यभारत और राजस्थान की देशी रियासतों में हाईकोर्ट तक की भाषा हिन्दी ही तो थी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि हिंदी को किसी तरह की तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं। आज के युग के विज्ञान, कानून, शासन, व्यवसाय और अन्य क्षेत्रों की नित नई आवश्यकताओं के लिये उसे भरपूर उतरना होगा। अखिल-भारतीय स्तर का निर्वाह कर सकने के लिये उसे सुसज्जित होना होगा। अंग्रेजी का स्थान पूरी तरह लेने के लिये उसे अंग्रेजी की चुस्ती, गठन और गति भी पाना होगी।

---

*दिनांक २४ दिसम्बर १९४९ ई. को हैदराबाद (दक्षिण) में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३७ वें अधिवेशन में पंडित रविशंकरजी शुक्ल द्वारा दिये उद्घाटन भाषण के कुछ आवश्यक अंश.

†काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हीरक जयन्ती उत्सव पर राष्ट्रभाषा सम्मेलन और गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए दिया गया भाषण।

परिवर्तन की कठिनाईयां—अंग्रेजी से राष्ट्रभाषा के परिवर्तन में अवश्य अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां आयेंगी। कोई सरल यात्रा नहीं। शताब्दियों से अंग्रेजीके पाश में हम ऐसे बंधे हैं कि हमें अपनी बेड़ियों से ही मोह हो गया है। इसीलिये, यहां वहां अनाहूत क्षेत्रों से, कभी कभी अंग्रेजी के बिछोह की चीख भी सहसा सुन पड़ जाती है। अंग्रेजी से हमारा विद्वेष नहीं। उसके हम कई तरह से ऋणी रहेंगे। वह एक महान् भाषा है और अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हमें बहुत कुछ उसका सहारा लेना होगा। किन्तु अपने प्रजातंत्र में उसका सारा कारोबार प्रजा की भाषा में न होकर, एक विदेशी भाषा में हो, इस विडम्बना को तो हमें मिटाना ही होगा। जब तक यह स्थिति रहेगी, दुनिया के सामने हम पर एक तरह से लांछन बना रहेगा। हमारे प्रजातंत्र की नींव भी तब तक अधूरी ही रहेगी। हिंदी के राजभाषा घोषित होने के पश्चात् सच में तो, यह विवाद उठना ही नहीं। फिर भी जब तक अंग्रेजी के बंधन शिथिल नहीं होते, हर बार यह बात दुहरा देना श्रेयस्कर ही होगा। पैर पीछे लौटाने की कोई बात ही नहीं। अंग्रेजी से हिंदी के परिवर्तन-काल की व्यावहारिक कठिनाइयों का हमें सामना करना ही होगा—साहस से, सूझबूझ से और दृढ़तापूर्वक। यह एक दिन का या एकबारगी करने का काम नहीं। बड़ी तैयारी के बाद, कई चरणों में ही यह संपन्न हो सकेगा। पर तैयारी तो आज ही से करनी पड़ेगी। नहीं तो, अगले १० वर्षों में हिंदी अपना स्थान कैसे लेगी? मध्यप्रदेश में हमने यह प्रयोग शुरू कर दिया है। दिनांक १ सितम्बर १९५३ से, कुछ बातों को छोड़, समस्त सरकारी कारबार सेक्रेटेरियट से लेकर गांव-गांव तक वहां की प्रांतीय भाषाओं हिंदी और मराठी में होने लगा है। जनता और शासन के बीच अंग्रेजी अब भेद की दीवार बन कर नहीं खड़ी है।

पारिभाषिक शब्दावली.—राष्ट्रभाषा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु जटिल पहलू है—टेक्निकल और पारिभाषिक शब्दावली। इसमें तो कोई दो मत नहीं कि बौद्धिक इकाई बनाए रखने के लिये देश भर में ऐसी एक ही शब्दावली का उपयोग होना चाहिए। अभी इस दिशा में भिन्न भिन्न प्रान्तों में अलग अलग प्रयोग हो रहे हैं। समय आ गया है कि केंद्रीय सरकार यह कार्य स्वयं अपने हाथों ले ले और एक अखिल-भारतीय शब्दकोष का निर्माण करे जो सर्वमान्य हो। यह एक बड़े पैमाने का और अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसका देश के भविष्य से गहरा सम्बन्ध है।

संस्कृत ही भारत की प्रमुख भाषाओं का आदि-स्रोत रही है। उसी के अक्षय भंडार से प्रान्तीय भाषाओं का पोषण हुआ है। संस्कृत के लगभग ४०-५० सहस्र शब्द भारत की लगभग सभी भाषाओं के साहित्य में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रचलित हैं। इसलिये संस्कृत-प्रधान शब्दावली ही सर्वमान्य हो सकती है। हमारा यह आशय नहीं कि प्रचलित शब्दों का उन्मूलन किया जाय। भाषा यदि जीवित रहना चाहे, तो यह संभव नहीं। यहां तो हमें एक उदार नीति अपनाना होगी और जहां से हमारा भंडार समृद्ध हो सके उसका स्वागत करना चाहिए। किन्तु, निश्चितता के लिये जहां अधिकृत पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हो और प्रचलित उपयुक्त शब्द न हों, वहां हमें संविधान के निर्देशानुसार मुख्यतः संस्कृत का ही सहारा लेना होगा।

देवनागरी लिपि.—इसी तरह, विभिन्न भाषाओं के लिए एक देवनागरी लिपि का प्रचार कर हम एक दूसरे के सन्निकट आ सकते हैं। मुझे यह जानकर हर्ष है कि एकेडेमी ऑफ लेटर्स अन्य भाषाओं के ग्रंथ देवनागरी में प्रकाशित कर इस दिशा में प्रयत्नशील होगा।

एक और महत्वपूर्ण पहलू है जिसे हम भुला नहीं सकते। अंग्रेजी की विदा के साथ ही, रोमन लिपि भी विदा हो चलेगी और देवनागरी को उसका स्थान लेना होगा। यह सच है, कि देवनागरी ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से एक अत्यंत वैज्ञानिक लिपि है। फिर भी, नागरी आज के युग की गति, सुगमता और तांत्रिक आवश्यकताओं के अनुरूप रोमन की तरह ही पूरी उतरे यह हमें सुनिश्चित करना होगा। लखनऊ में लिपिसुधार सम्मेलन का आयोजन कर प्रशंसनीय कार्य किया। वहां के निश्चयों में एक ही बात जो हिन्दी-प्रेमियों के गले नहीं उतर पाई वह है ह्रस्व 'इ' के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय. यह अत्यन्त छोटासा प्रश्न है। तथापि लोगों की भावना से संबंधित है। व्यावहारिक दृष्टि से भी उसमें कोई बहुत लाभ नहीं। एक दोष को दूर करने के लिये वह एक दूसरे दोष की स्थापना करता है।

संस्कृत भाषा का महत्व*

हमारे संस्कारों आदि की भाषा संस्कृत ही रहेगी। इस बात की जड़ बड़ी गहरी भूमि में है। तभी तो कन्याकुमारी से लगाकर काश्मीर तक जन्म, विवाह, मृत्यु जैसे संस्कारों और अन्य औपचारिक अवसरों पर आज भी संस्कृत का उपयोग होता है।

सारे भारतवर्ष में सांस्कृतिक एकता बनाये रखने में संस्कृत का बड़ा हाथ रहा है। और आज भी हमारी यही कामना है कि भारत के जीवन की विविधता में समन्वय स्थापित करने में वह पूर्ववत सक्षम बनी रहे। हमारे इस नव-स्वतंत्र राष्ट्र के बहुमुखी विकास में संस्कृत भाषा और उसमें उपलब्ध साहित्य हमारी अनेक जटिल समस्याओं का हल करने में सहायक सिद्ध होता है। एक ओर भारतीय दर्शन की मानव-वादी उदारता हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि को पूरी तौर से प्रभावित किये है, और संस्कृत साहित्य हमारे प्रगति पथ की बाधाओं में "नात्मानं अवसादयेत्" और "मा भैः" की पवित्र ध्वनियां सुनाता रहता है, वहां दूसरी ओर संस्कृत भाषा हमारे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में "आवश्यक और वांछनीय" सहायता देने को तत्पर रहती है। "आवश्यक और वांछनीय" इसलिये कि कोई भी माता अपनी सन्तान को अत्यन्त परावलम्बी बनाना पसन्द नहीं करती। अपने पैरों पर खड़े होने के प्रयत्नों में वह उतनी ही सहायता देती है जितनी कि वह आवश्यक और वांछनीय समझती है। योग्य मातृत्व में यही दूरदर्शिता और विवेकशील संयम होता है।

हमारे लिये संस्कृत सदैव प्रेरणा और शक्ति की स्रोत रही है। आज विशेष रूप से जब चारों ओर युद्ध के बादल छा रहे हैं, केवल हमारा देश ही उसके विरुद्ध अपनी आवाज उठा रहा है। भारतीय सदा ही शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध रहे हैं। विजय के उपरान्त युद्ध से विरत होने का उदाहरण अशोक के सिवा संसार में और कौनसा है। भारत की सैनिक शक्ति कभी कम नहीं थी। किन्तु इतने पर भी विदेशों में उसकी सब विजयें सांस्कृतिक ही रही हैं। यह लंका, बर्मा, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बाली, आदि में भारतीय संस्कृति के विस्तार से स्पष्ट है। राष्ट्र तथा विश्व की सच्ची सुरक्षा सैन्य-बल में नहीं, किन्तु सत्य-पथ पर आरूढ़ रहने में है। अनादिकाल से संस्कृत साहित्य की यही पुकार रही है कि—"हे ईश्वर हमें वह बल दो जिससे हम सदैव सुपथ पर चलें। दूसरे के धन पर गिद्ध-दृष्टि न डालें और लोभ तथा मोह के पात्र को हटाकर सत्यधर्म को देखें"। हम सब भी आज यही निश्चय करें:

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

विज्ञान की प्रगति—दिनांक २१ दिसम्बर को सागर में राष्ट्रीय विज्ञान-परिषद के चौबीसवें वार्षिक अधिवेशन में श्री शुक्ल जी के अध्यक्षीय भाषण से—

"विज्ञान की प्रगति कृत्रिम साधनों द्वारा अवरुद्ध नहीं की जा सकती; मानव कल्याण के लिये उसका लाभप्रद योगदान जारी रहना चाहिये। विज्ञान में कोई दोष नहीं है, दोष हम में है जो उसका दुरुपयोग करते हैं विज्ञान साधना की वस्तु योजना में मानव का अस्तित्व कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। ब्रम्हाण्ड के अपरिमेय क्रम में मनुष्य का स्थान तो एक क्षुद्रतम बिन्दु के समान ही हो जाता है। किन्तु, विज्ञान की विनाशक प्रवृत्तियां उस समय विजयी हो उठती हैं जब ऐसी एक मानवोचित जीवन दृष्टि का अभाव हो उठता है जिसमें मनुष्य की आत्मा की सही प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य विज्ञान का निर्माता और उसका स्वामी है। वह विज्ञान का उपयोग अपनी आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करता है। यह सच है कि किन्चित अविचारी व्यक्तियों के हाथों में पड़कर वैज्ञानिक शक्ति मनुष्य जाति के लिये भयावह सिद्ध हो सकती है। किन्तु हमें इस तथ्य को भी समझना है कि पारस्परिक घृणा और ओछी ईर्षा के कारण सारी दुनिया विग्रहमय हो गई है। अतः विपत्ति निवारण, विज्ञान की उपयोगिता के बारे में सन्देह करके नहीं, वरन प्रेम और सद्भावना द्वारा मानवीय सम्बन्धों को सुधार कर ही हो सकता है। आज की महत्वपूर्ण आवश्यकता जीवन का एक ठोस दर्शन और मानवीय बुद्धि एवं भावना का उपयुक्त शिक्षण ही है। राधाकृष्णन रिपोर्ट में ऐसे सभी व्यक्तियों को मानवतावादी प्रशिक्षण दिये जाने की आवश्यकता पर सही तौर से बल दिया गया है जो वैज्ञानिक अध्ययन में विशेषता अर्जित करने के इच्छुक है। इस तरह

*दिनांक २४ अप्रैल १९५४ को नागपुर में संस्कृत विश्व-परिषद में स्वागताध्यक्ष पद से प्रकट किये गये श्री रविशंकर शुक्ल के विचार.

के मानवतावादी प्रशिक्षण द्वारा वे उत्तम जीवन दर्शन पा सकेंगे और उचित मूल्यांकन कर सकेंगे। विशुद्ध वैज्ञानिक और शिक्षण से यंत्रचालित दैत्य ही उत्पन्न हो सकते हैं, जिसके परिणामस्वरूप विश्वविद्यालय कमीशन के शब्दों में 'राक्षस-राज्य' की स्थिति आ सकती है। विज्ञान पर दर्शन का नियंत्रण रहे और दर्शन विज्ञान की खोज से शक्ति और प्रेरणा लेता रहे। विज्ञान ने अनेक प्रकार से जीवन को सुखी, सुरक्षित तथा जीने योग्य बनाया है। यदि विज्ञान की प्रगति बनी रही, जिसमें संदेह नहीं, तो हमारी एक-विश्व की यह कल्पना साकार हो उठेगी जिसमें पूरा मनुष्य समाज एक परिवार की भांति भय बाधाओं से मुक्त हो, सुखी और सम्पन्न रह सकेगा।

"किन्तु विज्ञान के लाभ सर्वथा दोषमुक्त नहीं हैं। विज्ञान के विकास के साथ ही हमारे सामने कई खतरे उत्पन्न हो गये हैं जो हमें इसके लिये बाध्य करते हैं कि हम उनका विचार करें। जब से आर्कीमिडीस ने आक्रमणकारी सेनाओं पर पत्थर फेंकने की मशीन खोज निकाली थी, आज तक विज्ञान सैन्य-शक्ति को अधिकाधिक बल प्रदान करता आ रहा है। शौर्य और आन के वीरता-सम्बन्धी विचारों तथा साहस और मौत से खेल जाने की आवाजी अब बीती बात हो गई है। बर्टरेन्ड रसेल ने कहा है : 'भौतिक विज्ञानशास्त्री फौज के कई दस्तों के बराबर होता है। आज युद्धों में आधुनिक विज्ञान के प्रयोग के अतिरिक्त, विजय साहसी सेनाओं पर नहीं, वरन भारी उद्योगों पर निर्भर रहती है।'' सदा की अपेक्षा आज विज्ञान ने केवल जन-संहारी शस्त्रास्त्रों को ही अधिकाधिक भयावह बनाने में योग दिया है। आइन्स्टीन के समान महान विचारकों ने तो यह आशंका प्रकट की है कि इस पृथ्वी पर से सभी प्राणियों के लोप होने का भय है। युद्धकारी सत्ताओं के हाथ में विज्ञान ने समस्त प्राणियों के विनाश की शक्ति सौंप दी है। युद्धरत सत्ताओं में से किसी एक के निर्णय की जरा सी भूल से अथवा जल्दबाजी से सर्वनाश हो सकता है। बर्टरेन्ड रसेल के समान विचारक कभी कभी निराशावादी हो उठते हैं तथा यह आशंका प्रकट करने लग जाते हैं कि कोई न कोई सत्ता मदान्ध हो ना समझी कर सकती है। डीन इंज ने तो बताया है कि आधुनिक काल के अन्तर्राष्ट्रीय रवैयों को देख यह पुरानी कहावत गलत सिद्ध जान पड़ती है कि जब दो ठन जायें तभी लड़ाई हो सकती है। आज तो स्थिति यह है कि कोई भी सत्ता अपने अनुचित कार्य से समस्त विश्व के लिये एक संकट खड़ा कर सकती है। आज जब कि मानव जाति अपनी उन्नति के शिखर पर है तथा अपनी हर कमी पूरी करने की क्षमता रखती है, सच में यह दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना ही होगी कि वह आत्म-विनाश का मार्ग वरण करे''.

भारतीय राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रभाषा की आवश्यकता*

यदि आज भारत की किसी भाषा या साहित्य के सामने जवाबदारी का विराट प्रश्न उपस्थित है तो वह हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के सामने है। इस विषय की समस्या को हल करने के लिये हमें दूरदर्शिता, बुद्धि और हृदय की उदारता और कार्य-तत्परता इत्यादि अनेक गुणों की आवश्यकता है। क्योंकि आपको यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे सामने हिन्दू-राष्ट्र स्थापित करने का प्रश्न नहीं है। यदि प्रश्न इतना ही होता तो वह कोई बड़ी बात नहीं थी। प्रश्न हमारे सामने भारतीय-राष्ट्र स्थापित करने का है और इसी कारण हमारे लिये राष्ट्रसंगठन का काम अत्यंत कठिन हो रहा है। चाहे जो हो यदि हम संसार में जीना चाहते हैं तो हमें यह काम अवश्य करना पड़ेगा।

मेरे विद्वान मित्रों से मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं दिखाई देती, कि जिस जमाने से हम लोग गुजर रहे हैं वह सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, तथा राजनैतिक आंदोलन का काल है। वर्तमान काल की नई परिस्थितियोंने हमें अपने बहुत से पुराने सिद्धान्तोंकी यथार्थता और सार्थकता की परीक्षा करने की आवश्यकता सिद्ध कर के दिखला दी है। आज हम धर्मक्षेत्र में यह प्रश्न कर रहे हैं कि जीते जागते भारत के लिये सच्चा धर्म क्या होगा? आज हम यह प्रश्न कर रहे हैं कि भावी भारतीय समाज की बुनियाद समाज शास्त्र के किस सिद्धान्त पर डालना अधिक लाभदायक होगा। राजनैतिक क्षेत्र में हमारा यह प्रश्न है कि भारत की भारतीयता यहां किस शासनपद्धति के द्वारा सुरक्षित रह सकेगी? नैतिक प्रश्न हमारे सामने इस रूप में उपस्थित हो रहा है कि किन नैतिक गुणों का अवलंबन करके हमारा यह देश जातीय और अन्तर-जातीय जीवन संग्राम में विजयश्री का अधिकारी हो सकेगा। तब क्या इन प्रश्नों के साथ आप लोगों को यह प्रश्न सुनाई नहीं देता कि क्या इस अनेक भाषा-भाषी भारत की भारतीयता और राष्ट्रीयता बिना

*सन् १९२२ में मध्यप्रदेश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पंचम अधिवेशन, नागपुर में अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण।

एक राष्ट्रभाषा के स्थापित हो सकेगी? इस प्रश्न की आवाज इतनी ऊंची है कि कोई भी इस पर दुर्लक्ष्य नहीं कर सकता। इसे सुनना होगा और इस का उत्तर शब्दों में ही नहीं वरन कार्य रूप में देना होगा। मित्रो! राष्ट्र-भाषा के इस अभाव का परिणाम हमारे सार्वजनिक व्यापारों में हमें कितना सल रहा है यह आप सहृदय सज्जनों को विदित ही है। अभ्यस्त हो जाने के कारण कदाचित् आपको यह देखकर आश्चर्य न होता होगा कि आज लगभग ५० वर्षों से हमारे देश की राष्ट्रीय महासभा की कार्यवाहियां अंग्रेजी सरीखी विदेशी भाषा में की गई हैं। क्या यह भारतीयों के लिये लज्जा, ग्लानि और असंतोष का विषय नहीं है कि देश के एक प्रान्त का मनुष्य दूसरे प्रान्त के अपने देश-भाई से प्रेम संभाषण करना चाहे तो उसे एक विदेशी भाषा की शरण लेनी पड़ती है। इससे बढ़कर परिताप का विषय और क्या हो सकता है कि दो भारतीय हृदय एक हो कर भी भाषा के अभाव से दो बने हुए हैं। मैंने अपने देशभक्त भाईयों को यह उद्गार निकालते हुए सुना है कि भारत की अनेकता दूर करके एकता स्थापन करना हमारा पहिला कर्तव्य होना चाहिये। इसके उत्तर में मेरा इतना ही निवेदन है कि भारतीय हृदय में अनेकता नहीं है। भारतीय संस्कारों में अनेकता नहीं है, अनेकता भारतीय भाषाओं में है। भारतीय भाषाओं की यह अनेकता ही हमारे कलिमय विभिन्नता का कारण हो रही है। राष्ट्रीय भाषा के इस अभाव के कारण ही आज हम यथार्थ में एक होते हुए भी अनेक हो रहे हैं। सर्व सुलभ राष्ट्रीय साहित्य के संताप-जनक इस अभाव ही के कारण हमें अपने भारतीय भावों और संस्कारों को विदेशी भाषा का बेढंगा विकृत और अस्पष्ट रूप देना पड़ता है। क्योंकि जातीय भाव जातीय भाषा में ही सर्वतोभावेन अलंकृत किये जा सकते हैं, विदेशी भाषा में नहीं। कहने का सारांश इतनाहीं है कि राष्ट्रिय भाषा का एक अभाव ही हमारी पतनशीलता और सर्वनाश का कारण हो सकता है।

मैं पहले आप लोगों से यह निवेदन कर चुका हूं कि राष्ट्रीय भाषा का यह महत्व विशेष कर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिये अत्यन्त चितायुक्त मनन का विषय है। क्यों कि राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप निश्चित करने का सौभाग्य इस देश के अन्यान्य भाषा-भाषियों की अनुमति से उन्हें ही प्राप्त है। क्योंकि भारत की अन्यान्य भाषायें अपनी संपत्ति-शालीनता के मद में एक बार क्षणिक हिन्दी की ओर भले ही उपहास की निगाह से देखें परन्तु भारत के सबसे ऊंचे राष्ट्रीय सिंहासन पर बैठने का साहस आज तक उनमें से किसी ने भी प्रगट नहीं किया है। वह स्थान हिन्दी के लिये खाली पड़ा हुवा है। हिन्दी प्रेमी अपनी भाषाको उस योग्य बनावें और अपने साहित्य प्रेम की यथार्थता सिद्ध करें। यहीं उनकी परीक्षा होनेवाली है। इसी प्रयत्न में वे राष्ट्र का सच्चा हित-संपादन कर सकते हैं।

भारतीय राष्ट्र-निर्माण के इस काल में इस साहित्य-सम्मेलन के सामने हिन्दी-कलेवर-पुष्टि का प्रश्न उतने महत्व का मुझे नहीं दिखाई देता जितना कि उस के प्रचार का प्रतीत होता है। एक हिन्दी भाषा के अखिल भारत-वर्षीय हो जाने पर उसके साहित्य की श्रीवृद्धि का प्रश्न कुछ कठिन नहीं रह जाता। विचार कीजिये कि बंगाली, मरहठी, गुजराती इत्यादि भारतवर्ष की भिन्न भिन्न भाषाओं में जितने शिक्षित और विद्वान लोग हैं वे यदि अपनी भाषाओं के साहित्य की ओर ध्यान देते हुवे भी राष्ट्र भाषा के नाते यदि हिन्दी में एकाध ग्रंथ ही लिख देते तो आज दिन हिन्दी साहित्य की काया इतनी निर्बल और क्षीण न दिखाई देती। इसीलिये मेरी यह निश्चित धारणा है कि केवल हिन्दी के प्रचार की आवश्यकता है। एक बार उसमें राष्ट्रीयता आ गई कि फिर थोड़े दिनों में ही उसका साहित्य-सरोवर निर्बन्ध होकर सारे हिन्दुस्थान को परिप्लुत करेगा। कल्पना के द्वारा थोड़ी देर के लिये यदि हम भाषाओं के भेदको मिटा दें तो हमारे देश में साहित्य की कमी हमें नहीं दिखाई देगी। साहित्य पर्याप्त है, परन्तु भिन्न भिन्न भाषाओं में बट जाने के कारण हमें उसकी विशालता नहीं दिखाई देती।

इसी प्रसंग में मैं राष्ट्रीय-महासभा से भी एक अनुरोध करूंगा। कौंग्रेस ने गत दो वर्षों से जो अपना कार्यक्रम निश्चित किया है उसका प्रधान उद्देश इस देश को एकता के सूत्र में बांध कर जातीयता स्थापन करते हुए स्वावलंबी बनाना है। अस्पृश्य जातियों के उद्धार का सामाजिक प्रश्न उठा कर वह इस देश में सच्ची सामाजिकता स्थापन करने का प्रयत्न कर रही है। चरखे का प्रचार करने के प्रयत्न में वह देश की आर्थिक दुरवस्था को दूर करने में प्रयत्न-शील है। मद्यपान निषेध में वह एक नैतिक समस्या को हल कर रही है। हिंसारहित असहयोग में वह धर्म के आधार पर इस देश को स्वावलंबी बनाना चाहती है। इस तरह राष्ट्रीय निर्माण के कार्य को सफलता पूर्वक पूरा करने के लिये वह सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, आत्मिक तथा धार्मिक इत्यादि सभी तरह के सुधारों में दत्तचित हो कर संलग्न है और इतने थोड़े समय में उसने सफलता भी अच्छी प्राप्त की है। परन्तु मेरी समझ में यह अभीतक नहीं आया कि इस महासभा ने राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न उठाना और सारे भारतवर्ष को एक भाषा-भाषी बनाने का प्रयत्न करना क्यों आवश्यक नहीं माना। यदि स्वराज्य प्राप्त करने के पहिले अपने को स्वराज्य करने के योग्य बनाना एवं जातीयता स्थापित करना आवश्यक है तो अवश्यमेव राष्ट्रभाषा के इस प्रश्न की अवहेलना न की जानी चाहिये।

क्योंकि बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्रीयता स्थापन करने का प्रयत्न करना एक ऐसी असंगत बात है जिस का समर्थन कोई भी विचारवान मनुष्य नहीं कर सकता। यदि प्रत्येक स्त्री और पुरुष के लिये चरखा चलाना अनिवार्य और आवश्यक माना गया है तो प्रत्येक स्त्री और पुरुष के लिये राष्ट्रभाषा जानना आवश्यक क्यों नहीं माना जा सकता। जिस तरह हम लोगों ने अपने शरीर और अवयवों को विदेशी पोशाकों से विकृत और अभारतीय बना डाला है, उसी तरह हमारे हृदय के विचार और भारतीय भाव भी विदेशी भाषा की अभारतीय पोशाक से विकृत और बेढंगे हो रहे हैं। शरीर के लिये यदि स्वदेशी वस्त्रों की आवश्यकता मानी गई है तो विचारों के लिये भी राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वदेशी वस्त्रों की उतनी ही आवश्यकता है। मेरे कहने का इतना ही आशय है कि कांग्रेसने अपने कार्यक्रम में जिस तरह और और विषयों का समावेश किया है उसी तरह राष्ट्र-भाषा-प्रचार का विषय भी उस में सम्मिलित होना चाहिये क्यों कि यह विषय उतने ही महत्त्व का है, जितने कि अन्यान्य विषय माने गये हैं।

हिन्दी की क्षमता.—इस देश के अन्य भाषा-भाषी विद्वानों की राय प्रायः अब तक निश्चित हो गई है कि भारतीय अन्यान्य भाषाओं में राष्ट्र-भाषा होने की अधिकारिणी हिन्दी ही है। आज तक इस विषय पर अनेक वाद विवाद हो चुके हैं और अन्त में यह मत स्थिर हुआ है। अतएव यहां पर मैं हिन्दी की योग्यता सिद्ध करने का यत्न करना अनावश्यक समझता हूं क्योंकि यह विषय इतना विस्तृत है कि कदाचित इस लेख में इस की मीमांसा की जावे तो यह लेख बढ़ जायगा और दूसरे महत्व के विषयों के लिये समय बहुत कम रह जायगा। सिवाय इसके मैं यह भी समझता हूं कि यदि मैं इस विषय पर कुछ विचार भी करना चाहूं और हिन्दी की श्रेष्ठता सिद्ध करने में साधक तथा बाधक प्रमाणों की विस्तारपूर्वक चर्चा करूं तो कोई ऐसी बात न कह सकूंगा जो आप लोगों के लिये नई हो क्योंकि इस विषय पर इतना अधिक विचार समय समय पर किया गया है कि कहने और सुनने योग्य अब कोई नई बात मेरे समान संकुचित बुद्धिवाले मनुष्य को नहीं दिखाई देती। इस दृष्टि से मेरा यह प्रयत्न केवल पिष्टपेषण मात्र ही होगा। तथापि जब कि प्रसंग आ ही गया है तो बहुत थोड़े शब्दों में उसकी योग्यता दिखलाने का प्रयत्न करूंगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि हिन्दी भाषा ही राष्ट्र भाषा होने के योग्य क्यों है ?

इसका सब से पहला उत्तर यह होगा कि इस देश में अधिकांश लोग हिन्दी ही बोलते हैं और उससे अधिक लोग उसे समझ सकते हैं।

दूसरा उत्तर यह होगा कि यही एक ऐसी भाषा है जो सब से सरल है और अन्य भाषा-भाषी लोग इसे और भाषाओं की अपेक्षा बहुत कम परिश्रम से सीख सकते हैं।

तीसरा कारण इस की योग्यता का यह है कि इस भाषा की लिपि जितनी निर्दोष है उतनी कदाचित् एतद्देशीय किसी भी भाषा की लिपि नहीं है। देवनागरी लिपि में यह विलक्षण विशेषता है कि शब्दों का जिस तरह उच्चारण किया जाता है ठीक उसी तरह वह लिपिबद्ध भी हो सकता है।

चौथा गुण इस में समता का है। चाहे किसी भी भाषा का कैसा भी बेढंगा और कठिन शब्द क्यों न हो इस की लिपि में ठीक ठीक लिखा और पढ़ा भी जा सकता है।

भाषा की व्यापकता और सरलता और लिपि की निर्दोषता और समता इन गुणों के कारण हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा होने का अधिकार प्राप्त है यह बात विद्वानों को मान्य हो चुकी है, इसीलिये मैंने स्वाभिमान पूर्वक कई स्थानों में हिन्दी के लिये राष्ट्र-भाषा शब्द का उपयोग किया है।

इस सम्बन्ध में आप लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य के हृदय में जब तक क्षुद्रता और संकीर्णता बनी रहती है तब तक वह बड़प्पन का अधिकारी नहीं हो सकता। सच्ची महत्ता उसी मनुष्य की है जिसके बुद्धि और हृदय महान् हैं जिस की विचारशक्ति संकीर्णता की जंजीरों से मुक्त है और जो प्रत्येक काम दूरदर्शी और व्यापक बुद्धि से किया करता है। संकुचित हृदय का मनष्य स्वामी तथा सम्राट् होने योग्य नहीं हो सकता, उसके लिये दासता और गुलामी ही उचित है। मेरे कहने का आशय इतना ही है कि जिस समय हम हिन्दी भाषा को राष्ट्र-भाषा का अत्यन्त महत्त्व और गौरवपूर्ण स्थान देने का विचार कर रहे हैं उस उस समय हमें यह भी सोच लेना चाहिये कि इसमें कहीं संकीर्णता का दोष तो नहीं है। इसका हृदय तो महान है। उसमें अन्यान्य भाषाओं से उदारता-पूर्वक प्रेम संभाषण करने की मनोवृत्ति तो उत्पन्न हो चुकी है। हिन्दी को इस गौरव के स्थान पर आरूढ होने के पहिले अपने हृदय की इतनी तयारी कर लेना चाहिये। अन्यथा वह राष्ट्र-भाषा के सिंहासन को अलंकृत न कर सकेगी और उस का उपहास होगा। उसके सारे गुण दोष में परिणित हो जायंगे।

मैं यह कहना चाहता हूं कि जो लोग हिन्दी भाषा को इतनी अछूती बनाकर रखना चाहते हैं कि दूसरी भाषाओं से एक शब्द भी इस में नहीं आने देते, उनकी कदाचित् यह धारणा है कि भिन्न भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में समाविष्ट करने से उन की पवित्रता नष्ट हो जायगी। इसलिये जब वे साहित्य की हिन्दी लिखते हैं तब तो ढूंढ ढूंढ कर चाहे संस्कृत के कठिन शब्दों को अपने उपयोग में भले ही लावें परन्तु दूसरी भाषा का प्रचलित शब्द एक भी नहीं आने देते क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा करने से हिन्दी का हिन्दीपन नष्ट हो जायगा और उसकी शुद्धता में दोष आ जावेगा। यह बात विशेष कर हिन्दी और उर्दू के संबंध में दिखाई देती है। उर्दू भाषा-भाषी यदि हिन्दी के प्रति इस तरह का व्यवहार प्रगट करें तो वह किसी अर्थ में क्षम्य है, परन्तु राष्ट्र-भाषा होने का दावा रखने वाली हिन्दी भाषा को हृदय की यह संकीर्णता शोभा नहीं देती। यह केवल शोभा देने या न देने का विषय नहीं है इससे हिन्दी की लोकप्रियता पर आघात पहुंच सकता है। यदि हिन्दी सर्व सुलभ और लोकप्रिय भाषा होना चाहती है तो उसे चाहिये के वह अपने हृदय की ऐसी अनुदारता को दूर कर के सभी तरह के प्रचलित और लोकप्रिय शब्दों को लेकर उन पर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा दे और इस तरह मानवी मनोविकारों को सुचारू रूपेण प्रगट करना अभीष्ट समझे। प्रत्येक जीती जागती और उन्नतिशील भाषा का यही गुण धर्म होना चाहिये। संसार की प्रायः सभी बड़ी बड़ी और संपत्तिशील भाषाओं में यह विशेषता आप लोगों के देखने में अवश्य आयगी। अंग्रेजी भाषा का साहित्य कितना विस्तारयुक्त और विलक्षण है यह आप जानते ही हैं। इस भाषा में भी आप को यह विशेषता बड़ी चढ़ी हालत में मिलेगी। परन्तु मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि हमारे कतिपय मित्रों की धारणा इस संबंध में बिलकुल बिपरीत है। मेरी राय में यह हृदय की संकीर्णता के सिवाय कुछ भी नहीं है। हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के प्रयत्न में हमें हृदय की कमजोरी को बिलकुल दूर कर देना होगा।

जिन लोगों को हिन्दी की इस कल्पित पवित्रता का हमेशा ध्यान रहता है उनसे मेरी जिज्ञासा है कि क्या वे सचमुच ऐसा समझते हैं कि हिन्दी सारे देश की राष्ट्र भाषा हो कर भी अपरिवर्तित बनी रहेगी? क्या उसके रूप में जरा भी फरक न होगा? क्या आज से हजार वर्ष आगे की राष्ट्रभाषा हिन्दी उसी रूप में आपको मिलेगी जिस रूप में वह आज लिखी और पढ़ी जाती है। मैं समझता हूं कि ऐसा हरगीज नहीं हो सकता। मेरा यह अनुमान है कि आजसे हजार वर्ष आगे की हिन्दी में जो रूपान्तर होगा उसमें उसका वर्तमान रूप नष्ट हो जावेगा किन्तु उसमें सच्ची राष्ट्रीयता दिखायी देगी। यही बात आज कल की बोलचाल की हिन्दीमें भी देखनेमें आती है। शुद्ध हिन्दी लिखी तो अवश्य जाती है, किन्तु बहुत कम बोली जाती है। इसलिये बोलचाल की इस भाषा को लिखी जाने वाली हिन्दी से अलग करनेके लिये उसे दूसरा नाम "हिन्दुस्तानी" प्राप्त हो गया है। मेरी राय है कि उर्दू मिश्रीत हिन्दी के लिये दूसरे नामकरण की आवश्यकता नहीं है। उसे हिन्दी कहना चाहिये और जहां तक हो सके लिखी जानेवाली हिन्दी भाषामें भी इसी तरह की भाषा का प्रयोग होना चाहिये।

मेरे कहनेका आशय यह नहीं है कि हिन्दी अपने स्वरूप को इतना परिवर्तित कर दे कि उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो जावे और अपने वर्तमान की सारी विशेषता वह खो बैठे। जिस समय में यह कह रहा हूं कि हिन्दी को उन्नतिशील होते हुये परिवर्तनशील और उदार होना चाहिये उस समय में यह आशय प्रगट करना चाहता हूं कि उसमें एक जीती जागती और प्रौढ़ भाषा की विशेषतायें आजानी चाहिये। इससे उसके व्यक्तित्व के नष्ट हो जाने की आशंका जरा भी नहीं है, प्रत्युत उसकी शालीनता और प्रभुता के बढ़ जाने की ही संभावना है।



इतिहास

पुरातत्व



जगदधिपतिजाया रुक्मिणी यत्र जाता
विलसति दमयन्त्या जन्मभूर्यत्र सत्याः ।
निविडवननिवासः पाण्डवानाञ्च यत्र
जगति विदितकीर्तिः पावनोऽयम् प्रदेशः ॥
नृपकमलदिनेशो वीरसम्राडशोको
भुवनविदितनामा कर्णदेवस्त्रिपुर्याः ।
जनगणहृदयेशो रत्नदेवोनृपालः
स्मृतिभिरिह न एषां स्यात्प्रशस्तस्तु पंथाः ॥

—श्री शिवनाथ मिश्र

मध्यप्रदेश का इतिहास और पुरातत्त्व
[संक्षिप्त परिचय]

श्री बालचन्द्र जैन

मध्यप्रदेश भारत भूमि के मध्य में स्थित है, इसलिए भारत की तमाम प्रमुख राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का इस भू-भाग पर सदा ही प्रभाव पड़ता रहा है। प्राचीन काल में जब रेलों और सड़कों का इतना सुव्यवस्थित विस्तार न था, तब उत्तर और दक्षिण तथा पूरब और पश्चिम का पारस्परिक आदान-प्रदान मध्यप्रदेश के माध्यम से ही होता था। यों कहें कि मध्यप्रदेश उत्तर और दक्षिण के सम्मेलन का केन्द्र था, उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय संस्कृतियों के संगम की भूमि था।

प्राचीन काल में मध्यप्रदेश का बहुत सा हिस्सा दण्डकारण्य कहलाता था। उसके पूर्वी भाग में कोसल, दक्षिण कोसल या महाकोसल का राज्य स्थित था, जिसे अब छत्तीसगढ़ कहते हैं। उत्तरीय जिले माहिषमंडल और डाहलमंडल में विभाजित थे। महिषमंडल की राजधानी निमाड़ में माहिष्मती (आधुनिक मांधाता) में थी और डाहलमण्डल की राजधानी जबलपुर के निकट त्रिपुरी में। बरार को प्राचीन काल में विदर्भ कहते थे। नागपुर और चांदा के आसपास का प्रदेश कभी विदर्भ के अन्तर्गत और कभी कोशल के अन्तर्गत रहता था। अनूप, अवन्ति, दशार्ण, ओड्र और कलिंग की सीमाएँ वर्तमान मध्यप्रदेश से लगी हुई थीं। इनके अनेक टुकड़े अब मध्यप्रदेश के अंग बन चुके हैं।

मध्यप्रदेश के इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन करने में हमें निम्नलिखित साधनों से छुटपुट सहायता मिलती है :—

(१) साहित्य—वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध और इतिहास-साहित्य।

(२) विदेशी यात्री ह्यू नत्सांग का यात्रा विवरण।

(३) पुरातत्त्व—उत्कीर्ण लेख, सिक्के, स्थापत्य और शिल्प।

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद, ये चार वेद तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और श्रौतसूत्र सम्मिलित हैं। इन सब में ऋग्वेद को भाषा विज्ञान के आधार पर सबसे प्राचीन माना गया है। रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कालीन राजवंशावलियों का उल्लेख मिलता है। जैन और बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में भी इसी प्रकार अनेक सूचनाएँ मिल जाती हैं। राजशेखर कृत "विद्धशालभंजिका" नाटक, पद्मगुप्त कृत "नवसाहसांक चरित", कृष्णमिश्र कृत "प्रबन्ध चन्द्रोदय", मेरुतुंग कृत "प्रबन्ध चिन्तामणि", सोमेश्वर कृत "रासमाला" आदि ग्रन्थों से भी मध्यप्रदेश के तत्कालीन इतिहास और सभ्यता पर प्रकाश पड़ता है।

पुरातत्त्व ने भारतीय इतिहास की कड़ियां जोड़ने में बड़ा काम किया है। यही बात मध्यप्रदेश के इतिहास के लिए भी लागू होती है। शिलालेख, सिक्के, स्थापत्य और शिल्प सभी पुरातत्त्व के अन्तर्गत हैं। शिलालेखों से न केवल राजनैतिक स्थिति का ही ज्ञान होता है अपितु तत्कालीन लिपि और भाषा पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दानपत्रों से राजकीय व्यवस्था, शासन प्रणाली और राजस्व आदि के संबंध में अनेक सूचनाएँ मिलती हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से हमें चौथी शताब्दी के मध्यप्रदेश के उन राजाओं के संबंध में सूचना मिलती है, जिनका उल्लेख हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सिक्कों ने भी इतिहास की शृंखला को जोड़ने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। त्रिपुरी, एरकिण और भागिला जैसे मध्यप्रदेश के प्राचीन जनपद राज्यों का अस्तित्व सिक्कों के बल पर ही सिद्ध हो सका है। इसी प्रकार शातवाहन राजाओं की वंशावली की गुत्थी चांदा और अकोला जिले से प्राप्त उन राजाओं के सिक्कों ने ही

सुलभाई है। प्राचीन मंदिर, महल, दुर्ग, मूर्ति, चित्र आदि भी इतिहास के बड़े काम की वस्तु हैं। इनसे कला, संस्कृति और धर्म प्रचार के संबंध में बहुत सूचनाएँ मिलती हैं। सातवीं शती ईस्वी में चीनी यात्री ह्यूनत्सांग ने मध्य-प्रदेश के अनेक स्थानों की यात्रा की थी। उक्त यात्रा का विवरण उसने पुस्तक रूप में लिख छोड़ा है। उससे यहां की लोक संस्कृति, बौद्ध विहार और लोगों के आचार-विचारों के संबंध में अनेक बहुमूल्य सूचनाएँ मिली हैं।

प्रागैतिहासिक अवशेष

आधुनिक विचारकों का मत है कि मनुष्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में निपट असभ्य और असंस्कृत था। उन दिनों के मनुष्य और पशु में कोई अन्तर न था। पशुओं की भांति मनुष्य भी वनों, पर्वतों और नदी-घाटियों में विचरा करता और कन्द-मूल-फल खाकर या अन्य पशुओं का आखेट कर के अपना पेट भरता था।

पाषाण युग

इतने पर भी, सोचने और विचारने की शक्ति तो मनुष्य में प्रारंभ से ही विद्यमान थी। उसने धीरे-धीरे इस शक्ति का उपयोग करना प्रारंभ किया। आसानी से भोजन प्राप्त किया जा सके, इसके लिए उसने नदियों में प्राप्त होने वाली बट्टियों को तोड़-फोड़ कर उन्हें नुकीला बना कर उनके औजार और हथियार बनाए। इन औजारों और हथियारों का कोई एक आकार नहीं होता था और न ही उनमें कोई खास कारीगरी की गुंजाइश थी। हां, इतना अवश्य था कि जिस उद्देश्य को लेकर उनका निर्माण किया जाता, वह उद्देश्य उनसे अवश्य ही पूरा हो जाता था।

इस प्रकार के पत्थर के भद्दे औजार और हथियार जिस काल के मानवप्राणी ने निर्मित किए, उस काल को हम पाषाण युग कहने लगे हैं। पाषाण युग के विकास को दृष्टि में रखते हुए इस युग को तीन खंडों में विभाजित कर दिया गया है, जैसे—पूर्व-पाषाण युग, मध्य-पाषाण युग और उत्तर-पाषाण युग।

पूर्व-पाषाण युग का मध्यप्रदेश, दक्षिण और उत्तर भारत के तत्कालीन औजार-उद्योग का मिलन केन्द्र था। जो औजार दक्षिण भारत में बनते थे, उनके नमूने कदाचित् यहां से होकर ही उत्तर भारत में जाते थे और उसी प्रकार उत्तर भारत के औजारों की खबर पहले मध्यप्रदेश को लगती थी फिर दक्षिण भारत को। नर्मदा घाटी पाषाणयुगीन मानव-सभ्यता के विकास की मुख्य भूमि थी। उस काल के सबसे अधिक औजार नर्मदा घाटी में ही प्राप्त होते हैं। नरसिंहपुर के निकट भुतरा नामक स्थान से जो पाषाण के औजार प्राप्त हुए हैं, वे स्यात् मध्यप्रदेश के सब से प्राचीन औजार हैं।* वे मनुष्य की उस प्रारम्भिक अवस्था के औजार हैं, जब वह बिना बेंट की पत्थर की कुल्हाड़ियों से कंद मूल आदि खोदा और छीला करता था। इन औजारों के साथ तत्कालीन प्राणियों की अस्थियां भी प्राप्त हुई थी, जिनसे तत्कालीन प्राणिविज्ञान के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिली है।

देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने पाषाणयुगीन अवशेषों की खोज करने के लिए नर्मदा घाटी के अनेक स्थानों का पर्यटन किया है। येल और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों की ओर से ईस्वी सन् १९३२ में विशेषज्ञों का एक दल यहां आया था। उसने होशंगाबाद और नरसिंहपुर के बीच के १३ स्थानों की पड़ताल की थी और इस पड़ताल में उन्हें अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएं प्राप्त हुई थीं। † काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से श्री मनोहरलाल मिश्र ने भी यहां के बहुत से स्थानों की जांच की थी। ‡ इस प्रकार ईस्वी सन् १८७३ से लेकर होशंगाबाद और नरसिंहपुर के बीच के स्थानों की अनेक बार खोज हुई और वहां से प्रचुर संख्या में पाषाणयुगीन औजार एकत्र किए गए जो अब देश-विदेश के भिन्न-भिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। नागपुर जिले के कलमेश्वर और भंडारा जिले के नवेगांव नामक स्थानों से प्राप्त औजारों के नमूने नागपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। चूंकि ये औजार अधिकतर नदी किनारे ही प्राप्त होते हैं,

---

* रिकार्ड्स् आफ जिओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, जिल्द ६।
ब्राउन : केटलाग ऑफ प्रिहिस्टारिक एन्टिक्विटीज इन द इंडियन म्यूजियम, फलक ६।

† डेटेरा और पीटरसन : स्टडीज इन आइस एज, पृष्ठ ३१३–३२६।

‡ प्रोसीडिङ्गज आफ इंडियन एकेडमी आफ साइन्सेज १०–४, पृष्ठ २७५–२८५।

इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यप्रदेश का पूर्व-पाषाणयुगीन मानव अपने समय के अन्य प्रदेशों के मानव की भांति नदी किनारे बसना ही अधिक पसंद करता था। ऐसा करने में उसे अनेक सुविधाएं थीं। पानी पीने के लिए आने वाले पशुओं का वह आसानी से आखेट कर सकता था, स्वयं के लिए जल प्राप्त करने भी उसे दूर नहीं जाना पड़ता था। कभी-कभी वह पर्वतीय गह्वरों में भी अपना डेरा डाल देता था, यदि उसके निकट ही कहीं कोई पानी का झरना हो।

पूर्व पाषाण युग के अनंतर मध्य पाषाण युग आया लेकिन इस युग का प्रतिनिधित्व करने वाले औजार या अन्य वस्तुएं मध्यप्रदेश में कम ही मिलती है। इसके विपरीत उत्तर पाषाण युग के अवशेषों में मध्यप्रदेश बड़ा धनी है। उत्तर-पाषाण युग के औजार कब से बनने लगे अथवा कब से उत्तर-पाषाण युग का प्रारंभ हुआ, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इस युग के औजार अपने पूर्ववर्ती युग के औजारों से इस आधार पर अलग किए जा सकते है कि ये कुशलतापूर्वक तराशे हुए हैं और बने भी ढंग के हैं। पहले के समान बिना बेंट की कुल्हाड़ी, हथौड़े और अन्य औजार इस समय भी बनते रहे। सागर जिला इन औजारों की प्राप्ति के लिए खूब प्रसिद्ध है।* जबलपुर जिले तथा अन्य स्थानों से भी ये औजार प्राप्त हुए है, जिनमें से बहुत से कलकत्ता के इंडियन म्यूजियम में सुरक्षित है।‡

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में भी इन प्रकार के बहुत से औजार प्राप्त हुए है, जिनसे विदित होता है कि उस काल में समूचे भारतवर्ष में एक व्यापक संस्कृति का विस्तार था। इस समय तक मनुष्य बहुत कुछ व्यवस्थित हो चुका था। वह स्थिर रूप से एक स्थान पर बसने का आदी हो चला था। पूर्व पाषाण युग और मध्य पाषाण युग का मानव एक स्थान पर स्थिर हो कर कभी नहीं रहता था, बल्कि वन्य पशुओं की भांति विचरता ही रहता था ; वह भोजन पैदा नहीं करता था ; ढूंढता था। लेकिन उत्तर पाषाण युग में स्थिति में काफी सुधार हो चुका था। अब मानव प्राणी मेहनत कर के खाद्य पदार्थ उपजाने लगा था। इस प्रकार खेती किसानी के कार्य का प्रारंभ आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ।†

खेती-किसानी सीख लेने के बाद मानव जाति के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह किसी एक स्थान विशेष पर तबतक जम कर रहे जबतक फसल तैयार होकर काटने लायक न हो जाए। और जब इस प्रकार खेती करने की आदत पड़ गई तो मनुष्य के मन में सम्पत्ति इकट्ठी करने की भावना भी जागी। वह पशु पालने लगा। बाल-बच्चों के आराम और सुविधा के लिए झोपड़ी बनाने लगा। जब बहुत से परिवार एक स्थान पर झोपड़ियां बना कर रहने लगे तो वह गांव बन गया। फिर दूसरे गांवों के लोगों और दूसरी जातियों से सम्पर्क होना प्रारंभ हुआ और इस प्रकार रीति-रिवाजों तथा संस्कृति का परस्पर आदान-प्रदान एवं समन्वय बढ़ा। नर्मदा घाटी की सभ्यता और सिंधु घाटी की सभ्यता निश्चित रूप से भिन्न-भिन्न सभ्यता थी, किन्तु यह संभव है कि पिछले काल में जब दोनों घाटियों की सभ्यता और संस्कृति का परस्पर संपर्क बढ़ा तो उनके बीच एक दूसरे के विचारों और कला कौशल का आदान-प्रदान प्रारंभ हुआ।

ताम्रयुग

पाषाणयुग के बाद ताम्रयुग आया और उसके बाद लौहयुग। ताम्रयुग में पत्थर के औजारों के स्थान पर तांबे के औजार बनाये जाने लगे थे। ये औजार इतनी अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं कि हमें मानना ही पड़ता है कि कोई एक युग ऐसा भी था जिसमें औजार आदि तांबे के ही बनते थे। औजारों और हथियारों के निर्माण के लिए लोहा सबसे उपयुक्त धातु हैं क्योंकि वह मजबूत और टिकाऊ होता है। यदि ताम्रयुग न रहा होता तो तांबे के औजार

---

* ब्राउन : केटलाग आफ प्रिहिस्टारिक एंटिक्विटीज इन इंडियन म्यूजियम, फलक ४।
प्रोसीडिंग्ज आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १८६७।

‡ वही।

† बी. बी. लाल : आर्कलाजी इन इंडिया, पृष्ठ १७।

भला क्यों बनते ? कुछ विद्वानों का मत है कि जब आर्यों ने सप्तसिन्धु से पूर्व और दक्षिण की ओर अपना विस्तार किया तो उनके साथ-साथ तांबे के औजार भी उन-उन स्थानों में पहुंचे। लेकिन इस कथन का कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हो सका और न ही हमें अभीतक ऐसे अन्य कोई अवशेष प्राप्त हो सके हैं जिनके आधार पर अनार्य सभ्यता और ऐतिहासिक युग के बीच की खाई को पाटा जा सका। हमें आशा करनी चाहिए कि भविष्य में कभी पुरातत्त्व-विज्ञों को किसी ऐसे स्थान की खुदाई करने का प्रसंग पड़ेगा जहां पाषाणयुग से लेकर प्रारंभिक ऐतिहासिक युग तक की सभ्यताओं के अवशेष एक के बाद एक मिल जाएं। लेकिन यह सम्भव तभी है जब उन स्थानों की वैज्ञानिक ढंग से खुदाई की जाए जहां से ताम्रयुग के औजार उपलब्ध हुए हैं जैसे मध्यप्रदेश में बालाघाट के जंगल प्रान्त या जबलपुर-होशंगाबाद के बीच के भिन्न-भिन्न स्थान। जबलपुर के निकट के एक स्थान से ईस्वी सन १८६६ में एक कुल्हाड़ी प्राप्त हुई थी जो एक हिस्सा टिन और सात हिस्सा तांबे की बनी हुई थी।* बालाघाट जिले के गुंगेरिया नामक गांव के निकट तांबे के औजारों का एक बड़ा समूह ईस्वी सन १८७० में अनायास ही प्राप्त हो गया था। गांव के दो लड़के ढोर चराने गए। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि भूमि में लोहे जैसी कोई वस्तु गड़ी हुई है। उन्होंने उसे पकड़कर खींचा तो वह कोई औजार निकला। जब और मिट्टी हटाई गयी तो और भी औजार निकले। बाद में जब उस स्थान की ढंग से खुदाई की गई तो ४२४ तांबे के औजार एवं १०२ चांदी के आभूषण प्राप्त हुए। तांबे की समस्त वस्तुओं का वजन लगभग डेढ़ मन था और चांदी की वस्तुएं कुल एक सेर निकली।+

विशालकाय चट्टानों के आवास

इसी काल के लगभग के विशालकाय चट्टानों के आवासगृह भी मध्यप्रदेश में बहुत मिलते हैं। वे अधिकतर चांदा, भंडारा, नागपुर, द्रुग और छिंदवाड़ा जिले के भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमान हैं। इन आवासगृहों में चाकू, छुरियां, तलवार, बाण और मिट्टी के बर्तनों जैसी वस्तुएं मिली हैं। इन वस्तुओं की प्राप्ति से यह अनुमान लगाया जाता है कि इन आवासों का उपयोग शव विसर्जित करने के लिए होता था और शव के साथ ही मृत व्यक्ति की प्रिय वस्तुएं इनमें रख दी जाती थीं।†

शिलाचित्र

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रागैतिहासिक काल का मानव पर्वत-गह्वरों को अपना निवास स्थान बनाने लगा था। अपने निवासगृह को अलंकृत बनाना हर एक को प्रिय होता है। प्रागैतिहासिक मानव ने भी अपने निवास स्थानों को अलंकृत करने के उद्देश्य से इस गह्वरों को तरह-तरह के चित्रों से सजाया। इन चित्रों के विषय अक्सर वही होते हैं जो उक्त मानव के चतुर्दिक विद्यमान थे। जैसे पशुओं का आखेट, दो दलों की लड़ाई आदि आदि। इन चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका चित्रण अतिशय रूप से स्वाभाविक हुआ है। होशंगाबाद और रायगढ़ जिले इस प्रकार की चित्रकला के मुख्य केन्द्र हैं। रायगढ़ जिले में कबरा पहाड़ और सिघनपुर की गुफाओं में तथा होशंगाबाद जिले में आदमगढ़, पचमढ़ी तथा उसके आसपास के अनेक स्थानों में ये चित्र आज भी देखे जा सकते हैं।

कबरा पहाड़ रायगढ़ से लगभग १० मील की दूरी पर आग्नेय कोण में स्थित है। यहां की सारी की सारी चित्रकारी लाल रंग से हुई है। छिपकली, घड़ियाल, सांभर तथा अन्य उनमें पशु और पंक्तिबद्ध मनुष्यों के चित्र यहां की दर्शनीय वस्तु है। इन के अलावा कुछ प्रतीकात्मक चित्रण भी यहां हैं किन्तु उनका संकेत क्या है यह कह सकना कठिन है।‡

सिघनपुर क गुफाचित्र रायगढ़ से १२ मील की दूरी पर है किन्तु कबरा पहाड़ से विपरीत दिशा में। वहां पहुंचने के लिए दक्षिण पूर्व रेल्वे के भूपदेवपुर नामक स्टेशन पर उतरना होता है। भूपदेवपुर से सिघनपुर दो-ढाई मील है। जिस

---

* प्रोसीडिङ्ग्ज आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल १८६६। इंडियन एन्टिक्वरी १९०५।

+ ब्लूमफील्ड:—गुंगेरिया फाइन्ड आफ कापर सेल्ट्स।

† मध्यप्रदेश के संरक्षित स्मारकों की सूची और कनिंघम की रिपोर्टों में इनके विवरण हैं।

‡ गार्डन—साइन्स एण्ड कल्चर के ५ पृष्ठ, २६९-७०।

पहाड़ी में ये चित्र चित्रित हैं वह गांव से लगी हुई है। पहाड़ी पर दो गुफाएं हैं जो २५-३० फुट गहरी और लगभग १५ फुट चौड़ी हैं। तीसरी गुफा जिसे चट्टान का बना आश्रम कहना अधिक उपयुक्त होगा, बड़े महत्व की है क्योंकि यही वह गुफा है जिसमें ये विश्वविख्यात चित्र चित्रित हैं। इन चित्रों की चित्रकारी गहरे लाल रंग की है। ईस्वी-सन् १६१० में एक रेल्वे के इंजीनियर ने सबसे पहले इनका पता पाया था। इन चित्रों में चित्रित मनुष्य आकृतियां कहीं तो सीधी और डंडेनुमा हैं और कहीं सीढ़ीनुमा। यों कहिए कि आड़ी सीधी लकीरें खींचकर मनुष्यों की आकृतियां बना दी गई हैं। एक चित्र में बहुत से पुरुष लाठी डंडा ले लेकर किसी एक बड़े पशु का पीछा करते दौड़े जा रहे हैं। लोग दूर-दूर से दौड़े चले आरहे हैं और धावे में सम्मिलित हो रहे हैं। पास ही एक छोटे पशु ने एक व्यक्ति को मुठ़फेरी है। कितना स्वाभाविक चित्रण है! *

पचमढ़ी मध्यप्रदेश के चित्रान्वित गह्वरों का दूसरा केन्द्र है। यहां और इस के आसपास के स्थानों में ५० के लगभग ऐसी गुफाएं खोजी जा चुकी हैं, जिनमें प्रागैतिहासिक काल की चित्रकारी विद्यमान है. डोरोथी डीप, महादेव, बजार, जम्बूद्वीप, निम्बूभोज, बनियाबेरी, धुंआधार आदि वे स्थान हैं। अनेक विद्वानों ने पचमढ़ी के आसपास की चित्रकारी के संबंध में भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में विवरण प्रकाशित किए हैं। † पचमढ़ी से २० मील पर तामिया, २५ मील पर सोनभद्र और ४० मील पर भलई में भी इसी प्रकार की चित्रयुक्त गुफाएं देखी गई हैं। इन गुफाओं के चित्रों के विषय अक्सर ये हैं—जंगली पशुओं का हांका, दो दलों की आपसी लड़ाई (जो कभी पैदल ही होती थी और कभी घोड़े पर सवार होकर कभी तलवार और ढाल लेकर और कभी धनुषबाण लेकर) दैनिक जीवन के दृश्य भी इन चित्रों में खूब मिलते हैं जैसे एक स्थान पर गायों के खिरके का दृश्य है तो दूसरी जगह किसी टूट पड़नेवाली झोपड़ी का दृश्य। जंगली जानवरों में मुख्यतः हाथी, चीता, शेर, भालू, जंगली शूकर, हिरण और सांभर आदि हैं। एक चित्र तो बड़ा ही मनोरंजक है। उसे देखकर हल्की हंसी आ ही जाती जाती है। एक बंदर अपने दो पैरों के बल खड़ा है बीन जैसा कोई बाजा बजा रहा है। पास ही एक पुरुष छोटी सी खटिया पर चित्त लेटा है। उसके दोनों हाथ ऊपर की ओर उठे हुए हैं जैसे वह बंदर की बीन के साथ ताली बजा रहा हो। ‡ बनियाबेरी गुफा में किसी धार्मिक कृत्य के आयोजन का एक दृश्य है। बीचों बीच एक बड़ा सा स्वस्तिक बना हुआ है। उसके चारों ओर मनुष्य खड़े हैं। उनमें से कुछ के हाथों में छत्र जैसी कोई वस्तु है। यह सूचित करता है कि प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य भी स्वस्तिक पूजा करते थे। × स्वस्तिक पूजा के दृश्य के नीचे नदी का दृश्य है जिसके एक तट पर तीन गायें और दूसरे तट पर बस्तियों के झुंड खड़े हैं। तीसरी गाय गाभिन है किन्तु उसके गाभिन होने की सूचना कलाकार बड़ा पेट बनाकर नहीं दे सकता था इसलिए उसने गाय के पेट को थोड़ा फटा सा बनाकर उसके भीतर बछड़े की आकृति खींच दी है। +

होशंगाबाद के निकट के आदमगढ़ की प्रागैतिहासिक चित्रकारी ने भी बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की है। यहां से अनेक पाषाणयुगीन औजार भी प्राप्त हुए हैं। फिर भी कुछ विद्वानों का मत है कि यह चित्र पिछले काल के हैं। संभव है कि आदमगढ़ के चित्रों में से कुछ पिछले काल में जोड़े हुए चित्र हों किन्तु कुछ तो अवश्य ही प्रागैतिहासिक चित्र हैं। इन चित्रों का पता ईस्वी सन् १८२१ में लगा था। इनमें भिन्न-भिन्न पशुओं के बड़े ही आकर्षक और स्वाभाविक चित्रण हैं। एक स्थान पर हरिणों का शिकार हो रहा है। दूसरा दृश्य धनुर्धारी व्यक्तियों का है। वे एक हाथ में तो धनुष

* गार्डन—साइन्स एण्ड कल्चर ५, पृष्ठ १४२-१४७.
एण्डरसन—जरनल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी १६१८पृष्ठ २६८-३०६.
मनोरंजन घोष—मेमायर्स आफ आर्क. सर्वे. इं. २४, पृष्ठ ६—४।

† गार्डन—साइन्स एण्ड कल्चर; इंडियन आर्ट एण्ड लेटर्स १० पृष्ठ ३५-४१।

‡ आर्किलाजी इन इंडिया पृष्ठ ४७।

× ,, पृष्ठ ४७-४८।

+ ,, पृष्ठ ४८।

और दूसरे हाथ में दो-दो बाण लिए हुए हैं। उनकी पीठ पर तटकस बंधा है। एक की कमर में छुरा भी खुसा है। उनके कानों के अलंकरण भी निराले हैं। इन्हें देखकर बस्तर के आदिवासियों की सहसा याद आजाती है। +

वैदिक सभ्यता

वैदिक सभ्यता का आदिग्रन्थ ऋग्वेद है। इसमें अनेक भौगोलिक नामों का उल्लेख मिलता है, जो आर्यों के तत्कालीन विस्तार की सूचना देते हैं। किन्तु ऋग्वेद में न तो कहीं नर्मदा का ही नाम मिलता है और न ही विन्ध्य पर्वत का। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदिक आर्य मध्यप्रदेश तक नहीं आ पाए थे। वे केवल अफगानिस्तान, पंजाब, सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, राजपूताना और पूरब में सरयू नदी तक अपना विस्तार कर सके थे। उत्तर-वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-आरण्यकों में हमें मध्यप्रदेश के संबंध में कुछ सूचनाएँ मिलने लगती हैं। जैसे शतपथ-ब्राह्मण में* पूर्व और पश्चिम समुद्र का उल्लेख है। कौषीतक उपनिषद में विन्ध्य पर्वत का उल्लेख है। यद्यपि वह सीधा नाम लेकर नहीं किन्तु दक्षिण का एक पर्वत कह कर। शतपथ ब्राह्मण में एक पद 'रेवोत्तरस' आता है। वेबर साहब का कहना है कि इस पद में रेवा नदी की सूचना है। वैदिकोत्तर साहित्य में तो रेवा का उल्लेख स्पष्ट मिलने लगता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में × दक्षिण दिशा और उसके लोगों के संबंध में सूचना मिलती है। उक्त ब्राह्मण के अनुसार वहां के निवासी सत्वन्त कहलाते थे और उनके अलावा वैदर्भ, निषध और कुन्ति लोग भी दक्षिण में रहते थे। उक्त ब्राह्मण में ही† विदर्भ और उसके राजा भीम का उल्लेख मिलता है और यह सूचना मिलती है कि भीम ने नारद और पर्वत से कुछ आदेश प्राप्त किए थे। जैमिनीय उपनिषद ‡ में भी विदर्भ का नाम मिलता है और विदित होता है कि विदर्भ के श्वानेटक भी शेरों का शिकार करने में बड़े कुशल थे। विदर्भ के एक ऋषि भार्गव का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है जो आश्वलायन के समवर्ती थे। इसी प्रकार विदर्भ की प्राचीन राजधानी कुण्डिन का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर है। वह आजकल अमरावती जिले के चांदूर तालुका में वर्धा नदी के तट पर स्थित कौण्डिन्यपुर नाम के ग्राम से अभिन्न है। शतपथ ब्राह्मण में ÷ दक्षिण के एक राजा नळ की उपाधि नैषिध मिलती है। इसी नैषिध को बाद में नैषध कहने लगे थे। नैषध का अर्थ होता है निषध देश का निवासी। ये निषध लोक निषादों से सर्वथा भिन्न थे। निषाद लोग अनार्य जाति के थे, जब कि निषध लोग आर्य थे। संभवतः निषध देश को विदर्भ के निकट ही कहीं होना चाहिये।

यह विवरण तो उत्तर-वैदिक काल की मध्यप्रदेश की आर्यजातियों के संबंध में हुआ, अब उसी काल की मध्यप्रदेश की अनार्य जातियों को लीजिए। ऐतरेय ब्राह्मण में आंध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब जाति के लोगों को दस्यु कहा गया है। ये लोग वास्तव में आधे आर्य और आधे अनार्य थे। इन्हें विश्वामित्र के पचास पुत्रों की सन्तति कहा जाता है। जो विश्वामित्र के श्राप से अनार्य हो गए थे। इनमें से आंध्र और मूतिब लोगों का मध्यप्रदेश से अवश्य ही संबंध था। शुद्ध अनार्य जातियों में केवल निषादों का उल्लेख ही मिलता है। पुराणों से विदित होता है कि निषाद लोग विन्ध्य और सतपुड़ा के जंगलों में निवास करते थे। इस प्रकार उपनिषद काल तक नर्मदा के पास-पड़ोस के प्रदेश और विदर्भ तक आर्यों का विस्तार हो चुका था।

अनुश्रुतिगम्य इतिहास

वैदिक और उत्तर-वैदिक काल के पश्चात् के इतिहास का ज्ञान करने के लिये रामायण, महाभारत और पुराण ग्रन्थ मात्र ही वर्तमान साधन हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वैवस्वत मनु के दस बेटे थे। उनकी एक बेटी थी, जिसका नाम

+ विशेष विवरण के लिए—नागपुर म्यूजियम बुलेटिन नं. २।

* १, ६, ३, ११।

× ८. १४।

† ७. ३४।

‡ २, ४४०।

÷ ३, ३, २, १, ३।

इला था। इला का विवाह सोम या बुध के साथ हुआ, जिसका बेटा पुरूरवा था। पुरूरवा ने ऐल वंश की स्थापना की, इसे चन्द्रवंश भी कहते हैं। ऐल वंश से यादव वंश निकला और यादव वंश से हैहय। पुरूरवा और उर्वशी की कहानी बहुत प्रसिद्ध है। पुरूरवा बहुत ही योग्य शासक था। उसने दूर-दूर तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। किन्तु शासन के अंतिम दिनों में वह घमंडी हो चला और उसने ब्राह्मणों से लड़ाई ठान ली। नैमिष नाम के ऋषि ने उसकी हत्या कर के उसके बेटे आयु को सिंहासन पर अभिषिक्त किया। आयु के समय में मालवा, राजपूताना आदि प्रदेशों तक चन्द्रवंशियों का अधिकार था। आयु ने दानव राजा स्वर्भानु की बेटी प्रभा से विवाह किया। उससे उसे पांच बेटे हुए, जिसमें से एक नहुष भी था। नहुष का बेटा हुआ ययाति। ययाति का विवाह शुक्र की बेटी देवयानी से और असुर राजा वृषपर्व की बेटी शर्मिष्ठा से हुआ। इन दोनों रानियों से उसे पांच बेटे हुए, जिनमें से सबसे जेठे यदु को मालवा और महिषमंडल का राज्य मिला। यही यदु यादववंश का मूल पुरुष है, जिससे बाद में एक शाखा फूट कर हैहय वंश कहलाई।

यह तो रही चन्द्रवंश की बात, अब सूर्यवंश को लीजिए। इक्ष्वाकु वंश के राजा मान्धातृ ने यादव साम्राज्य को बड़ी क्षति पहुंचाई। यहां तक कि यादव राजा शशबिन्दु को उसके साथ अपनी बेटी बिन्दुमती ब्याह देनी पड़ी। मांधातृ का जेठा बेटा पुरुकुत्स हुआ। नागों ने उसे अपनी बेटी नर्मदा दी और उसके बदले में पुरुकुत्स ने मौनेय गंधर्वों से नागों की रक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार पुरुकुत्स के राज्य के नर्मदा और नागभूमि तक विस्तृत होने का प्रमाण मिलता है।

मांधाता का तीसरा बेटा मुचकुंद प्रसिद्ध राजा हुआ है। उसने पारियात्र और ऋक्ष पर्वतों के बीच नर्मदा किनारे एक नगर बसाया और उसे दुर्ग के समान चारों ओर से सुरक्षित किया। किन्तु हैहय राजा माहिष्मन्त ने उस नगर को जीत कर उसका नाम माहिष्मती रख दिया। इस प्रकार यद्यपि थोड़े समय के लिये सूर्यवंशियों ने मध्यप्रदेश के भागों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, किन्तु अवसर पाकर चन्द्रवंश ने पुन: प्रभुता प्राप्त कर ली। माहिष्मन्त के उत्तराधिकारी भद्रश्रेण्य ने तो पौरव देश को भी जीत लिया और काशी भी। काशी के राजा हर्यश्व ने अपना राज्य वापस पा लेने की बड़ी कोशिश की किन्तु असफल रहा। वह हैहयों द्वारा मारा गया और उसका बेटा भी हैहयों का कुछ न बिगाड़ सका। किन्तु क्षेमक राक्षस कुछ समय के लिए हैहयों से भी इक्कीस हो गए और उन्होंने काशी को प्राप्त कर लिया, जिनसे हैहयों के राजा दुर्दम ने उसे वापस लिया।

हैहय राजा कृतवीर्य के समय में भृगुवंश के ऋषियों का मध्यप्रदेश से संबंध हुआ। ये लोग पहले आनर्त या गुजरात के रहने वाले थे। राजा कृतवीर्य ने उन्हें बहुत सा धन देकर अपना पुरोहित बना लिया था। किन्तु कृतवीर्य के वंशजों ने भार्गवों से संबंध बिगाड़ लिए और भार्गव लोग महिषमंडल से भाग कर कन्नौज पहुंचे। भार्गव वंश के एक ऋषि जमदग्नि थे। कार्तवीर्य सहस्रार्जुन ने इनसे इनकी कामधेनु बलपूर्वक छीन ली थी। जमदग्नि का बेटा राम या परशुराम हुआ। वह बड़ा वीर और योद्धा था। परशु उसका प्रिय अस्त्र था। अपने पूर्वजों के अपमान का बदला लेने के लिए परशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया। कहते हैं कि परशुराम ने सहस्रार्जुन की हजार भुजाएँ काट डाली थीं। तब अर्जुन के बेटों ने परशुराम के पिता जमदग्नि को ही मार डाला। इससे परशुराम बड़े क्रुद्ध हुए और फिर उन्होंने न केवल हैहयों को ही अपितु क्षत्रिय वंश को ही अपना शत्रु मान लिया था। वैसे सहस्रार्जुन को भारतीय साहित्य में काफी सम्मानित व्यक्ति माना गया है, सिवा इसके कि उसने भार्गवों से बैर ठाना। उसकी प्रशंसा में लिखा गया है कि उसने रावण को भी परास्त कर दिया था। कर्कोटक नागों से युद्ध कर के अनूप देश पर कब्जा कर लिया था और माहिष्मती को अपनी राजधानी बनाया था। अर्जुन के बाद उसके बेटे जयध्वज ने राज किया, फिर जयध्वज के बेटे तालजंघ ने और उसके बाद तालजंघ के बेटे वीतिहोत्र ने। वीतिहोत्र के समय हैहय वंश की अनेक शाखाएँ बन गईं और वे अनेक स्थानों में अलग-अलग राज करने लगीं।

रामायण से विदित होता है कि सूर्य वंश के राजा रघु के बेटे अज ने विदर्भ देश की राजकुमारी इन्दुमती से विवाह किया था, जिससे दशरथ का जन्म हुआ। दशरथ के समय में यादव राजा मधु राज्य करता था। उसका राज्य

यमुना से लेकर गुजरात और विन्ध्य-सतपुड़ा के समूचे प्रदेशों तक विस्तृत था। स्वयं राम के बारे में रामायणी कथा में सूचना मिलती है कि वे बहुत दिनों तक मध्यप्रदेश के जंगली प्रान्तों में आकर बसे थे। दण्डकारण्य मध्यप्रदेश में ही स्थित था। नर्मदा और छत्तीसगढ़ के प्रदेश में राम को अपने वनवास का बहुत सा समय काटना पड़ा था। शायद यहीं उनका राक्षसों से युद्ध हुआ, जिसमें वे विजयी हुए।

द्वापर युग में श्रीकृष्ण के समय में विदर्भ का राज्य बराबर चला आ रहा था। श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मिणी इसी देश की थी। महाभारत के महायुद्ध में मध्यप्रदेश के कुछ राजवंशों ने कौरवों की ओर से और कुछ राजाओं ने पांडवों की ओर से लड़ाई लड़ी थी। महाभारत युद्ध के पश्चात् परीक्षित भारतवर्ष का सम्राट् बना। उसके समय से ही कलियुग का प्रारंभ होना माना जाता है। उसके बाद जनमेजय ने राज किया। इस समय अवन्ती के राज्य में मालवा, निमाड़ तथा मध्यप्रदेश के लगे हुए हिस्से सम्मिलित थे। अवन्ती राज्य पर अभी भी हैहय लोग राज कर रहे थे।

ईस्वी पूर्व ६०० से ईस्वी पूर्व २००

बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय, जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र या व्याख्या प्रज्ञप्ति तथा अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व ६०० के लगभग उत्तर भारत में १६ महाजनपद राज्य स्थापित थे। इनमें मगध, कोसल और अवन्ती दूसरों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित और शक्तिशाली थे। मध्यप्रदेश का कुछ हिस्सा अवन्ती महाजनपद के अन्तर्गत था, जिसकी राजधानी माहिष्मती थी। चेदि महाजनपद में भी मध्यप्रदेश के उत्तरीय जिलों का बहुत सा हिस्सा सम्मिलित था, वह हिस्सा जिसमें आज भी बुंदेलखंडी बोली जाती है।

मगध ने अपना साम्राज्य बनाने के लिए लगातार उद्योग किया। पहले वहां बृहद्रथ राजवंश राज करता रहा और उसके बाद शैशुनाक वंश की प्रभुता बढ़ी। शैशुनाक वंश का तीसरा राजा श्रेणिक या बिम्बिसार था। उसकी राजधानी राजगृह में स्थित थी। बिम्बिसार का बेटा कुणिक या अजातशत्रु था। उत्तर कोसल में प्रसेनजित और अवन्ती में प्रद्योत का राज्य था। महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर इन्हीं के समकालीन थे। उन्हें अपने धर्म का प्रचार करने में इन राजवंशों से सदा सहायता मिलती रही। किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिल सके हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन मध्यप्रदेश के इतिहास का संगठन हो सके। कहा नहीं जा सकता कि महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर के समय में मध्यप्रदेश की क्या दशा थी और कौन से राजवंश यहां के भिन्न-भिन्न भागों पर राज कर रहे थे। चूंकि कलिंग में महात्मा महावीर के समय में ही उनके धर्म का प्रचार हो चुका था, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि उससे लगे हुए दक्षिण कोसल या छत्तीसगढ़ के प्रान्त में भी जैन धर्म का विस्तार हुआ होगा। उत्तरीय जिलों में बौद्ध धर्म आ चुका था, क्योंकि वह अवन्ती तक फैल चुका था।

बालाघाट की आहत मुद्राएं

बहुत समय पहले बालाघाट ज़िले से चांदी के सिक्कों का एक दफीना प्राप्त हुआ था। इस दफीने में जो सिक्के मिले थे, वे सब आहतमुद्रा हैं। किन्तु वे एक विशिष्ट प्रकार के हैं। वैसे सिक्के भारतवर्ष में बहुत कम मिलते हैं। इन सिक्कों का कोई एक आकार नहीं है और वे बहुत ही पतले हैं। इन पर सामने की ओर चार चिह्न अंकित हैं— (१) हाथी, (२) बैल, (३) गोलांगल और (४) बिन्दुमण्डलयुक्त नेत्र, इनकी पीठ सपाट है और उस पर कोई भी चिह्न नहीं है। भारतवर्ष के सभी भागों से मौर्यकालीन आहतमुद्राएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु उन पर सामने की ओर पांच चिह्न होते हैं, जिनमें सूर्य और षडार चक्र तो अवश्य ही होते हैं और साथ में पर्वत, मोर, आदि चिह्न रहते हैं, जो मौर्यों के चिह्न माने जाते हैं। आश्चर्य की बात है कि बालाघाट से प्राप्त सिक्कों पर इनमें से एक भी चिह्न प्राप्त नहीं होता, जिससे अनुमान किया जाता है कि ये सिक्के मौर्यों से पहले के सिक्के हैं।

दूसरी विशिष्ट बात यह है कि इन सिक्कों का वजन लगभग १२ रत्ती है। मौर्य काल का कार्षापण सिक्का ३२ रत्ती का होता था और अर्धकार्षापण १६ रत्ती का। किन्तु १२ रत्ती का कोई सिक्का नंद या मौर्य वंश के समय में

नहीं बना। फिर ये सिक्के १२ रत्ती वजन के क्यों हैं? इसका भी कारण है। ३२ रत्ती के कार्षापण की तौल नन्द वंश के साम्राज्य काल में स्थिर की गई थी। किन्तु ये सिक्के नन्दों से भी पूर्व के होने के कारण उस तौल से सर्वथा अछूते रहे। वस्तुत: ये सिक्के १०० रत्ती तौल के शतमान सिक्के के अष्ट भाग सिक्के हैं, जिनका नाम प्राचीन ग्रन्थों में "शाण" मिलता है। इस प्रकार के सिक्के केवल उड़ीसा, आंध्र और मध्यप्रदेश में ही मिले हैं, जो आपस में एक दूसरे से लगे हुए हैं। नन्दों से पूर्व कौन सा ऐसा शक्तिशाली राजवंश था, जो इन सिक्कों को चलाता? यह विचार करते समय हमारा ध्यान अनायास ही कलिंग के चेदि वंश की ओर जाता है, जिसका एक राजा खारवेल; पीछे चक्रवर्ती बन गया था। इस चेदि वंश का राज्य-विस्तार उड़ीसा, आंध्र और मध्यप्रदेश तक रहा होगा। ये सिक्के उसी वंश के चलाए हुए होंगे और इनकी तिथि ईस्वी पूर्व ४०० हो सकती है।*

नन्द - मौर्य काल

नन्द वंश के राजाओं को पुराणों में अधार्मिक एवं शूद्र कहा गया है किन्तु वे वे बड़े प्रतापी, बड़े समृद्धिशाली और उनका साम्राज्य दूर-दूर तक विस्तृत था। नन्दों की संख्या कुल नौ कही गई है। कहीं-कहीं यह उल्लेख मिलता है कि समस्त क्षत्रियों का उन्मूलन करने में वे दूसरे परशुराम के समान थे, इनके पास अटूट संपत्ति थी। दक्षिण में मैसूर तक नन्दों का साम्राज्य फैला हुआ था और कलिंग पर भी इन्होंने आक्रमण कर के उसे जीत लिया था। वहां से नन्द-राजा किन्हीं जैन तीर्थंकर की मूर्ति उठा कर मगध ले गया था। कलिंग और मैसूर तक राज्य का विस्तार कर लेने वाले नन्दों का मध्यप्रदेश पर अवश्य ही पूर्ण अधिकार रहा होगा। किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक नन्दों के साम्राज्य काल की कोई ऐतिहासिक वस्तु मध्यप्रदेश से प्राप्त नहीं हो सकी है। अन्तिम नन्द राजा कुछ कठोर स्वभाव का था। उसने तरह-तरह के कर लगा कर प्रजा को नाराज कर लिया था। उसके समय में भारत पर ईरानियों और यवनों के आक्रमण हुए, किन्तु इन आक्रमणों का मध्यप्रदेश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह पहले की भांति नन्द साम्राज्य के ही अन्तर्गत बना रहा।

नन्दों का पूरा का पूरा साम्राज्य मौर्यवंशीय चंद्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से अपने अधिकार में कर लिया और वह भारतवर्ष के संगठित साम्राज्य का एक मात्र शासक बन गया। चाणक्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त की सेना में आटविक लोगों की खूब भरती होती थी। ये आटविक-जन मध्यप्रदेश के आटविक राज्यों के निवासी प्रतीत होते हैं। चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को इतना अधिक शक्तिशाली और संगठित बना लिया था कि यवन सेल्यूकस को भारत पर आक्रमण कर के पछताना ही पड़ा। उसे अपनी बेटी का चन्द्रगुप्त से विवाह कर के ही छुटकारा मिला। मध्यप्रदेश का पूरा का पूरा भूमिभाग नन्दों से चन्द्रगुप्त को मिल गया था। उसका दूसरा प्रमाण यह है कि चन्द्रगुप्त ने मैसूर राज्य में श्रवण बेलगुल नामक स्थान में सल्लेखनापूर्वक अपने प्राण त्यागे थे। मैसूर निश्चय से ही उसके साम्राज्य में था। वहां तक जाने के लिए चन्द्रगुप्त को मध्यप्रदेश के प्रान्तों से हो कर जाना पड़ा होगा, जो कि उसके साम्राज्य के अंग थे। सौराष्ट्र के शिलालेख में भी चन्द्रगुप्त का उल्लेख मिला है। इन सब प्रमाणों से यही ध्वनि मिलती है कि मध्यप्रदेश भी चन्द्रगुप्त के अखिल भारतीय साम्राज्य का एक अंग था। अशोक ने अपने जीवन काल में केवल एक ही प्रदेश जीता था—कलिंग। अशोक के पिता बिन्दुसार ने कोई विजय नहीं की। किन्तु अशोक के शिलालेख मध्यप्रदेश में मिलते हैं, जो यह सूचित करते हैं कि यहां अशोक का राज्य होगा और वह राज्य उसके दादा चन्द्रगुप्त के समय से ही चला आ रहा होगा।

२७३ ईस्वी पूर्व में अशोक का शासन काल प्रारंभ हुआ और वह २३६ ईस्वी पूर्व तक रहा। अशोक भारतीय इतिहास का एक जगमगाता नक्षत्र था। उसका राज्य ईरान से दक्षिण भारत तक व्याप्त था और कलिंग भी उसमें सम्मिलित हो चुका था। अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण करने के अनंतर बहुत से शिलालेख और स्तंभ लेख लिखवाए थे,

*विशेष जानकारी के लिए-"जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इंडिया", भाग १३, १४ और १५।

जिनमें नैतिक आचरण की शिक्षा निहित है। अशोक का एक स्तंभ लेख सांची में मिला है जो मध्यप्रदेश से अधिक दूर नहीं। स्वयं मध्यप्रदेशमें जबलपुर जिले के रूपनाथ नामक स्थान में उसका लघु शिलालेख आज तक विद्यमान है। यह भी पता चलता है कि भिक्षु महाधर्मरक्षित को अशोक ने महाराष्ट्र में धर्म प्रचार करने के लिए भेजा था। इन सब प्रमाणों के सद्भाव से यह मानना ही पड़ेगा कि मध्यप्रदेश अशोक के धर्म साम्राज्य का एक अंग था और यहां उसने समय-समय पर विहार और स्तूप आदि का निर्माण कराया था। अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की स्थिति कमजोर पड़ गई थी, यद्यपि उसके पोते सम्प्रति ने उसे बहुत ही सम्हाले रक्खा। किन्तु बाद के मौर्य राजे उतने अधिक प्रभावशाली नहीं हुए। अन्तिम राजा बृहद्रथ की हत्या करके उसके सेनापति पुष्यमित्र ने एक नवीन वंश की नीव डाली, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

मौर्यकालीन पुरातत्त्व

ऊपर कहा जा चुका है कि सम्राट् अशोक ने भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में शिलालेख लिखवाए थे तथा अनेक स्तंभ खड़े किए थे। बौद्ध ग्रन्थों में सूचना मिलती है कि अशोक ने कुल मिला कर चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। अशोक के समय का एक शिलालेख हमें जबलपुर जिले में रूपनाथ में मिलता है। यह शिलालेख है तो छोटा पर बड़े महत्व का है। इसमें अशोक ने पुरुषार्थ की महत्ता बताई है। वह कहता है कि पुरुषार्थ से छोटे पुरुष भी बड़ा काम कर डालते हैं। * अशोक का अथवा उसके ठीक बाद के किसी मौर्य राजा का दूसरा लेख चांदा जिले में देवटेक नाम के स्थान में एक बड़े पत्थर पर खुदा हुआ मिला है। इस लेख में कहा गया है कि स्वामी की आज्ञा है कि इस स्थान में जीव हिंसा न हो। ‡ यद्यपि इस शिलालेख में अशोक का स्पष्ट कोई उल्लेख नहीं है फिर भी जीव हिंसा के निषेध का इसमें उल्लेख होने के कारण इस लेख को अशोक के समय का मान लिया गया है, क्योंकि जीव हिंसा का निषेध करने वाले शिलालेख अशोक ने ही लिखवाए थे। मौर्यों के समय के दो लेख सिरगुजा जिले में लक्ष्मणपुर के निकट रामगढ़ पहाड़ी की दो गुफाओं में खुदे हुए हैं। इनके विषय न तो राजनैतिक हैं और न ही धार्मिक, किन्तु ये किसी सुतनुका नाम की देवदासी और उससे प्रेम करने वाले कलाकार देवदत्त (देवदीन) से संबंधित हैं। † जिन गुफाओं में ये लेख खुदे हैं, उनमें कुछेक चित्र भी चित्रित हैं, जो प्रायः नष्ट हो चुके हैं। गुफाओं के नाम जोगी माढ़ा और सीता बेंगा है। इनमें से एक तो सुतनुका देवदासी के निवास की कोठरी है और दूसरी गुफा मौर्यकाल की नाटकशाला है जो भारत की सबसे पुरानी नाटकशाला प्रतीत होती है। मौर्य काल के अन्य अवशेष चांदा जिले में भांदक और छत्तीसगढ़ में तुरतुरिया में भी देखे गये हैं किन्तु उनका अभी तक विशेष अध्ययन नहीं हो सका। जबलपुर के निकट त्रिपुरी की खुदाई में काली चमकदार पालिश किए हुए बरतनों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के काली चमकदार पालिश युक्त बरतन मौर्य काल की विशेषता है। इस कारण त्रिपुरी के इन टुकड़ों को भी मौर्य काल का ही मानना पड़ता है।

मौर्यकालीन सिक्के

मौर्य साम्राज्य बहुत बड़ा साम्राज्य था। इतने बड़े साम्राज्य ने अपने सिक्के अवश्य चलाए होंगे किन्तु ऐसे कोई सिक्के अभी तक नहीं मिल सके, जिन पर चन्द्रगुप्त, अशोक या अन्य किसी राजा का नाम मिला हो। इसके विपरीत एक प्रकार के सिक्के जिन्हें आहतमुद्रा कहा जाता है, सम्पूर्ण भारत में व्यापक रूप से प्राप्त होते हैं। इन सिक्कों पर जो चिह्न मिलते हैं, वे छेनी से अंकित किए हुए चिह्न है, इसलिए इन सिक्कों को ऐसा कहने लगे हैं। यद्यपि आहत-मुद्राओं का चलन मौर्यों से पहले ही हो चुका था, किन्तु मौर्य काल की आहत मुद्राएँ आसानी से पहचानी जा सकती हैं। इन मुद्राओं पर भिन्न-भिन्न मौर्य राजाओं के अपने चिह्न विशेष अंकित रहते हैं।

---

* हुल्श कार्पस इं. इं., भाग १।

‡ प्रोसीडिंग आफ आल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेन्स, १९३८।

† इंडियन एंटिक्विरी, ३४।

आहत सिक्कों को बनाने का तरीका यह था कि सबसे पहले चांदी या तांबे की पत्तर तैयार कर ली जाती थी और उसमें से वजन के माफिक चौकोर टुकड़े काट लिए जाते थे। फिर इन टुकड़ों की तौल कर के उन्हें नियमित वजन के बराबर कर लेते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि पत्तर में से काटा गया चौकोर टुकड़ा नियमित वजन से अधिक वजन का निकलता था। तब किसी ओर से भी अधिक मात्रा को अलग कर दिया जाता था। इस प्रकार सिक्कों के आकार में विभिन्नता आ जाती थी और वे अनेक कोण के बन जाते थे। यही कारण है कि आहत सिक्के एक आकार के नहीं मिलते। उनके आकार तरह-तरह के होते हैं।

सागर जिले में एरन और जबलपुर जिले में त्रिपुरी आहत सिक्कों के मुख्य केन्द्र रहे हैं। यहां से चांदी और तांबे के आहत सिक्के मिले हैं। एरन के आहत सिक्के सब से सुन्दर हैं और उनके चिह्न दूर-दूर बने रहते हैं।* त्रिपुरी और जबलपुर में भी चांदी के आहत सिक्के मिले हैं। विदर्भ में मालेगांव और हिंगनघाट के सिक्कों ने बड़ी प्रसिद्धि पाई है।-|- छत्तीसगढ़ में भी इस प्रकार के आहत सिक्के बहुत से स्थानों से प्राप्त हुए हैं, जिनमें अकलतरा, ठठारी, बिलासपुर मुख्य हैं। नागपुर और भंडारा जिलों में भी ये पाए जाते हैं। इन सबकी अपनी विशेषता है। यद्यपि इनका अभी तक तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो सका है, फिर भी ठठारी के मध्यमासक सिक्के अपने किस्म के अद्वितीय हैं।†

जानपदीय सिक्के

मौर्य काल में भारतवर्ष में अनेक गणराज्य और जनपद राज्य स्थापित थे। इनमें से कुछ तो बहुत बड़े-बड़े थे और कुछ का विस्तार नगर की सीमा तक ही सीमित था। अभी तक जो प्रमाण मिल सके हैं, उनसे विदित होता है कि मध्यप्रदेश में उस समय कम से कम तीन जनपद राज्य तो थे ही। एक तो त्रिपुरी का, दूसरा एरकिण का और तीसरा भागिला का। एरकिण (जिसे अब एरन कहते हैं) जनपद के सिक्के अनेक प्रकार के मिलते हैं। कुछ तो ठप्पे से बनाए गए निशानों वाले हैं और कुछ सांचे में ढाले हुए। एरण में उस समय सिक्के बनाने की टकसाल भी थी, क्योंकि वहां एक सांचा भी प्राप्त हुआ है। एरन से प्राप्त एक सिक्के पर वहां के राजा धर्मपालित का नाम मिला है और दूसरे पर नगरी का नाम। ये राजा नगरी के नामयुक्त सिक्के भारत के लेख वाले तमाम सिक्कों में प्राचीनतम हैं। जिन सिक्कों पर राजा का नाम मिला है, वे चौकोर हैं और जिन पर नगरी का नाम मिला है, वे गोल। ×

त्रिपुरी जनपद के सिक्के स्वयं त्रिपुरी से तथा होशंगाबाद जिले में सिडकिया गांव से प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर ३०० ई. पू. की ब्राह्मी लिपि में 'तिपुरी' लिखा मिलता है और साथ ही अनेक मांगलिक चिह्न जैसे स्वस्तिक, चैत्य और सुमेरु आदि।‡ ये सिक्के तांबे के हैं और गोल रहते हैं।

भागिला नामक जनपद राज्य का पता केवल सिक्कों से ही लगता है। ये सिक्के भी अभी हाल में ही खोजे जा सके हैं। इन सिक्कों पर "भागिला" नगरी का नाम तथा अन्य चिह्न मिलते हैं। इनका प्राप्ति स्थान होशंगाबाद जिले में स्थित जमुनिया ग्राम है। ∴

भंडारा जिले में पौनी नामक स्थान से एक सीसे का सिक्का मिला है, जिस पर २०० ईस्वी पूर्व के अक्षरों में "दिमभाग" नामक किसी राजा का नाम लिखा है। +

* कनिंघम : आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १०।
-|- एलन : कैटलाग।
† एलन : कैटलाग।
× कनिंघम : क्वॉइन्स आफ एंश्यन्ट इंडिया, फलक ११।
‡ एलन का कैटलाग तथा जरनल आफ न्युमिस्मेटिक सोसायटी, भाग १२।
∴ जरनल आफ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी, १४।
+ जरनल आफ न्युमिस्मेटिक, भाग ६।

ईस्वी पूर्व २०० से ई. प. ३००

शुंग वंश

बाण महाकवि के हर्षचरित में सेनापति पुष्यमित्र द्वारा अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ की भरी सभा में हत्या करके मगध का राज सिंहासन प्राप्त कर लेने का उल्लेख मिलता है। राज्यसिंहासन प्राप्त करके पुष्यमित्र ने एक राजवंश की स्थापना की जो शुंग वंश कहलाता है। यद्यपि कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र को काश्यप शाखा के बैम्बिक वंश का लिखा है। विन्ध्यप्रदेश में नागौद के निकट के भरहुत नामक स्थान के शिलालेखों में शुंगवंश का उल्लेख आता है जिससे सूचना मिलती है कि वे वहां राज्य करते थे। मालवा में पुष्यमित्र का बेटा अग्निमित्र स्वयं राज्य करता था, विदिशा उसकी राजधानी थी। नर्मदा किनारे का एक दुर्ग अग्निमित्र के साले वीरसेन के संरक्षण में था। ध्यान देने की बात है कि शुंगों को मौर्यों का पूरा साम्राज्य प्राप्त नहीं हो सका था, साम्राज्य का मध्यवर्ती हिस्सा ही वे प्राप्त कर सके थे क्योंकि इस समय तक दक्षिण में आन्ध्र और कलिंग में चेदिवंश ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे। इससे यह अनुमान होता है कि मध्यप्रदेश के बहुत से हिस्से शुंगों के राज्य के अंतर्गत नहीं आ सके थे। यद्यपि उत्तरीय हिस्सा उनके अधिकार में था। यह कथन इस घटना से और भी प्रमाणित हो चुकता है कि अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा यज्ञसेन पर आक्रमण किया था और उसे जीतकर अपने दो रिश्तेदारों में बांट दिया था। वर्धा नदी इन दोनों विभाजित प्रदेशों की सीमा बनाई गई थी।

यवनवंश मिलिन्द के सिक्के

पुष्यमित्र के राज्य काल में ही बेक्ट्रिका के यवन भारत की ओर बढ़े। उन्होंने पाटलिपुत्र तक हमले किये थे। इन यवनों में दिमेत्र या डेमेट्रिय बड़ा वीर योद्धा था। मिलिन्द या मेनन्डर दूसरा प्रतापी राजा था जो भारतीय परंपरा में बड़ा सम्मानित है। वह बौद्ध हो गया था। मिलिन्द पञ्ह नामक बौद्ध ग्रंथ में इसका उल्लेख मिलता है। इस राजा के छह तांबे के सिक्के बालाघाट जिले में प्राप्त हुए थे। तांबे के सिक्के अक्सर वहीं पाये जाते हैं जहां उसको चलाने वाले राजा का राज रहा हो। यद्यपि आज तक ऐसा कोई और प्रमाण नहीं मिल सका जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मध्यप्रदेश में भी यवनों का बिस्तार हो चुका था। किन्तु ये तांबे के सिक्के एक समस्या खड़ी कर देते हैं। दूसरा संभव कारण यह हो सकता है, मध्यप्रदेश का भद्रावती तीर्थ बौद्धों का पूज्य स्थान था। भिन्न-भिन्न स्थानों के बौद्ध वहां यात्रा करने के लिए आते होंगे। हो सकता है कि इन्हीं किन्हीं यात्रियों के साथ मिलिन्द के ये तांबे के सिक्के भी यहां आये हों।

शातवाहन वंश

शुंग-यवनों के काल में ही दक्षिण में शातवाहन वंश के आंध्र राजा अपने प्रभुत्व का विस्तार करने लगे थे। वे अपने को 'दक्षिणापथ पति' कहते थे। इनकी राजधानी प्रतिष्ठान में थी जो आजकल हैद्राबाद राज्य में पैठन नाम का स्थान है। शातवाहनों के प्रारंभिक काल के लेख महाराष्ट्र और मालवा तक मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शातवाहन लोग मूलतः विदर्भ के निवासी थे। और बाद में वे आंध्र की ओर जाकर वहां बस गए। पुराणों में इनका उल्लेख 'आंध्रभृत्यों' के नामसे मिलता है जिससे विदित होता है कि वे प्रारम्भ में मौर्यों या शुंगों के चाकर थे।

सिमुक शातवाहनों का पहला राजा था। नानाघाट के एक शिलालेख में इसे राजा सिमुक सातवाहन कहा गया है। जिससे ज्ञात होता है कि इसका दूसरा नाम सातवाहन था अथवा यह सातवाहन नाम के किसी राजा का वंशज था। सिमुक के बाद कृष्ण राजा हुआ और उसके बाद शातकर्णि प्रथम। शातकर्णि प्रथम के शासन काल में आंध्रों का विस्तार डाहल प्रदेश तक हो गया, त्रिपुरी उनके अधिकार में आगया। मालवा की विजय भी इसका मुख्य कार्य था। उज्जैन विजय के अन्तर शातवाहनों के सिक्कों में नवीन ढंग ने स्थान पाया और उसके बाद ऐसे सिक्के बनाए गए जिनके एक

ओर हाथी और राजा का नाम तथा दूसरी ओर उज्जैन का चिह्न विशेष रखा जाने लगा। ये सिक्के मध्यप्रदेश में भी बहुत मिलते हैं।

शातकर्णि प्रथम और गौतमीपुत्र शातकर्णि के बीच में अनेक राजा हुए जिनमें से एक आपीलक भी था जिसका तांबे का सिक्का रायगढ़ के निकट से प्राप्त हुआ है। गौतमीपुत्र शातकर्णि की लड़ाई नहपान से होती रहती थी। इसमें अन्ततोगत्वा गौतमीपुत्र ही विजयी हुआ और उसने नहपान के सिक्कों पर अपना ठप्पा फिर से लगवाया। शिलालेखों में गौतमीपुत्र को 'शकयवन पह्लवनिषूदन' और 'शातवाहन कुलयश प्रतिष्ठापन कर' कहा गया है। गौतमीपुत्र सातपुड़ा और विंध्य के प्रदेश का स्वामी था। उसका राज्य विदर्भ में भी स्थापित था।

गौतमीपुत्र के पश्चात् वसिष्ठीपुत्र पुलुमावि शासक बना। उसके समय में कर्दमक चष्टन के वंश के राजाओं ने अधिक शक्ति एकत्र कर ली थी। पुलुमावि के पश्चात शिवश्री शातकर्णि राजा बना। उसके सिक्कों पर वासिष्ठीपुत्र शिवश्री शातकर्णि लिखा मिलता है। इसी प्रकार शातवाहन वंश के अनेक राजा मध्यप्रदेश के प्रदेशों पर ईस्वी सन् २०० के लगभग तक राज करते रहे। दक्षिण कोशल अर्थात् महाकोशल में भी इन के राज्य का विस्तार हो गया था जैसा कि हमें सातवीं शती के चीनी यात्री ह्यूनत्सांग के विवरण से विदित होता है। उसके अनुसार प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान दक्षिण कोशल की राजधानी के एक विहार में रहता था जिसे मौर्य सम्राट् अशोक ने बनवाया था। ह्यूनत्सांग कहता है कि नागार्जुन के समय वहां का राजा कोई सातवाहन वंशीय था। महाकोशल में शातवाहनों के राज्यविस्तार का एक प्रमाण आपीलक के सिक्के की प्राप्ति भी है।

चेदिवंश

शातवाहनों के प्रारंभिक समय में ही अर्थात् ईस्वी पूर्व दूसरी शती में कलिंग में चेदिवंश का उदय हो चुका था। उसका तीसरा राजा खारवेल बड़ा योग्य और महान् योद्धा निकला। उसकी उपाधि महामेघवाहन थी। हाथी गुंफा के विस्तृत शिलालेख में उसके प्रायः समस्त कार्यों का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेल के वंश का मूल स्थान चेदि देश अर्थात् बुंदेलखंड था। वहां से वे लोग महाकोशल या छत्तीसगढ़ के रास्ते कलिंग पहुंचे। कलिंग से उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। स्वाभाविक है कि दक्षिण कोशल याने छत्तीसगढ़ उनके राज्य के अन्तर्गत था। खारवेल ने सातकर्णि से लड़कर बरार को भी जीत लिया था।

शातवाहनकालीन पुरातत्त्व

ऊपर कहा जा चुका है कि विदर्भ, कोशल और त्रिपुरी तक का प्रदेश शातवाहन राजाओं के अधिकार में आ चुका था। स्वाभाविक है कि शातवाहनकालीन पुरातत्व की मध्यप्रदेश में बहुलता होनी चाहिए किंतु दुर्भाग्य की बात कि शातवाहनकालीन स्थापत्य में मध्यप्रदेश इतना धनी नहीं है जितना कि महाराष्ट्र। शातवाहनकालीन स्थापत्य के नाम पर मध्यप्रदेश में केवल दो स्थानों पर ही कुछ सामग्री प्राप्त है। एक तो अकोला जिले में पातुर* और दूसरे चांदा जिले में भांदक या भद्रावती।+ इन दोनों स्थानों पर शातवाहनकालीन गुफामंदिर देखने में आए हैं।

शातवाहनों के सिक्के मध्यप्रदेश में बहुत मिले हैं। प्रारंभिक शातवाहनों में से शातकर्णि प्रथम के सिक्के जबलपुर और होशंगाबाद जिलों में मिले हैं†। आपीलक का तांबे का सिक्का रायगढ़ के निकट बालपुर में प्राप्त हुआ है ‡। गौतमी-

---

* अकोला जिले का गजेटियर।

+ कनिंघम की रिपोर्ट जिल्द ९

† जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी भाग १२ और१३

‡ न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेन्ट ४७ और जरनल आफ आंध्र हिस्टारियल सोसायटी १०।

पुत्र शातकर्णि का चांदी का अनुपम सिक्का त्रिपुरी से मिला है।* शातवाहन राजाओं के सिक्कों के दो बड़े दफीने चांदा और अकोला जिलों में मिले थे जिन्होंने शातवाहनों के इतिहास पर काफी प्रकाश डाला है। चांदा जिले का दफीना बहुत पहले मिला था। ईस्वी सन् १८८८ में यहां तक कि लोग उसकी प्राप्ति के वास्तविक स्थान को भी भूल गए और चांदा जिले का नाम भर उन्हें याद रहा। इन दफीने में कुल १८३ सिक्के थे और वे सभी पोटीन नामक मिश्रित धातु के थे। इसमें ५१ सिक्के श्री शातकर्णि के, २४ सिक्के पुलुमावि के और ४२ सिक्के श्री यज्ञ शातकर्णि के थे। शेष सिक्के ठीक-ठीक पहचाने नहीं जा सके थे। इस दफीने के बहुत से सिक्के लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम और कलकत्ता के इंडियन म्यूजियम को भेजे गए थे†। दूसरा दफीना ईस्वी सन् १८३८ में अकोला जिले में तरहाला नामक गांव के निकट प्राप्त हुआ था‡। यह बहुत ही महत्वपूर्ण दफीना था। इसमें कुल मिलाकर लगभग १६०० सिक्के थे किंतु उनमें से केवल १५२५ ही ठीक हालत में प्राप्त किये जा सके थे। ये हैं तो प्रायः चांदा दफीने के सिक्कों की ही तरह के, याने एक ओर हाथी और राजा का नाम और दूसरी ओर उज्जैन चिह्न कहलाने वाला प्रतीक विशेष, किन्तु ये सिक्के अनेक नए राजाओं के नाम प्रकाश में लाए, यहां तक कि जिनके नाम पुराणों में भी नहीं मिले थे। इस दफीने में सबसे अधिक सिक्के थे श्री शातकर्णि तृतीय के। फिर पुलुमावि का स्थान आता है। उसके १७४ सिक्के थे, श्री शातकर्णि चतुर्थ के ३५, शिवश्री पुलुमावि के ३२, स्कन्द शातकर्णि के २३, यज्ञ शातकर्णि के २४८। कुंभशातकर्णि, कर्णशातकर्णि, शकशातकर्णि के सिक्के बिल्कुल ही नयी प्राप्ति हैं। इस दफीनों के सिक्कों के अलावा अन्य किसी प्रमाण द्वारा उनकी सूचना नहीं मिलती। इस प्रकार मध्यप्रदेश से प्राप्त इस दफीने ने शातवाहनों के इतिहास पर बिलकुल नया और अनूठा प्रकाश डाला है।

छत्तीसगढ़ के अनेक स्थानों से कुछ ऐसे तांबे के सिक्के मिले हैं जो चौकोर हैं। इन सिक्कों पर एक ओर हाथी और दूसरी ओर खड़ी हुई स्त्री अथवा नाग बने हैं। विद्वानों का मत है कि ये सिक्के शातवाहनों के उत्तर काल में चलाए गए थे। संभव है कि वे छत्तीसगढ़ के ही खास किस्म के सिक्के हों। शातवाहनों के समय में भारत का विदेशों से और खासकर रोम से व्यापार बढ़ चला था। इसलिए, विदेशी सिक्के भारत में आने लगे थे। इस प्रकार के रोम के सिक्के छत्तीसगढ़ और विदर्भ में मिले हैं।+ ये सोने और तांबे दोनों के ही हैं। अमरावती जिले से एक मिट्टी का रोमन पदक भी मिला है जो अद्भुत वस्तु है।

शातवाहन राजाओं के समय के शिलालेख भी मध्यप्रदेश में मिलते हैं। बिलासपुर जिले में बुढ़ीखार और जबलपुर जिले में बाघोरा से ऐसे ही दो लेख मिले हैं। किरारी (छत्तीसगढ़) से जो काष्ठ का यूप प्राप्त हुआ है, उसपर का लेख भी शातवाहनकालीन है।× पौनी (भंडारा) के लेख में भार वंश के राजा भगदत्त का उल्लेख आता है। यह भगदत्त शायद भारशिव वंश का होगा।-|- बिलासपुर जिले

* जनरल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी १२।

† विशेष विवरण के लिए—रेप्सन का सूचीपत्र।

‡ जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इंडिया भाग २।

+ जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी भाग ७।

× एपिग्राफिआ इंडिका भाग १८।

-|- एपि० इंडिका भाग २४।

में शक्ति के निकट गुंजी नामक स्थान से जिसे ऋषभतीर्थ कहते हैं—एक महत्वपूर्ण शिलालेख प्राप्त हुआ है जो कुमारवर दत्त का है।‡

कुशाणों सम्बन्धी पुरातत्त्व

ईस्वी सन् ७८ में कुशान राजा कनिष्क ने अपने राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में शक संवत् चलाया। वह बौद्ध था और महाविजयी भी। पूर्व में पाटलिपुत्र तक उसने अभियान किये थे और वहां से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) ले आया था। कनिष्क के पश्चात् हुविष्क ने और उसके पश्चात् वासुदेव ने कुशाणों के राजसिंहासन को सम्हाला। इनका राज्य मालवा तक तो निश्चय से ही विस्तृत था क्योंकि सांची में उनके लेख मिले हैं। किंतु मध्यप्रदेश में कुशाणों का राज्य था अथवा नहीं यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। फिर भी जबलपुर के निकट भेड़ाघाट में कुशानकालीन अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। जिनपर लेख भी हैं। इन लेखों से मालूम होता है कि भूमक की पुत्री ने उन्हें बनवाया था। कुशाण राजा हुविष्क का एक सोने का सिक्का हरदा से मिला है। वहीं से मिलने वाला दूसरा सोने का सिक्का बाद के कनिष्क नाम के राजा का है। कुशाणों के तांबे के सिक्के बिलासपुर जिले में बहुत मिलते हैं। ईस्वी सन् १९२१-२२ में भी ये मिले थे और अभी हाल में तो लगभग ५० की संख्या में मिले हैं। कुशाणों के तांबे के सिक्कों का छत्तीसगढ़ में मिलना बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि तांबे के सिक्के अक्सर उन्हीं स्थानों में मिला करते हैं जहां उन राजाओं का राज्य रहा हो, वे राज्य के बाहर के प्रदेशों में नहीं मिलते। इसलिए हमें मानना ही पड़ेगा कि छत्तीसगढ़ में कुशाणों का राज्य अवश्य रहा है भले ही वह अल्पकालीन हो।

कर्दमकों के सिक्के

कुशाणों के आधीन कुछेक शकवंश पश्चिम भारत में राज कर रहे थे। इनमें पहला वंश भूमक का वंश था जो क्षहरात वंश भी कहलाता था। इसी वंश में नहपान हुआ। दूसरा वंश कर्दमकों का था। चष्टन इसका पहला राजा था जिसने नहपान के बाद अपना राज्य स्थापित किया। महाक्षत्रप रुद्रदामा इसी चष्टन का नाती था। यह वंश मालवा तक अपने राज्य का विस्तार किए हुए था। माहिष्मती पर भी उनका अधिकार था और निषाद भूमि पर भी अर्थात् वे मध्यप्रदेश के अनेक हिस्सों पर राज्य कर रहे थे। रुद्रदामा के पश्चात इस वंश के अनेक राजा क्षत्रप और महाक्षत्रप की उपाधि धारण करके राज करते रहे। इन्होंने बड़े ही सुंदर सिक्के चलाए थे। उनकी विशेषता यह है कि उन पर शक संवत् में राजा की राज्यतिथि लिखी रहती है और इसके साथ ही उसका और उसके पिता का नाम भी। मध्यप्रदेश में इन क्षत्रप महाक्षत्रपों के बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं और आज भी मिलते हैं। छिंदवाड़ा जिले में सिवनी के निकट सोनपुर से एक बार रुद्रसेन से लेकर रुद्रसेन तृतीय तक के अनेक राजाओं के ६३३ चांदी के सिक्कों का एक बड़ा दफीना प्राप्त हुआ था।* स्वयं सिवनी से भी इनके सिक्के मिले हैं। वर्धा जिले में आरवी के निकट भी इनके १० सिक्के मिले थे जो यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि क्षत्रपों का राज्य विस्तार इस ओर भी था। किन्तु दूसरा मत है कि क्षत्रपों ने इस ओर कभी राज्य नहीं किया। उनके सिक्के यहां इसलिए मिलते हैं कि मध्यप्रदेश का वाकाटक वंश इन सिक्कों को ही चलाता था क्योंकि उनसे अपने कोई सिक्के न थे। तीसरा मत यह है कि कोई धनवान व्यक्ति इन सिक्कों को मालवा या गुजरात में एकत्र कर इस ओर बसने के लिए चला आया होगा और उसने ही इन्हें यहां किसी आकस्मिक भय की आशंका से गाड़ दिया होगा। कुछ भी हो, यह तो हम जानते हैं कि एरन में शक श्रीधर वर्मा का राज था जिसका एक शिलालेख अभी हाल में खोज निकाला गया है।†

---

‡ एपि० इंडिका भाग २७।

* न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेंट ४८।

† प्रो० मिराशी—संशोधनमुक्तावलि।

ईस्वी ३०० से ईस्वी ८००

वाकाटक वंश

ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के प्रथम पाद तक मध्यप्रदेश और बरार शातवाहन राजाओं के अधिकार क्षेत्र में थे किन्तु इसके बाद शातवाहनों की शक्ति कमजोर पड़ने लगी और उस वंश का ह्रास होना प्रारंभ हो गया। तीसरी शती में ही किसी समय वाकाटकों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। विन्ध्यशक्ति इनका पहला राजा था। उसके मूलस्थान के संबंध में विद्वानों में विवाद है। कुछ लोगों का कहना है कि विन्ध्यशक्ति बुंदेलखंड से आया था। बुंदेलखंड से अपने राज्य का विस्तार करते हुए वाकाटक मध्यप्रदेश की वर्तमान राजधानी नागपुर के निकट के प्रदेश में आए और यहां उन्होंने अपनी राजधानी स्थापित की। विन्ध्यशक्ति के बाद उसका बेटा प्रवरसेन प्रथम राजा बना। उसके समय में भी बुंदेलखंड से लेकर हैद्राबाद राज्य तक विस्तृत प्रदेश वाकाटकों के साम्राज्य के अंतर्गत था।

प्रवरसेन प्रथम के बाद वाकाटक राज्य के अनेक टुकड़े हो गए। कम से कम दो का तो पता चलता ही है। प्रवरसेन का बड़ा बेटा गौतमीपुत्र अपने पिता की राजधानी से ही राज करता रहा किन्तु इसके दूसरे बेटे सर्वसेन ने अकोला जिले में स्थित वासिम (प्राचीन वत्सगुल्म) में अपनी नई राजधानी बनाई।

मुख्य शाखा

नागपुर-नन्दिवर्धन की मुख्य शाखा में रुद्रसेन प्रथम हुआ। इसकी माता भवनागा नागवंश की थी जो उस समय तक भारशिव कहलाने लगे थे। रुद्रसेन का एक लेख चांदा जिला में देवटेक नामक स्थान से प्राप्त हुआ है जो कि अशोककालीन शिलालेख के साथ खुदा है।* रुद्रसेन प्रथम का बेटा पृथिवीषेण प्रथम हुआ। इसके समय के दो लेख विन्ध्यप्रदेश में मिले हैं। जिनमें उसके सामंत व्याघ्रदेव का उल्लेख मिलता है। पृथिवीषेण प्रथम के पश्चात् उसका बेटा रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक राज्य के राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। इसे गुप्तवंश के महाराजाधिराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की बेटी प्रभावती गुप्ता ब्याही गई थी। इस विवाह संबंध से वाकाटकों की दशा कुछ और ही हो गई। और वे एक प्रकार के गुप्तों के अधीन हो गए क्योंकि हम देखते हैं कि स्वयं वाकाटकों के लेखों में जहां कहीं भी गुप्तों और वाकाटकों दोनों का एक साथ उल्लेख मिलता है, वाकाटक अपने को महाराज और गुप्तों को महाराजाधिराज कहते हैं।

रुद्रसेन द्वितीय की ईस्वी सन् ४०० के लगभग मृत्यु हुई। उस समय उसके तीनों पुत्र नाबालिग थे। इसलिए प्रभावती गुप्ता ने शासन संभाला। प्रभावती गुप्ता के समय के दो ताम्रपत्र लेख अभी तक प्राप्त हो सके हैं। एक पत्र नन्दिवर्धन से लिखा गया था † और दूसरा रामगिरि (रामटेक) से। ‡ प्रभावती के बाद महाराज दामोदरसेन ने राज किया और उसके बाद उसके भाई प्रवरसेन द्वितीय ने। प्रवरसेन के बहुत से ताम्रपत्र लेख मिले हैं और वे मध्यप्रदेश के भिन्न-भिन्न स्थानों में दूर-दूर तक मिले हैं जैसे वर्धा, छिंदवाड़ा, नागपुर, बालाघाट, अमरावती और बैतूल जिलोंमें। इन ताम्रपत्र लेखों से ज्ञात हुआ है कि प्रवरसेन का राज्यकाल कम नहीं था। कम से कम २७ वर्ष तक तो उसने राज किया ही। इन लेखों से यह भी विदित होता है कि राज्य काल के प्रारंभिक वर्षों में उसकी राजधानी नागपुर के निकट नन्दिवर्धन में थी किन्तु बाद में उसने प्रवरपुर बसाकर वहां अपनी राजधानी स्थापित कर ली थी। कुछ विद्वान इस प्रवरपुर को आधुनिक पवनार (वर्धा जिला) बताते हैं। यह भी कहा जाता है कि प्रवरसेन ने प्राकृत भाषा में सेतुबंध नामक काव्य की रचना की थी जिसे विक्रमादित्य के निर्देशपर कालिदास ने संशोधित किया था।

प्रवरसेन द्वितीय के बाद उसका बेटा महाराज नरेन्द्रसेन और उसके बाद नरेन्द्रसेन का बेटा पृथिवीषेण द्वितीय वाकाटक वंश के राजा बने। नरेन्द्रसेन ने कुंतल की राजकुमारी से विवाह किया था। पृथिवीषेण ने दो बार वाकाटकों की गिरी हुई दशा को संभाला था। पृथिवीषेण द्वितीय के बाद वाकाटकों का क्या हुआ कुछ पता नहीं।

* प्रोसीडिंग आफ ओरियंटल कान्फ्रेन्स १९३५। † इपि० इंडिका १५

‡ जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी २०


मध्यप्रदेश
मील
इतिहासपूर्व काल
(Palaeolithic Implements)
(Neolithic Implements)
(Microlithic Implements)
(Stone Circles, Megaliths)
(Rock-shelters with paintings)
(Copper hoards)

वत्सगुल्म की शाखा

ऊपर कहा जा चुका है कि नागपुर के वाकाटकों की एक शाखा अमरावती जिले में वत्सगुल्म या वासिम में अपनी राजधानी स्थापित कर मुख्य शाखा से अलग हो गई थी। इस शाखा की स्थापना सर्वसेन ने की थी। उसने और उसके अनेक उत्तराधिकारियों ने काफी समय तक राज किया। इनके समय में अजन्ता के अनेक गुफामंदिरों का निर्माण हुआ।

गुप्तवंश

भारतीय इतिहास में गुप्त वंश के राज्यकाल को सुख, समृद्धि और सम्पन्नता का युग माना जाता है। कला और संस्कृत साहित्य की इस युग में सर्वतोमुखी उन्नति हुई इसलिए इस युग को स्वर्णयुग भी कहा जाने लगा है।

ईस्वी सन् की तीसरी शती के अंत में गुप्त नाम के एक छोटे से सामन्त राजा ने मगध में गुप्तवंश की नींव डाली। उसके बाद उसका बेटा घटोत्कच राजा हुआ। घटोत्कच के पश्चात् उसका बेटा चन्द्रगुप्त राजा बना। यह अपने उपर्युक्त दोनों पूर्वजों की अपेक्षा अधिक प्रतापी और शक्तिशाली निकला। पहले के दोनों राजा केवल महाराज ही थे किन्तु चन्द्रगुप्त महाराजाधिराज बन गया। गंगा के किनारे-किनारे प्रयाग तक उसने अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। इस चन्द्रगुप्त का मध्यप्रदेश से कोई संबंध स्थापित नहीं हो सका था क्योंकि वह प्रयाग के इस ओर कभी नहीं आ सका। चन्द्रगुप्त ने अपने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण करने के उपलक्ष्य में एक नया संवत् भी चलाया जो गुप्त संवत् के नाम से विख्यात हुआ। यह संवत् ईस्वी ३२० में प्रारंभ किया गया था। महाराजाधिराज बनने में चन्द्रगुप्त को तिरहुत के लिच्छवी वंश की सहायता प्राप्त हुई थी, जिनके वंश की राजकुमारी कुमार देवी से उसने विवाह किया था। इस विवाह का उल्लेख गुप्त वंश के प्रायः सभी लेखों में मिलता है और यह घटना चन्द्रगुप्त के सोने के सिक्कों पर भी अंकित है।

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका बड़ा बेटा काचगुप्त अल्प समय के लिये राजा बना। काचगुप्त का राज्यकाल अत्यल्प क्यों रहा, इसका कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता, यहां तक कि गुप्त वंशावली में उसका नाम तक नहीं लिया जाता। काचगुप्त के बाद समुद्रगुप्त गुप्त साम्राज्य का अधिपति हुआ। उसने समस्त आर्यावर्त के राजाओं को जीत कर दक्षिणापथ की विजय यात्रा की। दक्षिणापथ के राजाओं को जीतने का उल्लेख उसकी प्रयाग वाली प्रशस्ति में मिलता है।* सागर जिले में एरन में इसे स्थानीय शासकों से युद्ध करना पड़ा था। एरन में समुद्रगुप्त का एक खंडित शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिससे विदित होता है कि—समुद्रगुप्त ने एरन को "स्वभोग नगर" बना लिया था और उसकी महारानी ने वहां किसी मंदिर का निर्माण कराया था।† समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ की विजय यात्रा के समय महाकोशल में महेन्द्र नाम का कोई राजा राज करता था। बस्तर के जंगली प्रदेशों में व्याघ्रराज का प्रभुत्व था तथा बैतूल के आसपास के प्रदेशों पर अनेक आटविक राजा राज करते थे। इन सभी राजाओं ने समुद्रगुप्त के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी।

समुद्रगुप्त का बड़ा बेटा रामगुप्त था। उसकी पत्नी का नाम ध्रुव देवी था। जब शक वंश के सरदारों से रामगुप्त हार गया तो उन्होंने उससे उसकी पत्नी को मांगा। किन्तु रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसे अपने वंश का अपमान मान कर शक सरदार की हत्या कर के उस भय को दूर कर दिया। इसके बाद उसने अपने बड़े भाई की भी हत्या करवा डाली और अपनी भाभी से विवाह कर के स्वयं राजसिंहासन पर बैठ गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसके समय में कला और साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। सांची के निकट उदयगिरि में इसकी बनवाई गुफाएं विद्यमान हैं। जबलपुर के निकट तिगवा का मंदिर भी इसी के काल का प्रतीत होता

---

* कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इंडिकेरम्, ३।

† कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इंडिकेरम्, ३।

है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मध्यप्रदेश से बड़ा घनिष्ट संबंध रहा है। उसकी बेटी प्रभावती गुप्ता वहां के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय को ब्याही हुई थी। इसलिये मध्यप्रदेश के शासन प्रबंध के प्रति उसका चिन्तित रहना स्वाभाविक था। दूसरे मध्यप्रदेश के वाकाटक राजवंश की मदद से ही वह गुजरात की विजय में सफल हो सका था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् उसका बेटा कुमारगुप्त राजा हुआ। कुमारगुप्त के राज्य के अंतिम दिनों में भारतवर्ष में हूणों का आक्रमण प्रारंभ हो गया था। कुमारगुप्त के बेटे स्कन्दगुप्त ने हूणों का मुकाबला करने में बड़ी वीरता दिखलाई। स्वयं स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में ऐसी अनेक मुसीबतें गुप्त साम्राज्य पर टूटीं जिनका उसने सामना तो किया किन्तु उससे राज्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। राजकोष खाली हो गया और अशान्ति फैलने लगी। स्कन्दगुप्त के बाद उसका भाई पुरुगुप्त सिंहासन पर बैठा। ४७७ ईस्वी में पुरुगुप्त का बेटा बुधगुप्त राजा हुआ। बुधगुप्त के समय का एक लेख एरन से प्राप्त हुआ है कि जिससे विदित होता है उसके साम्राज्य-कालमें एरन में भगवान जनार्दन का एक स्तंभ खड़ा किया गया था।* बुधगुप्त के बाद नरसिंहगुप्त को सिंहासन मिला। उसके समय में एरन पर हूणों का आक्रमण हुआ और उन्होंने एरन के साथ पूरे मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। किन्तु भानुगुप्त के समय तक अर्थात् ईस्वी सन् ५१० में एरन पुनः गुप्तों के अधिकार में आगया यद्यपि हूणों से होने वाले युद्ध में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज को प्राण देने पड़े।†

गुप्तकाल का पुरातत्त्व

मध्यप्रदेश के उत्तरीय भाग में गुप्तों के अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं। एरन, तिगवा और सकौर के मंदिर इनमें मुख्य हैं। ये सपाट छत के बने होते हैं और इनकी शैली बिलकुल सादी है। कुछ विद्वानों का मत है कि रामटेक की त्रिविक्रम की मूर्ति भी गुप्तकालीन ही है। गुप्त राजाओं के सोने के सिक्के भी मध्यप्रदेश के भिन्न–भिन्न स्थानों से प्राप्त किए गए हैं। काचगुप्त का सिक्का सकौर (हटा के निकट) से मिला है। समुद्रगुप्त के अनेक सिक्के भी इसी स्थान से मिले हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्के सकौर, सिवनी, पट्टण (बैतूल), जबलपुर, हरदा आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं जिनसे विदित होता है कि गुप्त राजवंश का मध्यप्रदेश में दूर-दूर तक प्रभाव था। स्कन्दगुप्त का केवल एक ही सिक्का मिला है और उसके पिता कुमारगुप्त के सोने के तो नहीं, चांदी के सिक्के बरार में इलिचपुर से प्राप्त हुए थे।

परिव्राजक वंश के महाराजा और उच्चकल्प के महाराज गुप्तों के अधीन सामन्त थे। इनके दानपत्रों में गुप्त संवत् में तिथि पड़ी रहती है। ये दानपत्र कारीतलाई और बैतूल तथा विन्ध्यप्रदेश के कुछ स्थानों में प्राप्त हुए हैं। छत्तीसगढ़ में भी एक ऐसे राजवंश का एक लेख प्राप्त हुआ है जो गुप्तों का अधीन मालूम होता है क्योंकि उसके लेख में गुप्त संवत् का उपयोग हुआ है। यह लेख भीमसेन के समय में लिखा गया था जिसमें लेखक ने भीमसेन के पूर्वजों के नामों का उल्लेख किया है।

नलवंश

नलवंश के राजाओं और उनके राज्यविस्तार के संबंध में अभी तक पूरी-पूरी जानकारी नहीं हो सकी है। उसका एक कारण यह है कि इस वंश के शिलालेख बहुत कम मिले हैं और दूसरे राजवंशों के लेखों में इनका जो कुछ भी उल्लेख मिलता है वह अत्यन्त संक्षिप्त है। कुल मिलाकर चार उत्कीर्ण लेख और थोड़े से सोने के सिक्कों के आधार पर ही हम नलवंश की क्रमानुगतिता का किंचित् अनुमान कर सकते हैं। इन चार लेखों में से दो उड़ीसा में प्राप्त हुए हैं

---

* फ्लीट का० इं० इं० ३।

† फ्लीट का० इं० इं० ३।

शेष दो अमरावती* तथा रायपुर† जिलों में। बस्तर जिले में इनके सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं।‡ उत्कीर्ण लेखों से नलों के सर्वप्रथम राजा का नाम भवदत्तवर्मन ज्ञात होता है। उसके अधिकार में नागपुर और बरार तक के प्रदेश सम्मिलित थे जो शायद उसने वाकाटकों से छीन लिए थे। नलवंश के दूसरे राजा का नाम अर्थपति भट्टारक मिलता है। यह भवदत्त का बेटा जान पड़ता है। इसके सोने के सिक्के बस्तर जिले में एडेंगा नामक स्थान से मिले हैं। भवदत्तवर्मन का एक बेटा स्कन्दवर्मन था, जिसने अपने शत्रुओं पर विजय पाकर अपना राज्य पुनः वापस प्राप्त किया था। उड़ीसा में पोड़ागड़ में इसने भगवान विष्णु का पादमूल (मंदिर) बनवाया था। संभावना है कि स्कन्दवर्मा अर्थपति का बेटा था और भवदत्त का नाती लेकिन ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता।

नलवंश का चौथा लेख रायपुर जिले में राजिम में मिला है किन्तु वह बहुत पिछले काल का है। इसमें पृथ्वीराज के बेटे विरूपाक्ष के उत्तराधिकारी विलासतुंग द्वारा अपने स्वर्गीय पुत्र के पुण्य की वृद्धि के लिए विष्णु के मंदिर का निर्माण करने का उल्लेख है। यद्यपि हमें विलासतुंग और उसके इन पूर्वजों का पहले के नलवंशी राजाओं से संबंधित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता फिर भी वर्तमान लेख में नल राजा से वंश का प्रारंभ होने का उल्लेख होने से हम विलासतुंग और पूर्ववर्ती राजाओं को नलवंश का मान लेते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि नलवंश के राजा छत्तीसगढ़ और बस्तर के प्रदेशों पर राज कर रहे थे। किन्तु कब तक यह नहीं कहा जा सकता। संभव है वे सोमवंशियों के उदय तक यहां के राजा बने रहे हों।

भोजवंश

पुराणों में भोजवंश को हैहय-कलचुरियों की एक उपशाखा बताया गया है। हैहय लोग बहुत पहले से ही नर्मदा घाटी में राज कर रहे थे जब कि भोजों का उल्लेख केवल बरार के इतिहास में ही मिलता है। कालिदास के रघुवंश से भी भोज विदर्भ के ही प्रतीत होते हैं। किन्तु इनका यहां के इतिहास में कितना और कहां तक स्थान है ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। भोजों की एक शाखा पिछले काल में कोंकण प्रदेश चली गई थी, जहां से उनके अनेक लेख प्राप्त हुए हैं।

शरभपुरीय राजवंश

गुप्त संवत् १८२ या २८२ (ईस्वी ५०१ या ६०१) का जो लेख आरंग (रायपुर जिला) से मिला है उसमें दक्षिण कोशल के एक राजवंश के कुछ राजाओं के नाम मिलते हैं जिनमें सबसे पहले शूरा हुआ, फिर उसका बेटा दयित, फिर बिभीषण, फिर भीमसेन प्रथम, फिर दयितवर्म द्वितीय और सबसे अन्त में भीमसेन द्वितीय, जिसके राज्यकाल में उक्त लेख लिखा गया। इस लेख पर जो मुद्रा है उसमें सिंह अंकित है। इस प्रकार ईस्वी ४ थी–५ वीं शती में शूरा का वंश दक्षिण कोसल में उदित हो चुका था।×

इसी राजवंश के राज्यकाल के लगभग एक और वंश दक्षिण कोशल के एक भाग में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए था। उस वंश की राजधानी शरभपुर में थी। शरभपुर कहां था और आजकल कौन सा स्थान उसका खंडहर बना हुआ है, यह अभीतक निश्चय नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों का मत है कि शरभपुर मध्यप्रदेश में ही कहीं स्थित था किन्तु दूसरे उसे उड़ीसा में स्थित बताते हैं। इस प्रकार सारंगढ़, सरयूगढ़, सम्बलपुर आदि स्थानों को प्राचीन शरभपुर होने का संकेत किया गया है किन्तु निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं। वास्तव में ये तीनों ही स्थान प्राचीन शरभपुर नहीं हो सकते। इनका शरभपुर से कोई संबंध नहीं दिखता, न तो नाम की समानता से और नहीं किसी अन्य प्रमाण से।

---

* इपि० इं० १६।

† „ „ २६।

‡ जनरल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी, भाग २।

×इपि० इं० ६, पृष्ठ ३४२

शरभपुर का अपभ्रंश सरभौर या ऐसा ही कुछ हो सकता है। यह स्थान रायपुर जिले में ही कहीं होना चाहिए, क्योंकि शरभपुर के राजवंश के अधिकतर ताम्रपत्र इसी जिले से प्राप्त हुए हैं। कोई बड़ी बात नहीं कि चांदा जिले से भी इस वंश का संबंध रहा हो क्योंकि अभी हाल में ही इस वंश के दो राजाओं के सिक्के उक्त जिले में प्राप्त हुए हैं। पिछले काल में इस राजवंश की राजधानी शरभपुर से उठकर श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) चली आई थी। क्यों? कहा नहीं जा सकता।

शरभपुर के राजा परमभागवत थे। उनके सिक्कों पर गरुड़-शंख-चक्र आदि तथा दानपत्रों की मुद्राओं पर गजलक्ष्मी मिलती है। इस वंश का पहला राजा शरभ था जिसके नाम पर राजधानी का नाम शरभपुर पड़ा। उसका बेटा नरेन्द्र था जिसका एक दानपत्र पिपरडुला से प्राप्त हुआ है।* किसी एक शरभराज का नाम हमें एरन से प्राप्त गुप्त संवत् १९१ (५१० ईस्वी) के लेख में मिलता है।‡ उसका इस वंश से संबंध है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। नरेन्द्र के बाद शायद महेन्द्र राजा हुआ। वह महेन्द्रादित्य भी कहलाता था। उसके सोने के सिक्के चांदा और रायपुर जिलों से मिले हैं। उसके बाद प्रसन्नमात्र राजा हुआ। इसके चांदी और सोने के सिक्के मिलते हैं।† पिछले राजाओं के लेखों में प्रसन्नमात्र से ही वंशवृक्ष प्रारंभ किया गया है। प्रसन्न के दो बेटे थे जयराज या महाजयराज और मानमात्र या दुर्गराज। दुर्गराज के बाद उसका बेटा सुदेवराज राज करता रहा। उसके दानपत्र शरभपुर और श्रीपुर दोनों स्थानों से दिए गए थे। जो दानपत्र सारंगढ़ में मिला है वह श्रीपुर से दिया हुआ है।× किन्तु इसके बाद के दानपत्र फिर शरभपुर से दिए हुए हैं। इससे पता चलता है कि इस राजवंश ने अपनी राजधानी बदली नहीं थी बल्कि सिरपुर इसकी उपराजधानी थी या वह कोई तीर्थस्थान था जहां आकर राजा-रईस दान किया करते थे।

प्रवरराज इस वंश का अन्तिम राजा था। वह मानमात्र का बेटा था इसी लिए सुदेवराज का भाई हुआ। उसका ठाकुरदिया से प्राप्त होनेवाला दानपत्र श्रीपुर से दिया गया था।+ प्रवरराज के बाद इस वंश में कोई और राजा हुआ या नहीं, मालूम नहीं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अंतिम काल में पांडुवंशी लोग दक्षिण कोसल के राजा हो गए या तो तीवरदेव के समय में अथवा नन्न के समय में।

पाण्डु वंश

पाण्डुवंशी या सोमवंशी कहे जानेवाले राजवंश में तीवरदेव, जिसे महातीवरदेव भी कहा जाता है, समस्त कोसल का अधिपति था। उसके राज्यकाल के दो दानपत्र प्राप्त हुए हैं। एक तो राजिम से ÷ और दूसरा बलौदा से।∴ दोनों ही दानपत्र श्रीपुर से दिए गए थे। तीवरदेव के काल के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उसे छठी शती के उत्तरार्ध का मानते हैं और कुछ ८ वीं शती का। तीवरदेव परम वैष्णव था। वह नन्न या नन्नेश्वर का बेटा था। इन्द्रबल उसका दादा था और उदयन परदादा। इस प्रकार पांडुवंश का राज्य ईस्वी पांचवीं शती में प्रारंभ होता दिखता है। पाण्डव वंश के एक उदयन का नाम कालिञ्जर के लेख में भी मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि उदयन का राज्य बांदा जिले तक विस्तृत था।

---

* इंडियन हिस्टारिकल क्वारटरली १९।

‡ जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी, भाग १२ और १६।

† जरनल आफ आंध्र रिसर्च सोसाइटी ४। जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी १० और १६।

× इंडियन हिस्टारिकल क्वारटरली, भाग २१।

+ इपि० ई० २२।

÷ कार्प० इं० इं०, भाग ३।

∴ एपि० ई०, भाग ७।

बालार्जुन का जो लेख सिरपुर से प्राप्त हुआ है उसमें भी इन्द्रबल को उदयन का बेटा बताया गया है। एक लेख भांदक से मिला है (जिसे कुछ लोग धारंग का कहते हैं।) जिसमें इन्द्रबल के चार बेटों का होना बताया गया है। एक तो नन्न जो शैव था, दूसरा भवकेसरी नन्न का सबसे छोटा भाई था जिसने किसी सूर्य घोष के द्वारा बनवाए बौद्ध मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था।*

इन्द्रबल के तीसरे बेटे ईशानदेव का लेख खरोद (बिलासपुर जिला) में मिला है।† यह पाण्डुवंशियों का दक्षिण कोसल में प्राप्त सबसे पुराना लेख है। इस प्रकार पाण्डुवंशी बड़े राज्यविस्तार वाले लोग थे। नन्न के समय में इन्होंने दक्षिण कोसल पर आक्रमण किया और तीवरदेव के समय में उसे पूर्णतः जीत लिया।

तीवरदेव का उत्तराधिकारी उसका भाई चन्द्रगुप्त था। चन्द्रगुप्त का बेटा हर्षगुप्त। उसने सूर्यवर्मा की बेटी वासटा से विवाह किया था। रानी वासटा वैष्णव थी। उसने श्रीपुर में एक मंदिर का निर्माण कराया।‡ वह महाशिवगुप्त बालार्जुन की माता थी। महाशिवगुप्त का राज्यकाल बड़ा लम्बा था, कमसे कम ५७ वर्ष का तो अवश्य ही। उसके राज्य के ५७ वें वर्ष का एक दानपत्र लोधिया से मिला है। + शिवगुप्त परम माहेश्वर था उसके दानपत्रों की मुद्राओं पर नन्दी मिलता है जब कि उसके दादा तीवरदेव की मुद्राओं पर गरुड़ जो कि उसे वैष्णव बताता है। इसप्रकार सातवीं शती ईस्वी के प्रारंभ तक बालार्जुन दक्षिण कोसल में राज करता रहा। यह वंश कैसे समाप्त हो गया और सोमवंशियों से इसका क्या संबंध था, यह अभीतक मालूम नहीं हो सका।

मेकल के पाण्डुवंशी

अमरकंटक के निकट का प्रदेश मेकल कहलाता है। पुराणों से पता चलता है कि मेकल प्रदेश की राजधानी मेकला थी। उत्कीर्ण लेखों से पता चला है कि ईसा की ५ वीं शती में मेकल प्रदेश में पाण्डु नाम का राजवंश राज करता था। बम्हनी (सोहागपुर) से प्राप्त एक दानपत्र में मेकल के पाण्डुवंश के चार राजाओं के नाम मिलते हैं। × जयबल, उसका बेटा वत्सराज, वत्सराज का बेटा नागबल और नागबल का बेटा भरत या भरतबल जिसका नाम इन्द्रबल भी था। भरतबल की रानी लोकप्रकाशा कोसला की राजकुमारी थी, इसलिए कुछ लोगों का मत है कि लोकप्रकाशा दक्षिण कोसल के पाण्डुवंश की राजकन्या थी। कुछ लोग उसे शरभपुरीय वंश की बताते हैं।

मानपुर के राष्ट्रकूट

प्रारंभिक काल के राष्ट्रकूटों की दो शाखाएं मध्यप्रदेश से संबंधित थीं। एक की राजधानी कहीं मानपुर में थी और दूसरी शाखा की राजधानी बरार में अचलपुर थी।

मानपुर के राष्ट्रकूट वंश में मानांक का नाम सर्वप्रथम मिलता है। संभव है इसके नाम पर ही राजधानी का नाम मानपुर पड़ा हो। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह मानपुर विन्ध्यप्रदेश में बांधोगढ़ के निकट है और दूसरे कहते हैं सतारा जिले में। मानांक का पौत्र अविधेय दानपत्रों में विदर्भ और अश्मक देशों का विजेता कहा गया है। इससे मालूम होता है कि ये लोग पहले किसी अन्य बड़ी शक्ति के उच्च पदाधिकारी थे बाद में स्वयं स्वतंत्र शासक बन गए। मानांक के बाद उसके बेटे देवराज ने राज किया। देवराज के तीन बेटे थे जिनमें से दो के नाम तो दानपत्रों से ज्ञात हो जाते हैं भविष्य और अविधेय।

---

* जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५।

† हीरालाल की सूची क्र० २०८।

‡ इपि० इं० ११।

+ इपि० इं० भाग २७।

× इपि० इं० भाग २७।

कुछ विद्वानों का मत था कि इस वंश के मानांक और देवराज शरभपुर के मानमात्र और सुदेवराज से भिन्न नहीं हैं। किन्तु यह बात इसलिए नहीं जमती कि एक तो शरभपुर वाले राजाओं ने कभी अपने को राष्ट्रकूट नहीं कहा, दूसरे शरभपुर वालों के दानपत्रों की मुद्रा पर गजलक्ष्मी मिलती है जब कि इनकी मुद्राओं पर सिंह। दोनों वंशों की राजधानियां और राज्यक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न थे। एक बड़ी बात यह भी ध्यान देने की है कि राष्ट्रकूटों में अक्षर सम्पुट युक्त नहीं हैं जब कि शरभपुर वालों के वैसे हैं।

बरार के राष्ट्रकूट

राष्ट्रकूटों का दूसरा वंश तो निश्चय से ही बरार में राज करता था। उसकी राजधानी भी वहीं अचलपुर में (वर्तमान इलिचपुर) थी। इस वंश के कुछ दानपत्र मध्यप्रदेश में ही प्राप्त हुए हैं। तिवरखेड़* और मुलताई† के दानपत्रों से इस वंश के चार राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं। ये दोनों पत्र नन्नराज युद्धासुर नाम के राजा ने लिखवाए थे, जो अपने को राष्ट्रकूट वंश का कहता है। वह स्वामिकराज का बेटा, गोविन्दराज का नाती और दुर्गराज का पोता था। वह ईस्वी ७वीं-८वीं शती में यहां राज करता था। तीवरखेड़* और मुलताई† के दानपत्रों से नन्नराज के राज्य का विस्तार बैतूल जिले तक दिखाई पड़ता है। अमरावती जिले का अचलपुर तो उसकी राजधानी थी ही। इसी राजा का एक और दानपत्र अकोला से १२ मील की दूरी पर स्थित सांगळूद नामक गांव से प्राप्त हुआ है। उस दानपत्र की विशेषता यह है कि वह अचलपुर से नहीं दिया गया था बल्कि पद्मनगर से।‡ संभव है पद्मनगर नन्नराज की उपराजधानी रहा हो। बरार के इस प्रारंभिक राजवंश का राज्य समाप्त करके राष्ट्रकूटों की एक दूसरी शाखा ने अपना राज्य स्थापित किया जिसका प्रथम व्यक्ति दन्तिदुर्ग था। इस वंश का वर्णन हम आगे करेंगे।

माहिष्मती के कलचुरि

मध्यप्रदेश के इतिहास में कलचुरि राजवंश का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। त्रिपुरी और रतनपुर के कलचुरियों के समय में मध्यप्रदेश ने सबसे अच्छे दिन देखे हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी किन्तु इनके पूर्वजों का-जिनकी राजधानी माहिष्मती थी-यहां उल्लेख करना प्रासंगिक है। कलचुरियों का प्रारंभिक नाम कटच्चुरि मिलता है, कहीं-कहीं कलत्सुरि, कलचुति, कालच्चुर्य आदि भी। इन शब्दों का अर्थ क्या है यह न जान सकने के कारण कुछ विद्वानों ने कलचुरियों को विदेशी जाति कहना प्रारंभ कर दिया था। लेकिन पुराणों में बहुत पहले से ही हैहयों-कलचुरियों का उल्लेख मिलता है, जो कि कार्तवीर्य अर्जुन के वंश के थे। कलचुरि लोग अपने शिलालेखों में अपने को हैहय-और सहस्रार्जुन का वंशज बताते हैं। इसलिए वे कोई विदेशी जाति नहीं जान पड़ते अपितु भारत के ही पुराने राजवंशों में से एक हैं।

छठी शताब्दी में कलचुरि बड़े समृद्ध और शक्तिशाली हो चुके थे। उन्होंने गुजरात, महाराष्ट्र और मालवा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। यहां तक कि कोंकण में मौर्य भी उनके अधीन हो गए थे। कृष्णराज नामक कलचुरि राजा के सिक्के नासिक, बम्बई, अमरावती, बैतूल और जबलपुर जिलों में प्राप्त हुए हैं। ये चांदी के हैं और आकार में छोटे हैं जैसे कि पश्चिम भारत के क्षत्रपों के सिक्के होते थे। एक तरफ राजा की प्रतिमा है और दूसरी तरफ नन्दी की आकृति तथा ब्राह्मी अक्षरों में 'परममाहेश्वर माता पितृ पादानुध्यात श्रीकृष्ण राज' लिखा हुआ है।×

कृष्णराज का बेटा शंकरगण था। वह भी बड़ा शक्तिशाली था। उसका एक दानपत्र कलचुरि संवत् ३४७ याने ५९५ ईस्वी का नासिक जिले में अभोना से प्राप्त हुआ है। यह दानपत्र उज्जैन से दिया गया था। शंकरगण

*इपि० इं०, भाग ११।
†का० ई० इं०, भाग ३।
‡पराग, वर्ष २, अंक ६।
×जरनल आफ न्यू० सो०, भाग ३ और १६।

की मृत्यु के अनंतर उसका बेटा बुद्धराज ५६५ ईस्वी के पश्चात् राज्याभिषिक्त हुआ। उसने कलचुरि संवत् ३६० याने ६०८ ईस्वी में विदिशा से एक दानपत्र दिया था। बुद्धराज को चालुक्य राजा मंगलेश से युद्ध करना पड़ा। युद्ध में पूरी तरह विजय किसी की नहीं हुई क्योंकि ६०६ ईस्वी में बुद्धराज ने भरुकच्छ के निकट का प्रदेश दान में दिया था। ६३० ईस्वी के लगभग ये प्रदेश उससे छिन गए और वहां चालुक्यों का राज हो गया।

कलचुरियों के एक अन्य दानपत्र से दो अन्य कलचुरि राजाओं के नामों की सूचना मिलती है। यह दानपत्र तांबे के दो पत्तरों का है जो अलग-अलग स्थानों से प्राप्त किए गए हैं। दानपत्र के लेख से विदित होता है कि महाराज 'षुण्ण' के बेटे तरलस्वामी+ने मञ्कणिका नाम का गांव दान दिया था। महत्वपूर्ण बात यह है कि लेख में नन्न को 'कटच्छुरि कुलवेश्म प्रदीप' कहा है। नन्न का कलचुरि वंश से क्या संबंध था, इस पर अभीतक और प्रकाश नहीं पड़ सका।

चालुक्य

चालुक्यों का प्रारंभिक वंश बदामी का चालुक्य वंश कहलाता है क्योंकि बदामी (प्राचीन वातापी) इनकी राजधानी थी। इस वंश के राजाओं ने ईस्वी छठी शती से लेकर ईस्वी ८ वीं शती तक लगभग दो सौ वर्ष दक्षिणापथ पर राज किया। इस वंश का पुलकेशिन् प्रथम सत्याश्रय और रणविक्रम कहलाता था। उसकी पृथ्वीवल्लभ आदि अनेक उपाधियां थीं। उसके बाद कीर्तिवर्मन प्रथम राजा हुआ जिसका समय ईस्वी ५६६ से ५९८ निश्चित किया गया है। कीर्तिवर्मा का भाई मंगलेश था। उसने कलचुरियों को जीता और रेवती द्वीप की विजय की। हारनेवाला कलचुरि राजा बुद्धराज था। मंगलेश का भतीजा पुलकेशी द्वितीय था। उसने मंगलेश से लड़कर अपना राज्य वापस लिया। वह जब राजसिंहासन पर बैठा उस समय उसके चारों ओर शत्रु प्रबल हो रहे थे किन्तु वह बड़ा योग्य निकला और उसने सबको अपने वश में कर लिया। ऐहोल के एक जैन मंदिर में ६३४–३५ ईस्वी में एक प्रशस्ति लिखी गई थी जिसमें पुलकेशी की विजयों का विस्तार से वर्णन है। इससे मालूम होता है कि पुलकेशी ने कन्नौज के हर्षवर्धन को मध्यप्रदेश की उत्तरीय सीमा के निकट कहीं हराया था। पुलकेशी रेवा और विन्ध्य के प्रदेश में स्वयं मौजूद था। दक्षिण कोसल का प्रदेश भी पुलकेशी के अधीन हो गया था। पुलकेशी के राज्यकाल में ईस्वी सन् ६४१ में चीनी यात्री ह्यू नत्सांग महाराष्ट्र प्रांत में आया था। उसने अपने विवरण में वहां की लोक संस्कृति आदि पर प्रकाश डाला है।

चालुक्य वंश में एक राजा विक्रमादित्य द्वितीय हुआ जिसका समय ईस्वी ७३३ से ७४४ था। उसने कलचुरि वंश की दो राजकुमारियों से विवाह किया था। बड़ी लोकमहादेवी पट्टराणी थी। उसने लोकेश्वर महादेव का मंदिर बनवाया था। दूसरी रानी त्रैलोक्यमहादेवी ने त्रैलोक्येश्वर का मंदिर बनवाया था।

चालुक्यों के राज्य की समाप्ति की राष्ट्रकूट वंश के दन्तिदुर्ग ने ईस्वी सन् ७५४ के लगभग। चालुक्यसाम्राज्य का उत्तरीय हिस्सा तो उसने हथिया ही लिया था। तबसे ही चालुक्यों के स्थान में राष्ट्रकूटों की शक्ति बढ़ने लगी और वे महाराजाधिराज बन गए।

ईस्वी सन् ८०० से १३००

राष्ट्रकूट

ईस्वी सन् ६२५ में राष्ट्रकूटों की राजधानी लत्तलुर (हैद्राबाद) से उठकर अचलपुर (वरार) में चली आई। यहां पहुंचकर राष्ट्रकूटों ने अपने राज्य की बड़ी उन्नति की। पहले वे चालुक्यों के सामन्त थे किन्तु अब स्वतंत्र हो गये थे। इन्द्र प्रथम का बेटा दन्तिदुर्ग राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। ७५० ईस्वी के लगभग समूचे मध्यप्रदेश में राष्ट्रकूटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। बघेलखंड और मालवा के कुछ प्रदेश भी अधिकार में आगए थे।

+ देखिये, गद्रे, Important Inscriptions from the Baroda State, Vol. I.

दन्तिदुर्ग के बाद उसका काका कृष्ण प्रथम सिंहासन पर बैठा। भांदक से प्राप्त होनेवाले दानपत्रों से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश का पूरा का पूरा मराठी भाषी प्रांत उसके शासन के अन्तर्गत था।* कृष्ण प्रथम के बाद उसका बेटा गोविन्द द्वितीय राजा हुआ। यद्यपि वह भी अपने पूर्वजों की भांति वीर था किन्तु विलासी अधिक था। उसने अपने छोटे भाई ध्रुव को राज्यभार सौंपकर आनंद का जीवन बिताना प्रारंभ किया। मौके का लाभ उठाकर ध्रुव ने स्वयं राजा बन जाना चाहा किन्तु गोविन्द को इसका पता लग गया और उसने ध्रुव के हाथ से शासन-प्रबंध छीन लिया। किन्तु ध्रुव ने विद्रोह करके सम्पूर्ण सत्ता हथिया ली और ईस्वी ७८० में स्वयं राजा बन बैठा।

ध्रुव दक्षिणापथ का तो सार्वभौम राजा था ही किन्तु वह उतने से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने उत्तर भारत की विजय यात्रा करने का निश्चय किया। इस समय राजपूताना के गुर्जर–प्रतिहार और बंगाल के पाल राजा भी उत्तर भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित करने में प्रयत्नशील थे। गुर्जरों का राजा वत्सराज और पालों का राजा धर्मपाल था। दोनों के बीच युद्ध हुआ जिसमें वत्सराज जीता किन्तु धर्मपाल ने हिम्मत नहीं हारी। इसी बीच ईस्वी सन् ७८६ में ध्रुव की फौजें नर्मदा तट पर आ डटीं। ध्रुव ने अपने दो पुत्रों–गोविन्द और इन्द्र की सहायता से प्रतिहारों और पालों दोनों को ही हरा दिया उनसे भागते ही बना। ७९० ईस्वी में ध्रुव वापस दक्षिण लौट आया।

ईस्वी ७९३ में गोविन्द तृतीय राजा बना। इसके अनेक दानपत्र मध्यप्रदेश में प्राप्त हुए हैं।† वह ७९५ ईस्वी के पश्चात् उत्तर की ओर बढ़ा। कन्नौज में उथलपुथल तो मची ही थी। उत्तर भारत के प्रमुख और गौण राजा उससे परास्त हुए। संजाण ताम्रपत्रों से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय ने नर्मदा के तट पर विन्ध्य के चरणों में अनेक मंदिर बनवाए थे तथा अनेक धार्मिक कृत्य किए थे।

फिर अमोघवर्ष ८१४ ईस्वी में सिंहासन पर बैठा। उसका शासन काल बड़ा लम्बा था अर्थात् ईस्वी ८७८ तक। अमोघवर्ष ने मान्यखेट नगर बसाया था जिसे उसने अपनी राजधानी बनाया। जबलपुर जिले में कारीतलाई से कलचुरि संवत् ५९३ (ईस्वी ८४२–४३) का एक खंडित लेख मिला है जिसमें अमोघवर्ष का उल्लेख है जो सूचित करता है कि अमोघवर्ष का राज वहां तक विस्तृत था।‡ अमोघवर्ष के पश्चात् कृष्ण द्वितीय सन् ८७८ में राजा हुआ। उसे कलचुरि राजा कोकल्लदेव की बेटी ब्याही गई थी। कृष्ण को अनेक युद्धों में कोकल्लदेव से मदद मिलती रही। उसने लगातार अनेक युद्ध किए और दूरतक राज्य-विस्तार कर लिया। चालुक्य विक्रमादित्य तृतीय इस का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था। वह राष्ट्रकूटों पर बराबर हमला किए जा रहा था। पहले तो राष्ट्रकूट एकदम हिल गए किन्तु बाद में कृष्ण ने पुनः ताकत एकत्रित कर चालुक्यों को हटा दिया।

कृष्ण द्वितीय के पश्चात् इन्द्र तृतीय राजा हुआ। इसने भी उत्तर भारत में अनेक युद्ध किए और उन सबमें कलचुरियों की इसे सहायता मिलती रही। इन्द्र ९२२ ईस्वी में मरा। उसके बाद अमोघवर्ष द्वितीय के समय में मध्य-प्रदेश में कोई खास घटना नहीं घटी। फिर गोविंद चतुर्थ को सिंहासन मिला किन्तु वह बड़ा ही विलासी था। प्रजा तक उसे न चाहती थी इसलिए अमोघवर्ष तृतीय ने कलचुरि राजवंश की मदद लेकर मान्यखेट पर हमला करके शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। लेकिन वास्तव में शासन प्रबंध करता था अमोघवर्ष का बेटा कृष्ण क्योंकि अमोघवर्ष तो बड़ा धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। इस कृष्ण ने, जिसे कृष्ण तृतीय कहते हैं बुंदेलखंड तक विजय यात्रा की थी। कालिंजर और चित्रकूट के प्रसिद्ध दुर्ग उसने जीत लिए थे। इसका एक लेख मैहर के निकट मिला है।× छिन्दवाड़ा जिले में भी इसके लेख मिले हैं। कहते हैं कि बुंदेलखंड के अभियान के संबंध में राष्ट्रकूट कृष्ण और कलचुरि नरेश के बीच मनमुटाव हो गया और तबसे इन दोनों वंशों की मित्रता और पारस्परिक संबंध टूट गए।

---

* इपि० इं० १४।
† इपि० इं० २३।
‡ इपि० इं० २३।
× इपि० इं० १९।


कलचुरी वंश
लेखांके प्राप्तिस्थान
देवालय (उल्लेखित)
देवालय के स्थान
सिक्के
स्केल
मील
प्रयाग
कोसम्ब
बनारस
देवतलाव
अल्हाघाट
बैजनाथ
लालपहाड
रीवाँ
गुर्गी
मसान
मरई
चंदेहे
कारीतलाई
बरगांव
सलेया
पोण्डी
देवरी
कैलवारा
रिठि
बिल्हेरी
बाहुरीबंद
सोहागपुर
कुंभी
त्रिपुरी
भेडाघाट
गोपालपुर
नर्मदा नदी
अमरकंटक
कोमो
रतनपुर
जाजल्लपुर
सोनसारी
अकलतारा
कोणी
मल्लार
सरखो
आमोदा
सकती
खरोद
तलोरा
बालपुर
पारगांव
बिलैगढ
सारंगगढ
डेकोणी
नारायणपुर
खेरागढ
राजिम
ह्य
प्र
को
सल
प्र

कृष्ण के बाद उसका छोटा भाई कोट्टिग ९६७ ईस्वी में राजा हुआ किन्तु उसके समय में ईस्वी सन् ९७२ में परमारों के हमले हुए और उन लोगों ने राजधानी मान्यखेट को लूट लिया। कोट्टिग के पश्चात् उसका भतीजा कर्क द्वितीय राजा हुआ। उसके समय में चालुक्य राजा तैल द्वितीय ने गुप्त रूप से अपनी शक्ति बढ़ाली थी। ९७३ ईस्वी में उसने खुलकर विद्रोह कर दिया। कर्क ने इस विद्रोह को दबाना चाहा किन्तु स्वयं गहरी शिकस्त खाई। ९७५ ईस्वी में चालुक्य वंशीय तैल दक्षिणापथ का स्वामी बन गया।

सोमवंशी राजे

केसरी पदान्त नाम वाले कुछ राजा अपने को सोमवंशी और कोशल का राजा कहते हैं। वे त्रिकलिंगाधिपति थे। उनके लेखों पर शरभपुरियों और कलचुरियों के समान गजलक्ष्मी की मुद्रा मिलती है। किन्तु इस सोमवंश का पहले के सोमवंशियों से कुछ संबंध था अथवा नहीं कुछ नहीं कह सकते। इस सोम वंश के किसी एक राजा से कलचुरि मुग्धतुंग ने पाली छीन ली थी। फिर तो कलचुरियों ने इन्हें छत्तीसगढ़ से भगा ही दिया यद्यपि कलचुरि लोग पूर्ण रूप से छत्तीसगढ़ में ११ वीं शती में ही जमे। सोमवंशी राजाओं में शिवगुप्त के बाद जनमेजय महाभवगुप्त प्रथम हुआ (ईस्वी ९३० से ९७५ तक) उसका कलचुरि लक्ष्मणराज से युद्ध हुआ था। उसकी राजधानी सुवर्णपुर (वर्तमान सोनपुर) में थी। जनमेजय के बाद ययाति महाशिवगुप्त प्रथम हुआ। वह ९७०–१००० तक राज करता रहा। उसकी राजधानी पहले विनीतपुर में रही और फिर ययातिनगर। इसके पश्चात् सोमवंशियों का छत्तीसगढ़ से संबंध कम हो गया। इसलिए उनका विशेष विवरण देना आवश्यक नहीं।

त्रिपुरी के कलचुरि

कलचुरि महाराजा अपने को हैहयवंशी कहते हैं। हैहयों की पहली राजधानी माहिष्मती थी। वहां से उनकी एक शाखा त्रिपुरी चली आई। ये लोग त्रिपुरी कब आए और क्यों आए, कुछ नहीं कहा जा सकता। स्वर्गीय रायबहादुर हीरालाल का अनुमान था कि माहिष्मती के हैहयों में मनमुटाव हो जाने के कारण एक पक्ष ने दूसरी जगह चले जाने का निश्चय किया। माहिष्मती की भांति नर्मदा का किनारा उन्हें त्रिपुरी के निकट मिला। इसलिए वे वहीं आकर बस गए।

त्रिपुरी के कलचुरि राजाओं को डाहलमण्डल के राजा भी कहा जाता था। इनमें सर्वप्रथम राजा कोकल्ल देव हुआ, लेकिन कलचुरि संवत् ५९३ (ईस्वी ८४१-४२) का एक लेख कारीतलाई से प्राप्त हुआ है, जो खंडित है।* उसमें लक्ष्मण राजदेव नाम के किसी राजा का नाम मिलता है। ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह लक्ष्मणराज कलचुरि राजा था अथवा राष्ट्रकूटों का प्रतिनिधि। यदि वह कलचुरि वंश का था तो मानना पड़ेगा कि कोकल्लदेव से पहले का था और कोकल्लदेव ईस्वी ८४२ के बाद ८४५ के लगभग ही राजसिंहासन पर बैठा होगा। कोकल्लदेव बड़ा प्रतापी राजा था। उसने गुर्जर प्रतिहारों के राजा भोज प्रथम से युद्ध किया था। इस युद्ध में भोज कोकल्ल का मुकाबला नहीं कर सका था। कोकल्ल ने उसे अंत में अभय दे दिया। कोकल्ल ने तुरुष्कों को भी हराया और वंग अर्थात् पूर्वी बंगाल की समृद्धि नष्ट की।

कोकल्ल की महारानी नट्टा देवी चंदेल वंश की थी। स्वयं कोकल्ल ने अपनी बेटी राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय को दी थी। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के दामाद होने पर भी कोकल्ल देव ने उससे युद्ध किया था, किन्तु बाद में दोनों वंशों में सन्धि हो गई। कहा जाता है कि कोकल्ल के १८ बेटे थे। इस में से एक ने दक्षिण कोसल याने छत्तीसगढ़ में जाकर तुम्माण में कलचुरि वंश की शाखा स्थापित की जो बाद में उठ कर रतनपुर चली गई। इस शाखा के संबंध में हम आगे विचार करेंगे। कोकल्ल का एक बेटा शंकरगण था, जिसे मुग्धतुंग, प्रसिद्ध धवल और रणविग्रह भी कहते थे। दूसरा

---

* इपि० इंडिका, भाग २३।

बेटा अर्जुन था। मुग्धतुंग स्वयं बड़ा योद्धा था। उसने पूर्वी समुद्र के किनारे तक विजय की थी और दक्षिण कोशल के सोमवंशियों से पाली (बिलासपुर जिला) छीन ली थी।* मुग्धतुंग ने अपने रिश्तेदार राष्ट्रकूट राजाओं की सदा मदद की। उस समय कृष्ण द्वितीय का राज था और चालुक्य वंशीय विनयादित्य तृतीय उनसे युद्ध कर रहा था। मुग्धतुंग ने अपनी सेनाएँ राष्ट्रकूटों की मदद के लिये भेजीं। राष्ट्रकूटों और कलचुरियों की सेनाएँ आपस में किरणपुर में मिल गईं किन्तु दोनों की सम्मिलित सेनाएँ भी चालुक्यों की सेनाओं के सम्मुख न टिक सकीं और कृष्ण तथा मुग्धतुंग दोनों की बुरी हालत हुई। चालुक्यों ने किरणपुर को जला कर नष्ट कर दिया।

मुग्धतुंग के दो बेटे थे, बालहर्ष और केयूरवर्ष, जिसे युवराज देव भी कहते थे। तीसरी सन्तान लक्ष्मी नाम की बेटी थी, जो राष्ट्रकूट कृष्ण के बेटे जगत्तुंग को ब्याही गई थी, जिसका बेटा इन्द्र तृतीय हुआ। मुग्धतुंग के भाई अर्जुन की नातिन विजम्बा इन्द्र तृतीय को ब्याही गई थी। मुग्धतुंग की मृत्यु नौवीं शती ईस्वी के अंतिम भाग में हुई। उसके बाद उसका बड़ा बेटा बालहर्ष सिंहासन पर बैठा और उसके बाद केयूरवर्ष या युवराज देव प्रथम १० वीं शती के द्वितीय पाद में राजा हुआ। वह बड़ा वीर और योद्धा था। युवराज देव का एक शिलालेख अभी हाल में ही कारीतलाई नामक गांव से खोजा गया है, जिसमें उसके द्वारा गौड़, कोशल, गुर्जर और दक्षिण दिशा के राजाओं को जीतने का उल्लेख है। युवराजदेव के उत्तराधिकारियों के शिलालेखों से भी इन देशों की विजय की सूचना मिलती है। बिलहरी के शिलालेख में† इसकी प्रशंसा में लिखा है कि "युवराज देव ने गौड़ देश को युवतियों की मनोकामना पूर्ण की, कर्णाटक की बालाओं के साथ क्रीडा की, लाट देश की ललनाओं के ललाट अलंकृत किए, काश्मीर की कामिनियों से क्रीड़ा की और कलिंग की स्त्रियों से मनोहर गीत सुने। कैलास से लेकर सेतुबंध तक और पश्चिम के समुद्र तक उसके शस्त्रों ने शत्रुओं के हृदयों में पीड़ा उत्पन्न कर दी।" बुंदेलखंड के चन्देलों से भी इसकी नहीं बनी, चन्देल लेखों से पता चलता है कि यशोवर्मा ने इसे हरा दिया था, किन्तु इस हार का युवराज देव के राज्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि इस लड़ाई में उसके राज्य का कोई भाग छिना नहीं था।

युवराज देव ने अपनी बेटी कुन्दका देवी राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष तृतीय को दी थी। उन दोनों का पुत्र कृष्ण तृतीय था। कृष्ण तृतीय ने अपने नाना के ही राज्य पर आक्रमण कर दिया, जिसमें कलचुरियों को बुरी तरह हारना पड़ा। उस समय प्रायः पूरा का पूरा डाहलमण्डल कृष्ण की कृपा पर आश्रित हो गया था। कन्हाड से प्राप्त होने वाले राष्ट्रकूट लेख में स्पष्ट लिखा है कि "यद्यपि वह मां और पत्नी दोनों का ही रिश्तेदार था, फिर भी उसने सहस्रार्जुन को हराया।" मैहर के निकट जूरा नामक स्थान में जो कन्नड़ लिपि में लिखा राष्ट्रकूट लेख मिला है, वह भी इस बात का सबूत है कि कृष्ण तृतीय उक्त प्रदेश का राजा बन गया था।

किन्तु राष्ट्रकूट अधिक समय तक डाहलमण्डल में न रह सके और न कलचुरियों को दबाए रख सके। युवराज देव ने शीघ्र ही उन्हें डाहल मण्डल से खदेड़ दिया। बिलहरी के लेख में कर्णाटक और लाट की विजय का जो उल्लेख है वह इसी घटना का सूचक है। कवि राजशेखर भी कहता है कि युवराज ने वल्लभ को जीत लिया था, जिसने अन्य अनेक राजाओं से संधि कर के एक गुट्ट बना लिया था। युवराज देव के शासन काल की यह एक प्रमुख घटना थी। इसके उपलक्ष्य में कवि राजशेखर ने बिद्धशालभंजिका नाम का नाटक लिखा और वह युवराज देव की सभा में खेला गया। बिलहरी के लेख में युवराज के द्वारा हिमालय, कैलास और काश्मीर जीतने की जो बात कही गई है वह शायद अतिशयोक्ति ही है।

युवराज देव ने शैव आचार्यों को धर्म-प्रचार के लिये अनेक प्रकार से सहायता दी थी। सद्भाव शंभु नामक आचार्य को तीन लाख गांवों का एक प्रदेश दान किया था। ये गांव त्रिपुरी में स्थित गोलकी मठ के प्रबंध के लिए थे। युव-

* इपि० इंडिका, भाग २।

† ,, ,, , भाग १।

राज देव की पत्नी नोहला चालुक्य राजा अवन्ति वर्मा की बेटी थी। अवन्ति वर्मा मत्तमयूर नगर में निवास करता था। वहां से प्रभावशिव नामक आचार्य को बुलाकर युवराज ने एक अन्य मठ का प्रबंध सौंपा। यह मठ बघेलखंड में चंद्रेह में था। एक दूसरा मठ बघेलखंड में ही गुर्गी में स्थापित था। स्वयं महारानी नोहला ने बिलहरी में नोहलेश्वर मठ का निर्माण करा कर उसके प्रबंध के लिये सात गांवों का दान किया था।

युवराज देव प्रथम का पुत्र लक्ष्मणराज था। यह ९५० ईस्वी के लगभग सिंहासन पर बैठा। लक्ष्मणराज ने पूर्वी बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण कोसल, लाट, गुर्जर आदि अनेक देश जीते थे। पश्चिम समुद्र के किनारे पहुँच कर उसने सोमनाथ के दर्शन किए और उनके चरणों में बड़ी भारी सम्पत्ति अर्पित की।* लक्ष्मणराज ने बिलहरी का मठ मत्तमयूर शाखा के हृदयशिव नामक साधु को सौंप दिया था। कारीतलाई में भी उसके समय में विष्णु का मंदिर बना, जिसके लिए स्वयं लक्ष्मणराज ने, उसकी रानी राहड़ा ने और उनके पुत्र शंकरगण ने दान किए।†

लक्ष्मणराज के दो बेटे थे, शंकरगण और युवराज देव द्वितीय। एक बेटी भी थी बोन्था नाम की, जो चालुक्य वंश के राजा विक्रमादित्य चतुर्थ को ब्याही थी। इसका बेटा तैल द्वितीय हुआ, जो बहुत ही प्रतापी निकला। उसने दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश को पूर्णतया उखाड़ कर चालुक्य साम्राज्य की स्थापना की। लक्ष्मणराज का पहला बेटा शंकरगण परमवैष्णव था। उसने बहुत कम राज किया। उसके बाद उसका छोटा भाई युवराज देव द्वितीय राजा हुआ। उसका समय ईस्वी दसवीं शताब्दी का अंतिम पाद है। युवराज देव द्वितीय ने त्रिपुरी को फिर से बसाया था और उसे सुन्दरता और विशालता दोनों में ही पहले से अधिक बढ़ा बनाया। यद्यपि कलचुरि शिलालेखों में मिलता है कि युवराज देव ने बहुत के राजाओं को जीता था किन्तु अन्य राजवंशों के शिलालेखों से जान पड़ता है कि इसके समय में त्रिपुरी को बुरे दिन देखने पड़े थे। तैल द्वितीय ने अपने मामा की कोई चिन्ता न कर के चेदि देश पर आक्रमण कर दिया। इसी प्रकार परमार वंश का मुञ्ज भी त्रिपुरी पर टूट पड़ा और उसने युवराज देव को हरा दिया। मुञ्ज त्रिपुरी में घुस आया। इस युद्ध में कलचुरियों के अनेक सेनापति मारे गए। युवराज को त्रिपुरी से भागना पड़ा। जब परमारों का आक्रमण कम हुआ और मुंज वापस चला गया तो मंत्रियों ने युवराज देव द्वितीय को फिर सिंहासन पर नहीं बैठने दिया क्योंकि उसने कायरता का काम किया था। उसके बेटे कोकल्ल देव द्वितीय को राजा बनाया गया। कोकल्ल ने कलचुरियों की स्थिति को फिर सुदृढ़ बनाया और गुर्जर, दक्षिणापथ, कुन्तल तथा गौड़ देश की विजय की।

कोकल्ल देव द्वितीय का बेटा गांगेय देव ईस्वी सन् १०१५ में कलचुरि सिंहासन का अधिकारी हुआ। वास्तव में गांगेय देव के समय में ही कलचुरि साम्राज्य फिर से सम्हला और शक्तिशाली हुआ। गांगेय देव ने दूर-दूर के देशों की विजय-यात्रा की और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। कहा जाता है कि उसके सौ रानियां थीं। उनके साथ उसने प्रयाग में वट वृक्ष के नीचे मुक्ति प्राप्त की।‡

गांगेयदेव का बड़ा शक्तिशाली राजा होना इस बात से और सिद्ध हो जाता है कि उसने सोने के सिक्के चलाए थे। जिन पर एक ओर उसका नाम और दूसरी ओर चतुर्भुजा देवी की प्रतिमा रहती थी। गांगेय देव के चलाए हुए सिक्कों की नकल उत्तर भारत के प्रायः सभी तत्कालीन राजाओं ने की। गांगेय देव का एक लेख रीवा के निकट मिला है और इसके सिक्के उत्तरप्रदेश तक मिलते हैं।

गांगेयदेव का बेटा कर्ण देव हुआ। यह कलचुरि वंश का सबसे प्रतापी नरेश था। कर्ण ने अनेक देशों की विजय यात्रा की थी और कर्णावती नामक एक नगरी बसाई थी। इसने काशी में राजघाट पर सप्तभौम कर्णमेरु नामक शिवमंदिर का निर्माण कराया था। चन्देल और परमार राजवंशों के लेखों में भी कर्ण की प्रशंसा के गीत

* इपि० इं० भाग १।
† इपि० इं० भाग २।
‡ इपि० इंडिका भाग २।

मिलते हैं। कर्ण के समय के सिक्के तो नहीं मिलते, किन्तु उसके बनवाए मंदिर अनेक स्थानों पर हैं। अमरकंटक के मंदिरों का निर्माण कर्ण के द्वारा ही कराया गया था। कर्ण की एक विशेषता यह थी कि उसने हूण वंश की राजकुमारी आवल्ला देवी को अपनी महारानी बनाया था। कर्ण के लेख मध्यप्रदेश में तो मिलते ही हैं, विन्ध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में सारनाथ तक मिले हैं।

आवल्ला देवी से कर्ण देव को यशस्कर्ण नामक पुत्र हुआ। वह ईस्वी सन् १०७२ के लगभग राजसिंहासन पर बैठा। इसका राज्याभिषेक स्वयं पिता ने ही किया था। यश: कर्ण के पश्चात् उसका बेटा गया कर्ण सिंहासनारूढ़ हुआ। गया कर्ण के समय में कलचुरि वंश की दशा क्षीण होती गई। उसके बाद उसका बेटा नरसिंह देव और फिर जयसिंह देव सिंहासन पर बैठा। दोनों भाइयों में राम और लक्ष्मण के समान प्रेम था।* नरसिंह देव और उसकी माता अल्हण देवी ने भेड़ाघाट में वैद्यनाथ का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया था। त्रिपुरी के कलचुरि वंश का अन्तिम शासक विजयसिंह था। यद्यपि इसके अनेक शिलालेख मिलते हैं, किन्तु उसके पश्चात् के कलचुरि वंश के संबंध में अभी भी सूचना नहीं मिल सकी है। विजयसिंह के पश्चात् कलचुरि वंश का क्या हुआ, कुछ नहीं कह सकते। इसप्रकार १२ वी शती के अंतिम भाग में त्रिपुरी के कलचुरि वंश के सूर्य का अस्त होगया।

रतनपुर के कलचुरि

ऊपर कहा जा चुका है कि त्रिपुरी के कलचुरि वंश के राजा कोकल्ल देव प्रथम के अठारह पुत्र थे। उनमें से सबसे जेठा तो त्रिपुरी के राजसिंहासन का अधिकारी हुआ और सबसे छोटे कलिंगराज ने दक्षिण कोशल की ओर आकर तुम्माण में अपनी राजधानी बनाई। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि इस कलिंगराज का जमाया हुआ वंश-वृक्ष सौ-सवा सौ वर्ष राज करने के बाद फिर अस्त हो गया। तब फिर कोई कलिंगराज वहां पहुँचा, जिसने तुम्माण के राज्य को पुनः स्थिर किया। इस कलिंगराज का पुत्र कमलराज हुआ और उसका पुत्र रत्नराज। रत्नराज ने तुम्माण में अनेक मंदिर आदि बनवाए थे। अन्त में उसने वहां से ४५ मील की दूरी पर रत्नपुर नामक नगर बसाया और अपनी राजधानी वहीं उठा कर ले गया। रत्नराज ने कोमोमंडल के राजा वज्जूक की पुत्री नोनल्ला से विवाह किया। उसके पृथ्वीदेव नामक पुत्र हुआ। पृथ्वीदेव ने तुम्माण में पृथ्वी देवेश्वर नामक मंदिर का निर्माण कराया था।

पृथ्वीदेव का पुत्र जाजल्लदेव हुआ। उसने कान्यकुब्ज और बुंदेलखंड के राजाओं से मित्रता की और फिर आस-पास के प्रदेशों को जीतना प्रारंभ कर दिया। जाजल्लदेव की इस विजय यात्रा में जगपाल देव नामक एक सेनापति ने बड़ी सहायता की। उसने हैहयों का आतंक मचा दिया और अमरकंटक से गोदावरी तथा बरार से लेकर उड़ीसा तक उसकी धूम मच गई। जाजल्लदेव का बेटा हुआ रत्नदेव द्वितीय। उसने कलिंग देश के राज चोड गंग को हरा दिया था और वह तब से त्रिकलिंगाधिपति कहलाने लगा। फिर द्वितीय पृथ्वीदेव, उसके बाद जाजल्लदेव द्वितीय और उसके बाद रत्नदेव तृतीय तथा उसके बाद पृथ्वीदेव तृतीय राजा हुए। इन सभी राजाओं के समय के लेख मिलते हैं। अंतिम राजा प्रतापमल्ल हुआ। वैसे तो रतनपुर के राजाओं की बड़ी लम्बी वंशावली मिलती है किन्तु अन्य कोई प्रामाणिक लेख प्राप्त नहीं होते। चौदहवीं शती में रत्नपुर की शाखा से एक उप-शाखा फूटी और वह रायपुर में राज करने लगी थी।

कलचुरिकालीन पुरातत्त्व

मध्यप्रदेश की समस्त पुरातत्त्व सामग्री का अधिकांश भाग कलचुरियों के समय का है। इनके बहुत से शिला और ताम्रलेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे राजाओं की वंशावली, शासन-प्रबंध, राज्य-विस्तार और तत्कालीन संस्कृति के संबंध में तरह-तरह की जानकारी होती है। कलचुरि राजाओं के समय में शैव, वैष्णव और जैन तीनों धर्मों को समान रूप से

* भेड़ाघाट प्रशस्ति।

उन्नति हो रही थी। कलचुरि राजा स्वयं शैव थे, किन्तु उन्हें किसी धर्म के प्रति द्वेष अथवा पक्षपात नहीं था। गोलकी मठ, नोहलेश्वर मठ, चंद्रेह का मठ आदि इनके समय में स्थापित हुए। भेड़ाघाट, त्रिपुरी, बिलहरी, कारीतलाई, अमरकंटक, चंद्रेह, गुर्गी आदि स्थानों में विभिन्न मंदिरों का निर्माण हुआ।

रतनपुर के कलचुरियों की छत्रछाया में रतनपुर, शिवरीनारायण, राजिम आदि स्थानों में एक से एक सुन्दर मंदिर बने और इन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त रहा।

कलचुरि राजाओं में सबसे पहले सिक्के चलाने का श्रेय गांगेयदेव को है, जो त्रिपुरी की मुख्य शाखा का राजा था। दुर्भाग्य की बात है कि गांगेयदेव के उत्तराधिकारियों में से किसी के भी सिक्के अभी तक नहीं मिल सके हैं। इसके विपरीत रतनपुर की शाखा में कम से कम चार राजाओं के सिक्के मिलते हैं। जाजल्लदेव, पृथ्वीदेव, रत्नदेव और प्रतापमल्ल। प्रतापमल्ल के सिक्के केवल तांबे के ही मिले हैं, जो यह सूचित करते हैं कि उसके समय में रतनपुर के कलचुरि उतने समृद्ध नहीं रह गए थे, जितने कि वे पहले के राजाओं के समय में थे, जिन्होंने कि सोने के सिक्के चलाए थे।

प्रतिहार-वंश

प्रतिहार राजवंश पहले राजपूताने में राज करता था। वह गुर्जर-प्रतिहार राजवंश कहलाता था। ८ वीं शती के मध्यकाल में ये विशेष प्रकाश में आए और इन्होंने बाद में अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित करके पूरे उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। प्रतिहार वंश का मध्यप्रदेश से अधिक संबंध नहीं रहा। एक उल्लेख नागभट्ट द्वितीय द्वारा विदर्भ जीते जाने का मिलता है और दूसरा उल्लेख यह कि कलचुरि कोकल्लदेव प्रथम ने प्रतिहारों के राजा भोज प्रथम को बुरी तरह परास्त किया था और अन्त में उसे अभयदान भी दिया।

चन्देल-वंश

चंदेल वंश चन्द्रात्रेय वंश भी कहलाता है। ये कलचुरियों के पड़ोसी थे, इसलिये उनका कलचुरियों से अच्छा या बुरा, किसी न किसी प्रकार का संबंध बना ही रहता था। कहा गया है कि विंध्य पर्वत चन्देल वाक्पति का क्रीड़ास्थल था। इसी वंश के जयशक्ति की बेटी नट्टा देवी कोकल्ल देव प्रथम को ब्याही गई थी। यशोवर्मा के लेख में उल्लेख मिलता है कि उसने कलचुरि राजा युवराज देव प्रथम को हरा दिया था और चेदि तथा मालवा तक अपना राज्यविस्तार किया था। कोसल के सोमवंशी राजाओं को चंदेलों ने जीत लिया था। एक दूसरे चंदेल राजा धंग के राज्य में चेदि देश का बहुत सा हिस्सा (जबलपुर जिले का उत्तरीय भाग) सम्मिलित हो गया था।

परमार

परमारों का मूल स्थान आबू था और उपेन्द्र था उनका सबसे पहला राजा। बाद में धारा नगरी इनकी राजधानी हो गई। परमार मुञ्ज ने त्रिपुरी पर चढ़ाई की थी, यह हम पहले ही लिख चुके हैं। सिंधुराज के समय में भी परमार फौजें मध्यप्रदेश में बढ़ी थीं। पद्मगुप्त के ग्रन्थ "नवसाहसांक चरित" से पता चलता है कि नागवंश के एक राजा ने जिसका राज्य नर्मदा से २०० मील दक्षिण में था, सिंधुराज से एक बार सहायता की याचना की थी कि वह वज्रांकुश नाम के राक्षस राजा के विरुद्ध उसकी रक्षा करें। सिंधुराज ने विद्याधरों को साथ लेकर राक्षसराज को मार डाला। इसके बदले में नागराजा ने अपनी बेटी शशिप्रभा का विवाह सिंधुराज के साथ कर दिया। इस कहानी में जिस नागराजा का उल्लेख है, वह बस्तर का नाग राजा था, राक्षसराज शायद चांदा जिले में वैरागढ़ में रहता था। कहा जाता है कि सिंधुराज के मध्यप्रदेश के इस अभियान के बीच दक्षिण कोसल के सोमवंशियों की भी उससे हार हुई।

कांकेर के सोमवंशी

रतनपुर के कलचुरि शासकों के सामन्त राजा कवर्धा और कांकेर में राज करते थे। कवर्धावाले राजा उतने शक्तिशाली न थे जितने कि कांकेरवाले। इसका एक कारण यह था कि कवर्धावाले रतनपुर के अधिक निकट थे। निकट रहने के कारण उन्हें दबे रहना पड़ता था, किन्तु कांकेरवाले अधिक दूर होने के कारण बहुत कुछ स्वतंत्र बने थे। कांकेर के राजा अपने को सोमवंशी कहते हैं, किन्तु तिथि लिखने में वे कलचुरि संवत् का प्रयोग करते हैं। ईस्वी सन् ११९२ में कर्णराज वहां का राजा था। वह बोपदेव का पुत्र, व्याघ्रराज का पौत्र और सिंहराज का प्रपौत्र था। सिंहराज का समय ईस्वी सन् १०६४ के लगभग होना चाहिये। कर्णराज के बाद जैत्रराज, सोमचन्द्र और भानुदेव ने राज किया, जो १२ वीं-१३ वीं शताब्दियों में राज करते रहे।

बस्तर के नागवंशी

बस्तर बहुत पुरानी भूमि है। ऊपर के विवरण में बीच-बीच में उसका उल्लेख आया है। पिछले काल के राजवंशों में नाग और काकतीय उल्लेखनीय हैं। चूंकि काकतीयों का राज्य-काल मुस्लिम काल के बीच में पड़ता है, इसलिए उन्हें तो हम यहां छोड़ देते हैं, किन्तु नागों का उल्लेख करना आवश्यक है। नाग बहुत पुरानी जाति है। वे लोग बस्तर में आकर कब बसे, ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इनका सबसे पुराना शिलालेख बस्तर में ईस्वी सन् १०२३ का प्राप्त हुआ है। उस समय वहां उक्त वंश का राजा नृपतिभूषण राज करता था। ईस्वी सन् १०६० के करीब जगदेकभूषण राजा हुआ। उसका बेटा सोमेश्वर था, जिसने कलचुरियों से युद्ध करके बहुत सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया था। सोमेश्वर का बेटा कन्हर देव हुआ। कन्हर देव के पश्चात् भी तीन-चार राजा हुए, किन्तु उनके क्रम का पता नहीं चलता। सन् १२१८ में जगदेकभूषण नरसिंह देव राज करता था, सन् १२४२ में कन्हर देव द्वितीय और सन् १३४२ में हरिश्चन्द्र देव।

इसप्रकार प्रागैतिहासिक काल से लेकर मुसलमानों के प्रवेश और गोंडों के उत्थान तक मध्यप्रदेश के इतिहास की अनेक कड़ियां हमें विच्छिन्न रूपमें ही मिलती हैं। इन्हें परस्पर जोड़ने के लिए और अनुसंधान की आवश्यकता है। हमें आशा करनी चाहिए कि यदि मध्यप्रदेश के वनकान्तार प्रदेशों में वैज्ञानिक ढंग से पुरातत्त्व संबंधी खोज की गई तो एक दिन आएगा जब मध्यप्रदेश का प्रामाणिक और क्रमबद्ध इतिहास अपने आप सम्पूर्ण हो जायगा।

गोंड, मुस्लिम और मराठा शासन

श्री प्रयागदत्त शुक्ल

[गोंडों की सभ्यता: ईस्वी सन् १४५०-१७८० तक]

राजगोण्ड वंशोत्पत्ति

मध्यप्रदेश में अरण्यवासियों के अन्तर्गत गोंड जाति की जनसंख्या अधिक होने से मुसलमान इतिहासकारों ने इस प्रदेश का नाम—"गोंडवाना" रखा था। "आईन अकबरी" में भी इसी नाम से उल्लेख किया गया है। वास्तव में यह नाम रखने का कारण सयुक्तिक था; क्योंकि उस समय यहां का शासन राजगोंडों द्वारा होता था। इनके पूर्व यहाँ क्षत्रियों के उत्कर्ष और पतन होते रहे-किन्तु पहाड़ी जातियां जंगलों में मंगल करती थीं, इसलिये उनका सुख-संपत्ति से संपर्क सदैव ही कम रहा। अरण्यों में रहने के कारण गोंड आदिम अवस्था के लोग थे—फिर भी वे हिन्दू थे। अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत की विभिन्न जातियों के अन्तर्गत उनकी गणना होती थी। उसका प्रचुर उल्लेख हमारे वाङ्मय में पाया जाता है। पुराण काल में (ईसा से ५ सदी पूर्व) भारत विन्ध्यपर्वत द्वारा दो भागों (आर्य और द्रविड़) में विभाजित हुआ। विन्ध्य एवं सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियों में निवास करने वाली पहाड़ी जातियां हिन्दुओं की विविध जातियों में गिनी जाती थीं। अंग्रेजी शासन में मानव शास्त्र का सहारा लेकर अरण्यवासियों को समतलवासियों से पृथक् करने का संगठित प्रचार किया गया है। अंग्रेजों के पूर्व तक ये जातियां हिन्दू ही मानी जाती थीं—जिसका इतिहास साक्षी है। प्रत्येक जाति का शासन धर्मशास्त्र और जातीय पंचायतों द्वारा होता था। उस समय के मुसलमान बादशाहों ने प्रचलित परम्पराओं में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, बल्कि देश की प्रचलित विचारधारा का उन्होंने भी समर्थन किया था।

आधुनिक मानव शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न जातियों की खोज कर के उनको भिन्न-भिन्न नस्लों में बांट दिया है। इसलिये प्रदेश के अरण्यवासी जन "द्रविड़वंश" के कहलाते हैं। यहां आर्य और द्रविड़ों में मिश्रित वंश भी है। आर्य और द्रविड़ों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग "मुंडा" कहलाता है। उनके अन्तर्गत कोलरी, शाबरी और खेरनारी जातियां आती हैं। कहते हैं कि मुंडा वंश के लोग ही भारत के आदिवासी हैं, द्राविड़ी (जिनमें गोंड आदि जातियां गिनी जाती हैं) तो आर्यों के समान बाहर से आकर भारत में बसे हैं। जो हो, हमारे मत से इस युग में आर्य-द्राविड़ी संस्कृतियां गंगा-यमुना के समान मिल गई हैं—अब तो जातियों का वर्गीकरण करना कठिन हो गया है। वर्णसंकरता भी खूब बढ़ गई है। इसलिये एक प्रसिद्ध विद्वान् ने तो यहां तक कहा है कि **"समस्त भारतवासी अब एक ही नस्ल के हैं।"**

द्राविड़ी जातियों की गोण्ड जाति जंगलों में रहती आई है। इसलिये उसका सुख-सम्पत्ति से संपर्क सदैव ही कम रहा है। अब भी उसकी दशा का कोई विकास नहीं हुआ है। अरण्यों में रहने से उन के रंग-रूप, खान-पान, आचार-विचार में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। सहस्रों गोंडों के पास आज भी लंगोटी के अतिरिक्त दूसरा वस्त्र शरीर-आच्छादन को न मिलेगा। जैसा उनका सादा वेष है—वैसा ही सादा खाना-पीना है। अपने आप उत्पन्न होने वाले कंद-मूल और जंगली फूल-फल, उनका खाद्य रहा है और अब भी कहीं-कहीं पर है। उसके अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि के मांस का सहारा है। अन्नादि का उपयोग वे साधारण ही करते हैं, क्योंकि उनको खेती-बारी की अधिक आवश्यकता नहीं थी। हां, उनकी शौक की वस्तु थी-शराब। मद्य विभाग न होने से शराब भी वे अरण्यों में स्वच्छंदता-

पूर्वक तैयार कर लेते थे। आवश्यकता की पूर्ति हो जाने से, अपनी ही जाति का राजा पाकर वे लोग जंगलों में स्वतंत्रता-पूर्वक विचरते थे। तभी गोण्ड़ों में यह कहावत प्रचलित है—

हंडिया में नाज, गोंड घर राज।

अब रही उस युग की हिन्दू प्रजा–उनको अपने पोषण के लिये उद्योग करना पड़ता था। इस प्रदेश में जनसंख्या अधिक न थी, उर्वरा भूमि की अधिकता थी। कर स्वरूप पैदावार के भाग लेने की जो प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी, वही गोण्ड काल में भी स्थिर रही। उस जमाने में आवश्यकताएँ कम थीं; खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने और धातुओं द्वारा शरीर को आभूषित करने के अतिरिक्त और कोई शौक न तो ज्ञात था—न उसकी चाह थी। इसलिये हिन्दू भी सरलता से जीवन बिताते थे और प्रायः घर के एक मुखिया के परिश्रम से पूरे परिवार का भरण-पोषण हो जाया करता था।

गोण्ड आदिम अवस्था के लोग थे—इससे उनका धर्म भी आदिम अवस्था का था। फिर भी तीन प्रधान लक्षण स्पष्ट हैं:—

(१) जन्म की प्रधानता (२) छुआछूत और (३) अन्य जातियों से विवाह संबंध का निषेध।

गोण्डों के हाथ में जब इस प्रदेश का शासन आया, तब उन्होंने हिन्दुओं को भी साथ लिया। जिन्होंने राजवंश को अलग करने की चेष्टा की और गोण्ड जाति के दो विभाग करा दिये–एक "राजगोण्ड" और दूसरे "खर" अर्थात् असल गोण्ड। उन्होंने राज गोण्डों में हिन्दू प्रथाएँ चला दीं, उनका जनेऊ करवा दिया और उनके मन में भर दिया, कि वे क्षत्रिय हैं और "खर" गोंडों से भिन्न हैं। राजकुल की लंबी चौड़ी वंशावली प्रस्तुत करा दी और यह कथा प्रचलित कर दी गई कि मूल पुरुष जादोराय क्षत्रिय था, उसने गोंड राजा की पुत्री से विवाह किया था और वह गोंडों की राजगद्दी का अधिकारी बन गया था—इसी कारण से वह गोंड कहलाता था। उसने गोंड कुमारी रत्नावली के हाथ का भोजन नहीं किया था। गढ़ा में आने के पूर्व उसका विवाह क्षत्रिय वंश में हुआ था और उसके पीछे जो राजा हुआ—वह प्रथम रानी का पुत्र था–न कि रत्नावली का। राजगोंडों ने अरण्यवासी गोंडों से जाति-व्यवहार छोड़ दिया और अपने संबंधियों की अलग पंक्ति बना ली और हिन्दू मतानुसार आचार-विचार इतना बढ़ाया कि उनके चौकों में जलाने की लकड़ियां तक धुल कर जाने लगीं। मन्दिर, शाला, कथा-पुराण आदि का प्रचार खूब बढ़ गया और राजगोंड़ बिलकुल हिन्दू हो गये।

"गढ़ाराज्ये त्रयो गुणाः।"

बैतूल की गुप्तकालीन प्रशस्ति में* अंकित है, कि "डाहल राज्य में १८ आरण्यक रियासतें थीं।" इन १८ जंगली जागीरों के सामन्त डाहल के महाराज के सहायक थे। ई. सन १२०० के लगभग त्रिपुरी के राजा अजयसिंह के समय में प्रतापी कलचुरियों का बल घट गया था-जिससे उसका शासन निकम्मा बन गया था। स्व. डॉ. हीरालाल जी ने† लिखा है कि–"अजयसिंह के समय में त्रिपुरी राज्य अस्ताचल की ओर मुड़ गया। एक ओर से चंदेलों ने, दूसरी ओर से पवारों ने और घर भीतर राजगोंडों ने अव्यवस्था निर्माण कर कलचुरियों को उखाड़ फेंका–जिससे राज का सूत्र टूट गया और जहाँ-तहाँ स्थानीय राजा स्वतंत्र बन बैठे। परिणाम यह हुआ कि जब शक्तिहीन राजा किसी सामन्त या महन्त का कठपुतली बन जाता है, तब उसके शासन में—कमजोरियां आजाती हैं और उससे राज्य के सरदारों में आपसी स्पर्द्धा होती है और राजकीय षड्यंत्रों का दौरदौरा प्रारंभ हो जाता है। यही अवस्था अजयसिंह के समय में निर्माण हुई होगी—जिससे राजगोंडों की शक्ति को बल पहुंचा। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध तांत्रिक सुरभि पाठक के सहयोग से जादोराय ने गढ़ा में गोंडी राज्य स्थापित किया था। अर्थात् ब्राह्मण शक्ति के सहारे ही गोंडों का यह राज्य स्थापित हुआ था।

* इपिग्राफिया इंडिका जिल्द ६।

† स्व. डॉ. हीरालाल कृत "जबलपुर ज्योति"।

गोंडी शासन के श्रीगणेश की कहानियां लोग कई तरह से कहते हैं। उनका संकलन जबलपुर के पुराने कमिश्नर मि. स्लीमन ने किया था।* स्लीमन की एक कहानी का भावार्थ है कि—"राजगोंडों का पूर्वज जादोराय दक्षिण में गोदावरी के तट पर मोठा कठगांव में रहता था और उसके पिता का नाम भोजसिंह था। युवावस्था में वह चाकरी के लिये लांजी ‡ के मण्डलेश्वर के यहां गया था—जो रतनपुर राज्य का 'अंकित' (सरंजामी सरदार) था। एक समय महाशिवरात्रि के पर्व पर जादोराय मंडलेश्वर के साथ अमरकंटक की यात्रा को गया था। वहां एक दिन रात्रि में जादोराय जब पहरा दे रहा था—उसने एक अद्भुत दृश्य देखा। उसने देखा कि दो सुन्दर युवक एक तरुणी के साथ आ रहे हैं और उनके पीछे एक विशालकाय वानर था। किन्तु वानर ने कुछ मोर के पंख जादोराय के सामने फेंक दिये थे। विचार करने पर जादोराय को विश्वास होगया कि उसे प्रभु सीताराम, लक्ष्मण एवं हनुमान के दर्शन हुए। दूसरे ही दिन उसे स्वप्न में यह अनुभूति हुई कि नर्मदामाई आकर कह रही हैं कि—"तुझे प्रभु सीताराम के दर्शन हुए हैं—इसलिए तू अब यहां न ठहर और वहां से रामनगर में सुरभि पाठक के पास चला जा और वहां उनकी राय से कार्य करेगा तो राजा होगा।" इस संकेतानुसार जादोराय रामनगर गया और उसने पाठक जी को सारा वृतांत कह सुनाया। कुछ दिनों के बाद वह पाठक जी के साथ गढ़ा गया—वहांपर नागदेव जागीरदार की एकमात्र कन्या रत्नावली का स्वयंवर था। गढ़ा के राजा ने यह घोषित किया था—कि "एक नीलकंठ पक्षी छोड़ा जावेगा और वह जिसके शीश पर जा बैठेगा—उसे राजा राज्यसमेत रत्नावली को दे देगा।" नियत समय पर वह पक्षी छोड़ा गया और वह जादोराय के सिर पर जा बैठा। तब तो उसका भाग्य ही चमक उठा—राज्य मिला और रानी भी। राजा के संतान न होने से उसने दामाद को ही राज्याधिकारी बना दिया।" उस कथानक में यह भी कहा गया है कि—जादोराय ने रत्नावली से विवाह तो किया—पर उसके द्वारा पकाया हुआ भोजन उसने जीवनपर्यन्त नहीं किया और न उससे कोई संतान ही हुई। जादोराय ने राजा होने पर अपना दूसरा विवाह एक क्षत्राणी के साथ किया था और उसके ही पुत्र उसके उत्तराधिकारी हुए।" जान पड़ता है—कि पाठक जी ने नागदेव की कन्या रत्नावली से विवाह करवाकर जादोराय को राजा बनाया और उसी शक्ति के सहारे कलचुरियों की रही-सही शक्ति को नष्ट कर दिया। वास्तव में गोंडों की यह शक्ति, पाठक जी के द्वारा ही विकसित हुई थी। यही कहानी हम आज तक सुनते आये हैं। किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि कलचुरियों का पतन किस घटना के द्वारा हुआ था।"

जादोराय के विषय में दूसरी कथा इस प्रकार है—"गढ़ा के पास कटंगा में मकनू नाम का गोंड रहता था—जिसकी कन्या ने एक नाग से विवाह किया था—जिसका पुत्र धारुशाह था। इसी धारुशाह का पौत्र जादोराय था जिसने गढ़ा में गोंड राज्य की नींव रक्खी थी।" सिलापरी (दमोह जनपद में) के वर्तमान राजवंश के पास जो वंशावली है—उसमें जादोराय ही वंश का मूल पुरुष माना गया है। इस वंशावली को अधिकांश विद्वान कल्पित मानते हैं और यह है भी सत्य।

रामनगर की प्रशस्ति :— अन्य कुछ प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ई. सन १२०० के लगभग गढ़ा में गोंड राज्य की स्थापना हो चुकी थी। वर्तमान उपलब्ध 'पृथ्वीराज रासो' में भी उसका उल्लेख आया है। † गढ़ाके गोंड राजाओं की एक वंशावली सन १६१७ ईस्वी में रामनगर के

* मि. स्लीमन जबलपुर के एक प्रसिद्ध कमिश्नर होगये हैं, उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं—जिनमें एक पुस्तक राजगोंडों के सम्बन्ध में है। उन्हीं के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान मि. कनिंगहम ने भी लिखा है।

‡ लांजी—(बालाघाट जिले में है।) रतनपुर राज्य का एक मण्डल था—वहां का मुख्य कर्मचारी 'मंडलेश्वर' कहलाता था।

† **पृथ्वीराज रासो:**—महोबा खण्ड के एक स्थलपर पृथ्वीराज का मंत्री कहता है—

कानन सुनि चहुवान कहै बरराय मंत्रगति। प्रथम देश परमाल रह्यो जसराज सेनपति॥
गढ़ा जाय नृप लागि परी गोंडन से जंगह। पर्यो जाल चंदेल दलो धरनी धर अंगह॥
रोकियो सेन अरिसेन सब काम भरन धीरज धरिय। खेलियो ब्याल बिन सीसकर काम जाय फतह करिय॥

मन्दिर में * राजा हृदयशाह ने पाषाण पर अंकित करवा दी है—जिसमें ५३ राजाओं के नाम मिलते हैं। उस प्रशस्ति के लेखक राजकवि और पण्डित जयगोविन्द हैं। † इस वंशावली के सम्बन्ध में स्व. डॉ. हीरालाल लिखते हैं— "ऐतिहासिक दृष्टि से इस नामावली के प्रथम ३३ नाम प्रायः सभी कल्पित जान पड़ते हैं। ३४ वीं पीढ़ी में मदनसिंह का नाम आता है और ४८ वीं पीढ़ी में संग्रामशाह का। संग्रामशाह वास्तव में ऐतिहासिक पुरुष हैं। इसने अपने नाम की सोने की पुतलियाँ चलाई थीं-जो मिली हैं। उसमें संग्रामशाह का नाम और संवत् १५७० अर्थात् १५१३ ईस्वी पड़ा है। संग्रामशाह का नाम अामण्दासदेव लिखा है। उसका यही नाम मुसलमानी तवारीखों में पाया जाता है। — मदनसिंह और संग्रामशाह के बीच १४ पीढ़ियों का अन्तर है। प्रति पीढ़ी के लिये २० वर्ष का औसत लेने से २८० वर्ष का अन्तर बैठता है। अन्य सिद्धान्तों से संग्रामशाह का राजत्वकाल सन् १४८० ई. से १५३० तक ठहराया गया है। यदि १४८० ईस्वी में से २८० वर्ष घटाये जायें तो १२०० ई. का काल आता है जो कलचुरियों के अन्त और गोंडों के उदय का समय है। इससे यह अनुमान होता है कि गोंड वंश का मूल पुरुष मदनसिंह था—जिसने अपने नाम पर मनगढ़ चट्टानों पर महल बनवाया जो आज तक मदनमहल कहलाता है। महल बहुत बड़ा नहीं है, पर्वत निवासियों के योग्य ही है और पूर्ण रूप से उनकी अभिरुचि का दर्शक है। कदाचित् ऐसा स्थान महलों के लिये पर्वतीय लोगों के सिवा और किसी को सूझ भी न पड़ता। क्या जाने-मदनसिंह के उत्तराधिकारी इस महल में रहते थे या नहीं परन्तु संग्रामशाह ने उसका जीर्णोद्धार कराया और उसमें जाकर वह रहा भी। मदन-संग्राम-मध्यस्थ केवल १३ राजाओं के नाम प्राप्त हैं। उनके शासन का कोई लेख या वार्ता प्राप्य नहीं है। दूसरा यह कि संग्रामशाह जादोराय से ४८ वीं पीढ़ी में आता है। २० वर्ष की औसत आयु लगाने से जादोराय का समय ९४० वर्ष आता है। इसप्रकार सन् १४८० में से ९४० वर्ष घटा देने पर जादोराय का समय ईस्वी सन् ५४० के लगभग आता है। यह समय संभव नहीं जान पड़ता। साथ ही रामनगर की वंशावली के बहुत से नाम कल्पित जान पड़ते हैं। कर्ण-यशकर्ण नाम तो कलचुरि राजाओं के थे। इतना ही नहीं, ५२ नामों की पूर्ति के लिये अनेक अवतारों के विविध नाम उसमें सम्मिलित किये गये हैं। १४ वीं पीढ़ी में सुलतानशाह का नाम आता है, जिसका समय ई. सन् ८०० के लगभग आता है। वहां यह प्रश्न उपस्थित

---

* कनिंगहम कृत—आरक्यालाजिकल रिपोर्ट, जिल्द २७, पृष्ठ ५२।
फरिश्ता (ब्रिग्ज का अनुवाद) जिल्द २
रा. ब. हीरालाल कृत—"मध्यप्रदेश की प्रशस्तियाँ", पृष्ठ ६१।

† जयगोविन्द—हृदयशाह के दर्बार के प्रमुख पंडित थे। वे तर्क एवं काव्य के धुरंधर विद्वान् थे। जाति के जभौतिया ब्राह्मण थे। रामनगर की वंशावली संस्कृत काव्य में है, जिसके अनुसार गढ़ा के राजगोंडों की वंशावली इस तरह तैयार होती है:—

(१) जादोराय (२) माधवसिंह (३) जगन्नाथ (४) रघुनाथ (५) रुद्रदेव (६) बिहारीसिंह (७) नरसिंहदेव (८) सूर्यभानु (९) बासुदेव (१०) गोपालसाहि (११) भूपालसाहि (१२) गोपीनाथ (१३) रामचंद्र (१४) सुलतानशाह (१५) हरिहरदेव (१६) कृष्णदेव (१७) जगतसिंह (१८) महासिंह (१९) दुर्जनमल्ल (२०) यशकर्ण (२१) प्रतापादित्य (२२) यशचंद्र (२३) मनोहरसिंह (२४) गोविंदसिंह (२५) रामचंद्र (२६) कर्ण (२७) रत्नसेन (२८) कमलनयन (२९) नरहरिदेव (३०) वीरसिंहदेव (३१) त्रिभुवनदेव (३२) पृथ्वीराज (३३) भारतीचंद्र (३४) मदनसिंह (३५) उग्रसेन (३६) रामसाहि (३७) ताराचंद्र (३८) उदयसिंह (३९) भानुमित्र (४०) भवानीदास (४१) शिवसिंह (४२) हरिनारायण (४३) सबलसिंह (४४) राजसिंह (४५) दादीराय (४६) गोरखदास (४७) अर्जुनसिंह (४८) संग्रामशाह (४९) दलपतशाह (५०) वीरनारायण (५१) चंद्रशाह (५२) प्रेमनारायण और (५३) हृदयशाह।

होता है कि सुलतान शब्द का चलन भारत में उस समय में था ही नहीं, किन्तु जिस समय में उक्त वंशावली रची गयी—उस समय मुगल सम्राटों का जमाना था। इसलिए प्रशस्ति के लेखक ने (ई. सन् १६६७ में) सुलतानी चकाचौंध में रहकर गोंडों के पुरखा को "सुलतान" नाम दे देना अभीष्ट समझा। इसतरह की गल्तियां उसमें अनेक हैं।

स्लीमन साहब ने मदनसिंह का समय ई. सन १११६ निश्चित किया था—जो सर्वथा गलत है, क्योंकि उस-समय त्रिपुरी में प्रबल कलचुरियों का शासन था। इसलिये मदनसिंह का शासनकाल १२ वीं सदी का होना चाहिये। रामनगर की वंशावली में मदनसिंह के पूर्व के जिन राजाओं के नाम अंकित किये गये हैं—वे काल्पनिक हैं ही—पर स्लीमन साहब ने उक्त वंशावली के आधार पर गोंड राजाओं का जो शासन समय निश्चित किया है—उसके अनुसार जादोराय का समय ईस्वी सन् ३८२ आता है। कनिंगहम साहब समय निर्धारित करते समय विक्रम संवत् के स्थान में कलचुरि-संवत् का उपयोग करके जादोराय को ई. सन् ६६४ पर ले जाते हैं। किन्तु दोनों साहबों का अनुमान गलत है क्योंकि कलचुरियों के प्रताप के आगे उस समय गोंड ठहर ही नहीं सकते थे। इसी कारण से स्व. हीरालाल जी का अनुमान सयुक्तिक है। यदि गढ़ा का प्रथम गोंड राजा जादोराय है—तो उसका समय १३ वीं का सदी होना चाहिये। जादोराय और मदनसिंह के बीच के नाम तो फर्जी हैं।

मदनसिंह का पुत्र उग्रसेन था। उसका पुत्र रामसिंह और उसका ताराचंद्र (किसी किसी के अनुसार रामकृष्ण) हुआ। उसका उदयसिंह, उसका मानसिंह, उसका भवानीदास, उसका शिवसिंह, उसका हरनारायण, उसका सबलसिंह, उसका राजसिंह और उसका दादीराय हुआ। दादीराय का पुत्र गोरखदास, उसका अर्जुनदास, और उसका आम्हणदास अथवा अमानदास हुआ। इसी अमानदास ने पीछे से संग्रामशाह की पदवी धारण की और मूलनाम का उपयोग करना छोड़ दिया। बैतूल जिले के बानूर ग्राम में एक ताम्रपत्र संवत् १४२७ का मिला है। उसमें लिखा है कि "प्रौढ़ प्रताप चक्रवर्ती महाराजाधिराज अचलदास ने दो कुओं का उद्यापन करके जनार्दन उपाध्याय को "आमादह" ग्राम दान में दिया। यह ग्राम बानूर से ४ मील पर है। मध्यप्रदेश के इतिहास में अचलदास नाम के किसी राजा का नाम नहीं मिलता। इस ताम्रपत्र में अचलदास की वंशावली नहीं मिलती। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अचलदास किसी ऐसे वंश का था जिसका उल्लेख जानबूझकर नहीं किया गया। अचलदास का समय राजसिंह या दादीराय के जमाने में पड़ता है। बैतूल आरंभ से ही जंगली जिला और गोंडों का निवास स्थान रहा है। इससे कल्पना हो सकती है कि अचलदास ही इन दोनों में से किसी का मूल नाम रहा हो। दादी या दादू लाड़ के शब्द हैं। दादीराय के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सभी के नामों के अंत में "दास" लगा है—इससे उसका नाम दासांतक होना संभव है। कदाचित् दादीराय और अचलदास एक ही व्यक्ति हों। यदि ऐसा ही है—तो अचलदास के विरुद से सिद्ध होगा कि गोंड निवासांचल के छोटे-मोटे राजा उसके अधीन थे। इससे मानना पड़ेगा कि गोंडों ने १४ वीं शताब्दी के चतुर्थ पाद में अपने राज्य की नींव अच्छी जमा ली थी। दादीराय के पुत्र गोरखदास ने जबलपुर के निकटस्थ गोरखपुर बसाया। उसके पुत्र अर्जुनदास की कीर्ति का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है।

१३ और १४ वीं सदी की अवस्था:— ईस्वी सन् १२०० से १४०० तक गोंडी राज्य का इतिहास आज अंधकार में लुप्त सा है। इस समय दिल्ली के खिलजी सुलतानों का शासन दक्षिण में मैसूर तक पहुँच चुका था। मध्यप्रदेश के उत्तरीय और पश्चिमी भागों में मुसलमानों का शासन स्थापित होगया था—जिसका विवेचन अन्यत्र किया गया है। फिर भी अरण्यमय भूभाग में राजगोंड जागीरदार जंगल में मंगल कर रहे थे। उसमें गढ़ावाले विशेष प्रभावशाली थे। मध्यप्रदेश में इस समय भक्ति-मार्गी संतों का जनसमुदाय पर काफी प्रभाव था। वैदिक कर्मकाण्ड तथा वैदिक तंत्रों का प्रभाव जनता से उठ गया था। उसका स्थान जादू-टोने, झाड़फूंक आदि अवैदिक कर्मकाण्ड ने ग्रहण किया था और उसकी अधिकता अरण्यवासियों में थी। इस समय उत्तर भारत के भक्ति, और ज्ञान के तीन प्रचारक रामानन्द, कबीर और नानक थे—जिनके सैकड़ों शिष्य देश के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। आज भी कबीर-पंथियों का प्रभाव मध्यप्रदेश में काफी है। रामानंद और उनके भक्तिमार्गी शिष्यों का प्रभाव बुन्देलखण्ड में था।

भक्तिमार्ग का यह आंदोलन ऊंच और नीच सब में फैल चुका था फिर भी वर्णव्यवस्था के बंधनों को तोड़ने में वह असफल रहा। यह वह समय था जबकि समस्त देश के संतों ने अपनी-अपनी बोली में जाति-पांति के नियमों का खंडन किया और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम और सौहार्द का संदेश दिया। वे सब को समान दृष्टि से देखते थे। इन साधु-संतों के प्रेम और भातृभाव के संदेश ने देश के कोने-कोने में व्याप्त होकर मनुष्यों के पारस्परिक वैमनस्य और ईर्ष्या द्वेष को हटाने का प्रयास किया। उसका विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया गया है।

प्रतापी संग्रामशाह

गढ़ा के प्रतापी संग्रामशाह ने गोंडी-राज्य को उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचाया था। रामनगर की प्रशस्ति में लिखा है—कि "प्रतापी अर्जुनसिंह का पुत्र संग्रामशाह था। जिस भाँति विशाल कपास का ढेर एक छोटी सी चिनगारी से नष्ट हो जाता है—उसी भाँति उसके शत्रुगण तेजहीन होगये थे। मध्यकाल का सूर्य भी उसके प्रताप के सामने धूमिल सा दिखाई देता था। मानों सारी पृथ्वी को जीत लेने का उसने निश्चय किया हो। तदनुसार उसने ५२ गढ़ों को जीत लिया था।* ये गढ़ या किले उच्च पर्वतीय श्रेणियों पर स्थित थे जो विशाल प्राचीरों और बुर्जियों से परिवेष्ठित होने के कारण दुर्भेद्य समझे जाते थे।"

संग्राम का शासनकाल ई. सन् १४८० से १५४२ तक था। मि. स्लीमन एवं मि. कनिंगहम ने ई. सन् १५३० तक ही निश्चित किया है। कहा जाता है कि उसने ६२ वर्ष तक राज किया था। तब तो उसकी गद्दीनशीनी का समय ई. सन् १४६० के लगभग होना चाहिए क्योंकि फरिश्ता ने आसफखां के आक्रमण का समय ई. सन् १५६४ लिखा है। संग्रामशाह महारानी दुर्गावती का पुर्वसुर एवं दलपतशाह का पिता था। संग्राम के बाद दलपत ने ७ वर्ष ही राज्य किया था और आसफखां के आक्रमण तक दुर्गावती के शासन के १५ वर्ष बीत चुके थे। यदि १५६४ से हम २२ वर्ष घटा दें, तो वह समय १५४२ ईस्वी के लगभग आता है—अर्थात् संग्रामशाह की मृत्यु सन १५४२ ई. में हुई होगी।

पता चलता है कि संग्रामशाह का असली नाम "आमणदास" था। 'संग्रामशाह' तो उसकी उपाधि का नाम

---

*प्रशस्ति के अनुसार बावन गढ़ ये थे—

(१) गढ़ा (२) मारुगढ़ (३) पेचलगढ़ (४) सिंगोरगढ़ (५) अमोदा (६) कनोजा (७) बगसरा (८) टीपागढ़ (९) रायगढ़ (१०) प्रतापगढ़ (११) अमरगढ़ (१२) देवगढ़ (१३) पाटनगढ़ (१४) फतहपुर (१५) निमुआगढ़ (१६) भंवरगढ़ (१७) बरगी (१८) धुनसौर (१९) चांवड़ी (सिवनी) (२०) डोंगरताल (२१) कोरवा (करवागढ़) (२२) झंझनगढ़ (२३) लाफागढ़ (२४) सौंटागढ़ (२५) दियागढ़ (२६) बांकागढ़ (२७) पवई करहिया (२८) शाहनगर (२९) धमोनी (३०) हटा (३१) मड़ियादो (३२) गढ़ाकोटा (३३) शाहगढ़ (३४) गढ़पहरा (३५) दमोह (३६) रानगिर (रहली) (३७) इटावा (३८) खिमलासा (खुरई) (३९) गढ़गम्भीर (४०) बारीगढ़ (४१) चौकीगढ़ (४२) राहतगढ़ (४३) मकड़ाई (४४) कारोबाग (कालबाघ) (४५) कुरवाई (४६) रायसेन (४७) भौंरासो (४८) भोपाल (४९) उपतगढ़ (५०) पनागर (५१) देवरी (५२) गौरझामर।

ये गढ़ सागर, दमोह, जबलपुर, सिवनी, मंडला, नरसिंहपुर, छिन्दवाड़ा, नागपुर, हुशंगाबाद और बिलासपुर तक फैले हुए थे। इन में से अब कितने ही स्थान उजाड़ होगये हैं।

मि. स्लीमन के लेखानुसार प्रत्येक बड़े गढ़ में ७५० गांव थे। केवल अमोदा में ७६० थे; छोटों में ३५० या ३६०। ३५० वाले नंबर ४, १२, २४, २५, ४९ और ३६० वाले नंबर १३, १६, १९, ३१, ३२, ३४, ३६, ४१, ४२, ४८ हैं। ग्राम संख्या का योग ३५६८० है, किन्तु अबुल फजल ने ७० हजार लिखा है।

था और वही अधिक प्रचलित रहा। उसके सिक्कों पर "संग्रामसाहि" ही अंकित है।* दमोह जनपद के ठरका गांव के दो सतीचौरों पर उसका नाम तथा राज्यकाल दमोह–दीपक के शब्दों में यों लिखा है:—



"एक संवत् १५७० का है। उस के श्रीगौरीगढ़ विषय दुर्गे महाराज श्री राजा आम्हणदासदेव के समय का जिक्र है और ग्राम का नाम ठरका लिखा है। दूसरा लेख सन् १५७१ का है-उसमें भी आम्हणदास का नाम लिखा है।†

संग्रामशाह का असली नाम आम्हणदास या अमानदास था। बाल्यावस्था में वह बड़ा नटखट और क्रूर था। बाप ने कई बार उसे समझाया, बंद करके रखा और अन्य उपाय किये परन्तु इससे होता क्या था? उसने अपनी आदत न छोड़ी। एक बार वह कुछ गड़बड़ करके डर के मारे बघेलखण्ड के राजा वीरसिंहदेव पास भाग गया।‡

इसपर पिता ने नाराज होकर उसे युवराजत्व से च्युत कर दिया। जब उसको यह समाचार ज्ञात हुआ तब वह तुरंत वापिस आया और षड्यंत्र रचकर उसने अपने पिता को मरवा दिया और स्वयं गढ़ा की गद्दी पर बैठ गया। जब वीरसिंहदेव को यह वृत्तांत ज्ञात हुआ कि आमनदास ने पितृ हत्या की है–तब उसने गढ़ा पर आक्रमण कर दिया, परन्तु आमनदास ने कोई प्रतिकार नहीं किया और स्वयं चार-पांच सेवकों को लेकर वीरसिंहदेव के पास पहुँच गया और हाथ-पैर जोड़कर मना लिया। अमानदास की बाल्वृत्ति बाल्यकाल के साथ गई। तब उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली–तब उसने अपने राज्य की वृद्धि की—जो उसके पूर्वजों ने सोची तक न थी और जिसको उसके पश्चात् उसकी संतति कभी लांघ न सकी। वास्तव में राज्य के ५२ गढ़ उसकी रक्षा करते थे और अधिकांशतः उसके गढ़ाधिपति गोंड जाति के ही थे। सिंगोरगढ़, गढ़ा, मण्डला और चौरागढ़ ये स्थान राज्य के सैनिक केन्द्र थे। उसने सिंगोरगढ़ के किले को खूब मजबूत बनाया क्योंकि गढ़ा राज्य की सीमा बुन्देलखण्ड तक पहुँच चुकी थी। उसीतरह चौरागढ़ का विशाल किला नरसिंहपुर जनपद की एक पहाड़ी (८०० फुट ऊँचाई) पर बनवाया था। उत्तर, पश्चिम तथा पूर्व की ओर से वह पहाड़ी कई सौ फुटों तक सीधी तराश सी दी गयी है जो कि परकोटे के समान दिखाई देती है। उसके कारण शत्रुओं का वहां पहुंचना असाध्य सा था। आगे चलकर उसके वंशवाले परचक्र आने पर इसी किले का सहारा लेते थे।

संग्रामशाह की उपाधि उसे क्यों कर मिली? मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि यह नाम वीरसिंहदेव ने सन् १५२६ ई. में रखा था, जब अमानदास ने गुजरात के बहादुरशाह से युद्ध में वीरसिंहदेव को सहायता दी थी।

---

* जबलपुर ज्योति पृ० ३२-३५।

† दमोहदीपक पृ० ७८।

‡ वीरसिंहदेव संवत् १६६२ में गद्दीपर बैठा था और संग्रामशाह का समय संवत् १५३७-१५९६ माना जाता है। यदि उक्त दोनों संवत् ठीक हैं-तो यह घटना निराधार होजाती है, किन्तु एक लेखक ने लिखा है कि बघेलखण्ड के प्रसिद्ध वीरसिंहदेव का समय १५५७ विक्रमी से १५९७ विक्रमी तक है। वास्तवमें बांधवेश (बघेलखण्ड) वीरसिंहदेव और ओड़छा के राजा वीरसिंहदेव दो विभिन्न राजा हैं। अतः वर्णित घटना में समय की विषमता नहीं आती।

"आमनवृध वार्बन में"

बपौती में अमान को तीन-चार गढ़ मिले थे, शेष उसके निज भुजोपार्जित थे।

वज्रप्रायैः पर्वत प्रौढ़ गाढ़ैः सप्राकारैरम्बुभिश्चयाश्रयाणि॥
द्वापञ्चाशद्येन दुर्गाणि राजा निर्वृत्तानि क्षोणिचक्र विजित्य॥
(रामनगर प्रशस्ति)

पर यह ठीक नहीं जंचता क्योंकि अमणदास के सन् १५२६ ई. के पूर्व के सिक्कों में संग्रामशाह नाम अंकित है। स्थानीय लेखों से ज्ञात होता है कि उसने संवत् १५४१ (सन् १४८४ई.) में यह पदवी धारण की। जब उसकी सेना माड़ौगढ़ के सुलतान से हार गई और गढ़ा शत्रुओं के हाथ में चला गया—तब उसने स्वयं जाकर केवल १ हजार सवारों की सहायता से शत्रुदल को तितर-बितर कर सुलतान के निशान आदि छीन लिये थे। तभी से उसने संग्रामशाह की उपाधि धारण की।

जनश्रुति है कि संग्रामशाह पर बाजना के भैरव की कृपा थी और उस दैवीशक्ति के सहारे उसने अपना प्रताप बढ़ाया था। यों तो पुरातन काल में अरण्यवासी लोग अपने देवताओं को प्रसन्न करने के हेतु नर-बलि चढ़ाते थे। संग्राम भैरव का उपासक था। राजा ने संग्रामसागर के तटपर बाजना नामक मठ में भैरव की स्थापना की थी—जिसका पूजन आदि समारोह के साथ होता था। वहां का पुजारी एक संन्यासी था और राजा का उसपर अधिक प्रेम भी था। संग्रामशाह के किसी शत्रु ने प्रलोभन देकर उसके द्वारा राजा का वध करवाने का षड्यंत्र रचा और संन्यासी उस जाल में पूरी तौर से फंस गया। भैरव को प्रसन्न करने के हेतु संन्यासी ने एक विशेष पूजा का आयोजन किया और खोलता हुआ तेल का बड़ा कड़ाव भी तैयार किया। राजा से कहा गया कि वह मध्यरात्रि में अकेला ही पूजन के लिये मठ में आवे। जब राजा अकेला ही मठ के लिये रवाना हुआ तो पासवान ने कहा कि महाराज सतर्कता से काम करें—अन्यथा प्राण जाने की आशंका है। तब राजा ने छिपाकर अपनी तलवार को साथ में ले लिया। संन्यासी तांत्रिक ने मठ में पूरी तैयारी कर रखी थी। राजा ने मठ में पहुंचते ही सतर्कता से पुजारी को देखा और उसे विश्वास होगया कि वह कोई हथियार छिपाए हुए है। फिर भी राजा चुप रहा और पुजारी के आदेशानुसार पूजा-कार्य में लग गया। पूजा समाप्त होते ही तांत्रिक ने राजा को प्रदक्षिणा करने का आग्रह किया। उसपर राजा ने पुजारी से कहा कि पहले आप करें तो बाद में मैं करूंगा। ज्यों ही पुजारी परिक्रमा करके भैरव को झुककर प्रणाम करने लगा—त्योंही राजा ने पास की तलवार से उसका सिर काट दिया। कहते हैं कि उसी समय भैरव ने प्रसन्न होकर राजा से वर मांगने के लिये कहा। राजा ने देवता से सदा विजयी होने का वर मांगा। यही कारण है कि वह सदा विजयी रहा। भैरव भक्त होने के कारण उसके राज्य का झंडा "भगवा" था।

वास्तव में संग्रामशाह गोंड वंश का प्रतापी राजा था। उसने गढ़ में कई इमारतें बनवायी थीं। उसका राजमहल संगासागर ताल के तट पर था। अब भी उसके कुछ अवशेष मिलते हैं। मदन महल में हवा खोरी को वह प्रतिदिन जाता था। उस महल को उसने नये सिरे से बनवाया था। उसी तरह उसने सिंगोरगढ़ की मरम्मत करवाई और अपने नाम पर एक गांव, वहां पर बसवाया—जो संग्रामपुर कहलाता है।

संग्रामशाह के जो सोने के सिक्के मिले हैं—उसमें देवनागरी और तेलगू अक्षर मिलते हैं। प्रश्न सामने आता है कि हिन्दी के केन्द्र में तेलगू अक्षर कैसे पहुंच गये? उसका उत्तर यही है कि यह वंश तेलंगाना से ही गढ़ा की ओर आया था। इसलिये जन्म भाषा का गौरव उसमें बना रहा। सिक्के की एक ओर सिंह और सूर्य की मूर्तियां हैं, और दूसरी ओर "पुलस्त्य वंश श्री संग्रामशाही संवत् १६००" अंकित है। पुलस्त्य वंश लिखने का कारण यही है कि राज-गोंड अपने को रावणवंशी कहते थे। उस सिक्के का वजन १६६.५ ग्रेन और आकार ७" है। लोक उसे पुतली कहते थे।

संग्रामशाह के समय में दिल्ली का मुगल राज्य दृढ़ हो चुका था और सम्राट् अकबर ने उसके विकास का उद्योग आरंभ कर दिया था। अबुल फ़ज़ल ने आइन-अकबरी में गढ़ा राज्य का विवरण अंकित किया है—जिससे संग्रामशाही शासन का कुछ आभास मिल जाता है।

दलपत और दुर्गावती

संग्रामशाह के मरने पर (सन् १५४३ ई. में) उसका पुत्र दलपतशाह राज्याधिकारी हुआ। यह वह समय था, जब कि राजगोंड अपने को क्षत्रिय कहलाते थे। इसी कारण दलपत ने अपना विवाह खड्ग के सहारे चंदेल कन्या दुर्गावती के साथ किया था। दुर्गावती महोबा के सामन्त एवं राठ के जमींदार शालिवाहन चंदेल की कन्या थी।* यह विवाह किस तरह हुआ था? उसकी कहानी अन्यत्र दी गयी है। मिस्टर स्लीमन के अनुसार वह महोबा के चंदेल राजा की कन्या थी। सन् १८२५ ई. में राजगोंडों की जो वंशावली गवर्नर जनरल के पास जबलपुर के कमिश्नर के द्वारा भेजी गई थी—उसमें कहा गया था कि—"दुर्गावती उचेहरा के पड़िहार राजा की पुत्री थी।" दुर्गावती महोबा के चंदेल राजा की कन्या थी–यह सर्वथा असंगत है–क्योंकि १६ वीं सदी में महोबा से चंदेल शासन उठ चुका था। मिस्टर कनिंगहम ने कालिंजर के राजा कीरतसिंह को दुर्गावती का पिता लिखा है। अबुल फ़ज़ल के लेखानुसार दुर्गावती का पिता राठ का चंदेलवंशीय शालिवाहन था—यह हमें सयुक्तिक जान पड़ता है। लोग इस विवाह के सम्बन्ध में कई तरह की कहानियां बताते हैं। राजगोंडों को समाज ने कभी क्षत्रिय नहीं माना और उस युग का प्रत्येक राजपूत गोंडों से रिश्तेदारी करना हेय मानता था। यह तो स्पष्ट है कि यह विवाह तलवारों की झंकारों के साथ संपन्न हुआ था। दुर्गावती का हरण कर दलपत ने अपना विवाह सिंगोरगढ़ ‡ में सम्पन्न किया था। दुर्गावती की सुन्दरता का वर्णन करते हुए संस्कृत के एक कवि ने कहा है:—

मदन सवृशरूप: सुन्दरी यस्य दुर्गा।

दुर्गावती के साथ दलपत का विवाह सन् १५४० ई. के लगभग हुआ होगा–जब कि संग्रामशाह जीवित था। दलपतशाह ने सन् १५४१ से १५४८ ईस्वी तक शासन किया था। दलपतशाह गढ़ा से राजधानी उठा कर सिंगोरगढ़ ले गया था। संग्रामशाह के पराक्रम के कारण दलपतशाह का शासन विलासिता के साथ बीता था। जिसका आभास हमें गढ़ा के संस्कृत कवियों के पदों से मिलता है। दलपत के मरने के समय उसका पुत्र वीरनारायण पांच वर्ष का था। ऐसी अवस्था में रानी ने वीर नारायण को राज्य पर अभिषिक्त करके † सारा शासन अपने हाथ में ले लिया था। राज्य के प्रधानमंत्री अधार कायस्थ और मान ब्राह्मण थे, जिन्होंने राज्य का शासन व्यवस्थित किया था। तिस पर भी रानी स्वयं गढ़ा में रह कर प्रत्येक कार्य की निगरानी रखती थी।

अबुल फ़ज़ल का कहना है कि—"रानी दुर्गावती बड़ी बहादुर थी। तीर और बंदूक चलाने में उसकी बराबरी

---

* महोबा में इस समय बुन्देलों की जड़ जम चुकी थी, फिर भी महोबा के निकट राठ नामक गांव में शालिवाहन चंदेल एक छोटा सा राजा था। उसकी पुत्री दुर्गावती बड़ी सुन्दर थी। लोग कहते हैं कि महोबा के एक मेले में दलपतशाह ने दुर्गावती को देख लिया था और तब से दोनों एक दूसरे पर आकर्षित होगये थे। पर पिता ने दुर्गावती का विवाह निकटवर्ती किसी क्षत्रिय कुमार से तय कर दिया था। तब दुर्गावती ने दलपतशाह को यह संदेशा भिजवाया कि "वसंत पंचमी के अवसर पर जब वह महोबा आवेगी और नगर के बाहर दुर्गा देवी के मन्दिर में दर्शन के लिये पहुंचेगी—तब हरण करने का अच्छा अवसर मिल सकता है। यह अवसर चूकने पर वह दूसरे की हो जायगी।" तदनुसार दलपतशाह १२ हजार सैनिकों को लेकर सिंगोरगढ़ से महोबा गया और वहां से दुर्गावती को हरण कर ले गया तथा सिंगोरगढ़ में ही उसने शास्त्रानुसार विवाह किया।

‡ सिंगोरगढ़—जबलपुर से ३५ मील पर है। सिंगोरगढ़ का किला गजसिंह पड़िहार ने बनवाया था। त्रिपुरी के कलचुरियों के समय में उनके आश्रित सामन्त पड़िहार थे।

† "गढ़ेश नृपवंश वर्णन।"

विरले ही करते थे। जहां कहीं वह जंगली जानवरों का उपद्रव सुन पाती—अविलंब घोड़े पर सवार होकर उन्हें मार गिराती थी। उसके पास २० हजार सवार और एक हजार बलिष्ट हाथी थे।"

मिस्टर स्लीमन ने लिखा है—"इस रानी का शासन उत्तम था। वह प्रजा के दुःखों और सुखों की कहानी स्वयं सुनती थी।" उसने गढ़ा के निकट सुन्दर रानीताल बनवाया और दासी ने चेरीताल। फिर दीवान साहब चुप क्यों बैठते? उन्होंने भी अधारताल बनवा दिया।"

रामनगर की शिला प्रशस्ति में जयगोविन्द ने लिखा है—"महारानी दुर्गावती याचकों की सौभाग्यलक्ष्मी, सद्गुणों की मूर्ति, परमसुन्दरी थी, जिसका चित्त सदैव जग के कल्याण में मग्न था। पति के मरने के उपरान्त उसने अपने ३ वर्षीय पुत्र वीर नारायण को राज्य पर अभिषिचित किया था और राजकाज स्वयं करती थी—जिसकी प्रशंसा सर्वत्र की जाती थी। अपने त्रैलोक्य विश्रुत यश और हिमाचल के समान उत्तुंग स्वर्णमन्दिरों के निर्माण द्वारा उसने तो पृथ्वी का रूप ही बदल दिया था। राज्य में बहुमूल्य रत्नों की भरमार थी। इन्द्र के हाथियों के सदृश अनेकों मस्त हाथी उसके द्वार पर झूमा करते थे।"

केशव कवि ने "गणेश नृप वंश वर्णन संग्रह" में कहा है—

नाके भूमितले फणीशभवने सिद्धि: सदा सेविता।
सा संख्ये प्रबलारिवृन्दहरणी दुर्गेव दुर्गावती ॥१५॥
उर्वरा सर्वतो भूमिर्मध्यतो नर्मदा नदी।
विज्ञा दुर्गावती राज्ञी गढ़ाराज्ये त्रयो गुणा: ॥१६॥

अबुल फ़ज़ल और फ़रिश्ता आदि मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है कि "रानी दुर्गावती ने मालवा के अंतिम सुल्तान बाजबहादुर * को नीचा दिखाया था।" फ़रिश्ता लिखता है कि—"बाजबहादुर ने गोंड़वाने पर आक्रमण किया था। दुर्गावती ने उसका सामना किया था और इस युद्ध में बाजबहादुर का चचा फतह खां मारा गया था। तथा हार कर सारंगपुर वापस लौट गया था। (ई. सन् १५५०-१५६० के बीच में) बाजबहादुर ने फिर से युद्ध की तैयारी कर गढ़ा राज्य पर दुबारा आक्रमण किया था।, परन्तु इस बार भी उसे हार कर लौटना पड़ा था। इस युद्ध के कारण रानी का प्रताप सर्वत्र फैल गया था। यही बात गजेंद्र मोक्ष" काव्य में कविवर पं. लक्ष्मीप्रसाद ने लिखी है।

गढ़ा राज्य की राजकीय भाषा हिन्दी थी, किन्तु चारों ओर मुगल शासन हो जाने से फ़ारसी का प्रभाव भी यहां हो चला था। रानी ने गढ़ा का पूर्ण रीति से शृंगार किया था—फिर भी वह स्वयं हिन्दू विधवा नारी के समान

---

*बाजबहादुर.—(ई. सन् १५५४-१५६१) मालवा का अंतिम सुल्तान था। सन् १५६१ ई. में मालवा के बाजबहादुर ने मुगलों द्वारा राज्यच्युत होने पर बुरहानपुर का आश्रय लिया, परन्तु जब मुगल सेना घर को लौटी तब मालवा, खानदेश और बरार के नवाबों ने मिल कर उसे नर्मदा के किनारे घेर कर काट डाला। यह सुल्तान एक अच्छा कलाकार था। उसकी बेगम रूपमती भी, सुन्दर कवियित्री तथा गायिका थी। वह राजपूत कन्या थी। बाजबहादुर उसके गायन पर मुग्ध था—इसलिये उसके साथ उसने प्रेम-विवाह किया (सन् १५५७ ई.)। बाजबहादुर जब मारा गया तब मुगल सेनापति आदम खां ने रूपमती को अपने अधीन करने का प्रयास किया—पर वह हाथ न लगी और उसने अपने प्राण-त्याग दिये। उस समय उसका यह अंतिम दोहा प्रसिद्ध है :—

तुम बिन जियरा दुखत है, मांगत है सुखराज।
रूपमती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज॥

आज भी लोक गीत गाने वाले बाजबहादुर तथा रूपमती का आख्यान सुन्दरता के साथ गाते हैं और सुनने वाला मुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

सात्विक जीवन बिताती थी। हिन्दी के कवि भी उसके दरबार में थे। हिन्दी के कवि गोप महापात्र और नरहर महापात्र जो अकबर के राजकवि थे—दुर्गावती के शासन में गढ़ा और चौरागढ़ आये थे। ये लोग सम्राट् अकबर द्वारा यहां भेजे गये थे, इसलिये कि वे राज्य की गुप्त बातें उसे बतावें, जिससे रानी मुगल सम्राट् की अधीनता में रहे। लोग कहते हैं कि प्रधान मंत्री अधार कायस्थ ने आगंतुक कवियों का गढ़ा और चौरागढ़ में राजकीय स्वागत किया था। कहते हैं कि रानी ने इनके काव्य पर मुग्ध होकर एक करोड़ रुपया दिया था।

रानी दुर्गावती वल्लभ कुल सम्प्रदाय* (पुष्टिमार्ग सम्प्रदाय) की मानने वाली परम वैष्णव थी। श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी महाराज अरैल से गढ़ा आ कर कुछ दिन रहे थे। रानी ने उन्हीं से दीक्षा ली थी। पता चलता है कि श्री विट्ठलनाथ जी गढ़ा से सागर होते हुए मथुरा गये थे। गढ़ा की वल्लभकुल की बैठक आचार्य ने ही स्थापित की थी। यह घटना विक्रम संवत् १६१६ (ईस्वी १५६३) की है।

दुर्गावती भीमपराक्रमेण– रानी ने अपने नाबालिग पुत्र वीरनारायण की ओर से राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली और १५ वर्ष तक बड़ी योग्यता से शासन किया था। उसने प्रजा के हितार्थ अनेक उपयोगी संस्थान बनवाए और अपने राज्य में अमनचैन फैलाया। इस वृद्धि को देख कर कड़ा मानकपुर के† नवाब आसिफ़ खां (अकबर के राज्यपाल) काजी ललचाया और उसने इस विधवा से राज्य छीन लेने का विचार किया। बहाना ढूंढने को कुछ देर न लगी। कहते हैं, दुर्गावती को सम्राट् अकबर की ओर से एक सोने का चरखा इस अर्थ से नजर किया गया कि स्त्रियों का काम रहँटा चलाना है—राज्य करना नहीं। इसके प्रत्युत्तर में रानी ने एक सोने का पींजन बनवा कर भिजवा दिया—मानों यह कहला भेजा कि यदि मेरा काम चरखा चलाना है—तो तुम्हारा पींजन से रुई धुनकना है। इस पर बादशाह नाराज होगया।

---

*गोस्वामी श्री वल्लभाचार्य (ई. सन् १४७९-१५३१) तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मणभट्ट तथा एलमागार के पुत्र थे। जिस समय उनके माता-पिता काशी यात्रा के लिये आंध्र जा रहे थे– रास्ते में महानदी के किनारे चम्पारण्य गांव में (जिला रायपुर में) वैशाख कृष्ण एकादशी संवत् १५३५ को उनका जन्म हुआ। उन्होंने देश में पुष्टिमार्ग का प्रचार किया था। उनका दार्शनिक सिद्धान्त "शुद्धाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है। उनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त—अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ है। उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी हैं। उन्होंने हिन्दी में "२५२ वैष्णवों की वार्ता" ग्रंथ लिखा है–जिसमें रानी दुर्गावती की कहानी क्रमसंख्या २४२ में है।

†आसिफ़ खां—असली नाम ख्वाजा अब्दुल मजीद था। कड़ा का राज्यपाल बना कर अकबर ने उसे आसिफ़ खां की उपाधि दी थी। "तबकात-इ-अकबरी" ग्रंथ में लिखा है कि "हिजरी ९७१ में उसने गढ़ा कटंगा पर आक्रमण किया था। उस राज्य के अन्तर्गत ७० हजार ग्राम हैं। वहां की रानी बहुत ही सुन्दर है। उसे जीतने के लिये आसिफ़ खां ने ५० हजार सैनिकों को लेकर आक्रमण किया, तब रानी ने ७०० हाथी और २० हजार सैनिकों को लेकर युद्ध किया। युद्ध में रानी घायल हुई और शत्रुओं के द्वारा पकड़े जाने के भय से उसने स्वयं आत्महत्या कर ली। विजय पाने पर आसिफ़ खां ने चौरागढ़ पर आक्रमण किया। रानी का पुत्र ज्यों ही आसिफ़ खां से मिलने के लिये किले के बाहर आया, त्यों ही उसने राजकुमार को मरवा दिया और किले को लूट कर बहुत सा धन प्राप्त किया। वहां से बहुत सा धन लेकर वापिस लौट गया।"

मुसलमान इतिहासकारों ने गढ़ा का नाम "गढ़ा कटंगा" लिखा है। गढ़ा के समीप कटंगा नाम का एक पहाड़ है। जायसी ने भी "पद्मावत" में लिखा है :—

दक्खिन दहिने रहै तिलंगा। उत्तर मांझ होय गढ़ह कटंगा।

कुछ लोग कहते हैं कि दुर्गावती के पास एक श्वेत हाथी था—उसे अकबर बादशाह ने अपने लिये मांगा, किन्तु रानी ने इनकार किया। वह प्रसंग दोहे में इस प्रकार कहा गया है :—

अपनी सीमा राज की, अमल करो परमान।
भेजो नाग सुवेत सुद, अरु अधार दीवान॥

इस बात पर सम्राट् अकबर नाराज हो गया और आसिफ़ खां को लड़ाई करने का हुक्म दे दिया। करगा और पींजन का किस्सा तो किस्सा है, परन्तु आक्रमण अवश्य किया गया। उस जमाने में युद्ध के लिये कोई कारण ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। बाहुबल, उचित कारण समझा जाता था। अन्त में आसिफ़ खां सन् १५६४ ई. में ६ हज़ार सवार; तोपखाना और १२ हज़ार पैदल सिपाही लेकर सिंगोरगढ़ पर अचानक चढ़ आया। जब मुग़ल सेना दमोह पहुंची, उस समय रानी के पास सिंगोरगढ़ में केवल ५०० घुड़सवार थे। आसिफ़ खां की सहायता के लिये सम्राट् ने महबूब खां, मुहम्मद मुराद खां, वजीर खां, नाजिर बहादुर, आक मुहम्मद आदि प्रसिद्ध सेनापतियों को हुक्म भेजा था। मुग़लों का अचानक आक्रमण देखकर सिंगोरगढ़ की प्रजा घबरा उठी। फिर भी रानी ने बहुत कुछ सेना एकत्रित कर ली। रानी ने अधारसिंह से सलाह कर के गढ़ा में मोर्चा लगाने का निश्चय किया। इसलिये रानी तुरंत सिंगोरगढ़ से गढ़ा की ओर रवाना होगयी। परन्तु शत्रु उसके पीछे हो लिये और उसे गढ़ा में प्रबंध करने का मौका नहीं दिया। तब रानी ने मंडला की ओर कूच किया और १२ मील चल कर घाटियों के बीच सकरी जगह पाकर वहां पर मोरचा जमाया और लड़ाई की। रानी के पास ५ हज़ार से अधिक सैनिक न थे। सबसे बड़ी कमी यह थी कि रानी के पास तोपखाना था ही नहीं। गोंडों की अपेक्षा मुग़लों का युद्धोपयोगी सामान उन्नति था। युद्धोपयोगी बारूद का अभाव होने से युद्ध में विजय पाना दुर्गावती के लिये संभव ही न था। गोंड लोग केवल तीर-कमान और बरछी-तरवार ही से लड़ते थे। बारूद का उपयोग नाम मात्र का था और न तोपें थीं। आसिफ़ खां के पास तोपखाना था—किन्तु घाटी की लड़ाई में वह समय पर पहुंच नहीं पाया था। इसलिये पहले दिन उभय पक्ष के समान अस्त्र-शस्त्र द्वारा युद्ध हुआ। दूसरे दिन रानी हाथी पर सवार होकर, घाटी के मुख पर, लड़ने के लिये स्वयं उपस्थित हुई। उसकी सेना जी-तोड़कर लड़ने के लिये खड़ी थी और इसमें संदेह नहीं कि उस दिन वह शत्रुओं को मटियामेट कर डालती, परन्तु आसिफ़ खां के भाग्य से समय पर तोपखाना आ पहुंचा। फिर क्या था। एक ओर से तोपों की मार और दूसरी ओर से तीरों की बौछार होने लगी। विषम शस्त्रों से बराबरी क्यों कर हो सकती थी। इस पर भी रानी तनिक भी न डरी। वह अपने हाथी पर से बाणवर्षा करती रही। इतने में ही एक तीर उसकी आंख में लगा और जब उसने उसे खींच कर फेंक देना चाहा तो उसकी नोक टूट कर आंख के भीतर रह गई। इतना बड़ा कष्ट होने पर भी रानी ने पीछे हटने से इन्कार किया। गोंड सेना के पीछे एक छोटी सी नदी थी। वह युद्धारंभ के पूर्व सूखी पड़ी थी। परन्तु इस दिन के शुरू होते ही उसमें अकस्मात् इतनी बाढ़ आ गई कि उसको हाथी भी पार नहीं कर सकता था। दोनों ओर से फौज का मरण दिखता था। आगे से तोपों की मार, पीछे से पानी का प्रवाह। फिर भी दृढ़ संकल्प नारी का मन बिलकुल न डिगा। उसके महावत ने प्रार्थना की कि हुक्म हो तो मैं किसी तरह हाथी को नदी के पार ले चलूं। परन्तु वीर नारी दुर्गावती दुर्गा ही थी। उसने उत्तर दिया कि—"नहीं, मैं या तो शत्रु को मार हटाऊंगी या यहीं पर मर जाऊंगी।" इतने में ही दूसरा बाण उसके गले पर गिरा। सेना में किसी ने यह खबर फैला दी कि युवराज वीरनारायण को वीरगति प्राप्त हो गई। तोपों की मार, पानी की बाढ़, कुमार की मृत्यु और रानी की घायल दशा देख गोंडी सेना अधीर हो कर तितर-बितर होने लगी। रानी ने तुरन्त अपने विश्वासपात्र सैनिकों को आज्ञा दी कि घायल वीरनारायण को चौरागढ़ ले जावें। इसी समय रानी को मुग़ल सैनिकों ने घेर लिया। जब रानी ने देखा कि अब बचने की आशा नहीं है—तब उस धीर वीर ने पासवान अधार बघेला को अपना मस्तक काट देने का हुक्म दिया। पासवान रो उठा और उसने कहा कि "सरमान" हाथी अब भी आपको शत्रुओं के बीच से भगा ले जाने में समर्थ है। किन्तु रानी ने रण से भागना योग्य न समझा और पासवान के हाथ से कटार छीन कर वीरगति का

अवलंबन किया। बरेला के निकट जिस स्थान पर रानी हाथी से गिरी थी—वहां एक चबूतरा बना दिया गया है। जो कोई पथिक यहां से गुजरता था तो वह एक श्वेत पत्थर समाधि-स्थल पर रख देता था। भले ही रानी हार गयी हो, किन्तु उसने अपना नाम और अपने लक्ष्य को अमर कर दिया है।

चौरागढ़ का जौहर

वास्तव में बरेला के युद्ध से गोंडों की पराधीनता का समय प्रारंभ होता है। बरेला की युद्धभूमि में युद्धोपयोगी सामान और बहुत से हाथी सेनापति आसिफ़ खां के साथ लगे। वह गढ़ा में दो माह तक ठहरा रहा और इसी बीच उसने आसपास के प्रदेश को लूट लिया, जिससे एक बार समस्त जबलपुर कंगाल हो गया। बाद में आसफ़ खां ने चौरागढ़ पर आक्रमण करने का निश्चय किया। क्योंकि वह जानता था कि गढ़ा राज्य का खजाना जो वर्षों से गोंड राजाओं ने संग्रहीत किया था—चौरागढ़ में ही है। इसलिये वहां उसका पहुंचना आवश्यक था। गढ़ा की व्यवस्था कर आसिफ़ खां ने अपनी सेना लेकर चौरागढ़ को जा घेरा और वहां गोंडों ने डट कर सामना किया। चौरागढ़ का किला अभेद्य था और वीर नारायण तथा अधार सिंह ने वहां लड़ने की अच्छी तैयारी की थी। पर अभाग्यवश वहीं के एक विश्वासघाती ने मुग़ल सेना को किले का मर्म बता दिया। इस कारण उसी कमजोर स्थान से मुग़लों ने आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। यह साफ़ दिखाई देने लगा कि किला मुग़लों के हाथ अवश्य चला जायगा। प्रत्येक जन अपनी जान की रक्षा का उपाय सोचने लगा। वीर नारायण और अमात्य अधार ने देखा कि रनिवास के पकड़े जाने से विडंबना होगी। तब उन्होंने समस्त स्त्रियों को "जौहर" करने की सलाह दी। उस कार्य को पूरा करने का भार वीरनारायण ने भोज कायस्थ और मियां भिखारी रूमी को सौंपा। किले पर एक बड़ी चिता तैयार की गयी—जिसमें लकड़ियां और घी आदि डाला गया। किले में जितनी स्त्रियां थीं, अपने-अपने बच्चों को लेकर बैठ गयीं और जो मरने से डरीं—उन्हें भोज कायस्थ ने मार डाला। एकाएक जोर से आग सुलग उठी और पुरुष वर्ग हाथ में तलवार लेकर बाहर निकल आये। किले के उत्तरीय द्वार पर मुग़लों से लड़ता हुआ वीर नारायण अपनी वीर माता का अनुसरण करके वीरभूमि में वीर लीला दिखला कर वीर लोक को गमन कर गया। इस तरह सैकड़ों गोंड सैनिक चौरागढ़ में मारे गये। चार दिनों तक किले की चिता बराबर जलती रही और जब द्वार खोला गया, तो उसमें से केवल दो स्त्रियां जीवित पायी गयीं—जो एक बड़ी लकड़ी के नीचे दबी हुई थीं। उनमें से एक थी दुर्गावती की बहन कमलावती और दूसरी थी राजा पुरग्रह की कन्या—जो वीरनारायण की भावी पत्नी होने वाली थी। वे दोनों आसिफ़ खां द्वारा दिल्ली भेज दी गयीं।

आसिफ़ खां को चौरागढ़ में जवाहिरात, मोती, सोना और चांदी आदि खूब सामान मिला था—जिसमें १०० घड़ों में तो सोने की अशर्फ़ियां भरी हुई थीं। यहां पर उसे १ हजार हाथी भी मिले थे—जिसमें से उसने २०० हाथी दिल्ली भेजे और बाकी अपने पास रख लिये थे। आसिफ़ खां चौरागढ़ में कई दिनों तक टिका रहा और उसने सभी प्रकार के अत्याचार किये—जैसा कि विजेता लोग आरंभ में करते हैं। गढ़ा की सम्पत्ति पाकर आसिफ़ खां एक स्वतंत्र सूबेदार बनने का स्वप्न देखने लगा। सम्राट् अकबर ने उसे दिल्ली लौटने का फ़रमान भेजा—पर वह नहीं गया। कहते हैं कि अकबर स्वयं यहां आने को चला था, पर नरवर पहुंचने के बाद वह दिल्ली वापिस लौट गया। आसिफ़ खां ने २–३ वर्ष इसी तरह बिताये। अन्त में उसने इस विद्रोह के लिये अकबर से क्षमा मांग ली और अपने पुराने स्थान को लौट गया।

क्षीणावस्था के गोंड राजे

मुग़लों का प्रभुत्व:—आसिफ़ खां के जाने पर कई वर्षों तक गढ़ा राज्य में अव्यवस्था बनी रही। जान पड़ता है कि समय-समय पर व्यवस्था के नाम पर दिल्ली के सैनिक अफ़सर सैनिकों सहित गढ़ा में आकर रहते थे। उनमें से उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ परिचय यहां दिया जा रहा है। सन् १५६६ में अकबर ने मेहदी कासिम खां को

गढ़ा में भेजा था। मिस्टर स्लीमन ने लिखा है कि आसिफ़ खां के चले जाने पर चूड़ामणि वाजपेयी दिल्ली गया था। वहां उसने सम्राट् से मिल कर दलपतशाह के भाई चन्द्रशाह को गढ़ा राज्य का राजा बनाने का उद्योग किया था। कई दिन के बाद अकबर ने १० उजाड़ गढ़ लेकर (जिनका सम्बन्ध मालवा से था) चन्द्रशाह को अन्य पहाड़ी गढ़ों का राजा बना दिया।

इस युद्ध के कारण गढ़ा राज्य अवनति की ओर झुक गया और राज्य का उपजाऊ प्रदेश हाथ से जाता रहा। सागर तथा भोपाली प्रदेश हाथ से निकल गया। चन्द्रशाह को गढ़ा राज्य मनसबदारी शर्त पर सौंपा गया होगा—ऐसा जान पड़ता है। देवगढ़, हरियागढ़, गरोला, लांजी, देवगढ़, खटोला, देवहार, दनाकी, मलवानी आदि स्थानों के सामन्तगण स्वतंत्र से होगये और वे सभी मालवा के सूबेदार के अधिकृत होगये थे।

गढ़ा में मुगलों का एक अफ़सर रहता था—जो गोंडवाने का राजस्व वसूल कर के दिल्ली भेजता था। यह प्रबंध लगभग २५ वर्षों तक चलता रहा। गढ़ा में पहला मुगल अफ़सर मेंहदी कासम खां आया था। किन्तु सन १५६६ ई. में वह चला गया था। उसके बाद शाह कुलीखां और बाकर अली भी रहे थे। इनके बाद राय सूरजसिंह हाड़ा का नाम मिलता है—जो सन् १७५७ में गढ़ा में था। हस्तलिखित ग्रंथ "गढ़ेश नृप वर्णनम्" से पता चलता है कि वह यहां ३ वर्ष रहा था। यह पता चलता है कि दिल्ली से चन्द्रशाह के पक्ष में फ़ैसला करवा कर लौटने पर अधार-सिंह कायस्थ ने हाड़ा को महल से निकाल कर दिल्ली भेज दिया। सूर्यसिंह हाड़ा के बाद ही चन्द्रशाह गढ़ा की गद्दी पर बैठा। सूर्यसिंह ने सम्वत् १६१५ में गढ़ा में एक तालाब बनवाया था। हाड़ा का गढ़ा पर ३ वर्ष तक कब्जा था। ओड़छा के मधुकरशाह से लड़ने के लिये सन् १५७७ में अकबर ने सूरजसिंह हाड़ा को भेजा। हाड़ा के बाद गढ़ा में बाक़ीखां आया था—जो सन् १५८५ तक रहा। बाकी खां के बाद मिरज़ा अज़ीज भी एक वर्ष यहां रहा था। सन् १५८७ में शाहमखां यहां आया था। ये फ़ौजी अफ़सर जो गढ़ा पहुंचते थे, उनका खर्चा गढ़ा की जागीर से वसूल होता था। यों तो गढ़ा राज्य के सर्वेसर्वा ये लोग होते थे और गोंड राजा नामधारी ही थे।

मधुकरशाह:—चन्द्रशाह की राजकीय स्थिति जागीरदार के समान थी। राज्य का पुराना संग्रहीत कोष तथा राज्य का उपजाऊ प्रदेश हाथ से जाता रहा—इस से गढ़ा के राजा की आर्थिक स्थिति दयनीय ही थी। चन्द्रशाह के मरने के बाद उसके दूसरे लड़के मधुकरशाह ने अपने बड़े भाई को धोखा देकर मार डाला और आप गद्दी पर बैठ गया। पीछे से उसको अपनी करनी पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने एक खोखले पीपल के पेड़ में बन्द हो कर आग लगवा ली और इस तरह प्राण दे कर प्रायश्चित्त कर डाला। तब उसका लड़का प्रेमनारायण गद्दी पर बैठा। मधुकर शाह की मृत्यु के समय प्रेमनारायण दिल्ली में था। चलते समय यह ओड़छे के राजा वीरसिंह देव * से नहीं मिल पाया। इसको वीरसिंह ने बड़ा अपमान समझा।

‡ **प्रेमनारायण** :—वह स्वयं प्रेमनारायण को दंड देना चाहता था, परन्तु शीघ्र ही बीमार होकर मर गया। अपनी मृत्यु के समय बुन्देला सरदार ने अपने मृत्यु शय्या पर अपने तीनों पुत्रों पहाड़सिंह, जुझारसिंह और हरदौल लाला को बुलाया और उनसे प्रतिज्ञा करवायी कि वे गढ़ा पर कब्जा करेंगे और प्रेमनारायण को क़ैद कर लेंगे और वे उसी स्थिति में छोड़ेंगे जब कि वह उसके हाथ से चावल ग्रहण कर लेगा। यदि वे ऐसा न कर सके तो उसके सच्चे पुत्र न कहलायेंगे। तीनों

---

* **वीरसिंह देव**—इनका समय इस घटना से मेल नहीं खाता है।

‡ **प्रेमनारायण**—जहांगीरनामा से पता चलता है कि "१२ वें नौरोज भादों बदी ३० (ईस्वी सन् १६१६) को सम्राट् जहांगीर ने राजा प्रेमनारायण को एक हजारी मनसबदार बनाया। गढ़ा के जमींदार राजा प्रेमनारायण को हजारी जात और पांच सौ सवारों का मनसब दिया गया और जागीर की तनख्वाह उसी वतन में लगा दी गई। वह अगहन सुदी १० गुरुवार को दिल्ली से गढ़ा के लिये रवाना होगया।" (मुंशी देवीप्रसाद कृत जहांगीरनामा)।

पुत्रों से उसने दूसरी यह सौगंध करवायी कि वे प्रेमनारायण से यह वचन ले लेंगे कि गोंडवाने में खेती कराने के † लिये गौम्रों को हलों में + न जोता जायगा।

प्रेमनारायण एक मामूली राजा था और उसका सारा जीवन बुन्देलों से संघर्ष करने में ही बीता था। इसलिये वह गढ़ा छोड़ कर चौरागढ़ में रहता था। बुन्देले तो मुगलों के विरोधी थे—इसलिये वे सम्राट् की परवाह न करते हुए उपद्रव किया करते थे। सन् १६२७ में जहांगीर मर गया और उसका उत्तराधिकारी शाहजहां हुआ। वीरसिंह देव के पुत्र जुझारसिंह ने सन् १६३४ में चौरागढ़ पर घेरा डाल दिया परन्तु ६ महीने तक किला आक्रमणकारियों के सामने सुदृढ़ रहा। इस पर एक हट्टेकट्टे ताकतवर मनुष्य ने किसी चालाकी से ऊपर पहुंच कर पूजा करते हुए राजा को उठा लिया और मैदान में मार डाला। एक दूसरे स्थानीय विवरण से पता चलता है कि प्रेमनारायण को जयदेव वाजपेयी के साथ जुझारसिंह के डेरे पर निमंत्रण देकर बुलाया गया था—वहां पर पूजा के समय उसे धोखा देकर मार डाला गया था। राजा और दीवान को मार कर बुन्देलों ने चौरागढ़ को लूट लिया था। लोग कहते हैं कि बुन्देले जब चौरागढ़ को लूट कर वापस जा रहे थे—तब नर्मदा के किनारे ब्रह्माणघाट पर उन्होंने चौरागढ़ की ओर मुख कर के मूंछों पर हाथ फेरते हुए कहा था—"हम प्रेम नारायण की मूंछ लेकर जा रहे हैं।" उस समय उनकी सारी नावें—जिन पर तोपें, गाड़ियां, बैल, घोड़े तथा अन्य सामान भरा हुआ था—नर्मदा के प्रवाह में बह गयीं। आज भी पूर्णिमा और अमावस्या को नर्मदा के जल में तोपें दिखायी देती है और बैलों का रंभाना सुनायी देता है, ऐसी प्रचलित किम्वदन्ती है।

गढ़ा राज्य के अमोदा ग्राम में जो सती लेख है, उसमें लिखा है "श्री गणेश। श्रीमान महाराजाधिराज प्रेमसाही को साको भयो—गढ़ा देश अमोदा स्थाने कृष्णराय राज्य करोति। संवत् १६५१ समय कातिक बदी २ रविवासरे बसंतराय दोरवा शियाले खिपलियानी के ठाकुर वाको बेटा शिरोमणि राउत ताको सती भई। रचित—सुखेश्वर गणेशम्।" (यह लेख ७ पंक्ति का है)।

हृदयशाह–कोई-कोई कहते है कि जुझारसिंह स्वयं लड़ने नहीं गया था, उसका भाई पहाड़सिंह गया था, *

---

† **भाटों का यह कवित्त प्रसिद्ध है :—**

पड़ी है पिशाचन वश जोतते है आठों याम, सुखहू न लेत पापी तृणहू के खाने की।
कान्हजू की कामधेनु करती है विलाप रोय, कपिला की जात कहूं भाग नहीं जाने की।
रोज उठ करत पजर भोर भानुजूसों फौज चढ़ धावें केशोराय के घराने की।
वीरसिंहजू के वंश प्रबल पहाड़सिंह तेरी बाट जोहती हैं गौएं गोंडवाने की॥

+ **जो गाय गाभिन नहीं होती**—वह यदि जोती जाने लगती है, तो उसमें प्रायः गर्भ धारण करने की क्षमता आ जाती है.। आजकल पशु वैज्ञानिक यह मानने लगे हैं।

*जुझारसिंह का छोटा भाई "हरदौल लाला" उत्तरीय मध्यप्रदेश में देवता माना जाता है। ग्रामीण लोग उसके नाम से आज भी पूजन करते हैं। इस सम्बन्ध की कथा यह है कि पहले पहल राजा जुझारसिंह जब चौरागढ़ पर हमला करने गया था—तब रानी के पास अपने छोटे भाई हरदौल को रख गया था। देवर और भावज दोनों बड़े प्रेम से रहते थे किन्तु जब जुझार वापिस लौटा—तो उसे संदेह हुआ कि देवर-भावज में अनुचित सम्बन्ध है। अन्त में उसने रानी से हरदौल को विष देने के लिये कहा और पति का संदेह हटाने के लिये, उसे अपने निरपराध देवर को विष देना पड़ा, जिससे हरदौल मर गया। तब से वह ग्रामीणों का "वीर" बन गया—"गांवन गांवन चौतरा–देसन देसन नाम" हो गया। ग्रामीण औरतें हरदौल के गीत बड़ी सुन्दरता से गाती हैं। हरदौल का पूजन करने से हैजा नहीं फैलता और विवाह में आंधी पानी से बचाव होता है, ऐसी प्रचलित किम्वदन्ती है।

जो-हो गाय की गुहार पहाड़सिंह के प्रति की गई जान पड़ती है। प्रेमनारायण के पुत्र हृदयशाह को अपने बाप के मारे जाने की खबर दिल्ली में मिली थी। वह वहां से सम्राट् की आज्ञा से गढ़ा गया, परन्तु बुन्देलों की हुकूमत होने से वह प्रभावहीन था। इसी कारण से उसे भेष बदल कर कई दिन बिताने पड़े थे। ओड़छा के जुझारसिंह के द्वारा प्रेमनारायण का मारा जाना शाहजहां को अखरा और उसने तुरंत भोपाल के मनसबदार को परवाना भेजा कि वह हृदयशाह की सहायता करे। "बादशाहनामा" के अनुसार पता चलता है कि इस घटना के बाद सम्राट् शाहजहां ने जुझारसिंह को यह परवाना भेजा था—कि "चौरागढ़ पर आक्रमण करके उसने शाही-आज्ञा का उल्लंघन किया और अब यही अच्छा है, कि वह राज्य को अपने प्रभाव से मुक्त करके दस लाख रुपये दंड देवे।" पता चलता है कि यह संदेश लेकर कविराय* सुन्दर जुझारसिंह के पास गया था। जुझारसिंह यह जानता था कि बिना युद्ध के इसका निर्णय होना असंभव है। उसने तुरंत कुमार विक्रमाजीत को वापिस चले आने का संदेश भेजा-क्योंकि उसका पुत्र विक्रमाजीत उस समय बरार में मुग़ल सेनापति खानदौरान के साथ था। विक्रमाजीत किसी तरह जख्मी होकर बुंदेलखण्ड पहुंचा।

कविराय सुन्दर के लौट जाने पर शाहजहां ने शाहजादा औरंगजेब को ३ प्रमुख सेनापतियों के साथ ओड़छा भेजा। मुग़ल सेना ज्यों ही ओड़छा पहुंची, त्यों ही जुझारसिंह ओड़छा छोड़ कर धामोनी चला गया परन्तु मुग़ल सेना ने पीछा न छोड़ा। अन्त में वह धामोनी से भाग कर चौरागढ़ पहुंच गया—पर वहां पर सुरक्षित न रह सका। तुरंत औरंगजेब ने अब्दुल खां, खानदौरान और फिरोज जंग को सेनासहित चौरागढ़ पर आक्रमण के लिये भेज दिया। इन तीनों ने शाहपुर में मुकाम करके चौरागढ़ को घेर लिया। जुझारसिंह जानता था कि वह मुग़लों से लड़ कर विजय नहीं पा सकता—इसी कारण उसने चौरागढ़ की समस्त तोपें, सामान और इमारतों को नष्ट कर दिया और अपने परिवार सहित लांजी और करोला के रास्ते दक्षिण मध्यप्रदेश के अरण्यमय प्रदेश में चल दिया। चौरागढ़ के राघव चौधरी ने मुग़ल सेनापतियों को यह बताया कि "जुझारसिंह के पास २ हजार घुड़सवार, ४ हजार पैदल सैनिक और ६० हाथियों पर खजाना लदा हुआ है और वह चीचली कोदिया के मार्ग से गया है।" मुग़ल सेना ने पीछा किया—जिसका ब्यौरा औरंगजेब पत्र द्वारा बराबर भेजता था। मुग़ल सेनापति जुझारसिंह का पीछा करते हुए लांजी पहुंच गये। उस समय वहां का किलेदार गोविन्द गोंड था। उसने पता दिया कि जुझारसिंह चांदा के जंगलों में है। इस भागदौड़ में उसकी बहुत सी सेना अस्तव्यस्त हो गई। पकड़े जाने के भय से जुझार ने अपने रनिवास को मरवा दिया था। अन्त में जुझारसिंह और उसका पुत्र विक्रमाजीत जंगल में गोंडों के द्वारा मारे गये। तब उसकी लाश का पता लगा कर खानदौरान ने उसका सिर दिल्ली भिजवाया और सम्राट् ने उसे सेहुर द्वार पर टंगवा दिया। (सन् १६३४ ईस्वी)

जुझारसिंह के मारे जाने के बाद हृदयशाह को चौरागढ़ प्राप्त हुआ—किन्तु सन् १६५१ ईस्वी में उसे वह दुर्ग सदा के लिये मुग़लों के अधीन सौंप देना पड़ा।† कुछ दिनों तक हृदयशाह गढ़ा में रहा—किन्तु वहां से वह अपनी राजधानी रामनगर में ले गया। रामनगर में उसने महल और मन्दिर बनवाये‡ जो बीहड़ अरण्यमय केन्द्र में हैं।

---

*कविराय सुन्दर हिन्दी के कवि हैं।

†सरदार खां नामक एक मुग़ल सरदार इसी समय धामोनी का किलेदार बनाया गया था किन्तु शीघ्र ही सन् १६४४ में वह मालवा का सुबेदार होकर वहां से चला गया। बुन्देलों से समझौता होने पर सन् १६५१ ई. में चौरागढ़ का किला मुग़ल सम्राट् ने पहाड़सिंह को सौंप दिया था। पहाड़सिंह जब चौरागढ़ आया—तो राजा हृदयशाह भाग कर बांधोगढ़ के राजा अनूपसिंह के यहां चला गया। इस पर उसने रीवां पर भी आक्रमण किया था। रीवां लूट कर पहाड़सिंह दिल्ली गया था।

‡रामनगर.—रामनगर का मोतीमहल, जहां पर शिलालेख लगा हुआ है—२१२ फुट लंबा और २०० फुट चौड़ा आयताकार भवन है। उसके भीतर १६७ फुट लंबा और १५६ फुट चौड़ा आंगन है। यह महल घने जंगल

लोग कहते हैं कि एक बार हृदयशाह देवगांव की यात्रा के लिये गया था—तब उसे रामनगर की छटा भा गई और वहीं रहने का उसने निश्चय किया। उसने वहां अपने रहने के लिये एक तिमंजिला महल बनवाया—जिसकी पिछली दीवाल पर संस्कृत में एक शिलालेख चिपका हुआ है,‡ जो पहले वहां से १०० फुट दूर एक विष्णु के मन्दिर में लगा था। यह लेख सन् १६६७ ईस्वी का है। यह विष्णु मन्दिर हृदयशाह की रानी सुन्दरी के लिये बनवाया गया था—जो जाति की लवानी थी। कवियों ने तो हृदयशाह को सभी विद्याओं में प्रवीण कहा है :—

"भुमहीन्द्रो हृदय नरपतिः सर्वे विद्याप्रवीणः"

मंडला से ५ मील पर बंजर नदी के किनारे इस राजा ने हृदयनगर बसवाया था। रानी सुन्दरी ने लवराज और गंगासागर दो तालाब खुदवाये थे। हृदयशाह के यहां विद्यानाथ दीक्षित और जयगोविन्द दो प्रमुख कवि थे। यही एक गोंड राजा है जो एक शिलालेख छोड़ गया है—उसमें गोंडों की वंशावली दर्ज है। इस राजा ने ७० वर्ष राज किया था।

छत्रशाह और केसरीसिंह

हृदयशाह के छत्रसिंह और हरिसिंह दो पुत्र थे—जिन में से छत्रशाह ई. सन् १६७८ में गद्दी पर बैठा। उसने ७ वर्ष राज्य किया और उसका उत्तराधिकारी केसरीसिंह हुआ। यह लड़का गद्दी पर बैठा, पर घर में फूट होगयी। उसके चचा हरिसिंह ने बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल की सहायता लेकर रामनगर पर अधिकार जमाया और राज्य के अधिकारी केसरीसिंह को मरवा दिया। (ई. सन् १६८८) उस समय केसरी का पुत्र नरेन्द्रशाह केवल ७ वर्ष का बालक था। दीवान रामकृष्ण वाजपेयी के पुत्र कामदेव ने नरेन्द्रशाह को राजा घोषित कर दिया और हरिसिंह पर आक्रमण कर उसे मरवा डाला। हरिसिंह के मारे जाने पर उसका पुत्र पहाड़सिंह रामनगर से भाग गया। पहाड़सिंह रामनगर से भाग कर औरंगजेब से मिलने के लिये बुरहानपुर गया, परन्तु वह बीजापुर की ओर था। यह भी वहां गया और इसने बीजापुर के युद्ध में भाग लिया। इस युद्ध से छुटकारा पाने पर औरंगजेब ने पहाड़सिंह की सहायता के लिये मीरजान और मीरमनुल्ला को हुक्म दिया।

नरेन्द्रशाह (ई० सन् १६८८–१७३२)

मुगलों को साथ में लाकर पहाड़सिंह ने रामनगर पर कब्जा जमाना चाहा, किन्तु फतहपुर में दूधी नदी के किनारे नरेन्द्र की सेना ने उसे रोक दिया। फतहपुर के युद्ध में नरेन्द्र की सेना हार गयी, तब वह दीवान रामकृष्ण के साथ मण्डला लौट गया। मण्डला से नरेन्द्र सोहागपुर गया और वहां उसने फिर से अपनी सेना संघटित की। उसने दूसरा युद्ध पहाड़सिंह के साथ केतुगांव में किया था, उस समय में मुगल सेना पहाड़सिंह का साथ छोड़ कर चली गयी थी और इसलिये वह केतुगांव के युद्ध में मारा गया और नरेन्द्र विजयी हो मण्डला लौट गया।

में नर्मदा के दक्षिण किनारे ८० फुट ऊंचाई पर बना है। मोती महल के पूर्व में १॥ मील पर रानी बघेलिन का महल है और महल के निकट दीवान भगतराय की कोठी है। मोतीमहल से १०० फुट पर रानी सुन्दरी का बनाया हुआ विष्णु मन्दिर है—जिसमें विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा और सूर्य की मूर्तियां थीं, किन्तु अब तो सूर्य और दुर्गा की मूर्ति रह गयी हैं। यह मन्दिर ५६ फुट लंबा-चौड़ा चतुष्कोनी है। यहीं पर रामनगर का शिलालेख लगाया गया था। यह लेख कवि जयगोविन्द ने ४६ श्लोकों में रचा था। प्रशस्ति में राजा हृदयेश्वर की ५२ पीढ़ियों का वर्णन है। जिसको संवत् १७२४ जेष्ठ शुक्ल ग्यारस शुक्रवार को सदाशिव ने अंकित किया था। इस मन्दिर के बनाने वाले सिंहसाहि, दयाराम और भागीरथ कारीगर थे।

‡ रामनगर की प्रशस्ति का ब्यौरा "आरक्यालोजिकल सर्वे आफ इंडिया", जिल्द १७ में दिया गया है।

नरेन्द्रशाह ने मण्डला को अपनी राजधानी बनाया, किन्तु राज्य का बहुत हिस्सा उसके हाथ से निकल गया था। केतुगांव में पहाड़सिंह के मारे जाने पर उसके दोनों लड़के भाग गए और फिर दिल्ली जाकर मदद मांगी, परन्तु उनका प्रयास निष्फल हुआ। अब उन्होंने एक नई युक्ति सोची। अपना धर्म बदल डाला। वे मुसलमान होगये। इस तरकीब से उनको मदद मिल गयी और नरेन्द्र से एक बार लड़ाई छिड़ी। अन्त में वे दोनों (मुसलमानी नाम—अब्दुल रहमान और अब्दुल हाजी) मारे गए। इसके बाद नरेन्द्र निश्चिन्त तो हो गया, परन्तु इन झगड़ों में पड़ने से उसका राज्य क्षीण हो गया। उसको अनेक राजाओं से सहायता लेनी पड़ी और बदले में कई गढ़ नज़र करने पड़े। इसी प्रकार गद्दी क़ायम रखने के लिये उसे मुग़लों को ५ गढ़ नज़र करने पड़े।

महाराजशाह (ई. सन् १७३२–१७४२)

नरेन्द्र के शासन-समय में दो जागीरदारों ने विद्रोह किया था। उनमें से लुण्डे खां का दमन नरेन्द्र ने देवगढ़ के राजा बख्तबुलंद की सहायता से सिवनी में किया था। जिससे देवगढ़ के राजा को चौरई, धूनसौर और डोंगरताल के गढ़ देने पड़े थे। खलारी में आजिमखां जागीरदार हराया गया था। सन् १७३२ ईस्वी में नरेन्द्रशाह मर गया तब उसका पुत्र महाराजशाह गद्दी पर बैठा। संग्रामशाह के ५२ गढ़ों में से उसके पास केवल २६ गढ़ रह गये थे। महाराज को निर्बल देख पूना के पेशवा की लार टपकी। उसने मंडला पर चढ़ाई कर महाराजशाह को मार डाला और उसके लड़के शिवराज शाह को गद्दी पर बैठा कर ४ लाख रुपया सालाना चौथ मुक़र्रर कर दी। इस तरह मंडला का राजा पेशवा का आश्रित सा होगया।

शिवराजशाह (ई. सन् १७४२–१७४९)

पेशवा के चले जाने पर नागपुर के रघोजी भोंसले ने मण्डला पर आक्रमण कर दिया। शिवराजशाह ने ६ गढ़ देकर उसको भी संतुष्ट कर दिया था। मराठों के नवीन आक्रमण से राजगोंडों की रही-सही शक्ति जाती रही। शिवराजशाह ने केवल ७ ही वर्ष राज्य किया। तब उसका पुत्र दुर्जनशाह गद्दी पर बैठा।

दुर्जनशाह

वह वास्तव में यथा नाम तथा गुणः था। उसकी सौतेली माता विलासकुंवरि उससे असंतुष्ट रहती थी। इसी कारण उसने अपने देवर निजामशाह से मिल कर दुर्जन को मरवाने का षड्यंत्र रचा। विलासकुंवरि ने दुर्जन को राज्य में दौरा करने का आदेश दिया। उसके अनुसार राज्य का दौरा करना उसने प्रारम्भ किया किन्तु दूसरे ही दिन उसके पास हरकारा भेज कर कहलवाया गया कि "तुम्हारे चचा निजामशाह किसी कारण से नाराज होगये हैं, उन्हें आकर मना लो।" दुर्जनशाह तुरंत वापिस लौट आया और सीधा चचा के मकान पर गया। ज्यों ही घोड़े से उतर कर भीतर गया, त्यों ही बाहर जाने का द्वार बन्द कर दिया गया। साथ में लछमन पासवान था-वह चिल्लाया और राजा को उठा कर आंगन से बाहर फेंक देना चाहा, परन्तु पास के सैनिकों ने उसके हाथ काट दिये और राजा को मार डाला। इस तरह निजामशाह के महल में दुर्जनशाह मारा गया।

निजामशाह (ई. सन् १७४९-१७७६)

भतीजे को मार कर निजामशाह मण्डला की गद्दी पर बैठा। इस में उसकी भावज विलासकुंवरि का सहयोग था। निजामशाह ने सागर में पेशवा का जो सूबेदार नियत था—उसे पनागर, देवरी और गौरझामर परगने देकर संतुष्ट किया। चतुर होने से वह राजकीय आपत्तियों के हटाने में कुशल था। इसी कारण उसका शासन शांति के साथ बीता था। उसके पास मोहनसिंह और मुकुटमणि दो वीर राजपूत थे। एक बार शिकार में मुकुटमणि को तो शेर ने खा डाला और मोहनसिंह को विद्रोही सैनिकों ने मोहन-नाले पर काट डाला। तब राजा ने मोहनसिंह के पुत्र गज्जीसिंह को रामगढ़ इलाका जागीर में दिया। इस राजा के दीवान

बाजपेयी और राजपुरोहित ओझा जी थे। मण्डला के किले में राजराजेश्वरी की स्थापना इसी राजा ने करवायी थी। कहते हैं कि राजा लोग पूजा करते समय अपनी तलवार देवी के पास रख देते थे। वह आप से आप उठ कर उनकी गोद में आ जाती थी। यह सर्वोत्तम सगुन माना जाता था। जब मराठों ने मण्डला पर आक्रमण किया था तब तलवार तीन बार उठी किन्तु गोद में नहीं आयी और वहीं जमीन पर गिर पड़ी। तब तो राजा को निश्चय हो गया कि हार निश्चित है। यही कारण था कि वह युद्ध से भाग निकला था। इस तरह सगुन लेने की प्रथा राजाओं में प्रचलित थी।

निजामशाह की एक मुसलमान पीर पर भी अधिक श्रद्धा थी। कहते हैं कि राजा को एक बार स्वप्न में पीर ने दर्शन दिया। किन्तु सचेत होने पर राजा ने उसे नर्मदा के जल पर चादर बिछाये लेटा हुआ पाया। प्रार्थना करने पर वह जल से बाहर निकला। तब से वह महन्त बाड़ा में रहने लगा। जब वह मरा तो राजा ने उसकी दरगाह बनवा दी थी।

गोंड राज्य की समाप्ति

निजामशाह ने मण्डला के किले और महल की मरम्मत करवायी थी। कवियों ने इस राजा को कल्पद्रुम की उपाधि दी है। वह स्वयं भी हिन्दी में कविता करता था।* उसके दरबार में पं. रूपनाथ और पं. लक्ष्मीधर सुन्दर कवि थे। जिन्होंने संस्कृत श्लोकों में राजवंश का इतिहास अंकित किया है। पता चलता है कि निजामशाह के मरने पर राजगद्दी के लिये झगड़े हुए थे। इस समय रानी विलासकुंवरि जीवित थी। राजा के मरते ही राज का प्रबंध उसने अपने हाथ में ले लिया था। वह दीवान बाजपेयी से नाराज थी—क्योंकि वे राजा नरहरिशाह के पक्ष में थे। इसलिये उसने सैनिकों को हुक्म दिया कि बाजपेयी को मार डालो। सैनिकों ने बाजपेयी का घर घेर लिया। जब बाजपेयी ने देखा कि सर्वनाश अनिवार्य है—तब उसने बाहर का द्वार बन्द करवा दिया। घर के सभी लोगों ने इष्टदेव का पूजन किया। परिवार के प्रत्येक पुरुष ने अपनी-अपनी स्त्रियों को मार डाला और जो पुरुष बचे वे तलवार लेकर द्वार खोल मारने और मरने को बाहर आगये। इस प्रकार १२५ जन इस झगड़े में मारे गये। केवल दो छोटे बच्चे बच गये थे—जिनको नौकर बाहर खिलाने ले गये थे। उनसे ही मण्डला के बाजपेयी का वंश आगे चला। जिस दिन यह जौहर हुआ था—वह भाद्रपद की पूर्णिमा का दिन था। आखिरकार निजामशाह के लड़के नरहरिशाह को गद्दी मिली, परन्तु उससे और नागपुर के भोंसले से झगड़ा उत्पन्न होगया। नरहरशाह गद्दी से उतार दिया गया और निजामशाह का लड़का सुमेरशाह राजा बनाया गया। यह बात सागर के सूबेदार को पसंद न हुई। इसलिये उन्होंने सुमेरशाह को निकालने का यत्न किया। सुमेरशाह ने अपना पाया उखड़ता देख कुछ शर्तों पर नरहरिशाह को गद्दी पर बैठाने की बातचीत चलाई। सागर वालों ने उसे शर्तें तय करने के लिये सागर बुलवाया। विश्वास का बंधा वह बेचारा वहां चला गया, परन्तु उसके साथ दगा की गई। सागर के हाकिम ने उसे पकड़ कर सागर के किले में कैद कर दिया और नरहरिशाह को गद्दी पर बैठा दिया। सागर के मराठे नरहरिशाह को कठपुतली सा नचाने लगे। जब उसको ज्ञात हुआ कि मैं नाम का ही राजा हूं तो उसने मराठों को निकालने का प्रयास किया। इस पर सागर के मराठा सूबेदार ने उसे पकड़ कर खुरई के किले में कैद कर दिया। वहीं पर सन् १७८९ ई. में उसकी मृत्यु हुई। इस तरह मराठों द्वारा गढ़ा मंडला के गोंड घराने की लीला समाप्त कर दी गई।

---

*निजामशाह के रचे हुए तीन-चार कवित्त हमारे देखने में आये हैं—उनमें से एक कवित्त इस प्रकार है :—

फरकन लागे अंग होन पै सगुन लागे, जागे अब भाग अनुराग के समाज सों।
तोरन बंधावें सखी कलस धरावें पौरि, पांवड़े डरावें ले सुगंधन के साज सों।
आवें प्राणप्यारे उठ आदर करोंगी आज, सादर विलोकि मन भाये सिरताज सों।
आनंद उलेलिन सों हिलिहों निसंक आली, मिलि होंरी आज तें निजाम महाराज सों।।

गोंडवाने का गोंडी शासन

बरार को छोड़ कर समस्त मध्यप्रदेश गोंडी शासनाधीन था। राजा और प्रजा के जो सम्बन्ध पुरातन काल से चले आ रहे थे—उनमें इस युग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। राज्य की समस्त आय राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी। राजा प्रजा की भलाई का जो जो काम करता था—वह दान के रूप में होता था। प्रजा भी अपने उपार्जन का कुछ अंश राजा को देती थी। यही पुरातन तरीका इस युग में भी रहा। पर शासन का आधार एक मात्र सैन्य संगठन था। उसमें व्यय करना आवश्यक था। मुग़लों के समय में सैनिक व्यवस्था में काफ़ी विकास हुआ था। रथ, तीर, भाले, तलवार और हाथियों का प्रभाव घट गया। उनका स्थान घुड़सवार, पैदल बन्दूकची और तोपखाने ने लिया। जगह-जगह किले बनवाने का काम जोरों पर था, जिनके सहारे राजा लोग अपना बचाव करते थे। केन्द्रीय सेना के अतिरिक्त गढ़ाधिपति की सेना अलग होती थी और उसके खर्च के लिये जागीरें बांट दी जाती थीं। गढ़ा का प्रतापी राजा संग्रामशाह था। जिसने अपना राज ५२ गढ़ों में बांट रखा था। ये गढ़पति एक तरह के छोटे राजा थे।

गोंडवाने की सीमा.—अबूल फ़ज़ल ने इस प्रकार लिखा है—"उस राज्य के पूर्व में रतनपुर (झारखण्ड प्रदेश), पश्चिम में रायसेन (मालवा), जिसकी लंबाई १५० कोस थी; उत्तर में पन्ना (बुन्देलखण्ड) और दक्षिण में दक्खन (सूबा बरार) जिसकी चौड़ाई ८० कोस थी। वह राज्य गढ़ा-कटंगा कहलाता था। उस अरण्यमय प्रदेश में किलों की अधिकता है। कहते हैं कि उस राज्य में ७० हजार मौजे हैं। जिनमें कई घनी आबादी वाले गांव हैं। गढ़ा एक बड़ा शहर है, किन्तु कटंगा साधारण मौजा है। दोनों को जोड़ कर लोग गढ़ा-कटंगा कहते हैं। उस राज्य की राजधानी चौरागढ़ है।" उस ग्रंथ में सरकार कनौजा (गढ़ा) का विवरण भी दिया गया है। "सरकार कनौजा के अन्तर्गत ५७ महाल हैं और उसकी आय १,००,७७,०८० दाम* है। राजा जाति का गोंड है, जिसके पास ५,४६५ घुड़सवार और २,५४,००० पैदल सिपाही हैं।" गढ़ा राज्य में गरोला, हरियागढ़, देवगढ़, खटोला, मझोर, लांजी, देवार, मण्डला, मुगदा आदि के प्रमुख जमींदार राजा कहलाते थे। जब अक़बर ने गढ़ा राज्य की कमर तोड़ दी—तब ये ही जमींदार स्वतंत्र हो गये और उन्होंने मुग़ल शासन से सीधा नाता जोड़ लिया। उनमें से हरिया और देवगढ़ के राजा महाराजा कहलाते थे। गढ़ा के महाराजा प्रमुख मंत्री दीवान और पुरोहित थे। सेना का सेनापति—किलेदार या बक्षी कहलाता था। जमाबन्दी का काम आमिल के आधीन था। राज का कामकाज हिन्दी में होता था, किन्तु दीवान के अधीन छोटा सा फारसी विभाग था, जिसका सम्बन्ध मुग़ल राज्य से था। फारसी और संस्कृत का आदर दरबार में होता था। गढ़ों के किलेदार ठाकुर या दीवान कहलाते थे, जो प्रायः गोंड जाति के थे। परगनों के प्रबंधक चौधरी और कानूनगो थे। मराठी जिलों में ये लोग देशमुख या देशपाण्डे कहलाते थे। हिसाब-किताब रखने का काम गुमाश्ता करते थे और उनका मुखिया ब्योहार कहलाता था। घोड़े, हाथी तथा फ़ौजी भंडार आदि के जो अधिकारी नियत किये जाते थे—वे जमादार कहलाते थे। ग्राम के मुखिया पटेल या दीवान कहलाते थे—जो लगान वसूल कर के राजा या जागीरदार को देते थे। प्रत्येक वर्ष खेत जोतने का इकरारनामा किसान को करना पड़ता था। गोंडों के समय में जागीरदारी पद्धति थी। राजवंश के लोग और रिश्तेदार ही राज्य के बड़े-बड़े जागीरदार थे। राज्य सेवा के उपलक्ष्य में जो लोग जागीर पाते थे, वे लोग द्वितीय श्रेणी में गिने जाते थे। जागीरदार वास्तव में एक छोटा-मोटा राजा होता था। शांतिस्थापन, चोर-डाकुओं का प्रबंध या विद्रोह का प्रबंध उनके जिम्मे था—खालसा में यह काम थानेदार के जिम्मे था। राज्य के जागीरदार स्वार्थ पर नज़र रखते थे। जितनी सेना और घोड़े रखने का उन्हें सरंजाम दिया जाता था—उतना सरंजाम वे लोग नहीं रखते थे। युद्ध के अवसर पर प्रत्येक जागीरदार सोचता था कि मैंने राजा से करार किया है कि मैं ऐसी दशा में ५०० घोड़े और सवार दूंगा। यदि इतने में भेजता हूँ कहीं वे युद्ध में मारे गये तो फिर से उनको खरीदने के लिये दो लाख रुपये कहाँ से लाऊंगा। सैनिक तो प्राण देने

*अक़बर के समय में ४० दामों का एक रुपया होता था।

के लिये माहवारी पर मिल जायेंगे, किन्तु घोड़ों की क्षतिपूर्ति खजाने से करनी होगी। ऐसी अवस्था में कई सरदार हीलेहवाले करने लगते थे या थोड़े से ही सवार भेज देते थे। इस पद्धति से महान क्षतियाँ हुई हैं।

गढ़ा के गोंड़ राजाओं का शासन तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड ईस्वी सन् १४८० से १५६४ तक है। इन ८४ वर्षों में ३ राजाओं ने इस प्रदेश का शासन स्वतंत्रतापूर्वक किया था और दिल्ली के मुसल्मान सुलतानों को पेशकाश ही न दिया था।

द्वितीय खण्ड ईस्वी सन् १५६५ से १६७८ में समाप्त होता है—जब कि गढ़ा के राजगण मुगल राज्य के मनसबदार और मर्भवान थे।

तृतीय खण्ड ईस्वी सन् १६७८ से १७८० तक है। इस काल के राजा लोग प्रभावहीन हो गये थे। मराठों ने क्रमशः इनका सारा राज्य हड़प लिया और अन्त में गुजारा बांध दिया था।

गोंडवाना हाथियों के लिये प्रसिद्ध था। इसी कारण मुगल सम्राट यहां के राजा से सदैव हाथियों की मांग किया करते थे। सम्राट के मुंहलगे लोग सुनी सुनाई बातें बढ़ा-चढ़ा कर सुनाते थे—जिसका परिणाम यह होता था कि सम्राट उन पर दबाव डालता था। यदि राजा सत्य भी कहता था—तो भी बनावटी माना जाता था। उसके कारण गोंड राजाओं को अपमान और दुर्व्यवहार सहन करना पड़ता था। यदि भाग्य से राज्य में मुगल सेना पहुंच गयी तो सारा इलाका वीरान हो जाता था। प्रजा के कष्ट का तथा जीवन का उस युग में कोई मूल्य न था।

गढ़ा राज्य का आधा भाग महान उपजाऊ था। अन्न के लिये यहां की प्रजा सुखी थी। बड़े-बड़े गांवों में व्यवसाय खूब होता था और आवश्यक वस्तुऐं लोग अपने-अपने क्षेत्र में निर्माण करते थे। यहां पर गोंडी सिक्के तो थोड़े ही दिन चले किन्तु बाद में मुगल सिक्कों का चलन बढ़ गया। यों तो अधिकांश कामकाज वस्तुओं की अदला-बदली से ही होता था। गोंड राजाओं ने भी कवि और विद्वानों को आश्रय दिया। जिनमें से कुछ परिवारों का उल्लेख यहां किया जाता है :—

साहित्य

मण्डला का दीक्षित वंश—मण्डला के विष्णु दीक्षित का परिवार प्रसिद्ध माना जाता था। प्रेमशाह ने विष्णु दीक्षित को बनारस से बुलवाया था। राजा हृदयशाह के शासन काल में विष्णु दीक्षित के पुत्र वैद्यनाथ जी काव्य, व्याकरण और धर्मशास्त्र के अध्यापक थे। वैद्यनाथ का पुत्र हरि दीक्षित महाराजशाह को प्रतिदिन पुराणों की कथाएँ सुनाता था।

हरि दीक्षित के चारों पुत्र गंगाधर, सदाशिव, पशुपति और लक्ष्मीप्रसाद शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। पं० लक्ष्मीधर राजा निजामशाह को प्रतिदिन पुराण सुनाया करता था। इसने "गजेन्द्र मोक्ष" काव्य रचा था।

पंडितों का दूसरा घराना महेश ठाकुर का था—जो मैथिल ब्राह्मण तिरहुत का रहने वाला था। वह दलपतशाह और रानी दुर्गावती का पौराणिक था। कहते हैं कि महेश ठाकुर को सम्राट् अकबर से भी पुरस्कार मिला था। उसका छोटा भाई दामोदर था—जो चंद्रशाह राजा का मुख्य पंडित था। राजा के मरने पर उसने मधुकरशाह का राज्याभिषेक करने से इन्कार किया था, क्योंकि प्रेमनारायण ने अपने बड़े भाई को धोखा देकर मार डाला था। इसी कारण उसे राज्य से चला जाना पड़ा था और जागीर जब्त की गई थी। महेश ठाकुर का शिष्य कवि रघुनंदन प्रसिद्ध था। महेश के वंश में कई लोग संस्कृत के विद्वान हुए हैं। इनके यहां अनेकों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।

रामनगर प्रशस्ति का लेखक पं. जयगोविन्द काव्य, मीमांसा और वेदों का विद्वान् था। राजा हृदयशाह और रानी सुन्दरी दोनों उसे गुरु मानते थे। वह जुझौतिया ब्राह्मण था। उसके पिता मदन जी भी महान् विद्वान थे। कवि रूपनाथ का "राम विजय काव्य" बनारस के सरकारी संस्कृत कालेज ने प्रकाशित किया है। पं. रूपनाथ

मिथिला का श्रोभा ब्राह्मण था। उसी ने "गढ़ेशनृपवर्णनम्" लिखा है। उसमें राजा सुमेरशाह तक (ई. सन् १७८६) का वर्णन आया है। रूपनाथ का पुत्र लक्ष्मीदत्त भी व्याकरण और काव्य का विद्वान् था।

विद्वानों के अतिरिक्त और भी अनेकों पंडित राजवंश के आश्रय में रहते थे। वे लोग अपने यहां विद्यार्थियों को भी पढ़ाते थे। इसी तरह प्रत्येक गढ़ाधिपति भी अपने यहां कोई न कोई पंडित रखता था—जो उनका कर्मकाण्ड, व पूजा पाठ भी कराता था और विद्यार्थियों को शिक्षा देता था।

किले और इमारतें—यों तो गोंडी राजा वनों और पहाड़ों के प्रेमी होने से बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाने में उदासीन रहते थे। उनका खजाना भी उतना पर्याप्त न था कि वे बड़ी-बड़ी इमारतों के निर्माण में खर्च करते। फिर भी उन्होंने जंगलों में कुछ इमारतें बनवायी हैं। उन इमारतों में किसी तरह की सफ़ाई और कला की चमक-दमक दिखाई नहीं देती बल्कि आरण्यक सभ्यता स्पष्ट प्रकट हो जाती है। गोंड राजाओं ने इमारतों की अपेक्षा अपनी रक्षा के लिये अनेकों दुर्ग बनवाये हैं। जो अब भी वर्तमान हैं, इनके प्रमुख किलों की सूची इस तरह है :—

(जिला जबलपुर) मदन महल, मगरधा, अमाना, धमोदा, बरगी, इटौरा, कनवारा, सर्लया, (जिला सागर) हटा, जटाशंकर, पंचमनगर, सिंगोरगढ़, कोटा, राजनगर, धमोनी, शाहगढ़, गढ़पहरा, गौरझामर, जयसिंगनगर, खुरई, गढ़ाकोटा, एरन, पथरिया, रमना, मरियाडोह, (जिला मण्डला) रामनगर, मण्डला (जिला होशंगाबाद) बर्रई, चौरागढ़, चावरपाठा, छिलवार, हुशंगाबाद, जोगा, (जिला बैतूल) खेलड़ा, आमला, (जिला छिंदवाड़ा) छारा, सोनगढ़, देवगढ़ आदि किले गोंडकालीन है।

गोंडों की पुरानी इमारत "मदन महल" है—जिसका निर्माता मदनशाह था। इसी महल का जीर्णोद्धार संग्रामशाह ने करवाया था। यह इमारत दो अनगढ़ चट्टानों पर खड़ी है। नीचे के खण्ड में कोई कमरा नहीं है—केवल पहरेदारों के बैठने के लिये एक सकरी कोठरी और सीढ़ियां हैं। पहाड़ की चोटी से २० फुट पर उसका मुख्य खण्ड आता है, पर वह बड़ा नहीं है। उसमें एक खुली छत का दालान और छोटा सा कमरा है। उस कमरे में हवा के लिये आले के समान खिड़कियां बनी हैं। उस खण्ड के ऊपर एक सकरी और खुली छत तथा एक छोटा सा कमरा है। सब के ऊपर एक चपटी डाट दी हुई छत है। उस इमारत में न तो कोई नक्काशी है, और न कोई कारीगरी। इमारत सादी चट्टानों के टुकड़ों को तराश कर बनायी गयी है। इमारत में लगने वाला सारा साहित्य स्थानीय है और कारीगर भी स्थानीय रहे होंगे। वास्तव में यह इमारत अरण्यमय वातावरण के अनुकूल है। महल के पूर्व में गंगा सागर और बालसागर तालाब हैं। समीप ही संग्रामसागर, शारदा देवी का मन्दिर और बाजना के मठ हैं। संग्राम सागर के मध्य में जो टापू है—उसमें एक महल सा भवन रहा होगा। गंगा सागर के किनारे राजमहल के भग्नावशेष आज अपनी कथा सुना रहे हैं।

सागर जिले का धमोनी का किला (सागर से २८ मील उत्तर में) १५ वीं सदी में राजगोंड सूरतसिंह ने बनवाया था। उस किले में ५२ एकड़ जमीन लगती है। चारों ओर से १५ फुट चौड़ी और ५० फुट ऊंची दीवाल का कोट खींचा गया है। कोनों पर बड़ी-बड़ी मजबूत बुर्ज़ हैं। किसी समय यहां हाथियों की हाट लगती थी। मुग़लों ने इसकी खासी उन्नति की थी और यहां कई मुग़लकालीन स्मारक हैं।

सिंगोरगढ़ दमोह से २७ मील पर है। यहां का किला गजसिंह पड़िहार ने बनवाया था—किन्तु उसकी मरम्मत दलपतशाह ने करवायी थी। किले के भीतर अब कुछ महलों के खण्डहर और एक बड़ा पानी का हौज़ बना है। आस-पास की पहाड़ियों पर मीनारें और दीवारें अब भी वर्तमान हैं। यहीं से चार मील पर संग्रामपुर गांव है। यहीं पर दुर्गावती ने आसिफ़ खां से पहला मोर्चा लिया था।

नरसिंहपुर जनपद का चौरागढ़ गोंडों की राजधानी था। इस किले में कई इमारतें रानी दुर्गावती ने बनवायी थीं—जो अब नष्ट हो चुकी हैं। खण्डहरों की किसी-किसी दीवाल में जो रंग दिया गया है—वह आज भी ताजा भरा

हुआ जान पड़ता है। किले के पश्चिमी भाग में रहने के लिये महल और पानी का तालाब है। इस किले में जाने का राज-मार्ग दक्षिण की ओर से था।

इसी भांति नर्मदा के तट पर ब्रम्हाण घाट पर रानी दुर्गावती का बनाया हुआ सुन्दर मन्दिर है और उसी तरह रामनगर में रानी सुन्दरी सवानी का मोतीमहल है। इनसे गोंडकालीन कला का अध्ययन किया जा सकता है।

देवगढ़ का राजवंश

महाराजा जाटबा—फरिश्ता ने लिखा है कि "सन् १३९८ ईस्वी में खेरला * के राजा नरसिंहराय के अधीन समस्त गोंडवाना था।" यह तो निश्चित ही है कि देवगढ़ † राज्य पर उसका आधिपत्य था। प्राचीन जनश्रुति के आधार पर यह कहा जाता है कि देवगढ़ राज्य अहीरों का था। अहीर सभ्यता की कुछ यादगार आज भी मिल जाती हैं। ये अहीर अरण्यों में रह कर गोसंवर्द्धन किया करते थे और उनका राज्य प्राचीन गणतंत्र विधान के अनुसार था। गौली जाति को हटा कर जाटबा नामक गोंड वीर ने देवगढ़ राज्य में गोंडी शासन स्थापित किया। लोग कहते थे कि उसका जन्म एक कुंवारी कन्या से शमी वृक्ष के नीचे हुआ था। जब वह जवान हुआ तो देवगढ़ के गौली बंधु रणशूर और धनशूर के यहां नौकर होगया। ये दोनों बंधु देवगढ़ राज्य के राजा थे। जाटबा बड़ा बलशाली था। कहते है, कि एक बार उसने देवगढ़ के किले के जबरदस्त द्वारों को अपने हाथों से उठा लिया था। वह काम २० जवान मनुष्य भी नहीं कर सकते थे। उसी भांति दीपावलि के प्रसंग पर राजा ने जाटबा को लकड़ी की तलवार से भैंसा मार डालने की आज्ञा दी थी। लकड़ी की तलवार से भैंसा मारना सरल न था फिर भी जाटबा ने पराक्रम के साथ यह कार्य संपन्न किया था। कहते हैं—उसी दिन रात्रि में देवी ने जाटबा को यह संकेत दिया था कि जब वह लकड़ी की तलवार हाथ से उठावेगा तब वह फ़ौलादी तलवार बन जायगी जिसके द्वारा वह सरलता से भैंसे को मार डालेगा। ज्यों ही भैंसा मारा जाय—त्यों ही हाथी पर बैठे हुए दोनों भाइयों को मार कर वह राजगद्दी प्राप्त कर ले। निर्देशानुसार जाटबा ने वह कार्य संपन्न किया तथा रणशूर और धनशूर को मार कर देवगढ़ की राजगद्दी प्राप्त किया। यह है देवगढ़ वंश की आदि कहानी। ‡

गढ़ा के राजा संग्रामशाह के अधीन हरियागढ़ × और देवगढ़ के दोनों प्रदेश थे। जाटबा का शासन कब से प्रारंभ हुआ, यह कहना कठिन है। किन्तु जाटबा १५६० ईस्वी के लगभग देवगढ़ में वर्तमान था। जान पड़ता है कि संग्राम

---

*खेरला:—बैतूल नगर से ४ मील पर जंगल में खेरला पहाड़ी किला है।

† देवगढ़:—छिन्दवाड़ा से २४ मील की दूरी पर देवगढ़ एक पहाड़ी पर बसा हुआ है। गोंड-काल में यह एक बड़ा नगर था। गांव से २ मील तक किले की चहार दीवारी के खण्डहर आज भी दिखायी देते हैं। कई कुएं और बावड़ियां जंगलों में भी फैली हुई हैं। यहां के दुर्ग के भीतर पत्थर के हौज़ और इमारतें थीं, किन्तु अब भी बादल महल, नगारखाना और प्रवेश द्वार गिरने से बचे हुए हैं। बादल महल का अष्टकोनी कमरा अब भी बच गया है। पास ही एक मसजिद है। कमानियों के अतिरिक्त सभी इमारतें ईंट और चूने से बनी हुई हैं। पहाड़ी के नीचे गोंड राजाओं का स्मशान है—जिसमें उनकी क़बरें है। जाटबा की क़ब्र इससे थोड़ी दूर पर है।

‡ देवगढ़ का गोंड राज वंश धुरवा वंशी गोंड है। वे लोग अपनी उत्पत्ति विष्णु से मानते हैं। विष्णु से ४४ पीढ़ी में राजा कर्ण हुआ था; इसने पनहाल गढ़ के निकट नाग कन्या से संभोग किया था—जिससे भूरदेव की उत्पत्ति हुई थी। भूरदेव की ३५ वीं पीढ़ी में शरभशाह हुआ था—जिसने प्रथम गौली राजा को मार कर देवगढ़ प्राप्त किया था। शरभशाह की ५ पीढ़ी के बाद वीरभानशाह से हरियागढ़ के रणशूर और धनशूर ग्वाल राजाओं से देवगढ़ छीन लिया और ७० वर्ष तक राज्य किया। वीरभान के पुत्र जाटबा ने उससे अपना राज्य वापिस छीना था।

× हरियागढ़—यह पहाड़ छिन्दवाड़ा से १५ मील दूरी पर है। यहां आज प्राचीन युग का एक भी खण्डहर नहीं है। उसके निकट हिरदागढ़ स्टेशन है, जहां गोंडी युग के कुछ स्मारक हैं। संभवतः हिरयागढ़ और हिरदागढ़ एक ही हों।

के शासनकाल में देवगढ़ राज्य जाटवा को नहीं मिला था। "आइन-अकबरी" ग्रंथ में जाटवा का उल्लेख आया है। वहां लिखा है कि "खेलड़ा सरकार के पूर्व चाटवा (जाटवा) नामक जमींदार का राज्य है। उसके पास २ हजार घुड़सवार, ५० हजार पैदल सैनिक और १०० हाथी हैं। समूचे राज्य भर में गोंडों की ही आबादी है। उसकी जमींदारी में हाथी पाये जाते हैं।" मुगलों के समय में यह राज्य सूबा मालवा के अन्तर्गत था और बाद में हंडिया के सूबेदार के अधीन सौंपा गया। जान पड़ता है कि गढ़ा के पतन के बाद देवगढ़ राज्य खेलड़ा सरकार में शामिल कर लिया गया।

अकबर के समय में जाटवा मुगलों के अधीन राजा था। वह खेलड़ा सरकार के अन्तर्गत एक प्रमुख जमींदार गिना जाता था। सी. यू. विल्स ने उसका शासन ईस्वी सन् १५८० से १६२० तक माना है। अबुल फ़ज़ल के लेख से पता चलता है, कि अकबर के राज्यकाल के २८ वें वर्ष में (सन् १५८४ ईस्वी में) देवगढ़ के जाटवा ने मुग़ल सरदार मुहम्मद ज़ामीन को मार डाला था। यह मुहम्मद यूसुफ़ खां का चचेरा भाई था और उसने जाटवा के राज्य पर बिना अनुभव के आक्रमण किया था। जाटवा ने युद्ध न कर एवं उसे नज़राना आदि देकर मना लिया था। फिर भी मुहम्मद ज़ामीन ने अपने सैनिकों के द्वारा देवगढ़ को लुटवा लिया था। लूटपाट कर जब वह लौट रहा था—तो रास्ते में उसको शिकार की सूझी और उसने सेना को आगे रवाना कर दिया और आप आखेट में लग गया। उसे शराब पीने की बुरी लत थी। जब वह शराब का मज़ा जंगल में ले रहा था, तब-जाटवा के सैनिकों ने उसे और उसके साथियों को मार डाला।

"जहांगीर नामा" से पता चलता है, कि सम्राट् जहांगीर अपने शासन के ११ वें वर्ष में (सन् १६१६ ईस्वी में) जब अजमेर शरीफ़ से होता हुआ मालवा पहुंचा था—तब टवा ने मालवा की सीमा पर सम्राट् की नज़र जा कुछ हाथी भेंट किये थे।

जाटवा ने अपने सिक्कों पर "महाराजा" शब्द अंकित करवाया है। वह माड़िया जाति का धुरवा गोत्री गोंड था। गढ़ा के समान यहां के राजगोंडों ने अपने को न तो क्षत्रिय कहलवाया और न मूल गोंडों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद किया। फिर भी ये लोग हिन्दू देवी-देवताओं को पूजते थे और हिन्दुओं के प्रत्येक त्यौहार समारोह के साथ मनाते थे। हिन्दू संस्कार के सारे कार्य ये लोग ब्राह्मणों के द्वारा संपन्न कराते थे।

जाटवा के राज्य की पूर्वी सीमा पर वैनगंगा नदी बहती थी—पश्चिम में वर्धा नदी—उत्तर में छपारा (वैनगंगा) और दक्षिण में चांदा राज्य (उमरेड़) था। सम्राट् अकबर ने अपने राज्य में जो नवीन दक्षिण के सूबे बनवाये उनमें देवगढ़ और चांदा राज्यों का सम्बन्ध बरार से जोड़ा गया था। ये लोग अपना वार्षिक "पेशकश" बुरहानपुर में जाकर पटाते थे। जाटवा का राज्य वर्तमान छिन्दवाड़ा, नागपुर और भंडारा जिलों तक सीमित था। 'आईन अकबरी' से पता चलता है—"कि देवगढ़ राज्य की आय ६ लाख ६ हजार दाम थी।"

सम्राट् शाहजहां के शासनकालीन इतिहास में देवगढ़ का उल्लेख मिलता है। शाहज़ादा औरंगज़ेब उस समय बुरहानपुर में रह कर दक्षिणी सूबों का प्रबंध करता था। यों तो जाटवा के ७ पुत्र * थे—पर मुगलों के राजकाज में कोकशाह का ही नाम बराबर आया है।

कोकशाह आदि:—शाहजहां के शासन काल में बुरहानपुर से मुग़ल सेनापति खानदौरान सन् १६३६ ईस्वी में भेजा गया था। 'बादशाहनामा' में अब्दुल हमीद ने लिखा है—कि "शाहजहां के राज्यकाल के १० वें वर्ष खानदौरान सेना लेकर देवगढ़ गया। उसने कूलभिर (केलझर) और आष्टा के किलों को ले लिया। नागपुर रवाना होने के पूर्व कनकसिंह के द्वारा उसने कोकशाह से कहलवाया कि वह भेंट लेकर तुरंत आवे। उसी समय चांदा का गोंड

---

* जाटवा के ७ पुत्र—दलशाह, दिनकरशाह, कोकशाह, धीरशाह, पोलशाह, केसरीशाह, दुर्गशाह और वीरशाह थे। जेष्ठ पुत्र दलशाह का पुत्र गोरखदास था।

राजा कीना १५ सौ घुड़सवार और ३ हजार पैदल सैनिकों को लेकर खानदौरान की सहायता के लिये पहुंच गया। कौवा साथ में ७० हजार का "पेशकाश" भी लाया था। कौवा से सलाह कर के खानदौरान ने जो संदेश भिजवाया था —उसके उत्तर में कोकशाह ने कहलवाया था कि—"वह १५० हाथी देने को तैयार है।" कोकिया ने नागपुर का किला सौंपने की अस्वीकृति प्रकट की। तदनुसार वह नागपुर के समीप पहुंच गया और उसने किले को उड़ा देने का हुक्म दे दिया। नागपुर के किले पर तोपें चलने लगीं। परिणाम यह हुआ कि किलेदार देवाजी पन्त पकड़ा गया और नगर मुगलों के अधिकार में चला गया। उस समय कोकशाह देवगढ़ में था। ६० मील की मंजिल तै कर वह भी नागपुर के निकट पहुंच गया। उसने मुगल सेनापति को १७० हाथी और १॥ लाख रुपया देना मंजूर किया और खानदौरान ने उस मामले को निपटा दिया।"

इसी तरह ई. सन १६४८ में सूबेदार उमदाद मुल्क ने देवगढ़ के राजा से सख्ती के साथ 'पेशकाश' वसूल किया था। देवगढ़ राज्य अरण्यमय होने से वहां के जमींदार लोग सदैव "पेशकाश" देने में असमर्थ रहे और यही कारण है कि बार-बार बुरहानपुर से वसूली के लिये मुगल सेना भेजी जाती थी। इसका स्पष्टीकरण औरंगजेब के पत्रों से हो जाता है। †
इससे देवगढ़ की दयनीय स्थिति का आभास लग जाता है।

---

† औरंगजेब के उपलब्ध पत्र—पिता के नाम (उनका आवश्यक अंश) :—

(१) "देवगढ़ के जमींदार की ओर जो पेशकाश बाकी है—उसके सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि वह सदा राज्य का वफ़ादार रहा है। उसको हर साल एक लाख रुपया जो अभी तक बक़ाया है—देना पड़ता है। जमींदारों से अभी तक वह पूरा लगान वसूल नहीं कर सका, जिससे वह अपना लगान नहीं पटा सका। जिस तरह चांदा के राजा का लगान माफ किया गया है—उसी बुनियाद पर देवगढ़ के राजा की अर्ज है, कि उसका भी लगान माफ हो। वह इकरार करता है कि यदि बक़ाया लगान माफ किया गया, तो वह भविष्य में बराबर देता रहेगा।"

(२) "आपका पत्र मिला। आप लिखते हैं कि देवगढ़ के राजा का बक़ाया लगान माफ़ किये जाने के कोई जोर-दार वजूहात नहीं दिये गये। यह वही जमींदार है— जिस पर खानदौरान ने चढ़ाई कर के पेशकाश वसूल किया था और जिसने १७० हाथी दिये थे। आप फरमाते हैं कि दक्खन के अफसर नालायक हैं और यदि जरूरत पड़ी तो वर्षा के बाद शाहजादा मुहम्मद के साथ मुगल सेना भेजी जायगी—जो उससे बक़ाया लगान और हाथी जबरदस्ती से वसूल करेगी। उसके बारे में मेरी अर्ज है और मैं उस प्रदेश से पूरी जानकारी रखता हूं—मुझे कोई कारण नहीं दिखायी देता है कि रुपये रहते वह क्यों युद्ध मोल लेगा। वह तो मेरे पास खुद आया है और लगान देने को तैयार है। उसके बाद मैंने एक अफ़सर को देवगढ़ इस लिये भेजा था कि वह वहां जाकर इस बात की जांच करे कि राजा के पास कितने हाथी हैं। वह अफ़सर वहां ३ मास तक रहा और लौटने पर उसने सूचना दी है कि देवगढ़ में १४ हाथी से ज्यादा नहीं हैं। खानदौरान ने जब देवगढ़ पर हमला किया था—तब राज की हालत अच्छी थी और वे हाथी कई वर्षों में इकट्ठे किये गये थे। वर्तमान जमींदार फ़िजूलखर्ची से तंग हालत में है। यदि बक़ाया रक़म के लिये सेना भेजी गयी तो सारा राज्य बरबाद हो जायगा और लाभ कुछ न होगा। फिर भी आपका जो हुक्म होगा, पालन किया जायगा। यदि आपकी मन्शा राज्य खालसा करने की हो—तो आज्ञा दें। जमींदार को सर करना आसान है। मैंने बहुत पता लगाया पर राजा के पास जटाशंकर नाम का हाथी नहीं है। मैंने सुना है कि उसके राज में जटाशंकर नाम का किला अवश्य है। यदि उसके पास हाथी होते तो उमदादमुल्क शाहनवाज खां बक़ाया लगान के एवज में हाथी जरूर ले आते। अच्छा हो यदि आप उस आदमी को मेरे पास भेज दें, जिसने आपको यह समाचार दिया है। यदि वह शख्स मुझे जटाशंकर हाथी बता देगा—तो मैं तुरंत पकड़ लाऊंगा।"

(३) "आपका पत्र मिला। आप लिखते हैं कि यदि मैं देवगढ़ जीत कर प्रबंध कर सकूं तो मैं अपने पुत्र अथवा हदीद खां को सेना के साथ रवाना कर दूं। देवगढ़ राज्य को जीतना तो सरल है—पर प्रबंध करना आसान नहीं है।

जान पड़ता है कि देवगढ़ राज्य की आर्थिक दशा अच्छी न थी–क्योंकि अधिकांश प्रदेश अरण्यमय था। मुगल काल तक यहां के जंगलों में हाथी पाये जाते थे। यहां अधिकांशत: गोंडी प्रजा ही रहती थी—किन्तु उनके बाद गवली लोगों की (अहीरों की) आबादी अच्छी थी। लोधी, रघवी, किरार, भोयर आदि जातियों के लोग किसानी में सिद्धहस्त थे। मेहरा, कतिया और चमार अस्पृश्य जातियां थीं। देवगढ़ की राजकीय भाषा हिन्दी थी—किन्तु मुगलों के साथ उनका व्यवहार फ़ारसी में होता था। वस्तुत: वह राज्य मुगलाधीन था। यहां की सेना में अधिकांशत: राजपूत और गोंड ही थे। मुल्की शासन और लिखापढ़ी का काम ब्राह्मण और कायस्थों के हाथ में था। यहां के राजवंश का मुख्य चिह्न—"नाग देवता" था। राज्य का $\frac{1}{3}$ हिस्सा जागीरों में विभक्त था। जाटबा के समय में राज्य में १५ प्रमुख जागीरदार थे—जो कि अधिकांशत: राजगोंड थे।

जाटबा के मरने पर "बादशाहनामा" में कोकशाह (कोकिया) का नाम आता है। औरंगजेब के जो पत्र उपलब्ध हैं—वे सन् १६५५ में लिखे गये थे। उस समय देवगढ़ का राजा जाटबा था। यह द्वितीय जाटबा था।

उसके इंतिज़ाम में आय से व्यय अधिक होगा। मेरा भी प्रथम यही विचार था—किन्तु अब शाही फ़रमान आ जाने से मैं ज़मींदार के खिलाफ़ सेना भेज कर बकाया लगान वसूल करूंगा और साथ ही हाथी भी। जटाशंकर हाथी का पता शायद चांदा के राजा से मिल जावे। हदीद खां विश्वासपात्र आदमी है—किन्तु अभी तक वह किसी ज़िम्मेदारी के काम पर मुक़र्रर नहीं किया गया। संभव है कि इसी कारण से कुछ अफ़सर उसकी अधीनता में काम करने से इन्कार करते हैं। सेना में फूट रखना अच्छा नहीं है। देवगढ़ पर हमला करने के लिये मैंने यहां एक सेना तैयार की है और वह मुहम्मद ताहर के नेतृत्व में काम करेगी। इसके अलावा एक सेना हदीद खां की मातहती में और दूसरी मिरज़ा खां की मातहती में भेजी जायगी। मेरी सेना मिरज़ा खां के साथ जायगी।

(४) "आपका पत्र मिला। आपके आदेशानुसार मैंने मिरज़ा खां और हदीद खां की मातहती में दो सेनाएँ देवगढ़ की ओर भेज दी हैं। आशा है, हमको सफलता मिलेगी और सब हाथी ज़रूर छीन लिये जायेंगे।"

(५) "मुझे मुहम्मद शरीफ़ के ज़रिये आपका पत्र मिला–जिसमें लिखा हुआ है कि मैं ८ वीं रबीउल अव्वल तक हैदराबाद में उपस्थित होऊं। किन्तु जाटबा इसी बीच में सब हाथी और लगान लेकर पहुंच रहा है। इसलिये मैंने अपना प्रस्थान रोक दिया है। मैंने पुत्र मुहम्मद सुलतान को गोलकुंडा की सीमा पर रवाना कर दिया है। मैं बहुत ही जल्द आऊंगा। ज़मींदार जाटबा इस मास की २३ तारीख तक मिरज़ा खां के साथ यहां पहुँच जायगा। इसलिये मैं २३ तारीख को अपना खेमा रवाना कर दूंगा और रबी उसमानी की तीसरी तारीख को खुद रवाना हो जाऊंगा।"

(६) "मुझे आपके पत्र मुहम्मद मुराद यसावल और मुहम्मद मीराक के द्वारा प्राप्त हुए। जाटबा ज़मींदार मिरज़ा खां के साथ मेरे यहां पहुंच गया है। वह अपने साथ २० हाथी लाया है और विश्वास दिलाता है कि अब उसके पास एक भी हाथी नहीं है। उसका कहना है कि यदि उसके पास अब कोई हाथी मिले—तो उसको सज़ा दी जावे। चांदा का ज़मींदार और उसका सरबराकार विनायक दोनों अदालत में पेश किये गये। हदीदाद खां के सामने दोनों ने कहा है कि वे जटाशंकर हाथी के बारे में कुछ नहीं जानते और उनका भी कहना है कि आपके पास किसी ने झूठी खबर दी है। मुझ से जो कुछ हदीदाद खां ने कहा है—वही आपको लिख रहा हूं। जाटबा इस साल ५ लाख रुपया देने के लिये तैयार है। बाकी लगान वह किश्तवार देना मंजूर करता है। वह अपनी रियासत का कुछ हिस्सा खेलड़ा के थानेदार करतलब खां को देगा। थानेदार इस इंतिज़ाम को मंज़ूर करता है। ज़मींदार मेरे साथ गोलकुंडा चलने का ज़िक्र कर रहा है। मैं उसे अपने साथ ले जाऊंगा और उचित समझ पड़ा तो इस साल जो उसे ५ लाख रुपिया देना है—उसमें कुछ कमी कर दूंगा।

"आदाब-ए-आलमगीर" (ई. सन् १६५५)।

दक्षिण में यह चलन था कि पौत्र प्राय: पितामह का नाम धारण कर के राजगद्दी पर बैठता था। मुसलमानों के इतिहास से देवगढ़ के शासन करने वाले राजाओं की वंशावलि इस प्रकार तैयार होती है :—

जाटबा (प्रथम) शासन ई. सन् १५७०—१६२०।
कोकशाह (प्रथम) शासन ई. सन् १६२०—१६४०।
जाटबा (द्वितीय) शासन ई. सन् १६४०—१६५७।
कोकशाह (द्वितीय) शासन ई. सन् १६५७—१६८७।
बख्तबुलंद शासन ई. सन् १६८७—१७००।

सन् १६५५ ईस्वी में बुरहानपुर में दक्षिणी सूबे के प्रबंध के लिये युवराज औरंगज़ेब रहता था। उस समय सम्राट् शाहजहां को यह समाचार किसी ने जा सुनाया, कि देवगढ़ के राजा के पास २०० हाथी हैं और उनमें प्रसिद्ध जटाशंकर है। उसका स्पष्टीकरण औरंगज़ेब ने अपने पत्रों में किया है। जाटबा स्वयं औरंगज़ेब से मिलने के लिये बुरहानपुर गया था और वहां ६–७ मास तक रहा था। यह जाटबा कोकिया (कोकशाह) का पुत्र था। औरंगज़ेब ने जाटबा से २० हाथी तथा कुछ नकद रकम लेकर जनवरी सन् १७५६ ईस्वी में यह मामला निपटा दिया। उसके बाद ही वह बुरहानपुर से दौलताबाद गया था—जहां उसने ४ वर्ष बिताये थे।

कोकशाह और जाटबा दोनों राजाओं का शासन राज्य के लिये बलदायक सिद्ध नहीं हुआ, बल्कि विलासिता के कारण वे राजकाज में असफल सिद्ध हुए और उससे प्रजा को भी कष्ट हुआ। जाटबा प्रथम के समय में उसके पुत्रों ने राज्य को जागीरों में बांट लिया था; जिससे राज्य की आय घट गयी थी। यही कारण है कि देवगढ़ का राजा प्रतिवर्ष १ लाख रुपया 'पेशकाश' नहीं दे सकता था। शराबखोरी और विलासिता के कारण गोंडों ने कभी उपज बढ़ाने का कोई उपाय नहीं किया। वास्तव में मनुष्य की आवश्यकताएं ही उसे कर्मण्यता की ओर प्रेरित करती हैं। मद्य और बहुविवाहों के कारण गोंडी शासन खोखला होता जा रहा था और राजमहल में आपसी स्पर्धा और षड्यंत्र तेज़ी के साथ चल रहे थे। जाटबा द्वितीय ने नियमित रूप से अपना लगान समय पर कभी नहीं पटाया। औरंगज़ेब के शासन के समय में (औरंगज़ेब के राज्यकाल के ६ वें वर्ष में) सन् १६६७ ईस्वी में सम्राट् ने बकाया रकम वसूल करने के लिये दिलेर खां को सेनासहित भेजा था। उसने कोकशाह द्वितीय से १५ लाख रुपये वसूल किये थे। मुग़लों के कागज़-पत्रों से पता चलता है कि यह कोकशाह द्वितीय जाटबा द्वितीय का पुत्र था। कहा जाता है कि उसने ३० वर्ष राज किया था।

बख्तबुलंद*—सन् १६७० में सूबा बरार मराठों के आक्रमण का लक्ष्य बन गया था और उसी वर्ष शिवाजी ने कारंजा को लूटा था। इसी काल से दक्षिण भारत में मुग़लों के साथ मराठों का संघर्ष छिड़ गया था। सन् १६८५ ईस्वी के लगभग कोकशाह का स्वर्गवास होगया। तब राज्य के लिये देवगढ़ के राजकुमारों में झगड़े शुरू होगये। उन में बख्तशाह प्रमुख था, जो कि जाटबा प्रथम का प्रपौत्र और गोरखदास (कोकशाह) का पुत्र था। गोरखदास के ५ पुत्र और ४ भतीजे थे। आरंभ में बख्तशाह गद्दी पर बैठ गया, किन्तु उसके भाई दीनदारशाह ने उसे खदेड़ बाहर किया। तब वह औरंगज़ेब से सहायता पाने के लिये दिल्ली गया। इस समय कई राजवंश के लोगों ने (औरंगज़ेब का अनुग्रह पाने के लिये) इस्लाम धर्म को स्वीकार किया था। उसी भांति बख्तशाह सम्राट् को खुश करने के हेतु

---

* बख्तबुलंद—पता चलता है कि औरंगज़ेब के शासन में ३५ वें वर्ष (सन् १६९२ ईस्वी) में बख्तबुलंद शाह के भाई दीनदारशाह को सम्राट् की ओर से इस्लामगढ़ (देवगढ़) की ज़मींदारी सौंपी गयी थी और वह 'एक हज़ारी मनसबदार' भी बनाया गया था। सम्राट् ने खिल्लत, घोड़ा, हाथी और राजा का खिताब देकर वतन को बिदा किया था। जान पड़ता है कि दीनदारशाह बख्तशाह का प्रभाव न हटा सका और मुग़लों ने भी कोई लक्ष्य नहीं दिया—क्योंकि स्वयं सम्राट् मराठों के आक्रमणों से त्रस्त हो रहा था।

मुसलमान हो गया और सम्राट् ने उसका नाम 'बख्तबुलंद' रख दिया। दिल्ली से मुग़ल सेना को साथ में लाकर बख्त-बुलंद ने देवगढ़ प्राप्त किया। इस राजा ने देवगढ़ में कुछ इमारतें और एक मसजिद बनवायी। उसने नागपुर जिले के भिवगढ़, भिवपुर, जलालखेड़ा, पारसिवनी, पाटन सावंगी, सावनेर, भंडारा जिले में प्रतापगढ़, बालाघाट जिले में लांजी, सोनहार, हट्टा तथा देवगढ़ के समीप सौसर में किले बनवाये थे। राजा के मुसलमान हो जाने से कई मुसल-मान परिवार देवगढ़ में आकर बस गये थे, जिससे मुसलमानों के ताजिये, मुहर्रम और ईद आदि के नवीन समारंभ आरम्भ हो गये थे।

वर्तमान चौरी में (सिवनी से ६ मील पर) मण्डला राज्य का एक कर्मचारी रहता था। वहां के २ सैनिक सरदारों ने राज्य में विद्रोह खड़ा कर दिया। तब मण्डला के राजा ने बख्तबुलंद से सहायता मांगी। सिवनी के निकट परतापपुर में बख्तबुलंद ने उन दोनों को घेर लिया और लुण्डे खां मारा गया। वहां आज भी उसकी कब्र है। इस सहायता के लिये बख्तबुलंद को सिवनी जनपद प्राप्त होगया। तब वहां का प्रबंध उसने अपने रिश्तेदार रामसिंह को सौंप दिया। उसने अपना मुक़ाम चौरी से उठा कर वैनगंगा के किनारे छपारा† में कायम किया।

एक समय जब कि बख्तबुलंद शिकार के लिये सिवनी के जंगल में गया था—एक रीछ ने उस पर आक्रमण कर दिया। बख्तबुलंद उस प्रसंग में हाथी पर सवार था। उसका अंगरक्षक राज खां तलवार लेकर आगे कूद पड़ा और रीछ को मार दिया। इसके बदौलत राज खां को डोंगरताल‡ इलाक़ा प्रदान किया गया। इसी राज खां ने भंडारा जिले की सानगढ़ी पर अधिकार जमाया था।

बख्तबुलंद ने नागपुर और पाटनसांवगी नगर बसवाये थे। यहां पुरातन इमारतें मुग़ल शिल्पकारी प्रकट करती हैं। सम्राट् औरंगजेब के राज्य में अव्यवस्था फैल गयी थी—इसी कारण उसने कुछ मुग़ल थाने वापिस ले लिये थे। जहांगीर के समय में आष्टी+ में मुग़ल थानेदार मुहम्मद खां नियाजी था। बख्तबुलंद ने पौनार के फ़ौजदार को लूट लिया था—यह समाचार जब औरंगजेब को ज्ञात हुआ तो उसने कहा—"बख्तबुलंद वास्तव में निगमबख्त है।" उसने अपने पुत्र केदार बख्श को सेना के साथ भेजा था, किन्तु बख्तबुलंद अविलंब शरण में चला गया और मुहम्मद अमीन-खां ने सम्राट् को सूचित किया—देवगढ़ का ज़मींदार कुचल दिया गया। देवगढ़ का नाम बदल कर "इस्लामगढ़" रखा गया।

जान पड़ता है कि बख्तबुलंद ने ३८ वर्ष राज्य किया था और वह सन् १७०६ ईस्वी में मरा। उसके पांच पुत्र थे जिनमें से चांद सुलतान, महीपतशाह और यूसुफशाह विवाहित गोंड रानी के पुत्र थे तथा दो मुसलमान स्त्रियों से, जिनके नाम थे अलीशाह और वलीशाह। इस प्रकार उसके पांच पुत्र थे।

चांद सुलतान

बख्तबुलंद के मरने पर चांद सुलतान ही इस्लामगढ़ की गद्दी पर बैठा। उसने नागपुर नगर के चारों ओर तीन मील का परकोटा बनवाया था। नागपुर का जुम्मा तालाब भी उसी समय का है। चांद सुलतान ने अपना सम्बन्ध दिल्ली से बना रखा था। उस समय की दो सनदें नागपुर के राजपरिवार के पास हैं। एक सनद दक्खिन के सूबेदार सैयद हुसेनअली (प्रसिद्ध सैयद बंधुओं में से एक) ने दी है। जिसमें आमनेर * जागीर का उल्लेख है।

---

† छपारा—सिवनी से उत्तर में २१ मील पर है। यहां का किला रामसिंह ने बनवाया था।

‡ डोंगरताल—नागपुर-सिवनी मार्ग पर देवलापार से २ मील पर है।

+ आष्टी—सतपुड़ा घाटी के नीचे वर्धा से ५० मील पर है।

*पुरातत्त्व की खोज के लिये पाषाणकालीन "शव स्थान" बड़ी विशेषता रखते हैं। इन शव स्थानों में गड़े हुए शस्त्र भी प्राप्त होते हैं—जो कि पाषाणकालीन सिद्ध किये गये हैं। इन शव स्थानों में कई ऐसे हैं—जो विशालकाय

दूसरी मनसबदारी सनद वली मुहम्मद तथा उसके तीन भतीजों के नाम है। उस समय राज्य की आय ११,३८,२३३ रुपये थी।

पुराने कागजों से पता चलता है कि सम्राट मुहम्मदशाह के राज्यकाल के १३ वें वर्ष में (सन् १७३२ ईस्वी में) सुल्तान अली नवाब आसफजहां ने देवगढ़ राज्य पर लगान वसूल करने के हेतु चढ़ाई की थी। पर जान पड़ता है कि उसमें वह सफल नहीं हुआ। चांद सुल्तान के एक सरदार खांडेकाला ने पौनार सरकार पर अपना कब्जा जमाया था और वहां पर २५ वर्ष तक शासन किया था। बाद में वह निजाम से मिल गया—तब नौकरी के एवज में उसके नाम वह जागीर बना दी गयी। (इसके आगे का वर्णन अन्यत्र किया गया है।)

यह राज्य अधिकांशत: छोटी-बड़ी जागीरों में बंटा हुआ था। परगने के कर्मचारी ठाकुर कहलाते थे और उनके अधीन ग्रामों के पटेल थे। बख्तबुलंद के समय में बहुत सी जातियां बाहर से आकर यहां बसीं—जिनमें अधिकांशत: लोधी, राजपूत और मुसलमान थे। प्रमुख काश्तकारी करने वाली जातियां पंवार, मरार और लोधी थीं। मराठों के आगमन के पूर्व देवगढ़ राज्य की भाषा हिन्दी थी। यहां के राजवंश की पुरानी राजधानी हरियागढ़ थी—जो कि अब पचमढ़ी जागीर में है। हिरदागढ में चण्डीदेवी का एक मन्दिर बच गया है। पहाड़ की चोटी पर एक छोटी सी गुफा में शिवजी विराजते हैं। लोग कहते हैं कि यहां से एक रास्ता जमीन के भीतर से देवगढ़ तक गया है, पर वह सत्य नहीं है। एक स्थान ऐसा है जहां पर कि जाटबा की मृत्यु हुई थी। आसपास जंगलों में कूप और बावड़ियां हैं जिससे अनुमान होता है कि यहां की आबादी अच्छी थी। कन्हान नदी के किनारे पुरातन मन्दिरों के कुछ खण्डहर हैं। बख्तबुलंद ने यहां पर भी एक मसजिद बनवायी थी। हिरदागढ़ के आसपास जो अब गांव हैं उनसे जान पड़ता है कि यहां पर किन-किन जातियों का प्रभाव था—जैसे, बाम्हनवाडा, तेलीखूत, मारकखाना (कुम्हार टोला), बिजपुरा, घोडावाडी कलां और खुर्द (अस्तबलपुरा), रामनगिरि, चौगान। ये सभी गांव एक-दो मील के इर्द गिर्द हैं। हथियागढ़ १५ सौ फुट ऊंचाई पर है—जहां नगरानदेव पूजा जाता है। यहां पेंच और घाटामाली नदियों का संगम होता है। लोग उसे "राजा डोह" कहते हैं।

पचमढ़ी के "महादेव" गोंडों के प्रधान देवता हैं। गोंडों के समय के किलों का विवरण हम अन्यत्र दे चुके हैं।

चट्टानों के द्वारा निर्मित किये गये हैं। गोंड लोग अब भी घने अरण्यों में ऐसे स्थान बनाते हैं और मृतक के साथ उसके हथियार आदि दफना देते हैं। अब पुरातन काल के समान बृहदाकार शव स्थान नहीं बनाये जाते। प्रस्तर निर्मित शव स्थान वास्तव में द्राविड़ी-कला है। नागपुर जिले में ऐसे १६-१७ शव स्थान हैं जिनमें जूनापानी, कामठी, उबाली, दिग्रस, टाकलघाट और बठोरा के शव स्थान महत्वपूर्ण हैं। चांदा जिले में इनके प्रमुख समूह चामुंडी और बागनाक ग्रामों में हैं। इसी तरह भंडारा जिले में पीपलगांव, खैरी, तिलोता आदि स्थानों में हैं। इसी भांति के शव स्थान सिवनी तहसील और रायपुर तथा दुर्ग जिलों में भी उपलब्ध होते हैं।

पुरातन गोंडकालीन देवालयों को हेमदपंती देवालय कहते हैं। विद्वान लोग उनको यादवकालीन मानते हैं। उनमें से प्रमुख देवालय—(नागपुर जिले में) अदासा, अंभोरा, भूगांव, जाबपुर, किलोद, पारसिवनी, रामटेक, सावनेर (वर्धा जिले में) पोहना, तलेगांव, (भंडारा जिले में) पोहना, तलेगांव, धानेगांव आदि में हैं।

प्राचीन गुफाएं निम्न स्थानों में हैं :—(नागपुर जिला) गारपेली, (भंडारा जिले में) बिजली, कचरगड, गाय-मुख, कोरम्बी, (बालाघाट जिले में) सौरझरी, (बैतूल जिले में) धानोरा, भोपाली, झापल, खैरी, लालबाड़ी, नागझिरी, गोपालतलाई, लालवाड़ी। इनके अतिरिक्त पचमढ़ी के पहाड़ों में गुफाओं का तो समूह है। पचमढ़ी के अतिरिक्त तामिया, झलई और सोनभद्र की गुफाएं प्रसिद्ध हैं।

छिन्दवाड़ा जिले की हर्रई जागीर सब जागीरों में प्रमुख गिनी जाती थी। यहां के राजवंश के पास ७० पीढ़ियों की वंशावलि है। इस जागीर में पातालकोट एक विचित्र स्थान है जो छिन्दवाड़ा से ३६ मील दूर है। जबरदस्त गहराई के कारण लोग उसे "पाताल" कोट कहते हैं। पाताल कोट वह स्थान है जो पाताल के समान नीचे गहराई पर बसा हुआ चारों ओर पर्वतों के कोट से सुरक्षित है। उस स्थान का घेरा २० मील है और उसमें छोटे-मोटे १२ गांव बसे हुए हैं। वहां पहुंचने के केवल चार ही मार्ग हैं। यहां राजाखोह नाम की एक गुफा भी है।

चन्द्रपुर का शासन

पुरातत्त्व की दृष्टि से चन्द्रपुर का इलाका विशेष महत्वपूर्ण है, जिसका अन्वेषण अभी तक नहीं हो सका है। भद्रावती के पुरातन खण्डहर जो आज उपलब्ध हैं तथा जो भूमि में समा गये हैं, उन पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। यों तो चांदा जिले के देवटेक में हमें मौर्यकालीन शिलालेख मिलता है। इसी तरह प्रसिद्ध सातवाहन काल का एक लेख पौनी गांव में पाया गया है और इसी युग की एक गुफा * भद्रावती में है। प्रसिद्ध वाकाटक, सोमवंशी, और राष्ट्रकूट (भांदक ताम्रपत्र) राजाओं की प्रशस्तियां इस जिले में मिली हैं। इस जिले के प्रमुख स्थान मार्कण्डेय में सिंघण यादव का लेख मिला है। यहां यादवकालीन कई मन्दिर मिलते हैं जो हेमादपन्ती मन्दिर कहलाते हैं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध हैं। जैसे—आमगांव, भोजेगांव, चांदपुर, चुरुल, घोसरी, लखर्द, महावाडी, मारोती, पालेबारस, वागनाक, वेड्डा और नलेश्वर स्थानों के मन्दिर। इसी तरह भांदक, देऊलवाड़ा, गांवरार, घुघुस अटौर भाडापापड़ा की गुफाएं प्रसिद्ध हैं।

सन् ११९४ ईस्वी की रतनपुर के महाराज जाजल्लदेव की प्रशस्ति के अनुसार वैरागढ़† लंजिका‡ और भानारा+ में उसके मण्डलेश्वर रहा करते थे। ये राज्यपालगण रतनपुर राज्य के आधीन थे। प्रसिद्ध मार्कण्डेय॥ की मन्दिर

---

*भद्रावती.—चांदा से १२ मील पर है। यह नगर दो मील लम्बा और १ मील चौड़ा रहा होगा। यहां के खंडहर भिन्न-भिन्न युग के हैं। गांव के पश्चिम में पुरातन किले का खंडहर है। दक्षिण में भद्रंग का मन्दिर है। मन्दिर के दर्शनीय भाग में कई पुरानी मूर्तियां हैं। गांव के पश्चिम में जो गुफा है वह तो मिट्टी से ढंक रही है। यहीं पर दशभुजा देवी की प्रतिमा है। करीब डेढ़ मील पर बीजासन गुफा है—जो कि बौद्धों का प्रार्थनागृह रहा होगा। उसी के निकट बुद्ध की मूर्ति है। पांडु राजा के दाहिनी और बांयी ओर बुद्ध की मूर्तियां हैं जिनको लोग राजा पांडु, उसके पुत्र और भतीजों की मूर्तियां कहते हैं। गांव के पूर्व में जो तालाब है उसमें एक द्वीप है। वहां जाने के लिये एक प्राचीन पुल बना है। यह एक हिन्दू कला का नमूना है। यह पुल १३० फुट लंबा और ७ फुट २ इंच चौड़ा है। एक जीर्ण मंदिर में चंडिका देवी की मूर्ति है, जिसके ३ मस्तक और ८ हाथ हैं। यहां जैन मूर्तियां भी हैं। वर्तमान भटाला गांव संभवतः प्राचीन भद्रावती है। वहां एक सुन्दर मन्दिर बच गया है।

†वैरागढ़.—स्व. डॉ. हीरालाल उसका नाम वज्राकर कहते हैं। लोग कहते हैं कि द्वापर युग में यहां विरोचन रहता था। यहां के हीरे प्रसिद्ध थे। यहां १७ वीं सदी का एक किला भी है। यहां एक महाकाली का मन्दिर है जिसको गोंड राजा ने बनवाया था। पता चलता है कि सन् १४४२ ईस्वी में अहमदशाह बहमनी ने वैरागढ़ को लूटा था। उस समय की यहां कुछ कबरें भी हैं।

‡लंजिका.—वर्तमान लांजी बालाघाट जिले में है। यहां के किले में महामाया का पुरातन मन्दिर है और पास ही में कोटेश्वर महादेव का शिवालय।

+भानारा.—वर्तमान भंडारा नगर।

॥मार्कण्डेय—चांदा से ४० मील पूर्व वैनगंगा के तट पर है। खंडहरों से ज्ञान पड़ता है कि १०वी-११वीं सदी में यह अच्छा नगर रहा होगा। १९६ फुट लंबी और ११८ फुट चौड़ी भूमि पर २० से अधिक मन्दिर खड़े हैं—जिनके

कला खजुराहो की कला से मिलती-जुलती है। जान पड़ता है कि दौलताबाद (देवगिरि) के यादवों के पतन के साथ ही साथ चांदा में गोंडी शक्ति निर्माण हुई, जिसने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।

मेजर स्मिथ ने अपने बंदोबस्त की रिपोर्ट में (सन् १८६६ ई.) सबसे पहले यहां के राजाओं का इतिहास लिखा था और यह विवरण चांदा के राजवंश से उनको प्राप्त हुआ था। उन्होंने इस वंश के मूल पुरुष का नाम भीमबल्लालसिंह लिखा है जिसने ईस्वी सन् ८७० से ८६५ तक चांदा जिले का शासन किया था। इस वंश के १६* स्वतंत्र राजाओं ने लगभग ८८१ वर्षों तक राज्य किया था। पर यह ठीक नहीं जंचता। इस हिसाब से प्रत्येक राजा का शासन औसत ४६ वर्ष आता है। लगभग ६ राजाओं ने ६० वर्ष से ऊपर राज्य किया है और एक ने तो ७५ वर्ष। यह बहुत संभव नहीं है। भारत के राजाओं के शासन का औसत दर्जे पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं बैठता। इस हिसाब से चांदा के राजाओं का शासन काल ४७५ वर्ष बैठता है। तब तो चन्द्रपुर वंश के प्रथम राजा भीमबल्लालसिंह का शासन ईस्वी सन् १२४० के लगभग आना चाहिये। यह अन्य प्रमाणों से भी मेल खा सकेगा। "आइन अकबरी" में चांदा के राजा का नाम बाबाजी दिया गया है जो कि अकबर का (ई. सन् १५५६-१६०२) समकालीन था। तब तो दी हुई वंशावलि में एक सदी का अन्तर आता है। इसलिये हम मानते हैं कि चांदा के स्थापनकर्ता खांडकी बल्लालशाह का शासन ईस्वी सन् १४३७ से १४६२ तक रहा होगा।

इस वंश के राजा भीमबल्लालसिंह ने वर्धा नदी के तट पर सिरपुर नामक स्थान पर अपना राज्य स्थापित किया था। जान पड़ता है कि गढ़ा और चांदा के राज्य एक ही साथ निर्माण हुए थे। यद्यपि राजधानी सिरपुर थी, तथापि उसका शक्ति-केन्द्र माणकगढ़ था। गोंड जाति कृषि करती ही न थी। प्रथम राजा के पौत्र हीरासिंह ने गोंडों का ध्यान खेती की ओर आकृष्ट किया था। उस समय तक गोंडों में गणतंत्र व्यवस्था प्रणाली प्रचलित थी और उनमें जो बलवान होता था—वही मुखिया या राजा माना जाता था। खांडकी बल्लालशाह तक इस वंश के जितने भी राजा हुए थे—उनकी शासनव्यवस्था स्थिर न थी। खांडकी बल्लाल सिंह का पिता सुर्जा बल्लाल सिंह अवश्य ही प्रतिभा संपन्न राजा था। जनश्रुति के अनुसार वह दिल्ली भी गया था और उसे "शेरशाह" की उपाधि मिली थी। तभी से यहां के राजाओं ने "शाह" की उपाधि प्रचलित की थी।

सम्मुख वैनगंगा अपनी छटा प्रदर्शित करती है। उनमें से कुछ मन्दिर तो गिर चुके हैं, कुछ छोटे हैं। परन्तु उन्हें देखते ही बनता है। स्व. कनिंगहम ने यहां की मूर्ति कला की तुलना खजुराहो के मन्दिरों से की है, ये मन्दिर पीतवर्णी सुन्दर पत्थरों से बनायें गये हैं और ऐसा एक स्थान भी कलाकारों ने नहीं छोड़ा, जहां उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन न किया हो। उन मन्दिरों में मार्कण्डेय का शिवमन्दिर प्रधान है। इन मन्दिरों के निर्माता शैव थे। मन्दिर विचित्र चित्रों से अलंकृत हैं जिनमें मनुष्य, पशु और पक्षियों के भी चित्र हैं, कुछ नग्न चित्र भी हैं। देवताओं के चित्र सुडौल बनाये गये हैं। मन्दिर के द्वार पर "श्री मकरध्वज जोगी ७००" लिखा है। ७०० का तात्पर्य संवत् से है या उसके साथ आये हुए शिष्यों से है—यह कहना कठिन है। मार्कण्डेय ऋषि के मन्दिर के अतिरिक्त दूसरा प्रधान मंदिर मार्कण्ड का है जो कि मार्कण्डेय के पिता थे, ऐसा लोग कहते हैं। यहां विभिन्न देवताओं की मूर्तियां हैं।

*गोंड राजवंश की वंशावली.—(१) भीमबल्लालसिंह (ई. सन् ८७० से ८६५), (२) खुरजा बल्लालसिंह (सन् ६३५), (३) हीराशाह (सन ६७०), (४) बल्लालशाह (सन ६६५), (५) तलवारशाह (सन् १०२७), (६) केसरसिंह (सन् १०७२), (७) दिनकरसिंह (सन् ११४२), (८) रामसिंह (सन् १२०७), (६) सूर्जा बल्लालसिंह (१२४२), (१०) खांडकी बल्लालशाह (सन् १२८२), (११) हीरशाह (सन १३४२), (१२) भूमा और लोकबा (सन् १४०२), (१३) कोंडियाशाह (सन् १४४२), (१४) बाबाजी बल्लालशाह (सन् १५२२), (१५) ढोंबया रामशाह (सन १५६७), (१६) कृष्णशाह (सन् १६४७), (१७) वीरशाह (सन् १६७२), (१८) रामशाह (सन् १७३५) अटौर (१६) नीलकंठशाह ई. सन् १७३५—१७५१ तक.

खांडकी बल्लालशाह—"शेरशाह" का पुत्र खांडकी बल्लालशाह था—जो चर्म रोग (खांडक रोग) से पीड़ित था। उसकी स्त्री हीरा तालनी चतुर साध्वी थी। गोंडों में यह जनश्रुति प्रचलित है कि एक अवसर पर राजा आखेट गया था—रास्ते में उसे प्यास लगी, निकट में झरपट नदी के एक कुंड में उसने हाथ पैर धोकर तृष्णा तृप्त की। उससे उसका रोग नष्ट होगया। यह वह स्थान था—जिसे लोग अचलेश्वर-तीर्थ कहते हैं। घर आने पर रानी को स्वप्न में मन्दिर निर्माण करने की प्रेरणा हुई—जिसके अनुसार अचलेश्वर का मन्दिर बनवाया गया। एक दिन जब वह मन्दिर का काम देख कर लौट रहा था, रास्ते में उसने एक विचित्र दृश्य देखा। एक खरगोश कुत्ते का पीछा कर रहा था। इस पर उसने रानी से सलाह कर यह निश्चय किया कि जहां उपर्युक्त जानवर ने कुत्ते का पीछा किया है—उस भूमि में साहसी मनुष्य अवश्य पैदा होंगे। इसी कारण रानी की सलाह से वहां एक नगर बसवाया गया—जिसका व्यवस्थापक तेल ठाकुर हुआ। सन् १४५० ईस्वी में चांदा नगर की नींव रखी गयी थी।* यह भी कहा जाता है कि खरगोश के मस्तक पर चन्द्र का चिह्न होने के कारण उसका नाम चंद्रपुर (चांदा) रखा गया था।

इस राजा के समय में बहमनी राज्य की सीमा चांदा राज्य के समीप तक पहुंच गयी थी। सन् १४२२ ईस्वी में वहां के सुलतान ने हीरों के लिये वैरागढ़ पर आक्रमण किया और तब से माहुर में उनका एक फौजदार रहने लगा था। खांडकी बल्लालशाह का पुत्र हीरशाह था। उसने राज्य के जमींदारों से खेती के विकास का आग्रह किया और राज्य में कई तालाब खुदवाये। गोंडों में सिक्कों का चलन इसी राजा ने आरंभ किया था। चांदा का परकोटा और महल इसके शासन में ही तैयार हुए थे और तब से हीरशाह चांदा में रहने लगा था। उसके पौत्र कर्णशाह ने राज्य में कई मन्दिर और तालाब बनवाये थे।

बाबाजी बल्लालशाह—कर्णशाह का पुत्र बाबा जी बल्लालशाह था। कर्णशाह को गोंड लोग कोंडिया राजा कहते थे। अबुल फ़ज़ल ने आइन-अकबरी में लिखा है—"कोंडिया का पुत्र बाबा जी चांदा का गोंड ज़मींदार था—पर वह दिल्ली के अधीन न था। उसके पास १० हजार सवार और ४० हजार पैदल सैनिक थे। उसके राज्य में वैरागढ़ एक ऐसा स्थान है—जहां हीरे पाये जाते हैं।" अकबर के समय में सूबा बरार मुग़ल शासन में आगया था।

---

*चांदा—इराई और झरपट नदियों के संगम पर बसा है। यहां परकोटे का घेरा ७ मील लम्बा है—जिसका पत्थर पीले रंग का है। परकोटे की चौड़ाई १० फुट है। उसके चार द्वार—उत्तर में जटपुरा, पश्चिम में घोड़ा मैदान, पूर्व में अचलेश्वर और दक्षिण में पठानपुर द्वार है। इनके अतिरिक्त ५ उपद्वार हैं—चोर, विठोबा, हनुमंत, मसान और बगड़ खिड़कियां कहलाती हैं। नगर के समीप रामाला, बेढाला, घुटकाल, गोवारी लाल और कोनार तालाब हैं। गोंड राजा रामाला तालाब से नालियों द्वारा शहर में पानी लाये थे। यहां गोंडकालीन इमारतें मुसलमानी ढंग की हैं। अचलेश्वर द्वार के निकट गोंड़ राजाओं का स्मशान है जिसमें वीर शाह की छत्री प्रधान है। अचलेश्वर मन्दिर देखने योग्य है। लोग कहते हैं चांदा से एक रास्ता जमीन के भीतर ही भीतर बल्लालपुर तक गया है।

लालपेठ में जो पुरातत्त्व की जो सामग्री है—वह तो अध्ययन की वस्तु है। लोग उसे "रावण का पठार" कहते हैं। कारीगरी तो सुन्दर नहीं है—पर आकार से बड़ी अवश्य है। इसी कारण से लोगों ने उसका सम्बन्ध रावण से जोड़ दिया है। ये मूर्तियां १६ हैं—जो चट्टानों पर बनायी गयी हैं। उनमें शिव प्रधान हैं। दस मस्तक वाली दुर्गा (१८ × ३ फुट) का वजन ५७ टन होगा। नंदी, मत्स्य, मकर आदि मूर्तियां मुख्य हैं। कहते हैं कि ये मूर्तियां रायपा कोमटी ने रामशाह के शासन काल में बनवायी थी। बाबू पेठ में कुछ पुराने मन्दिर हैं—जिनमें त्रिपाद देवता भी हैं। लोग उन्हें शिव का गण कहते हैं। एक मन्दिर में शिव के साथ ही साथ इन्द्र, अग्नि आदि की मूर्तियां हैं। यहां कई कूप और बावली हैं, एक का आकार शंखनुमा है। पंचायतन का मन्दिर दीवान महादेव वैद्य ने बनवाया था। महाकाली का भी मन्दिर प्रसिद्ध है।

चांदा बरार के निकट होने से मुग़लों के कागज-पत्रों में उसका नाम मिलता है। बाबा जी का पुत्र धोंडिया रामशाह था—जो शराबी और व्यभिचारी था।

कृष्णशाह (कीबा)—धोंडिया रामशाह का पुत्र कृष्णशाह था—जिसको गोंडी प्रजा कीबा कहती थी। यह राजा मुग़ल सम्राट् को 'पेशकाश' देता था। 'पेशकाश' पटाने के लिये चांदा के राजा को बुरहानपुर जाना पड़ता था। 'बादशाह-नामा' में अब्दुल हमीद ने इस राजा का उल्लेख किया है। खानदौरान ने जब देवगढ़ पर आक्रमण किया था, तब कीबा मुग़ल सेना के साथ था। उसने खान को ७० हजार रुपये 'पेशकाश' के दिये थे। यह मुग़ल सल्तनत का 'मज़ें-बॉन' था और उसका सरबराहकार विनायक था। राजा कीबा और देवगढ़ का राजा जाटबा दोनों ही समकालीन थे।

कृष्णशाह का पुत्र बीरशाह था। बीरशाह की एक पुत्री देवगढ़ के राजकुमार दुर्गशाह को ब्याही गयी थी—पर दोनों का मेल नहीं खाता था। एक बार क्रोधित हो दुर्गशाह ने अपनी पत्नी के सामने श्वसुर को गालियां दी थीं। तब वह अपने मायके चली गयी और पिता से सारा वृत्तांत कह सुनाया। बीरशाह ने क्रुद्ध होकर दुर्गशाह पर आक्रमण कर दिया और उसका सिर काट कर चांदा की महाकाली को अर्पण कर दिया। बीरशाह की रानी हिराई ने चांदा में जो महाकाली का मन्दिर निर्माण किया था—उसमें दुर्गशाह की भी प्रतिमा बना दी गयी है—जिसका मुख देवगढ़ की ओर है। बीरशाह का अंगरक्षक हीरामन राजपूत प्रसिद्ध था, जिसने द्वितीय विवाह के अवसर पर राजा को मार डाला। (ई. सन् १६७२) बीरशाह के कोई संतान न थी—इसलिये रानी हिराई ने चंदनखेड़ा के गोविन्दशाह के पुत्र रामशाह को दत्तक लिया और राजगद्दी पर बैठाया।

रामशाह—अच्छे स्वभाव वाला था। इसी कारण से प्रजा उसको भोला राजा कहती थी। किन्तु पुत्री के दुश्चरित्र होने से वह प्रायः दुःखी रहता था। उसकी पुत्री का सम्बन्ध बागबा नामक एक गोंड से था। राजा ने बागबा को डराया-धमकाया, पर कोई असर न हुआ। तब रामशाह ने उसे मार डालने के लिये एक सेना भेजी। सैनिकों ने गांव घेर लिया। बागबा, अगबा और रखबा तीनों भाइयों ने भी अपने साथियों को एकत्रित करके घुघुस में युद्ध किया और उसी युद्ध में सारा परिवार नष्ट होगया।

रामशाह के समय में मुग़ल सूबा को वार्षिक पेशकाश देना बंद किया गया, क्योंकि मराठों का राजा चांदा तक पहुंच गया। सन् १७३० ईस्वी में रघोजी भोंसला चांदा गया था—उस समय रामशाह ने उसका शाही स्वागत किया था। ५ वर्ष बाद वह मर गया और उसका पुत्र नीलकंठशाह गद्दी पर बैठा—जिसकी कहानी अन्यत्र दी गई है।

चांदा का राज्य अरण्यवासी जागीरदारों में विभक्त था—जिनको राजा के समान अधिकार थे, किन्तु प्रतिवर्ष नाममात्र का राजस्व चांदा पहुंच कर राजा को दे आते थे। युद्ध के अवसर पर राजा के यहां कुछ घुड़सवार और कुछ पैदल सिपाही भेज देते थे। पलसगढ़, आंबागढ़, पानाबारस, अनोरा, दूधमाला, गेवरधा, कोटगल, पोटेगांव, सोनसरी, देवलगांव, रंगी, कोरछा, खुटगांव, दमोना, मुरमगांव, गिलगांव, मौलसदा और अहेरी प्रमुख ज़मींदारियां थीं। केवल अहेरी का क्षेत्रफल २५४५ वर्गमील था। वैनगंगा, प्राणहिता और इन्द्रावती नदियों का प्रवाह इसी ज़मींदारी में से गुज़रता था। यहां के राजा की रिश्तेदारी चांदा राजवंश से थी।

समस्त खालसा विभाग किलेदारों के अधीन था—जो दीवान भी कहलाते थे। उनके अधीन देशमुख, देश-पांडे और सीरमुकद्दम अफ़सर थे। चांदा के राजा आरंभ में बहमनी राज्य को पेशकाश देते थे। मुग़लों के समय में मुग़लों को देते थे। यहां का शासन सरल न होने से प्रभावशाली राजागण नज़राना लेकर संतुष्ट हो जाते थे।

चांदा राज्य में गोंड कला के कई सुन्दर नमूने प्राप्त हैं—किन्तु उन पर मुसलमानों का काफ़ी असर है। यहां के राजाओं ने कई समाधि स्थल और किले बनवाये हैं। चांदा का परकोटा और टीपागढ़ का किला उनके* सुन्दर नमूने

---

*टीपागढ़—मुरमगांव ज़मींदारी में टीपागढ़ नाम की २ हजार फुट ऊंची पर्वत श्रेणी है। यहां पत्थरों का एक मज़बूत किला था। टीपागढ़ में एक स्थानीय राजा रहता था। लोग यहां के पूरम राजा की कथा कभी-कभी

हैं। बल्लालपुर, वैरागढ़, देवलवाड़ा, भांदक, भटाला, नेरी और सेगांव के किले आज खण्डहर के रूप में वर्तमान हैं। खोंडिया रामशाह का बनाया हुआ जुनोना तालाब और उसकी बंधवाई देखने योग्य है। कुछ इमारतों पर गोंड राज-चिह्न को महत्व दिया गया है।

"**सिंह हाथी का मस्तक विदीर्ण कर रहा है।**"—यह चांदा के राजाओं का राजचिह्न था। जहां-जहां हिन्दुओं के मन्दिर हैं-वहां-वहां मुसलमान फकीरों की कब्रें भी बनी हैं और गोंडों ने उनको भी महत्व दिया था। महाकाली के मन्दिर के पास जुमनशाह की दरगाह है। कहते हैं कि पुराने जमाने में महाकाली को नरबलि दी जाती थी। एक बार जुमनशाह ने इस प्रथा को बंद करने के उद्देश्य से स्वयं देवी का भक्ष्य बनना स्वीकार किया और जब देवी आयी—तो मियां जी ने उसको भगा दिया। इसीलिये लोगों ने उसकी कब्र निकट ही बनवा दी। अपढ़ लोग मुसलमानों द्वारा प्रचारित कथा को आज भी सत्य मानते हैं।

मध्यप्रदेश में मुस्लिम शासन

प्रदेश में मुसलमानों का आगमन

खिलजी वंश का अलाउद्दीन बड़ा प्रतापी सुलतान था, जिसने दक्षिण भारत में द्वार समुद्र तक के राजाओं को जीत लिया था। सन् १२९४ में वह ८ हजार सवारों को लेकर देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) के यादव नरेश प्रतापी रामचन्द्र को जीतने गया था। उस समय उसकी युद्ध यात्रा इसी प्रदेश से हुई थी। विदर्भ उस समय में यादवाधीन था। देवगिरि जाते समय सांडिया घाट के* समीप से उसने नर्मदा पार की थी। वर्तमान हुशंगाबाद जिले से होता हुआ वह भैंसदेही का घाट लांघ कर अचलपुर पहुंचा था।† उसी भांति लौटते समय उसने अचलपुर में मुकाम

सुना देते हैं। राजा के पास २ हजार योद्धा, ५ हाथी और २५ मशहूर घोड़े थे। उनकी बदौलत वह टीपागढ़ का राज्य करता था। एक बार छत्तीसगढ़ के राजा ने टीपागढ़ पर हमला किया। राजा पूरम ने कोटगढ़ में उनसे लड़ाई की। युद्ध करते समय राजा का जूता गिर गया और उसे एक सिपाही ने उठा लिया। सिपाही ने सोचा राजा मारा गया। तब वह उसे लेकर रानी के पास पहुंचा। रानी ने भी सच मान कर अपना पूरा १६ श्रृंगार किया और बैल-गाड़ी में सवार होकर तालाब के तट पर गयी। उसी ताल के किनारे खड़े होकर उसने गढ़ भवानी की प्रार्थना की और मुट्ठी भर तिल दाहिने हाथ से फेंक दिये। उन तिलों के प्रभाव से शत्रुओं के मस्तक कटने लगे और इस तरह छत्तीसगढ़ की सेना नष्ट होगयी। उधर राजा पूरम भी विजयी होकर लौट आया, परन्तु इधर रानी मर चुकी थी-तब राजा भी दु:खी हो कर तालाब में डूब मरा। तब से टीपागढ़ वीरान हो गया और राज्य भी दूसरों के हाथ में चला गया।

* सांडियाघाट—नर्मदा तट पर सोहागपुर से २३ मील पूर्व है। लोग कहते हैं कि यहां नर्मदा के तट पर शांडिल्य ऋषि रहा करते थे।

† यादवों के समय में अचलपुर एक महत्वपूर्ण नगर था। जान पड़ता है कि यादवों का राज्य सतपुड़ा की श्रेणियों को लांघते हुए खेलड़ा तक पहुंच गया था। खेलड़ा का किलेदार यादवों के अधीन था। जैन ग्रंथों में अचलपुर का वर्णन मिलता है। उनके अनुसार अचलपुर के ईशान में मेघगिरि (मुक्तागिरि) पर्वत के शिखर पर साढ़े तीन करोड़ लोगों ने निर्वाण पाया था। निर्वाण मुक्ति ग्रंथ में लिखा है—

अचलपुर वरणिय दे। ईसाने मेघगिरि सिहरे।
अहुट्ठय कोडियो निव्वाण। गया नमो तेसि॥

इंडियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ४२, पृष्ठ २२०।

भी किया था और वहां अपना एक कर्मचारी नियत करके विदर्भ को दिल्ली राज्य में जोड़ लिया था। यहां से पहुँच कर १६ जुलाई सन् १२९६ को अलाउद्दीन (चचा को मार कर) दिल्ली की गद्दी पर बैठा था। राज्य पाते ही (सन् १२०५ ईस्वी के अन्त तक) उसने राजपूतों के प्रबल स्तंभ रणथंबोर एवं मेवाड़ को जीत कर उज्जैन, मांडू, धार, चंदेरी, आदि हिन्दू राज्यों को जीत लिया था। उसके बाद उसने दक्षिण भारत के प्रबल राज्यों को जीत लिया था। मुसलमानों के आगमन से देश की काया पलट गयी थी। हिन्दू सभ्यता को मुस्लिम सभ्यता से टक्कर लेनी पड़ी थी—जिसका उल्लेख "तारीख-ए-फ़िरोज़शाही" में भी मिलता है। अलाउद्दीन ने राजनीति से धर्म को पृथक् करने का प्रयास किया अवश्य—फिर भी निरंकुश शासन के दोषों को वह न हटा सका। उसने सैनिकबल पर अपनी धाक स्थिर रखी थी—किन्तु उसके आंख मूंदते ही उसके राज्य में विद्रोह फैल गया।

कुम्हारी इलाके के वीरान मौजा बड़ैया खेड़े के संवत् १३६७ के एक सती लेख से प्रगट होता है कि उस समय सुलतान अलाउद्दीन का शासन था।‡ इस लेख के दो वर्ष पूर्व का अर्थात् संवत् १३६५ का जो लेख मिला है—उसमें यह साफ़ अंकित किया गया है कि—

> "कालंजराधिपति श्रीमद् हम्मीरदेव विजय राज्ये संवत् १३६५ समय महाराजपुत्र श्री वाघदेव भुंजमाने अस्मिन काले।"

अर्थात् ३ वर्ष के पूर्व वहां कालंजर वालों का आधिपत्य था। इससे स्पष्ट है कि अलाउद्दीन का आधिपत्य सन् १३०८ और १३०९ ईस्वी के बीच में हुआ। अलाउद्दीन ने दक्षिण की दूसरी लड़ाई सन् १३०९ में की थी। इससे स्पष्ट है कि उसी वर्ष सागर जिला या उसका भाग मुसलमानों के कब्जे में चला गया। दूसरा लेख बड़ैया खेड़ा से चार मील पर ब्रम्हनी* गांव के सतीचौर पर है।

तुगलक शासन—अलाउद्दीन के मरने पर दिल्ली में जो विद्रोह हुआ था—उसका शमन गयासुद्दीन तुगलक ने किया था और खिलजियों को हटा कर वह स्वयं बादशाह बन गया था। (ई. सन् १३२०) उसका एक फ़ारसी लेख बटियागढ़ में† मिला है। उसमें उसका राजत्व काल स्पष्ट दर्ज है और हिजरी सन् ७२५ अंकित है, जो सन् १३२४ ईस्वी में पड़ता है।

> "न अह्द शुद गयासुद्दीन व दुनिया बिनाई खैर सैमूगश्त मनसूब।"

गयासुद्दीन तुगलक ने सन् १३२० से १३२५ तक शासन किया था। उसका उत्तराधिकारी पुत्र मुहम्मद तुगलक फ़ारसी और अरबी का विद्वान् था। वह यूनानी तर्क तथा दर्शन का ज्ञाता एवं गणितशास्त्र का पण्डित था। इतने पर भी उसका शासन बेमेल बातों का भंडार था। जिससे उसका शासन चौपट होगया। उसके समय का विस्तृत विवरण शाहबुद्दीन अबुल अब्बास अहमद दिमश्की ने अपने ग्रंथ में किया है:—

लोग कहते हैं कि मुसलमानों के आगमन काल में यहां ईल—नामक राजा का शासन था, जिसका समर्थन "तवारीख-इ-अजमदी" से होता है। (ईस्वी सन् १०५८) राजा ईल ने एक मुसलमान फ़क़ीर का अपमान किया था। उस फ़क़ीर ने गजनी पहुँच कर उसकी शिकायत शाहदूला रहमान गाजी से की। तब वह राजा को दंड देने के लिये सेना सहित यहां आया। यहां दोनों का भयंकर युद्ध हुआ। जिसमें दोनों मारे गये। कहते हैं कि इस युद्ध में ११ हजार मुसलमान सैनिक मारे गये थे और वे "गंज शहीद" में दफ़नाये गये थे और दूला रहमान गाजी की क़ब्र भी बनाई गयी थी। उसी को दुबारा, अलाउद्दीन, दौलताबाद से लौटते हुए, बनवा देने की व्यवस्था कर गया था। उसके निकट ईल राजा की भी समाधि है।

‡ रा. ब. स्व. हीरालाल कृत "मध्यप्रदेश की प्रशस्तियां।"

* रा. ब. स्व. हीरालाल कृत "मध्यप्रदेश की प्रशस्तियां।"

† रा. ब. स्व. हीरालाल कृत "मध्यप्रदेश की प्रशस्तियां।"

गयासुद्दीन ने अपने पुत्र मुहम्मदशाह को सन् १३२६ ईस्वी में चंदेरी, बदायूं और मालवा की फौजों के साथ तेलंगाना जीतने को भेजा था। इसी अवसर पर जान पड़ता है, कि तुग़लकों का पाया इस जिले में दृढ़तर जम गया था। बटियागढ़ में एक संस्कृत लेख* मिला है—जिसमें संवत् १३८५ (ई. सन् १३२८) लिखा हुआ है। उसमें लिखा है कि "सुलतान महमूद के समय जीव जन्तुओं के आश्रय के लिये एक गोमठ, एक बावली और एक बगीचा बनवाया गया था। उस लेख में महमूद का ज़िक्र यों किया गया है :—

"कलियुग में पृथ्वी का मालिक शकेन्द्र है—जो योगिनीपुर (दिल्ली) में रह कर समस्त पृथ्वी का भोग करता है। और जिसने समुद्रपर्यन्त सब राजाओं को अपने वश में कर लिया है। उस शूरवीर सुलतान महमूद का कल्याण हो।"†

सागर जिले में तुग़लकों का राज्य कबतक रहा—इसका प्रमाण नहीं मिलता—किन्तु जान पड़ता है कि जिस समय मालवा के राजा ने दिल्ली से स्वतंत्र हो कर चंदेरी पर आक्रमण किया और उसे अपने अधीन कर लिया, तभी से दिल्ली का प्रभुत्व सागर जिले से उठ गया।

मुसलमानों की सफलता—उस युग के इतिहास से यह साफ़ प्रकट होता है कि युद्ध कला की बातों में तुर्क और पठान हिन्दुओं से बढ़े-चढ़े थे। यह श्रेष्ठता तबतक क़ायम रही—जबतक उनमें राजसी विलासिता नहीं आयी। संगठन और एकता का अभाव राजपूतों में पर्याप्त था। देश में छोटे-बड़े कई क़ाबिल राजपूत राजा थे, किन्तु आगन्तुक शत्रु के विरोध में कभी आपस में संगठित न हो सके। राजनैतिक परिस्थिति की तरह सामाजिक स्थिति एकता विरोधिनी हो चुकी थी। अनेक विविध जातियों से भयंकर विषमता निर्मित हुई थी। साधारण नागरिक राजनीतिक विप्लवों से अलिप्त रहता था और न उसे यह चिन्ता थी कि "किस का राज पलट रहा है अथवा किसका नया राज्य विकसित हो रहा है।" सच है कि राजपूत वीरता में किसी भांति मुसलमानों से न्यून न था—पर उसके लड़ने के तरीके वंश परम्परागत पुरातन ही थे। वह अपने धनुर्वेद और शास्त्रों का क़ायल था और उसका रथ और हाथियों पर अधिक भरोसा था। उसके विपरीत मुसलमानों में जातीय संगठन था और वे अपने घोड़ों पर पूरा विश्वास रखते थे तथा जहां वे चाहते अपना स्थान छोड़ कर फुर्ती के साथ शत्रुओं पर चारों ओर से धावा कर सकते थे। स्थानीय राजाओं को बाहर से आनेवाले शत्रुओं की स्थिति की कोई जानकारी न थी और न वे जानने का प्रयास करते थे। इस कारण राजपूतों की ही अधिक क्षति होती थी। प्रारम्भिक मुसलमान सेना पर निर्भर होते थे अतः उन्होंने देश के प्रान्तरिक शासन में कोई अभिरुचि नहीं दिखायी—जिससे ग्रामीण शासन हिन्दुओं के हाथ में ही रहा। मुसलमान सरदारों ने देश की भूमि को जागीरों में बांट दिया था—और उन जागीरदार और अमीरों का कर्तव्य था—कि वे अपने यहां शान्ति बनाये रहें और प्रजा से विभिन्न करों को वसूल कर के अपना जीवन-निर्वाह करें। मुसलमानों में भी आपसी स्पर्धा खूब थी—पर हिन्दुओं से युद्ध करते समय इस्लाम के नाम पर वे एक हो जाते थे। फिर भी मुस्लिम राजवंशों में शासन परिवर्तन तेज़ी से चलता था। सन् १३९८ ईस्वी में तैमूर के आक्रमण से दिल्ली के मुसलमानों की कमर टूट गयी और तुग़लकों का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तथा प्रादेशिक सूबेदार स्वतंत्र से बन गये। इस युग में मध्यप्रदेश बहमनी और मालवा के हाकिमों के अधीन चला गया। सतपुड़ा की घाटियों में अरण्यवासी अरण्यों में अपने राजा के अधीन स्वतंत्रतापूर्वक विचर रहे थे। फिर भी प्रदेश के पूर्वी भाग पर दक्षिण कोशल में रतनपुर के हैहय राजाओं का

---

* बटियागढ़ का संस्कृत लेख—संवत् १३८५ का—रा. ब. स्व. हीरालालकृत—लेख सूची नं. १०६।

† अस्ति कलियुगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिप :।
योगिनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम्॥
"सर्वसागरपर्यन्तं वशीचक्रे नराधिपान्।
महमूद सुरत्राणो नाम्ना शूरोऽभिनंदतु॥"

राज्य निर्विघ्नता से चला जा रहा था। इसी काल में जबलपुर के निकट गढ़ा में अरण्यवासी गोंडों का एक राज्य स्थापित हो गया था।

खिलजी—१५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली की ओर से दिलावर खां गोरी मालवे का राज्यपाल था। यही सन् १४०१ ईस्वी में स्वतंत्र "शाह" बन बैठा। उसका पुत्र हुशंगशाह प्रतापी था। उसने काल्पी तक धावा किया, परन्तु चंदेरी में अपना राज्य जमाया या नहीं, इसका उल्लेख नहीं मिलता। हुशंगशाह के मरने के २ वर्ष बाद मालवे का राज्य खिलजियों के अधिकार में होगया। ये खिलजी उसी कौम के थे—जिन्होंने दिल्ली में ई. सन् १२९०–१३२० तक राज्य किया था और जिनके तीसरे सुलतान ने पहले पहल दमोह में खिलजी राज्य की जड़ जमाई थी। मालवे का प्रथम खिलजी सुलतान महमूदशाह था। फ़रिश्ता ने लिखा है कि "सन् १४२८ में उसने चंदेरी को अपने कब्जे में किया।" इसलिये उसी वर्ष से समझना चाहिये कि दमोह का संबंध दिल्ली के शाही घराने से टूट गया और दमोह नगर का विकास आरंभ हुआ, क्योंकि दिल्ली शाही जमाने में नयाबत का सदर मुकाम बटियागढ़ रखा गया था, किन्तु खिलजियों ने उसके बदले दमोह मुकर्रर किया।

दमोह में महमूदशाह खिलजी के समय का कोई चिह्न अभी तक तो नहीं मिला किन्तु उसके पुत्र गयासशाह के समय का एक फ़ारसी लेख दमोह में उपलब्ध है। उसमें लिखा है कि शहनशाह गयासुद्दुनिया बादशाह के खासखवास मुखलिस मुल्क ने दमोह किले के पश्चिमी द्वार की दीवाल सन् ८८५ हिजरी अर्थात् १४८० ईस्वी में बनवाई*। यह गयास सन् १४७५ ईस्वी में तख्त पर बैठा था और सन् १५०० ई. तक उसने राज्य किया था। उस युग के कई सतीचौरों में भी उसका नाम दर्ज है। यथा नरसिंहगढ़ के समीप एक सतीचौरा में लिखा है कि किसी धनमुख की स्त्री संवत् १५४३ (ई. सन् १४८६) में "महाराजाधिराज श्री सुलतान गयासुद्दुनिया शाह विजय राज्ये माड़ोगढ़ विन्ध्यदुर्गे चंदेरी वर्तमाने" सती हुई थी। सतमूया के पास एक दूसरे चौरे में नासिरशाह का नाम लिखा है और संवत् १५६२ पढ़ा है। नासिरशाह गयासशाह का लड़का था और सन् १५०० ईस्वी में गद्दी पर बैठा था। उसका पुत्र महमूदशाह द्वितीय था—जिसके समय का एक लेख दमोह खास में मिला था—उसमें लिखा है—"संवत् १५७० वर्षे माघ वदी १३ सोमदिने महाराजाधिराज राज श्री सुलतान महमूद शाह बिन नासिरशाह राज्ये अस्मै (इसी) दमोव (दमोह) नगरे.... दाम बिजाई व महत्रा व दाई व दर्जी ये रकमें। जो गांव को मुक्ता में ले वह छोड़ दे।" इस तरह का विज्ञापन है।†

फ़रिश्ता लिखता है कि सुलतान महमूद अन्य राजाओं की नीति के विपरीत अपनी तलवार के बलपर राज्य करना चाहता था। अन्त में परिणाम यह निकला कि वह मारा गया और खिलजी घराने का राज्य हट गया। सन् १५३० ईस्वी में गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने मालवे को अपने राज्य में मिला लिया।

बहमनी राज्य का प्रभाव—मुहम्मद तुगलक के शासन काल में दक्षिण के मुसलमान अमीरों ने गुलबर्गा में इस्लाम की नयी सल्तनत क़ायम की, जिसका सूत्रधार हसन बहमनी था—जो फ़ारस के बहमन—बिन-इसफन्दियार का वंशज कहलाता था। बरार तो पूर्ण रूप से बहमनी राज्य के अन्तर्गत था। उसने अपना राज्य चार तरफ़ों में बांट रखा था। जिनमें से एक तरफ (प्रदेश) बरार था। वहां का तरफदार अचलपुर में रह कर राज्य का शासन करता था। बहमनी राज्य का प्रभुत्व ईस्वी सन् १३४७ से १४८४ तक था। उस समय बरार की राजभाषा फ़ारसी हो गयी थी और उर्दू का चलन बोलचाल में आरम्भ हो गया था। दिल्ली से दौलताबाद जाने का राजमार्ग सतपुड़ा की घाटियों से गुजरता था। बुलढाना जिले के रोहणखेड़ और राजुर घाट तो उस समय प्रसिद्ध थे।

बहमनी शासन में बरार के शासन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। देशमुख और देशपाण्डे ग्रामाधिकारी अपना कार्य वंशपरम्परागत करते चले जाते थे। उनको जो मुआवज़ा दिया जाता था—वह "वतन" कहलाता था। बरार

* रा. ब. स्व. हीरालाल सूची क्रमांक १०८, दमोह के किले का लेख—सन् १४८० ई.

† रा. ब. स्व. हीरालाल सूची क्रमांक ११०, महमूद खिलजी का लेख—ई. सन् १५१२।

के ग्राम बंदोबस्त में "बारावलुतेदार" प्रमुख वतनदार थे। राज में सदैव परिवर्तन होते रहे, किन्तु पाण्डे और पटेल के वतन वंशपरम्परागत चलते जाते थे। मुसलमानी शासन में उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। परगनों से बड़ा इलाका—"सरकार" कहलाता था और समस्त बरार १३ सरकारों में विभक्त था। मुहम्मद तुगलक के समय में बरार का सूबेदार—"इमाद-उल-मुल्क" था और वह अचलपुर में रहता था। हसन बहमनी का उत्तराधिकारी मुहम्मद शाह प्रथम (ई. सन् १३५८—१३७३) था—जिसने बरार की सूबेदारी सफ़दर खां को दी थी। मुहम्मद शाह का उत्तराधिकारी मुजाहिदशाह था—जिसके समय में राज्य के प्रायः सभी अमीर और सरदार विरोधी हो गये थे। उनमें सफ़दर खां भी था। इस विरोध का परिणाम यह हुआ था कि मुजाहिद खां मारा गया और अमीरों ने उसके चाचा दाउद खां को गद्दी पर बिठलाया। वह भी मई सन् १३७८ में मारा गया। दाउद खां के मारे जाने से मुहम्मदशाह द्वितीय सुलतान बनाया गया (ई. सन् १३७८ से १३९७)। इस सुलतान का प्रबल समर्थक बरार का अमीर सफ़दर खां था। इसी सुल्तान का दीवान "पेशवा" कहलाता था। मुहम्मदशाह का उत्तराधिकारी फ़िरोज़-शाह (ई. सन् १३९७—१४२२) था, जिसके समय में बरार का तरफदार सफ़दर खां का पुत्र सलावत खां था। फ़िरोज़शाह ने विजयनगर के देवराय राजा को हराया था। इसी युद्ध में सलावत खां भी बरार की सेना लेकर विजय-नगर गया था।

जिस समय सफ़दर खां विजयनगर गया था—उसी बीच खेरला के राजा नरसिंह राय ने* आक्रमण कर के अचलपुर को लूट कर वहां अपना शासन जमा दिया था। वास्तव में नरसिंह राय एक साधारण सा राजा था और उसने यह प्रयास किस बूते पर किया? यह राजकीय पहेली है। इतने महत्वपूर्ण प्रदेश का पचा जाना भी सरल न था। जान पड़ता है कि मालवा के सुलतान ने उसे उत्तेजित किया होगा और उसके बल पर ही उसने यह साहस किया होगा। पर अवसर आने पर मालवा का सुलतान हुशंगशाह अलग हो गया—क्योंकि उसकी नज़र खेलड़ा पर लगी हुई थी। जो हो, खेलड़ा के नरसिंह राय ने एक बार तो अचलपुर पर अपना आधिपत्य जमा लिया। जब यह वृत्तान्त विजयनगर से लौटते हुए सुलतान फिरोज़शाह को ज्ञात हुआ— तो वह सेनासहित माहूर के रास्ते से अचलपुर के समीप पहुंचा। उस समय नरसिंह राय खेरला में था; इसी कारण फ़िरोज़ शाह ने अचलपुर में मुक़ाम किया और अपने भाई अहमद खां को खेलड़ा पर आक्रमण करने के लिये भेज दिया। नरसिंहराय ने अपनी सहायता के लिये मालवा और खानदेश सुल-तानों से आग्रह किया, किन्तु वे मौके पर दूर होगये। हताश हो नरसिंह राय ने एक बार खेलड़ा से लड़ने का निश्चय किया और किला छोड़ कर ४ मील बाहर चला आया। अन्त में उसने फ़िरोज़ शाह से सन्धि कर ली और अपनी पुत्री ब्याह दी। सुलतान इससे प्रसन्न हो गुलबर्गा वापिस लौट गया। इस युद्ध के बाद नरसिंहराय ने खेलड़ा का शासन २७ वर्ष तक किया।

अचलपुर से लौटने के बाद ही सुलतान फ़िरोज़ शाह मर गया और अहमद शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह स्वयं अचलपुर में आकर रहा था और उसने गाविलगढ़ † और नरनाला ‡ किलों की मरम्मत की थी। इसी समय

---

* राजा नरसिंह राय—बैतूल नगर से ४ मील पर जंगल में खेरला पहाड़ी किला है—वहां पर स्वामी मुकुन्द-राज की समाधि है। नरसिंह राय यादवों का सूबेदार और अचलपुर का मातहत था।

† गाविलगढ़—बरार के प्रमुख किले चिखलदरा से एक मील पर सतपुड़ा की ४ सहस्र फुट ऊंचाई पर बना है। पुरातन काल में उस किले का निर्माता गवली जाति का राजा था। इसी कारण लोग उसे गवलीगढ़ कहते हैं। सन् १४२५ ईस्वी में इस किले की मरम्मत अहमदशाह बहमनी ने करवायी थी। यह किला ऐसे स्थान पर बना है—जहां पहुंचना सरल नहीं है। फ़तहउल्ला इमादशाह ने भी उसका कुछ भाग बनवाया था। अमरावती द्वार पर उसका उल्लेख भी है। साथ ही गंज और सिंह की मूर्तियां खुदवायी गयीं। (सन् १४८८ ई.) दूसरा लेख बुर्ज पर है—जो ईस्वी सन् १५५७ का है।

‡ नरनाला—मेलघाट पर आकोट से १२ मील पर ३,१६१ फुट ऊंचाई पर यह किला है। किले के ३ भाग हैं—पूर्व में जाफ़राबाद, मध्य में नरनाला और पश्चिम में तेलियागढ़ हैं। तीनों भाग परकोटे से घिरे हुए हैं। इस किले

मालवा के सुलतान हुशंगशाह ने खेरला पर हमला किया था। नरसिंहराय ने अहमदशाह बहमनी से मदद मांगी थी—इसलिये उसने बरार के सूबेदार खाजहां को सेनासहित भेजा था। फिर भी राजा को यथोचित सहायता नहीं दी गयी। हुशंगशाह ने खेरला को लूट लिया—जो अहमदशाह के लिये चुनौती थी। पूर्णा नदी के किनारे बरार की सेना को उससे युद्ध करना पड़ा था। इससे जान पड़ता है कि हुशंगशाह वहां हार गया और मेलघाट के रास्ते मालवा को चल दिया।

कुछ दिन ठहर कर ई. सन् १४२३ में हुशंगशाह ने खेरला पर फिर से आक्रमण किया। नरसिंह राय पिछले युद्धों के कारण तबाह होगया था और सेना संगठन के लिये भी उसके पास पर्याप्त धन नहीं था। फिर भी उसने मालवा की सेना से युद्ध किया। फरिश्ता ने लिखा है—"इस समय अहमद शाह और गुजरात के सुलतान से युद्ध छिड़ गया था—इसी बीच में हुशंगशाह ने मौका पाकर खेरला पर हमला कर दिया। अहमदशाह से सहायता न पाने के कारण नरसिंहराय इस युद्ध में मारा गया और हुशंगशाह ने खेरला को मालवा राज्य में जोड़ लिया।" कहते हैं कि अहमदशाह ज्यों ही गुजरात से वापिस लौटा त्यों ही उसने हुशंगशाह पर आक्रमण कर दिया, किन्तु खानदेश के सुलतान नासिर खां फारुकी ने बीच में पड़ कर समझौता करा दिया—जिससे खेलड़ा तक का सारा प्रदेश मालवा राज्य के अन्तर्गत चला गया। हुशंगशाह ने, अपना नाम चिरस्थायी बना रहे, इस उद्देश्य से, नर्मदापुर का नाम हुशंगाबाद रख दिया।

मुहम्मद शाह तृतीय (ई. सन् १४६३—१४८२) के समय से बहमनी राज्य पतन की ओर मुड़ गया। उस का वज़ीर मुहम्मद गवान चतुर था। उसने राज्य के ८ सूबे बनाये (इसके पूर्व ४ सूबे थे) क्योंकि वह नहीं चाहता था कि राज्य के सूबेदार प्रबल हों। उस योजना के अनुसार बरार के २ सूबे बनाये गये थे और गाविलगढ़ तथा माहूर राजधानियां क़ायम की गयीं। गाविलगढ़ का सूबेदार फतहउल्ला इमादमुल्क था और माहूर का खुदावंत खां। गवान की योजना से राज्य के कई अमीर विरोधी हो गये और उन्होंने सुलतान और वज़ीर में मनोमालिन्य भी करा दिया—उसका फल यह निकला कि निरपराध गवान सूली पर लटकाया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि बहमनी राज्य का संगठन हिल गया। मुहम्मदशाह भी मर गया और उसका उत्तराधिकारी महमूद शाह गद्दी पर बैठा—जो निकम्मा सिद्ध हुआ। उसके शासन काल में राज्य के सूबेदार स्वतंत्र हो गये और बरार में "इमादशाही" राज्य की स्थापना हो गयी। यह स्वतंत्र राज सन् १४५७ ईस्वी तक चलता रहा और बाद में वह अहमदनगर राज्य में जोड़ा गया।

निमाड़ के फारुकी—तुगलक वंश के समय में मुसलमानी भारत कई स्वतंत्र राज्यों में विभक्त होगया था। इन प्रांतीय राज्यों में निमाड़ भी एक था। गंजाल और हिरन फाल के मध्य में निमाड़ था, जिसकी राजधानी नेमावर (हंडिया के उत्तरीय तट पर) थी। सुलतान फ़िरोज़ शाह के समय में खानदेश राज्य की स्थापना हुई थी। सुलतान ने एक फ़र्मान के द्वारा तापी कछार का प्रदेश मलिक फ़रुक़ को दे दिया था। यों तो वह एक साधारण सा सिपाही था, किन्तु ताल्नेर के युद्ध से उसका भाग्य चमक उठा और सुलतान ने उसे सूबेदार बना दिया। प्रारंभ में

के २२ द्वार और ६७ बुर्ज हैं, किन्तु मुख्य द्वार चार ही हैं। किला १४ मील के घेरे में है। परकोटा कहीं पर २५ फुट और कहीं ४० फुट चौड़ा है। यहां कई इमारतें भी हैं—जिनमें पुराना महल, औरंगजेब का महल, जामा मसजिद और नगारखाना मुख्य हैं। जिन अपराधियों को प्राणदंड की सजा दी जाती थी—उसको खूनी बुर्ज से नीचे खाले में ढकेल दिया जाता था। शाहनूर द्वार की कारीगरी देखने योग्य है। उसकी नक्काशी में कुरान की आयतें अंकित हैं। मुख्य द्वार "महाकाली" द्वार कहलाता है—उसी पर फतह उल्ला इमाद मुल्क का फ़ारसी लेख सन् १४८७ ईस्वी का है। यहां जल के २२ हौज हैं—जिनमें ४–५ में तो बारहों मास पानी रहता है। यहां हाथीखाना, टकसाल, अंबरखाना, बारूदखाना आदि के पृथक्-पृथक् स्थान हैं। यहां पर तोपें भी ढाली जाती थीं—एक ६ गजी तोप पर मुगल सम्राट् औरंगजेब का नाम अंकित है।

मलिक फ़रूक़ की राजधानी तालनेर थी। फ़रिश्ता कहता है—"मलिक फ़रूक़ १२ हज़ार सवारों का सूबेदार सतपुड़ा की घाटियों में स्थित समस्त गोंड राजाओं से पेशकश वसूल करता था। उसके राज्य के पूर्व में बरार, पश्चिम में गुजरात, उत्तर में मालवा और दक्षिण में महाराष्ट्र था। मलिक का विवाह मालवा के सुलतान दिलावर खां गोरी की पुत्री के साथ हुआ था—जिससे उसका पाया मज़बूत हो गया था।

इस राज्य का प्रमुख किला असीरगढ़* था—और यह जिसके अधिकार में हो—वही उस प्रदेश पर हुकूमत कर सकता था। सन् १३७० ईस्वी में मलिक फ़रूक़ ने ताप्ती के कछार में अपनी सल्तनत की नींव रखी और उसका विकास उसके पुत्र नासिर खां ने किया। नासिर खां को गुजरात के सुलतान ने "खान" की उपाधि दी थी—जिससे उसका मुल्क "खानदेश" कहलाया। फिर भी असीर का किला हिन्दू क़िलेदार के अधीन था। नासिर ने उसके साथ मित्रता कर के वह क़िला ले लिया। असीरगढ़ प्राप्त कर लेने पर उसको मुबारकबाद देने के लिये दक्षिण से बुरहानुद्दीन और जैनुद्दीन नाम के दो फ़क़ीर तालनेर गये थे। उनका शुभ संकेत नासिर ने पाकर ताप्ती के दोनों ओर दो नगर बसाये और एक का नाम जैनाबाद तथा दूसरे का नाम बुरहानपुर† रखा। उन दोनों फ़क़ीरों पर सुलतान की श्रद्धा थी।

नासिर खां ने अपनी पुत्री का विवाह बहमनी राज्य के सुलतान अलाउद्दीन से किया था, किन्तु उसकी दूसरी बेगम हिन्दुस्तानी थी—जिस पर उसका अधिक अनुराग था। इसी कारण नासिर खां ने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया

* असीरगढ़—जनश्रुति के अनुसार यह किला आसा-अहीर ने आभीर युग में बनवाया था-जो ८५० फुट ऊँचा है और यहां आसा देवी का स्थान है। मालवा के परमार और चौहान राजाओं का प्रभुत्व था। पृथ्वीराज-रासो में इस किले का उल्लेख आया है। पृथ्वीराज के समय में यहां का राजा ताक था। उसने सन् ११९१ में मुहम्मद गोरी से कन्नौज में युद्ध किया था। ताक के पश्चात् १ सदी तक उसकी संतानों का ही राज्य था। सन् १२९१ ईस्वी में अलाउद्दीन ने इस किले को घेरा था-तब "रायसी" को छोड़ कर सम्पूर्ण वंश नष्ट होगया था। तब से यह किला मुसलमानों के ही अधीन रहा।

इस किले के तीन भाग हैं। सबसे ऊपर वाला भाग ६० एकड़ के घेरे में परकोटे से घिरा हुआ है और वहां जल का भी सुपास है। उस किले से उतर कर मध्यवर्ती भाग कमरगढ़ कहलाता है और वह भी परकोटे से घिरा हुआ है। सबसे बीच का हिस्सा "मलाई गढ़" है-जिसको आदिल खां फारुकी ने बनवाया था। उसकी इमारतें, द्वार और मसजिद प्रेक्षणीय हैं। इस किले के पश्चिमी द्वार पर सम्राट् अकबर का एक लेख (१८ अगस्त सन् १६०० का) है। फूटा द्वार की चट्टान पर हिजरी सन् १०३७ और १०४० के लेख शाहजहां के समय के हैं—जिनमें परवेज और महाबत खां का उल्लेख हैं। कमरगढ़ के द्वार पर औरंगजेब का भी लेख है—जिसमें लिखा है कि—"उसने तलवार के बल पर राज्य पाया था।"

† बुरहानपुर—बुरहानपुर और जैनाबाद दोनों ताप्ती (ताप) नदी के उभय तट पर स्थित हैं। बुरहानपुर की जुम्मा मसजिद और बीबी मसजिद फ़ारुकी कला के सुन्दर नमूने हैं। आदिल शाह का बनाया हुआ महल तो अब नष्ट हो चुका है। सन् १६०० ईस्वी में अकबर ने इसे दक्षिणी सूबे की राजधानी बनाया था। अकबर, जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब आदि सम्राटों ने अपने जीवन के कुछ वर्ष यहां व्यतीत किये थे। शाहनवाज की यहां सुन्दर क़ब्र है—जो देखने योग्य है। उतावली के तट पर हज़रत बुखारी की क़ब्र है। नगर का परकोटा सन् १७३१ ई. में निजाम आसफ़जहां ने बनवाया था—उसका घेरा ५।। मील और चौड़ाई २।। मील में है। परकोटे के अष्ट द्वार देखने योग्य हैं। वे राजपुरा, शिकारपुरा, इतवारा, सिंधीपुरा, नागझिरी, शनिवारी, लोहारमंडी और राजघाट हैं। राजघाट तो बहुत ही सुन्दर है। यहां नालियों के द्वारा नगर में पानी पहुंचाया गया है। बुरहानपुर का पुराना नाम "बसनाखेड़ा" था।

जैनाबाद में मुग़लकालीन कई स्मारक हैं। राजा जयसिंह पुरा के समीप अहूखाना देखने योग्य है। हैदराबाद का निज़ाम यहां आकर रहा था।

था। अलाउद्दीन ने निमाड़ी सेना को रोकने के लिये सूबेदार खलिकहुसेन खां को भेजा था। मेहकर में हुसेन खां से बरार का सूबेदार शाजहां भी आ मिला था। रोहणखेड़ की घाटी में निमाड़ी सेना को बहमनी राज्य की सेना ने हरा दिया जिससे नासिर खां तैलंग के किले को भाग गया। ख़लिक ने बुरहानपुर लूट लिया और नासिर खां का महल तोड़-फोड़ कर नष्ट कर दिया। लूट में ७० हाथी और कुछ तोपखाना हाथ लगा। ये उस समय बेशक़ीमती समझे जाते थे। नासिर खां ने ४० वर्ष शासन किया था। (ई. सन् १४३७)।

फ़ारूक़ी वंश ने ईस्वी सन् १३७० से १६०० तक शासन किया है। उनकी वंशावलि बुरहानपुर की जुम्मा मस-जिद में फ़ारसी और संस्कृत में शिलांकित है।‡ यह लेख संवत् १६४६ (ईस्वी सन् १५९०) का है। उसका पुत्र मीरन आदिल खां उर्फ़ मीरनशाह राजा हुआ। वह चार वर्ष ही जीवित रहा। उसके पश्चात् उसका पुत्र मीरन मुबा-रक खां उर्फ़ मुबारकशाह चौखंडी गद्दी पर बैठा। उसने सन् १४५७ ई. तक राज्य किया। परन्तु दोनों के ज़माने में कोई उल्लेख योग्य घटना नहीं हुई। मीरनशाह के मरने पर उसका पुत्र मीरन ग़नी उर्फ़ आदिल खां, जिसको आदिल-शाह आयना या अहसान खां भी कहते थे, राजा हुआ। वह चैतन्य निकला। उसने गोंडवाने के कई राजाओं को अपने अधीन कर लिया और राज्य के भील लुटेरों को दबा दिया। उसने "शाह-भारखण्ड" की उपाधि धारण की थी और गुजरात के सुलतान को "पेशकश" देना बन्द कर दिया था; जिससे गुजरात के सुलतान ने चढ़ाई करदी। तब उसने असीरगढ़ किले का आश्रय लिया था। अन्त में उसको गुजरात वालों की शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। आदिल-शाह सन् १५०३ ईस्वी में मर गया तब उसका भाई दाऊद खां गद्दीपर बैठा। इसने अहमदनगर के राजा पर चढ़ाई कर दी, परन्तु असीरगढ़ को लौटना पड़ा और मालवा के सुलतान से सहायता मांगनी पड़ी, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे मांडू के राजा का स्वामित्व स्वीकार करना पड़ा। दाऊद खां ई. सन् १५१० में मर गया। वह बुरहानपुर में दफ़नाया गया। उसके पूर्व उसके सभी पुरखे तालनेर में दफ़न किये गये थे। उसका पुत्र ग़ज़नी खां गद्दी पर दो ही दिन बैठ पाया कि उसको विष दे दिया गया। इस प्रकार मीरन शाह की शाखा में अब कोई वारिस न रहा।

तब मीरनशाह के भाई क़ैसर खां का पौत्र आदिल खां उर्फ़ आदिल शाह आज़िमे हुमायू राजा हुआ। आलम खां के एक सम्बन्धी ने झगड़ा उठाया-परन्तु वह असफल रहा। इस आदिल शाह ने १० वर्ष तक राज्य किया। उपरान्त उसका पुत्र मीरन मुहम्मद खां गद्दी पर बैठा। (ई. सन् १५२०—१५३५) गुजरात का सुलतान बहादुर-शाह उसका मामा था। उसने मामा की सहायता से मांडू जीता था। उसका मामा निःसंतान मर गया था—इसलिये गुजरात की गद्दी इसे मिलने वाली थी—किन्तु पहुंचने के पूर्व ही वह रास्ते में मर गया। तब मीरन मुबारक शाह खानदेश का राजा हुआ। उसने शाह की पदवी धारण की थी। किन्तु उसे गुजरात का राज्य नहीं मिला, क्योंकि वहां के अमीरों ने बहादुरशाह के भतीजे को अपना राजा बना लिया था। मुबारकशाह ने सन् १५६६ ईस्वी तक राज किया था। सन् १५६१ ई. में मालवा के सुलतान बाजबहादुर ने मुग़लों द्वारा राज्यच्युत होने पर बुरहानपुर का आश्रय लिया। तब मुग़लों ने बुरहानपुर को आ घेरा और लूट लिया, परन्तु जब मुग़ल फ़ौज घर को लौटी तब मालवा, खानदेश और बरार के मुसलमानों ने मिल कर उसे नर्मदा के किनारे घेर कर काट डाला। परन्तु फ़ारूक़ी वंश के पतन का आरंभ यहीं से शुरू होगया।

मुबारकशाह के मरने पर उसका पुत्र मीरन मुहम्मद खां गद्दी पर बैठा। उसने गुजरात की गद्दी पाने का यत्न किया, किन्तु उस प्रयास में उसको काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा। उल्टे खानदेश पर चढ़ाई हुई और सारा मुल्क

‡ इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ६, पृ. ३०६, जिसमें संस्कृत वंशावलि भी अंकित है—अन्त में लिखा है—
"स्वस्ति श्री संवत् १६४६ वर्षे शाके १५११ विरोधि संवत्सरे पौषमासे शुक्लपक्षे १० घटी महेकादश्यां शुभघटी ४२ योगे वाणिज्यकरणेऽस्मिन दिन रात्रि घटि ११ समये कन्यालग्न श्री मुबारक शाह सुत श्री: एदलशाह राज्ञी मसीतिरियं निर्मिता स्वधर्मपालनार्थम्।"

लूटा गया। शीघ्र ही अहमदनगर वालों ने आक्रमण कर दिया और बुरहानपुर को घेर लिया। तब मीरन मुहम्मद असीरगढ़ में जा छिपा। वह किला भी घेरा गया। तब उसने ४ लाख रुपये देकर अपनी मुक्ति करा ली। मीरन मुहम्मद सन् १५७६ में मर गया। तब उसका भाई रजाअली खां उर्फ़ आदिलशाह गद्दी पर बैठा। इसी ने बुरहानपुर की जुम्मा मसजिद बनवाई थी। असीर की एक तोप पर उसका नाम अंकित है, जो अब लण्डन के बाग में रखी हुई है। रजा खां ने सम्राट् अकबर की अधीनता मान ली और शाह की पदवी निकाल डाली। वह दक्षिण की चढ़ाइयों में उनकी सहायता करने लगा। उसकी मृत्यु सन् १५८६ में हुई। तब उसका लड़का खिज्र खां उर्फ़ बहादुरशाह गद्दी पर बैठा, जो फ़ारुकी वंश का अंतिम राजा था। उसकी मृत्यु सन् १६०० ईस्वी में हुई। इसप्रकार मलिक खां के वंशधरों की राज्य लीला २३० वर्षों में समाप्त हो गयी और उनका राज्य मुगलों के साथ में चला गया।

फारुकी शासन—फ़ारुकी वंश के शासकों ने बुरहानपुर में कई सुन्दर तथा भव्य इमारतें बनवायीं। उनकी बनवायी हुई बहुत सी बावड़ियां, मकबरे, मसजिदें और महल अब भी विद्यमान हैं। जिनकी कला अध्ययन की वस्तु है। फ़ारुकी वंश के मुसलमानों ने बुरहानपुर की खासी उन्नति की। यह नगर रुई, रेशम एवं ज़री के कामों के लिये प्रसिद्ध था। अबुल फ़ज़ल के अनुसार—"निमाड़ की अधिकतर प्रजा कुरमी, गोंड़ और भील जाति की है और यहां के जंगलों में हाथी पाये जाते हैं। यह प्रदेश वस्त्र व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध है।" मुसलमानी युग में यहां कई मुसलमान और हिन्दू सन्तजन हुए, जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को भाई के समान-प्रेमपूर्ण व्यवहार करने का उपदेश दिया है। बुरहानपुर के औलिया हजरत शाह बुखारी सूफी संत थे, जिन्होंने जनता में भगवान के प्रेम और आराधना के तत्त्व का प्रचार कर के दोनों जातियों के बीच का भेदभाव दूर करने का आजीवन प्रयास किया था। उनकी क़ब्र को आज भी हिन्दू मुसलमान पूजते हैं।

फ़ारुकी वंश के शासनकर्त्ताओं ने हिन्दुओं के प्रति उदार भाव रखा था तथा पुराने राजपूतों को भी पनपने दिया था। उनके पास धार्मिक भेदभाव न था–शिया होने के कारण वे सहिष्णु भी थे। उस वंश की वंशावलि जिसको आदिलशाह की बेगम ने अंकित करवाया था—उसमें फ़ारसी के साथ संस्कृत भाषा को उचित स्थान दिया गया है। अंतिम बहादुर खां ने बहादुरपुर बसाया था, जहां दूला रहमानशाह की दरगाह है। दूला साहब एक साधु पुरुष थे। उन्होंने हिन्दू- मुसलमानों को एक सरल मार्ग बताया—जहां ईर्ष्या और द्वेष की बू-बास तक न थी। इस प्रेम मार्ग के अनुयायी कालान्तर में "पीरजादा" कहलाने लगे। दूला साहब विष्णु के दसवें अवतार को मान्यता देते थे और उस "कलंकी अवतार" को "निष्कलंकी" कहते थे। उनके रचे हुए ग्रंथ में दोनों धर्मों की अच्छी बातें संग्रहीत हैं। इस सम्प्रदाय के लोग अपनी पुरातन परम्परा को भी मानते थे। जाति और धर्म में रहते हुए भी वे पीरजादा सम्प्रदाय में सम्मिलित किये जाते थे। खानदेश के कुरमियों और गूजरों में उस पंथ का विशेष प्रचार था।

सन् १५०० ईस्वी के लगभग निमाड़ में सिंगाजी नाम के एक प्रसिद्ध संत होगये हैं। ये जाति के अहीर थे। आदिलशाह फ़ारुकी के शासन-समय में सारे निमाड़ में इनकी मनौती होती थी। यहां तक कि राजवंश के लोग उनके दर्शनार्थ उनके आसन पर पहुंचते थे। सिंगाजी जंगलों में गाय चराते हुए भगवान के गीत गा-गा कर मस्ती के साथ रहते थे। एक बेर कुछ चोरों ने उन के जानवर चुरा लिये थे—जिसका परिणाम यह हुआ था कि वे चोर अंधे होगये थे। तब चोर अपने कृत्य पर पछताते हुए उनके पास गये और उन्होंने उनसे क्षमा मांगी—जिससे उनकी दृष्टि फिर से लौट आयी। उस गोप ने जीवन की उस निचाई से अनुभूति की ऊंचाई के जिस उन्नताकाश में प्रवेश पाया, वह अलौकिक ही है। सिंगाजी जीवन के महान् तत्त्वों के द्रष्टा और अनुभूतियों के माधुर्य से पूर्ण अनेक अटपटे सरल गीतों के रचयिता थे—जिनको आज भी ग्रामीण जन गा-गा-कर संसार तापों से बचने का प्रयास करते हैं। आज चार सदियां बीत गयीं, किन्तु लोग उन्हें अब तक नहीं भूले हैं। सिंगाजी की मृत्यु सन् १५६० ईस्वी में हुई थी। लोग उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करने के हेतु कुंवार मास में सिंगाजी पहुंचते हैं और उनका प्रिय नैवेद्य गुड़ चढ़ाते हैं। जहां सिंगाजी रहते थे—उस गांव का नाम भी वही है। देहात के लोग उनके गीत गा-गा-कर झूमते हुए यात्रा को सफल करते हैं।

सिंगाजी के शिष्य खेमदास भी प्रसिद्ध थे। सिंगाजी के समय में हुशंगाबाद जिले में भौलत-बाबा नाम के एक और प्रसिद्ध संत हो गये हैं-जो गोप जाति के ही थे। लोग कहते हैं कि वे सर्प का विष दूर करने में सिद्धहस्त थे। दूर-दूर से सर्प दंश से ग्रस्त लोग उनके आश्रम में पहुंचते थे। इसके अतिरिक्त उनकी मनौती से अन्य बाधाएं दूर होती थीं।

बुरहानपुर के अमीरों ने शान-शौकत से जीवन बिताया था। उनके समय में दूर-दूर से यहां आकर कलाकार बसे थे। विलासी साधन जुटाने में इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। जहां अमीर थे वहां सैकड़ों गुलाम भी थे। दास बना लेना उस युग में आसान था। यहां तक कि महाजन लोग अपने कर्जदार को गुलाम बना कर बेच देते थे। यहां की प्रजा औसत दर्जे की ग़रीब थी—मानों ईश्वर ने उनको उसी तरह जीने के लिये भेजा हो। फिर भी यहां की किसानी श्रेष्ठ थी। बुरहानपुर ने वस्त्र व्यवसाय में खूब तरक्की की थी। उस समय में यहां का कपड़ा विदेशों तक अच्छी तादाद में जाता था। बुरहानपुर से बाहर जाने वाला माल सरलता से खंभात, सूरत और भड़ौच पहुंचाया जाता था। यहां से बाहर जाने वाले पदार्थ सूती कपड़ा, नील, मसाला और अफ़ीम थी। उसी तरह से विदेश से आने वाले पदार्थ ग़लीचे, कच्चा रेशम, घोड़े, धातुओं की वस्तुएं और क़ीमती पत्थर थे। सन् १६२० ईस्वी में सूरत का प्रमुख सौदागर वीरजी बोहरा था—जो संसार में सबसे धनिक व्यापारी माना जाता था, उसकी कोठी बुरहानपुर में भी थी। तोपें और बन्दूक बनाने वाले यहां के कारीगर भी प्रसिद्ध थे।

बुरहानपुर में मुगल शासन—बहादुरशाह् अपने बाप के समान दूरदर्शी न था। उसने सम्राट् अकबर से वैर कर लिया और अपनी रक्षा के लिये असीरगढ़ में ऐसा प्रबंध किया कि उसमें १० वर्ष तक घिरे रहने पर भी बाहर से किसी वस्तु के लाने की आवश्यकता न पड़े। सम्राट् अकबर ने स्वयं बुरहानपुर पर आक्रमण कर के उसे जीत लिया और असीरगढ़ को घेर लिया। किला ऐसा अटूट था कि उसे घेरे रहने से क्या होता था? उसमें सुरंग भी न लगाई जा सकती थी। अक़बर ने किले को लेने का भरसक प्रयास किया—पर सफल न हो सका। उसने भी किला पाने का निश्चय किया। उसने किले के रास्ते बंद करवा दिये और बुरहानपुर में रहने लगा। असीरगढ़ पर दिन-रात तोपों की मार आरम्भ हो गयी—यह क्रम एक मास तक बराबर चलता रहा। तब बहादुरशाह को सुलह् करने की सूझी। उसने अपनी मां और पुत्र को अक़बर के पास इसी अभिप्राय से भेजा। परन्तु अक़बर ने साफ़ कह दिया कि स्वयं बहादुर-शाह आवे। उसके लिये वह राज़ी न था। इधर अक़बर की तोपें बराबर अपना कार्य करती रहीं और तीन मास बीत गये। इसी बीच में यह अफ़वाह् फैली कि अक़बर की सेना ने अहमदनगर ले लिया—जिससे बहादुरशाह का उत्साह घटने लगा। उधर अकबर का पुत्र सलीम पिता से बाग़ी होगया। इसलिये अब दोनों निपटारा करने के लिए इच्छुक थे।

ख़ानदेश के नवाबों की परम्परा के अनुसार असीरगढ़ में राजकुल के सम्बन्धियों के सात लड़के काम पड़ने पर गद्दी पर बैठने के लिये तैयार रखे जाते थे। उनको किले के बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। केवल वही बाहर जा सकता था-जिसको राजगद्दी मिलती थी। बहादुरशाह को भी इस प्रकार अपना समय इस किले में बिताना पड़ा था। अक़बरी मोर्चे के समय असीरगढ़ का किलेदार हब्शी था। वह नमकहलाल मनुष्य था और वह २ लाख मुगल सेना से लड़ रहा था। उसने ऐसा व्यूह रचा था कि तोपों की मार से कोई असर नहीं हुआ था। तब अक़बर ने छल कपट करने का निश्चय किया। उसने बहादुरशाह् को किले के बाहर आकर भेंट करने का निमंत्रण दिया और सुरक्षित लौटा देने के लिये सिरे पादशाह की क़सम खाई। बहादुरशाह् ने विश्वास कर लिया। वह किले के बाहर आगया। उसने गले में रुमाल डाल कर नम्रतापूर्वक सम्राट् को तीन बार सलाम किया। किन्तु एक मुगल सरदार ने पीछे से पकड़ कर उसे ज़मीन पर दे मारा और कहा कि सिजदा करो। इस उद्दंडता पर अक़बर ने ऊपर से नाराज़ी दिखला कर बहा-दुरशाह् से कहा कि—'तुम किलेदारों को इसी समय लिख दो कि किला हमको सौंप दें।' बहादुरशाह ने यह स्वीकार न किया और विदा मांगी—पर वह लौट न सका। अक़बर ने शपथ की कुछ परवाह न की।

किलेदार ने जब सुना तब उसने अपने पुत्र मुक़र्रिब खां को प्रण-भंग का विरोध करने के लिये भेजा। अकबर ने पूछा—"क्या तुम्हारा पिता किला सौंपने को तैयार है ? उसने कहा"—बादशाह सलामत ! सौंपने की बात तो दूर रही, मेरा पिता आप से बात तक करने के लिये राज़ी न होगा। यदि आप सुलतान को न छोड़ेंगे तो उनकी जगह के लिये ७ शाहज़ादे वर्तमान हैं। कुछ भी हो, किला आपको नहीं सौंपा जायगा।" इस उत्तर से सम्राट् क्रुद्ध हो गया और उसने उस दूत को फ़ौरन क़त्ल करवा दिया। तब किलेदार ने यह संदेश भिजवाया कि "मुझे ऐसे बेईमान सम्राट् का मुंह न देखना पड़े।" फिर रुमाल हाथ में लेकर वह किले के सैनिकों से बोला—"यदि आप लोग ईमानदार बने रहें—तो कोई ताक़त नहीं है कि हमें नीचा दिखावे। मेरी जिन्दगी तो हो चुकी पर मैं बेईमान सम्राट् का मुंह नहीं देखूंगा।" इतना कह कर उसने अपने रुमाल को गांठ लगा कर गले में डाल लिया और फंदा खींच कर प्राण दे दिये। इसके बाद भी किला अकबर को नहीं मिला और उसने रिश्वत से काम लेने का निश्चय किया। उसने किले के बड़े-बड़े सरदारों को सोने-चांदी से पाट दिया। उन्होंने असीरगढ़ के ७ शाहज़ादों में से किसी को भी गद्दी पर बैठने न दिया और अकबर को किला सौंप देने का प्रबंध किया। इस तरह ११ मास घिरे रहने के बाद १७ जनवरी सन् १६०१ ईस्वी में असीरगढ़ अकबर के हवाले किया गया। बहादुरशाह ग्वालियर के किले में और सातों शाहज़ादे अन्य किलों में क़ैद रखने के लिये भेज दिये गये। इस तरह बुरहानपुर पर मुग़लों का आधिपत्य होगया।

तापी और पूर्णा की कछार में मुगल शासन

***इमादशाही वंश**—तापी और पूर्णा नदियों की कछारी भूमि में (जो अच्छी उपजाऊ है) बहमनी राज्य का शासन सन् १४८२ तक रहा। सुलतान मुहम्मदशाह का निकम्मा पुत्र महमूदशाह था—जिसके शासन में बरार का सूबेदार (तरफ़दार) फ़तहउल्ला इमादुलमुल्क स्वतंत्र हो गया था। बरार में उस इमादशाही वंश का शासन सन् १५७४ तक था। फ़तहउल्ला—मुसलमान होने के पूर्व विजयानगरम् का निवासी जाति का कन्नड़ ब्राह्मण था। एक साधारण सिपाही से वह राज्यपाल के पद तक पहुंचा था और केन्द्रीय शासन की कमज़ोरी पाकर वह स्वतंत्र हो गया था। बहमनी राज्य को लक़वा मार गया था। फ़तहउल्ला ने अचलपुर को राजधानी बनाया। उसका पुत्र अलाउद्दीन इमादशाह आदिलशाही सुलतान यूसुफ़ का दामाद और बेगम खदीजा का पति था। वह प्रायः गाविलगढ़ में ही रहता था—क्योंकि उसने जीवन पर्यन्त अहमदनगर के सुलतान से संघर्ष किया था। फिर भी गुजरात तथा खानदेश के सुलतानों के सहयोग पाने के कारण उसकी राजकीय स्थिति टिकी रही। जिस भांति इमादशाह स्वतंत्र होगया था—उसी भांति माहूर में तरफ़दार खुदावन्द खां भी स्वतंत्र हो गया था। खुदावन्द के मरते ही अलाउद्दीन ने माहूर राज्य को हड़पने का प्रयास किया, किन्तु प्रयास असफल रहा। अलाउद्दीन का उत्तराधिकारी दरिया इमादशाह (सन् १५२७—१५७२ ईस्वी) था, जिसने दर्यापुरनगर बसाया था। बहमनी राज्य पांच टुकड़ों में बंट गया था और वे पांचों आपस में लड़ा करते थे—जिसके कारण एक की भी हालत पुख्ता न थी। पांचों खोखले से होते जा रहे थे। उनके आपसी संघर्षों की आंच प्रजा को भी सहनी पड़ी। दरिया इमादशाह की राजकीय हालत नाज़ुक थी—फिर भी राज्य को आंच न लगी। दरिया का उत्तराधिकारी बुरहान इमदादशाह को उस कमज़ोरी का

---

* मध्यप्रान्त-मरीचिका, पृष्ठ ६२।

विदर्भ के यादवकालीन मन्दिर (हेमादपन्ती) निम्न स्थानों में पाये जाते हैं :—
लासुर का आनंदेश्वर देवालय (जिला अमरावती), फोफली और पुसद में (अकोला जिला), केलापुर, दुधगांव, जवळगांव, कळमनेर, कुऱ्हाड़, लाख, लारखेड़, लोहारा, पवरोट आदि (यवतमाल जिले में) हैं। अमड़ापुर, अंजनी, ब्रम्हपुरी, धोत्रा, लोणार, कोठाली, चिचखेड़, देऊळघाट, चिखली, मिरोली, म्हसाले, साकेगांव, सातगांव, मेहकर, सेंदुरजना, सिंदखेड़ आदि (बुलढ़ाना जिले) के ग्रामों में पाये जाते हैं।

फल मिला। बुरहानशाह के शासन काल में अहमदनगर के सुल्तान मुर्तिजा निजामशाह ने बरार पर हमला कर के गाविलगढ़ के युद्ध में इमादशाही घराने की कमर तोड़ दी। वह और उसका राज्य मिट गया। इस प्रकार इमादशाह वंश ने बरार का शासन ११० वर्षों तक किया। उस समय शासन के केन्द्र अचलपुर और गाविलगढ़ थे। इनके समय स्थानीय लोगों को राजकाज में भाग देने का अच्छा अवसर मिला और विदर्भ के लोगों का अच्छा आर्थिक विकास भी हुआ।

निजामशाही शासन—ईस्वी सन् १५७५ में निजामशाही वंश के चतुर्थ सुल्तान मुर्तिजाशाह ने बरार को अपने राज्य में जोड़ लिया था। मुर्तिजापुर नगर बसाने वाला यही सुल्तान था। उसने विदर्भ का शासन सैयद मुर्तजा सबझरी को सौंपा था। इस प्रकार एक बार फिर से विदर्भ अहमदनगर राज्य के अधीन हो गया। इससे बरारी सरदारों का पतन हो गया। यह वह समय था—जब कि मुग़लों का राज्य नर्मदा के किनारे तक पहुंच चुका था। इस कारण सारे बरार भर में सम्राट् अकबर के आक्रमण की अफ़वाहें फैला करती थीं। मुग़लों से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से सैयद सबझरी ने गाविलगढ़ और नरनाळा किलों की मरम्मत करवायी थी।

निजामशाही शासन की अवस्था शोचनीय थी। अहमदनगर के सरदारों के दो दल थे—एक मुल्की और दूसरे परदेसी। परदेसी का तात्पर्य उत्तर से आकर बसे हुए मुसलमान सरदारों से था। दोनों में स्वभाव एवं आचार-विचारों की भी विभिन्नता थी। राज्य का प्रमुख दीवान सलाबत खां मुल्की सरदारों का नेता था तथा बरार का तरफ़-दार परदेसी सरदारों का मुखिया था। यह तनाव कई दिनों तक चलता रहा और अन्त में दोनों पक्ष संघर्ष के लिये उतारू हो गये। सलाबत खां तो सबझरी से लड़ने के लिये विदर्भ गया था। सलाबत खां ज्यों ही अचलपुर के निकट पहुंचा, सैयद सबझरी बुरहानपुर भाग गया। सलाबत खां ने विदर्भ का प्रबंध अपने नायब को सौंप दिया और आप अहमद-नगर लौट गया। इसी बीच सन् १८५४ ईस्वी में मालवा के मुग़ल सूबेदार मीर अज़ीज खां के साथ सैयद सबझरी ने अचलपुर पर आक्रमण करके वहां के कर्मचारी को भगा दिया और उसी तरह बालापुर के कर्मचारी को। उसका विचार अहमदनगर की ओर बढ़ने का था किन्तु कार्यवश वह वापिस बुरहानपुर लौट गया।

अहमदनगर का सुल्तान मुर्तिजाशाह मारा गया—जिससे सारे राज्य में अशांति फैल गयी। उसका उत्तरा-धिकारी मीर हुसेन भी ७–८ मास में मार डाला गया। ऐसी परिस्थिति में मुर्तिजाशाह का भ्राता बुरहानशाह बुरहानपुर भाग गया। तब बीजापुर की सुल्ताना चांद बीबी* अपने पिता की राजगद्दी की रक्षा करने के हेतु अहमद-नगर पहुंच गयी। उसने बुरहानशाह को वापिस बुलवा कर अहमदनगर की गद्दी पर बिठलाया और वह स्वयं राज की निगरानी करती थी। सन् १५९५ में बुरहानशाह भी मर गया और राज्य के लिये आपसी झगड़े खड़े होगये। ऐसी दशा में दीवान मियां मंजू ने बुरहानशाह के पुत्र इब्राहीम खां को गद्दी पर बिठलाया—पर इसी बीच में अकबर के पुत्र मुराद ने ३० हजार मुग़ल सैनिकों को लेकर अहमदनगर पर आक्रमण कर दिया। उसके साथ खानखाना रहीम एवं बुरहानपुर के रजा अली खां थे।

मुग़ल सेना के पहुंचते ही दीवान मियां मजू दीवानी से अलिप्त हो गया। फिर भी स्वयं चांदबीबी ने सेना का संचालन किया। मुग़ल सेनापति मुराद ने अहमदनगर जीतने का प्रयास किया, परन्तु चांदबीबी के सन्मुख उसने घुटने टेक दिये और अन्त में मुग़लों ने संधि की और इस सन्धि के अनुसार मुग़लों को बरार का सूबा प्राप्त होगया।

---

* चांदबीबी.—(ई. सन् १५४७—१५९९) अहमदनगर के सुल्तान हुसेन निजामशाह की कन्या तथा बीजापुर के अली आदिलशाह की पत्नी थी। पति के साथ वह राजकाज में भाग तो लेती ही थी—पर युद्ध में भी जाती थी। अरबी, फ़ारसी, कन्नड़ और मराठी भाषाओं को अच्छी तरह जानती थी। सन् १५८० में उसका पति मरा था। इसलिये वह अहमदनगर में ही रहने लगी थी। सन् १५९६ ईस्वी में उसने मुग़लों के साथ युद्ध किया था और मुराद को असफल कर लौटाया था। ३ वर्ष के बाद जब मुग़लों ने दुबारा आक्रमण किया—तब वह युद्ध में मारी गयी थी।

सन् १५९६ ईस्वी में बरार की व्यवस्था करने के हेतु जयपुर-कोथली के मार्ग से * बालापुर गया—जो उस समय प्रधान नगर और बरार की उपराजधानी था। मुराद यहां पर कई दिनोंतक रहा था और यहीं पर उसने अपना विवाह खानदेश के सुलतान की कन्या के साथ किया था। उसने यहां पर एक महल और शाहपुर मोहल्ला बसाया था। मुराद के बुरहानपुर लौट जाने पर भी कई दिनों तक सेनापति खानखाना जावना में रहा था।

अहमदनगर की संधि दक्षिण के सुलतानों को पसंद न आयी और उन्होंने विद्रोही आचरण आरम्भ कर दिया। यह ज्ञात होते ही स्वयं अकबर दिल्ली से चल दिया। सन् १५९९ में वह बुरहानपुर पहुँच गया और वहां से अपने पुत्र दानियल को एक बड़ी सेना के साथ अहमदनगर की ओर भेजा। मुगलों ने वहां पहुँच कर नगर को घेर लिया। उधर अहमदनगर की सेना में विद्रोह हो गया और चांदबीबी को उसके सरदार हमीद खां ने राजमहल में मार डाला, जिसके कारण दानियल अपने कार्य में सफल होगया और अहमदनगर के किले पर मुगल झंडा लहराने लगा।

मुगल शासन

सम्राट् अकबर ने बुरहानपुर में रह कर दक्षिणी राज्य के ३ सूबे बनाये—एक सूबा बरार, दूसरा सूबा खानदेश और तीसरा अहमदनगर। इन सूबों का शासन अकबर ने पुत्र दानियाल को सौंपा और आप दिल्ली लौट गया। जाते समय वह असीरगढ़ की भी व्यवस्था कर गया था। अबुल फजल और फरिश्ता के समान इतिहासकारों ने लिखा है कि असीरगढ़ के किले में जानवरों के मरने से रोग फैल गया। बहादुरशाह ने इसे अकबर का जादू समझा और किले की रक्षा का प्रबंध न कर के उसे अकबर के हवाले कर दिया।" † असीरगढ़ में अकबर ने पुत्र दानियल को नियुक्त किया और उसके नाम पर खानदेश का नाम "दानदेश" कर दिया। दानियल को शराब पीने की लत लग गयी और वह सन् १६०५ईस्वी में बुरहानपुर में मर गया। उस समय लुटेरों का बड़ा जोर था। परन्तु मुगलों ने अच्छा प्रबंध किया—जिससे उत्तरीय भारत, गुजरात और दक्षिण के बहुत से लोग यहां आकर बसे। "मुगल शासन में सूबा बुरहानपुर में हण्डिया, माण्डू और बीजागढ़ परगने थे। आइन-अकबरी में लिखा है, कि "मुगल शासन में विदर्भ ‡ १३ सरकारों (परगनों) में विभक्त था :—

(१) गाविलगढ़, (२) पवनार, (३) नरनाला, (४) कळंब, (५) खेरला, (६) वाशिम, (७) माहूर, (८) पाथरी, (९) मेहकर, (१०) बैतूल, (११) माणिकदुर्ग, (१२) रामगढ़ और (१३) पत्थाला।

उस समय विदर्भ का राजस्व पौने दो करोड़ था।"

सन् १६०९ ईस्वी में जहांगीर के शासन काल में शाहजादा परवेज को आसीर, खानदेश और विदर्भ का सूबा शासन के लिये सौंपा गया था। जब वह बुरहानपुर के लिये आगरा से रवाना हुआ था—उस समय उसके साथ में १६३ मनसबदार और ४६ बरकन्दाज थे। जहांगीरनामा में लिखा है कि "बुरहानपुर के बक्षी ने जो आम सम्राट्

---

* बालापुर—मन और ह्मॅस नदियों के संगम पर बसा है। यहां बाला देवी का पुराना मन्दिर है।

† असीरगढ़—किल के पश्चिमी द्वार की चट्टान पर सम्राट् अकबर ने यह अंकित करवाया था—"अल्लाह अकबर जरब आसीर। इस्फ़दारमज इलाही ४५।" १८ अगस्त सन् १६०० ईस्वी में यह राज्य मुगलों के अधीन हुआ था।

‡ विदर्भ की सीमा अबुल फ़ज़ल के समय में इस प्रकार थी :—

"बरार की उत्तरीय सीमा पर हंडिया (नर्मदा), दक्षिण में नांदेड़ (गोदावरी), अन्तर १८० कोस था। पश्चिम में अजंता का पहाड़ और पूर्व में वैरागढ़—जिसका फ़ासला २०० कोस था। लोग बरार को "वरधा तट" कहते थे।"

के लिये भेजे गये थे—उनमें से एक थाम का वज़न ५२ तोले था।" सन् १६१४ ईस्वी में इंग्लैण्ड का एक राजदूत सर टामस रो बुरहानपुर में ठहरा था। उसने शहर का अच्छा वर्णन किया है। उसने परवेज़ को भेंट के साथ अंग्रेज़ी शराब भी दी थी। वहां से वह सम्राट् से मिलने के लिये अजमेर गया था।

परवेज़ के बाद बुरहानपुर में शाहज़ादा खुर्रम (शाहजहां) भेजा गया था। उसका उल्लेख जहांगीरनामा में इस तरह है:—"पौष वदी २ को मैंने खुर्रम को खिल्लत, जड़ाऊ तलवार, और हाथी देकर विदा किया। नूरजहां ने भी एक हाथी दिया था। मैंने यह हुक्म दिया था कि वह दक्षिण को जीत कर २ करोड़ दाम का इलाका खासगी में ले लेवे। यह उसका इनाम होगा। उसके साथ में ६५० मनसबदार, एक हजार अहदी, एक हजार रूमी बन्दूकची, एक हजार तोपची और ३० हजार घुड़सवार थे। साथ में खर्च के लिये २ करोड़ रुपये दिये गये थे।"

खुर्रम ने बुरहानपुर में पहुँच कर विद्रोह को शांत किया था। इसी वर्ष के अन्त में बुरहानपुर का क़ाज़ी नासिर दिल्ली जाकर सम्राट् से मिला था। सम्राट् स्वयं लिखता है कि—"शायद ही कोई पुस्तक हो—जिसे क़ाज़ी नासिर ने न पढ़ा हो—उसकी संगति से कोई अधिक प्रसन्नता नहीं होती—क्योंकि वह विरक्त है। इसी कारण से मैंने उसे नौकरी करने का कष्ट नहीं दिया और ५ हजार की विदायगी दे कर रवाना किया।"

सन् १६२२ ईस्वी में खुर्रम बुरहानपुर में रहा करता था। दिल्ली में नूरजहां ने यह साज़िश कर रखी थी—कि जहांगीर के पश्चात् खुर्रम को राजगद्दी प्राप्त न हो सके। राजमहल के षड्यन्त्रों से विक्षुब्ध हो खुर्रम ने जहांगीर के खिलाफ़ विद्रोह करने का प्रयास किया और चाहता था कि पिता उनके अधिकार को स्पष्ट घोषित करे। पुत्र का विद्रोह सुन सम्राट् जहांगीर ने शाहज़ादा परवेज़ एवं खानखाना को खुर्रम को पकड़ने के लिये भेजा था। खुर्रम बुरहानपुर से भाग कर माहूर चला गया और वहां से तैलंगाना की ओर चल दिया। बरार का सूबेदार दाराब खां खुर्रम के अनुकूल था-इसी कारण परवेज़ ने असद खां मामूरी को बरार का हाकिम बना दिया। चार वर्ष तक खुर्रम इधर-उधर रहा और इसी बीच सन् १६२६ में परवेज़ बुरहानपुर में मर गया। यहां से कई दिनों के बाद उसकी लाश आगरा भेजी गयी थी।

परवेज़ के पहुंचने के पूर्व बुरहानपुर के निकट जहांगीर और खुर्रम का जो युद्ध हुआ था—उसमें खुर्रम पराजित हुआ था। जहांगीरी सेना का नायक रायसी चौहान का वंशज राव रतन था। जीत की खुशी में वह बुरहानपुर का सूबेदार बना दिया गया था। पीछे से वह युद्ध में मारा गया—जिसकी छतरी बुरहानपुर में है।

खुर्रम ने अन्त में पिता से क्षमा मांग ली और दो वर्ष बाद सन् १६२८ में जहांगीर मर गया। तब खुर्रम बादशाह बना जो शाहजहां कहलाता था। पता चलता है, कि जहांगीर के शासन काल में विक्रम संवत् १६८३ माघ बदी ४ मंगलवार (सन् १६२७ ई.) मारवाड़ के राजा गजसिंह के पुत्र जसवन्तसिंह का जन्म बुरहानपुर में हुआ था, क्योंकि गजसिंह यहां सेनापति बन कर आया था।

शाहजहां के शासनकाल में दक्षिण के एक सूबेदार खांजहां लोधी ने विद्रोह खड़ा किया और उसी समय अहमदनगर के फ़तह खां ने विदर्भ के बालाघाट परगने पर अपना अधिकार जमा लिया था। यह समाचार पाते ही शाहजहां स्वयं बुरहानपुर आया और वहां से खांजहां से युद्ध करने के लिये अपनी सेना रवाना की। इस युद्ध में खांजहां मारा गया और दक्षिण का विद्रोह शांत होगया। शाहजहां की सेना बालाघाट परगने से दौलताबाद गयी और उस किले को अपने अधीन किया। बाद में दौलताबाद से वह सेना बुरहानपुर लौट आयी थी।

बुरहानपुर में शाहजहां दो वर्ष तक रहा था और वहीं पर उसका १४वां पुत्र हुआ था। बेगम मुमताज़ महल वहीं पर प्रसव पीड़ा से मरी थी (जून सन् १६३१ ईस्वी)। बेगम को प्रथम जैनाबाद में दफ़नाया गया था, परन्तु जब ताजमहल बन कर तैयार होगया—तो उसकी लाश यहां से आगरा गयी थी।

शाहजहां के समय में समस्त दक्षिण भारत के मुसलमान अमीर मुग़ल राज्य में समाते थे। सन् १६३३ में समस्त अहमदनगर राज्य मुग़लों के कब्ज़े में चला गया था। इस समय मुग़ल सेनापति शाहजादा शुजा था। वह सन् १६३४ ई. में मलकापुर में कई दिनों तक रहा था। शिया होने के कारण दक्षिण के सुल्तान कभी मुग़लों के मित्र न हो सके और उनका अन्तस्थ विरोध बना रहा। शाहजहां के शासन काल में औरंगजेब भी बुरहानपुर में आकर रहा था, उस समय उसकी आयु १८ वर्ष की थी। वह सन् १६३६ ईस्वी से मई १६४४ तक दक्षिण भारत का सूबेदार था—जिसके अन्तर्गत बरार, खानदेश, तैलंगाना और दौलताबाद के सूबे थे। इसी बीच वह पिता से मिलने के लिये बार बार दिल्ली गया था। उसकी अनुपस्थिति में शासन कार्य शाहिस्ता खां करता था। इसके बाद औरंगजेब ने इस पद से त्यागपत्र दे दिया था और वह गुजरात भेजा गया था। ई. सन् १६५२ में दक्षिण भारत की स्थिति बिगड़ गयी थी—इसलिये औरंगजेब फिर बुरहानपुर भेजा गया। उसने वहां पर राजमहल बनवाया था। उसमें वह हीराबाई गायिका के साथ रहता था। हीराबाई बुरहानपुर की सुन्दर गाने वाली थी। उसका नाम औरंगजेब ने "जैनाबाई महल" रखा था। उस समय बुरहानपुर का बना हुआ कलाबत्तू विलायत को जाने लगा था। उसी ज़माने में बुरहानपुर में पानी के लिये मिट्टी के नल लगाये गये थे।

सम्राट् अकबर जागीर-प्रथा का विरोधी था। वह अपने प्रमुख कर्मचारियों को नक़द वेतन देता था। जहांगीर के समय में कुछ नक़द और कुछ ज़मीन में दिया जाता था। शाहजहां के समय में समस्त भूमि ठेके पर दी जाती थी। पता चलता है कि राज्य का ७।१० हिस्सा ठेके पर उठा दिया जाता था और खालसा ज़मीन बहुत कम रह गयी थी। अकबर के समय में उपज का तीसरा हिस्सा लगान के रूप में लिया जाता था। मुग़ल काल में विदर्भ की राजधानी बालापुर थी। सन् १६५८ ईस्वी में औरंगजेब दिल्ली का सम्राट् बना। तब उसने दक्षिण की सूबदारी राजा जयसिंह को सौंपी थी। जयसिंह सन् १६६७ ईस्वी में बुरहानपुर में ही मरा था। जयसिंह की बनवायी हुई एक छत्री आज भी बालापुर में है। जयसिंह के समय में बरार का मुख्य अफ़सर ईरिज खां था। जयसिंह के मरने पर दक्षिण का सूबेदार ग़ाज़ीउद्दीन हुआ—जो प्रसिद्ध निज़ामुल्मुल्क-आसफ़जाह का पिता था। सन् १६७० से मराठों ने लूटना आरंभ किया और कई पटेलों से चौथ लेना शुरू किया। सन् १६८४ में औरंगजेब ने बुरहानपुर में मुकाम किया। इसके बाद ही बरार में निज़ाम वंश का शासन आरंभ हो गया—जिसका विवेचन अन्यत्र किया गया है।

बुन्देलों का शासन

बुन्देलखण्ड में कालिंजर, काल्पी और चंदेरी तुर्क शासन के मुख्य केन्द्र थे। इसी युग में बुन्देलों का उत्कर्ष हुआ। इसके पूर्व गढ़ कुंडार में खंगार जाति का प्रभाव सागर और दमोह जिलों पर था। सन् १५०१ ईस्वी में रुद्रप्रताप ने ओड़छा में बुन्देलों का राज्य स्थापित किया था। उसके १२ पुत्रों में उदयादित्य के पास महोबा की जागीर थी। उदयादित्य की पांचवीं पीढ़ी में कुलनंदन का पुत्र चम्पतराय था। महोबा की जागीर भाई-बेटों में बंटते-बंटते चम्पतराय के पास ३५० रुपये वार्षिक आय की जीविका रह गयी थी। उस समय राजपूतों में यह परम्परा चल पड़ी थी कि—एक ग़रीब राजपूत अपने पुत्र को एक घोड़ा और एक तलवार देकर कहता कि 'बेटा! इसी के सहारे अपनी जीविका का मार्ग खोज लो।' यह स्थिति चंपतराय की थी। १५ आना रोज़ पाने वाले उस वीर ने घोड़े और तलवार के सहारे बुन्देलखण्ड में एक विशाल राज्य की नींव रखी। सम्राट् शाहजहां के शासनकाल में बुन्देलों ने जो विद्रोह किया था, उसमें चम्पतराय का नाम चमक उठा था। मुग़लों ने उसे अपना "मनसबदार" बनाया और कौंच का परगना जागीर में दिया। औरंगजेब ने जब अपने पिता के विरोध में शस्त्र उठाया—तब चम्पतराय उसके साथ था। १५ अप्रैल सन् १६५८ ईस्वी के दिन पिताकी सेना को औरंगजेब ने उज्जैन के समीप धरमत स्थान में बुरी तरह हराया और शाहजादा मुराद को लेकर वह चम्बल पार कर आगे बढ़ा—किन्तु २९ मई को सामूगढ़ में शाहजादा दाराने औरंगजेब को रोका। उस युद्ध में दारा हार गया और औरंगजेब विजयी हुआ—जिसके सहारे उसे दिल्ली का राज्य मिला था।

सामूगढ़ के युद्ध में चम्पतराय की वीरता प्रशंसनीय थी और इसलिये औरंगजेब ने उसकी मनसबदारी बढ़ा दी। किन्तु शीघ्र ही सम्राट् की नीति से समस्त बुन्देलखण्ड विद्रोही बन गया। ओड़छा वालों ने तटस्थता धारण की, किन्तु चम्पतराय ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर दिया। दो वर्षों तक मुगल सेना उसका पीछा करती रही। विन्ध्याचल की घाटियों में चम्पतराय ने चुने हुए घुड़सवारों के बल पर मराठों के समान मुगल सेना को त्रस्त करना आरंभ कर दिया। बुन्देलों ने मुगलों के साथ खुले मैदान में कभी युद्ध नहीं किया। कभी अकस्मात् मौका पाकर मुगल सेना पर आक्रमण कर देना लूट लेना और कभी पहाड़ों पर लापता हो जाना—यही बुन्देलों की प्रारंभिक युद्ध नीति थी। संवत् १७२१ (ई. सन् १६६४) में चम्पतराय अपनी स्त्री के सहित सहरा ग्राम में मुगल सेना द्वारा घिर गया। पास में उस समय अधिक सहयोगी न थे। सहरा के मुगल घेरे से निकल जाना चम्पतराय के लिये असाध्य था। इसी कारण चम्पतराय और रानी लालकुंवरि ने कटारें मार कर प्राण दे दिये—क्योंकि शत्रुओं के द्वारा पकड़ा जाना वीर राजपूतों के लिये प्रशस्त नहीं समझा जाता था।

छत्रसाल*—पिता और माता के मरने के समय १४-१५ वर्ष का बालक छत्रसाल अपने मामा के यहां था। उसने किसी तरह ८ वर्ष बिताये-पर उसके सामने एक ही ध्येय था—"मुगलों से पिता का बदला लेना।" छत्रसाल का जेष्ठ भ्राता अंगदराय आमेर के राजा जयसिंह की सेना में सिपाही था। इसी तरह छत्रसाल भी कुछ दिनों तक सिपाही था। किन्तु इस तरह जीवन बिताना छत्रसाल को नहीं भाया और उन्होंने नौकरी त्याग दी और उसी तरह अंगदराय ने भी। संवत् १७२८ में दोनों भाइयों ने देवलवाड़ा ग्राम में इस कार्य का श्रीगणेश किया। पास में द्रव्य न होने से उन्होंने अपनी माता के जेवर बेच डाले थे और उसी पूंजी के सहारे उन्होंने ३० सवार और ३४७ सिपाही तैयार किये थे। इसी सेना के बल पर २२ वर्ष की अवस्था में छत्रसाल ने—मुगलों का राज्य बुन्देलखण्ड से हटा देने का संकल्प किया। कवि लाल ने भी लिखा है:—

संवत् सत्रैसै अट्ठाइस, लिखे आगरे बीस।
लागत बरस बाइसई, उमड़ चल्यो अवनीश।

बुन्देलखण्ड विन्ध्याचल की पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ है—जिससे बुन्देलों को प्राकृतिक सहायता मिली और वहां के पहाड़ी किलों ने भी उनको बल पहुँचाया। बुन्देलों में जातीयता का प्रादुर्भाव भी धार्मिक क्रान्ति के कारण हुआ। यों तो बुन्देलखण्ड के सर्वसाधारण लोग बहादुर थे-उन्हें केवल एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी, जो उन्हें योग्य मार्ग दिखला कर उनकी शक्तियों के विकास में सहायक बनता। दैवयोग से छत्रसाल उस भूमि का योग्य नेता सिद्ध हुआ और उसने विदेशी शासन देश से हटाया। वास्तव में कठिनाइयां ही मनुष्य को प्रखर बना कर संघर्षमय जीवन का निर्माण करती हैं और उन्हीने छत्रसाल को उद्यमशील बनाया। बुन्देलखण्ड में इस समय सम्राट् औरंगजेब का आतंक छाया हुआ था और बुन्देलखण्ड में छत्रसाल के प्रमुख बिरादरी वाले मुगलों के कृपापात्र थे। इसलिये छत्रसाल ने आरंभ में गृह कंटकों को दूर किया।

आरंभ में छत्रसाल ने औडेरा-ग्राम में अपने समस्त सहयोगियों को एकत्रित किया और वहीं पर भावी कार्यक्रम तैयार किया गया। छत्रसाल उनका नेता और बलदीवान मंत्री बनाये गये। इस तरह भावी युद्धों के लिये सज्जित हो छत्रसाल ने प्रथम युद्ध (संवत् १७२८ में) मुगल संरक्षित धंधेरा सरदार कुंवरसेन से किया। इस युद्ध में कुंवरसेन हार गया और उसने अपनी भतीजी छत्रसाल को व्याह दी। इस रिश्तेदारी से छत्रसाल को बल ही मिला। आरंभ में औरंगजेब ने फिदाई खां को बुन्देलों को दबाने के लिये नियत किया था—पर वह सफल न हो सका। तब रणदुलह ३० हजार सेना के साथ भेजा गया। रणदूलह के सहायक सिरोंज, कौंच, धमोनी और चंदेरी के मुगल सरदार थे।

---

* छत्रसाल की जन्म तिथि इस प्रकार है—संवत् १७०६ (सन् १६५० ईस्वी) जेष्ठ शुक्ल तीज, शुक्रवार, इष्ट-काल ४८ घटी, १७ पल, नक्षत्र मृगशिरा। जन्म लग्न वृश्चिक और जन्मराशि मिथुन।

छत्रसाल ने कभी एक स्थान में केन्द्रित होकर युद्ध नहीं किया। वह चारों दिशाओं में पहाड़ों का सहारा लेता हुआ मुग़ल सेना पर आक्रमण करता रहा और उसकी सफलता की कुंजी यही थी। छत्रसाल ने अनेक लड़ाइयां लड़ीं—जिनमें अनेक वर्ष लगे थे। इन युद्धों का वर्णन लाल कवि ने "छत्रप्रकाश" ग्रंथ में किया है। मध्यप्रदेश का सागर जिला भी उस समय युद्धों का प्रमुख केन्द्र बन गया था।

मध्यप्रदेश की लड़ाइयां—रणदूलह को जेर करता हुआ छत्रसाल अचानक धामोनी† की ओर गया। वहां का अफ़सर ख़ालिक़ खां था—जिसने चंपतराय को धोखा देकर मुग़लों से घिरवा दिया था। धामोनी पर उसने अनेक बार आक्रमण किया और क्रमशः प्रायः सभी जिला अपने अधिकार में कर लिया। सागर के प्रायः सभी ग्रामों में छत्रसाल ने युद्ध किया था, जिसका वर्णन छत्रप्रकाश में भी है। लाल ने एक स्थल पर कहा है :—

त्यों धामोनी में सुनें, ख़ालिक़ जाको नाऊं।
बैठे जोर मवास कै, थानें देहुर गांउ॥

सो जीतन छत्रसाल विचार्यो, गौनो गांव दौर कर मार्यो।
धमौनी में लई लड़ाई, मेड़ा मार पथरिया लाई।

रहे सिवगवां गांव के, निकट पहारन जाय।
धामौनी में जोर दल, ख़ालिक़ पहुंच्यो धाय।

धामोनी तें ख़ालिक़ धाये, डंका आन नजीक बजाये।
उमड़ि चल्यो छत्रसाल बुन्देला, तुरकन के ओड़े बगमेला।

तल दिल में बहँसत अति जागी, मुरकि फौज ख़ालिक़ की भागी।
चलै फौज चन्द्रापुर आर्‌यो, दौर मुलक मैहर को मार्‌यो।

व्हांते फेर रानगिर लाई, ख़ालिक़ चमू तहां चलि आई।
उमड़ि रानगिर में रन कीन्हों, ख़ालिक़ चालमान मैं दीन्हों।

लगे नगारे ऊंट हय, लूट निसान बजार।
ख़ालिक़ बचे बराई जन, मानौ तीस हजार।

तीस सहस ख़ालिक़ जब डांडे, लूटपाट अपने कर छांडे।
छूटे डांड मान के ज्यों ही, उठयो दस्त ख़ालिक़ को त्योंही।

....

धामोनी में धूम मचाई, अब न और की बचै बचायी।
सुनत साह मन में अनखानै, भेजे रणदूलह मरवानै।

उमडयो रण दूलह सजे—तीस हजार तुरंग।
बजे नगारे जूझ के, गाजे मस्त मतंग।

यह बुन्देला टरें न टारे, जीते जूझ बजाय नगारे।
रणदूलह रन तें बिचलाये, व्हांते हनूटूक को आये।

फिर मवास रतनागर मारो, औडेरा में डेरा डार्‌यो।
हलवौरेन हरचोन उचारी, धामोनी में खलबल पारी।

---

† धामोनी—सागर जिले की पुरानी मुग़ल राजधानी थी।

सुनी दिलीप खबर ठिकठाई, सूबा दल को नालिस आई।
रणदूलह डांडे रणजमो, पठये रोस कर रूमी।
फौज जोरि रूमी बढ्यो, बाजे तबल निसान।
छत्रसाल तासों कर्‍यो, बसिया में धनसान ॥ (आदि)

छत्रसाल को धामोनी में अनेकों बार मुग़लों से युद्ध करना पड़ा था। सम्राट् औरंगजेब ने कई बार अपने प्रसिद्ध सरदार भेजे थे—पर वे सभी असफल रहे। जान पड़ता है कि केवल धामोनी में ही छत्रसाल को १० लड़ाइयां लड़नी पड़ी थीं, जिनमें कई वर्ष बीते थे। मुग़ल सेनापति खालिक खां, रणदूलह, रूमी, तहवर खां, शेख अनवर खां, मुतरुद्दीन, बहलोल खां, गैरत खां आदि सरदारों ने इस प्रदेश में छत्रसाल से युद्ध किया था। जान पड़ता है कि अन्तिम सूबेदार गैरत खां से छत्रसाल ने धामोनी छीना था। सागर जिले के अनेकों स्थानों में कई बार छत्रसाल को मुग़लों के साथ लड़ना पड़ा था। मुग़ल अफ़सरों के अतिरिक्त मुग़लों के सहायक छोटे-छोटे राजाओं से भी जूझना पड़ा था। मैहर को जीत कर छत्रसाल ने बांसाकला के दांगी केशवराय को जीता था।‡ बांसा के युद्ध में केशवराय मारा गया था।

सागर जिले के निम्न गांवों में छत्रसाल ने युद्ध किया था—इटावा, खिमलासा, गढ़ाकोटा, धमोनी, रामगढ़, कंजिया, मड़ियादो, रहली, रानगिर, शाहगढ़, बांसाकला आदि। बसिया के युद्ध के बाद ही छत्रसाल की प्रभुता को मुग़लों ने भी मान लिया था। मुग़लों के प्रत्येक थाने को छत्रसाल ने लूटा था। मुग़लों को लूटने से जो द्रव्य मिलता था उसी के सहारे छत्रसाल की सैनिक शक्ति बढ़ती थी। मुग़लों की सेना को लूटने से बुन्देलों को ऊंट, घोड़े, तोप, बन्दूक तथा अन्य युद्धोपयोगी सामान मिल जाता था। इसी तरह मुग़लों का जो सरदार पकड़ा जाता था, उसके छुटकारे के लिये भारी जुर्माना देना पड़ता था। ग्वालियर से जब लतीफ़ भागा था—तब छत्रसाल को वहां १०० घोड़े, ७० ऊंट और १३ तोपें मिली थीं। बुन्देलों का यह संघर्ष कई वर्षों तक चलता रहा और उससे मुग़लों का शासन बुन्देलखण्ड से उठ ही गया। सम्राट् औरंगजेब इस समय दक्षिण में मराठों से संघर्ष करने में लगा हुआ था—इस कारण वह पूरी शक्ति बुन्देलखण्ड में न लगा सका था।

छत्रसाल के सहयोगी—छत्रसाल ने जो शक्ति निर्माण की थी—उसमें सहयोग देने वाले उसके सहयोगी ही प्रमुख थे। जैतपुर वाले गोविन्दराम, कुंवर नारायणदास, सुन्दर पंवार, राममन दौआ, मेघराज पड़िहार, धुरमांगद, बखी, लच्छे रावत, हरवंशजी, भानु भाट, बंबल कहार, फत्ते वैश्य आदि छत्रसाल के प्रमुख सहायक थे—जिन्होंने बुन्देला राज्य स्थापित करने में जीवन अर्पण कर दिया था। आगे चल कर छत्रसाल ने एक विशाल सेना तैयार की—जिसके ७२ प्रमुख सरदार थे। बसिया के युद्ध के बाद ही मुग़लों ने छत्रसाल को राजा होने की मान्यता दी थी। उसके बाद ही छत्रसाल ने कालिंजर का किला छीन कर वहां का किलेदार मांधाता चौबे को बनाया था।

---

‡ दांगी—यह वंश गढ़ नरवर से इस प्रदेश में आया था। गढ़ कुंडार के खंगार इनके सम्बन्धी थे। सागर नगर का बसाने वाला उदयशाह दांगी थी, किन्तु उस वंश का मुख्य स्थान गढ़पहरा था। गढ़पहरा में आज भी उनका एक शीशमहल है—जो गिर पड़ा है। लोग कहते हैं कि गढ़पहरा के एक राजा ने ब्याही स्त्रियों के २२ डोले छीन लिये थे। उनकी संतानों से दांगियों की २२ कुरी हो गयीं। यह राजा अपनी स्त्रियों को दिखा कर चंद्रमा को निशान बना कर तीर मारता था। एक समय दूसरा राजा उस पर चढ़ आया-तब उससे कुछ न बन पड़ा। उस समय एक स्त्री ने कहा—

मारत ते तुम चांदनी, मरी न एकौ भेड़।
घर घर की रांड़ें करीं, अबौं जियत हो केंड़॥

इसी वंश का केशवराय दांगी था।

छत्रसाल की योग्यता—विक्रम संवत् १७३५ (ईस्वी सन् १६७८) के लगभग छत्रसाल ने पन्ना नगर में अपनी राजधानी स्थापित की। छत्रसाल का परिवार प्रायः पन्ना में रहता था और वह स्वयं सेना सहित मऊ में रहता था। विक्रम संवत् १७४४ में योगिराज प्राणनाथ के* आदेशानुसार शास्त्रोक्त पद्धति से पन्ना में महाराज छत्रसाल का राज्याभिषेक संस्कार हुआ था। अनेक युद्धों के बाद छत्रसाल ने यह विशाल राज्य स्थापित किया था। तहवर खां, अनवर खां, सदरुद्दीन, हमीद के समान कसे हुए मुगल सेनापति बुन्देलखण्ड से पराजित होकर दिल्ली लौटे थे। बहलोल खां तो मर ही गया था। मुराद खां, दलेल खां, सैयद अफगन, शाहकुली के समान मुगल वीर बुन्देलखण्ड से पराजित होकर भागे थे। इस प्रकार चम्बल से लेकर यमुना नदियों के मध्य में महाराज छत्रसाल की प्रभुता छायी हुई थी।

छत्रसाल ने एक आदर्शवादी हिन्दू राजा के समान राज किया था। वे मुगल शासन के विरोधी थे, परन्तु

---

* बाबा प्राणनाथ—जन्म संवत् १६७५। जामनगर के निवासी क्षेमजी क्षत्रिय के पुत्र थे। लोग इनको "प्राणनाथ प्रभु" कहते थे। ये मथुरा के देवचंद जी के शिष्य थे। इन्होंने आजीवन हिन्दू-मुसलमानों में एकता स्थापित करने का प्रयास किया था। छत्रसाल ने सदैव प्राणनाथ जी के आदेशों का पालन किया था। प्राणनाथ-संप्रदाय के लोग धामी कहलाते हैं। उनके सिद्धान्तों की पुस्तक "कुल्जम स्वरूप" कहलाती है। यह ग्रंथ पन्ना में प्राणनाथ के समाधि-मन्दिर में रखा हुआ है। धामी मूर्ति-पूजा नहीं करते तथा मांसाहार का निषेध करते हैं। ये लोग वर्णाश्रम को भी नहीं मानते। धामी एक दूसरे के अभिवादन में "परनाम" कहते हैं—इसी कारण से ये लोग "परनामी" भी कहलाते हैं। प्राणनाथ की मृत्यु संवत् १७५१ आषाढ़ वदी तीज शुक्रवार को पन्ना में हुई थी। प्राणनाथ जी "महामति" भी कहलाते थे।

इन्होंने कुलजम स्वरूप ग्रंथ में वेद और कुरान के निर्देश देकर यह सिद्ध किया है कि दोनों में कोई भेद नहीं है। ये मूर्ति-पूजा, जातिभेद और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को समाज से हटाना चाहते थे। इस सम्प्रदाय का केन्द्र पन्ना है, किन्तु गुजरात वालों का मुख्य केन्द्र मंगलपुरी, सूरत है।

लोग कहते हैं कि प्राणनाथ जी ने पन्ना में हीरों का पता खेड़ावाल दुबे, गंगादत्त और रविदत्त को बतलाया था। ये लोग प्राणनाथ के शिष्य थे। गंगादत्त का चढ़ाया हुआ रत्नजटित हीरों का मुकुट प्राणनाथ जी की मूर्ति पर अबतक पन्ना में चढ़ता है। प्राणनाथी अपने को निर्गुणी भी कहते हैं।

प्रणामी पंथ का एक गीत इस प्रकार है :—

खोज थके सब खेल खसम री, मन ही में मन है उरझाना।
होत न काहू गम री ।। टेक ।।

मन ही बांधे मन ही खोले, मन तम मन ही उजास री।
ये खेल है सकल मन का, मन नेहचल मन ही को नास री ।।

मन उपजावे, मन ही पाले, मन को मन ही करे संहार।
पंचतत्त्व इंद्री गुन तीनों, मन निरगुन, मन निराकार ।।

मन ही नीला मन ही पीला, स्याम स्वेत सब मन री।
छोटा बड़ा मन भारी हल्का—मन जड़ मन चेतन री ।।

मन ही मैला मन ही निरमल—मन खारा, तीखा मन मीठा।
ये मन सबन को देखे—मन को किनहु न दीठा ।।

सब मन में कछू—मन में—खाली मन मन ही में ब्रम्ह।
"महामति" मन को सोई देखे—जिन द्रष्टे खुद खसम ।।

इस्लाम धर्म के नहीं। उन्होंने न तो कोई मसजिद तुड़वायी और न मुस्लिम नारियों का अपहरण किया। उनके साथियों में कई मुसलमान भी थे—जिन्होंने बुन्देलों के साथ-साथ अपना खून बहाया था।

प्राणनाथ जी छत्रसाल के मार्गदर्शक थे। दक्षिण में जो स्थान समर्थ रामदास का है—वही स्थान बुन्देलखण्ड में प्राणनाथ का है। दोनों ने एक-एक शक्ति निर्माण की थी। प्राणनाथ बुन्देलखण्ड की आत्मा थे। उस समय के लोग कहते थे—

कृष्ण, मुहम्मद, देवचंद, प्राणनाथ, छत्रसाल।
इन पंचन को जो भजे, दुःख हरे तत्काल॥

छत्रसाल दानी और साहित्य कला के प्रेमी थे। उनके दरबार में कई कवि आश्रय पाते थे। छत्रसाल भी स्वयं कवि थे। इनके यहां लाल कवि (पं. गोरेलाल पुरोहित), अक्षर अनन्य*, नेवाज कवि, पंचम कवि, लालमणि आदि हिन्दी के कवि थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भूषण भी इनके यहां पहुँचे थे। भूषण कवि की रचनाएँ हमें अन्यत्र मिलती हैं।

विक्रमी संवत् १७४७ में छत्रसाल ने अमीर अब्दुल समद से युद्ध किया था। इस युद्ध में मुगल सेना हारी थी। इसके बाद ही भेलसा में अब्दुल समद को हराया था। संवत् १७५० में पन्ना पर आक्रमण करने के लिये सम्राट् औरंगजेब ने एक पठानी सेना भेजी थी। बुन्देलों का अंतिम युद्ध शाहकुली सेनापति के साथ हुआ था। जिसमें भी छत्रसाल विजयी रहा। इसके बाद विक्रम संवत् १७६४ तक छत्रसाल ने शांति के साथ राज किया था। औरंगजेब के मरते ही मुगल साम्राज्य खिसकने लगा। उसके उत्तराधिकारी ने मराठों और बुन्देलों से संधियां कीं—और इस प्रकार वर्षों से चलता हुआ संघर्ष कुछ दिनों के लिये बंद सा हो गया। जिसके कारण छत्रसाल की राजकीय स्थिति दृढ़ होगयी। छत्रसाल ने अपनी जीवितावस्था में अपना राज्य पुत्रों में बांट दिया था। उनके १७ रानियां और लगभग ६६ पुत्र थे, किन्तु बड़ी रानी के हृदयशाह और जगतराज दो ही पुत्र थे—जो कि राज्य के अधिकारी माने जाते थे। महाराज अपने छोटे पुत्र जगतराज के साथ पन्ना में रहते थे—इस कारण ज्येष्ठ पुत्र हृदयशाह ने गढ़ाकोटा † में अपनी राजधानी कायम की थी। उसके राज्य के अन्तर्गत सागर‡, शाहगढ़ ×, गढ़ाकोटा, हटा ∴ और गुना परगने थे। इसी राजा ने सुनार नदी के तट पर हृदयनगर बसवाया था।

अन्तिम काल—ईस्वी सन् १७२६ में सम्राट् मुहम्मदशाह के शासन काल में प्रयाग के सूबेदार मुहम्मदशाह बंगस ने छत्रसाल पर आक्रमण किया था—क्योंकि वह एरछ, कोंच, सेंहुड़ा, मौदहा, सोपरी, और जालौन के परगने अपने अधिकार में चाहता था। इस युद्ध में छत्रसाल और जगतराज मुगल सेना द्वारा हार गये थे—क्योंकि ओड़छा, दतिया + और सेंहुड़ा के राजाओं ने मुगलों का साथ दिया था। ज्येष्ठ पुत्र हृदयशाह चुपचाप गढ़ाकोटा में ही बैठा रहा—

---

* अक्षर अनन्य—मध्यप्रदेश के थे—उन पर छत्रसाल की श्रद्धा थी—इसी कारण वे पन्ना में रहते थे। इनके रचे हुए राजयोग, ध्यानयोग, विवेक दीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश आदि ग्रंथ हैं। वे प्राणनाथ के शिष्य थे।

† गढ़ाकोटा—सागर से २८ मील पूर्व में दमोह मार्ग पर है। यहीं पर रणदूल्लह को बुन्देलों ने हराया था।

‡ सागर—जबलपुर से ११४ मील पर है। यहां का तालाब लाखा बंजारा ने खुदवाया था।

× शाहगढ़—सागर से ४२ मील उत्तर में है। यह गांव चारों ओर पहाड़ों से घिरा हुआ है।

∴ हटा—दमोह नगर से २४ मील उत्तर में है—यह गांव सुनार नदी के किनारे बसा है। कहते हैं कि फ़कीर मंगलशाह की दुआ से गोंडों ने मुसलमानों को यहां से हटाया था; इसी कारण से इस स्थान का नाम हटा रखा गया। दूसरे कहते हैं कि इस गांव का बसाने वाला हटेसिंह था। यहां बुन्देलों का एक किला भी है।

+ बंगस से लड़ने के समय में ओड़छा और दतिया वालों ने यह ताना दिया था :—

क्योंकि वह पिता से रुष्ट हो गया था। जब जगतराज बंगस से लड़ रहा था—तब माता ने हृदयशाह के पास यह कहलवाया था—

बारे ते पाले हते—मोहन दूध पिलाय।
जगत अकेले लड़त हैं, जो दुख सह्यो न जाय॥

इस पर हृदयशाह ने उत्तर दिया था—

गैया बछड़ा ना तजै—बेटा तजै न बाप।
कहा चूक हम से परी—हमें बिसारे आप॥

तब माता ने लिखवाया था—

गाड़ी थाकी मार्ग में, बछड़न करी न पेश।
अब गाड़ी हड़काय दे, धवल धंग हिरदेश॥

इस पर हृदयशाह अपनी सेना को लेकर बंगस से लड़ने के लिये पहुँच गया था।

छत्रसाल की अवस्था ८५ वर्ष की थी और अब पुराना पौरुष जाता रहा था और निकटवर्ती बंधुगण विरोधी बन बैठे थे। ऐसी अवस्था में एक पत्र पूना के पेशवा बाजीराव को अपनी सहायता के लिये छत्रसाल ने भेजा था और कहलवाया था कि—

जो गति भई गजेन्द्र की, सो गति पहुंची आय।
बाजी जात बुन्देल की, राखो बाजीराय॥*

यह पत्र पाते ही पूना से तुरंत बाजीराव पेशवा सेनासहित बुन्देलखण्ड पहुंचा और बंगस पर आक्रमण करके परास्त कर दिया। यह घटना ३० मार्च १७२६ की है। बंगस शिकस्त खाकर लौट गया और ४ अप्रैल को महाराजा छत्रसाल ने पन्ना में विजयोत्सव मनाया। इस प्रसंग पर बाजीराव पेशवा भी उपस्थित था। इसी दरबार में छत्रसाल ने पेशवा को अपना तृतीय पुत्र मान कर राज्य का बंटवारा इस तरह किया था—

(१) हृदयशाह को—पन्ना, मऊ, गढ़ाकोटा, कालिंजर, एरिछ और धमोनी इलाका, जिसकी आय ४२ लाख थी।

(२) जगतराय को—जैतपुर, अजयगढ़, चरखारी, बांदा, सरिला इलाका, जिसकी आय ३६ लाख थी।

(३) बाजीराव पेशवा को—काल्पी, जालौन, गुरसराय, गुना, हटा, सागर, हृदयनगर इलाका, जिसकी आय ३३ लाख थी।

ओड़छा के राजा और दतिया के राई।
अपने मुंह छत्रसाल बने धना बाई॥

उसके उत्तर में छत्रसाल ने कहा था—

सुदामा तन हेरे तब रंक हू ते राव कीन्हों, विदुर तन हेरे तब राजा कियो चेरे तें।
कूबरी तन हेरे तब सुन्दर स्वरूप दीन्हों, द्रौपदी तन हेरे तब चीर बढ़यो टेरे तें।
कहत छत्रसाल प्रहलाद की प्रतिज्ञा राखी, हिरनाकुश मारो नेक नजर के फेरे तें।
ऐसे गुरु, ज्ञानी, अभिमानी भये कहा होत, नामी नर होत गुरुड़गामी के हेरे तें॥

* पेशवा की बखर से पता चलता है कि छत्रसाल ने यह पत्र १०८ दोहों में पेशवा को लिखा था, पर पूरा पत्र आज उपलब्ध नहीं है—केवल यही दोहा मिलता है (जनश्रुति के रूप में)।

इस अवसर पर दरबार के कवियों ने पेशवा की खूब बड़ाई की थी। जुलाई मास तक बाजीराव बुन्देलखण्ड में ही रहा। पन्ना की संधि के अनुसार बुन्देलखण्ड में पेशवा के कर्मचारियों ने आकर अपना शासन जमाया था। (सन् १७३१) कुछ लोग कहते हैं कि छत्रसाल ने पेशवा को मस्तानी † नाम की नर्तकी को भेंट में दिया था, किन्तु कुछ विद्वान् कहते हैं कि हैदराबाद के निजाम ने दिया था। इसके बाद ही ८५ वर्ष की अवस्था में पौष की बदी ३ शुक्रवार संवत् १७८८ (१२ मई सन् १७३१) को महाराजा छत्रसाल की मृत्यु हुई। छत्रसाल का राज्य प्रसिद्ध चंदेल महाराजा कीर्तिवर्मन से बड़ा था। सागर जिले में महाराज छत्रसाल की एक मुद्रा हमारे देखने में आयी थी—जिस पर यह श्लोक अंकित था—

> श्री जगत विदित मुद्रा शासनोजसमुद्रा।
> सज्जनजनानां सुहृदो छत्रसाल नाम ॥

विन्ध्याचल की श्रेणियों के मध्य में वारिप्रपात रम्य पर्वतमाला से सज्जित कच्छपाकृति भूमि बुन्देलखण्ड है—तभी लोग कहते थे—

> इत यमुना, उत नर्मदा, इत चंबल, उत टौंस।
> छत्रसाल सो लड़न की, रही न काहू हौंस ॥

वास्तव में महाराज छत्रसाल अपने समय के प्रतापी राजा थे। बुन्देलखण्ड आज भी उनके नाम से फूला नहीं समाता है। कविवर मुंशी अजमेरी ने कहा है—

> थे चम्पत विख्यात हुए सुत छत्रसाल से।
> शत्रुजनों के लिये सिद्ध जो हुए काल से ॥
> जिन्हें देख कर वीर उपासक कविवर भूषण।
> भूल गये थे शिवा बावनी के आभूषण ॥
> यह स्वतंत्रता सिद्धहेतु कटिबद्ध भूमि है।
> सङ्गरार्थ बुन्देलखण्ड सन्नद्ध भूमि है ॥

हृदयशाह ने पिता की मृत्यु के पश्चात् पन्ना को अपनी राजधानी बनाया। गढ़ाकोटे का इलाका हृदयशाह के हिस्से में पड़ा था। उसके जीते जी कुछ गड़बड़ नहीं हुई। जब वह सन् १७३६ में मर गया, तब उसका जेठा पुत्र सुभागसिंह गद्दी पर बैठा। उसके कई भाई थे, उनमें पृथ्वीसिंह ने अपने मन के अनुसार जागीर न पाकर अपने भाई से विरोध किया था। पृथ्वीसिंह ने मराठों की सहायता से गढ़ाकोटा प्राप्त किया था और वहीं का राजा बन गया था।

छत्रसाल के वंशज (गढ़ाकोटा)—पृथ्वीराज के अधीन शाहगढ़ और गढ़ाकोटा के परगने थे। सन् १७४४ ईस्वी में उसने गढ़ाकोटा को राजधानी बनाया। जिसके तीन पुत्र थे—ज्येष्ठ पुत्र किसनसिंह जू ने थोड़े ही दिन राज्य किया था—पश्चात् मंझला भाई हरिसिंह जू गद्दी पर बैठा। यह धार्मिक वृत्ति का राजा था—जिसने शंकर का मंदिर बनवाया था। संवत् १८४२ में इस राजा का देहान्त काशी में हुआ था। मरने के कुछ दिन पूर्व उसने अपने पुत्र राजमर्दन सिंह जू का राज्याभिषेक कर दिया था।

---

† मस्तानी—बाजीराव और मस्तानी के वंशधर बांदा के नवाब थे। पेशवा ने अपने पुत्र शमशेरबहादुर का (ई. सन् १७३४—१७६१) विवाह १८ अक्तूबर सन् १७५२ में एक कुलीन हिन्दू कन्या के साथ करवाया था। पेशवा ने शमशेरबहादुर का यज्ञोपवीत भी कराना चाहा था—पर पूना के ब्राह्मणों के विरोध करने पर न हो सका। शमशेरबहादुर का पुत्र अली बहादुर था—जो बांदा का नवाब कहलाता था।

राज मर्दनसिंह ने गढ़ाकोटा में एक सुन्दर महल बनवाया था। यहां के राजा सागर के मराठों को चौथ दिया करते थे। सागर के सूबेदार आबा साहब से गढ़ाकोटा वालों से मनमुटाव हो गया—और मर्दनसिंह ने चौथ देना बन्द कर दिया—तब आबासाहब ने गढ़ाकोटा पर आक्रमण कर दिया—उधर राजा भी तैयार था—इसलिए दीवान जालिमसिंह ने सेना लेकर नगर के बाहर मराठों को रोक दिया। इस युद्ध में सागर वालों को हार खाकर लौट जाना पड़ा। तब आबासाहब रघुनाथ राव ने पूना से सहायता मांगी—और वहां से अली बहादुर को भेजा गया—जिसने गढ़ाकोटा-वालों से मिल कर चौथ का मामला निपटा लिया था। यों तो मर्दनसिंहजू गढ़ाकोटा में स्वतंत्रतापूर्वक राज्य करता था, फिर भी पन्ना वालों से उसका सम्बन्ध बना रहा। सन् १८१० ईस्वी के लगभग सागर वालों ने नागपुर के भोंसला रघुजी द्वितीय को गढ़ाकोटा पर आक्रमण करने का आग्रह किया था। इसी कारण रघोजी ने सेना सहित अपने बक्शी को भेजा था। मराठों की इस विशाल सेना ने गढ़ाकोटा को घेर लिया—जिनके पास ४० तोपें थीं। बुन्देलों ने किले के सहारे युद्ध किया था और उसका संचालन स्वयं मर्दनसिंह करता था। मर्दनसिंह ने ग्वालियर के सिंधिया से सहायता मांगी थी—इसलिये भोंसले से लड़ने के लिये उसका यूरोपियन सेनापति कर्नल जान बाप्टिस्ट गढ़ाकोटा पहुंचा था। सिंधिया की सेना पहुंचने के पूर्व ही मर्दनसिंह युद्ध में घायल होकर मर गया, किन्तु उसके अंगरक्षक ने यह बात प्रकट नहीं की और युद्ध जारी रखा। ग्वालियर से सहायता पहुँचने पर भोंसलों की सेना घेरा उठा कर गढ़ाकोटा से चली गयी, पश्चात् गढ़ाकोटा के सरदारों ने अर्जुनसिंह को गद्दी पर बिठलाया (ई. सन् १८११) और रानी मृत राजा की अस्थि लेकर सती हो गयी।

अर्जुनसिंह ने सहायता के उपलक्ष्य में आधा राज्य देने का वादा किया था—किन्तु जब अवसर आया तो उसने एक हिस्से में गढ़ाकोटा और मालथोन के उपजाऊ परगने और दूसरे हिस्से में शाहगढ़ का जंगली इलाका रखा और कहा कि सिंधिया महाराज जो लेना चाहें—सो ले लेवें—मैं तो अपने लिये शाहगढ़ पसंद करता हूं। अर्जुनसिंह ने सोचा था कि ऐसा कहने से सिंधिया समझेगा कि कदाचित् शाहगढ़ परगना बहुत अच्छा है—इसलिये उसके लेने के लिये आग्रह करेगा—जिससे गढ़ाकोटा और मालथोन मेरे हिस्से में आ जायेंगे, परन्तु सिंधिया ने उसकी बात मान्य कर ली। फिर भी सिंधिया ने राजा को नहीं छेड़ा। भाग्यवश सन् १८१८ में सागर का राज्य अंग्रेजों के अधीन चला गया और सन् १८२० ई. में सिंधिया ने प्रबंध के लिये गढ़ाकोटा, मालथोन, देवरी, गौरझामर, नाहरमऊ और राहतगढ़ का इलाका अंग्रेजों को सौंप दिया। १३ मार्च सन् १८२१ ईस्वी में कम्पनी के एजेंट ने राजा अर्जुनसिंह से सुलह की और उस समय संधि द्वारा तय किया गया था कि "गढ़ाकोटा पर अंग्रेजी कंपनी का राज रहेगा और राजा अपनी राजधानी शाहगढ़ में रखे।" अर्जुनसिंह सन् १८४२ ई. में मर गया तब उसका भतीजा बख्तबली गद्दी पर बैठा। हटा तहसील में जटाशंकर का एक किला है—निकटवर्ती नाले में एक छोटा सा शंकर का मन्दिर है—उसमें एक शिलालेख इसी राजा ने शंकर जी की प्रशंसा में अंकित करवाया था। उसके नीचे एक दोहा यों है :—

मानिक शोभ विशाल अति, स्वामि बली शिवभाल।
सेवक शंभुनाथ के—तुम बखतेश दयाल॥

सन् १८५७ के देश की स्वाधीनता के संघर्ष में बख्तबली इस प्रदेश के प्रमुख नेता थे। उन्होंने जब अंग्रेजों के खिलाफ ८ जून को युद्ध की घोषणा की और सागर की ओर हाथी पर सवार हो शाहगढ़ से सेनासहित रवाना हुए तो उनके मंत्री दरयाव कवि ने कहा था—

बख्त को विचार चलो भूपति श्री बख्तबली, धरो न गुमान देख मुच्छन पै ताव आनि।
आके कमबख्तन के मन में न सख्त होहु, बख्त की है बात अंगरेजन पै आज दिन॥
कवि दरयावराव जोर करि विनवत है, कीजिए विरोध जनि कहत है मेरो मन।
एहो महाराज मृगराज हो जरूर पर, आप छेड़िये नहीं फिरंगी इन कुंजरन॥

राजा ने इस सीख को न मान कर स्वाधीनता के युद्ध में भाग लिया—किन्तु अन्त में वह अंग्रेजों द्वारा पकड़ा गया। अंग्रेजों ने उसे राजकीय बंदी बना कर लाहौर भेज दिया और उसकी रियासत सागर और झांसी इलाकों में सम्मिलित कर दी गयी।

सागर की सूबेदारी

आगे बता चुके हैं कि सन् १७३२ में सागर का बहुत सा भाग पेशवाओं के अधिकार में आगया था। छत्रसाल द्वारा पाया हुआ यह नवीन राज्य सिरोंज से लेकर यमुना तक पहुंचता था। जिसका प्रबंध पेशवा ने गोविन्द बल्लाल खेर को सौंपा था—जो "सूबेदार" कहलाता था। सूबेदारों का मुख्य केन्द्र काल्पी में था। गोविन्दराव ने सागर-दमोह का प्रबंध बालाजी गोविंद को सौंपा था। बालाजी की सहायता के लिये रामराव गोविन्द, केशवराव कान्हेर, भीकाजी करकरे और रामचंद्रराव चांदोरकर आदि कर्मचारी भेजे गये थे। आरंभ में सूबेदार का निवास स्थान रानगिर स्थिर किया गया। पीछे से उसने सागर में किला बनवाया और वहीं जाकर रहने लगा। बालाजी पन्त सागर में अधिक दिनों तक न रहा और काल्पी में जाकर रहने लगा तब गोविन्दराव ने सागर का शासन अपने दामाद बिसाजी चांदोरकर को सौंप दिया। सन् १७६० ईस्वी में गोविन्दराव पानीपत के युद्ध में मारा गया—उसके रामचंद्रराव और बालाजीराव दो पुत्र थे। युद्ध में जाने के पूर्व गोविन्दराव ने अपना इलाका दोनों पुत्रों को बांट दिया था। काल्पी और जालौन का प्रबंधक था—रामचन्द्रराव तथा अन्तर्वेद का प्रबंध बालाजीराव करता था। पानीपत के युद्ध से अन्तर्वेद का इलाका पेशवा के साथ से निकल गया—तब से बालाजीराव सागर में ही आ गया था। इधर पूना की राजकीय स्थिति डांवाडोल हो रही थी और उसके साथ उन्हें खेलने का अवसर मिल गया था। संवत् १८३६ में बालाजी का प्रमुख कर्ताधर्ता बिसाजी गोविन्द जबलपुर में था और वहां उसके पास पर्याप्त सेना न थी—इसी बीच में मण्डला के राजा नरहरशाह के सेनापति गंगागिरि ने ७ हजार गोंड सैनिकों को लेकर जबलपुर पर आक्रमण कर दिया—जिसमें बिसाजी मारा गया और अन्य मराठे भाग कर सागर चले गये। इससे गोंडों का उत्साह बढ़ गया और वे लोग तेजगढ़ तक बढ़ गये थे। इस पर गोंडों से लड़ने के लिये बालाजी ने बापू जी नारायण को घुड़सवारों के साथ भेजा। उधर जो मराठी सेना जबलपुर से भाग आयी थी (वह अंताजी खांडेकर के अधीन थी), वह फिर से दमोह में संगठित की गयी—जिसका नेतृत्व इस बार केशवराव चांदोरकर को सौंपा गया था। बापूजी चौरागढ़ पर हमला करने के लिये भेजा गया और चांदोरकर ने तेजगढ़ पर आक्रमण किया था। मराठों के इस आक्रमण से नरहरशाह गंगागिरि के साथ भाग कर चौरागढ़ चला गया। यह समाचार काल्पी में जब बालाजीराव को ज्ञात हुआ तो उसने भी एक सेना पुत्र रघुनाथराव उर्फ़ आबासाहब के साथ रवाना की। आबासाहब मोरो विश्वनाथ को साथ में लेकर सागर से मण्डला गया—उस नगर को लूट कर वह जबलपुर लौट आया और वहां से चौरागढ़ गया—जहां सागर राज्य की सारी सेना एकत्रित हो गयी थी। चौरागढ़ में गोंडी सेना अधिक दिनों तक न लड़ सकी और अन्त में राजा नरहरशाह और गंगागिरि पकड़े गये। बालाजी ने नरहरशाह को क़ैदी बना कर खुरई के किले में रख दिया और गंगागिरि को हाथी के पैर के नीचे दबवा कर मरवा डाला। इस युद्ध से मण्डला का गोंडी राज्य मध्यप्रदेश के मानचित्र से सदा के लिये उठ गया।

बालाजीराव प्राय: काल्पी में रहा करते थे—इसलिये उन्होंने अपने पुत्र आबासाहब को सागर में छोड़ दिया था। उनके साथ में निम्न प्रमुख अफ़सर राजकाज में सहयोग देते थे—लक्ष्मीनारायण भट (दीवान), कृष्णाजी मुजुमदार, रामचंद्र कृष्ण, लक्ष्मण कृष्ण लघाटे, वासुदेव बांकणकर, तुकोबा प्रभु, और केशव भीकाजी। किन्तु इन सब पर नियंत्रण मोरोपन्त का था। मोरोपन्त सूबेदार ही आबा साहब के नाम से राज्य शासन का संचालन करते थे। सन् १७६७ ईस्वी में मोरोपन्त मर गया तब उसका अधिकार उसके पुत्र विश्वासराव को बालाजी राव ने सौंप दिया था। सन् १७९८ में मंडला और जबलपुर जिले पूना के पेशवा ने रघोजी भोंसले (द्वितीय) को दे डाले। धमोनी भी शीघ्र ही भोंसलों को मिल गई। इसके बाद विश्वासराव को शासन का भार सौंप कर आबा साहब काल्पी चला गया।

इस युग में मीर खां पिंडारी ने सागर जिले में कई बार लूटमार की थी। एक बार तो उसने सागर नगर को ही घेर लिया था। सूबेदार विश्वासराव ने अपनी सहायता के लिये भोंसले को बुलवाया था। इस प्रसंग पर भोंसलों की सेना ने सागर की रक्षा की थी—जिसके कारण उनको चौरागढ़ और धमोनी का इलाका सागर वालों ने दे दिया था।

बालाजीराव का एकमात्र पुत्र रघुनाथराव (आबा साहब) और गंगाधरराव का एकमात्र पुत्र गोविन्दराव (नाना साहब) था। बालाजी और गंगाधरराव दोनों भ्राताओं का अन्तकाल थोड़े समय के अन्तर से हुआ था। आबा साहब कभी सागर और कभी काल्पी में रहता था। ये सागर के "सूबेदार" थे—किन्तु स्थानीय लोग उनको "राजा साहब" कहते थे। आबा साहब—रघुनाथराव के समय में सागर में सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि पद्माकर कवि रहते थे। उसने रघुनाथराव की तलवार की यों प्रशंसा की थी—

दाहन तें दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन पै, चिल्लिन तें चौगुनी चलाक चन्द्र चाली तें।
कहै पद्माकर महीप रघुनाथराव, ऐसो समसेर सेर सत्रुन पै घाली तें।
पांच गुनी पब्ब तें पचीस गुनी पावक तें, प्रकट पचास गुनी प्रलय प्रनाली तें।
साठ गुनी सेस तें सहस्र गुनी स्त्रापन तें, लाख गुनी लूक तें करोर गुनी काली तें॥

कहा जाता है कि रघुनाथराव ने इनकी कविता पर प्रसन्न हो, एक बार एक लाख रुपया पुरस्कार दिया था। रघुनाथराव का देहान्त सन् १८०२ ईस्वी में हुआ था। इनके कोई पुत्र न था—इसलिये यह निश्चय किया गया था कि नाना साहब के जो पुत्र होगा—उसे आबा साहब की बड़ी रानी गोद में लें। मृत सूबेदार की दो स्त्रियां रुक्माबाई और राधाबाई थीं। ये रानियां सागर में ही रहती थीं और उनकी ओर से विनायकराव चांदोरकर मुख्तार था। इधर कुछ दिनों के बाद काल्पी में नाना साहब के एक पुत्र हुआ—जब यह समाचार सागर पहुँचा था तब सागर की रानी रुक्माबाई ने नगर में एक विराट जल्सा किया था जिसमें केवल ५ हजार रुपयों की शक्कर ही बांटी गई। बाद में यह बालक शीघ्र ही मर गया। इसलिये दुबारा जो दूसरा पुत्र नाना साहब के हुआ तो उसने गोद देने से इन्कार किया। तब रानियों ने दत्तक विधान के प्रकरण को कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दिया।

सन् १८१८ ईस्वी में पूना का राज्य अंग्रेजों ने हड़प लिया और पेशवा बाजीराव को पेंशनर बना कर कानपुर के निकट बिठूर में पटक दिया। इस समय के निर्णय के अनुसार सागर प्रदेश भी अंग्रेजों ने अपने कब्जे में ले लिया—जो कि पूर्व संधि के विपरीत था। काल्पी के नाना साहब ने अंग्रेजों से एक स्वतंत्र संधि की थी * जिसके अनुसार "ईस्ट इंडिया कम्पनी" ने नाना साहब गोविन्दराव और उनके वारिसों का हक मंजूर किया था। इस सुलह की ८वीं शर्त के अनुसार यह तय हुआ था कि यदि नाना साहब और आबासाहब में कोई झगड़ा हो जावे—तो उसका निर्णय कम्पनी करेगी, किन्तु जब पेशवाई जब्त की गयी तब सागर का इलाका पेशवा का ही है—कह कर यह जब्त कर लिया गया (सन् १८१८ ईस्वी) परन्तु झांसी का राज्य कायम रखा गया।

सागर राज्य अंग्रेजी राज्य में जोड़ लेने पर गवर्नर जनरल ने वहां के शासनकर्ताओं को वार्षिक ढाई लाख पेंशन देने का निर्णय किया था। इन पेंशनों का बंटवारा इस प्रकार किया गया था। † (इस समय रानी रुक्माबाई जीवित थीं)।

रानी रुक्माबाई को वार्षिक	...	९४,००० रुपये
‡ विनायकराव को वार्षिक पेंशन	...	४७,००० ,,
अन्य सरदारों को पेंशन	...	१,०९,०८७ ,,
जोड़	...	२,५०,०८७ ,,

* अचीसन साहब द्वारा लिखित—सुलहनामों का विवरण। (कैप्टन बेली द्वारा सन् १८०५ ई. की सुलह)।

† (सागर १९ जुलाई १८१९ का पत्र) श्री. टी. ए. मडाक साहब, अस्थायी एजेंट, गवर्नर-जनरल, सागर।

‡ सूबेदार विनायकराव का देहान्त, संवत् १८८२ में हुआ था। उनके पुत्र मोरेश्वरराव १० सहस्र रुपये वार्षिक पेंशन पाते थे। ये झांसी के राजा रामचंद्रराव के बहनोई थे।



रुक्मिणी गोरटी । कृष्ण काळा ॥

(भोसलें कालीन चित्र)

संवत् १८६० में रुक्माबाई ने पथरिया के रामचंद्रराव लेर के पुत्र बलवंतराव को दत्तक लिया था—जिसे कम्पनी ने भी मंजूर किया। बलवंतराव जी को जबलपुर में रहने की आज्ञा दी गयी और उनकी पेंशन १० हजार रुपये वार्षिक थी।

नागपुर में मराठा शासन

रघोजीराव भोंसले (प्रथम)—१८ वीं सदी में सतपुड़ा के अरण्यमय मैदान में रघोजी भोंसले* ने नागपुर में मराठों का राज्य स्थापित किया। उस समय तक मध्यप्रदेश पर राजगोंडों का शासन था। वह सातारा के महाराजा शाहू का "सेनासाहब सूबा" था और ई. सन् १७३० में उसे गोंडवाने से चौथ वसूल करने की सनद मिली थी।† प्रारंभ में रघोजी यवतमाल जिले के भाम नामक ग्राम में रहता था। वहीं पर उसने चुने हुए सरदारों की एक घुड़ सेना तैयार की—जिसका सेनापति भास्करराव कोल्हटकर था। सातारा से ही रघोजी चुने हुए कई वीर सरदारों को अपने साथ लाया था और उनके सहयोग से उसने एक विशाल राज्य स्थापित किया था। यों तो मराठे सरदारों की आरम्भिक अवस्था पिंडारों के समान थी—जिसका वर्णन हमने आगे किया है। जो राज्य मराठों के अधीन रहता था—उसकी देखभाल तो वे अच्छी तरह से करते थे; वहां की प्रजा को सभी तरह का सुख पहुंचाने का प्रयास करते थे, किन्तु पड़ोसी राज्यों को जहां पर दूसरे का शासन होता था—जाकर लूटते थे और प्रजा को तब तक त्रस्त करते थे, जबतक कि वहां का राजा चौथ के रूप में धन नहीं देता था। दशहरा होते ही मराठे "मुलुकगिरि" के अपने राज्य से घोड़ों पर चल पड़ते थे और अन्य राज्यों पर आक्रमण कर के धन-संग्रह करते थे। उसी धन के सहारे अपनी राजधानी में वर्षा के घने बादलों और रिमझिम बरसते हुए पानी में आनंद की रातें बिताते थे। रघोजी का चचा कान्होजी भोंसले भाम में रह कर 'मुलुकगिरि' करता था–जिसकी सनद सातारा के महाराजा से मिली हुई थी। कान्होजी का उत्तराधिकारी भतीजा रघोजी बनाया गया—जो कि छत्रपति शाहू का साढू भी था। यह वही समय है—जब कि पूना के पेशवा, बड़ौदा के गायकवाड़, इंदौर के होल्कर और ग्वालियर के सिंधिया—सातारा के छत्रपति की अनुमति से प्रबल राज्य कायम करते हैं। उसी तरह नागपुर में भोंसलों का प्रबल राज्य कायम होता है। ये सभी सरदार शाहू को अपना राजा मानते थे।

नागपुर में भोंसले का प्रवेश—सन् १७३५ ईस्वी में देवगढ़ का गोंड राजा चांद सुलतान नागपुर में मर गया—उसके चार पुत्र थे, उनमें वालीशाह दासीपुत्र था—उसने राजा के ज्येष्ठ पुत्र मीरबहादुर को मरवा दिया और स्वयं राजा बनने का यत्न करने लगा। ऐसी अवस्था में विधवा रानी रतनकुंवर ने बुरहानशाह और अकबरशाह पुत्रों के हित के लिये भाम से रघोजी भोंसले को बुलवाया। उस निमंत्रण के अनुसार रघोजी नागपुर के लिये रवाना हो गया। वालीशाह ने मराठों को पाटनसावंगी में रोकने के लिये गोंडी सेना के साथ सेनापति रघुनाथसिंह को भेजा। नागपुर से पाटन सावंगी पहुंच कर रघोजी ने गोंडों को हराया—तब रघुनाथसिंह भाग कर भंडारा चला गया और वहीं पर पकड़ा गया, परन्तु उसने रघोजी को राजी कर लिया। रामटेक में श्रीराम का दर्शन कर उसने देवगढ़ की ओर प्रस्थान किया—रास्ते में पहाड़ी घाटियों में वालीशाह ने रघोजी को रोकने का यत्न किया। इस संघर्ष में वालीशाह मारा गया और रानी रतनकुंवरि ने देवगढ़ में रघोजी का स्वागत किया। (सन् १७३७ ई.) इस सहायता के उपलक्ष्य में रानी ने रघोजी को १० लाख रुपये दिये और उसकी राय से बुरहानशाह देवगढ़ का राजा घोषित किया गया था। फिर भी रघोजी ने राजा के संरक्षक के बहाने नागपुर में रहने का निश्चय किया—क्योंकि भाम की अपेक्षा

* रघोजी भोंसले—जन्म सन् १६९८। जन्म स्थान—सातारा जिले का पांडववाडी ग्राम, विशेष विवरण—मल्हारराव कृत "राजाराम चरित्र", पृष्ठ ३७-३८।

† ग्रैंट डफ का मराठों का इतिहास, जिल्द १ और श्री सरदेसाई का मराठों का इतिहास (मराठी)।

यहां कई बातों का सुपास था। नागपुर में वह चुपचाप नहीं बैठा रहा—उसने उसे राजधानी का रूप दे दिया—गोंड राजा के नाम पर वर्धा नदी के समीप के कुछ परगने भी अपने अधिकार में कर लिये। गोंडों ने अपना हितचिंतक समझ उसकी आकांक्षा के लिये कोई रुकावट नहीं पैदा की। उसका परिणाम यह हुआ कि बुरहानशाह देवगढ़ का महज़ जागीरदार सा बना दिया था और रघोजी नागपुर का राजा बन गया। इसके बाद उसने सातारा जाकर शाहू से भेंट की और गोंड़वाने से प्राप्त धनराशि में कुछ भेंट कर के उसे संतुष्ट कर दिया था।

*"भोंसलों की बखर" से पता चलता है कि "सन् १७३८ ईस्वी में लखनऊ, मक़सूदाबाद, ढाका, बंगाल, बेतिया, बुन्देलखण्ड, बीदर, प्रयाग और पटना के सूबों से चौथाई वसूल करने का अधिकार महाराजा शाहू ने दिया था। सागर से लौट आने पर रघोजी ने मण्डला के राजा शिवराजशाह के राज्य के ६ गढ़ प्राप्त कर लिये—जो नागपुर प्रदेश से लगे हुए थे।

कर्नाटक का युद्ध—सन् १७४० ईस्वी में रघोजी सातारा में बुलवाया गया क्योंकि उस समय महाराष्ट्र के सभी सरदार कर्नाटक के युद्ध के लिये एकत्रित हुए थे। इस समय समस्त मराठा सेना का सेनापति रघोजी भोंसला बनाया गया था और उसमें पेशवा बाजीराव का भी समर्थन था। इस मुहिम से मराठा राज्य का प्रभाव दक्षिण भारत में विस्तारित हुआ और साथ ही आर्थिक लाभ भी—क्योंकि प्रत्येक युद्ध आर्थिक लाभ के लिये भी होते थे। कर्नाटक के युद्ध के कारण रघोजी की योग्यता समस्त महाराष्ट्र की आंखों के सामने आगयी। इस समय महाराष्ट्र में दो ही राज धुरंधर पुरुष थे—एक रघोजी भोंसला और दूसरा पेशवा बाजीराव। पर दोनों में आपसी स्पर्धा थी, क्योंकि रघोजी मानता था कि दोनों का दर्जा बराबरी का है—क्योंकि दोनों ही छत्रपति के सेवक हैं।

हैहय राज्य का अंत—जिस समय रघोजी—कर्नाटक की ओर गया था—उस समय नागपुर में उसका सेनापति भास्कर पन्त था। उसी समय से भास्करपन्त ने दक्षिण- कोसल—जिसे छत्तीसगढ़ कहते थे—में अपना राज्य जमाने का यत्न किया। रतनपुर से लगा हुआ वैनगंगा के पार रायपुर और रतनपुर के राजाओं का राज्य था—जो लगातार ८०० वर्षों से बराबर शांति के साथ राज करते चले आ रहे थे। किन्तु इस समय वे प्रायः तेजहीन हो चुके थे। उधर बंगाल में भी राज्य पलटने की साजिशें ज़ोर के साथ चल रही थीं। बंगाल के मुग़ल सूबेदार अलीवर्दी खां के विरोधी सरदार मुर्शीदकुली खां का दामाद बाकरअली सहायता पाने के हेतु नागपुर गया था। वह रघोजी से मिलने के लिये कर्नाटक भी पहुँचा था। सन् १७४०-१७४१ ईस्वी में भास्करपन्त १० हज़ार घुड़सवारों को लेकर बंगाल की ओर रवाना हुआ। रास्ते में उसे रायपुर से गुज़रना पड़ा—वहां का राजा था अमरसिंह—जिसने मराठा सेना के प्रति किसी तरह का कोई विरोध प्रकट नहीं किया और न भास्करपन्त ने ही कोई छेड़छाड़ की। इसी तरह मराठों के घुड़सवार जब रतनपुर के समीप पहुँचे–तो वहां के वृद्ध राजा शिवराजसिंह ने किले के द्वार बन्द करवा दिये थे। उस समय राजा की अवस्था ८५ वर्ष की थी और उसका इकलौता पुत्र हाल ही में मरा था। मराठों ने रतनपुर के किले को घेर कर तोपों की मार शुरू कर दी और आसपास के गांवों को लूटना प्रारंभ कर दिया। किले का एक हिस्सा जब गिर पड़ा तब रानी लक्ष्मी ने स्वयं एक बुर्ज पर खड़ी होकर सफ़ेद झंडा फहरा दिया और किले के द्वार खुलवा दिये। रतनपुर नगर को लूट कर–राज्य के खालसा की घोषणा की गयी और वहां का प्रबंध मोहनसिंह को सौंपा गया। रतनपुर लेकर भास्करपन्त ने उड़ीसा की ओर प्रस्थान किया—पर बीच रास्ते से ही वह नागपुर वापिस लौट आया।

‡**बंगाल पर हमले** (सन् १७४२ ईस्वी)—सन् १७३६ ई. में दिल्ली सम्राट् ने अलीवर्दी खां को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सूबेदारी सौंपी थी—जिसका विरोध पुराने सूबेदार के हितैषियों ने किया था—उनमें उड़ीसा का नायब नाज़िम मुर्शीदकुली खां भी था। उसे सन् १७४० ई. में उड़ीसा से भागना पड़ा और मराठों की सहायता पाने का यत्न

* नागपुर भोंसल्यांची बखर (मराठी)।

‡ सर जदुनाथ सरकार द्वारा लिखित—"रघोजी भोंसला।"

करने लगा—जिसमें उसे सफलता तो मिली—पर उसका कोई निजी लाभ न हुआ और मराठों को अंत में उड़ीसा प्राप्त होगया। इसी समय में अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी भी कलकत्ते में बैठ कर बंगाल में राज्य जमाने का कार्यक्रम बना रही थी। भारतीय और पश्चिमी आदर्श के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। पश्चिम के अर्थों में इस देश में राष्ट्रीयता का अभाव था। भारतवासियों को एक दूसरे से लड़ा देना—अंग्रेजों के लिये सरल था।

मिस्टर मालेसन ने ठीक लिखा है—"स्वभाव से ही गैरों पर विश्वास कर लेने और उनकी ईमानदारी का व्यवहार करने की आदत थी।" अंग्रेजों ने भारत में धन और राज के लिये सभी तरह के कार्य किये हैं। वचन देकर मुकर जाना—यह तो कम्पनी के प्रत्येक कर्मचारी की आदत ही पड़ गयी थी। एडमण्ड बर्क ने पार्लिमेन्ट के सामने वारन हेस्टिंग्स के मुकदमे के सिल्सिले में कहा था—"एक भी ऐसी संधि नहीं है—जो अंग्रेजों ने भारत में किसी के साथ की हो और जिसे उन्होंने बाद में न तोड़ा हो।"

सन् १७४२ से भोंसलों के हमले लगातार कुछ वर्षों तक बंगाल में चलते रहे—उनका मूल उद्देश्य था कि बंगाल का नवाब अलीवर्दी खां प्रतिवर्ष चौथ की रकम देता रहे। प्रथम आक्रमण सन् १७४२ में हुआ था जो कि उड़ीसा के मार्ग से न होकर बिहार के मार्ग से हुआ था। उस समय भास्कर पन्त १० हजार घुड़सवार लेकर बंगाल गया था। मराठा शैली के हमले से बंगाली लोग परिचित न थे और उन्हें पता ही न चलता था कि वास्तव में मराठों की सेना कितनी है। मराठे अचानक छापा मार कर गांव को लूट लेते थे और मकानों को जला देते थे—जिसके कारण जोरों की अफ़वाह फैल जाती थी और लोग घबरा उठते थे। बिहार के रास्ते से जब भास्करपन्त बंगाल की सीमा पर पहुँचा—तब वहां का नवाब जयगढ़ में था। उसके हरकारों ने उसे जाकर बताया कि "भास्करपन्त मरहटा ४० हज़ार घुड़सवार लेकर चौथ मांगने आया है।" नवाब सेना सहित जब रानी तालाब पर पहुँचा—तब उसे समाचार मिला था कि भास्करपन्त बर्द्धान जिले में आतंक मचा रहा है। नवाब का पुराना कर्मचारी मीर हबीब (जो मराठों से मिल गया था), मराठों का मार्गदर्शक बन गया था। उसने मराठों से मुर्शिदाबाद पर हमला करने का अनुरोध किया—नगर के समीप जब मराठे पहुँचे तब नगर में अचानक भगदड़ मच गयी। नवाब के भाई के पास पर्याप्त सेना थी—तिस पर भी वह प्रतिकार न करते हुए किले में चला गया था। सारे नगर में मराठे फैल गये और उन्होंने नगर को अच्छी तरह लूट लिया। कहते हैं कि जगत सेठ के यहां भोंसले को ३ करोड़ का माल मिला था। नगर को लूट लाट कर ६ मई की शाम को मराठे नगर छोड़ बाहर चले गये। इसके बाद ही नवाब ने राजधानी में प्रवेश किया था।

जुलाई मास के मध्य में मीर हबीब ने मराठों को साथ में लेकर हुगली पर कब्जा जमाया था जिससे अंग्रेज कम्पनी का कारोबार ठप्प होगया था। मराठों ने किसी मैदान में संगठित हो कर युद्ध नहीं किया—वे अचानक आक्रमण करते, लूटते और घरों को जलाते हुए मीलों राज्य से बाहर भी हो जाते थे तथा उनके छापे प्रायः रात्रि में ही होते थे। दिसंबर तक लूटमार के बाद भास्करपन्त वापिस नागपुर लौट गया था।

सन् १७४३ के मध्य में स्वयं रघोजी भोंसले रामगढ़ के मार्ग से बंगाल पहुँचा था। मराठों के आगमन का सम्वाद पाते ही अलीवर्दी खां ने दिल्ली के सम्राट् से आग्रह किया था कि वह उनकी सहायता करे। इस समय पेशवा बालाजीराव दिल्ली के निकट टिका हुआ था। सम्राट् ने पेशवा से बातचीत करके तय किया कि वह भोंसले की सेना को बंगाल से निकाल बाहर कर दे और जिसके एवज में उसे मालवा प्रदेश दे दिया जावेगा। पेशवा तुरंत सेना लेकर दाऊदनगर, टिकारी, गया, मानपुर, बिहारशरीफ़, मुंगेर और भागलपुर के मार्ग से बंगाल पहुँचा। अमानगंज छावनी से २० मील पर नवाब की ओर से गुलाम मुस्तफ़ा ने पेशवा का स्वागत किया। ३१ मार्च को स्वयं नवाब पेशवा से मिला। पेशवा ने आरंभ में रघोजी को लौट जाने का संदेश दिया था—किन्तु पल्ले में कुछ न आने से वह लड़ने को तैयार हो गया और परिणाम यह हुआ कि पेशवा की सेना ने नागपुर वालों को खदेड़ दिया—तब रघोजी चुपचाप नागपुर लौट गया और वहां से पेशवा की शिकायत करने के लिये सातारा चला गया। ७ जुलाई सन् १७४३

ई. को नवाब से २२ लाख रुपये लेकर पेशवा वापिस लौट गया—किन्तु आश्वासन दे गया कि भविष्य में रघोजी बंगाल पर आक्रमण नहीं करेगा। उत्तर से लौट जाने पर बालाजी पेशवा भी सातारा गया और वहाँ पर भोंसले के साथ पेशवा ने मेल कर लिया। रघोजी के रुख से पेशवा ने प्रसन्नतापूर्वक उसे नर्मदा के उत्तरीय राज्यों से चौथ वसूल करने का अधिकार दिलवा दिया था।

सातारा में पेशवा से मेल-जोल कर के रघोजी नागपुर लौट गया और वहां पहुंचते ही उसने २० हजार घुड़सवारों के साथ भास्करपन्त को बंगाल पर आक्रमण करने के लिये भेज दिया—अबकी बार मराठों की सेना उड़ीसा के मार्ग से बंगाल गयी। बारमल-घाटी को पार कर ज्यों ही मराठे कटक के निकट पहुँचे—त्यों ही हरकारों ने नवाब से सारा समाचार कह सुनाया। अलीवर्दी खां ने पेशवा के पास संदेशा भेजा—किन्तु इस बार उसने मौन धारण कर लिया और दिल्ली सम्राट् भी किसी तरह की सहायता पहुंचाने में असमर्थ था। फिर भी बंगाल के नवाब ने किसी तरह बंगाल की रक्षा करने का प्रबंध किया। भास्कर पन्त ने नवाब से समझौता कर डालने के विषय में बातचीत करने के हेतु सरदार जानकीराम और मुस्तफ़ा खां को भेजा और स्वयं मानकुरा में ठहर गया था। ३१ मार्च सन् १७४४ को दोनों ने सुलह कर लेने का निश्चय किया था। भास्करपन्त कटवा और पलासी होते हुए मानकुरा गया था और वहां पर नवाब भी पहुँच गया था। नवाब ने भास्करपन्त को मार देने का एक षड्यंत्र रचा और मराठे सरदारों को भोज के लिये निमंत्रित किया था। भोज स्थल पर एक विशाल शामियाना खड़ा किया गया था और उसके एक कोने पर नवाब की बैठक थी। भास्कर पन्त २१ मराठे सरदारों के साथ वहां गया था और ज्यों ही वह आसन पर बैठा—त्यों ही पूर्व संकेतानुसार शामियाने की रस्सियां काट दी गयीं और खातिरदारी करने वाले छद्म वेषधारी सैनिकों ने भास्कर पन्त और उसके साथियों को मौत के घाट उतार दिया। भास्कर का सिर काट कर नवाब के सामने पेश किया गया। अपने सरदारों के अमानुषी कृत्य देख कर नवाब नंगे पैर अपने डेरे में पहुंच गया था। भास्कर पन्त के मारे जाने का वृत्तांत ज्यों ही सैनिकों के पास पहुँचा—त्यों ही सेनापति रघोजी गायकवाड़ घबरा कर सैनिकों को लेकर वापिस नागपुर लौट गया।

महाराष्ट्र पुराण *—इसका वर्णन कवि गंगाराम ने बंगला के 'महाराष्ट्र पुराण' में किया है। इस ग्रंथ की रचना का समय पौष १४ शनिवार शके १६७२ बङ्गाब्द ११५८ है। गंगाराम ने ग्रंथारम्भ इस तरह किया है—

राधाकृष्ण नांही भजे पापमति होइया।
रात्रदिन क्रीड़ा करे परस्त्री लोइया।।

उस ग्रंथ में मराठों के अत्याचारों का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। जिसका सारांश यह है—

"छत्रपति शाहू ने बंगाल पर आक्रमण करने के लिये रघोजी को आज्ञा दी थी और उसके अनुसार उसने भास्कर-पन्त को सेना के साथ भेजा था। मराठों की सेना ने हजारों झंडे और नगाड़े बजाते हुए पंचकोट में प्रवेश किया। उस समय नवाब का मुकाम बरद्वान के समीप रानी तलाब पर था। बरगियों (मराठे सैनिकों) ने ग्वालाभुई के मार्ग से बरद्वान को घेर लिया—जिससे नवाब के हरकारे विस्मित से होगये। बरगियों के पास ४० हजार घुड़सवार और जमादार थे उन्होंने नवाब से कहलवाया कि सातारा महाराज की आज्ञा से वे चौथ वसूल करने के लिये आये हैं। नवाब ने मुस्तफ़ा खां से यह सारी जानकारी प्राप्त की थी। भास्कर-पन्त के साथ हीरामन कासी, गंगा जी आंभा, सीमत योसी, बालाजी, शिवाजी, संभाजी केशजी, केसरीसिंह और मोहन-सिंह जमादार थे। वे लोग सैनिकों को लेकर देहात में फैल गये और लूटमार करने लगे तथा बचे हुए १४ जमादारों ने नवाब को घेर लिया था। दो सप्ताह तक घेरा पड़ा रहा—जिससे बरद्वान में रसद मिलना असंभव होगया।

* रायल एशियाटिक सोसायटी (बंगाल) की पत्रिका में 'महाराष्ट्र पुराण' छापा गया था।

चावल, दाल, प्याज, तेल, घी, खांड, नमक आदि वस्तुएँ तेज हो गयीं। एक रुपये में एक सेर चावल मिलता था। तरकारी-भाजी का पता ही न था। गांजा, भांग, तमाखू भी मिलती न थी। साग के एवज में लोग केले की जड़ें खोद कर खाते थे। गरीब और मंगते भूखों मरने लगे। नवाब को भी दिक्कत के साथ खाना मिलता था। लाचार हो नवाब ने युद्ध करने का निश्चय किया। निशान लेकर घोड़े चल पड़े—ढोल और नगाड़ा बजने लगे। बरगियों ने सेना पर 'हर हर महादेव' कहते हुए हमला किया—जिससे नवाब की सेना में भगदड़ मच गयी थी।"

"मुस्तफ़ा खां बरगियों पर पिल पड़ा—जिसको बर्गी न रोक सके। मीर हबीब ने मालिक के साथ विश्वासघात किया और वह बर्गियों से जा मिला। उसने नवाब की छावनी में आग लगा दी और रसद को लूट लिया। कुछ हाथी और घोड़े बर्गियों के हाथ लग गये, किन्तु नवाब तो किसी क़दर कटक पहुँच गया। नवाब का हाथ से निकल जाना भास्कर को अखरा। तब तो बर्गियों ने आसपास के ग्रामों को लूटना और गांव के गांव जलाना आरंभ कर दिया। लोग घबरा उठे और ग्रामीण जन सुरक्षित स्थानों की ओर भागने लगे। बगल में पोथी दाबे पंडित जन भाग रहे थे। हाथ में तराज़ू ले बनिया और सुनार भागने लगे। लोहार, कसेरा, कुम्हार, केवट, डीमर, चूड़िहार, अपना-अपना सामान सिर पर रखे हुए भागने लगे। गोस्वामी, महंत, मठाधीश भी अपने-अपने स्थानों को छोड़ कर भाग रहे थे। बर्गी का नाम सुनते ही कायस्थ और वैद्य भी लापता होगये थे। कुलीन स्त्रियां जिन्होंने कभी हाट नहीं देखा था—वे भी सिर पर सामान रख कर भागती हुई नज़र आती थीं। राजपूत और क्षत्रियगण अपनी तलवार फेंक कर भाग रहे थे। किसान बैलों को हांकते हुए भागे जा रहे थे। शेख, सैयद, पठान भी भगोड़ों का अनुकरण कर रहे थे। रास्ते में भागने वाले जब कहीं मिल जाते—तो यही पूछते थे कि—तुमने बर्गियों को देखा है। वे कहते नहीं—तब भी लोग भाग रहे थे। हम भी (लेखक स्वयं) उसी पथ के पथिक थे। रास्ते में कहीं बर्गी मिल जाते—तो वे उनको लूट लेते थे। बर्गी केवल चांदी-सोना लूटते थे। बल से स्त्रियों से आभूषण छीनते थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के हाथ, नाक, कान काटे गये। कुलीन स्त्रियों के साथ इतना व्यभिचार करते थे कि युवतियां त्राहि-त्राहि करती थीं। एक स्त्री से कई सैनिक व्यभिचार करते थे—बहुतों ने तो प्राण दे दिये थे। ब्राह्मण, वैष्णव, संन्यासी, बच्चे और स्त्रियां मारी गयी थीं। गांव के गांव जलाये जाते थे—जिसमें मठ और मन्दिर भी नहीं बचते थे।"

"निम्नलिखित ग्रामों की भीषण दुर्गति हुई थी—चन्द्रकोना, मेदिनीपुर, दिगनगर, खिरपई, बरद्वान, नीमगाछी, शेरगा, सिमैता, चंडीपुर, श्यामपुर। इस तरह सारा बरद्वान जिला तबाह होगया। मीरखां ने हुगली को बचा लिया था, किन्तु आसपास के सैकड़ों गांव जलकर नष्ट होगये थे।......

"विष्णुपुर को (कवि जहां का निवासी था) गोपालसिंह ने बचा लिया था। हुगली से गंगा पार कर के बर्गी हाजीगंज मुर्शिदाबाद गये थे। वहां का छोटा नवाब हाजी बर्गियों का नाम सुनते ही किले में चला गया था। बर्गियों ने नगर के साहूकारों को लूट लिया और जगतसेठ का खजाना लूट लिया—जहां २॥ करोड़ रुपये की सम्पत्ति थी। बरगियों ने लूट का धन घोड़ों के तोबरों तक में भरा था—जल्दी में जो रुपये बिखर गये थे—दूसरे दिन उन्हे नगर के फकीरों ने चुन लिया था।"

"कटवा में नवाब को मुर्शिदाबाद लूटने का समाचार ज्ञात हुआ था। तब वह तुरन्त राजधानी में पहुंचा था। नवाब ने जगतसेठ के लूटे जाने का दोष हाजी को दिया था। नवाब जब किले में गया तब बर्गी कटवा में थे। गंगा और अजय नदियों में बाढ़ आ जाने से बर्गी आगे न बढ़ सके। कटवा में मुकाम करके भास्करपंत ने बंगाल के जमींदारों से लगान वसूल किया था।"

"मीर हबीब ने पुल बनवा कर गंगा को पार किया था और उसने गांवों को लूटना और जलाना प्रारम्भ किया था। भास्करपन्त ने डाइनहाट में गंगा के तटपर नवरात्र का अनुष्ठान आरंभ किया था।.......

नवाब ने इसी बीच अपने जमादारों को लेकर बर्गियों पर हमला किया। अष्टमी की रात्रि को दुर्गापूजन का कार्य अधूरा छोड़ भास्करपंत को भागना पड़ा था। नवाब ने बर्गियों का सामान भी लूटा था।"

"आश्विन में भास्करपंत बंगाल से भाग गया—किन्तु चैत्र में फिर से पहुंच गया था। बंगाल का चित्र देखकर भगवती पार्वती को महान दुःख हुआ और उसने भैरवी तथा योगिनियों को आज्ञा दी थी कि वे नवाब की सहायता करें। जब भास्कर कटवा में पहुँचा तब नवाब मानकूरा में था। ......वैशाख कृष्ण २ शनिवार को नवाब भास्करपंत से मिला था। थोड़ी देर बाद नवाब वहां से उठकर चला गया। भास्करपन्त भी यह कहकर उठा कि—मैं शाम को वार्त्तालाप के लिये आता हूं। मुस्तफाखां भी उठ गया। ज्यों ही रिकाब में पैर रखकर भास्करपन्त घोड़े पर चढ़ने लगा—त्यों ही किसी ने तलवार से उसका सिर काट दिया। (एक फारसी ग्रंथकार ने मीरजाफर का नाम लिखा है।) बाद में उसके अन्य साथी मारे गये—और नवाब की सेना में आनंद मनाया जाने लगा।"

मोनकूरा मुकामे जदि भास्कर मईल।
मनसूबाबाद उड़ाइया कवि गंगाराम कईल।।

'महाराष्ट्र-पुराण'-अधूरा ग्रंथ ही उपलब्ध है। अस्तु—

भास्करपन्त के मारे जाने पर बंगाल में १५ मास तक शांति रही, किन्तु देश की आर्थिक दशा शोचनीय होगयी थी। सन् १७४४ ईस्वी में बंगाल और उड़ीसा का राजस्व ½ वसूल हुआ था। कृषि की हालत भी बिगड़ गयी और नवाब का फौजी खर्च २ करोड़ पर पहुंच गया था—जिससे वह अपने सैनिकों का वेतन भी समय पर नहीं दे पाता था। भास्कर का मारा जाना सुनते ही रघोजी ने बंगाल पर आक्रमण करने की जोरदार तैयारी की और सन् १७४५ के प्रारंभ राजपुत्र में जानोजी के साथ स्वयं रघोजी बंगाल की ओर गया जिसके साथ में दीवान तुलजाराम भी था। कटक में राजा जानकीराम का पुत्र दुर्लभराम नवाब का किलेदार था। रघोजी ने आक्रमण करके कटक पर कब्जा किया और दुर्लभराम को पकड़ लिया। रघोजी ने मिदनापुर, बरद्वान और हुगली जिलों को फिर से लूट लिया—किन्तु नवाब के साथ प्रत्यक्ष में कोई युद्ध नहीं हुआ—और इसी बीच में रघोजी के पास नागपुर से यह समाचार पहुंचा था कि देवगढ़ के गोंडों ने विद्रोह खड़ा कर दिया है। इसी कारण से लूटलाट कर रघोजी नागपुर चला गया—किन्तु जाते समय कटक की सूबदारी उसने मीर हबीब को सौंप दी थी।

गोंडों के विद्रोह से लाभ—सन् १७४२ ईस्वी में देवगढ़ की राजमाता रत्नकुंवर मर गयी-तब तक बुरहानशाह और अकबरशाह दोनों भाइयों में कोई मनमुटाव नहीं होने पाया-परन्तु माता को मरे पूरे ३ वर्ष न बीते दोनों में झगड़ा खड़ा हो गया। दीवान रघुनाथसिंह को अपने पक्ष में करके अकबर शाह ने बुरहानशाह को नागपुर से खदेड़ बाहर किया तब वह नागपुर चला गया। अकबरशाह जानता था कि उसका भाई रघोजी की सहायता लेकर देवगढ़ अवश्य आवेगा। इसलिये उसने चांदा के राजा नीलकंठशाह को अपनी सहायता के लिये निमंत्रित किया था। रघुनाथसिंह ने गोंडों को एकत्रित करके एक बार मराठों का प्रभुत्व हटाने का प्रयास किया था। इस समय रघोजी बंगाल गया हुआ था और उसे ज्यों ही यह समाचार मिला था त्योंही वह नागपुर लौट आया था। नागपुर से देवगढ़ के लिये उसने अपनी सेना भेजी-जिसने देवगढ़ पहुंचकर रघुनाथसिंह को मार दिया और देवगढ़ को अपने कब्जे में कर लिया। तब अकबरशाह—चांदा भाग गया और वहीं वह मारा भी गया। देवगढ़ राज्य के शासन को रघोजी ने अपने कब्जे में करके बुरहानशाह को पेंशनर बना दिया। बुरहानशाह तबसे नागपुर में रहने लगा और ३ लाख पेंशन दी जाती थी। (सन् १७४९) देवगढ़ का राज्य हड़प करके रघोजी ने चांदा का राज्य भी ले लिया और वहां के राजा नीलकंठ शाह को पेंशन देने लगा। इस प्रकार रघोजी ने दो गोंड राज्यों का अस्तित्व सदा के लिये मिटा दिया और अपने राज्य में उन्हें जोड़ लिया। देवगढ़, चांदा, रायपुर और रतनपुर राज्यों को मिटाकर नागपुर का विशाल राज्य रघोजी ने स्थापित किया और उससे दिन पर दिन भोंसला राज्य उत्कर्ष पर पहुंच रहा था।

अलीवर्दीखां से सुलह—नागपुर की समस्या सुलझाकर ज्यों ही रघोजी मुक्त हुआ—त्यों ही उसने बंगाल का नाम मिटाना चाहा। अलीवर्दीखां इस समय में ७२ वर्ष का बूढ़ा हो गया था। उसके प्रमुख सरदार मुस्तफाखां, शमशेरखां और सरदारखां उसका साथ छोड़ चुके थे फिर भी उसने हिम्मत नहीं छोड़ी थी। १७ मई सन् १७४६ को १८ घंटे घोड़े का सफर करके बूढ़ा नवाब सेनासहित कटक पहुंचा था और वहां से मीर हबीब को खदेड़ दिया। किन्तु नवाब के लौटते ही वह फिर से कटक में आकर जम गया। इसी समय नागपुर से सैन्य सहित रघोजी ने अपने पुत्र साबाजी भोंसले को बंगाल की राजनीति को सफल बनाने के हेतु भेजा। अलीवर्दीखां ने जीवन के कई उतार-चढ़ाव देखे थे–इसलिये उसने हिम्मत नहीं छोड़ी। मीरहबीब, मोहनसिंह और साबाजी भोंसले ने कटक में अपना सैनिक केन्द्र स्थापित किया और उन्होंने उड़ीसा के समस्त जमींदारों से टाकोली या पेशकाश वसूल किया। इस तरह समस्त उड़ीसा प्रदेश नागपुर राज्य में मिला लिया गया था। सन् १७४६ ईस्वी के अन्त में साबाजी नागपुर लौट गया। २ वर्ष बीतने पर अलीवर्दीखां ने भोंसलों के आतंक से छुटकारा पाने के लिये–रघोजी से संधि की बातचीत आरंभ की–उसका एक दूत नागपुर भी गया था। अन्त में भोंसले और नवाब के मध्य में निम्नलिखित शर्तोंपर संधि हुई।

(१) बंगाल–बिहार और उड़ीसा की चौथ १२ लाख रुपये प्रतिवर्ष नवाब दिया करेगा। (२) नवाब उड़ीसा के सूबेदार मीर हबीब को भोंसले का प्रतिनिधि मान्य करे। (३) भोंसला सेना बंगाल राज्य में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगी। (४) सुवर्णरेखा से लगा हुआ उड़ीसा प्रदेश नागपुर राज्य का सूबा होगा।* नवाब ने इस सुलह को मान्य करके रघोजी को २५ लाख रुपये चौथ के रूप में दिये थे। सुलह के बाद कटक में मीर हबीब भोंसले का प्रथम सूबेदार नियुक्त किया गया था। सन् १७५२ ई. में नागपुर से राजकुमार जानोजी चौथ आदि का हिसाब समझने के लिये कटक भेजा गया था। उसने मीर हबीब को सूबेदारी से हटा दिया और वह शीघ्र मराठों के द्वारा मरवा दिया गया। बाद में उड़ीसा की सूबेदारी शिवभट साठे को सौंपी गयी। साठे ने कटक में पहुंचकर जकात और ठेकेदारी के तौर पर लगान वसूली की व्यवस्था की थी—यही व्यवस्था सन् १८०३ ई. तक उड़ीसा में चलती थी।

बरार का दो अमली शासन—सन् १७४९ ई. में छत्रपति राजाराम की गद्दीनशीनी के अवसर रघोजी सातारा गया था। उस अवसर पर सन् १७५० ईस्वी में पेशवा ने रघोजी को बरार में राज्य जमाने की अनुमति दी क्योंकि निजाम पर अंकुश रखना भी पेशवा के लिये हितकारी था। वहां से लौटने पर रघोजी ने वर्धा पार बरार के इलाकों पर अपना प्रभाव जमाना आरंभ किया। यों तो सन् १७३८ ई. में ही नवाब सुजात खां को हरा कर (इस युद्ध में नवाब मारा भी गया था) आकोट इलाका भोंसले ने प्राप्त कर लिया था। सन् १७५० ईस्वी में जब हैदराबाद निजाम सलावत खां था–रघोजी ने बरार के प्रसिद्ध किले गाविलगढ़ और नरनाला प्राप्त कर लिये थे—इससे भोंसला राज्य की जड़ मजबूती से जम गयी थी। इसके अनन्तर स्थान-स्थान पर लगान वसूली के लिये नागपुर राज्य के कर्मचारी नियत किये गये। इस दो अमली शासन का ब्यौरा अन्यत्र दिया गया है।

राज्य का विस्तार†—रघोजी भोंसले प्रथम ने अपने पराक्रम से अपना राज्य पश्चिम में बरार से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक और उत्तरमें नर्मदासे लेकर दक्षिण में गोदावरी तक फैलाया था–जो वर्तमान मध्यप्रदेशसे बड़ा था। उसके राज्य में मराठी, हिन्दी, उड़िया, तेलगु और गोंडी भाषाएँ प्रचलित थीं, किन्तु राज्य की भाषा मराठी और लिपि मोड़ी थी। संस्कृत शास्त्रों का प्रभाव न्याय के कामकाज में होता था। रघोजी केवल वीर सैनिक ही न था बल्कि योग्य शासक भी था। उसने नागपुर में कई इमारतें बनवाई थीं। वह धार्मिक प्रकृति का रामभक्त था और उसने रामटेक के मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया था। उसके चार पुत्र थे—जानोजी, मुधोजी, साबाजी और बिंबाजी। मरने

---

*पेशवाई दफ्तर, अङ्क २०, लेख २७।
पर्शियन कैलेण्डर, जिल्द २, पृष्ठ १२४४—१२४७ (भारत सरकार द्वारा प्रकाशित)।

†मध्यप्रदेश का इतिहास और नागपुर के भोंसले।

के पूर्व उसने अपना राज्य चार पुत्रों में बांट दिया था। जानोजी को नागपुर की गद्दी, मुधो जी को चांदा राज्य, साबाजी को बरार और बिंबाजी को छत्तीसगढ़ देकर भावी कलह का मार्ग रोका था—इसी अवस्था को उसने पेशवा से भी मंजूर करवाया था। भोंसला वंश का यह प्रतापी राजा ५७ वर्ष की अवस्था में १४ फरवरी सन् १७५५ ईस्वी में मर गया—इसकी ८ रानियां थीं—उनमें से ६ सती हुई थी।

रघोजी की योग्यता—नागपुर वंश का रघोजी भोंसला १८ वीं सदी में भारत का एक प्रतापी मराठा राजा गिना जाता था। इसके जीवन का आरम्भ सन् १७२८ ईस्वी से हुआ था। २७ वर्ष की महादशा में उसका जीवन संघर्षमय बीता और उन्हीं युद्धों की बदौलत उसने भोंसलों का एक विशाल राज्य स्थापित किया था। इतिहासकारों ने तभी उसे "रघोजी महान्" कहा है। एक साधारण मराठा कुल में जन्म लेकर घोड़े और भाले के सहारे उसने विशाल राज्य स्थापित किया था। वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता था। पुरातन युग में ही नहीं—वरन् वैज्ञानिक युग में भी—राज्यों की नींव बलिदानों के रक्तों से सिंचित होती है। इतना होने पर भी वह चतुर शासन व्यवस्थापक भी था। मराठा-संघ के निर्माताओं में रघोजी और पेशवा बालाजीराव दो प्रमुख शक्तियां थीं—इसी समय ईस्ट इंडिया कम्पनी का विकास आरंभ हुआ था। रघोजी की सेना में प्रथम श्रेणी के २० हजार घुड़सवार थे—जिनके बदौलत ही उसने यह पद पाया था। उसके यहां हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के योग्य सरदार नौकर थे। उसने नागपुर नगर को एक व्यापारिक केन्द्र भी बनाया था। उसने अपने राज्य में कोष्टियों और जुलाहों को बुलवा कर बसाया था—जिसके कारण यहां का कपड़ा सारे देश में प्रसिद्ध था। युद्धोपयोगी सामान बनाने वाले कारीगर नागपुर में पर्याप्त थे। इसी भांति अन्य औद्योगिक कलाकार भी अन्य प्रदेशों से आकर यहां बसे थे। इसी तरह सहस्त्रों सैनिक, काश्तकार और राज्य कर्मचारी नागपुर में बसे थे। भोंसलों ने सतपुड़ा की श्रेणियों से व्याप्त प्रदेश को, जो गोंडवाना कहलाता था—मराठी मय बनाया है, पर प्रांतीय लोगों के बसने के कारण प्रदेश की गोंडी शकल पूर्ण रूप से बदल गयी और उसका असर सामाजिक व्यवस्था पर भी हुआ था। रघोजी की राज-मुद्रा पर निम्न श्लोक अंकित था :—

> शाहुराजपदां भोजभ्रमरायितचेतसः।
> विबात्मजस्य मुद्रैषा राघवस्य विराजते ॥

जानोजी भोंसले (ईस्वी सन् १७५५–१७७२)

रघोजी भोंसले (प्रथम) के देहावसान पर उसका जेष्ठ पुत्र जानोजी गद्दी पर बैठा। वह और साबाजी भोंसले छोटी रानी के पुत्र थे और बड़ी रानी के मुधोजी और बिंबाजी। इसी कारण से राज-परिवार में कलह निर्माण हो गया। रघोजी स्वयं जानता था और भविष्य के संघर्ष को टालने के हेतु उसने चारों पुत्रों के कार्य का बंटवारा कर दिया था। मराठा-संघ का नेता पेशवा बालाजी इससे परिचित था। परम्परा के अनुसार जब पेशवा की अनुमति के लिये यह प्रकरण उसके सामने उपस्थित हुआ, तब उसने उसी वसीयत पर अपनी मुहर छाप लगा दी, जैसी कि मृत रघोजी मरने के समय कह गया था। पेशवा ने जानोजी को—"सेना साहब सुबा" और मुधोजी को "सेना धुरंधर" की उपाधि देकर दोनों का कार्यक्षेत्र बांट दिया था। फिर भी आपसी तनाव दूर न हो सका। मराठों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी—स्वयं रघोजी की सात विवाहित रानियां थीं। इसी कारण राज परिवारों में कलह उत्पन्न होते थे और उससे राज्य की ताकत घट जाती थी।

सन् १७५६ में पेशवा ने कर्नाटक में कुछ युद्ध किये थे—जिसमें भोंसले बंधुओं ने सक्रिय सहयोग दिया था। जानोजी और मुधोजी स्वयं अपने घुड़सवारों के साथ सावनूर के युद्ध में सम्मिलित थे। यहां से छुटकारा पाने पर दोनों नागपुर वापिस लौट आये थे। इसी समय कटक का सूबेदार शिवभट साठे १२ लाख रुपये पटाने के लिये नागपुर

पहुंचा। मुधोजी ने उस में से आधी रकम पाने की मांग की और जानोजी ने कटुता न निर्माण हो—इस हेतु से ६ लाख रुपये दे दिये थे। सन् १७५६ के अन्त में चान्दा के गोंडों ने उपद्रव मचाया था—जिसके दमन के लिये मुधोजी स्वयं चांदा गया था—क्योंकि वह इलाक़ा उसके हिस्से में दिया गया था। मुधोजी चांदा में कुछ दिन रहा और वहां उसने एक महल बनवाया था।

दो अमली राज्य—सन् १७५७-५८ में हैदराबाद के निज़ाम वंश में भी—सलाबत खां और उसके भाइयों में राज्य के लिये नया संघर्ष खड़ा होगया। पेशवा और भोंसले ने सलाबत जंग से सहयोग किया था। उस समय उसका भाई बरार का सूबेदार था—जो "निज़ामुद्दौला" कहलाता था। भोंसले के अधीन भी आकोट के समीप का इलाक़ा था—जिसका प्रबंधक था—रघोजी करांडे। हैदराबाद वालों ने उसे हटाने का उद्योग भी किया था। निज़ाम अली बुरहानपुर से सेनासहित अकोला पहुंचा और उसे लूट लिया—वहां पर भोंसलों का जो कर्मचारी था—वह आकोट भाग गया था। करांडे ने जलगांव के समीप निज़ाम अली से युद्ध करने की तैयारी की थी—परन्तु अचलपुर के नायब सुलतान खां पन्नी ने बीच में पड़ कर दोनों का अस्थायी समझौता करा दिया—जिसके अनुसार यह तय हुआ था कि "बरार की समस्त आय में से प्रतिशत ५५ निज़ाम लिया करे और बाक़ी ४५ प्रतिशत भोंसलों को दिया जायेगा"। इसी प्रसंग पर अचलपुर के नवाब ने जानोजी भोंसले और निज़ाम अली दोनों की भेंट ३ मार्च सन् १७५८ को वर्धा के तट पर करवायी थी।

नांदगांव का युद्ध—नागपुर के भोंसले पूना के पेशवा को प्रतिवर्ष कुछ रकम दिया करते थे—जब सन् १७५८ ईस्वी में जानोजी और मुधोजी पूना गये थे—तब वहां नाना फड़नवीस ने भोंसलों से २० लाख बक़ाया रकम मांग की थी—जिसको भोंसलों ने मान्य किया था, परन्तु आर्थिक कारणों से वह रकम पटायी नहीं जा सकी। मुधोजी और जानोजी का आपसी मनमुटाव तीव्र रूप धारण कर गया और जब दोनों पूना से नागपुर के लिये रवाना हुए—तब दोनों का यात्रा-मार्ग अलग-अलग रहा। दोनों में लड़ने की खुमखुमी थी—ही—इसलिये अमरावती के निकट नांदगांव में लड़ भी पड़े। मुधोजी का सरदार रघोजी करांडे हार कर चला गया—फिर भी उसने दोनों भाइयों के विरोध को शांत कराने का यत्न किया था। इसी भांति का प्रयास त्रिबक जी राजे और पिराजी निंबालकर का भी था। जानोजी के दीवान देवाजी पन्त और बालाजी केशव अपना मतलब साधने के उद्देश्य से मुधोजी के विरोधी थे। मुधोजी स्वयं ही कहता था—"ये हमारे कामदार ही हमारा घर मिटाना चाहते हैं।" कुछ दिनों के बाद दोनों भाइयों में मेल भी हो गया था। समझौते के प्रसंग पर मुधोजी ने देवाजी और बालाजी केशव को जेलखाने में रखने का प्रस्ताव किया था—किन्तु नागपुर में पेशवा का जो प्रतिनिधि रहता था—उसने मध्यस्थ बन कर दोनों कर्मचारियों की स्थिति स्पष्ट कर दी और मुधोजी भी संतुष्ट हो गया था।

६ जनवरी सन् १७६१ ईस्वी में पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली के साथ मराठों ने जो युद्ध किया था—उससे नागपुर के भोंसले अलिप्त थे। पानीपत में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति सेनापति की अदूरदर्शिता के कारण चकनाचूर हो गयी। इसी युद्ध के साथ-साथ इतिहास का भारतीय युग समाप्त हो जाता है। भारतीय इतिहास का नया अध्याय आरम्भ होता है—जिसमें पश्चिम से आये हुए युरोपियन व्यापारियों की कूटनीति का उत्कर्ष होता है। पानीपत के युद्ध का समाचार सुनते ही पेशवा बालाजी का देहान्त (बुरहानपुर के निकट) होगया—और उसके कारण मराठों की राजनीति का नया अध्याय आरम्भ होगया—जो उत्कर्षकारक नहीं कहा जा सकता। पूना की पेशवाई १७ वर्ष के युवक माधवराव को सौंपी गयी और उसके नाम से उसका चचा रघुनाथराव (राघोबा) मुख्त्यार बनाया गया।

निज़ाम के साथ मित्रता और पेशवा से विरोध—हैदराबाद के निज़ाम के साथ पेशवा के राजकीय झगड़े बालाजी के समय से चले हुए थे। पानीपत के युद्ध के बाद उनमें उग्रता आ गयी थी। निज़ाम का दीवान विट्ठल सुन्दर चतुर राजकाजी मनुष्य था। उसने "मराठा संघ" से भोंसलों को पृथक् करने का सफल प्रयास किया। उसने

गमाजी बाबा के द्वारा जानोजी को सातारा की गद्दी का लोभ दिखलाया था और साथ ही मराठे और ब्राह्मण वाद भी। वास्तव में महाराष्ट्र का यह वाद पुराना ही है। पेशवा के विरोध में निज़ाम और भोंसले दोनों ने एक मित्रता की सुलह की थी—जिसमें यह तय किया गया था—दोनों ही मिल कर सातारा के रामराजा को क़ैद करें और वहां की गद्दी पर जानोजी को अभिषिक्त किया जावे तथा इस मुहिम से जो लाभ होगा, उसमें से जानोजी को ४० प्रतिशत दिया जावेगा। गमाजी और विट्ठलसुन्दर के षड्यन्त्र में भोंसलों का पूरा सहयोग था। ६ फरवरी सन् १७६३ ईस्वी को गुलबर्गा में निज़ाम ने जानोजी का स्वागत किया था और वहीं पर दोनों की प्रत्यक्ष बातचीत हुई थी। दोनों ने मिल कर वहीं से एक संदेश पेशवा को भेजा था। जो पेशवा के लिये युद्ध के लिये चुनौती थी।

राक्षस भुवन का युद्ध—पेशवा के राजदूत जो नागपुर और हैदराबाद में रहते थे—उन्होंने इनकी गतिविधियों का पूरा विवरण भी भेजा था। जिससे पेशवा ने ४५ हज़ार घुड़सवारों को एकत्रित करके उसका सेनापतित्व सखाराम बापू को सौंपा था—जिसने भोंसले और निज़ाम को शत्रु घोषित किया था। पेशवा की सेना लेकर राघोबा नागपुर राज्य की ओर अग्रसर हुआ और खानदेश से वह मलकापुर गया तथा वहां के लोगों से ६० हज़ार रुपये वसूल किये। उधर निज़ाम अली और जानोजी ने मिल कर एक लाख सेना के साथ पूना पर हमला किया। इन लोगों ने पूना पहुँच कर उसे लूट कर जला दिया था। उस प्रसंग पर नगर के धनिक, सरदार और पेशवा का परिवार पूना छोड़ कर पुरंदर के किले में चले गये थे। सिंहगढ़ और पुरंदर के किलों के समीप का प्रदेश रघोजी करांडे ने लूट लिया था।

उधर पूना से चली हुई पेशवा की सेना हैदराबाद राज्य में घुस गयी और लूटमार करने लगी। उसी बीच में सेनापति सखाराम बापू ने मल्हारराव हुल्कर के द्वारा निज़ाम से भोंसले को विभक्त करवा दिया—क्योंकि नागपुर में उसने मुधोजी को खड़ा कर दिया। मुधोजी पेशवा से मिल कर नागपुर हड़प जायगा—इस आशंका से जानोजी ने अविलंब निज़ाम की मित्रता भंग कर दी—उसकी गति सांप-छछूंदर सी होगयी थी। मल्हारराव की सलाह उसने मान्य कर ली और वह युद्ध से अलग हो गया। निज़ामअली की नाव मंझधार में डगमगाने लगी, फिर भी उसने १० अगस्त सन् १७६१ को राक्षस भुवन स्थान पर पेशवा के साथ युद्ध किया–जिसमें निज़ाम का प्रसिद्ध दीवान विट्ठलसुन्दर मारा गया। इस युद्ध में निज़ाम हार गया—और पेशवा के साथ सन्धि की तथा उदगीर की लड़ाई में प्राप्त प्रदेश निज़ामअली को वापिस देना पड़ा था।

नागपुर पर पेशवा का हमला—इस युद्ध में विश्वासघात करने के बदले में पेशवा ने जानोजी को कुछ इलाका दिया। सखाराम बापू के साथ जानोजी ने पेशवा माधवराव से भेंट कर के अपने अपराधों की क्षमा मांगी थी। युद्ध समाप्त होते ही पेशवा माधवराव के सामने एक नयी आपत्ति खड़ी हो गयी थी। उसका चचा राघोबा उसके खिलाफ़ होगया था। माधवराव अच्छी तरह जानता था कि उसके चचा का समर्थन निज़ाम और भोंसले करेंगे और उससे पेशवा की शक्ति पर चोट की जायगी। सब से प्रथम माधवराव के मंत्रिमंडल ने निज़ाम और भोंसले को लड़ा देने का अच्छा मार्ग खोज निकाला था। इसी कारण से निज़ामअली के पास एक दूत पूना से भिजवाया गया और उसने हैदराबाद पहुंचकर निज़ाम को समझाया कि दोनों मिलकर जानोजी को उसकी करतूत का दंड देवें। वास्तव में दोनों ही जानोजी के कार्यों से असंतुष्ट थे–जो स्वाभाविक था क्योंकि उसने दोनों के साथ बेईमानी की थी। पेशवा माधवराव ने निज़ाम के सहयोग से भोंसला राज्य पर आक्रमण करने का एक कार्यक्रम बनाया था–जिससे राघोजी की दशा त्रिशंकु सी बन जाती थी। निश्चित समय पर माधवराव की सेना नागपुर के लिये चल पड़ी–रास्ते में निज़ाम का सेनापति रुकनउद्दौला पेशवा के साथ हो गया। राघोबा भी इस समय पेशवा के साथ होगया था। इसप्रकार जानोजी केवल अकेला रह गया था।

भोंसला राज्य में पहला मुकाम माधवराव ने बालापुर में किया था। वहीं पर उसे निज़ामअली का यह संदेश मिला था—कि कारंजा में दोनों एक दूसरे से मिलेंगे। बालापुर से चलकर माधवराव ने दर्यापुर में मुकाम किया था।

पेशवा की सेना नागपुर पहुँच रही है--यह समाचार जब नागपुर पहुँचा-- तो समस्त भोंसला राज्य में घबराहट फैल गयी थी। नागपुर शहर के लोग घरदार त्याग कर भागने लगे और जानोजी स्वयं समस्त परिवार के सहित चांदा चला गया था। फिर भी उसके पास २५ हजार घुड़सवार थे। वास्तव में जानोजी पेशवा से संघर्ष करने के लिये तैयार न था। इसी कारण उसका दीवान देवाजीपन्त दर्यापुर पहुंचकर पेशवा से मिला था और उसने यह भी कहा था कि राक्षसभुवन के युद्ध में जो प्रदेश उसे दिया गया था--उसे वापिस कर देने के लिये जानोजी तैयार हैं। जानोजी स्वयं पेशवा से मिलने के लिये १७ जनवरी सन १७६५ को दर्यापुर गया था। इस तरह आई हुई बला को एक बार जानोजी ने टाल दिया और पेशवा भी दर्यापुर से वापिस पूना लौट गया था।

बिम्बाजी भोंसले* :-- रघोजी का तृतीय पुत्र बिम्बाजी सन १७५७ ई. में रतनपुर जाकर बस गया था। उसके अधिकार में समस्त छत्तीसगढ़ का शासन था। उसके साथ कई मराठे घराने रतनपुर में जा बसे। जनता की भाषा हिन्दी होने पर भी राजभाषा मराठी और लिपि मोड़ी का वहां चलन था। रतनपुर और रायपुर के राजवंश माफीदार बना दिये गये थे। राजा शिवराजसिंह को रायपुर राज्य के प्रत्येक गांव के पीछे एक रुपया परवरिश हक लगा दिया था और बरगांव माफी में दे दिया था।

बंगाल और नागपुर राज्य--अलीवर्दी खां से संधि हो जाने पर सन् १७५१ से १८०३ ईस्वी तक उड़ीसा प्रदेश नागपुर राज्य के अन्तर्गत था। उसका शासन मराठे सूबेदारों के द्वारा होता था--जिनकी राजधानी कटक थी। बारामाटी किले में मराठों की फ़ौजी छावनी थी। समुद्र तट पर बसे हुए बालेश्वर बन्दर के द्वारा जलमार्ग से खूब व्यापार चलता था। शिवभट साठे उड़ीसा का प्रथम मराठा सूबेदार था और उसके सहायक मुकुन्दराव और रुकमाजी जाचक थे। साठे ८ वर्षों तक उड़ीसा का सूबेदार रहा था।

बंगाल का नवाब अलीवर्दी खां १० अप्रैल सन् १७५६ ई. को मर गया--उसका उत्तराधिकारी दोहित्र सिराजुद्दौला था। उसकी अवस्था २४ वर्ष से अधिक न थी। मृत नवाब के समय से ही बंगाल में अंग्रेजों की साजिशें तेजी से चल रही थीं। जिसको मृत नवाब अच्छी तरह से समझता था और तभी मरते समय उसने अपने दौहित्र से कहा था--"देश के अन्दर युरोपियन कामों की ताकत पर नज़र रखना।" अंग्रेज कम्पनी इस समय तक बंगाल में पुष्ट हो चुकी थी-क्योंकि उन्होंने नवाब के अधीनस्थ सरदारों को विविध तरह के प्रलोभन देकर फोड़ लिया था और उनके जाल में कई सरदार फंस भी गये थे। मिस्टर वाटसन की अपेक्षा क्लाइव कहीं अधिक चतुर था। उसने ४ जून सन् १७५७ ईस्वी में नवाब के सेनापति मीरजाफ़र के साथ १३ शर्तों की एक गुप्त संधि की थी। अंग्रेजों ने उसे बंगाल का नवाब बना देने का पूरा आश्वासन दिया था। पूरी तैयारी कर चुकने पर कम्पनी ने सिराजुद्दौला को युद्ध के लिये मजबूर किया और २३ जून सन् १७५७ ईस्वी को पलास के बाग में उसका निर्णय होने वाला था। उस समय नवाब के मीर जाफ़र, यार लुक्त खां, दुर्लभराव और मीरमदन चार प्रमुख सेनापति थे। प्रथम तीनों सेनापति अंग्रेजों के हितचिन्तक थे, किन्तु अकेला मीर मदन कर ही क्या सकता था? इस युद्ध का परिणाम यह हुआ था कि सिराजुद्दौला को युद्ध से भागना पड़ा और २६ जून को अंग्रेजों ने मीर जाफ़र को बंगाल का नवाब घोषित कर दिया था। मीर जाफ़र

---

* बिम्बाजी भोंसले--(स्वर्गवास रतनपुर में ७ दिसंबर सन् १७८७ ईस्वी)। बिम्बाजी भोंसला रतनपुर में ही बस गया था। उसके मरने पर रानी आनंदीबाई भी वहीं रही थी। उसका दीवान महिपतराव कार्थी तथा अन्य सहायक कारबारी कृष्णभट्ट उपाध्ये (मनभट उपाध्ये का पिता) और महादजी भोंसले थे। बाद में छत्तीसगढ़ के सूबेदार नागपुर से भेजे जाते थे--(१) प्रथम सूबेदार महिपतराव दिनकर था--उसके समय में सम्बलपुर के राजा ने विद्रोह किया था। महिपतराव का उत्तराधिकारी विट्ठल दिनकर था--उनके बाद निम्न सूबेदार थे--कालूपन्त, केशवपन्त, भीष्मजी भाऊ, सखाराम भाऊ, यादवराव दिवाकर, सखाराम बापू थे। इनका शासन सन् १८१८ ईस्वी तक चलता रहा।

की सेना लेकर अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला का पीछा किया और २ जुलाई को विश्वासघाती हितचिन्तकों के द्वारा मरवा डाला गया था। इस प्रकार अंग्रेजों ने अपना कांटा निकाल फेंका और मीर जाफ़र को नवाबी मिली।

क्लाइव ने मीर जाफ़र के नाम से बंगाल पर शासन करना आरम्भ किया और सैनिक दृष्टि से अंग्रेजी संगठन मज़बूत कर लिया। इस समय तक बंगाल का समस्त वाणिज्य और व्यवसाय भी कम्पनी के अधीन हो चुका था—जिसकी करुण कहानियां इतिहास में अंकित हैं। शीघ्र ही नवाब मीर जाफ़र स्वयं अंग्रेजों के आतंक से ऊब गया और जब उसने विरोध प्रकट किया तो अंग्रेजों ने उसे क़ैद कर लिया और मीर क़ासिम को नवाबी सौंप दी। (२० अक्तूबर सन् १७६० ई.) इस समय अंग्रेजी कम्पनी बंगाल की स्वामिनी बन गयी थी।

बंगाल की राजनीति में यदि मराठे सावधानतापूर्वक भाग लेते तो संभव था कि हिन्दुस्तान का इतिहास ही बदल जाता, परन्तु वे लोग अपनी घरेलू उलझनों में फंसे हुए थे। जानोजी भोंसले की गति भी यही थी। उसने बंगाल के नवाब से १२ लाख रुपये चौथ लेने का इक़रार किया था—और उसके एवज में मित्रता का सम्बन्ध रखने का भी। सिराजुद्दौला ने अपनी सहायता के लिये भोंसलों से अपेक्षा की थी—पर वह उन्होंने पूरी नहीं की—जिससे चौथ की रक़म पटायी न जा सकी। सन् १७५८ में शिवभट साठे ने मीरजाफ़र से चौथ की मांग की—पर नवाब ने कोई लक्ष्य ही नहीं दिया। तीन वर्ष बाद सन् १७६१ ई. में शिवभट साठे ने मीर क़ासिम के पास दूत भी भेजे थे तब नवाब ने साफ़ अंग्रेजों को बता दिया था। इस पर भय दिखाने के हेतु साठे ने कुछ सैनिक मिदनापुर और बरद्वान में लूटमार करने के लिये भेजे थे। तब कम्पनी ने मराठों को खदेड़ देने के लिये जानसन और नाक्स के अधीन एक सेना भेजी थी, जिसके कारण मराठे बंगाल से भाग गये थे।*

शिवभट साठे कटक में बैठ कर उड़ीसा से १८ लाख रुपये वसूल कर के अपना गुज़ारा चलाता था और कुछ रक़म नागपुर भेज देता था। अंग्रेजों की तिजारती कोठियां उड़ीसा प्रदेश के अन्तर्गत बालेश्वर और कटक में थीं। उनके कामकाज में मराठों ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। अंग्रेजों ने ७ जुलाई सन् १७६३ ईस्वी को यह इश्तिहार घोषित करवाया था (उड़ीसा में भी) कि "मीर क़ासिम खां को उसके ज़ुल्मों के कारण गद्दी से उतारा गया है और अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा के नवाब मीर जाफ़र हैं।" सन् १७६५ ईस्वी में मीर जाफ़र भी मरवाया गया और नजमुद्दौला को अंग्रेजों ने नवाब बना दिया था—वह तो केवल कठपुतली था—उस का दीवान रजा खां बनाया गया था—जो कि अंग्रेजों का ख़ैरख्वाह था। यह सूबेदार शीघ्र ही इस लोक से चल बसा और कम्पनी स्वयं बंगाल की स्वामिनी होगयी।

बंगाल में जो राजनैतिक घटनाएँ हो रही थीं—उनका पता नागपुर दरबार को भी था—पर उसका राजकीय दृष्टिकोण कुंठित हो गया था। सन् १७६३ ईस्वी में बंगाल के गवर्नर से बातचीत करने के लिये गोविन्दराव नाम का एक प्रतिनिधि नागपुर दरबार से कलकत्ते गया था। उससे यह कहलवाया गया था कि "यदि चौथ की रक़म न पटायी गयी—तो भोंसले बंगाल पर आक्रमण कर देंगे।"† इस चेतावनी के बाद भी कोई कार्यवाही नहीं की गयी। सन् १७६४ ईस्वी में शिवभट साठे सूबेदारी से हटाया गया—पर कुछ दिनों तक वह उड़ीसा में ही बना रहा। कहते हैं कि उसने विद्रोह करने का षड्यन्त्र भी रचा था, परन्तु शीघ्र ही भवानी कालू के साथ चिमना बापू बंगाल पहुंच गया था—इसी कारण वह शांत हो वापिस लौट गया था। भवानी कालू ने कटक में मुक़ाम कर के चौथ के सम्बन्ध में कम्पनी के गवर्नर से लिखापढ़ी की थी—पर अंग्रेजों ने कोई लक्ष्य न दिया था। आर्थिक अड़चनों में फंस जाने के कारण भवानी कालू ने बेटागढ़, निलगिरि, मयूरभंज, हरिहरपुर आदि के राजाओं से बड़ी-बड़ी रक़में वसूल की थीं—

* कैलेण्डर आफ़ पर्शियन कारस्पाण्डेन्स, जिल्द १, पृष्ठ ८८४।

† कैलेण्डर आफ़ पर्शियन कारस्पाण्डेन्स, जिल्द १, पृष्ठ १५३७।

जिसके कारण उड़ीसा के जमींदार त्रस्त होगये थे। सन् १७६५ ईस्वी में सम्राट् शाहआलम के एक फर्मान से क्लाइव को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो गयी। इसी प्रसंग पर जानोजी भोंसले ने क्लाइव को सूचित किया—"कम्पनी की सत्यप्रियता के सम्बन्ध में मुझे पूर्ण विश्वास है और उसकी विजय की आधारशिला भी वही है। मीर क़ासिम के प्रतिनिधि सहायतार्थ नागपुर पहुंचे थे और वे लोग ३० लाख की हुंडी दे रहे थे, पर कम्पनी के गवर्नर वेन्सिटार्ट की सूचनानुसार हमने नवाब से कोई सहयोग नहीं किया था—इतना ही नहीं, बल्कि उड़ीसा में हमारी जो सेना थी—उसे तटस्थ रहने का आदेश दिया गया था। बक्सर की विजय को दो वर्ष बीत चुके हैं और तबसे हमारा प्रतिनिधि रघुनाथ राव कलकत्ते में है पर हिसाब का निर्णय अब तक नहीं किया गया। अनेकों युद्ध, २२ सरदारों का बलिदान, ५० सैनिकों की आहुति और १२ वर्ष के परिश्रम द्वारा हमने चौथ का हक़ हासिल किया था और उसे हम भविष्य में भी त्यागने के लिये तैयार नहीं हैं।"*

इस तरह की लिखा-पढ़ी के अतिरिक्त जानोजी कोई सक्रिय क़दम उठा नहीं सका—क्योंकि वह घरेलू राजनीति से इतना उलझ गया था कि बंगाल की राजनीति में उसने कोई दिलचस्पी नहीं दिखलायी। इस सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर ओवेन ने ठीक लिखा है—"पानीपत के युद्ध से मराठा संघ को थोड़ी देर के लिये जो धक्का बैठा था—उसके कारण मराठे बंगाल पर हमला करने से रुक गये थे। उनके आक्रमण से यदि शुजाउद्दौला और शाह आलम अनुराग दिखलाते और यह संभव था—कि ये लोग कम्पनी की सत्ता को-जो अभी तक कमज़ोर थी और अनेक कठिनाइयों से घिरी हुई थी, सफलता के साथ उखाड़ कर फेंक देते।" †

पानीपत के युद्ध के बाद मराठे दक्षिण में ही अपनी-अपनी समस्याओं से उलझ गये थे। जानोजी भोंसले की स्थिति का चित्रण हम पहले कर चुके हैं। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज़ों को विविध सूबों के निर्बल शासकों को एक दूसरे से तोड़-फोड़ कर अपने लिये मार्ग निर्माण कर लेना सरल हो गया था। भोंसले और बंगाल के नवाब में संधि हुई थी और इसके आधार पर वे चौथ के हक़दार थे—पर उन्होंने अपने नैतिक उत्तरदायित्व का पालन नहीं किया था। बंगाल की राजनीति में महान् परिवर्तन होते रहे और भोंसले केवल बिना परिश्रम चौथ की बाट देखते बैठे रहे। नवाबों ने कई बार भोंसले से सहायता मांगी थी, पर वे कुछ न कर सके। मीर क़ासिम ने पूर्व संधि के आधार पर अपना एक प्रतिनिधि नागपुर भेजा था—फिर भी जानोजी चुप बैठा था। सन् १७६६ ईस्वी में जानोजी ने उदयपुरी गुंसाई को कलकत्ते भेजा था और उसके साथ यह पत्र भेजा था—"मीर क़ासिम की सहायता न करने से कम्पनी हमारी चौथ की देनदार है। हमने उस पर २० लाख रुपये क़र्ज़ कर लिया है और २ वर्ष बीत रहे हैं, किन्तु हमारे गुमाश्तों को कुछ भी नहीं दिया गया। कृपया उदयपुरी को बक़ाया चौथ की रक़म दे दें।"‡

ज्यों ही क्लाइव की स्थिति मज़बूत हो गयी—उसने उड़ीसा हथियाने का यत्न किया—क्योंकि कलकत्ता और मद्रास के मार्ग में उड़ीसा था। कलकत्ते से मद्रास के लिये जो डाक भेजी जाती थी—वह उड़ीसा से ही गुज़रती थी। सन् १७५८ ईस्वी में "उत्तर सरकार"—प्रदेश निज़ाम द्वारा कम्पनी को प्राप्त हो गया था—अब वे उड़ीसा चाहते थे—जिससे कलकत्ता-मद्रास मार्ग में कोई अन्य राज्य न रहे। जानोजी ने क्लाइव से जब चौथ की मांग की थी—तब अंग्रेज़ों ने नवाब नजमुद्दौला के नायब रज़ा खां से मूल संधि-पत्र प्राप्त कर लिया था। + अलीवर्दी खां ने रघोजी से संधि की प्रथम शर्त में यह इक़रार किया था—"मैं छत्रपति राजाराम को रघोजी भोंसले के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की चौथ प्रतिवर्ष १२ लाख रुपया दूंगा।" उसी आधार पर क्लाइव ने यह दावा पेश किया था कि भोंसले

* "कैलेण्डर आफ़ पर्शियन कारस्पांडेंस", जिल्द २, पृष्ठ ७६३।

† प्रो. ओवेन का "इंडिया आन दि ईव आफ़ दि ब्रिटिश कान्क्वेस्ट" ग्रंथ।

‡ कैलेण्डर आफ़ पर्शियन कारस्पांडेंस, जि. २, पृष्ठ ७६३-७६४।

+ कैलेण्डर आफ़ पर्शियन कारस्पांडेंस, जिल्द २, पृष्ठ १२४४—१२४७।

उड़ीसा अंग्रेजों को सौंप दें। उड़ीसा पर कब्जा रखते हुए चौथ की मांग करना अप्रशस्त है। इस विषय में भोंसलों के सामने एक ही मार्ग था—वह युद्ध था—पर भोंसले परिस्थितिवश तैयार न थे।

सन् १८६६ ईस्वी में क्लाइव ने कम्पनी के संचालकों को यह सूचित किया था* कि–"कम्पनी भोंसलों को १६ लाख रुपये देकर बालसौर और कटक की जमींदारी प्राप्त करे। उसका उपयोग जानोजी भोंसले के लिये कुछ भी नहीं है। कम्पनी यह चौथ आसानी से पटा सकेगी। पर इस तरह का सुझाव भोंसलों की ओर से आना आवश्यक है।" इस तरह का सुझाव देने के लिये क्लाइव ने मीर भेनुलाबिद्दीन को नागपुर भेजा था—जो २५ दिसंबर सन् १७६६ ईस्वी को नागपुर पहुँचा था। उसने अपने प्रवास वर्णन में लिखा है—"ये लोग मिरजापुर मार्ग से प्रथम दिनाजपुर पहुँचे थे। वहां के जमींदार ने एक मास तक बंदी खाने में रखा था। कुछ द्रव्य देने पर ये लोग छूट गये थे। यहां से जब वे लोग बुन्देलखण्ड में महाराज हिन्दू पत के राज से गुजरे, तो राह में पनौरा के जमींदार ने ११ दिनों तक रोका था। वहां भी उनको कुछ द्रव्य देना पड़ा था। वहां से आगे बढ़ने पर गढ़ा मण्डला के राजा निजामशाह के हुक्म से १ मास तक इनको रुकना अनिवार्य होगया था। गढ़ा से दो हरकारे नागपुर भेजे गये थे–जिन्होंने अपना उद्देश्य कह सुनाया था। जानोजी भोंसले ने एक पत्र द्वारा निजामशाह को सूचित किया था —कलकत्ते से आने वाले लोगों को आने दिया जावे। यहां से मुक्त होने पर २५ दिसंबर को क्लाइव के प्रतिनिधि नागपुर पहुँचे थे। दूसरे दिन नजराने के सहित भेनुलाबिद्दीन ने महल में पहुँच कर जानोजी से भेंट की थी। प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने बातचीत के सिलसिले में कम्पनी से ४८ लाख रुपये पाने का उल्लेख किया था। परन्तु उड़ीसा सौंपने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा था—जब क्लाइव के दूत ने आग्रह किया तो उसने यही कहा था कि उसका वकील उदयपुरी शीघ्र ही कलकत्ते जायगा और खुद ही गवर्नर-जनरल से बातचीत कर लेगा।" ये लोग नागपुर में मार्च सन् १७६६ ईस्वी तक रहे थे।†

इस समय उड़ीसा का सूबेदार चिमनाबापू भोंसले और उसका दीवान भवानी कालू था, पर राजपुत्र चिमना जी नागपुर में ही रहता था और दीवान ही कटक में रहता था। वह इस काम पर सन् १७६८ ई. तक रहा था। इधर क्लाइव भी बंगाल से चला गया था—उसके पश्चात् मिस्टर वेरेलस्ट और सन् १७६९ में मिस्टर कारटियर बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ था। ये लोग फोर्ट विलियम में बैठ कर भारतीय राजाओं के साथ साजिशें कर रहे थे। सन् १७७२ ईस्वी में कारटियर की जगह वारन हेस्टिंग राज्यपाल बना कर भेजा गया था। भवानी कालू ने अंग्रेजों से चौथ के बारे में कई शुष्क तकाजे किये थे—परन्तु कोई लाभ न हुआ और स्वयं जानोजी पेशवा से झगड़ने में व्यस्त था। सन् १७६८ में भवानी कालू नागपुर चला गया और उसके पद पर गणेश संभाजी भेजा गया था।‡ इसी समय बंगाल के राज्यपाल ने एक पत्र जानोजी को भेजा था–जिसमें कहा गया था कि "यदि भोंसले उड़ीसा प्रदेश कम्पनी को सौंप देंगे तो चौथ की रकम उनको बराबर मिलती रहेगी।" इसी पत्र के आधार पर बातचीत करने के लिये गोपाल-पुरी कलकत्ते से नागपुर गया था। पर भोंसले उड़ीसा सौंपने के लिये तैयार न थे।

पेशवा से विरोध और नागपुर का भस्म होना—पेशवा माधवराव का चचा इस समय मराठों के विरोधियों के हाथ में खेल रहा था। वह वीर और महत्वाकांक्षी था। उसने जब माधवराव के विरुद्ध साजिशें करना आरंभ किया तो जानोजी उसके साथ मिल गया था। यह समाचार पेशवा को ज्यों ही मिला, त्यों ही वह क्रोधित हो गया।

---

* ग्रंट डफ़ का मराठों का इतिहास।

† कैलेण्डर आफ़ पर्शियन कारस्पांडेंस, जिल्द २, पृष्ठ २२१।

‡ गणेश संभाजी का विकास दीवान बाबूराव कान्हेरे के द्वारा हुआ था—वह सन् १७७१ ईस्वी तक उड़ीसा का सूबेदार था। उसके कई पत्र पर्शियन कैलेण्डर में मिलते हैं। इसके द्वारा अंग्रेजों को कई राजकीय बातें ज्ञात होती थीं। जानोजी ने इसके द्वारा माधवराव के विरोध में अंग्रेजों से सहायता पाने का यत्न किया था, पर कम्पनी की सैनिक स्थिति दृढ़ न होने से वे चुपचाप रहे।

उसने भोंसले के पूना पहुंचने के पूर्व ही राघोबा को बन्दीखाने में पटक दिया और नागपुर पर आक्रमण करने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। सन् १७६६ ईस्वी के आरम्भ में स्वयं माधवराव सेना लेकर नागपुर की ओर रवाना होगया। जब यह समाचार जानोजी ने सुना—तो उसने उसको राजी कर लेने के लिये दीवान देवाजी पन्त को भेजा—जो आधे मार्ग में पेशवा के पास पहुँचा था। पेशवा ने उसकी सलाह मानने में अप्रसन्नता प्रकट की और उसे अपने साथ बन्दी बना कर ले लिया। वाशिम और कारंजा मार्ग से चल कर २० जनवरी को पेशवा ने मामनेर का किला ले लिया था—तब जानोजी सेना और खजाना ले कर चांदा चला गया।

जनवरी मास के अन्त में माधवराव नागपुर के समीप पहुँचा—उसने आस पास के गांवों को लूट कर नागपुर में प्रवेश किया पर उसे कोई विशेष आर्थिक लाभ न हुआ। नागपुर को पेशवा ने लूट कर जलवा दिया था और जब वह नागपुर में था—तब उसकी एक सेना ने भंडारा को भी लूटा था। नागपुर से सेना लेकर माधवराव चांदा गया, किन्तु वहां से जानोजी पहले से ही वाशिम की ओर चल दिया था। चांदा पहुँचते ही भोंसले का पत्र पेशवा के सैनिकों के हाथ लग गया था—जिसमें जानोजी ने चांदा के किलेदार को निम्न आदेश दिया था कि "तुम चांदा में पेशवा से जूझते रहो और मैं पूना पहुँच कर राघोबा को बंदीखाने से छुड़ा लूंगा और उसको पेशवाई पद पर अभिषिक्त कर दूंगा।" यह पत्र पाते ही पेशवा के सैनिकों में उद्विग्नता फैल गयी। इसी कारण चांदा में समय व्यय न करते हुए माधवराव पूना की ओर चल दिया था।

यों तो जानोजी स्वयं माधवराव से युद्ध नहीं करना चाहता था और इसी कारण वह पूना नहीं गया। अन्त में योग्य अवसर पर जानोजी और माधवराव का समझौता देवाजी पन्त ने करा दिया। २३ मार्च सन् १७६६ को कनकापुर ग्राम में भोंसलों के साथ पेशवा ने संधि की थी। इस संधि के अनुसार जानोजी ने* पांच किश्तों में ५ लाख रुपये प्रतिवर्ष पेशवा को देना स्वीकार किया था। कनकापुर में ही जानोजी पेशवा माधवराव से मिला था। माधवराव पेशवा ने इस युद्ध यात्रा में—निम्न प्रमुख ग्रामों से प्रवास किया था—"बीड़, पाथरी, नडसी, बासनी, वाशिम, मंगरूलपीर, पिंजर, कारंजा, अमरावती, नागपुर, भंडारा, चांदा, पांढरकवड़ा आदि।"

जानोजी भोंसले—इस युद्ध से छुटकारा पाते ही जानोजी अस्वस्थ हो गया था। उसके कोई संतान न थी। चारों भाइयों में केवल मुधोजी के ही ३ पुत्र थे—जिनमें जेठा रघोजी था।† इसलिये जानोजी ने उसको अपना उत्तराधिकारी नियत किया था—उस पर मंजूरी लेने के लिये वह पूना गया था और पेशवा से मिल कर जानोजी और मुधोजी दोनों भाई पंढरपुर की यात्रा को गये थे। वहां से नागपुर लौटते समय रास्ते में तुलजापुर के समीप जानोजी पेट दर्द की बीमारी से मर गया। (१६ मई सन् १७७२ ईस्वी) मुधोजी साथ में था ही, उसने भाई का अंत्य संस्कार किया था।

जानोजी का राजकीय जीवन सदैव असफल रहा। उसने निजाम और पेशवा के साथ विश्वासघात किया था—इसी कारण दोनों प्रबल राज्यों ने कभी उस पर विश्वास नहीं किया था। इन्हीं कारणों से उसका जीवन अशांतिमय दिखाई देता है।

साबाजी और मुधोजी

जानोजी के मरने पर मुधोजी उसके साथ में था और उसके नागपुर में पहुँचने में देर लग गयी थी—इसी अवकाश में रानी दर्याबाई की सलाह से उसके सगे छोटे भाई साबाजी ने शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया था—उसका समर्थन राज्य के कुछ मंत्रियों ने किया था। मुधोजी जब नागपुर पहुँचा—तो उसने दूसरा ही दृश्य देखा। मृत राजा की रानी सर्वथा उसके विरोध में थी। वह चाहता था कि उसका लड़का रघोजी नागपुर की गद्दी पर बैठाया जावे—

---

* कनकापुर की संधि—इसका पूरा ब्यौरा मराठों के कागज पत्रों में अंकित है।

† मुधोजी भोंसले के ३ पुत्र थे—रघोजी, व्यंकोजी और चिमना बापू।

जैसा कि मृत राजा ने निश्चय किया था, पर राजमहल का वातावरण प्रतिकूल था—इसी कारण नागपुर एक बार पुनः गृह कलह का शिविर बन गया था। इस कलह को हटाने की शक्ति पेशवा में भी नहीं थी—क्योंकि वहां भी वही अवस्था भीषण रूप से खड़ी थी। फिर भी साबाजी ने नागपुर का प्रश्न माधवराव पेशवा के दरबार में पेश किया था। जिसका समर्थन पूना दरबार ने किया था, क्योंकि मुधोजी राघोबा का समर्थक माना जाता था। मुधोजी ने प्रत्यक्ष रूप से पूना के मंत्रिमंडल का विरोध नहीं किया था—किन्तु महाराष्ट्र में राघोबा को मुक्त कराने के लिये जो षड्यंत्र रचा जा रहा था—उसका समर्थन गुप्त रूप से मुधोजी कर रहा था और उसके लिये उसने दो सरदार (व्यंकटराव और लक्ष्मणराव काशी) पूना में रख छोड़े थे।

साबाजी एक बार यत्न कर के सेना साहब सूबा कहलाने लगा था। उसने अपनी दीवानी भवानी कालू को सौंपी और देवाजी चोरघड़े को निगरानी में रखा, क्योंकि वह विरोधी पक्ष का माना जाता था। मुधोजी और दीवान महीपतराम के लिये समय अनुकूल न होने से नागपुर में उनके पैर न जम सके। साबाजी ने बंगाल से चौथ की मांग करने के लिये अपने वकील बेनीराम पंडित को वारन हेस्टिंग के पास भेजा था।* मुधोजी और साबाजी का आपसी तनाव दिन पर दिन उग्र बनता गया था और अन्त में परिणाम यह हुआ था कि दोनों भाई कुंभारी नामक गांव में युद्ध के लिये खड़े होगये। (२८ जनवरी सन् १७७२ ई.) पर पेशवा के वकील रामाजी बल्लाला ने आपसी समझौता करा दिया, पर यह अधिक दिनों तक नहीं चला। क्योंकि राजकीय महत्वाकांक्षा न्यायान्याय पर नहीं चलती—वह तो एक मात्र ताक़त पर ही खड़ी रहती है। साबाजी ने अपनी शक्ति का विकास करना आरंभ कर दिया था। उसने दीवान कालू को निजाम से सहायता पाने के लिये हैदराबाद भेजा था। तदनुसार हैदराबाद से सेना लेकर नवाब रुकनउद्दौला बरार में आकर साबाजी से मिल गया और उसी तरह माधवराव ने खंडेराव के अधीन सेना भेज दी थी। उधर मुधोजी भी स्वस्थ न था—उसके जासूस साबाजी की हलचलों पर पूरी निगरानी रखते थे। मुधोजी अपनी सेना लेकर अचलपुर के नवाब इस्माइल खां के पास ठहरा हुआ था। दोनों ही घनिष्ट मित्र थे। यहीं पर साबाजी की सेना ने मुधोजी को शिकस्त देने का यत्न किया था—किन्तु सफलता नहीं मिली—जिससे साबाजी नागपुर लौट गया था।

इसी समय पूना के राजकीय वातावरण में महान परिवर्तन होगया था। ३० अगस्त सन् १७७३ को राघोबा ने पेशवा नारायणराव को मरवा दिया था। इस घटना का वर्णन पूना के रेजिडेन्ट मास्टिन ने बड़े हर्ष के साथ बंबई के राज्यपाल को भेजा था—क्योंकि कम्पनी का उस साजिश में पूरा सहयोग था।† सर हेनरी लारेन्स लिखता है।—† "बाद में राघोबा ने नारायणराव को मरवा डाला ..... और अंग्रेजों ने उसका साथ दिया था। अंग्रेजों के भारतीय इतिहास का यह घृणित अध्याय है।"

नारायणराव के मारे जाने पर राघोबा ने अपने को पेशवा घोषित किया था। अंग्रेज और मुधोजी भोंसले ने उसका साथ दिया था। जिसके कारण साबाजी भोंसले उत्साहहीन होगया था। मुधोजी रघोजी को लेकर उत्साह के साथ पूना पहुंच गया था। दर्बार में राघोबा ने मुधोजी का स्वागत करके रघोजी को स्वयं अपने हाथों से पगड़ी बांधकर "सेनासाहब—सूबा" घोषित किया था।‡ राघोबा वास्तव में अंग्रेज रेजिडेन्ट मास्टिन के इशारों पर चल रहा था। प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रंट डफ ने मराठों के इतिहास में लिखा है :—"बंबई सरकार ने मास्टिन को इसी उद्देश से पूना भेजा था—कि वह मराठों के घर ही घर में एकदूसरे से लड़ाकर या जिसतरह से हो—इस बात का यत्न करे कि मराठे, हैदर या निजाम के साथ न मिलने पावे।" राघोबा को मास्टिन ने ही हैदरअली से लड़ने के लिये भेजा था-पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। पूना के नाना फडनवीस तथा अन्य मराठा सरदारों ने अच्छी तरह देख लिया था—कि राघोबा मराठा संघ

---

* बंबई का पत्र-व्यवहार विलायत के संचालकों के साथ।

† कलकत्ता रिव्यू, जिल्द २, पृष्ठ ४३०

‡ मिल—जिल्द २, पृष्ठ ४२५।

को भूल में मिलाने का कार्य कर रहा है। तब राघोबा की अनुपस्थिति में उन लोगों ने अपना बल संगठित किया था, यहां तक कि राघोबाको दुबारा पूना लौटने का साहस ही नहीं हुआ और जान बचाकर वह गुजरातकी ओर भाग गया था।*

पांचगांव की लड़ाई—साबाजी भोंसले राघोबा का विरोधी और हैदराबाद के निजाम का मित्र था तथा नागपुर राज्य का समस्त प्रभुत्व उसके अधीन था। ज्यों ही उसने सुना–कि राघोबा ने रघोजी को विधिवत् सेनासाहब सूबा बना दिया है और उसका पिता मुधोजी सेनासहित नागपुर पहुंच रहा है–त्यों ही वह नागपुर की सेना लेकर मुधोजी से युद्ध करने के लिये रवाना होगया। नागपुर से १० मील दूर पांचगांव में मुधोजी और साबाजी का युद्ध हुआ। यह घटना २६ जनवरी सन् १७७५ की है। भाग्यवश युद्ध में हाथी पर बैठकर सेना संचालित करते हुए साबाजी मारा गया और दीवान भवानी कालू आहत होगया था। इस तरह मुधोजी का एक कंटक दूर होगया—जिससे नागपुर में अब उसका विरोध करनेवाला कोई नहीं था। नागपुर में पहुंचकर उसने साबाजी का अंत्य संस्कार किया तथा साबाजी के शव के साथ उसकी दो स्त्रियां सती होगयीं।

रघोजी की गद्दीनशीनी—रघोजी भोंसले का राज्याभिषेक संस्कार २४ जून सन् १७७५ ईस्वी को नागपुर में मुधोजी ने संपन्न करवाया था। उस प्रसंग पर राजतिलक करने का कार्य नागपुर के गोंड राजा बुरहानशाह ने किया था।

सवाई माधवराव—इधर पूना की राजनीति ने करवट बदली। १८ अप्रैल सन् १७७४ को पेशवा नारायणराव की विधवा स्त्री को एक पुत्र हुआ। पूना दरबार के कारबारियों ने उस बालक (सवाई माधवराव) को पेशवा का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। अंग्रेज कम्पनी का हित राघोबा को पेशवा बनाने का था और वह इस समय अंग्रेजों के आश्रय में था। सूरत में उसने ६ मार्च सन् १७७५ ईस्वी को अंग्रेजों से एक संधि की और उसके अनुसार कर्नल कीटिंग के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना को लेकर राघोबा पूना के लिये रवाना होगया। इसका पूरा समाचार पूना में नाना फडनवीस को मिल गया था। इसी कारण नाना ने राघोबा से युद्ध करने के लिये हरिपन्त फडके के अधीन मराठों की सेना भेजी थी। आरस—नामक स्थान में हरिपन्त फडके ने राघोबा और अंग्रेजों को बुरी तरह हराया था। इससे यह लाभ हुआ कि–बागी राघोबा को सहायता देने के बाद पूना सरकार से बातचीत करने का तथा मास्टिन का अब फिर से पूना पहुंचने का मार्ग बन्द सा होगया। इससे कम्पनी लज्जित हुई और बंगाल के गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग ने दोरुखी चालें चलना आरंभ कर दी। उसने बंबई के अंग्रेजों की कार्यवाही को नाजायज ठहराया और सवाई माधवराव के प्रति स्नेह दर्शाया। कलकत्ते से मिस्टर आपटन पूना गया और वहां उसने पूना के मंत्रिमंडल को अपने वश में कर लिया। आपटन के प्रयास से पूना दरबार ने अंग्रेजों से पुरंदर में एक सन्धि की (३ जून सन १७७६ ईस्वी) जिसमें सूरत की सन्धि रद्द की गयी थी और यह भी आश्वासन दिया था कि भविष्य में वे राघोबा की सहायता नहीं करेंगे। इस सन्धि के अनुसार मास्टिन राजदूत बनकर पूना पहुंच गया।

मुधोजी और अंग्रेज—रघोजी भोंसले (द्वितीय) के वली की हैसियत से मुधोजी शासन के कार्य करता था और उसका दीवान महीपतराम था। कुछ दिनों के बाद उस पर गंभीर अभियोग लगाकर मुधोजी ने उसे गाविलगढ़ में बन्दी बनाकर रख दिया था। तब दीवानी का पद पुनः देवाजीपन्त को दिया गया था। उसने बंगाल के अंग्रेजों से बकाया चौथ की रकम वसूल करने के लिये पंडित बेनीराम को भेजा था। सन् १७७२ ईस्वी में भीषण अकाल के कारण उड़ीसा उजड़ गया था—उस समय वहां का सूबेदार बापूजी नायक था, किन्तु उसे शीघ्र ही वापिस बुलाया गया और महादजी हरि सूबेदार बनाकर भेजा गया था, पर आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हो पाया था। बेनीराम भी चौथ की रकम दिलाने में असमर्थ रहा था।

पुरंदर की सुलह के बाद वारन हेस्टिंग ने मराठों से बदला लेने के सम्बन्ध में जोरदार तैयारी आरंभ कर दी। उधर पूना का राजदूत केन्द्र में बैठकर मराठों को आपस में लड़ा देने का अवसर ताक रहा था। उसने पूना दरबार के

* ऐतिहासिक लेख संग्रह, पृष्ठ १३६।

एक मंत्री मोरोबा को फोड़ लिया और नाना फड़नवीस से सखाराम बापू को लड़ा दिया। इस झगड़े से नाना का पद मोरोबा को सौंपा गया और स्वयं नाना खिन्न होकर पुरंदर चला गया। मास्टिन के प्रोत्साहन से मोरोबा ने फिर से राघोबा को पेशवा बना देने का दाँव खेला। अंग्रेज मराठों से लड़ने के लिये जोरदार तैयारी कर रहे थे। वारन हेस्टिंग ने एक विशाल सेना कलकत्ते से बंबई की ओर भेज दी थी। इसी बीच में पूना के मंत्रिमंडल में अकस्मात् परिवर्तन होगया—जिसका मूल कारण मोरोबा की नीति थी। नाना फड़नवीस को अन्य मंत्रियों ने बुलाकर सारा प्रबंध उसे सौंप दिया। नाना ने एक बार फिर मराठों का संगठन दृढ़ करने का कार्य आरंभ कर दिया।

पेशवा से युद्ध के लिये जो विशाल सेना कलकत्ते में तैयार की गयी थी—उसे हेस्टिंग ने (मई सन १७७८ ई.) कर्नल लेसली के साथ बंबई की ओर रवाना कर दिया था। उसके जाने के मार्ग में सिंधिया, हुल्कर और भोंसले आदि मराठे सरदारों का राज्य आते थे। ये सब मराठा सरदार पेशवा को अपना नेता मानते थे। हेस्टिंग ने सेना रवाना करने के हेतु को गोपनीय रखा था—किन्तु प्रकट रूपमें यह कहा था कि इस सेना का हेतु भारतीय राजाओं के साथ युद्ध करने का नहीं है। इसी समय पंडित बेनीराम के द्वारा हेस्टिंग ने मुधोजी को यह कहलवाया था—कि "सातारा का राजा जो हाल ही में मरा है— वह निपुत्रिक है। मुधोजी शिवाजी के गोत्रज और वंशधर के नाते अपना दावा पेश करें—जिसका समर्थन अंग्रेज कम्पनी करेगी।" वारन हेस्टिंग चाहता था कि यदि मुधोजी उसकी योजना में शामिल हो जावे तो महाराष्ट्र से पेशवा को उखाड़ फेंकने में सहूलियत होगी।* इसी बुनियाद पर वारन हेस्टिंग ने एक फारसी पत्र दीवान देवाजीपन्त के पास भिजवाया था और अन्य बातों को समझाने के लिये मिस्टर इलियट† को नागपुर भेजा था। वास्तवमें इलियट का उद्देश्य था—"मुधोजी को मराठा-संघ से विभक्त करना।" इलियट के साथ उसका सहकारी राबर्ट फरक्कार, कप्तान विलियम कम्बेल और लेपिटनेंट अंडरसन थे। गवर्नर जनरल ने उसे यह भी अधिकार दे दिया था कि-"तुम राजा से साफ कह दो कि गवर्नर जनरल अपनी पूरी शक्ति से सातारा का समस्त राज आपको दिलाने को तैयार है।"

१० अगस्त सन् १७७८ ई. को राजदूत इलियट अपने कुछ साथियों के साथ कटक पहुंचा–उस समय वहां का सूबेदार राजाराम मुकुन्द था। कटक में कुछ दिन ठहरकर ये लोग नागपुर के लिये चल दिये। रास्ते के दूषित एवं मले-रियाजन्य वायु से इलियट बीमार होगया और १२ सितम्बर को सारंगढ़ राज्य के सेमरा गांव के निकट पहुंचते ही मर गया। उसके साथियों ने उसे वहीं दफना दिया था और उन लोगों ने आगे की यात्रा पूर्ण की। ये लोग लांजी, तिरोड़ा, बारसा के मार्ग से ११ नवंबर को नागपुर पहुंचे। इन लोगों की व्यवस्था पंडित बेनीराम ने नागपुर में की थी—क्योंकि उसका घनिष्ट सम्बन्ध वारन हेस्टिंग से था। इस प्रतिनिधि मंडल की कूटनीति सफल न हुई और १२ दिसंबर को नागपुर दरबार ने उनको बिदा कर दिया।

इसी बीच में कर्नल लेसली की जो सेना बंगाल से रवाना हुई थी–वह बुन्देलखण्ड के रास्ते से भोपाल होती हुई हुशंगाबाद पहुंच गयी थी। लेसली के मर जाने से उसका सेनापति कर्नल गोडार्ड था। भोंसला राज्य के भीतर से अंग्रेजी सेना को गुजरने की अनुमति प्राप्त करने के लिये उसने मिस्टर वादरटन को नागपुर दर्बार के पास भेजा था (वह १२ फरवरी सन १७७९ को हुशंगाबाद से चलकर १६ फरवरी को नागपुर पहुंचा था।) वादरटन ने राजा मुधोजी और देवाजीपन्त से चर्चा की थी। वादरटन लिखता है :-"राजा का दीवान दिवाकरपन्त बड़ा चतुर है और मुधोजी को वह कम्पनी के व्यूह में कदापि नहीं फंसने देगा और न वह पूना के पेशवा से विरोध ही करेगा। २८ फरवरी को वादरटन नागपुर से चला गया और अंग्रेजी सेना भी भोंसला राज्य से गुजर गयी।

* वारन हेस्टिंग ने इस विषय में लिखा भी है।

† इलियट–आयु २३ वर्ष की थी–लार्ड मिंटो का भाई था। उसका वेतन ४० हजार रुपये वार्षिक था।

वारन हेस्टिंग ने देख लिया था कि कूटनीति से समस्या हल न होगी—तब उसने युद्ध करने का निर्णय किया। उसने भोंसला, सिंधिया, हुल्कर, हैदरअली और निजाम सभी को उलझाने का प्रयास किया। पूना से १८ मील पर तलेगांव के मैदान में अंग्रेजी सेना को लेकर राघोबा ने मराठों के साथ युद्ध किया था–जिसमें अंग्रेज पूर्ण रीति से पराजित हुए थे। १३ जनवरी को अंग्रेजों ने पूना दर्बार से बड़गांव में संधि की। नाना फड़णवीस ने राघोबा पेशवा और दो अंग्रेज अफसरों को बंधक स्वरूप महादजी सिंधिया के हवाले कर दिया था। सुलह करने पर भी अंग्रेज अपनी चालबाजी से बाज नहीं आये थे। महादजी सिंधिया को जो पेशवा का विश्वासपात्र सेनापति था—अपनी ओर खींचने का कम्पनी ने प्रयास किया था। वह भी मायावी जाल में फंस गया और अंग्रेजों के साथ उसने एक गुप्त संधि की थी। इसी समय सिंधिया ने विश्वासघात करके राघोबा और दोनों अंग्रेजों को मुक्त कर दिया। राघोबा को फिर से अंग्रेजों ने मुहरा बना दिया—जिसको सामने करके अंग्रेजों ने मराठों को कुचलने का कार्य आरम्भ किया था। अन्त में कम्पनी ने सिंधिया को अंगूठा बता दिया था। पूना के नाना फडनवीस ने यह स्थिति देखकर मराठे सरदारों को पूना में आमंत्रित किया था। मुधोजी स्वयं तो नहीं गया था–पर उसका दीवान देवाजीपन्त उपस्थित था। निजाम और हैदर अली के प्रतिनिधिगण मंत्रणा करने के लिये पहुंचे थे। पूना की इस ऐतिहासिक बैठक में यह तय किया गया था–कि मराठे–निजाम और हैदरअली तीनों अपने-अपने क्षेत्र के अंग्रेजों पर आक्रमण करके उन्हें भारत से निर्वासित कर दें। * नाना ने अपना एक प्रतिनिधि दिल्ली भी भेजा था–जिसने नाना का पत्र सम्राट को दिया था। नाना ने लिखा था :—"उत्तर भारत में सम्राट और नवाबों को चाहिये कि देश के सभी राजाओं को मिलाकर अंग्रेजों का दमन करें। इससे मुगल साम्राज्य की कीर्ति और मान दोनों बढ़ेंगे।" पूना–निश्चय के अनुसार पेशवा के कारबारी ने मुधोजी से आग्रह किया था—कि वे बंगाल पर आक्रमण करके अंग्रेजों की शक्ति को नष्ट कर दें। मुधोजी ने इसे पूना में स्वीकार तो कर दिया था—पर किया कुछ नहीं। अंग्रेजों से धन पाकर वह संतुष्ट होगया था। इसतरह उसने नाना के साथ विश्वासघात ही किया था। †

मुधोजी का विश्वासघात—देवाजीपन्त पूनासे लौटकर नागपुर गया और वहां की सारी कार्यवाही से मुधोजी को परिचित कराया। वास्तव में मुधोजी अंग्रेजों से युद्ध करना नहीं चाहता था। साथ ही नाना को वह दिखाना चाहता था कि वह मराठा संघ का विश्वासपात्र सदस्य है। सन् १७७९ ईस्वी में दशहरा हो जानेपर मुधोजी भोंसले ने २० हजार घुड़सवारों के साथ अपने पुत्र चिमनाजी को बंगाल पर हमला करने के लिये रवाना किया था। प्रत्यक्ष रूपसे उसने यह प्रकट किया था-कि यह सेना अंग्रेजों पर आक्रमण करने के लिये भेजी गयी है-किन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे चिमनाबापूसे कह दिया था कि "जहांतक होसके संघर्ष न करते हुए बकाया चौथ की रकम भय दिखाकर अंग्रेजों से वसूल की जावे।" चिमनाबापू के साथ वृद्ध दीवान भवानीकालु इसलिये साथमें भेजा गया था। भोंसले का वकील पंडित बेनीराम जो कलकत्ते में था–उसे भी यही इशारा मुधोजी ने दिया था। ‡इस विषय का सारा रहस्य उस समय के उपलब्ध पत्रों द्वारा हो जाता है। रायपुर, रतनपुर और सम्बलपुर के रास्ते से मई सन १७८० ईस्वी को चिमनाबापू कटक पहुंचा था—अर्थात् इस यात्रामें उसने ८ मास व्यतीत किये थे। फिर भी वारन हेस्टिंग ने सतर्कतासे काम किया था।

वास्तव में मुधोजी की आर्थिक दशा अच्छी न थी और उसपर नागपुर के गुसांई साहुकारों का काफी कर्ज था। इसलिये वह पैसा चाहता था—जिसको वारन हेस्टिंग भी जानता था। उसपर भी मुधोजीने एक पत्र वारन हेस्टिंग

---

* The ministers (at Poona) and Sindia in conjunction with Hyder, Nizam Ali and Mudhoji Bhonsle mean to make a general attack upon the English at their several settlements and have entered into, and sealed written agreements for the purpose.

† लाला सेवकराम (पूना का वकील) जो कलकत्ते में रहता था—उसके पत्र ऐतिहासिक लेख संग्रह (मराठी में) छपे हैं।

‡ बेनीराम पंडित के सम्बन्ध में अंग्रेजी लेख—जो वारन हेस्टिंग के चरित्र में छपा है।

को (२५ जून सन १७८० ई.) भिजवाया था–जिसमें कहा गया था कि– "पेशवा की आज्ञा से हमने चिमनाजी को सेनासहित बंगाल की ओर भेजा है–पर उसका हेतु अंग्रेज कम्पनी के साथ शत्रुता करने का नहीं है चिमनाजी और भवानी कालू को यही हिदायत दी गयी है और यही कारण है कि उड़ीसा पहुंचने में ८ मास लगे हैं। यदि भोंसलों का इरादा युद्ध करना होता तो यह यात्रा दो मास में हो जाती।"

पंडित बेनीराम और कटक के सूबेदार राजाराम पन्त दोनों ने अंग्रेजों के प्रति सहृदयता का परिचय दिया था। उसका कारण यही था–कि वे लोग कम्पनी द्वारा पुरस्कृत किये गये थे। अंग्रेजी कागज पत्रों से पता चलता है कि कम्पनी ने भोंसलों से एक संधि करने का एक प्रस्ताव रखा था—जिसे लेकर २३ जनवरी सन् १७८१ को मिस्टर अंडरसन चिमनाजी के पास गया था। उस संधि की शर्तें ये थी :—

(१) चिमनाजी सेना लेकर नागपुर वापिस लौट जावे। (२) कम्पनी १५ लाख रुपये सहायता देगी। (३) पिछले नवाब ने भोंसले से चौथ की जो सन्धि की थी–उसका उत्तरदायित्व कम्पनी पर नहीं है। (४) भोंसले गया की ओर न जांय। इसके अतिरिक्त कम्पनी ने चिमनाजी भोंसले, भवानी कालू, उड़ीसा के दीवान राजारामपन्त तथा अन्य लोगों को भी पृथक् पुरस्कार दिया था–किन्तु वह रकम २ लाख से अधिक न थी। अंडरसन की शर्तें नागपुर भेज दी गयी थीं। वारन हेस्टिंग ने प्रलोभन के द्वारा भोंसलों को विवेकहीन बना दिया था। इसी प्रसंग पर हेस्टिंग ने राजारामपन्त के द्वारा यह भी कहलवाया था–कि "जबतक मुधोजी जीवित है–तबतक के लिये चिमनाजी के हित सुरक्षित हैं परन्तु उसके मरनेपर उसे बड़े भाई की कृपा पर जीवित रहना होगा—क्योंकि वह राज्य का मालिक है। इससे अच्छा तो यही है कि वह एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करे।" वृद्ध भवानी कालू के साथ में होने से अंग्रेजों का जादू चिमनाजी पर न चल सका था। एक मास के पश्चात मुधोजी ने कम्पनी की निम्न शर्तें मान्य की थीं।

(१) हैदरअली से लड़ने के लिये २ हजार घुड़सवार मुधोजी भोंसले कम्पनी को देवे—जिसका खर्चा १ लाख रुपये कम्पनी देगी। (२) गढ़ा मण्डला पर हुकूमत जमाने में कम्पनी मुधोजी से सहयोग करेगी। (३) कम्पनी भोंसलों को १३ लाख रुपये पुरस्कार देती है और १० लाख का कर्जा प्रतिशत ८ टका वार्षिक ब्याज पर देगी। कर्ज की वसूली उड़ीसा की आय से २ वर्षों में की जायगी।

६ अप्रैल सन १७८१ ईस्वी को कम्पनी के डायरेक्टरों ने उक्त शर्तें मान्य की थी। इसी वर्ष दीवान चोरघड़े देवाजीपन्त का स्वर्गवास होगया था और चिमनाजी वर्ष के अंत में बंगाल से नागपुर लौटा था।

पेशवा और अंग्रेज:—कर्नल गोडार्ड अपनी विशाल सेना लेकर मराठों के राज्य में घुस गया—जिससे कल्याण, बसई तथा कोंकण प्रदेश में तहलका मच गया था। यह वृत्तांत नाना फडनवीस ने सुना तो उसने अंग्रेजों को बोरघाट में रोकने के लिये मराठों की सेना भेज दी—जिसके प्रमुख सरदार हरिपन्त फड़के, परशराम भाऊ और हुल्कर थे। मराठों ने पहाड़ी अंचल में अंग्रेजी सेना को घेर कर नष्ट कर दिया (अप्रैल सन १७८१ ईस्वी) जिससे वे भाग गये और थोड़े से सैनिक किसी कदर बंबई पहुंचे थे। इस तरह अंग्रजों की यह तीसरी हार थी।

इसी बीच में वारन हेस्टिंग ने उत्तर भारत में खूब दाव पेंच खेले। उसने महादजी सिंधिया को मध्यभारत में खूब त्रस्त करवाया था—जिससे उसकी दशा विचित्र सी होगयी थी। मार्च सन् १७८१ ईस्वी में कर्नल कारनक ने सिंधिया को कई स्थानों में हराया था जिससे वह तबाह होगया था। मुधोजी का बंगाल का आक्रमण तो वह पहले ही विफल कर चुका था। अब दो शक्तियां मैदान में थी, निजाम और हैदरअली—इन को फोड़ने का हेस्टिंग ने भरसक यत्न किया था। निजाम के साथ उसे सफलता मिली किन्तु हैदर उसके झांसे में नहीं आया।

कर्नल गोडार्ड हारकर बंबई पहुंचा और जब हेस्टिंग ने यह समाचार सुना तो उसे भारी सदमा पहुंचा और उसने पेशवा से संधि करने में अपनी भलाई समझी। हेस्टिंग ने मुधोजी भोंसले से प्रार्थना की थी कि वे मध्यस्थ बनकर पेशवा

से अंग्रेजों की संधि करा दें। इसके लिये उसने मिस्टर ऍण्डरसनको नागपुर भेजा था। मुधोजी नाना के साथ विश्वास-घात कर चुका था—इसलिये उसे नाना से कुछ कहने का नैतिक साहस न था। तब हेस्टिंग ने १३-१० सन १७८१ ई. को सिंधिया से संधि करली और उसके द्वारा नाना फड़नवीस से संधि की चर्चा की। इसी समय मद्रास की ओर अंग्रेज हैदर से लड़कर हार चुके थे। १७ मई सन् १७८२ ईस्वी को कम्पनी ने सालबाई नामक स्थान में पेशवा के साथ संधि की—जिससे नाना फड़नवीस की कुशलता प्रकट होती है। फिर भी नाना की राजनीति सफल न हुई। उसके सरदारों ने—सिंधिया, भोंसले और गायकवाड ने उसे धोखा दिया और इसी समय हैदरअली भी मर गया था। फिर भी हेस्टिंग ने गिरती हुई बाजी को सम्हाल लिया—जिससे कम्पनी के विकास में सहारा मिला था। इसके बाद ४–५ वर्ष शांति के साथ बीते थे। उस समय वारन हेस्टिंग भारत से विलायत चला गया और लार्ड कार्नवालिस गवर्नर जनरल होकर कलकत्ते आया था।

जार्ज फारेस्टर द्वारा भोंसले राज्य की समीक्षा—टीपू और मराठों की संधि होने का समाचार—जब लार्ड कार्न-वालिस के कानों तक पहुंचा तो उसने तुरन्त २३ अक्टूबर सन १७८७ ईस्वी को जार्ज फारेस्टर नामक एक अंग्रेज को इसलिये नागपुर भेजा था कि वह राज्य का पूरा विवरण गवर्नर जनरल के सामने पेश करे और साथ ही टीपू के विरोध में मुधोजी को लड़ा करे। यह राजदूत १० फरवरी सन १७८६ को नागपुर से वापिस कलकत्ता रवाना हुआ था। उसने एक रिपोर्ट लार्ड कार्नवालिस को दी—जिसका सारांश नीचे दिया जाता है :—

"भोंसला राज्य की वार्षिक आय ६० लाख रुपये है। नागपुर में राजा की सेना में ६ हजार घुड़सवार तथा चार सौ पुलिस सैनिक हैं। किलेदारों के पास इसके अतिरिक्त सैनिक मय युद्ध सामग्री के हैं। सैनिकों को नियमपूर्वक वेतन नहीं दिया जाता है और कभी-कभी साल भर का वेतन बकाया रह जाता है। ऐसी अवस्था में वे लोग मोदियों से उधार लेकर गुजारा चलाते हैं।"

"भोंसलावंश—नागपुर के गोंड राजा के साथ सम्मान का व्यवहार करता है मुधोजी प्रायः कहा करता है कि राजा बुरहानशाह ने इस वंश को राज सौंपा है इसलिये उसे ३ लाख रुपये गुजारे को दिये जाते हैं। ६० वर्ष का वृद्ध बुरहानशाह अपने महल में राजा के समान रहता है। भोंसले लोग दशहरे पर उसके यहां जाकर सम्मान व्यक्त करते हैं।"

"मुधोजी भोंसले के तीन पुत्र हैं—उनमें रघोजी केवल शासन कार्य में भाग लेता है। मंझले चिमना बापू को निम्बाजी की रानी ने गोद लिया है—इसलिये वह छत्तीसगढ़ का राजा कहलाता है, किन्तु वह रतनपुर नहीं जाने पाता। सबसे छोटा पुत्र व्यंकोजी भी नागपुर में रहता है और उसे दीवान पद सौंपा गया है। रघोजी को उसकी प्रजा "बनिया राजा" कहती है।"

"राज्य का प्रमुख अधिकारी बक्षी है—जो सेनापति भी है। फारसी का पत्र-व्यवहार मुंशी के अधीन है—मराठी में पत्र-व्यवहार-चिटनवीस करता है। दीवान भवानी काळू ७० वर्ष का वृद्ध है—रघोजी उससे असंतुष्ट है—क्योंकि वह चिमनाजी को चाहता है। रघोजी महादजी लष्करी को दीवान बनाना चाहता है—किन्तु मुधोजी को वह पसंद नहीं है। उसी तरह भवानी मुंशी की आयु ८० वर्ष की है। बाबाजी चिटनवीस और खजानची चिमनाजी अप्पा भी प्रमुख कारबारी हैं। मुधोजी का मुंहलगा खासगी कारबारी जानराव है—उसके पास राजा की मुहर रहती है और उसी तरह शेख मुहम्मद से राजा की दिल्लगी होती है।"

"मुधोजी की आयु ५०–६० के लगभग होगी। वह मध्यम कद का कसा हुआ सैनिक है। आंखें बड़ी-बड़ी और नाक सीधी है—किन्तु आगे का भाग मिला हुआ है। मूछों और कल्लों से उसका चेहरा रुआबदार है। वह सभी से मिलता-जुलता है। उसने जीवन में कई लोगों के साथ विश्वासघात किया है। वह अपने सैनिकों को समय पर वेतन नहीं दे पाता—जिसके कारण सैनिक कभी कभी राजद्वार पर जाकर धरना देते हैं। कभी-कभी सैनिकों ने उस पर हमले भी किये हैं—जिससे उसके शरीर पर कई जख्म हैं। आश्वासन देकर पलट जाना—यह उसके लिये साधारण सी बात है। वह अपने—कर्मचारियों से डरा धमका कर भी रकम वसूल करता है।"

"७–८ वर्ष होगये हैं—नागपुर में उदयपुरी गुसांई एक प्रमुख साहूकार था। उसने मुधोजी भोंसले को ५० लाख का कर्ज दिया था। जीवन भर वह कर्ज चुका नहीं सका—अन्त में उसने एक युक्ति सोची। उदयपुरी के २ चेले थे—उनमें से एक पर उसने एक रांड को मार डालने का अभियोग लगाया। मुधोजी ने पुलिस भेजकर उसे पकड़ मंगाया और उदयपुरी पर ५० लाख जुर्माना किया। उदयपुरी से अपना लिखा हुआ कर्ज-पत्र लेकर उसने उसका वैभव समाप्त किया। इस अत्याचार से दुःखी हो—उदयपुरी नागपुर छोड़कर बनारस चला गया।"

"नागपुर के प्रसिद्ध वकील पं. बेनीराम के पास काफी सम्पत्ति है। वह मुधोजी का विश्वासपात्र है। बेनीराम का भाई विश्वंभर अपनी हवेली में बनारस से आकर रहता था। मुधोजी ने उससे कर्ज मांगा था—पर उसने नहीं दिया। मुधोजी ने उसे इसलिये तंग नहीं किया—क्योंकि वह अंग्रेजों का मित्र था।"

भोंसला-राज्य की सीमा:—"उसके राज्य के उत्तर में शेर नदी बहती है—पूर्व में कटक और जगन्नाथपुरी, पश्चिम में बरार और दक्षिण में गोदावरी नदी है।"

भोंसला राज्य के निम्न सूबों की आय इस तरह थी :–

नागपुर प्रान्त	वार्षिक आय	१८ लाख रुपये
बरार प्रान्त	वार्षिक आय	१० लाख रुपये
बैनगंगा प्रान्त	वार्षिक आय	२ लाख रुपये
*कटक प्रान्त	वार्षिक आय	१७ लाख रुपये
रतनपुर प्रान्त	वार्षिक आय	३ लाख रुपये
मुलताई प्रान्त	वार्षिक आय	२ लाख रुपये
राज्य की अन्य आय		७ लाख रुपये
	कुल आय	५९ लाख रुपये

उक्त आय में १६ लाख रुपये परस्पर बाहर ही व्यय हो जाता था।

नागपुर के गोंड राजा को पेंशन	३ लाख रुपये वार्षिक।
सिवनी के जागीरदार को पेंशन	३ लाख रुपये वार्षिक।
बरार का सैनिक व्यय – – –	३ लाख रुपये वार्षिक।
कटक का सैनिक व्यय – – –	७ लाख रुपये वार्षिक।

मुधोजी की सेना :—

१. घुड़सवार :—	२००० सरकारी बारगीर।
	४७०० नागपुर के किल्लेदारों के पास।
	३०० सिवनी के जागीरदार के पास।
	२००० कटक के सूबेदार के पास।
	१५०० गंगथडी के सूबेदार के पास।
	१०,५०० घुड़सवार।

*भोंसले के शासनकाल में सूबा कटक की आय (मि. बनर्जी द्वारा उड़ीसा का इतिहास)

शिवभट साठे के समय में आय	१०,७८,४४१	रुपये।
गणेश संभाजी के समय में आय	१५,६०,८११	रुपये।
राजाराम मुकुन्द के समय में आय	१४,४४,७४०	रुपये।
व्यंकोजी सकदेव के समय में आय	१५,९५,९९१	रुपये।

पैदल सैनिकों का ब्योरा रिपोर्ट में नहीं है। राजा के पास २०० हाथी थे। भोंसलों के पास M मार्क की १५ तोपें थीं— जिसके चलाने वाले २ अंग्रेज, १ फ्रेंच और कुछ पोर्तुगीज थे। राजा के पास जो हिन्दुस्थानी तोपखाना था—उसका प्रधान अफसर मीर यूसुफ था। राजा का एक नवीन महल बन रहा है और साथ में अन्य इमारतें—जिन-पर काफी व्यय हो रहा है।"

मुधोजी वास्तव में मराठा संघ का प्रभावशाली सदस्य था। आर्थिक कारणों से उसका बल टूटता ही गया और महादजी सिंधिया का बल बढ़ता जा रहा था और यहां तक कि वह दिल्ली सम्राट का संरक्षक बना हुआ था। मुधोजी भोंसले के साथ अंग्रेजों ने अब इस तरहका व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया था कि जिससे सिंधिया को सन्देह होगया कि अंग्रेज मेरे विरुद्ध मुधोजी को तैयार कर रहे हैं। मराठा मंडल को अंग्रेज पंगु बना रहे थे।* गायकवाड और मुधोजी तो एक तरह से पृथक् भी थे-किन्तु हुलकर और सिंधिया के संघर्ष ने तो उसे सन्निपात की अवस्थामें पहुंचा दिया था। ऐसी अवस्था में संघ की इमारत पेशवा पर ही खड़ी थी। दैवयोग से १६ मई सन् १७८८ ई. को नागपुर में मुधोजी का स्वर्गवास होगया था।† उसके कुछ मास पूर्व ही अर्थात् ७ दिसंबर सन् १७८७ ई. को बिंबाजी भोंसले का रतनपुर में देहांत हो चुका था। मुधोजी के २ स्त्रियां, ३ पुत्र और ३ कन्याएं थीं। रघोजी आदि की माता चिमाबाई थी। मुधोजी के बाद चिमनाबापू का स्वर्गवास १५ अक्टूबर सन १८१० को होगया। जिसके साथ उसकी ४ स्त्रियां सती हुई थीं।‡

रघोजी भोंसले (द्वितीय)

फारेस्टर का नागपुर में आगमन :—मुधोजी के मरने पर रघोजी पूर्ण रूप से स्वतंत्र होगया था। उसका दीवान श्रीधर मुंशी था। अंग्रेजों का प्रभाव देश में काफी बढ़ चुका था। लार्ड कार्नवालिस ने पेशवा और निजाम को मिलाकर टीपू को कुचल दिया था। उड़ीसा पर भोंसले का आधिपत्य होनेसे कम्पनी के कार्यों में बड़ी असुविधा होती थी—इसलिए कोई न कोई मार्ग निकालने के लिये गवर्नर जनरल ने फारेस्टर को फिर से नागपुर भेजा था—जो ३१ मार्च सन् १७९० ईस्वी को कटक पहुंचा था और उसके साथ में दूसरा अफसर सेवी था। फारेस्टर ने अपने प्रवास का सुन्दर वर्णन लिखा है—जिससे मराठा राज्य का परिचय मिल जाता है। उस समय कटक का सूबेदार राजाराम नागपुर गया था—क्योंकि २-३ वर्ष में उसे हिसाब समझाने के लिये नागपुर जाना पड़ता था। उड़ीसा की जमा ठेकेदारी पद्धति से वसूल होती थी। समस्त प्रदेश की आय २२ लाख के लगभग होगी—किन्तु खर्च घटाने पर राजा को प्रतिवर्ष १०.लाख रुपये भेजे जाते थे। उस समय उड़ीसा में कौड़ियों के द्वारा क्रय विक्रय होता था। यहां की मुख्य आय जमींदारी और जकात से थी। जो हिन्दू जगनाथ के दर्शन के लिये पुरी पहुंचते थे—उनको फी यात्री १० रुपये कर देना पड़ता था—किन्तु दक्षिण के लोगों को ६ रुपये देना पड़ता था। गरीब और साधु उस कर से वंचित किये

---

* गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग ने जांच के अवसर पर पालिमेंट में कहा था—"महान् भारतीय संघ के सदस्य निजाम को मैंने योग्य अवसर पर उसका कुछ इलाका वापिस करके उसे संघ से अलग किया था। दूसरे मुधोजी भोंसले के साथ मैंने गुप्त पत्र-व्यवहार जारी रखा था और मैंने अपना मित्र बनाया था। तीसरे महादजी सिंधिया को दूसरे कामों में लगाकर और पत्र-व्यवहार करके मैंने उसे भुलावे में रखा था और सुलह के लिये बतौर यंत्र के उसका उपयोग किया था।

† मुधोजी की मुहरछाप पर निम्न श्लोक अंकित था :—

"शाहू प्रसादेन रघोजी सुयशोधरः।
तत्सूनास्तु मुधोजी नाम्नस्तस्य मुद्रा विराजते।"

‡ नागपुर के रघोजी भोंसले ने २१ अप्रैल सन् १७७६ ईस्वी को निम्न परगने अपने मंझले भाई चिमनाबापू को निजी खर्च के लिये दे दिये थे—दारव्हा, गिरोली, महागांव, खडी, धामनी, माहूर, भाम आदि।

जाते थे। बंगाल से नागपुर जाने का सीधा मार्ग "बारमल" घाटी से गुजरता था—वही उड़ीसा का द्वार था। बारमल के निकट का सारा इलाका "दासपल्ला" कहलाता था–जो एक धनिक जमींदार के अधीन था। यह जमींदार मराठों को कोई उबारी नहीं देता था।"

फारेस्टर जब सोनपुर पहुंचा था–तब वहां के राजा प्रीतमसिंह ने उनको अपने यहां ठहराया था। यहां के राजा ने उसे मराठों के अत्याचारों की कहानियां सुनायी थीं। सोनपुर से ये लोग १८ मई को रायपुर में ठहरे थे—जोकि उस समय व्यापार का केन्द्र था। छत्तीसगढ़ का वह नगर बरढान है। एक बड़े तालाब के तटपर यहां का किला है–जिसके ५ द्वार और कई बुर्जियां हैं। यहां से चलकर ३ जून को फारेस्टर नागपुर पहुंच गया था। कई दिनों तक प्रतीक्षा के बाद १५ जून को राजा ने महल में मुलाकात की इजाजत दी और उसी दिन उसने गवर्नर जनरल का पत्र राजा को दिया था। उसे यह भी पता चला था कि इसी समय वहां पेशवा और निजाम के हरकारे पत्र लेकर पहुंचे थे। उनके पत्रों में राजा से अनुरोध किया गया था–कि टीपू के साथ युद्ध करने के लिये भोंसले उनको सहायता करें। उसे यह भी पता चला था कि नागपूर का राजा इस युद्ध में कोई हिस्सा नहीं लेगा। फिर भी राजा ने कहा था कि वह कम्पनी को ८ हजार घुड़सवार देने को तैयार है और प्रति सवार के पीछे वह कम्पनी से ४०० सौ रुपये खर्च के लेगा। उसने राजा से कई बार भेंट की थी–पर कोई फल नहीं निकला। इसी बीच में ५ जनवरी सन १७९१ को फारेस्टर का नागपुर में देहान्त हो गया और उसकी अंत्येष्टि किया करके उसके साथी कलकत्ते वापिस लौट गये थे।

खर्डा का युद्ध :–निजाम और पेशवा का चौथ का झगड़ा बहुत दिनों से चला आरहा था–उसको अंग्रेजों ने और भी बढ़ा दिया–जिससे पेशवा ने निजाम से युद्ध करने की तैयारी की और सभी मराठे सरदारों को पूना पहुंचने का आग्रह किया था। नागपुरसे १५ हजार घुड़सवार लेकर रघोजी पूना में दाखिल होगया था। इस तरह सभी सरदारों की सेना मिलाकर मराठों की १॥ लाख सेना होगयी थी। इस सम्मिलित सेना का नेतृत्व दौलतराव सिंधिया और परशुराम पटवर्धन को सौंपा गया था। मराठों ने जब निजाम पर आक्रमण किया तब उसने अंग्रेजों से सहायता मांगी थी–पर गवर्नर जनरल जान शोर ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया था–यहांतक कि कम्पनी सहायक सेना जो हैदराबाद में रहती थी—उसने भी सहायता देने से इन्कार किया था। फिर भी निजामअली १ लाख १० हजार सैनिक लेकर मराठों से युद्ध करने के लिये हैदराबाद से रवाना हुआ—जिसका सेनापति असदअली खां था। प्रारंभ में ही मराठों ने निजाम के सैनिकों को मार भगाया—जिससे वे लोग खर्डा के किले में चले गये थे। मराठों ने उसे घेर लिया और दो-तीन दिनों में उसने हिम्मत त्याग दी। नतीजा यह हुआ था कि १५ मार्च सन १७९५ ईस्वी को* खर्डा के युद्ध में निजाम पूर्ण रूप से हार गया और उसने पेशवा से संधि की—जिसके अनुसार पेशवा को २२ लाख आय का प्रदेश प्राप्त होगया था। पेशवा ने अपनी ओर से रघोजी भोंसले को नर्मदा के समीप का इलाका (नरसिंहपुर, बैतूल, हुशंगाबाद तथा भोपाल के आसपास का इलाका) पुरस्कार के रूप में दे दिया था—जिसकी आय ३ लाख १८ हजार वार्षिक थी। मई मास में रघोजी पूना जाकर नागपुर के लिये रवाना हुआ था। रास्ते में जालना के निकट उसे २७ अक्टूबर को सवाई माधवराव की आत्महत्या का समाचार मिला।

सवाई माधवराव ने २५ अक्टूबर को जान बूझकर अपने महल के छज्जे से कूद कर आत्महत्या की थी–और उसके मरते ही पूना दर्बार में मतभेद निर्माण होगया। मृत पेशवा के कोई संतान न थी और इसलिये नाना फडनवीस ने घोषित किया था कि पेशवा की रानी यशोदाबाई गोद लेवे–जिसे सब मराठा सरदार तय करें। किन्तु अंग्रेज रेजिडेन्ट ने राघोबा के पुत्र बाजीराव को खड़ा करके मराठों में फूट का बीज बो दिया। इंदौर के तुकोजीराव ने इसका समर्थन किया था–जो पूर्णतया अंग्रेजों के अनुकूल था। पूना दर्बार में भी केवल नाना

* खर्डा–बंबई से पूर्व की ओर ६१ मील पर है।

अलग रह गया था। इसलिये † बाजीराव ने स्वयं अपने को "पेशवा" घोषित किया और नाना पर कई अभियोग लगाये थे। जिसके कारण नाना को जान बचाने के लिये पूना से भागना पड़ा था। किन्तु शीघ्र ही वह पकड़ा गया और बाजीराव ने उसे बन्दीखाने में रख दिया। चार्ल्स मेलट ने पूना से एक पत्र में लिखा था—"जबतक पूना दर्बार में नाना है—तबतक मराठा राज्य में मजबूती से अपने पैर जमा सकने की हमें स्वप्न में भी आशा नहीं करनी चाहिए।"

इसी वर्ष के अन्तिम मास में बाजीराव को पेशवाई पर अभिषिक्त करने का एक समारोह पूना में हुआ था—जिसमें भाग लेने के लिये स्वयं रघोजी वहां गया था। कहते हैं कि इसी प्रसंग पर पेशवा को भोंसले ने २६ लाख का नजराना दिया था। बाजीराव ने भी मण्डला इलाका तथा जबलपुर नगर उपहार के तौर पर दिया था।

सन १७९९ ईस्वी में प्रसिद्ध मीरखां पिंडारी ने सागर राज्य में तहलका मचा दिया था और वह उस जिले में कई दिनों तक रहा था। पिंडारियों के दमन की ताकत सागर के सूबेदार रघुनाथराव (आबासाहब) में न थी उसने सहायता के लिये पूना समाचार भेजा था—इसपर बाजीराव ने रघोजी से अनुरोध किया था—कि वह सागरवाले की सहायता करे। इस पर रघोजी ने अपनी घुड़सवारों की सेना सागर भेजी था और उसने मीरखां को वहां से खदेड़ दिया था। इस सहायता के लिये सागर के सूबेदार ने तेजगढ़ परगना भोंसलों को दिया था।

यशवंतराव हुल्कर:—पूना की राजनीति से नाना फडनवीस के हटने से पेशवा पर अंकुश रखनेवाला एक मात्र दौलतराव सिंधिया था—जो अंग्रेजों की चालों को अच्छी तरह जानता था। इसी समय मार्क्विस वेलजली और उसके भ्राता कर्नल वेलजली (जो बाद में ड्यूक आफ वेलिंगटन कहलाया था।) ने भारतीय राजनीति में जो हिस्सा लिया—उसके कारण अंग्रेजों का शासन देश में मजबूती से फैल गया था। आरंभ में कम्पनी ने सिंधिया और भोंसले को मराठा संघ से अलग-अलग करने का यत्न किया था—किन्तु दोनों अंग्रेजों से छटकते ही रहे। ऐसे समय में १५ अगस्त सन् १७९९ ईस्वी को तुकोजीराव हुल्कर मर गया। उसके दो बेटे काशीराम और मल्हारराव और दो दासी पुत्र यशवंतराव और विठोबाजी—राज्य के लिये झगड़ पड़े थे। यशवंतराव वास्तव में मल्हारराव को इंदौर की गद्दी पर बैठाना चाहता था। दौलतराव ने काशीराम का पक्ष लेकर विरोधियों से युद्ध छेड़ दिया परिणाम यह हुआ—कि यशवंतराव भागकर नागपुर चला गया; क्योंकि उसको विश्वास था कि रघोजी उसकी सहायता करेगा पर वह तो किसी भी मूल्य पर सिंधिया से विरोध नहीं करना चाहता था। दौलतराव के वकील के कहने से रघोजी ने यशवंतराव को कैदखाने में पटक दिया था और उसके पास जो सम्पत्ति थी वह ले ली। फिर भी वह किसी तरह जेलखाने से निकल गया और नागपुर से भागकर महेश्वर चला गया। जहां अंग्रेजों ने उसको प्रबल बनाया—इसलिये कि वह सिंधिया का प्रबल प्रतिस्पर्धी हो।

राजदूत कोलब्रुक। सिंधिया से भोंसलों को अलग करने के लिये वेलजली ने मिस्टर कोलब्रुक को प्रतिनिधि बनाकर नागपुर भेजा—जो १८ मार्च सन १८९९ ईस्वी को नागपुर पहुंचा था। रघोजी उस समय पुरी की यात्रा से वापिस लौटा था। उसने राजा से मिलकर कम्पनी की सेना रखने (सबसीडियरी संधि) का अनुरोध किया था। वेलजली ने (३ मार्च के) पत्र में यह हिदायत दी थी कि—"बरार के राजा का राज्य ऐसे मौके पर है कि दौलतराव सिंधिया के विरुद्ध उसकी सहायता हमारे लिये हितकारी साबित होगी।" इसी समय वेलजली ने हैदराबाद के राजदूत कर्कपैट्रिक को जो पत्र भेजा था—उसमें कोलब्रुक को नागपुर भेजने का उल्लेख करते हुए लिखा था—"अच्छा होगा कि बरार के राजा और कम्पनी के बीच यह सम्बन्ध हैदराबाद दर्बार को मध्यस्थ बनाकर पक्का किया जाय और अन्त में शायद सिंधिया और टीपू दोनों के विरुद्ध एक परस्पर सहायता संधि कर ली जाय..... जबतक मैसूर का युद्ध समाप्त न हो—तबतक सिंधिया से विरोध करना उचित न होगा।"

---

† सन् १७८२ की संधि के अनुसार अंग्रेजों ने राघोबा पेशवा को सौंप दिया था। उसने नाना की राय से राघोबा को गोदावरी के तटपर कोपरगांव में रख दिया था और वहीं वह सन् १७८४ के आरंभ में मर गया था। उस समय बाजीराव की अवस्था ६ वर्ष की थी।

कोलब्रुक नागपुर में २ वर्ष तक रहा था। उसने नागपुर में रहकर नागपुर दर्बार के कारबारियों से घनिष्ट सम्पर्क स्थापित किया था और धन का प्रलोभन देकर उनको फांसने का प्रयास किया था। परन्तु कोलबुक को कोई अधिक सफलता नहीं मिली और अन्त में गवर्नर जनरल से कह दिया कि यहां रहने से कोई लाभ न होगा। तदनुसार १८-५ सन् १८०१ ईस्वी में वह नागपुर से चला गया।

सिंधिया और हुल्कर—यशवंतराव हुल्कर ने महेश्वर में पहुंचकर अपना संगठन तैयार किया—जिसमें अंग्रेजों ने सहयोग दिया था। उसका भाई विठोजी भागकर कोल्हापुर चला गया—जहां पेशवा के सैनिकों द्वारा मारा गया था। यशवंतराव ने दौलतराव को नीचा दिखाने के लिये उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस कारण से सिंधिया कुछ सेना पुना में छोड़कर मध्यभारत में पहुंच गया। मालवा में हुल्कर के साथ सिंधिया को कई युद्ध करने पड़े थे। २५ अक्टूबर सन १८०२ ईस्वी को यशवंतराव हुल्कर ने अचानक पूना पर आक्रमण किया—क्योंकि पेशवा से भाई का बदला लेना उसे आवश्यक था। इस कार्य में बंबई के अंग्रेजों का उसे प्रोत्साहन था—क्योंकि अंग्रेज चाहते थे कि पेशवा दौलतराव सिंधिया के अनुकूल न रहे। पूना में हुल्कर की सेना से सिंधिया की सेना ने युद्ध किया—किन्तु उनका युरोपियन सेनापति फाइलास हुल्कर से जा मिला था—इस कारण बाजीराव और सिंधिया की संयुक्त सेना इस युद्ध में हार गयी थी। तब बाजीराव भागकर सिंहगड और वहांसे महाड़ होता हुआ स्वर्णदुर्ग चला गया। किन्तु वहां से भी उसे भागना पड़ा। तब वह कम्पनी के एक जहाज में बैठकर १६ दिसंबर को बसई चला गया। २४ दिसंबर के पत्र में वेलजली ने लिखा है—"मराठा राज्य में जो झगड़े होगये हैं—उससे ऐसी स्थिति निर्माण होगयी है कि जो अंग्रेजी राज्य के स्थायित्व के लिये अत्यंत महत्व की है। ......ज्ञात होता है कि देश के इस भाग में अंग्रेज जाति के हितों को ठोस आधार शिला प्राप्त होगयी है। इस संयोग से बड़कर दूसरा अवसर पहले कभी नहीं आया था।"

पेशवा द्वारा संधि करना—इस समय अंग्रेज यशवंतराव हुल्कर और बाजीराव पेशवा दोनों को खिला रहे थे। पूना से बाजीराव के भाग जाने पर हुल्कर ने उसके भाई अमृतराव को पेशवा बना दिया। यह नाटक रेजिडेन्ट क्लोज के इशारे पर हो रहा था। बाजीराव को दिखाया गया कि वह यदि संधि न करेगा तो उसे पेशवाई से हाथ धोना पड़ेगा। उसने ऐसी असहाय स्थिति में अंग्रेजों से जो संधि की—वह मराठा राज्य के लिये घातक थी। बसई की इस संधि से मराठा-मण्डल को वेलजली बंधुओं ने नष्ट कर दिया। संधि होते ही पूना के रंगमंच से यशवन्तराव हुल्कर और अमृतराव पेशवा गायब होगये। १३ मई को अंग्रेजों ने बाजीराव को बसई से लाकर पूना की गद्दीपर बिठलाया। नवीन संधि के अनुसार अंग्रेजों की सहायक सेना पूना में आकर सदा के लिये रख दी गयी। प्रसिद्ध लेखक मिल ने कहा है—'भारत में ब्रिटिश राज्य की पक्की नींव जमाना और भावी शान्ति की स्थापना दोनों उस समय तक असंभव थे—जिस समय तक कि मराठा शक्ति के मुख में लगाम न दे दी जाय।"

मराठों का दूसरा युद्ध—"मराठा-मण्डल" के पांचों सदस्यों की यह प्रतिज्ञा थी कि—आपत्ति के प्रसंग पर एक दूसरे की सहायता करेंगे और पांचों की सलाह बिना किसी अन्य ताकत के साथ किसी तरह की संधि नहीं करेंगे; इस नैतिक बंधन में सिंधिया, हुल्कर, गायकवाड़, भोंसले और पेशवा बंधे हुए थे। उनमें से पेशवा दौलतराव सिंधिया और रघोजी भोंसले को महत्व देता था। दोनों यह समझते थे कि पेशवा ने बसई में संधि करके अनुचित कार्य कर डाला है। वेलजली यह अच्छी तरह समझता था कि दोनों की स्वीकृति आवश्यक है। वह यह भी जानता था—कि संधि की शब्दावलि दोनों को ज्ञात हो गयी—तो वे निश्चय ही विरोध करेंगे। इसी कारण से वेलजली ने उस संधि को गुप्त रखा—जिसके सम्बन्ध में वेलजली ने (१६ अप्रैल सन् १८०३ ई. को भेजा हुआ पत्र—जो उसने कम्पनी के डायरेक्टरों को भेजा था।) स्वयं लिखा है—दौलतराव ने बाजीराव का पुनः पेशवा बनाया जाना स्वीकार कर लिया है—किन्तु सन्धि के विषय में उसने कर्नल कालिन्स से स्पष्ट कह दिया है, कि जब तक सन्धि की सब शर्तें और बाजीराव के विचार मुझे ठीक ज्ञात न होंगे—मैं अनुमति नहीं दूंगा। इसी तरह नागपुर के रघोजी राव ने बसई की सन्धि पर अपनी अनुमति नहीं दी है।"

पुनः पेशवा होते ही बाजीराव ने उक्त दोनों सरदारों को पूना बुलवाया था। सभी लोग जानते थे कि जबतक भोंसले और सिंधिया सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे—तब तक वह पक्की नहीं मानी जायगी। दौलतराव सिंधिया ने बड़ी चतुराई से भोंसले और हुल्कर को एक स्थान में एकत्रित होने का बुलावा दिया और स्वयं बुरहानपुर में आकर ठहर गया। नागपुर से रघोजी भी बड़ाली के लिये रवाना हो गया जो बुरहानपुर से १०० मील पश्चिम में है। ३ मई सन् १८०३ को सिंधिया भी बड़ाली को चल पड़ा। ३० मई को वेलजली ने दौलतराव को सूचित किया था, कि "वह वापिस लौट जाय।" और इसी तरह का संदेश रघोजी को भी पहुँचाया था। गवर्नर जनरल वेलजली ने जनरल वेलजली को तो यह हुक्म दे रखा था—कि "वह बिना पूछे सिंधिया और भोंसले से युद्ध कर देवे।"

४ जुलाई सन् १८०३ ईस्वी को दौलतराव सिंधिया, रघोजी भोंसले और कर्नल कालिन्स की भेंट हुई थी। उस समय भी दोनों ने यही कहा था कि जबतक शर्तों का पूरा पता नहीं चलता—तबतक राय नहीं दे सकते। काफ़ी पत्र-व्यवहार भी हुआ था—पर कोई निर्णय नहीं हुआ। ६ अगस्त सन् १८०३ ई. को जनरल वेलजली ने युद्ध की चुनौती दे दी—क्योंकि अंग्रेजों ने युद्ध की तैयारी कर डाली थी। कम्पनी ने ६ ओर से ६ सेनाएँ भोंसला और सिंधिया पर आक्रमण करने के लिये भेज दीं। पूना के आसपास कर्नल वेलजली, औरंगाबाद के निकट कर्नल स्टीवेन्सन, मालवा की ओर कर्नल लेक, बंगाल की सेना लेकर कर्नल केम्पबेल और गायकवाड़ राज्य से कर्नल मरे खानदेश के लिये रवाना होगया था। इस अंग्रेजी व्यूह का हेतु दोनों को घेर कर हराना था।

अंग्रेजी सेना का पहला आक्रमण अहमदनगर से अकस्मात् आरंभ किया गया था। १८ अगस्त को जनरल वेलजली ने अहमदनगर से चल कर गोदावरी पार की। अहमदनगर के पतन का समाचार पाते ही सिंधिया और भोंसलों ने युद्ध की तैयारी आरंभ कर दी। वेलजली ने चारों ओर अपने गुप्तचर फैला दिये थे—जिनके द्वारा उसको मराठों की हलचल का पता लगता था। २३ सितंबर को असई ग्राम में सिंधिया की सेना ने वेलजली से युद्ध किया था। उस समय सिंधिया के युरोपियन सैनिक अफ़सर अंग्रेजों से जा मिले थे। इसके अतिरिक्त, उसके साथ कुछ मराठे सरदारों ने भी विश्वासघात किया था। असई के युद्ध में सिंधिया को हार खानी पड़ी। फिर भी उसने हिम्मत नहीं छोड़ी। इस युद्ध की दो मुहिम हुई—एक बरार में और दूसरी मध्यभारत में। भोंसले और सिंधिया ने युद्ध का संयुक्त कार्यक्रम बनाया था—उसका पूरा पता वेलजली ने लगा लिया था। इसलिये यह कार्य असफल हो गया। तब दौलतराव असई का मैदान छोड़ कर अपनी सेना को लेकर खानदेश चला गया और १६ अक्तूबर को स्टीवेन्सन ने असीरगढ़ पर हमला कर के उसे ले लिया। क्योंकि सिंधिया का नमक हराम नौकर दुर्गी अपने १५ युरोपियन साथियों के सहित असीरगढ़ का किला सौंप कर कम्पनी की सेना के साथ हो गया था और यही गति बुरहानपुर की हुई थी। इतना होने पर भी वेलजली ने सिंधिया के घुड़सवारों से सामना नहीं किया। उसने मराठों के सब मर्म स्थानों पर आघात किया, जहां के सैनिक अफ़सर घूसखोरी के कारण अंग्रेजों से जा मिले थे। अंग्रेजों ने इस युद्ध में पहला काम यही किया था—सिंधिया और भोंसले से अलग-अलग युद्ध हो। वेलजली ने मराठों को विभक्त कर दिया था। उसने सिंधिया से लड़ने का काम स्टीवेन्सन को सौंपा और स्वयं आप भोंसले से लड़ने के लिये अग्रसर हुआ।

अड़गांव का युद्ध—रघोजी का मुख्य सैनिक केन्द्र बरार में था—जहां पर उसका भाई व्यंकोजी था। भोंसले सेनापति रामचंद्र वाघ, माधवराव नीलकंठ और विठ्ठल बल्लाल अपने घुड़सवारों के साथ बालापुर में थे। वेलजली भी राजूर का घाट लांघ कर आकोट पहुँचने का यत्न कर रहा था, क्योंकि वहीं पर भोंसलों की शक्ति केन्द्रित भी थी। समीप ही भोंसलों के प्रसिद्ध किले नरनाला और गाविलगढ़ थे। इस युद्ध में भी वेलजली ने छल से ही काम लिया था। उसने यह सन्धि की वार्ता आरंभ कर दोनों को धोखे में रखा था। सिंधिया की ओर से बालाजी कुंजर और भोंसले की ओर से अमृतराव संधि की बातें भी कर रहे थे। पर वेलजली थोथे आश्वासन देकर उनको ग़फ़लत में रखना चाहता था। रघोजी इस समय में अपनी मुख्य सेना के साथ अड़गांव में था। वेलजली के साथ में अचलपुर के नवाब की सेना और उसी तरह मैसूर की सेना थी। २६ अक्तूबर सन् १८०३ को वेलजली ने भोंसलों की सेना से

युद्ध किया था।* स्वयं वेलजली कहता है—"भोंसले के तोपखाने की वर्षा शुरू होते ही ३ पलटनें जिन्होंने असई में युद्ध किया था—इस युद्ध में भागने लगीं। इससे कहा क्या जाय? अड़गांव का युद्ध इतना भयंकर नहीं था—पर संयोग से मैं समीप ही था और मैंने सेना को पीछे हटा कर व्यवस्थित किया। यदि हम वैसा नहीं करते—तो हमारी हार निश्चित थी। तोपों के कारण हमें व्यवस्था करने में विलंब लगा—फिर भी हमारे सैनिकों ने साहस दिखाया था। उस दिन मैं १८ घंटे तक घोड़े पर सवार था और यही हालत हमारे सैनिकों की थी।" अड़गांव के युद्ध में मैसूर तथा अचलपुर की सेना ने खासा पराक्रम दिखाया था। अड़गांव में वेलजली के पास चार हजार सवार और उतने ही पैदल सैनिक थे—जिन्होंने भोंसले की सेना को हराया था, क्योंकि उनकी सेना बिखरी और अव्यवस्थित थी।

अड़गांव के बाद उसी तरह छल से वेलजली ने गाविलगढ़ के किले पर आक्रमण किया था। ५ दिसंबर को वेलजली अपनी सेना लेकर अचलपुर पहुँचा और ७ तारीख को गाविलगढ़ के समीप पहुँचा। उस समय वहां का किलेदार बेनीराम सिह था। वेलजली इसी चिन्ता में था—कि किले का मर्म कहां पर है? भाग्य से शंभु भारती† ने वेलजली को मार्के का ऐसा स्थान बता दिया था—कि वहां से आसानी के साथ तोपों की मार हो सकती थी। १४ दिसंबर को तोपों की मार से किले का कमजोर भाग टूट गया था। १५ दिसंबर को उसी मार्ग से स्टीवेंनसन और कर्नल केनी ने किले में पहुँचने का प्रयास किया था। इस समय वायव्य की ओर कर्नल चामर्स था, पर किले पर कोई न पहुँच सका। दूसरे दिन चामर्स को साथ में लेकर कर्नल केनी ने फिर से किले में प्रातः १० बजे से यत्न किया था। करीब २ बजे अंग्रेज सैनिक किले के द्वार पर पहुँच गये थे। मुख्य द्वार पर स्वयं बेनीसिह अपने साथियों को लेकर शत्रुओं को रोक रहा था। इस आक्रमण में केनी स्वयं मारा गया था और शीघ्र ही बेनीराम भी गोली लगने से मर गया। उसके मरते ही किले के सैनिक हताश होगये। १६ दिसंबर को जब अंग्रेजी सेना ने प्रवेश किया—तो उस समय में किलेदार की दो औरतें मारी पायी गईं और उसी दिन अंग्रेजों ने किले पर अपना झंडा लगाया। यों तो गाविलगढ़ के आसपास बिखरे हुए भोंसलों के अनेकों सैनिक थे—पर उन्होंने किले की रक्षा का कोई उपाय नहीं किया था। अगस्त मास में बंगाल की सेना ने उड़ीसा पर भी अधिकार कर लिया। उस समय वहां का सूबेदार बाला जी कान्हेर था, पर उसने कोई सक्रिय विरोध नहीं किया। कटक में अंग्रेजों ने घोषित किया था कि—"उड़ीसा से मराठों का राज्य उठ गया।"

देवलगांव की सुलह—उधर दक्षिण से जनरल वेलजली अपने भाई गवर्नर जनरल को लिख चुका था कि—"दौलत राव सिंधिया को और अधिक हानि पहुंचाने की उसमें हिम्मत नहीं है।" उसी तरह रघोजी भोंसले से भी वह आगे की कार्यवाही करने में असमर्थ था—क्योंकि भोंसले अब भी पूरी तरह से परास्त नहीं हुआ था। रिश्वतें और सैनिक व्यय बेहद हो जाने से कम्पनी भी सुलह को उत्सुक थी। १७ दिसंबर सन् १८०३ को कम्पनी ने रघोजी भोंसले के साथ संधि की—जिस पर भोंसलों के मुख्त्यार यशवंत रामचंद्र ने हस्ताक्षर किये थे। उसकी शर्तें इस प्रकार थीं—

"रघोजी भोंसले बालेश्वर बन्दर के सहित समस्त उड़ीसा कम्पनी को सौंप दे।"

वर्धा नदी के पश्चिम में बरार का जो इलाका भोंसलों का है, उसे कम्पनी और उसके मित्रों को दे दे।

---

* वेलजली के अंग्रेजी पत्र।

† शंभु भारती—नागपुर का निवासी तथा राजमाता चिमाबाई का कारबारी था। कार्यवश अचलपुर के सलाबत खां से मिलने के लिये अड़गांव गया था। कहते हैं कि उसी ने वेलजली को गाविलगढ़ का मार्ग बताया था। आगे चल कर रघोजी ने उस पर विद्रोह का अभियोग लगाया था और उसकी जायदाद जब्त कर ली थी। इसलिये वह हैदराबाद चला गया था। रेजिडेन्ट उसकी जायदाद दिलवाने का यत्न कर रहा था—इसका पता रेजिडेन्सी रिकार्डों से चलता है।

भोंसले और निज़ाम राज्य की सीमा वर्धा नदी होगी, किन्तु नरनाला और गाविलगढ़ के किले भोंसलों के अधीन रहेंगे तथा आकोट, अड़गांव, बडनेर, भातकुली और खटकाली आदि परगनों पर मराठों का स्वामित्व होगा। जिसकी आय ४ लाख रुपये है।

पेशवा और निज़ाम के साथ जो विवाद खड़े होंगे, उसका निर्णय कम्पनी करेगी।

कम्पनी का एक रेजिडेन्ट नागपुर में स्थायी रूप से रहेगा।

कम्पनी ने भोंसलों के आश्रित ज़मींदारों से जो संधियां की हैं, उन्हें मान्यता दी जावे।"

इस सन्धिपत्र को ९ जनवरी सन् १८०४ ईस्वी को गवर्नर जनरल ने मंजूर किया था। बरार के अांजनगांव मुक़ाम पर दौलतराव सिंधिया ने एक संधि की थी। इसके बाद दूसरी संधि २७ फरवरी सन् १८०४ ईस्वी को बुरहानपुर में हुई थी।

रेजिडेन्ट एलफिन्स्टन—संधि होते ही देवलगाव राजा मुक़ाम पर जनरल वेलज़ली ने १ जनवरी सन् १८०४ ईस्वी को रेजिडेन्ट एलफिन्स्टन को रघोजी से मिलने की आज्ञा दी थी। तदनुसार व्यंकटराव बक्षी ने राजा से रेजिडेन्ट की मुलाक़ात करवायी थी। रेजिडेन्ट ने अपने बयान में राजा का वर्णन किया है—"वह रंग से काला, स्थूल शरीर, छोटे क़द का, देखने में धूर्त किन्तु स्वभाव से मिलनसार था।" एलफिन्स्टन राजा के ही साथ नागपुर आया था और नगर के बाहर सीताबर्डी स्थान पर उसने अपना कार्यालय और निवास स्थान बनवाया। वह रेजिडेन्ट राजनीति का अच्छा खिलाड़ी था। उसने दरबार के कारबारियों को रिश्वतें दे-दे कर बेईमान बनाया*—जो राज्य की गुप्त से गुप्त बातें रेजिडेन्ट को जाकर बतलाते थे। राजा का प्रमुख दीवान भी कम्पनी से पेंशन पाता था—अर्थात् नागपुर राज्य के प्रभावशाली कर्मचारी कम्पनी से रिश्वतें पाते थे।

देवलगांव की सुलह से ६५ लाख वार्षिक आय का प्रदेश भोंसलों के हाथ से निकल गया था और उसमें से २६ लाख का बरार का प्रदेश अंग्रेज़ों ने निज़ाम को दे दिया था। इस युद्ध के समाप्त होते ही भोंसले ने अपनी सेना को घटा दिया था—जिससे हजारों सैनिक बेकार होगये। इसी तरह अन्य राज्यों के बेकार सैनिकों ने पिंढारी दल बनाया—जिनकी कहानियां प्रसिद्ध हैं। यहीं से भोंसला राज्य का पतन भी होता है।

मराठों का पतन-काल

मराठों का पतन सन् १८०३ ईस्वी के युद्ध से ही होता है। इस युद्ध से अंग्रेज़ों का स्थायी राजदूत नागपुर में रहने लगा था—जिसने भोंसला राज्य को समाप्त कर देने का सामान जुटाना प्रारंभ कर दिया था। उसने राजमहल के मनमुटाव को काफ़ी प्रोत्साहन दिया था और राजमंत्रियों को पेन्शन देना प्रारंभ कर दिया था।‡ उसकी गुप्त कार-

---

* जनरल वेलज़ली ने एलफिन्स्टन के एक पत्र के उत्तर में लिखा था—(लाइफ आफ दि ड्यूक आफ विलिंगटन, जिल्द १, पृष्ठ ११३)। "मैं ६ तारीख़ के पत्र के उत्तर में सूचित करता हूं कि राजकीय समाचार प्राप्त करने के लिये आपको जो कुछ करना पड़े, उसे अवश्य करें। यदि आप समझें कि जयकृष्णराम आप को खबरें लाकर देगा या दूसरों से मंगा देगा, तो आप गवर्नर जनरल से उसकी सिफ़ारिश करने का वादा कर लें और गवर्नर जनरल को सूचित कर दें।" दूसरे पत्र में लिखता है—"यशवंतराव रामचंद्र ने जाने से पूर्व हमारा काम करने का वादा किया है। मैं आप से उसकी सिफ़ारिश करता हूं। वह चलता-पुरज़ा आदमी है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके द्वारा राजा ने कई महत्वपूर्ण बातों की बातचीत की है। मैंने गवर्नर-जनरल से सिफारिश की है कि उसे ६ हज़ार की पेन्शन दी जावे।"

‡ नागपुर के राजकर्मचारियों की पेंशन (६ मास का हिसाब) "पेमेंट आफ पेन्शन फार सिक्स मन्थ्स (कम्पनी की ओर से)", १-७-१८०६ से ३१ दिसम्बर-१८०६.

श्रीधर पंडित—१६,००० रुपये।
यशवंतराव और जयकृष्णराव—२१,००० रुपये। —रेजिडेन्सी रिकार्ड।

गुजारियों से भोंसला राज्य पतन की ओर झुक गया था और पच्चीस वर्षों में तहस-नहस होगया था। वेलजली ने अपने राजदूत को यह खास हिदायत दे रखी थी कि—"राज्य की प्रत्येक बातों पर सूक्ष्म नजर हो और जो जानकारी गवर्नर जनरल को भेजी जावे—वह प्रमाण सहित हो। उसके लिये जो भी व्यय करना पड़े—उसे अवश्य करें ; बल्कि राज्य भर में विश्वस्त खबरें देने वाले लोग नियुक्त किये जायें और राजा के मंत्रिमंडल से सम्पर्क रखा जावे।" राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों से जो समाचार रेजिडेन्ट के पास भेजे जाते थे—उसका नाम "अखबार" था।

सन् १८०३ का युद्ध समाप्त होने पर भी बरार और राज्य के अन्य भागों में अव्यवस्था निर्माण हो गयी थी और विशेषतः उड़ीसा और छत्तीसगढ़ में। यहां के जमींदारों ने गवर्नर जनरल से यह प्रार्थना की थी—कि उनको मराठों के पंजे से मुक्त किया जावे। सम्बलपुर की रानी रतनकुंवरि, रायगढ़ के जुझारसिंह, सारंगढ़ के विश्वनाथ सहाय, सोनपुर की रानी लक्ष्मीप्रिया, रेहराखोल के वीरखुष, गांगपुर के वीरखुष, गांगपुर के इन्द्रसूर्य देव, बामरा के त्रिभुवन देव, बुनाई के इन्द्र देव, दाधित के दीवान शक्ति सिंह, बरगढ़ के रणजीत सिंह आदि राजाओं ने एक दरख्वास्त गवर्नर-जनरल के पास भेजी थी कि वे लोग मराठों की अपेक्षा अंग्रेजी राज्य पसंद करते हैं। भारत सरकार की सूचनानुसार ६ जून सन् १८०४ ईस्वी को एलफिन्स्टन ने रघोजी को मान्य करने के लिये बाध्य किया था। रघोजी को इस कागज पर हस्ताक्षर करने के लिये एक दिन का समय दिया गया था और यह भय दिखाया गया था कि यदि वह हस्ताक्षर नहीं करेगा तो युद्ध छेड़ दिया जायगा। इससे भोंसला राज्य को ३॥ लाख की प्रतिवर्ष हानि होती थी। इसी तरह कई मामलों में उसने भय दिखा कर राजा की सम्मति प्राप्त की थी। युद्ध के कारण राजा आर्थिक संकट में पड़ गया था—जिससे उसे कई पलटनें तोड़ देनी पड़ी थीं। हजारों सैनिक जो बेरोजगार हो गये थे, वे ही पिंडारियों में शामिल हो जाते थे। नागपुर का राजा इस समय परावलम्बी सा बन गया था और उसके पत्र-व्यवहारों पर अंग्रेज राजदूत कड़ी निगरानी रखता था।

मराठा राज्यों की अवस्था—इस समय अंग्रेजों का एक विरोधी यशवन्तराव हुल्कर रह गया था—जिसने मथुरा में बैठ कर रघोजी भोंसले के पास अपना दूत भेजा था और चाहता था कि भोंसले उसका साथ दें। यह समाचार अविलंब रेजिडेन्ट को मिल गया था, जिसकी सूचना उसने गवर्नर-जनरल को दी थी—तब उसने रेजिडेन्ट को यह आदेश दिया था—"नागपुर के राजा की कारंवाई के विषय में अंग्रेज सरकार को खबर मिली है और आप राजा से यह स्पष्ट कह दो कि तुम्हारा व्यवहार ठीक नहीं है। गवर्नर-जनरल आवश्यक समझते हैं कि आप राजा की ओर से बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये आक्रमण के रोकने तथा विश्वासघात का दण्ड देने के हेतु से तैयारियां शुरू कर दें।... .... गवर्नर जनरल ने यह निश्चय कर लिया है कि जिस राज्य में ईमानदारी का इतना मूल्य है—उसके विरुद्ध कम्पनी अपनी तमाम शक्ति और सामर्थ्य से काम लेगी और तबतक चुपचाप नहीं बैठेगी—जब तक राजा पूरी तरह से परास्त न हो जाय।"

सत्य बात तो यह थी कि राजा हुल्कर को सहायता देना ही नहीं चाहता था—फिर भी रेजिडेन्ट ने उस पर इल्जाम लगाया था कि—वह हुल्कर से मिलना चाहता है। भारतीय नरेशों पर झूठे इल्जाम लगाना—राजदूतों की एक कार्य प्रणाली ही बन गयी थी। रघोजी अपनी कमजोरी को अच्छी तरह जानता था। फिर भी रही सही ताकत को समेट कर राजनीति से दूर रहना चाहता था। इतना ही नहीं बल्कि वह किसी पर भी विश्वास नहीं रखता था। यह स्वाभाविक था, क्योंकि उसके दीवान ही पैसे के लिये बिक चुके थे—तो वह विश्वास करे भी तो किस पर ?

सन् १८०६ ईस्वी की एक घटना का उल्लेख करते हुए एलफिन्स्टन ने लिखा है—कि "नागपुर में रघोजी भोंसले, राजपुत्र बालासाहब और दीवान श्रीधर मुंशी ने घड़ी मंगवा देने को उससे कहा था।" इस पर उसने गवर्नर जनरल के पास पत्र भेजा था। गवर्नर जनरल सर जार्ज बारलो ने यह नीति प्रचारित की थी कि भारतीय रजवाड़ों में आपसी झगड़े खड़े किये जायें और उससे लाभ उठाया जाय। दूसरा ईसाई-धर्म का प्रचार। सर जार्ज बारलो के पश्चात् गवर्नर जनरल मिन्टो (३ जुलाई सन् १८०७ ई.) ने उसी नीति को आगे बढ़ाया था।

भोंसला राज्य का पतन

श्री राममोहन सिन्हा

नागपुर का भोंसला राज्य भारत के मराठा राज्य-मण्डल के समृद्धिशाली तथा शक्तिमान राज्यों में था। मुगल-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भोंसला-शासकों ने भारत के मध्य में एक स्वतंत्र तथा बलिष्ट शासन जमा कर अंग्रेजी सत्ता के बढ़ते हुए प्रवाह को बहुत दिनों तक रोका। भौगोलिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि अंग्रेज अपने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के प्रान्तों को नागपुर के स्वतंत्र रहते हुए कभी संगठित नहीं कर सकते थे। यही हाल उनके पूर्वी तथा पश्चिमी साम्राज्य के प्रान्तों का था। भोंसला राज्य सुदूर पूर्व में उड़ीसा से लेकर पश्चिम में गाविलगढ़ तक और उत्तर में विन्ध्यापर्वतमालाओं से लेकर दक्षिण में निज़ाम की उत्तरी सीमा तक फैला हुआ था। १८ वीं शताब्दी के अन्त तक अंग्रेजी शासन पेशवा तथा गायकवाड़ पर अपना सिक्का जमा चुका था, परन्तु १८०३ के मराठा-युद्ध के बावजूद भोंसले, होल्कर तथा सिंधिया ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। अंग्रेजों का यह निरन्तर प्रयास रहा कि वे नागपुर पर अपना आधिपत्य जमायें। इसके लिये उन्होंने बहुत से साधनों का उपयोग किया, परन्तु प्रसिद्ध भोंसले राजा रघुजी द्वितीय की मृत्यु (सन् १८१६) के पश्चात् ही वे अपना उद्देश्य भोंसला राज्य में सफल कर सके।

सन् १८०३ ईस्वी से आंग्ल-भोंसला सम्बन्ध का एक नवीन युग आरम्भ हुआ। इस वर्ष, युद्ध के पश्चात् देवगांव की सन्धि हुई, जिसके अनुसार भोंसला राज्य के दो बड़े प्रान्त—कटक तथा बरार—अंग्रेजों के हाथ लगे। कटक के ब्रिटिश राज्य में मिलने से बंगाल तथा मद्रास प्रान्त जुड़ गये और अंग्रेजी सेनायें बेरोक कलकत्ते से मद्रास तक जा सकती थीं। बरार प्रान्त अंग्रेजों ने निज़ाम को दे दिया। इस प्रकार भोंसला राज्य की जनसंख्या तथा आय में बहुत कमी हो गई। देवगांव की सन्धि के अनुसार नागपुर में अंग्रेजों का एक प्रतिनिधि (रेज़ीडेन्ट) रहने लगा। रेज़ीडेन्ट का प्रभाव भोंसला राज्य में प्रतिदिन बढ़ने लगा। वह शासन की न्यूनताओं पर विशेष दृष्टि रखता था और गुप्त रूप से आवश्यक सूचनायें संचित कर के गवर्नर-जनरल के पास यथासमय भेजता था। अंग्रेज रेज़ीडेन्ट मराठा सरदारों से मिल जुल कर और राज्य के मंत्रियों को घूस देकर अपना कार्य सिद्ध करता था। इस सम्बन्ध में यह विशेष उल्लेखनीय है कि देवगांव की संधि के बाद रघुजी द्वितीय के मन्त्रियों को अंग्रेज सरकार ने राजा की जानकारी में बड़ी-बड़ी रकमें वार्षिक पेन्शन के रूप में दीं। इस प्रकार मन्त्रियों के प्रधान श्रीधर पंडित को तीस हज़ार, जसवन्तराव रामचन्द्र को १५ हज़ार तथा जयकृष्णराव को १० हज़ार रुपये वार्षिक पेन्शन के रूप में दिये गये। इस बात से हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि भोंसले राजाओं के प्रभावशाली मन्त्री विदेशी शत्रु के धन को स्वीकार कर के अपनी स्वामिभक्ति पर कितना बड़ा लांछन लगाते थे।

इस तरह अंग्रेज अपना प्रभुत्व कायम कर रहे थे। अब हमें यह देखना है, इस समय भोंसला राज्य की स्थिति क्या थी? सन् १८०३ के युद्ध में पराजित होकर रघुजी द्वितीय की स्थिति बहुत बिगड़ हो गई थी। साधारणतः मराठा राजाओं के शासन का आर्थिक संगठन दुर्बल रहा करता था। युद्ध के बाद नागपुर राज्य की आय और भी कम हो गई थी, परन्तु एक बड़ी सेना को रखना राज्य के लिये आवश्यक था। दरबार की शान-शौक़त में एकदम कमी कर देना भी राज्य की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल बात थी। उधर-पिंडारियों के आक्रमण का भय रघुजी को सदा बना रहता था। पिंडारी-सरदार अमीर खां को दौलतराव सिंधिया तथा जसवन्तराव होलकर नागपुर पर आक्रमण करने के लिये उकसा रहे थे। सिंधिया तथा होल्कर का उद्देश्य यह था कि रघुजी को अंग्रेजों के विरुद्ध मराठा सेनाओं की सहायता देने पर बाध्य करें और यदि वह अंग्रेजों से लोहा लेने में आनाकानी करे तो उसके देश को लूटें। स्मरण रहे कि देव-

गांव की संधि के बाद अंग्रेज तथा होल्कर की सेनाओं में लड़ाई हो रही थी और सिंधिया जो कि कुछ काल पूर्व अंग्रेजों से हार कर उनसे संधि कर चुका था, अपनी खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त करना चाहता था। इसी कारण ये तीनों सरदार रघुजी को लालच देकर या डरा कर अपनी ओर मिलाना चाहते थे। रघुजी स्वयं अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति से असंतुष्ट था, परन्तु पिछले युद्ध के परिणामों से उसे इतना धक्का लगा था कि खुल्लमखुल्ला वह अंग्रेजों से लड़ना नहीं चाहता था।

इसी समय नागपुर राज्य में एक नई घटना घट रही थी। रघुजी द्वितीय के छोटे भाई व्यंकोजी ने एक बड़ी सेना एकत्रित की और निज़ाम की सीमा के निकट उसका बेड़ा डाला। साथ ही साथ होल्कर तथा अंग्रेजों की लड़ाई में अंग्रेजों की क्षणिक पराजय होने के कारण नागपुर के मराठा सरदारों के हौसले और भी बढ़ने लगे। भोंसले सरदार तथा रघुजी के मन्त्री भी यथासमय अंग्रेज रेजीडेन्ट एलफिन्स्टन से उत्तर हिन्दुस्तान अर्थात् होल्कर की लड़ाई के विषय में पूछताछ करते थे और अंग्रेजों की पराजय के समाचार से उन्हें विशेष आनन्द होता था। कहा जाता है कि यदि इस समय सभी मराठे सरदार एकमत होकर अंग्रेजों का सामना करते तो उनकी विजय अवश्य होती और अंग्रेजी साम्राज्य की वृद्धि बहुत दिनों के लिये रुक जाती।

व्यंकोजी की सेना ने निज़ाम के कुछ गांवों को लूटा। यह समाचार पाकर एलफिन्स्टन सतर्क हो गया। इसके पूर्व ही पेंशनयाफ्ता अंग्रेजों के ऋणी जसवन्तराव रामचन्द्र ने एलफिन्स्टन को सूचना दे दी थी कि व्यंकोजी की सेनायें निज़ाम की सीमा के निकट स्थित हैं। जसवन्तराव ने रघुजी को बचाने के लिये यह भी कहा था कि—ये कार्य राजा की जानकारी में नहीं हो रहे हैं, वरन् व्यंकोजी स्वतंत्र रूप से यह कार्य कर रहा है। सूचना पाते ही एलफिन्स्टन आग-बबूला हो गया और उसने कड़े शब्दों में व्यंकोजी की गिरफ्तारी तथा उसकी सेना के नष्ट करने की मांग की। उसने राजा के विरुद्ध बहुत से अपशब्दों का प्रयोग किया और कहा कि "व्यंकोजी के कार्यों के लिए राजा स्वयं उत्तरदायी है।" उसने कहा कि "इस कृतघ्नता का बदला लेने के लिये ब्रिटिश सेनायें शीघ्र ही नागपुर पर आक्रमण करेंगी और राजा स्वयं साधारण लुटेरे की भांति उनसे पराजित होकर दर-दर की ठोकरें खायेगा।" उसने यहां तक धमकी दी थी कि नागपुर राज्य और ब्रिटिश-सरकार के बीच संधि की अवस्था का अन्त होगया और स्वयं नागपुर छोड़ कर जाने के लिए उद्यत हो गया। इस प्रकार के कठोर शब्द एलफिन्स्टन ने भरे दरबार में रघुजी के सामने ही दोहराये।

रघुजी इन धमकियों से इतना भयभीत हुआ कि उसने अंग्रेज रेजीडेन्ट की सभी शर्तें स्वीकार कर लीं और बड़ी कठिनाई से वह एलफिन्स्टन को अपनी शान्तिप्रियता का विश्वास दिला सका। इसी बीच में होल्कर की लड़ाई का अन्त हो चुका था। अंग्रेज विजयी हुए और लार्ड वेलेजली के स्थान पर नरमनीति का पालन करने वाला लार्ड कार्नवालिस गवर्नर-जनरल होकर आया। कार्नवालिस ने रघुजी के प्रति मैत्री की नीति चलाई और उसके कार्यों में हस्तक्षेप न करने का निश्चय किया।

अंग्रेज बहुत पहिले से नागपुर राज्य को सहायक संधि प्रथा का शिकार बनाना चाहते थे, परन्तु उनकी यह चाल सफल न हो सकी, क्योंकि रघुजी द्वितीय को सहायक संधि से बड़ा भय था। बात भी ठीक ही थी, क्योंकि सहायक संधि की श्रृंखलाओं से जकड़ा हुआ राज्य अंग्रेज शासन का दासानुदास होकर ही रहता था। उसकी स्वतंत्रता विलीन हो जाती थी। उसकी भूमि पर अंग्रेज अफ़सरों के अधिकार में एक बड़ी सेना रखी जाती थी, जिसका व्यय उस राजा को देना पड़ता था। इसके अलावा संधि करने वाला राज्य सर्वदा के लिये अपनी स्वतंत्रता खो बैठता था और यदि वह संधि की शर्तों का अन्त करना चाहता तो अंग्रेजी सेना उसे गद्दी से उतार कर किसी दूसरे व्यक्ति को बात की बात में राजा बना सकती थी। ऐसी स्थिति में सहायक-संधि के विनाशकारी परिणामों से बचना रघुजी अपना परम कर्तव्य समझता था।

पिंडारियों का भय रघुजी को सदा ही बना रहता था। उनका सामना करने के लिए एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी। परन्तु धनाभाव के कारण रघुजी अपनी सेना का संगठन नहीं कर सकता था। इस परिस्थिति का लाभ उठा कर अंग्रेज रेजीडेन्ट राजा के समक्ष सहायक सन्धि के गुणों का उल्लेख किया करता था और इस प्रथा के लाभों की ओर रघुजी का ध्यान आकर्षित करने में कभी नहीं चूकता था। रेजीडेन्ट को अपने उद्देश्य को सफल बनाने में और भी सुविधायें थीं। स्मरणीय है कि राजा के तीन प्रमुख मन्त्री अंग्रेजी शासन के पेंशनप्राप्त अनुचर थे। ये मंत्रिगण समय-समय पर सहायक-सन्धि प्रथा के गुणगान किया करते थे। इन मंत्रियों का कहना था कि पिंडारियों तथा अन्य आक्रमणकारियों का अंग्रेज सरकार की सहायता के बिना सामना करना नागपुर राजा के लिये असम्भव बात थी। रघुजी को पेशवा से सहायता की आशा थी। दूसरे मराठा सरदारों से भी वह सहायता की आशा रखता था। वास्तविकता यह थी कि भोंसला राजा अपना राज्य किसी तरह भी सहायकसंधि प्रथा के अन्तर्गत नहीं लाना चाहता था, बल्कि निजाम के सदृश शासकों से उसे घृणा थी, जो सहायक-सन्धि स्वीकार कर के अपनी स्वतंत्रता खो बैठे थे। ऐसे विचारों वाले शासक से सहायक-संधि स्वीकार करने की सिफ़ारिश करने का परिणाम स्पष्ट ही था। श्रीधर पंडित तथा रघुजी में मनमुटाव हो गया और धीरे-धीरे श्रीधर पंडित राजा की दृष्टि में गिरने लगा। जसवन्तराव का भी यही हाल हुआ। स्थिति यहां तक बिगड़ गई कि सहायक संधि के विषय की बात भी राजा सुनने के लिये तैयार नहीं था, परन्तु अपना नमक अदा करने के लिये श्रीधर पंडित तथा जसवन्तराव रघुजी के समक्ष सहायक संधि प्रथा की पैरवी करते ही रहे। उन्हें तो रेजीडेन्ट के आदेशों का पालन करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि रघुजी ने श्रीधर पंडित से राज्य कार्यों पर परामर्श करना बन्द कर दिया और कुछ काल बाद वह तीर्थ यात्रा के बहाने काशी चला गया, कुछ वर्षों बाद उसकी मृत्यु हो गई। अंग्रेजों के दूसरे कारगुजार मंत्री जसवन्तराव को भी रघुजी ने पदच्युत कर दिया और ऐसा कर के अंग्रेज-सरकार के विरुद्ध अपने तीव्र असन्तोष का परिचय दिया। रघुजी कहा करता था कि "उसे सहायक-संधि की कोई आवश्यकता नहीं है।" इस प्रथा की पैरवी करने वालों से वह पूछा करता था कि—क्या इस संधि के द्वारा कटक और बरार उसे वापिस मिल जायेंगे? जब अराजकता तथा पिंडारियों का उसे भय दिखाया जाता था तो वह कह देता कि यदि वह राजकार्य न चला सका तो पदत्याग कर कलकत्ते चला जायगा और गवर्नर-जनरल के संरक्षण में अपने अंतिम दिन व्यतीत करेगा। रघुजी की यह प्रवृत्ति देख कर रेजीडेन्ट ने गवर्नर-जनरल को सूचित कर दिया कि वर्तमान शासक के जीवन में नागपुर-राज्य में अंग्रेजी प्रभुत्व क़ायम होना बहुत कठिन बात है। नागपुर में असफल होने के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने भोपाल के नवाब से सहायक संधि कर ली। नवाब, भोंसला-नरेश से भयभीत था और इस परिस्थिति का लाभ उठा कर उसके संरक्षण के लिए एक अंग्रेजी सेना भोपाल में अवस्थित की गई। रघुजी को इस कार्य से बड़ा क्षोभ हुआ, क्योंकि वह स्वयं भोपाल पर आधिपत्य जमाने के लिए तैयारी कर रहा था।

सन् १८१६ में रघुजी की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसका एकमात्र पुत्र परसोजी गद्दी पर बैठा। परसोजी में शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता के चिह्न स्पष्ट थे। अपने पिता के राज्य-काल में उसने शासन-कार्यों में बिल्कुल हाथ नहीं बंटाया था। इस ओर उसकी तनिक भी रुचि न थी। परसोजी के अतिरिक्त भोंसला राजवंश में रघुजी के छोटे भाई व्यंकोजी का पुत्र अप्पा साहब हर प्रकार योग्य तथा महत्त्वाकांक्षी था। रघुजी तथा व्यंकोजी में हमेशा संघर्ष रहा करता था और अंत में व्यंकोजी नागपुर छोड़ कर बनारस में रहने लगा था। वहीं उसकी मृत्यु भी हुई। उसकी मृत्यु के बाद रघुजी ने अप्पा साहब के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया था, परन्तु अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व रघुजी ने अप्पा साहब से प्रार्थना की कि वह पुरानी बातें भूल कर भोंसला राजवंश की प्रतिष्ठा का ध्यान रखे। यह स्पष्ट था कि अप्पा साहब के बिना भोंसला-राज्य का शासन-कार्य नहीं चल सकता था।

अप्पा साहब स्वयं बदलती हुई परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिये तैयारी कर रहा था। परसोजी की असमर्थता के कारण शासन-कार्य चलाने के लिए राजा के एक निकट सम्बन्धी या संरक्षक के पद पर नियुक्त होना अनिवार्य बात थी। भोंसला सरदारों में अप्पा साहब के प्रति वैमनस्य तथा विरोध की भावना थी और वे—रघुजी के

भांजे गुजाबा गुदर को राज्य का संरक्षक बनाना चाहते थे। जब अप्पा साहब को ये बातें मालूम हुईं तब उसने रेजीडेन्ट से गुप्त वार्ता प्रारंभ की। रेजीडेन्ट तो यह चाहता ही था। अप्पा साहब ने एक सेना संगठित की और बहुत से सरदारों को ऊंचे पदों का लालच देकर अपनी ओर मिला लिया। अनुकूल परिस्थिति देख कर उसने राजा परसोजी को अपने संरक्षण में ले लिया और मंत्रियों के समक्ष तथा दरबार में घोषणा कर दी कि अप्पा साहब परसोजी की ओर से शासन के सब कार्य करेगा। इस प्रकार अप्पा साहब को पहिली विजय मिली। इतना होने पर भी उसे भोंसला सरदारों के विरोध का भय बना ही रहा, इसलिए अपनी स्थिति को पूर्णतया दृढ़ करने के लिये उसने रेजीडेन्ट से सहायक-संधि के विषय पर गुप्त परामर्श आरंभ किया। इस कार्य में नागो पंडित तथा नारायण पंडित उसके प्रतिनिधि के रूप में जेन्किन्स से मिले। अप्पा साहब यह भली भांति जानता था कि भोंसला-दरबार तथा उसके मंत्री सहायक-संधि के विरुद्ध थे। इस कारण संधि-वार्ता गुप्त रखी गयी और २७ मई १८१६ को नागो पंडित के स्थान पर अप्पा साहब तथा अंग्रेज सरकार के बीच सहायक-संधि हो गई। इस संधि का समाचार लोगों को कुछ काल के बाद ज्ञात हुआ क्योंकि अप्पा साहब को भय था कि इस घृणित कार्य की सूचना मिलते ही नागपुर राज्य की प्रजा उसके विरुद्ध हो जायगी और उसकी स्थिति खतरे में पड़ जायगी। अप्पा साहब ने रेजीडेन्ट से प्रार्थना की कि वह संधि की शर्तों के अनुसार, नागपुर के लिये निश्चित अंग्रेजी सेना फ़ौरन बुलवा भेजे। सेना के पहुँचने पर अप्पा साहब का भय कम हुआ और सहायक-संधि का समाचार प्रकाशित किया गया। परिणाम वही हुआ, जिसका अप्पा साहब को भय था। चारों ओर से अप्पा साहब का विरोध होने लगा। महल की रानियां उसे कोसने लगीं, भोंसला-सरदार खुले तौर पर उसका पक्ष छोड़ने लगे और विरोध के बढ़ते हुए प्रवाह से वह इतना सशंक हुआ कि राजमहल छोड़ कर अंग्रेजी फ़ौजों की छावनी के निकट एक उद्यान में उसने अपना डेरा डाला। संधि हो जाने पर अंग्रेज सरकार ने नागो पंडित तथा नारायण पंडित के लिये क्रमशः २५ हजार तथा १५ हजार रुपयों की वार्षिक पेन्शन निश्चित की। इस प्रकार नागपुर राज्य की स्वतंत्रता का अन्त हुआ, क्योंकि सहायक संधि की शर्तों के अनुसार राज्य की वैदेशिक नीति अंग्रेजों के अधीन हो गई और आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप का उन्हें अधिकार हो गया। इस प्रकार अंग्रेजी सेना की सहायता से अप्पा साहब ने भोंसला सरदारों के बन्धन से अपने को मुक्त किया। कुछ महीनों बाद अचानक परसोजी की मृत्यु हो गई। उस समय अप्पा साहब चांदा जिले में था, परन्तु मृत्यु का समाचार पाकर भी वह तुरन्त नागपुर नहीं लौटा। साधारणतः परसोजी की मृत्यु के लिए अप्पा साहब को दोषी ठहराया जाता है और कहा जाता है कि उस निस्सहाय राजा को पहिले विष देने का प्रयत्न हुआ, परन्तु सफलता न मिलने पर गला घोंट कर उसका अन्त किया गया।

परसोजी के पश्चात् अप्पा साहब भोंसला राज्य का एकमात्र उत्तराधिकारी था और मुधोजी भोंसला के नाम से वह गद्दी पर बैठा। राजा होने के साथ ही अप्पा साहब ने अपना रंग बदला। सहायक संधि की शर्तें उसे कठोर प्रतीत होने लगीं। भोंसला सरदारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने के लिए उसने सहायक संधि की थी। अब उसे अंग्रेजों के मित्रता की आवश्यकता नहीं थी। हम जानते हैं कि अंग्रेजों का विरोध करना तथा उनकी बढ़ती हुई शक्ति में अवरोध लगाना नागपुर के शासकों की परम्परागत नीति थी। क्षणिक काम के लिए अप्पा साहब ने अंग्रेजों से मित्रता की थी, परन्तु अब वह अंग्रेजी सम्बन्ध को तोड़ना चाहता था।

अप्पा साहब ने भोंसलों की परम्परागत नीति के अनुसार मराठा राज्यों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संगठित करना आरम्भ किया। उसने नये मंत्री नियुक्त किये और ऐसे व्यक्ति जो ब्रिटिश शासन के अनुकूल थे, अपने पदों से अलग कर दिये गये। नारायण पंडित पदच्युत कर दिया गया तथा रेजीडेन्ट से परामर्श के लिए रामचन्द्र वाघ नामक एक नया मंत्री नियुक्त हुआ। नारायण पंडित अंग्रेजों का पेन्शनयाफ्ता कृपापात्र था। रेजीडेन्ट ने रामचन्द्र वाघ से परामर्श करना स्वीकार न किया। साथ ही साथ अप्पा साहब ने होल्कर, सिंधिया तथा पेशवा से बातचीत जारी रखी, जिसका उद्देश्य मराठा साम्राज्य को एक बार फिर संगठित कर के अंग्रेजों से लोहा लेना था। इस समय पेशवा तथा अंग्रेज सरकार में अनबन हो गई थी, परन्तु अप्पा साहब ने इस पर ध्यान न देते हुए नागपुर में स्थित पेशवा के प्रतिनिधि से गुप्त

परामर्श का क्रम बनाये रखा। अप्पा साहब का यह कार्य सहायक संधि की शर्तों के विरुद्ध था। रेजीडेंट ये बातें सतर्कता से देख रहा था। इस समय जेन्किन्स तथा गवर्नर-जनरल के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ, उससे हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि रेजीडेंट को अप्पासाहब के कार्यों की पूर्ण जानकारी थी।

गवर्नर-जनरल ने अप्पा साहब को एक कड़ा पत्र लिख कर स्मरण दिलाया कि उसकी कार्यवाही सहायक संधि की शर्तों के प्रतिकूल हैं। रेजीडेंट ने अंग्रेज सरकार की ओर से यह मांग की कि होशंगाबाद का किला उसके हवाले किया जाय और संधि के अनुसार अप्पा साहब एक हजार सिपाहियों की संगठित सेना रखे। इस समय तक बाजीराव पेशवा तथा अंग्रेज सरकार में विग्रह के लक्षण और स्पष्ट हो गये थे। निस्सहाय पेशवा पर अंग्रेजों ने एक अत्यंत कठोर तथा निन्दाजनक सन्धि लाद कर उसकी रही-सही शक्ति का अन्त कर दिया। इस प्रकार पेशवा में तीव्र असन्तोष की भावना जागृत हुई और उसने बदला लेने के लिए अंग्रेजी रेजीडेन्ट पर हमला बोल दिया। पूना में अवस्थित रेजीडेन्ट एलफिन्स्टन ने पेशवा की फ़ौजों को पराजित कर दिया और पेशवा अपने देश से निर्वासित बची खुची सेना लेकर इधर-उधर भटकने लगा। जब अप्पा साहब को पेशवा की पराजय का समाचार मिला और उस दिशा से उसे सहायता की कोई आशा नहीं रही तब उसने दिखावे के लिए अपनी नीति एकदम बदल दी। उसने अंग्रेजों के विश्वस्त नारायण पंडित को उसके पूर्व पद पर फिर नियुक्त कर दिया। संधि द्वारा मनोनीत उपयुक्त सेना भी उसने संगठित की और उसके निरीक्षण के लिए अंग्रेज अफ़सर भी नियुक्त किये। इतना ही नहीं, बल्कि उसने पेशवा के कार्यों की निन्दा भी की, पर फिर भी उसने अपनी फ़ौजी तैयारियां जारी रखीं।

२४ नवम्बर सन् १८१७ की रात्रि के समय अप्पा साहब ने रेजीडेंट जेन्किन्स को दरबार में उपस्थित होने के लिये आमन्त्रित किया। यह समय पेशवा द्वारा भेजी हुई "खिलअत" को स्वीकार करने के लिए निश्चित किया गया था। रेजीडेन्ट ने अप्पा साहब के इस कार्य का विरोध किया और उसे स्मरण दिलाया कि अंग्रेज सरकार के शत्रुओं से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना संधि की शर्तों के प्रतिकूल था। अप्पा साहब ने रेजीडेन्ट की बातों पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया और जेन्किन्स की अनुपस्थिति में यह कार्य सम्पन्न हुआ। मराठा फ़ौजें रेजीडेन्ट के पास स्थित थीं और २६–२७ नवम्बर को अप्पा साहब ने रेजीडेंसी पर आक्रमण का हुक्म दिया। इस युद्ध में अप्पा साहब पराजित हुआ और रेजीडेन्ट ने उस पर नई तथा कठोर शर्तें लादीं। अब अप्पासाहब ने अपनी सेना विघटित कर दी, उसकी तोपों पर अंग्रेज-सरकार का अधिकार हो गया तथा स्वयं उसने राजमहल छोड़कर रेजीडेन्सी में जाकर शरण ली।

कुछ दिनों बाद अप्पा साहब मुक्त कर दिया गया परन्तु एक नई संधि के अनुसार—नर्मदा नदी के उत्तर तथा दक्षिण के प्रान्त—गाविलगढ़, सरगुजा तथा जशपुर नामक जिले उसे अंग्रेजों को देने पड़े। उसने यह भी शर्त की कि रेजीडेन्सी के विश्वासपात्र मंत्रियों की सलाह से वह शासन करेगा। इस प्रकार अप्पा साहब अंग्रेजों का पिट्ठू होगया। नाम के लिये तो वह राजा था परन्तु वास्तविक रूप से नागपुर पर अंग्रेजी शासन स्थापित होगया। इसी समय अप्पासाहब ने नागपुर छोड़कर भागने की योजना बनाई परन्तु यह बात अंग्रेजों को मालूम हो गई। तब रेजीडेन्ट ने उसे गिरफ्तार कर लिया और गवर्नर जनरल ने उसे पदच्युत करने की घोषणा कर दी। बन्दी के रूप में अंग्रेजी सेना की एक छोटी सी टुकड़ी के साथ अप्पा साहब इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ। इलाहाबाद का प्रसिद्ध किला उसकी कैद के लिए निश्चित किया गया था लेकिन जबलपुर के पास पहुंचने पर पहरेदारों की आंख बचाकर और एक साधारण सैनिक के वस्त्र धारण करके अप्पा साहब भाग निकला। अंग्रेजों ने उसे पकड़ने के लिए बड़ी-बड़ी रकमों का पुरस्कार घोषित किया परन्तु उनके प्रयत्न असफल रहे और महादेव की पर्वत-मालाओं, असीरगढ़ तथा लाहौर में भटकते हुए सन् १८४० में जोधपुर में उसकी मृत्यु हुई।

अंग्रेजों के सामने अब एक नया प्रश्न उपस्थित हुआ। नागपुर का राजा किसे बनाया जाय? परसोजी मृत्यु के समय पुत्रहीन था। ऐसी स्थिति में द्वितीय रघुजी के नाती बाजीराव को परसोजी की विधवारानी ने दत्तक पुत्र बनाया और रघुजी तृतीय के नाम से वह राजा बना। नये राजा के अल्पायु होने के कारण नागपुर राज्य का शासन

अंग्रेज रेजीडेन्ट के निरीक्षण में होने लगा। रेजीडेन्ट ने प्रत्येक जिले में अपने मनोनीत अंग्रेज अफसर नियुक्त किये। प्रसिद्ध रानी बांकाबाई को अल्पायु राजा के लालन-पालन तथा शिक्षा का प्रबन्ध सौंपा गया। द्वितीय रघुजी का भानजा गुजाबा गूजर बनारस से वापिस बुलाया गया और शासन के कार्यों में उसे भी सम्मिलित किया गया। अंग्रेज अफसरों ने सन् १८१८ से शासन आरंभ किया और लोग यह समझने लगे कि यही शासन का स्थायी रूप है और शायद ही अब भोंसला शासन की पुनर्स्थापना हो। बात भी ठीक थी, जेंकिन्स तथा उसके उत्तराधिकारी रेजीडेन्टों ने राजा को शासन कार्य सौंपने का भरसक विरोध किया परन्तु गवर्नर जनरल के आदेशों के सामने वे निस्सहाय थे। सन् १८२६ में नागपुर का जिला रघुजी तृतीय के शासन में आगया परन्तु भोंसला राज्य का एक बड़ा भाग अभी अंग्रेजों के ही शासन में था। गवर्नर जनरल ने राजा को शेष भाग देने के लिए रेजीडेन्ट से पत्र-व्यवहार आरंभ किया परन्तु उस समय के रेजीडेन्ट वाइल्डर ने इसका विरोध किया। उसने कहा कि राजा में अभी इतनी योग्यता नहीं आई है कि वह स्वयं इतने विस्तृत राज्य का शासन-कार्य चला सके परन्तु गवर्नर जनरल ने उसकी एक न सुनी और आदेश दिया कि नागपुर राज्य तथा ब्रिटिश सरकार के नये संबंधों को निश्चित तथा स्पष्ट करने के लिये एक संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया जाय।

परिणामस्वरूप सन् १८२६ की संधि हुई जिसके अनुसार रघुजी तृतीय को उसके राज्य का शेषभाग अर्थात चांदा, छिंदवाड़ा, छत्तीसगढ़ तथा भंडारा के जिले लौटा दिये गये, सेना पर उसका पूर्ण अधिकार होगया परन्तु ८॥ लाख की रकम उसे प्रतिवर्ष अंग्रेज—सरकार ने देने के लिये बाध्य किया। अंग्रेज सरकार की यह मांग सर्वथा अन्यायपूर्ण थी। १८२६ की संधि के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि अंग्रेजों के अधिकृत नागपुर की सेना का खर्च राज्यकोश से लिया जायगा परन्तु सन् १८३० की संधि के अनुसार इस सेना का अंत कर दिया गया था और एक हजार सैनिकों की एक सुसज्जित सेना रघुजी ने संगठित करने का वादा किया था। रही सहायक-सेना की बात जो सहायक संधि की शर्तों के अनुसार नागपुर में रहती थी, उसके व्यय के लिए सन् १८१८ की अस्थायी संधि के अनुसार अप्पा साहब अपने राज्य का एक बहुत बड़ा भाग देने पर बाध्य किया गया था। अब प्रश्न उठता है कि ८॥ लाख की बड़ी रकम का भार रघुजी पर क्यों लादा गया? इस विषय पर अंग्रेज सरकार तथा राजा में शीघ्र ही विवाद उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे दोनों में वैमनस्य की भावना दृढ़ होने लगी। इस विवाद के बीच रेजीडेन्ट ने राजा को स्मरण दिलाया कि उसने स्वेच्छा से यह रकम देना स्वीकार किया था। इसके उत्तर में राजा ने कहा कि यह शर्त उसने जबरन स्वीकार की थी क्योंकि उसे भय था कि उसके बिना अंग्रेज उसका राज्य कभी न लौटायेंगे। रघुजी की यह आशंका निर्मूल नहीं थी क्योंकि इसकी पुष्टि अंग्रेज रेजीडेन्ट तथा कलकत्ते की सरकार के तत्कालीन पत्र-व्यवहार से होती है। हमें स्मरण होना चाहिये कि सन् १८२६ की संधि से पूर्व जेंकिन्स ने राजा को शासन-अधिकार स्थानांतरित करने के विरुद्ध कितनी ही दलीलें दी थीं। यही बात सन् १८२८ की संधि के पूर्व रेजीडेन्ट वाइल्डर के समय हुई। तत्कालीन इतिहासकार प्रिन्सेप के पृष्ठों में भी हमें यही दलीलें मिलती हैं। स्पष्ट बात यह है कि नागपुर राज्य पर इतने दिनों बाद पूर्ण अधिकार प्राप्त करने पर जो सुविधायें अंग्रेज सरकार को मिली थीं, उन्हें वे किसी प्रकार खोना नहीं चाहते थे अस्तु, अन्त में उन्हें भी भोंसला शासन स्थापित करना पड़ा परन्तु उसके चारों ओर उन्होंने इतने बन्धन रखे जिससे रघुजी का शासन सफल न हो पाये। शक्ति, अन्तिम रूप से, अंग्रेजों के हाथों में न भी हो, वे किसी भी बहाने से शासन में हस्तक्षेप कर सकते थे और रेजीडेंट ने राज्य में दौरा कर के, मराठा सरदारों से निकट सम्बन्ध स्थापित कर यहां तक कि अंग्रेज अफसरों ने रेजीडेंट काल के शासन की याद दिलाकर जनता को रघुजी के नये शासन के विरुद्ध उकसाने में कोई बात उठा नहीं रखी।

रघुजी को ये बातें बहुत बुरी लगीं और धीरे-धीरे उसने रेजीडेंट से बातचीत भी बन्द कर दी और यह आदेश निकाला कि कोई मंत्री या मराठा-सरदार उसकी अनुमति के बिना रेजीडेंट से मुलाकात न करे। रेजीडेन्ट ने यहां-वहां के साधारण व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और उनके द्वारा शासन कार्यों की सूचना प्राप्त करने लगा। रेजीडेन्ट ने शासन के दोषों की ओर राजा का ध्यान आकर्षित करना आरंभ कर दिया और राजा द्वारा नियुक्त

अधिकारियों की शिकायत करने लगा। जब रघुजी ने उसकी बात न सुनी तो उसने गवर्नर जनरल के पास शिकायतें लिखनी आरंभ की। अंग्रेजों के अंतिम उद्देश्य का पता इसी से चलता है कि राजा की मृत्यु के वर्षों पूर्व रेजीडेन्टों ने गवर्नर जनरल को परामर्श दिया था कि उसकी मृत्यु के बाद भोंसला राजवंश को दत्तक पुत्र लेने की अनुमति कदापि न दी जाय।

गवर्नर जनरल के कितने ही कड़े पत्रों के पश्चात् रघुजी ने रेजीडेन्ट के परामर्श के अनुकूल शासन चलाना स्वीकार किया। इतने पर भी दोनों में विवाद चलता रहा और उनमें विश्वास तथा सद्भावना का कभी पूर्णतया संचार नहीं हुआ।

रघुजी के शासन काल पर टिप्पणी करते हुए हमें कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। जब वह गद्दी पर बैठा, उसकी आयु लगभग १० वर्षों की थी और सन् १८५४ के अन्त में मृत्यु के समय वह ४६ वर्ष का था। सन् १८२६ तक अल्पायु होने के कारण शासन का कार्य अंग्रेजी रेजीडेन्ट के आदेशानुसार अंग्रेज अफसरों ने चलाया। उस वर्ष केवल नागपुर के जिले पर उसे शासन करने का अधिकार दिया गया। इसके पश्चात् बड़ी कठिनाई के साथ सन १८३० में राज्य के शेष भाग पर उसका शासन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८३० से १८५३ अर्थात् केवल २३ वर्षों तक उसने स्वयं शासन किया परन्तु इस काल में भी अंग्रेजी सरकार के रेजीडेन्ट के मतानुसार ही उसे शासन करना पड़ा। स्वतंत्रतापूर्वक वह शासन कर ही नहीं सका। सहायक संधि की शर्तों से जकड़ा हुआ तथा अंग्रेजी सेना के प्रभुत्व से आतंकित रघुजी शासन कार्यों के प्रति उदासीन होने लगा। इसके अतिरिक्त उसने बहुत से दुर्गुण भी सीख लिये। मद्यपान, जुआ, भोगविलास इत्यादि दुर्व्यसनों में उसका समय व्यतीत होने लगा। कितने ही दिनों तक लगातार वह रनिवास में ही रहकर छोटे-मोटे मनोविनोद के कार्यों में लिप्त रहने लगा। दरबार, न्यायालय तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों से उसकी अभिरुचि हटती गई। सन् १८५३ के अन्त में वह रुग्ण हुआ और ११ दिसंबर को उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भोंसला राज्य को दत्तकपुत्र लेने की स्वीकृति नहीं दी और नागपुर का राज्य मार्च १८५४ में अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया।

अंग्रेजी राज्य में मिलाने के बाद नागपुर का कोष अंग्रेजों ने जी भरकर लूटा, रानियों के बहुमूल्य हीरे-जवाहरात तथा वस्त्राभूषण सस्ते दामों पर नीलाम किये गये। इससे नागपुर निवासियों को ही नहीं, सम्पूर्ण देश को बड़ा दुःख हुआ परन्तु अंग्रेजों के आतंक से किसीने उफ् भी नहीं की। रानियों तथा राजा के अन्य सम्बन्धियों को पेन्शन दे दी गई और उनका शासन से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति
और
राष्ट्रीय आन्दोलन में मध्यप्रदेश का योग

मध्यप्रदेश में राष्ट्रीय जागृति—सन् १८५७ में भारतीय सैनिकों द्वारा किया गया विद्रोह यद्यपि भारतीय स्वतन्त्रता के लिये किया जानेवाला हमारा प्रथम महाप्रयास था; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इसके पूर्व भारतीय अंग्रेजी शासन से पूर्ण संतुष्ट थे। हमारे देश में अंग्रेजों का शासन ही छल-कपट की नीति से आरम्भ हुआ, अतः ऐसे शासन से आरम्भ से ही भारतीयों को घृणा होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही भारतीयों द्वारा उसे उखाड़ फेंकने के प्रयत्न भी आरम्भ हो गये। आप्पाजी भोंसले प्रथम व्यक्ति है, जिन्होंने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह का श्रीगणेश किया। सन् १८१८ के सीताबर्डी युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने नागपुर के तत्कालीन शासक आप्पाजी भोंसले को हमारे प्रदेश के मंडला, बैतूल, छिंदवाड़ा, सिवनी और नर्मदा के दक्षिण का भाग छोड़ देने को विवश किया और सन् १८२० से यह पूरा भाग "सागर-नर्मदा प्रदेश" के नाम से गवर्नर जनरल के एजेंट-द्वारा शासित होने लगा। सन् १८३१ में उत्तर-पश्चिम प्रदेश का निर्माण किया गया और "सागर-नर्मदा" प्रदेश उसका एक भाग हो गया।

आप्पासाहब का विद्रोह—आप्पासाहब ने अपने को तथा अपने राज्य को अंग्रेजों के हाथ में सौंप दिया। उनका स्वाभिमान यह सहन न कर सका। उन्होंने बाजीराव पेशवा को आमंत्रित किया। वे सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ चांदा से १० मील की दूरी पर स्थित ऊरा नामक ग्राम के समीप आये। आप्पासाहब के संकेत पर चांदा जिले की अहेरी और पारपल्ली जमींदारी के जमींदारों ने भी विद्रोह कर दिया, किन्तु नागपुर से एक अंग्रेजी सेना ने लेफ्टिनेंट होपटन स्काट की संरक्षकता में चांदा जाकर उन्हें पराजित कर दिया। नागपुर के अंग्रेज रेजीडेन्ट ने आप्पासाहब से शासनाधिकार छिन लिये और उनके स्थान में रघोजी तृतीय को सिंहासनारूढ़ कर दिया और स्वयं रेजीडेंट की एक सलाहकार समिति बनाकर उनकी ओर से शासन करने लगे। आप्पासाहब गिरफ्तार कर दिये गये, किन्तु वे किसी तरह सैनिकों के पहरे से भाग निकले और अपने थोड़े से अंग-रक्षकों के साथ छिंदवाड़ा जिले की ओर चले गये।

इसके पश्चात् नागपुर से अरबी सैनिकों का एक दल आप्पासाहब की सहायता के लिये उत्तर की ओर गया। यह समाचार पाते ही अंग्रेजी सेना ने उनका पीछा किया और मार्ग में मुलताई के समीप दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ, जिसमें अरबी सैनिकों के अतिरिक्त अनेक अंग्रेजी सैनिक और अधिकारी भी मारे गये।

सन् १८३३ में रायगढ़-नरेश जुझारसिंह के पुत्र देवनाथसिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया, पर वे सफल न हो सके।

बुन्देल विद्रोह—मार्च १८४२ में उत्तर मध्यप्रदेश में चन्द्रपुर (सागर) के जमींदार जवाहरसिंह और नरहुत के जमींदार मधुकरशाह के नेतृत्व में बुन्देलों ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसी समय नरसिंहपुर के एक गोंड जमींदार डिल्लनशाह ने भी विद्रोह किया। इस विद्रोह से सागर से निमाड़ तक का भाग प्रभावित था। विद्रोहियों से मुठभेड़ करते हुए पुलिस और सेना के अनेक सिपाही मारे गये और खिमलासा, खुरई, धामोनी तथा बिनेकी ग्राम लूटे गये। मधुकरशाह पकड़ा गया और उसे फांसी दे दी गई। आज भी सागर के गोपालगंज में उसकी स्मृति में बना एक चबूतरा देखा जा सकता है। अंग्रेजों ने यह विद्रोह दबा दिया, पर वे जनता के हृदय की भावना को न दबा सके। असंतोष की आग धीरे-धीरे जलती रही और सन् १८५७ में अचानक भड़क उठी।

सन् ५७ की राज्यक्रान्ति। यद्यपि सन् ५७ की राज्यक्रान्ति मई के तृतीय सप्ताह में मेरठ के सैनिकों के विद्रोह से प्रारम्भ हुई, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि हमारे प्रान्त में इस क्रान्ति की तैयारी जनवरी मास से ही प्रारम्भ हो गई थी। जनवरी १८५७ के प्रथम सप्ताह में नरसिंहपुर जिले के कुछ ग्रामों से छोटी-छोटी चपातियां बांटी गईं। वे चपातियां कहां से आईं और किसने बांटीं किसी को पता न था। नरसिंहपुर के कमांडिंग आफिसर पी. सी. टर्नन को इस पर सन्देह हुआ और उन्होंने यह सूचना जबलपुर के कमांडिंग आफिसर मेजर इर्स्किन को दी, किन्तु उन्होंने इस पर ध्यान न दिया। कहा जाता है कि इस चपाती बंटवाने की व्यवस्था में विद्रोह होने का संकेत था। मेरठ और उसके पश्चात् झांसी में विद्रोह होने की सूचना पाते ही सागर के कमांडिंग आफिसर केप्टिन सेग सशंकित हो गये और उन्होंने मेजर गॉसन के नेतृत्व में एक सेना ललितपुर की ओर भेजी। उन्होंने इस सेना के सागर से ३७ मील उत्तर की ओर जाने पर ललितपुर में विद्रोह होने और बानपुर के राजा-द्वारा विद्रोह करने का समाचार सुना। उन्होंने सागर से एक सहायक सेना मंगवाई और बालाकोट किले की ओर प्रस्थान किया। उन दिनों यह किला पूर्णतः विद्रोहियों के अधिकार में था। विद्रोहियों ने इस किले के सैनिकों को प्राण-रक्षा का आश्वासन दिया और वे अपनी युद्ध-सामग्री सहित बानपुर-राजा की विद्रोहिणी सेना से मिल गये।

सागर में सैनिक-विद्रोह। केप्टिन सेग कुछ सैनिकों को लेकर मेजर गॉसन की सहायता को ३० जून को रवाना हुए। दूसरे ही दिन सबेरे तृतीय इरेंगुलर फोर्स और ४२ वीं पैदल सेना (इन्फेंटरी) के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने बाजार और सरकारी अधिकारियों के बंगले लूट लिये। १ जुलाई को तृतीय पैदल सेना व घुड़सवार (इन्फेंटरी इरेंगुलर केव्हलरी) के सिपाहियों तथा भारतीय सैनिक-अधिकारियों और ५० सवारों ने भी विद्रोह कर दिया। इसी समय शेख रमजान नामक एक सूबेदार ने ४२ वीं देसी पैदल सेना (नेटिव इन्फेंटरी) के साथ झण्डा उठाकर नगाड़ा बजाया और अन्य सैनिकों का आह्वान किया। विद्रोही सैनिकों ने छावनी के प्रायः सभी अधिकारियों के बंगले लूटे और उनकी सामग्री नष्ट कर दी। इसके पश्चात् वे दमोह की सेना में विद्रोह कराने के लिये वहां पहुंचे। वहां के किले में लगभग डेढ़ लाख रुपया रखा हुआ था। विद्रोही सैनिकों को किले पर आक्रमण करते देख सब सैनिक अधिकारी बड़े चिन्तित हो गये। वे इतने भयभीत थे कि उन्होंने ३१ वीं नेटिव इन्फेंटरी को विद्रोहियों पर आक्रमण करने को तो कह दिया, पर उनके साथ किसी अंग्रेज अधिकारी को न भेजा।

दूसरे दिन सबेरे ३१ वीं पैदल सेना (इन्फेंटरी) को किले के तोपखाने (आर्टिलरी) के सैनिकों से सहायता प्राप्त होने का संदेह होते ही विद्रोहियों ने दमोह छोड़ दिया। सेग, व्हिटलाक, बाल्टेर और पिंकने के समान ख्यातिप्राप्त अंग्रेज सेनापति लगातार एक वर्ष तक विद्रोहियों का दमन करने का प्रयास करते रहे, पर वे पूर्ण सफल न हो सके। जबलपुर के डिप्टी कमिश्नर द्वारा ६ अगस्त १८५७ के दिन कमिश्नर को लिखे एक पत्र से जान पड़ता है कि उन दिनों उत्तरी मध्यप्रदेश के ये दोनों जिले पूर्णतः शाहगढ़ के विद्रोहियों और बानपुर-राजा के अधिकार में थे और अंग्रेज अपने केन्द्र-स्थानों की रक्षा के लिये अत्यधिक चिन्तित हो गये थे। सेग ने कर्नल डलजेल के साथ १८ सितम्बर को एक बड़ी सेना विद्रोहियों का दमन करने को भेजी, किन्तु वे विद्रोहियोंद्वारा मारे गये और उनके सहायक लेफिटनेंट प्रायर बुरी तरह जख्मी होकर भाग गये।

सन् १८५८ में भी इन दोनों जिलों में अशान्ति बनी रही। इन दिनों राहतगढ़ का किला विद्रोहियों के अधिकार में था। २४ जनवरी को सर ह्यूरोज एक बड़ी सेना लेकर इस किले पर अधिकार करने को आये। २८ जनवरी को उन्हें मालूम हुआ कि एक सेना बानपुर राजा के साथ इसी ओर आ रही है। उन्होंने दूनी शक्ति से इस सेना पर गोली बरसाना आरम्भ कर दिया। विद्रोही सैनिक निरुत्साह हो गये और उन्होंने रात्रि के अंधकार में राहतगढ़ का किला छोड़ दिया। सबेरे सर ह्यूरोज की सेनाने बानपुर-राजा के सैनिकों का पीछा किया। बरोदा नामक ग्राम के समीप भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें दो अंग्रेज अधिकारी मारे गये और छः घायल हुए। अन्त में विद्रोही सिपाही पराजित होकर भाग गये। फरवरी में सागर की पैदल सेना (इन्फेंटरी) ने विद्रोह कर दिया और गढ़ाकोटा पर अधिकार कर लिया।

इसके पश्चात् सागर से झांसी जानेवाले मार्गपर स्थित सनोदा, मरदानपुर, सरई, नरोरा आदि किले भी इन विद्रोहियों ने ले लिये। अन्त में वे मरदानपुर के समीप सर ह्यूरोज के द्वारा पराजित हुए।

दमोह की स्थिति—सागर के विद्रोहियों के लौटने पर ४ जुलाई १८५७ को दमोह की ४२ वीं पैदल सेना (इन्फेंटरी) ने विद्रोह कर दिया। सरकारी अधिकारी बड़ी कठिनाई से सरकारी खजाने को जेल में हटाकर बचा सके। अंग्रेज अधिकारियों ने भी अपने स्त्री-बच्चों के साथ जेल में शरण ली। डिप्टी कमिश्नर अपने बंगले से भाग गये। कर्नल मिलर अपनी सेना के साथ जबलपुर से दमोह पहुंचे, पर वहां की स्थिति देखकर उन्होंने किले के सैनिकों को निःशस्त्र करना उचित न समझा। अन्त में, जबलपुर और नागपुर से विशेष (स्पेशल) सेना भेज कर विद्रोही पराजित किये गये। कुछ समय के पश्चात् हिंडोलिया के जमींदार के भाई किशोरसिंह ने अपने अनुयायियों के साथ विद्रोह कर दिया। जोरावरसिंह इन विद्रोहियों का नेता था। इन्होंने दमोह के सब रिकार्ड और अधिकारियों के बंगलों में आग लगा दी। एक अंग्रेज सेना ने इन्हें पराजित कर दिया, पर इसके पश्चात् छः मास तक अंग्रेज अधिकारी इन जिलों में शान्ति स्थापित न कर सके। जिले का प्रत्येक लोधी जमींदार विद्रोही था। उन्होंने १३ सितम्बर को हिंडोलिया का किला ध्वस्त कर दिया। मानगढ़ का राजा गंगाधर भी विद्रोहियों से मिल गया। उसके पकड़े जाने पर बड़ी कठिनाई से विद्रोह शान्त किया जा सका।

जबलपुर में विद्रोह। सन् १८५७ में ५२ वीं देसी पैदल सेना (नेटिव्ह इन्फेंटरी) जबलपुर सैनिक केन्द्र की सबसे बड़ी शक्ति थी। १६ जून को एक सैनिक ने एक अंग्रेज अधिकारी को मार डाला। उसके साथियों ने घोषणा की कि यदि उन्हें निःशस्त्र करने के लिये बाहर से सेना बुलाई गई, तो वे विद्रोह कर देंगे। यह सुनते ही अंग्रेज अधिकारियों ने अपने स्त्री-बच्चों को सिवनी और नरसिंहपुर भेज दिया। नागपुर से एक शक्तिशाली सेना बुलायी गई। २ अगस्त को कामठी से भी एक सेना वहां पहुंची। इस सेना के सिपाही जबलपुर के आसपास के स्थानों में शान्ति बनाये रखने को भेज दिये गये। इसी समय गढ़ा के गोंड राजा शंकरशाह, उनके पुत्र रघुनाथशाह और उनके साथियों ने विद्रोह कर दिया। पिता-पुत्र पकड़कर तोप से उड़ा दिये गये। उसी रात को ५२ वें रेजिमेंट के सिपाही चुपचाप किले से निकलकर पाटन की ओर चले गये, जहां उनकी एक कम्पनी थी। उन्होंने इस कंपनी के कप्तान माकग्रेसर से उन सैनिकों को अपने साथ दिल्ली की ओर जाने के लिये छोड़ देने को कहा और कप्तान के ऐसा न करने पर उसे मार डाला। २१ सितम्बर को सागर से मद्रास कालम, एक घुड़सवार सेना (केव्हलरी) और एक अंग्रेजी सेना इन विद्रोही सैनिकों का दमन करने को भेजी गई। वाट्सन और जानकिन ने भी कुछ सेना के साथ वहां पहुंचने का प्रयत्न किया, किन्तु जैसे ही वे कटंगी के समीप पहुंचे विद्रोहियों से घिर गये और किसी तरह अपनी जान लेकर भागे।

२१ अक्तूबर को विद्रोहियों की एक बड़ी सेना ने पाटन पर आक्रमण करने के लिये हिरन नदी पार की। डिप्टी कमिश्नर और तहसीलदार पुलिस सिपाहियों के साथ उन्हें रोकने आये। तहसीलदार और एक पुलिस-अधिकारी बुरी तरह जख्मी हुए और अपने प्राण लेकर भागे। विद्रोहियों ने पाटन में प्रवेश किया। सरकारी इमारतें नष्ट कर दी गईं और कई घर लूट लिये गये।

अक्तूबर के अन्तिम सप्ताह में विजय-राघोगढ़ के जमींदार ठाकुर सरजूप्रसाद ने विद्रोह किया। उसने तहसीलदार को मार डाला, सरकारी घोड़े अपने अधिकार में कर लिये और मिर्जापुर सड़क एक लम्बे समय के लिये बंद कर दी। ३० अक्तूबर को नरसिंहपुर से केप्टिन उर्ले के साथ एक सेना विजय-राघोगढ़ के विद्रोहियों का दमन करने के लिये रवाना हुई। ४ नवम्बर को चतुर्थ घुड़सवार सेना (केव्हलरी) की एक शाखा मेजर सुलीव्हान के साथ इस सेना को सहायता देने को निकली, किंतु इस सेना के सिपाही विद्रोहियों-द्वारा लूट लिये गये। ६ नवम्बर को विद्रोहियों ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुरवाड़ा के समीप अंग्रेजी सेना पर आक्रमण कर दिया। सेनापति टोटेनहम एक विद्रोही की गोली से आहत हुए और दूसरे दिन जबलपुर में मर गये। १४ नवम्बर को जबलपुर से मेजर जानकिन के साथ पुनः एक सेना भेजी गई, किन्तु वह अपने सैनिकों को आदेश देते समय एक विद्रोही की गोली का शिकार हो गया और उसकी सेना निराश होगई।

६ दिसम्बर को केप्टिन ऊले के साथ बरगी के विद्रोहियों का दमन करने के लिये जबलपुर से एक सेना भेजी गई। ठाकुर देवीसिंह के नेतृत्व में १५ सौ विद्रोहियों ने इस सेना का सामना किया, किन्तु वे पराजित होकर भाग गये। देवीसिंह पकड़ा गया और उसे फांसी दे दी गई।

नरसिंहपुर में विद्रोह—नरसिंहपुर जिले में प्रथम विद्रोह जून १८५७ में डिल्हरी के गोंड राजा के प्रतिनिधियों द्वारा हुआ। सागरा-बोर्ड ने राजा की उपाधि छीन ली, जिसे राजा ने अपमानजनक समझा। मई १८५७ में उसकी मृत्यु हो गई और उसका पुत्र भी मर गया; किन्तु गोंड जाति अपने राजा के अपमान को न भूल सकी और उसने राजा के प्रतिनिधि ठाकुर गंजनसिंह के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उन्हें दबाने के लिये केप्टिन ऊले के साथ २८ वीं मद्रासी देसी पैदल सेना (नेटिव्ह इन्फेंटरी) भेजी गई। गंजनसिंह मारा गया और उसके अनुयायियों का दमन कर दिया गया। विद्रोहियों का दूसरा नेता दल गंजनसिंह भी पकड़ा गया और उसे फांसी दे दी गई। इसके पश्चात् सन् १८५७ के अन्त तक इस जिले में विद्रोह न हुआ।

जनवरी १८५८ में राहतगढ़ के ४ हजार विद्रोहियों ने भोपाल के अब्दुल मुहम्मदखां के नेतृत्व में सिंगपुर के बलभद्रसिंह और नरवरसिंह के सैनिकों के साथ तेंदूखेड़ा पर आक्रमण किया। केप्टिन टर्नर ने २८ वीं मद्रास नेटिव्ह इन्फेंटरी तथा हैदराबाद इन्फेंटरी के साथ उनका सामना किया और उन्हें भगा दिया। कुछ समय के पश्चात् भोपाल के नवाब अलीखां ने १५० पठान, राहतगढ़ के विद्रोहियों तथा स्थानीय विद्रोहियों के साथ पुनः तेंदूखेड़ा पर आक्रमण किया, किन्तु वे लेफ्टिनेंट वाल्टन के द्वारा पराजित कर दिये गये। इसी बीच इस जिले के मीरमानसिंह नामक एक विद्रोही सरदार ने हीरापुर पर आक्रमण किया, किन्तु वह भी २८ वीं मद्रासी देसी पैदल सेना (नेटिव्ह इन्फेंटरी) के द्वारा पराजित हुआ।

मण्डला में। जब कि सारे देश में विद्रोह की आग जल रही थी, तब मण्डला जिला कैसे सोता रहता? उन दिनों इस जिले के अधिकांश छोटे-छोटे राजाओं और जमींदारों के दिल भी विद्रोही हो उठे थे। सन् १८४२ के बुन्देल-विद्रोह का एक सेनानी डालनशाह इन गोंड विद्रोह जमींदारों और राजाओं का सरदार था। जैसे ही उसे पकड़कर फांसी दी गई, मण्डला जिले में विद्रोह की आग फैल गई। शाहपुर और सोहागपुर के राजाओं ने अपनी सेना तथा सम्बन्धियों के साथ विद्रोह कर दिया। जबलपुर में राजा शंकरशाह को तोप से उड़ाने पर उसकी रानी मण्डला की ओर भाग आई और यहां एक सेना संघटित कर उसने भी विद्रोह कर दिया। उसने रामगढ़ के समस्त सरकारी अधिकारियों को निकाल दिया। उसने अपने दबाने के लिये भेजी गई अंग्रेजी सेना का बड़ी वीरता से सामना किया। जब उसने अपने को अंग्रेज सैनिकों से सुरक्षित न देखा, तब वह अपने पेट में कटार मारकर मर गई, पर जीते जी शत्रु के हाथ में न पड़ी। शाहपुर के जमींदार विजयसिंह विद्रोहियों से मिल गये और जबतक वे जीवित रहे, (सन् १८६५ तक) उन्होंने अंग्रेज अधिकारियों को चैन से न बैठने दिया।

होशंगाबाद जिले पर विद्रोह का प्रभाव। यह जिला सन् १८५७ के विद्रोह से अधिक प्रभावित न हो सका। केवल महादेव पहाड़ की तराई में बसे कुछ छोटे-छोटे राजाओं ने विद्रोह किया, पर वे तुरन्त दबा दिये गये। इस जिले के नेमावर परगने के मेवातियों ने विद्रोह किया और सिंधिया के एक पण्डित ने नेमावर आकर विद्रोहियों का नेतृत्व किया। उसने नेमावर पर अधिकार कर मराठों का झण्डा फहराया और कुछ मालगुजारी भी वसूल की। हर्दा की विद्रोही पुलिस उससे मिल गई। यह समाचार सुनकर होशंगाबाद के डिप्टी कमिश्नर मि. वुड २८ वीं मद्रासी देसी पैदल सेना (नेटिव्ह इन्फेंटरी) के साथ ८ अक्टूबर १८५७ को रवाना हुए वे जैसे ही नर्मदा के दक्षिण तट पर स्थित हण्डिया नामक स्थान पर आये, उत्तरी तट से विद्रोहियों की गोलियां चलने लगीं। पर वे अंग्रेजी सेना की गोलियों का मुकाबला न कर सके और भाग गये। दूसरे दिन अंग्रेज सेना ने मेवाती विद्रोहियों का फिर पीछा किया। सिंधिया पण्डित पकड़ा गया और उसे फांसी दे दी गई। १६ अक्टूबर को अंग्रेजी सेना ने सतवासा के विद्रोहियों पर आक्रमण किया। उनका नेता लालखां और एक पुलिस जमादार पकड़ा गया और उन्हें फांसी दे दी गई।

सन् ५७ में निमाड़। इन दिनों मण्डलेश्वर निमाड़ का केन्द्र-स्थान था। जैसे ही नसीराबाद और नीमच में विद्रोह होने की खबर मिली, मण्डलेश्वर का खजाना एक प्राचीन किले में हटा दिया गया और उसकी रक्षा के लिये एक भील सेना रख दी गई। इसके पश्चात् समाचार मिला कि औरंगाबाद में प्रथम हैदराबाद घुड़सवार सेना (केव्हलरी) ने विद्रोह कर दिया है और उसके सिपाही बुरहानपुर होते हुए उत्तर की ओर जाना चाहते हैं। बुरहानपुर की सेना विद्रोह के लिये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थी। इसी समय इंदौर में विद्रोहियों ने कुछ अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी और बचे हुए अंग्रेज अपने स्त्री-बच्चों को लेकर दक्षिण की ओर भागे। इस हत्याकाण्ड में होल्कर का हाथ होने का संदेह था। मण्डलेश्वर से ५ मील की दूरी पर महेश्वर में होल्कर की छावनी थी। इसलिये निमाड़ के तत्कालीन रेजीडेंट कीटिंग्ज ने इंदौर से भागकर आये अंग्रेज परिवारों को मण्डलेश्वर में न ठहरा पुनासा के किले में उनके ठहरने का प्रबन्ध कर दिया। सरकारी खजाना भी उसी किले में भेज दिया गया।

१० जुलाई को बम्बई पैदल सेना (इन्फेंटरी) और हैदराबाद घुड़सवार सेना (केव्हलरी) असीरगढ़ आई। इसके कुछ ही समय पश्चात् बुरहानपुर की सेना ने विद्रोह कर दिया और विद्रोही सिपाही असीरगढ़ की ओर बढ़े। भीलों की सेना और बम्बई इन्फेंटरी की सहायता से बुरहानपुर और असीरगढ़ की सिंधिया सेना के शस्त्र छीन लिये गये।

बैतूल पर विद्रोह की छाया। सैनिक-विद्रोह के दिनों में बैतूल, मुलताई और शाहपुर में अंग्रेजी सेनाएं रखी गई थीं। ये स्थान अंग्रेज परिवारों की सुरक्षा की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण स्थान समझे जाते थे। जिले में इन अंग्रेजी सेनाओं के अतिरिक्त गोंडों तथा अन्य पहाड़ी जातियों की भी एक सेना थी। घने जंगलों और पहाड़ों में बसे अनेक गांव उजाड़ दिये गये थे, ताकि विद्रोही इन स्थानों में आकर छिप न सकें।

बैतूल के शिवदीन पटेल ने तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर मि. ब्राउन को आप्पा साहब का पीछा करने तथा पिंडारियों के दमन में बहुत सहायता की थी, किन्तु सन् ५७ के विद्रोह के दिनों में उनपर तथा उनके परिवारवालों पर विद्रोह का सन्देह किया गया और वे, उनके भाई रामदीन पटेल, उनके परिवार के तीन अन्य सदस्य तथा उनके दो नौकर गिरफ्तार कर ४ वर्ष से ७ वर्ष तक के लिये जेल भेज दिये गये और उनकी सब जायदाद जब्त कर ली गयी। दोनों पटेल बन्धु कुछ समय के पश्चात् नागपुर जेल में ही मर गये।

दूसरे वर्ष तांतिया टोपी की सेना के कुछ आदमी मुलताई और मासोद में पकड़े गये और उन्हें फांसी दे दी गई। ५ अक्तूबर १८५८ को मराठा सेनापति तांतिया टोपी अपनी सेना के साथ मुलताई आये और मासोद,आठनेर, सांवलमेंढ़ा, भैंसदेही होते हुए निमाड़ जिले में चले गये। उनके पश्चात् बांदा के विद्रोही नवाब ने छिन्दवाड़ा के पश्चिमी तथा बैतूल जिले के पूर्वी भाग में लूटमार की। उन्हीं के सैनिकों द्वारा मुलताई के एक तहसीलदार, एक पुलिस-अधिकारी, कुछ तीरंदाज और कुछ चपरासी मारे गये। छिंदवाड़ा के मैकूलाल नामक एक सरिश्तेदार को भी नवाब के सैनिकों-द्वारा मुलताई में फांसी दी गई।

विद्रोह में छिन्दवाड़ा का योग। मई १८१९ में आप्पासाहब भोंसले अंग्रेज सैनिकों के पहरे से भाग कर कुछ दिनों तक छिंदवाड़ा जिले के गोंड और कोरकू जमींदारों के पास रहे। यहीं उनकी पिंडारी नेता चीतू से भेंट हुई।

अगस्त १८५८ में हरंई के जमींदार ठाकुर चैनसिंह विद्रोहियों से मिल गये। नागपुर के सूबेदार मेजर ने कुछ सैनिकों के साथ उनका पीछा किया, किन्तु वे उन्हें पकड़ न पाये। अक्तूबर १८५८ में इस जिले के अनेक ग्रामों में लाल झण्डा, नारियल-सुपारी और सुपारी के हरे पत्ते के साथ बांटा गया। यह तांतिया टोपी और नानासाहब के आदमियों का कार्य समझा जाता था, किन्तु इसका कोई परिणाम न हुआ।

नागपुर में सैनिक-विद्रोह। सन् १८५७ के विद्रोह में सबसे अधिक योग यद्यपि सागर जिले का रहा, पर इस दृष्टि से नागपुर को भी कम महत्व नहीं दिया जा सकता। इन दिनों नागपुर के कमिश्नर मि. प्लोडन के अधिकार में नागपुर में एक सुसज्जित अंग्रेजी सेना तथा मद्रास तोपखाने (आर्टिलरी) की एक कम्पनी रहती थी। मद्रास तोपखाने

का दूसरा एक दस्ता कामठी में था। जैसे ही मेरठ में विद्रोह होने का समाचार यहां आया, स्थानीय घुड़सवार (केव्हलरी) सैनिकों में विद्रोह के भाव दिखाई देने लगे। प्लोडन ने कर्नल कम्बरलेग को १७ जून १८५७ को स्थानीय सेना को निःशस्त्र करने की आज्ञा दे दी और सीताबर्डी किले की सैनिक शक्ति दूनी कर दी। इस समय यहां कोई घटना न हुई। स्थानीय सेना के सिपाहियों ने शस्त्र डाल दिये। उनके नेताओं के विरुद्ध अदालती कार्यवाही आरंभ हुई। मि. प्लोडन ने शंकित होकर नागरिकों के भी हथियार छीन लिये। २९ जून को तीन विद्रोही समझे जानेवाले सैनिकों को प्रातःकाल साढ़े सात बजे अन्य सैनिकों के सामने फांसी दे दी गई।

इसके पश्चात् नागपुर की अनियमित घुड़सवार सैन्य (इर्रेगुलर केव्हलरी) ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया, परन्तु उनका प्रयत्न दूसरे ही दिन कामठी से मद्रास पैदल सेना (इन्फेंटरी) मंगवाकर दबा दिया गया। विद्रोही सेना के तीन रिसालदारों को फांसी दे दी गयी। ८ जुलाई को नागपुर-कमिश्नर ने समस्त दैनिक समाचार-पत्रों के प्रकाशन पर रोक लगा दी। १५ अक्तूबर १८५७ को अवध के नवाब, उनके प्रधानमंत्री और उनके तीन सहायक गिरफ्तार किये गये और सीताबर्डी के किले में कैद कर लिये गये। इसके पश्चात् सन् '५७ के अन्त तक नागपुर में कभी अशान्ति न हुई।

१६ जून १८५८ को बारूद विभाग के एक कर्मचारी हनुमानसिंह ने विद्रोह किया। हनुमानसिंह एक दफादार और मेजर के साथ गिरफ्तार किया गया और उन सबको फांसी दे दी गई। नागपुर के नागरिकों में से दो प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवारों के प्रमुख नवाब कादिर अलीखां और श्री विलायत मियां जनता को विद्रोह करने के लिये प्रोत्साहन करने के अपराध में गिरफ्तार किये गये और फांसी पर चढ़ा दिये गये।

चांदा जिले में अशान्ति—आप्पा साहब भोंसले के नागपुर छोड़ने के समय से चान्दा जिले में कभी भी पूर्ण शान्ति न रही। सदैव ही छोटी-बड़ी घटनाएं होती रहीं। सन् १८५२ में मूल-मार्ग से जाते हुए सरकारी खजाने पर गोंडों के एक विद्रोही दल ने आक्रमण कर दिया और खजाना लूट लिया। जिन दिनों भारत के अन्य स्थानों में विद्रोह की आग जल रही थी, उन दिनों चान्दा जिले के तथा हैदराबाद की सीमा पर बसे हुए गोंडों ने जिले में अशान्ति फैला दी। तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर मि. क्रिक्टन ने मार्च १८५८ तक किसी तरह विद्रोह न होने दिया। इसके पश्चात् मानमपल्ली के जमींदार बाबूराव तथा आरपल्ली और घोटे के जमींदार व्यंकटराव ने विद्रोह की घोषणा कर दी और रुहल्लों के सहयोग से एक सेना संघटित की और २९ अप्रैल को इस सेना के एक समूह ने तीन अंग्रेज अधिकारियों पर आक्रमण किया और उनमें से दो को मार डाला। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य स्थानों में भी आक्रमण किया, पर अधिक सफल न हो सके। बाबूराव २१ अक्तूबर को पकड़ कर फांसी पर चढ़ा दिया गया और व्यंकटराव बस्तर की ओर भाग गया, जो अप्रैल १८६० में बस्तर के राजा द्वारा पकड़ा गया और उसे आजन्म कालेपानी का दण्ड दिया गया।

भण्डारा में—सन् १८१८ में कामठी और आदवगढ़ के जमींदार चिमनाजी ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया। परिणामस्वरूप उसके २०७ गांव जब्त कर लिये गये। कप्तान जार्डन को विद्रोहियों का दमन करने के लिये चार मास तक कामठी में रहना पड़ा। सन् १८३० में भण्डारा जिला तृतीय राघोजी भोंसला को दे दिया गया और जिले में शान्ति बनाये रखने के लिये पैदल सेना (इन्फेंटरी) की एक कम्पनी और कुछ घुड़सवार भण्डारा में सन् १८६० तक रखे गये।

रायपुर में विद्रोह—१५ अक्तूबर १८५७ को विद्रोहियों के एक बड़े समूह ने गुरुरसिंह और रणवन्तसिंह के नेतृत्व में और सम्बलपुर के कुछ विद्रोही जमींदारों ने रायपुर के सोहागपुर तालुका में प्रवेश किया। रायपुर के डिप्टी कमिश्नर ने स्थानिक सैनिकों को साथ ले ६ दिसम्बर को विद्रोहियों पर सोहागपुर के निकट आक्रमण किया। विद्रोहियों की गोलाबारी से घुड़सवारों का एक दल घायल हुआ और कुछ घोड़े मारे गये। १७ विद्रोही गिरफ्तार किये जा सके, पर वे भी हिरासत से निकल भागे। सतारा-राजा के भूतपूर्व वकील रंगा बापूजी इन विद्रोहियों के सरदार थे।

१८ मार्च १८५८ को संध्या के साढ़े सात बजे रायपुर में सैनिक विद्रोह प्रारम्भ हुआ। सैनिकों ने तृतीय रेगुलर रेजीमेंट के अंग्रेज मेजर की हत्या कर दी। विद्रोही सैनिकों में तोपखाने (आर्टिलरी) के १४ हवलदार और तृतीय रेगुलर फोर्स के २ सिपाही थे। जबलपुर से ३३ वीं मद्रास देसी पैदल सेना (नेटिव्ह इन्फेंटरी) मंगवाकर विद्रोह दबा दिया गया। छावनी के समस्त भारतीय अधिकारियों की उपस्थिति में विद्रोहियों पर लगातार दो दिन तक मुकदमा चलता रहा और सबको फांसी दे दी गई। सोनाखान का विद्रोही जमींदार भी २६ अक्तूबर को पकड़कर फांसी पर चढ़ा दिया गया।

उदयपुर के राजकुमारों का विद्रोह—उदयपुर (सरगुजा) नरेश के दोनों भाइयों ने सन् १८५८ के दिसम्बर मास में एक सैनिक संगठन के साथ विद्रोह कर दिया। दोनों भाई १८५६ में सरगुजा के राजा की सहायता से गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें आजन्म कालेपानी का दण्ड देकर अंदमान टापू में भेज दिया गया। उदयपुर-राज्य सन् १८६० में सरगुजा-महाराज के भाई को उनकी विद्रोहकालीन सेवाओं के बदले में दे दिया गया।

जन-जागरण का युग

कांग्रेस का जन्म—सन् १८५७ का विद्रोह यद्यपि सफल न हो सका और तत्कालीन शासन ने अपनी अपार सैनिक शक्ति एवं छल-बल से इस विद्रोह का दमन कर दिया; तथापि अंग्रेजों को यह स्वीकार करना ही पड़ा कि जबतक भारतीयों को किसी न किसी प्रमाण में शासनाधिकार न दिये जायेंगे, तबतक वे संतुष्ट न होंगे और बिना उन्हें सन्तुष्ट किये अंग्रेज इस देश में निर्विघ्न शासन न कर सकेंगे। सर ह्यूम ऐसे ही विचारशील अंग्रेजों में से एक थे, जिन्हें हमें अपनी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के प्रथम संस्थापक ही कहना चाहिये। उन्होंने लार्ड डफरिन के सामने कांग्रेस-स्थापना की अपनी योजना रखी और इंग्लैण्ड जाकर इस योजना के अनुकूल लोकमत तैयार किया। इसी समय कलकत्ता के बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा बम्बई के श्री तैलंग, बदरुद्दीन तैय्यबजी आदि के मस्तिष्क में भी इस देश में कांग्रेस-जैसी एक संस्था को जन्म देने का विचार आया। परिणामस्वरूप सन् १८८५ के दिसम्बर मास की २८ तारीख को प्रथम बार बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय में देश के चुने हुए ७२ प्रतिनिधियों की एक परिषद् का आयोजन किया गया और सर्वसम्मति से कांग्रेस को जन्म दिया गया। यही दिन वास्तव में हमारी भारतीय स्वतंत्रता के अहिंसात्मक प्रयत्न का प्रथम दिवस कहा जाना चाहिये।

नागपुर में जन-जाग्रति—कांग्रेस की स्थापना के पूर्व ही सरकारी नौकरी तथा व्यवसायादि के उद्देश्य से बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि शहरों के कुछ परिवार नागपुर आ चुके थे। यहां के बूटी, चिटनवीस आदि परिवारों का ध्यान पहिले से ही सार्वजनिक कार्यों की ओर था। इन नये परिवारों के योग ने नागपुर में एक नया वातावरण निर्माण कर दिया। परिणामस्वरूप सन् १८६६ में नीलसिटी हाईस्कूल, सन् १८८१ में प्रथम मुद्रणालय, सन् १८८५ में में मारिस कालेज (वर्तमान नागपुर महाविद्यालय), सन् १८८६ में लोकसभा तथा सन् १८८८ में गोरक्षण सभा स्थापित हुई और सन् १८८१ में इंडिपेंडेन्ट (अंग्रेजी) देश सेवक और गोरक्षा (हिन्दी) तथा भोंसला (मराठी) पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। स्व. गोपालराव भिडे, बापूराव दादा, कृष्णराव देशपांडे, वामनराव कोल्हटकर, राजारामपंत दीक्षित, हरिहर पण्डित, चितोपंत केलकर, बापूसाहब पटवर्धन, केशवराव ताम्हण, प्रो. सदाशिव जयराम आदि इस समय के प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ता थे।

कांग्रेस के बम्बई-अधिवेशन में यहां से कोई प्रतिनिधि नहीं गया था। द्वितीय अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, जिसमें नागपुर से सर्वश्री बापूराव दादा, सर गंगाधरराव चिटनवीस, गोपालराव भिडे और कामठी से श्री अब्दुल अजीज ने इस प्रदेश के प्रतिनिधियों के रूप में भाग लिया। श्री अब्दुल अजीज कांग्रेस अधिवेशन में भाषण देनेवाले इस क्षेत्र के प्रथम व्यक्ति थे।

इस अधिवेशन के पश्चात् ही सन् १८८६ में यहां "लोकसभा" की स्थापना की गई, जो इस प्रदेश की प्रथम राजनीतिक संस्था थी। सन् १८८८ में समस्त भारत में गोरक्षा का कार्य करने के उद्देश्य से गोरक्षण सभा स्थापित की गई, जिसकी ४७ शाखाएं नागपुर और विदर्भ प्रदेश में कार्य करती थीं। श्री गोपालराव भिडे सभा के कर्णधार थे। जबलपुर में इसके पूर्व एक गोरक्षण सभा स्थापित हो चुकी थी, पर उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित था।

सन् १८८७ के मद्रास-कांग्रेस अधिवेशन में इस प्रदेश से १३ प्रतिनिधि तथा इसके पश्चात् बम्बई अधिवेशन में २१४ प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इस प्रकार कांग्रेस में इस प्रदेश का भाग बढ़ता ही गया।

नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन। सन् १८८१ ई. में प्रथम बार नागपुर में अखिल भारतीय कांग्रेस महासभा का अधिवेशन श्री आनंदाचार्य की अध्यक्षता में हुआ। बैरिस्टर श्री नारायण स्वामी इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष तथा प्रो. भगीरथ प्रसाद, कृष्णराव देशपाण्डे, गोपालराव भिडे, राजारामपंत दीक्षित, मुधोलकर, रा.ब. देवराव, विनायक जोशी स्वागत समिति के प्रमुख सदस्य थे। भारत के विभिन्न भागों से ८१२ प्रतिनिधियों ने इस अधिवेशन में भाग लिया। एक विशाल सुसज्जित सभा-मण्डप के एक द्वार पर "अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा" और दूसरे द्वार पर "ईश्वर महारानी को चिरायु करे" सुनहरे अक्षरों से लिखा हुआ था। विभिन्न प्रांतों से विभिन्न वेषभूषा में उपस्थित कांग्रेस-प्रतिनिधियों का जमाव दर्शनीय था। मध्यप्रदेश के तत्कालीन चीफ कमिश्नर मैकडानल्ड तथा विदर्भ के कमिश्नर कर्नल केनेथ ने भी इस अधिवेशन में उपस्थित होकर राष्ट्रीय महासभा के प्रति सम्मान व्यक्त किया था। इस अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्तावों में विधानसभा में लोक-निर्वाचित प्रतिनिधियों को स्थान देने, भारतीयों को देश-रक्षा के लिये शस्त्र रखने की आज्ञा मिलने, सिविल सर्विस की परीक्षा भारत में ही होने, नमक कर घटाने, न्याय और शासन विभाग पृथक् रखने तथा शिक्षा विभाग को अधिक सक्षम बनाने के प्रस्ताव मुख्य थे। तृतीय दिवस महारानी विक्टोरिया के जयघोष के साथ कांग्रेस का यह नागपुर-अधिवेशन समाप्त हुआ। इसी अधिवेशन में लोकमान्य तिलक ने भारतीयों को सैनिक शिक्षा देने का तथा श्री पीटर लाल पिलारी ने जंगल-कानून में परिवर्तन करने का प्रस्ताव उपस्थित किया था। सन् १८९२ में कांग्रेस-कार्यों की सफलता के लिये कांग्रेस की एक समिति बनाई गई थी। इसी प्रकार की कुछ समितियां कुछ जिलों में भी काम करती थीं, जिन्हें वर्तमान जिला कांग्रेस कमेटी का पूर्व रूप ही कहना चाहिये। इसी वर्ष इण्डियन कौंसिल एक्ट स्वीकृत हुआ।

औद्योगिक जागृति। नागपुर-अधिवेशन के पश्चात् इस प्रदेश में विशेष जागृति दिखाई देना स्वाभाविक था। इसी वक्त इस प्रदेश के कार्यकर्ताओं का ध्यान औद्योगिक प्रगति की ओर आकर्षित हुआ। उक्त अधिवेशन के पूर्व ही स्व. कृष्णराव फाटक के प्रयत्न से "पुलगांव काटन मिल" आरम्भ हो चुकी थी। इसके पश्चात् रा. सा. मवाळकर के प्रयत्न से हिंगनघाट मिल भी आरम्भ हो गई। इन्हीं दिनों एक "स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा" स्थापित की गई। नागपुर-अधिवेशन के अवसर पर ही "नागपुर स्वदेशी मिल" का भी शिलान्यास किया गया।

औद्योगिक प्रगति के साथ ही समाज-सुधार और धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति भी आरंभ हो गई। दो संस्थाएं स्थापित की गईं। एक सभा समाज-सुधार का और दूसरी सभा सनातन धर्म-प्रचार का कार्य करने लगी। सन् १८८७ और १८९८–१९०० के अकाल ने किसान-आंदोलन को भी जन्म दे दिया। इस आंदोलन के फलस्वरूप किसानों को कुछ सुविधाएं प्राप्त हुईं और सरकार की ओर से स्थान-स्थान पर अकाल-निवारण कार्य आरम्भ हुए।

पूना के स्वदेशी आन्दोलन के प्रणेता गणेश वासुदेव जोशी के एक शिष्य श्री त्र्यम्बकराव खरे तथा कृष्णराव फाटक ने स्वदेशी प्रचार-कार्य में विशेष योग दिया।

नागपुर के श्री केशवराव जोशी ने सन् १८८२ में कांग्रेस के इलाहाबाद-अधिवेशन में पब्लिक सर्विस कमीशन की रिपोर्ट के विरोध में भाषण दिया और सन् १८९३ में लाहौर-अधिवेशन में मध्यप्रदेश के कृषकों की दीनावस्था का चित्रण करते हुए सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। १६ अप्रैल १८९३ को सी. नारायण स्वामी नायडू की अध्यक्षता

में नागपुर में एक सभा हुई, जिसमें इण्डिया कौन्सिल में इस प्रदेश से एक प्रतिनिधि लेने की मांग की गई। सरकार ने यह मांग स्वीकार कर सर गंगाधरराव चिटनवीस की इस प्रदेश के प्रथम प्रतिनिधि के रूप में नियुक्ति की।

कांग्रेस का अमरावती-अधिवेशन—सन् १८९७ का कांग्रेस-अधिवेशन अमरावती में श्री शंकरन नायर की अध्यक्षता में हुआ। इसी वर्ष इस क्षेत्र में भयंकर अकाल पड़ा था। अधिवेशन में एक प्रस्ताव-द्वारा सरकार का ध्यान अकाल निवारण के प्रयत्न की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया गया। रेण्ड और आयर्स्ट की हत्या तथा लोकमान्य तिलक के कारावास के कारण इस अधिवेशन में अधिक प्रतिनिधि उपस्थित न हो सके, पर गरम दल को जन्म देने का श्रीगणेश वास्तव में लोकमान्य तिलक के कारावास के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के रूप में रखे प्रस्ताव द्वारा इसी अधिवेशन ने हुआ। भारतमंत्री का पद तोड़ देने का प्रस्ताव भी सर्वप्रथम इसी अधिवेशन में उपस्थित किया गया था।

सन् १८९९ की लखनऊ कांग्रेस ने, श्री रमेशचन्द्र दत्त की अध्यक्षता में संविधान में परिवर्तन का प्रस्ताव पारित किया और तदनुसार मध्यप्रान्त और बरार को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हुआ। नागपुर-प्रदेश से श्री बापूराव दादा, लाला भगीरथ प्रसाद तथा वर्धा के श्री एन. व्ही. केलकर प्रतिनिधि चुने गये।

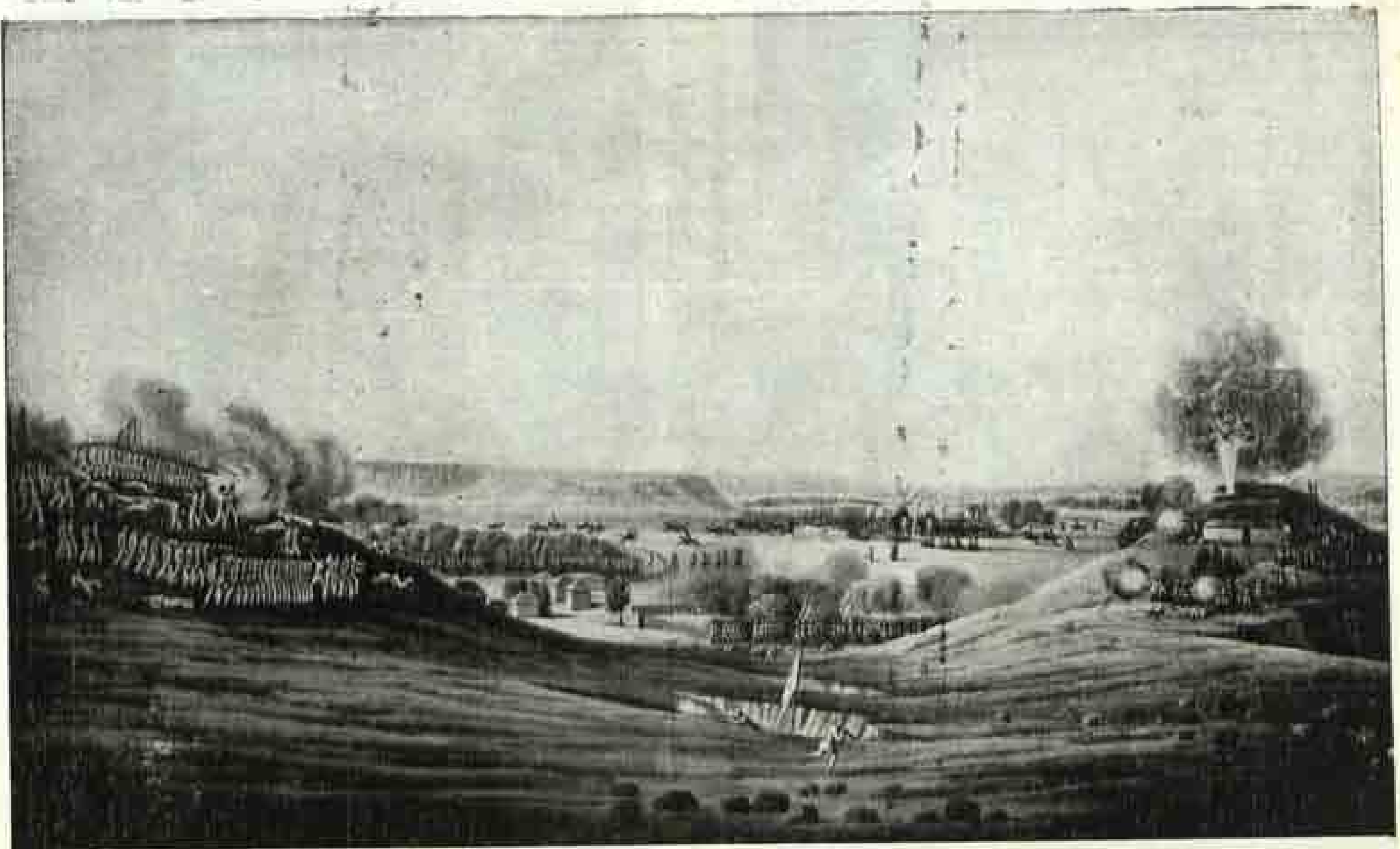
सन् १८९९ में श्री ना. रा. चंदावरकर की अध्यक्षता में होने वाले लाहौर-कांग्रेस-अधिवेशन में इस प्रदेश से श्रीधर बलवन्त गोखले शिक्षा समिति के और श्री रावजी गोविन्द औद्योगिक समिति के सदस्य नियुक्त किये गये।

विचार-क्रान्ति का युग—लाहौर-कांग्रेस के पश्चात् अन्य प्रान्तों की तरह हमारे प्रान्त में भी नव-जन जागरण के साथ ही विचार-क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। कांग्रेस का बढ़ा हुआ महत्व और प्रभाव सरकार को धीरे-धीरे असह्य होगया। इसी समय लार्ड कर्जन भारत के वाइसराय होकर आये। यहां आते ही उन्होंने सर्व-प्रथम विश्वविद्यालयों का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त कर उन्हें सरकार के अधिकार में करना चाहा। सन् १९०४ में स्वीकृत विश्वविद्यालय एक्ट उनकी इसी इच्छा का परिणाम है। इसके पश्चात् ही उन्होंने शासनिक सुव्यवस्था और मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा के नाम पर बंगाल को दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया। परिणामस्वरूप न केवल बंगालवासियों में वरन समस्त भारत की राष्ट्रवादी जनता में क्षोभ फैल गया। यही कारण है कि इसके पश्चात् होनेवाले कांग्रेस अधिवेशनों द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों में हमें लार्ड कर्जन के इन कार्यों की प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। इन प्रस्तावों में हमारे प्रदेश का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। सन् १९०१ की कलकत्ता-कांग्रेस द्वारा न्याय विभाग को शासन विभाग से पृथक् करने के प्रस्ताव का समर्थन करनेवालों में से इस प्रदेश के ख्याति-प्राप्त कानून पंडित डा. सर हरिसिंह गौर प्रमुख थे। सन् १९०२ की अहमदाबाद-कांग्रेस में हमारे प्रान्त के एक प्रतिनिधि श्री. म. कृ. पाध्ये ने कांग्रेस के पुलिस कमीशन विषयक प्रस्ताव का जोरदार शब्दों में समर्थन किया।

उसी वर्ष लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का नागपुर आगमन हुआ और उनकी प्रेरणा से नागपुर प्रदेश के तरुणों में एक नई विचारधारा प्रवाहित होती दिखाई देने लगी।

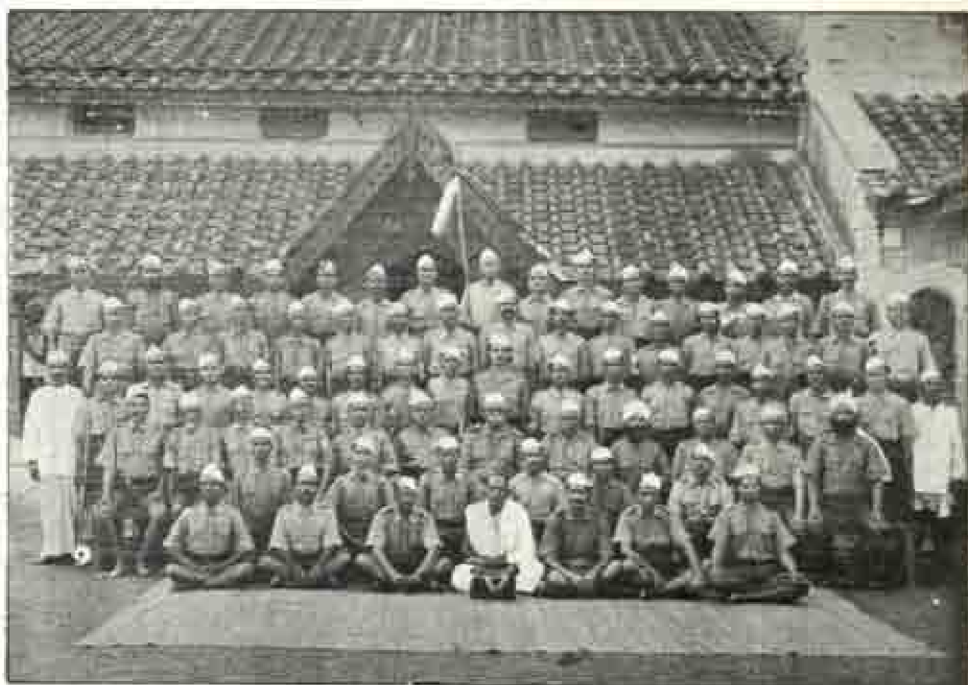
सन् १९०४ की बम्बई-कांग्रेस में डाक्टर गौर ने सरकार की शिक्षा नीति की कड़ी आलोचना की। भारत मंत्री के कार्यालय विषयक एक दूसरे प्रस्ताव पर श्री पाध्ये ने बड़ा प्रभावपूर्ण भाषण दिया। बैरिस्टर मोरोपन्त अभ्यंकर और बैरिस्टर गोविन्दराव देशमुख उन दिनों विद्यार्थी थे। उन्होंने कांग्रेस के इस अधिवेशन में भाग लिया और उनके द्वारा तत्कालीन विद्यार्थी-समाज में राष्ट्रीय कार्यों की नींव पड़ी। इसी अधिवेशन में पुलिस-सुधार सम्बन्धी एक प्रस्ताव पर भी वासुदेवराव जोशी का भाषण हुआ।

तारीख ८ फरवरी १९०४ को रूस-जापान युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध में नित्य प्रति जापान को प्राप्त होने वाली विजय के कारण भारतीयों का ध्यान स्वभावतः जापान की ओर आकर्षित हुआ और यहां के निवासी पश्चिम पर पूर्व की विजय होती देख प्रसन्नता व्यक्त करने लगे। यह लार्ड कर्जन को असह्य हो गया और उनकी सरकार ने

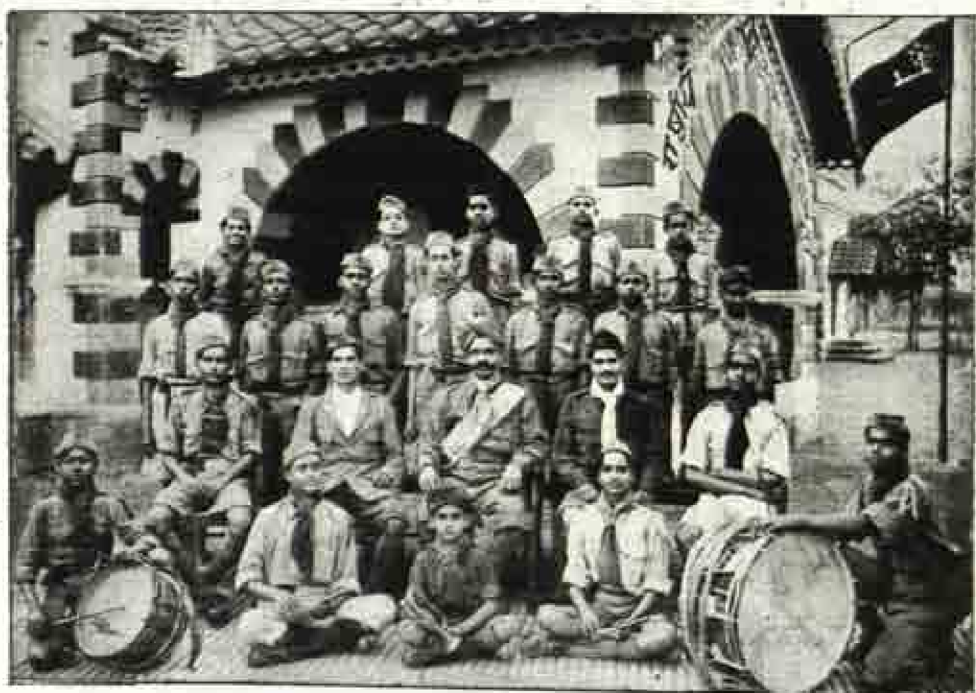


सीताबर्डी किले के युद्ध का एक दृश्य (चित्र लन्दन से)

भोसलों ने स्वाधीनता की रक्षा के लिये अंगरेजों के पैर न जमने देने के लिये घोर प्रयत्न किया परन्तु वे असफल रहे



व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय रायपुर के स्वयं सेवकों का समूह जिसमें शुक्लजी,
श्री महन्त लक्ष्मीनारायणदासजी, स्व. शिवदास डागा आदि दिखलाई पड़ रहे हैं।



रायपुर जिला कौन्सिल स्काउट दल
(शुक्ल जी ने जि. कौं. का राष्ट्रीय कार्य के लिये पूर्ण उपयोग किया)



महात्माजी की महाकोशल म शुक्ल जी के साथ
हरिजन-यात्रा के दो दृश्य





अ. भा. कां. क. की जबलपुर बैठक (१९३४)

भारतीय नेतागण सरदार वल्लभभाई, देशरत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, आचार्य कृपलानी, श्री मुन्शीजी श्रीमती सरोजनी नायडू, श्री भुल्लाभाई देसाई आदि बाबू गोविंदासजी और शुक्लजी आदि के साथ दिखलाई पड़ रहे हैं।



मध्यप्रदेश में राजनैतिक जागृति का पहिला अध्याय

श्री लोकमान्य तिलक के दौरे के समय का चित्र

ज़ोरों से भारतीयों का दमन प्रारंभ कर दिया। सन् १६०५ में श्री गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में बनारस में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति से सम्बन्धित प्रस्ताव पर डा० मुंजे का भाषण हुआ।

बनारस-अधिवेशन के पश्चात् बंगाल में श्री अश्विनी कुमार के नेतृत्व में स्वदेशी प्रचार का कार्य बड़े वेग से आरम्भ हुआ। नागपुर में यह कार्य सर्वप्रथम विद्यार्थियों ने अपने हाथ में लिया। इस कार्य के लिये भिन्न-भिन्न संस्थाएँ, क्लब आदि आरंभ हो गये। सर्वश्री जयकृष्णपंत उपाध्ये, भाऊसाहब दुलारी, भवानीशंकर नियोगी, नागपुर, रामभाऊ श्रोती, आर्वी, बापट, पांढरीपाण्डे, पंढरपुरकर, भण्डारा आदि स्वदेशी-प्रचार-आंदोलन में भाग लेने वाले प्रमुख विद्यार्थी थे। डा. पांडुरंग खानखोजे, रामलाल बाजपेई, नागपुर, सिद्धनाथ कृष्ण काणे, यवतमाल, गनपतराव मालवी आदि इस समय के क्रान्तिकारी विचारों के विद्यार्थी थे। इस प्रकार एक ओर श्री उपाध्ये के नेतृत्व में विद्यार्थी-समाज स्वदेशी-प्रचार में व्यस्त था तथा दूसरी ओर श्री खानखोजे के नेतृत्व में क्रान्तिकारी तरुणों का संगठन हो रहा था। इसी समय लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से नागपुर में गणेशोत्सव और शिवाजी जयन्ती के कार्यक्रम आरम्भ हुए। इन दोनों उत्सवों ने भी तरुणों के संगठन में मूल्यवान योग प्रदान किया। उन दिनों नागपुर प्रदेश में विद्यार्थियों-द्वारा संचालित ३४ संस्थाएँ थीं। सन् १६०३ में विदर्भ नागपुर प्रदेश में मिला दिया गया, जो राजनीतिक जाग्रति की दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुआ। अब नागपुर और विदर्भ के राजनीतिक कार्यकर्ता संयुक्त रूप में जन-जाग्रति का कार्य करने लगे। सन् १६०५ में दादा साहेब खापर्डे की अध्यक्षता में नागपुर में प्रथम बार "नागपुर-विदर्भ प्रांतीय राजनैतिक परिषद्" की गई। सर गंगाधर राव चिटनवीस परिषद् के स्वागताध्यक्ष थे। यह परिषद् बड़े उत्साह से नागपुर-टाउन हाल में सम्पन्न हुई, जिसका स्थानीय जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार की एक राजनीतिक परिषद् जबलपुर में भी श्री गंगाधरराव चिटनवीस की अध्यक्षता में हुई।

सन् १८६१ में ही "सागर-नर्मदा क्षेत्र" का एकीकरण नागपुर प्रांत से हो चुका था, पर राजनीतिक दृष्टि से इस जबलपुर राजनीतिक परिषद् के समय से ही इन दोनों प्रदेशों का संगठन भारतीय स्वतंत्रता प्राप्तिके उद्देश्यसे आरम्भ हुआ और यह संगठन धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। इन्हीं दिनों कुछ नवयुवकों के प्रयत्न से एक दल की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत "होमरूल" प्राप्त करना था। इस समिति की स्थापना में लोकमान्य तिलक की प्रेरणा थी। नवयुवकों द्वारा स्थापित यह दल "राष्ट्रीय दल" कहलाता था। "केसरी" और "मराठा" इस दल के प्रमुख पत्र थे। अपने प्रदेश में इस दल के सिद्धान्तों का प्रचार करने तथा दल के कार्यों को बल देने के लिये स्व. पं. माधवराव सप्रे के सम्पादन में नागपुर से "हिन्दी केसरी" का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। श्री सप्रे जी मध्यप्रदेश के जन-जागरण के जन्मदाताओं में प्रमुख थे। उन्होंने अपने इस पत्र द्वारा महाकोशल, छत्तीसगढ़ और नागपुर तथा विदर्भ की हिन्दी भाषी जनता की अमूल्य सेवा की। यह वह युग था, जब "देशभक्ति" "राजद्रोह" का पर्यायवाची शब्द था और एक मात्र अनुनय-विनय ही अपनी मांगों की पूर्ति की साधना थी।

स्वराज्य की घोषणा

सन् १६०६ तक इस राष्ट्रीय दल अथवा गरम दल की शक्ति पर्याप्त बढ़ चुकी थी और पूर्ण देश गरम दल और नरम दल में विभाजित हो चुका था। सन् १६०६ में कलकत्ता में होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिये लोकमान्य तिलक तथा लाला लाजपतराय को निर्वाचित करने पर बल दिया गया, किन्तु गरम दल को इन दोनों महान् नेताओं में से कोई भी पसंद न था। उन्होंने दादा भाई नौरोजी को अध्यक्ष पद पर आसीन करना चाहा। लोकमान्य तिलक इसके पूर्व आम्स्टर्डम (हालैण्ड) में आयोजित "सोशलिस्ट कांफ्रेन्स" में दिये दादा भाई के भाषण से बहुत प्रभावित हो चुके थे; अतः उन्होंने उन्हीं के अध्यक्ष होने का समर्थन किया और अन्ततः उन्हीं की अध्यक्षता में कलकत्ता-अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में हमारे प्रान्त के ६० प्रतिनिधि उपस्थित थे। स्वदेशी बहिष्कार, स्वराज्य और

राष्ट्रीय शिक्षा ही इस अधिवेशन के मुख्य सूत्र थे। दादा भाई नौरोजी ने अपने उग्र भाषण के पश्चात् सर्वप्रथम इसी अधिवेशन में "स्वराज्य" की घोषणा की और तब से वह भारतीयों का नारा बन गया।

नागपुर का वितण्डा वाद।

सन् १६०७ का कांग्रेस-अधिवेशन श्री गंगाधरराव चिटनवीस ने नागपुर के लिये निमंत्रित किया था। नागपुर के वयोवृद्ध वकील श्री नीलकण्ठराव ऊधोजी ने अपनी पूर्ण शक्ति लगा कर राष्ट्रीय दल को बल प्रदान किया और "राष्ट्रीय मण्डल" नामक एक संस्था को जन्म दिया। श्री नीलकण्ठराव उधोजी इस मण्डल के अध्यक्ष और श्री नारायणराव अलेकर मंत्री निर्वाचित हुए। श्री उधोजी, अलेकर और डा. मुंजे के सतत प्रयत्न से मण्डल को सर्वश्री गोपालराव बूटी, बैरिस्टर सी. वी. नायडू, बैरिस्टर श्यामराव बकाले, चिन्तामणराव दिवाले, डा. पद्रे, डा. परांजपे, डा. लिमये, केशवराव गोखले, वकील, धुंडीराज पंत ठेंगडी, शंकर मुंडी, सेठ रामनारायण राठी आदि नागपुर के प्रमुख व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त होगया। इन्हीं दिनों इस मण्डल को बल देने के लिये श्री अच्युतराव कोल्हटकर ने "देश सेवक" पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। यह पत्र अल्पावधि में ही श्री कोल्हटकर की हृदयस्पर्शिनी लेखनी और ओजस्विनी वाणी के कारण समस्त मध्यप्रदेश की जनता का प्रिय बन गया।

कांग्रेस और राष्ट्रीय मण्डल आगामी नागपुर-अधिवेशन के लिये प्रचार-कार्य में व्यस्त हो गये। राष्ट्रीय मण्डल लोकमान्य तिलक को इस अधिवेशन के अध्यक्ष पद पर आसीन करना चाहता था, किन्तु कांग्रेस पक्ष को यह स्वीकार न था तथा एक लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् स्वागत समिति का निर्माण हुआ और दोनों दल उसमें अपना बहुमत बनाने का प्रयत्न करने लगे। अगस्त मास के अन्त तक कांग्रेस पक्ष ने स्वागत समिति में अपना प्रचण्ड बहुमत बना लिया। अब राष्ट्रीय मण्डल के लिये अपने मन के अध्यक्ष का निर्वाचन करा लेना असम्भव हो गया, जिससे उसके सदस्य चिन्तित हो गये। कांग्रेस-पक्ष भी हृदय से स्वागत समिति में राष्ट्रीय मण्डल के व्यक्तियों को रखने के पक्ष में न था। अतः दोनों दलों में तनाव बढ़ गया। परिणामस्वरूप २२ सितम्बर १६०७ को नागपुर-टाउन हाल में होने वाली स्वागत समिति की बैठक में एक वितण्डावाद खड़ा हो गया। कार्य होना असम्भव देख कर सभा स्थगित कर दी गई। टाउन-हाल के बाहर जनता और विद्यार्थियों की एक बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी थी। सभा स्थगित होने के पश्चात् टाउन हाल से बाहर आने वाले अनेक कांग्रेसजनों को विद्यार्थियों तथा राष्ट्रीय मण्डल के समर्थक व्यक्तियों द्वारा अपमानित भी होना पड़ा। इस स्थिति में नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन होना असंभव हो गया और कांग्रेस प्रमुखों को विवश होकर अपनी असमर्थता की सूचना अखिल भारतीय कांग्रेस-कार्यकारिणी को दे देनी पड़ी। अब नागपुर के स्थान में सूरत में श्री रासबिहारी घोष की अध्यक्षता में अधिवेशन करना निश्चित हुआ। राष्ट्रीय दल और कांग्रेस दल के तनाव ने वहां भी सफलता न मिलने दी।

सूरत में कांग्रेस-अधिवेशन न हो सकने पर कांग्रेस पक्ष ने एक "कांग्रेस कन्वेन्शन" करना और राष्ट्रीय दल ने "कांग्रेस कान्टीन्यूएशन" स्थापित करना निश्चित किया। इस प्रकार यहां से दोनों दलों के दो पृथक् मार्ग बन गये। इसके पश्चात् लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हें छः वर्ष का कारावास हो गया। तारीख २८ नवम्बर १६०८ को बम्बई में "कांग्रेस कान्टीन्यूएशन कमेटी" की बैठक में पुनः कांग्रेस-अधिवेशन करना निश्चित हुआ। राष्ट्रीय दल के निमंत्रण पर यह अधिवेशन नागपुर में ही होने को था, किन्तु जिलाधीश (डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट) ने एक आज्ञा पत्र निकाल कर धारा १४४ के अन्तर्गत वहां अधिवेशन होना रोक दिया और राष्ट्रीय दल की सब तैयारी व्यर्थ हो गई।

नागपुर के राष्ट्रीय दल का प्रभाव वहीं तक सीमित न था। पूर्ण मध्यप्रदेश में उग्रता का वातावरण निर्माण हो चुका था। श्री रघुनाथराव मुधोलकर की अध्यक्षता में रायपुर में होने वाली प्रथम प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् को इस प्रभाव के परिणामस्वरूप ही सफलता न मिल सकी।

इस समय तक "वन्दे मातरम्" का गीत राष्ट्र में सम्मान प्राप्त कर चुका था। जब पहिले पहल नागपुर में यह गीत गाया गया, तब वहां के सरकारी अधिकारी चिढ़ गये और उन्होंने दमन आरम्भ कर दिया। सरकार ने अवकाश-प्राप्त पदाधिकारियों, अवैतनिक मजिस्ट्रेटों और स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने की मनाई कर दी। जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से भी भाग लिया, वे पदच्युत कर दिये गये। इन पदच्युत पदाधिकारियों में चांदा नगरपालिका के अध्यक्ष, अमरावती नगरपालिका के उपाध्यक्ष और कुछ सदस्य थे। सरकार ने प्रेस एक्ट के नियमों के अन्तर्गत प्रान्त के पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन पर भी आघात करना आरम्भ कर दिया। मुजफ्फरपुर बम केस पर अग्रलेख लिखने के कारण मराठी पत्र "देश सेवक" के सम्पादक श्री अच्युतराव कोल्हटकर पर मुक़दमा चलाया गया और उन्हें डेढ़ वर्ष की सजा दी गई। इसी समय नागपुर के एक दूसरे पत्र "हिन्दी केसरी" पर भी १६ मई के अंक में राजद्रोहात्मक लेख लिखने के कारण मुक़दमा चलाया गया। लोकमान्य तिलक के कारावास तथा इन राष्ट्रीय पत्रों पर चलाये गये अभियोगों के कारण जनता में, और विशेष कर विद्यार्थियों में बड़ा असंतोष फैल गया। कुछ विद्यार्थियों ने मिल कर स्थानीय मिलों पर पत्थरों की वर्षा की, जिससे कुछ विद्यार्थी पकड़े गये और सद्व्यवहार के लिखित आश्वासन पर छोड़ दिये गये।

१८ जुलाई को नागपुर में दिल्ली के तत्कालीन नेता सैयद हैदर रजा की अध्यक्षता में लोकमान्य तिलक की जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई।

इसी वर्ष १२ नवम्बर से सरकार की ओर से एक औद्योगिक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। इस प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन मध्यप्रदेश के चीफ़ कमिश्नर सर रेजिनाल्ड क्रेडक ने किया और पूर्ण सरकारी शक्ति लगा कर इसे सफल बनाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु सरकार की दमन-नीति के कारण जनता का ध्यान इस ओर नहीं था। इन्हीं दिनों एक दिन किसी ने कृषि महाविद्यालय के प्रांगण एवं महाराजबाग में स्थित महारानी विक्टोरिया की मूर्ति पर डामर पोत दिया। इसे सरकार ने अंग्रेजी शासन और अंग्रेज जाति का अपमान समझा। सन्देह में कृषि महाविद्यालय-छात्रालय के सुपरिंटेंडेंट श्री नारायणराव परांजपे तथा कुछ विद्यार्थी गिरफ्तार कर लिये गये। श्री परांजपे नौकरी से पृथक् कर दिये गये और गिरफ्तार किये गये विद्यार्थी प्रमाणाभाव में धीरे-धीरे छोड़ दिये गये। केवल एक विद्यार्थी को न्याया-लय से दण्ड दिया गया।

इस घटना के पश्चात् सरकार पूर्वापेक्षा अधिक कड़ी हो गई और विशेष कर गरम दल वालों पर कड़ाई की जाने लगी। भारतीय दण्ड विधान की धारा १०८ और१२४ के अन्तर्गत अनेक व्यक्तियों पर अभियोग चलाये गये और उन्हें दण्ड दिया गया। उक्त दोनों राष्ट्रीय पत्र "हिन्दी केसरी" और "देश सेवक" का प्रकाशन रोक दिया गया। कुछ समय के पश्चात् "प्रबोध" नामक पत्र के भी प्रकाशन पर रोक लगा दी गई।

दिसम्बर १६०८ में डा. रासबिहारी घोष की अध्यक्षता में मद्रास में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ। गरम दल के असंतोष के कारण इस अधिवेशन में हमारे प्रान्त से अधिक प्रतिनिधि न जा सके, फिर भी वहां उपस्थित ६२६ प्रतिनि-धियों में से १८ हमारे प्रान्त के प्रतिनिधि थे। इसके पश्चात् १६०८ में होने वाली लाहौर-कांग्रेस में इस प्रान्त से पर्याप्त प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिनमें बैरिस्टर अभ्यंकर और बैरिस्टर गोविन्दराव देशमुख प्रमुख थे। इस वर्ष श्रीशंभु-राव गाडगील द्वारा लिखित "पदव्याची खैरात" लेख के प्रकाशन के कारण "देश सेवक" पर पुनः मुक़दमा चलाया गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि सन् १६०७ से १६१० तक नागपुर के समाचार-पत्रों पर जितने मुक़दमे चले उनका भार श्री केशवराव गोखले ने ही वहन किया। वे इस बार "देश सेवक" पर चलाये गये अभियोग में पैरवी करते हुए ज्वरपीड़ित हो गये और अंत में प्लेग के शिकार होकर परलोकवासी हुए।

सन् १६१० में श्री वेडरबर्न की अध्यक्षता में इलाहाबाद में होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन में हमारे प्रान्त के १६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसी अधिवेशन के एक प्रस्ताव द्वारा मध्यप्रान्त और बरार के लिये विधान सभा की मांग

की गई। इसी अधिवेशन में कांग्रेस-विधान में परिवर्तन कर मध्यप्रान्त और विदर्भ के लिये कांग्रेस-प्रतिनिधियों की संख्या पृथक्-पृथक् निश्चित कर दी गई।

सन् १९०६ में दिल्ली में मुस्लिम लीग की स्थापना हो चुकी थी। इसका द्वितीय अधिवेशन तारीख ३० दिसम्बर १९१० को नागपुर में सैयद नबीबुल्ला की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष खान बहादुर मलक थे। अधिवेशन के पश्चात् लीग के मंत्री मुहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा ने इस प्रान्त में दौरा किया और कुछ स्थानों में इसकी शाखाएं आरम्भ कीं। इसी समय से इस प्रदेश के मुस्लिम बन्धुओं में जागृति आई।

सन् १९११ में बंग-भंग की सरकारी योजना रद्द कर दी गई, जिससे इस वर्ष का कांग्रेस-अधिवेशन कलकत्ता में श्री बिशन नारायण धर की अध्यक्षता में अधिक उत्साह से हुआ। इस अधिवेशन में उपस्थित शिक्षा विषयक प्रस्ताव पर हमारे प्रान्त से डा. गौर तथा राव बहादुर वासुदेव पंडित के भाषण हुए। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा इस अधिवेशन में कांग्रेस ने मध्यप्रान्त और बरार के लिये पुनः अपनी विधान सभा की मांग दुहराई। परिणामस्वरूप ८ नवम्बर १९१३ को इस प्रान्त के लिये विधान सभा की स्थापना की सरकारी घोषणा हुई और दूसरे वर्ष तक इस प्रान्त के तत्कालीन चीफ़ कमिश्नर की अध्यक्षता में सभा की स्थापना की गई। सर्वप्रथम इस सभा में ११ सरकारी और १० ग़ैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति की गई। ग़ैर-सरकारी १० सदस्यों में तीन नगरपालिकाओं के प्रतिनिधि, तीन जिला कौंसिलों के प्रतिनिधि और दो जमींदारों के प्रतिनिधि थे। सर्वश्री रघुनाथराव मुधोलकर, रावबहादुर केलकर, सर मोरोपंत जोशी, पं. विष्णुदत्त शुक्ल, राजा बहादुर जवाहर सिंह तथा एम. आर. दीक्षित इस प्रथम धारासभा के लोकप्रिय सदस्य प्रमाणित हुए। इसकी प्रथम बैठक १७ अगस्त को आरम्भ हुई।

इसके पश्चात् ही प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। अभी तक भी कांग्रेस गरम दल और नरम दल में विभाजित थी। अतः गरम दल की ओर से सर्व श्री दादा साहेब उबोजी, डा. मुंजे और दादा साहब खापर्डे तथा नरम दल की ओर से विपिन बाबू, गंगाधरराव चिटनवीस और डा. गौर दोनों दलों में समझौता कराने का प्रयत्न करते रहे और इसी प्रयत्न के फलस्वरूप दूसरे वर्ष मध्यप्रदेश और बरार की एक संयुक्त राजनीतिक परिषद् नागपुर में हुई।

सन् १९१५ में एनी बीसेंट की "होम रूल योजना" सामने आई। उनके नागपुर आने पर यहां सर विपिन बोस की अध्यक्षता में उनका भाषण हुआ, इसके पश्चात् १६, १७ और १८ नवम्बर को पं. विष्णुदत्त शुक्ल की अध्यक्षता में नरम और गरम दल की संयुक्त परिषद् हुई, जिसमें "औपनिवेशिक स्वराज्य" की मांग की गई। इसी वर्ष लोकमान्य तिलक कारावास की अवधि समाप्त होने पर पुनः जनता के पथ-प्रदर्शन के लिये सामने आये। गरम दल के कुछ नेता पृथक् "स्वतंत्र कांग्रेस" की स्थापना करना चाहते थे, किन्तु लोकमान्य इससे सहमत न हुए। सन् १९१६ में नागपुर में लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित "महाराष्ट्र होम रूल लीग" की एक शाखा भी दादा साहेब खापर्डे की अध्यक्षता में स्थापित की गई। नवम्बर मास में डा. गौर की अध्यक्षता में अमरावती में एक प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् हुई, जिसमें प्रान्त में कार्यकारिणी की स्थापना, प्रांतीय धारा सभा में ग़ैर-सरकारी बहुमत होने तथा प्रेस एक्ट रद्द करने के सम्बन्धित प्रस्ताव पारित किये गये। इसी वर्ष लखनऊ में लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ, जिसमें हमारे प्रान्त की छिंदवाड़ा जेल में स्थानबद्ध अली बंधुओं के प्रति सहानुभूति का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। लोकमान्य लखनऊ कांग्रेस से लौटती बार नागपुर में ठहरे और श्री विपिन बोस की अध्यक्षता में उनका भाषण हुआ। तारीख ६ जनवरी से २८ फरवरी तक नागपुर जिला होम रूल लीग के ४३६ सदस्य बनाये गये। तारीख २८ फरवरी १९१७ को लीग की प्रथम जयन्ती नागपुर में बड़े समारोह से मनाई गई। इन दिनों दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मज़दूरों के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित करने के कारण नागपुर के "महाराष्ट्र" से डेढ़ हजार की जमानत मांगी गई। इन दिनों विद्यालयों और महाविद्यालयों के विद्यार्थी पुनः राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेने लगे थे। अतएव सरकार ने एक परिपत्र निकाल कर उन्हें इन कार्यों में भाग लेने से रोक दिया। तारीख १७ मार्च को होम रूल लीग की नागपुर

शाखा के द्वारा विश्व युद्ध के लिये सैनिकों की भरती करने के लिये श्री खापर्डे की अध्यक्षता में एक समिति स्थापित की गई। इस वर्ष होने वाले धारासभा के निर्वाचन में लोक-निर्वाचित ७ सदस्यों में से तीन सदस्य सर्वश्री ताम्बे नागपुर, वाय. जी. देशपांडे, अमरावती और ठक्कर रायपुर थे। तारीख २६ अगस्त १९१७ को रायबहादुर ठक्कर की अध्यक्षता में नागपुर के व्यंकटेश थियेटर हाल में एक प्रान्तीय परिषद् की गई और यह निश्चय घोषित किया गया कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस ने जो मांग की हैं, उससे कम में भारत कभी संतुष्ट न होगा। होमरूल लीग की एक शाखा जबलपुर में भी श्री नाथूराम मोदी की अध्यक्षता में स्थापित की गयी।

कुछ दिनों में ही इस प्रान्त से होमरूल लीग के ३,०३३ सदस्य हो गये। लीग के सदस्य सैनिक भर्ती के साथ हीं लीग का भी कार्य करते रहे। इनमें से कुछ पर राजद्रोहात्मक भाषण देने के कारण मुकदमे चले। श्री एम. के. वैद्य ऐसे ही कार्यकर्त्ताओं में से एक थे, जो नागपुर जुडीशियल कमिश्नर द्वारा निर्दोष घोषित कर दिये गये थे। देशबन्धु चित्तरंजनदास ने उनकी ओर से पैरवी की थी।

तारीख २० अगस्त १९१७ को भारतमंत्री माण्टेग्यू "मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड" योजना की घोषणा करने के पश्चात् भारत में आये। उन्होंने हमारे प्रान्त के सर्वश्री गंगाधरराव चिटनवीस, डा. गौर, पं. विष्णुदत्त शुक्ल, सर मोरोपंत जोशी, मुधोलकर, खापर्डे, रा. ब. नारायणराव केलकर, मानिकलाल कोचर और रा. सा. ठक्कर से मिल कर घोषित "सुधार-योजना" पर चर्चा की।

इन्होंने कांग्रेस मांग पर ही जोर दिया। जबलपुर के अवकाश-प्राप्त दौरा (सेशन्स) जज खान बहादुर शम्सुल उलेमा मुहम्मद अमीन ने भी एक स्मरण पत्र (मेमोरेंडम) भारत मंत्री को प्रेषित कर कांग्रेस की मांग पर ही बल दिया था।

कलकत्ता कांग्रेस से लौटती बार और उसके पश्चात् फरवरी मास में लोकमान्य तिलक पुनः नागपुर आये और उन्होंने लीग के प्रचारार्थ प्रान्त के कुछ स्थानों में दौरा किया। इस समय केवल नागपुर-विदर्भ से ही उन्हें एक लाख दस हजार रुपये भेंट किये गये।

रौलट एक्ट और हमारा प्रान्त—

सन् १९१७ में ही "मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट" प्रकाशित होने के पश्चात् रौलट कमीशन की नियुक्ति की गई। कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर सन् १९१९ में रौलट एक्ट बनाया गया, जो भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन के लिये एक जबर्दस्त धक्का प्रमाणित हुआ। भारत ने विश्व-महायुद्ध में अंग्रेजों की जो सहायता की, उसके बदले में सरकार इस विधेयक (बिल) को कानून का रूप देगी, इसका हमने कभी अनुमान भी न किया था। अतः इस कानून (एक्ट) के सामने आते ही भारत के कोने-कोने में क्षोभ फैलना स्वाभाविक था। तारीख १० मार्च १९१९ को डा. मुंजे ने प्रान्तीय असोसिएशन के १० सदस्यों की ओर से रौलट एक्ट के विरुद्ध एक पत्रक प्रकाशित किया। इसके पश्चात् तारीख २० मार्च को दादा साहब खापर्डे की अध्यक्षता में खण्डवा में मध्यप्रान्तीय राजनीतिक परिषद् हुई, जिसमें अन्य प्रस्तावों के साथ ही रौलट एक्ट के विरोध में भी एक प्रस्ताव पारित किया गया। होम रूल लीग के प्रचार के लिये डा. मुंजे के प्रयत्न से श्री प्रयागदत्त शुक्ल के सम्पादन में "संकल्प" नामक एक मराठी पत्र का प्रकाशन नागपुर से आरम्भ हुआ। प्रकाशन आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही पत्र से एक हजार रुपये की जमानत मांगी गई।

इसी वर्ष महात्मा गांधी ने ६ अप्रैल को रौलट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया और १३ अप्रैल को जलियांवाला बाग की दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटित हुई। इस घटना से भारत का एक-एक हृदय कांप उठा। अन्य प्रान्तों की तरह हमारे प्रान्त में भी स्थान-स्थान पर सभाएँ हुई और इस शोकजनक घटना के लिये उत्तरदायी अधिकारियों की भर्त्सना की गई। इस वर्ष पं मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में होने वाली अमृतसर-कांग्रेस में बड़ा क्षोभ और रोष देखा गया। डाक्टर मुंजे ने कांग्रेस का आगामी अधिवेशन नागपुर के लिये आमंत्रित किया।

असहयोग आन्दोलन का जन्म

सन् १९१९ में पंजाब में घटित रोमांचकारी दुर्घटना और इसके पश्चात् होने वाली अमृतसर कांग्रेस ने देश में अचानक ही खलबली मचा दी। यहां तक कि सरकार के निकटस्थ सहयोगियों का मानस भी विचलित हो उठा। हंटर कमेटी की रिपोर्ट, खिलाफत सम्बन्धी निर्णय और पंजाब हत्याकाण्ड पर प्रेषित खरीतें ने आग में घी का काम किया और परिणामस्वरूप असहयोग आंदोलन का जन्म हुआ। महात्मा गांधी ने तारीख ३० जून को वाइसराय को एक नोटिस देकर असहयोग आंदोलन आरंभ करने का अपना निश्चय व्यक्त कर दिया। इस नवोत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिये लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन सितम्बर १९२० में आयोजित किया गया। इस ३,५०० प्रतिनिधियों के अधिवेशन में ८०६ मतों के विरुद्ध १,८५२ मतों से महात्मा गांधी का असहयोग विषयक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

रतौना का कसाईखाना :—

रतौना के कसाई खाने के विरुद्ध आरंभ किया गया आन्दोलन सन् १९२० की इस प्रदेश की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है। उन दिनों एक अंग्रेज कंपनी ने सागर जिले के रतौना नामक स्थान में एक कसाईखाना खोल रखा था। इस कसाईखाने में प्रतिदिन चौदह-सौ गाय-बैल काटे जाते थे। इसके विरोध में प्रान्त के प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि प्रकाशित किये गये, किन्तु कोई परिणाम न हुआ। अन्त में इस कसाईखाने को बंद करने विषयक आन्दोलन करने के लिये एक समिति संगठित की गई। इस समिति द्वारा इतना सुसंगठित आंदोलन छेड़ा गया कि सरकार को यह कसाईखाना बंद करना ही पड़ा। यह असहयोग आंदोलन के पूर्व सरकार के विरुद्ध प्रान्त की जनता की प्रथम विजय थी।

कौन्सिल बहिष्कार :—

इसी समय महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सन् १९२० में होने वाले कौंसिल निर्वाचन का बहिष्कार करने की घोषणा कर दी। महाकोशल के ही नहीं, पर नागपुर और विदर्भ के भी अनेक कांग्रेस उम्मीदवारों ने अपने आवेदन-पत्र वापिस ले लिये। इस निर्वाचन में देश भर में लगभग बीस प्रतिशत ही मतदान हो सका। प्रान्त के अनेक निर्वाचन-केन्द्रों की मतदान पेटियां खाली ही रह गईं।

इस उत्साहपूर्ण वातावरण के बीच ही तारीख १ अगस्त १९२० को देश के तपस्वी कर्णधार लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का देहावसान हो गया और देश पर असमय अनायास ही शोक की काली घटा छा गई।

नागपुर का ऐतिहासिक अधिवेशन—

पूर्व निश्चयानुसार कांग्रेस का ३५ वां अधिवेशन नागपुर में होने को था। महाकोशल, नागपुर और विदर्भ के कांग्रेस-कार्यकर्त्ता जोरों से तैयारी में लग गये। अधिवेशन के पूर्व महात्मा गांधी ने अपने व्यापक दौरे द्वारा असहयोग के प्रस्ताव के अनुकूल वातावरण बना लिया था। तत्कालीन सुप्रसिद्ध देशभक्त श्री जमनालाल जी बजाज की अध्यक्षता में स्वागतकारिणी का निर्माण हो गया। बैरिस्टर मोरोपंत दीक्षित, स्वागतकारिणी के उपाध्यक्ष और डा. बी. एस. मुंजे मंत्री बनाये गये तथा अधिवेशन की व्यवस्था का समस्त कार्य तेरह उप-समितियों में विभाजित कर दिया गया। तारीख २६ दिसम्बर को सलेम के ख्यातिप्राप्त नेता श्री विजयराघवाचार्य की अध्यक्षता में कांग्रेस का ऐतिहासिक अधिवेशन आरंभ हुआ। देशबंधु चितरंजनदास, पं. मदन मोहन मालवीय और पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के समान देशके महान नेता असहयोग की नीति के विरोध में थे, किन्तु महात्मा गांधी के महान् व्यक्तित्व और प्रखर वाणी ने उनके विचारों में परिवर्तन कर दिया। स्वयं देशबंधु चितरंजनदास ने कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव

उपस्थित किया और लाला लाजपतराय ने उसका समर्थन किया। यद्यपि यह प्रस्ताव गत कलकत्ता-अधिवेशन के प्रस्ताव से भिन्न न था, तथापि इसका स्वरूप पूर्वापेक्षा अधिक व्यापक और प्रभावशाली था। सरकारी उपाधियों के त्याग से लेकर किसी भी प्रकार का कर न देने तक के आंदोलन इस प्रस्ताव के अन्तर्गत थे। प्रस्ताव में सरकारी उपाधि-धारियों से उपाधियों का त्याग करने, विद्यार्थियों से विद्यालय और महाविद्यालय छोड़ने, व्यापारियों से विदेशी वस्तुओं का व्यापार छोड़ने और उसके स्थान में कते-बुने खद्दर को प्रोत्साहन देने, तरुणों से राष्ट्रीय स्वयंसेवक दलों में सम्मिलित होने, किसानों से लगान न देने, वकीलों से वकालत छोड़ने और सामान्य जनता से राष्ट्रीय आंदोलन में तन-मन-धन से हार्दिक सहयोग देने की अपील की गई थी। कौंसिल के सदस्यों से सदस्यता त्याग करने और सरकारी कर्मचारियों से जनता से सद्व्यवहार करने तथा कांग्रेस की सभाओं में उपस्थित होकर इस भारतीय स्वतंत्रता के महान् अनुष्ठान में योग देने का अनुरोध किया गया। अहिंसा असहयोग आन्दोलन की आधारशिला घोषित की गई।

प्रस्ताव तुमुल ध्वनि के बीच विशाल बहुमत से पारित होगया। केवल दो प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान किया। मोहम्मद अली जिन्ना उन में से एक थे। उपस्थित जनता महात्मा गांधी तथा इस प्रस्ताव के समर्थक नेताओं से इतनी अधिक प्रभावित थी कि वह कांग्रेसाध्यक्ष के भाषण में सहयोग की किंचित् छाया देख कर उद्विग्न हो उठी और उनका तिरस्कार करने को कटिबद्ध हो गई। महात्मा जी ने जनता से कहा कि यदि पूर्ण लगन, शक्ति और ईमानदारी से इस प्रस्ताव के अनुसार केवल एक वर्ष तक ही आंदोलन चलाया जा सका, तो केवल इसी अवधि में देश का पूर्ण स्वतंत्र होना असम्भव न होगा। यह सुनते ही उपस्थित जनता में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण देश में उत्साह, शक्ति और आशा की एक नई लहर प्रवाहित हो गई।

इस प्रस्ताव के अतिरिक्त नागपुर-अधिवेशन में स्वीकार किये जाने वाले प्रस्तावों में लन्दन से राष्ट्रीय महासभा की निधि से प्रकाशित होने वाले "इण्डिया" पत्र का प्रकाशन बंद करने, ड्यूक आफ कनाट के भारत आगमन पर उनका स्वागत न करने आदि से सम्बन्धित प्रस्ताव भी महत्वपूर्ण थे। इन प्रस्तावों के पश्चात् महात्मा गांधी ने कांग्रेस का परिवर्तित नव-विधान, स्वीकृत्यर्थ उपस्थित किया, जिसके अनुसार भाषा के आधार पर सम्पूर्ण देश २१ प्रान्तों में विभाजित किया गया और कांग्रेस प्रतिनिधियों की संख्या पचास हजार निश्चित की गई। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की संख्या ३६० रखी गई और कांग्रेस कार्य-समिति के अधिकारों की मर्यादा निश्चित कर दी गई। इसी विधान के अनुसार हिन्दी मध्यप्रदेश, नागपुर और बरार के मराठी भाषी भाग से पृथक् हो गया। प्रारंभ में इसे "हिन्दुस्थानी मध्यप्रदेश" अथवा "हिन्दी मध्यप्रदेश" कहा जाता था, किन्तु सन् १९३० की रायपुर राजनीतिक परिषद् में इसे पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र के प्रस्तावानुसार "महाकोशल" नाम दे दिया गया।

नागपुर-अधिवेशन के अवसर पर महात्मा गांधी ने जो तिलक स्वराज्य निधि के लिये एक करोड़ रुपये एकत्र करने की अपील की थी, उसमें सर्वप्रथम प्रोफ़ेसर राममूर्ति ने अधिवेशन के अवसर पर ही १,००१ रुपये की तथा इसके पश्चात् सेठ जमनालाल जी बजाज ने अपनी रुग्णावस्था में ही एक लाख रुपये की निधि अर्पित की थी।

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् :—

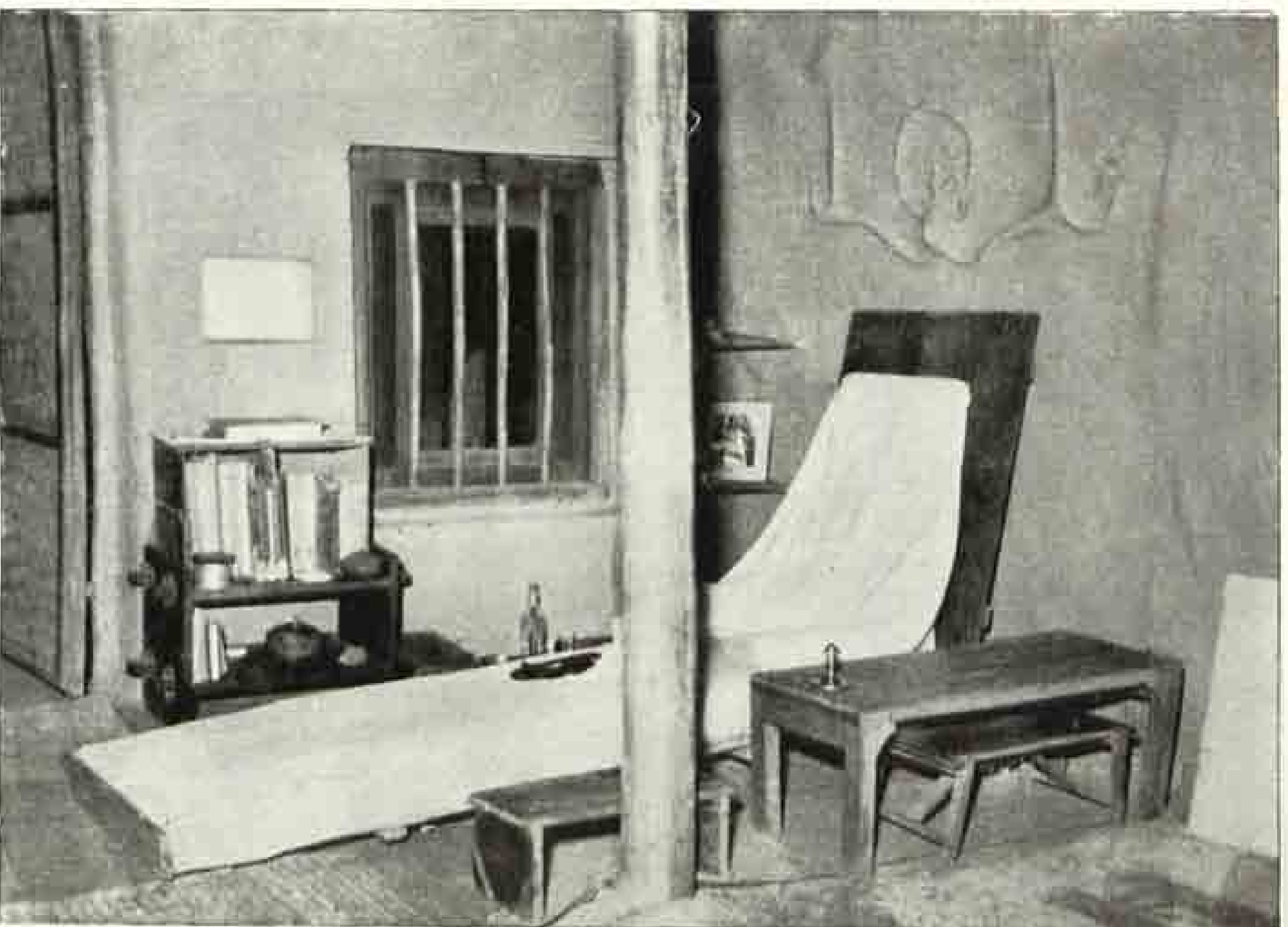
इन्हीं दिनों लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में नागपुर में एक अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् हुई, जिसमें विद्यार्थियों ने सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों तथा महाविद्यालयों का बहिष्कार करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। तारीख ३० और ३१ दिसम्बर को नागपुर में ही राष्ट्रीय महासभा के पंडाल में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की परिषद् डा. अन्सारी की अध्यक्षता में हुई। इस अधिवेशन में कांग्रेस की असहयोग नीति का समर्थन किया गया तथा गोवधबंदी का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इसके पश्चात् इसी पंडाल में तारीख २ जनवरी १९२१ को खिलाफ़त परिषद् का तृतीय अधिवेशन किया गया। इसमें कांग्रेस की असहयोग नीति भारत के समस्त मुसलमानों के लिये मान्य घोषित की गई।

इस प्रकार कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन भारत की सर्वाङ्गीण और सर्वक्षेत्रीय जाग्रति के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ।

महाकोशल में नव-जागरण :—

सन् १९१६ से १९२१ तक का समय महाकोशल की जाग्रति की दृष्टि से बड़ा मूल्यवान रहा। सन् १९१६ में बाबू गोविन्ददास ने, जिनकी प्रवृत्तियां उस समय तक साहित्य के अध्ययन और सृजन तक ही सीमित थी, कांग्रेस में प्रवेश किया और पूर्ण शक्ति के साथ राष्ट्रीय कार्यों में योग देने लगे। कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के पश्चात् महाकोशल की राजनीति में विशेष योग देने वालों में बाबू गोविन्ददास के अतिरिक्त श्री केशव रामचन्द्र खाण्डेकर, दामोदरराव श्रीखण्डे, पं. रविशंकर शुक्ल, पं. माखनलाल चतुर्वेदी, ठा. छेदीलाल, श्री घनश्याम सिंह गुप्त, श्री श्याम सुन्दर भार्गव, श्री नाथूराम मोदी आदि प्रमुख थे। राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र "कर्मवीर" का प्रकाशन सन् १९१९ में ही पं. विष्णुदत्त शुक्ल, पं. माधवराव सप्रे, और पं. माखनलाल चतुर्वेदी के संयुक्त प्रयत्न से जबलपुर से आरम्भ हुआ, जो प्रान्त की हिन्दी भाषी जनता को कांग्रेस का सन्देश अपनी निर्भीक वाणी में देने में समर्थ हुआ। कर्मवीर-सम्पादक पं. माखनलाल चतुर्वेदी सम्भवतः महाकोशल के प्रथम जन-सेवक थे, जिन्हें राजनीतिक अपराध के कारण जेल-यात्रा करनी पड़ी। उनके पश्चात् सागर के पत्रकार श्री अब्दुल गनी तथा पं. सुन्दरलाल और महात्मा भगवानदीन को भी देशभक्ति के फलस्वरूप कठिन कारावास का दण्ड दे दिया गया।

नागपुर और विदर्भ की तरह महाकोशल के विद्यार्थी भी राष्ट्रीय संग्राम में योग देने में पीछे न रहे। लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर माडल हाईस्कूल जबलपुर के विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी और इसके पश्चात् ही "गांधी टोपी सत्याग्रह" आरम्भ कर दिया गया। परिणामस्वरूप इस स्कूल के मैट्रिक कक्षा के विद्यार्थियों को लगभग एक मास तक ग्रीष्म की प्रखर धूप में कवायद करनी पड़ी और स्कूल के एक शिक्षक श्री वागड़देव शिक्षण महाविद्यालय (ट्रेनिंग कालेज) के अंग्रेज प्रिंसिपल-द्वारा अपमानित कर निकाल दिये गये। इससे जबलपुर नगर के विद्यार्थियों और तरुणों में गहन असंतोष और क्षोभ फैल गया। अनेक विद्यार्थियों ने स्कूल छोड़ दिया और उनकी शिक्षा के लिये वहां का हितकारिणी हाईस्कूल राष्ट्रीय विद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। पूरे प्रदेश में एक भयंकर तूफान सा आ गया। स्थान-स्थान में राष्ट्रीय विद्यालय खुलने लगे और उनमें सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थी प्रवेश पाने लगे। कोई ५० वकीलों ने वकालत छोड़ दी और कुछ उपाधिधारियों ने भी सरकारी उपाधियों से मुक्ति पाई। स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई और सड़कों-सड़कों पर हाथ की कती-बुनी खादी बिकने लगी और खादी की बढ़ती बिक्री को देखकर नये केन्द्र खुल गये। इसके साथ ही मादक पदार्थों के विरुद्ध भी जोरों से प्रचार आरम्भ हो गया। शराब की दुकानों तथा विदेशी वस्त्र-विक्रेताओं की दुकानों पर कांग्रेस स्वयंसेवकों-द्वारा धरने दिये जाने लगे और फलस्वरूप उन्हें पुलिस की लाठियों तथा जेल यातनाओं का सामना करना पड़ा। सरकारी दमन चरम सीमा पर पहुंच गया, किन्तु कांग्रेस-कार्यकर्ता और नेता किंचित् भी विचलित न हुए। प्रान्त की जनता में राष्ट्र सेवा और सर्वस्व त्याग की भावना उग्र हो उठी। न जाने कितने कांग्रेस स्वयंसेवक और जन-सेवक नेता जेल में ठूंस दिये गये। इसी वर्ष बैतूल में श्री उमाकान्त बलवन्त घाटे की अध्यक्षता में एक राजनीतिक परिषद् हुई। इसके दूसरे वर्ष ही बैतूल जिले के धनोरा नामक ग्राम में राष्ट्रमाता कस्तूरबा की अध्यक्षता में पुनः राजनीतिक परिषद् हुई। सन् १९२३ में बैतूल में तत्कालीन महाकोशल कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष डाक्टर राघवेन्द्रराव की अध्यक्षता में होनेवाली प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् विशेष महत्वपूर्ण थी। इसी परिषद् में महाकोशल कांग्रेस कमेटी दो दलों में विभाजित हो गई और परिषद के मनोनीत अध्यक्ष डा. राव के स्थान पर पं. सुन्दरलाल जी की अध्यक्षता में यह परिषद् हुई। इसी अवसर पर पं. सुन्दरलाल ने अपनी झण्डा सत्याग्रह विषयक कल्पना जनता के समक्ष रखी, जिसे कुछ समय के पश्चात् प्रथम जबलपुर में और उसके पश्चात् नागपुर में मूर्त रूप प्राप्त हुआ।



सेवाग्राम में बापू की कुटिया का भीतरी दृश्य



सेवाग्राम स्थित बापू की कुटिया का बाह्य दृश्य



बापू की स्मृति में निर्मित गांधी स्मारक, जबलपुर



गांधी तत्वज्ञान के प्रचारार्थ निर्मित गांधी ज्ञान मंदिर, वर्धा



शहीद स्मारक

यह भव्य भवन महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के तत्वावधान में जबलपुर में बना है।

नागपुर प्रान्त में :—नागपुर प्रान्त भी इन दिनों महाकोशल से पीछे न रहा। नागपुर कांग्रेस के पश्चात् महात्मा भगवानदीन के संचालन में २ जनवरी को नागपुर में असहयोग आश्रम तथा ३ जनवरी को तिलक राष्ट्रीय विद्यालय आरम्भ किया गया। इसी वर्ष १ फरवरी से नेशनल बोर्ड के द्वारा नेशनल कालेज भी आरम्भ हो गया। पं. सुन्दरलाल, महात्मा भगवानदीन, दादासाहब उचोजी, गोपालराव देव, शिवदासपंत बारलिंगे आदि जन-सेवकों ने इस आश्रम और विद्यालय के संचालन में विशेष योग दिया। आचार्य विनोबा भावे ने वर्धा में भी एक असहयोग आश्रम आरम्भ किया। इन दिनों इस भू-भाग में असहयोग की आंधी इतनी तीव्र गति से बह रही थी कि ड्यूक आफ कनाट जब १८ जनवरी १९२१ को यहां आये, तब उन्हें चुपचाप ही शिकार के बहाने बालाघाट चले जाना पड़ा। अनेक स्थानों में परगना परिषदें आयोजित की गईं और जनता का ध्यान स्वतंत्रता-आंदोलन की ओर आकर्षित किया गया। स्वयंसेवकों को शिक्षा देने के लिये १२ फरवरी को डा. परांजपे के नेतृत्व में प्रान्तीय स्वयंसेवक दल (प्राविंशियल वालंटियर कोअर) की स्थापना की गई। सरकारी न्यायालयों का कार्य ठप्प करने के लिये स्थान-स्थान पर लवाद कोर्ट खोले गये। फरवरी के तृतीय सप्ताह में डा. चोलकर मद्य-निषेध आंदोलन का नेतृत्व करने के कारण गिरफ्तार कर लिये गये। उनके मुकदमे के दिन न्यायालय के प्रांगण में उपस्थित जनता पर पुलिस ने लाठियां चलाई जिसमें अनेक व्यक्ति आहत हुए। जनता को अधिक क्षुब्ध होते देख सरकार ने १४४ धारा लगा दी, पर इसका आंदोलन पर कोई प्रभाव न पड़ा। सरकार द्वारा सब प्रकार के उपायों से काम लेने के पश्चात् भी आंदोलन बढ़ता ही गया। महात्मा भगवानदीन को सिवनी में दिये एक भाषण के कारण डेढ़ वर्ष की सजा सुना दी गई। इसके पश्चात् शराब की दुकान पर धरना देने के कारण उदाराम पहलवान की गिरफ्तारी के समय नागपुर की जनता में इतना रोष फैल गया कि २७ मार्च को सरकार को गोली चलवानी पड़ी। इसमें १० व्यक्ति घटनास्थल पर ही मर गये और अनेक आहत अवस्था में अस्पताल पहुं-चाये गये। इसके पश्चात् अर्जुनलाल सेठी, पं. सुन्दरलाल, नारायणराव वैद्य, मारोतराव पोहरकर, कर्मवीर पाठक आदि पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उन्हें कारावास का दण्ड दिया गया। सरकारी दमन का सामना करते हुए भी बैजवाड़ा-कांग्रेस के निश्चय के अनुसार नागपुर प्रांत में दस हजार चर्खे चालू किये गये, लगभग १५ हजार कांग्रेस-सदस्य बनाये गये और १,९३,६१४ रुपये (सेठ जमनालालजी द्वारा दिये एक लाख रु. सहित) तिलक स्वराज्य निधि में दिये गये। २६ जुलाई को नागपुर में विदेशी वस्त्रों की एक बहुत बड़ी होली जलाई गई। "राजस्थान केसरी" के सम्पादक पं. सत्यदेव विद्यालंकार के अतिरिक्त वर्धा, पांढीवाड़ा, बेला, अंजनगांव, आदि के भी अनेक कार्यकर्त्ताओं और असहयोगी मालगुजारों पर राजद्रोह के मुकदमे चलाये गये। सर्वश्री हेर्लेकर (नागपुर), टेंभेकर (भण्डारा) तथा असेरकर, आंबोकर आदि वकीलों ने वकालत छोड़ दी। वर्धा लोकल बोर्ड आदि स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं ने भी अपने-अपने ढंग से स्वतंत्रता-आन्दोलन में योग दिया। इन्हीं दिनों नागपुर में "भारत स्वयं सेवक मण्डल" ने स्वयंसेवकों को शिक्षा देने के लिये एक विद्यालय आरम्भ किया। प्रान्तीय धारा सभा में बैरिस्टर रामराव देशमुख ने युवराज का स्वागत न करने का प्रस्ताव रखा। इसी समय डा. गौर ने स्वागत का प्रस्ताव रखा, जिसका पं. कुंजबिहारी लाल अग्निहोत्री, बिलासपुर ने कड़ा विरोध किया।

इसके पश्चात् नागपुर में मराठों की एक राष्ट्रीय परिषद् हुई, जिसमें कांग्रेस की नीति का समर्थन किया गया। इसके साथ ही मराठा विद्यार्थियों की परिषद् ने विद्यालयों के बहिष्कार का प्रस्ताव स्वीकृत किया। क्षत्रिय लोधी समाज और क्षत्रिय माली समाज ने भी अपनी-अपनी जातीय परिषदें कर राष्ट्रीय विचारधारा के समर्थक प्रस्ताव स्वीकार किये। इस प्रकार नागपुर प्रदेश में चारों ओर सर्वाङ्गीण राष्ट्रीय प्रगति दिखाई देने लगी।

यह देख कर सरकार ने दमन के साथ ही सरकार-भक्तों के सहयोग से "अमन सभा" स्थापित की। इन्हीं दिनों "सुबोध माला" के सम्पादक श्री देशमुख ने पांच सौ रुपये की और श्री घोरपड़े द्वारा सम्पादित "विजय" से एक हजार रुपये की जमानत मांगी गई। तारीख १७ मार्च को प्रिंस आफ वेल्स के बंबई उतरते ही पूरे प्रान्त में हड़ताल की गई। स्थान-स्थान पर परिषदों का आयोजन कर लोक-जाग्रति का कार्य जोरों से चलता रहा। इन दिनों महाराष्ट्र में "मुलशी"

सत्याग्रह चल रहा था। यद्यपि यह कांग्रेस-मान्य सत्याग्रह न था, तथापि सेनापति बापट, दस्ताने आदि के नागपुर आने पर इस प्रदेश के अनेक स्त्री-पुरुषों ने स्वयंसेवकों के रूप में उक्त सत्याग्रह में योग देना स्वीकार किया।

दिसम्बर मास में श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर की अध्यक्षता में अकोला में नागपुर, विदर्भ, बंबई, महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेश की एक संयुक्त परिषद् हुई। इस परिषद् में एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस की पूर्ण असहयोग नीति का विरोध किया गया, किन्तु इससे कांग्रेस द्वारा संचालित आंदोलन पर कोई प्रभाव न पड़ा।

इसके पश्चात् ही सरकार द्वारा धारा १४४ का प्रयोग होने के कारण मौलाना ताजुद्दीन की अध्यक्षता में भण्डारा जिला राजनीतिक परिषद् भण्डारा के स्थान में वहां से छः मील की दूरी पर स्थित एकलादी ग्राम में सफलतापूर्वक की गई। इस परिषद् में नागपुर-कांग्रेस के निश्चय का समर्थन किया गया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने महात्मा भगवानदीन, पं. सुन्दरलाल, अर्जुनलाल सेठी, माखनलाल चतुर्वेदी तथा वीर वामनराव जोशी को उनके द्वारा की गई राष्ट्रसेवा और इसके लिये सही गई जेल-यातनाओं के लिये बधाई दी।

विदर्भ के प्राङ्गण में :—वैसे तो सन् १९२० की नागपुर-कांग्रेस के पूर्व भी विदर्भ भारतीय स्वतंत्रता के लिये किये जानेवाले प्रयत्नों में यथाशक्ति सहयोग देता रहा है, किन्तु इस प्रदेश में वास्तविक जाग्रति इस कांग्रेस-अधिवेशन के साथ ही आरम्भ हुई कही जानी चाहिये। श्री दादासाहेब खापर्डे लोकमान्य तिलक के सम्पर्क में आने के पश्चात् पूर्णरूपेण संग्राम-भूमि में उतर चुके थे, किन्तु सन् १९२० से विदर्भ का वास्तविक जन-नेतृत्व वीर वामनराव जोशी के ही हाथ में रहा। विदर्भ के ग्राम-ग्राम में जाग्रति का शंखनाद करने का श्रेय उन्हें ही है। उन्हीं के सतत और कड़े परिश्रम ने इस प्रदेश को भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में अन्य प्रदेशों के कंधे से कंधा लगाकर खड़ा होने में समर्थ बनाया। परिणामस्वरूप वे धारा १२४ (अ) के अन्तर्गत राजद्रोह में गिरफ्तार किये गये और डेढ़ वर्ष के लिये जेल भेज दिये गये। वीर वामनराव जोशी के पश्चात् उनका स्थान ग्रहण करनेवाले बाबासाहेब परांजपे भी वे उसी धारा के अन्तर्गत डेढ़ वर्ष के लिये जेल भेज दिये गये, किन्तु इन दोनों जन-नायकों के जेल चले जाने से आन्दोलन में शिथिलता न आ सकी। उनकी अनुपस्थिति में पार्वतीबाई पटवर्धन, चन्द्राताई शेवडे, केशवराव शालिग्राम, नत्थूजी महाजन, भगवानसिंह, मामा साहेब जोगलेकर, नाना भाई इच्छाराम, बापूसाहेब सहस्त्रबुद्धे, विश्वनाथपंत कुंटे, देवीदासपंत महाजन, दाजी साहेब, वेदरकर, शामराव देशपांडे, पन्नालाल व्यास, पारसनीस, भीमसिंह आदि विदर्भ के विभिन्न स्थानीय कार्यकर्त्ताओं ने इस प्रदेश में राष्ट्रीय आंदोलन का दीप प्रज्ज्वलित रखा। अमरावती के श्री मोहरील वकील वकालत छोड़कर मृत्यु पर्यन्त विदर्भ प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मंत्री का कार्य करते रहे। इन्हीं दिनों बापूजी अणे, अकोला के दयाल दास चौधरी और पांढरकवडा के अब्दुल रौफशाह ने भी वकालत छोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन में योग देना आरम्भ किया। कुछ अन्य व्यक्तियों ने भी सरकारी उपाधियों तथा अवैतनिक न्यायाधीशों के पद का त्याग किया। भेंट बिगार के विरुद्ध जाग्रति, स्वदेशी-प्रचार, विदेशी-बहिष्कार और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना विदर्भ प्रदेश के इन दिनों के प्रमुख कार्य थे। भाऊसाहेब सोहनी, पंढरीनाथ अंबुलकर, मनोहरपंत दीवान, पुरवार आदि ने राष्ट्रीय विद्यालयों के संचालन में विशेष योग दिया। इनके अतिरिक्त श्री सहस्त्रबुद्धे, पण्डित, मंगलमूर्ति और मल्हारराव चौधरी ने भी इन विद्यालयों के चलाने में बहुत कार्य किया।

ऐतिहासिक झण्डा सत्याग्रह :—बैतूल परिषद् के पश्चात छिंदवाड़ा में श्रीमती सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता में राजनीतिक परिषद् हुई, जिसमें डा. राघवेन्द्रराव की प्रान्तीय कार्यकारिणी की तीव्र आलोचना की गई। फलस्वरूप महाकोशल प्रान्त का नेतृत्व डा. राव के हाथों से निकल कर पं. सुन्दरलाल के हाथ में गया और वे पं. माखनलाल चतुर्वेदी, दुर्गाशंकर मेहता, केशव रामचंद्र खाण्डेकर, लक्ष्मणसिंह चौहान आदि प्रान्त के प्रमुख जनसेवियों के सहयोग से जनता का नेतृत्व करने लगे। पं. सुन्दरलाल के सुदृढ़ और निर्भीक नेतृत्व से जनता में नवस्फूर्ति दिखाई देने लगी। उन्होंने बैतूल परिषद में व्यक्त की गई अपनी झण्डा सत्याग्रह विषयक कल्पना को प्रथम जबलपुर में मूर्त स्वरूप दिया, किन्तु इसके पश्चात् ही उसे १ मई १९२३ से नागपुर में केन्द्रित कर दिया। महाकोशल-नागपुर और विदर्भ के कोन-

कोने से स्वयंसेवकों के समूह आकर इस सत्याग्रह में भाग लेने लगे। इस सत्याग्रह में तीनों प्रदेशों के २७५५ स्वयंसेवकों ने दण्ड पाया, जिन में से लगभग एक हजार सत्याग्रही महाकोशल प्रान्त के थे। इनमें से भी चार सौ सत्याग्रही केवल बालाघाट जिले से आये थे। इस सत्याग्रह को आयोजित करने में पं. दुर्गाशंकर मेहता, पं. माखनलाल चतुर्वेदी, केशव रामचंद्र खाण्डेकर, ठा. लक्ष्मणसिंह चौहान, करामत हुसैन और सुभद्राकुमारी चौहान ने विशेष योग दिया। सरकार ने यह सत्याग्रह यशस्वी न होने देने के लिये साम, दाम, दण्ड, भेद नीति का पूरा-पूरा प्रयोग किया, किन्तु वह सफल न हुई। महाकोशल के अतिरिक्त नागपुर और विदर्भ प्रदेश में ही नहीं, वरन उत्कल, बम्बई, आन्ध्र, बिहार, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक आदि प्रदेशों से भी अनेक स्वयंसेवकों ने आकर इस सत्याग्रह में भाग लिया और गिरफ्तार होकर जेल यातनाएँ सहीं। महाकोशल के उपर्युक्त नेताओं के अतिरिक्त डा. चन्दूलाल, डा. चिया, डा. हार्डीकर, गोपालदास तलाठी, मोहनलाल पंड्या, परदाचारी इस्लेशियर आदि अन्य प्रांतीय नेताओं ने भी इस सत्याग्रह में भाग लिया। इस सत्याग्रह को अनेक प्रान्तों से सहयोग प्राप्त होता देख उसे १८ जून से अखिल भारतीय रूप दे दिया गया। इसके पूर्व पं. जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टंडन, दरबार गोपालदास देसाई, जार्ज जोसेफ, विठ्ठलदास जयरामजी आदि देश के मान्य नेता नागपुर आकर परिस्थिति का अध्ययन कर चुके थे। सत्याग्रह का अखिल भारतीय रूप देखकर भारत सरकार भयभीत हो गई। उसने १७ जून को ही सत्याग्रह के प्रमुख संचालक श्री जमनालाल बजाज, महात्मा भगवानदीन और नीलकंठराव देशमुख को गिरफ्तार कर लिया। स्वयंसेवकों के शिविरों पर पुलिस का पहरा लगा दिया और १८ जून को सूर्योदय के पूर्व ही सब स्वयंसेवक गिरफ्तार कर लिये गये। नागपुर प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री श्री आबिद अली के अतिरिक्त सर्वश्री गणपतराव टिकेकर और जैनेन्द्र कुमार भी गिरफ्तार कर लिये गये। पं. माखनलाल चतुर्वेदी और टिकेकर युद्ध विभाग, केशव रामचंद्र खाण्डेकर प्रकाशन विभाग और श्री वासुदेवराव सुभेदार स्वयंसेवक विभाग के संचालक थे। १० जुलाई को सर्वश्री सेठ जमनालाल जी बजाज, नीलकंठराव देशमुख और आबिद अली को डेढ़-डेढ़ वर्ष का कारावास दिया गया। सेठ जमनालाल जी बजाज पर तीन हजार और श्री नीलकंठराव देशमुख पर पन्द्रह सौ रु. जुर्माना भी हुआ। इसी समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक नागपुर में हुई और उसमें इस नागपुर के झण्डा सत्याग्रह को सहायता देना निश्चित किया गया। २२ जुलाई को सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में झण्डा सत्याग्रह संचालित हुआ। श्री विठ्ठल भाई पटेल भी २३ जुलाई को नागपुर आ गये। सत्याग्रहियों के परिवारों की सहायता के लिये महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने दो हजार और मराठी मध्यप्रान्त ने पांच हजार रुपये प्रदान किये।

६ अगस्त को प्रान्तीय धारा सभा का अधिवेशन हुआ, जिसमें गवर्नर तथा तत्कालीन गृह सदस्य (होम मेंबर) सर मोरोपंत जोशी ने सरकारी दमन का समर्थन किया, जिसका बै. रामराव देशमुख ने प्रखर उत्तर दिया। सेठ शिवलाल ने सत्याग्रही कैदियों को बिना शर्त जेल मुक्त करने का प्रस्ताव रखा, जो १६ के विरुद्ध ३१ मतों से अस्वीकृत हो गया। १८ अगस्त की रात्रि को सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में नागपुर-टाउनहाल में एक विशाल सभा हुई, जिसमें वीर सत्याग्रहियों को बधाई दी गई और सत्याग्रह स्थगित करने की घोषणा की गई। इसके पश्चात् प्रायः सभी सत्याग्रही मुक्त कर दिये गये।

स्वराज्य पार्टी का आविर्भाव— कांग्रेस का गया अधिवेशन समाप्त होते ही ३१ दिसम्बर १६२२ को विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के अन्तर्गत ही "स्वराज्य पार्टी" नामक एक संस्था को जन्म दिया। देशबन्धु चितरंजनदास इस नई पार्टी के अध्यक्ष तथा पं. मोतीलाल नेहरू, विठ्ठलभाई चौधरी, खलीकुज्जमा मंत्री नियोजित हुए। कौन्सिलों में प्रवेश कर उन्हें तोड़ना इस पार्टी का उद्देश्य था। तदनुसार महाकोशल में सेठ गोविन्ददास की अध्यक्षता में यह पार्टी स्थापित हुई और मराठी मध्यप्रान्त में पार्टी संघटित करने का कार्य डा. मुंजे और बै. अभ्यंकर को सौंपा गया। हिन्दी मध्यप्रान्त और मराठी मध्यप्रान्त के इस पार्टी के अधिकांश उम्मीदवार कौंसिल-निर्वाचन में विजयी हुए। मध्यप्रांत धारासभा के

लोक-निर्वाचित ५४ सदस्यों में से २१ सदस्य स्वराज्य पार्टी के तथा ३ स्वराज्य पार्टी द्वारा सहायता-प्राप्त सदस्य थे। इस प्रकार धारा सभा के कुल ७० सदस्यों में से ४२ सदस्य इस पार्टी के होने के कारण तत्कालीन गवर्नर सर फ्रेंक स्लाय ने कौंसिल-स्वराज्य पार्टी के नेता डा. मुंजे को मंत्रिमण्डल बनाने को निमन्त्रित किया, किन्तु पार्टी का ध्येय पद-स्वीकृति न था, अतः उन्होंने मंत्रिमण्डल बनाने से इन्कार कर दिया। अतः गवर्नर ने एक अल्पदलीय मंत्रि-मण्डल बनाकर कार्य प्रारम्भ किया। पंडित मोतीलाल नेहरु और देशबन्धु दास स्वयं नागपुर आये और उन्होंने स्वराज्य पार्टी के कौंसिल-सदस्यों को समयानुकूल सलाह दी। स्वराज्य पार्टी की ओर से मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखा गया, जो २४ के विरुद्ध ४४ मतों से पारित हो गया और अध्यक्ष को धारासभा स्थगित कर देनी पड़ी। इसी बैठक में सरकार की ओर से प्रस्तुत आय-व्ययक पत्रक बहुमत से अस्वीकृत किया गया और डा. खरे का ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रस्ताव २२ के विरुद्ध ४० मतों से स्वीकृत किया गया। अब सरकार बिना मंत्रिमण्डल के ही शासन करने लगी।

१५ फरवरी २५ को स्थिति पर स्वराज्य पार्टी के कर्त्तव्य पर विचार करने के लिये एक उपसमिति बनाई गई। सर्वश्री देशबन्धुदास, पंडित जवाहरलाल नेहरु, श्री अणे, वै. अभ्यंकर, ताम्बे, घनश्यामसिंह गुप्त, डा. मुंजे और डा. खरे इस समिति के सदस्य थे। समिति ने अपनी ५ मार्च १९२५ की रिपोर्ट में मंत्रिमण्डल बनाने में सहयोग न देने और पूर्ववत् ही कौंसिलों के सरकारी कार्यों में रुकावट डालने की घोषणा की। महाराष्ट्र के श्री केलकर और जयकर तथा मध्यप्रदेश के श्री अणे और डा. मुंजे पहिले से ही पद-ग्रहण के पक्ष में थे; अतः एक वर्ष के पश्चात् ही "महाराष्ट्र" पत्र-द्वारा पद-ग्रहण का समर्थन आरम्भ हो गया। स्वराज्य पार्टी में फूट हो गई। डा. मुंजे, पं. रविशंकर शुक्ल तथा डा. खरे ने पद-ग्रहण के समर्थक सदस्यों को बहुत समझाने का प्रयत्न किया और सर मोरोपंत जोशी की कौंसिल-अध्यक्ष-पद की अवधि समाप्त होते ही स्वराज्य पार्टी के एक सदस्य श्री ताम्बे को अध्यक्ष बना दिया गया। श्री केलकर और जयकर ने ताम्बे को विश्वासघात पर उन्हें बधाई दी। इस स्थिति पर विचार करने के लिये ८ नवम्बर १९२५ को नागपुर में अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टी की बैठक हुई, जिसमें वै. अभ्यंकर द्वारा प्रस्ताव उपस्थित करने पर श्री ताम्बे की भर्त्सना की गई और प्रस्ताव बहुमत से पारित हुआ। श्री केलकर और जयकर ने पार्टी से त्यागपत्र दे दिया। कानपुर-कांग्रेस के पश्चात् डा. मुंजे और श्री अणे ने भी पार्टी से त्यागपत्र दे दिया।

नागपुर की बैठक में ही प्रति सहकार दल का जन्म हो चुका था। १९२८ के अप्रैल मास में साबरमती में स्वराज्य दल और प्रति सहकार दल में बड़े प्रयत्न से समझौता हुआ, पर सभा समाप्त होते ही यह समझौता भी समाप्त हो गया। इसके बाद महाकोशलमें सेठ गोविन्ददास की अध्यक्षतामें स्वराज्य दल और डा. राघवेन्द्रराव की अध्यक्षतामें स्वतंत्र दल का कार्य तथा मराठी मध्यप्रदेश में वै. अभ्यंकर के नेतृत्व में स्वराज्यदल एवं डा. मुंजे के नेतृत्व में स्वतंत्र दल का कार्य आरम्भ हो गया। कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वराज्य दल को पूर्ण सहयोग देने का प्रस्ताव किया। परिणाम-स्वरूप इस दल की शक्ति बहुत बढ़ गई और स्वतंत्र दल के पूर्ण शक्ति लगाने पर भी प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा सभा में स्वराज्यदल के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में पहुंच गये। हमारे प्रांत में इस दल की विजय का श्रेय महाकोशल के सर्वश्री सेठ गोविन्ददासजी, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र, घनश्यामसिंह गुप्त, पं. माखनलाल चतुर्वेदी, पं. केशव रामचन्द्र खाण्डेकर, सेठ शिवदास डागा और पं. विश्वनाथ दामोदर साल्पेकर को तथा मराठी मध्यप्रदेश के सर्वश्री वै. अभ्यंकर, नीलकंठराव उधोजी, डा. खरे आदि को है।

सशस्त्र सत्याग्रह—सन् १९२४ से १९२७ तक अंग्रेजों की कूटनीति के कारण भारत के अनेक स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इस बीच होनेवाले जबलपुर और नागपुर के इन साम्प्रदायिक दंगों में भी अनेक व्यक्तियों के प्राण गये।

सन् १९२८ में देश के अन्य प्रान्तों की तरह हमारे प्रान्त में भी सायमन कमीशन का बहिष्कार किया गया। १४ मार्च को कमीशन के नागपुर स्टेशन पर उतरते ही लगभग १० हजार मनुष्यों ने "साइमन चले जाओ" के नारे लगाकर उसके आगमन का विरोध किया। इस जन-समूह में प्रान्त के अनेक नेता भी उपस्थित थे। सेठ गोविन्ददास और पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र भी उन्हीं में से थे।

इसके पश्चात् ही नागपुर के श्री मंचेरशा अवारी ने सशस्त्र सत्याग्रह आरम्भ किया। वे २४ मई को गिरफ्तार किये गये और उन्हें विभिन्न चार भाषणों तथा सत्याग्रह के कारण ४ जून को चार वर्ष की सख्त सजा सुना दी गई। श्री अवारी के गिरफ्तार होने पर सर्वश्री रुईकर, ढवळे और तिजारे ने सशस्त्र सत्याग्रह का नेतृत्व किया। यह सत्याग्रह २ जुलाई तक चलता रहा। इसी वर्ष कांग्रेस ने अपने मद्रास-अधिवेशन मे डा. अन्सारी की अध्यक्षता में सर्वप्रथम स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित किया था।

इसी वर्ष जून मास में श्री ब्रेडले की अध्यक्षता में नागपुर में मध्यप्रदेश किसान परिषद् हुई, जिसके स्वागताध्यक्ष डा. खरे थे। २१ अक्टूबर को वै. अभ्यंकर और श्री भवानीशंकर नियोगी के प्रयत्न से नागपुर के शुक्रवारी तालाब के समीप डा. अन्सारी के हाथों लोकमान्य तिलक की मूर्ति का अनावरण हुआ। ३० नवम्बर को पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में आल इंडिया ट्रेड यूनियन का अधिवेशन नागपुर में हुआ।

सन् १९२९ में सेठ गोविन्ददास की अध्यक्षता में महाकोशल कांग्रेस कमेटी का संगठन नये सिरे से हुआ। बाबू गोविन्ददास इसके अध्यक्ष और पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र मंत्री निर्वाचित हुए। इसी वर्ष स्वतंत्र दल से पं. रविशंकर शुक्ल और ठा. छेदीलाल पुन: कांग्रेस में आये। सन् १९३० में रायपुर में महाकोशल प्रान्तीय राजनीतिक परिषद् हुई। परिषद् के माननीय अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू रायपुर आते समय इटारसी गंज में गिरफ्तार कर लिये गये, जिससे परिषद् का कार्य बाबू गोविन्ददास की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर पं. माखनलाल चतुर्वेदी की अध्यक्षता में वहां प्रान्तीय युवक परिषद् भी आयोजित की गई। ३१ दिसम्बर १९२९ को कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन में अर्ध रात्रि को पं. जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्ष पद से "पूर्ण स्वतंत्रता" की घोषणा की और २६ जनवरी १९३० को देश के सभी प्रमुख स्थानों में प्रथम "स्वतंत्रता दिवस" बड़े समारोह से मनाया गया और प्रान्त की जनता को लाहौर-कांग्रेस का संदेश देने के लिये जन-सेवकों ने दौरा आरंभ कर दिया। महाकोशल में बाबू गोविन्ददास, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र, पं. रविशंकर शुक्ल, श्री घनश्यामसिंह गुप्त आदि, नागपुर प्रदेश में वै. अभ्यंकर, महात्मा भगवानदीन, पूनमचंद रांका, सेठ जमनालाल बजाज, नीलकंठराव देशमुख आदि और विदर्भ में दादासाहेब गोले, ब्रिजलाल बियाणी, हरिराव देशपांडे, वीर वामनराव जोशी, बापू साहेब सहस्रबुद्धे आदि अपने-अपने क्षेत्र में घूम-घूम कर जन-जागरण में व्यस्त हो गये। श्री गोले और श्री बियाणी ने लाहौर-कांग्रेस के निर्णय के अनुसार प्रान्तीय धारा सभा से त्यागपत्र दे दिया। श्री अणे ने धारा सभा से त्यागपत्र न दे विदर्भ प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद से ही त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान में वीर वामनराव जोशी अध्यक्ष निर्वाचित हुए.

भद्र अवज्ञा आंदोलन—महात्मा गांधी ने ३० जनवरी के "यंग इण्डिया" में अपना ग्यारह मांगोंवाला लेख प्रकाशित किया और अपनी मांगों की पूर्ति न होने पर आरंभ किये जाने वाले स्वातंत्र्य-युद्ध की रूपरेखा भारत सरकार के सामने रखी, किन्तु इसका कोई परिणाम न होने के कारण उन्होंने कानून भंग सत्याग्रह अथवा भद्र अवज्ञा आंदोलन की घोषणा कर दी। वे ११ मार्च को दांडी नामक नमक-निर्माण केन्द्र की ओर पैदल चल पड़े। यह समाचार सुनते ही भारत के कोने-कोने में सत्याग्रह हलचल की वायु बहने लगी और प्रत्येक प्रान्त में जोरों से तैयारी आरम्भ हो गई। कांग्रेस कमेटियां भंग कर दी गईं और उनके स्थान पर युद्ध समितियों का निर्माण हो गया। महाकोशल में सेठ गोविन्ददास की अध्यक्षता में प्रान्तीय युद्ध समिति का निर्माण किया गया। ६ अप्रैल १९३० को सेठ गोविन्ददास के नेतृत्व में एक विशाल जुलूस निकला और १२ मील दूर स्थित रानी दुर्गावती की समाधि के समीप पहुंच कर स्वयंसेवकों तथा नेताओं ने कांग्रेस-प्रतिज्ञा का पालन करने की शपथ ली। ८ अप्रैल को जबलपुर, सिहोरा, कटनी, मण्डला, दमोह और रायपुर में नमक बना और बेचकर नमक-कानून तोड़ा गया। इसके पश्चात् प्रांतीय युद्ध समिति ने जंगल-कानून तोड़ने का कार्यक्रम बनाया। प्रथम जंगल सत्याग्रह बैतूल में करना निश्चित हुआ और श्री घनश्यामसिंह गुप्त इस सत्याग्रह के प्रथम सेनानी नियुक्त हुए, किन्तु कुछ कारणों से उनके निश्चित तिथि पर उपस्थित न होने से बैतूल के बाबू दीपचंद गोठी ने चिखलार के सरकारी जंगल से घास काटकर जंगल-कानून तोड़ा। इसके पश्चात् बैतूल जिले में जंगल सत्याग्रह की

बाढ़ आ गयी। बंजारी डाल, फिरी, जम्बाड़ा, उत्तम सागर आदि स्थानों में स्त्री-पुरुषों ने कानून भंग किया। इनमें से सबसे प्रसिद्ध सत्याग्रह बंजारी डाल का था, जहां सहस्त्रों गोंड स्त्री-पुरुषों ने सरदार गंजनसिंह के नेतृत्व में एक साथ सरकारी जंगल पर आक्रमण कर उसे काटना आरम्भ कर दिया। यहां पुलिस ने बड़ी निर्दयता से गोली चलाई, जिसमें सैकड़ों सत्याग्रही जख्मी हुए और तीन सत्याग्रहियों का घटनास्थल पर ही प्राणान्त हो गया। इन्हीं दिनों जम्बाड़ा में भी गोली चलाई गई, जिसमें दो सत्याग्रहियों की मृत्यु हो गई। सिवनी के टुरिया ग्राम के समीप होनेवाला जंगल सत्याग्रह भी महाकोशल के इतिहास में उल्लेखनीय है। यहां पुलिस अपनी पूरी तैयारी के साथ भी जंगल सत्याग्रह न रोक सकी और अन्त में चिढ़कर उसे गोली चलानी पड़ी। परिणामस्वरूप पांच व्यक्तियों का प्राणान्त हो गया, जिसमें तीन स्त्रियां थीं। अनेकों घायल हुए।

२६ अप्रैल को बाबू गोविन्ददास, पं. रविशंकर शुक्ल, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र, पं. माखनलाल चतुर्वेदी और श्री विष्णुदयाल भार्गव गिरफ्तार कर लिये गये। पर इससे आंदोलन को बल ही मिला। स्थान-स्थान पर जब्त साहित्य पढ़कर भद्र अवज्ञा की गई। प्रान्त के अनेक स्थानों पर १४४ धारा लगा दी गई और लाठी चार्ज कर सभाएं भंग की गईं। जबलपुर में "जवाहर दिवस" मनाने के लिये सोहागपुर के श्री सैयद अहमद की अध्यक्षता में एक सभा हुई। इस सभा को भंग करने के लिये भी पुलिस ने लाठी चलाई और श्री सैयद को गिरफ्तार कर लिया। जबलपुर के मझगवां ग्राम में भी एक जमाव पर लाठियां चलाई गईं।

जबलपुर में डिसलरी पर धरना दिया गया, जो लगभग १५ दिन तक चलता रहा। जबलपुर के ही नहीं पर महाकोशल के अन्य स्थानों के स्वयंसेवकों ने भी इसमें योग दिया। सत्याग्रहियों को तितर-बितर करने के लिये पहिले लाठियां चलाई गईं, पर इससे कोई लाभ न होता देख पुलिस ने गोलियां चलाईं, जिसमें अनेक व्यक्ति जख्मी हुए। इस वर्ष प्रांतीय सरकार को मदिरा-बहिष्कार से होनेवाली हानि ५० लाख रु. बतलाई जाती है।

इन्ही दिनों सरकार ने महाकोशल के 'लोकमत, कर्मवीर' और 'स्वदेश' पत्र पर प्रहार किया। इस भद्र अवज्ञा आंदोलन में पूर्ण महाकोशल से २,२५५ कांग्रेस-सेवक गिरफ्तार हुए और उन्हें जेल-यातना सहनी पड़ी। इनमें सबसे लम्बी अवधि का दण्ड पाने वाले जबलपुर के पं. बालमुकुंद त्रिपाठी थे, जिन्हें तीन वर्ष के सख्त कारावास की सजा दी गई।

मराठी मध्यप्रान्त की सेवा भी महाकोशल से कम न रही। महात्मा गांधी के दांडी में नमक-कानून भंग करते ही नागपुर के श्री भैयाजी सहस्त्रबुद्धे के नेतृत्व में ६ अप्रैल को सर्वश्री रानडे, डांगरे, बाघमारे, ढोक आदि का एक जत्था दहीहंडा स्थान को रवाना हुआ और वहां उन्होंने १३ अप्रैल को नमक-कानून तोड़ा। १६ अप्रैल को नागपुर प्रान्तीय युद्ध समिति की ओर से बै. अभ्यंकर, डा. खरे, महात्मा भगवानदीन, सेठ जमनालाल बजाज, नीलकण्ठराव देशमुख और पूनमचंद रांका ने युद्ध की घोषणा की। बै. अभ्यंकर ने नागपुर में नमक-कानून तोड़ा और इसके पश्चात् प्रान्त के सभी प्रमुख स्थानों में भद्र अवज्ञा आंदोलन आरम्भ हो गया। डा. खरे, उनकी पत्नी और पुत्र ने नासिक में अवैध नमक बेचकर कानून तोड़ा। ६ मई को बै. अभ्यंकर ने "भारत में अंग्रेजी राज्य" नामक जब्त पुस्तक का कुछ भाग सार्वजनिक सभा में पढ़कर कानून तोड़ा। इसके पश्चात् पूरे प्रान्त में कानून भंग करने के लिये २१ मई का दिन निश्चित किया गया और तदनुसार कहीं अवैध नमक बनाकर, उसे बेचकर और कहीं जब्त साहित्य का प्रचार कर कानून तोड़ा गया। इस एक ही दिन नागपुर में तेरह सभाएं की गईं और जब्त साहित्य पढ़ा गया। प्रान्तीय युद्ध समिति के सदस्य महात्मा भगवानदीन १८ मई को जबलपुर में और २६ मई को बै. अभ्यंकर नागपुर में गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये। इसके विरोध में दूसरे दिन एक विशाल जुलूस निकाला गया और चिटनवीस पार्क में सभा की गई, जिसमें लगभग २० हजार व्यक्ति उपस्थित थे। २ जून को अभ्यंकर को २ वर्ष का सपरिश्रम कारावास और १,५०० रु. जुर्माने की सजा सुना दी गई।

१८ जून को श्री भैयाजी सहस्त्रबुद्धे के नेतृत्व में एक जत्था धरसाना रवाना हुआ, जो मार्ग में जलगांव के समीप ही गिरफ्तार कर लिया गया। २१ जून को डाक्टर खरे के नासिक से लौटने पर शराब की दुकानों पर धरना देने का कार्य आरंभ हुआ। यह कार्य एक महीने तक तेजी से चलता रहा। २१ जुलाई को डा. खरे, बाबासाहेब देशमुख, श्री पूनमचंद रांका और आचार्य धर्माधिकारी गिरफ्तार कर लिये गये। इसके पश्चात् श्री बाबासुन्दर के नेतृत्व में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आन्दोलन चला। परिणामस्वरूप नागपुर की १२५ कपड़ों की दुकानों में से १०० दुकानों के स्वामियों ने विदेशी वस्त्रों की गांठों पर मुहर लगा दी। इस आंदोलन में क्रिश्चियन असोशिएशन, स्टूडेंट्स यूनियन, नाभिकोदय मंडल, दलित युद्ध मंडल आदि ने भी महत्वपूर्ण योग दिया।

विदेशी वस्त्र-बहिष्कार आंदोलन के पश्चात् जंगल सत्याग्रह का कार्यक्रम बना और वर्धा, आर्वी, तलेगांव, कोंढाली, काटोल, उमरेड आदि स्थानों में सत्याग्रह शिविर आरम्भ किये गये। २४ जुलाई को श्री टिकेकर के नेतृत्व में एक बड़ा जत्था तलेगांव के सरकारी जंगल में सत्याग्रह करने को रवाना हुआ और उसने १ अगस्त को वहां घास काटकर सत्याग्रह किया। इस अवसर पर वहां लगभग ३० हजार जनता उपस्थित थी। सर्वश्री टिकेकर, तुलसीराम लोधी, अब्दुल रफीक और लक्ष्मण गंभीरा गिरफ्तार कर लिये गये। इसके पश्चात् सरकारी दमन का चक्र जोरों से घूमने लगा। प्रतिदिन ढूंढ-ढूंढ कर कांग्रेस कार्यकर्ता गिरफ्तार किये जाने लगे, फिर भी श्री छगनलाल भारुका और श्री राजाभाऊ डांगरे के नेतृत्व में प्रांत के अनेक स्थानों में जंगल-सत्याग्रह किये गये। ३ अगस्त से १० अगस्त तक "बहिष्कार सप्ताह" झण्डा दिवस, बहिष्कार दिवस, पिकेटिंग दिवस, गांधी दिवस, महिला दिवस, गढ़वाल दिवस और राजबंदी दिवस के रूप में मनाना निश्चित किया गया। सरकार ने गढ़वाल दिवस के दिन निकलनेवाले जुलूस को १४४ धारा लगाकर प्रवैध घोषित कर दिया। जनता को भयभीत करने के लिये प्रातःकाल से ही पूरे शहर में सशस्त्र पुलिस और घुड़सवार सैनिकों का चक्कर आरंभ हो गया और कांग्रेस-कार्यालय के सामने सशस्त्र पुलिस की पंक्ति खड़ी कर दी गई। श्री भारुका २५ स्वयंसेवकों के साथ कांग्रेस कार्यालय से निकले। मार्ग में सैकड़ों नागरिक एकत्र थे। कोतवाली के समीप पहुंचने पर श्री भारुका तथा चांदा के सेठ खुशालचन्द, आपाजी गांधी आदि गिरफ्तार कर लिये गये। इसके पश्चात् स्वयंसेवकों का एक दूसरा जत्था कांग्रेस-कार्यालय से निकला, जिसे पुलिस ने रोक लिया। वह जत्था रोके हुए स्थान पर ही बारह बजे रात्रि तक बैठा रहा। इसके पश्चात् चार स्वयंसेवकों ने कांग्रेस-कार्य-कारिणी का ६ ठा प्रस्ताव पढ़ा और वे गिरफ्तार कर लिये गये। इसके अनन्तर पुलिस के हटते ही एक जुलूस चिटनवीस पार्क में गया। पूरी पुलिस शक्ति कांग्रेस-कार्यालय से कोतवाली तक ही एकत्र थी। अतः शहर के शेष भाग में आठ-आठ दस-दस स्वयंसेवकों के जत्थों ने काले झंडे के साथ घूमकर गढ़वाल दिवस निर्विघ्न मनाया।

श्री भारुका के पश्चात् श्री कानिटकर युद्ध समिति के अध्यक्ष बने। वे १५ अगस्त को गिरफ्तार कर लिये गये। इसके विरोध में लगभग १०० विद्यार्थियों ने विद्यालय और महाविद्यालय छोड़कर प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया। इसके पश्चात् श्री सालवे के नेतृत्व में प्रान्त में जंगल सत्याग्रह होता रहा। २५ अगस्त को पूरे प्रान्त में सामूहिक जंगल सत्याग्रह किया गया जिसमें प्रान्त के लगभग ७५ हजार व्यक्तियों ने भाग लिया। इन्हीं दिनों लोकमत की उपेक्षा कर डा. मुंजे और श्री तांबे गोलमेज परिषद् में गये। प्रान्त के अनेक स्थानों में सभा कर इन दोनों की निन्दा की गई। श्री सालवे के पश्चात् युद्ध समिति के अन्य संचालक सर्वश्री प्रो. जोगलेकर, शेरलेकर, अनुसूयाबाई काले आदि भी जेल गये। श्रीमती अनुसूयाबाई के प्रोत्साहन से अनेक महिलाओं ने भी आंदोलन में प्रवेश किया और वे पुरुषों के कंधे से कंधा लगाकर काम करने लगीं। चन्द्रभागाबाई पटवर्धन, सुशीलाबाई गाडगिल, कमलाबाई हास्पेट, विद्यावती देवड़िया, वत्सला कणिक कु. विमलाताई अभ्यंकर, गीधूताई जोगलेकर, गंगाबाई चौबे आदि इनमें प्रमुख थीं।

१० नवम्बर को कौंसिल-बहिष्कार दिवस मनाया गया। इस दिन लगभग ४०० स्वयंसेवक, २०० स्वयं सेविकायें और ५०० बालकों की वानर सेना ने विभिन्न निर्वाचन-केन्द्रों में धरना दिया। पुलिस ने डण्डों और बेंतों का उपयोग किया। श्रीमती अनुसूयाबाई काले टाउनहाल के पास कुछ स्वयं सेविकाओं सहित गिरफ्तार कर ली गईं।

वानर सेना के सेनापति श्री प्रभाकर साखरदाडे को बेतें लगाई गईं। १२ नवम्बर को १७ कार्यकर्ता गिरफ्तार किये गये, जिनमें सर्वश्री चैतन्यदास, धुले, वैद्य, मंगलचन्द, बाबासुंदर, हुरमसजी, मोतीसिंह, भौसालाव, मगनलाल पाटनी, कृपाशंकर नियोगी आदि थे। इस धरने के कारण २५ हजार मतदाताओं में से केवल १,१३७ मतदाता ही मतदान कर सके।

इसके पश्चात् २०,२१ और २२ नवम्बर को शराब की दुकानें नीलाम होने वाली थी। इन दिनों युद्ध समिति ने इसके विरुद्ध प्रचार किया। परिणामस्वरूप सरकार को बहुत हानि उठानि पड़ी। श्रीमती अनुसूयाबाई काले के पश्चात् युद्ध समिति के दूसरे अध्यक्ष श्री कमाविसदार, आप्पासाहेब हलदे, पांडरीपाण्डे, कालीचरण सराफ आदि भी गिरफ्तार कर लिये गये।

महाकोशल और नागपुर प्रान्त की तरह विदर्भ में भी एक प्रान्तीय युद्ध समिति का निर्माण किया गया। वीर वामनराव जोशी समिति के अध्यक्ष और श्री ब्रिजलाल बियाणी मंत्री थे। सर्वश्री डा. पटवर्धन, दादासाहेब सहस्त्रबुद्धे पुरुषोत्तम भुनभुनवाला, दुर्गाताई जोशी, ताराबेन मश्रूवाला, त्र्यम्बकराव जोशी, गारडगांवकर और आंबुलकर समिति के सदस्य थे। प्रान्तीय युद्ध समिति ने अपनी २६ मार्च की बैठक के निर्णय के अनुसार विदर्भ की जिला कांग्रेस कमेटियां भंग कर उनके स्थान में जिला युद्ध समितियां बना दीं। अमरावती जिला युद्ध समिति ने डा. भोजराज, बुलडाना जिला युद्ध समिति ने डा. पारसनीस और यवतमाल जिला युद्ध समिति ने बच्चू महाराज की अध्यक्षता में कार्य आरंभ कर दिया। अकोला प्रान्तीय युद्ध समिति का प्रधान केन्द्र था। १० जून के पश्चात् श्री बापूजी अणे यवतमाल युद्ध समिति के अध्यक्ष हुए। ३१ मार्च को श्री बापूसाहेब सहस्त्रबुद्धे ने अकोला के तिलक विद्यालय तथा सरस्वती मंदिर के विद्यार्थियों एवं कुछ स्वयंसेवकों को शिक्षण देने के लिये शिविर आरम्भ किया। इसके पश्चात् अमरावती और खामगांव में भी स्वयंसेवक-शिक्षण शिविर आरम्भ किये गये। नमक-कानून भंग करने के लिये १३ अप्रैल को दहीहांडा ग्राम में प्रान्तीय केन्द्र खोला गया। विदर्भ के सभी जिलों में नमक-सत्याग्रह की सुविधा न थी, जिससे प्रत्येक जिले को दहीहांडा में ही नमक-कानून भंग करने के लिये एक-एक सप्ताह दिया गया। २७ अप्रैल को चारों जिलों के केन्द्र-स्थानों में और २८ अप्रैल को सब तहसीलों के केन्द्रस्थानों में दहीहांडा से खारा पानी भेज कर नमक-कानून तोड़ने की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार १० मई को कुछ ग्रामों में भी नमक कानून तोड़ा गया।

पूर्व निश्चयानुसार १३ अप्रैल को दहीहांडा में नमक-कानून तोड़ने के लिये १० अप्रैल को श्री बापूसाहब सहस्त्रबुद्धे के नेतृत्व में एक दल पैदल रवाना हुआ। इस दल को अकोलावासियों ने शानदार बिदाई दी। इस दल के दहीहांडा पहुंचने पर १२ अप्रैल को वहां एक विराट सभा हुई, जिस में निकटस्थ-ग्रामों के हजारों स्त्री-पुरुष एकत्र थे। दूसरे दिन निश्चित समय पर सत्याग्रह कर कानून-भंग किया गया। सरकार बिलकुल मौन थी। यहां बनाया नमक अकोला, अमरावती और नागपुर में खुले आम बेचा गया। २१ अप्रैल को श्रीमती दुर्गाताई जोशी के नेतृत्व में वयोवृद्धा यशोदाबाई आगरकर, विजयालक्ष्मी मश्रूवाला, काशीताई लिमये आदि ने भी नमक-कानून भंग किया। यह देखकर अमरावती में डा. कुमारी जावड़ेकर तथा यवतमाल में श्रीमती आनंदीबाई दामले के नेतृत्व में भी कुछ महिलाओं ने नमक-कानून भंग किया।

श्री सहस्त्रबुद्धे के दल के पश्चात् दूसरे सप्ताह में अमरावती के दल ने डा. शिवाजीराव पटवर्धन के नेतृत्व में और तृतीय सप्ताह में बुलडाना के दल ने श्री कृष्णराव गारडगांवकर के नेतृत्व में नमक-कानून भंग किया। इसके पश्चात् जैसा कि पहिले बतलाया गया है जिले के केन्द्रों, तहसील के केन्द्रों और कुछ ग्रामों में भी नमक-कानून भंग किया गया। श्री बापूजी अणे ने महात्मा जी के नमक-सत्याग्रह के पश्चात् असेम्बली से त्यागपत्र दे दिया और प्रान्तीय युद्ध समिति के एक सदस्य के रूप में २७ अप्रैल को यवतमाल में नमक-कानून भंग किया।

चतुर्थ सप्ताह में पंढरीनाथ अंबुलकर के नेतृत्व में अकोला और यवतमाल जिले के स्वयंसेवकों ने दहीहांडा में नमक-सत्याग्रह किया। ५ जून को नागपुर और विदर्भ के कुछ चुने हुए सत्याग्रही श्री अंबुलकर

के नेतृत्व में धरासना नमक केन्द्र पर पर धावा बोलने के लिये रवाना हुए, किन्तु वे यवतमाल में ही बम्बई-पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये।

नमक-सत्याग्रह में सरकार द्वारा कोई हस्तक्षेप न होता देखकर विदर्भ युद्ध समिति ने जब्त साहित्य के प्रचार द्वारा कानून भंग करना निश्चित किया और १८ मई को प्रान्त के सभी प्रमुख स्थानों में यही कार्य किया गया, पर सरकार ने इस कार्य में भी हस्तक्षेप न किया। अतः युद्ध समिति ने जंगल-सत्याग्रह आरम्भ करना निश्चित किया। लगातार दो मास के प्रान्तव्यापी प्रचार के पश्चात् प्रथम सत्याग्रह १० जुलाई को पुसद में करना निश्चित हुआ। तदनुसार श्री बापूजी अणे ने धुंदी नामक ग्राम के समीप के सरकारी जंगल का घास काटकर सहस्रों नागरिकों की उपस्थिति में जंगल-कानून भंग किया। श्री अणे तथा उनका दल धारा ३७९ के अन्तर्गत गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें छः-छः मास का कारावास दे दिया गया। दूसरे दिन श्री बापू साहब सहस्रबुद्धे और उनके दल को जंगल कानून तोड़ने पर छः-छः मास की कैद की सजा दी गई। इसके पश्चात् सर्वश्री गोविन्दशास्त्री ओगलेकर, रामचंद्र बलवन्त जोशी तथा गंगाधर हिवरीकर के नेतृत्व में जंगल सत्याग्रह हुए और उन सबको भी कारावास का दण्ड दिया गया। इसके पश्चात् विदर्भ के अन्य स्थानों में सत्याग्रह न होने देने के उद्देश्य से सर्वश्री ब्रिजलाल बियाणी, डा. पटवर्धन, डा. सोमण, दादासाहब गोले आदि विदर्भ के प्रमुख जन-सेवियों को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया, किन्तु इससे सत्याग्रह की प्रगति न रुक सकी। अमरावती जिला युद्ध समिति के अध्यक्ष डा. भोजराज ने बडाली के जंगल में सत्याग्रह किया। उन्हें उनके दल सहित गिरफ्तार करके जेल भेज दिया। दूसरे दिन दुर्गाताई जोशी के नेतृत्व में जंगल सत्याग्रह हुआ, पर कोई गिरफ्तार न किया गया। तृतीय दिवस श्री रामगोपाल के नेतृत्व में द्वितीय दिवस के दल ने ही बडाली में सत्याग्रह किया और जेलयात्री हुए। इस प्रकार ७ दिन तक लगातार भिन्न-भिन्न दलों द्वारा बडाली में जंगल सत्याग्रह चलता रहा।

२४ जुलाई को डा. पारसनीस के नेतृत्व में खामगांव के समीप जनुना ग्राम के जंगल में सत्याग्रह किया गया। डाक्टर साहब अपने दल सहित गिरफ्तार करके जेल भेज दिये गये। जिला युद्ध मंत्री श्री कोरडे गुरुजी भी पकड़ लिये गये। डा. पारसनीस को छः मास की और कोरडे गुरुजी को एक वर्ष की सख्त कैद की सजा सुना दी गई। फिर भी सात दिनों तक सत्याग्रह चलता ही रहा। पांचवें युद्धाधिकारी श्री बामणगांवकर भी गिरफ्तार हो चुके थे; इस लिये श्री श्रीराम सूरजमल के नेतृत्व में अकोला से चार मील पर स्थित लोणी ग्राम के समीप के जंगल में सत्याग्रह किया गया। वे सत्याग्रह करने पर अपने दल सहित गिरफ्तार कर लिये गये और प्रत्येक को छः-छः महीने की सजा दे दी गई, पर इसके पश्चात् भी यहां एक सप्ताह तक जंगल सत्याग्रह होता ही रहा और युद्धमंत्री हरिराव देशपाण्डे के अतिरिक्त दादा-साहब पण्डित, सदाशिवराव चिचोलकर, रामभाऊ बोरकर, गोविंदराव सोहनी आदि भी गिरफ्तार कर जेल भेजे गये।

इसके पश्चात् करडगांव, चौसाला, परसोड़ा, दारव्हा आदि स्थानों में भी जंगल सत्याग्रह आयोजित किये गये और अनेक देश-सेवक जेल में बंद कर दिये गये। अमरावती में बडनेरा, गणोजा, देऊरवाडा, सुरली बोराला, चांदुर बाजार, रंगारवासनी, नेरपिंगलाई, वरुड, लोणी, दाभेरी, वुगाव, याबली, अचलपुर, चांदुर, माऊरी, दर्यापुर, दहीगांव, निमखेडा आदि, बुलढाना जिले में जलगांव, राजुर, जामोद आदि, अकोला जिले में पारस, बोरगांव, कुरुम, कारंजा, जामठी आदि स्थानों में जंगल सत्याग्रह के दिनों में बड़ा जोश रहा और वहां के कांग्रेस-कार्यकर्ताओं ने इस भारतीय स्वतंत्रता के युद्ध में महत्वपूर्ण योग दिया।

इसी वर्ष रायपुर और बैतूल की डिस्ट्रिक्ट कौंसिलें तथा प्रान्त की कुछ नगरपालिकाएं राजनैतिक कारणों से सरकार द्वारा भंग कर दी गईं।

कानून–भंग : सत्याग्रह का दूसरा दौर

गांधी-इर्विन समझौते के अनुसार भद्र अवज्ञा आंदोलन के अधिकांश राजबंदी छोड़ दिये गये, किन्तु सर सेम्युअल होर के हाथ में भारत का शासन-सूत्र आते ही पुनः यहां सरकारी दमन आरम्भ होगया। बंगाल और युक्त प्रान्त में दमन का चक्र जोरों से घूमने लगा। लंदन की गोलमेज कान्फ्रेंस असफल होने से सरकार चिढ़ गई और उसने अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर कांग्रेस को शक्तिहीन कर देना चाहा। जनवरी १९३२ के प्रथम सप्ताह में भारत सरकार ने अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं को अवैध घोषित कर दिया। बाबू सुभाषचंद्र बोस, पं. जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गांधी, सरदार वल्लभ भाई पटेल आदि एक के पश्चात् दूसरे नेता गिरफ्तार कर लिये गये और विशेष कानून जारी कर सरकारी आतंक छा दिया। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी पर जबलपुर की तिलक-भूमि में एक सभा आयोजित की गई। अधिकारियों ने धमकी दी कि यदि सभा में सरकार के विरुद्ध कुछ भी बोला गया तो सभा अवैध घोषित कर दी जायगी। जनता और नेता चार दिन और रात वहां बैठे रहे। चौथे दिन जुलूस निकालने पर सरकार ने इस जुलूस को अवैध घोषित कर दिया और पुलिस ने अकारण ही लाठियां चला दीं। बाबू गोविन्ददास, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र और लक्ष्मणसिंह चौहान तथा बाबा हीरालाल गिरफ्तार किये गये। तिलक-भूमि में फहराता राष्ट्रीय झंडा गिरा दिया गया। दूसरे दिन न कवल तिलक-भूमि में और शहर के सैकड़ों घरों के सामने भी तिरंगा लहरा उठा। सागर और रायपुर में भी लाठियां चलीं और नेतागण गिरफ्तार किये गये। महाकोशल के अन्य जिले भी गिरफ्तारी से न बचे। सभी स्थानों के अधिकांश कार्यकर्ता गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये।

नागपुर में तारीख ४ जनवरी से ही दैनिक सभाएं प्रारंभ हो गई थीं। सरकार से मोर्चा लेने के लिये बैरिस्टर अभ्यंकर की अध्यक्षता में पुनः एक युद्ध-समिति संगठित की गई। श्री पूनमचंद रांका समिति के मंत्री, महात्मा भगवानदीन कोषाध्यक्ष और आचार्य धर्माधिकारी तथा राजाभाऊ डांगरे सदस्य थे। तारीख ९ जनवरी को समस्त पदाधिकारी और सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। उसी दिन एक सभा में भाषण देने के कारण श्रीमती विद्यावती देवड़िया, चन्द्रभागाबाई पटवर्धन और सुशीलाबाई गाडगिल भी गिरफ्तार की गईं। तारीख १० जनवरी को तिलक विद्यालय, कांग्रेस-भवन और असहयोग आश्रम अवैध घोषित कर दिये गये। तारीख १५ जनवरी तक नागपुर के लगभग १२८ कांग्रेस कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गये। जनता को भय दिखाने के लिये बैरिस्टर अभ्यंकर और सेठ पूनमचंद रांका पर दस-दस हजार रुपये जुर्माना किया गया। अन्यों को भी दो-दो वर्ष की सजा देने के साथ ही दो-दो तीन-तीन सौ रुपया जुर्माना किया गया। डा. गौर की अध्यक्षता में बार असोसिएशन ने इस दमन का विरोध किया। पं. काशीप्रसाद पाण्डे ने भी प्रान्तीय धारा सभा में कार्य-स्थगन का प्रस्ताव किया। नागपुर प्रान्त के अन्य स्थानों के भी कांग्रेस कार्यकर्ता गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये। किन्तु इस भीषण दमन के पश्चात् भी सरकार राष्ट्रीय आंदोलन बंद न कर सकी। अखिल भारतीय और प्रान्तीय कार्यालयों से ही नहीं, पर जिलों के कार्यालयों से भी कांग्रेस बुलेटिन निकलते ही रहे। सरकार ने दो महीने में कांग्रेस का आन्दोलन खत्म कर देने की घोषणा की थी, पर वह दो वर्ष तक पूरी शक्ति से दमन करने पर भी आन्दोलन की गति न रोक सकी। गिरफ्तारियां होतीं, कड़े दंड दिये जाते, एक के पश्चात् दूसरी संस्था अवैध घोषित की जाती और अनेक घरों की तलाशी लेने पर भी कांग्रेस बुलेटिन सरकारी अत्याचारों की खबरें और कांग्रेस के कार्यक्रम लेकर निकलते जाते थे।

विदर्भ में भी पुनः वीर वामनराव जोशी की अध्यक्षता में युद्ध-समिति बनाई और श्री ब्रिजलाल बियाणी पूर्ववत् ही समिति के मंत्री बनाये गये। महाकोशल और नागपुर की तरह विदर्भ में भी जिला और तहसील कांग्रेस कमटियों ने अपने-अपने सर्वाधिकारियों के नामों की घोषणा कर दी और उनके नेतृत्व में आंदोलन आरम्भ हो गया। तारीख २५ जनवरी को श्री ब्रिजलाल बियाणी, दादा साहेब गोले और दुर्गाताई जोशी गिरफ्तार कर ली गई और उन्हें एक से डेढ़ वर्ष तक की सजा तथा ३०० रुपये से १,००० रुपये तक जुर्माना कर दिया गया। इससे प्रचारकों की संख्या बढ़ा दी गई और स्थान-स्थान पर भाषणों की व्यवस्था की गई। इसके साथ ही गिरफ्तार होने वालों की संख्या भी बढ़ गई।

गिरफ्तार होने वालों में स्त्री-पुरुष सभी थे। महिलाओं में श्रीमती दुर्गाताई के अतिरिक्त अकोला जिले में श्रीमती सुषमादेवी, गोपाबाई अग्रवाल, गोदाताई साने, गंगूताई बापट, मनुताई कोल्हटकर, कमलाबाई भागवत, चंपूताई बनसोड, यमुनाबाई ताकवाले, सरस्वतीबाई मेहरे, वत्सलाबाई आदि ने इस आंदोलन में भाग लिया और सरकारी मेहमानी स्वीकार की। अकोला जिले में अकोला के सिवाय दहीहांडा, मारेगांव, बाडेगांव, मलसूर, खामगांव, बालापुर, मंगरूल, बोरगांव आदि इस कानून भंग सत्याग्रह के द्वितीय दौर के प्रमुख आंदोलन स्थान थे। बुलढाणा जिले में इस बार पुनः जंगल सत्याग्रह किया गया, जिसमें १५ सत्याग्रही गिरफ्तार किये गये। तारीख ३० जुलाई को श्री बिसनलाल उदाणी की अध्यक्षता में बुलढाणा जिला परिषद् की गई। परिषद् आरम्भ होते ही अध्यक्ष, स्वागताध्यक्ष, मंत्री तथा श्री केशवराव सावजी गिरफ्तार कर लिये गये और परिषद् अवैध घोषित कर दी गई।

अमरावती जिले में आंदोलन आरम्भ होते ही सर्वश्री त्र्यंबक गुरुजी, डा. पटवर्धन, पी. वाय. देशपांडे, डा. भोजराज, डा. सोमण और हरिहरराव देशपांडे गिरफ्तार कर लिये गये। स्वयंसेवकों ने विदेशी वस्त्रों और शराब की दुकानों के अतिरिक्त इंपीरियल बैंक, पोस्ट और रेल्वे स्टेशन पर भी धरना दिया, जिसमें ११ व्यक्तियों को कारावास का दण्ड मिला। जब्त साहित्य के प्रचार के कारण सर्वश्री सहस्त्रबुद्धे, बिसन जी और मालाणी को सजा हुई। बडाली, चांदूर और वैरभ में जंगल सत्याग्रह भी आयोजित किये गये।

यवतमाल जिले में श्री बापूजी अणे प्रथम सर्वाधिकारी के रूप में पकड़े गये। उनके पश्चात् क्रमशः दामले वकील, अप्पासाहेब जतकर, बाबासाहेब बापट, सस्तीकर, दाते, मेघराज छाललानी, रंगूबाई मिडवाइफ आदि भी विविध सत्याग्रहों में भाग लेने के कारण जेल भेजे गये।

तारीख २५ मई १९३२ को महाकोशल, नागपुर और विदर्भ प्रदेश की एक संयुक्त राजनैतिक परिषद् नागपुर में करने का निश्चय किया गया। परिषद् के अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त और स्वागताध्यक्ष श्री छगनलाल भारूका थे, किन्तु श्री गुप्त जी के पहिले ही गिरफ्तार हो जाने के कारण बैरिस्टर छेदीलाल की अध्यक्षता में परिषद् की गई। परिषद् में तीनों प्रदेशों से आये लगभग ३०० प्रतिनिधियों में से २५५ प्रतिनिधि सभा स्थान पर ही गिरफ्तार कर लिये गये और सभी को सपरिश्रम कारावास का दण्ड दे दिया गया। इसमें महाकोशल के ७९, नागपुर प्रदेश के २१३ और विदर्भ के १६ प्रतिनिधि थे।

सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने के कारण सर्वश्री बैरिस्टर अभ्यंकर, कर्मवीर पाठक, डा. वारलिंगे, शेंडुर्णीकर, धंगलवार, टेंभेकर, लोकरे, रूईकर आदि वकीलों की सनदें जब्त कर ली गईं।

महात्मा गान्धी का हरिजन दौरा—

महात्मा गांधी ने तारीख ८ नवम्बर १९३२ को नागपुर से ही अपना हरिजन दौरा आरंभ किया। इस अवसर पर नागपुर में महात्मा जी के स्वागत में की जाने वाली सभा चिरस्मरणीय है। इस सभा में लगभग ३० हजार स्त्री-पुरुष एकत्र थे। उन्होंने तारीख १५ नवम्बर तक नागपुर प्रदेश में दौरा किया। इसके पश्चात् १६ नवम्बर को वे अमरावती और उसके पश्चात् अकोला गये। नागपुर और विदर्भ में मिला कर उन्होंने लगभग चौदह सौ मील का दौरा किया और हरिजन निधि के लिये ३२ हजार रुपये एकत्र किये। नवम्बर के तृतीय सप्ताह में उन्होंने महाकोशल में प्रवेश किया और छत्तीसगढ़ के अतिरिक्त सिवनी, छिंदवाड़ा और बैतूल जिले में दौरा करते हुए, वे तारीख ८ दिसम्बर को जबलपुर पहुँचे। हरिजन दौरा आरम्भ करने के पूर्व भी उनका स्वास्थ्य दौरे के योग्य न था, पर वे इसकी परवाह न कर २ मास में पूरे भारत का दौरा करने का निश्चय कर के वे निकल पड़े थे। जबलपुर आने तक उनका स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया। वे डा. अन्सारी के परामर्श के अनुसार चार दिन तक जबलपुर में ठहरे रहे ; पर इस अवधि में भी उन्होंने अपना कार्य बंद न किया। दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में उन्होंने ६०० मील का दौरा किया और २१ हजार रुपये एकत्र किये। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य प्रान्तों का दौरा किया। इन नौ महीनों में उन्होंने १२,५०० मील की यात्रा की और आठ लाख रुपये एकत्र किये।

कौन्सिल प्रवेश—महात्मा जी ने ७ अप्रैल १९३४ को सत्याग्रह आंदोलन स्थगित करने का आदेश दे दिया। दो मास के पश्चात् भारत सरकार ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को वैध स्वीकार कर लिया, पर अभी भी उसकी अन्तर्गत संस्थाओं पर प्रतिबंध लगा हुआ था और पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, अब्दुल गफ्फार खां, मौलाना आज़ाद जैसे सर्वमान्य नेता जेल से मुक्त न हो सके थे। तारीख १८ और १९ अप्रैल को पटना की परिषद् में महात्मा जी ने कौंसिल प्रवेश की मान्यता दी, जिसे १८ जून १९३४ को वर्धा में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक में स्वीकार कर कांग्रेस पालियामेंटरी बोर्ड को सब प्रकार की आवश्यक सहायता देना निश्चित हुआ।

प्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल—सन् १९३५ में केन्द्रीय धारा सभा का निर्वाचन हुआ, जिसमें महाकोशल, नागपुर और विदर्भ के प्रायः सभी कांग्रेसी उम्मीदवार विजयी हुए। प्रान्त के अनेक स्थानों में विजयी उम्मीदवारों का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया गया। नागपुर प्रान्त के सुप्रसिद्ध नेता बैरिस्टर अभ्यंकर के विजयी होने की तारीख १७ नवम्बर को घोषणा हुई किन्तु दुर्दैव से तारीख २ जनवरी १९३६ को मधुमेह की व्याधि से बम्बई में उनकी मृत्यु हो गई।

सन् १९३६ में प्रान्तीय धारा सभा के सदस्यों का चुनाव देश भर में हुआ। सात प्रान्तों की धारासभा में कांग्रेसी उम्मेदवार भारी बहुमत से निर्वाचित होकर पहुँचे। हमारे प्रान्त में भी कांग्रेस का ही बहुमत रहा। सरकार द्वारा मंत्रिमंडल के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न करने का आश्वासन मिलने पर इन सातों प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रि मण्डल बनाकर शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। हमारे प्रान्त में भी यह प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल डा. नारायण भास्कर खरे के नेतृत्व में निर्मित हुआ। डा. खरे, मुख्य मंत्री तथा पं. रविशंकर शुक्ल, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्री रामराव देशमुख, श्री पुरुषोत्तम बलवन्त गोले, श्री दुर्गाशंकर मेहता और मुहम्मद यूसुफ शरीफ़ मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य थे। मंत्रिमंडल में ऐक्य न था। धीरे-धीरे वह मतभेद इतना बढ़ गया कि सन् १९३८ में केन्द्रीय पालियामेंटरी बोर्ड को हस्तक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा। डा. खरे ने स्वयं त्याग-पत्र देकर अन्य मंत्रियों से त्याग-पत्र मांगा। बैरिस्टर शरीफ़ एक साम्प्रदायिक पक्षपात के कारण पहिले ही मंत्रिमंडल से पृथक् किये जा चुके थे। पं. शुक्ल, पं. मिश्र और श्री मेहता ने केन्द्रीय पालियामेंटरी बोर्ड की स्वीकृति के बिना त्याग-पत्र देना स्वीकार न किया, जिससे तत्कालीन गवर्नर ने इन तीनों को मंत्रिमंडल से पृथक् कर डा. खरे को पुनः मंत्रिमंडल बनाने को कहा। उन्होंने तुरन्त इन तीनों के स्थान में महाकोशल के अन्य तीन एम. एल. ए. नियुक्त कर दिये। केन्द्रीय पालियामेंटरी बोर्ड ने डा. खरे पर अनुशासन-भंग का आरोप लगा कर उन्हें पद-त्याग का आदेश दिया। अब पं. रविशंकर शुक्ल कांग्रेस दल के नेता निर्वाचित हुए। वे पुनर्गठित मंत्रिमंडल के प्रधान हुए और सर्वश्री पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र, पं. दुर्गाशंकर मेहता, संभाजी राव गोखले तथा छगन लाल भारुका, मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य हुए। यह मंत्रिमंडल लगभग एक वर्ष तक शासन के सूत्र अपने हाथ में लिये जन-सेवा करता रहा, किन्तु सन् १९३९ में कांग्रेस के द्वितीय महायुद्ध में सहायता न करने के निर्णय पर अन्य कांग्रेसी प्रान्तों की तरह हमारे प्रान्त के मंत्रिमंडल ने भी नवम्बर १९३९ के प्रथम सप्ताह में त्याग-पत्र दे दिया और समस्त मंत्री युद्ध-विरोधी आन्दोलन में योग देने के लिये पुनः मैदान में आ गये।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—भारत सरकार से कांग्रेस का कोई समझौता न होने पर महात्मा गांधी ने पुनः सत्याग्रह आंदोलन आरम्भ करने की घोषणा की, किन्तु यह सत्याग्रह अभी तक किये गये सत्याग्रहों से भिन्न था। महात्मा जी ने आंदोलन के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये। उन्होंने विभिन्न कांग्रेस कमेटियों से ऐसे व्यक्तियों की सूची मांगी, जो अहिंसा का पूर्ण पालन करते हुए स्वेच्छा से क़ानून भंग सत्याग्रह करने को उत्सुक हों। उन्होंने निश्चित किया कि यह सत्याग्रह सामूहिक नहीं, पर व्यक्तिगत होगा। उनके द्वारा स्वीकृत एक-एक सत्याग्रही ग्रामों में युद्ध-विरोधी प्रचार करता हुआ, तबतक पैदल आगे बढ़ता जाये, जबतक वह गिरफ्तार न हो और गिरफ्तार कर के छोड़ने पर वह पुनः उसी ढंग से सत्याग्रह करता जाये।

प्राप्त सूची में से महात्मा जी ने आचार्य विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रह करने की आज्ञा दी। उन्होंने तारीख १७ अक्तूबर १६४० को पवनार ग्राम में एक युद्ध-विरोधी भाषण देकर व्यक्तिगत सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। वे पैदल घूमते हुए तीन दिनों तक युद्ध-विरोधी प्रचार करते रहे। इसके पश्चात् वे तारीख २१ अक्तूबर को गिरफ्तार कर तीन मास के लिये जेल भेज दिये गये। सरकार ने आचार्य विनोबा के सत्याग्रह से सम्बन्धित समाचार तथा भाषणों को समाचार पत्रों में प्रकाशित करने से रोक दिया और आज्ञा दी कि बिना प्रधान प्रेस-सलाहकार को दिखाये सत्याग्रह से सम्बन्धित कोई समाचार प्रकाशित न किये जावें। व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव न था, अतः महात्मा जी ने "हरिजन" तथा अपने अन्य दोनों पत्रों का प्रकाशन स्थगित कर दिया। कुछ पत्र बिना अग्रलेख के ही प्रकाशित होते रहे।

आचार्य भावे के पश्चात् श्री ब्रह्मदत्त ने तारीख ७ नवम्बर को वर्धा के समीप एक ग्राम में युद्ध-विरोधी नारे लगा कर क़ानून भंग सत्याग्रह किया, वे तुरन्त गिरफ्तार कर के ६ मास के लिये जेल भेज दिये गये।

अब महात्मा जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के द्वितीय सोपान पर पैर रखा। उन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं के सदस्यों में से सत्याग्रही चुने और उन्हें छोटे-छोटे समूहों में विभाजित कर व्यक्तिगत सत्याग्रह करने की आज्ञा दी। महात्मा गांधी के शब्दों में यह "प्रतिनिधि-सत्याग्रह" था। इन में भूतपूर्व कांग्रेसी मंत्रिमंडल के सदस्य भी थे। इनमें से अधिकांश को एक-एक वर्ष के कारावास का दंड दिया गया। भारत के सभी प्रथम श्रेणी के नेता गिरफ्तार कर के जेल भेज दिये गये। इनमें ११ कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य, १७६ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य, २६ भूतपूर्व मंत्री और ४०० से अधिक केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभा क सदस्य थे।

तारीख ५ जनवरी १६४१ को इस क़ानून भंग सत्याग्रह का तृतीय दौर आरम्भ हुआ। प्रत्येक कांग्रेस कमेटी ने सत्याग्रह के इच्छुक स्थानीय व्यक्तियों की सूची बना कर गांधी जी को भेजी और उनकी स्वीकृति प्राप्त होते ही सारे देश में व्यक्तिगत सत्याग्रह की धूम मच गई। जनवरी के अन्त तक गिरफ्तार और दंड प्राप्त सत्याग्रहियों की संख्या २,२५० तक पहुँच गई। मार्च मास के अन्त तक सत्याग्रह चलता रहा। अप्रैल में सत्याग्रह का चतुर्थ दौर आरम्भ हुआ। इस दौर में छोटे-छोटे ग्रामों से भी सत्याग्रही आने लगे और थोड़े ही समय में सत्याग्रह कर के जेल जाने वालों की संख्या बीस हज़ार के लगभग हो गई। पूरे देश में असंतोष फैल गया। तारीख १७ अक्तूबर १६४१ को देश भर में व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन की जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई।

एक ओर भारतीयों का असंतोष चरम सीमा को पहुँचता जा रहा था और दूसरी ओर जर्मनी और जापान को एक के पश्चात् दूसरी विजय मिलती जा रही थी। यह देख कर भारत सरकार को तारीख ३ दिसम्बर १६४१ को यह घोषणा करनी पड़ी कि "उसे विश्वास है कि भारत युद्ध में मित्र राष्ट्रों को अन्तिम विजय प्राप्त होने तक बराबर सहायता करता रहेगा। क़ानून भंग सत्याग्रहियों का अपराध केवल सांकेतिक था, अतः वह पं. जवाहरलाल नेहरू तथा मौलाना अब्बुलकलाम आज़ाद सहित समस्त सत्याग्रही राजबंदियों को मुक्त करने का निर्णय करती है।"

इन चौदह महीनों में लगभग २५ हज़ार देशसेवकों ने सत्याग्रह किया और अपने देश की स्वतंत्रता के लिये जेल यातनाएँ सहीं तथा आर्थिक हानियां उठाईं। भारत सरकार की घोषणा के अनुसार तारीख ४ दिसम्बर को समस्त राजबंदी जेलों से मुक्त कर दिये गये। इस आंदोलन के आरम्भ होने का श्रेय हमारे प्रान्त को ही है। इस प्रान्त के जिले और तहसीलों के स्थानों के ही नहीं, पर सभी प्रमुख ग्रामों के कांग्रेसियों ने स्वेच्छा से व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन में भाग लिया और प्रान्त के गौरव की वृद्धि की। यद्यपि हमें अभी तक प्रत्येक जिले से इस सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेने वालों की निश्चित संख्या तो प्राप्त न हो सकी, पर अनुमानतः यह संख्या दो हज़ार के लगभग बतलाई जाती है।

भारत छोड़ो आन्दोलन—तारीख ६ जून १६४२ को वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा कि "वर्तमान स्थिति में भारतीय जो अनुभव कर रहे हैं, उसे देखते हुए कार्यकारिणी का दृढ़ विश्वास है कि अब भारत में अंग्रेजी राज्य का तुरंत अन्त हो जाना आवश्यक है। बिना इसके न भारत अपनी रक्षा में समर्थ होगा और न संसार से नाज़ीवाद और तानाशाही का ही अन्त होगा। कांग्रेस ने सरकार को पूरा अवसर देकर यह प्रयत्न किया कि वह इस देश का राज्य जन-प्रतिनिधियों को सौंप कर वर्तमान विषादपूर्ण स्थिति का अन्त कर दें और विश्व शान्ति में सहायक हो, किन्तु सब आशायें व्यर्थ हुईं। कांग्रेस मलाया और सिंगापुर और बर्मा में घटित घटनाओं की पुनरावृत्ति टालना चाहती है, वह नहीं चाहती कि जापान या कोई भी विदेशी शक्ति भारत में प्रवेश करे। कांग्रेस ने साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का भी पूरा प्रयत्न किया, पर यह प्रयत्न विदेशी सत्ता की उपस्थिति में संभव न हो सका। अतः कांग्रेस कार्यकारिणी चाहती है कि अंग्रेज भारत छोड़ कर तुरन्त चले जायें।"

वर्धा प्रस्ताव पर विचार करने के लिये अगस्त के प्रथम सप्ताह में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक महात्मा गांधी की उपस्थिति में हुई और उस पर गंभीरता से विचार करने के पश्चात् कांग्रेस ने वर्धा प्रस्ताव का समर्थन करते हुए प्रस्ताव किया कि न केवल भारतीय हित की दृष्टि से, वरन अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भी अंग्रेजों का भारत छोड़ कर चले जाना आवश्यक है, अतः कांग्रेस भारत से अंग्रेजी शासन उठा लेने का समर्थन करती है। भारतीय स्वतन्त्रता एशियाई राष्ट्रों की स्वतंत्रता की प्रतीक होगी। कांग्रेस चाहती है कि भारत की तरह बर्मा, मलाया, हिन्द चीन, ईरान, इराक आदि एशियाई देश भी विदेशी सत्ता से मुक्त हों। अंग्रेजों से प्राप्त शासन सत्ता कांग्रेस की नहीं, पर समस्त भारतीयों की होगी।

तारीख ७ अगस्त १६४२ को कांग्रेस द्वारा इस प्रस्ताव के स्वीकार होते ही गवर्नर जनरल ने तारीख ८ अगस्त को एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर कांग्रेस प्रस्ताव को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। तारीख ८ अगस्त को प्रातः काल ही बम्बई के पुलिस कमिश्नर महात्मा गांधी, महादेव भाई देसाई और मीराबेन की गिरफ्तारी का वारंट लेकर आ गये। गांधी जी ने अपने सेक्रेटरी श्री प्यारेलाल को एक कागज़ के टुकड़े पर "करो या मरो" लिख कर देशवासियों को अपना अंतिम संदेश दे दिया और वे आवश्यक सामग्री के साथ पुलिस कमिश्नर की मोटर में बैठ गये। विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर एक स्पेशल ट्रेन तैयार थी, जिसमें कांग्रेस कार्यकारिणी के सब सदस्य तथा अनेक कांग्रेसी पहिले से ही गिरफ्तार कर के बिठा लिये गये थे। ट्रेन चिंचवाड़ स्टेशन जाकर रुकी और वहां से मोटर तथा लारियों में सब लोग यहां-वहां भेज दिये गये।

यह समाचार जहां भी पहुँचा, वहीं अशान्ति फैल गई। देश के सभी छोटे-बड़े नेता तथा हजारों कांग्रेस कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये। स्थान-स्थान पर लाठियां और गोलियां चलने लगीं। सरकारी दमन पराकाष्ठा को पहुँच गया और वह सामान्य जनता को असह्य हो गया। परिणामस्वरूप जनता पागल हो गई। उसने सरकारी इमारतों, पोस्ट आफिसों, रेल्वे स्टेशनों और पुलिस स्टेशनों पर आक्रमण कर दिया। टेलिफ़ोन के तार कटने लगे, रेल की पटरियां उखाड़ने लगीं और पुल तक गिराने के प्रयत्न होने लगे। सरकारी आंकड़ों के अनुसार नेताओं की गिरफ्तारी के एक सप्ताह के पश्चात् तक २५० रेल्वे स्टेशनों पर आक्रमण कर उन्हें क्षति पहुँचाई गई और ५०० से अधिक पोस्ट आफ़िसों पर हमला किया गया। बिहार तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में कुछ सप्ताहों के लिये रेलों के आने-जाने में अनिश्चितता आ गई। इस अनिश्चित काल में सरकार को होने वाली हानि एक करोड़ के लगभग बतलाई जाती है। पुलिस और फ़ौजी सिपाहियों से जनता की होने वाली मुठभेड़ में कुछ अधिकारी, सिपाही तथा सैनिक भी मारे गये। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ५३८ अवसरों पर गोलियां चलाई गईं। लाठियों और बेंतों के उपयोग का तो कोई हिसाब ही न रहा। लगभग ८०० नागरिक मारे गये और कुछ हजार जख्मी हुए। सन् १६४२ के अन्त तक ६० हजार के लगभग गिरफ्तारियाँ हुईं और लगभग ६० लाख रुपया सामूहिक जुर्माने के रूप में वसूल किया गया।

गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों में से २६ हजार व्यक्तियों को कारावास का दंड मिला और १८ हजार व्यक्ति बिना अभियोग लगाये जेलों में रोक कर रखे गये। अनेक कांग्रेस कार्यकर्त्ता भूमिगत हो गये।

सन् १९४२ का आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता के लिये किया जाने वाला अन्तिम आन्दोलन था, जिसमें सरकार और जनता दोनों ने अपनी पूर्ण शक्ति लगा दी। मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, उत्तरप्रदेश और बिहार इस आंदोलन में अग्रणी रहे। हमारे प्रदेश से इस आंदोलन के दिनों में लगभग ५ हजार देश सेवक गिरफ्तार कर जेल भेजे गये। एक दर्जन से अधिक स्थानों में गोलियां चलीं, जिनमें घोड़ा-डोंगरी, नाहिया, पट्टण, चिमूर तथा आष्टी मुख्य हैं। इन में से चिमूर और आष्टी में कुछ सरकारी अधिकारी और पुलिस सिपाही भी मारे गये। कुछ न कुछ नागरिक तो सभी गोली चलाने के स्थानों में मारे गये। यह आन्दोलन देश के अधिकांश स्थानों में एक ही समय आरम्भ हुआ और उसका रूप भी प्रायः समान ही रहा। महात्मा गांधी अथवा अन्य कोई भी नेता भारतीय स्वतंत्रता के किसी भी आंदोलन में अहिंसा की सीमा का अतिक्रमण नहीं करना चाहता था। हिंसा के समस्त आधुनिक साधनों से सुसज्जित अंग्रेज सरकार का सामना हिंसक वृत्ति से करना संभव भी न था, किन्तु सरकार की सनक और जल्दबाजी ने जनता को अनायास ही नेतृत्वविहीन कर दिया और उसके संकेत पर तांडव नृत्य करने वाली पुलिस तथा अन्य अधिकारियों ने विवेक को धता बतला दम्भ की पराकाष्ठा कर दी, जिससे कांग्रेसी और ग़ैर-कांग्रेसी सभी प्रकार की जनता को "मरता क्या न करता" की लोकोक्ति के अनुसार हिंसा का आश्रय ग्रहण करने को बाध्य होना पड़ा।

सन् १९४४ के मई मास तक प्रायः सभी कांग्रेसी नेता और कार्यकर्ता जेल से बाहर आ गये।

जून सन् १९४६ में कांग्रेस कार्यकारिणी ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल द्वारा प्रस्तावित योजना पर विचार किया और विधान-निर्मात्री परिषद् में भाग लेना स्वीकार किया। तारीख १५ अगस्त १९४७ के दिन अंग्रेज भारत से चले गये और देश स्वतंत्र हो गया और इस विधान निर्मात्री परिषद् द्वारा निर्मित संविधान के अनुसार तारीख २६ जनवरी सन् १९५० से भारत में पूर्ण प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली आरंभ हुई।

मध्यप्रदेश का वाकाटक राजवंश

श्री वासुदेव विष्णु मिराशी

मध्यप्रदेश के प्राचीन इतिहास में वाकाटकों से अधिक अन्य कोई गौरवास्पद राजवंश नहीं है। बहुसंख्य इतिहासकारों की सम्मति है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में ईस्वी काल गणना की चौथी और पांचवीं शताब्दियां स्वर्णयुग है, क्योंकि ये धर्म, साहित्य और कला क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति से प्रभावित रही हैं। इस युग को गुप्त-वाकाटक काल भी कहा जाता है, क्योंकि इस में वाकाटक-गुप्तों ने क्रमशः दक्षिण और उत्तर भारत के क्षेत्रों में अपना साम्राज्य फैलाया था। प्राचीन भारतीय इतिहास के एक अधिकारी विद्वान् प्रो. जे. दुब्रेल ने वाकाटकों* के विषय में कहा है—"तीसरी से छठी शताब्दी तक दक्षिण में राज्य करने वाले समस्त राजवंशों में सबसे अधिक गौरवास्पद, सर्वाधिक महत्वपूर्ण, सबसे अधिक प्रतिष्ठित, सर्वश्रेष्ठ एवं सम्पूर्ण दक्षिण की संस्कृति में श्रेष्ठ प्रभाव डालने वाला वाकाटकों का गौरवपूर्ण राजवंश रहा है।"

विगत सौ वर्षों में ही इस राजवंश के विषय में हमारा सम्पूर्ण ज्ञान उपलब्ध हुआ है। सन् १८३६ में इस प्रदेश में सिवनी के एक गोंड मालगुजार के पास मिले ताम्र-पत्र से इस राजवंश का प्रथम ज्ञान हुआ। उस समय तक वाकाटक नाम भी अज्ञात था। वास्तव में राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के नाम का उल्लेख पुराणों में हुआ है, परन्तु अशुद्ध पाठ से और कुछ अंशों में विपरीत अन्वय† से उसे यवन या यूनानी जाति से सम्बन्धित मान लिया गया था। प्राचीन लिपि के एक विशेषज्ञ डा. भाऊ दाजी ने अजन्ता की १६ वीं गुफा के उत्कीर्ण लेख का सम्पादन करते हुए लिखा था कि वाकाटक यवनों तथा यूनानियों का ही एक राजवंश था, जिन्होंने वैदिक यज्ञों को पूर्ण करने एवं बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये महत्वपूर्ण एवं बहुमूल्य कार्य करने में प्रमुख भाग लिया था।‡ दूसरी ओर प्रचलित मत यह है कि वाकाटक लोग ब्राह्मण थे। इस राजवंश के इतिहास सम्बन्धी हमारे ज्ञान में अभी हाल के वर्षों में जो प्रगति हुई है, वह इस उदाहरण से स्पष्ट होती है। मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में सौभाग्य से मिले शिलालेखों और ताम्रपत्रों से एवं इन उत्कीर्ण लेखों की प्रिन्सेप, बूल्हर, कीलहॉर्न और जायसवाल जैसे प्रमुख विद्वानों द्वारा की गहन गवेषणा और अध्ययन से हम इस राजवंश के इतिहास की मुख्य बाह्य रेखाओं को समझने और भारत के प्राचीन इतिहास में उसका उचित स्थान देने में समर्थ हुए हैं।

---

* जे. दुब्रेल, "एन्शन्ट हिस्ट्री आफ दि डेक्कन", पृष्ठ ७१।

† वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आन्ध्रों तथा सातवाहनों के बाद प्रतिष्ठित हुए राजवंशों का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

ततः कोलिकिलभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति।
समाः षण्णवतिं ज्ञात्वा पृथिवीं तु समेष्यति॥

विष्णु पुराण का कथन है केलकिल नरेश यवन थे।

तेषूच्छिन्नेषु कैलकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति।

देखिये पार्जीटर—"डायनेस्टीज आफ् दि कलि एज", पृष्ठ ४८।

‡ रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की पत्रिका (इसका प्रस्तुत लेख में प्रयुक्त संक्षिप्त रूप जे. बी. बी. आर. ए. एस.), जिल्द ७, पृष्ठ ६६ इत्यादि।

इस राजवंश का प्रारम्भ अभी अज्ञात है। जायसवाल का विचार है कि ये लोग बाकाट नामक स्थान से आये थे। उन्होंने इसे ओड़छा राज्य के बागाट स्थान से जोड़ा है। * अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इलाहाबाद के निकट कौसम तथा उत्तर भारत के अन्य स्थान में पाये हुए सिक्के वाकाटक राजवंश के प्रथम प्रवरसेन तथा दूसरे राजाओं द्वारा प्रसारित किये गये थे, परन्तु जायसवाल के पाठ सन्दिग्ध हैं और उन्हें दूसरे विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। † वस्तुस्थिति यह है कि वाकाटकों ने कोई सिक्का नहीं चलाया था, परन्तु उन्होंने अपने सारे राज्य में गुप्तों की मुद्रा को ही प्रचलित किया था। अतः वाकाटक मूलतः एक उत्तरी राजवंश था, यह मत इससे सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरी ओर इस बात के कई प्रमाण हैं कि वे इस प्रदेश में दक्षिण से आये थे। उनके संस्कृत तथा प्राकृत उत्कीर्ण लेखों में इस प्रकार की कई शब्द योजनाएँ हैं, जिनमें पल्लव दान-पत्रों से स्पष्ट समानता दिखती है। ‡ दक्षिण के सातकर्णियों, कदम्बों और चालुक्यों के समान प्रारम्भिक वाकाटक अपने को "हारिती-पुत्र"—हारिती के पुत्र कहते थे। उन्होंने धर्म महाराज की उपाधि भी धारण की थी, जो कि केवल पल्लवों व कदम्बों जैसे कुछ दक्षिणी राजवंशों के लेखों में ही दिखलाई पड़ती है। × इसलिये यह निश्चित मालूम पड़ता है कि वाकाटक प्रारम्भ में दक्षिण से आये थे।

पुराणों में वाकाटकों की दो राजधानियों—पुरिका और चनका का उल्लेख मिलता है। + प्रकरण से मालूम पड़ता है कि पुरिका पहले नाग राजाओं की राजधानी थी और हरिवंश के ब्यौरे से मालूम पड़ता है कि यह ऋक्षवत् या सातपुड़ा पहाड़ की तराई में कहीं बसी हुई थी। ÷ इस प्रदेश में वाकाटक राजवंश के आगमन के पश्चात् उसकी यही राजधानी बनी थी। दूसरा नगर चनका उनकी पूर्व राजधानी रही होगी।

इस राजवंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति था, जिसका कि पुराणों और १६ वीं अजन्ता गुफा के उत्कीर्ण लेख में उल्लेख मिलता है। अजन्ता लेख में उसको द्विज या ब्राह्मण कहा है। ‡‡ बाद के लेखों में वाकाटकों की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसने बड़े युद्ध लड़ कर अपना सामर्थ्य बढ़ाया था। जब वह क्रुद्ध हो जाता था तो वह अजेय होता

---

* जायसवाल—'हिस्ट्री आफ इण्डिया', १५० ई. से ३५० ई., पृष्ठ ६७ इत्यादि।

† आल्तेकर—"कुछ तथाकथित नाग और वाकाटक सिक्के"—जर्नल आफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया (संक्षिप्त रूप जे. एन. एस. आई.), जिल्द ५, पृष्ठ १११।

‡ वाशीम दानपत्रों के विषय में लिखे अपने लेख में मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ। इपिग्राफिया इण्डिका जिल्द २६, पृष्ठ १४६।

× वही, जिल्द २६, पृष्ठ १४१।

+ विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्। भोक्ष्यते च समाः षष्टिं पुरिकां चनकां च वै॥ पार्जीटर 'डायनेस्टीज आफ् दि कलि एज'—पृष्ठ ५०।

"पुरीं काञ्चनकां च वै" स्थान पर जायसवाल के मतानुसार "पुरिकां चनकां च वै" यह पाठ स्वीकृत किया गया है जो कि अधिक उपयुक्त अर्थ देता है और प्रकरण से पुष्ट होता है।

÷ हरिवंश, विष्णुपुराण ३८,२२।

ऋक्षवन्तं समभितस्तीरे तत्र निरामये। निर्मिता सा पुरी राजा पुरिका नाम नामतः॥

विष्णु पुराण में तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या के उद्गम स्थान के रूप में ऋक्षवन्त का उल्लेख किया गया है इसलिये वह सतपुड़ा पर्वत के तुल्य है।

तापीपयोष्णीनिर्विन्ध्याप्रमुखा ऋक्षसम्भवाः॥

‡‡ देखिये मिराशी, अजन्ता की १६ वीं गुफा में वाकाटक उत्कीर्ण लेख (हैदराबाद आर्किआलाजिकल सिरीज संख्या १४) पृष्ठ १०।

था। उसके पास बहुत बड़ी अश्वसेना थी। जिसकी सहायता से वह शत्रुओं को पराजित किया करता था। दक्षिण से बस कर उसने अपने पूर्ववर्ती राजा सातवाहनों से विदर्भ का बड़ा भाग छीन लिया था। बराड़ के अकोला जिले में तरेहाला स्थान में मिले पोटिन धातु के सिक्कों से मालूम पड़ता है कि सातवाहन लोग २५० ई. में अपने पतन के समय तक विदर्भ पर राज्य करते रहे।* मध्यप्रदेश में वाकाटकों के संस्कृत तथा प्राकृत लेखों में वंशावलि विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रथम प्रवरसन से प्रारम्भ होती है, जिससे स्पष्ट होता है कि विन्ध्यशक्ति अपने राज्य के उत्तर में प्रसार के बाद भी अपनी राजधानी चनका से ही शासन करता था। उसका शासन काल सन् २५०–२७५ ई. के लगभग है।†

प्रथम प्रवरसेन वाकाटक शासन का असली संस्थापक था। उसने उत्तर में नर्मदा तक अपने शासन को प्रतिष्ठित किया था। उसने सम्पूर्ण सातों सोमयाग, कम से कम तीन वाजपेय यज्ञ और चार अश्वमेध, जिसके लिये उसने सभी दिशाओं में सफल अभियान किये थे, पूर्ण किये थे।‡ उसने अश्वमेध और वाजपेय सम्पूर्ण करने के पश्चात् सम्राट् की अद्वितीय उपाधि को धारण किया था।× पुराणों में भी उसके वाजपेय यज्ञों का उल्लेख किया गया है जिनमें उसने ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी थी।

उत्तर में नर्मदा तक वाकाटक राज्य के विस्तार से पुरिका जैसे मध्यवर्ती नगर में जो कि सम्भवत: सातपुड़ा पहाड़ की तराई में था, राजकीय राजधानी ले जाना आवश्यक होगया। पुराणों में कहा गया है कि इस स्थान पर कई पीढ़ियों से एक नाग वंश शासन कर रहा था + उत्कीर्ण लेखों से मालूम पड़ता है कि वर्तमान भिलसा के समीप प्राचीन विदिशा के राजवंश की एक शाखा थी। प्रतीत होता है कि प्रवरसेन ने नाग राजा को राज्यच्युत कर दिया था और उसका प्रदेश अपने अधिकार में ले लिया था। इसके बाद उसने चनका का त्याग कर पुरिका राजधानी बनायी थी।

प्रथम प्रवरसेन ने अपनी स्थिति भारशिवों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अधिक सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया था। भारशिव नाग जाति के थे। सम्भवत: वे प्रारम्भ में विदर्भ में राज्य करते थे क्योंकि मध्यप्रदेश के भण्डारा जिले के पौनी स्थान में भगदत्त नामक भार राजा का एक प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हुआ है जो द्वितीय ईस्वी शताब्दी का है।-|- बाद में उन्होंने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया और वहां वे बस गये। नागों की सुप्रसिद्ध राजधानी पद्मावती में भवनाग अधिराज के ताम्बे के सिक्के पाये गये हैं।∴ वाकाटक लेखों से ज्ञात होता है कि भारशिव कट्टर शैव थे। वे अपने कन्धों पर सर्वदा शिवलिङ्ग (सम्भवत: उसके त्रिशूल को) धारण करते थे और उनकी श्रद्धा थी कि उनका राजकीय ऐश्वर्य उसकी कृपा के फलस्वरूप ही था। उन्होंने दस अश्वमेध

* देखिये मिराशी तरेहाला में प्राप्त सातवाहन सिक्के (जे. एन्. एस्. आई. जिल्द २ पृष्ठ ८३१)

† पुराणों में कहा गया है कि वह छियानवे वर्ष जीवित रहा। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों के उपर्युक्त श्लोक देखिये।

‡ वाकाटक दानपत्र के प्रारम्भिक भाग को देखिये :—
अग्निष्टोमाप्तोर्यामोक्थ्यषोडश्यति–रात्रवाजपेयबृहस्पतिसवसाद्यस्क्रचतुरश्वमेधयाजिन: ....
वाकाटकानांमहाराज श्री प्रवरसेनस्य —।

× पार्जीटर–'डायनेस्टीज इ. पृष्ठ ५०। विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर के बारे में कहा गया है :—
"यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणै:" वाजपेय यज्ञ करने वाला व्यक्ति सम्राट की उपाधि लगाने में समर्थ हो जाता है। राजा वै राजसूयनेष्ट्वाभवति सम्राड् वाजपेयेन। शतपथ ब्राह्मण १. १. ३।

+ दौहित्र: शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्। पार्जीटर, डायनेस्टीज, पृष्ठ ४६।

-|- मिराशी, भार राजा भगदत्त का पौनी शिलालेख " एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २४, पृष्ठ ११ इ.।

∴ अल्तेकर "भवनाग के सिक्के एवं परिचय" जे. एन. एस. आई. जिल्द ५, पृष्ठ २१ इ.

यज्ञ किये थे और पराक्रम से प्राप्त भागीरथी के जल से अपना अभिषेक किया था।* इससे स्पष्ट होता है कि भारशिवों ने मध्यभारत से कुषाणों को भगा दिया था और उनसे भगवान शिव के पवित्रस्थान प्रयाग और काशी का उद्धार किया था। भारशिवों का महाराज भवनाग प्रथम प्रवरसेन का समकालीन था। उसने अपनी पुत्री का विवाह गौत्तमीपुत्र से किया था जो कि वाकाटक सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र था। उत्तर के शक्तिशाली नाग राजकुल ने हुए इस सम्बन्ध मे वाकाटकों की शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी होगी क्योंकि गौत्तमीपुत्र के उत्तराधिकारियों के सभी दानपत्रों में उसका उल्लेख है। पुराणों में कहा गया है कि प्रथम प्रवरसेन ने ६० वर्ष तक दीर्घकालीन शासन किया था। उसके द्वारा चार अश्वमेध और कई वाजपेय यज्ञ सम्पन्न किये जाने से यह काल असम्भव नहीं जान पड़ता। सम्भवतः उसने २७० ई. से ३३० ई. तक शासन किया था।

पुराणों के अनुसार प्रथम प्रवरसेन के चार पुत्र थे और सभी राजा बने थे।† अभी हाल तक पुराणों का यह विधान अविश्वसनीय मालूम पड़ता था क्योंकि इसका कोई प्रमाण न था कि इतने जल्दी वाकाटक वंश की उपशाखायें फैल गयी थीं। १९३९ में वाशीम ताम्रपत्र के मिल जाने से मालूम हुआ कि वाकाटक दान-पत्रों में उल्लिखित गौतमीपुत्र के अतिरिक्त प्रवरसेन का एक और पुत्र था, जिसका नाम सर्वसेन था।‡ मैंने यह प्रदर्शित किया है कि अजन्ता के उत्कीर्ण लेखों में भी उसके नाम का उल्लेख हुआ है।× इसलिये यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि प्रवरसेन प्रथम का विस्तीर्ण साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद उसके चारों पुत्रों में बांट दिया गया। ज्येष्ठ शाखा पुरानी राजधानी पुरिका में शासन करती रही। द्वितीय पुत्र सर्वसेन ने वत्सगुल्म के पवित्र नगर में, जो कि अकोला जिला का आधुनिक वाशीम गांव है अपने शासन की प्रतिष्ठा की थी। अवशिष्ट दो लड़के जिनके नाम अभी भी अज्ञात हैं सम्भवतः गोदावरी के दक्षिण में कुन्तल के देश (दक्षिण महाराष्ट्र देश और उत्तर कर्णाटक) पर राज्य करते थे। इन दो शाखाओं के लेख अबतक प्रकाश में नहीं आयें हैं। शायद ये अल्पजीवी रहे थे। सम्भवतः इनका अस्तित्व राष्ट्रकूट वंश ने नष्ट कर दिया था जिसकी स्थापना ३७५ ई. में उत्तरी कृष्णा घाटी में मानाङ्क ने की थी।

मुख्य शाखा :— प्रवरसेन के ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र की अपने पिता के समय में ही अकालमृत्यु हो गयी थी। इसलिये प्रवरसेन का स्थान उसके पौत्र रुद्रसेन ने सन् ३३० ई. के ग्रहण किया। बाद में वाकाटक लेखों में प्रथम रुद्रसेन भारशिवों के महाराजा भवनाग की पुत्री का लड़का बतलाया गया है। जिसका अर्थ है कि उसको पद्मावती के नागों की शक्तिसम्पन्न सहायता उपलब्ध थी। उसके शासन का केवल एक उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुआ है, जो चान्दा जिले के देवटेक स्थान में है। यह एक बड़ी प्रस्तर शिला पर पूर्ववर्ती लेख को, जोकि सम्भवतः पुण्यश्लोक अशोक के महामात्र द्वारा पशुओं के बन्धन व वध का निषेध करते हुये प्रसारित किया गया था, मिटाकर लिखा गया है। शिला पर लिखा वाकाटक उत्कीर्ण लेख कहता है कि यह स्थान जहां पर शिला लगायी गयी है रुद्रसेन राजा का धर्मस्थान (पूजा का स्थान) है।+ रुद्रसेन भीषण महाभैरव देव का, जिसे दक्ष के यज्ञ के विध्वंस के लिये शिव ने पैदा किया था, परम भक्त था। उसे

---

*वहीं देखिये :—अंसभारसन्निवेशित शिवलिङ्गोद्वहन शिव सुपरितुष्टसमुत्पादित राजवंशानाम्पराक्रमाधिगत भागीरथ्यमल जलमूर्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातानां भारशिवानां महाराज श्री भवनागदौहित्रस्य आदि.

पट्टन ताम्रपत्र, एपि. इण्डिका, जिल्द २३, पृष्ठ ८५।

†प्रवीर (प्रवरसेन प्रथम) का उल्लेख करने के बाद पुराणों में कहा गया है :—तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः॥ डायनेस्टीज आदि, पृष्ठ ५०।

‡एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २६, पृष्ठ, २६ इ.।

× हैदराबाद आर्कियालाजिकल सिरीज, संख्या १४, पृष्ठ ३ इ.।

+ मिराशी, "देवटेक उत्कीर्ण लेख पर एक नया प्रकाश" आठवीं अखिल प्राच्यविद्या परिषद् की कार्यवाही, पृष्ठ ६१६ इ०

अशोक द्वारा प्रचारित अहिंसा के सिद्धांत में किसी प्रकार की आस्था नहीं थी। इसलिये उसे उसी प्रस्तरशिला पर जिस पर महान् बौद्ध सम्राट् द्वारा पशुओं के बन्धन व बध की निषेधात्मिका उद्घोषणा लगी थी, अपना उत्कीर्ण लेख अंकित करवाने में कोई झिझक नहीं थी।

प्रथम रुद्रसेन शक्तिशाली गुप्त नरेश समुद्रगुप्त का समकालीन था। इसलिये उसके समय में नर्मदा से उत्तर के देश में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। समुद्रगुप्त वैशाली के लिच्छवियों के शक्तिपूर्ण सहयोग को प्राप्त कर उत्तरी भारत की विजय और प्रभुत्व के कार्य पर अग्रेसर हो गया था। उसके इलाहाबाद के स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख में आर्यावर्त्त अथवा नर्मदा से उत्तर के उन नरेशों की लम्बी सूची दी गयी है जिन्हें उसने बलात् गद्दी से उतार दिया था और जिनके राज्यों पर उसने प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।* इन राजाओं में नागदत्त, गणपति नाग और नागसेन आदि नाग शासक थे। इनमें से सम्भवतः गणपति नाग पद्मावती का तत्कालीन शासक था क्योंकि उसके सिक्के वहां प्राप्त हुए हैं। वह स्पष्टतया भवनाग का उत्तराधिकारी था। दूसरे नाग राजा सम्भवतः मध्य भारत की छोटी रियासतों पर राज्य कर रहे थे। हमें यह ज्ञात नहीं है कि रुद्रसेन प्रथम ने नर्मदा के पारवर्ती अपने सम्बन्धियों की मदद के लिये क्या कदम उठाये, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनकी पूर्ण पराजय एवं पतन से उसे उत्तरी भारत के एक शक्तिशाली संघराज्य की मदद मिलनी बन्द हो गयी।

उत्तरी भारत के नरेशों को पराजित कर समुद्रगुप्त ने अपनी विजययात्रा दक्षिण में प्रारम्भ की। उसका आक्रमण सबसे पहले कोसल अर्थात् छत्तीसगढ़ के शासक महेन्द्र को अनुभव हुआ। यह राजा सम्भवतः पहले अपने राज्य के शक्तिशाली पड़ोसी वाकाटकों का मांडलिक (करद सामन्त) था। अन्त में महेन्द्र पराजित हो गया † और उसे अपने प्रदेश में से होकर महाकान्तार (आधुनिक बस्तर जिला) के व्याघ्रराजा के राज्य और दूसरे दक्षिणी राजाओं पर आक्रमण करने के लिये समुद्रगुप्त को अनुमति देनी पड़ी।

इन गुप्त विजयों ने वाकाटक वंश की इस मुख्य शाखा की शक्ति व प्रतिष्ठा को बड़ी भीषण क्षति पहुंचायी। महाकान्तार के व्याघ्रराजा, जो सम्भवतः नल वंश का था, कुराळ का महाराज, पिष्टपुर (आधुनिक पीठापुर) का महेन्द्र गिरि और बहुत से दूसरे राजाओं ने वाकाटक प्रभुत्व को छोड़ कर गुप्त साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली। इसलिये इस मुख्य शाखा का राज्य उत्तर विदर्भ में अर्थात् नर्मदा और इन्ध्याद्रि पर्वतराजि के मध्यवर्ती प्रदेश में मर्यादित हो गया।

सन् ३४५ ई. से रुद्रसेन का स्थान उसके पुत्र प्रथम पृथिवीषेण ने लिया। उसके उत्तराधिकारियों के दानपत्रों में वह महेश्वर का परम भक्त घोषित किया गया है और उसमें सचाई, ऋजुता, दया, संयम और दान के साथ-साथ वीरता एवं राजनीतिक बुद्धिमत्ता के श्रेष्ठ गुण कहे गये हैं। उसकी तुलना उक्त गुणों से सुप्रसिद्ध प्राचीन पाण्डव युधिष्ठिर से भी की गयी थी।‡ प्रतीत होता है कि प्रथम पृथिवीषेण ने शान्तिपूर्ण नीति प्रचलित रखी जिससे उसकी प्रजा को सुख और समृद्धि मिली। उसके राज्य के उत्तरी सीमाओं के पार गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त अपने

---

* फ्लीट "गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्" पृष्ठ ७.

† दक्षिणी कोसल में गुप्त प्रभुत्व स्वीकार किया जाता था यह बात महेन्द्र के उत्तराधिकारियों द्वारा गुप्त सम्वत् के प्रयोग से स्पष्ट होती है। रा.ब. हीरालाल द्वारा सम्पादित भीमसेन द्वितीय के आरंग पत्र देखिये, एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द ६, पृष्ठ ३४२ इ. और उस के काल के विषय में मेरा संशोधन। वही जिल्द २६ पृष्ठ २२८.

‡ देखिये मेरे द्वारा सम्पादित पट्टन पत्र (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २७, पृष्ठ ८५)—अत्यन्त माहेश्वरस्य सत्यार्जवकारुण्य शौर्य विक्रमनय विनय माहात्म्य धीमत्त्व पात्रगतभक्तित्वधर्मविजयित्व मनोनैर्मल्यादि गुणैः समुपेतस्य वर्षशतमभिवर्धमानकोशदण्ड साधन सन्तान पुत्र पौत्रिण: युधिष्ठिर वृत्तेर्वाकाटका नाम्महाराजश्री पृथिवीषेणस्य, इत्यादि.

पड़ोसियों को पराजित कर एवं उनके राज्यों पर अधिकार कर आक्रमणात्मक नीति प्रचलित कर रहे थे। पृथिवीषेण हेतुपूर्वक इन युद्धों में फंसने से बचे रहे और दक्षिण में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने और प्रजा की परिस्थिति सुधारने में लगे रहे। अधिकृत वाकाटक लेखों में उसकी नीति के परिणाम निम्न शब्दों में लिखे गये हैं: "पृथिवीषेण के पास, निरन्तर प्राप्त होने वाला कोश और सेना थी जो कि पिछले सौ वर्षों से संगृहीत हो रहे थे।"

प्रथम पृथिवीषेण ने दीर्घ काल तक शासन किया जो सम्भवत: सन् ४०० ई. में समाप्त हुआ। इसके शासन की समाप्ति से कुछ वर्ष पूर्व सन् ३९५ में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने, जो कि उस समय तक उत्तर भारत के बड़े भाग का सार्वभौम प्रभु बन गया था, मालवा और काठियावाड़ के शक क्षत्रपों पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध के कारण अज्ञात हैं। क्षत्रप वाकाटकों के उत्तरी पड़ोसी थे। इन्होंने मालवा, उत्तरी गुजरात और काठियावाड़ के उपजाऊ प्रान्तों पर निरन्तर तीन शताब्दी से अधिक कब्जा रखा था और वे अत्यन्त शक्तिशाली बन गये थे। इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि क्षत्रपों के विरुद्ध अपने आक्रमण में चन्द्रगुप्त ने अपने शक्तिशाली पड़ोसी वाकाटक नरेश प्रथम पृथिवीषेण की मैत्री चाही। गुप्तों और वाकाटकों का संयुक्त बल पश्चिमी क्षत्रपों का उन्मूलन करने में समर्थ था, फलत: वे इसी समय से इतिहास के गर्भ में विलीन हो गये। उसके बाद चन्द्रगुप्त ने मालवा पर अधिकार कर लिया और सम्भवत: उसने उज्जयिनी को अपने विस्तीर्ण साम्राज्य की दूसरी राजधानी बनाया। वाकाटकों से हुई राजनीतिक मैत्री को मजबूत करने के लिये उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह प्रथम पृथिवीषेण के पुत्र वाकाटक राजकुमार द्वितीय रुद्रसेन से कर दिया। मालवा और विदर्भ के शासक राजवंशों का यह वैवाहिक सम्बन्ध शुङ्गों के समय हुई पांच शताब्दी पूर्व की ऐसी घटना की स्मरण कराता है। कालिदास का नाटक 'मालविकाग्निमित्र' जो कि पिछली घटना का चित्रण करता है सम्भवत: उज्जयिनी में प्रभावती गुप्ता और द्वितीय रुद्रसेन के विवाह के अवसर पर सर्वप्रथम रंगमंच पर प्रदर्शित किया गया था।*

अपने पिता के समान ही प्रथम पृथिवीषेण भी शैव था। उसके काल में वाकाटक राजधानी नागपुर से २८ मील दूर रामटेक के समीप नन्दिवर्धन, आधुनिक नन्दर्धन या नगरधन के समीप ले जायी गयी। यह स्थान घुघसगढ़, भिवगड आदि सुदृढ़ सुरक्षित किलों से घिरा होने से राजकीय राजधानी बनाये जाने के लिये योग्य समझा गया।†

प्रथम पृथिवीषेण के स्थान पर उसका पुत्र एवं प्रसिद्ध गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त उर्फ विक्रमादित्य का जामात द्वितीय रुद्रसेन राजगद्दी पर बैठा। उसके सब पूर्वज शैव थे किन्तु यह राजा चक्रपाणि (विष्णु) का भक्त था और अपनी समृद्धि के लिये वह उसी की कृपा को कारण मानता था। धार्मिक श्रद्धा में यह परिवर्तन सम्भवत: उसकी धर्मपत्नी प्रभावती गुप्ता के प्रभाव के कारण हुआ था जो कि अपने पिता के समान विष्णु की भक्त थी। वह रामगिरि की टेकड़ी पर श्री रामचंद्र के पादमूलों (पदचिह्नों) की पूजा करती थी और बाद में उसने कुछ दान दिये थे।‡ यह रामगिरि ही वर्तमान रामटेक है जो नागपुर के समीप तीर्थयात्रा का एक सुप्रसिद्ध स्थान है। यह उस समय की वाकाटक राजधानी नन्दिवर्धन × से लगभग ३ मील की दूरी पर था।

राजगद्दी पर बैठने के बाद जल्दी ही रुद्रसेन द्वितीय का स्वर्गवास होगया। उसने सम्भवत: दो लड़के दिवाकरसेन और दामोदरसेन अपने पीछे छोड़े थे जो कि उसके बाद क्रमश: गद्दी पर बैठे। अपने पिता की मृत्यु के समय दिवाकरसेन

---

* मिराशी, 'कालिदास' (हिन्दी में) पृष्ठ १८३-४

† वेल्स्टेड, "मध्यप्रदेश के वाकाटक और उनका प्रदेश" जे. ए. एस. बी. जिल्द २६, पृष्ठ १५६ इ.

‡ प्रभावती गुप्ता के ऋद्धपुर पत्रों में वितरण के स्थान के रूप में रामगिरि का उल्लेख किया गया है। (रामगिरिस्वामिन: पादमूलात्) जे. ए. एस. बी. (एन. एस.), जिल्द २०, पृष्ठ ५८.

× मिराशी 'रामगिरि का स्थान' 'नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल' सं. ६ पृष्ठ ६ इ.

अल्पवयस्क था। रानी प्रभावती गुप्ता ने अपने छोटे पुत्र की अभिभाविका (रीजंट) के रूप में राज्य के कार्यों का संचालन किया। बालक राजा के शासन के १३ वें वर्ष में नन्दिवर्धन से प्रसारित अपने पूना ताम्रपत्र से * यह सर्वप्रथम मालूम पड़ा है कि वह सुप्रसिद्ध गुप्त राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय की सुपुत्री थी। और इससे वाकाटकों का काल निश्चित हो गया है। † इस लेख के प्रारम्भ में दूसरे वाकाटक ताम्रपत्र के समान वाकाटक वंशावलि न देते हुए गुप्त वंशावलि दी गई है जिससे स्पष्ट है कि प्रभावती गुप्ता के शासन काल में वाकाटक राजदरबार में गुप्त प्रभाव प्रबल था। चन्द्रगुप्त ने स्पष्टतया अपनी पुत्री को अपने राज्य के शासन कार्य में सहायता देने के लिये अपने कुछ विश्वासपात्र अधिकारी और राजनीतिज्ञ भेजे थे। इन में से एक सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि कालिदास था जो कुछ समय तक वाकाटक राजधानी में रहा होगा। सम्भवतः उसने अपने विदर्भ के प्रवास में अपने विश्वप्रसिद्ध काव्य मेघदूत की रचना की क्योंकि इसमें उसने निर्वासित यक्ष के निवासस्थान के रूप में रामगिरि का उल्लेख किया है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि वह स्थान नागपुर के समीप रामटेक ही है।

प्रतीत होता है कि दिवाकरसेन भी अल्पायु ही रहा। उसके स्थान पर राजगद्दी पर उसका भाई दामोदरसेन बैठा जिसने अपने यशस्वी पूर्वज के नाम पर गद्दी पर बैठते समय अपना प्रवरसेन नाम रखा। इस राजा के कुछ दान-पत्र हमें मिले हैं। इन में उसके मध्यप्रदेश के अमरावती, वर्धा, नागपुर, बैतूल, भण्डारा और बालाघाट जिलों के खेतों व गांवों के दानों का उल्लेख किया गया है। इनमें सबसे बाद का २७ वें शासन वर्ष का ‡ है जिसका पट्टन ताम्रपत्रों में उल्लेख किया गया है। इस प्रकार उसने सन् ४२० से ४५० ई. तक लगभग ३० वर्षों तक दीर्घ शासन किया।

अपने शासन के ११ वें वर्ष तक द्वितीय प्रवरसेन पुरानी राजधानी नन्दिवर्धन से शासन करता रहा क्योंकि उसके बेलोरा ताम्रपत्र उसी वर्ष में उसी नगर से × वितरित किये गये थे। उसके बाद उसने प्रवरपुर नामक एक नये नगर की स्थापना की जिसे उसने अपनी राजधानी बनाया। प्रवरपुर से वितरित सबसे पुराना दानपत्र १८ वें शासन वर्ष ┼ का है जिससे पता लगता है कि राजधानी का परिवर्तन ११ वें से १६ वें शासन वर्ष के मध्य में हुआ होगा। प्रवरपुर बहुधा वर्धा जिले का पवनार ही है। द्वितीय प्रवरसेन शम्भु का भक्त था। ताम्रपत्रों में कहा गया है कि इसकी कृपा से उसने पृथ्वी पर कृतयुग या स्वर्ण युग की प्रतिष्ठा की थी। वह एक उदार शासक था क्योंकि उसके दर्जन भर दान-पत्र अभी तक हस्तगत हुए हैं। कालिदास जैसे महान् कवि के सम्पर्क में आने से स्वभावतः उसने काव्य रचना की रुचि प्राप्त कर ली थी। यद्यपि वह शैव था परन्तु उसने सम्भवतः अपनी माता प्रभावती गुप्ता के कहने पर राम की प्रशंसा में प्राकृत 'काव्य सेतुबन्ध' की रचना की थी। इस काव्य की संस्कृत कवियों और आलंकारिकों ने बड़ी प्रशंसा की।

सन् ४५० ई. के लगभग नरेन्द्रसेन अपने पिता द्वितीय प्रवरसेन के स्थान पर गद्दी पर बैठा। इसका निर्देश उसके पुत्र द्वितीय पृथिवीषेण ÷ के अपूर्ण बालाघाट ताम्र-पत्रों में उपलब्ध होता है। उसने कुन्तल की

---

* एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृष्ठ ३६ इ.। ये पत्र यद्यपि सुदूरवर्ती पूना में पाये गये हैं, परन्तु जैसा कि मैं 'प्रवरसेन द्वितीय के कोठुरक दानपत्र' सम्बन्धी अपने लेख में प्रदर्शित कर चुका हूं ये मूलतः हिंगनघाट तहसील के हैं। एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २६, पृष्ठ १५८।

† वाकाटक भूदान पत्रों में प्रभावती गुप्ता के पिता के रूप में देवगुप्त का उल्लेख है। यह भ्रम से ८ वीं शताब्दी का तन्नामक गुप्त राजा समझा जाता था। देखिये 'गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्', भूमिका, पृष्ठ १५.

‡ मिराशी 'द्वितीय प्रवरसेन का पट्टन ताम्रपत्र' एपिग्राफिया इण्डिका', जिल्द २३, पृष्ठ ८३ इ.

× मिराशी "द्वितीय प्रवरसेन के दो अपूर्ण दान-पत्र" वही, जिल्द २४, पृष्ठ २६० इ.

┼ फ्लीट "द्वितीय प्रवरसेन" के चम्मक ताम्रपत्र," गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्' पृष्ठ २३५ इ.

÷ कील्हार्न, 'द्वितीय पृथिवीषेण के बालाघाट ताम्र-पत्र' एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृष्ठ २६७ इ.

राजकुमारी अभिजत भट्टारिका से विवाह किया था। वह सम्भवतः मानपुर की राष्ट्रकूट वंश की थी जिसका शासन दक्षिण महाराष्ट्र पर, जिसमें कम से कम सातारा, शोलापुर जिले और कोल्हापुर जिले सम्मिलित थे-प्रतिष्ठित था। * कोल्हापुर के समीप एक गांव में प्राप्त पाण्डरङ्गपल्ली ताम्र-पत्रों में इस राजवंश के संस्थापक मानाङ्क को समृद्ध कुन्तल † प्रदेश का शासक बतलाया गया है। इस राजवंश का बड़ा भारी प्रभाव था और यदा-कदा इसकी वाकाटक वंश की वत्सगुल्म शाखा से टक्कर हो जाती थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में यह गुप्त प्रभाव क्षेत्र में आगया था और जनश्रुति के अनुसार इसका राज्य शासन गुप्त सम्राट् के निर्देशानुसार चलता था। प्रसिद्ध कवि कालिदास तत्कालीन कुन्तल नरेश के, जो कि सम्भवतः देवराज था, ‡ राज दरबार में राजदूत के रूप में भेजा गया था। नरेन्द्रसेन द्वारा विवाहित अभिजत भट्टारिका सम्भवतः देवराज के पुत्र अविधेय की पुत्री थी जिसका उल्लेख पाण्डरङ्गपल्ली के ताम्रपत्रों में किया गया है। यह सम्भवतः सन् ४४० ई. से ४५५ ई. तक हुआ था।

नरेन्द्रसेन ने आक्रमणात्मक नीति प्रचलित रखी और पूर्व तथा उत्तर में विजय प्राप्त की। उसके पुत्र द्वितीय पृथिवीषेण के बालाघाट ताम्रपत्रों में कहा गया है उसने अपनी शक्ति से अपने शत्रुओं को पराजित किया और उसका आदेश कोसल, मेकला और मालवा के शासकों द्वारा ┼मान्य किया जाता था। इन प्रदेशों में से मालवा पश्चिमी क्षत्रपों के पतन के बाद से उस समय तक गुप्तों के प्रत्यक्ष शासन प्रबन्ध के अन्तर्गत था। पांचवी शताब्दी के मध्य तक हूणों के आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य अस्थिर हो गया था। यद्यपि युवराज स्कन्दगुप्त ने इन आक्रमणों की लहर को रोकने के लिये बड़ी वीरता के साथ संग्राम किया था तो भी देश भर में अशान्ति और अनिश्चितता का भाव व्याप्त हो गया था। इसी समय के लगभग कुमारगुप्त का स्वर्गवास हो गया। उसके पुत्र स्कंदगुप्त को पुष्यमित्र तथा दूसरे शत्रुओं के कारण गम्भीर संकटों का सामना करना पड़ा। मध्य भारत के मन्दसौर स्थान में स्कन्दगुप्त के पितृव्य (चाचा) गोविन्दगुप्त का उत्कीर्ण लेख ·|· प्राप्त हुआ है। इसमें गुप्त सम्वत् के स्थान पर विक्रमी सम्वत् का उल्लेख किया गया है और चन्द्रगुप्त के तुरन्त बाद गोविन्दगुप्त का नामोल्लेख किया गया है। इस लेख में तत्कालीन नृपति स्कन्दगुप्त के नाम का अभाव उल्लेखनीय है। इससे स्पष्ट है कि गोविन्दगुप्त ने अपने भाई की मृत्यु के बाद भतीजे की सार्वभौम प्रभुसत्ता को मानने से इन्कार कर दिया था। सम्भवतः वह अपने दक्षिणी पड़ोसी वाकाटक नरेन्द्रसेन से मिल गया। बालाघाट ताम्र पत्रों के लेखानुसार वह उसकी आज्ञा शिरोधार्य मानता था।

अमरकण्टक के समीप का प्रदेश मेकला था जहां से निकलने वाली नर्मदा को मेकलसुता कहा जाता है। यहां से इस राजवंश का एक ताम्र-पत्र हस्तगत हुआ है। × इससे स्पष्ट होता है कि इस दान-पत्र को देने वाला एवं अपने को पुराणों के योद्धा पाण्डवों का वंशधर कहने वाला राजा भरतबल मेकला प्रदेश पर राज्य कर रहा था और वह नरेन्द्र-नामक सम्राट् की सार्वभौम प्रभु सत्ता को अङ्गीकार करता था। यह शासक वाकाटक नरेन्द्रसेन के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता।

---

* १९२९ वर्ष की मैसूर आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ १९७ इ.। 'मानपुर के राष्ट्रकूट' शीर्षक लेख में मेरे द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को देखिये। 'अनाल्स आफ दि भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट', जिल्द २५, पृष्ठ ३६ इ.

† वही, 'पाण्डरङ्गपल्ली ताम्र पत्रों की प्रथम पंक्ति में' सविदर्भाश्मकविजेता मानाङ्कनृपतिः श्रीमत्कुन्तलानां प्रशासिता' यह उल्लेख है।

‡ मेरा 'मानपुर के राष्ट्रकूट' शीर्षक लेख देखिये।

┼कोसलामेकलामालवाधिपति [भि*] रभ्यर्चित शासनस्य प्रभावप्रणतारियासनस्य वाकाटकानाम्महाराज श्री नरेन्द्रसेनस्य'। वही ताम्रपत्र देखिये।

·|· १९२२-२३ की ग्वालियर आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ १८७.

× भारतकौमुदी, जिल्द १, पृष्ठ २१५ इ.

कोसला निस्सन्देह दक्षिण कोसल या छत्तीसगढ़ है जिसमें दुर्ग, रायपुर और बिलासपुर के आधुनिक जिले सम्मिलित हैं। कोसल का राजा वाकाटकों का पूर्वी पड़ोसी था। जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि ईसा की चौथी शताब्दी में इस प्रदेश पर राज्य करने वाले महेन्द्र को समुद्रगुप्त ने पराजित कर दिया था और उसको गुप्त सम्राट् की सार्वभौम सत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी। इस समय गुप्त शक्ति क्षीण हो जाने से कोसलानरेश ने भी अपनी वफादारी वाकाटक नरेन्द्रसेन में हस्तान्तरित कर दी होगी।

नरेन्द्रसेन के शासन का अन्त सन् ४७० ईस्वी में हुआ होगा। इस समय के लगभग नल राजा भवदत्त वर्मा ने वाकाटक प्रदेश पर आक्रमण किया था। पुराणों के अनुसार नल राजा कोसला पर राज्य करते थे* और यह बात उनके उत्कीर्ण लेखों तथा सिक्कों की उपलब्धि से पुष्ट होती है। नल राजवंश के तीन नरेशों अर्थात् वराह, भवदत्त और अर्थपति के सोने के सिक्के बस्तर जिले † के एडेङ्गा और कोण्डेगाव तहसील में पाये गये हैं। सम्भवतः इन में से वराह सर्वप्रथम राज्य करता था उसे नरेन्द्रसेन ने पराजित कर दिया होगा। प्रतीत होता है कि उसके पुत्र भवदत्तवर्मन ने इसका बदला लिया। उसने वाकाटक प्रदेश पर आक्रमण किया और पुरातन वाकाटक राजधानी नन्दिवर्धन तक बढ़ आया और उस पर कुछ समय तक अधिकार रखा। अमरावती जिले के ऋद्धपुर स्थान में प्राप्त एक उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि राजा भगदत्त ने प्रयाग के पवित्र तीर्थ (इलाहाबाद) में अपने तथा अपनी पत्नी के धार्मिक गुणों की अभिवृद्धि के लिये एक गांव दान में दिया था। ‡ वास्तव में ये पत्र उसके पुत्र अर्थपति ने, नन्दिवर्धन से × प्रसारित किये थे। इस उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट होता है कि वाकाटक राज्य के कुछ भाग पर नलों ने अधिकार कर लिया था।

वाकाटक भी स्पष्टतया अपना पराभव स्वीकार करते हैं। बालाघाट के ताम्र पत्रों में कहा गया है कि नरेन्द्रसेन के पुत्र द्वितीय पृथिवीषेण ने अपने अस्तंगत वंश का अभ्युदय किया था। + प्रतीत होता है कि इस समय इसे विवश होकर पूर्व की ओर जाना पड़ा और पद्मपुर में अपनी राजधानी स्थापित करनी पड़ी। यह नगर भण्डारा जिले का आमगांव का समीपवर्ती आधुनिक पद्मपुर है जहां से एक अपूर्ण वाकाटक ताम्रपत्र प्रसारित किया जानेवाला था। ·|· पूर्वी विदर्भ में अपनी इस राजधानी से पृथिवीषेण ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और कुछ समय के बाद उसने अपने पैतृक प्रदेश से शत्रु को निकाल दिया। वह शत्रुप्रदेश में भी युद्ध करता चला गया और जैसा कि विजगापट्टम जिले की भू. पू. जयपोर एजन्सी के पोडा गढ़ में प्राप्त अर्थपति के भाई स्कन्दवर्मन के उत्कीर्ण लेख में स्वीकार किया गया है उसने नलों की राजधानी पुष्करी पर भी हमला कर उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया। .·.

पृथिवीषेण द्वितीय ने जल्दी ही उत्तर में भी अपनी स्थिति सुधार ली क्योंकि मध्य भारत के पुराने अजयगढ़ व जासो राज्यों के गंज तथा नचना स्थानों में मिले दो उत्कीर्ण लेखों में उसके मांडलिक व्याघ्रदेव ने उसकी सार्वभौम सत्ता

---

* कोसलायां तु राजानो भविष्यन्ति महाबलाः। मेघा इति समाख्याता बुद्धिमन्तो नवैव तु। नैषधाः पार्थिवाः सर्वे भविष्यन्त्यामनुक्षयात्। नलवंश प्रसूतास्ते वीर्यवन्तो महाबलाः॥ पार्जीटर "डायनेस्टीज" आदि, पृष्ठ ५१

† मिराशी, 'नल राजवंश के तीन नरेशों के सोने के सिक्के', जे. एन. एस. आई., जिल्द १, पृष्ठ २६ इ.

‡ गुप्ते, 'भवदत्तवर्मन के ऋद्धपुर के ताम्रपत्र' एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द १९, पृष्ठ १०० इ.

× जे. एन. एस. आई. जिल्द १, पृष्ठ ३० इ.

\+ द्वि. (नि) मग्नवंशस्योद्धर्तुः वाकाटकानाम्परम भागवत महाराज-श्री पृथिवीषेणस्य। एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द ९, पृष्ठ २७१.

·|· मिराशी, "दुर्ग में प्राप्त एक अपूर्ण वाकाटक ताम्र-पत्र" एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द २२, पृष्ठ २०७ इ.

.·. श्रीनलान्वयमुख्यस्य विक्रमक्षपितद्विषः। नृपतेर्भवदत्तस्य सत्पुत्रेणान्यसंस्थिताम्। भ्रष्टामाकृष्य राजर्द्धि शून्यामावस्य पुष्करीम्।... पादमूल कृतं विप्णा राजा श्री स्कन्दवर्म्मणा॥ एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द २६, पृष्ठ १५६ इ.

को स्वीकार किया है। सम्भवत: यह व्याघ्रदेव उच्चकल्प राजवंश का रहा होगा क्योंकि समीपवर्ती राज्य नचोप में इस वंश के कई उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें महाराजा व्याघ्र का उल्लेख मिलता है। इस व्याघ्र का पुत्र जयनाथ सन् ४९० ई. से सन् ५१० * ईस्वी तक राज्य कर रहा था इसलिये व्याघ्र का काल ४७० ई. से ४९० ईस्वी तक रहा होगा। इस प्रकार व्याघ्र द्वितीय पृथिवीषेण का समवर्ती था।

द्वितीय पृथिवीषेण, वाकाटक वंश की इस मुख्य शाखा का अन्तिम ज्ञात राजा है। सम्भवत: उसका शासन सन् ४९० में समाप्त हुआ होगा। उसके बाद सम्भवत: उसका राज्य वत्सगुल्म शाखा के हरिषेण ने अपने अधिकार में ले लिया क्योंकि उसने सभी दिशाओं में अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। इस प्रकार डेढ़ सौ वर्षों से अधिक (सन् ३३० से ४९० ईस्वी तक) के उत्तम राज्य शासन के बाद वाकाटक राजवंश की इस मुख्य शाखा का अस्त हो गया।

वत्सगुल्म शाखा—सन् १९३९ में वाशीम ताम्रपत्र के मिलने तक इस शाखा का अस्तित्व अज्ञात था। इस शाखा के कई सदस्यों के नाम अजन्ता के गुफा लेखों में उल्लिखित पाये गये थे परन्तु उस लेख के दुर्भाग्यपूर्ण बिगाड़ से उनके नाम गलत पढ़े गये थे। अब वे नाम ठीक तरह से पढ़े गये हैं और यह स्पष्ट हो चुका है कि अजन्ता और इन्ध्याद्रि पर्वतराजि के दक्षिणवर्ती प्रदेश में राज्य करने वाले नरेश वाकाटक वंश † की ही एक विभिन्न शाखा के थे।

इस शाखा का संस्थापक सर्वसेन था जिसका वाशीम के ताम्रपत्र एवं अजन्ता के उत्कीर्ण लेख दोनों में ही प्रवरसेन के पुत्र के रूप में उल्लेख किया गया है। सम्भवत: वह उसके छोटे लड़कों में से एक था। प्रतीत होता है कि उसके शासन के अन्तर्गत प्रदेश इन्ध्याद्रि पर्वतराजि के दक्षिण से लेकर गोदावरी तक फैला हुआ था। उसने वत्सगुल्म को, अकोला जिले में वर्तमान वाशीम को, अपनी राजधानी बनाया था। इसके चारों ओर का प्रदेश वत्सगुल्म कहलाता था जिसका वात्स्यायन के कामसूत्र ‡ में उल्लेख किया गया है। वत्सगुल्म एक पवित्र तीर्थ समझा जाता था और स्थानीय माहात्म्य के अनुसार इस कथन का कारण यह था कि ऋषि वत्स ने अपनी तपस्या से देवताओं के समूह को नीचे उतरने और अपनी कुटिया के समीपस्थ क्षेत्र में बसने के लिये विवश किया था। वाकाटक काल में यह विद्या और संस्कृति का बड़ा केन्द्र बन गया और श्रेष्ठ काव्य रीति के लिये 'वच्छोमी' नाम दिया जाने लगा।

वाशीम ताम्रपत्र+ से हमें यह मालूम पड़ता है कि सर्वसेन ने धर्ममहाराज की उपाधि को प्रचलित रखा जो कि उसके पिता प्रवरसेन ने दक्षिण भारत की प्रथा के अनुसार ग्रहण की थी। अजन्ता के उत्कीर्ण लेख में उसका जो वर्णन हुआ है वह पूर्णतया इन्द्र के अनुसार है। सर्वसेन प्राकृत काव्य-हरिविजय के लेखक के रूप में प्रसिद्ध है जिसकी संस्कृत कवियों तथा आलंकारिकों ने बड़ी प्रशंसा की है। उसने कई प्राकृत गाथायें भी लिखी थीं जिन में से कुछ गाथा 'गाथा-सप्तशती' में सम्मिलित की गई हैं। सर्वसेन का काल सम्भवत: सन् ३३० से ३५५ ईस्वी तक रहा होगा।

सर्वसेन के बाद विन्ध्यसेन आया जिसे वाशीम ताम्रपत्र में (द्वितीय) विन्ध्यशक्ति कहा गया है। उसने आक्रमक नीति प्रचलित रखी और कुन्तल के नरेश को जो कि उसका दक्षिण पड़ोसी था पराजित कर दिया। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है उस समय के लगभग × एक राष्ट्रकूट राजवंश का अभ्युदय हुआ। प्रतीत होता है कि इसके संस्थापक मानाङ्क ने बहुत विजय प्राप्त की थी और गोदावरी के दक्षिणवर्ती प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया

---

* एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १०, पृष्ठ १२ इ. और गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स् पृष्ठ २३५ इ.

जैसा कि मैं दिखला चुका हूँ, उच्चकल्प राजाओं के लेखों में गुप्त संवत् का ही प्रयोग किया गया है। एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २३, पृष्ठ १७१ इ.

† मिराशी, अजन्ता में १६ वीं गुफा में वाकाटक उत्कीर्ण लेख (हैदराबाद आर्किऑलाजिकल सिरीज, संख्या १४)।

‡ कामसूत्र (निर्णयसागर प्रेस संस्करण) पृष्ठ २९५.

+ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २६, पृष्ठ १३७ इ.

× मिराशी, "मानपुर में राष्ट्रकूट" ए. बी. ओ. आर. आई. जिल्द २५ पृष्ठ ३६ इ.

था जिन पर प्रथम प्रवरसेन का एक दूसरा पुत्र पहले राज्य कर रहा था। उसके उत्तराधिकारियों ने अपने उत्कीर्ण लेखों में मानाङ्क का उल्लेख समृद्ध कुन्तल के शासक एवं अश्मक और विदर्भ के विजेता के रूप में किया है। मानाङ्क ने मानपुर नगर बसाया था जो इन राष्ट्रकूटों की राजधानी बना। मानपुर सम्भवतः बम्बई राज्य की माण तहसील के प्रमुख गांव माण के तुल्य है।

इस प्रकार मानाङ्क दक्षिण महाराष्ट्र पर राज्य कर रहा था। उसका राज्य अश्मक और विदर्भ से संलग्न था। अश्मक गोदावरी नदी के किनारे के साथ फैला हुआ था इसमें वर्तमान हैदराबाद राज्य का औरंगाबाद जिला सम्मिलित था। अश्मक का शासक सम्भवत: वत्सगुल्म वाकाटकों का मांडलिक राजा था।

उत्तरकालीन राष्ट्रकूट ताम्रपत्रों की अक्षरवटिका से अनुमित होता है कि मानाङ्क चौथी ईस्वी शताब्दी के अन्त में राज्य करता था। अतः वह विन्ध्यसेन का समकालीन था। जब कि मानाङ्क और विन्ध्यसेन दोनों ही एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने का दावा करते हैं इससे प्रतीत होता है कि इस युद्ध से दोनों में से कोई भी पूर्ण विजयी नहीं हुआ था। मानाङ्क के उत्तराधिकारी देवराज के समय में कुन्तल का राज्य गुप्तों के प्रभावक्षेत्र में आगया क्योंकि इसका शासन चन्द्रगुप्त द्वितीय के अनुशासन में चलता था। इस प्रकार यह वत्सगुल्म वाकाटकों के लिये कोई खतरा न रह गया।

विन्ध्यसेन ने अपने ३७ वें शासन वर्ष में वाशीम दान पत्र वितरित किया था। यह दानपत्र राजधानी वत्सगुल्म से प्रसारित किया गया था और इसमें नान्दीकट (हैदराबाद राज्य में वर्तमान नान्देड) के विषय में एक गांव के दान का उल्लेख किया गया था। दानपत्र का राजावलि भाग संस्कृत में लिखा गया था दान दिये गांव का वर्णनादि इतर भाग भाषा में। विन्ध्यसेन ने अपने पिता सर्वसेन की तरह धर्ममहाराज की उपाधि ग्रहण की थी। सम्भवत : वह प्रथम पृथिवीषेण का समकालीन था और इसी के समान इसके शासन का अन्त ४०० ईस्वी के लगभग हुआ था।

विन्ध्यसेन के बाद उसका पुत्र द्वितीय प्रवरसेन शासक बना, परन्तु इसके बारे में बहुत कम मालूम है। अजन्ता के उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि वह अपने उत्कृष्ट, शक्तिशाली और उदार शासन से गौरवान्वित हो गया था। प्रतीत होता है कि उसके शासन का समय बहुत कम रहा (सन् ४०० से ४१५ ईस्वी तक) क्योंकि जब उसकी मृत्यु हुई तब उसका पुत्र केवल ८ वर्ष की आयु का था।

इस बाल राजा का नाम, अजन्ता के उत्कीर्ण लेख में लुप्त हो गया, किन्तु उसने अच्छी तरह से शासन किया-यह वर्णन उस लेख में आया है। सन् ४४० ईस्वी में उसका स्थान उसके पुत्र देवसेन ने लिया। इसका एक ताम्रपत्र दक्षिणी बरार के किसी स्थान पर प्राप्त हुआ था और तबसे उसे ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है। अभी हाल में इसका प्रकाशन डा. रैण्डल ने किया है। * यह ताम्रपत्र भी वत्सगुल्म से प्रसारित किया गया था जिससे स्पष्ट होता है कि यह स्थान अन्त तक राजकीय राजधानी बना रहा।

देवसेन का हस्तिभोज नामक एक बड़ा ही साधुवृत्ति और योग्य मन्त्री था। वह राज्य के कारबार की देखरेख करता था और सम्पूर्ण प्रजा प्रसन्न रखता था। देवसेन ने अपने राज्य का शासन प्रबन्ध उसे ही सौंप दिया था और स्वयं सुखोपभोगों में लगा रहता था। अजन्ता और घटोत्कच गुफालेखों में हस्तिभोज की प्रशंसा की गयी है, इन्हें उसके पुत्र वराहदेव † ने ही लिखवाया था।

सन् ४७५ ईस्वी में देवसेन का स्थान हरिषेण ने ग्रहण किया था जो अपनी वंशावलि का अन्तिम ज्ञात राजा था। वह एक शूर और महत्त्वाकांक्षी नरेश था। उसने सभी दिशाओं में अपने राज्य का प्रसार किया था। दुर्भाग्य

---

* रैण्डल, "वाकाटक महाराजा देवसेन का एक अप्रकाशित इण्डिया आफिस ताम्रपत्र" न्यू इण्डिया एन्टिक्वेरी (ए. आई. ए.), जिल्द २, पृष्ठ १७७ इ.

† हैदराबाद आर्किआलाजिकल सिरीज, सं. १४ और १५.

से अजन्ता की १६ वीं गुफा में उत्कीर्ण लेख की १४-१५ * पंक्तियों में उसकी विजयों का उल्लेख बुरी तरह नष्ट हो गया है परन्तु उसमें उन कई प्रदेशों का उल्लेख किया गया है जिन्हें उसने जीत लिया था अथवा कर देने के लिये विवश किया। ये सभी प्रदेश विदर्भ की चारों दिशाओं में अवस्थित हैं अर्थात् उत्तर में अवन्ति (मालवा), पूर्व में कोसला (छत्तीसगढ़), कलिंग (उत्तरी सरकार), आन्ध्र (गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मध्य में पूर्वी समुद्रतट के साथ का प्रदेश), पश्चिम में लाट (गुजरात) और त्रिकूट (नासिक जिला) और दक्षिण में कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र)। इस प्रकार प्रतीत होता है कि हरिषेण उत्तर में मालव से लेकर दक्षिण में कुन्तल तक के और पश्चिम में अरब समुद्र से लेकर पूर्व में बंगाल के उपसमुद्र तक के फैले हुए सम्पूर्ण देश का सर्वमान्य अधिपति बन गया था।

हरिषेण का वराहदेव नाम का एक धर्मात्मा, उदार एवं योग्य मन्त्री था जिसे राजा और प्रजा समान रूप से चाहते थे। उसने अजन्ता की १६ वीं गुफा बनवायी और उसे उत्कीर्ण मूर्तियों और चित्रावलियों से सजाया। इसके बरामदे की दीवार पर उसने जो उत्कीर्ण लेख लिपिबद्ध करवाया था वही वत्सगुल्म शाखा के विषय में ज्ञान का हमारा मुख्य साधन है। उसने घटोत्कच गुफा भी बनवायी, उस में भी उसका एक उत्कीर्ण लेख मिला है।

इस शाखा का हरिषेण अन्तिम ज्ञात राजा है। सम्भवत: उसके बाद भी एक दो राजा रहे होंगे परन्तु उनके नाम तक हमें मालूम नहीं है। प्रतीत होता है कि किसी भी स्थिति में सन् ५५० ईस्वी में माहिष्मती के कटच्चुरियों या कलचुरियों ने इस राजवंश को उखाड़ फेंका था। प्रारम्भिक कलचुरि दानपत्रों की वंशावलि में सर्वप्रथम कृष्णराजा के सिक्के उत्तर में विदिशा † से लेकर दक्षिण में नासिक और कन्हाड ‡ तक और पश्चिम में बम्बई से ┼ लेकर पूर्व में अमरावती और जबलपुर × जिलों तक के फैले हुए देश भाग में पाये गये हैं। अभी हाल में नागपुर के समीप नगर्धन में उसके एक मांडलिक स्वामिराज (सन् ५७३ ईस्वी) का एक ताम्र पत्र हस्तगत हुआ है। इसलिये प्रतीत होता है कि इस कलचुरि राजा ने अपना साम्राज्य वाकाटक साम्राज्य के भग्नावशेषों के ऊपर निर्मित किया।

शक्तिशाली वाकाटक साम्राज्य के आकस्मिक विघटन के कारणों का इतिहास में कोई उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु वाकाटकों के पतन के एक सौ वर्ष के अन्दर लिखे गये दण्डी के दशकुमारचरित में वाकाटक शासन के अन्तिम काल की आख्यायिका सुरक्षित रखी है। इस संस्कृत ग्रन्थ के विश्रुत चरित नामक आठवें अध्याय में मगध के पदच्युत नरेश राजहंस के पुत्र राजवाहन के अनुयायी कुमारों में से एक विश्रुत के साहसिक कृत्यों का उल्लेख किया गया है।

इस वर्णन में एक विस्तीर्ण दक्षिणी साम्राज्य ·|· के अस्तित्व का उल्लेख किया गया है। सम्राट् का विदर्भ पर प्रत्यक्ष शासन था। विदर्भ में आधुनिक बरार, मध्यप्रदेश के मराठी जिले और गोदावरी के उत्तर में अवस्थित हैदराबाद राज्य का भाग सम्मिलित था। विदर्भ के सामन्त राज्य थे जैसे ; कुन्तल (दक्षिणी महाराष्ट्र), अश्मक (गोदावरी

---

* देखिये, 'सकुन्तलावन्तिकलिङ्गकोसलत्रिकूटलाटान्ध्र' अजन्ता की सोलहवीं गुफा का लेख।

† भिलसा के समीप बेसनगर में खुदाई के समय कृष्णराजा के सात सिक्के उपलब्ध हुए हैं। १९१३-१४ की आर्किआलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ २१४.।

‡ नासिक के निकट देवलाना और करहाड में मिले कृष्णराजा के चार सिक्के। देखिये 'बाम्बे गजट,' जिल्द १, भाग २, पृष्ठ १३।

┼ बम्बई शहर में मिले २०० सिक्कों का समूह। देखिये, रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा का जर्नल, जिल्द २० (अतिरिक्त संख्या) पृष्ठ ७ और ६।

× इस तरह के कुछ सिक्के अमरावती जिले के धामोरि में और जबलपुर के पास भी मिले हैं।

·|· इस विषय में ऐतिहासिक विवरण एवं चर्चा का सार देखने के लिये ए. बी. ओ. आर. आई, जिल्द २६, पृष्ठ २० इ. में मेरा लेख देखिये।

का उत्तरी तटवर्ती प्रदेश, खानदेश के दक्षिण में) ऋचीक (खानदेश), मुरल (गोदावरी का निकटवर्ती प्रदेश), नासिक्य (नासिक जिला) और कोङ्कण। इस प्रकार यह साम्राज्य उत्तर में नर्मदा से लेकर दक्षिण में तुङ्गभद्रा तक और पश्चिम में अरब सागर से लेकर पूर्व में कम से कम वैनगंगा तक फैला हुआ था। अपने यशस्वी पिता के बाद इस साम्राज्य का अधिपति एक युवक राजकुमार बना। यह राजकुमार यद्यपि बुद्धिमान था और सब कलाओं में दक्ष था परन्तु उसने राजनीति के शिक्षण की उपेक्षा की थी। उसके पिता के वृद्धमन्त्री ने उसे बार-बार सत्परामर्श दिया और दण्ड नीति सीखने के लिये कहा परन्तु वह अपने व्यसनी दरबारी के प्रभाव में उस सलाह की उपेक्षा करता रहा और सुखोपभोग में मग्न होकर राजकार्यों की उपेक्षा करता रहा और सभी प्रकार की बुराइयों में लगा रहा। उसकी प्रजाओं ने भी उसका अनुकरण किया और वह इसी प्रकार का पापपूर्ण एवं विलासी जीवन बिताने लगा। इसका फल यह हुआ कि राज्य भर में अव्यवस्था तथा अराजकता का दौरदौरा हो गया। इस अवसर को उपयुक्त जान कर पड़ोसी अश्मक राज्य के चतुर नरेश ने अपने मन्त्री के पुत्र को विदर्भ के राज दरबार में भेजा। वह राजा के साथ हिलमिल गया और उसे विलासपूर्ण जीवन के लिये और अधिक प्रेरणा देता रहा। उसने विभिन्न उपायों से उसकी सेना को भी पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया। अन्त में, जब राज्य पूरी तरह अव्यवस्थित हो गया तो अश्मक के नरेश ने वनवासी (उत्तरी कानडा जिले में आधुनिक बनवासी) के नरेश को विदर्भ के राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। इस पर वह नरेश बड़े सैन्य के साथ आगे बढ़ा और उसने दक्षिणी विदर्भ के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इस पर विदर्भ के नवयुवक सम्राट् ने अपनी सेनाओं का संघटन किया और सभी मांडलिक राजाओं को अपनी सहायता के लिये बुलवाया। उसके झंडे के नीचे एकत्र होने वालों में अश्मक के विश्वासघाती राजा के अतिरिक्त, कुन्तल, मुरल, ऋचीक, नासिक्य और कोङ्कण के नरेश सम्मिलित थे। इन अधीनस्थ राजाओं की मदद से विदर्भ के सम्राट् ने शत्रु से वरदा के (आधुनिक वर्धा) के तट पर मोर्चा लेने का निश्चय किया। अश्मक के नरेश ने गुप्त रूप से कुन्तल के नरेश के साथ षड्यन्त्र किया और इतर मांडलिक नरेशों में भी असंतोष उत्पन्न कर दिया। इन्होंने धोखे से अपने सम्राट पर, जब कि वह वनवासी की आक्रमणात्मक सेनाओं से जूझ रहा था, पीछे से हमला कर दिया। युद्ध में सम्राट मारा गया। इस पर चालाक अश्मक नरेश ने मांडलिक राजाओं में भी मतभेद उत्पन्न किया। युद्ध की लूट को प्राप्त करने के लिये वे सब आपस में लड़ पड़े और एक दूसरे को नष्ट कर दिया। इसके बाद उसने लूट का सम्पूर्ण माल हस्तगत कर लिया और उसका कुछ भाग आक्रमणकारी राजा को देकर उसे वनवासी लौटने के लिये प्रेरित किया और स्वतः विदर्भ का सम्पूर्ण राज्य अपने अधिकार में कर लिया। इस बीच विदर्भ के वृद्ध विश्वासपात्र मन्त्री विदर्भ की रानी और उसके दो छोटे बच्चों-एक राजकुमार और एक राजकुमारी- को लेकर स्वर्गीय सम्राट् के सौतेले भाई द्वारा शासित माहिष्मती में ले गये। सौतेले भाई ने विधवा रानी पर डोरे डालने चाहे परन्तु उसने उन्हें ठुकरा दिया। इस पर उसने विदर्भ के छोटे राजकुमार की हत्या करनी चाही परन्तु विश्रुत ने उसकी हत्या कर राजकुमार को माहिष्मती के सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया।

यहां पर यह वर्णन बीच में ही समाप्त हो जाता है। इसलिये हमें यह मालूम नहीं होता कि बालक राजकुमार अन्त में विदर्भ से अश्मक के नरेश को हटाने एवं अपनी पैतृक राजगद्दी प्राप्त करने में सफल होता है या नहीं?

उक्त वर्णन में सन् ५०० ईस्वी में हरिषेण की मृत्यु के बाद के काल के विदर्भ की वास्तविक राजनीतिक परिस्थिति का सच्चा विवरण प्रस्तुत किया गया है। दण्डी के पूर्वज विदर्भ के थे, वहां के विश्वसनीय सूत्रों से उनका सम्बन्ध था, फलतः उस काल के दक्षिण भाग के राज्यों का वह विस्तृत ब्यौरा देता है। यह विवरण उत्कीर्ण लेखों की साक्षी से भलीप्रकार पुष्ट होता है। उसके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि किसप्रकार महान् वाकाटक साम्राज्य, जो कि एक समय उत्तर में नर्मदा से तथा दक्षिण में तुङ्गभद्रा तक फैला हुआ था, हरिषेण के उत्तराधिकारी की अयोग्यता तथा मांडलिक राजाओं के विश्वासघातपूर्ण व्यवहार के कारण अचानक ही लड़खड़ा गया था, क्योंकि दण्डी का विवरण बीच में ही समाप्त हो जाता है इसलिये हम यह नहीं जान पाते कि हरिषेण के पौत्र ने क्या बाह्य सहायता के बल पर विदर्भ का

सिंहासन प्राप्त किया था ? हो सकता है कि अपने युग के सबसे शक्तिशाली नरेश विष्णुकुंडीवंशी प्रथम माधव-वर्मा की, जो कि आन्ध्र पर शासन कर रहा था और जिसे ग्यारह अश्वमेध करने का गौरव दिया जाता है, सहायता से वह यह कार्य करने में समर्थ हो गया हो। आन्ध्र नरेश ने एक वाकाटक राजकुमारी से विवाह किया था, जो कि सम्भवतः हरिषेण की पौत्री थी। * परन्तु वाकाटक राजकुमार देर तक विदर्भ पर अपना प्रभुत्व स्थिर नहीं रख सका होगा क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं कि इसी बीच में कलचुरि कृष्णराजा ने माहिष्मती पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और सन् ५५० ईस्वी तक विदर्भ और उत्तरी महाराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पूर्व में सोमवंशियों, गंगों और विष्णुकुण्डिनों ने अपनी स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा की तो दक्षिण में राष्ट्रकूट क्रमशः प्रबल हो गये इस प्रकार ३०० वर्ष के उत्तम शासन के बाद वाकाटकों के अन्तिम चिह्न भी लुप्त हो गया।

* * * *

वाकाटकों का युग महान् राजनीतिक विजयों के कारण ही स्मरणीय नहीं है प्रत्युत वह धर्म, कला, साहित्य के क्षेत्रों में अद्वितीय देन के कारण, जिन का हम उल्लेख करने जा रहे हैं चिरस्मरणीय है। वाकाटक स्वतः वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे परन्तु वे बौद्ध, जैन आदि दूसरे धर्मों के प्रति किसी प्रकार का विरोध भाव प्रदर्शित नहीं करते थे अपितु वे धर्म, उनकी नहीं तो उनके मन्त्रियों तथा मांडलिक नरेशों की उदार सहायता से, उनके विस्तृत साम्राज्य में फल-फूल रहे थे। वाकाटक साम्राज्य के संस्थापक प्रथम प्रवरसेन ने कई सोम तथा वाजपेय यज्ञों के अतिरिक्त चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। बाद के राजाओं द्वारा श्रौत यज्ञों के किये जाने का उल्लेख कम मिलता है जिससे स्पष्ट होता है कि धीरे-धीरे इनका प्रचलन बन्द हो गया।

पुराणसम्मत देव देवताओं की पूजा का महत्व क्रमशः बढ़ता चला गया। अधिकांश वाकाटक नरेश शैव थे क्योंकि उन्हें परम माहेश्वर या महेश्वर (शिव) के परम भक्त कहा गया है। प्रतीत होता है कि प्रवरसेन प्रथम ने वर्धा जिले में कहीं प्रवरेश्वर के नाम पर शिव का मंदिर बनवाया था। वाकाटक लेखों में उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम को महाभैरव का परम भक्त कहा गया है। उसने चिकम्बुरी में, चान्दा जिले के चिकमारा स्थान में उस देव की भक्ति के लिये एक धर्मस्थान का निर्माण किया था परन्तु यह धर्मस्थान अपने मौलिक स्वरूप में आज सुरक्षित नहीं है। रुद्रसेन का लड़का प्रथम पृथिवीषेण भी शैव था परन्तु इसका लड़का द्वितीय रुद्रसेन सम्भवतः अपनी पत्नी प्रभावती गुप्ता के प्रभाव से, जो कि अपने सुप्रसिद्ध पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के समान भगवान विष्णु की परम भक्त थी विष्णु का उपासक बन गया। प्रभावती के उदार आश्रय से रामगिरि (नागपुर के निकट वर्तमान रामटेक) में रामचन्द्र का पुराना मंदिर बड़ी प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ और यात्रा के रूप में दूर दूर तक प्रसिद्ध हो गया, यहां तक कि महान् संस्कृत कवि कालिदास को निर्वासित यक्ष के निवासस्थान † के रूप में अपने विश्वविख्यात गीतिकाव्य 'मेघदूत' में इसका उल्लेख करना पड़ा। आजकल सामान्यतया विष्णु की पूजा एक मूर्ति के रूप में की जाती है परन्तु उस काल में विष्णु देव की पादुकाओं की पूजा करने की सामान्य परम्परा थी। रामगिरि में पूजा का लक्ष्य मेघदूत ‡ एवं प्रभावती गुप्ता के दानपत्र × के उल्लेखानुसार

---

* वर्णन में उसका उल्लेख विश्रुत नाम से हुआ है, जिसने बालक राजकुमार भास्करवर्णन की बहन मञ्जुवादिनी से विवाह किया था।

† यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥ मेघदूत, श्लोक १।

‡ आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु॥ मेघदूत श्लोक १२।

× देखिये 'रामगिरिस्वामिनः पादमूलात्' प्रभावती गुप्ता के ऋद्धपुर ताम्र-पत्र। जे. ए. एस. बी. (एन. एस.) जिल्द २०, पृष्ठ ५८३।

रामचन्द्र की पादुकायें थीं। अश्वत्थखेटक (बैतूल जिले में वर्तमान पट्टन) में भी विष्णुको समर्पित एक दूसरे मन्दिर में भी पूजा के लक्ष्य महापुरुष (विष्णु) के पादमूल ही थे।* पवनार (प्राचीन प्रवरपुर) में राम का एक दूसरा भव्य मन्दिर बनवाया गया था। पवनार ग्राम में आचार्य विनोवा भावे के आश्रम के निकट धाम के तट पर रामायण की कहानी को चित्रित करने वाली सुन्दर मूर्तियों के भग्नावशेष अभी हाल में प्रकाश में आये हैं। द्वितीय प्रवरसेन ने नन्दिवर्धन से प्रवरपुर में राजधानी स्थानान्तरित करने के बाद अपनी माता प्रभावती गुप्ता के कथन पर यह मन्दिर बनाया था। इसे विभिन्न मूर्तियों से सजाया गया था। जिनके भग्नावशेष आज भी कला-समीक्षकों का ध्यान खींचते हैं।† इन मन्दिरों के साथ सत्र अथवा धर्मार्थ भोजनालय संलग्न रहते थे, जो कि उदार राजकीय सहायता से चलाये जाते थे। तो भी विष्णु और शिव की मूर्तियां अज्ञात न थीं। वर्धा और भण्डारा जिलों के ही क्रमशः केलझर और प्रवरपुर स्थानों में मुझे इनकी कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

वाकाटक धार्मिक एवं विद्वान् ब्राह्मणों का अपने उदार संरक्षण में लेते थे और उन्हें राजधानी में आकर रहने का आमन्त्रण दिया करते थे। महान संस्कृत कवि भवभूति के पूर्वज वाकाटक वंश की मुख्य शाखा की अन्तिम ज्ञात राजधानी प्रवरपुर में निवास करते थे और वाजपेय तथा दूसरे श्रौत यज्ञ‡ किया करते थे, जिनके लिये उन्हें अवश्य ही अच्छा राजकीय आश्रय मिला करता होगा। कई वाकाटक उत्कीर्ण लेखों में पवित्र एवं विद्वान् ब्राह्मणों को भूमि एवं कभी-कभी पूरे गांव भी दिये जाने का उल्लेख है।

उस काल में बौद्ध धर्म भी खूब चल रहा था और उसे राजाओं और मन्त्रियों से उदार संरक्षण प्राप्त होता था। जैसा कि हम यहां देखेंगे अजन्ता की कुछ भव्य गुफायें वाकाटकों के मन्त्रियों तथा मांडलिक राजाओं ने बनवायी थीं। पद्मपुर में प्राप्त हुई कुछ पुरातन जैन मूर्तियों से मालूम पड़ता है कि इस धर्म के अनुयायी लोग भी वहां निवास करते थे।

वाकाटकों के सुसंस्कृत शासन में संस्कृत तथा प्राकृत काव्यों को नवीन प्रेरणा मिली। वाकाटक राजाओं में से बहुत से न केवल विद्वान लोगों के आश्रयदाता थे प्रत्युत सुन्दर प्राकृत काव्यों और सुभाषितों के प्रणेता भी थे। प्राकृत का सबसे प्राचीन ज्ञात काव्य हरिविजय का निर्माण × वाकाटक राज्य के संस्थापक सर्वसेन ने किया था। यह काव्य इस समय उपलब्ध नहीं है परन्तु कई संस्कृत कवियों और आलंकारिकों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और उसके श्लोक उद्धृत किये हैं अथवा उसमें उल्लिखित घटनाओं का उल्लेख किया है जिससे हम उसकी सामान्य कल्पना कर सकते हैं। ग्रन्थ में वर्णित विषय कृष्ण द्वारा अपनी पत्नी सत्यभामा की प्रसन्नता के लिये स्वर्ग से बलपूर्वक पारिजात वृक्ष लाने की कथा है। यह काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया था और इसका छन्द सर्वत्र स्कन्धक था। इसमें नगरी (द्वारका), नायक (कृष्ण), वसन्त ऋतु, सूर्यास्त, घोड़ों, हाथियों और पानगोष्ठियों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह पूर्णतया महाकाव्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है और प्रतीत होता है कि इसने उत्तरकालवर्ती कालिदास और द्वितीय प्रवरसेन के संस्कृत तथा प्राकृत काव्यों के लिये एक आदर्श बना रखा था।

---

* मिराशी, द्वितीय प्रवरसेन के पट्टन ताम्रपत्र, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २३, पृष्ठ ८६।

† मिराशी, "वाकाटकों की एक पुरानी राजधानी", सरूप भारती, पृष्ठ २७१ इ.।

‡ भवभूति के मालती माधव की प्रस्तावना में निम्न स्थल देखिये :—

अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रति वसति स्म।

पद्मपुर की आमगांव समीपवर्ती पद्मपुर से समानता प्रतिपादित करने के लिये इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, जिल्द ११, पृष्ठ २८७ इ. में 'भवभूति का जन्मस्थान शीर्षक' मेरा लेख देखिये।

× इस काव्य के विस्तृत विवरण के लिये "वाकाटक काल के कुछ राजकीय कवि" शीर्षक मेरा लेख देखिये। वही, जिल्द २१, पृष्ठ १९३ इ.।

कई संस्कृत लेखकों ने अपने प्रबन्धों में हरिविजय के श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे उसकी लोकप्रियता पुष्ट हो जाती है। दण्डी ने अपनी "अवन्ति-सुन्दरी कथा" की भूमिका में इसकी प्रशंसा की है। वक्रोक्तिजीवित के प्रसिद्ध लेखक कुन्तक ने लिखा है 'सर्वसेन सुकुमार मार्ग (कोमल शैली) के प्रसिद्ध लेखक कालिदास के तुल्य था।'*

सर्वसेन ने हरिविजय के अतिरिक्त कुछ फुटकर गाथायें भी रची थीं जिन्हें गाथासप्तशती के विभिन्न पाठों में संग्रहीत किया गया है। गाथासप्तशती प्राकृत गाथाओं का संग्रह है यद्यपि परम्परा से यह प्रथम ईस्वी शताब्दी में शासन करने वाले सातवाहन राजवंश के काल की कृति कही जाती है पर इसमें समय-समय पर आठवीं ईस्वी शताब्दी† तक कुछ गाथायें जोड़ी जाती रहीं। इसलिये इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि इस में वाकाटक नरेश सर्वसेन की भी कुछ गाथायें सम्मिलित हैं।‡ सप्तशती के प्राचीन टीकाकार भुवनपाल ने २१७ और २३४ गाथाओं को सर्वसेन लिखित कहा है।× दूसरा टीकाकार पीताम्बर, जिसका टीका ग्रन्थ अभी हाल में प्रकाशित हुआ है, दो और गाथाओं अर्थात् ५०३ और ५०४ के विषय में राजा के नाम का उल्लेख करता है। +

प्रतीत होता है कि सर्वसेन तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में वत्सगुल्म नगर ज्ञान और संस्कृति का बड़ा केन्द्र बन गया था। प्रसिद्ध संस्कृत कवि राजशेखर ने ·|· इस नगर को कामदेव का क्रीड़ा स्थान वर्णित किया है। वत्सगुल्म राज दरबार में रचे गये प्राकृत काव्यों और सुभाषितों में वच्छोमी (वत्सगुल्मी) शैली का विकास किया गया जो कि वैदर्भी रीति का पर्याय बन गयी। राजशेखर ने अपने कर्पूरमंजरी के प्रारम्भिक श्लोक में वच्छोमी का उल्लेख इसी अर्थ से किया है।

दूसरा प्रसिद्ध राजकवि द्वितीय प्रवरसेन था जो कि वाकाटक वंश की मुख्य शाखा में हुआ था। उसने महाराष्ट्री प्राकृत में सेतुबन्ध की, जिसे रावणवहो भी कहा जाता है, रचना की। इस काव्य में राम की कथा-रावण के विरुद्ध अभियान से प्रारम्भ कर, लंका के लिये शिलाओं का सेतुबन्ध बनाने एवं राक्षस नरेश के विनाश के बाद अयोध्या लौटने तक वर्णित की गई है। यह काव्य पन्द्रह काण्डों में, जिन्हें आश्वास कहा गया है, विभक्त है, इसमें १,३६२ श्लोक हैं। मुख्य छन्द स्कन्धक है, परन्तु बीच-बीच में दूसरे छन्द की गाथाएँ भी प्रयुक्त की गयी हैं और अन्त में भी उन्हें जोड़ दिया गया है।

सेतुबन्ध की रचना अनुप्रास तथा लम्बे समासों से युक्त काव्योचित शैली में कलापूर्ण रीति से की गयी है। स्पष्टतया इसका लेखन उस जनता को दृष्टि में रख कर किया गया था जो कि संस्कृत में निष्णात थी और इसमें संस्कृत महाकाव्य के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक सभी विषयों का वर्णन भी समाविष्ट है। इसकी संस्कृत कवियों और आलंकारिकों ने बड़ी प्रशंसा की है। काव्यादर्श के प्रसिद्ध लेखक दण्डी ने इसे "सुभाषितों के रूप में रत्नों की खानि" कहा है।

---

* सहज सौकुमार्यसुभगानि कालिदाससर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते। वक्रोक्तिजीवित (एस. के. डे. द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७१।

† "सिद्धेश्वर वर्मा ग्रन्थ" में प्रकाशित "गाथासप्तशती का काल" विषय का मेरा लेख देखिये।

‡ विभिन्न हस्तलिखितों में गाथाओं को विभिन्न क्रम से संग्रहीत किये जाने से यहां पर गाथाओं का उल्लेख गाथासप्तशती के निर्णयसागर संस्करण के अनुसार किया गया है।

× वेबर "इण्डिशे स्टडी", जिल्द १६, पृष्ठ २३। भुवनपाल इन गाथाओं को १६३ तथा १८० वां बतलाता है।

+ गाथासप्तशती प्रकाशिका (सत्तसई पीताम्बर की टीका के साथ) प्रो. जगदीश लाल द्वारा सम्पादित। पीताम्बर इन गाथाओं की संख्या ४६३ और ५६६ लिखता है।

·|· वही, तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीड़ावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। राजशेखर, काव्यमीमांसा (गायकवाड़'स ओरियन्टल सिरीज), प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०।

अपने हर्षचरित में बाण कहता है "इस सेतु के माध्यम से" (अर्थात् सेतुबन्ध से) प्रवरसेन का यश उसी प्रकार समुद्र का लंघन कर गया है, जिस प्रकार (राम निर्मित) सेतु के माध्यम से बन्दरों की सेना समुद्र पार कर गयी थी।* ९वीं ईस्वी शताब्दी का प्रसिद्ध साहित्य समीक्षक आनन्द वर्धन काव्य के उस भाग की अत्यन्त प्रशंसा करता है, जिसमें राम के माया शिर के दर्शन मात्र से सीता के शोकाकुल हो जाने का वर्णन किया गया है।†

सेतुबन्ध के एक टीकाकार द्वारा उल्लिखित एक अनुश्रुति के अनुसार जो कि प्रत्येक आश्वास के अन्त के निर्देश से पुष्ट होती है यह काव्य वास्तव में कालिदास ने लिखा था, जिसे उसने विक्रमादित्य के आदेशानुसार प्रवरसेन को घोषित किया था। इस अनुश्रुति का अर्थ सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि द्वितीय प्रवरसेन प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री का लड़का था। अधिकांश विद्वान्, जिनमें भारतीय तथा यूरोपियन सम्मिलित हैं, इस विषय में एकमत हो गये हैं कि महान् संस्कृत कवि कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने आश्रय दिया था। प्रभावती-गुप्ता के दानपत्रों से स्पष्ट है कि वाकाटक राज दरबार में गुप्तों का प्रभाव प्रचुर था। इससे यह अनुमान करना गलत न होगा कि महान् सम्राट् ने अपनी विधवा पुत्री को अपने नाबालिग पुत्र दिवाकरसेन के लिये राज्य चलाने में सहायतार्थ अनुभवी शासक एवं राजनीतिज्ञ भेजे थे। सम्भवतः इन में कालिदास भी रहा होगा और उसके आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने काव्य निर्माण के कार्य में अपने दौहित्र की मदद करने के लिये कहा हो। सेतुबन्ध के ९ वें श्लोक में कहा गया है कि प्रवरसेन ने सिंहासन पर बैठने के कुछ समय बाद ही इस काव्य का निर्माण प्रारम्भ किया था और वह समय-समय पर इसका निर्वाह करना कठिन अनुभव करता था।‡ ऐसे अवसरों पर उसे कालिदास से सहायता मिलती होगी। इसी का उक्त अनुश्रुति में निर्देश किया गया है और प्राकृत काव्य के अन्तिम भाग में भी इसका उल्लेख हुआ है।

सर्वसेन की नाईं द्वितीय प्रवरसेन ने प्राकृत गाथायें लिखी थीं, जिनमें से कुछ उपर्युक्त प्राकृत कथा संग्रह गाथा-सप्तशती में सुरक्षित हैं। सप्तशती के निर्णयसागर संस्करण की अनुक्रमणिका में पांच गाथा अर्थात् ४५, ६४, २०२, २०८ और २१६ प्रवरसेन की कही गई हैं। पीताम्बर इनमें दो और अर्थात् ४८१ और ५६५ सम्मिलित कर देता है। भुवनपाल निम्न गाथाओं—४६, १२६, १५८, २०३, २०६, ३२१, ३४१, ५६७ और ७२४ के प्रणेता के रूप में प्रवर, प्रवरराज और प्रवरसेन का उल्लेख करता है। यह प्रवरसेन और प्रवरराज सेतुबन्ध के सुप्रसिद्ध प्रणेता वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता।×

---

* देखिये, "कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥"

† ध्वन्यालोक (निर्णयसागर संस्करण, १९११), पृष्ठ १४८।

३ देखिये 'इह तावन्महाराजप्रवरसेननिमित्तं महाराजाधिराजविक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिल कविचक्र चूड़ामणिः कालिदासमहाशयः सेतुबन्धप्रबन्धं चिकीर्षुः, आदि, सेतुबन्ध, पृष्ठ ३।

४ "इअ सिरिपवरसेणविरइए कालिदासकए दहमुहवहे", आदि, वही, पृष्ठ ६७।

‡ अहिणवराअ आरद्धा चुक्कक्खलिएसु विहडिअपरिट्ठविआ।
मेत्ति व्व पमुहरसिआ णिव्वोढुं होइ दुक्करं कव्वकहा॥ श्लोक ९।
(अभिनवराजारब्धा च्युतस्खलितेषु विघटितपरिस्थापिता।
मैत्रीव प्रमुखरसिका निर्वोढुं भवति दुष्करं काव्यकथा॥)

×दण्डी की "अवन्तिसुन्दरी" कथा के प्रारम्भिक भाग के एक श्लोक के अनुसार छप्पन कवियों ने सेतु की रचना की थी। यह प्रबन्ध प्राकृत श्लोकों का एक संग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है। इन्द्रसूरि की कुवलयमाला में भी छप्पणय (षट्पंचाशत् या ५६) कवियों की बड़ी प्रशंसा की गयी है, परन्तु उनकी किसी रचना का उल्लेख नहीं किया गया है। काव्यमीमांसा में उद्धृत श्लोकों को देखिये। टिप्पणियां, पृष्ठ १२।



कारीतलाई में गुप्तकालीन वाराहमूर्ति
(५ वीं इस्वी शताब्दी)



ओंकार मान्धाता का एक मन्दिर



होशंगाबाद की प्रस्तर शिलाओं में सुरक्षित प्रागैतिहासिक भीत्ति चित्र



असीरगढ़ किले का एक भव्य द्वार



हरदा से उपलब्ध वाराह

(नागपुर के केन्द्रीय संग्रहालय में सुरक्षित)

गाथासप्तशती में प्राकृत गाथाओं के कुछ दूसरे ऐसे लेखकों के नामों का भी उल्लेख किया है, जिनके नामों के अन्त में सेन आता है, जैसे जयसेन (गाथा १७०), मकरन्दसेन (गाथा ६, ८०, ९८, ४२६ और ५९९), मल्लसेन (गाथा ३२८), वसन्तसेन (गाथा ३२३), विस्वसेन (गाथा ३४०) और सत्वसेन (गाथा २३३ और २९८)। प्रवरपुर तथा वत्सगुल्म—दोनों भी शाखाओं के राजाओं के नाम सेन से अन्त होते हैं। इसलिये यह असम्भव नहीं है कि उनमें से कुछ—यदि सब नहीं तो—प्राकृत कवि वाकाटक राजवंश के थे। वे सम्भवतः गोदावरी के दक्षिण में, सन् ३७५ ईस्वी में मानपुर के राष्ट्रकूटों के अभ्युदय के समय तक राज्य कर रहे होंगे।

इन सभी कवियों ने उस काल में विदर्भ में प्रचलित महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा था। परन्तु इसका यह अर्थ है कि उस काल में संस्कृत काव्य थे ही नहीं, क्योंकि वैसी स्थिति में दण्डी जैसे प्रारम्भिक आलंकारिक द्वारा वैदर्भी को संस्कृत काव्य की श्रेष्ठ शैली नहीं कहा जाता और मालवा का कवि कालिदास भी अपने सभी काव्यों * का निर्माण करने के लिये इसे नहीं अपनाता। वस्तुस्थिति यह है कि उस काल में फुटकर संस्कृत श्लोक वैदर्भी रीति में लिखे जाने के उदाहरण हमारे पास हैं। श्रीधरदास के सदुक्तिकर्णामृत (२, ३१, ४) में युवराज दिवाकरसेन के एक संस्कृत सुभाषित का उल्लेख किया गया है।† यह दिवाकरसेन उस बालक-नृपति के समरूप है, जिसकी माता प्रभावतीगुप्ता स्थानापन्न शासिका के रूप में राज्य कर रही थी।

कालिदास की रचनाओं में से एक सुन्दर गीतिकाव्य मेघदूत को विदर्भ का काव्य कहा जा सकता है, क्योंकि यह सम्भवतः महाकवि के वाकाटक दरबार में निवास काल में लिखा गया प्रतीत होता है। इस काव्य में प्रस्तुत विषय कर्तव्यपालन से च्युत होने के कारण अलका से निर्वासित किये गये यक्ष द्वारा मेघ रूपी सन्देशवाहक दूत के द्वारा वर्षा ऋतु के आगमन के समय अपनी प्रियतमा को भेजा सन्देशा है। जैसा कि मैं अन्यत्र ‡ प्रदर्शित कर चुका हूं, यह रामगिरि नागपुर का समीपवर्ती वर्तमान रामटेक ही है, जो कि आज तक तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। डाक्टर कीथ ने लिखा है कि "मेघदूत की यात्रा में वर्णन का उत्कर्ष तथा शोकाकुला एवं एकाकिनी पत्नी के उच्छ्वासों के चित्रण की अधिकतम प्रशंसा करना कठिन है। शब्दों की बहुर्थता, विषयगाम्भीर्य एवं भावना के प्रकाशन की शक्ति के कारण भारतीय समीक्षक इसे कालिदास की सर्वोत्तम कृति कहते हैं। यह प्रशंसा अयोग्य नहीं है।" ×

शिल्प, स्थापत्य एवं चित्रकला में भी उस काल का कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। दुर्भाग्य से उस समय की कोई भी इमारत आज विदर्भ में उपलब्ध नहीं है, परन्तु वाकाटकों के माण्डलिक नरेशों के भूमिभागों में बनाये दो स्मारक आज भी सुरक्षित हैं, जिनसे उस काल के मन्दिर शिल्प का सही अन्दाजा लगाया जा सकता है। इनमें से प्राचीनतर जबलपुर जिले में बहुरिबन्ध के समीप तिगवा + में है। यह आज भी भली प्रकार सुरक्षित है। उस काल के दूसरे मन्दिरों के समान इसकी चपटी छत है और इसके सामने छता हुआ बरामदा है। पिछले युग के हिन्दू मन्दिरों के स्पष्ट प्रतीक

---

* यह विख्यात ही है कि कालिदास ने वैदर्भी रीति में अपनी रचनायें की थीं। जैसे, "लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः। तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥" अवन्तिसुन्दरी कथा।

† इण्डियन कल्चर, जिल्द ६, पृष्ठ ४७८। उस काल के एक अन्य संस्कृत श्लोक के लिये, देखिये इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जिल्द २१, पृष्ठ २०१।

‡ देखिये 'मेघदूत में रामगिरि' शीर्षक मेरा लेख (विक्रम-स्मृतिग्रन्थ, हिन्दी) (पृष्ठ ३४९–३५४)

× कीथ—"संस्कृत साहित्य का इतिहास", पृष्ठ ८६।

+ तिगवा के चारों ओर का प्रदेश सम्भवतः मेकला के पाण्डववंशी राजाओं के राज्य में सम्मिलित था, जो कि शायद बन्धोगढ़ से शासन करते थे। इन राजाओं में से एक भरतबल वाकाटक नरेन्द्रसेन के सामन्त राजा के रूप में ज्ञात है। भारतकौमुदी, जिल्द १, पृष्ठ २१६ इ.।

शिखर का अभाव इनमें स्पष्ट झलकता है। बरामदे के स्तम्भ एवं अर्ध स्तम्भ के शीर्ष इण्डो-पर्सेपोलिटन पद्धति के हैं जिनमें आधे बैठे सिंह उत्कीर्ण किये गये हैं। पूजा स्थान के प्रवेश द्वार पर नदी देवता गंगा और यमुना की मूर्तियां प्रतिष्ठित की गयी हैं।*

इससे कुछ ही समय बाद के पुरातन नागोद राज्य के नचना स्थान में अवस्थित मन्दिर का उल्लेख सर्वप्रथम सर एलेक्झेंडर कनिंगहम ने किया था। नचना के चारों ओर का प्रदेश वाकाटक साम्राज्य में सम्मिलित था, यह बात वहां प्राप्त हुए पेटिका शीर्षक लिपि में लिखे प्रस्तर-लेख से स्पष्ट हो जाती है।† इसमें व्याघ्रदेव को वाकाटक महाराज द्वितीय पृथिवीषेण का सामन्तराजा कहा गया है। उपर्युक्त वर्णन में बतलाया जा चुका है कि व्याघ्रदेव उच्चकल्प राजवंश में हुआ था और सन् ४७०–४९० ईस्वी में राज्य करता था।

तिगवा की तरह यह मन्दिर भी चपटी छतवाला है, परन्तु यह दुमंजिला है, शिखर के स्थान पर मूर्ति स्थान के ऊपर एक छोटा सा कमरा बना दिया गया है। इस कमरे की छत भी चपटी है और जिससे स्पष्ट दिखता है कि इसके ऊपर कोई शिखर नहीं था। मूर्तिस्थान अन्दर में ८ वर्ग फुट है। पार्श्व की भित्तियों में प्रकाश के लिये शिला निर्मित खिड़कियां बनाई गई हैं। पूजा स्थान के चारों ओर घिरा हुआ प्रदक्षिणा स्थान है, इसकी छत भी चपटी ही है। बाह्य दीवारें प्रस्तर शिलाओं की नकल करती मालूम पड़ती हैं, बीच-बीच में जहां-तहां छेदों में शेरों व भालुओं के मुख दिखाये गये हैं, जिनसे गुफ़ाओं की प्रतीति होती है। प्रवेश द्वार के सामने १२ वर्ग फुट का एक खुला बिना पटा दालान है। पूजा स्थान के प्रवेश द्वार के दोनों ओर मिथुन तथा नदी देवता (गंगा या यमुना) की आकृतियां बड़े सौन्दर्य से उत्कीर्ण की गयी हैं। कनिंगहम का कथन है कि सम्पूर्ण मध्यकालीन स्थापत्य की अपेक्षा ये आकृतियां अपनी स्वाभाविकता तथा उदात्त भावों में एवं स्वरूप के वास्तविक सौन्दर्य में बहुत ही श्रेष्ठ हैं।‡ जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वाकाटक राजधानी प्रवरपुर में, वर्धा के निकट आधुनिक पवनार में राम का एक दूसरा भव्य मन्दिर था। यह सम्भवतः द्वितीय प्रवरसेन ने अपनी माता के कहने पर बनवाया था। राम के जन्म, दशरथ की मृत्यु, सुमन्त द्वारा राम-लक्ष्मण और सीता को वन ले जाना, राम-भरत का मिलाप, बाली-सुग्रीव संग्राम और बाली की मृत्यु आदि, रामायण की कहानी कई विभिन्न घटनाओं को चित्रित करने वाले सुन्दर चित्रों से सुसज्जित है।

नचना के मन्दिर के बाहरी स्वरूप से मालूम पड़ता है कि उसके स्वरूप को प्रस्तरों से काट कर बनायी गुफ़ाओं की अनुकृति के आधार पर बनाया गया है। वास्तव में भारत के सबसे प्राचीन देवस्थान प्रस्तरों से निर्मित विहार और चैत्य हैं। प्राचीन विदर्भ के कलाकार इस कला में भी खूब बढ़े हुए थे। अजन्ता की सबसे शानदार गुफ़ाओं में पूरी चट्टानों से काट कर बनायी गयी गुफ़ायें हैं, जो आज भी अच्छी स्थिति में विद्यमान हैं, जिनसे तत्कालीन कलाकार का शिल्पकौशल परखा जाता है।× भारतीय स्थापत्य कला के एक अधिकारी विद्वान् बर्जेस के अनुसार अजन्ता की तीन गुफ़ायें—अर्थात् १६ वीं और १७ वीं—दो विहार गुफ़ायें और १९ वीं चैत्य गुफ़ा—जो कि सभी वाकाटक काल से सम्बन्धित हैं—अपनी स्थापत्य कला और चित्रकला की दृष्टि से भारत के पश्चिम में अवस्थित गुफ़ाओं के समान सौन्दर्य एवं आकर्षण से परिपूर्ण हैं।+

---

* कनिंगहम, आर्किआलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्टस् (ए. एस. आई. आर.), जिल्द ९, पृष्ठ ४३।

† फ्लीट—"गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स", पृष्ठ २३३ इ.।

‡ कनिंगहम आर्किआलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्टस् (ए. एस. आई. आर.), जिल्द २१, पृष्ठ ९९ इ.।

× इन गुफ़ाओं के स्थापत्य, शिल्प एवं चित्रकला के विवरण के लिये मैंने फर्ग्यूसन और बर्जेस के अमर ग्रन्थ "केव टेम्पल्स आफ इण्डिया", का उपयोग किया है।

+ वही, पृष्ठ ३०२ इ.।

इन तीन गुफ़ाओं में से १६ वीं गुफ़ा वाकाटक सम्राट् हरिषेण के मन्त्री वराहदेव ने बनवायी थी। कई दृष्टियों से यह दूसरी सभी गुफ़ाओं से अधिक भव्य है। इसका बरामदा ६५ फुट लम्बा, और १० फुट ८ इंच चौड़ा ह, इसमें छः सादे अष्टकोणात्मक स्तम्भ हैं, जिनमें आन्तरिक मण्डप ६६ फुट ३ इंच लम्बा, ६५ फुट ३ इंच गहरा और १५ फुट ३ इंच ऊँचा है। छत धरन और बल्लियों की अनुकृति में काट कर बनायी गयी है। प्रत्येक पार्श्व में छः कोठरियां हैं, पिछली दीवार में दो और बरामदे के प्रत्येक सिरे के अन्त में एक-एक। आखिरी सिरे पर महात्मा बुद्ध की धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मुद्रा अर्थात् उपदेश देने की स्थिति में विशाल मूर्ति अवस्थित है। इस गुफ़ा के सामने अवस्थित सीढ़ियों के मार्ग से पीछे की दीवार के साथ अवस्थित भवन में सर्प के चक्कर पर, एक नागराज की बैठी हुई मूर्ति अंकित की गई है। सर्प के फण नागराज के ऊँचे चपटे मुकुट को छा लेते हैं। इस बरामदे के सामने दीवार पर एक लम्बा परन्तु बुरी तरह नष्ट हुआ उत्कीर्ण लेख है, जो कि वत्सगुल्म शाखा के इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें निम्न श्लोक में गुफ़ा का वर्णन किया गया है :—

गवाक्षनिर्यूहसुवीथिवेदिकासुरेन्द्रकन्याप्रतिमाद्यलङ्कृतम् ।
मनोहर स्तम्भविभङ्ग (भूषितं*) निवेशिताभ्यन्तर चैत्यमन्दिरम् ॥

(वह विहार, जो कि खिड़कियों, दरवाजों, सुन्दर चित्रावलियों, वेदिकाओं, इन्द्र की अप्सराओं और ऐसी ही दूसरी चीजों से सजाया गया है, सुन्दर स्तम्भों से अलंकृत किया गया है और इसके अन्दर बुद्ध का एक मन्दिर है।)

इस श्लोक में उल्लिखित चित्रावलियों से १६ वीं गुफ़ा का सारा आन्तरिक भाग आच्छादित था, परन्तु इन में से बहुत सी नष्ट-भ्रष्ट हो गयी हैं। यहां पर मैं केवल एक उल्लेखनीय कृति का ही उल्लेख करूंगा—वह है, एक मरणासन्न राजकुमारी की—जिसके विषय में सुप्रसिद्ध कला समीक्षक श्री ग्रिफिथ्स ने इन शब्दों में वर्णन किया है—"मेरा ख्याल है कि कारुण्य एवं भावनाओं में तथा अपनी कहानी को सुस्पष्ट रीति से कहने में इस चित्र से उत्कृष्ट कृति कला के इतिहास में कोई नहीं मिल सकती। फ्लोरेन्सवासी चित्रकार इससे सुन्दर चित्राकृति प्रस्तुत कर सकते थे और वेनिसवासी इससे अच्छा रंग भर सकते थे, परन्तु दोनों में से कोई भी इससे अधिक भावना की अभिव्यक्ति प्रस्तुत नहीं कर सकता था। मरणासन्न नारी, शिथिर हुए शिर, अर्ध निमीलित नयनों एवं रुग्ण अंगों से एक शय्या पर लेटी है, जिस तरह की शय्या किसी भी आधुनिक भारतीय नागरिक के घर में पायी जा सकती है। एक स्त्री परिचारिका सावधानी से उसे सहारा देती है, जब कि दूसरी उत्सुक दृष्टि से उसके मुख को देख रही है और रुग्णा स्त्री के हाथ को पकड़े हुए है, मानों वह उसकी नाड़ी टटोल रही हो। उसके मुख का भाव गहरी चिन्ता से व्याप्त है क्योंकि सम्भवतः वह अनुभव कर रही है कि उस व्यक्ति का जीवन दीप बुझने ही वाला है, जिसे वह प्यार करती है। पीछे एक परिचारिका पंखा लिये खड़ी है और बायीं ओर के दो आदमी अत्यधिक शोक से परिपूर्ण मुख से खड़े देख रहे हैं। नीचे फ़र्श पर दूसरे सम्बन्धी बैठे हुए हैं। दिखता है कि इन सबने आशा छोड़ दी है और उन्होंने अपने शोक के दिवस का आरम्भ कर दिया है, क्योंकि एक स्त्री ने अपना मुंह अपने हाथों में छिपा लिया है, स्पष्ट है कि वह बुरी तरह रो रही है।"

इस काल की दूसरी विहार गुफ़ा अर्थात् १७ वीं गुफ़ा को ऋषीक (बम्बई राज्य के वर्त्तमान खानदेश जिले) के एक शासक द्वारा, जो कि वाकाटक सम्राट् हरिषेण का माण्डलिक था, निर्मित करवायी गयी थी। बरामदे के बायें पार्श्व पर खण्डित रूप में उसका उत्कीर्ण लेख आज भी विद्यमान है, इसमें शासक राजा के, जिसका नाम दुर्भाग्य से लुप्त हो गया है, पूर्ववर्ती दस राजाओं की पूरी वंशावलि दे दी गयी है†। उसका रविसाम्ब नामक एक छोटा भाई भी था, जिसकी अकालमृत्यु हो गयी थी। इस उत्कीर्ण लेख में बताया गया है कि शोक से अभिभूत हुए बड़े भाई ने संसार की

---

* वही, पृष्ठ ३०७।

† मिराशी—"खानदेश का एक पुराना राजवंश", "नागपुर युनिवर्सिटी जरनल", संख्या १०, पृष्ठ १ इ.।

निस्सारता को अनुभव कर लिया और पवित्र जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। उसने स्तूप तथा विहार बनवाये और अजन्ता में वर्तमान १७ वीं गुफ़ा के रूप में बौद्ध चैत्य और भव्य मण्डप निर्मित करवाये। इसी समय राजाओं में चन्द्रमा के तुल्य हरिषेण पृथ्वी पर राज्य कर रहा था। उसने इसके पश्चिम में एक दूसरी पहाड़ी पर* एक भव्य गन्ध कुटी का भी निर्माण करवाया। यह उल्लेख स्पष्टतया १६ वीं चैत्य गुफ़ा के सम्बन्ध में है, जो कि १७ वीं गुफ़ा के पश्चिम में अवस्थित है।

१७ वीं गुफ़ा एक विहार गुफ़ा है और आकार-प्रकार में १६ वीं गुफ़ा के तुल्य है। मुख्य भवन में एक केन्द्रीय द्वार से प्रविष्ट हुआ जाता है। यह ६३ फ़ुट ६ इंच चौड़ी, ६२ फ़ुट गहरी और १३ फ़ुट ऊंची है। गुफ़ा में १८ कोठरियां हैं, जिनमें से दो बरामदे में हैं। उत्कीर्ण लेख में उल्लिखित दूसरे सिरे पर अवस्थित देवस्थान मुनिराज चैत्य १७ फ़ुट ६ इंच चौड़ा और २० फ़ुट गहरा है और इसमें १६ वीं गुफ़ा के समान बुद्ध की विशाल मूर्ति है।

इस गुफ़ा में दूसरी सभी गुफ़ाओं के अपेक्षा अधिक चित्राकृतियां हैं। इनमें से कई जातक अथवा बुद्ध के अतीत जीवनों की कहानियां चित्रित करती हैं, जैसे विश्वन्तर जातक, सुतसोम जातक, षड्दन्त जातक, महाकपि जातक और अन्य। एक छोटा सा स्थल विशेष ध्यान देने योग्य है। ये उड़ते हुए गन्धर्व और अप्सरायें हैं। इस सम्बन्ध में बर्जेस की टिप्पणियां उल्लेखनीय हैं। वह कहता है—"इस युग के बौद्ध शिल्प में इस प्रकार की उड़ती हुई युगल आकृतियां बड़ी सामान्य हैं। तो भी वे जैसी भी हों, उनकी बाह्य आकृतियों की पूर्णता एवं एकत्रीकरण की भव्यता की दृष्टि से वे अजन्ता की छोटी चित्राकृतियों में सबसे मनोरम हैं और किसी दूसरे उदाहरण की अपेक्षा तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में इटली में पायी गयी कला के स्वरूप को लगभग पहुँच जाती हैं।"†

१६ वीं गुफ़ा—ऋषीक के शासक द्वारा निर्मित १७ वीं गुफ़ा में उपर्युक्त उत्कीर्ण लेख में उल्लिखित गन्धकुटी यही है। अजन्ता की चार चैत्य गुफ़ाओं में से यह एक है। यह अत्यन्त परिश्रम से बनायी गयी है, इसके बाहरी प्रवेश स्थान और झरोखे पूरी तरह सुन्दर शिल्प कृतियों से, जिनमें बुद्ध की बैठी हुई एवं खड़ी हुई मूर्तियां हैं, ढके हुए हैं। श्री. फर्ग्यूसन ने इन्हें "भारत में बौद्ध कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहा है"।

चैत्य २४ फ़ुट चौड़ा, ४६ फ़ुट लम्बा और २४ फ़ुट ४ इंच ऊंचा है। प्रवेश द्वार के ऊपर घोड़े की नाल के तुल्य सुन्दर मेहराब से अन्दर खूब रोशनी आती है। गुफ़ा में ११ फ़ुट ऊंचे १५ स्तम्भ हैं। इस पूजा के स्थान दगोबा में खड़े हुए बुद्ध की प्रतिमा है, जो कि एक मेहराब को दो सहारों के माध्यम से मदद दे रही है। घुमट पर एक के ऊपर दूसरी तीन छतरियां और हर्मिका हैं। कार्ले की चैत्य गुफ़ा में यह छतरी लकड़ी की बनी हुई है, परन्तु यहां ये सब प्रस्तर-निर्मित हैं।

इस गुफ़ा के विषय में बर्जेस ने लिखा है—"सौन्दर्य एवं विस्तार में गौरवपूर्ण होने के साथ पूर्णतया प्रस्तर निर्मित चैत्य का यह प्रथम उदाहरण बड़ा दिलचस्प है।"

इसमें सभी आभूषण पत्थर के बनाये गये हैं। इसका कोई भी भाग लकड़ी का न था और कई भाग आकृति में इतने सूक्ष्म हैं कि हम उनकी मूलाकृति की कल्पना नहीं कर सकते। इस गुफ़ा में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग सर्वथा पूर्ण है।

---

* वही, अन्यांमदेशेस्य दिशि प्रतीच्यामकारयद्गन्धकुटीमुदाराम्। १७ वीं गुफ़ा के उत्कीर्ण लेख की २७ पंक्ति, ए. एस. डब्ल्यू. आई., संख्या ४, पृष्ठ १३०।

† फर्ग्यूसन और बर्जेस—"केव टेम्पल्स आफ इण्डिया", पृष्ठ ३११।

२ वही, पृष्ठ ३१७।

वाकाटक नरेश हरिषेण के उपर्युक्त मन्त्री वराहदेव ने अजन्ता से १० मील दूर पश्चिम में जम्भाल गांव के समीप गुलवाड़ा में कुछ दूसरी गुफ़ायें बनवायी थीं। इसमें केवल दो ही जो कि विहार जैसी हैं, आज भी अवशिष्ट हैं। ये गुफ़ायें भी १६ वीं गुफ़ा के समय की ही हैं, क्योंकि बड़ी गुफ़ा के उत्कीर्ण लेख में यज्ञपति नामक वंश के संस्थापक से लेकर वराहदेव तक की वंशावलि दे दी गयी है।* यह गुफ़ा ७६ फ़ुट चौड़ी और ७८ फ़ुट गहरी है और इसमें एक बरामदा, एक भवन, एक बाह्य कमरा और पीछे एक पूजास्थान है। पूरा नक्शा अजन्ता की १६ वीं गुफ़ा से मेल रखता है। सामने के बरामदे से तीन दरवाजे पिछले मुख्य भवन को जाते हैं। प्रकाश के लिये दो खिड़कियों की व्यवस्था की गयी है। दरवाजे और खिड़कियां घोड़े की नाल के तुल्य मेहराबों से सजायी गयी हैं, जिसमें बुद्ध की आकृतियां भी हैं। भवन में चार पंक्तियों में २० खम्भे बनाये गये हैं। पूजा स्थान में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-मुद्रा में हाथ किये बुद्ध की विशाल मूर्तियां हैं। सिंहासन पर दोनों ओर बैठे हरिणों की आकृतियां खोदी हुई दिखाई देती हैं।

वाकाटक काल के कलाकारों ने इस प्रकार की शानदार गुफ़ायें निर्मित की थीं, उन्हें शिल्प व चित्रों से सुसज्जित किया था और राजाओं तथा मन्त्रियों ने उन्हें बौद्ध भिक्षुओं की सेवा के लिये प्रस्तुत कर दिया था।

---

*मिराशी—घटोत्कच गुफ़ा का उत्कीर्ण लेख (हैदराबाद आर्कियालोजिकल सिरीज)।

सिरपुर में उपलब्ध प्राचीन अवशेष

श्री मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित



सिरपुर, प्राचीन श्रीपुर, रायपुर से ३७ मील उत्तर पूर्व में रायपुर जिले की महासमुन्द तहसील में महानदी के दाहिने किनारे पर अवस्थित है। वर्तमान सिरपुर नदी और रायकेड़ा तालाब के मध्यवर्ती स्थान में बसा हुआ है। इसमें लगभग ४५ झोपड़ियां हैं, जिनमें लगभग १५० प्राणी रहते हैं; जो अधिकतर खेती तथा धान की फ़सल पर गुजर-बसर करते हैं। प्रतिवर्ष माघ महीने में पूर्णिमा के दिन गांव में एक बड़ा मेला होता है, जिसमें पास-पड़ोस के ५,००० व्यक्ति एकत्र होकर पवित्र महानदी में स्नान करते हैं।

सातवीं ईस्वी शताब्दी से पूर्व इस स्थान के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान नहीं है। सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में श्रीपुर में शरभपुर या सोमवंशी राजाओं की राजधानी स्थापित हुई थी। इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उत्कीर्ण लेख सम्बन्धी साक्षी महासुदेव राजा के सारंगढ़ ताम्रपत्र * और उसके उत्तराधिकारी महाप्रवर राजा के ठाकुरदिया ताम्रपत्रों † से उपलब्ध होती है। दोनों ही ताम्रपत्र श्रीपुर से प्रसारित किये गये थे, न कि परिवार की प्राचीन राजधानी शरभपुर से।

---

* इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली में पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय द्वारा सम्पादित, २१, पृष्ठ २६४-२६५।

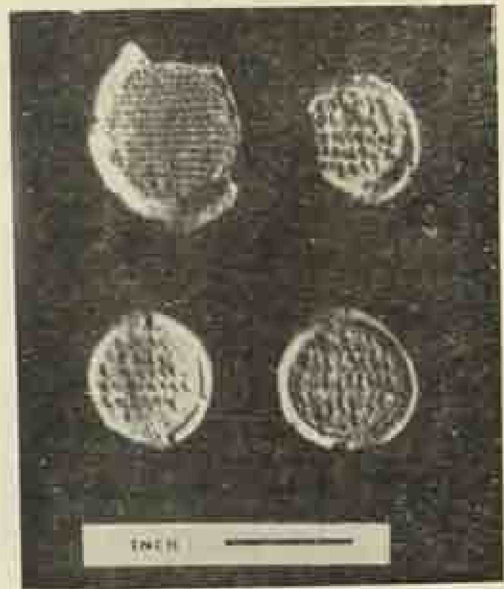
† एपिग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द २२, पृष्ठ १५ इ.।

आठवीं ईस्वी शताब्दी से श्रीपुर के उल्लेख बहुत अधिक मिलने लगते हैं। इनमें से अधिकांश सिरपुर से प्राप्त उत्कीर्ण लेख ही हैं, जो अधिकतर महाशिवगुप्त नाम से या जिसे बालार्जुन भी कहा गया है, सम्बन्धित हैं। इनमें से एक *लक्ष्मण मन्दिर के चारों ओर के मलबे को साफ़ करते हुए मिला था। इसमें उल्लेख किया गया है कि महाशिवगुप्त की राजमाता वसाटा ने एक भव्य मन्दिर बनवा कर हरि को समर्पित किया था। सिरपुर के गन्धेशवाड़ा मन्दिर में कम से कम पांच † उत्कीर्ण लेख हैं, जो कि मण्डप में स्तम्भों पर खुदे हुए हैं, ये शासक तथा उसके आश्रितों की विभिन्न प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। इसी मन्दिर की नींव में लगे हुए एक अन्य उत्कीर्ण लेख ‡ में पाण्डव राजाओं की वंशावलि दी गयी है, इससे इस परिवार के इतिहास को व्यवस्थित करने में बड़ी मदद मिली है।



भूमिस्पर्शमुद्रा में बुद्ध की धातुमूर्ति

एक अन्य उत्कीर्ण लेख × जो कि नवनिर्मित घाट में मिला है और जिसे "नदी द्वार लेख" कहा जाता है महाशिवगुप्त के राज्यकाल से सम्बन्धित है। सिरपुर में सुरंग के टीले से भी एक अन्य उत्कीर्ण लेख + प्राप्त हुआ है जो कि दुर्भाग्य से बड़ा खण्डित हो गया है। अब इसे रायपुर के संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है। अपने प्रकरण से यह महाशिवगुप्त से सम्बन्धित मालूम पड़ता है। इसमें एक महाप्रासाद तथा अन्नसत्र बनवाने का भी उल्लेख है जिनके लिये कुछ आर्थिक व्यवस्था की गयी थी। सिरपुर में



सिरपुर में प्राप्त कुछ मुद्रायें व ताम्रपत्र

* एपिग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द ११, पृष्ठ १९० ।

† हीरालाल की सूची, संख्या १७३ ।

‡ इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द, १८, पृष्ठ १४६ इ. ।

× हीरालाल की सूची, संख्या १८७ ।

+ वही, संख्या १८६, विषय की पूर्ण जानकारी महन्त घासीराम संग्रहालय के संचालक श्री वी. पी. रोडे से साभार।

अपनी खोज-बीन के सिलसिले में मुझे अन्य तीन उत्कीर्ण लेख भी प्राप्त हुए; इन में से एक गन्धेश्वर मन्दिर के फर्श में लगा हुआ मिला। इसमें महाशिवगुप्त द्वारा एक विहार बनवाये जाने का उल्लेख किया गया है; दूसरा सिरपुर के समीपवर्ती एक गांव सेनकपट* से प्राप्त हुआ है जिसमें किसी शिवरक्षित द्वारा त्रिलोचन के महान मन्दिर बनवाने का और अमरदूक मतावलम्बी एक शैव सदाशिवाचार्य को समीपस्थ गांवों से कुछ भूमिदान देने का उल्लेख किया गया है। १९५५ वर्ष के प्रारम्भ में अपनी खुदाई के सिलसिले में मुझे पूर्णतया सुरक्षित एक १४ पंक्तियों का उत्कीर्ण लेख † प्राप्त हुआ है, इसमें आनन्दप्रभ नामक एक भिक्षु द्वारा महाशिवगुप्त के राज्य-काल में एक बौद्ध मठ बनवाने का उल्लेख किया गया है। राजा ने मठ में निवास करने वाले भिक्षुकों के भोजन आदि के लिये एक सत्र की व्यवस्था की थी।

महाशिवगुप्त यद्यपि शिव का परम भक्त था परन्तु उसकी श्रद्धा अपनी राजधानी का निर्माण करते हुये केवल अपने ही मत के कई मन्दिरों के बनवाने में ही मर्यादित नहीं थी। दूसरी ओर वह दूसरे धर्मावलम्बियों को भी अपनी राजधानी में बसने के लिये उत्साहित करता था और उन्हें उदार आश्रय देता था। यह तथ्य सिरपुर की खुदाई में मिले बहुसंख्यक बौद्धविहारों तथा गांव में सुरक्षित कुछ बौद्ध शिलालेखों से पुष्ट होती है। बौद्ध धर्म की उन्नति में महाशिवगुप्त की दिलचस्पी का विषय उसके द्वारा बनवाये बौद्ध विहार के उल्लेख के अतिरिक्त मल्लार दानपत्र‡ से भी परिपुष्ट होता है जिसमें बौद्ध भिक्षुसंघ को उसके द्वारा दिये गये दान का विवरण दिया गया है। सन् १९२६ के वर्ष में सिरपुर में एक टीले की खुदाई करते समय कांस्य पदार्थों × का एक बडा दफीना अकस्मात् ही उपलब्ध हो गया था परन्तु खेद का विषय है कि इन से केवल कुछ ही संग्रहालय में सुरक्षित रखे जा सके। ये नमूने भी तत्कालीन शासक के सुवर्णकारों की ऊंची शिल्प सम्पत्ति को प्रमाणित करते हैं। इन में से विशेष रूप से उल्लेखनीय भारतीय विद्याभवन बम्बई के संग्रह में आजकल सुरक्षित सुनहरी आभा से झलमलाती तारा + की मूर्ति एवं नागपुर के केन्द्रीय संग्रहालय में सुरक्षित दूसरी कुछ मूर्तियां हैं। कुछ मूर्तियां कुछ व्यक्तियों के निजी संग्रहों में भी सुरक्षित हैं जिन्हें देखकर लेखक इस परिणाम पर पहुंचा है कि उस युग में मूर्ति निर्माण कला सिरपुर में बहुत उन्नति प्राप्त



सिरपुर से प्राप्त मृण्मुद्रा

---

* एपिग्राफिया इण्डिका में शीघ्र ही प्रकाशनीय।

† ताम्रपत्र देखिये।

‡ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २३, पृष्ठ ११३ इ।

× इन पदार्थोंकी प्राप्ति किन परिस्थितियों में हुई इसका विवरण श्री मुनि कान्तिसागर ने अपने ग्रन्थ "खण्डहरों का वैभव" में २८८ से २९८ पृष्ठों में दिया है। इन मूर्तियों की प्राप्ति का स्थान अब पता लगा लिया गया है और अब इस स्थान की व्यवस्थित खुदाई की जायेगी।

+ भारतीय विद्या मन्दिर की अंग्रेजी पत्रिका के ४३२ पृष्ठ पर चित्र।



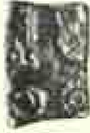
मारकंडी (चांदा) स्थित १०वीं शताब्दी का शिवमन्दिर



लोणार स्थित यादव कालीन दैत्यसूदन मन्दिर

मध्यप्रदेश में

मौर्यकाल



आहत मुद्रा

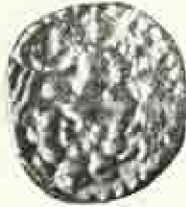


एरन में प्राप्त धर्मपाल का सिक्का



त्रिपुरी गणराज्य का सिक्का

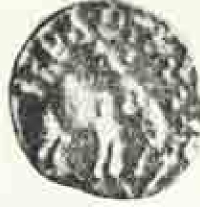
शातवाहन काल



श्री सप्तकर्णी का सिक्का त्रिपुरी



सप्तकर्णीसिक्का कन्हाला



आपिलक का सिक्का बलिपुर



रोमन सिक्का, चकरबेड़ा





रोमन मृण्मय पदक : खोलापुर-अकोला

शातवाहनोत्तर काल



मघन का सिक्का त्रिपुरी

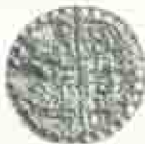
गुप्तकाल





चन्द्रगुप्त की सुवर्ण मुद्रा : हरदा

उत्पीडितांक मुद्रायें



कुमार गुप्त की मुद्रा, [illegible]



प्रसन्नमात्र की मुद्रा चौकुना आकार





नलभवदत्त वर्मन की मुद्रायें एडेंगा (बस्तर)



नलवाराहराज की मुद्रा

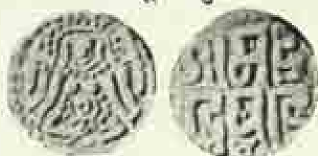
प्राप्त प्राचीन सिक्के

राष्ट्रकूट काल



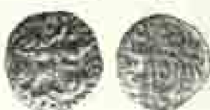
इण्डो ससीनियन सिक्का

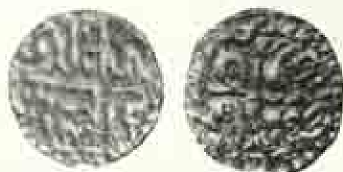
कलचुरी मुद्रा



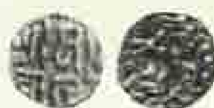
गांगेयदेव का सिक्क

कलचुरी मुद्रा





जाजल्लदेव के सिक्के





रत्न देव के सिक्के









पृथ्वीदेव के सिक्के





प्रतापमल्ल का सिक्का



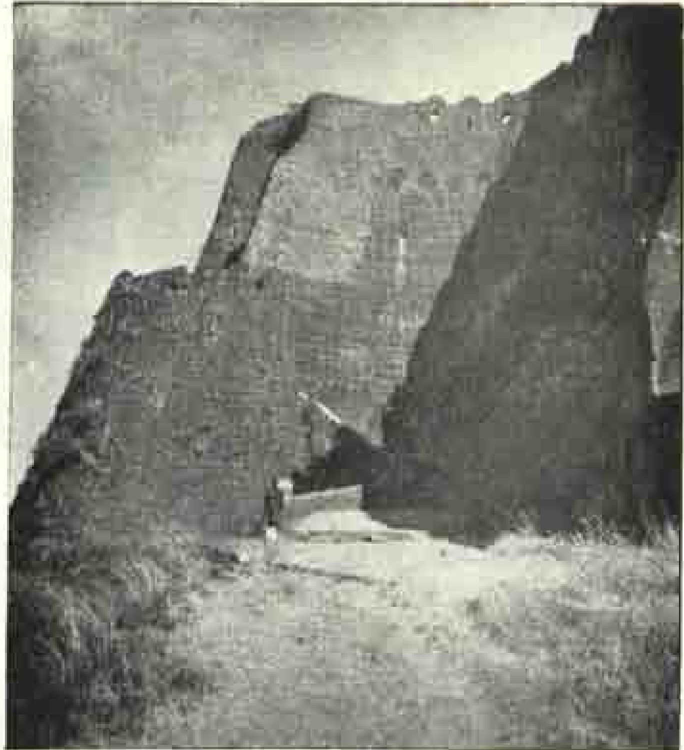
यादव रामचन्द्र का पद्मटंक
कलम्ब से प्राप्त



बाल केसरी की मुहर
बालपुर में प्राप्त



एरन (जिला सायर) में गुप्तकालीन विजयस्तम्भ,
वाराह और शिवमन्दिर



बुरहानपुर स्थित असीरगढ़ का किला

कर चुकी थी। सिरपुर में खुदाई से * प्राप्त मूर्तियां तथा दूसरी कला मूर्तियां इस बात को ध्वनित करती हैं कि प्राचीन महाकोशल में एक स्वतंत्र मूर्ति निर्माण कला उन्नति कर रही थी, इस पर गुप्त प्रणाली का प्रभाव था और जिसे कलचुरि काल के महान कलाशिल्पियों ने ग्रहण कर लिया था।

महाशिवगुप्त बालार्जुन के शासन के बाद के प्राचीन सिरपुर के विषय में हमें पर्याप्त सूचना उपलब्ध नहीं है। ईस्वी सन् की नौवीं शताब्दी में सिरपुर ने फिर से अपनी गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली क्योंकि हम देखते हैं कि शरभपुर से सम्बंधित न होते हुये भी शासक तीवरदेव ने अपने दो ताम्र-पत्र श्रीपुर से प्रसारित किये थे। इन में एक राजिम पत्र † है जो कि उसने अपने शासन के ६ वें वर्ष में प्रसारित किया था और दूसरा बलोदा पत्र ‡ है जो कि उसने अपने शासन के ८ वें वर्ष में प्रसारित किया था। इन ताम्रपत्रों से मालूम पड़ता है कि तीवरदेव के शासन में श्रीपुर सम्पूर्ण महाकोशल की राजधानी बन गया था।

* * * *

सिरपुर की भूमि में तीन ही भवन (स्थापत्य) सम्बन्धी स्मारक विशेष उल्लेखनीय हैं। वे तीन हैं (क) लक्ष्मण मन्दिर (ख) राम मन्दिर और (ग) गन्धर्वेश्वर का मन्दिर।

(क) **लक्ष्मण का मन्दिर**। ईंटों का बना यह मन्दिर इस काल के उन कुछ ही प्राचीन स्मारकों में से अवशिष्ट है जो भारत में काल के प्रहारों से सुरक्षित बच गया है। इस मन्दिर का निर्माण काल सम्भवतः ८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। भारत में ईंटों से बने कुछ ही प्राचीन मन्दिरों में सम्मिलित होने से इस मन्दिर ने पुरातत्ववेत्ताओं का, जिनमें सर्वप्रथम भारत में पुरातत्त्व के प्रथम महासंचालक सर एलेक्जण्डर कनिंगहम × थे, पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया। पिछली शताब्दी के आठवें दशक में उन्होंने इस अद्वितीय मन्दिर का महत्व आंक लिया था जिसका कि बाद में सन १९०९ १९१० में भारत शासन के पुरातत्व विभाग के श्री ए. लोंगहर्स्ट + ने उल्लेख किया था। बाद में भारतीय शासन के पुरातत्व विभाग द्वारा इस मन्दिर की मरम्मत की गयी तथा इसकी सुरक्षा की गयी, क्योंकि इस मन्दिर का बहुत बार वर्णन हो चुका है इसलिये मुख्य मन्दिर के विषय में ऐसी कोई बात नहीं है जिसका उल्लेख आवश्यक हो। पुरातत्व विभाग द्वारा निर्मित एक छते हुए स्थान में मन्दिर की सफाई करते समय एवं समीपस्थ क्षेत्रों से मिली ७३ मूर्तियां एवं शिल्प सम्बन्धी नमूने रखे गये हैं। शिल्प कला के नैपुण्य को प्रकट करने वाले कुछ दिलचस्प नमूनों में एक वृक्ष के नीचे शिशु के साथ खड़ी अम्बिका की सुन्दर पूर्ण मानव आकृति की मूर्ति, कुछ बौद्ध प्रतिमायें एवं एक चीते और द्वारपाल के मध्य हुई लड़ाई को व्यक्त करने वाली उत्कीर्ण मूर्ति प्राप्त हुई है। लक्ष्मण मन्दिर में सुरक्षित काले पत्थर की बनी सुन्दर परन्तु खण्डित विष्णु प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। (लक्ष्मण मन्दिर) का निर्माण सम्बन्धी रानी वसाटा का उत्कीर्ण लेख इस समय रायपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।

(ख) **राममन्दिर**: राममन्दिर लक्ष्मण मन्दिर के पूर्व में बिल्कुल पास में ही है परन्तु इस समय खण्डहर हो चुका है। मन्दिर के पूजास्थान की बाहरी दीवारें ही इस समय खड़ी हैं। लक्ष्मण मन्दिर के नक्शे के तुल्य ही राममन्दिर का नक्शा भी है परन्तु इसका स्थापत्य पूर्व-मन्दिर जैसा उत्कृष्ट नहीं है। यह पत्थरों से बने चबूतरे पर बनाया गया था इसका आधार तारकाकृति से बनाया गया था जैसा कि लक्ष्मण मन्दिर में उपलब्ध है।

---

*देखिये ताम्रपत्र।

† इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द १८, पृष्ठ २२० इ.।

‡ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ७, पृष्ठ १०४ इ.।

× आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द २, पृष्ठ १९८ इ. वही जिल्द १७, पृष्ठसंख्या २३ इ.।

+ "मध्यप्रदेश में प्राचीन ईंट से बने मन्दिर" आ. स. आफ इण्डिया, ए आर. १९०९–१०, पृष्ठ ११ से १७ पांच चित्रों के सहित।

(ग) **गन्धेश्वर मन्दिर**—यह मन्दिर वास्तव में प्राचीन काल का गन्धर्वेश्वर मन्दिर है। यह महानदी के तट पर बना हुआ है इसमें शिल्प या पुरातत्त्व सम्बन्धी महत्त्व की कोई बात नहीं है क्योंकि इसका बहुत सा भाग पुर्ननिमित हो चुका है। पूर्व उल्लिखित उत्कीर्ण लेखों के अतिरिक्त समीपस्थ क्षेत्रों से प्राप्त की गयी उत्कीर्ण मूर्तियां मन्दिर के अहाते में सुरक्षित कर दी गयी हैं। इन में से सबसे अधिक उल्लेखनीय भूमिस्पर्श मुद्रा में आसीन हुए महात्मा बुद्ध की दो आदमकद मूर्तियां हैं जिनके प्रभामण्डलों में बौद्ध मन्तव्य आठवीं शताब्दी के अक्षरों में उत्कीर्ण किये गये हैं। यह प्रतीत होता है कि महाशिवगुप्त बालार्जुन द्वारा निर्मित विहार से ये मूर्तियां लायी गयी थीं क्योंकि लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व मन्दिर के अहाते में निवाससम्बन्धी नवीन भागों को बनवाते समय मन्दिर के पुजारी ने इन प्राचीन अवशेषों वाले टीले को पत्थर प्राप्त करने के लिये बुरी तरह खुदवा डाला था। मन्दिर में भी विष्णु के वराह अवतार, गरुड़ द्वारा विष्णु को ले जाने आदि की कुछ मूर्तियां हैं, परन्तु पूजा में स्निग्धपदार्थों एवं सिन्दूर आदि के प्रयोग से इन मूर्तियों के चित्राङ्कित अवयव अस्पष्ट हो गये हैं। मन्दिर की चारदिवारी में बाहर की ओर शिव की ताण्डव मुद्रा में एक सुन्दर उत्कीर्ण मूर्ति लगी हुई है, इस प्रकार की मूर्ति महाकोशल में बहुत कम देखने को मिली है वैसे शिव के दूसरे स्वरूप बहुत प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त महिषासुरमर्दिनी देवी को चित्रित करने वाली बहुत सी मूर्तियां एकत्र कर दी गयी हैं जिनसे विषय का वैविध्य प्रकट होता है।

सिरपुर के स्थानवृत्त का एक बहुत ही उल्लेखनीय भाग उसके निकट के चार मील की विस्तीर्ण भाग में फैले हुए बहुसंख्यक तालाब हैं। इन में से प्रत्येक के तट पर छोटे-छोटे मन्दिरों के खण्डहर दिखते हैं। कहा जाता है कि इनकी संख्या सवा लाख से अधिक है। यद्यपि ये खण्डहर बहुत आकर्षक तो नहीं है परन्तु मलवे से कई बार दरवाजों के ऊपरी हिस्से, स्तम्भों के सिरे और बिखरी हुई उत्कीर्ण मूर्तियां अपने क्षेत्रों में समायी हुई मूर्तियों के धार्मिक स्वरूप को इङ्गित कर रही हैं। गांव के दक्षिण में बेतरतीब से फैले हुए टीले, जहां आसपास के मैदानों से अधिकतर ८–१० फुट ऊँचे हैं पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषणों के लिये उपयुक्त क्षेत्र बन सकते हैं।



दम्पति

१९५४ के ग्रीष्मकाल में लक्ष्मण मन्दिर के उत्तर में एक बड़े ऊंचे टीले की मैंने खुदाई करवायी थी जिससे पञ्चायतन शाखा का शिवमन्दिर मिला। यह ८–१० फुट ऊंचे पत्थरों के आधार पर बना हुआ था जिसके सम्मुख ईंटों का कोठरीनुमा ढांचा था। पश्चिम दिशा के सामने ४॥ फुट ऊंचे एक बड़े शिवलिंग की मुख्य मूर्ति है और पश्चिम दिशा की ओर इसी देवता की कुछ छोटी मूर्तियां हैं प्रत्येक पार्श्व पर दो-दो मूर्तियां हैं–जिससे स्पष्ट होता है कि पञ्चायतन शाखा प्रतिलोम स्वरूप की थी। इस क्षेत्र में मिली हुई कुछ महत्वपूर्ण शिल्प उपलब्धियों में महिषासुरमर्दिनी देवी, एक द्वारपालिका की आकृति और एक राजकीय दम्पति की चित्राकृति उल्लेखनीय हैं। १९५५ के प्रारम्भिक शीतकालीन महीनों में गांव की दक्षिणी सीमा पर कुछ अधिक व्यापक कार्य प्रारम्भ किया गया। लक्ष्मण मन्दिर से एक मील दक्षिण में सुरक्षित जंगल के मध्य में अवस्थित मलवे में से उभरी हुई द्वारपालों की दो

मूर्तियों के मिलने से हमें एक सूत्र प्राप्त होगया जिससे मैंने यह परिणाम निकाला कि यहां पर भग्नावशेषों में एक बड़ा मठ भूमिगत हुआ है। बाद में यहां पर खुदाई करवाने पर मालूम हुआ कि बौद्ध धर्म से सम्बन्धित दो समीपस्थ मठों का एक पार्श्वभाग है। मुख्य मन्दिर में एक विशिष्ट प्रकार की योजना देखने को मिली जिसमें पश्चात् गुप्त कालीन मन्दिर और मठ का सुन्दर सम्मिलन दिखता है। छतें हुए दरवाजे, एक सभा-मण्डप और पूजास्थान की अवस्थिति से यहां मन्दिर की सब जरूरतें पूर्ण हो जाती हैं। गुप्त काल के बाद के बौद्ध विहारों में मध्यवर्ती आंगन के चारों ओर कोठरियों की कतार की व्यवस्था बड़ी सामान्य हो गयी थी।



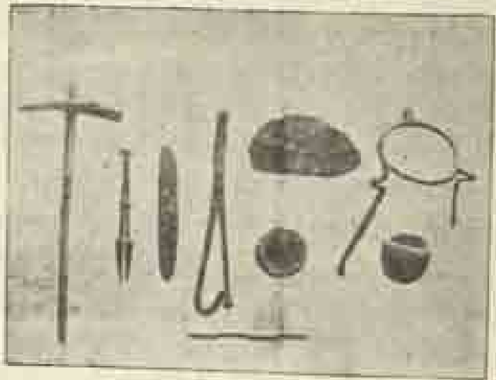
सिरपुर में मिली युगल मूर्तियां

मुख्य पूजास्थान में भूमिस्पर्श मुद्रा में सिंहासन पर बैठी हुई महात्मा बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है। इस मूर्ति की ऊंचाई ६॥ फुट के लगभग है और सिरपुर में हस्तगत हुई सम्भवतः यह सबसे बड़ी मूर्ति है। इसके दाहिने पार्श्व पर एक सेवक के रूप में अवलोकितेश्वर पद्मपाणि अवस्थित हैं परन्तु बायीं ओर की वज्रपाणि की मूर्ति अब गायब है। पूजास्थान का द्वारमार्ग पूजास्थान की दाहिनी ओर एक स्तम्भ पर आश्रित मकर के वाहन पर गंगा की खड़ी ऊंची मूर्ति से सुसज्जित है परन्तु सम्मुख स्तम्भ पर अवस्थित सम्बद्ध यमुना की मूर्ति अब लापता है।

मठ में बरामदे की पिछली ओर चार कतारों में १४ कोठरियां हैं। प्रत्येक कोठरी ८×६ फुट के आकार की है जिसमें प्रत्येक में आलों की व्यवस्था की गयी है जिन में एक दरवाजे की सांकल के लिये, दूसरा लैम्प के लिये, तीसरा ताले के लिये और चौथा वहां निवास करने वाले भिक्षुओं के सामान के लिये था। यह मठ दुमंजिला था जिसमें एक सुदृढ़ सीढ़ी के माध्यम से उत्तर पश्चिमी कोण पर एक प्रवेशद्वार था। इसका निकटवर्ती कमरा मठ के कोशागार का कार्य करता था और इसमें प्रवेश का एकमात्र रास्ता समीपवर्ती कमरे की दीवार के आधार के साथ खिड़की-नुमा एक पल्ला था। उत्तरी बरामदे के मलबे को साफ़ कराते हुए १४ पंक्तियों का एक संस्कृत उत्कीर्ण लेख, जो कि आठवीं ईस्वी शताब्दी की लिपि में उल्लिखित था, हस्तगत हुआ। इसके द्वारा हमें मठ का निर्माण विषयक विवरण प्राप्त हुआ। इसमें कहा गया था कि बालार्जुन (महाशिवगुप्त) के शासनकाल में आनन्दप्रभ नामक एक भिक्षु ने कुटी विहार का निर्माण किया था और इसके साथ एक अन्न सत्र की व्यवस्था की थी जिसमें मठ में रहनेवाले भिक्षुओं को चावल तथा खाद्यान्न निश्चित परिमाण में दिया जाता था। यह भी उल्लेख किया गया है कि तारदत्त के पुत्र श्री सुमङ्गल ने उत्कीर्ण लेख लिखा था और इसे प्रस्तरशिला पर किसी प्रभाकर नामक व्यक्ति ने उत्कीर्ण किया था। महाशिवगुप्त के दरबार का राजकवि सुमङ्गल सिरपुर से उपलब्ध हुए दूसरे उत्कीर्ण लेखों से भी प्रख्यात है।

खुदाई के कार्य में २००० से अधिक वस्तुयें प्राप्त हुई और इनकी प्राचीन अवस्था को देखते हुए यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि मठ में सुखकारी जीवन व्यतीत किया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मठ में रहनेवाले बौद्ध धर्म के अनुयायी होने पर भी आधुनिक समाज के निम्न मध्यमवर्ग के व्यक्ति थे और किसानी, बर्तन बनाने और सुवर्ण कार्य आदि विभिन्न कामधन्धों को अपनाते थे। इन सभी कारीगरों के औजार भी उपलब्ध हुए हैं। एक कमरे में सुनार के औजारों का पूरा सेट प्राप्त हुआ है जिनमें उसकी चिमटियां, चिमटे, छोटी हथोड़ी, एक तिपाई, और कसौटी भी, जिससे उसने सोना परखा होगा, सुनहरी रेखाओं के साथ सुरक्षित रूप में

प्राप्त हुआ है। निस्सन्देह खुदाई में प्राप्त बहुत सी कांस्य मूर्तियां स्थानीय कलाकारों द्वारा यहां पर ही निर्मित की गयी होंगी इन में से उल्लेखनीय सोने के पत्तरों से बना महात्मा बुद्ध का सुन्दर पुतला है जिसकी आंखें चान्दी से निर्मित की गयी हैं। स्वाभाविक लाल रंग की अनुकृति करने के लिये होठों को रंगने के लिये ताम्बे का प्रयोग किया गया है। कांसे की कुछ कलाकृतियों के, जो कि आन्तरिक सांचे की पद्धति से ढाली गयी थीं, आन्तरिक पार्श्व के साथ रेत का भाग अभी भी लगा दिखता है। उनकी कलाकृति से स्पष्ट है कि धातु के कारीगरों ने अपनी कला में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। कांसे की मूर्तियों के अतिरिक्त पत्थर की भी कुछ छोटी-बड़ी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। देवस्थान के बाहरी प्रवेशद्वार के भवन में आने पर यक्ष-कुबेर की सुन्दर मूर्ति दृष्टिगोचर होती है जो बहुत ही भव्य स्वरूप में सुसज्जित है और उत्कीर्ण कला की आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण है। मन्दिर के अहाते में इसी की एक अन्य मूर्ति प्राप्त हुई है, परन्तु सबसे सुन्दर मूर्ति मठ के मुख्य देवस्थान की मूर्तियों की अनुकृति में निर्मित सिंहासनासीन महात्मा बुद्ध की छोटी सी मूर्ति है, यह मूर्तिकला की बारीकियों एवं औजारों के सुन्दर नैपुण्य को प्रकट करती है। एक दूसरी छोटी प्रतिमा में महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों-पद्मपाणि और वज्रपाणि के साथ अवस्थित हैं। यह एक प्रस्तर शिला में अपने प्रभामण्डलों के साथ निर्मित की गयी है। इनकी कारीगरी बहुत ही सूक्ष्म है और जिन शिल्पियों ने इन्हें बनाया है उनके शिल्पकौशल को व्यक्त करता है। दुर्भाग्य से यह मूर्ति बुरी तरह से खण्डित की गयी है।


सुनार के कुछ औजार


यक्ष कुबेर

पूजा के धार्मिक उपादानों के साथ हमें गृहकार्यों में आनेवाले पदार्थ भी उपलब्ध हुए हैं। एक कमरे में, जो कि निस्सन्देह मठ का रसोईघर था हमें कढ़ाई, तवा चम्मचें, करछी, मथानी और एक छोटा सा सरोता भी उपलब्ध हुआ है।

दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं में स्कन्दाहत (स्प्रिङ्गपुश) किस्म का ताला जो कि हमें सांची और नालन्दा के मठों में भी मिला है, उल्लेखनीय है। लोहे की घंटियां, खूंटियां, दरवाजे के कब्जे, जंजीरें, चटकनियां, द्वार की सांकल आदि विभिन्न वस्तुओं के नाम परिगणित किये जा सकते हैं। मठ की छत में अच्छी इमारती लकड़ी लगी हुई थी, इसलिये हमें बड़ी गिनती में विभिन्न किस्मों व आकारों में लोहे की कीलें मिली हैं। लगभग ३००० ऐसी लोहे की कीलें हमें प्राप्त हुई हैं। प्रत्येक कमरे में दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ-यथा आटे की

चक्की, सिल बट्टा और कहीं-कहीं ऊखल भी मिला है। बरामदों के कोनों में बड़े घड़े रख कर उचित पानी की व्यवस्था की जाती थी और आलों में मिट्टी के दिये रख कर बरामदों में प्रकाश किया जाता था।



सिरपुर में प्राप्त कुछ पदार्थ

यह मालूम नहीं हो सका कि मठ का उपयोग किस तरह बन्द हो गया परन्तु भूतल विज्ञान, परिस्थिति सम्बन्धी एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी साक्षियों से स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थान पर बाद में ऐसे लोगों ने अधिकार कर लिया जो कि अपने पूर्ववर्तियों के समान शान्तिप्रिय न थे। ये बाद में आये शैव मतावलम्बी थे, न्होंने या तो बौद्ध लोगों को भगा दिया अथवा उनकी खाली कोठरियों पर अधिकार कर लिया। उन्होंने मठ के कुछ भागों की एक द्वार बना कर मरम्मत करवायी और मठ की पुरानी कोठरियों का भी प्रयोग किया। सम्भवतः वे शिकार एवं वन्य व्यवसाय कर अपना जीवन-यापन करते थे, यह बात खुदाई में प्राप्त बहुत से आयुधों, एवं हथियारों से स्पष्ट होती है। उनकी धार्मिक पूजा शिव-पार्वती, महिषासुरमर्दिनी, गणेश और लिंग जैसे दैवी उपादानों एवं देवताओं की प्रस्तरमूर्तियों की व्यक्तिगत पूजा तक मर्यादित थी, क्योंकि बहुत सी बौद्ध प्रतिमायें बुरी तरह क्षत-विक्षत एवं खण्डित स्वरूप में उपलब्ध हुई हैं। यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध की मुख्यमूर्ति की पूजा की जाती थी, उस मूर्ति का सुरक्षित रहने का प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध दशावतारों में सम्मिलित कर लिये गये थे और कुबेर आदि कुछ देवता हिन्दुओं और बौद्धों दोनों के लिये पूजा के पात्र थे। इन शैव मतावलम्बियों का कलासौष्ठव एवं शिल्पनैपुण्य उच्च न था। वे लोग पवित्र भस्म रखने के लिये छोटी चपटी तश्तरी का प्रयोग करते थे। कमल, गजलक्ष्मी, अश्वयुगल, वराह, हाथी आदि उनके अलंकार के उपादान थे, कोनों में आकृतियां भी दिखती हैं। सारसों, तितलियों आदि विभिन्न आदर्शों आदि का भी प्रयोग चित्रकला में दिखता है परन्तु इनमें किसी प्रकार का कला नैपुण्य नहीं प्रदर्शित होता, ये बिना किसी श्रम से निर्मित दिखते हैं। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि ये लोग किस काल से सम्बन्धित थे क्योंकि खुदाई के ऊपरी स्तर से किसी भी प्रकार का विशेष विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है और आकृतियों एवं सामग्री की स्थिति से यह परिणाम अवश्य निकाला जा सकता है कि मठ पर उक्त शैव आक्रमण दसवीं ईस्वी शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ होगा। संक्षेप में मठ के जीवन में यह पश्चात् मध्यवर्तीकालीन एक संक्षिप्त अस्थायी दौर ही रहा होगा। इस अधिकार के कुछ समय बाद ही मठ निर्जन हो गया होगा। उपेक्षा, भवन में लगी हुई इमारती लकड़ियों के स्वाभाविक क्षय एवं दूसरे कारणों से इसका विनाश हो गया और सारा प्रदेश जंगलों से व्याप्त हो गया।*

---

* सिरपुर के पुरातत्त्वीय अवशेषों का उत्खनन मध्यप्रदेश शासन के तत्त्वावधान में सागर विश्वविद्यालय की ओर से लेखक ने सम्पन्न किया है। इस कार्य के श्रीगणेश एवं सम्पन्न करने में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री पं. रविशंकर शुक्ल ने व्यक्तिगत दिलचस्पी दिखलायी है।

चेदि शिल्प-स्थापत्य

श्री महेशचन्द्र चौबे

भारत में मूर्तिकला का विकास कब और कैसे हुआ इसके विषय में विदेशी एवं भारतीय विद्वानों में अनेक भ्रान्ति-मूलक धारणायें फैली हुई हैं । मोहन्जदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त मूर्तिखण्डों के आधार पर कतिपय भारतीय विद्वान यहां की मूर्तियों का आविर्भाव सिन्धु सभ्यता तक ले जाना चाहते हैं, परन्तु अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं, और भारत में मूर्तियों का निर्माण काल सिकंदर के आक्रमण के पश्चात् ही मानते हैं । यद्यपि सिकन्दर के पूर्व की प्रतिमायें भारत में प्राप्य नहीं हैं तो भी कलकत्ता और पटना के संग्रहालयों में संग्रहीत कुछ यक्ष प्रतिमाएं ऐसी हैं जिन्हें श्री काशीप्रसाद जायसवाल शिशुनाक काल की मानते हैं और उन पर उत्कीर्ण नामों के आधार पर उन्हें देवकुल की प्रतिमायें होना सिद्ध करते हैं । इन मूर्तियों के संबंध में वर्षों तक विद्वानों के बीच मतभेद चलता रहा । कतिपय विद्वान कलकत्ता संग्रहालय में संग्रहीत अगम कुंआ वाली दो यक्ष प्रतिमाओं के कालनिर्णय के संबंध में एक मत न हो सके, परन्तु जायसवाल जी ने इन पर उत्कीर्ण अभिलेखों का ठीक निरूपण कर उन्हें 'अज' और 'वटनन्दी' नामक शिशुनाक वंश के पूर्वजों की प्रतिमायें सिद्ध किया है । मथुरा के संग्रहालय में प्रस्थित परखम् से प्राप्त एक आदमकद प्रतिमा को भी जिसे अन्य विद्वान किसी अज्ञात यक्ष की मूर्ति समझते थे जायसवाल जी ने बड़े परिश्रम से अजातशत्रु की प्रतिमा सिद्ध किया है । इस प्रकार भारतीय शिल्प और मूर्ति निर्माण कला ईसा की पांचवी शताब्दी पूर्व एक समुन्नत दशा को पहुंच चुकी थी, यह सिद्ध कर देने का भगीरथ प्रयत्न हो रहा है ।



त्रिपुरी में उपलब्ध बोधिसत्त्व

मौर्यों के समय में भारतीय कला-कौशल उन्नति के जिस उच्चतम शिखर पर था, यह सांची के स्तूपों और सारनाथ की मूर्तियों को देखने से प्रतीत होता है । कुछ विदेशी विद्वान सारनाथ संग्रहालय में रखे हुए हमारे देश के वर्तमान राजचिह्न को देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि इन सिंहों पर पारसिक सभ्यता की छाप है और कदाचित् अशोक के कलाकारों ने ईरान के विश्वविख्यात नगर "पारसीपोलिस" से प्रेरणा ली हो । परन्तु मौर्यकालीन चंवर ग्राहिणी की भव्य प्रतिमा देख कर यह कदापि परिलक्षित नहीं होता कि वह किसी अन्य कला की देन हो । उसकी भारतीय मुद्रा युग की नारी का प्रतीक है । मौर्यकाल में राजकीय सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ इससे वह लोक कला से भिन्न राजकीय वैभव के रूप में सामने आयी । मौर्यों के पश्चात् राज सत्ता शुंगों के हाथ में आयी । इनके समय में निर्मित भरहुत

का स्तूप कला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस स्तूप में पायी गयी सैकड़ों प्रतिमायें स्थानीय लोक कला के सुन्दर उदाहरण हैं। इनको देखकर यह विश्वास होता है कि लोक जीवन में कला का बड़ा सहज प्रवेश था। इसी से मूर्तियों के विषय भी दैनिक जीवन में आने वाली वस्तुओं से भिन्न नहीं हैं।

शुंग राज्य के समाप्त होने के बाद उत्तर में शक, कुषाण और दक्षिण में सातवाहन राज्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मथुरा से प्राप्त सैकड़ों प्रतिमाओं पर कुषाण राजकाल की गहरी छाप है। सिक्कों के ऊपर बनी हुई मूर्तियों पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट ही है। दक्षिण में आन्ध्रों के अभ्युदय के साथ ही कला को भी प्रोत्साहन मिला। अमरावती के महाचैत्य से प्राप्त सुन्दर प्रतिमाएं मूर्तिकला के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। बौद्ध धर्म तबतक जनता का धर्म था, अमरावती के कला-कौशल को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है। महायान संप्रदाय के प्रादुर्भाव के पूर्व बौद्ध प्रतिमाओं का निर्माण नहीं होता था। यही कारण था कि भरहुत में बुद्ध के स्थान में वज्रासन का प्रतीक बना देते थे। परन्तु कनिष्क के समय में जब प्रथम बुद्ध प्रतिमा का निर्माण किसी यक्ष प्रतिमा के आधार पर हुआ उसके बाद तो मूर्तिकारों को एक नया विषय मिल गया और बौद्ध गाथाओं के आधार पर सुन्दर प्रतिमाएँ बनने लगीं। इसके बाद इस देश का सुवर्ण युग प्रारम्भ होता है।

जिस प्रकार प्रभात का आगमन पक्षियों के कलरव से प्रतीत होता है--उसी प्रकार गुप्त काल का आगमन कालिदास के सुन्दर छन्दों और अजन्ता तथा बाघ के भित्ति चित्रों से ज्ञात होता है। गुप्त काल की कला में सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय तो है ही साथ ही जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध भी स्थापित है। अजन्ता के भित्ति चित्रों में वर्णित बौद्ध कथायें, पुलकेशी के राजत्वकाल में ईरानी दूत के आगमन का सुन्दर चित्र, सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाएं, देवगढ़ के नर-नारायण और उदयगिरि के वाराह की मूर्ति इस काल की अनुपम देन हैं। राजघाट से प्राप्त मिट्टी के खिलौने लोक-जीवन के अध्ययन में बड़ी सहायता देते हैं। उस समय की मुद्राओं में चित्रित सम्राट् समुद्रगुप्त अपने विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं; यह इस बात का द्योतक है कि राजाओं में भी कला के प्रति कितनी उदार भावना थी। हूण आक्रमण के बाद जब गुप्तों की नींव कमजोर होगयी तब भारत भिन्न-भिन्न राज्यों में विभाजित होगया, जिससे कला में सर्वदेशीय न होकर स्थान विशेष के गुण आ गये। मध्ययुगीन संस्कृति ने जितना भी आकर्षण एकत्र किया वह गुप्त काल का ही परिमार्जित रूप है। इस युग का अवसान राजपूत शक्तियों के अभ्युदय के साथ ही हुआ।

मध्ययुग के राजवंशों में स्थानेश्वर के मौखरि, बादामी के चालुक्य, मानखेड के राष्ट्रकूट, भिन्नमाल के गुर्जर-प्रतिहार, खजुराहो के चंदेल और त्रिपुरी के कलचुरि तथा धार के परमार प्रमुख राजपूत वंश हैं। इनके नाम के साथ ही मध्ययुगीन कलाओं का नामकरण हुआ। वास्तुकला मध्ययुग में बहुत पनपी और आज भी सुन्दर-सुन्दर मन्दिर उस युग की झांकी दिखलाते हैं। मध्य काल की इस प्रगति में "चेदि" देश भी पीछे नहीं रहा। यहां भी कला की ओर रुझान आरम्भ हुई। नर्मदा और यमुना के बीच के कछार को चेदि देश कहते हैं। यह पुराणों में डाहल मंडल के नाम से भी, प्रख्यात है:—

"अस्ति विश्वंभरा सारः कमला कुल मन्दिरम्।
भागीरथी नर्मदयोर्मध्ये डाहलमण्डलम्॥"

कालांतर में इसके दो भाग हुए जो क्रमशः "जेजाकभुक्ति" तथा "भट्टविल" कहलाये। जेजाक भुक्ति आधुनिक बुन्देलखण्ड है —और भट्टविल बघेलखण्ड। वैसे तो चेदि देश में महाभारत काल में शिशुपाल राज्य करता था परन्तु शुंग काल में शुंगों के एक मांडलिक धनभूति रीवां के पास राज्य करते थे। भरहुत के विहार में इनके कई अभिलेख प्राप्त होते हैं। गुप्त काल में चेदि देश परिव्राजक महाराजाओं के अधिकार में था। ये गुप्तों के मांडलिक थे। इनके समय में यहां के कला-कौशल की अत्यधिक उन्नति हुई। इस काल के कुछ अवशेष आज भी उपलब्ध हैं। भूमरा का शिव मन्दिर तथा तिगवा का देवालय गुप्तकाल के उत्कृष्ट शिल्पों में से हैं। कलचुरियों के सत्तारूढ़ होते ही चेदि देश

में नवीन जागृति के दर्शन होते हैं। ये अपने साथ एक नवीन पाशुपत धर्म लेकर आये जिसके आचार्यों ने जगह-जगह देवालय और शिव मूर्तियां स्थापित कीं। इन्हीं आचार्यों के प्रोत्साहन के कारण सम्पूर्ण चेदि देश में शैवधर्म का सिक्का जम गया। शैव धर्मावलम्बी साधुओं का सम्पूर्ण मध्ययुगीन राजसत्ता में बहुत बड़ा हाथ था जो कि मुसलमानों के आगमन के पश्चात् ही समाप्त हुआ। ये आचार्य भिन्न-भिन्न देशों से बुलाये गये थे इसीलिये प्रशस्तियों में लाट, गौड़, केरल इत्यादि देशों के नाम आते हैं। यही कारण है कि इस देश की कला-कृतियों पर एक विशिष्ट संप्रदाय की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। कलचुरि कला कोई विशेष संदेश लेकर समाज के समक्ष नहीं आयी। उसमें तत्कालीन मानव का दिग्दर्शन उसके नैसर्गिक रूप में प्राप्त होता है। नख-शिख से अलंकार पूर्ण यक्ष व यक्षिणियों की प्रतिमायें प्रान्त के कोने-कोने में किसी वृक्ष के नीचे या खेर माई नाम से पड़ी मिलेंगी। मन्दिरों और मठों के निर्माण में चेदि देश किसी से पीछे नहीं रहा। बिलहरी स्थित नोहलेश्वर का मन्दिर, सौभाग्यपुर का विराटेश्वर का मन्दिर, अमरकंटक के केशव नारायण के मन्दिर और भेड़ाघाट स्थित चौंसठ योगिनी का मंदिर कलचुरि कला के ज्वलंत उदाहरण हैं। इन मन्दिरों को जब बेग्लर ने प्रथम बार देखा था तब अन्य शिल्पों से उनकी भिन्नता देखकर उसने इनका नामकरण "कलचुरि शिल्प" ही किया था। इनका निर्माण भी एक विशेष शिल्प पद्धति के आधार पर हुआ था जिससे वही समानता जबलपुर से लेकर विन्ध्यप्रदेश तक पायी जाती है। कलचुरि शैव मतावलम्बी थे अतः यहां शिव मंदिरों का ही बाहुल्य है। इनकी भव्यता इससे ही प्रतीत होता है कि रीवां नरेश ने अपने महल के द्वार पर गुरजी के शिवालय के तोरण ही लगवाये हैं जिनका सौन्दर्य देखकर आज भी लोग दांतों तले अंगुली दबाते हैं। मूर्ति निर्माण में मध्ययुगीन संस्कृति को जितना योगदान कलचुरि और चन्देल शिल्प ने दिया है उतना किसी अन्य ने नहीं। यहां की श्रेष्ठतम प्रतिमाएं निरीह काल की चुनौती स्वीकार करती हुई मौन धारण किये यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। जिन कतिपय विषयों को छूकर कलचुरि शिल्पकार ने आत्मा उंडेल दी है, वे इस प्रकार हैं :—

उमा-महेश्वर, विष्णु, कार्तिकेय, वाराह, यक्ष-यक्षिणी, योगिनी, सप्त मातृका और गणेश इत्यादि।

लोक में फैली हुई बौद्ध और जैन धर्म की असंख्य मूर्तियां या तो धरातल पर ही अथवा मेदिनी के अमर क्रोड़ से आज भी बाहर निकलती आ रही हैं। इनमें तीर्थंकर, उनकी साधना में लीन यक्ष और यक्षिणियां और जैन वाङ्मय में वर्णित विषय मूर्तिमान किये गये हैं। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत बुद्ध, बोधिसत्त्व, तारा और वज्रयान से संबंधित अन्य देवी-देवता भी शिल्पकार की तीक्ष्ण दृष्टि से बचे नहीं हैं। इस प्रकार सभी धर्मों का समन्वय इस प्रान्त की विशेषता है।

उमा-महेश्वर—उमा-महेश्वर की सर्वाङ्ग सुन्दर प्रतिमा भेड़ाघाट स्थित चौंसठ-योगिनी के मंदिर में है। यहां शिव पार्वती से परिणय कर प्रसन्न मुद्रा में लौट रहे हैं। दोनों नन्दी द्वार पर आसीन हैं और नीचे तूणव, वेणु, मृदङ्ग आदि, वाद्यों का आयोजन है। गुरजी जो सिहोरा से तीन मील की दूरी पर है, वहां भी शिव-पार्वती की एक सुन्दर प्रतिमा है। रीवां से आठ मील दूर एक अन्य गुरजी में भी शिव-पार्वती की विशालकाय मूर्ति पड़ी है।

वाराह—वाराह की सुन्दरतम प्रतिमा मझौली के विष्णुवाराह के मंदिर में है। काले पत्थर की यह सुन्दर मूर्ति मूर्तिभंजकों की कृपापात्र न बन सकी और अभी भी पूजी जाती है। इसी प्रकार के खंडित सुन्दर वाराह पनागर और बिलहरी में भी पड़े हुए हैं।

कार्तिकेय—कार्तिकेय की एक सुन्दर प्रतिमा जिसके हाथ खंडित हो गये हैं, वर्तमान तेवर की खेरमाई में पड़ी है, जो कला की दृष्टि से ग्यारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है। इतनी सुन्दर प्रतिमा अन्य किसी स्थान में देखने में नहीं आती।

यक्ष और यक्षिणियों की सैकड़ों प्रतिमाएँ चेदि देश के अंतर्गत मिलती हैं। यक्षों की पूजा का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव जाति का। इसी लिये यक्षों की पूजा, अनादि काल से चली आ रही है। त्रिपुरी में वेणुवादिनी, सुदर्शना, नागी इत्यादि कई प्रकार की यक्षिणियों की प्रतिमाएँ रखी हैं। बिलहरी के आधुनिक मंदिरों



त्रिपुरी में उपलब्ध सुदर्शना यक्षिणी



कटनी में प्राप्त 'विष्णु' प्रतिमा



त्रिपुरी में प्राप्त 'उमा-महेश्वर'



पुरवा में उपलब्ध 'पद्मासना' लक्ष्मी

में भी कई यक्षिणियों की प्रतिमाएँ रख दी गई हैं। विन्ध्य प्रदेश के सोहागपुर स्थान के ठाकुर साहब के घर में भी सुन्दर यक्षिणियों की प्रतिमाएँ संग्रहीत है, जिनमें जैन शासन देवियां भी सम्मिलित हैं।

विष्णु—विष्णु की एक अत्यंत मनोहर प्रतिमा कटनी नदी के किनारे मसुरहा घाट से प्राप्त हुई है। सिहोरा के पास गुरजी में विष्णु की एक अत्यंत आकर्षक आदमकद प्रतिमा है, जो काली माई के नाम से पूजी जाती है। विष्णु की अधिकांश प्रतिमाओं में उनके दशावतार बड़े ही सुन्दर रूप से बनाये गये हैं। अनन्तशायी शेषशायी विष्णु की कई सुन्दर प्रतिमाएँ विन्ध्य प्रदेश के भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। विन्ध्य प्रदेश के सौभाग्यपुर और जबलपुर के बिलहरी स्थान में अवस्थित इन सुन्दर प्रतिमाओं में यहां के कलाविदों की कार्य-कुशलता एवं सजीवता का परिचय दिया गया है।

त्रिपुरी में, भारत में प्रथम बार गाथा सप्तशती की एक गाथा के आधार पर निर्मित एक पाषाण प्रतिमा मिली है, जिस पर पूरी गाथा चित्रित है। यह विलक्षण प्रतिमा अनिर्णीत अवस्था में वर्षों पड़ी रही। इसके नीचे लिखे अभिलेख के पढ़े जाने पर ही यह भेद खुला। यह अभिलेख इस प्रकार है :—

" अलि अप मुत्त अविणि मौलि अई दे मूह ग्रमूह उवांस गन्ड परिउम्ब पुल्द अंगण उणे विराइस मम् " ।

संपूर्ण चेदि देश के अंतर्गत जैन सम्प्रदाय एक जीवित धर्म के रूप में दिखाई देता है। जैन तीर्थंकरों और शासन देवियों की अनगिणत प्रतिमाएँ आज भी प्राप्त हो रही हैं। आमा हिनौता से नेमिनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसके साथ उनके यक्ष और यक्षिणियां गोमेध और अम्बिका हैं। सोहागपुर के ठाकुर साहब के यहां सैकड़ों जैन प्रतिमाएँ संग्रहीत हैं। अधिकांश का तो निरूपण ही ठीक तरह से नहीं हो पाया है।

बौद्ध प्रतिमाएँ—ह्यूनत्सांग ने त्रिपुरी में सातवीं शताब्दी में जीवित बौद्ध धर्म देखा था। सातवीं शताब्दी के पश्चात् सम्पूर्ण भारत में वास्तविक धर्म का लोप हो गया और उसके बदले मंत्र-तंत्र की परम्परा ने जन्म लिया। यह पतन केवल बौद्ध धर्म के साथ ही नहीं, वरन् अन्य धर्मों के साथ भी हुआ; परन्तु बौद्धों में वज्रयान, सहजयान, मंत्रयान तथा कालचक्र यान के नाम से कुछ विचित्र परम्परायें आयीं, जिसके अन्तर्गत हजारों नये देवी देवता बने और गुह्य साधना का क्रम आरम्भ हुआ। त्रिपुरी के पास गोपालपुर में अवलोकितेश्वर और तारा की सुन्दर मूर्तियां प्राप्त हुई है। स्वयं त्रिपुरी में बोधिसत्त्वों की बहुत सुन्दर प्रतिमायें पायी जाती हैं, जिनमें बौद्धों का बीज मंत्र भी खुदा हुआ है।

इस प्रकार भारतीय मूर्ति कला के इतिहास में चेदि शिल्प अपना विशिष्ट स्थान रखता है; यद्यपि पुरातत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में इसका योगदान नगण्य है, परन्तु वास्तविक रूप से विचार किया जावे तो यही प्रतीत होता है कि केवल "राखालदास बनर्जी" को छोड़ कर अन्य किसी विद्वान् ने इस ओर दृष्टिपात ही नहीं किया। उसका परिणाम यह हुआ कि चेदि शिल्प अंधकार के आवरण में विलीन हो गया। इतिहास निर्माताओं की नयी पीढ़ी अवश्य इस दिशा में प्रयत्नशील होगी और चेदि कला को भारत की अन्य कलाओं के साथ समान स्थान प्राप्त होगा।

महाकोशल में प्राप्त ताम्र तथा शिलालेखों की संस्कृत रचना

श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय

रायपुर, बिलासपुर और सम्बलपुर—ये तीन जिले सन् १६०५ के पहले मध्यप्रदेश के "छत्तीसगढ़ विभाग" में सम्मिलित थे। वर्तमान 'दुर्ग' का जिला रायपुर जिले में एक तहसील के रूप में था। सम्बलपुर जिले में सोनपुर देशी राज्य (स्टेट), पटना देशी राज्य, बामण्डा या बामरा देशी राज्य आदि लगते थे। ये सब भू-भाग महाकोशल के हृदयदेश या मध्य एवं मुख्य अञ्चल में गिने जाते थे। इसी* सीमा के भीतर (अर्थात् सिहावा (राजिम) से लेकर वैद्यनाथ (सोनपुर) पर्यन्त) महाकोशल की राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर गांव, जहां डाक्टर एम. जी. दीक्षित ने अपनी खुदाई में प्राप्त ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में लाये हैं कि समस्त भारतवर्ष के पुरातत्व एवं इतिहास के विद्वानों का ध्यान उस ओर आकर्षित हो उठा है)। शिवरी नारायण, नन्दपुर कोसीर, स्वर्णपुर या सुवर्णपुर (वर्तमान सोनपुर नगर—उड़ीसा), ययाति नगर, विनीतपुर, बामण्डापाटि, "किसरकेल्ला," मूरसीमा, महाविजय कटक, तुम्माण, रत्नपुर आदि अवस्थित थे।

"मूरसीमा" से एक ताम्र-शासन त्रिकलिङ्गाधिपति महाराज महाभवगुप्तराज जनमेजयदेव के शासन के ८ वें वर्ष में प्रचारित किया गया था। उसके प्रारम्भिक अंश की रचना देखिए—

ॐ स्वस्त्यनेक वर विलासिनी चरणनुपुररवोद्भ्रान्त मत्त पारावत कुलात् सकल दिगन्तरागत वन्दि जन विस्तारित कीर्त्तेः श्रीमतो मूरसिम्नः ॥†

यह "मूरसीमा" उड़ीसा के पटना राज्य में है।

ॐ स्वस्ति। सुवर्णपुर समावासित श्रीमतो विजयस्कन्धावारात्।

सुवर्णपुर में विजय-स्कन्धावार से एक दान पत्र दिया गया था।

अब "ययाति नगर" की प्रशंसा में कवित्वपूर्ण पद्य रचना के साथ-साथ महाकोशल की जनमनमोहिनी, जीवनदायिनी चित्रोत्पला महानदी ‡ का भी नामोल्लेख देखिए—

स्वस्ति-प्रेम निरुद्ध मुग्ध मनसो स्फारी भवच्चक्षुषोर्यूनो यत्र विचित्र निर्भर रत क्रीड़ाकर्म तन्वतो।
विच्छिन्नोऽपि कृतातिमात्र पुलकै रायिर्भवत् सीत् कृतैराश्लेषैः ग्लपितक्लमै : स्मररसः कामं मुहुस्ताय्यते ॥१॥

---

* सोनपुर से वेल नदी के तट पर २० मील दूर वैद्यनाथ में कोसलेश्वर का विशाल प्राचीन मन्दिर है।

† "सुतल्लमा" ग्राम दान वाला ताम्र शासन.—'म. को. हि. सोसायटीज पेपर्स', जिल्द २, पृष्ठ ३३।

‡ डा. दिनेशचन्द्र सरकार द्वारा सम्पादित "महादा प्लेट्स आफ सम स्वरदेव" २३ वर्ष, में चित्रोत्पला नाम महानदी के स्थान पर आता है—

"यस्यावरोधस्तन चन्दनानां प्रक्षालनाद्वारि विहार काले"
चित्रोत्पला स्वर्णवती गताऽपि गङ्गोर्मिसंसक्त मिवा विभाति॥
इस ताम्रलेख का समय सन् ११५५—११८० ही में पड़ता है।

यत्राश्लेष विशेष रूपमहिमाः पास्तास्पराः कान्तिभिः
जातेर्ष्या कलहेष्वपि प्रणयिनः कर्णोत्पलैस्ताडिताः।
जायन्ते प्रविशांकित स्मरशार प्रोत्थापितान्तर्व्यथा
सान्द्र स्वेद जलावसेचन वशान्निर्गत रोमाङ्कुराः॥२॥

अत्युत्तुङ्ग करीन्द्रदन्तमुसलैः प्रोदभासिरोचिश्चयैः
ध्वान्त ध्वंसन निष्फलीकृत शरच्चन्द्रोदयैः सर्वदा।
यत्रासीदसती जनस्य विहारं मुक्तामयं मण्डनम्
संकेतास्पदमप्यतीव धवलं प्रालाव शृङ्गाग्रतः ॥३॥

महानदी-तुङ्ग-तरङ्ग-भङ्ग-स्फारोच्छलच्छीकरवर्षिरारात्
यस्मिन् रतासक्ति मदङ्गनानां श्रमापनोदः क्रियते मरुद्भिः॥४॥

तस्मात् श्रीययातिनगरात्॥

इस शृङ्गार-वैभव–विचित्रीकृत ययाति नगर के संस्थापक सोमवंश संभूत श्री महाभवगुप्त जनमेजय राज देव के उत्तराधिकारी एवं सत्पुत्र "स्वपितृ पादानुध्यातः.......

परम माहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर सोमकुलतिलक: त्रिकलिङ्गाधिपति श्रीमहाशिवगुप्त ययातिराजदेव थे, जिनको उत्कल के इतिहासज्ञ "ययाति केसरी" की आख्या प्रदान करते हैं।

कहा जाता है कि कोसलेन्द्र* ययातिराजदेव स्वयं उच्च कोटि के संस्कृतज्ञ एवं प्रतिभावान् सुकवि थे। उद्धृत श्लोकों की रचना संभवतः उन ही के द्वारा की गई थी। कोसल रत्नमाला के "प्रशस्तिकृतः कवयः" में यह श्लोक मिलता है—

चित्रोत्पला चरण चुम्बित चारुभूमौ श्रीमान् कलिङ्ग विषयेषु ययातिपुर्याम्।
ताम्रे चकार रचनां नृपति र्ययातिः श्रीकोसलेन्द्र इति नामयुतः प्रसिद्धः।

ऊपर जिन ताम्र-लेखों के उद्धरण दिये गये हैं, उनकी लिपि "कुटिल नागरी लिपि" है। ताम्रलेखों का समय सन् ईस्वी ६०० और १,००० के आस पास निर्धारित किया गया है।

कुछ महीने पूर्व बिलासपुर जिले के चन्द्रपुर तालुक के अड़भार ग्राम में एक ताम्रशासन के तीन पत्र प्राप्त हुए थे। इनके अध्ययन का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था। उस ताम्र लेख में "अड़भार" ग्राम का नाम "अष्टद्वार" लिखित है। उसका प्रथम वाक्य देखिये—

ॐ स्वस्ति श्रीपुरात्। अनेक जन्मान्तराराधितभगवन्नारायण भट्टारक पाद प्रसादित-नय-विनय-सत्य त्याग शौर्यादिगुणसम्पत् सम्पादित प्रथम पृथ्वीपति प्रभाव परिभावि सम्भावनस्य भावनाभ्यास प्रकाशीभूत निम्मलेऽन्वय अधिनः शशिवंशभूतेः स्वभुजपराक्रमोपार्जित सकल कोसलादि मण्डलाधिपत्य प्राप्त माहात्म्यस्य श्रीमहाशिव तीवरराजस्य प्रद्युम्न इव कैटभारेः रात्मजः सच्चरितानुकरणपरायणः प्राप्त सकल कोसला मण्डलाधिपत्यः परम वैष्णवो माता पितृपादानुध्यातः श्रीमहानन्नराजकुशली।

---

* प्रणीतं कोसलेन्द्रेण प्रतिबोध्य महत्तमम्।
श्रीदत्त पुण्डरीकाक्ष शासनं ताम्र निर्मितम्॥

एक अन्य प्रशस्ति रचनाकार का नाम था, श्रीसिंहदत्त, जो महाभवगुप्त भीमरथ महाराज के "महासन्धिविग्रहिक" के पद को सुशोभित करते थे।

यह तो उत्कल कोसलाधिप महानन्नराज के दान-पत्र की रचना का एक अंश है। अब इनके पिता महाशिव तीवरराज के "राजिम" वाले ताम्र-शासन की भाषा और रचना-शैली पर विचार कीजिए—

......विविध रत्न संभार-लाभ-लोभ विजृम्भणाक्षिार-वारि-वाड़वानलः चन्द्रोदय इवाकृतकरोद्वेग : क्षीरोद इवाविर्भूतानेकातिशायि-रत्न-सम्पत् गरुत्मान् इव भुजङ्गोद्धारचतुरः ...... प्रसन्नयौवनेन चाल-ङ्कृत : स्वामी भवन्नप्य बहुलेपनोनुज्भित : कुतुण्णोपि नितान्त त्यागी, रिपुजन प्रचण्डोऽपि सौम्यदर्शन : भूमि विभूषणोप्य परत स्वभाव : ..... असन्तुष्टो धर्म्मार्जने न सम्पल्लाभे स्वल्पः-कोपे न प्रभावे, लुब्धो यशसि न परवित्तापहारे, सक्त : सुभाषितेषु न कामिनीक्रीड़ासु प्रतापानलदग्ध शेषरिपुकुल तूल-राशि : ..... प्राप्त सकल कोसलाधिपत्व : ..... परमवैष्णवो मातापितृ पादानुध्यात: श्री महाशिव-तीवरराज: कुशली ॥

आगे श्रीपुर के उदार चरित शासक महारानी वासटा के सत्पुत्र रत्न परम माहेश्वर महाशिव बालार्जुन के ताम्र-शासन का प्रथम वाक्य उद्धृत किया जाता है :—

"ॐ स्वस्त्यशेष क्षितीश विद्याभ्यास विशेषासादित महनीय विनयसम्पत् सम्पादित सकल विजिगीषुगुणो गुणवत्समाश्रयप्रकृष्टतर शौर्य प्रज्ञा प्रभाव संभावित महाभ्युदय : कार्त्तिकेय इव कृत्तिवाससो राज्ञ : श्रीहर्षदेवस्य सुनू : सोमवंशसम्भव: परममाहेश्वर मातापितृपादानुध्यात श्री महाशिवगुप्तराज : कुशली ॥"

इन सब ताम्रलेखों की लिपि सन्दूकनुमा 'बाक्स-हेडेड' या वाकाटक लिपि है, जैसा कि खड़भार वाले ताम्र लेख की छाप से ज्ञात होगा। इन लेखों का समय ६००–७०० सन् ईस्वी के आसपास है। खेद है, इन ताम्रलेखों के रचयिता गण के नाम अज्ञात हैं, पर इतना तो स्पष्ट है कि "वन पर्वत गिरिदरी सरित पूरित" दक्षिण कोसल की भूमि अच्छे संस्कृतज्ञ कविकोविदों से विरहित न थी। संस्कृत विद्या देवी के भक्त उपासक यहां भी ऐसे उच्चकोटि के थे, जिनकी लेखन कुशलता महाकवि दण्डी और बाणभट्ट की शैली की याद दिलाती है।

दो-तीन शिला-लेखों में हमें प्रशस्तिकार कवियों के नाम मिलते हैं। वे हैं—

(१) चित्तातुराङ्क ईशान, सन् ईस्वी ७००।
(२) भास्कर भट्ट, सन् ईस्वी ६००।
(३) श्री तारदत्तात्मज सुमङ्गल।
(४) नारायण सत्कवि : सन् ईस्वी १,२००।

इन सब की पद्यबद्ध रचनाएँ शिला-लेखों में अब तक सुरक्षित हैं, जिससे उनके संस्कृत भाषा एवं साहित्य ज्ञान का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। इन चारों कवियों की कृतियां रायपुर तथा नागपुर के संग्रहालयों में सुरक्षित शिला-लेखों में पाठक देख सकेंगे।

यहां मैं अभी हाल की श्रीपुर की खुदाई में डाक्टर मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित द्वारा प्राप्त कुटिल लिपि में संस्कृत भाषा में लिखित सुमङ्गल कवि का एक पद्य उद्धृत करता हूं। इन तारदत्त के सुपुत्र कवि सुमङ्गल द्वारा रचित एक अन्य शिलालेख भी इसी लिपि में सिरपुर के गन्धेश्वर मन्दिर में है।

सुमङ्गल कवि महाशिवगुप्त बालार्जुन के शासन काल में विद्यमान थे, जैसा कि नूतन आविष्कृत भिक्षु आनन्द-प्रभ द्वारा स्थापित "विहार कुटी" की चौदह पंक्ति वाली प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

सुकवि सुमङ्गल जी लिखते हैं—

धवल कुल कमल भानौ भूभृति भूपाल मण्डली तिलके।
प्रतिपक्ष क्षतिदक्षो रक्षति बालार्जुने क्षोणिम् ॥

उस प्रशस्ति का अन्तिम श्लोक यह है—

सुमनोनुगतामेतां चक्रे स्रजमिवो (ज्ज्वलां)
सूनुः श्रीतारदत्तस्य प्रशस्ति श्रीसुमङ्गलः ॥

ईशान बड़े शानदार कवि थे, ऐसा उनकी पद्य रचना व्यक्त करती है। वे महाशिव बालार्जुन की माता, मौखरी-नरेश श्री सूर्यवर्म्मा की पुत्री तथा "प्राक् परमेश्वर" विशेषण से विभूषित कोसलाधिप श्रीहर्षगुप्त महाराज की महारानी को अपनी प्रतिभा से अमर कर गए हैं। "चिन्तातुराङ्क" उनकी उपाधि थी, ऐसा अनुमान किया जाता है—

इति व : प्रशस्तिकार : कवि : स चिन्तातुराङ्क ईशान :
यत्पालनार्थमर्थयति पार्थिवास्तां स्थिति शृणुत ॥ श्लोक २४।

महारानी "वासटा" पर शिला लेख में जो श्लोक है, वह यों है—

तस्योरुजन्यजयिनो जननी जनानाम् ईशस्य शैलतनयेव मयूरकेतो :।
विस्मापनी विबुध लोकधियां बभूव श्री वासटेति नरसिंह तनो : सटेव ॥ श्लोक १५।

सुकवि भास्कर भट्ट ने शिलालेख का श्रीगणेश धनुर्धर जिन की जय मनाते हुए किया है। यथा—

अनुत्तर ज्ञान चाप-युक्त मैत्री शिलीमुख :
जयत्यजय्य जानीक जयी जिन धनुर्धर : ॥ श्लोक १।

भट्ट भास्कर के शिलालेख में पहले एक "सूर्यघोष" नामक शासक का वर्णन है। (श्लोक ५)। बाद में १६ वें श्लोक में पाण्डव वंश के उदयन नामक राजा का उल्लेख है—

गच्छति भूयसि काले भूमिपति : क्षपित सकल रिपुपक्ष :
पाण्डव वंशात् गुणवान् उदयन नामा समुत्पन्न : ॥१६॥

—भवदेव रणकेसरी का भान्दक वाला शिलालेख।

ज्ञात होता है, यही "उदयन" इन्द्रबल के पिता थे, जिन्हें सोम या पाण्डुवंशीय महाकोशल के राजाओं का आदि पुरुष मानना चाहिये।

अब नारायण सत्कवि का परिचय देकर हम अपनी लेखनी को विश्राम देते हैं—

श्रीवत्सश्चरणाब्ज पूजनमतिर्न्नारायण : सत्कवि :
श्रीरामाभ्युदयाभिधं रसमयं काव्यं स तद्यो व्यधात्
स्मृत्वाख्य यदीय वाक्य रचना प्रादुर्भवन्निर्भर
प्रेम्णोल्लासित चित्तवृत्तिरमुचत् वाग्देवता वल्लकीम् ॥ श्लोक ४३।

—सारंगढ़ राज्य के पुजारीपाली में प्राप्त गोपालवीर का शिलालेख।

छत्तीसगढ़ की प्राचीन शासन व्यवस्था

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र

मध्यप्रदेश का छत्तीसगढ़ प्रान्त ही एक ऐसा स्थल है, जहां प्राचीन काल की शासन व्यवस्था अर्वाचीन काल तक चलती आई है। न तो वहां कभी मुसलमानों का आधिपत्य हो पाया और न अंग्रेजों के आने के पहले अन्य किसी विदेशी शक्ति का। गोंडों का भी वहां एक छत्र साम्राज्य नहीं होने पाया यद्यपि उनके छोटे-छोटे राज्यों की संख्या इस क्षेत्र में बहुत हो गई थी। जिन कलचुरियों ने वहां अनेक शताब्दियों तक शासन किया, उन्होंने ऐसी कोई प्रथा नहीं चलाई, जो विदेशी अथवा विजातीय आक्रमणकारियों को अभीष्ट रहा करती है। अतएव प्राचीन आर्यों की जो शासन-व्यवस्था रही है और प्राचीन अनार्यों की भी जो शासन-व्यवस्था रही है, उन दोनों के अवशेष इस प्रान्त में बने ही रहे। यह प्रान्त आर्य और अनार्य, दोनों ही संस्कृतियों का संगम स्थल रहा है, यह तो प्रसिद्ध है ही। दोनों की सम्मिलित संस्कृति की जो परम्परा इस प्रान्त में स्थापित हुई, उसकी जड़ें उखाड़ने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया। अतएव वे इतनी गहराई तक चली गई हैं कि अंग्रेजी-काल की पराधीनता में भी वे निर्जीव न हो पाई और आज स्वातंत्र्य के उन्मुक्त वातावरण में वे फिर लहलहाने को उद्यत हैं।

बाहर से आया हुआ आक्रमणकारी स्वभावतः ही अपनी शक्ति और अपने स्वार्थ की वृद्धि चाहता है। वह शासित वर्ग को अपने से भिन्न मान कर उसके शोषण के लिये नये-नये उपाय निकालेगा, नये-नये व्यक्तियों की नियुक्ति करेगा। वह शासित वर्ग के द्वारा लगाये गये किसी प्रकार के अंकुश को सहन करना न चाहेगा। अपनी इस निरंकुशता के लिये वह परम्परागत स्थानीय ग्राम वृद्धों की अपेक्षा नवागन्तुक वेतनजीवी भृत्यों पर अधिक भरोसा रखेगा। एक शब्द में यह समझिये कि वह शासन का केन्द्रीकरण चाहेगा, न कि विकेन्द्रीकरण। छत्तीसगढ़ में यह बात रही ही नहीं। कलचुरियों के जमाने में भी नहीं। आर्यों और अनार्यों, दोनों ही की परम्परा में ग्राम-वृद्धों का बड़ा मान रहा है और उनके जिम्मे न केवल अनेकानेक राजकीय किन्तु अनेकानेक सामाजिक निर्णय भी निर्भर रहा करते रहे हैं। राजा या भूमि स्वामी को भी प्रायः उन्हीं के निर्णयों का आश्रय लेना पड़ता रहा है। ग्राम-पंचायत की यह प्रथा सनातन काल से चलती हुई कलचुरियों के समय भी विद्यमान रही और इस दृढ़ता के साथ विद्यमान रही कि कलचुरियों के बाद भी वह मिटाई न मिट सकी। गणतंत्र पद्धति की यह एक महत्वपूर्ण प्रथा है, जिसके इस रूप में दर्शन एकतंत्र शासन-पद्धति में दुर्लभ ही हैं।

राजा के अधिकार सामन्तों को और सामन्तों के अधिकार ग्राम प्रमुखों को, जिस हद तक छत्तीसगढ़ में वितरित थे, वैसे न तो उड़ीसा की रियासतों और न राजस्थान की ही रियासतों के इतिहास में उल्लिखित हैं। ये अधिकार केवल राजकीय अधिकार ही न थे। वे सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी अधिकार भी थे। अधिकार-वितरण की इस व्यवस्था को सामन्त-शाही व्यवस्था कहना असंगत होगा। व्यवस्था यह थी कि राज के अन्तर्गत गढ़ अथवा जिले हों और गढ़ों के अन्तर्गत तालुके अथवा तहसीलें तथा तालुकों के अन्तर्गत गांव रहें। कलचुरि काल में गढ़ाधीशों को दीवान अथवा ठाकुर कहा जाता था और तालुकाधीशों को दाऊ तथा ग्राम-प्रमुख गौंटिया। यह भी अक्सर होता रहा है कि राजा के कुटुम्बी प्रायः दीवान होते रहे हैं और दीवानों के सम्बन्धी गौंटिया बन जाते रहे हों। परन्तु ये लोग वेतनभोगी भृत्य कभी माने ही नहीं गये। संकट काल में अपने अधिपति को सहायता देना इनका नैतिक कर्तव्य था, परन्तु सामान्य काल में अपने-अपने क्षेत्र में सब प्रायः स्वतंत्र सत्ता ही रखते थे। वे "गैर-हाजिर भू-स्वामी" अथवा मुनाफ़ाखोर

परावलम्बी बन कर नहीं रहा करते थे, किन्तु अपने निवास क्षेत्र के भू-स्वामित्व का दायित्व स्वतः संभालते थे और इस प्रकार भूमि और भूमिजनों की समस्याओं से अपना प्रत्यक्ष सम्पर्क बनाए रखते थे। यह क्रम राजा से लेकर गौंठिया तक बराबर बना रहता था। सामन्तशाही में इस तरह का प्रबन्ध कहां? वह तो केवल युद्धशक्ति के आधार पर आत्म-रक्षा के लिये गढ़ी हुई व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। अशक्त लोग सताए न जा सकें, इसलिए वे सशक्तों का सहारा जिन शर्तों पर ढूंढा करते हैं, उन्हीं ने सामन्तशाही प्रथा को जन्म दिया है। छत्तीसगढ़ की जन-जातियां अपने में स्वतः पूर्ण रही हैं और उनका सामाजिक जीवन भी किसी विशेष संरक्षण का मुखापेक्षी हो ऐसा कभी हुआ नहीं। अतएव वहां की शासन-प्रथा एकदम सामन्तशाही प्रथा बन ही न पाई।

शासन की यह व्यवस्था धार्मिक विश्वासों से आबद्ध थी, अतएव इसके खिलाफ़ बग़ावत का किसी के मन में विचार भी न उठता था। समझ लिया जाता था कि राज की सारी ज़मीन का मालिक राजा है, जिसकी जिम्मेदारी है कि वह अपने राज में बसने वालों का हित उस राज के मुखियों की सलाह से करे। जो समझ राजा के सम्बन्ध में थी, वही अपने-अपने क्षेत्र के दीवानों (ठाकुरों), दाउओं और गौंठियों के सम्बन्ध में उसी अनुपात से थी। अपने-अपने क्षेत्र में इन लोगों के अत्याचार भी, इस विश्वास के कारण, प्रायः चुपचाप सह लिये जाते थे और इन्हीं के द्वारा न केवल अपने राजकीय मामलों का किन्तु अपने सामाजिक और धार्मिक मामलों का भी निपटारा करवाया जाता था। परन्तु जनता की पंचायतें इन शासकों को मर्यादा के बाहर होने ही न देती थीं, क्योंकि शासकों के पास उनके वैतनिक कर्मचारी नहीं के बराबर रहा करते थे और उन्हें शासन-सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक कार्य में पञ्चायत के आश्रित रहना पड़ता था। अतएव शासन मनमाना निरंकुश हो ही नहीं सकता था। यदि जनता कहती थी कि "राजा करै सो न्याय पासा परै सो दांव" तो राजा भी समझता था कि "पंच सते ही कीजै काज, हारे जीते न आवै लाज।" इस प्रकार की शासन-व्यवस्था अत्यन्त सादगी से भरी होते हुए भी जीवन के विविध क्षेत्रों में अत्यन्त व्यापक रूप से फैली हुई थी और फिर भी मज़ा यह कि एक-एक ग्राम अपने को एक स्वतंत्र इकाई मानता हुआ अपने ढंग पर अपना जीवन-यापन करता रहता था। विकेन्द्रीकरण का चमत्कारिक रूप था उसमें।

गांव-गांव, तालुके-तालुके या ज़िले-ज़िले (गढ़-गढ़) में शासन के अलग-अलग विभाग नहीं रहा करते थे। जो मुखिया होता था, वह युद्ध का भी मुखिया, रक्षा का भी मुखिया, न्याय-निर्णय का भी मुखिया और राजस्व वसूली का भी मुखिया होता था। वह परम्परा का प्रवर्तक नहीं किन्तु परम्परा के अनुसार कार्य-संचालक मात्र समझा जाता था। परम्परा का सृजन तो होता था जातीय पंचायतों द्वारा। जनतंत्रीय पद्धति का प्राधान्य इसी में तो है। मुखिया व्यापक क्षेत्रों का मुखिया होते हुए भी इसी जनतंत्रीय परम्परा के कारण अपनी सत्ता का उपयोग बहुत कम मात्रा में कर पाता था। यह ज़रूर है कि हैहयवंशियों ने अधिकांश में अपने ही कुटुम्बियों और कुटुम्बियों ने अपने ही सम्बन्धियों को ठाकुर (दीवान) और दाऊ आदि के पदों पर सुविधानुसार नियुक्त कर दिया था, परन्तु ये पदधारी लोग परम्परा के अंगभूत होकर ही रहे और इस तरह शासक और शासित के बीच किसी प्रकार की खाई बनने ही नहीं पाई। मुसलमानी, मराठी या अंग्रेज़ी शासन के पदधारियों की तरह ये न तो अपनी प्रभुता को प्राधान्य दे सके और न स्थान-निरपेक्ष होकर अपने को इतर देशीय कहाने में गौरव मान सके। अतएव वे स्थानीय जनतंत्रीय पद्धति के साथ अपने को भलीभांति समरस रख सके और दोनों में अन्तर आने ही न पाया।

मुसलमानी शासन तो यहां हुआ ही नहीं, इसीलिये शासन की यह विशुद्ध भारतीय परम्परा यहां बहुत वर्षों तक चलती रही। मराठों और अंग्रेज़ों का शासन अलबत्ता रहा, जिनमें मराठों का शासन तो केवल कुछ वर्षों तक ही रह पाया था। उनकी एकतंत्र साम्राज्यवादी भावना ने इस परम्परा को थोड़ी बहुत क्षति तो अवश्य पहुंचाई परन्तु इसका समूल उन्मूलन न कर सकी। उनमें फौजी अफ़सर अलग थे, पुलिस अफ़सर अलग थे, राजस्व-वसूली के अफ़सर अलग थे, खानगी या खाजगी के अफ़सर अलग थे जिनका तबादला भी हो सकता था। छत्तीसगढ़ में ऐसी कोई बात ही न थी। यहां मुलाज़िम वर्ग जैसी कोई वस्तु ही न थी। यदि राजस्व वसूली के लिये कोई हरकारा रख लिया

गया अथवा पंचायतों आदि की व्यवस्था के लिये कोई लिपिक पत्र या "पंत्र" नियुक्त कर दिया गया तो उन से मुलाजिम वर्ग नहीं बन जाता इन इने-गिने भृत्यों के अतिरिक्त और किसी प्रकार के भृत्य का कोई उल्लेख ही नहीं मिलता। यहां राजशासन का कार्य चलता था दीवानों अथवा ठाकुरों की सहायता से, जिन्हें न तो पूरे भूस्वामी ही कहा जा सकता है (क्योंकि वे परम्परागत नियमों से बंधे रहते थे), और न भृत्य ही कहा जा सकता है (क्योंकि उनकी भूमि जीविका परम्परागत रहती थी)। भले ही उनमें से कुछ लोग राजा के कुटुम्बी और सम्बन्धी रहे हों परन्तु अपने पद की प्रतिष्ठा तो उन्हें अपनी ही जनता के द्वारा मिला करती थी। यह छत्तीसगढ़ शासन-परम्परा की अपनी विशेष बात थी।

हैहयवंशियों के समय अठारह गढ़ रतनपुर शाखा के अधीन माने जाते थे और अठारह गढ़ रायपुर शाखा के अधीन। एक-एक गढ़ प्रायः चौरासी गांवों का समझा जाता था और एक-एक तालुका प्रायः बारह-बारह गांवों का। परन्तु इन संस्थाओं में सुविधानुसार कमी-बेशी हो जाया करती थी। गढ़ाधिपति या दीवान वर्ग और तालुकाधिपति या दाऊवर्ग मराठी सल्तनत में छिन्न-भिन्न होगया। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी सल्तनत में गौंठियों का राज से सीधा सम्बन्ध स्थापित होगया और मालगुजारी आदि की प्रथाएं आरम्भ की गईं। तब तक तो व्यावहारिक बात यही थी कि भूमि उसकी होती थी जो उसे जोते। यों नाम करने को गौंठिया भले ही भूस्वामी कह दिया जाता था जैसे गढ़ाधिपति अपने पूरे गढ़ का ठाकुर (स्वामी) अथवा राजा अपने पूरे राज्य का राजा (स्वामी) कह दिया जाता था।

किसी भी व्यवस्थित शासन पद्धति में न तो एकदम राजतंत्र ही रहा करता है न एकदम प्रजातंत्र। राजा भी अपने सलाहकार रखता ही है जो किसी न किसी तरह प्रजा की भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया करते हैं और प्रजातंत्र भी किसी न किसी को शासक बनाकर ही आगे बढ़ता है। यदि प्रजा-प्रतिनिधि प्रबल हुए तो वे शासक को निरंकुश नहीं होने देते और जनतंत्रीय प्रणाली को आगे बढ़ाते हैं। यदि शासक प्रबल हुआ तो वह प्रजा-प्रतिनिधियों की अवहेलना करता हुआ, जनतंत्रीय प्रणाली के पीछे रहता है। छत्तीसगढ़ का जो इतिहास उपलब्ध है उससे यही विदित होता है कि मराठों के आगमन के पूर्व अर्थात् लगभग अठारहवीं सदी तक किसी भी राजा ने अपनी प्रजा पर किसी प्रकार की संगठित प्रबलता दिखाई ही नहीं और न किसी प्रकार कोई संगठित अत्याचार ही किया। इसके विपरीत वे यहां की जनतंत्रीय शासन-परम्परा के अंग बनकर रहने में ही सुविधा समझते रहे। जो उनका हाल रहा वही उनके दीवानों आदि का हाल रहा। यदि एकाध व्यक्ति किसी समय अत्याचारी हो भी गया हो तो उसके वे अत्याचार व्यक्तिगत विस्तार तक ही सीमित रहे होंगे। जिन्हें लोगों ने आंधी, बवण्डर भूकम्प या उल्कापात के बराबर भी शायद न समझा हो और चुपचाप सह लिया हो। उनसे परम्परागत जनतंत्रीय व्यवस्था में कोई उलट फेर नहीं होने पाया।

छत्तीसगढ़ की चिर-पुरातन, ग्राम पंचायत परम्परा का अब फिर से उद्धार किया जा रहा है। इस पुनरुद्धार में वह प्राचीन परम्परा ही अपना विकसित रूप लेकर सामने आवेगी अथवा उसका नाम लेकर उसके भग्नावशेष पर कोई नूतन प्रथा अपना आसन जमा लेगी यह भविष्य ही बता सकता है।

महाकोशल में जैन पुरातत्त्व

श्री मुनि कान्तिसागर

प्रत्येक प्रांत की सांस्कृतिक आत्मा उन प्राकृतिक सौन्दर्य सम्पन्न खंडहरों में बिखरी रहती है जिन पर हम सांस्कृतिक व रुचिशील कहलाने वाले साहित्यिकों की दृष्टि तक नहीं पड़ती। महाकोशल पर उपर्युक्त पंक्ति सोलह आना चरितार्थ होती है। महाकोशल का सांस्कृतिक अतीत अत्यन्त उज्ज्वल व गौरवमय था। प्रकृति की स्वाभाविक छवि संस्कृति का सहारा पाकर यहां द्विगुणित हो उठी थी। यहां का जनजीवन, कला और सौन्दर्य के प्रति पूर्णतः सचेष्ट जान पड़ता है। यहां के शासक शिल्प कला के परम उन्नायक रहे हैं। स्थानीय सक्षम कलाकारों ने अपनी दीर्घकाल व्यापिनी साधना द्वारा जो हृदय के भाव कठोर प्रस्तर पर उत्कीर्ण किये उनकी सुकुमार भाव-भंगिमा व रेखायें आज भी हमें उत्प्रेरित कर नवीनतम भावनाओं का संदेश देती हैं। कहना होगा महाकोशल की सभ्यता और संस्कृति का समुचित अध्ययन जबतक नहीं हो जाता तबतक भारतीय शिल्पकला का इतिहास अपूर्ण रहेगा।

किसी भी प्रान्त के कलात्मक तथ्यों की गवेषणा करते समय उस प्रान्त के निकटवर्ती भू भागस्थ अवशेषों का गंभीर निरीक्षण अनिवार्य है। उनकी भौगोलिक या राजनैतिक सीमायें राजकीय परिस्थिति के अनुसार बनती बिगड़ती रहती हैं, पर कलात्मक दृष्टि से उनका साम्य अविभाज्य है। तात्पर्य एक प्रान्तीय कलात्मक परम्परा की ऊर्जस्वल रेखायें या शैली निकटवर्ती प्रान्त के कलात्मक वातावरण को प्रभावित करती हैं जैसे कि महाराष्ट्र, विन्ध्य प्रदेश, भोपाल राज्य आदि भूभागस्थित कला कृतियों के प्रकाश में जब हम महाकोशल के अवशेषों को देखते हैं तब इनका अनुभव होता है। इन पंक्तियों के लेखक को महाकोशल एवं उसके निकटवर्ती भागों का पुरातत्त्व दृष्ट्या अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उस पर से वह कह सकता है कि यद्यपि महाकोशल के कलाकारों ने गुप्त शिल्प से बहुत कुछ लेकर अपने को स्वरक्षित रखा किन्तु यह भी उतना ही सच है कि उन्होंने समय-समय पर होने वाले कलात्मक उपादान मूलक प्रान्तीय परम्पराओं से भी बहुत कुछ लेकर भी अपनी निजी शैली को निखारा है। शिल्प के अंकन में चाहे टैकनिक एक हो पर वह समय एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। कभी-कभी इतना विराट् परिवर्तन हो जाता है कि उसकी मौलिकता धूमिल हो जाती है। इन पंक्तियों का अनुभव भारतीय लोक तक्षण कला के उदाहरणों में मिलता है जो आज भी भ्रष्ट संस्करण के रूप में ग्रामीण जन जीवन का आन्दोलित करता है।

महाकोशल की संस्कृति के मूल को उज्ज्वल करने वाले अवशेषों का सर्वाङ्गीण अध्ययन तो नहीं हो सका है। अधीत सामग्री इस बात का प्रमाण उपस्थित करती है कि जितना इतिहास वह प्रेरणाशील और राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त अवशेषों में उद्दीपित है उससे भी कहीं अधिक आनन्दप्रदायक स्रोतस्विनी मिट्टी में-प्रकृति की गोद में विलुप्त है। इतिहास और पुरातत्त्व के विज्ञगण भारत के इतिहास में अक्सर इस प्रान्त के प्रति सहानुभूति से काम नहीं लेते हैं, प्रत्युत वे यह सोचते हैं कि यह भाग बहुत प्राचीन काल से ही अनुन्नत या पश्चात् पद रहा है। मेरा विनम्र निवेदन है कि शैव, शाक्त, बौद्ध, वैष्णव और जैन परम्पराओं से सम्बद्ध सुन्दर और सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियां महाकोशल में उपलब्ध हुई हैं वे न केवल अन्यतम ही हैं अपितु अल्प होकर भी गुणों में गरिष्ठ हैं। कतिपय ऐसी भी कलाकृतियां हैं जिनकी सर्वप्रथम उपलब्धि महाकोशल में ही हुई है। गुफाओं से लगाकर स्थापत्य-मंदिर तक की शिल्प-संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा यहां रही है जिसमें न केवल धर्ममूलक भावनाओं को ही प्रश्रय मिला है अपितु इन से राष्ट्रीय लोक चेतना भी उद्बुद्ध हुई है। भारत के समाजमूलक अध्यात्मवाद का प्रत्यक्ष प्रतीक महाकोशल का पुरातत्त्व है। यहां पर स्मरण रखना चाहिये कि

पुरातत्त्व शब्द इतना व्यापक है कि इसमें साहित्य, चित्र आदि का भी अन्तर्भाव संभव है। भारतीय भित्तिचित्रों की विकासशील परम्परा की दृष्टि से भी महाकोशल का महत्व महान् है। यहां मेरा क्षत्र संकुचित है। सभी शाखाओं पर प्रकाश डालने का न यहां समय है एवं न उपयुक्त स्थान ही। मुझे तो केवल महाकोशल में जैन पुरातत्त्व से सम्बद्ध कतिपय तथ्यों पर विचार करना है।

श्रमण परम्परा का प्रादुर्भाव मौर्य-काल के पूर्व महाकोशल में हो चुका था जैसा कि तात्कालिक निकटवर्ती प्रान्तीय भूभागों से सम्बद्ध साहित्यिक उल्लेखों से विदित होता है। रामगढ़ (सरगुजा के निकट) के गुफा चित्र इसकी पुष्टि करते हैं। यहीं से यदि जैन पुरातत्त्व का कालक्रम माना जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। मैं तो मानता हूं चाहे शिल्पी हो, लेखक हो, चित्रकार हो या कवि हो उन सब में एक कलाकार जाग्रत है जो आत्मस्थ, अमूर्त, उत्प्रेरक भावों को विभिन्न उपादानों द्वारा व्यक्त कर रसस्रोतस्विनी बहाता है। शिल्प के अभाव में उसकी विशालता का अनुभव चित्रों से होता है और चित्रों के अभाव में अन्य शैलिक रेखाओं से। कभी-कभी शब्द भी भावों का औचित्यमूलक प्रतिनिधित्व कर लेते हैं। ईस्वी सन् ३ सदी पूर्व से आज तक के जैन पुरातत्त्व पर क्रमबद्ध प्रकाश पड़ सके वैसे साधन उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु कलचुरि काल के कुछ पूर्व से आज तक की सामग्री प्रचुर परिणाम में उपलब्ध है। पूर्व कलचुरि कालिक कतिपय ऐसी कृतियां व स्थापत्य के अवशेष उपलब्ध हैं जिन पर गुप्त शिल्प व मूर्तिकला में व्यवहृत उपादानों का स्पष्ट अनुकरण है एवं कहीं-कहीं आंशिक प्रभाव है। बिलहरी के अवशेष इस सत्य के प्रमाण में उपस्थित किये जा सकते हैं। यद्यपि गुप्तकालीन स्थापत्य के कुछ प्रतीक महाकोशल में शेष हैं जिनका अपना स्वतंत्र महत्व है। परन्तु जैनाश्रित शिल्पकला का समुचित विकास कलचुरि युग में हुआ। वे शैव होते हुए भी परमतसहिष्णु थे। उनके पूर्वज शंकरगण जैनधर्मानुयायी थे। अध्ययन की सुविधा के लिये स्थापत्य और मूर्ति इस प्रकार स्थानीय शिल्प-कृतियों को दो भागों में विभाजित करना समुचित प्रतीत होता है। यह तो अभिलेख व साहित्यिक कृतियों में भी अनुपेक्षणीय नहीं होना चाहिये।

स्थापत्य

कोई भी राष्ट्र या प्रान्त यदि एक दूसरे के प्रति कुछ भी आकर्षण का माध्यम है तो वह उसकी कला व सभ्यता-मूलक प्रवृत्तियां ही हैं। कला द्वारा ही उस देश व प्रान्त के वास्तविक जनजीवन का समुचित रूपेण आत्मसात् किया जा सकता है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है तो शिल्प प्रकृति का अनुकरण है। इसके अनुकरण में संस्कृति का सहारा मिलने पर मानवता की लता जीवित हो उठती है। स्थापत्य कला के अवशेष उस देश के इतिहास के जीवन के प्रतीक हैं। कठोर पत्थरों की सुकुमार रेखाओं द्वारा उस देश की जनता के जीवन और रहस्य का भली भांति ज्ञान होता है। मानसिक चिन्तन की उच्चतम दार्शनिक पृष्ठ-भूमि की अनुभूति स्थापत्य के द्वारा ही भली भांति व्यक्त हो सकती है। महाकोशल का स्थापत्य, कला, संस्कृति, सभ्यता और तात्कालिक जनजीवन की अविस्मरणीय प्रतिमूर्ति है। यद्यपि इसकी कलात्मक परम्परा का आलोकित करने वाली कलाकृतियां अत्यन्त सुरक्षित नहीं रह सकी हैं पर जो भी हैं वे उसकी अक्षुण्ण व मर्मग्राही परम्पराओं के प्रति सचेष्ट मानस को इसका परिज्ञान कराती हैं। जहां तक जैन स्थापत्य कला का प्रश्न है मुझे निस्संकोच कहना चाहिये कि अपेक्षाकृत बहुत ही कम अवशेष अवशिष्ट हैं जो हैं उनपर भी विज्ञों का ध्यान नहीं है। अन्वेषित सामग्री से तो इतना ही अवगत हो सका है कि आरंग को छोड़कर जैन स्थापत्य कला के अवशेष महाकोशल में प्राप्त नहीं हुए हैं। अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण ही महाकोशल के खंडहर अपना सौन्दर्य प्रकृति की गोद में बिखेरकर अन्तिम सांसें ले रहे हैं।

मध्यप्रदेश से मध्य भारत आते हुए महाकोशल के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण नवीन खंडहर देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिनकी कृतियों को महाकोशल का अभिमान कहा जा सकता है। इन खंडहरों के अवलोकन से पारस्परिक प्रान्तीय कलात्मक आदान-प्रदान विषयक मेरी कल्पना को बहुत बल मिला जैसा कि अग्रिम पंक्तियों से प्रतिफलित होगा। मेरा तात्पर्य "बरहटा" और "पनागर" से है।

"बरहटा"

बरहटा महाकोशलीय संस्कृति का एक ऐसा अरक्षित-उपेक्षित केन्द्र है जहां की कृतियों को एकत्र किया जाय तो एक संग्रहालय सहज में ही बन सकता है। श्रमण, वैदिक एवं शाक्त परम्परा से सम्बद्ध ४०० (चार सौ) से अधिक अवशेष ऐसी दशा में पड़े हुए हैं जिनको व्यक्त करना संयमित लेखनी के लिये संभव नहीं है। जो बारहवीं शती व इसके बाद का काल मूर्ति निर्माण कला का रहस्योन्मुखी युग माना जाता है, उसके लिये यहां की कृतियां एक चुनौती हैं। अभीतक महाकोशल में शिल्प निर्माण विषयक कार्य में जिन नगरों की परिगणना होती थी उनमें त्रिपुरी, बिलहरी, कारीतलाई आदि मुख्य थे पर अब बरहटा का नाम भी त्रिपुरी के बाद इस सूची में जुड़ जाना चाहिये। सचमुच यह स्थान चारों ओर घनघोर अटवियों से परिवेष्ठित होने के कारण प्रकृति के साथ संस्कृति और कला का अद्भुत त्रिवेणी संगम है। कलाकार का यह साधना-निकेतन आत्म द्रष्टा की प्रतीक्षा में है।

यों तो दर्जनों छोटे-मोटे स्थापत्यावशेष जीर्ण-शीर्ण दशा में अपना संदेश स्वरविहीन वाणी में दे रहे हैं पर यहां तो केवल उस जर्जरित प्रासाद का उल्लेख ही विवक्षित है जहां महाकाय कलापूर्ण जिन प्रतिमायें पड़ी हैं। कहा जाता है किसी समय यहां पर विराट् जैन प्रासाद था। मैं भी जब बरहटा गया तब जैन मूर्तियां पड़ी रहने के कारण जैन मंदिर ही इसे मानता था जैसा कि "खंडहरों के वैभव में" में व्यक्त कर चुका हूं किन्तु अब मुझे ऐसा लगता है कि मैं भ्रम में था। वह तो विशाल शैव प्रासाद का ढांचा है। परिस्थितिवश किसी ने महाकाय जैन मूर्तियों को रख दिया इसे जैन मंदिर घोषित नहीं किया जा सकता। पर प्रश्न यह है कि जब शताधिक जैन प्रतिमायें हैं तो क्या ये बिना मंदिर के ही रही होंगी? सच बात यह है कि शैवप्रासाद के निकट ही एक और प्रासाद का जर्जरित ढांचा खड़ा है। निश्चय ही यह जैन प्रासाद-मंदिर के अवशेष हैं कारण कि इसके द्वार पर-कुंभ कलश व अष्टमांगलिक चिह्न के अतिरिक्त महात्मा ऋषभदेव व महावीर के जीवन की कतिपय घटनायें तोरणद्वार में उत्तम रीति से उत्कीर्णित हैं। दीवालों में तीर्थङ्करों के विशेष प्रकार के चिह्न बने हैं। साथ ही "नमोः जिणाणं" जैसे वाक्य उसकी दीवाल पर खुदे हैं। ये सभी जैन प्रासाद होने के प्रमाण हैं। इन्हीं खंडहरों में अम्बिका व कुबेर की विशाल मूर्तियां इस बात की ओर संकेत है कि निश्चय ही यह मंदिर ऋषभदेव का ही होना चाहिये। कारण कि इन दोनों ने शताब्दियों तक ऋषभदेव के परिकर में स्थान पाया है। इस ढांचे की चपटी छत व अष्ट से सोलह कोण एवं कलशाकृतियों वाले स्तम्भ कलचुरि शिल्प की अपनी विशेषता है। कतिपय जैन मूर्तियों में भी ऐसी आकृतियां मिलती हैं। नहीं कहा जा सकता कि यह जैन प्रासाद पुरातन अवशेषों की नवनिर्मित कृति है या पुरातन कला का ही प्रमाण है।



बरहटा में प्राप्त मानस्तम्भ (शीर्ष भाग)

इसे स्पष्टतः जैन प्रासाद मानने का एक कारण यह भी है कि जिस लाल पत्थर का प्रयोग अवशेषों में हुआ है; जो ज्यामितीय रेखाएं व्यवहृत हुई हैं ठीक इसी पत्थर व इन्हीं रेखाओं से युक्त एक मानस्तम्भ की खंडित-आकृति नरसिंहपुर के लोक उपवन के मध्य सुरक्षित है। लाल प्रस्तर पर उत्कीर्ण मानस्तम्भ के कोण उनकी गहराई एवं रेखायें दीर्घ काल व्यापी साधक की महती कृति है। अवशिष्ट भाग ५ फुट ११ इंच और मध्य गोलाई ४ फुट है। ऊपर का चतुष्कोण १ फुट २ इंच है। पत्थर पर खुदी हुई शृंखला और बन्धा हुआ घंटा आकर्षक जान पड़ता है। ठीक इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाली तीन स्तम्भकृतियां बरहटा में सुरक्षित हैं। अम्बिका प्रमुख ऋषभदेव की प्रतिमा ही मानस्तम्भ

में खुदी हुई है। जो इस बात की ओर संकेत करती है कि पूर्व सूचित मंदिर ऋषभदेव का ही है। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात है स्तम्भ की विशिष्ट रेखायें। जिन रेखाओं वाले स्तम्भ नरसिंहपुर स्थित लोक उपवन में हैं वैसी ही अन्य कृतियां उपर्युक्त प्रासाद में आज भी लगी हुई है।

बरहटा होशंगाबाद में नरसिंहपुर से लगभग (१४) चौदहवें मील पर अवस्थित है।

पनागर

महाकोशल में एक ही नाम के एक ही जिले में कई नगर पाये जाते हैं। नाम साम्य के साथ कहीं-कहीं गुण साम्य भी परिलक्षित होता है। पनागर जबलपुर से दसवें मील पर अवस्थित है जिसका पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्व है। पर यहां जिस पनागर का उल्लेख किया जा रहा है वह गाडरवाडा (जिला होशंगाबाद) से पिपरिया को जाने वाले गाड़ी मार्ग पर पन्द्रहवें मील पर अवस्थित है। इस का जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से विशिष्ट महत्व तो है ही साथ ही निकटवर्ती प्रान्तीय कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से भी यहां के अवशेष बहुत ही महत्व के प्रमाणित हुये हैं। आश्चर्य इस बात का है कि इतनी विराट् सामग्री वाला यह ग्राम इतना उपेक्षित रहा कि पुरातत्त्वविज्ञों ने कहीं भी इस का उल्लेख तक नहीं किया। पैदल यात्री होने के नाते एक रात मुझे वहां ठहरना पड़ा। वहां के अवशेषों से मैं बहुत प्रभावित हुआ—इसलिये नहीं कि सापेक्षतः ये अवशेष प्राचीन और कलापूर्ण हैं बल्कि इसलिये कि उसमें वैविध्य है और वे अत्यन्त अनुपलब्ध भी हैं।

ग्रामवृद्धों से ज्ञात हुआ कि पनागर के पास ही थूची या दूधी नदी के तट पर सुन्दर रेखाओं से खचित कई प्रस्तर अव्यवस्थित रूप से अवस्थित हैं, जिनका रंग लाल है। पत्थरों के अव्यवस्थित गिराव से ऐसा लगता है कि किसी समय यहां जैन मंदिर रहा होगा। वहीं के एक वयोवृद्ध व्यक्ति श्री कल्याण सिंह जी ने मुझे बताया कि ये जैन मंदिर के ही ध्वंसावशेष हैं। पच्चीस वर्ष पूर्व हमारे ग्राम में कबीर पंथी महात्मा रहते थे। लक्ष्मी के लालच से इस मंदिर की खुदाई की। इस का परिणाम आज सामने है। उसने यह भी बताया कि इसमें पचास लेखयुक्त प्रतिमायें भी निकलीं पर हमने पांच यहां रखकर शेष निकटवर्ती ग्रामों में पूजार्थ भिजवा दीं। परन्तु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मंदिर और मूर्ति के निर्माण में कितना व्यवधान है क्योंकि मूर्ति के लेख तेरहवीं शती के हैं पर मंदिर के जो अवशेष वहां पड़े हैं और उन पर जो भावशिल्प रेखायें व अन्य कलात्मक प्रतीक अंकित हैं उनका समय, शैली को देखते हुए बारहवीं शती के बाद का नहीं हो सकता, कारण कि मंदिर का तोरण व मूलद्वार कलचुरि शिल्प का जाज्वल्यमान प्रतीक हैं जब कि मूर्तियां अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। अनुमान है जीर्णोद्धृत मंदिर में वे पुनः स्थापित की गई होंगी। जो भी हो इतना सत्य है कि पनागर के इस जैन प्रासाद के अवशेष अध्ययन का पथ प्रशस्त करते हैं।

आरंग के अतिरिक्त उपर्युक्त नवोपलब्ध जैन स्थापत्यावशेष इस बात के प्रमाण हैं कि यदि अन्वेषण किया जाय तो ऐसे और भी कई जिन मंदिर ध्वस्त रूप में मिलने चाहियें। जब हजारों की संख्या में जैन मूर्तियां मिलती हैं तो क्या कारण है कि मंदिर न मिलें। मेरी विनम्र सम्मति में जैनों का आधिपत्य ज्यों ज्यों प्रान्त या नगरों में घटता गया त्यों-त्यों हिन्दुओं द्वारा उनके मंदिरों पर अधिकार होता गया। बिलहरी (जिला जबलपुर) और कुकर्रा (जिला मंडला) के मठ व मंदिर इस पंक्ति को चरितार्थ करते हैं। डाक्टर हीरालाल जी ने अपने हिन्दी सर्व संग्रहों में कई स्थानों पर अनुमान किया है कि अमुक हिन्दू मंदिर पूर्व काल में जैन मंदिर था।

घनसोर में जिन मंदिरों के अवशेष अवश्य पाये जाते हैं पर वे गोंडकालीन हैं। कला और पुरातत्त्व की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है।

महाकोशल के जैनाश्रित स्थापत्यों पर नागर शैली का स्पष्ट प्रभाव है। जो शिल्प नैपुण्य के कारण स्वाभाविक है। बहु संख्यक कलात्मक उपादान भले ही प्रान्तीय कलाकारों की देन हों पर उनकी शैली पर गुप्त उपादानों का भारी प्रभाव है। जैन मंदिरों में प्रवेश द्वार पर गंगा यमुना की मूर्ति, काम सूत्र के समस्त आसन और कहीं-कहीं हिन्दू धर्म

मान्य देवियों का अंकन कभी-कभी सामान्य गवेषक को भ्रमित कर सकते हैं। कलाकार अनुकरणशील भी होता है। वह प्रवृत्ति का अनुकरण तो करता ही है पर कभी-कभी अनुकृत अवशेषों का अनुकरण कर रस-निष्पन्न करता है। आबू का मधुछत्र पश्चिम भारतीय शिल्पकला का उत्कृष्ट प्रतीक समझा जाता है। इस पद्धति का अनुसरण यहां के कलाकारों ने भी किया है। यद्यपि वे उतने सफल नहीं हुए किन्तु उनकी अनुकरणशील वृत्ति का आभास कलचुरि युग से लगाकर आज तक की कृतियों में पाया जाता है। आबू का मधु छत्र तो केवल छत की ही शोभा बढ़ाता है पर महाकोशल में तो वह दीवाल की शोभा भी बढ़ाता है।

कला की मूल चेतना एक होते हुये भी प्रान्तिक वैभिन्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भारतीय साधना के इतिहास में मूर्ति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। निराकार की समुचित साधना बिना आकार के संभव हो ही नहीं सकती। सामान्य कोटि का मानव बिना सुदृढ़ निमित्त के चित्त वृत्ति को केन्द्रित नहीं कर सकता। न अध्यात्म की उच्चतम मनोभूमि पर पहुंच सकता है। जिन प्रतिभा समत्व की मौलिक भावना की प्रतीक है जहां मनुष्य मद, मात्सर्य, अहङ्कार आदि को विस्मृत कर स्व की साधना के लिये वीतरागत्व की ऊर्जस्वल प्रेरणा से अभिभूत होता है। सौन्दर्य के द्वारा वह अतीन्द्रिय या अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। प्रकृति की गोद में संस्कृति की साधना अमरत्व का संदेश ऐसे ही निमित्त द्वारा दे सकती है। सचमुच यहां के कलाकार भारतीय संस्कृति के सजग प्रहरी थे। उनकी कल्पना शक्ति, अनुपम ग्राहकता और भावाभिव्यक्तिकरण की सुचिन्तित क्षमता अनुपम थी। उनकी कल्पना तथ्याश्रित आदर्श मूलक परम्परा को लिये हुये थी। यद्यपि जैन मूर्ति निर्माण कला के आसन निर्धारित होने के कारण बौद्ध-मूर्तियों के समान इनमें वैविध्य की कल्पना का स्थान नहीं है तथापि उसके परिकर निर्माण में महाकोशल के कलाकारों ने जिस वैविध्य का परिचय दिया है वह भले ही गुप्तकालीन कलाकृतियों का अनुसरण करता हो किन्तु इसमें प्रान्तीय कलाकार का व्यक्तित्व व उपादान भी खूब ही निखरे हैं। मुझे कहना चाहिये कि कुछ एक ऐसे परिकर निर्मित किये हैं जो महाकोशल की भारतीय जैन कला को मौलिक देन है।

मुख्यत: जिन प्रतिमा खड्गासन व पद्मासन में पाई जाती है। दोनों सपरिकर या अपरिकर हो सकती हैं। परिकर पर एवं विशेष कर उनके प्रभा-मंडल पर गुप्त कलाओं का अस्पष्ट प्रभाव है। आभूषणों का बाहुल्य एवं व्यक्ति या व्यक्तियों के व्यक्तित्व का संतुलित उभार शरीराकृति आदि कुछ गुण ऐसे हैं जिनमें प्रान्तीय कलाकार का प्रेरणाशील व्यक्तित्व उद्दीपित हो उठता है। खड्गासनस्थ प्रतिमाओं में बहुरी बन्द, कारीतलाई आदि स्थानों की मूर्तियां लेख युक्त व विशालकाय हैं। बरहटा की विशालकाय प्रतिमायें भी उल्लेखनीय हैं। कला और सौन्दर्य की दृष्टि से इनका विशेष महत्व है। यद्यपि उनपर लेख नहीं मिलते पर वे सब उस समय की कृतियां हैं जब कलचुरियों का मौलिक सूर्य उत्कर्ष पर आरूढ़ था। जैसा कि निम्न चित्रों से स्पष्ट है :—



महाकाय ऋषभदेव (बरहटा)





पार्श्वनाथ जिन प्रतिमा (बरहटा)

बरहटा की मूर्तियों में मुझे परिकरान्तर्गत ज्यामतीय रेखाओं का अंकन बहुत ही सुन्दर लगा। यद्यपि सम्पूर्ण महाकोशल और विन्ध्य प्रदेश की प्रतिमाओं में ऐसा ही अंकन पाया जाता है परन्तु इन की रेखाएं बहुत ही स्पष्ट और उभरी हुई हैं।



महाकोशली रेखाङ्कन कला एवं उत्कीर्ण शिल्प का जाग्रत नमूना (बरहटा)

स्वतन्त्र मन्दिरों में ही मूर्तियां प्रतिष्ठित होती थीं ऐसी बात नहीं है। मानस्तंभों में व प्रवेशद्वार के तोरणों में भी दोनों प्रकार की प्रतिमाएं मिलती हैं। ऐसे एक तोरण का आधा भाग निम्न चित्र में प्रदर्शित है जो मुझे त्रिपुरी से अपनी शोधयात्रा में प्राप्त हुआ था।



प्राचीन तोरण का अंश त्रिपुरी में उपलब्ध जैन मन्दिर

मन्दिर के स्तम्भों में भी मूर्तियां खुदवाने की प्रथा रही है। ऐसे प्रतीक भी बिलहरी, धनसोर, पनागर (जिला होशंगाबाद) और बरहटा से उपलब्ध हुए हैं।

सूचित भू भाग की प्रतिमाओं के निरीक्षण से अवगत होता है कि यहां के कलाकार मूर्ति निर्माण में केवल प्रतिमा विधान शास्त्र के नियमों के दास नहीं रहे बल्कि पर्याप्त स्वतंत्रता से भी काम लिया है, विशेषकर परिकर के गठन में, क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम है जिस में तक्षक अपनी कला और अनुभूति को सफलता के साथ व्यक्त कर सकता है। जबलपुर के हनुमान ताल स्थित मंदिर की प्रतिमा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

देवी व गुरु मूर्तियां

महाकोशल में तन्त्रपरम्परा* का प्राबल्य रहा है, बौद्ध और शैव तन्त्रों की प्रायः सभी शाखाएं यहां विद्यमान थीं जैसा कि तात्कालिक शिलालेख व ग्रन्थस्थ-उल्लेखों से सिद्ध है। पुरातन प्रतिमाएं भी इसके समर्थन में आज भी पर्याप्त सुरक्षित हैं। यद्यपि कर्मवाद में विश्वास रखने वाली जैन परम्परा में मौलिक स्वार्थ मूलक तंत्र परम्परा जैसी कोई वस्तु सांस्कृतिक दृष्टि से नहीं पनप सकती; परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि तात्कालिक प्रचलित पूजापद्धति से बचना भी कम संभव था। जब शक्ति के उपासक काली, दुर्गा आदि देवियों की स्वतंत्र मूर्तियां बनवा कर उन्हें पूजते थे तब जैनों ने उनके तीर्थङ्करों की अधिष्ठात्री देवियों की स्वतन्त्र प्रतिमाएं बनवाना आरंभ किया और मंदिर भी अलग से बनने लगे। बिलहरी के लक्ष्मण सागरताल पर आज भी चक्रेश्वरी का मंदिर विद्यमान है। बरहटा पद्मपुर, त्रिपुरी, पनागर, डोंगरगढ़ और धनसौर में कई स्वतन्त्र देवी प्रतिमाओं के साथ जैन सरस्वती का प्रतीक भी विद्यमान है।



सरस्वती प्रतिमा (बरहटा)

तीर्थङ्कर के बाद जैन परम्परा में जो महत्व का पद है वह गुरु को प्राप्त है। पूर्व मध्य युग में गुरु मूर्तियों का निर्माण भी होने लगा था। उल्लेखनीय बात यह है कि मूर्ति निर्माण विधानशास्त्र गुरु मूर्ति के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं रखते हैं। ग्यारहवीं शती के बाद व्यक्ति पूजा के प्रबल आवेश में अवल से गुरु मूर्तियां बनवाई जाने लगीं। दोनों सम्प्रदायों में अधिकतर गुरु मूर्तियां इसी युग की पाई जाती हैं। यों तो कुषाण काल में भी मूर्तियों की प्रतिमायें मिलती हैं पर उनकी संख्या नगण्य है। विन्ध्य एवं महाकोशल के कलाकार इतने सजग थे कि जिन मूर्ति के परिकर के साथ गुरु मूर्ति का प्रतीक भी बना देते थे। जैसा कि रीवां के व्यंकट सेवा सदन एवं बिलहरी के जैन मंदिर स्थित जिन बिम्बों से स्पष्ट है। बारहवीं शती के बाद पाशुपत मत के प्रभाव के कारण जैन गुरुओं की स्वतन्त्र मूर्तियां व स्तूप बनने लगे। पनागर (जिला होशंगाबाद) में तेरहवीं शती की एक गुरु मूर्ति पाई गई है जो महाकोशल में अपने ढंग की प्रथम व श्रेष्ठतम

---

* महाकोशल की तन्त्र परम्परा पर लेखक के निम्न निबन्ध दृष्टव्य हैं—

१ महाकोशलीय शक्तिपूजा का ग्राम्य रूप—साहित्य सम्मेलन पत्रिका भाग, ४०, संख्या ४।

२ शक्ति व भक्ति का विस्मृत साधना केन्द्र—डोंगरगढ़—अजन्ता, वर्ष ६, अंक ६।

३ महाकोशल व तन्त्र परम्परा—भारती, अगस्त ५४।

कृति है। परवर्ती काल में आचार्य श्री जिन दत्तसूरि और आचार्य श्री जिन कुशलसूरि आदि आचार्यों की मूर्तियां बनने लगीं जो 'दादावाड़ी' में पधराई जाती थीं। महाकोशल में शताधिक दादावाड़ियां आज भी विद्यमान हैं।

महाकोशल की कुछ विशिष्ट जैन मूर्तियां

जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में सूचित किया जा चुका है कि महाकोशल में कुछ ऐसी भी जैन मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं जिनका अपना अभूतपूर्व वैविध्य है। यह एक मानी हुई बात है कि जैन मूर्ति के परिकर में नवग्रहों का अंकन अनिवार्य है। अतः प्रत्येक सपरिकर जैन प्रतिमा के चरण के निम्न भाग में आठ प्रतीक बने हुए मिलते हैं। स्मरण हो कि जैन शिल्प शास्त्र में राहु केतु को एक माना है। कतिपय मूर्तियों में सशरीर और सायुध ग्रह मिलते हैं। जैसा कि मेरे संग्रह की एक धातु प्रतिमा जो मुझे सिरपुर (जिला रायपुर) से प्राप्त हुई थी—में खचित हैं।



नवग्रहों युक्त ऋषभदेव प्रतिमा
(सिरपुर में प्राप्त सर्व प्राचीन मूर्ति)

विशिष्ट तांत्रिक प्रभाव के कारण कलचुरि युग के नवग्रहों के प्रति जनता में इतना श्रद्धामूलक आकर्षण था कि स्वतन्त्र ग्रह मूर्तियों के पट्टक बने एवम् मंदिर भी। जैन परम्परा भी इस प्रभाव से अपने को न बचा सकी। स्लीमनाबाद से मुझे ऐसी जिन प्रतिमा उपलब्ध हुई है जो समूचे भारतवर्ष में अपने ढंग की प्रथम मूर्ति है। इस से जैन-मूर्ति विधान शास्त्र के क्रमिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस की सबसे बड़ी और मौलिक विशेषता यह है कि इस का परिकर केवल ग्रहों का ही है। इसकी समता करने वाला दूसरा प्रतीक अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ।

" एक अश्रुतपूर्व-प्रतीक "

इतिहास के मध्यकाल में संत-परम्परा का प्रभाव यहां बहुत बढ़ चुका था। संत साहित्य और जीवन में समन्वयवादी भावना मूर्त रूप धारण किये थी। स्मरणीय है कलात्मक प्रतीक युग का यथार्थ प्रतिनिधित्व करते हैं। मुझे अपनी शोध में एक ऐसा प्रतीक मिला है जो भारत में अपने ढंग और शैली का प्रथम है। संतों की समन्वयमूलक सहिष्णुतायुक्त साधना का मूर्त रूप कला में व्यक्त करने वाली यह प्रथम ही कृति है। एक ही प्रस्तर शिला पर जैन, शैव और वैष्णव संस्कृति उद्दीपित हो उठी है। शिला के मध्य भाग में भगवान भोलेनाथ आसन जमाए पद्मासन में विराजमान हैं। उभय पार्श्व में शेषशायी व बांसुरी लिये विष्णु मूर्तियां खुदी हैं। तन्निम्न भाग में दोनों ओर पांच जिन प्रतिमाएं खड्गासनस्थ विराजमान हैं। भगवान शंकर का पद्मासनस्थ रूप और जिन मूर्तियों का वैदिक मूर्तियों के साथ अंकित करना यह तात्कालिक व्यापक जैन प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। यह प्रतीक धनसोर से उपलब्ध हुआ था और वर्तमान में सिवनी (जिला छिन्दवाड़ा) के सरोवर के एक घाट में बहुत ही बुरी हालत में लगा हुआ है। भारत की समन्वयवादी आत्मा का यह प्रतीक शीघ्र ही उचित स्थान पर व्यवस्थित रूप से सुसज्जित हो ही जाना चाहिये।

जैन प्रभाव



विष्णु प्रतिमा (बरहटा)

महाकोशल में जैन संस्कृति के व्यापक प्रभाव के आगे हिन्दू और बौद्ध धर्म की मूर्तियों पर जैन मूर्तिकला का प्रभाव पड़ा है। साथ दिये चित्र में प्रदर्शित विष्णु मूर्ति का प्रतीक उपर्युक्त पंक्तियों को मजबूत करता है। भगवान् विष्णु की अद्यावधि ऐसी कोई प्रतिमा नहीं मिली जिसका मस्तक खुला हो। कम से कम किरीट-मुकुट तो उनके मस्तक पर रहना ही चाहिये। उसके विपरीत साथ दिये चित्र में भगवान विष्णु न केवल मुकुट विहीन ही हैं अपितु जिन मूर्ति के समान घुंघराले केशकुन्ज युक्त हैं। विष्णु का खड्गासन होना भी जैन परम्परा का प्रभाव सूचित करता है।

पारस्परिक प्रान्तीय कलात्मक आदान-प्रदान

इतने विवेचन के बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पारस्परिक निकटवर्ती प्रान्तीय कलात्मक उपादानों का आदान-प्रदान महाकोशल की जैन मूर्तिकला के विकास में कितना हुआ? उससे भी कहीं अधिक प्रभाव बरहटा की स्थापत्य व मूर्तिकला पर परमार कलाकारों का प्रभाव पड़ा है। सर्व प्रथम प्रतिमाओं को ही लें। त्रिपुरी और बरहटा में मैंने ओपदार (Polished) ऐसी दर्जनों जिन मूर्तियां देखी हैं जिनका स्निग्ध माधुर्य आइनों का काम देता है। मौर्यकालीन ओपदार (पॉलिश्ड) स्मरण हो आता है। यह प्रभाव स्पष्टतः परमार राज्य काल की साधना का परिणाम है और ग्यारहवीं शती से लगाकर तेरहवीं शती के उत्तरार्ध तक पॉलिश की यह परम्परा महाकोशल में जीवित थी। जैसा कि पनागर स्थित लेख युक्त पांच जिन प्रतिमाओं से सिद्ध होता है।*

महाराज भोज की कलाप्रियता महाविख्यात है। उसने मौर्यकालीन पॉलिश की परम्पराओं को पुनरुज्जीवित किया। इतिहास सिद्ध है कि नर्मदा के अर्थात् होशंगाबाद जिले के कुछ भागों पर परमारों का आधिपत्य तेरहवीं शती तक निश्चित था जैसा कि उनके ताम्रपत्रों से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में उनका पद प्रभाव पड़ना सर्वथा वांछनीय था। केवल यहीं नहीं महाकोशल के स्तम्भ बरहटा की नोनियोटक मूर्तियों की ज्यामितीय रेखायें, पुष्प एवं जालियों इन सभी पर तुलनात्मक गंभीर विचार किया गया तो स्पष्ट कहना पड़ेगा कि दोनों प्रान्तों का कलात्मक आदान प्रदान कितना उच्चतर था। मुझे मध्यप्रदेश की सीमास्थित भोजपुर † का शैव मन्दिर एवं ग्वालियर दुर्गस्थित अवशेषों के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ है। उससे मैं विनम्रतापूर्वक कह सकता हूं कि कहीं-कहीं शिल्प साम्य इतना निकट है कि मानों एक ही सम्प्रदाय के कलाकार की ये विभिन्न कृतियां हों। मैं इस विषय पर अत्यन्त विस्तृत प्रकाश डाल चुका हूं।

महाकोशल की अधिकतर जैन मूर्ति व स्थापत्य कला की सामग्री लेखरहित है। पर समकालीन अन्य प्रान्तीय अवशेषों के अध्ययन से उनका काल निर्धारित किया जा सकता है, वाणी विहीन भाषा का यह तथ्य सत्य के अधिक निकट है।

---

* खंडहरों का वैभव—खंडहर दर्शन, पृष्ठ ३०-३१।

† विशेष के लिये देखें —'भोजपुर'—लेखक द्वारा लिखित और भोपाल शासन द्वारा प्रकाशित, १९५४।

उपर्युक्त पंक्तियों में केवल कलचुरिकालिक जैनाश्रित पुरातत्त्वावशेषों पर ही विचार किया जा सका है। साथ ही जैसा कि ऊपर सूचित किया जा सका है कि ग्रंथस्थ वाङ्मय भी पुरातत्त्व की विस्तृत व्याख्या में अनुपेक्षणीय नहीं। मुगल काल में न केवल जैन संस्कृति का व्यापक केन्द्र ही महाकोशल बना अपितु उस समय की साहित्यिक रचनायें भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। जैन मुनियों ने चित्रकला के विकास पर भी ध्यान दिया एवं बिखरे हुए साहित्यिक ग्रंथों को भण्डारों में एकत्र कर सांस्कृतिक अन्वेषण की मौलिक सामग्री संचितकर ऐतिह्य विज्ञों के लिये पथ प्रशस्त किया है पर उन सबका यहां उल्लेख ही पर्याप्त है।

कला और संस्कृति का अभिन्न सम्बन्ध है। पारस्परिक योगदान से दोनों की स्वरूप सुषमा निखरती है। मानवीय जीवन का गंभीर वैज्ञानिक चिन्तन एवं समाजमूलक प्रवृत्तियों का विकास महाकोशल की पुरातन शिल्प रेखाओं में परिलक्षित होता है। अतीत की ऊर्जस्वल ज्योति का आंशिक प्रतिबिम्ब विकास का भावी पथ प्रशस्त करता है। महाकोशल के खंडहर, महाकोशल के कलावशेष और तत्रास्थित सुकुमार रेखायें क्षतविक्षत स्थिति में आज हमारी कलापरक भावना को चुनौती दे रही हैं। इन खंडहरों में व्याप्त विगत गौरव की आत्मा आज भी हमें आलोकित कर सकती है बशर्ते कि हम उन्हें भावनापूर्ण होकर अन्तर्दृष्टि से देखें, परखें और जीवन में उनका अनुभव करें। तदर्थ आज वहां अनुसंधान और सत्यान्वेषण के क्षेत्र में जागरूक चिन्तन नितांत वांछनीय है। प्रस्तुत प्रबन्ध पुरातत्त्व के क्षेत्र में यदि जनता की ज्ञान शलाका को उद्दीपित कर सका तो श्रम सफल समझूंगा। *

---

*बरहटा से सम्बन्धित समस्त चित्रण की उपलब्धि में नरसिंहपुर निवासी श्री गोकुलचन्द जी कोचर का प्रधान प्रयत्न रहा है तदर्थ मैं उनका आभार मानता हूं।



कला साहित्य



यस्यास्तु कङ्कणमणिर्भवभूति रासीत्
पद्माकरेण परिपूजित पादपद्मा ।
भानोर्मरीचि निकरैरवभासमाना
सा शारदा भवतु नोऽभ्युदयाय सिद्धा ॥
यत्र स्थिता जलदधावनजन्मभूमिर्यो
भारतीं हिमकिरीटवतीञ्चकार ।
कृष्णायनेन सुरभीकृतदिग्विभाग :
प्रान्तः स विश्वविदितो रविशङ्करस्य ॥
— श्री शिवनाथ मिश्र



मीरा

चित्रकार :- स्व. तोमर

मध्यप्रदेश का संस्कृत-वाङ्मय

श्री सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी

भारतवर्ष के मध्य भाग में स्थित होने के कारण मध्यप्रदेश को प्राचीन काल से ही विशेष महत्व प्राप्त है। उत्तर में चेदि, दक्षिण में दण्डकारण्य, पूर्व में दक्षिण कोशल तथा पश्चिम में विदर्भ—इन चार विख्यात प्रदेशों से निर्मित—तथा पश्चिम वाहिनी नर्मदा, ताप्ती और पयोष्णी एवं पूर्ववाहिनी महानदी और गोदावरी—इन पुण्यतोया नदियों के परिसर में फैला हुआ हमारा मध्यप्रदेश प्राचीन काल से ही संस्कृत-साहित्यिकों का क्रीड़ास्थल रहा है। प्रागैतिहासिक युग में आर्य धर्म के प्रथम प्रसारक अगस्त्य ऋषि ने मध्यप्रदेश में जन्मी लोपामुद्रा को धर्मपत्नी के रूप में सहायक पाकर न केवल कर्तव्यसिद्धि के लिये १२ वर्ष तक दाम्पत्य जीवन में भी ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा ली अपितु एक पुत्रोत्पादन व्रत का आदर्श भी समाज के सामने रखा है। अगस्त्य के नाम से ऋग्वेद में अनेक सूक्त तथा अगस्त्य गीता और अगस्त्य संहिता आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

कालिदास के रघुवंश में अगस्त्य, सुतीक्ष्ण और शरभंग नामक ऋषियों के आश्रमों का वर्णन आया है। ये आश्रम मध्यप्रदेश में स्थित थे और इनमें आर्य धर्म प्रसार के लिये प्रशिक्षण दिया जाता था। विदर्भ कन्या इन्दुमती के स्वयंवर वर्णन में कालिदास ने वहां के "सुराज्य" और "समृद्धि" का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके अमर ग्रंथ "मेघदूत" का स्फूर्ति स्थान रामगिरि (वर्तमान रामटेक) है। नागाधिराज हिमालय और उज्जयिनी के समान सम्भवत: विदर्भ और रामगिरि ने भी कालिदास के हृदय को आकृष्ट किया था। कहा जाता है कि कालिदास कुछ काल के लिये वाकाटक-नृपति प्रवरसेन के दरबार में आये थे तथा यहीं रह कर उन्होंने मेघदूत की रचना की। गुप्त साम्राज्य के "स्वर्णयुग" के आरंभ, निर्माण तथा विकास में मध्यप्रदेश के वाकाटक वंशी नृपों का अमूल्य सहयोग था। वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन द्वितीय स्वयं अच्छे कवि थे। उनकी माता प्रभावती गुप्त सम्राट् विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त की पुत्री थीं। अत: गुप्तकालीन राजदरबार की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा मध्यप्रदेश में भी फैली और संस्कृत साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ।

संस्कृत काव्य रचना की तीन विशिष्ट शैलियों में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली में, वैदर्भी का प्रमुख स्थान है। कालिदास इसी वैदर्भी शैली के पुरस्कर्ता कवि थे। इस शैली का विकास इसी प्रदेश में हुआ था—यह तो नाम से ही स्पष्ट है। रसोत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार वृत्तियों का अलंकार शास्त्रियों ने वर्गीकरण किया है। कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी। इनमें कैशिकी सर्वश्रेष्ठ रस पद्धति मानी जाती है। इस कैशिकी वृत्ति का भी विकास विदर्भ में ही हुआ था, क्योंकि कैशिक और विदर्भ पर्यायवाची शब्द हैं। काव्य शैली और वृत्ति के नाम में भेद स्पष्ट करने के लिये वैदर्भी और कैशिकी ये दो भिन्न नाम दिये गये थे। इससे स्पष्ट है कि विदर्भ का संस्कृत-काव्य शैली के इतिहास में कितना महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि ११ वीं सदी के प्रसिद्ध नाटककार और समीक्षक राजशेखर ने भी विदर्भ को—"**सारस्वती जन्म भू**" कहा है।

काव्य शैली और वृत्तियों के नामों में ही नहीं, संस्कृत साहित्य के अनेक काव्य नाटकों की नायक-नायिकाओं के कारण भी विदर्भ की साहित्यिक ख्याति प्राचीन काल में दृष्टिगोचर होती है। मालविकाग्निमित्र की मालविका, रघुवंश की इन्दुमती, नैषध चरित और नलचम्पू की दमयंती, मालती माधव का माधव इन सभी का विदर्भ की रम्यभूमि में जन्म हुआ था। राजशेखर की नाटिका "विद्धशाल भंजिका" की रचना त्रिपुरी (जबलपुर के निकट तेवर) के कल-

चुरि वंशी केयूरवर्ष उपनाम युवराजदेव के दरबार में अभिनय करने के लिये की गई थी। 'सेतुबंध' तथा "नायकुमार चरित्र" जैसे संस्कृतेतर प्राकृत काव्य के रचयिता प्रवरसेन और पुष्पदन्त भी यहीं जन्मे थे। त्रिपुरी के निकट गोलकी-मठ के आचार्य सोमशम्भु एक प्रकाण्ड दार्शनिक और जननेता थे। उनके लोक-कल्याणकारी तथा शैक्षणिक कार्य का विस्तृत क्षेत्र यहीं था। इस गोलकीमठ में अनेक महाविद्यालय थे। जिनमें विविध शास्त्रों के विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा, भोजन, वस्त्र आदि दिये जाते थे। यहां विद्याध्ययन के लिये बंगाल, केरल आदि, दूर-दूर के प्रदेशों से विद्वान् आते थे। 'चेदि मंडल मंडन' की उपाधि से विभूषित सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में मान्यता प्राप्त सदानन्द कवि की १० वीं शती में अनन्य लब्धकीर्ति थी। सारांश यह कि संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में मध्यप्रदेश का योगदान उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत निबंध का मुख्य विषय मध्यप्रदेश में निर्मित संस्कृत वाङ्मय की कृतियों का विहगावलोकन करना है। सर्व प्रथम प्राचीन ग्रंथकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। कालिदास के अमर खंड-काव्य मेघदूत का उल्लेख ऊपर आ चुका है। सर्वविदित नाटककार भवभूति का जन्म विदर्भ के पद्मपुर में हुआ था। महावीर-चरित, उत्तर रामचरित और मालती माधव—ये भवभूति के तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। किरातार्जुनीय महाकाव्य के रचयिता भारवी, दशकुमार-चरित के रचयिता दंडी, अचलपुर के निवासी माने जाते हैं। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन—जिसकी स्मृति में अभी भी रामटेक के पास नागार्जुनी गुफा यात्रियों को दिखाई जाती है, मूलतः नागपुर क्षेत्र में जन्मे थे—ऐसा कहा जाता है। रसायनशास्त्र और दर्शन जगत में उनका स्थान अग्रगण्य है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत "महा-यान" (माध्यमिक) मार्ग के वे प्रवर्तक थे। उनके ग्रंथों के अनुवाद चीन, तिब्बत आदि की भाषाओं में मिलते हैं। नालंदा विश्वविद्यालय की द्वार परीक्षा में उन्हें कठिनता से सफलता मिली, किन्तु बाद में अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से उसी विश्वविद्यालय के आचार्य पद को उन्होंने अलंकृत किया था। कहा जाता है महाकोशल के प्रतापी राजा सद्वाह् नागार्जुन के मित्र थे। इसमें सन्देह नहीं कि नागार्जुन की धवल कीर्ति के प्रसार में मध्यप्रदेश का गर्वानुभव करना स्वाभाविक है।

सांख्य दर्शन के आचार्य रुद्रिल का एक नाम "विन्ध्यवासी" है। इससे सिद्ध है कि वे यहीं के निवासी थे। आद्य शंकराचार्य के गुरु भगवत्पूज्यपाद गोविन्द यति को नर्मदा क्षेत्र के हैहयवंशी राजा का आश्रय प्राप्त था और यहीं रह कर श्री शंकराचार्य ने दर्शनशास्त्र की जटिल गुत्थियां सुलझाई थीं। उस युग में माहिष्मती नगरी (वर्तमान मांधाता) संस्कृत विद्या का केन्द्र थी। प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र और उनकी विदुषी धर्मपत्नी का निवास माहिष्मती नगरी में था। शंकराचार्य से पराजित होकर मण्डन मिश्र ने संन्यास की दीक्षा ली और सुरेश्वराचार्य के नाम से "बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक" की रचना की थी।

१३ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् हेमाद्रि भी विदर्भ में जन्मे थे। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। धर्मशास्त्र पर "चतुर्वर्ग-चिन्तामणि" नामक प्रचण्ड ग्रन्थ उनकी प्रसिद्ध रचना है। शिल्पशास्त्र, वैद्यक और ज्योतिष शास्त्र पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। हेमाद्रि के समकालीन वोपदेव के मुग्धबोध—नामक संस्कृत व्याकरण का आज भी बंगाल में प्रचार है। वोपदेव ने व्याकरण पर दस, वैद्यक पर नौ, ज्योतिष पर एक, साहित्य शास्त्र पर तीन, श्रीमद्भागवत पर तीन-ऐसे कुल २६ ग्रन्थों की रचना कर लोकोत्तर कीर्ति प्राप्त की थी। धारा नगरी के राजा भोज के समान विदर्भ में भी विद्वानों के आश्रयदाता अनेक भोज हो गये हैं। त्रिविक्रम भट्ट ने —नलचम्पू ग्रन्थ में कुंडिनपुर एवं वरदा तथा पयोष्णी नदी का मार्मिक वर्णन किया है। जातकाभरण, मुहूर्त-मार्तण्ड, मुहूर्त-चिन्तामणि आदि प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रंथों के रचयिता ढुंढिराज, नारायण और नीलकंठ आदि ज्योतिषियों ने विदर्भ देश को अलंकृत किया था। कवियों और विद्वानों के आश्रय स्थान के रूप में कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी की अच्छी ख्याति थी। राजशेखर ने यहां रह कर विद्धशाल भंजिका नामक नाटिका की रचना की थी। उनके अन्य नाटक—बाल भारत, बाल रामायण, कर्पूरमंजरी (प्राकृत नाटक) सुप्रसिद्ध हैं। उनका काव्य मीमांसा (अपूर्ण) साहित्य समीक्षा पर अनूठा ग्रंथ है। तत्कालीन साहित्यिक और सामाजिक परम्पराओं की सूचना देने में काव्य मीमांसा अर्थशास्त्र और महाभाष्य के समान है।

त्रिपुरी के महाराज कर्णदेव के समय में गंगाधर कवि शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान थे। काश्मीर के प्रसिद्ध पर्यटक कवि बिल्हण ने त्रिपुरी के कवि गंगाधर को शास्त्रार्थ में हराया था। बाद में कर्णदेव के आश्रय में रह कर बिल्हण ने "कर्णसुन्दरी" नामक नाटिका की रचना की थी। "विक्रमाङ्क देव चरित" नामक ऐतिहासिक महाकाव्य और "चौर-पंचाशिका" नामक श्रृङ्गार रसपूर्ण श्लोक संग्रह इन्हीं बिल्हण की प्रसिद्ध कृति है। १२वीं शताब्दी में पृथ्वीधर और शशिधर त्रिपुरी के प्रख्यात राजकवि थे। उनमें से एक धरणीधर को प्रशस्तिकारों ने गौरव के साथ "त्रिभुवन दीपक" कहा है। त्रिपुरी के समान दक्षिण कोशल की राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) भी संस्कृत के विद्वानों का केन्द्र था। यहां के सोमवंशी राजाओं के आश्रय में सम्मानित "विद्याकला पारग" तथा कविराज पण्डितवर ईशान, कविकुलगुरु भास्कर भट्ट और वैद्य श्रीकृष्ण दण्डी के नाम उल्लेखनीय हैं। सोमवंशी त्रिकलिंगाधिपति राजा ययाति स्वयं एक अच्छे कवि थे। उपर्युक्त प्रथित यश कवियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे भी कवि हैं—जिनकी काव्य प्रतिभा का परिचय तत्कालीन राज-प्रशस्तियों में मिलता है। इन प्रशस्तियों में इतिहास निर्माण के लिये महत्वपूर्ण सामग्री के अतिरिक्त संस्कृत कविता की उत्तमोत्तम शैलियों का भी दिग्दर्शन होता है। मध्यप्रदेश की विभिन्न रियासतों में प्राप्त राज-प्रशस्तियों, शिला लेखों और ताम्रपटों में पाये जाने वाले गद्य और पद्य के कवित्वपूर्ण अवतरण हमारे प्रान्त के संस्कृत साहित्य-निर्माण की उच्च-परम्परा का परिचय देते हैं।

मध्यप्रदेश के विविध स्थानों में प्राप्त विशाल हस्तलिखित संग्रहों में उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियां छिपी हुई हैं। बस्तर के राज्य पुस्तकालय में अनेक ग्रंथों का पता चलता है। भोंसलों के यहां भी अच्छा ग्रंथ संग्रह है। महाकोशल और विदर्भ के समृद्ध कुलों तथा पंडित घरानों में जो विपुल वाङ्मयीन सामग्री बिखरी पड़ी है, उसकी खोज, परीक्षण और संरक्षण शीघ्र होना चाहिये। अन्यथा, कालचक्र के फेर में इनका अस्तित्व चिर काल तक नहीं रहेगा। प्राचीन साहित्यिक कृतियों के परिचय के बाद अब हम अपेक्षाकृत नवीन मौलिक ग्रंथों का निर्देश करेंगे। मंडला में प्राप्त रूपनाथ कृत "गढ़ेश नृप वर्णन" और लक्ष्मी प्रसाद कृत "गजेन्द्र मोक्ष" काव्य क्रमशः ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व की कृति हैं। पटना स्थान के बैजलदेव का संस्कृत व्याकरण पर "बैजलकारिका" ग्रंथ, सम्बलपुर निवासी गंगाधर मिश्र विरचित "कोशलानन्द" काव्य, रतनपुर के तेजनाथ शास्त्री का पद्यात्मक "रामायण सार संग्रह" आदि ग्रंथ हमारे प्रान्त की वाङ्मय निर्माण सम्बन्धी प्राचीन परम्परा के परिचायक हैं। रुद्रकवि विरचित—"नवाब खानखाना चरित", गणेश कवि रचित "शौरि सुरत तरंगिणी", नागपुरीय गंगाधर कवि के विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ नागपुर विश्वविद्यालय के हस्तलिखित संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कायस्थ कुल भूषण पं. रेवाराम बाबू के गीतमाधव, गंगालहरी, नर्मदा-लहरी आदि अनेक ग्रंथ साहित्य निर्माण में ब्राह्मणेत्तर विद्वानों के सक्रिय सहयोग के दिग्दर्शक हैं। शतकत्रय (नीति-शतक, श्रृङ्गारशतक, वैराग्य शतक) की भांति एक चतुर्थ "विज्ञान शतक" भी किसी अन्य भर्तृहरि ने रचा था। उसका प्रकाशन नागपुर में हो चुका है। श्री. मा. ना. डाऊ की "विनोद लहरी" में श्लेष-अनुप्रास आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग के साथ विनोदपूर्ण कवित्व चमत्कार भी दृष्टिगोचर होता है। भट्ट जी शास्त्री घाटे की "उत्तर राम चरित" पर भाव भूतार्थ बोधिनी टीका ग्रंथकार की विद्वत्ता का परिचय देती है। काव्य निर्माण कौशल की परम्परा में महामहोपाध्याय केशव गोपाल ताम्हन और शिवदासपन्त बार्लिंगे की रचना नैपुण्य प्रशंसनीय है। ताम्हन काव्य संग्रह और शंकराचार्य जन्म काल काव्यम् में क्रमशः इनका परिचय मिलता है। कृष्ण शास्त्री घुले का "हरिहरीयम्" एक द्वयर्थक स्तोत्र है—जिसमें कल्पना के साथ भाषा प्रभुत्व भी स्पष्ट परिलक्षित है। रायगढ़ के राजा चक्रधरसिंह ने विद्वानों की सहायता से संगीत शास्त्र के तीनों अंगों पर सचित्र ग्रंथ लिखवाये थे। उनके नाम "नर्तन सर्वस्व", "तालतोयनिधि" और "रागरत्नाकर" हैं। जबलपुर के ब्योहार रघुवीरसिंह ने पंडितों द्वारा "विद्वन्मोद तरंगिणी" में विविध शास्त्रों के सिद्धान्तों का काव्यमय वर्णन करवाया है।

उक्त साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त, शास्त्रीय विषयों पर भी मध्यप्रदेश के आधुनिक विद्वानों का अच्छा योग-दान है। ज्योतिष शास्त्र पर डॉ. दफ्तरी ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। वैदिक काल गणना पद्धति, भारतीय ज्योतिःशास्त्र

परीक्षण आदि। मीमांसा शास्त्र पर मीमांसा सूत्र विमर्श उनके मौलिक चिन्तन का परिचायक है। डॉ. ज्वालाप्रसाद ने सूत्र शैली में "भारतीय दर्शनम्" की रचना कर यह सिद्ध कर दिया है कि नवीनतम दार्शनिक चिन्तन भी संस्कृत में किये जा सकते हैं। कृष्णशास्त्री घुले का "सापिंड्य भास्कर" और "होमध्याय दिवाकर" धर्मशास्त्र और वैदिक कर्मकाण्ड पर पांडित्यपूर्ण और प्रगल्भ शैली में लिखे विवेचनीय ग्रंथ हैं। दासोपन्त गोसावी ने पुरुष सूक्त पर पुरुष सूक्तार्थ प्रकाश नामक विशद और भावपूर्ण भाष्य लिखा है।

ऊपर के संक्षिप्त विहगावलोकन में मध्यप्रदेशीय संस्कृत वाङ्मय के मूल ग्रंथों का एक अति संक्षिप्त आभास मात्र दिखाया है। इस वाङ्मयीन सामग्री का अवलोकन कर खोजपूर्ण निबंधों या पुस्तकों के द्वारा गत अर्द्ध शती में प्रदेश ने गवेषणा का महत्वपूर्ण कार्य किया है—उसका निरूपण एक स्वतंत्र निबंध का विषय है। निर्माण और समीक्षा ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं। यहां निर्माण संबंधी कार्य का ब्यौरा दिया गया है—समीक्षण संबंधी कार्य का नहीं। समीक्षण कार्य के क्षेत्र में भी मध्यप्रदेश ने अपना योगदान दिया है। अभी तो प्राकृत में यही वक्तव्य है कि सृजन या निर्माण के क्षेत्र में भारत-भारती के चरणों में मध्यप्रदेश ने जो पुष्पाञ्जलि चढ़ाई है—वह गुण और परिमाण, दोनों में सर्वथा श्लाघनीय है।

मध्यप्रदेश का पाली, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य

श्री हीरालाल जैन

भारत में आर्य भाषा के विकास के तीन युग माने गये हैं—प्राचीन, मध्य और वर्तमान। प्राचीन भाषा का स्वरूप वेदों में और विशेषतः ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में मिलता है। तत्पश्चात् भाषा का विकास दो भिन्न धाराओं में हुआ दिखाई देता है। एक ओर प्राचीन भाषा की विधियों और विकल्पों का संस्कार कर के "संस्कृत" भाषा का आविष्कार हुआ और दूसरी ओर "प्राकृत" का। संस्कृत "शिष्टों" की भाषा हुई जिसका संसार प्रसिद्ध सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण पाणिनि मुनि द्वारा लिखा गया। यह व्याकरण अष्टाध्यायी के नाम से प्रख्यात है। लगभग विक्रम पूर्व पांचवीं शताब्दी में संस्कृत भाषा के साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जो कालिदास और भवभूति के समय में अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुंचा।

संस्कृत भाषा की ध्वनियों और व्याकरण की विधियों का स्वरूप ऐसा है कि उसे बिना अभ्यास व अध्ययन के प्रयोग में उतारना सरल नहीं है। इसी से संस्कृत जनता की भाषा नहीं हो सकी। वह शिक्षित समाज तक ही सीमित रह गई। जन-भाषा का जो प्राचीनतम स्वरूप था, वह "प्राकृत" भाषा में प्रवाहित होता हुआ क्रमशः पाली और प्राकृत भाषाओं के साहित्य में प्रकट हुआ। भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ये दोनों जन-नायक और धर्मोपदेशक विक्रम पूर्व पांचवीं शताब्दी में हुए। इन्होंने अपने उपदेश का माध्यम शिष्टों की भाषा संस्कृत को नहीं, किन्तु जन-भाषा "प्राकृत" को बनाया। उन की भाषा सामान्य रूप से "मागधी" कहलाती है। ये दोनों महापुरुष मगध देश में उत्पन्न हुए थे, और उस समय मगध की जो जन-भाषा थी, उसी को स्वभावतः उन्होंने अपनाया। वही मध्ययुग की आर्य भाषा का आदितम रूप माना जाता है।

भगवान महावीर और बुद्ध के समय का लिखा हुआ कोई प्राकृत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उक्त महात्माओं के उपदेशों का संकलन उनके शिष्यों द्वारा किया गया माना जाता है। जो बौद्ध साहित्य उपलब्ध है, वह मुख्यतः "त्रिपिटक" में संग्रहीत हुआ और लंका से आया है। धार्मिक उत्क्रान्ति के कारण इस त्रिपिटक का कोई अंश इस देश में सुरक्षित नहीं रहा। त्रिपिटक की भाषा "पाली" नाम से प्रसिद्ध है, जो यथार्थतः प्राकृत का ही एक विशेष रूप है।

पाली साहित्य—भारत की संस्कृति और इतिहास में बौद्ध धर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में जो समस्त एशिया खंड में और क्रमशः समस्त सभ्य संसार में जो भारत की ख्याति हुई, वह प्रायः इसी धर्म के आधार से। आज भी चीन, जापान, स्याम, बर्मा, तिब्बत और लंका आदि देशों में इसी धर्म के प्रचार के कारण इस देश की भूमि को पुण्य और पवित्र माना जाता है। उन देशों का साहित्य भी बौद्ध साहित्य से अनुप्राणित और प्रभावित है। भारत वर्ष का तो साहित्य ही नहीं समस्त कला-कौशल व विज्ञान भी इस धर्म का बहुत ऋणी है। यहां की प्राचीनतम लिपि और लेखन कला के नमूने बौद्ध धर्माश्रित ही पाये जाते हैं। महाकाव्य और नाटक के प्रथम आदर्श कनिष्ककालीन बौद्ध लेखक अश्वघोष की कृतियों में ही हमें मिलते हैं। कथा-साहित्य में प्राचीनता, रोचकता, नीति और उपदेश की दृष्टि से बुद्ध जातकों की तुलना क ग्रंथ दूसरे नहीं। बौद्ध गुफाओं, मूर्तियों और चित्रों की कला भारत के गौरव का अनुपम आधार है। आज भारतीय राष्ट्र का प्रतीक जो सारनाथ का सिंह स्तम्भ चुना गया है, वह भारत के बौद्ध धर्म के प्रति ऋण का एक उदाहरण है।

मध्यप्रदेश का बौद्ध धर्म से बड़ा प्राचीन सम्बन्ध रहा है। जबलपुर जिले में रूपनाथ नामक स्थान से मौर्य सम्राट् अशोक का एक शिलालेख मिला है, जिसमें सम्राट् ने अपने स्पष्ट रूप से बुद्ध भगवान् के अनुयायी होने की घोषणा की है और जनता से यह प्रेरणा की है कि धर्म और सदाचार के हेतु लोगों को परिश्रमशील होना चाहिये। रूपनाथ का यह शिलालेख भारत की ब्राह्मी लिपि और लेखन कला का एक प्राचीनतम उदाहरण होते हुए मध्यप्रदेश में पाली रचना का एक उत्तम उदाहरण है, अतएव उसका कुछ अंश यहां मूल रूप में उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

"देवानंपिये हेवं आह। सातिरेकानि अढतियानि वय सुमि प्रकास सके। नो चु बाढि पकते। साति-लेके चु सवछरे य सुमि हकं सघ उपेते बाढि च पकते। या इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा। पकमसि हि एस फले। नो च एसा महतता पापोतवे खुदकेन पि पकममिनेना सकिये विपुले पि स्वगे आराधेतवे। एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमतु ति अता पि च जानंतु इय पकरा व किति चिरठितिके सिया।"

(देवप्रिय (राजा अशोक) का यह कहना है कि अढ़ाई वर्ष से भी अधिक काल मुझे प्रकट शाक्य हुए हो गया। किन्तु मैंने (पहले) अधिक पराक्रम (उद्योग) नहीं किया। इधर एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ तब मैं संघ में आया और तब मैंने खूब उद्योग किया। इस काल के भीतर जम्बू द्वीप में जो देव अमिश्र थे, वे मिश्र बना दिये गये। (अर्थात् देवों और मनुष्यों के बीच मेल जोल बढ़ा दिया गया) यह सब उद्योग का फल है। बड़े पुरुषों के उद्योग से ही ऐसा हो सकता है, सो बात नहीं। छोटे-बड़े सभी अपने-अपने उद्योग से उच्च स्वर्ग का आरोहण कर सकते हैं। इसी प्रयोजन से यह बात सब को सुनाई गई है कि छोटे-बड़े सब उद्योग करें, अन्त तक के लोग जान जांय कि पराक्रम क्या चीज है और यह शासन चिरस्थायी होवे।)

रूपनाथ के इस शासन के द्वारा बुद्धानुयायी सम्राट् अशोक के आज से कोई सवा दो हजार वर्ष पूर्व जनता में छोटे-बड़े, नीच-ऊंच की भावना मिटाने सबको समान रूप से उन्नति के पथ पर आरूढ़ करने और उन्हें उद्योगी बनाने के महान् प्रयत्न की सूचना मिलती है। यह भी जान पड़ता है कि उस समय इस देश का नाम जंबू द्वीप था। लेख की भाषा में मागधी प्राकृत के भी लक्षण दिखाई देते हैं।

मध्यप्रदश के अनेक भागों में जो बौद्ध पुरातत्त्व के भग्नावशेष मिले हैं, उनसे जाना जा सकता है कि बौद्ध संस्कृति की परम्परा यहां दीर्घ काल तक प्रचलित रही। इन भग्नावशेषों में भांदक की दगवा नामक गुफ़ा, रायपुर जिले के तुरतुरिया नामक स्थान का भिक्षुणी विहार, रामगढ़ के गुफ़ा नाटयगृह, रामटेक की नागार्जुनी गुफ़ा, पचमढ़ी की पांडव-गुफ़ाओं क नाम से प्रसिद्ध गुफ़ाएँ, सालबर्डी के अध बने व ध्वस्त मंदिर आदि प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध दार्शनिक लेखक नागार्जुन का इस प्रदेश से सम्बन्ध एक गौरव की वस्तु है। किन्तु मध्यकाल से इस प्रदेश में ही नहीं, किन्तु समस्त भारत में से बौद्ध धर्म का क्रमशः लोप हो गया और उसके साथ ही बौद्ध साहित्य भी लुप्त हो गया। पाली भाषा में त्रिपिटक नाम से प्रसिद्ध जो साहित्य अब संसार को उपलब्ध है, वह सिंहल द्वीप में सुरक्षित साहित्य है, जिसकी प्रतिलिपियां स्याम और बर्मा में भी पाई गई हैं। ऐसी अवस्था में यदि इस प्रदेश में पाली के कोई प्राचीन ग्रंथ आदि, न पाये गये हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अब देश में बौद्ध धर्म और साहित्य की ओर लोगों की रुचि उत्पन्न हुई है, और प्रथम बार पाली साहित्य के कुछ ग्रंथ नागरी लिपि में प्रकाशित हुए हैं। इधर अनेक वर्षों से नागपुर विश्व-विद्यालय ने अपने पाठ्यक्रम में पाली भाषा और साहित्य को भी इंटर, बी. ए. व एम. ए. तथा प्राज्ञ, विशारद और शास्त्री परीक्षाओं में स्थान दिया है, एवं नागपुर महाविद्यालय में एम.ए. तक पाली-प्राकृत पढ़ाने की व्यवस्था भी की गई है। नागपुर में एक बौद्ध सोसायटी भी स्थापित है, जो अपने ढंग से अपने अल्प साधनों द्वारा इस क्षेत्र में कार्य कर रही है। पाली साहित्य के संशोधन-प्रकाशन का कार्य इस प्रदेश में यदि कुछ हुआ है, तो वह वैयक्तिक प्रयत्न का ही फल है, किसी सरकारी व अन्य संस्था का इस ओर कोई ध्यान नहीं गया। श्री भदन्त आनन्द जी कौसल्यायन ने कुछ पाली ग्रंथों का संशोधन व अनुवाद किया है और वे अनेक वर्षों तक वर्धा में स्थापित राष्ट्र भाषा प्रचार समिति

के मंत्री रहे हैं। इस नाते इन ग्रन्थों का इस प्रदेश से सम्बन्ध कहा जा सकता है। भदंत जी द्वारा, जहां तक मुझे ज्ञात है, निम्न पाली ग्रन्थों का सम्पादन व अनुवाद हुआ है :—

(१) धम्मपद—मूल व हिन्दी अनुवाद सहित (महाबोधि ग्रन्थमाला–५, १९३८)।

(२) सच्च संगहो—मूल पाली संकलन, भूमिका सहित (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९४०)। यह ग्रन्थ सम्मेलन की परीक्षाओं तथा नागपुर विश्वविद्यालय के बी.ए. के पाली कोर्स में नियत है।

(३) बुद्ध वचन—सच्च संगहो का हिन्दी अनुवाद (महाबोधि पुस्तक भंडार)।

(४) महावंश—हिन्दी अनुवाद (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९४१)।

(५) जातक—हिन्दी अनुवाद, भाग १—४ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९४१, १९४२, १९४६ और १९५१)। इनमें ५०० जातकों का अनुवाद आ गया है। शेष ४७ अगले दो खण्डों में पूर्ण करने का भदंत जी का संकल्प है। देखिये, ये कब प्रकाशित हो पाते हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य—भगवान महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं। उनके उपदेशों का संकलन "द्वादशांग" आगम में किया गया, जिसकी भाषा "अर्ध मागधी" नाम से प्रसिद्ध है। इस आगम का श्रुत परम्परा से ही प्रचार होता रहा, जिससे क्रमशः उस आगम का आदितम स्वरूप लुप्त होता गया। अन्ततः महावीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् वल्लभी नगर में जैन मुनि संघ का एक वृहत् सम्मेलन हुआ, जिसमें उक्त द्वादश आगमों में से ग्यारह आगमों का उद्धार कर उन्हें पुस्तकाकार रूप दिया गया। बारहवें अंग का उद्धार नहीं हो सका, किन्तु इन ग्यारह आगमों और उनके साथ ही संकलित कोई पैंतीस अन्य ग्रंथों को जैन समाज के एक अंग श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही धार्मिक मान्यता प्राप्त है। दिगम्बर सम्प्रदाय का मत है कि समस्त द्वादशांग आगम लुप्त हो गया। केवल उनके आधार से बनाये हुए पीछे के ग्रंथों को ही वे मान्यता प्रदान करते हैं। इस साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रंथ "षट्खंडागम है," जिसकी रचना द्वादशांग श्रुत के बारहवें अंग दृष्टिवाद के आधार से हुई मानी जाती है। यह रचना सूत्र रूप है और उसका काल लगभग विक्रम की दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है। षट्खंडागम की सुविस्तृत और प्रख्यात "धवला" नामक टीका की रचना विक्रम की नवीं शताब्दी में हुई। षट्खंडागम की प्रायः समकालीन दूसरी रचना "कषाय प्राभृत" है, जो मूलतः गाथा रूप है। उस पर 'वृत्ति','चूर्णि' और विस्तृत 'जय धवला' नामक टीका की रचना क्रमश : नवीं शताब्दी तक हुई। इस सब रचनाओं की भाषा "शौरसेनी" है। शूरसेन मथुरा का प्राचीन नाम है और उस प्रदेश से इसका आदिम संबंध होने के कारण वह शौरसेनी प्राकृत कहलाती है। कुंदकुंदाचार्य आदि अनेक आचार्यों ने इसी शौरसेनी प्राकृत में अपने पद्यात्मक ग्रंथों की रचना की।

"पैशाची" प्राकृत की एक महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना थी गुणाढ्य कवि कृत बृहत्कथा। दुर्भाग्य से यह रचना अब अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। केवल उसके संस्कृत रूपान्तर कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी आदि प्राप्त होते हैं। पैशाची प्राकृत पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा अनुमान की जाती है, जहां अब उसी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी "पश्तो" भाषा बोली जाती है।

प्राकृत लोक-साहित्य में जिस भाषा ने विशेष ख्याति प्राप्त की वह है "महाराष्ट्री प्राकृत"। महाकवि दण्डी ने कहा है कि प्राकृत ने महाराष्ट्र प्रदेश का आश्रय पाकर जो रूप धारण किया, वह सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इसी प्राकृत में अच्छे सुभाषितों की रचना हुई, जिसके उदाहरण "सेतुबन्धादि" काव्य विद्यमान हैं। महाराष्ट्री प्राकृत की एक अत्यन्त सुन्दर रचना है "गाथा सप्तशती," जिसका प्रभाव न केवल संस्कृत की अनेक रचनाओं पर अपितु हिन्दी की "सतसई" जैसी रचनाओं पर भी प्रचुरता से पाया जाता है। संस्कृत नाटककारों में तो यह प्रथा ही बन गई कि प्राकृत में यदि पद्य-रचना करना हो तो महाराष्ट्री प्राकृत में और गद्य लिखना हो तो शौरसेनी प्राकृत में लिखा जाय।

उक्त प्राकृत भाषाओं का विकास और उनमें साहित्यिक रचनाओं का क्रम विक्रम की छठी शताब्दी तक अपनी उत्कृष्ट सीमा पर पहुँच गया था। उनका साहित्यिक रूप भी ऐसा सुघटित हो गया था कि वह जन-भाषा से मेल नहीं खाता था। लोक में बोली जाने वाली भाषा सदैव अपनी कुछ मौलिक प्रवृत्तियों को लिये हुए विकास-शील हुआ करती है। किन्तु साहित्य की भाषा जन-भाषा का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व थोड़े ही काल तक कर पाती है। जहां उसकी शैली, शब्दावलि व अलंकार योजना आदि व्यवस्थित हुई और उसका व्याकरण बना, तहां वह जन-भाषा से उत्तरोत्तर दूर हटने लगती है। छठी शताब्दी के लगभग उक्त प्राकृतों की यही दशा हो चली थी। अतएव उस काल की लोक-वाणी को साहित्य में उतारने का नया प्रयत्न किया गया और "अपभ्रंश" भाषा की रचनाएं प्रस्तुत हुई। अपभ्रंश भाषा को प्राकृत का अन्तिम रूप और वर्तमान भाषाओं का आदिम रूप कहा जा सकता है। इसी कारण अपभ्रंश साहित्य का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वह इस देश की भाषाओं के विकास-क्रम को जोड़ने वाली अति आवश्यक कड़ी है। जब तक अपभ्रंश भाषा का साहित्य सम्मुख नहीं आया था, तब तक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के विकास को दशवीं शताब्दी से पूर्व समझने का कोई साधन ही नहीं था। उनका संस्कृत व प्राकृत से विकास तो मानते थे, किन्तु उनका यह रूप कैसे निकल पड़ा, यह वैज्ञानिक ढंग से समझने-समझाने की सामग्री उपलब्ध नहीं थी। अपभ्रंश साहित्य ने सम्मुख आकर इस कठिनाई को दूर कर दिया। इस अपभ्रंश साहित्य की सुरक्षा, खोज, शोध और प्रकाशन में मध्यप्रदेश का गौरवपूर्ण स्थान है।

संस्कृत और प्राकृत के प्राचीन साहित्य को सुरक्षित रखना मुसलमानी शासन काल में एक बड़ी चिन्ता की बात हो गई थी। पद-पदपर उसको जला कर भस्म कर दिये जाने का भय लोगों को सताता रहता था। और इसी कारण ग्रंथ भंडारों को गुप्त रखने की प्रथा चल पड़ी। अंग्रेजी शासन काल में जब अंग्रेजों का ध्यान इस साहित्य की ओर गया और उसका महत्व उनकी समझ में आया, तब वे इस साहित्य की खोज बीन करने का प्रयत्न करने लगे। अंग्रेजी शासन के इस प्रयत्न की झलक हमें सन् १८७८ ईस्वी में प्रकाशित गफ़ साहब के—"Collection of papers relating to the collection and preservation of the records of Ancient Sanskrit Literature in India" (अर्थात् भारत में प्राचीन संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों के संग्रह एवं संरक्षण से सम्बद्ध विवरणों का संग्रह) में मिलती है। भारत सरकार के इस सम्बन्ध के प्रयत्न के फल-स्वरूप संस्कृत प्राकृत ग्रंथों की अनेक सूचियां तैयार हुई। सन् १८६८ में सरकार ने इस कार्य के लिये देश को दो मंडलों में बांटा—एक उत्तरी मंडल और दूसरा दक्षिणी मंडल। उत्तरी मंडल में संस्कृत प्राकृत ग्रंथों की खोज लगाने और सूची बनाने का कार्य डॉ. बूलर के अधीन किया गया और दक्षिणी मंडल का कार्य डॉ. कीलहार्न के अधीन। मध्यप्रदेश दक्षिणी मंडल में सम्मिलित किया गया था और सूची निर्माण का कार्य प्रान्तीय शिक्षा विभागों की सहायता से किया जाता था। इस प्रकार इस प्रदेश में उपलब्ध प्राचीन ग्रंथों की जो सूची तैयार होकर, सन् १८७४ ईस्वी में—"A classified alphabetical catalogue of Sanskrit manuscripts in the Central Provinces" मध्यप्रान्त में संस्कृत पाण्डुलिपियों की एक वर्गीकृत अक्षरानुक्रमणी सूची) नाम से प्रकाशित हुई, उसमें हमें १८२५ पोथियों का उल्लेख मिलता है। इनमें ७०६ सागर जिले की, ६६६ चांदा जिले की, ३०६ नागपुर जिले की और शेष १०८ अन्य छः जिलों की पोथियां थीं। स्पष्टतः यह खोज और सूची इस प्रान्त के लिये बहुत अपूर्ण थी। खोज का कार्य केवल बड़े शहरों मात्र में किया गया था और वहां भी केवल कुछ राजा-रईसों के संग्रह मात्र देखे गये थे। यह बात उस समय की बम्बई सरकार को भी खटकी और उसने सन् १६०३ ई. में प्रोफ़ेसर श्रीधर भण्डारकर को मध्यप्रदेश, मध्यभारत और राजपुताने में दौरा कर प्राचीन ग्रंथों की खोज करने और सूची बनाने के कार्य में नियुक्त किया। किन्तु इस विद्वान् का मत था कि "साहित्यिक वर्ग का जहां सर्वथा अभाव है, ऐसे मध्यप्रदेश में संस्कृत के बहुत ग्रंथों के मिलने की कोई आशा नहीं की जा सकती।" अतएव उन्होंने इस प्रान्त में पदार्पण भी नहीं किया।

तत्पश्चात् सन् १६१२ में शिमला में प्राच्य विद्वानों की एक सभा हुई, जिसमें उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के संग्रह और सूची निर्माण के कार्य के लिये सरकार से बहुत अनुरोध किया। तदनुसार भारत-सरकार ने प्रान्तीय-सरकारों को

इस कार्य में क़दम उठाने की प्रेरणा की और सहायता का वचन दिया। इस प्रेरणा के फलस्वरूप, मध्यप्रदेश की सरकार ने इस प्रदेश के संस्कृत प्राकृत ग्रंथों की सूची बनाने का कार्य राय बहादुर हीरालाल जी के सुपुर्द किया। इस कार्य के लिये रायबहादुर साहब को केवल कुछ मासों की ही अवधि और बहुत ही थोड़ी रक़म ख़र्च करने की अनुमति दी गई थी। तथापि उन्होंने उन्हीं सीमाओं के भीतर बड़ी लगन से काम कर के जो सूची तैयार की, उसमें ८१८५ हस्त-लिखित ग्रंथों का उल्लेख है। यह सूची—"Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in the Central Provinces & Berar" (मध्यप्रान्त और बरार में संस्कृत और पाली पाण्डुलिपियों की सूची) इस नाम से प्रान्तीय सरकार द्वारा सन् १९२६ में प्रकाशित हुई थी। यथार्थतः यह सूची भी इस प्रदेश के लिये पर्याप्त नहीं है। इसका अधिकांश संकलन शासनाधिकारियों द्वारा मंगवाई गई सूचियों के आधार पर ही किया गया है। इस में कारंजा के जैन शास्त्र भंडारों के केवल १,२६४ ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। ग्रंथों का पर्याप्त परिचय भी नहीं दिया जा सका है। इस कारण इस प्रदेश के प्राचीन ग्रंथों की सूची का कार्य विधिवत् सम्पादित किये जाने की अभी भी बड़ी आवश्यकता है। स्वातंत्र्य प्राप्ति के पश्चात् विलीन की गई देशी रियासतों व रजवाड़ों के ग्रंथ भंडारों का तो इस सूची में स्वभावतः निर्देश भी नहीं हुआ है। इस कारण इस प्रदेश की प्राचीन साहित्यिक निधि का यत्नपूर्वक खोज-शोध कर के विधिवत् सूची बनाने का कार्य अभी भी अवशिष्ट ही पड़ा है। तथापि प्रकाशित सूची में जिन ज़रूरी प्राकृत ग्रंथों का और विशेषतः अपभ्रंश ग्रंथों का उल्लेख आया है, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, और उनसे इस प्रदेश की साहित्यिक निधि को बड़ा गौरव प्राप्त हुआ है।

सूची में १०–१२ अपभ्रंश ग्रंथों का उल्लेख है, जिनके कुछ महत्वपूर्ण अवतरण भी सूची के अन्त में दे दिये गये थे। इनके सम्मुख आने से विद्वत्समाज में बड़ा कौतुक बढ़ा, क्योंकि अभी तक अपभ्रंश साहित्य कहीं भी अन्यत्र इतनी बड़ी मात्रा में नहीं पाया गया था। विद्वानों की इसी उत्सुकता से प्रेरित होकर इस लेख के लेखक ने इन ग्रंथों के सम्पादन व प्रकाशन का आयोजन किया, जिसके फलस्वरूप कारंजा जैन ग्रंथ माला में निम्न ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है :—

(१) **जसहर-चरिउ** (यशोधर चरित्र)—यह अपभ्रंश काव्य महाकवि पुष्पदन्त की रचना है और रचना-काल है, दसवीं शताब्दी। इसका सम्पादन, भूमिका, शब्दानुक्रमणी और टिप्पणी आदि सहित डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा हुआ है, जो इस समय दरभंगा की संस्कृत इन्स्टिट्यूट के संचालक हैं। इसका प्रकाशन सन् १९३१ ई. में हुआ था। यदि आप इस कविता का कुछ रसास्वादन भी यहीं करना चाहते हैं, तो यौधेय देश के राजा मारिदत्त का थोड़ा सा वर्णन सुन लीजिये—

चाएण कण्णु विहवेण इंदु। रूवेण कामु कंतीए चंदु॥
दंडें जमु दिण्ण पयंड-घाउ। पर-बल-दुम-दलण वलेण वाउ॥
सुर-करि-कर-थोर-पयंड-बाहु। पच्चंत-णिवइ-मणि दिण्ण-दाहु॥

अर्थात् राजा मारिदत्त त्याग में कर्ण, वैभव में इन्द्र, रूप में कामदेव और कान्ति में चन्द्र के समान थे। अपराधी को दण्ड देने में उनका घात यमराज के समान ही प्रचण्ड होता था। उनके विशाल बाहु इन्द्र के हाथी की सूंड के समान प्रकाण्ड थे। उनके प्रताप से, उनके सीमान्त राजाओं के मन में सदा दाह बना रहता था।

२. **णायकुमार चरिउ** (नागकुमार चरित)। यह भी महाकवि पुष्पदन्त की रचना है जिसका सम्पादन डा. हीरालाल जैन द्वारा और प्रकाशन सन् १९३३ में हुआ। भूमिका, शब्दकोश, टिप्पणी आदि से ग्रंथ महत्वपूर्ण हो गया है। इस ग्रंथ का भी थोड़ा सा रसास्वादन कीजिये। योद्धा युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। वे अपने-अपने मन में क्या-क्या मनसूबे बांध रहे हैं :—

सण्णज्झंतु भणइ भडु वच्चमि। अज्जु वइरि-सीसें रण श्रच्चमि।।
कड्ढिवि अज्जु वइरि-वण-सोणिउ। वड्ढउ असिवरे मेरउ पाणिउ।।
को वि भणइ उज्जुय पय वोपिणु। पिसुण-कव्वु पहु-पुरउ लुणेप्पिणु।।
हुयवहे घिवमि पेक्खु सहउत्तणु। कंते महारउ पं सुकइत्तणु।।

एक भट कवच धारण करता जाता है और अपनी प्रिया से कह रहा है, "हे प्रिये! आज मैं वैरी के सिर से रण-भूमि की पूजा करने जा रहा हूं। शस्त्रप्रहार द्वारा वैरी के रक्त बहाने के लिये मेरा हाथ मेरी तलवार पर बढ़ रहा है।" दूसरा एक योद्धा अपनी प्रेयसी से कह रहा है, "हे कान्ते! आज मेरा सुभटत्व और सुकवित्व देखो। सीधे कदम बढ़ाकर और वैरी के शरीर को अपने प्रभु के सम्मुख छिन्न-भिन्न करके मैं उसी प्रकार आग में झोंकने वाला हूं जिस प्रकार कि कोई बड़ा कवि राजा की सभा में अपनी सुन्दर पदावलि सुनावे और अपने विरोधी कवि के काव्य को प्रभु के सम्मुख फाड़कर आग में जला दे।"

३. **सावय-धम्म दोहा** (श्रावक धर्म दोहा)। इसका सम्पादन, हिन्दी अनुवाद, भूमिका, शब्दकोश, टिप्पण आदि सहित डॉ. हीरालाल जैन ने किया है और प्रकाशन सन् १९३२ में हुआ है। इसमें २२४ नीति और धर्म विषयक दोहे हैं। एक दो दोहे सुनिये :—

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण।
अमिउ तिसें वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण।।

दुर्जन संसार में सुखी रहे, क्योंकि वह सज्जन को उसी प्रकार प्रकाश में लाता है जिस प्रकार विष अमृत को, अंधकार दिवस को और कांच मरकतमणि को चमका देता है।

सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय पर पावेण।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदउ दिट्ठउ केण।।

रे जीव! यहां कोई भी नर पाप कर्म के द्वारा सुखी नहीं हो सकता। जो गेंद कीचड़ में फेंकी जाती है उसे कभी किसी ने ऊपर उठते देखा है?

४. **पाहुड दोहा** :— इसका सम्पादन भी पूर्वोक्त रीति से हिन्दी अनुवाद सहित डॉ. हीरालाल जैन ने किया है और प्रकाशन सन् १९३३ में हुआ है। इसके २२२ दोहों में सन्तों के रहस्यवाद का अच्छा प्रतिपादन मिलता है। आदि में ही लेखक अपने गुरु का परिचय इस प्रकार देता है :—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पा-परहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ।।

सूर्य मेरा गुरु है, चन्द्र मेरा गुरु है, दीपक मेरा गुरु है जहां से प्रकाश मिले और जो आत्म और पर के भेद का दर्शन करा दे वही सच्चा गुरु है।

आत्म और ब्रह्म में प्रेयसी और प्रेमी की कल्पना करके रहस्यवादी कवि कहता है—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एक्कहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु।।

मैं सगुण हूं और मेरा प्रियतम है निर्गुण, निर्लक्षण और निस्संग। इस कारण एक ही अंग (अंक—कोठे) में साथ-साथ रहने पर भी अंग से अंग नहीं मिल पाया।

५. **करकंड-चरिउ** (करकण्डु चरित)। इसका सम्पादन भी डॉ. हीरालाल जैन द्वारा अविकल अंग्रेजी अनुवाद आदि सहित होकर प्रकाशन सन् १९३४ में हुआ है। इसके कर्ता मुनि कनकामर हैं जिन्होंने

अपने समय के राजा विजयपाल, भूपाल और कर्ण का उल्लेख किया है। आश्चर्य नहीं जो ये राजा वे ही हों जिनका विजयपाल और उनके पुत्र भुवनपाल का उल्लेख दमोह जिले की हटा तहसील से प्राप्त एक शिलालेख में मिला है। जबलपुर से मिले एक लेख में भूमिपाल राजा का उल्लेख है। यदि इन उल्लेखों का साम्य है तो आश्चर्य नहीं इस काव्य की रचना मध्यप्रदेश में ही हुई हो। कवि ने अपने रचनास्थल का नाम आसाइ नगरी दिया है।

इस काव्य की एक नायिका रतिवेगा का पति नौका पर से कूद कर जल में डूब गया। उस समय नौका पर के पथिकों में जो व्याकुलता फैली और रतिवेगा की जो दशा हुई व उसने जो विलाप प्रारंभ किया उसका कुछ वर्णन सुनिये-

णरवर-पंचाणणु वियसिय-आणणु जलि पडिउ।
ता सयलहि लोयहि पसरिय-सोयहि भइउरिउ॥
रइवेय सुभामिणि णं फणि-कामिणि विमणभया।
सव्वंगे कंपिय चित्ति चमक्किय मुच्छ गया॥
किय चमर-सुवाएं सलिल-सहाएं गण-भरिया॥
उट्ठाविय रमणिहि मुणि-मण-दमणिहि मणहरिया॥
सा कर यल-कमलहि सुललिय-सरलहि उरु हणइ।
उव्वाहुल-णयणी गग्गिर-वयणी पुणु भणइ॥
हा, वइरिय वइवस प्राक्मलीमस किं कियउ।
मइं आसि वरायउ रमणु परायउ किं हियउ॥
हा, दइव परम्मुह दुण्णय दुम्मुहं तुहुं हुयउ।
हा सामि सलक्खण सुदृड़, वियक्खण कहिं गयउ॥

जब वह णर-केहरी करकंड प्रफुल्ल मुख सहित जल में कूद पड़ा, तब सब लोगों में शोक फैल गया और वे अत्यन्त भयाकुल हो उठे। कामिनी रतिवेगा जो नागकन्या के समान सुकोमल थी बड़ी विमनस्क हुई, वह सर्वाङ्ग कांप उठी, चित्त में उसके एक चमक हुई और वह मूच्छित हो गई। तब सुन्दरी सहेलियों ने शीतल चमरों की वायु से उसकी मूर्च्छा दूर की। सचेत होते ही रतिवेगा अपने कोमल हस्त कमलों से अपनी छाती पीट-पीटकर गद्गद होकर सजल नेत्रों सहित रोने लगी और कहने लगी— "रे बैरी पापी यम! यह तूने क्या किया? मैंने जिस पति को अभी हाल ही वरा था उसका तूने अपहरण क्यों कर लिया? हा दैव! तू इतना अन्यायी और पराङमुख क्यों हो गया? हे मेरे सुलक्षण स्वामी! तुम तो इतने समझदार और कुशल थे; तुम क्यों मुझे अकेली छोड़कर इस प्रकार चले गये?"

ये थोड़े से वे अपभ्रंश भाषा के ग्रंथ हैं जो कारंजा (अकोला) से प्राप्त होकर अभी तक प्रकाशित हो पाये हैं और जिनके द्वारा अपभ्रंश का अध्ययन-अध्यापन सुलभ हो गया है। अन्य अनेक ग्रंथ अभी भी प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

ऊपर एक अपभ्रंश ग्रंथ के कर्त्ता मुनि कनकामर के इसी प्रदेश में काव्य रचना करने की संभावना का उल्लेख किया जा चुका है। जिन महाकवि पुष्पदन्त के दो काव्यों का ऊपर परिचय कराया गया है और समस्त प्रकाशित अपभ्रंश साहित्य में श्रेष्ठतम कवि कहे जा सकते हैं उनके सम्बन्ध में भी कुछ ऐतिहासिक बातें ध्यान देने योग्य हैं। उन्होंने अपने काव्यों में अपने कुल आदि का भी कुछ परिचय देने की कृपा की है जिसके अनुसार उनके पिता का नाम केशव भट्ट और माता का मुग्धादेवी था। वे आदितः काश्यप गोत्री ब्राह्मण और शिव के उपासक थे, किन्तु किसी जैन मुनि का उपदेश पाकर उन्होंने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और अंततः जैन संन्यास धारण कर उन्होंने स्वर्गवास प्राप्त किया था। यह बात उनके णायकुमारचरिउ की प्रशस्ति में इस प्रकार पाई जाती है:—

सिव-भत्ताइं मि जिण-सण्णासें। बे वि मयाइं दुरिय-णिण्णासें।।
बम्हणाइं कासव-रिसि-गोत्तइं। गुरु-वयणामय-पूरिय-सोत्तइं।।
मुद्धादेवी-केसव-णामइं। महु पियराइं होंतु सुह-धामइं।।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी विशाल रचना महापुराण में यह भी कहा है कि जब बड़ी दूर से चलकर—

दुग्गम-दीहर पंथेण रीणु। णव-इंदु जेम देहेण खीणु।।

अर्थात् दुर्गम और दीर्घ यात्रा के क्लेश से नये चन्द्रमा के समान देह से क्षीण होकर राष्ट्रकूट नरेशों की राजधानी मान्यखेट (मलखेड, हैदराबाद राज्य) में पहुंचे और महामंत्री भरत जी से मिले, तब—

देवी-सुएण कइ भणिउ ताम। भो पुप्फयंत ससि-लिहिय-णाम।।
णिय-सिरि-विसेस-णिज्जिय-सुरिंदु। गिरि-धीरु वीरु भइरव-णरिंदु।।
पइं मण्णिउ वण्णिउ वीर राउ। उप्पण्णउ जो मिच्छत्त-भाउ।।
पच्छित्तु तासु जइ करहि अज्जु। ता घडइ तुज्झु परलोय-कज्जु।।

देवी सुत (भरत मंत्री) ने कविराज से कहा—'हे पुष्पदन्त जी! आपका शुभनाम तो अपनी ख्याति द्वारा चन्द्रमण्डल पर भी लिखा जा चुका है। किन्तु अपनी राज्यलक्ष्मी से जिन्होंने सुरेन्द्र को भी पराजित कर डाला है और जो गिरि के समान धीर हैं ऐसे भैरव नरेन्द्र वीरराव का आपने जो स्तुतिपूर्ण वर्णन किया है उससे जो मिथ्यात्व भाव उत्पन्न हुआ है उसका अब आप (महापुराण की रचना द्वारा) प्रायश्चित्त कर डालिये जिससे आपका परलोक भी सुधर जावे।

इस वर्णन से ऐसा भी कुछ अनुमान होता है कि मान्यखेट में आने से पूर्व महाकवि पुष्पदन्त जी ने काव्य रचना में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी और वह रचना उन्होंने किसी भैरव नरेन्द्र वीरराव के आश्रय में की थी। ये राजा शिव भक्त प्रतीत होते हैं जिनका सम्बन्ध पुष्पदन्त के पिता के समय से रहा है। किन्तु किसी कारण से उनका इस राजा से विरोध हो गया और वे उसके देश को छोड़ कर राष्ट्रकूट राज्य में आ गये।

'सिद्धान्त शेखर' नाम का एक ज्योतिष ग्रंथ है जिसका प्रकाशन कलकत्ता विश्वविद्यालय से हुआ है। इस ग्रंथ के रचयिता श्रीपति भट्ट नागदेव के पुत्र और केशवभट्ट के पौत्र थे। इनके बनाये ज्योतिष रत्न माला, दैवज्ञ-वल्लभ, जातक पद्धति आदि और भी अनेक ग्रंथ पाये जाते हैं। पण्डित नाथूराम जी प्रेमी का अनुमान है कि "पुष्पदन्त के पिता केशवभट्ट और श्रीपति के पितामह केशवभट्ट एक ही थे, क्योंकि एक तो दोनों ही काश्यप गोत्रीय हैं और दूसरे दोनों के समय में भी अधिक अन्तर नहीं है। केशव भट्ट के एक पुत्र पुष्पदन्त होंगे और दूसरे नागदेव। पुष्पदन्त निष्पुत्र-कलत्र थे, परन्तु नागदेव को श्रीपति जैसे महान ज्योतिषी पुत्र हुए। यदि यह अनुमान ठीक हो तो श्रीपति को पुष्पदन्त का भतीजा समझना चाहिये।" श्रीपति भट्ट ने अपने ज्योतिः शास्त्र की रचना 'रोहिणी खंड' में रहते हुए की थी जैसा कि उस ग्रंथ में उल्लेख है।

भट्ट केशवपुत्रस्य नागदेवस्य नन्दनः।
श्रीपती रोहिणीखंडे ज्योतिः शास्त्रमिदं व्यधात्।।

यह 'रोहिणीखंड' नामक स्थान मध्यप्रदेश के बुलढाना जिले का रोहनखेड नामक ग्राम ही अनुमान किया जाता है (नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ३०४)। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त का पैतृक स्थान मध्यप्रदेश ही सिद्ध होता है। यह अनुसन्धान करने योग्य विषय है कि कवि द्वारा उल्लिखित उनका पूर्व आश्रयदाता भैरव नरेन्द्र वीरराव कौन होगा? संस्कृत में शिवमहिम्न स्तोत्र की बड़ी प्रसिद्धि है। यह रचना पुष्पदन्त कृत है जैसा कि उस स्तोत्र के निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

श्री पुष्पदन्त-मुख-पंकज-निर्गतेन। स्तोत्रेण किल्बिष-हरेण हरप्रियेण।
कंठस्थितेन पठितेन समाहितेन सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः।।

अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त के पूर्वोक्त कुल-परिचय के प्रकाश में आश्चर्य नहीं जो वे ही शिवमहिम्न स्तोत्र के कर्ता भी हों। उनकी संस्कृत की काव्यशक्ति का पता तो उनकी अपभ्रंश रचनाओं से भी चल जाता है क्योंकि एक तो उन्होंने अपने अपभ्रंश काव्यों को संस्कृत के समस्त काव्य गुणों से अलंकृत किया है और दूसरे इन काव्यों की संधियों के आदि में अनेक स्थलों पर उन्होंने संस्कृत पद्य भी रचे हैं। उनके महापुराण का एक श्लोक देखिये जिसमें उन्होंने धारानरेश (हर्षदेव) द्वारा मान्यखेट नगर के ध्वंस किये जाने पर शोक और चिन्ता प्रकट की है। वे कहते हैं—

दीनानाथ-धनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्ल-वल्लीवनं।
मान्याखेटपुरं पुरन्दरपुरी लीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथनरेन्द्र कोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं।
क्वेदानीं वसति करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः॥

अर्थात् जो मान्यखेट पुरी दीन और अनाथों का धन थी, जहां सदैव बहुजन निवास करते थे और जहां के उद्यान फल फूलों से समृद्ध थे वह इन्द्रपुरी की शोभा को भी जीतने वाली सुन्दर और विद्वज्जनों की प्रिय नगरी धारानाथ (हर्षदेव) की कोपाग्नि से भस्म हो गई। अब श्री पुष्पदन्त कवि कहां निवास करेंगे। इस रचना का सौष्ठव शिवमहिम्न स्तोत्र की रचना से मेल तो खाता है।

हिन्दी के एक इतिहास लेखक शिवसिंह 'सरोज' के मत से हिन्दी के आदि कवि पुण्ड (या पुष्प) हुए जिन्होंने दोहा छंद म एक अलंकार ग्रंथ की रचना की थी। आश्चर्य नहीं कि उक्त लेखक का अभिप्राय हमारे इन्हीं अपभ्रंश महाकवि पुष्पदन्त से हो।

इन अपभ्रंश रचनाओं के अतिरिक्त प्राकृत के कुछ महान-सिद्धान्त ग्रंथों के सम्पादन प्रकाशन का श्रेय इसी मध्य-प्रदेश को है। हम ऊपर षट्खंडागम सूत्र और उसकी धवला टीका का उल्लेख कर आये हैं। यह ग्रंथ शताब्दियों से केवल मात्र ताड़पत्रों पर प्राचीन कनाड़ी अक्षरों में लिखा हुआ मैसूर राज्यान्तर्गत मूडबिद्री के जैन मन्दिर में सुरक्षित था और अध्ययन की नहीं, किन्तु पूजा की वस्तु बना हुआ था। इस का विधिवत् सम्पादन, अनुवाद व प्रकाशन भी मध्यप्रदेश में ही डॉ. हीरालाल जैन द्वारा किया गया है और मुद्रण भी दस भागों का अमरावती में किया गया है। इसके अबतक बारह भाग निकल चुके हैं। चार भाग अभी भी सम्पादित होकर निकलना शेष है।

विश्व मंडल के सम्बन्ध में प्राचीन जैन मान्यताओं का निरूपण करनेवाला एक अति प्राचीन प्राकृत गाथा-बद्ध ग्रंथ तिलोय-पण्णत्ति (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) है जिसके कर्ता यतिवृषभाचार्य हैं। इस ग्रंथ को प्रकाशित करने का श्रेय भी मध्यप्रदेश को है। इस का सम्पादन डॉ. हीरालाल जैन और कोल्हापुर निवासी डॉ. आ. ने. उपाध्ये ने मिलकर किया है और उसका हिन्दी अनुवाद किया है पं. बालचन्द्र जी शास्त्री ने। यह दो भागों में पूर्ण हुआ है। प्रथम भाग सन् १९४३ में और द्वितीय भाग सन् १९५१ में अमरावती में मुद्रित होकर जैन संस्कृति संरक्षक संघ द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।

जम्बूद्वीप का जैन मान्यतानुसार प्ररूपण करने वाला एक प्राकृत ग्रंथ पद्मनन्दि कृत 'जम्बूदीवपण्णत्ति' है। इसका भी प्रथम बार डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये द्वारा सम्पादन तथा पं. बालचन्द्र शास्त्री द्वारा अविकल हिन्दी अनुवाद होकर अमरावती में मुद्रण पूरा हो चुका है और ग्रंथ शीघ्र ही जैन संस्कृति संरक्षक संघ द्वारा प्रकाशित होने वाला है।

मध्यप्रदेश में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की सेवा का यह संक्षिप्त परिचय है।

मध्यप्रदेश के हिन्दी-साहित्य का इतिहास

श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित "कुसुमाकर"

वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल.

मध्यप्रदेश में हिन्दी-साहित्य अपनी प्राचीन एवं गौरवपूर्ण परम्परा रखता है। विक्रम संवत् ९९० में जैनाचार्य नाम के एक कवि हुये, जो इसी प्रान्त के रहनेवाले थे। इनकी भाषा प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश है। इन्होंने 'सरवकाचार' नामकी पुस्तक दोहा-छन्द में लिखी और 'दब्ब-सहाव-पयास' एक अन्य ग्रन्थ भी दोहों में लिखा। इन्हीं का लिखा हुआ 'सावय-धम्म' नामक एक ग्रंथ भी है। यह अत्यंत प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसकी भाषा भी अपभ्रंश है और इसमें जैन-शास्त्रों के अनुसार धर्म और नीति की चर्चा की गयी है। इसकी भाषा के मूल में प्रयुक्त क्रिया-पदों में हिन्दी का रूप भी झलकता दिखलाई पड़ता है।

प्राकृत भाषा के बोलचाल की भाषा न रहने पर अपभ्रंश-भाषा में साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। 'दूहा' या 'दोहा' कहने से जनसाधारण में प्रचलित काव्य-भाषा का भान होता था। अनेक जैन और बौद्ध आचार्यों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये इसी भाषा को अपनाया। प्राकृत का जो रूप बोलचाल की भाषा में आया, वह भाषा जब तक सर्वसाधारण में प्रचलित रही, तबतक देश-भाषा कहलाती थी और जब वह साहित्य की भाषा हो गई, तब उसे अपभ्रंश कहा जाने लगा। भरत मुनि * ने इसे 'देश-भाषा' ही कहा है। 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम वलभी के राजा धारसेन्धु द्वितीय के शिलालेख में मिलता है; उसमें उन्होंने अपने पिता गुहसेन (विक्रम संवत् ६५० के पूर्व) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि बतलाया है।

कारंजा के मुनि रामसिंह ने संवत् ११०० में 'पोहुड़ दोहा' नामक ग्रन्थ की रचना की। संवत् १०४० में लिखित त्रिपुरी नरेश राजा कर्णदेव की एक प्रशस्ति प्राप्त हुई है, जिसमें संस्कृत के साथ-साथ अपभ्रंश भाषा की भी निम्नांकित पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

"हो हन्ति एत्थ वंश पुरिसाएहइय गौरव महग्धा।
इअ हविऊण अंणं पाणोप परिग्गहो गहिओ॥" †

महमूद गजनवी के समय से ही भारत पर यवनों की कोप-दृष्टि पड़ने लगी थी और संवत् १०८७ में महमूद की मृत्यु के बाद उसके लाहौरस्थित एक अधिकारी ने भी भारत में लूट-खसोट का कार्य पूर्ववत् जारी रखा। उत्तर भारत विशेषकर राजस्थान की शक्तियां ही यवनों के अत्याचारों को रोकने में संलग्न हुईं, इसलिये राजस्थान में वीर रस के काव्य का स्रोत बड़े वेग से प्रवाहित हुआ और 'खुमानरासो', 'बीसलदेव-रासो' तथा 'पृथ्वीराजरासो' जैसे वीर रस पूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई, परन्तु मध्यप्रदेश उन दिनों इस प्रकार के आक्रमणों से मुक्त रहा, इसलिये यहां पर वीर रस के ग्रंथों का निर्माण नहीं हो सका और जिसे आचार्य रामचन्द्र

---

* विक्रम की तीसरी शताब्दी.

† होवेंगे इस वंश में, सुपुरुष गौरववान।
यह विचार वह विशन को परिग्रहण कृतवान॥ (जबलपुर ज्योति से)

शुक्ल "वीर-गाथा-काल" मानते हैं, उसमें कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ मध्यप्रदेश में नहीं लिखा गया। कुछ लोग जगनिक (संवत् १२३०) को मध्यप्रदेश का कवि मानते हैं, परन्तु जगनिक कलिंजर के राजा परमाल के यहां एक भाट थे और उनके नाम पर प्रचलित "आल्हा" को भी उनका लिखा हुआ प्रामाणिक ग्रंथ नहीं माना जाता। इस ग्रंथ की भाषा भी मध्यप्रदेश की भाषाओं से विशेष मेल नहीं खाती।

मध्यप्रदेश ने जो धार्मिक परम्परा जैन और बौद्ध आचार्यों से प्राप्त की थी, वह बराबर अपने नये रूपरंग में चलती रही। समस्त भारत के कबीर-पंथियों का केन्द्र इसी प्रांत के कवर्धा स्थान में सर्व प्रथम स्थापित हुआ; फिर उसे भाटापारा के निकट दावांखेड़ा तथा बाद में रायगढ़ के समीप खरसिया ले जाया गया। आज भी भारत भर के कबीरपंथी इस स्थान पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाने के लिये आते हैं। कबीर-पंथ से मिलते-जुलते यहां और भी कई पंथ स्थापित हुये और यहां की जनता पर कबीर तथा रैदास, जैसे, ज्ञानमार्गी निर्गुण सन्तों की वाणियों का प्रभाव पड़ा, परन्तु सबसे अधिक प्रभाव यहां की रचनाओं पर वैष्णव-धर्म एवं सगुणोपासक भक्ति-धारा का ही रहा। कारण, वैष्णव धर्म के प्रधानाचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म रायपुर के निकट चम्पारन में वैशाख कृष्ण ११, संवत् १५३५ में हुआ। इनकी मृत्यु का समय आषाढ़ शुक्ल तीज संवत् १५८७ माना जाता है। आपका कुटुम्ब यद्यपि जबलपुर के निकट गढ़ा में बस गया, परन्तु आप अधिकतर ब्रजभूमि में ही रहे और वहीं आप गोलोकवासी हुये। वल्लभाचार्य की भांति रामानुजाचार्य भी दक्षिण के थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन के मत से इस रूप में दक्षिण भारत ने उत्तर भारत के साहित्य और यहां की संस्कृति पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला, "कबीर, तुलसी और सूर की भाषा चाहे उत्तर भारत की हो, परन्तु उनकी भावना दक्षिण भारत की है।" *

वल्लभाचार्य ने 'पूर्वमीमांसा-भाष्य', और 'उत्तर-मीमांसा' या 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य'—(जो 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं) दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, जिनमें से अन्तिम में शुद्धाद्वैतवाद का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया। श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी तथा सूक्ष्म टीका, 'तत्त्वदीप' निबन्ध तथा सोलह छोटे प्रकरण-ग्रन्थ आपकी अन्य रचनायें हैं। कहते हैं कि 'अणुभाष्य' पूरा करने के पूर्व ही वल्लभाचार्य का गोलोकवास हो गया और उसकी पूर्ति गोस्वामी विट्ठलनाथ ने की।

वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग कहलाता है। अन्य आचार्यों की भांति इस सम्प्रदाय का लक्ष्य भी शंकराचार्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से मुक्ति पाना था। इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं और वे सर्व गुण सम्पन्न होकर पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

वल्लभाचार्य का गोलोकवास होने पर उनके पुत्र विट्ठलनाथ गद्दी पर बैठे। इनके पुत्र गोकुलनाथ थे जिन्हें कुछ लोग 'चौरासी वैष्णव की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्त्ता' का रचयिता बतलाते हैं। 'अष्टछाप' में वल्लभाचार्य जी के चार शिष्य सूरदास, कृष्णदास, कुम्भनदास और परमानंददास तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य चतुर्भुजदास, छितस्वामी, नंददास और गोविंद स्वामी कहे जाते हैं। इनमें से कुम्भनदास और चतुर्भुजदास गढ़ा (जबलपुर) के निवासी थे। कुम्भनदास का अधिकांश समय ब्रज में ही बीता। वे विरक्त पुरुष थे और हमेशा भगवद्भक्ति में लीन रहते थे। अकबर बादशाह के बुलाने पर आपको फतेहपुर सीकरी जाना पड़ा। यद्यपि वहां बादशाह ने बहुत सम्मान किया, परन्तु आपको वह यात्रा सुखकर नहीं जान पड़ी—

---

* २३ नवम्बर १९५५ को हैदराबाद में आचार्य क्षितिमोहन सेन का भाषण (हिन्दी प्रचार सभा का पदवीदान महोत्सव).

संतन को कहा सीकरी सों काम?
आवत जात पनहियां टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम ।।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ।।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ।।

इनके फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं, कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता । नाथद्वारा के निजी पुस्तकालय में 'सेवाप्रकार' नामका एक हस्तलिखित ग्रन्थ व्रजभाषा में है, जिसमें आचार्य वल्लभाचार्य द्वारा कुम्भनदास को दिये गये सेवा-सम्बन्धी उपदेश संग्रहीत हैं। इससे प्रकट होता है कि कुम्भनदास, सूरदास की भांति ही महाप्रभु के कृपा-पात्र थे। फुटकर पदों में कृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला का बड़े भावपूर्ण रूप में चित्रण मिलता है—

माई गिरिधर के गुन गाऊं,
मेरो तो व्रत याही निसि दिन, और न रुचि उपजाऊं ।
खेलन आंगन आउ लाड़िले, नेकहु दर्सन पाऊं ।
कुम्भनदास इह जग के कारन, लालच लागि रहाऊं ।

चतुर्भुजदास कुम्भनदासजी के पुत्र थे। 'द्वादश-यश,' 'भक्ति-प्रताप' और "हितजू को मंगल' इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। कुछ फुटकर पद भी इधर-उधर पाये जाते हैं। इनकी भाषा मँजी हुई और प्रवाहपूर्ण है, जिसे पाकर कवि की भक्ति-भावना प्रखर हो उठती है। इनके सम्बन्ध में नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में लिखा है—

गायो भक्त प्रताप सबहिं दासत्त दृढ़ायो
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायो
मुरलीधर की छाप कवित अति ही निर्दूषण
भक्तन की पदरेणु वहे धारा सिर भूषण
सत्संग सदा आनन्द में रहत प्रेम भीजो हियो
हरिवंश भजन बल चतुरभुज गोंड देश तीरथ कियो।

"गोंड देश तीरथ कियो" से स्पष्ट है कि नाभादासजी की दृष्टि में चतुर्भुजदास का कितना महत्व था और उनके कारण गोंड देश अर्थात् गोंडवाना भक्तों की दृष्टि में कितना ऊंचा उठ गया। सूरदास की भांति चतुर्भुजदास की रचनाओं में भी कृष्ण के बाल-जीवन का सुन्दर चित्र मिलता है—

जसोदा कहा कहौं हौं बात।
तुम्हरे सुत के करतब मों पै, कहत कहे नहिं जात।
भाजन फोरि, ढोरि सब गोरस, लै माखन दधिखात।
जो बरिजौ तौ आंखि दिखावे, रंचहु नाहिं सकात।
और अटपटी कहलौं बरनौं छुवत पानिसौं गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहत-कहत सकुचात।

अष्टछाप के कवियों का काव्य अधिकतर मुक्तक है और जहां-जहां उसमें इतिवृत्तात्मक स्थल आ गये हैं, वहां रस का परिपाक नहीं हो पाया। जिस भक्त की मानसिक वृत्ति जिस लीला में रमी है, उसीका अष्टछाप के काव्य में तन्मयता के साथ चित्रण मिलता है और "सिद्धांत की दृष्टि से इन भक्त कवियों का मार्ग लोकमर्यादा को पीछे छोड़ने-वाला है। इनके काव्य में वर्णन सब लोकानुभूत भावों का ही है, परन्तु उन्होंने लौकिक भावों को, चाहे लोक की दृष्टि से वे भाव सद् हों चाहे असद, लोकातीत रस रूप भगवान् श्रीकृष्ण के मान्य गुणों की अग्नि से तपाई हुई अथवा परिमार्जित की हुई वस्तु के समान शुद्ध या परिष्कृत माना है। अंग्रेजी में इस प्रकार के मानसिक मैल काटने की क्रिया को

"सब्लिमेशन" कहते हैं।"* वास्तव में उनका काव्य प्रेम-काव्य है, जिसमें लोक-मर्यादा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। चतुर्भुजदास ने कई पदों में संसारिक सम्बन्ध और लौकिक विषयों को छोड़कर प्रेम-भक्ति के परम रस को ग्रहण करने का भाव प्रकट किया है, इसीलिये आपका कहना है—

धर्म-कर्म लोक लाज, सुत पति तजि धाई।
चत्रभुज प्रभु गिरधर में जांचे री माई।

गढ़ा (जबलपुर) के दामोदरदास जी सेवकजू महाराज ने भी कृष्ण-भक्ति की कविताएं लिखीं। आपका चतुर्भुजदासजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था और आपने हित जी से वैष्णवधर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। ध्रुवदास ने अपनी 'भक्तनामावली' में सेवकजी को "भजनसरोवर का हंस" कहा है। सेवकजी के सम-सामयिक नागरीदासजी ने सेवकजी की प्रशंसा में लिखा है 'प्रथम श्री सेवक पद सिर नाऊं।'

आप हरि और हरिवंश में कोई अन्तर नहीं मानते थे। आपके मत से "जो रसरीति सब (ब्रह्मादिक) में दूर एवं दुर्गम है, वह सब विश्व में भरपूर है और वही सजीवनता का मूल है।" आपने अपनी रचना में सवैया और दोहा जैसे छन्दों का भी पदों के साथ उपयोग किया है—

भुज अंसनिदीन्हे विलोकि रहे, मुख चन्द उभय मधुपान कराई।
आप बिलोकि हृदय कियो मान, चिबुक्क सुचारु प्रलोई मनाई।
श्री हरिवंश बिना यह हेतु को, जाने कहा को कहे समुझाई।
जो हरिवंश तजौं भजौं औरहि, तो मोहिको हरिवंश दुहाई।
पढ़त जु बेद पुरान, ज्ञान न शोभित प्रीत बिनु।
बींधे अति अभिमान श्री हरिवंश कृपा बिना।

गढ़ाकोटा के कृष्णभक्त श्रीहरिदास स्वामी 'भगवतरसिक' राधारामण सम्प्रदायानुयायी थे। इस संप्रदाय में श्री बिहारीजी की उपासना सखीभाव से की जाती है। भगवत-रसिक जी की कविता सरस और प्रभावपूर्ण है, इसमें भाव पक्षऔर कलापक्ष दोनों का समावेश पाया जाता है—

तुव मुखचन्द चकोर ये नयना।
अति आरत अनुरागी सम्पद, भूल गई गति पलहुं लगैन।
अरबरात मिलिबे को निसिदिन, मिलेइ रहति मन कबहुं मिलै न।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझ सकै न।†

गढ़ाकोटा के ही बक्षी हंसराज ने "स्नेह-सागर" नाम का एक ग्रंथ लिखा, जो गीत-काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस काव्य में भावों की सुकुमारता और भाषा का लालित्य है।

गढ़ा (जबलपुर)–निवासी श्री गदाधरभट्ट ने "ध्यानलीला" नामका एक ग्रंथ लिखा, जिसमें कृष्ण की माधुरी मूर्त्ति का वर्णन है, इसमें उत्प्रेक्षालंकार की छटा भी मनोमोहक है :—

जाहि देखत उठत सखि आनंद की गोभा।
नैन धीर अधीर कछु-कछु असित सित राते।

---

* अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा. दीनदयाल गुप्त, पृष्ठ ६९५.

† गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तो यहां तक कहा है कि —जो लोग जानते हैं कि भगवान रस-रूप हैं और रस-द्वारा ही प्राप्त होते हैं, वे ही इस ग्रन्थ का अवलोकन करें, अन्यथा जो भक्तिरस से अनभिज्ञ हैं, उनको इसे पढ़ने का अधिकार नहीं। (विट्ठलनाथकृत—'शृंगार-मण्डन)'

प्रिया आनन चन्द्रिका मधुपान रस माते।
बंसिका कल हंसिका मुखकमल रसरांची।
पवन परिसत अलक अलिकुल कलह-सी माची।
ललित लोल कपोल मण्डल मधुर मकराकार।
जुगल शिशु सौदामिनी जनु नचत नट चटसारि।
बिमल झलक सुढ़ार मुक्ता नासिका दीनों।
ऊँच आसन पर असुर गुरु उदय सो कीन्हों।
भौह सोहनि का कहौं अरुभाल कुमकुम बिंदु।
श्याम बादर रेख परि मन अबहि ऊमिऊ इंदु।
लच्यो मन ललचाय ताते टरत नाहि टारयो।
अमित अद्भत् माधुरी पर "गदाधर" वार्‍यो।

रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक गजाधर भट्ट का उल्लेख करते हुए, उन्हें दक्षिणी ब्राह्मण माना है। उनके जन्म-संवत् आदि का ठीक-ठीक पता न होने पर उन्होंने उनकी रचनाओं का आरम्भ संवत् १५८० मान लिया है। आपके मत से ये चैतन्य महाप्रभु को भागवत् सुनाया करते थे।* नाभादासजी ने भी अपने "भक्तमाल" में एक गदाधरभट्ट का उल्लेख करते हुए—"गुणनिकर गदाधरभट्ट, अति सबहिन को लागै सुखद"—लिखा है। ये गदाधर भट्ट ही गढ़ा (जबलपुर)–निवासी गदाधर भट्ट जान पड़ते हैं।

जयसिंह नगर के आनन्द कवि ने भी अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। इन पदों में कवि की भक्ति-भावना और प्रेममयी उपासना स्पष्ट झलकती है :—

तुम्हें वे टेरत हैं बनवारी ?
हेरत बाट घाट जमना के श्री वृषभान दुलारी।
गोरे गात बात हँसि बोलति सुभग बेश बयवारी।
चलिये वेग लाल जसुदा के ह्वँ रहे परम दुखारी।
लगत श्रंगार हार हीरन के माला नागिन कारी।
बंशी विशिख बयार जु विससी तोरें बिनु पिय-प्यारी।
अचल गात तन थकित नैन, भरि सुधि नहि रहत संभारी।
राधा-राधा-राधा टेरति व्याकुल बदन बिहारी।
सिरस सुमन सुकुमार अंग के सह नहि सकत बयारी।
ता हित किये रहत अंचरन की छांहि सदा ब्रज-नारी।
मिलहु अंक भरि भेंट भुजन सौं, तुम सम और न प्यारी।
"आनन्द" तुम बिन नन्दनन्दन की हरहि बिथा को भारी।

छत्तीसगढ़ (रतनपुर) के गोपालचन्द्र मिश्र का जन्म संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। इनके पिता का नाम गंगाराम और पुत्र का माखनचन्द्र था। माखनचन्द्र भी अच्छे कवि थे। रामप्रताप—काव्य का आधा भाग गोपालचन्द्र ने लिखा और शेष उनकी आज्ञा से माखनचन्द्र ने पूरा किया।

छत्तीसगढ़ की प्राचीन राजधानी रतनपुर के हैहयवंशी राजा राजसिंह के दरबार में गोपालचन्द्र का बड़ा मान-सम्मान था। बाद में उन्होंने आपको अपना दीवान बना लिया। राजा की इच्छा से ही आपने संवत् १७४६ में

* हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, सातवां संस्करण, पृष्ठ १८२।

"सुजतमाथा" ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त "जैमिनी अश्वमेध", (१७५२), "सुदामाचरित्र" (१७५५), "भक्त चिन्तामणि" (१७५६), "रामप्रताप" और पिंगल का ग्रन्थ "छन्दविलास" लिखा। आप की कविता सरल और कहीं-कहीं अत्यंत व्यंग्यपूर्ण हो गई है :—

दान सुधा जलतें जिनि सींच, सतोगन बीज विचार जमायो।
बाढ़ि गयो नभ मण्डल लौं महिमण्डल घेरि दसौं दिसि छायो।
फूल घने परमारथ फूल निपूर्ण बड़े फलते सरसायो।
कीरति वृक्ष विसाल गुपाल सुकोविद वृन्द विहंग बसायो॥

o o o

खेती करत किसान के मोतें दुख सुनि लेहु।
हर लेके पिय खेत में भूलि पांय मत देहु॥

कृष्ण-भक्त कवियों की भांति मध्यप्रदेश के रामभक्त कवियों ने भी अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को मंडित किया हैं। इन कवियों ने राम के लोकरंजक चरित्र का जो रूप उपस्थित किया, वह लोकपक्ष की विभिन्न भावनाओं से परिपूर्ण है। इस प्रकार के कवियों में गोपाल, माखन कवि और मदनभट्ट के अतिरिक्त जैसीनगर के नाथूराम चतुर्वेदी व्रज (संवत् १८६१) ने "रामसागर" नाम का महाकाव्य लिखा, जिसमें रामवनवास से रामके राज्याभिषेक तक की कथा समाविष्ट है। आप ही हिन्दी के उन प्रथम कवियों में हैं, जिन्होंने मैथिलीशरण गुप्त के पूर्व लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का चित्रण किया। इस काव्य में सभी रसों का समावेश मिलता है और चरित्र-चित्रण भी सफल हुआ है। उर्मिला अपनी वियोगावस्था के समय सूर्य से प्रकट न होने की प्रार्थना करती हुई कहती है :—

कनका चलि मंदिर सो, सुन्दर शिखर ओट,
मारि खल निश्चर समूह ब्यूह राखो न।
खंचि हय डोरि अंब सारथी निहारौं "ब्रज",
रथ करि मंद गति वेगि अभिलाखो न।
गुह इहि वंश के प्रसंश अवतंस, देव!
आज-कल-कंज पुंज कमल विकासो न।
निसितम घोर करि ओरैं तिय प्राची ओर,
होहि नाँहि भोर ये प्रभाकर प्रकासो न।

सागर के कवि मदन भट्ट (संवत् १८८५) के वाल्मीकि रामायण के आधार पर "राम-रत्नाकर" नामक महाकाव्य लिखा था। इसके लिखने में राम-चरित्र सम्बन्धी संस्कृत के अन्य काव्यों और नाटकों का भी आश्रय लिया गया।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि भूषण और मतिराम के बड़े भाई चिन्तामणि त्रिपाठी का जन्म-काल संवत् १६६६ और कविता-काल संवत् १७०० के आसपास माना जाता है। इन्होंने "कविकुलकल्पतरु" नामक ग्रंथ की रचना की। ये तिकवांपुर (जिला कानपुर) के रहनेवाले थे, परन्तु "शिवसिंहसरोज" में लिखा है कि ये "बहुत दिन तक नागपुर में सूर्य वंशी भोंसला मकरंदशाह के दरबार में रहे और उन्हीं के नाम पर "छन्द-विचार" नाम का एक बहुत बड़ा पिंगल ग्रंथ बनाया ; परन्तु इस नाम के किसी भोंसला राजा का अस्तित्व नहीं पाया जाता। सम्भव है कि कोई गोंड राजा हो, क्यों कि उस प्रकार के नाम उन्हीं में प्रचलित थे। चिन्तामणि के काव्य में भाषा का प्रवाह और भावों की सरसता भली प्रकार मिलती है :—

येई उधारत हैं तिन्हें जे परे मोह-महोदधि के जल फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन तें न परैं कबहूं जम घेरे।

राजै रमा-रमनी-उपधान अभै बरदान रहैं जन नेरे।
हैं बलभार उदण्ड भरे हरि के भुज-दण्ड सहायक मेरे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन काव्य का समय संवत् १७०० से १९०० तक माना है। इस अवधि में भी मध्यप्रदेश में अनेक ग्रंथों की रचना हुई, जिनमें से कुछ धार्मिक भावनाओं से युक्त हैं और कुछ वीर रस की रचनाएँ हैं। संवत् १७०१ में हरिवल्लभ ने दोहा छन्द में गीता का अनुवाद किया, जो व्यंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। कृष्ण भट्ट कलानिधि ने भी इन्हीं दिनों "ब्रह्मसूत्र", "केन", "माण्डूक्य" और "प्रश्नउपनिषदों" के अनुवाद किये। अमरावती के छत्रसिंह कायस्थ ने महाभारत के कथानक को ग्रहण कर "विजय मुक्तावली" नामक प्रबंध-काव्य की रचना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका स्थान बटेश्वर उत्तर प्रदेश का अटेर ग्राम माना है और आपके मतानुसार ये अमरावती में कल्याणसिंह नामक किसी व्यक्ति के यहां आश्रय में थे। "विजयमुक्तावली" के लेखक का समय संवत् १७५७ है। ग्रंथ में कथानक ओजस्वी भाषा द्वारा प्रकट किया गया है। अभिमन्यु की युद्ध-यात्रा के पश्चात् विदुर की चिन्ता को लक्ष्य कर कवि कहता है :—

निरखत ही अभिमन्यु को, विदुर डुलायो सीस।
रक्षा बालक की करो, ह्वै कृपालु जगदीस।
आपुन कांधों युद्ध नहिं, धनुष दियो भुव डारि।
पापी बैठे गेह कत, पाण्डु पुत्र तू चारि।
पौरष तज, लज्जा तजी, तजी सकल कुल-कान।
बालक रनहिं पठाइ के, आपु रहे सुख मान।

इन्हीं दिनों मण्डला के प्राणनाथ कवि ने "अंगदवादि" नामक वीररसपूर्ण प्रबन्ध-काव्य की रचना ६०३ छंदों में की। जयसिंह नगर के भगवत्‌शरण चतुर्वेदी ने "द्रौपदी-स्वयम्बर", "अभिमन्यु आख्यान", "मीरा आख्यान" और "भीष्म-युद्ध" नामक "काव्य-ग्रंथों" की रचना की। खैरागढ़ के बक्षी उमरावसिंह ने "पाण्डव-विजय" लिखा।

गोरेलाल पुरोहित या लाल कवि को वीररसपूर्ण काव्य लिखने के कारण हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान है और इनकी शैली भूषण तथा सूदन से भिन्न है। इनका जन्म संवत् १७१४ के लगभग माना गया है।* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें मऊ (बुन्देलखण्ड) का रहनेवाला माना है,† परन्तु लोकनाथ सिलाकारी, इन्हें दमोह (सकोलिया) का मानते हैं।‡ ये उन महाराजा छत्रसाल के दरबार में थे, जिनके सम्बन्ध में भूषण कवि ने कहा था कि "साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।" लाल कवि इसी युद्ध में छत्रसाल के साथ गये थे और वहीं मारे गये। इन्होंने "छत्रप्रकाश", "विष्णुविलास" और "राजविनोद" नामक तीन ग्रंथ लिखे। "छत्रप्रकाश" में दोहा, चौपाई, छंदों में महाराज छत्रसाल का जीवन-चरित्र लिखा गया है। वास्तव में छत्रसाल अपने युग के महान् वीर थे और उन्होंने अपने शौर्य से बुन्देलखण्ड में यवनों के पैर उखाड़ दिये थे। आपने गढ़ाकोटा (सागर) को अपनी राजधानी बनाया था। "छत्रप्रकाश" में ओज गुण और कवि की प्रबंध-पटुता सुन्दर रूप में प्रकट हुई है :—

छत्रसाल हाड़ा तहँ आयो, अरुन रंग आनन छवि छायो।
भयो हरौल बजाय नगारो, सार धार को पहिरनहारो।
दौरि देस मुगलन के मारो, दपटि दिली के दल संहारो।
एक आन शिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही।

* "कविता कौमुदी" (पहला भाग), सम्पादक पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ३७६।
† हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३३।
‡ भानु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ११४।

आठ पातसाही झकझोरे, सूबन पकरि दंड लै छोरे।
कोटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकन देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों, बाँटि धरन धरि लेहु।

हिन्दी के अधिकांश रीतिकालीन कवि किसी न किसी राजा के आश्रय में रहे। वे इसमें गौरव भी अनुभव करते थे। इसीलिये ठाकुर कवि ने कहा :—

ठाकुर सो कवि भावत मोहि, जो राजसभा में बड़प्पन पावै।

हिन्दी की रीति-काल में अधिकतर रचनाएँ तीन प्रकार की मानी जाती हैं—रीति सम्बन्धी, शृङ्गार रसपूर्ण तथा नायिका भेद सम्बन्धी। रीति-कालीन कवियों को संस्कृत-साहित्य के अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति-सम्प्रदाय से प्रेरणा प्राप्त हुई और उस पर वात्सायन के "कामसूत्र" तथा बाद में लिखे गये "रति-रहस्य" और "अनंग-रंग" आदि, ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा। इन कवियों में से अधिकांश ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में उदाहरण दूसरे कवियों के न लेकर स्वयं रचे और १७ वीं शताब्दी के पंडितराज जगन्नाथ की भांति यह सिद्ध किया कि — "अपनी सुगन्ध में मस्त कस्तूरी उत्पन्न करनेवाला हिरन, फूलों के गंध की चिन्ता नहीं करता।" (देखिए रसगंगाधर प्रथम खंड)।

हिन्दी का रीतिकालीन काव्य जीवन की गहराई की अपेक्षा कला-पक्ष से अधिक प्रभावित जान पड़ता है। यह कवि-समाज उस समय भी आमोद-प्रमोद का दरबारी-जीवन व्यतीत कर शृङ्गारिक रचनायें कर रहा था।

रीतिकालीन काव्य में अनुभूति की गहराई की अपेक्षा अभिव्यक्ति की सजावट अधिक प्रखर हो गई और प्रायः सभी कवि शृङ्गाररस को रसराज* मान कर ही काव्य-रचना करते थे। इनके शृङ्गार में मन की वह सात्विक भावना नहीं पाई जाती जो भक्त शृङ्गारी कवियों में मिलती है। इन्होंने अपनी वासनाओं को राधा और कृष्ण की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया और कहीं-कहीं तो लोकमर्यादा तथा नैतिकता का भी उल्लंघन कर गये। इनकी राधा आत्मा और परमात्मा के मिलन का साधन न रहकर रास और केलि का आधार बन गई और "मेरे कर मेंहदी लगी है, नन्द-लाल प्यारे, लट उलझी है नेकु बेसरि सवांर दे।" जैसे बहाने बनाकर कृष्ण की निकटता प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस युग के काव्य में अभिव्यक्ति को कवि की चेतना का रूप नहीं मिलता, जिसे आधुनिक काव्य-आलोचक इलियट और लीविस काव्य के लिये आवश्यक मानते हैं। फिर भी इस युग के काव्य में रस-संचार अवश्य मिलता है, जो क्षणिक है और जीवन के शाश्वत-सत्य को नहीं छूता। इसमें कुछ मनोवैज्ञानिक चित्रण भी उपलब्ध हैं; जो आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर परखने योग्य हैं। रीति-कालीन काव्य की मनोवैज्ञानिकता ब्रज-साहित्य-मण्डल के गत मेरठ अधिवेशन में उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री और साहित्य एवं दर्शन के गंभीर विद्वान् डॉ.सम्पूर्णानंद ने भी स्वीकार की थी।

मध्यप्रदेश ने भी कई रीतिकालीन आचार्य उत्पन्न किये, जिन में कुमारमणि, कृष्णभट्ट कलानिधि और पद्माकर मुख्य हैं। इनकी रचनाएँ, केशव, देव, मतिराम और भिखारीदास, जैसे रीतिकालीन हिन्दी के अन्य आचार्यों से टक्कर लेती हैं। कुमार मणिका "रसिक-रसाल" ग्रंथ इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि—"इनका कुछ वृत्त-ज्ञात नहीं है। इन्होंने संवत् १८०३ के लगभग "रसिक-रसाल" नामक एक बहुत बड़ा रीति-ग्रन्थ बनाया।* शिवसिंह सरोज में इन्हें गोकुल का रहनेवाला माना गया है। वास्तव में ये मध्यप्रदेश के थे और इन्हें गोंड राजा द्वारा सागर जिले के ग्राम—कनेरा और धमती—दान में मिले थे। "रसिक-रसाल" में समास-शैली पर लक्षणों को बाँध कर उनके सुन्दर उदाहरण उपस्थित किए गये हैं। लक्षणों के विषय में ये भिखारी-

* हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृष्ठ २६२।

दास से भी अधिक सजग जान पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में आपकी त्रुटि निकालना आचार्यों के लिये भी सरलता से सम्भव नहीं। इनके काव्य की मधुरता दर्शनीय है :—

गावें वधू मधुरे सुर गीतन, प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति में छवि, मानौं बिछाई नई दरियाई।
ऊंचे अटा चढ़ि देखि चहूं दिसि, बोलो यों बाल गरो भरि आई।
कैसी करों हहरें हियरा, हरि आये नहीं उलही हरियाई।

० ० ०

बांधति केस दुहों भुज सों गहि यों, मुख कांति लखी दृग फेरें।
चंदहि घेरें मनो तम जाल, मनो तम को चपला जुग घेरें।

कुमार मणि के पुत्र कृष्ण भट्ट कलानिधि ने "अलंकार प्रकाश", "वृत्तचंद्रिका", "श्रृङ्गाररस माधुरी" तथा "नख-शिख" चार ग्रंथों की रचना की। गढ़ा कोटा के बदनेश कवि (सन् १७६५) ने "रसदीपक" नामक रीति-ग्रंथ लिखा, जिसमें विस्तार के साथ नायिका-भेद का निरूपण किया गया।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध रीतिकालीन कवि पद्माकर का जन्म संवत् १८१० (सन् १७५३) में सागर में* हुआ। इनका पूरा नाम प्यारेलाल भट्ट और पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। मोहनलाल भट्ट स्वयं अच्छे विद्वान् थे और उन्हें कई राज्यों से सम्मान प्राप्त था। पद्माकर संवत् १८४६ में गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर जैसे, उस समय के प्रमुख वीर, के सम्पर्क में आये और "हिम्मतबहादुर विरदावली" ग्रंथ की रचना की, जो वीररस का खण्ड-काव्य है। इसके पश्चात् आप सतारा में रहे और फिर जयपुर पहुंचे, वहां के महाराजा जगतसिंह के नाम पर आपने "जग-द्विनोद" लिखा, जो श्रृङ्गाररस का प्रमुख ग्रंथ है। इनके द्वारा दोहा छंद में लिखित अलंकार ग्रंथ "पद्माभरण" भी सम्भवतः जयपुर में लिखा गया। उदयपुर के महाराणा भीमसिंह और ग्वालियर के महाराजा दौलतराव सिंधिया के दरबार में भी गये। कहते हैं कि वहां आपने सरदार ऊदा जी के अनुरोध पर संस्कृत के ग्रंथ "हितोपदेश" का भाषा-नुवाद किया। अंतिम दिनों में रोग-ग्रस्त होकर आप कानपुर (उत्तर प्रदेश) में रहे और वहां "गंगालहरी" की रचना की। "जगद्विनोद" के सम्बंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "वास्तव में यह श्रृङ्गार रस का सार ग्रंथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति-विधान करनेवाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती।" पद्माकर की कल्पना और भावुकता उनके काव्य को रसिकता प्रदान करती है, तो उनकी अलं-कारप्रियता कभी-कभी काव्य को दुरूह भी बना देती है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग से आप मन की अव्यक्त भाव-नाओं को मूर्त रूप देने में भी सफल हुए हैं और यह लाक्षणिकता आपके काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। एक नायिका के सौंदर्य का वर्णन करते हुए आप कहते हैं :—

जाहिरे जागत सी जमुना जब बूड़े बहै उमहै वह बेनी।
त्यों पद्माकर हीर के हारन गंग तरंगन सी सुखदेनी।
जावक के रंग सों रंग जात है भांति ही भांति सरस्वति स्रेनी।
पैरें जहां ही जहां वह बाल, तहां-तहां ताल में होत त्रिवेनी।

पद्माकर ने ऋतु-वर्णन भी किया है, जो एक प्रकार से प्राचीन परम्परा पर ही अवलंबित है। ऋतु-वर्णन सम्बन्धी छंदों में आपने अनुप्रास अलंकार का खूब प्रयोग किया है, जैसे :—

* सागर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में, क्यारिन में, कलित-कलीन किलकंत है।
कहै पद्माकर परागन में, पानहू में, पानन में, पीक में, पलासन पगंत है।
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देश देशन में, देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरो बसंत है।

डाक्टर ग्रियर्सन ने पद्माकर पर केशव और चिंतामणि का प्रभाव माना है, परन्तु वास्तव में पद्माकर अपनी स्वतंत्र-धारा को लेकर अग्रसर हुये और उन्होंने रीतिकालीन काव्य-साहित्य में अपना विशेष स्थान बनाया। उन्होंने कल्पना और शब्द-शक्ति द्वारा जो चित्र कहीं-कहीं पर उपस्थित किये हैं, उस प्रकार के चित्र देव और बिहारी को छोड़ कर हिन्दी के अन्य बहुत कम कवियों द्वारा प्रस्तुत किये जा सके। एक नायिका का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं :—

कै रति-रंग थकी थिर ह्वै परयंक पै प्यारी परी सुख पायकै।
त्यौं पद्माकर स्वेद के बुंद, रहे मुकता हल से तन छाय कै।
बुंद घने मेंहदी के लसैं कर तापर यों रह्यो आनन आयकै।
इंदु मनो अरविंद पै राजत इंद्रबधून के वृन्द बिछायकै।

स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने इस कविता को पद्माकर की आंखों द्वारा देखे हुए एक दृश्य के आधार पर लिखा हुआ माना है। पद्माकर की भाषा सरल, तरल एवं मधुर होते हुए अलंकारों के सम्मिश्रण द्वारा सजीवता पैदा कर देती है और उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दाडम्बर भी अधिकतर काव्य को रोचक बनाने में सहायक हो गया है।

विष्णुस्वामी और निम्बार्क के पहले विष्णु के गोपाल रूप एवं राधा की ओर भक्तों का ध्यान नहीं गया था। आपने गोपाल कृष्ण और राधा की भक्ति को प्रधानता दी। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के अनुसार पौराणिक-काल की रुक्मिणी तथा लक्ष्मी से कहीं अधिक सजीव मानवीय राधा की उत्पत्ति प्रेमभक्ति के कारण ८०० ईस्वी से पूर्व हो चुकी थी।* हिन्दी के भक्त-कवियों ने "नारद-भक्त-सूत्र" के अनुसार प्रेमस्वरूपा राधा की आराधना की, परन्तु रीतिकालीन कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को आधिभौतिक धरातल के नीचे उतार कर अति-मानव बना दिया। इस प्रकार ब्रजभाषा में दिव्य तथा लौकिक दोनों प्रकार के प्रचुर श्रृङ्गारी साहित्य की सृष्टि हुई।†

रीतिकालीन होते हुए भी कई कवियों ने वीररस और शांत-रस की कवितायें भी लिखीं। नरसिंहपुर के मौनी महाराज का जन्म लगभग १८०७ और स्वर्गवास संवत् १६५७ में हुआ। आपका पूरा नाम भक्त परमानन्द बताया जाता है। आपने लगभग १६ वर्ष की अवस्था से मौन धारण किया और जीवन-पर्यन्त मौन ही रहे। होशंगाबाद-निवासी शिवलालजी ने आपकी गेय कविताओं का संग्रह किया, जिससे प्रकट होता है कि वह संग्रह १६५६ में लिपि-बद्ध हुआ। मौनी महाराज ने अनेक छंदों में कविता की है। यहां तक कि आपकी रचनाएँ उर्दू के "गजल" छन्द में भी पाई जाती हैं। एक गजल के अन्तिम चरणों में आप सबको उपदेश देते हुए कहते हैं :—

जमाना देख दुनिया का कभी कोई से न कुछ कहना।
सदा खामोश दिल अपना जगत् में मौन हो रहना।

मौनी बाबा राम के भक्त थे, इसीलिये आपने राम-जन्म, राम का ब्याह और उनके अन्य कार्यों को भी अपनी रचनाओं का आधार बनाया। राम के जन्म पर आप एक "सोहर" में लिखते हैं :—

राम जनम मंगलमय सजनी, बाजत अनंद बधाई हो।
ध्वज पताक तोरन पुर छादित रचना विविध बनाई हो।

* गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर।
† पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री गुरुप्रसाद टंडन, पृष्ठ १७६।

खोर-खोर प्रति सदन सुशोभित सुषमा सकल सुहाई हो।
सहज शृङ्गार किये शशिवदनी वृन्द-वृन्द उठ धाई हो।
कनक कलस भर वारि सुमंगल गावत नृप-गृह आई हो।
घर-घर मौज बधाए बाजें, प्रकटे जन सुखदाई हो।
हर्षवन्त नर-नारि संत सुर "मौन" मुदित बलि जाई हो।

कहीं-कहीं मौनी बाबा की रचनाओं में दार्शनिक विचारों का भी समावेश मिलता है और गूढ़ एवं जटिल भावनाओं को भी सरस रूप में प्रकट किया गया है।

इसी प्रकार उत्तर माध्यमिक काल में निमाड़ के संत सिंगाजी (१७५५ के लगभग) का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचनाएँ निमाड़ी भाषा में हैं और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में—"सिंगाजी नर्मदा की तरह अमर, उज्ज्वल, सुन्दर और प्राणवर्द्धक और युग की सीमारेखा बनानेवाले संत हैं।" गांधी जी की भांति हिंसा पर अहिंसा से विजय पाने का मंत्र बतलाते हुए संत सिंगाजी कहते हैं :—

अगला होइगा आग का पूला, अपुन न होणू पाणी रे।
जाण का आण अजान हुई न, तत्त्व इक लेणू छाणी रे।

छोटे, सरल एवं सीधे-सादे शब्दों में अपने दिन प्रति दिन के जीवन से सम्बन्धित उदाहरणों द्वारा बड़ी से बड़ी बात कह जाना सिंगाजी के भजनों की विशेषता है और वे न केवल निमाड़ी, वरन् समस्त हिन्दी-साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है।

(२)

आधुनिक साहित्य

(अ) भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म काशी में भाद्रशुक्ल पंचमी संवत् १९०७ को और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ संवत् १९४१ में हुई। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आप नाटककार, निबन्ध-लेखक, सहृदय कवि तथा समाज-सुधारक सभी कुछ थे। आपने काव्य और साहित्य की उन्नति के लिये कई संस्थाएँ स्थापित कीं और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरम्भ किया। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में आपने स्वयं रचना की और दूसरों को भी प्रोत्साहित किया। मध्यप्रदेश के ठाकुर जगमोहनसिंह (संवत् १९४१ से १९५५) अध्ययन के लिये काशी आये थे। यहीं आपका भारतेन्दु जी से सम्पर्क हुआ, जो अंत तक बराबर ज्यों का त्यों बना रहा।

पन्ना-निवासी हजूरी के पुत्र दुर्जनसिंह को पन्ना के राजा ने मैहर का राज्य दिया, जिसमें मुड़वारा (कटनी) भी शामिल था। दुर्जनसिंह के पुत्र राजा प्रयागदास ने कटनी के पास विजयराघवगढ़ नगर बसाया। सन् १८४६ में इनका स्वर्गवास हो गया। इनके पुत्र सरयूप्रसाद नाबालिग थे, इसलिये विजयराघवगढ़ का राज्य अंग्रेजों ने अपने अधिकार में ले लिया। सन् १८५७ के विप्लव में विद्रोहियों का साथ देने के अपराध में सरयूप्रसाद को कालापानी की सजा हुई, परन्तु उन्होंने मार्ग में ही आत्म-हत्या कर ली। इन्हीं के पुत्र ठाकुर जगमोहनसिंह को दो सौ रुपया मासिक पेन्शन दी गयी और बाद में तहसीलदार बनाया गया।

ठाकुर साहब जब बिलासपुर जिले की शिवरीनारायण तहसील में तहसीलदार थे, तब आपने "श्यामास्वप्न" नामक एक सुन्दर उपन्यास की रचना की। संवत् १९४२ में बाढ़ के कारण तहसील बह जाने पर आपने "प्रलय" रचा। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त आपने "प्रेम-हजारा", "प्रेम-सम्पत्तिलता", "मेघदूत", "कुमारसम्भवसार", "सुजनाष्टक", "श्यामा-सरोजनी", "ज्ञान-प्रदीप" और "सांख्य-सूत्रों के ऊपर टीका" आदि ग्रंथ लिखे। आचार्य रामचन्द्र-

शुक्ल के कथनानुसार—"आप संस्कृत-साहित्य और अंग्रेजी के अच्छे जानकार तथा हिन्दी के प्रेम-पथिक कवि और माधुर्य-पूर्ण गद्य-लेखक थे। प्राचीन साहित्य के अभ्यास और विन्ध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, उनमें थी, वैसी उस काल के किसी हिन्दी-कवि या लेखक में नहीं पाई जाती।" वास्तव में ठाकुर साहब का गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार था। आपने ग्राम्य जीवन का सुन्दर वर्णन "श्यामास्वप्न" में किया है। प्रकृति के अन्तस्तल का माधुर्य उपस्थित करने में जो सफलता ठाकुर साहब को मिली वह स्वयं भारतेन्दु भी नहीं पा सके। दक्षिण कोशल का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं:—

"इसके दक्षिण विन्ध्याचल सा अचल; उत्तर और दक्षिण को नापता भगवान् अगस्त्य का किंकर दण्डवत करता हुआ विराजमान है। इसके पूर्व चरणों को धोती मोती की माला के नाईं मेकलकन्यका बहती है। वह पश्चिमवाहिनी जिसकी सबसे विलग गति है, अपनी बहिन तापती के साथ होकर विन्ध्य के कन्दरों की दरी में तप करती सूर्य के तप से तापित सोतों के सदृश अपने बाहु-वल्लभ सागर से जा मिलती है। नर्मदा के दक्षिण में दण्डकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल के नाम से प्रसिद्ध है।"

ठाकुर साहब की रचनाओं में भाषा विषय के अनुरूप पाई जाती है। आपके द्वारा लिखे हुये सवैया छन्द अत्यन्त मधुर हैं। 'मेघदूत' का अनुवाद भी आपने कवित्त, सवैया में ही किया। आपकी शृंगारी कविताएं 'श्यामास्वप्न' उपन्यास की भांति ही श्यामा से सम्बन्धित जान पड़ती हैं, जिसे आपकी एक प्रेयसी बतलाया जाता है। 'प्रेम-सम्पत्तिलता' (संवत् १८८५) का एक सवैया नीचे उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया जाता है—

अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाऊं गरे लगि कै छतियां।
मन की करिभांति अनेकन औ, मिलि कीजिये री रस की बतियां।
हम हारे अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहुनेह-भरी पतियां।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिन, कैसे कटें दुख की रतियां।

भारतेन्दुयुग में उत्पन्न होनेवाले अथवा उन्हीं की शैली पर काव्य-रचना करनेवाले मध्यप्रदेशीय कवियों में महामहोपाध्याय स्व. जगन्नाथप्रसाद 'भानु' स्व. विनायकराव, स्व. सैयद अमीरअली 'मीर', स्व. रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' और श्री सुखराम चौबे 'गुणाकर' का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

भानु ने 'काव्य-प्रभाकर' और 'छन्द-प्रभाकर' जैसे ग्रन्थ रचकर हिन्दी की जो सेवा की वह अतुलनीय है। आप छन्दशास्त्र, गणितशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र के भी अच्छे विद्वान् थे। आपका जन्म विक्रम संवत् १९१६ श्रवणशुक्ल दसमीं को मध्यप्रांत की राजधानी और हिन्दी-मराठी के सम्मिलन-क्षेत्र नागपुर में हुआ। आपके पिता श्री बख्शीराम सरकारी फौज में नौकर थे। वे भी कवि थे और इनका 'हनुमान नाटक' आज भी प्रसिद्ध है। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने पर भानुजी बिलासपुर में रहने लगे थे।

भानु ने शिक्षा-विभाग से नौकरी प्रारम्भ की और धीरे-धीरे इ. ए. सी. के पद पर पहुँचे गये। जिस समय आप वर्धा में थे, उसी समय पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के सम्पर्क में आये, जिससे दोनों में साहित्य-क्षेत्र की ओर अग्रसर होने की विशेष अभिरुचि उत्पन्न हुई। आपके सम्पर्क से ही सैयद अमीरअली 'मीर' को भी लिखने का चाव उत्पन्न हुआ और आपने मध्यप्रदेश के कवियों में अत्यन्त ऊंचा स्थान प्राप्त किया। भानु ही वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्हें हिन्दी का विद्वान होने के कारण भारत सरकार की ओर से 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त हुई। प्रयाग हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने भी अपने शिमला-अधिवेशन में आपको 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया।

भानुजी गद्य और पद्य दोनों के लेखक थे। तुलसीकृत रामायण का अध्ययन भी आपने बहुत अच्छा किया

था। वे काव्य-मर्मज्ञ, काव्य-पद्धति की प्राचीन परम्परा के पुजारी और बीसवीं शताब्दी के प्रमुख प्रेरणादायक आचार्य थे। सरस्वती की वंदना में आप कहते हैं—

मंगल की खानी जग कीरत बखानी मंजु, मूल तें हरनवारे कुमति निसानी के।
सुमति प्रदानी 'भानु' भक्त सुखदानी महा, दानी भक्ति सियाराम श्रीवरजधानी के।
मूरख अजानी सोऊ होत गुणखानी पुन्य, परम सुजानी स्वच्छ वेद बर बानी के।
कवित की बानी करें सुधारस सानी सदा, ध्याऊँपद सोऊ ऐसे बानी महारानी के।

स्व. विनायकराव 'नायक' कवि तुलसीकृत रामायण की विनायकी टीका के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। आपका जन्म पौष शुक्ल दशमी संवत् १९१२ में सागर जिले के अन्तर्गत हुआ। आपने लगभग ३४ वर्षों तक प्रांत के शिक्षा-विभाग में योग्यता के साथ कार्य किया। प्रारम्भ में आप मुड़वारा स्कूल के प्रथम अध्यापक नियुक्त हुये, परन्तु क्रमश: तरक्की करते हुए जबलपुर नार्मल स्कूल के सुपरिनटेनडेन्ट तथा ट्रेनिंग इन्स्टिट्यूट के अध्यापक-पद तक पहुँच गये। आपने लगभग २० पुस्तकें लिखीं। संवत् १९८१ की ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को—आपका स्वर्गवास हो गया। विनायकरावजी ने 'काव्यकुसुमाकर' नामका ग्रन्थ दो भागों में लिखा, जो एक उच्च कोटि का रीति-ग्रन्थ है। खड़ी-बोली में अलंकार-पिंगल सम्बन्धी ग्रन्थ की रचनाकर आपने भी एक अभाव की पूर्ति की। आपकी काव्य-प्रतिभा अधिकतर उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये हुये छन्दों में ही दिखलायी पड़ती है :—

चैत्र विसाख बसंत बसै अरु ग्रीषम जेठ अषाढ़ बखाने।
सावन भादट प्रावृट ये शरदातप अस्विन कातिक जाने।
मारग शीरष पूष हिमन्तहु माघरु फागुन शीशिर माने।
शीतल माघ सु फागन जो, कवि नायक सो ऋतु नायकमाने।

—काव्यकुसुमाकर

पद्य की भांति गद्य भी आप सुन्दर लिखते थे। आपकी अनेक पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों के रूप में प्रचलित थीं।

सुखराम चौबे 'गुणाकर' का जन्म संवत् १९२४ में सागर जिले के रहली ग्राम में हुआ। आपने वर्षों तक शिक्षा-विभाग में कार्य किया और ८० वर्ष से अधिक उम्र हो जाने पर भी आपकी साहित्यिक अभिरुचि ज्यों की त्यों विद्यमान है। हास्य भी आप सुन्दर लिखते हैं और आपके द्वारा बालोपयोगी साहित्य का भी सृजन हुआ है। आपकी रचनाओं में भाषा की सानुप्रासिकता, सरलता और भावों की मधुरता के दर्शन होते हैं।—

सहज सलोनी सुमुख सुलोचन सुन्दरि श्यामा।
भूषण-भूषित भूरि, छबीली ललित ललामा।
देती है जब भव्य-भाल में बिंदी प्यारी।
छिति पर छिटकी छटा चौगुनी हो चितहारी।
ज्यों मयंक के अंक लसै मंगल छवि छाकर।
त्यों कल कुंकुम की बिंदी माथे अति सुन्दर।

स्व. सैयद अमीरअली 'मीर' का जन्म देवरी (सागर) में संवत् १९३० के लगभग हुआ। अपने निवास-स्थान देवरी में आपने 'मीर-मंडल' की स्थापना कर अनेक युवकों को काव्य और साहित्य की प्रेरणा प्रदान की। 'बूढ़े का ब्याह' आपकी प्रसिद्ध रचना है। रसखान और आलम की भांति, मीर ने भी हिन्दी-कविता को अपनी साधना का आधार बनाया और अपने जीवन को साम्प्रदायिक भावनाओं से सदा दूर रखा। आप समाज-सुधारवादी थे। 'बूढ़े के ब्याह' में इसी भावनाका समावेश पाया जाता है। अंतिम दिनों में आप भाटापारा चले गये थे और वहां रेल के पहियों के नीचे दबने से मृत्यु हो गई।

आपके काव्य में कहीं-कहीं विशेषकर जहां हिन्दू त्योहारों का वर्णन किया गया है, नजीर अकबराबादी की शैली के दर्शन होने लगते हैं। दशहरा के सम्बन्ध में आप लिखते हैं :—

आ गया प्यारा दशहरा, छा गया उत्साह बल।
मातृ-पूजा, शक्ति-पूजा, वीर-पूजा है विमल।
हिन्द में यह हिन्दुओं का विजय-उत्सव है ललाम।
शरद की इस सुऋतु में है खड्ग-पूजा धाम-धाम।

स्व. राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (संवत् १६२५ से १६७१) का जन्म और शिक्षा-दीक्षा जबलपुर में हुई। स्व. रायबहादुर डाक्टर हीरालाल और दमोह के रायबहादुर पण्डया बैजनाथ (आजकल काशी में रहते हैं) आपके सहपाठी थे। इन दोनों ने सरकारी नौकरी में प्रवेश कर ऊँचे-से-ऊँचा पद प्राप्त किया और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने वकालत का पेशा ग्रहण कर कानपुर और कानपुर के निकट भदरस गांव को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। कानपुर के साहित्यिक, राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के आप कर्णधार बन गये और वहां पर 'रसिक-समाज' नाम की संस्था की स्थापना की तथा 'रसिक-वाटिका' नाम का पत्र भी प्रकाशित किया। आपने महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद 'धाराधरधावन' नाम से किया। 'स्वदेशी-कुण्डल' आपकी राजनीतिक कविताओं का संग्रह है। आपकी कविताओं का संग्रह 'पूर्ण-संग्रह' नाम से प्रकाशित हो चुका है। खड़ीबोली और ब्रज-भाषा दोनों में आप काव्य-रचना करते थे। प्रकृति-निरीक्षण में आपके भावों की सुकुमारता दर्शनीय होती थी। भारतेन्दु की भांति आप में भी देश-भक्ति और स्वदेशी की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी तथा उपनिषदों और वेदान्तों में गति होने के कारण आप भारतीय संस्कृति के भी परम उपासक थे। आप अच्छे वक्ता और शीघ्र-से-शीघ्र काव्य-रचना करने में प्रवीण माने जाते थे जिसका कारण आपकी कुशाग्र बुद्धि थी।

'पूर्ण' जी केवल पद्य-लेखक ही नहीं थे उन्होंने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाम का एक नाटक भी लिखा, जिसमें खड़ी-बोली का गद्य और ब्रज-भाषा के पद्य का प्रयोग किया गया है। आप स्वयं कुशल अभिनेता और वक्ता थे। भदरस की रामलीला में स्वयं अभिनय करते थे, यही कारण है कि "चन्द्रकला भानुकुमार" नाटक को अभिनय योग्य बनाने के लिये आपने भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उसमें विशेष सफलता नहीं मिल सकी। फिर भी यह नाटक भावप्रधान है और स्थान-स्थान पर आपकी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार इसमें अवश्य उपलब्ध होता है। नाटक की नायिका चन्द्रकला का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं :—

भाय रही सुख पाय रही हिय सुन्दर चन्द्रमुखी अबला।
न बनै उपमा बरनैं कत हूं, सो मनो छवि सिंधु कढ़ी कमला।
कुसुमी पट मंजुलगात लसैं मुसकान लखे मनुजात छला।
रमणी के सुहावन पांयन पैं झुकि चाहत लोटन को चपला।

'पूर्ण' जी का स्वर्गवास संवत् १६७७ में हो गया, जबकि उनकी अवस्था केवल ५७ वर्ष की थी।

रहली के रामचन्द्र दुबे ने हास्यरस की सुन्दर कविताएं लिखीं। आधुनिक युग के प्रिय पेय चाय का वर्णन करते हुये आप लिखते हैं :—

कंचन की नीकी देवें केटिली कुबेर आय,
गंधवाली चाय कामरूप सें ही आवेगी।
आग अग्निहोत्री टी पवित्र पाक गौरी करें,
दूध कृष्ण-धेनु का यशोदामाय लावेगी।

विष्णु राजभोग और सिताको गणेश लावें,
पंचपात्र भाजनों की कमी निपटावेगी।
आओ भक्त लोगों आज शंभुघर चाय भोज,
राम जपने का पियो आलस भगावेगी।

० ० ०

मान की दायिनी आज समाज में आतिथताइ आतिथ्यहि भावें।
सुन्दर स्वाद सुवासन सोहत सभ्यों के आगे पियाले में आवें।
घूंटन घूंट में आवे मजा अतिनीकी उमंग सदा दरसावें।
जो जस चाहता हो कलि में उसे चाहिये लाकर चाय पिलावें।

ठाकुर जगमोहनसिंह के शिष्य पंडित मालिकराम त्रिवेदी (शिवरीनारायण) ने 'रामराज्य वियोग 'और' प्रबोध चन्द्रोदय' नाम के दो नाटक लिखे। यद्यपि इन नाटकों में अधिकतर नाट्यशास्त्र के प्राचीन नियमों का परिपालन किया गया है, फिर भी इनमें लेखक को सफलता मिली है और रंगमंच पर खेले भी जा चुके हैं। सिवनी के कालिकाप्रसाद द्वारा लिखित 'ब्रजविलाप' एवं 'नलदमयंती', जबलपुर के बिलावलनाल लिखित 'प्रेम-सुन्दर' तथा नरसिंहपुर के गणपतिसिंह लिखित 'सत्योदय' नाटक भी अपने समय का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन नाटकों में भाषा तथा शैली का परिवर्तन भी कुछ-न-कुछ अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

कंदेली (नरसिंहपुर) के चरणदास ने 'धर्म-प्रकाश', 'विनयप्रकाश', 'गुरुमाहात्म' और 'धन-संग्रह',ग्रन्थ लिखे। बिसाहूराम ने सर्व प्रथम 'कृष्णायन' महाकाव्य लिखा। इसके पश्चात् मऊ बुंदेलखण्ड-निवासी मंचित-द्विज ने 'कृष्णायन' लिखा और तीसरा 'कृष्णायन' महाकाव्य वर्तमान युग में पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखा गया।

धमतरी के श्री हीरालाल उपाध्याय (मृत्यु संवत् १६४०) ने छत्तीसगढ़ी भाषा का व्याकरण तैयार किया जिसका संशोधन पंडित लोचनप्रसाद पाण्डेय और अंग्रेजी अनुवाद डाक्टर ग्रियर्सन ने किया था।

रायगढ़ के अनन्तराम पाण्डेय ने 'कपटी-मुनि' नाम का नाटक और कुछ निबन्ध लिखे। आपका नाटक कई स्थानों में रंगमंच पर सफलता के साथ खेला जा चुका है। पं. मेदिनीप्रसाद पाण्डेय भी रायगढ़ के थे। बालपुर के मालगुजार श्री पुरुषोत्तम पाण्डेय की पुस्तक 'आनन्द का टोकना' प्रकाशित है, जिसमें आपके निबंधों का संकलन है। अनिरुद्ध चौबे ने 'शिवरात्रि' माहात्म्य और श्रीकांत शर्मा ने 'भूपदेववंश-माला' पुस्तकें लिखीं। रतनपुर (बिलासपुर) के सेवाराम ने लगभग तेरह पुस्तकें लिखीं। आपका जन्म संवत् १८७० में और अवसान संवत् १६२७ में हुआ। पेंड्रा के श्री रामराव चिंचोलकर (संवत् १६१७ से १६६०) 'छत्तीसगढ़-मित्र' के संपादक रहे। शिवरीनारायण के शुकलालप्रसाद पाण्डेय गद्य और पद्य के अच्छे लेखक थे। आपकी रचनाएं जबलपुर की 'श्री शारदा' मासिक में प्रकाशित होती रहती थीं। 'बाल-शिक्षक', 'पहेली', 'भूल भूलइया,' 'बालगीत', 'पद्यपंचामृत', 'मातृमिलन' (नाटक) 'और मैथिलीमंगल' आपने सात पुस्तकें लिखीं। 'मैथिली-मंगल' में नृप-कुमारियां राम से उनका निवास स्थान पूछती हैं, तो तुलसी के राम की भांति आपके राम, इस युग की भावनाओं के अनुसार कहते हैं :—

प्रिय स्वदेश-मंदिर दरिद्र भगवान में, दुःख-दैन्य से पीड़ित दीन किसान में।
त्याग-यज्ञ से दीक्षित वर विद्वान् में, प्रेमीजन के प्रेम-उफनते प्राण में।
शुभ-स्वदेश-सेवा-व्रत के उत्थान में, दीन जनों के हेतु प्रदानित दान में।
और अन्त्यंजोद्धार-स्वरूप कृपाण में, निशिदिन करता वास बड़ा सुखमान में।
मुझे खोजना हो, तो ठौरों में इन्हीं, खोज शीघ्र पा जाओगी संशय नहीं।

श्रीमती राजरानी देवी का जन्म नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) के निकट पिपरिया ग्राम में संवत् १९२७ में हुआ। आपका विवाह नरसिंहपुर निवासी शोभाराम जी के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीप्रसाद के साथ संवत् १९४० में हुआ। श्रीमती राजरानी की मृत्यु संवत् १९८५ में हुई। आपने 'प्रमदा-प्रमोद' और 'सती-संयुक्ता' नाम की पद्य-पुस्तकें लिखीं। 'वियोगिनी' उपनाम से भी आप पत्र-पत्रिकाओं में लिखती रहती थीं। आप हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार डाक्टर रामकुमार वर्मा की माता थीं। आपके प्रभाव से ही डाक्टर वर्मा का झुकाव काव्य की ओर हुआ। काव्य में आपकी भाषा अत्यन्त सरल होती थी। एक स्थान पर आप लिखती हैं :—

भ्रम है मुझे, ललित लतिका को,
समझ न जाऊँ मैं बनमाल।
कृष्ण समझकर बड़े प्रेम से,
चूम न लूं मैं कहीं तमाल।

खण्डवा के सैयद छेदालाल शाह का जन्म संवत् १९३७ में हुआ। आप खण्डवा में रेवेन्यू इंस्पेक्टर और कृष्ण-भक्त मुसलमान थे। आपने 'भक्तपंचाशिका', 'श्रीकृष्ण पंचाशिका', 'हरगंगा रामायण', 'आत्मबोध' और 'श्री भागवत की' टीका पुस्तकें लिखीं। कविता आप ब्रजभाषा में लिखते थे :—

बकि-बकि आली तुम खाली न मगज करो।
कैहो नतु गाली मेरी टेव बलिहारी हैं।
एक बार कहौं कि हजार बार कहौं शाह।
जिनहि जराए हाय छाती जरि हारी हैं।
लाख बात ताक धरो करो पन साख दूर,
और को सिखा के देखो केती छलिहारी हैं।
माय देवें गारी, चाहे बाप वे निकारी,
पर सांवरे बिहारी पर तन बलिहारी हैं।

खंडवा में जब 'भानुजी' सेटलमेंट आफिसर थे तब उन्होंने वहां 'भानु-समाज' नामकी एक कविगोष्ठी आयोजित की थी जिसमें पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के अतिरिक्त चम्पालाल जौहरी भी भाग लिया करते थे। जौहरी जी की आयु ७० वर्ष के लगभग है। वे ब्रजभाषा में मधुर-काव्य-रचना और समस्या-पूर्तियां किया करते थे।

भाषा की दृष्टि से मध्यप्रदेश में जो रचनायें इस काल में हुईं; उनमें ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, खड़ी बोली और छत्तीसगढ़ी सभी का समावेश मिलता है। सबसे महत्व की बात तो यह है कि यहां इन भाषाओं के बीच किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता नहीं पाई जाती।

(३)

आधुनिक-साहित्य-(ब) द्विवेदी-युग

हिन्दी-साहित्य में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का समय भी अपना विशेष स्थान रखता है और उस समय की अनेक परम्परायें आजतक हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों में दिखलाई पड़ती हैं। गद्य और पद्य दोनों की दृष्टि से इस समय एक नया प्रयास प्रारंभ हुआ, जिसने हिन्दी-साहित्य की गतिविधि को पलट दिया और उसमें नई शैली के साथ-साथ नई भावनाओं का भी समावेश प्रारम्भ होने लगा। द्विवेदी जी का जन्म वैसाख शुक्ल ४, संवत् १९२७ को दौलतपुर, जिला रायबरेली, उत्तरप्रदेश में और देहावसान पौष कृष्ण ३०, संवत् १९९५ को हुआ। सन् १९०३ में आपने उस समय की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका "सरस्वती" के सम्पादन का भार ग्रहण किया और तभी से आपने

हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों की परिपुष्टि एवं भाषा के परिमार्जन की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। वास्तव में द्विवेदी जी के सामने हिन्दी का व्यापक भविष्य था और वे चाहते थे कि उसका साहित्य और भाषा-सौष्ठव ऐसा हो जाय कि वह राष्ट्रभाषा के उत्तरदायित्व को सरलता से सम्हाल सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में— "द्विवेदीजी लिखने में सम्भवतः इस बात को मानते थे कि कठिन से कठिन विषय को भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझने वाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ सकें।" इस प्रकार का प्रयत्न भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जमाने में ही आरंभ हो गया था, परन्तु काव्य में अलंकारप्रियता और कल्पना की अनावश्यक उड़ान का अन्त नहीं हुआ था। द्विवेदीजी ने काव्य के क्षेत्र में भाषा का परिमार्जन तो किया ही, उन्होंने उसे जीवन और जगत के अधिक निकट लाने की चेष्टा की जिससे काव्य केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन या मनोरंजन का साधन न रहकर राष्ट्रोत्थान का आधार बन गया।

द्विवेदीजी का कहना था कि— "कविता यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनियां में आजतक बड़े-बड़े काम हुए हैं।" द्विवेदीजी के समय में साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में भारतेन्दु-युग की प्रमुख भावनाओं का समुचित और सन्तुलित विकास हुआ। भारतेन्दु-युग को यदि जागरण का युग कहा जाय तो द्विवेदी-युग को साधना का युग कहा जायगा।

द्विवेदी जी ने गद्य और पद्य दोनों में खड़ीबोली को स्थान दिया और उनके द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को बड़े वेग के साथ प्रोत्साहन मिला। खड़ीबोली का अस्तित्व अमीर खुसरो (संवत् १२४६) से भी पूर्व पाया जाता है। भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र (संवत् १९०७ से संवत् १९४१) तथा राजा लक्ष्मणसिंह (अभिज्ञान शाकुन्तल, संवत् १९०२) ने पद्य में ब्रजभाषा को स्थान देते हुए भी गद्य में खड़ीबोली का उपयोग किया, किन्तु द्विवेदी जी ने सभी क्षेत्रों में खड़ीबोली की स्थापना की और उसे व्याकरणसम्मत परिमार्जित करने का भी पूरा प्रयत्न किया, जिसके कारण हिन्दी-गद्य को एक नया रूप प्राप्त हुआ और उसका प्रभाव सभी प्रान्तों के तत्कालीन हिन्दी-लेखकों पर पड़ा।

भाषा के पश्चात् भावनाओं का प्रश्न सामने आता है। साहित्य-भूमि पर प्रवेश करने के पूर्व द्विवेदी जी स्वयं उस समय के विदेशी शासन का कटु अनुभव प्राप्त कर चुके थे और देश के राजनीतिक तथा सामाजिक क्षितिज पर जागरण के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे थे। मार्क्सवादी आलोचक एवं कवि काड्वेल के अनुसार —"जिस प्रकार सीप की कृति मोती है, उसी प्रकार कला, समाज की कृति है।"* और—"कविता यथार्थ रूप में समाज का इतिहास है और प्रकृति के साथ होने वाले मनुष्य के संघर्ष का भावात्मक श्रम-सीकर है।" † द्विवेदीजी के समय में ही राजनीतिक तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हो गई थी। स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय, केशवचन्द सेन तथा रानडे आदि विभिन्न प्रान्तों में जाग्रति के अंकुर उत्पन्न कर चुके थे और राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेजी शासनाधिकारियों की नीति के कारण जनता में विक्षोभ पैदा हो चुका था। बंग-भंग के कारण देश भर में शासन के प्रति असन्तोष की भावना उत्पन्न होकर क्रान्ति के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे थे। फलस्वरूप कितने ही नवयुवक विदेशी शासन के प्रति प्रकट रूप से विद्रोह करने को अग्रसर हुये।

द्विवेदी जी का समय, साहित्य क्षेत्र में, सन् १९०० से सन् १९३० तक माना गया है।

इस युग के प्रारम्भ में लार्ड कर्जन के शासनकाल में प्लेग का भयानक प्रकोप हुआ, जो कई वर्षों तक चलता रहा। सन् १९०४ में उससे ११,४३,९९३ लोग मरे ‡ और यह क्रम कम अधिक मात्रा में बरावर जारी रहा। यहां तक कि

---

* 'एल्यूजन एण्ड रियल्टी'—लेखक क्रिस्टोफर कॉड्वेल, पृष्ठ ८०.

† वही पृष्ठ ११०

‡ इंडिया अण्डर कर्जन एण्ड आफ्टर लोएट फ्रेजर, पृष्ठ २७१, २७२।

सन् १६११ की छमाही में मृत्यु संख्या* ६,५०,००० तक पहुँच गयी। जनता में सरकार के द्वारा किये गये प्रयत्नों क प्रति इतना असंतोष व्याप्त हो गया था कि सन् १६०० में लोगों ने कानपुर के एक कैम्प पर आक्रमण किया और पांच पुलिस सिपाहियों को मार डाला।

प्लेग के साथ-साथ अकाल का भी आक्रमण हुआ और इसका कारण लोगों के पास जीविका के साधना का अभाव, बेकारी तथा भोजन-सामग्री की मँहगाई था, जिसका मुख्य आधार देश की गिरी हुई आर्थिक दशा मानना होगा।† सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् इस प्रकार के पांच अकाल भारत में हुए और उन्होंने सरकार के प्रति जनता का विश्वास डिगा दिया। बंगभंग-आन्दोलन ने जनता के हृदय में धीरे-धीरे प्रज्ज्वलित होनेवाली अग्निशिखा को तीव्र बनाने में सहयोग दिया। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर सर फ्रेजर की सलाह पर लार्ड कर्ज़न ने बंग-भंग का निर्णय किया था और उनकी योजना की पूर्ति में ब्रिटिश पार्लमेन्ट ने योग दिया।‡ बंगाल के प्रमुख लोगों के अनुरोध पर भी सरकार ने निर्णय को स्थगित करना तो दूर रहा, परिवर्तन करने की बात भी स्वीकार नहीं की × जिससे समस्त देश में हिंसात्मक क्रान्ति की भावना पैदा हो गयी और बंगाल के दैनिक-पत्र "संध्या" ने उस वक्त लिखा कि—"जिस दिन फिरंगी ने सोने के बंगाल के दो टुकड़े कर दिये, उस दिन हमने समझा था कि कुछ गोलमाल अवश्य होगा।" + सरकार भारत रूपी तोते को केवल पिंजड़े में ही बन्द कर के सन्तोष नहीं कर रही थी, बल्कि उसके पर भी नोंच डालना चाहती थी।-|-

पश्चिमी शिक्षा और अधिकारियों की दमननीति ने देश की राष्ट्रीय भावना को प्रबल बनाने में विशेष रूप स सहायता पहुँचाई ∵ और उसका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा। उसने एक ओर तो हिंसात्मक क्रान्ति की दुर्गम घाटियों को पार किया तो दूसरी ओर गांधीयुग से सत्य और अहिंसा की प्रेरणा ग्रहण की। इसकी प्रत्यक्ष छाप हमें मैथिलीशरण गुप्त की विभिन्न रचनाओं में दिखाई पड़ती है। गांधीजी ने कला के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था कि—"सर्वश्रेष्ठ कला वह है, जो कला के नाम को वास्तविक रूप में सार्थक कर सके। जिसमें धूमकेतु की तीव्र गति हो और जो हमारे जीवन को गतिशील बना सके।" द्विवेदी-युग के अधिकांश साहित्यकारों की कृतियों में यह रूप मिलता है। स्वयं आचार्य द्विवेदी जी जान स्टुवर्ट मिल के विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने उनकी पुस्तक "लिबर्टी" का हिन्दी अनुवाद भी "स्वाधीनता" नाम से किया था।

देश की राजनीति एवं सामाजिक समस्याओं पर विचार करना उस समय के साहित्यकारों का मुख्य ध्येय बन गया। द्विवेदी-युग का काव्य सरल भावानुभूतियों की रम्य स्थली है, उसमें जीवन की विभिन्न समस्याओं का निरूपण अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया गया है। इस युग की काव्य-कृतियां, जीवन-दर्शन को समझने की ओर अधिक उन्मुख जान पड़ती हैं। इस काल के अधिकांश कवियों का दृष्टिकोण अत्यंत प्रकृतिस्थ और सुसंगठित है। उनमें मानवता के प्रति एक जागरूक चेतनता दिखलाई पड़ती है। कला की सृष्टि में उस समय आन्तरिक अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का जो सूत्रपात हुआ, उसका ही एक रूप आगे चल कर छायावादी, रहस्यवादी और प्रगतिवादी कविताओं में दिखलाई पड़ा। इस युग की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों ने ही अभिव्यंजना में लाक्षणिकता का सहयोग लेकर हिन्दी-काव्य को एक नई दिशा प्रदान की और प्रमुख छायावादी कवियों ने विषयप्रधान (सबजेक्टिव) तथा विषयीप्रधान (आबजेक्टिव)

---

* वही, पृष्ठ २७५।

† इकोनोमिक ट्रांजीशन इन इंडिया—सर थियोडर मारिसन।

‡ कर्जन के त्यागपत्र पर ब्रोडरिक का पत्र, कर्जन के नाम—तारीख १६ अगस्त १६०५।

× सन् १६१० के बंगाली पत्र में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का वक्तव्य।

+ दैनिक संध्या—सन् १६०६।

-|- हिन्दी केसरी, नागपुर—तारीख १३ जून १६०८।

∵ न्यू इंडिया—हेनरी कॉटन।

में अंतर नहीं रहने दिया।* द्विवेदी जी ने यद्यपि स्वयं इस प्रकार की कविताओं की तीव्र आलोचना की और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा भी ऐसी रचनाओं की विडम्बना की गई † परन्तु उनका प्रभाव कोई नहीं रोक सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कुछ लोगों के ख्याल से द्विवेदी-युग की हिन्दी-समीक्षा की चरम परिणिति प्राप्त कर चुके थे।‡

मध्यप्रदेश के जिन कवियों पर द्विवेदी युग या द्विवेदी जी का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, उनमें लोचनप्रसाद पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय और स्व. कामताप्रसाद गुरु मुख्य है। खड़ी बोली के प्रथम काव्य-संग्रह "कविता-कलाप" में, इनमें से कुछ की कवितायें भी संग्रहीत की गई थीं।

लोचनप्रसाद पाण्डेय आज-कल काव्य-क्षेत्र से हट कर ऐतिहासिक अनुसंधान में संलग्न हैं। कविता के साथ-साथ आप गद्य के भी अच्छे लेखक माने जाते है। मुकुटधर पाण्डेय इस समय काव्य से तटस्थ हैं। परन्तु उनकी पुरानी रचनायें उन्हें द्विवेदी-युग के कवियों में ऊँचे स्थान पर ले जाती हैं। आप द्विवेदी-युग के उन कवियों में है, जिनकी रचनाओं में ही सर्वप्रथम छायावाद की झलक दिखलाई पड़ी। इसका कारण पाण्डेय जी का रवीन्द्र-साहित्य से निकटतम सम्पर्क जान पड़ता है। सन् १९१३ में रवीन्द्रनाथ को "नोबेल-पुरस्कार" मिला, परन्तु इसके बहुत पूर्व से ही उनकी प्रतिभा का प्रभाव भारत के विभिन्न प्रान्तों के साहित्य पर पड़ने लगा था। छायावाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है कि "पूर्व में उपनिषदों के दर्शन के जागरण की आभा को पश्चिम की वस्तुरूपी सभ्यता के सौन्दर्य-बोध से प्रभावित होकर कवीन्द्र रवीन्द्र ने सर्वप्रथम छायावाद की भावना को जन्म दिया, क्योंकि बंगाल ही सर्वप्रथम पश्चिमी संस्कृति के गहन-सम्पर्क में आया। हिन्दी के जागरण-काल में भी ये प्रयत्न नये युग के तकाजे के कारण अल्पमात्रा में मुकुटधर आदि के समय में स्वत: प्रारंभ हो गये थे।" × पन्त जी छायावाद नाम को द्विवेदी-युग के आलोचकों द्वारा नई कविता के उपहास का सूचक मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में मुकुटधर जी का कहना है कि—"आध्यात्मिकता और धर्म-भावुकता, छायावाद के अभिन्न अंग हैं। मायावाद के दृढ़पाश में जकड़े हुए पश्चिमीय हृदय को वे नवीनतापूर्ण भले ही मालूम हों, पर भारत की तो वे एक तरह से चिरन्तन वस्तुएँ हैं।"+ मुकुटधर एवं मैथिलीशरण गुप्त का छायावाद इसी आधार पर अग्रसर हुआ था।

द्विवेदी-काल के कई कवियों ने अद्वैतदर्शन की भांति काव्य-क्षेत्र में कल्पना को यथार्थ से पृथक्‌कर एक ऐसे स्वप्न-लोक की सृष्टि की जिसकी पृष्ठभूमि सामाजिक होते हुए भी आधार आध्यात्मिक बनाया गया और इस प्रकार सामाजिक विषमताओं एवं विशृङ्खलताओं से मुक्त होकर कवियों ने अपने कल्पना-लोक में विचरना आरंभ किया। छायावादी-काल के लिए श्री सियारामशरण गुप्त जो स्वयं कुछ सीमा तक छायावादी हैं, की निम्नलिखित पंक्तियां बहुत ही उपयुक्त सिद्ध होती हैं।

स्वर न ताल, केवल झंकार, किसी शून्य में करे विहार। ·|·

यह झंकार ही छायावादी काव्य को माधुर्य प्रदान करती है, जिसके कारण उसे समझने और न समझनेवाले दोनों ही आनन्द का अनुभव करते हैं। मुकुटधर पाण्डेय की कविताओं में माधुर्य के साथ-साथ भावों की भी सरलता स्पष्ट-रूप से मिलती है—

जब संध्या हो हट जायगी भीड़ महान, तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा गान।
शून्य पक्ष के अथवा कोने में ही एक, बैठ तुम्हारा करूँ वहां नीरव अभिषेक।।

* विनयमोहन शर्मा का लेख "अवन्तिका काव्यालोचनांक", जनवरी १९५४, पृष्ठ १९२।
† काव्य में रहस्यवाद।
‡ "नया साहित्य, नये प्रश्न?"—श्री नन्ददुलारे बाजपेयी, पृष्ठ ३३।
× "अवन्तिका काव्यालोचनांक," जनवरी १९५४, पृष्ठ १६०।
+ श्री शारदा, नवम्बर १९२०, पृष्ठ १००।
·|· झंकार—सियारामशरण गुप्त।

मुकुटधर पाण्डेय की भांति मैथिलीशरण गुप्त और बदरीनाथ भट्ट भी द्विवेदी-युग में नवीन प्रवाह की ओर आकर्षित हुए, परन्तु वे अन्त तक इसका निर्वाह नहीं कर पाये, जब कि मुकुटधर पाण्डेय अपने नव निर्मित मार्ग पर बराबर चलते रहे। उनके काव्य पर द्विवेदीजी की इतिवृत्तात्मक शैली का प्रभाव अवश्य पड़ा। "आंसू" एवं "उद्गार" आपकी इसी प्रकार की सुन्दर रचनाएँ हैं। "शैलबाला", "पूजा-फूल", "लक्ष्मी" और "परिश्रम" आपके पद्य-ग्रन्थ हैं।† आपके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"तृतीय उत्थान के आरंभ में पंडित मुकुटधर पाण्डेय की रचनाएँ छायावाद के पहिले नूतन स्वच्छंद मार्ग निकाल रही थी। मुकुटधर की रचनायें प्राणियों की गतिविधि का भी रहस्यपूर्ण परिचय देती हुई स्वाभाविक स्वच्छन्दता की ओर झुकती मिलेंगी।" प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागात्मक परिचय, उनकी गतिविधि पर आत्मीयता व्यंजक दृष्टिपात, सुख-दुःख में उनके साहचर्य की भावना—ये सब बातें स्वच्छन्दता के पदचिह्न हैं।"* वास्तव में कवि का व्यक्त सत्व प्रकृति और मानव है और जब इनके आध्यात्मिक प्रणय का स्वरूप उसे सर्वत्र दिखलाई पड़ने लगता है, तब उसकी कला में वास्तविक सौंदर्य और शिवत्व की भावना पैदा होती है।

लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा उनके भाई पुरुषोत्तमप्रसाद पाण्डेय, मुरलीधर पाण्डेय और वंशीधर पाण्डेय ने भी काव्य-रचना की, परन्तु लोचनप्रसाद पाण्डेय का हिन्दी-काव्य में एक विशेष स्थान है। आपने पूर्ण रूप से द्विवेदी-युग की प्रवृत्तियों को ग्रहण किया। "सरस्वती" में आपकी रचनायें सन् १९०५ से ही प्रकाशित होने लगी थीं। आपने कई रचनायें ऐतिहासिक कथा-प्रसंगों को लेकर लिखीं। "माधव-मंजरी", "मेवाड़-गाथा" और "नीति-कविता" आपकी काव्य-कृतियां हैं। आप प्रान्तीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पंचम अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। चितौड़ के राणा भीमसिंह के अपूर्व त्याग की कथा आपने नन्ददास के "रासपंचाध्यायी" के ढंग पर लिखी। "मृगी दुःख-मोचन" आपकी रचना खड़ी बोली के सवैया छन्द में लिखी गई है, जो सुन्दर है। इसमें आपने एक पशु के हृदय को बड़ी सरलता के साथ परखा है, जो आपके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का द्योतक है। "मृगी दुःखमोचन" में आप सुन्दर ढंग से लिखते हैं—

चढ़ जाती पहाड़ों में जाके कभी, कभी—झाड़ों के नीचे फिरें विचरें।
कभी कोमल पत्तियां खाया करे, कभी—मीठी हरी-हरी घास चरें॥
सरिता-जल में प्रतिबिम्ब लखें, नित—शुद्ध कहीं जलपान करें।
कहीं मुग्ध हो झर-झर निर्झर से, तरु-कुंज में जा तप ताप हरें॥

पाण्डेय जी के काव्य में ओज और माधुर्य दोनों मिलते हैं।

द्विवेदीजी के अन्य समकालीन गद्य-पद्य लेखकों में व्याकरणाचार्य स्व. कामताप्रसाद गुरु का नाम प्रमुख रूप से सामने आता है। आपने व्याकरण लिख कर खड़ीबोली गद्य को परिष्कृत और व्यवस्थित बनाने में द्विवेदी जी का हाथ बटाया। गुरु जी का जन्म सन् १८७५ में सागर में हुआ। प्रारंभ से ही आपकी साहित्य के प्रति अभिरुचि थी। आपकी खड़ीबोली की कविताओं का संग्रह "पद्य-पुष्पावलि" नाम से प्रकाशित हुआ और ब्रजभाषा में भी आपने "भस्मासुर-वध" तथा "विनय-पचासा" नाम के ग्रन्थ लिखे। "बेटी की विदा"—आपके द्वारा लिखी गयी बहुत प्रसिद्ध रचना है, जिसमें मातृहृदय का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। इस कविता में कवि की रागात्मक भावनाओं की अनुभूति अत्यन्त प्रबल हो उठी है। इसी प्रकार "दमयन्ती-विलाप" आपकी बड़ी भावात्मक कविता है, जिसमें कवि ने शोक विह्वल दमयन्ती की दशा का बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया है :—

---

* हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६५८।

† नक्षत्र—मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृष्ठ ३४।

पति को न पा समीप उठी अकुला कर रोती, फिर बैसी रह गई देख कर आधी धोती।
पागल सी हो लगी खोजने पति को वन में, करती कभी पुकार, कभी कुछ कहती मन में।
जिनको पहिले दैत्य समझ वह डर जाती थी, अब निर्भय हो उन्हीं द्रुमों से बहलाती थी।
दौड़ी धूपी, गिरी पड़ी, रोई-चिल्लाई, पर न कहीं से किसी भाँति पद की सुधि पाई।।

अंग्रेजी कवि "वर्ड्सवर्थ" की भांति द्विवेदी जी भी गद्य और पद्य का विन्यास एक ही प्रकार का चाहते थे। यद्यपि इस क्षेत्र में स्वयं द्विवेदी जी और उस युग के अन्य कवियों को भी पूर्ण सफलता नहीं मिली फिर भी विन्यास में नवीनता अवश्य दिखलाई पड़ने लगी और यही कारण है कि इस समय की अधिकांश कविताएँ इतिवृत्तात्मक रहीं। उनमें लाक्षणिकता, चित्रमयी भावना और भाषा की वह अलंकारिता नहीं आ पाई जो प्राचीन आचार्यों के अनुसार रस-संचरण में तीव्र रूप से सहायक होती थी। इस समय के अधिकांश कवियों की रचनायें वर्णवृत्त छन्द में मिलती हैं।

सुप्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक लीविस का मत है कि—"अपने देश के किसी विशेष युग में उसके सबसे तीव्र चेतना-बिन्दु के प्रति जो कवि जितना अधिक सचेत रहता है, वह उतना ही महान कलाकार है।"† उनका यह भी मत है कि—"व्यक्तियों की चेतना प्रत्येक युग और पीढ़ी में बदलती रहती है, परन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम को बदल डालने की क्षमता श्रेष्ठ कलाकारों में ही पाई जाती है।" द्विवेदी जी स्वयं अपने युग के चेतना-बिन्दु अर्थात् राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम के प्रति सजग थे और उनके समय के अनेक कवियों ने इस चेतना-बिन्दु को ग्रहण करने की चेष्टा की परन्तु सबसे अधिक सफलता मैथिलीशरण गुप्त और मध्यप्रदेश के राष्ट्रवादी कवि माखनलाल चतुर्वेदी को मिली। चतुर्वेदीजी ने राष्ट्रीयता और प्रेम की साकार कमनीयता को अपने जीवन का चेतना-बिन्दु बनाया और उनके प्रतिभा-शिखर से दो सरितायें प्रवाहित हुईं, जिनमें से एक राष्ट्रीयता की उत्तुंग ऊर्मियां लेकर देश-प्रेम के पयोनिधि को आलिंगन करने को दौड़ी और दूसरी जगत् को अपने स्नेह के भुज-पाश में बांध कर अलौकिक आनन्द की सृष्टि करने को। माखनलाल जी का साहित्य उनकी प्रतिभा और भावुकता पर निर्भर है, जिसका सृजन उनकी अनुभूतियों के आधार पर हुआ और उसकी अभिव्यंजना भी अत्यन्त तीव्र है। आपकी अनुभूतियां मानव और प्रकृति के बीच साहचर्य का भाव प्रकट करती हैं। "हिमकिरीटिनी", "हिमतरंगिनी"‡ और "माता" आपकी काव्य-कृतियां हैं, जिनको आपने कला का सुन्दर स्वरूप उपलब्ध होता है।

माखनलालजी के काव्य में राष्ट्रीयता, छायावाद एवं रहस्यवाद के अवगुण्ठन में प्रकट होती है। उसमें जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति और समाज के प्रति कवि की हमदर्दी ही अधिक व्यापक हुई है:—

जिस दिन रत्नाकर की लहरें, उसके चरण भिगोने आयें,
जिस दिन शैल शिखरियां उनको, रजत-मुकुट पहनाने आवें,
लोग कहें मैं चढ़ न सकूंगी—बोझीली; प्रण करती हूँ सखि!
मैं नर्मदा बनी उनके, प्राणों पर नित्य लहरती हूँ सखि!
मैं अपने से डरती हूँ सखि!

कला के द्वारा भावनाओं का विकास होता है। मानव के लिए इन भावनाओं का विकास अत्यंत आवश्यक है। माखनलाल जी की कला ने उनके जीवन पर और उनके जीवन ने उनकी कला पर जो प्रभाव डाला है, वह अमिट है। सन् १९१३ और उसके आसपास की कविताओं में अभिव्यंजना की वह शैली अन्यत्र कम मिलती है, जो माखन-

† न्यू बियरिंग्स इन इंग्लिश पोयटरी—डाक्टर लीविस।
‡ इस पुस्तक पर सन् १९५५ में आपको भारत सरकार की ओर से ५ हजार का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

जी की कवितायें प्राप्त होती हैं।"* पंडित रामनरेश त्रिपाठी जी का कहना है कि—"हम हिन्दी के अधिकांश कवियों के व्यक्तिगत जीवन से परिचित हैं। हमारे सामने एक भी ऐसा कवि नहीं है, जिसके सम्बन्ध में हम सरलता के साथ कह सकें कि उसे अंतर्गत की उन तरंगों का, जिनका वर्णन, उसकी कविता में मिलता है, कोई विशेष अनुभव है।"† माखनलाल जी के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनकी राष्ट्रीय कविताओं ने जीवन के कर्त्तव्यक्षेत्र से प्रेरणा ग्रहण की है, तो भावमयी प्रेम की कवितायें उनके परिवार की भक्ति-भावना का प्रसाद हैं।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और उनके पति श्री लक्ष्मणसिंह चौहान की कवितायें भी अपने युग की राजनीतिक विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। सुभद्राजी के काव्य में राष्ट्रीयता और मातृत्व की भावना का समावेश मिलता है। उनका काव्य हृदय की गहराई और—नारी-सुलभ उदारता एवं भाव-प्रवणता से अभिसिक्त है। उसमें महादेवी के काव्य जैसी विषादमयी—अनुभूतियां न मिल कर उल्लास का अविराम स्वर सुनाई पड़ता है, जिसके कारण उनका समस्त काव्य-साहित्य प्राणवान् हो गया है। उनके काव्य में कल्पना की रंगीन झांकी के स्थान पर जीवन का शाश्वत स्वरूप अधिक स्पष्ट रूप से अंकित हुआ है और लेखिका की अन्तर्मुखी अनुभूति पाठक की आत्मा पर प्रबल प्रभाव डालती है। भावों की अभिव्यंजना हृदय को स्पर्श कर उसमें उत्साह का अनुपम उत्स प्रवाहित कर देती है। यही कारण है कि सुभद्रा जी का काव्य-भूषण की अपेक्षा वीर रस का अधिक सुन्दर स्वरूप उपस्थित करता है और उसका स्थायी भाव "उत्साह", केवल शब्दों तक सीमित न रह कर काव्य की आत्मा को मुखरित कर देता है। उनकी सन् १९२१ में लिखी गई "खूब लड़ी मरदानी - वह तो झांसीवाली रानी थी" और "वीरों का कैसा हो वसन्त" आदि कवितायें राष्ट्रीय भावनाओं से ओत:प्रोत हैं। दूसरी ओर सुभद्राजी ने बाल जीवन की मधुर स्मृतियों का भी बड़ा मनोमोहक चित्रण किया है, जिसमें वात्सल्य की भावना अपनी स्वाभाविक गतिविधि के साथ निर्झर के समान प्रस्फुटित होती है। उनके मातृहृदय में शिशु-प्रेम का जो प्रवाह उमड़ा, वह भी बड़ी स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक भावनाओं से युक्त है। "बालिका का परिचय"—कविता में आप लिखती हैं—

बीते हुए बालपन की यह क्रीड़ापूर्ण वाटिका है,
वही मचलना, वही किलकना, हँसती हुई नाटिका है,
मेरा मन्दिर, मेरी मस्जिद, क़ाबा, काशी यह मेरी,
पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप है, घट घट वासी यह मेरी॥

सुभद्रा जी स्वयं वीराङ्गना थीं। भारत की वे ही सर्वप्रथम महिला थीं, जिन्होंने झंडा सत्याग्रह में भाग लेकर अपने देश-प्रेम का परिचय दिया।

सुभद्रा जी के कविताओं के संग्रह—'मुकुल' और 'त्रिधारा'‡ हैं, जिनकी सभी कवितायें जागरण एवं चेतना की भावना उत्पन्न करनेवाली हैं।

सुभद्रा जी के पति स्व. ठाकुर लक्ष्मणसिंह का जन्म सन् १८९५ में खण्डवा में हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आने से आप प्रान्त के राजनीतिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में आये। इसके पूर्व आप प्रयाग से प्रकाशित होने वाले पत्र 'अभ्युदय' के सम्पादक थे। आपने नाटक, उपन्यास तथा कवितायें लिखीं। जेल में लिखा आपका एक काव्य-ग्रन्थ अप्रकाशित है। आपकी रचनाओं में भी राष्ट्रीयता का प्रभाव मिलता है परन्तु अधिकतर कवितायें सांस्कृतिक चेतना से परिपूर्ण हैं और उनमें कवि की अनुभूतियों का सुमधुर संचार पाया जाता है। 'कृष्णावतार' में चौहान जी ने कृष्ण के चमत्कार-रहित मानवीय पक्ष को उपस्थित किया है। उनके भावुक-हृदय से निःसृत होने के कारण उसमें

* 'अवन्तिका काव्यालोचनांक', विनयमोहन शर्मा, पृष्ठ १९८।

† कविता-कौमुदी, भाग २ की भूमिका, पृष्ठ ३८।

‡ त्रिधारा में सुभद्राजी के अतिरिक्त माखनलाल जी चतुर्वेदी और केशवप्रसाद पाठक की रचनायें भी संग्रहीत हैं।

हृदयगत भावों के स्वाभाविक उद्रेक, मानव-हृदय की सहज प्रवृत्तियां तथा विभिन्न मनोदशायें अंकित की गई हैं। समस्त काव्य में सौंदर्य और माधुर्य प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यह महाकाव्य चौहानजी ने जेल-जीवन में लिखा था।

जेल-जीवन में लिखे गये अनेक ग्रन्थों में पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' महाकाव्य भी अपना विशेष स्थान और महत्व रखता है। इसमें कवि ने खड़ीबोली या ब्रजभाषा का प्रयोग न करके गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस में प्रयुक्त अवधी भाषा का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में 'कृष्णायन' के टीकाकार विनय मोहन-शर्मा का कहना है कि "मिश्रजी ने अवधी को इसलिये चुना कि तुलसी की रामायण के छन्द समस्त भारत में प्रचलित हैं अतएव लोकरंजन-कार्य-सन्देश उसी प्रचलित भाषा और शैली में अधिक मनोवैज्ञानिक होगा"*। 'कृष्णायन' में सूर की अपेक्षा माधुर्य कम है परन्तु ओज की मात्रा अधिक पाई जाती है क्योंकि उसमें गोप और ग्वालों के कृष्ण का ही नहीं, महाभारत के सूत्रधार कृष्ण का भी चरित्र समाविष्ट है जिसकी अधिकांश कृष्णभक्त कवियों ने उपेक्षा की। मिश्र जी अपने आराध्य कृष्ण और अपने जीवन में एक ही समता मानते हैं और वह है दोनों का नटखटपन। † मिश्र जी के कृष्ण शक्ति और उत्साह की मूर्ति हैं और इसीलिये 'कृष्णायन' को कुछ आलोचक 'शक्ति का काव्य' मानते हैं। इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति के प्रति मिश्रजी की निष्ठा भी बड़े प्रबलरूप में दिखलाई पड़ती है। उन्होंने कहा भी है :—

परम्परा-प्रिय मति मं पाई। पैतृक सम्पति तजि नहिं जाई।
करि तप रिषिन लहेउ जो ज्ञाना, भयउ न आजहु सो निष्प्राणा।
बीजरूप सब निज उरधारी, मांगत कर्मभूमि नव बारी।

रामगढ़ के स्व. राजा चक्रधरसिंह भी द्विवेदी-युग के कलामर्मज्ञ नरेश थे। काव्य, संगीत और चित्रकला सभी ललित कलाओं के प्रति उनकी समान रुचि थी। काव्य के क्षेत्र में 'रम्यरास' उनका प्रमुख ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। आपने हिन्दी के प्राचीन ब्रजभाषा के कवियों का संग्रह 'काव्य-कानन' और संस्कृत की श्रृंगार रस पूर्ण कुछ चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'रत्नहार' नाम से प्रकाशित कराया। आपने उर्दू में भी काव्य-रचना की और दो संग्रह 'जोशेफरहत' और 'पयामे फरहत' नाम से प्रकाश में लाये। 'रम्यरास' खड़ी बोली का खण्ड-काव्य है। इसमें आरंभ से अन्त तक 'वंशस्थ-छन्द' का उपयोग किया गया है :—

तपोवनी माधवनी बनी सभा, वसुन्धरा मालवनी-रसाल की।
अमन्द वृन्दारक वृन्द सेविता, सुरम्य वृन्दावन की बनी बनी। ‡

रायगढ़ के भूतपूर्व दीवान डा. बलदेवप्रसाद मिश्र अच्छे कवि, लेखक और समालोचक हैं। आपकी प्रथम कविता 'मदनमहल' जबलपुर की 'हितकारिणी' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'कौशल-किशोर' और 'साकेतसन्त' आपके महाकाव्य हैं। 'जीवन-संगीत' भी प्रसाद जी के 'आंसू' काव्य के ढंग पर लिखी गई एक काव्य-पुस्तिका है, परन्तु इसमें 'आंसू' की निराशा नहीं, उल्लासमय दार्शनिकता पाई जाती है। इसमें जीवन का दार्शनिक रहस्य सरस और मधुर भाषा में समझाया गया है :—

जीवन की शान्ति न खोना, खोकर भी सर्वप्रसंशी,
सुलझाओ कंस-समस्या, पर रहे हाथ में वंशी॥

० ० ०

* भानु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १२४.

† पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र का नागपुर आकाशवाणी द्वारा प्रसारित भाषण।

‡ वंशस्थ छन्द- जगण, तगण, जगण, रगण का होता है।

जीवन क्या जिसमें तिरकर, सौ सौ ज्योतें बुझ जायें,
जीवन वह जिस पर तिरकर, लाखों दीपक लहरायें।

इस ग्रन्थ की भाषा एक प्रकार की बोलचाल की 'आमफहम' भाषा है और महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'चोखे चौपदे' की याद दिलाती है। 'अन्तः स्फूर्ति' में आपकी फुटकर कवितायें संग्रहीत हैं। मिश्रजी हास्य भी अच्छा लिखते हैं। जिसमें भाषा और भावों का चयन परिमार्जित रूप में मिलता है। 'साकेत-सन्त' गांधीवादी सिद्धान्तों को लेकर लिखा गया है और वह गांधी जी को समर्पित है। व्रजभाषा में आपने शृंगार शतक, वैराग्य शतक और श्यामशतक आदि ग्रन्थ लिखे हैं। समर्थ रामदास के सुप्रसिद्ध मराठी ग्रन्थ 'मनाचे श्लोक' का पद्यानुवाद 'हृदय-बोध' नाम से किया है।

स्व. मातादीन शुक्ल द्विवेदी युग के प्रमुख कवि, लेखक और पत्रकार थे। आपने जबलपुर से निकलनेवाले 'छात्रसहोदर' पत्र का सम्पादन किया और वर्षों तक हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिका 'माधुरी' के सम्पादक रहे। आप व्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में काव्य-रचना करते थे। खड़ीबोली में सवैया और कवित्त छन्दों का प्रयोग आपने द्विवेदी युग के कवि ठाकुर गोपालशरणसिंह की भांति ही बड़ी सफलता से किया। मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व ही आपने 'गांधी चालीसा' नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। आपकी अधिकांश कवितायें अप्रकाशित पड़ी हैं। लगभग ३० वर्ष पूर्व आपका एक खंड-काव्य 'स्वराज्य का शंख' नाम से प्रकाशित हुआ था। काव्य-रचना में आप 'विदग्ध' और 'सुकवि नरेश' उपनामों का भी प्रयोग करते थे। सन् १९२९ में लिखी' अम्मा की चिता' आपकी एक अत्यंत भाव-पूर्ण कविता छप्पय छन्द में है जो अंग्रेजी कवि 'ग्रे' की 'एलिजी' की याद दिलाती है :—

कलतक जिसके वक्ष स्थल में उधम मचाया,
मचल-मचलकर खूब खिझाकर फिर इठलाया,।
गा किलकारी गीत वैरियों को दहलाया,
याद नहीं, क्या खेल खेलकर क्या था खाया,।
एक एक कर वे सभी खड़े सामने नाचते,
अंकित मेरे इस हृदय में मां का गौरव बांचते।

खैरागढ़ के पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कवि, कहानीकार, निबन्धकार और समालोचक हैं। आपका जन्म सन् १८९४ में हुआ। आपका जीवन काव्य-रचना से ही आरंभ होता है। 'शतदल' तथा 'पद्मवन' आपके दो काव्य-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। आप दार्शनिक विचारक हैं और भावुक-हृदय होने के कारण आपके काव्य में भावुकता और दार्शनिकता का कहीं-कहीं बड़ा सुगम संगम हो गया है। भाषा आपकी मँजी हुई होती है और आपकी कल्पना में भी व्यापक सत्य निहित रहता है।

महाकवि रवीन्द्रनाथ के इस कथन से आप पूर्ण सहमत हैं कि जब "कवि सत्य को उपलब्ध कर लेता है, तभी वह समझता है कि सत्य का प्रकार कितना सहज और कितना सुन्दर है, तब सत्य के यथार्थ रूप को ग्रहण कर वह अलंकारों की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। जहां अलंकार नहीं है, वहीं सत्य अपने सहज रूप में प्रकाशित होता है।" बख्शीजी काव्य में अलंकार, ध्वनि या वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं जान पड़ते और न वे यही मानते हैं कि अलंकारों के बिना रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। महाकवि कालिदास की "इयम् अधिक मनोज्ञावल्कलेनापि तन्वी" —शकुन्तला की भांति वे कविता को स्वाभाविक रूप में देखना चाहते हैं और यह स्वाभाविकता अनुभूति की गहराई पर ही निर्भर रहती है। इसी के द्वारा काव्य में आनन्दानुभूति का सृजन होता है। आपकी 'गंगा के तटपर' कविता में भाषा और भाव का समन्वय देखने योग्य है :—

तुम आती हो यहां दया का स्रोत बहाती,
श्री, समृद्धि, सुख, शान्ति सभी पल में छा जाती।

पूर्ण फलोंसे तट के कानन द्रुम हंसते है,
पाकर आश्रय शोक-मुक्त हो सब बसते हैं।
पर उस गिरि की भीति में आती है क्या सुधि कभी,
हृदय-भग्न करके तुम्हें दिया रहा जो कुछ सभी।

वर्धा के दरबारीलाल 'सत्यभक्त' जैन धर्म एवं दर्शन के पंडित हैं और आजकल आप 'मानव-धर्म' का प्रचार करने में लगे हैं। यद्यपि आजकल आपकी लिखी गई 'कवितायें' अधिकतर प्रचारात्मक हैं, परन्तु किसी समय आपने 'उलहना', 'कब्र के फूल' और 'झरना' आदि सुन्दर कवितायें लिखी थीं। असहयोग आन्दोलन के समय राष्ट्रीय रचनायें भी आपकी प्रकाशित हुईं।

मध्यप्रदेश के द्विवेदीकालीन कुछ अन्य कवि आज अन्य प्रान्तों का गौरव बढ़ा रहे हैं। इनमें से नाथूराम प्रेमी, राजाराम शुक्ल 'एक राष्ट्रीय आत्मा', सागर के शोभाचन्द्र 'अनिल', लल्लीप्रसाद पाण्डेय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव आदि हिन्दी साहित्य की सेवा अभी भी करते जा रहे हैं। स्व. कृष्णशास्त्री तैलंग ने 'नीति-संग्रह' नाम का एक पद्य-ग्रन्थ संस्कृत के आधार पर लिखा जो व्यंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है। हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशक-संस्था हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर के स्वामी नाथूराम प्रेमी, जैन-साहित्य के पंडित हैं और उन्होंने अनेक जैन ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। आपका जन्म स्थान देवरी, जिला सागर है। 'जैन साहित्य का इतिहास' आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आपने वर्षों तक 'जैन-हितैषी' पत्र का सम्पादन किया और कवितायें भी लिखते रहे। आपकी कविताओं पर द्विवेदी-युग की पूर्ण छाप है। राजारामशुक्ल 'एक राष्ट्रीय आत्मा' अब तक लगभग एक दर्जन पुस्तकें लिख चुके हैं। आपकी सर्वप्रथम पुस्तक 'विधवा' सन् १९२० के लगभग प्रकाशित हुई थी। आपके सभी ग्रन्थ खड़ी बोली में हैं। भाषा के सम्बन्ध में आप बड़े सतर्क रहते हैं। आँखों पर आपने एक हजार दोहे खड़ी बोली में लिखे हैं। आपकी अधिकांश कवितायें राष्ट्रीयता से परिपूर्ण हैं और सन् १९२०के असहयोग-आन्दोलन के समय जनता में उनका अच्छा प्रचार था। द्विवेदी-युग में जब गीतों का अधिक प्रचार नहीं था तब आपने अनेक गीत लिखे, जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। लल्लीप्रसाद पाण्डेय द्विवेदी जी के सहयोगियों में थे। आपने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

सुकदेवप्रसाद तिवारी 'वीरात्मा' (विनयमोहन शर्मा) का जन्म जुलाई सन् १९०५ में करकबेल (होशंगाबाद) में हुआ। सन् १९२१ से ही आपने कविता लिखना प्रारंभ किया। उस समय आप विद्यार्थी थे। सन् १९२२ से आपकी रचनायें प्रकाश में आने लगीं। आपकी कविताओं का संग्रह 'भूले गीत' नामसे प्रकाशित हुआ है। हाल ही में आपके द्वारा अनूदित 'गीत-गोविंद' का पद्यानुवाद भी प्रकाश में आ चुका है। 'भूले गीत' में प्रकाशित आपकी रचनाओं में प्रयोगवादी-धारा के भी दर्शन होते हैं। 'कनखजूर' इसी प्रकार की कविता है। संग्रह की कुछ कवितायें सन् १९२६ से ३३ तक की हैं और कुछ वर्तमान काल की। अधिकांश कविताओं में आत्मनिवेदन की भावना व्यक्त होती है जिसमें आग्रह का स्वर है और जीवन के उन क्षणों की मीड है जो कभी-कभी कवि के जीवन में आते रहे हैं और जिन्हें लेकर कवि भाव-जगत की ओर बढ़ा है। कई कविताओं में भावानुभूति की प्रखरता मिलती है तो कई कविताओं में गीति-काव्य के संगीत की मधुरिमा। आपकी कविताओं पर राष्ट्रीयता और छायावाद दोनों का प्रभाव देखकर भी-कभी आलोचक आपपर माखनलाल जी का प्रभाव मानने लगते हैं। वास्तव में इसका कारण दोनों में भावुकता का अतिरेक है, परन्तु दोनों की प्रेरणा के क्षेत्र अलग-अलग हैं। एक गीत में आप लिखते हैं :—

कैसे तुझ से मान करूं?
कब तेरे नयनों के 'मोती' ढरके बनकर 'पानी'?
कब मैंने बातों में तेरी, अपनी ध्वनि पहिचानी।

मध्यप्रदेश में द्विवेदीयुग के बाल-साहित्य के पद्य लेखकों में गुणाकर और स्वर्णसहोदर मुख्य हैं। स्वर्णसहोदर के काव्य में बच्चों को प्रेरणादायक अनुभूतियां प्राप्त होती हैं जो उनके हृदय पटल पर एक स्थाई प्रभाव छोड़ने में सहायक बन जाती हैं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त जबलपुर के स्व. श्यामाकान्त पाठक का नाम उल्लेखनीय है। आपका 'श्याम-सुधा' नामका एक महाकाव्य है। हिन्दी-जगत में इस महाकाव्य का अच्छा स्वागत हुआ था, इसके पूर्वार्द्ध में श्रीकृष्ण के बाल्यकाल से लेकर कंसवध तक की कथा है। उत्तरार्द्ध में पार्थसारथी कृष्ण का चित्रण है, जो अभी अप्रकाशित है।

जबलपुर के नरसिंहदास अग्रवाल तथा तोरणलाल स्वर्णकार ने असहयोगके जमाने में राष्ट्रीय कवितायें लिखीं। द्विवेदीकालीन अन्य कवियों में गंगाविष्णु पाण्डेय, स्व. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, स्व. बालमुकुन्द त्रिपाठी, स्व. नर्मदा-प्रसाद मिश्र, हरिदत्त दुबे, दयालगिरि गोस्वामी, बाबूलाल भार्गव, सुहागपुर के सुखदेव प्रसाद तिवारी 'निर्बल', स्व. देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर', बिलासपुर के पुन्नूलाल शुक्ल, सरयू प्रसाद त्रिपाठी, शेषनाथ 'शील', प्यारेलाल गुप्त, काशीनाथ पाण्डेय गर्गाश्रमी, यदुनन्दनप्रसाद, श्रीवास्तव, शिवदास पाण्डेय, मस्तूरी के आशुकवि स्व. शिवदास शुक्ल, रायपुर के स्व. रामदयाल तिवारी, मावलीप्रसाद श्रीवास्तव, शुकलाल प्रसाद पाण्डेय, प्रेमदास वैष्णव, राजनांदगांव के स्व. भगवानदास सिरोठिया, कृष्णस्वामी मुदलियार, दुर्ग के उदयप्रसाद 'उदय', रामप्रसाद कसार, छिंदवाड़ा के रामाधार शुक्ल, हटा के लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा', हरदा के श्यामलाल उपाध्याय 'श्याम,' होशंगाबाद के स्व. हरनाम-सिंह चौहान, आदि ने भी काव्य-रचना करके हिन्दी-साहित्य की सेवा की है। इनमें से कई कवि आनेवाले युग के लिये मार्गदर्शक का काम करते हैं और उनकी रचनाओं में अपने युग की काव्य-शैली तथा भाषा का प्रतिनिधित्व मिलता है।

गद्य—साहित्य

कविता की भांति गद्य में भी मध्यप्रदेश की देन साधारण नहीं है। इस प्रान्त में छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, बुंदेलखंडी आदि अनेक जनपदीय भाषायें प्रचलित हैं, परन्तु यहां के लेखकों ने खड़ी बोली को ही अपने गद्य-लेखनका माध्यम बनाया। इसमें अनेक प्रकार की रचनायें कीं और कर रहे हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साफ-सुथरी-खड़ी बोली का प्रथम लेखक रामप्रसाद निरंजनी को माना है।* आपने संवत् १७९८ में 'भाषायोगवाशिष्ठ' की रचना की। शुक्ल जी का कथन है कि ये पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे।† कुछ लोगों का मत है कि ये सागर, मध्यप्रदेश के निवासी थे। शुक्लजी के मतानुसार खड़ीबोली के दूसरे लेखक बसवा (मध्यप्रदेश) के दौलतराम थे, जिन्होंने संवत् १८१८ में "रवि-षेणाचार्य के जैन पद्मपुराण" का भाषानुवाद कर १०० पृष्ठों से अधिक का एक ग्रन्थ लिखा। इनकी भाषा पर उर्दू या फारसी का कोई प्रभाव नहीं। इस प्रान्त के लेखक सदैव उर्दू-फारसी के प्रभाव से मुक्त रहे। 'पद्मपुराण' की भाषा में लल्लूलाल की भाषा की भांति पंडिताऊपन अवश्य दिखलाई पड़ता है।

दौलतराम का यह गद्य फोर्टविलियम कालेज के अधिकारियों के आदेशानुसार मुंशी सदासुखलाल, और सदल मिश्र द्वारा लिखे गये गद्य-ग्रन्थों से लगभग २० वर्ष पूर्व और लल्लूलाल के जन्म से २ वर्ष पूर्व लिखा गया।

'योगवाशिष्ठ' और 'पद्मपुराण' की भाषा में अन्तर अवश्य है फिर भी 'पद्मपुराण' की भाषा को खड़ी बोली के विकास-क्रम का परिचायक मानना ही पड़ेगा।

---

* हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४१०.

† वही, पृष्ठ ४१०.

नाटक

आधुनिक गद्य-साहित्य, नाटक, उपन्यास कहानियों और निबन्धों के रूप में सामने आता है। प्राचीन आचार्यों ने नाटक को काव्य का ही एक भेद मानकर काव्य को श्रव्य तथा नाटक को दृश्य-काव्य कहा है। आधुनिक नाट्य-परम्परा को विकसित करने वाले नाटकों का प्रादुर्भाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही हो गया था, परन्तु द्विवेदीकाल में नाटकों की भाषा और उनकी शैली में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये, कारण इस बीच हिन्दी के लेखकों पर बंगला, मराठी और अंग्रेजी के नाटकों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ चुका था और पारसी रंगमंच जनसाधारण के आकर्षण के केन्द्र बन चुके थे। मध्यप्रदेश में सर्वप्रथम अनूदित हिन्दी नाटक सन् १७६० का मिलता है, जो* शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' का एक ईसाई महिला कुमारी 'आर्मा' द्वारा किया गया अनुवाद है। इसी प्रकार शबरीनारायण (बिलासपुर) के सुखलालप्रसाद पाण्डेय ने सन् १९०३-४ के लगभग शेक्सपियर के 'कॉमडी आफ एरर्स' का अनुवाद छत्तीसगढ़ी-पद्य में 'भूल भूलइयां' नामसे किया। श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय ने सन् १९१४ में 'साहित्य-सेवा' नामका एक प्रहसन लिखा था जिसमें साहित्य-सेवियों की दुर्दशा का चित्रण है।

हिन्दी के नाटककारों में बाबू गोविन्ददास का अपना स्थान है। आरम्भ में आपने शेक्सपियर के 'रोमियो जूलियट' के आधार पर तथा 'पैरोक्लिक्स' के एक नाटक के आधार पर नाटक लिखे। बाद में आप पर इब्सन का बहुत प्रभाव पड़ा और समस्यामूलक नाटकों की रचना करने लगे। इब्सन के नाटकों में मानव और उसके जीवन की विभिन्न समस्याओं को ही प्रधानता दी गई है, इसलिये उसके नाटक 'डाल्स हाऊस' की नायिका 'नोरा' एक स्थान पर कहती है कि "और सब बातों के पहिले मैं मानव हूं।" मानव की परिस्थितियों और उसकी विवशताओं का चित्रण सेठजी के नाटकों में भी मिलता है। उनका उद्देश्य मानव की आंतरिक एवं बाह्य-समस्याओं पर प्रकाश डालना है। आपने प्रारंभ में काव्य-रचना भी की थी। 'बाणासुर-वध' नामका महाकाव्य लिखा, परन्तु बाद में आपने नाटकों को ही अपना क्षेत्र बनाया और आपका प्रथम नाटक पद्मावती' सन् १९१० में प्रकाशित हुआ। अब तक आपने छोटे-बड़े कुल मिलाकर लगभग ८५ नाटक लिखे हैं। आपके नवप्रकाशित नाटक 'भूदान-यज्ञ' में नाटक लिखने की एक नई प्रणाली का अनुसरण किया गया है, जिसका कारण आपकी विदेश-यात्रा और वहां के रंगमंच का प्रभाव माना जा सकता है। इस नाटक में जीवित पात्रों को रंगमंच पर उतारा गया है। यह नाटक सामयिक सन्देश के तौर पर लिखा गया है। आपके अधिकांश नाटकों में सामाजिक अथवा राज-नीतिक समस्याओं का प्राधान्य है, इसीलिये आपके नाटक सामाजिक-राजनीतिक (सोशियो-पोलिटिकल)कहे जा सकते हैं। आप इस धारा के एक प्रमुख लेखक माने जाते हैं। राजनीति लेखक के जीवन का एक अंग है जो अपनी मोहिनी मूर्ति द्वारा उसके साहित्यिक व्यक्तित्व को खींचती रहती है और राजनीतिक जीवन की अनुभूतियां ही नाटकों में सामने आ जाती हैं। "प्रकाश" और "पाकिस्तान" आपके इसी प्रकार के नाटक हैं। "कर्त्तव्य" नाटक में राम और कृष्ण दोनों के चरित्र रखे गये हैं, जिनका उद्देश्य कर्त्तव्य की दो भूमिकायें उपस्थित करना है। राम का चरित्र मर्यादा-पालन की पूर्णता उपस्थित करता है, तो कृष्ण का चरित्र—समयानुसार नियम और मर्यादा का यहां तक उल्लंघन करता है कि वे जरासन्ध के सामने लड़ाई का मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं।† "हर्ष", "शशिगुप्त", "कुलीनता" और "शेरशाह" आदि आपके ऐतिहासिक नाटक हैं। "प्रकाश", "सेवापथ", "दलित कुसुम", "हिंसा या अहिंसा," "गरीबी", "अमीरी", आदि, आपके सामाजिक नाटक हैं। "प्रकाश" में राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव दिखलाई देता है। मध्यप्रदेश के नाटककारों में आप अग्रणी हैं।

---

* पंडित प्रयागदत्त शुक्ल के संग्रह से.

† हीरक जयन्ती अंक-नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ १६४.

ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान कवि होने के साथ नाटककार भी थे। आपके नाटकों में भी राजनीतिक जीवन की अनुभूतियां प्रखर रूप में पाई जाती हैं और उनमें देश तथा समाज का सच्चा चित्र मिलता है। कॉलेज जीवन में ही आपने "कुली-प्रथा" नामका नाटक लिखा था, जिसमें फ़िजी द्वीप में प्रचलित कुली-प्रथा की ओर भारतीयों का ध्यान आकर्षित किया गया। "गुलामी का नक्शा" भी आपका राजनीतिक नाटक है। इस नाटक को तत्कालीन सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा। नाटक में पात्रों का चयन और घटनाओं का उपक्रम सफलता के साथ किया गया है। उत्सर्ग, सौभाग्य लाड़ला-नैपोलियन आपके दो अन्य नाटक हैं। इन नाटकों में प्राचीन तथा नवीन नाटक-प्रणाली का सामञ्जस्य पाया जाता है और ऐतिहासिक घटनाओं की विशेषता भी यथाशक्ति सुरक्षित रखी गई है।

स्व. कामताप्रसाद गुरु ने "सुदर्शन" नामक नाटक लिखा। इसका आधार बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक है। लेखक ने समय के अनुसार रंगमंच की कठिनाइयों का भी ख्याल रखा है। इसमें युग की परम्पराओं की विशेषता अधिक उपलब्ध है।

माखनलालजी चतुर्वेदी ने "कृष्णार्जुन-युद्ध" नाटक एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा है, जो कई बार सफलतापूर्वक रंगमंच पर खेला जा चुका है। इस नाटक में कथोपकथन, पात्रों का चरित्र-चित्रण और घटनाओं का घात-प्रतिघात इतना आकर्षक है कि नाटक का मनोरंजन तत्त्व, जिसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटक के लिए अत्यंत आवश्यक मानते थे, कहीं भी कम नहीं हो पाता।* शशि तथा शंख का हास्य प्रेक्षकों के मन में गुदगुदी पैदा कर देता है और उसके द्वारा नाटक के प्रति प्रेक्षकों का आकर्षण बढ़ता है।

स्व. श्यामाकान्त पाठक ने "बुन्देल-केसरी" नामका एक ऐतिहासिक नाटक लिखा था। रायगढ़ के स्व. राजा चक्रधरसिंह ने भी शृङ्गार रस पूर्ण "प्रेम के तीर" नामका नाटक लिखा, जो रंगमंच पर खेला भी गया। आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव ने "अछूत" नाटक लिखा, जिसमें अछूतों की समस्या पर प्रकाश डाला गया। (रायपुर के) स्व. रामदयाल तिवारी ने स्व. प्रेमचन्द्र की कहानी "रानी सारंधा" के आधार पर एक नाटक लिखा था, जो अप्रकाशित है।

डा. बलदेवप्रसाद मिश्र ने सर्व प्रथम "शंकर-दिग्विजय" नाटक सन् १९२२ में लिखा था, जो उनके "राजहंस" उपनाम से जबलपुर की "श्री शारदा" में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। इस नाटक में शंकराचार्य के समय की परिस्थिति और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनायें दिखलाई गई हैं। इस नाटक का प्रधान रस शांत है और अन्य रस सहायकों के रूप में आये हैं। पहिले यह नाटक पांच अंकों में था, बाद में तीन अंकों में करके इसका नाम "क्रान्ति" रख दिया गया। इस नाटक में अधिकतर प्राचीन नाटयशास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। "असत्य-संकल्प" मिश्र जी का दूसरा नाटक है, जिसमें भौतिकवाद, अध्यात्मवाद एवं शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं को लेकर प्रह्लाद का कथानक सामने रखा गया है और अन्त में दिखाया गया है कि किस प्रकार सत्य की विजय और असत्य का पराभव होता है। इसमें शान्त और करुण रस का समावेश है।

आपके तीसरे नाटक "वासना-वैभव" में राजा ययाति की कथा का समावेश करते हुए यह दिखलाया गया है कि वासना-रत राजाओं की क्या दुर्दशा होती है। "समाज-सेवक" नाटक में बालचर जीवन और बालचरों के कर्तव्य का वर्णन है। यह बालकों और विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है।

स्व. सिद्धनाथ आगरकर ने मराठी के सुप्रसिद्ध नाटककार गडकरी के "घर-बाहर" का हिन्दी-रूपान्तर किया और कुछ एकांकी भी लिखे। मराठी नाटय-साहित्य में गडकरी का बहुत ऊँचा स्थान है।

दमोह के बाबूलाल भायाशंकर दवे ने लगभग सन् १९१५ में संस्कृत के नाटक "स्वप्नवासवदत्ता" का अनुवाद किया था। स्व. नर्मदाप्रसाद मिश्र के नाटकों का संग्रह "बाल नाटकमाला" नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें समाविष्ट

---

* "नाटक करतब तब भली, रीझें चतुर सुजान"—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

नाटक बालकों के लिए उपयोगी है। "श्रीकृष्ण का दूतत्व" नामक नाटक सन् १६२२ में जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर द्वारा प्रकाशित हुआ था। लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी एवं स्व. गोपाल दामोदर तामस्कर ने भी नाटक लिखे।

ब्योहार राजेन्द्रसिंह का नाटक "वर्षा-मंगल" भी प्रकाशित हो चुका है, जिसमें प्राकृतिक सौन्दर्य के सुन्दर दृश्यों का अंकन है। आपके छः-सात एकांकी नाटकों का एक संग्रह भी "आधुनिक स्वयंवर" नाम से छप चुका है। आपका "सबै भूमि गोपाल की" नामक एकांकी नाटक स्टेज पर भी खेला जा चुका है।

उपन्यास और कहानियां—प्रान्त में यद्यपि उपन्यास और कहानियों का क्षेत्र द्विवेदी-काल में अधिक व्यापक नहीं हो पाया, फिर भी हिन्दी के कई अच्छे गद्य-लेखक सामने आये और उन्होंने अधिकतर हिन्दी के निबन्ध-साहित्य की ही पूर्ति की। इस कार्य में "हितकारिणी", "छात्र-सहोदर", "श्री शारदा", "कान्यकुब्ज नायक' पत्रों और "राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर", जैसी संस्थाओं से विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस युग के प्रमुख गद्य-लेखकों में स्व. कामताप्रसाद गुरु, स्वर्गीय रघुवरप्रसाद द्विवेदी, स्व. माधवराव सप्रे, स्व. प्यारेलाल मिश्र, स्व. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, स्व. बालमुकुन्द त्रिपाठी, स्व. रामदयाल तिवारी, स्व. सिद्धनाथ माधव आगरकर, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा. बलदेवप्रसाद मिश्र, लज्जाशंकर झा और लल्लीप्रसाद पाण्डेय आदि मुख्य हैं। स्व. विनायकराव यद्यपि अधिकतर अपनी रामायणी टीका और कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे अच्छे गद्य-लेखक भी थे। स्व. विष्णुदत्त शुक्ल द्वारा लिखित यद्यपि कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं, परन्तु उनके भाषणों का संग्रह हिन्दी के गद्य-साहित्य के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। उनसे प्रान्त की सभी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता था और वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पटना अधिवेशन के अध्यक्ष भी हुए थे।

कहानियां—हिंदी में कहानियों का आरम्भ "सरस्वती" पत्रिका के प्रकाशन काल से होता है। "सरस्वती" सन् १६०० में प्रकाशित, स्व. किशोरीलाल गोस्वामी की "इन्दुमती" कहानी ही सम्भवतः हिंदी की सर्वप्रथम कहानी है। अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों का प्रभाव बंगला-साहित्य पर पड़ा और वहां के साहित्यकारों ने गल्प लिखना प्रारंभ किया। इसके पश्चात् यह प्रभाव हिन्दी पर पड़ा और इसीलिए हिन्दी की अधिकांश अनूदित कहानियां बंगला के गल्पों का अनुवाद हैं।

मध्यप्रदेश के द्विवेदीयुगीन कलाकारों में बख्शीजी, सुभद्राकुमारी चौहान, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, मंगलप्रसाद विश्वकर्मा आदि की कहानियां अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। बख्शी जी की कहानियों का एक संग्रह "झलमला" नाम से प्रकाशित है। आपकी कहानियों में कथानक की सरलता तथा भावों की व्यापकता विशेष रूप से पाई जाती है। बख्शी जी की दार्शनिक मानसिक प्रवृत्ति भी इन पर अपना प्रभाव डालती है और प्रायः सभी कहानियों में समाज के प्रति एक मंगलमय दृष्टिकोण मिलता है।

स्व. सुभद्रा जी के कहानी-संग्रह "बिखरे-मोती", "उन्मादिनी" आदि प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें जीवन का मनोवैज्ञानिक चित्रण और अनुभूतियों की गहराई मिलती है। सुनागी, तांगेवाला, होली और पापी पेट में समाज का वास्तविक चित्र मिलता है। आपकी कहानियों के पात्र अत्यन्त स्वाभाविक हैं और उनकी मनोदशा का चित्रण भी बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इन कहानियों में नारी-हृदय की सरलता के साथ-साथ आज के जीवन की वांछनीय क्रियाशीलता की ओर भी संकेत मिलता है। आपकी कलात्मक अभिव्यंजना मूर्त-अमूर्त सत्य को प्रस्फुटित करती है और जीवन की विरूपता में भी सत्य का सौंदर्य दिखाई पड़ने लगता है।

स्व. मंगलप्रसाद विश्वकर्मा की कहानियों का संग्रह "अम्बुदल" नाम से प्रकाशित है। इनमें जीवन का विशद् चित्रण है। कविताओं की अपेक्षा आप की कहानियों में अभिव्यक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है।

आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव की कहानियों का संग्रह "मकरन्द" है। इसके अतिरिक्त आपने स्त्रियों की वीरता के प्रकरण को लेकर "शौर्य सुकुमार" नाम का कहानी संग्रह भी प्रकाशित कराया। कुछ कहानियां पद्य में भी लिखी गईं

हैं। लेखक की लेखनी बड़ी सतर्कता के साथ समाज के अन्तराल में प्रवेश कर, उसका विश्लेषण करती है और पात्रों की सजीवता मन को आकर्षित करने में विलम्ब नहीं करती। कथोपकथन में बोलचाल की भाषा का प्रयोग मिलता है।

प्रान्त के द्विवेदीकालीन लेखकों द्वारा उपन्यास अधिक संख्या में नहीं लिखे गये फिर भी उस समय के कुछ उपन्यासों की गणना हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में हो सकती है और कुछ में उपन्यास लेखन-कला का विकास-क्रम मिलता है। लोचनप्रसाद पाण्डेय का "दो मित्र" उपन्यास सम्भवतः इस प्रान्त के साहित्यकारों द्वारा लिखित उपन्यासों में सर्वप्रथम है, जिसमें शराब की बुराइयां दिखलाई गई हैं। स्व. रघुवरप्रसाद द्विवेदी ने "शाहज़ादा और फ़क़ीर" तथा स्व. कामताप्रसाद गुरु ने "पार्वती और यशोदा" उपन्यास लिखे; प्रथम ऐतिहासिक और द्वितीय सामाजिक उपन्यास हैं। इनमें भी उपन्यास लेखन-कला का पूर्ण विकास नहीं मिलता। ब्योहार रघुवीरसिंह लिखित "विक्रम-विलास" नाम का उपन्यास अभी तक अप्रकाशित है। यह राजा विक्रम की कहानियों के आधार पर लिखा गया है।

बाबू गोविन्ददास द्वारा लिखित उपन्यास "इन्दुमती" में देश के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का चित्रण है, जो कहीं-कहीं अनपेक्षित रूप से बारीक हो गया है, जिससे उपन्यास का कलेवर बहुत भारी बन गया है। उसमें पात्रों के मानसिक संघर्षों का चित्रण मिलता है।

आलोचना और निबन्ध—द्विवेदी युग में साहित्य के दो अंगों की विशेष रूप से पुष्टि हुई; आलोचना और निबन्ध। साहित्य-परिष्कार के लिए आलोचना का महत्व कम नहीं माना जा सकता। कला के निर्माण में आलोचना के सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता भले ही न हो,* परन्तु कला के परिष्कार के लिए आलोचना-साहित्य को उपेक्षित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक कला मानवीय क्रियाशीलता की परिचायक है और उसका अस्तित्व—भावों की प्रेषणीयता में निहित रहता है। आलोचना के द्वारा भाव-प्रेषणीयता को मार्ग-दर्शन मिलता है और वह कलाकार के द्वारा की गई, जीवन की व्याख्या को समझने में सहायक होती है।† इसके द्वारा कलाकार की अवगुंठित भावनाओं का भी प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

आलोचना किसी कृति के मूल्यांकन एवं प्रेषणीयता के आधार पर अग्रसर होती है और मस्तिष्क के स्वरूप का अधिकांश प्रेषणीयता से माध्यम ग्रहण करता है। आधुनिक आलोचना-पद्धति में मूल्यांकन के साथ-साथ प्रेषणीयता की प्रक्रिया को भी स्थान दिया जाता है। द्विवेदी-युग की आलोचना प्राचीन तत्वों को लेकर अग्रसर हुई, परन्तु उसमें नई भावनाओं का भी समावेश हुआ। मध्यप्रदेश के प्रमुख आलोचक पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, विनयमोहन शर्मा, स्वर्गीय रामदयाल तिवारी और लोकनाथ सिलाकारी ने आलोचना के नवीनतम सिद्धान्तों को ग्रहण किया।

बख्शी जी की आलोचनायें अधिकतर भावप्रधान होती हैं,परन्तु वे रचनाओं के मर्म को स्पर्श करती हैं और उसमें द्विवेदी जी की आलोचना-शैली का प्रतिनिधित्व मिलता है। "विश्व-साहित्य" और "साहित्य-विमर्श" आपके दो मुख्य आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं, जो द्विवेदी जी के समय में ही प्रकाशित हो चुके थे।

विनयमोहन शर्मा आधुनिक कवियों को वाणी को समझने में अत्यधिक सफल हुए हैं। उन्होंने छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी धाराओं पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है और आजकल महाराष्ट्र के सन्तों की हिन्दी कविताओं की विवेचना में संलग्न हैं। आपकी आलोचना केवल बाहरी रूप-राशि में न उलझ कर कृतियों के अन्तस्तल को टटोल कर कलाकारों के साथ भावात्मक तादात्म्य स्थापित करती है, जिसके कारण आप गहन से गहन विषय को भी बड़ी क्लिष्ट एवं प्रांजल भाषा में उपस्थित करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। आलोच्य कृति की पार्श्वभूमि को सामने रख कर आलोचना की ओर अग्रसर होना भी आपकी विशेषता है। 'साहित्य-कला', 'दृष्टिकोण', "कवि 'प्रसाद' 'आंसू' तथा अन्य कृतियाँ" और 'साहित्यावलोकन' समीक्षा-पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं।

---

* आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त—डा. एस.पी. खत्री।

† साहित्यालोचन डा. श्यामसुन्दरदास।

स्व. रामदयाल तिवारी ने प्राचीन एवं नवीन साहित्य के साथ-साथ भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया था और गांधी युग की प्रवृत्तियों को भी अच्छी तरह से समझते थे। "गांधी-मीमांसा" को आपने अपने इन गुणों के कारण ही सफल बनाया उसमें विषय का प्रतिपादन भी बड़ी सफलता के साथ हो सका है। उस समय की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका "माधुरी" आपको "समर्थ समालोचक" कहती थी।

डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र का "तुलसी-दर्शन" और नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित ब्योहार राजेन्द्र-सिंह का "तुलसीदास की समन्वय-साधना" भी दो महत्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। ये दोनों ग्रंथ पाश्चात्य एवं पौर्वात्य समालोचना शैली पर लिखे गये हैं। प्रथम में गोस्वामी तुलसीदास की धार्मिक एवं दार्शनिक भावनाओं का विश्लेषण मिलता है तो दूसरे में तुलसीदास की विचार-धाराओं की समीक्षा, विभिन्न क्षेत्रों को लेकर की गई है। ब्योहार जी का दूसरा आलोचनात्मक ग्रन्थ "तुलसीदास और कालिदास—तुलनात्मक समीक्षा" अप्रकाशित है। लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी ने भी रीतिकालीन कवियों पर कई आलोचनात्मक लेख लिखे। मध्यप्रदेश का साहित्यिक इतिहास आपका प्रसिद्ध अप्रकाशित ग्रन्थ है।

निबन्ध—साहित्य के कई रूप पाये जाते हैं। यह पाश्चात्य साहित्य की देन है। द्विवेदी युग में भाव-प्रधान, तर्क प्रधान और विचार-प्रधान सभी प्रकार के निबन्ध लिखे गये। मध्यप्रदेश भी इस क्षेत्र में कभी पीछे नहीं रहा और उस युग के कई लेखक आज भी अपने निबन्धों से हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ा रहे हैं। इनमें पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा. बलदेव प्रसाद मिश्र और ब्योहार राजेन्द्र सिंह मुख्य हैं। सेठ गोविन्ददास ने भी नाटय साहित्य पर निबन्ध लिखे। स्व. रघुवरप्रसाद द्विवेदी, स्व. कामताप्रसाद गुरु, स्व. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, स्व. बालमुकुन्द गुप्त, स्व. गोपाल दामोदर तामस्कर, स्व. मधुमंगल मिश्र और स्व. मातादीन शुक्ल आदि ने भी कई महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे और आप लोगोंने निबन्ध-लेखन-परम्परा को प्रोत्साहन दिया। "हितकारिणी", "छात्र सहोदर", "श्रीशारदा" और "प्रभा", जैसी पत्रिकाओं ने भी इस कार्य में विशेष रूप से सहयोग दिया।

मुकुटधर पाण्डेय ने सन् १९२०-२१ के लगभग "श्री शारदा" में छायावाद के सम्बन्ध में कई निबन्ध लिखे। लल्लीप्रसाद पाण्डेय द्विवेदी जी के समय के प्रमुख लेखक हैं और उनकी भाषा तथा अभिव्यंजना पर द्विवेदी जी की स्पष्ट छाप है। इनके अतिरिक्त कुलदीप सहाय, मावलीप्रसाद श्रीवास्तव, बैरिस्टर ठाकुर छेदीलाल, गणेशराम मिश्र, द्वारकाप्रसाद मिश्र, सूरजप्रसाद अवस्थी, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, रामचन्द्र संघी, प्रो. लालजी राम शुक्ल, प्रो. गोविन्द-राव हार्डीकर, बाबूलाल मायाशंकर दवे, सुकुमार चटर्जी, शुकदेव प्रसाद चौबे, गजानन गोविन्द आठले, रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे, विश्वंभरप्रसाद गौतम आदि ने भी निबन्ध तथा लेख लिखकर उस समय के साहित्य-सृजन में सहयोग दिया और कुछ आज भी दे रहे हैं। श्री सुकुमार चटर्जी कृषि आदि विषयों पर अमेरिका से लेख भेजा करते थे, जो श्री शारदा में छपे हैं। जनार्दन रामचन्द्र परांजपे ने कानूनी विषयों पर कई लेख लिखे।

रायबहादुर स्व. हीरालाल ने लेख और ऐतिहासिक ग्रंथ बहुत अधिक संख्या में लिखे। आपके द्वारा लिखित "दमोह-दर्शन", "सागर-सरोज", "मण्डला मयूख" और "जबलपुर-ज्योति" आदि अपना बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। * अंग्रेजी में भी आपने कई पुस्तकें लिखीं और इतिहास में आप अखिल भारतीय ख्याति के विद्वान् माने जाते थे। आपकी प्रेरणा से स्व. रघुवीरप्रसाद ने "भारखण्ड झंकार" नामकी पुस्तक लिखी, जिसमें भारखण्ड के कोरिया, जशपुर, सरगुजा, चांदभकार और उदयपुर रियासतों का प्रामाणिक इतिहास मिलता है।

नागपुर के प्रयागदत्त शुक्ल इतिहास सम्बन्धी अन्वेषणों के लिये प्रसिद्ध हैं और वृद्ध हो जाने पर भी आपकी यह प्रवृत्ति तथा लेखन-कार्य बराबर जारी है। आपके लेख द्विवेदी जी के समय में "सरस्वती" आदि पत्रिकाओं में छपते थे। प्रान्त के इतिहास और राजनैतिक जीवन की अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री आज भी आपके पास सुरक्षित रूप में मिलती है। आपकी सर्वप्रथम पुस्तक "दादा भाई नौरोजी", सन् १९१७ में प्रकाशित हुई। सन् १९२५ में आपने "मध्य-

प्रान्त-मरीचिका" तथा सन् १९३० में मध्यप्रदेश का इतिहास लिखा। इसके बाद आपके लिखित विन्ध्याटवी के अंचल में, सतपुड़ा की सभ्यता, गोरक्षिणी, नागपुर-नेत्र, होशंगाबाद-हुंकार तथा बालाघाट-वैभव आदि ग्रन्थ प्रकाश में आये और आपने मराठी तथा हिन्दी में प्रान्तीय कांग्रेस का इतिहास लिखा। शुक्ल जी का जन्म सन् १८९८ में हुआ। आपके पितामह स्व. शिवचरणलाल जी शुक्ल सन् १८९० में प्रकाशित होने वाले "गोरक्षा" पत्र के सम्पादक थे।

प्रान्त के राव बहादुर पंड्या बैजनाथ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रह चुके हैं। आपने थियोसफी सम्बन्धी लेख तथा पुस्तकें लिखी हैं।

बैरिस्टर प्यारेलाल मिश्र और रामचन्द्र संघी ने हिन्दी में क़ानून की पुस्तकों का निर्माण किया। मध्यप्रदेश के वर्तमान मुख्य-मन्त्री रविशंकर शुक्ल ने "आयर्लैण्ड का इतिहास" लिखा, जो रायपुर डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के मासिक पत्र "उत्थान" में बराबर प्रकाशित होता रहा। इसमें आयर्लैण्ड के स्वाधीनता-आन्दोलन का रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। "उत्थान" पत्र के सम्पादक सुन्दरलाल त्रिपाठी भी गद्य-लेखक हैं और आपकी एक पुस्तक "दैनंदिनी" नाम से प्रकाशित हो चुकी है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश गणेशप्रसाद भट्ट भी द्विवेदी-युग में लिखते थे और आपके कई लेख "श्री शारदा" में प्रकाशित हुए। स्व. दयाशंकर झा भी उस समय के अच्छे लेखक थे। ब्योहार रघुवीरसिंह जी के भी कुछ लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। श्री गोविन्द राव हार्डीकर लिखित स्व. माधवराव सप्रे का विस्तृत जीवन-चरित्र मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

बिलासपुर के बैरिस्टर छेदीलाल कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं और लेख भी लिखते रहे हैं। धमतरी के श्री चन्द्रकान्त पाठक ने भी हिन्दी तथा संस्कृत में ग्रन्थ रचना की है। राजनांदगांव के स्व. भगवानदत्त सिरोठिया अच्छे लेखक और वक्ता थे। खैरागढ़ के लाल प्रद्युम्नसिंह ने "नागवंश" नाम की पुस्तक दो भागों में लिखी। रायगढ़ के बाबू श्यामलाल पोद्दार ने "बालकाण्ड का नया जन्म" लिखा। रायपुर के वनमालीप्रसाद शुक्ल ने भी कई पुस्तकें लिखी और वहीं के उमरियार वेग भी गद्य के अच्छे लेखक थे। दुर्ग के घनश्यामसिंह गुप्त भी सामाजिक विषयों पर लेख लिखते रहे हैं। नागपुर के स्व. रघुनाथ माधव भगाड़े ने मराठी की सुप्रसिद्ध पुस्तक "ज्ञानेश्वरी" का हिन्दी-अनुवाद किया।

प्रान्त के निबन्ध-लेखकों में स्व. माधवराव सप्रे का विशिष्ट स्थान है। आपका जन्म दमोह जिला के पथरिया गांव में तारीख १९ जून सन् १८७१ ई. को हुआ, बाद में आप रायपुर में रहने लगे। आप राष्ट्र-भाषा हिन्दी के परम उपासक थे। आपने पेंड्रा (बिलासपुर) से "छत्तीसगढ़-मित्र" नामका एक मासिक-पत्र निकाला, जिसके प्रकाशक स्व. वामनराव लाखे और आपके साथी-सम्पादक रामराव चिंचोलकर थे। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य शुद्ध, सरल हिन्दी भाषा का प्रचार और छत्तीसगढ़ में शिक्षा की उन्नति करना था। जब नागरी प्रचारिणी सभा ने विज्ञान-कोश के निर्माण का कार्य प्रारंभ किया, तब सप्रे जी को अर्थशास्त्र-विभाग का कार्य सौंपा गया। "छत्तीसगढ़ मित्र" के पश्चात् आपने तारीख १३ अप्रैल सन् १९०७ ई. से "हिन्दी केसरी" का प्रकाशन आरम्भ किया। इस कार्य में आपको कई साहित्यिकों से सहयोग मिला। इसी समय आपने मराठी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "दासबोध" और "लोकमान्य तिलक" के "गीता-रहस्य" का अनुवाद किया। इन दोनों अनुवादों में मूल-लेखकों के भावों की बड़ी योग्यता के साथ रक्षा की गयी है। जनवरी सन् १९२० ई. से जबलपुर से "कर्मवीर" पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें भी सप्रे जी का ज़बरदस्त हाथ था। तारीख ९, १० और ११ नवम्बर को देहरादून में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो १५ वां अधिवेशन हुआ था, उसके सप्रे जी अध्यक्ष हुए थे। इस बीच हिन्दी-जगत् में आपने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। आप सुन्दर, सरल और विचारपूर्ण भाषा में निबन्ध लिखा करते थे। आपके निबन्ध "सरस्वती", "अभ्युदय", "मर्यादा", आदि विभिन्न पत्रों में प्रकाशित हो चुके थे और उनमें विभिन्न विषयों पर आपके व्यवहारिक-ज्ञान का समावेश पाया जाता था। वास्तव में सप्रे जी हिन्दी के निबन्ध-लेखकों में अपना ऊँचा स्थान रखते हैं और उनकी कई रचनायें आज भी उतना ही महत्व रखती हैं, जितना अपने प्रकाशन-काल में रखती थीं। तारीख २३ अप्रैल सन् १९२२ ई. को आपका स्वर्गवास

हो गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "हिन्दी के बड़े अच्छे लेखक ही नहीं, उसके अच्छे उन्नायक थे।" सचमुच सप्रे जी ने हिन्दी के लिए मध्यप्रदेश में जो कुछ किया, वह सदैव आदर के साथ स्मरण किया जायगा।

प्रान्त में शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर लिखने वालों की भी कमी नहीं है। लज्जा शंकर झा और शालिग्राम द्विवेदी की कृतियां इस सम्बन्ध में अपना विशेष स्थान रखती हैं। आप दोनों प्रान्त के शिक्षा शास्त्री हैं और लज्जाशंकर झा की योग्यता से प्रसन्न होकर महामना मदनमोहन मालवीय ने आपको हिन्दू विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कालेज का प्रिंसिपल बनाया था। भूगोल सम्बन्धी विषयों पर लिखने वालों में स्वर्गीय उत्तमसिंह तोमर का नाम उल्लेखनीय है। आप सिद्धहस्त चित्रकार भी थे।

नागपुर के हृषीकेश शर्मा ने रामचरित में वाल्मीकि रामायण का सार सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। आपने बाल-साहित्य पर भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। आजकल आप राष्ट्र भाषा प्रचार समिति द्वारा संचालित "राष्ट्र-भारती" मासिक के सम्पादक हैं। जैन मुनि वर्णी जी और महात्मा भगवानदीन भी प्रान्त के अच्छे गद्य-लेखक हैं।

इसी प्रान्त के पाण्डुरंग खानखोजे भी कृषि-शास्त्र के अच्छे विद्वान् हैं। इस समय आप देश के बाहर हैं और कृषि-शास्त्र पर आपने बहुत सा उपयोगी साहित्य अपने अनुभव के आधार पर लिखा है। श्री गोविन्द शर्मा छांगाणी ने सन् १९१२ में "गृह-बन्धु" नामक एक मासिक-पत्र निकाला था। आप आयुर्वेद के माने हुए विद्वान् हैं और इस सम्बन्ध में आप कई ग्रन्थ लिख चुके हैं। इसके अतिरिक्त इस युग में बदरी प्रसाद बाजपेयी, शिवसहाय चतुर्वेदी, रामाधार शुक्ल, दयालगिरि गोस्वामी आदि के नाम भी इस समय के निबन्ध-लेखकों में उल्लेखनीय हैं।

(४)

आधुनिक साहित्य (स) नया युग

आज हिन्दी–साहित्य में सभी ओर प्रगति और नवजीवन के चिह्न दिखलाई पड़ रहे हैं। काव्य में छायावाद का और रहस्यवाद का युग बीत चुका है। प्रकृतिवाद भी अपने अन्तिम पदचिह्न छोड़ रहा है और हिन्दी में प्रतीकात्मक तथा प्रयोगात्मक काव्य की ओर कवियों का झुकाव अभी भी किसी न किसी रूप में पाया जाता है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी नई-धारा प्रवाहित होने लगी है और नाटकों की शैली में न तो आज प्राचीन भारतीय शैली दिखलाई पड़ती है, न शेक्सपियर और मोलियर के नाटकों की शैली ही है। निबन्धों में भी नया मोड़ आ गया है और आलोचना–साहित्य दिन पर दिन प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। आज का कलाकार समाज और मानव-जीवन का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है, वह केवल कल्पनाओं के पीछे ही नहीं दौड़ता। जर्मनी के सुप्रसिद्ध नाटककार गेटे, जिसने "फाऊस्ट" नामका अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त नाटक लिखा था, ने "वेर्टेर" (उपन्यास) लिखने के बाद कहा था कि— "जिस प्रकार दारुण शीत में जल हिम की कठोरता धारण कर लेता है। इसी प्रकार "वेर्टेर" की रचना करते समय जो निर्मम परिस्थितियां आईं, वे जरा सी दाह पाते ही उपन्यास में उमड़ आईं।" आज का प्रत्येक कलाकार गेटे की भांति अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उसकी रचनायें युग के शोषित और पीड़ित मानव को प्रेरणा प्रदान करती हैं। यही कारण है कि हमारा साहित्य दिन पर दिन अधिक यथार्थवादी होता जा रहा है और हमें उसमें जीवन का शाश्वत सत्य और मानव-हृदय का स्पन्दन मिलता है।

आज का कलाकार सापेक्षवादी द्वैत चिन्तक है और उसकी अनुभूति की अखण्ड एकरूपता अविकारी आत्मा से असीम सम्बन्ध जोड़कर निर्पेक्ष में सापेक्ष तत्त्वों को आरोपित करता है और प्रकृति मानवी-भावों की प्रतिछाया बनकर सम्मुख उपस्थित होती है। बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार स्व. शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने कहा था कि–"समाज नामक व्यक्ति को मैं मानता हूं, परन्तु देवता के रूप में नहीं। इसमें स्त्रियों और पुरुषों के परम्परागत पुंजीभूत मिथ्या

कुसंस्कार तथा उपद्रव सम्मिलित हैं। ....सुविधा तथा प्रयोजन के लिये लोग असत्य को सत्य के रूप में प्रचलित करते हैं, परन्तु इसी रूप में जातीय—साहित्य को कलुषित करना बहुत बड़ा पाप है। सामाजिक अवस्था चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो, साहित्य को संकुचित दायरे से मुक्त करना ही पड़ेगा।"

वास्तव में हमारा नया—साहित्य इस दायरे से मुक्त होने की प्रक्रिया में संलग्न है। वह असत्य को असत्य ही प्रमाणित करने में गौरव अनुभव करता है, जिसे कुछ लोग यथार्थवाद कहते हैं और कुछ कलाकार इस यथार्थवाद के नाम पर कला की कमनीयता उघारकर उसे नंगा ही नचाना चाहते हैं। यह सन्तोष की बात है कि हमारा प्रान्त यथार्थ का वीभत्स रूप नहीं अपना रहा है। आज भी उसका साहित्य सत्य से सौंदर्य और सौंदर्य से शिवत्व की भावना उत्पन्न करने में संलग्न है।

प्रयाग-निवासी डा. रामकुमार वर्मा का जन्म मध्यप्रदेश के सागर स्थान में सन् १९०५ में हुआ। आपने सन् १९२१ से लिखना आरम्भ किया। "निशीथ" आपका छायावादी शैली पर लिखा गया पहिला प्रबन्ध-काव्य था। "वीर हमीर", "चित्तौर की चिता" और "नूरजहाँ" में आपकी प्रतिभा उत्तरोत्तर विकसित होती दिखलाई पड़ी। पन्त की भांति वर्माजी भी पहिले प्रकृति के कवि हैं और बुन्देलखण्ड का प्रकृति-वैभव आपको उसी प्रकार काव्य प्रेरणा देने में सफल हुआ है, जिस प्रकार अल्मोड़ा का प्रकृति-सौंदर्य पन्त को। वर्माजी की प्रकृति चेतना उनके मानस पर कल्पना की जो सुन्दर रेखा खींचती है, वह उनके मन की स्निग्ध—भावनाओं की अनुभूति लेकर सावन-भादों के बादलों की भांति उमड़ उठती है—

यह तुम्हारा हास आया,
इन फटे से बादलों में, कौन सा मधुमास आया?

डा. वर्मा धीरे-धीरे प्रबन्ध-काव्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं और छन्दों की विविधता भी बढ़ती जा रही है। "चतुर्दशपदी" में लिखित "एकलव्य" आपका इसी प्रकार का प्रयोग है। गीत और मुक्तक-काव्य की रचना में तो आप सफलता-प्राप्त ही कर चुके हैं। आपके काव्य में करुण और शृंगार-रस का समन्वय मधुर रूप में होता है। वर्माजी कवि के साथ—साथ कुशल नाटककार और आलोचक भी हैं। आपके कई नाटक—संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें "पृथ्वीराज की आंखें", "रेशमी-टाई", "चारुमित्रा" और "विभूति" मुख्य हैं। आप एकांकी नाटक लिखने में सिद्ध-हस्त हैं और इस क्षेत्र में आपने अंग्रेजी-एकांकी शैली को बड़ी सावधानी और सफलता के साथ अपनाया है। आपके ऐतिहासिक नाटक रोचक होते हैं। आपने "हिन्दी—साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" और "कबीर का रहस्यवाद" दो अनुपम आलोचना-ग्रन्थ लिखे हैं।

हिन्दी के कवि, उपन्यासकार, और आलोचक रामेश्वर शुक्ल "अंचल" का जन्म उत्तर प्रदेश में सन १९१५ में हुआ। मधूलिका", "अपराजिता" "किरणबेला," "करील" और "लालचूनर" आपके काव्य-संग्रह बहुत पूर्व प्रकाशित हो चुके हैं। "मधूलिका" आपकी सर्वप्रथम रचना है। "वर्षान्त के बादल"—काव्य-संग्रह हाल ही में प्रकाशित हुआ है जिसमें लेखक की ५४ कवितायें संग्रहीत हैं। अंचल भावना-प्रधान कवि हैं। आपके काव्य में कभी-कभी रोमान्स की मात्रा मर्यादा से अधिक मालूम पड़ती है। "वर्षान्त के बादल" में कवि ने एक नई मोड़ ली है। कुछ रचनाओं में आप प्रगतिवादी दृष्टिकोण को लेकर चले हैं, परन्तु यह प्रगतिवादी दृष्टि-कोण भारतीय नहीं, फ्रायड और जुंग से प्रभावित है। आपकी अभिव्यंजना-शैली सरस होती है जिसके कारण काव्य में भावों की उन्मादिनी—धारा अपने सीधे रास्ते पर चलती हुई पाठकों के हृदय में एक सुकुमार अनुभूति पैदा करती है :—

जब नींद नहीं आती होगी,
क्या तुम भी सुधि से थके प्राण ले मुझ सी अकुलाती होगी।
दिनभर के कारभार से थक जाता होगा जूही सा तन,
श्रम से कुम्हला जाता होगा मृदु कोकाबेली सा आनन,

लेकर तनमन की श्रान्त पड़ी होगी शैय्या पर चंचल,
किस मर्म वेदना से क्रन्दन करता होगा प्रतिरोम विकल ।।

उपन्यास के क्षेत्र में अंचल यथार्थवादी हैं, यद्यपि वे आदर्श से मुक्त नहीं होना चाहते, परन्तु उनका आदर्श भावनाओं के तिमिर जाल में फंसकर तिरोहित सा हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि लेखक का ध्येय एकमात्र वस्तु-स्थिति सामने रखना है । "मरुभूमि" और "उल्का" आपके उपन्यास हैं और इनमें आधुनिक शिक्षित-समाज का रोमान्स चित्रित किया गया है । यशपाल के नारी पात्रों की भांति, अंचल के पुरुष और नारी दोनों पात्र अधिकतर परिस्थितियों के प्रवाह में बहने लगते हैं और अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक टामस हार्डी के ये शब्द याद आते हैं कि — "हमारे दुष्कर्म विपरीत परिस्थिति को प्राप्त करने के लिये अतीत की पृष्ठभूमि में नहीं छिपे रहते वरन् फल देनेवाले पौधों की भांति पुष्ट होकर पुनः पनपते हैं, क्योंकि उन्हें जड़ से नष्ट करने के लिए उनके विनाशक तत्त्व नष्ट नहीं हो पाते "अंचल" जी का एक निबन्ध-संग्रह—"साहित्य और समाज" के नाम से प्रकाशित हुआ है । "तारे" नामक कहानी संग्रह बहुत पहले प्रकाश में आ चुका है ।

भवानी प्रसाद तिवारी का जन्म सन् १६१२ में सागर में हुआ । आपकी सर्वप्रथम रचना सन् १६२६–३० में "प्रेमा" द्वारा प्रकाश में आई । आपके द्वारा लिखित महाकवि रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि का पद्यबद्ध अनुवाद प्रकाशित है और आपकी मौलिक रचनाओं का संग्रह "प्राणपूजा" है । तिवारी जी की शैली वर्णनात्मक न होकर भावात्मक अधिक है और अपने आराध्य की स्मृति या अपनी अंतरभावनाओं को ही भाव-भुवन में प्रवेश करते हैं । भावों में स्पष्टता और सरसता रहती हैं । प्रकृति के साथ तन्मय हो जाने में आप सुख अनुभव करते हैं, जो प्रेम–रश्मियों में उलझकर काव्य क्षेत्र में अनुराग बिखरे देते हैं :—

नयन का पानी न रीता,
ज्वालसा जलता हुआ, सखि एक आतप और बीता ।
घन लगे घिरने सखी, पर यक्ष के वे मीत हैं री,
मधुर-स्वर मेरे कहां, वे तो शिखी के गीत हैं री ।
बिन्दु–माला में प्रतिध्वनि आजतक सखि 'कहां सीता ?"

भवानीप्रसाद मिश्र प्रगतिशील और प्रयोगवादी कवि माने जाते हैं । आपकी कई रचनाओं में प्रकृति का सुन्दर चित्र मिलता है और कुछ में समाज के प्रति तीखा व्यंग भी । सतपुड़ा के जंगल', "बरसात आगई है", और "मैं गीत बेचता हूं"—आपकी इसी प्रकार की रचनायें हैं । आपका जन्म २३ मार्च १६१३ को होशंगाबाद में हुआ । विद्यार्थी–जीवन से ही आपकी रुचि काव्य की ओर होगई थी । आजकल आप चलचित्रों के लिए गीत भी लिखते हैं ।

केशव प्रसाद पाठक का जन्म सन् १६१६ में जबलपुर में हुआ । आपके काव्य में भावुकतायुक्त मस्ती और कल्पनाओं में सरसता पाई जाती है जिनमें कहीं-कहीं लेखक की अनुभूतियों की कसक बरबस पाठक के हृदय में कसक पैदा करती हैं । आपका भावना-जगत हृदय की सूक्ष्म-अनुभूतियों पर निर्भर है जिससे प्रकृति के छोटे-छोटे चित्र अपना सौंदर्य ग्रहण करते हैं । "त्रिधारा" में आपकी कुछ कवितायें संग्रहीत हैं । ईरान के सुप्रसिद्ध कवि उमरखैय्याम की रुबाईयों का पद्यबद्ध अनुवाद भी आपने किया है और पाठकजी पर उमरखैय्याम का प्रभाव भी जान पड़ता है । इसीलिये आपके काव्य में प्रेम और दार्शनिकता की धारायें बड़े संयम के साथ एक दूसरे को भेंटती हुई चलती हैं :—

सखि मैं उसे प्यार करती हूँ,
उसके सपनों की सुषमा से मैं अपना सिंगार करती हूं ।

नर्मदाप्रसाद खरे जबलपुर में १६ नवम्बर सन् १६१३ को पैदा हुये । आपकी सर्वप्रथम कविता सन् १६३० में सरस्वती में प्रकाशित हुई । "स्वर-पाथेय" और 'नीराजन' आपके प्रकाशित काव्यग्रंथ हैं । आपका काव्य प्रेम

और सौंदर्य की अनुभूतियों को ग्रहण करता हुआ अग्रसर होता है और प्रकृति के शान्त क्रोड़ में उसे सुख की अनुभूति प्राप्त होती है :—

बन्धनों से मुक्त कर दो,
चिर मुखर वीणा बने ये अमर-कम्पन उलट स्वर दो।

खरे जी कहानियां भी लिखते हैं और आपका कहानी–संग्रह "नीराजना" नाम से प्रकाशित है। आपकी कहानियों में सामाजिक परिस्थिति का चित्रण ही अधिक रहता है और आपके पात्र नित्य प्रति दिखलाई देने वाले मानव ही होते हैं जो अपनी विशिष्टता न रखते हुए भी, जीवन का यथार्थ चित्र सामने ला देते हैं।

रामेश्वरप्रसाद गुरु "कुमार हृदय" का जन्म ४ अप्रैल १९१४ को जबलपुर में हुआ। आपकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। गुरुजी का काव्य आधुनिक समाज का चित्र उपस्थित करता है और वह केवल भावना–जगत् से नहीं, प्रत्यक्ष से भी सम्बन्ध रखता है। समाज के नवनिर्माण का चित्र भी व्यापक रूप से आपके काव्य में पाया जाता है, जिसकी मीमांसा आप अपने काव्य की कल्पनात्मक रेखाओं से करते हैं :—

एक नया इन्सान बनेगा, जो न देव या दानव होगा,
सच्ची मानवता का हामी, प्यार भरा वह मानव होगा।

गुरुजी ने काव्य के अतिरिक्त नाटक, निबन्ध एवं संस्मरण भी लिखे हैं। बाल-साहित्य में आपकी अच्छी गति है। आपके 'निर्दोष' "सरदार खां", "पांच एकांकी", "भग्नावशेष" और "नक्शे का रंग" आदि पांच प्रकाशित नाटक हैं। "नक्शे का रंग" द्वितीय महायुद्ध के समय प्रकाशित हुआ था। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और घटनाओं के घात-प्रतिघात की दृष्टि से इन नाटकों के लिखने में लेखक को सफलता मिली है। नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य (टेकनीक) शैली का समन्वय होता है।

रामेश्वर गुरु के छोटे भाई राजेश्वर गुरु आधुनिक कवियों में एवं साहित्यकारों में अपना निजी स्थान रखते हैं। आपका जन्म १८ जुलाई सन् १९१८ को जबलपुर में ही हुआ। 'शेफाली' और 'दुर्गावती' आपके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। प्रकृति के सौंदर्य में निमग्न होकर आप अपने मनोभावों को बड़े स्वाभाविक ढंग से प्रकट करते हैं। कहीं-कहीं पर आपके काव्य में प्रेम की विह्वलता व्यंजना की सृष्टि करती है।

सजनि वातायन खुली री,
सुभगमंगल घड़ी में जीवन सपन साकार आया,
आज मेरी बेसुधी में चेतना बन प्यार आया,
प्राण के यमुना-पुलिन पर वेणु में उल्लास जागा,
हृदय का संदेश बनकर श्वास में सुखज्वार आया।

आपने कुछ नाटक भी लिखे हैं। 'झांसी की रानी' ऐतिहासिक नाटक है और उसमें ऐतिहासिक तत्त्वों की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। साधारणतया आपके नाटक केवल भाव-जगत् के नहीं, यथार्थ-जगत् से सम्बन्ध रखते हैं और उनमें लेखक अपने युग की समस्याओं के प्रति भी सतर्क रहता है। आपने कई वर्षों पहिले 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' लिखी थी जिसका बाद में चित्र भी बना। इस समय आप भोपाल में हैं।

रामानुजलाल श्रीवास्तव का जन्म सन् १८९७ में (सिहोरा) जबलपुर में हुआ। सन् १९१५ से आपकी रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। यही कारण है कि आपकी रचनाओं में द्विवेदी युग की भी छाप है परन्तु वर्तमान काव्यधारा में भी आप पीछे नहीं रहे। माधुर्य और भावुकता की गहराई आपके काव्य की विशेषता है। हाल ही में आपकी कविताओं का एक संग्रह 'उनींदी रातें' प्रकाशित हुआ है। सन् १९४२ के आन्दोलन में श्रीमती सुभद्रा-

कुमारी चौहान की गिरफ्तारी पर आपने जो कविता लिखी थी, वह आपकी श्रेष्ठ रचना है। कहीं-कहीं आपके काव्य में दार्शनिक पुट भी पाया जाता है और उस दार्शनिकता में कभी-कभी सूफी कवियों का प्रभाव भी झलकने लगता है—

यह सच तुम में रूप बहुत है;
यह सच मुझ में प्रेम बहुत है;
यह सच मैं पागल हूं,
औ' तुम में दुनिया का नेम बहुत है।
प्रेम-नेम की दुनिया में,
तुम जीत गईं; यह सच मैं हारा।

श्रीवास्तव जी ने कहानियां और हास्यरस की कवितायें भी लिखी है। हास्यरस की कवितायें आप 'ऊंट' नाम से लिखते हैं।

सागर-निवासी ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी का जन्म सन् १९०७ में करेली (होशंगाबाद) में हुआ। आपने सन् १९२२-२३ से लिखना प्रारंभ किया और विद्यार्थी जीवन में ही 'तरंग' नामका पत्र निकालने लगे थे जो उनकी साहित्य एवं पत्रकारिता के प्रति अभिरुचि का द्योतक था। सन् १९२८ में आपने 'प्रणयकथा' नाम की एक छोटी सी पद्य-पुस्तक लिखी। सन् १९३२ में 'प्रवासी' और 'अन्तर्ध्वनि' नामके आपके काव्य-संग्रह प्रकाश में आये। 'पूजा के फूल', 'पांचजन्य' और 'कलरव' आपके अन्य काव्य-संग्रह हैं जिनमें गीत भी पाये जाते हैं। आपके काव्य में राष्ट्र-वादिता और कहीं-कहीं रहस्यवादी भावना भी समाविष्ट हो गयी है, परन्तु उसमें छायावादी युग की दुरुहता नहीं आने पायी। 'असीम की सीमा' शीर्षक कविता में आप लिखते हैं—

मैं खोज खोज तुमको बोलो, क्यों खुद यह अपनापन खोऊं?
जब तुम मुझ से अभिन्न प्रियतम, तब विरह कहां जो मैं रोऊं?
ये मेरा सारा अपनापन क्या है, प्रियतम तुम ही तो हो,
यह लौक जहां भी जाती है, तुम आप वहीं लिख जाते हो?

आप नाटकों की भी रचना कर चुके हैं। सन् १९२५ में 'कृष्ण चरित्र' तथा १९२६ में 'अंतिम ओज' नाटक प्रकाशित हुये। हाल ही में आपके 'अजेय भारत' और 'अछूत' (एकांकी) नाटक प्रकाशित हुये हैं। आप कहानियां भी लिखते हैं।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री (जबलपुर) का जन्म २० जुलाई सन् १९१४ में उत्तर प्रदेश में हुआ। आपकी कविताओं के दो संग्रह 'उच्छ्वास' और 'अरुणिमा' प्रकाशित हैं। इन्हें लेखक ने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में लिखा है, इसलिये उनमें विभिन्न विचारधाराओं के दर्शन होते हैं। कुछ कविताओं में प्रगतिवाद भी मिलता है परन्तु उसमें राजनीति का रंग गहरा नहीं हो पाता। शोषित और पीड़ित मानव का चित्रण आज के कवि के लिये आवश्यक हो गया है और वह कवियों की साधना अथवा अनुभूति का विषय न बनकर उनके मस्तिष्क का विषय है। श्री अग्निहोत्रीजी की कवितायें मस्तिष्क से उद्भूत होकर भी हृदय के अंतस्तल में झांकती हुई आगे आती हैं। 'नभ-पथिक' में आप लिखते हैं–

फिर जाना उस ओर, जहां हो–
ऊंचनीच में कुछ न विशेष,
व्योम-गर्भ में लीन धरा हो,
नामरूप कुछ रहे न शेष।

श्री अग्निहोत्री जी आलोचक, कहानीकार और अच्छे निबन्धलेखक भी हैं।

श्री चन्द्रप्रकाश वर्मा (होशंगाबाद) कोमल-कल्पना और भाव जगत् के कवि हैं। जीवन के अन्तराल में व्याप्त नीरव उदासीनता और मानसिक विफलता के मार्मिक चित्र आप अपनी रचनाओं में उपस्थित करते हैं, परन्तु उनसे पाठक के हृदय में शान्ति की भावना ही उत्पन्न होती है। आपकी मधुर स्मृतियां काव्य में कसक उत्पन्न कर देती हैं और उनके आसपास मंडराकर भाव-जगत् नवीन परिधान पहिना देता है। दुःख में जीवन की अनुभूतियां सामने साकार होकर उपस्थित होती हैं और प्रेम-जगत् में आपको सौंदर्य के दर्शन होते हैं और कर्तव्य-जगत् में मानवता के विकास का उज्ज्वल पथ। 'रैनबसेरा', और 'क्षितिज' आपके काव्य-संग्रह हैं। 'सीता' नाम के अप्रकाशित-खण्ड काव्य में राम के चित्त का मन्थन दिखलाते हुए कवि कहता है—

नहीं दण्ड है दण्ड, दया से दूर वह,
न्याय-नियम से दूर रहे भरपूर वह,
जो कुछ भी हो दण्ड, राम भागी बना,
क्योंकि राम अनुरागी से त्यागी बना,
सीता का जो दण्ड, राम का दण्ड है,
लपट एक है, झुलस रहा उर पिण्ड है।"

आप निबन्ध भी लिखते हैं और उनका संग्रह 'साहित्यालोक' नाम से प्रकाशित है।

मुरलीधर दीक्षित 'भ्रान्त' (कटनी) का जन्म कटंगी (नरसिंहपुर में) १५ नवम्बर सन् १६०५ में हुआ। १० वर्ष की आयु से ही आप काव्य रचना करने लगे थे। 'दुर्गावती' और 'झांसी की रणचण्डी' आपके काव्यग्रन्थ हैं, जिनमें वीररस का परिपाक मिलता है। प्रबन्ध की दृष्टि से भी ये दोनों रचनायें अच्छी हैं। भाषा में ओज है—

अश्वारोहिणी धीरा-वीरा रानी,
पहिने लिबास सैनिक का मर्दानी,
प्रत्येक व्यूह थी साज सम्हाल रही,
विद्युत-गति से चमकाती असिपानी।

विष्णुदत्त अग्निहोत्री जी (कटनी, सीमेण्ट) काव्य, कहानी और निबन्ध लिखते हैं। 'अमर सुभाष' आपकी एक छोटी सी कृति हैं जिसमें नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। कहानियां अधिकतर सामाजिक हैं। 'सोने का सांप' आपका कहानी संग्रह है। 'दृष्टिपात' लेखक द्वारा प्रकाशित निबन्ध-संग्रह है।

अकोला के शिवचन्द्र नागर का जन्म २१ मार्च १६२६ को उत्तरप्रदेश में हुआ। आपके प्रारम्भिक गीतों का संग्रह सन् १६४५ में 'ज्योत्स्ना' नाम से प्रकाशित हुआ। 'उर्मि' में आपके ६६ गीत संग्रहीत हैं और सभी शृंगार रस के हैं। गीतों में मधुरिमा है। आपके गद्यगीतों का संग्रह "प्रणय-गीत" है। 'महादेवी : विचार और व्यक्तित्व' आपका आलोचनात्मक ग्रन्थ है। गुजराती से आपने के. एम. मुन्शी और श्रीमती लीला मुन्शी के ग्रन्थों का अनुवाद किया हैं। आपने कई रेखा-चित्र भी लिखे हैं।

दुर्ग के केदारनाथ झा 'चन्द्र' के अबतक 'कलिंगविजय' और 'कल्याणी' दो काव्य-संग्रह छपे हैं। इनमें से 'कल्याणी' में तो आपके गीतों का संग्रह है और 'कलिंगविजय' एक खण्ड काव्य है, जिसमें लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से भारतीय इतिहास की एक घटना को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

खण्डवा के प्रभागचन्द्र शर्मा का जन्म शाजापुर (मध्यभारत) में हुआ। यद्यपि इस समय आप मुख्य रूप से पत्रकार हैं परन्तु समय-समय पर कविता और निबन्ध भी लिखते रहे हैं। 'भगवान बुद्ध' नामक आपका एक अप्रकाशित खण्ड-काव्य बताया जाता है। आपकी रचनाओं में भारतीय-भावनाओं और सांस्कृतिक-वातावरण को योग्य स्थान मिला है। आप आदर्शवादी कलाकार हैं।

स्वराज्यप्रसाद त्रिवेदी (रायगढ़) का जन्म कानपुर जिले के एक गांव में हुआ। आप रायपुर से प्रकाशित होने वाले कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं। आपके कई काव्यसंग्रह अप्रकाशित पड़े हैं जिन में से एक खण्ड काव्य भी है। एक नाटक और कुछ कहानियां भी आपने लिखी हैं। आपकी कविताओं में राष्ट्रवाद की उच्च अनुभूति है।

घनश्यामप्रसाद 'श्याम' छत्तीसगढ़ के प्रमुख कवियों में से हैं। आप एक संवेदनशील कवि हैं। आपकी हिन्दी साहित्य मंडल रायपुर से 'स्मृति' नाम की एक २६ पृष्ठ की पुस्तिका प्रकाशित हुई है।

दिल्ली निवासी विष्णुदत्त 'तरंगी' इसी प्रान्त के कवि, लेखक और पत्रकार हैं। आपका काव्य-ग्रन्थ 'जय काश्मीर' बड़े सुन्दर रूप-रंग में प्रकाशित हुआ है। आप कहानियां और निबन्ध भी लिखते हैं। प्रान्त के सुप्रसिद्ध सन्त तुकड़ोजी महाराज हिन्दी और मराठी दोनों में भजन लिखते हैं, जो काफी लोकप्रिय हुये हैं।

मध्यप्रदेश के चार-तरुण कवि, जिनका असमय स्वर्गवास हो गया-कुंजबिहारी चौबे, विनयकुमार, इन्द्र-बहादुर खरे और राधाकृष्ण तिवारी से प्रान्त को काफी आशायें थी। कुंजबिहारी चौबे का 'कुंजबिहारी काव्य-संग्रह' नाम से इंडियन प्रेस लिमिटेड से प्रकाशित हो चुका है। विनयकुमार के गीतों का संग्रह मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा और इन्द्रबहादुर खरे का संग्रह 'विजन के फूल' साहित्य संघ जबलपुर ने प्रकाशित किया है।

प्रान्त के तरुण-कवियों में हरि ठाकुर और रामकृष्ण श्रीवास्तव अपना स्थान रखते हैं। रामकृष्ण श्रीवास्तव प्रगतिवादी कवि माने जाते हैं और इसी से कभी-कभी उनके काव्य में भावनायें असंयत हो जाती हैं। हरि ठाकुर भाव-जगत् के कवि हैं और आप की शैली आकर्षक है। हरदा के पुरुषोत्तम 'विजय' का एक काव्य-संग्रह 'अंगारा' प्रकाशित है। आप आजकल इन्दौर से 'इन्दौर-समाचार' (दैनिक) का सम्पादन तथा संचालन करते हैं। हरदा के दिलखचन्द जैन का काव्य-संग्रह 'गुनगुन' है। आपने कई आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे हैं। अमरावती के आशा-कान्त बी. आचार्य, जो आजकल बीकानेर में रहते हैं, गायक कवि हैं।

इनके अतिरिक्त प्रान्त में और अनेक सुकवि हैं जिनमें से कई प्रमुखता प्राप्त कर चुके हैं और न जाने इनमें से कौन अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त करे। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:—

जबलपुर—गोविन्दप्रसाद तिवारी, रामकृष्ण दीक्षित 'विश्व', गुलाबप्रसन्न शावाल, श्रीबाल पाण्डेय, सरला तिवारी, पूरनचन्द्र श्रीवास्तव, फितरत, नत्थूलाल सराफ, नानाजी, झलकनलाल वर्मा 'छैल', श्रीमती विद्या भार्गव, श्रीमती शकुन्तला खरे, रूपकुमारी देवी, जगदीश गुरु।

नागपुर—गौरीशंकर लहरी, जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही', राजेन्द्रप्रसाद अवस्थी 'तृषित', शिवनाथ मिश्र (संस्कृत,हिन्दी और उर्दू में कविता करते हैं),गजानन माधव मुक्तिबोध, अनिलकुमार, भुंग तुपकरी;रामपूजन मलिक, रामनारायण मिश्र, गिरजाप्रसाद पाण्डेय 'कमल'।

रायपुर—पूनमचन्द तिवारी, रामकृष्ण कपूर,

राजनांदगांव—काशीप्रसाद मिश्र, बलभद्रप्रसाद मिश्र,

बिलासपुर—श्रीकान्त वर्मा, गजानन शर्मा, बच्चू जांजगिरी, द्वारकाप्रसाद तिवारी 'विप्र', ज्वालाप्रसाद मिश्र।

रायगढ़—आनन्दीसहाय शुक्ल, बन्देअली फातमी।

सागर—प्रो. कठल, इकराम सागरी, शिवकुमार श्रीवास्तव, लक्ष्मीनारायण मिश्र 'कवि-हृदय', अमृतलाल 'चंचल', राजेन्द्र अनुरागी।

कटनी—सीताराम पाण्डेय, रामकृष्ण शर्मा, सम्राट, विद्यावती तिवारी।

खण्डवा—के रामचन्द्र बिल्लोरे, बुरहानपुर के गंगाचरण दीक्षित, अकोला के गोविन्द व्यास,

वर्धा—रामेश्वरदयाल दुबे (आप बाल-साहित्य के भी अच्छे लेखक हैं), आशाराम वर्मा, रतन पहाड़ी, सिवनी के श्यामलाल नेमा, वृन्दावन नामदेव, बैतूल के शशिपाण्डे, अमरावती के मोतीलाल सरवैया 'मोती', करेली के राधेलाल शर्मा, छुईखदान के रतन साहित्यरत्न और बारासिवनी के प्रभुदयालसिंह 'भ्रमर'।

गद्य-साहित्य—जैसा कि कुछ प्रसिद्ध आलोचकों का मत है कि आज का युग काव्य की अपेक्षा गद्य का है और यह कथन कुछ सीमा तक ठीक भी जान पड़ता है, क्योंकि मनुष्य में भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता का समावेश दिन पर दिन अधिक होता जा रहा है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने नाटक को काव्य का ही अंग माना है, परन्तु यहां पर नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और रेखाचित्र आदि सभी की गणना गद्य-साहित्य के अंतर्गत की जा रही है। जिन कवियों ने पद्य के साथ गद्य-साहित्य का निर्माण किया उनका उल्लेख पहिले हो चुका है। यहां केवल उन्हीं लेखकों का उल्लेख किया जा रहा है, जो प्रधानतया गद्य ही लिखते हैं। हमारे प्रान्त ने अर्थ और वाणिज्य साहित्य के निर्माण में सबसे अधिक योग दिया है और उसका श्रेय प्रान्त के विभिन्न स्थानों में स्थापित सेकसरिया अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालयों के आचार्यों और प्राध्यापकों को है। इस क्षेत्र में दयाशंकर दुबे, भगवतशरण अधोलिया, तोखी, शाह, दयाशंकर नाग, पन्नालाल बल्दुआ, सुशील कुमार दिवाकर, प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, नन्दलाल शर्मा मुख्य हैं। सेकसरिया अर्थ वाणिज्य विद्यालय के कर्णधार अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के महामन्त्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल गांधी अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ माने जाते हैं और आपने अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें लिखी हैं। आप कवि भी हैं और आपकी कविताओं का संग्रह 'रोटी का राग' नाम से प्रकाशित है। बनापुरा (इटारसी) के हुकुमचन्द्र पाटनी ने भी अर्थशास्त्र पर लेख लिखे हैं। आजकल आपने इन्दौर को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया है।

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष, ब्रिजलाल बियाणी की दो पुस्तकें 'कल्पना कानन' और 'जेल में' प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी भाषा सरल और नई शैली लिये हुये है। छोटे-छोटे वाक्यों में वर्ण्यविषय को अच्छा उपस्थित कर देते हैं और गद्य में भी काव्य का सा आनन्द अनुभव होता है। 'कल्पना-कानन' के सम्बन्ध में स्वयं लेखक का कहना है "मेरा कानन -कल्पना में है।" यह कल्पना ही हृदय की अनुभूतियों के साथ मिलकर लेखक की अभिव्यंजना को प्रखरता प्रदान करती है जिसके पीछे लेखक के व्यक्तित्व की अपनी छाप है। 'जेल में' आपके जेल जीवन के कुछ व्यक्तिगत संस्मरण हैं। इस पुस्तक में लेखक ने संस्करण लिखने की एक नवीन शैली उपस्थित की है। जिसमें कहीं-कहीं तो कहानी का आनन्द आने लगता है। संस्मरणों में जीवन के वास्तविक चित्र और हृदय के अन्तरतम की भावनाओं का प्रस्फुटन हुआ है। लेखक का मत है कि 'अतीत-जीवन की स्मृतियां व्यक्ति के जीवन की सततता हैं और —हैं राष्ट्र के जीवन का इतिहास।" इसीलिये इस कृति में विचारों का शृंखला-बद्ध तारतम्य मिलता है।

प्रान्त के गद्य-लेखकों में श्रीमती दिनेशनंदिनी डालमिया का नाम उल्लेखनीय है। आपके 'शबनम', 'मौक्तिक-माल', 'दुपहरिया के फूल' आदि गद्य-काव्य संग्रह तथा दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अब आप दिल्ली में हैं।

प्रान्त के कलाकारों और उपन्यास-लेखकों में 'अंचल' के अलावा श्रीमती उषादेवी मित्रा, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' और अनन्त गोपाल शेवड़े मुख्य हैं। प्रसिद्ध कहानी लेखिका श्रीमती उषादेवी की अधिकांश कहानियां सामाजिक हैं और उनमें परिस्थितियों का चित्रण सुन्दर ढंग से होता है। आप पहिले बंगला भाषा में लिखती थीं, परन्तु प्रेमचन्द जी की प्रेरणा से हिन्दी के क्षेत्र में आईं और अच्छी ख्याति अर्जित की। देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' के कई उपन्यास और कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं। आप कविता भी लिखते हैं। 'दुर्गावती' आपका खण्ड काव्य है। 'हवा का रुख' आपका हाल ही में प्रकाशित कहानी-संग्रह है। आपकी पत्नी हीरादेवी चतुर्वेदी भी उपन्यास, नाटक और कहानियां लिखती हैं। अनन्त गोपाल शेवड़े के 'निशागीत' और 'मृगजल' दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। नये लेखकों में आपका अच्छा स्थान है।

जहूरबख्श मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं। आप बहुत वर्षों से हिन्दी में लिख रहे हैं। आपकी अधिकांश कहानियां सामाजिक होती हैं। आपकी कुछ कहानियां आवश्यकता से अधिक बड़ी हो गई हैं, फिर भी उनमें रोचकता का अभाव नहीं पाया जाता। पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक का व्यावहारिक ज्ञान समाविष्ट रहता है। भाषा सरल और पात्रों के अनुरूप रहती है। आपकी कहानियों का संग्रह "हम प्रसीडेन्ट हैं"—कुछ समय पूर्व ही प्रकाशित हुआ है, जिसमें लेखक की कला की सुन्दर झांकी मिलती है। आप बाल साहित्य के भी लेखक हैं।

श्रीमती तेजरानी दीक्षित (अब पाठक) के उपन्यास "हृदय का कांटा" का हिन्दी-जगत् में अच्छा स्वागत हुआ था। आपने कुछ और उपन्यास तथा कहानियां भी लिखी हैं। "हृदय का कांटा" एक सामाजिक उपन्यास है और उसमें कौटुम्बिक वातावरण एवं समाज की निर्ममताओं का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। लेखिका ने सभी पात्रों को बड़े अच्छे ढंग से उपस्थित किया है, जिसमें उनकी मानसिक दशा का चित्रण भी सजीव रूप में पाया जाता है।

दुर्गाशंकर मेहता का "अनबुझी प्यास" मध्यप्रदेश के उपन्यास-साहित्य में अच्छी कृति है। इसमें ग्रामीण जीवन का सुन्दर चित्रण है। शैली बहुत कुछ प्रेमचन्द्र की धरती पर है। इस उपन्यास में नवीन युग का भी प्रभाव पड़ा है।

फिल्म जगत के सुप्रसिद्ध कलाकार दुर्ग-निवासी किशोर साहू हिन्दी में कहानियां लिखते हैं। आपकी कहानियों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी अधिकांश कहानियां यथार्थवादी हैं और उनमें समाज का वास्तविक चित्रण मिलता है। कथनोपकथन में नाटकीय-तत्त्व का समावेश पाया जाता है, जिसका कारण आप पर फिल्म-जगत् का प्रभाव है। भाषा आपकी सरल होती है और छोटे-छोटे वाक्यों में विचार प्रकट किये जाते हैं।

हरिशंकर परसाई, नरेन्द्र और राजेन्द्रप्रसाद अवस्थी प्रान्त के तरुण-कहानी लेखकों में अपना स्थान रखते हैं। परसाई जी की कहानियां रेखा-चित्र के रूप में सामने आती हैं। 'हंसते हैं रोते हैं' आपका कहानी-संग्रह है। नरेन्द्र की कहानियों में मनोवैज्ञानिक चित्रण रहता है। "ग्रहण के बाद" आपका कहानी संग्रह है। अवस्थी जी की कहानियां आदर्शवादी और सामाजिक होती हैं, जिनमें समाज के शोषित तथा पीड़ित वर्ग का चित्रण रहता है। आपका कहानी-संग्रह "मकड़ी के जाले" छप रहा है। रायपुर के मधुकर खेर नये उत्साह से कहानी के क्षेत्र में अवतीर्ण हुये हैं। वर्मा के "ज्योतिर्मय" की कहानियों में समाज की चिनगारियां रहती हैं। जबलपुर के गोविन्दसिंह ने कई रहस्यभरी और जासूसी कहानियां लिखी हैं। यहीं के स्व. मोहन सिन्हा का एक कहानी संग्रह "मंगल-पथ" भी निकल चुका है। स्व. सिद्धनाथ माधव आगरकर "निरंजन" के नाम से "प्रेमा" आदि पत्रिकाओं में कहानियां लिखते थे। इनके अतिरिक्त कुमार साहू, आनन्दमोहन अवस्थी, श्रीमती सत्यवती भैय्या (वर्धा), श्रीराम शर्मा, शंकरलाल शुक्ल, रामकिशोर पाषाण, श्रीमती तारा वागड़देव, उमाशंकर शुक्ल एम. ए., व्रजभूषणसिंह "आदर्श" आदि के कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं.। श्रीमती शशि तिवारी, प्यारेलाल सन्तोषी, शिवचरणलाल मालवीय, शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, राजेन्द्रनाथ मिश्र, केशवप्रसाद वर्मा, राजेन्द्रलाल गुप्त, अविनाश आदि भी इस क्षेत्र में सेवा कर रहे हैं।

प्रान्त के नाटककारों में गोविन्ददास जी के बाद राजेश्वर गुरु, रामेश्वर गुरु, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, गोपाल शर्मा और भृंग तुपकरी प्रमुख हैं। श्रीवास्तवजी एवं शर्माजी के नाटक रंगमंच पर खेलने योग्य होते हैं। आप दोनों के नाटकों पर अंग्रेजी एकांकी नाट्य शैली का प्रभाव रहता है। छोटे-छोटे प्रहसन लिखने में कामताप्रसाद सागरीय का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी का निबन्ध और आलोचना-साहित्य दिन पर दिन प्रगति कर रहा है। सागर-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, उत्तरप्रदेश से अब मध्यप्रदेश में आगये हैं। आप हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक हैं। आपने कई आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें "हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी, "आधुनिक-साहित्य", "नया युग; नये प्रश्न" पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें हिन्दी के आधुनिक-साहित्य की आलोचना की गई है।

कमलाकान्त पाठक की भी एक आलोचनात्मक पुस्तक मध्यभारत हिन्दी-साहित्य समिति,इन्दौर से प्रकाशित हो चुकी है। आप कविता भी लिखते हैं।

प्रान्त में निबन्ध-लेखकों की संख्या पर्याप्त है, और सभी विषयों पर निबन्ध लिखे जाते हैं। जबलपुर तथा नागपुर के "नव-भारत" (दैनिक) के संचालक और सम्पादक रामगोपाल माहेश्वरी पत्रकार के साथ साथ सुलेखक भी हैं, परन्तु आप बाहरी-पत्रों में नहीं लिखते। सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी ने संस्कृत साहित्य पर कई लेख लिखे हैं। शान्ति-निकेतन के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष मोहनलाल वाजपेयी ने सम्पूर्ण रवीन्द्र साहित्य का हिन्दी में अनुवाद किया है। आपने कई चित्रों के लिये संवाद भी लिखे हैं। 'अमृत पत्रिका' के समाचार-सम्पादक पन्नालाल श्रीवास्तव ने पत्रकार-कला पर कई पुस्तकें लिखी हैं। श्रीमती बुलबुल मित्रा संगीत और गार्हस्थ्य-शास्त्र पर पुस्तक लिख चुकी हैं। इनके अतिरिक्त राजनाथ पाण्डेय, दादा धर्माधिकारी, वेणी शंकर झा, नसीने, पी. एल. चोपरा, जमनालाल जैन, मोहनलाल भट्ट, प्रो. इन्द्रदेव आर्य, रघुनाथप्रसाद परसाई, दुर्गाप्रसाद त्रिपाठी (कटनी), राजेश्वर अर्गल, रसूल अहमद 'अबोध', श्रीमती राधादेवी गोयनका, प्रो. प्रभाकर जागीरदार, रामनारायण उपाध्याय, जगदीश चतुर्वेदी, राजेन्द्र प्रसाद अवस्थी, रमाप्रसन्न नायक, विद्याभास्कर शुक्ल, करुणाशंकर दवे, नाथूराम शुक्ल, जगदीश व्यास, जयनारायण अवस्थी, उमाशंकर शुक्ल (पत्रकार), हरिशंकर त्रिपाठी, सवाईमल जैन, कासिमअली, कृष्णलाल 'हंस', अशोक, दिनेश, सच्चिदानन्द वर्मा, केशवप्रसाद वर्मा, मदनमोहन शर्मा, विश्वंभरप्रसाद शर्मा, ईश्वरसिंह परिहार, हरिनारायण अग्निहोत्री, जीवन नायक, हनुमान तिवारी, वेणीमाधव कोकास, भारतेन्दु सिन्हा, श्यामलाल चतुर्वेदी, श्रीमती कृष्णकुमारी नाग, सुरेन्द्रनाथ खरे, मगनलाल बोरा आदि के निबन्ध और गद्यलेख प्रकाशित होते रहते हैं।

डा. रघुवीर और उनके पुत्र डा. लोकेशचन्द्र पिछले कुछ वर्षों से मध्यप्रदेश में आये हैं और आप लोगों ने मध्यप्रदेश तथा भारत-सरकार के योग से हिन्दी शब्दकोष के निर्माण का कार्य आरंभ किया, जो अभी तक चल रहा है। ये दोनों पिता-पुत्र अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य भाषाओं के जानकार हैं और पूर्वीय देशों के पुरातन भारतीय ग्रन्थ, शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों की खोज की है। नवीन शब्दों के निर्माण में आप कुछ नियमों के आधार पर अग्रसर होते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद भले हों परन्तु इस कार्य की मौलिकता और विद्वत्ता की सराहना अवश्य की जायगी। आप लोगों के लेख भी समय-समय पर देशी तथा विदेशी पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। दिल्ली में जो 'कन्वेंशन' हुआ था, उसमें डा. रघुवीर ने, डा. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के रोमन लिपि के समर्थन का बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से समर्थन किया था।

डा. हीरालाल संस्कृत, प्राकृत, पाली और अपभ्रंश के अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त विद्वान् हैं। आप जैन-साहित्य और जैन-दर्शन के पंडित हैं और अबतक अनेक प्राचीन ग्रन्थों का अन्वेषण कर चुके हैं। हिन्दी भाषा पर भी आपका अच्छा अधिकार है। आपके ग्रन्थों की संख्या लगभग दो दर्जन है। सन् १९५४ के बनारस अधिवेशन में आप प्राकृत और जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष रहे हैं।

पुरातत्त्व विषयों पर जबलपुर के डा. महेशचन्द्र चौबे और नागपुर के डा. कटारे, राममोहन सिन्हा और बुरहानपुर के शिवदत्त ज्ञानी भी लिखते हैं। शिवदत्त के भाई स्व. रणछोरदास ज्ञानी विक्टोरिया म्यूजियम बम्बई में क्यूरेटर थे और प्राचीन सिक्कों की अच्छी जानकारी रखते थे। नागपुर म्यूजियम के असिस्टेंट-क्यूरेटर बालचन्द्र जैन भी पुरातत्त्वीय विषयों के प्रमुख लेखक हैं। आपकी २-३ पुस्तकें भी छप चुकी हैं। इसके पूर्व आप कविता और कहानियां भी लिख चुके हैं। मुनि कान्तिसागर जी ने भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी काफी शोध किये हैं।

मध्यप्रदेश में मराठी साहित्य की प्रगति का इतिहास

लेखक— श्री त्रिंबक गोपाल देशमुख
अनुवादक—श्री रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे

वर्तमान मध्यप्रदेश में बरार के चार और नागपुर के चार इस प्रकार कुल मिलाकर आठ जिले मराठी भाषा भाषी गिने जाते हैं। इसके साथ ही साधारणतः यह माना जाता है कि इन जिलों की सीमा के कुछ मराठी भाषा-भाषी भाग हिन्दी जिलों में समाविष्ट हो गये हैं। सब मिलाकर इस प्रदेश के मराठी भाषा-भाषी विभाग का क्षेत्रफल लगभग चालीस हजार वर्गमील है और जनसंख्या ६० लाख। इस विभाग में एक लाख से अधिक आबादी वाले नागपुर, अमरावती और अकोला ये तीन शहर हैं। शिक्षा की दृष्टि से यह विभाग नागपुर विश्व विद्यालय के अधिकार क्षेत्र में आता है। सन् १६०२ तक नागपुर और बरार अलग-अलग राजकीय विभाग थे। परन्तु सन् १६०२ में अंग्रेजों ने नागपुर में बरार के चार जिले जोड़ दिये जिससे ये मराठी भाषा भाषी भाग संयुक्त हो गए।

मराठी भाषा आर्यकुलोत्पन्न है। आर्य लोग उत्तर से हिन्दुस्थान में आये। उनकी भाषा संस्कृत थी। विद्वानों का तर्क है कि जिस समय आर्यों ने दक्षिण में प्रवेश किया, उस समय विदर्भ और महाराष्ट्र के मूल निवासी गोंड, भील, कोरकू इत्यादि लोग थे जिनका कहीं कोई स्थायी निवासस्थान न था और न उनकी कोई स्थायी संस्कृति ही थी। इसलिये आर्यों ने ही आकर इस प्रदेश को बसाया। इसके पूर्व यहां जंगल था जिसे दण्डकारण्य नाम दिया गया था जो बिल्कुल सार्थक था। उत्तर से जो आर्य लोग यहां आये उनकी संस्कृति और ज्ञान उच्च स्तर का था और वे बुद्धिमान थे। उन्होंने इस प्रदेश की खूब उन्नति की और लगता है कि यहां के मूल निवासियों को नष्ट न कर उन्होंने उन्हें अपने काम में लगा लिया। "महाराष्ट्र सारस्वत" के लेखक श्री वी. ल. भावे के मतानुसार उत्तर प्रदेश से प्रथम आने वाले लोग नाग जाति के थे जिन्होंने आर्यों की संस्कृति और भाषा को बड़े परिमाण में अपना लिया था। फिर आगे चलकर पाणिनि के पश्चात् राष्ट्रिक, वैराष्ट्रिक और महाराष्ट्रिक लोग यहां आये और इन तीनों के सम्मेलन से 'मरहट्ट'-मराठा लोगों की उत्पत्ति हुई होगी। जो हो, पर बाहर से आये हुये आर्य या नाग लोगों की भाषा संस्कृत थी इस में सन्देह नहीं। ये लोग महाराष्ट्र में आकर बसने लगे। यहां की जनता से उनका सम्पर्क हुआ। सम्पर्क के पश्चात् और समय की गति के साथ उनकी संस्कृत भाषा का रूप बदलकर 'महाराष्ट्री' भाषा हो गई जो आगे चलकर 'महाराष्ट्री अपभ्रंश' हुई और इसके पश्चात् उसने भी सर्व साधारण जनता की बोली के द्वारा परिवर्तित होते-होते अंत में मराठी का रूप धारण कर लिया।

पौराणिक कथाओं से स्पष्ट है कि आर्यों के यहां आने के पश्चात् नर्मदा से गोदावरी तक का भाग जिसे हम विदर्भ कहते हैं, साहित्य और कला में बहुत आगे बढ़ा हुआ था। रुक्मिणी और दमयन्ती नामकी तेजस्विनी विदर्भ राज-कन्याओं का उल्लेख महाभारत में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि महाभारत की रचना से पूर्व भी विदर्भ देश संस्कृति की दृष्टि से उन्नतिशील था। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि आर्यों की संस्कृत भाषा में परिवर्तन होते-होते मराठी भाषा बनने की प्रक्रिया इसी देश में होती रही। इस दृष्टि से गोदावरी के दोनों तट, पैठण और बरार-वर्धा तट का भू-भाग इस भाषा के शैशव का क्रीड़ास्थल है इस में संदेह नहीं। उस का नन्हा सुंदर रूप हम यहीं देख सकते हैं और उसका उत्पत्ति स्थान भी यहीं मिलेगा। संवत् ६८५ के लगभग विदर्भ के कवि राजशेखर ने अपने 'कर्पूरमंजरी' नाटक में 'महाराष्ट्री' भाषा का बड़े परिमाण में उपयोग किया है। इससे अनुमान होता है कि उस समय विदर्भ में 'महाराष्ट्री' भाषा का बहुत प्रचार रहा होगा। आगे चलकर साधारणतः संवत् ११३५ के लगभग उसे 'महाराष्ट्री अपभ्रंश' रूप प्राप्त हुआ और इसके पश्चात् संवत १२३५ या १३३५ के लगभग उसने मराठी रूप धारण किया होगा।

मराठी भाषा की लिपि संस्कृत की तरह देवनागरी ही है। यह भाषा उच्चारणानुसारी है। मराठी का "ळ" वर्ण द्रावड़ी वर्णमाला से मराठी में आया है।

सम्पूर्ण प्राचीन मराठी साहित्य प्रायः पद्य में ही मिलता है। मराठी गद्य की उन्नति ब्रिटिश शासन काल में ही हुई। मराठी भाषा का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ मुकुंदराज का लिखा विवेकसिंधु है जिसकी रचना संवत् १२४५ में मध्य-प्रदेशान्तर्गत भंडारा जिले के आंभोरे नामक ग्राम में हुई। विवेक सिंधु वेदान्त विषयक ग्रन्थ है जिसमें आदि कवि ने अपनी सरल, रसमयी और तेजस्विनी मराठी भाषा में वेदान्त जैसे क्लिष्ट विषय को संस्कृत न जानने वाली जनता के लिये अत्यन्त सुलभ कर दिया है। इस ग्रन्थ में मराठी का जो रूप दिखाई देता है उससे अनुमान हो सकता है कि संवत् १२४५ के पूर्व ही मराठी भाषा सरल और तेजस्विनी बन चुकी थी। आदि कवि मुकुंदराज ब्राह्मण थे। विवेक सिंधु के अतिरिक्त और भी दो-चार ग्रन्थ इनके लिखे माने जाते हैं। मुकुंदराज की पावन वाणी से प्रकट हुई मराठी भाषा आगे चलकर और भी अधिक सम्पन्न हो गई। मध्यप्रदेश के लिये यह गर्व की बात है कि मराठी के आदि कवि द्वारा इसी प्रदेश में मराठी के प्रथम ग्रन्थ का निर्माण हुआ।

मुकुंदराज के इस ग्रन्थ के लगभग पचास वर्ष बाद महानुभाव पंथ के संस्थापक श्री चक्रधर इस प्रदेश में आये और उनके शिष्यों द्वारा पंथ-प्रसार एवं आत्म-सुख के लिये निर्माण किये साहित्य से सारस्वत की जन्मभूमि मराठी के जयघोष से पुनः निनादित हो गई। उस समय देवगिरि उर्फ दौलताबाद में यादव वंश के राजा राज्य करते थे और उनके राज्य का विस्तार साधारणतः सतपुड़ा से लेकर कृष्णा तक हो गया था। इन्हीं यादवों के शासन काल में मराठी भाषा का खूब उत्कर्ष हुआ। महानुभाव पंथ का गद्य और पद्य साहित्य बहुत-सा उपलब्ध है। इस पंथ के लेखकों ने पंथ विषयक एवं अन्य साहित्य निर्माण करके मराठी के आदि काल में साहित्य-शिशु को अलंकृत किया।

"लीला चरित्र" मराठी का पहला गद्य ग्रन्थ और चरित्र ग्रन्थ है। श्री चक्रधर के शिष्य महीन्द्र भट्ट उर्फ मही भट्ट ने रिसपुर के बाजेश्वरी मन्दिर में इस ग्रन्थ की रचना की। श्री चक्रधर के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य श्री नागदेवाचार्य महानुभाव पंथ के प्रमुख हुए। चक्रधर के विरह से वे बड़े व्याकुल हो गए थे। मन की शान्ति के लिये आचार्य की निगरानी में चक्रधर की एक-एक लीला एक-एक व्यक्ति से एकत्रित कर महीन्द्र भट्ट ने यह ग्रन्थ लिखा। संवत् १३४३ में चक्रधर के गुरु श्री गोविन्द प्रभु के निर्वाण प्राप्ति से पूर्व उसकी रचना पूरी हुई होगी। संवत् १३४४-४५ के लगभग उसकी अंतिम लिपि तैयार हुई होगी। यह ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी से पहले का है और इस दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। इस में लेखक की सुगम निरूपण शैली का परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ के एकांक, पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध इस प्रकार तीन खंड हैं। एकांक में चक्रधर के पहले ६० वर्ष की और दूसरे दो ४५० पृष्ठों के खंडों में केवल अंतिम आठ वर्षों की जीवन कहानी का वर्णन है। इस ग्रंथ के संगठन का श्रेय श्री चक्रधर के पट्ट शिष्य नागदेवाचार्य को है। उन्हीं के नेतृत्व में इस पंथ के लोगों ने इस विशाल ग्रन्थ की रचना की और मराठी के उषःकाल को सजाया। इन में 'लीला चरित्र' विदर्भ में निर्माण हुआ। चक्रधर को बाणाइसा नाम की प्रथम शिष्या बरार के मेहकर नामक ग्राम में मिली। उनकी दूसरी शिष्या का नाम महदंबा था। महदंबा ने संवत् १३४४ के लगभग विवाह के अवसर के सुंदर गीतों की रचना की है। इसके अतिरिक्त उसने "मातृकी रुक्मिणी स्वयंवर" नामक ५२ सरस कविताओं का एक पद्य ग्रन्थ लिखा है। महदंबा ही मराठी की पहली कवियित्री है। महानुभाव पंथ के अनेक पुरुष बड़े विद्वान और शास्त्रविद्या सम्पन्न थे। 'उद्धव गीता' के लेखक भास्कर भट्ट बोरीकर, रुक्मिणी स्वयंवर के रचयिता नरेन्द्र पंडित, "वच्छ हरण" के लेखक दामोदर पंडित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भास्कर भट्ट बोरीकर का लिखा "शिशुपाल वध" नामक ग्रन्थ रसात्मक महाकाव्य का एक अपूर्व आदर्श माना जाता है। इस पंथ के संस्थापक श्री चक्रधर ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। परन्तु मही भट्ट ने अपने गुरु द्वारा बताए गये सिद्धान्तों को उनकी वाणी से जैसे निकलते थे ठीक उसी तरह जतन करके रखा। इन सिद्धान्तों में कुछ सिद्धान्त चुनकर केशव राज सूरी उर्फ केसो बास ने संवत् १३२५ से १३३० के दरम्यान "सिद्धान्त सूत्र पाठ" नामक ग्रन्थ की रचना की। यही इस पंथ का मूल

ग्रन्थ है। पंथीय लोग इसे भगवान् की तरह पूजते हैं। यह ग्रन्थ बरार के रितपुर आश्रम में ही तैयार हुआ होगा। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इस पंथ के जो "साती" ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उन में विश्वनाथ बालापुरकर का "ज्ञान प्रबोध" सं. १३८८, खलो व्यास का "सह्याद्रि वर्णन" सं. १३६०, नारो व्यास बाहाविये का "गोविन्द प्रभु चरित्र" सं. १४२० आदि ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं। सभी अन्वेषकों का मत है कि महानुभाव पंथीय लेखकों ने मराठी भाषा पर अनंत उपकार किये हैं।

जाति भेद, मूर्ति पूजा, चातुर्वर्ण्य आदि धार्मिक रुढ़ियों का विरोध करने वाले महानुभाव पंथीय लेखकों ने ब्राह्मणों की संस्कृत भाषा की पूर्ण उपेक्षा कर अपना संपूर्ण साहित्य मराठी भाषा में निर्माण किया, यह स्वाभाविक ही था। परन्तु इससे संस्कृत भाषा को बड़ी ठेस लगी। वह भाषा पीछे पड़ने लगी और विद्वानों में भी मराठी भाषा का प्रभाव बढ़ने लगा। महाराष्ट्र के संतों ने बड़े अभिमान से मराठी भाषा में उत्तम-उत्तम ग्रन्थ निर्माण किये। एकनाथजी ने भागवत ग्रन्थ की मराठी में रचना की तो ब्राह्मणों ने उन्हें खूब तंग करना शुरू किया। तब सताने वाले ब्राह्मणों से "संस्कृत वाणी देवे केली, प्राकृत काय चोरापासोनी झाली?" यह सीधा सवाल एकनाथजी ने पूछा। परन्तु मराठी का यह मनोहारी उन्मेष अधिकांश में वर्तमान मध्यप्रदेश के पड़ोसी प्रदेश में प्रकट हुआ है। विशेषत: पैठन-मराठवाडा भाग ही उस समय साहित्य की उर्मियों से उमड़ रहा था। ज्ञानदेव द्वारा स्थापित भागवत धर्म के अनेक अनुयायी संत-कवि मराठवाड़े में हो गये। उस समय उस प्रदेश पर विजय नगर के बलाढ्य हिन्दू राजा राज्य करते थे। उस शान्ति-पूर्ण धर्म राज्य में संत-कवियों के अग्रणी श्री एकनाथजी तथा अन्य अनेक कवि कृष्ण-चरित्र भागवत् भगवद् गीता आदि पर विपुल ग्रन्थ रचना कर रहे थे। इन में से एकनाथजी और "विशाल गीतार्णव" के लेखक दासोपंत जी तीर्थयात्रा के निमित्त बरार में आये थे। नामदेव की दासी प्रसिद्ध संतिन जना बाई भी विदर्भ में आई थी। पूर्वकालीन विदर्भ में ये कवि समाविष्ट होते थे। परन्तु वर्तमान विदर्भ की दृष्टि से देखा जाय, तो कवि श्री सरस्वती गंगाधर का नाम सबसे प्रथम लेना होगा। अकोला जिले के रहने वाले इस दत्तोपासक कवि ने "गुरु चरित्र" नामक एक विख्यात ग्रन्थ लिखा है जो ज्ञानेश्वरी की तरह घर-घर में पढ़ा जाता है। दत्त संप्रदाय में इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है। इस के पश्चात् बरार में अनेक कवि हो गये जिन में कुछ नाथ संप्रदायी थे।

उत्तम-श्लोक व चिन्मयानंद, सुरजी अंजन-गांव के देवनाथ दयाल नाथ, अमरावती जिले के मारकीनाथ और शिवदीन केसरी नाथ-सम्प्रदाय के प्रमुख कवि हैं। उत्तम-श्लोक ने "सप्तशती वरील टीका" नामका एक उत्तम ग्रन्थ लिखा है। देवनाथ की कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित है। दयालनाथ की भक्ति-रस से सराबोर कविताएं उपलब्ध हैं और उनकी "द्रोपदी पुकार" नामक कविता अत्यन्त प्रसिद्ध है। वणी के गोविन्द नामक कवि परमेश्वर की मधुरा भक्ति करने में प्रवीण थे। उनके भजन भक्ति रस से भरे हैं। फारसी, उर्दू और मराठी इन तीनों भाषाओं पर समान अधिकार रखने वाले अमृतराय की कविताओं से विदर्भ की भूमि कुछ समय के लिये निनादित हो गई। शेख महम्मद, शेख बहराम आदि मुसलमान कवियों ने भी विदर्भ में मराठी भाषा में रचनाएं कीं। नागपुर जिले के केलवद ग्राम में रहने वाले गंगाधर-तनय की आरतियां भी बड़ी प्रसिद्ध हैं। विदर्भान्तर्गत श्री क्षेत्र नागझरी के श्री गोमाजी महाराज प्रसिद्ध भगवद्भक्त और कवि हो गए। "श्री नागझरी माहात्म्य" नामक ग्रन्थ में उन्होंने भक्ति प्रधान शिक्षा दी है। इन के अतिरिक्त, श्री संताजी महाराज, कृष्णा मुनि, श्याली बहादुर और माहूर के विष्णुदास कवि का भी विदर्भ के संत कवियों में उल्लेख करना चाहिये। इन्होंने स्फुट कविताएं एवं अन्य रचनाएं की हैं। माहूर के विष्णुदास दत्तोपासक साक्षात्कारी संत थे। उनका त्रिखंडात्मक चरित्र अब उपलब्ध हो गया है। "रेणुका देवी पर भी इनकी कविताएं चित्ताकर्षक हैं।

आधुनिक-काल— इस काल के साहित्य की चर्चा करते समय उसके काव्य, उपन्यास, नाटक आदि भेद करना आवश्यक हैं। इसके अनुसार आधुनिक काल के काव्य साहित्य का रसास्वादन लेते समय प्रथम ही हमारा ध्यान प्राचीन संतों की परम्परा को आज भी चालू रखने वाले दो प्रसिद्ध कवि श्री गुलाब राव महाराज और श्री संत तुकड़ोजी महाराज

की ओर जाता है। श्री गुलाबराव महाराज जन्मांध होते हुये भी अत्यन्त ज्ञानी पुरुष थे। वेदान्त विषय पर उनका बड़ा अधिकार था। उनका निवासस्थान अमरावती में था। उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं जिन में वेदान्त विषयक निरूपण है। इनका शिष्य समुदाय बहुत बड़ा था।

अपने खंजड़ी भजनों से बहुजन समाज के हृदय सिंहासन पर अधिष्ठित राष्ट्र कवि संत तुकड़ोजी महाराज आज के प्रमुख संत कवि हैं। इनके भजनों का संग्रह प्रकाशित है और "मन मोहना कधी येणार" जैसे भजन सबके मुख पर हैं। इन्होंने 'गुरुदेव सेवा-मंडल' नाम की संस्था प्रस्थापित की है जिसका अमरावती जिले में गुरुकुंज मोझरी केन्द्र है। आपने प्रचलित फिल्मी गीतों की तर्ज पर भजन और कविताएं लिखकर बहुजन समाज को उदात्त नीति-तत्वों और देशकार्य का उपदेश किया। परमार्थिक संत होते हुए भी आप सांसारिक व्यवहार में रस लेते हैं। आप समाज सुधारक हैं, देशभक्त हैं और आजकल भू-दान यज्ञ के कार्य में व्यस्त रहते हैं।

संत काव्य के पश्चात् आधुनिक काल के मराठी काव्य की ओर हमारी दृष्टि जाती है। सभी आलोचक मानते हैं कि आधुनिक मराठी काव्य का प्रारंभ केशवसुत से हुआ है। भाव और अभिव्यक्ति दोनों में केशवसुत जी ने मराठी काव्य में क्रान्ति कर दी। उनकी कविता अंग्रेजी कविता से बहुत मात्रा में प्रभावित हुई है। आधुनिक काल के साहित्य का एक व्यवच्छेदक लक्षण ही यह माना जा सकता है कि अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन और प्रभाव से वह बहुत परिमाण में पुष्ट हुआ है।

परन्तु साहित्य साधना के इस महायज्ञ में मध्यप्रदेश को भाग लेने का अवसर अन्य भागों से कुछ पीछे मिला, क्योंकि सन् १८५३ में नागपुर के रघुजी भोंसले का राज्य नष्ट हुआ और अंग्रेजी शासन में वह प्रदेश आ गया। बरार अवश्य १९०२ तक निजाम के अधिकार में था। नागपुर विश्व विद्यालय भी १९२३ में स्थापित हुआ। सारांश यह कि यहां अंग्रेजी विद्या का आगमन आधी सदी पीछे हुआ। इसके कारण प्रारंभ की बहुत बड़ी सुशिक्षित पीढ़ी नौकरी और व्यवसाय के निमित्त महाराष्ट्र से इस प्रदेश में आई थी। आगे लोकमान्य तिलक की राजनीति प्रभावी होने पर इस प्रदेश के दादा साहब खापर्डे, लोकनायक अणे, डा. मुंजे, नरकेसरी अभ्यंकर, और वामनराव जोशी, विदर्भ केसरी बियाणी इत्यादि नेता उसमें सम्मिलित हुए और राजनीति की तरह नागपुर और बरार का प्रदेश साहित्य और पत्रकारिता में अच्छा चमकने लगा।

काव्य-विभाग की दृष्टि से वजावा रामचन्द्र प्रधान-१८३८-८६, वामन दाजी ओक-१८४५-९७ और विष्णु मोरेश्वर महाजनी १८५१-१९२३ के नाम पहले हमारे सामने आते हैं। ये मध्यप्रदेश में आकर कुछ दिन रहे थे और मराठी काव्य इतिहास की दृष्टि से केशवसुत पूर्वकालीन कवियों में गिने जाते हैं। स्व. प्रधान ने १८६७ में स्काट की "लेडी आफ दी लेक" का मराठी रूपान्तर "देवसेनी" नाम से लिखा। वामन दाजी ओक ने भी थोड़ी बहुत काव्य रचना की है। "श्रीमन्माधव निधन", "गणपति निधन विलाप", "कादम्बरी कथासार" और "कृष्णकुमारी" उनकी प्रसिद्ध कविताएं हैं। सन् १८५५ में इन्होंने "काव्य माधुर्य" नाम से अर्वाचीन कवियों का पहला काव्य संग्रह संपादन कर प्रकाशित किया। मोरेश्वर महाजनी की कविता प्रायः रूपान्तरित है। परन्तु रूपान्तर करने की कला उन्हें अच्छी तरह सिद्ध हुई है। महाजनी और प्रधान कुछ समय के लिये अकोला और रायपुर में रहे हैं।

केशवसुत कालीन आधुनिक कवियों के एक प्रसिद्ध कवि श्री रेवेरेण्ड नारायण वामन तिलक तथा उनकी पत्नी कवियित्री लक्ष्मी बाई तिलक ने अपने जीवन का कुछ समय नागपुर और राजनांदगांव में व्यतीत किया था। तिलकजी की "वनवासी फूल", "माझी भार्या" और "सुशीला" आदि कविताएं प्रसिद्ध हैं।

खास मध्यप्रदेश के कवियों का विचार करते हुए प्रथमतः स्व. नीलकंठ बलवंत भवालकर, स्व. अच्युत सीताराम साठे, आनंद राव टेकाड़े १८८८, जयकृष्ण केशव उपाध्ये १८८३-१९३७, श्रीनिवास रामचन्द्र बोबड़े १८८६-१९३४ का हमें उल्लेख करना चाहिये। ये सब साधारणतः समकालीन कवि हैं। अपने समय में ये लोग एक प्रकार से नागपुर

के साहित्य प्रान्त के नेता ही थे। उपाध्ये जी नागपुर के एक प्रख्यात व्यंग काव्यकार थे। मराठी में "विडम्बन काव्य" सर्वप्रथम उपाध्ये जी ने ही लिखा और विडम्बना के लिये भी उन्होंने एकदम भगवद्गीता को ही पकड़ा। उन की यह विडम्बना कविता अप्रतिम हुई हैं। उनकी विनोदी कविताओं का संग्रह "पोपट पंची" और "उमर खैयाम की रुबाइयों का मराठी काव्यानुवाद" प्रसिद्ध है। बोबड़े जी बड़े रसिक गृहस्थ थे। उनकी कविताएं शृंगार रस से ओत प्रोत हैं। इन्होंने अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले "मृत्यु गीत" नाम की अत्यन्त करुण और भावपूर्ण कविता लिखी है।

आनंद कृष्णाजी टेकाड़े और नारायण केशव बेहरे दोनों नागपुर के हैं और देशभक्ति पर लिखी कविताओं के लिये प्रसिद्ध हैं। टेकाड़े जी की कविताओं का संग्रह "आनंद गीत" के नाम से चार भागों में प्रकाशित हो गया है। इन-की कविताएं बम्बई विश्वविद्यालय की बी. ए. की परीक्षा के लिये पाठ्य-क्रम में सम्मिलित हैं। इनका "हा हिन्द देश माझा" नामक गीत सुप्रसिद्ध है। अपनी कविताओं को बहुत अच्छी तरह से गाकर कहने वाले संभवतः मराठी के ये पहले ही कवि हैं। बेहरे जी की कविताएं "मोत्यांची माळ" नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। उनकी "सप्तर्षि" नामकी कविता ने किसी समय बड़ी धूम मचा दी थी। आपकी पत्नी श्रीमती लक्ष्मी बाई बेहरे की कविताओं का संग्रह भी "सुमन माला" नाम से प्रकाशित हुआ है। इन दोनों के साथ ही, कई वर्षों से कविता करने वाले कवि भूषण बलवंत गणेश खापर्डे का उल्लेख करना चाहिये। खापर्डे जी ने रवीन्द्र की गीतांजलि की तरह कुछ गूढ़ भक्तिपूर्ण कविताएं लिखी हैं। "सर्वस्वाचों गाणी" और "अनंताची हांक" नाम के आपके दो दीर्घ काव्य प्रसिद्ध हैं।

मराठी काव्याकाश में ध्रुव तारे की तरह चमकने वाले विदर्भ के कवि नारायण मुरलीधर गुप्ते—१८७४—१९४७—उपनाम "बी" (BEE) ने अपना नाम मराठी साहित्य के आधुनिक कवियों में अमर कर लिया है। श्री गुप्ते जी प्रसिद्धि से घबराते थे। इसलिए उनकी कविताओं का संग्रह बहुत देर में–१९३४–में प्रकाशित हुआ। "बी" की कविताओं के एक संग्रह का नाम "फुलांची ओंजल" है। उसकी आलोचना करते हुए आचार्य अत्रे ने कहा है–"बी (B) नाम से भले ही बी (B) हों, पर उनकी कविताएँ अवश्य ए-वन (A-1) हैं।" "बी" ने बी (BEE)—मधुमक्खी—उपनाम से अपनी सारी कविताएँ लिखी हैं। उनकी "वेड गाणें" नाम की पहली ही कविता सन् १९२१ ई. में बम्बई से प्रकाशित होने वाले तत्कालीन मराठी के एक श्रेष्ठ मासिक पत्र, मासिक मनोरंजन में, प्रकाशित हुई थी और उसने रसिक पाठकों के हृदय को गुदगुदा दिया। "बी" का सारा जीवन अकोला में मामूली क्लर्क की हैसियत से कलम घिसते ही बीता। व्यापक विचारों को अत्यन्त थोड़े शब्दों में प्रकट करने में "बी" कुशल थे। उन्होंने अपनी सारी कविताएँ अपनी प्रौढ़ावस्था में ही लिखी हैं। उनकी "चोरांताची कमला", "चांफा", "माझी कन्या", "डंका", "पिंगा" आदि कविताओं में उनका कल्पना-वैभव, रचना-कौशल, भाव-प्रदर्शन और उदार सामाजिक मत दिखाई देते हैं।

कवि "बी" के बाद भी महाविदर्भ ने मराठी कविता साहित्य को अनेक नामांकित कवि दिये। इस काव्य कर्तृत्व का श्रेय आत्माराव राव जी देशपांडे, उपनाम "अनिल"—१९०१—, गुणवंत हणमंत देशपांडे—१८९७—, वामन नारायण देशपांडे १९०३—को और अन्य कुछ कवियों को भी जाता है। "अनिल" की कविताओं का पहला संग्रह—"फुलवांत"—नाम से सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ। अपने प्रगाढ़ प्रेमभाव का हृदयस्पर्शी प्रदर्शन करने में अनिल जी सिद्धहस्त हैं। इस संग्रह के बाद उनके और भी दो तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। उनका "भग्न मूर्ति" नामक दीर्घ काव्य मुक्त छंद में है। रसिकों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। अनिल की कुछ कविताएँ मानवतावादी और क्रान्तिकारी सामाजिक आशय से पूर्ण हैं। इसलिए कुछ आलोचकों ने उन्हें मराठी के नवकविता प्रवर्तकों में शीर्ष स्थान दिया है।

मराठी में सर्व प्रथम सफल गूढ़ रहस्यवादी (mystic) कविता निर्माण करने का श्रेय जिला यवतमाल के प्रतिभासम्पन्न कवि गुणवंत राव देशपांडे को ही देना होगा। सन् १९१५ से आप काव्य-लेखन कर रहे हैं। उनकी

कविताओं का संग्रह—"निवेदन"—नाम से सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ। यवतमाल में अध्यापन व्यवसाय करने वाले कवि वामनराव देशपांडे की कविताओं के संग्रह-आराधना—१९३८, और अनामिका—१९५०, में प्रकाशित हुए। अनिल जी की तरह आपने भी मुक्त छंद अपनाया और काव्य रचना में नए-नए प्रयोग किए। आपने "कपट वेष" और "नंदनवन मुकल्यावर" नामक नाट्य गीत लिख कर मराठी में नाट्य गीत की नई परम्परा डाली।

भवानीशंकर श्रीधर पंडित (१९०५), नागोराव घनश्याम देशपांडे (१९०६), यादव मुकुंद पाठक (१९०५), दत्तात्रय चिंतामण सोमण (१९१२) और शरच्चन्द्र मुक्तिबोध (१९२१)—ये आज के मध्यप्रदेश के प्रथम पंक्ति के कवि कहे जा सकते हैं। पंडित जी की कविताओं के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। मराठी कविता के तांबे सम्प्रदाय के इस कवि की कविताएँ प्रसादपूर्ण होती हैं। छोटे बच्चों के लिए भी पंडित जी ने सुन्दर गीत लिखे हैं, जो शिशु समाज में बड़े लोकप्रिय हैं। मेहकर के वकील ना. घ. देशपांडे, भाव-गीत लिखने में बड़े प्रवीण हैं। उनके भाव गीत रिकार्ड हो जाने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुए। इनकी कविता गेय होती है। ये सौन्दर्यवादी कवि हैं। श्री राजा बढ़े एक प्रतिभाशाली भाव-गीतकार और सौन्दर्यवादी कवियों में गिने जाते हैं। ये नागपुर के रहने वाले हैं, पर वर्तमान समय में व्यवसाय के निमित्त बंबई में रहते हैं। उनका "माझिया माहेरा जा" नाम का फिल्मी और भाव-गीतों का संग्रह प्रकाशित है। बढ़े जी की रचना कोमलकान्त पदावलि से युक्त रहती है। रूप की झिलमिल और कोमलता उनकी काव्य-सुन्दरी की खास विशेषता है। उनकी शब्द योजना नाद मधुर होती है।

नागपुर के यादवराव पाठक की "शशि मोहन" नामक कविता तीस वर्ष पहले प्रकाशित हुई। आपका काव्य-लेखन आज भी जारी है। पर उनका कोई अन्य काव्य-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। बरार के द. चि. सोमण की कविताओं के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। किसी विशिष्ट भाव वृत्ति (मूड) को साकार करने में सोमण जी कुशल हैं।

नागपुर के शरच्चन्द्र मुक्तिबोध नव कविता के एक अत्याधुनिक सम्प्रदाय के अध्वर्यु की हैसियत से ही मराठी पाठकों के सामने उपस्थित हुए हैं। यंत्रयुगीन मानवता का करुण क्रंदन, दारुण दुःख एवं समाज की विफलता का प्रभावोत्पादक चित्रण मुक्तिबोध जी ने अपनी कविता में किया है। परंतु वे मार्क्सवादी विचारों के हैं। इसलिए उनका स्वर केवल निराशा का नहीं है। भविष्य के गर्भ में छिपी क्रान्ति की प्रतिध्वनि उनकी कविताओं में गूंजती है।

आदि मराठी कवियित्री महदंबा ने जहां वास किया था, उस प्रदेश में आज कोई यशप्राप्त मराठी कवियित्री नहीं, यह सच है। श्रीमती लक्ष्मी बाई बेहरे का उल्लेख हमने पहले कर दिया है। इनके अतिरिक्त जबलपुर की श्रीमती मनोरमाबाई नावलेकर और नागपुर की श्रीमती विमलाबाई देशपांडे के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रीमती नावलेकर की कविताएँ भावपूर्ण होती हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह "पणती" नाम से सन् १९५० में प्रकाशित हुआ है। आत्मीय भावों का हृदयस्पर्शी प्रदर्शन करने का सामर्थ्य श्रीमती देशपांडे के पास बहुत परिमाण में है, यह उनकी कविताओं के—"निर्माल्य माला" नामक संग्रह से दिखाई देता है।

अत्यन्त सुन्दर ग्रामीण गीत लिखने वाले यवतमाल के श्री पांडुरंग श्रावण गोरे (१९०५) भी एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। यवतमाल के श्री नारायण नागोराव हूड, वणी के श्री ना. म. सरपटवार (१९०३), अमरावती के श्री रघुनाथ दत्तात्रेय सरंजामे (१८९५) आदि, कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हूड जी की कविताओं का संग्रह "पराग" नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री सरंजामे जी की—झिम्मा— नाम की कविता प्रसिद्ध है।

इनके अतिरिक्त अकोला में रहने वाले "कृष्णमूर्ति" ने एक खण्ड काव्य लिखा है और उनकी कविताओं का संग्रह "कृपा" नाम से प्रकाशित हुआ है; मो. आ. शहाणे, कवि हुताश, वऱ्हाडपांडे और केशव गोपाल ताम्हण के नाम भी उल्लेखनीय हैं। मध्यप्रदेश की आजकल की तरुण पीढ़ी में अनेक उदीयमान कवि हैं। जिन पर विहंगम दृष्टि ही डाली जा सकती है।

मराठी नाटक का आरंभ विष्णु अमृत भावे के "सीता स्वयंवर" नाटक से हुआ, जिसकी रचना सन् १८८५ ईस्वी में हुई थी। भावे जी सांगली के थे और इस तरह पहले ही से विदर्भ का मराठी नाटक से संबंध कम रहा। अर्वाचीन काल में मराठी नाट्य कला और रंगभूमि का पुनरुद्धार करने के बहुत बड़े प्रयत्न नागपुर में हुए और इसका अधिकांश श्रेय प्रो. श्री. ना. बनहट्टी को है। उन्होंने डा. बर्वे और गोमकाले जैसे अपने सहकारियों के साथ "अभिनव नाट्य मन्दिर" नाम की एक संस्था स्थापित कर संमिश्र नाट्य प्रयोगों की नागपुर में नींव डाली।

मराठी नाट्य साहित्य के एक आचार्य श्री तात्या साहब कोल्हटकर, बरार के ही निवासी थे, जो प्रायः खामगांव में रहा करते थे। उन्होंने गुप्त मंजूषा, मूक नायक, मति विकार, प्रेम शोधन इत्यादि, नाटक लिखे हैं। दूसरे प्रसिद्ध नाटककार श्री भा. वि. उर्फ मामा वरेरकर का पहला सुप्रसिद्ध नाटक—कुंज विहारी—का प्रथम प्रयोग खामगांव में हुआ। इसलिए वे स्वयं अपने को वैदर्भीय कहते हैं। महाराष्ट्र के सबसे प्रिय नाटककार और कवि राम गणेश गडकरी ने इसी प्रदेश में नागपुर के पास सावनेर में अपनी देह छोड़ी। बरार के सुप्रसिद्ध नेता श्री दादा साहेब खापर्डे नाटकों के बड़े मर्मज्ञ और शौक़ीन थे। उनके प्रोत्साहन से राष्ट्रीय आन्दोलन में लगे कुछ लोगों का ध्यान नाटकों की ओर आकर्षित हो गया। अमरावती के श्री वामनराव जोशी का "राक्षसी महत्वाकांक्षा" नामक नाटक आज विद्यालयों में पढ़ाया जाता है। आपका "रण दुन्दुभी" नामक एक नाटक, जिसे ब्रिटिश सरकार ने ज़ब्त कर लिया था, बड़ा प्रसिद्ध है। वामनराव जी के नाटक ओज से भरे होते हैं। भव्य घटनायुक्त और संघर्षात्मक नाट्य लिखने में आप सिद्धहस्त हैं। आप को यदि बरार के "खाडिलकर" कहा जाय, तो कोई हर्ज नहीं। अमरावती के दूसरे नाटककार श्री ना. र. बामणगांवकर ने "धनुर्भंग" और "आत्मतेज" नामक पौराणिक नाटक लिखे और वे मंच पर खेले भी जा चुके हैं। खाडिलकर की तरह पौराणिक कथा पर प्रचलित राजनीति का रूपक चढ़ाने के कारण आपका "धनुर्भंग" नाटक ब्रिटिश सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। अब उसका नया संस्करण हाल ही में बंबई से प्रकाशित हुआ है।

श्री वा. वा. भोले इस प्रदेश के उल्लेखनीय नाटककार हैं। कुमारी माता का प्रश्न लेकर उन्होंने इब्सेन के नव-नाट्य-तंत्रानुसार "सरला देवी" नामक नाटक लिखा जो मराठी साहित्य में अपने ढंग का पहला नाटक माना जाता है। आपके दूसरे नाटक का नाम "अरुणोदय" है। श्री भोले एक अनुभवी नाट्य निर्देशक भी हैं। श्री वि. रा. हंबर्डे, इस प्रदेश के पुराने नाटककार हैं और आज भी नाटक लिखते हैं। फिर भी उनका "१८५७" नाम का नाटक सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ था। आपने हाल ही में "बाजीराव मस्तानी" नामक नाटक लिखा है और वह मराठी रंगमंच पर खेला जा चुका है। नागपुर के श्री नाना जोग ने "चित्रशाला" और "सोन्याचे देव" नामक दो प्रयोगात्मक नाटक लिखे हैं, जो काफ़ी प्रसिद्ध हैं। श्री पु. भा. भावे ने भी "विष कन्या" नाम का एक मनोविश्लेषणात्मक और पुरोगामी स्त्री का जीवन दर्शन कराने वाला नाटक लिखा है। डा. वि. भि. कोलते ने "सोड चिट्ठी" नामक एक हास्य प्रधान लघु नाटक लिखा है। श्री व. श्री. वरखेड़कर ने "ध्येयाचा ध्यास" और "पूर्वग्रह" नाम के दो नाटक लिख कर नाट्य साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। श्री शं. ना. काका सहस्रबुद्धे, बहुत पुराने नाटककार हैं और उनके लिखे "खरा प्रेम सन्यास" और "रानी चन्द्रावती" नामक नाटक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार स्व. नारायणराव दीवानजी ने भी "सुनेचा साफला" आदि नाटक लिखे हैं।

सन् १९४८ में नागपुर में आकाशवाणी केन्द्र की स्थापना हुई और तब से छोटे-छोटे नाटक लिखने के लिए अनेक नए लेखक अग्रसर हुए हैं। इनमें श्रीराम डोके और पु. व्यं. दारव्हेकर के नाम उल्लेखनीय हैं। अमरावती के प्रो. मधुकर अष्टीकर हास्य प्रधान नाटक लिखने में कुशल हैं। व्यंकटेश शंकर वकील ने कुछ सुन्दर एकांकी और "जन्मा चे सोबती" नामक नाटक लिखा है।

मध्यप्रदेश में नागपुर का 'अभिनव नाट्य' मन्दिर, 'नागपुर नाट्य मंडल' 'सहकारी संस्था' आदि शौक़ीन कला-

कारों के द्वारा स्थापित की गई नाट्य संस्थाएँ हैं। विदर्भ नाट्य मंदिर के आधारस्तम्भ श्री द. दा. फड़के और काका सहस्त्रबुद्धे हैं। जबलपुर में भी लगभग ४० वर्षों से एक नाट्य समाज चल रहा है।

आजकल इस प्रदेश में नाटकों के खेल पर मनोरंजन कर माफ़ है। इसलिए बाहर की नाटक मंडलियों का यहां तांता-सा लगा रहता है। किसी भी अभिनेता और अभिनेत्री को पकड़ कर ये मंडलियां नए और पुराने नाटकों को खेला करती हैं और काफी धन कमाती हैं। मनोरंजन कर माफ़ हो जाने से एक बड़ा भारी लाभ यह हुआ कि सर्वत्र नाट्यानुकूल वातावरण का निर्माण हो गया है और छोटी-छोटी नाटक मंडलियां और क्लब भी शौक़ से नाटक खेल कर श्रेष्ठ अभिनय कला का आनन्द लूटने लगे हैं।

मराठी साहित्य का उपन्यास अंग सर्वस्व में ब्रिटिश शासन काल में ही पुष्ट हुआ है। इसलिए उसकी परंपरा को आदि काल में खोजने की आवश्यकता नहीं। इस प्रदेश के पहले उपन्यासकार श्री बालकृष्ण संतुराम गडकरी हैं। उनके "पतितेचे हास्य", "वृन्दा", "हीन का सुधारणा" आदि उपन्यास प्रसिद्ध हैं। स्व. श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने "श्याम सुन्दर" और "दुटप्पी की दुहेरी" नामक दो उपन्यास लिखे हैं। नारायण केशव बेहरे के "उत्तर राम चरित्र", और "अहिल्योद्धार" नामक उपन्यास हृदयग्राही हैं। ये उपन्यास पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं और सन् १९३० से पहले लिखे गए हैं। उपर्युक्त उपन्यास यद्यपि अपने ढंग के अच्छे उपन्यास हैं, फिर भी सन् १९०० से लेकर सन् १९२० तक महाराष्ट्र में स्व. हरि नारायण आपटे के उपन्यासों ने मराठी उपन्यास विभाग को जिस प्रकार समृद्ध किया, उस प्रकार इस प्रदेश के लेखकों ने नहीं किया। परंतु स्व. नीलकंठ बलवंत भवालकर को इसका अपवाद मानना होगा। उनका "बेहेन फिरोज" नामक उपन्यास पूर्ण रूप से सेक्स विषय को लेकर लिखा गया है और वह सन् १९३० से पहले ही प्रकाशित हो गया था। मराठी सेक्स विषय पर पहला उपन्यास लिखने का श्रेय इस प्रदेश के भवालकरजी को ही देना चाहिये। इस समय के उपन्यासकारों में अ. तु. वालके और श्रीमती कमलाबाई बंबावाले के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

डा. श्रीधर व्यंकटेश केतकर का जन्म रायपुर में और शिक्षा अमरावती में हुई। आगे वे पूना चले गए। फिर भी इस प्रदेश का उन पर पूर्ण अधिकार है। उनके "गोंडवानांतील प्रियंवदा", "ब्राह्मण कन्या" और "गाव सासू" नामके उपन्यासों ने मराठी उपन्यास साहित्य में एक भिन्न आंगण ही निर्माण कर दिया है। डाक्टर केतकरजी ने मराठी उपन्यास के प्रवाह को, जो केवल मध्यम वर्ग तक ही सीमित था, विशाल कर दिया। समाज के उपेक्षित प्रश्नों का समाज समाज- शास्त्र के दृष्टिकोण से निर्भयतापूर्वक विश्लेषण और आसपास के कुछ प्रमुख व्यक्तियों का कथा भाग में चित्रण उनके उपन्यासों की विशेषता है।

सन् १९३० के पश्चात् इस प्रदेश के प्रमुख उपन्यासकारों में श्री पुरुषोत्तम यशवंत देशपांडे और श्री गजानन त्रिंबक माडखोलकर के नाम उल्लेखनीय हैं। देशपांडे जी का "बंधनाच्या पलीकडे", नामक पहला उपन्यास सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में वेश्या से विवाह करने के प्रश्न पर चर्चा की गई है। इसलिए तत्कालीन दकियानूसी समाज में इस उपन्यास ने बड़ी सनसनी मचा दी थी। आपके "सुकलेले फूल" और "सदाफुली" नामक दो उपन्यास बाद में प्रकाशित हुए।" सुकलेले फूल" नामक उपन्यास में एक प्रेम वंचिता की हृदयस्पर्शी आत्म-कथा है।

श्री माडखोलकर जी मराठी भाषा के एक प्रतिभाशाली लेखक हैं और उनके उपन्यासों में भी उनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। गत बीस वर्षों में आपके कोई तेरह उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। आपके उपन्यासों पर मराठी भाषा में बहुत टीका-टिप्पणी हुई है। आपका "मुक्तात्मा" नामक पहला उपन्यास सन् १९३० के लगभग प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् "चन्दन वाडी", "नवे संसार", "मुखवटे", "शाप", "नागकन्या" "डाक बंगला", और कान्ता", आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। सुन्दर रचना और स्वभाव चित्रण की सुसंगतता की दृष्टि से आपका "भंगलेले देऊळ" नामक उपन्यास अत्यन्त उत्कृष्ट है। मध्यप्रदेश की प्रचलित राजनीति और "खरे-प्रकरण" पर आपके

लिखे "मुखवटे" और "कान्ता" नामक उपन्यास अच्छे माने जाते हैं। "कान्ता" नामक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है, जो इलाहाबाद की माया सिरीज में प्रकाशित हुआ है। वर्ण्य विषय का आकर्षक ढंग से वर्णन करने में और सुन्दर लेखन शैली से पाठकों का मन आकर्षित कर लेने में माडखोलकर जी सिद्धहस्त हैं। श्री माडखोलकर नौकरी के लिए सन् १६२६ ई. में पूना से नागपुर आए।

श्री शंकर बालाजी शास्त्री इसी प्रदेश के उपन्यासकार हैं। आपके भी एक-दो उपन्यास प्रदेश के बाहर ही प्रकाशित हुए हैं। सन् १६२६ के पश्चात् ही आपने आठ-नौ उपन्यास लिखे हैं। स्पष्ट, हृदयग्राही और मनोरम उपन्यास लिखने के लिए शास्त्री जी प्रसिद्ध हैं। आप के "लक्ष्मी", "अड़ेल तट्टू", "अमावस्या", नाम के उपन्यास सुन्दर हैं और उनके उपर्युक्त गुणों की साक्षी देते हैं।

इनके बाद प्रमुख उपन्यास लेखकों में केवल एक ही उपन्यास लिख कर प्रसिद्ध हुए श्री विश्राम बेडेकर का उल्लेख करना पड़ेगा। बेडेकर जी सुप्रसिद्ध फिल्म कहानी लेखक और निर्देशक हैं। वे अमरावती के निवासी हैं और उनकी शिक्षा भी इसी प्रदेश में हुई है। "रणांगण" नामक उपन्यास लिख कर आप सम्पूर्ण विश्व को मराठी उपन्यास में ले आए हैं। आपका यह उपन्यास अत्यन्त हृदयग्राही है और मराठी साहित्य में अपूर्व है। इस प्रदेश की श्रीमती कृष्णा बाई मोटे ने भी "मीनाक्षी चे जीवन" नाम का एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास लिखा है, जिसमें मीनाक्षी नाम की एक पढ़ी-लिखी स्त्री के स्वभाव का चित्रण बहुत अच्छा बन पड़ा है।

शरच्चन्द्र टोंगो के "प्रलय", "सत्कार", "लकेरी" और कुमारी लीला देशमुख के "वीणा", "दोन घड़ीचा डाव", "दूर कोठेतरी", "मी एकटीच जाणार" नाम के उपन्यासों में श्री ना. सी. फड़के का अनुकरण है और वे मनोरम हैं। परन्तु इनमें भी यवतमाल के टोंगो जी ने अच्छी प्रगति दिखाई है। उनका "लकेरी" नामक उपन्यास एक अच्छी कृति है, जिसमें ग्रामीण जीवन का सुन्दर चित्र अंकित है। श्रीमती गीता साने मराठी भाषा की एक अनुभवी पुरानी लेखिका हैं। आप यद्यपि बिहार प्रदेश में रहती हैं, फिर भी वे इसी प्रदेश की लेखिका हैं। आप के "आविष्कार", "निखल-लेली हिरकणी", "वठलेला वृक्ष" इत्यादि नाम के उपन्यास प्रसिद्ध हैं, जिन में आपने विवाह, स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता आदि प्रश्नों का नवमतवादी, पुरोगामी दृष्टिकोण से चित्रण किया है। श्री व्यंकटेश वकील ने इटालियन उपन्यासकार इग्नात्सिओ सिलोने के "फांटमार" और पर्ल बक के "गुड अर्थ" नामक उपन्यासों के सरल और सुन्दर मराठी अनुवाद किए हैं। श्री पु. भा. भावे ने पतित स्त्री की समस्या को लेकर "अकुलिना" नाम का एक अत्यन्त सुन्दर और हृदयस्पर्शी उपन्यास लिखा है। इनके अतिरिक्त भा. मु. पाठक ने "बखबख्या च्या सारेत" कृष्णमूर्ति ने "मैना", और "कुम्बन", आ. तु. वालके ने "अपोलो बंदरावर", श्रीमती कमलाबाई बंबावाले ने "बंधमुक्ता" और प्रो. व्यं. रा. वनमाली ने "आदिमाया" नाम के उपन्यास लिखे हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। "जयपराजय" नामक उपन्यास की लेखिका श्रीमती सुमति धनवटे और "सुरंग" नामक उपन्यास के लेखक श्री ल. भा. वखरे के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखिका श्रीमती शान्ता शेलके भी अब इस प्रदेश में आ गई हैं। "शितू" की तरह श्रेष्ठ उपन्यास लिखने वाले, बम्बई राज्य के श्री गो. नी. दांडेकर भी इसी प्रदेश के निवासी हैं। आपका जन्म अचलपुर में हुआ और शिक्षा नागपुर में हुई। यह मध्यप्रदेश के लिए बड़े अभिमान की बात है। श्री व. शं. वरखेड़कर के "संक्रमण" और "पाहुणे" तथा श्री गोपाल मिरलकर का "पावना" नाम का उपन्यास उल्लेखनीय है। श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध के "क्षिप्रा" नामक उपन्यास की आजकल धूम है।

इनके अतिरिक्त अनेक तरुण लेखक और लेखिकाएँ मराठी उपन्यास के प्रांगण को अपनी प्रतिभा से समृद्ध कर रहे हैं और भविष्य में उनसे बड़ी आशाएँ हैं।

मराठी में कहानी साहित्य गत तीस-चालीस वर्षों में ही अधिक लोकप्रिय हुआ और बहुत से तरुण लेखक उसकी ओर झुकने लगे। वर्तमान समय में मराठी साहित्य का कहानी-विभाग काफ़ी समृद्ध है और अनेक तरुण कथाकार सुन्दर कहानियां लिख रहे हैं।

पुराने लेखकों में कहानी लिखने वाले श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर इसी प्रदेश के थे। उनकी चार कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित हैं। माडखोलकर जी ने भी बहुत कहानियां लिखी हैं और उनकी कहानियों के संग्रह "रातराणी ची फुलें" और "शुका चे चांदणे" नाम से प्रकाशित हुए हैं।

नागपुर मारिस कालेज की प्रो. कुसुमावती बाई देशपांडे हमारे प्रान्त की पहली प्रसिद्ध कहानी लेखिका हैं। उनकी कहानियों के संग्रह "दीपकली", "दीपदान" और "मोली" नाम से प्रकाशित हुए हैं। पीड़ित और दुःखियों के प्रति सहानुभूति उनकी कहानियों की विशेषता है। इस प्रान्त के श्री वामन चोरघड़े और श्री पु. भा. भावे, मराठी कथाकारों में अग्रगण्य हैं। चोरघड़े जी की कहानियों के "सुषमा", "हवन", "यौवन", "प्रस्थान" और "पाथेय" नाम के संग्रह प्रकाशित हैं। चोरघड़े जी कवितामय वातावरण निर्माण कर के गूढ़ भावों को कोमलता से प्रदर्शन करने में कुशल हैं। भावे जी आज के मराठी के सबसे अधिक लोकप्रिय कलाकार हैं जो मध्यप्रदेशवासियों के लिए बड़े अभिमान की बात है। भावार्त वातावरण निर्माण कर के पात्रों के मनोभावों के उत्कट खेल में पाठकों को पूर्ण रूप से बेहोश कर देने का सामर्थ्य भावे जी की कहानियों में हैं। आप मनोविश्लेषण भी बहुत सुन्दर करते हैं। आप के "पहला पाऊस", "ध्यास", "स्वप्न", "फुलवा" और "मुक्ति" नामक कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं; जो मराठी साहित्य के अमर अलंकार बन गए हैं।

सन् १९३० के पश्चात् इस प्रदेश में "विहंगम", "वागीश्वरी" और "विश्ववाणी" आदि मासिक पत्रिकाएँ निकलीं। इनमें और बाहर के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी बहुत से नए कहानी लेखक आगे आये। उनमें श्री प्रभाकर मांजरेकर, हृदयग्राही कहानियां लिखते हैं। उनकी कहानियों का संग्रह "उषः प्रभा" नाम से प्रकाशित हैं। इन लेखकों में श्री. व्यं. नी. पंडित, श्री. य. व. शास्त्री, कृष्णमूर्ति, भा. श्री. परांजपे, श्री बाल शंकर देशपांडे और अमरावती के प्रभाकर निमदेव के नाम उल्लेखनीय हैं। इन के कहानियों के संग्रह क्रमशः "चालते बोलते देव", "लांव लांव सावल्या", "चन्द्रकला, "अभिसार", "यमुना जळी" और "मृगा चा पाऊस" नाम से प्रकाशित हुए हैं। ये प्रायः सभी कथाकार, अच्छे लेखक भी हैं। इनके अतिरिक्त दो न्यायाधीश, श्री. पु. वा. साठे और श्री. प्र. मु. पाठक, अनूदित कहानियां लिखने वाले श्री व्यंकटेश शास्त्री व शंकर शास्त्री, श्री. भा. द. भावे, श्री. गो. र. देशपांडे, श्रीमती अंबिका बेहरे, श्री. ग. स.देवपुजारी, श्री. द. ग. प्रधान इत्यादि अनेक लेखक उस समय कहानियां लिखा करते थे और इनमें से कई आज भी लिखते हैं। परन्तु वर्तमान समय में श्री. पु. भा. भावे और श्री. के. ज. पुरोहित (शांताराम), इस प्रदेश के प्रथम पंक्ति के कहानीकार हैं। श्री भ. रा. देशपांडे का, जो किसी समय आज़ाद हिन्द फ़ौज में थे, "स्फोटपा" नाम का एक सुन्दर कहानी-संग्रह प्रकाशित है। नागपुर के केशव केलकर और अकोला के शान्ताराम जैन भी सुन्दर कहानियां लिखते हैं।

मराठी में लघुनिबन्ध लिखना प्रो. ना. सी. फड़के ने प्रारंभ किया। किसी भी विषय पर प्रसन्न,खिलाड़ी, परन्तु फिर भी विचारपूर्ण ललित गद्य लिखने की परम्परा फड़के जी के "गुज गोष्टी" नामक लघुनिबन्ध ने डाली।

हमारे प्रदेश में श्री भ. श्री पंडित ने "सवडी चे क्षण" नामक लघु निबन्ध लिख कर यह प्रयत्न किया। श्री पु. भा. भावे ने कुछ हास्य-प्रधान लघु निबंध लिखे हैं। उनके लघु निबंधों का "वांकुल्या" नामक एक संग्रह प्रकाशित है। ये निबंध बड़े हृदयग्राही हैं। श्री शान्ताराम और श्री गो. रा. दोडके आज के प्रमुख लघु निबंधकार हैं। शान्ताराम के लघु निबंधों का संग्रह "सांवलाच रंग तुझा" नाम से और दोडके का "माहेरवाशीण" नाम से प्रसिद्ध हैं और अपने विशेष गुणों के कारण सर्वत्र लोकप्रिय हो गए हैं। मध्यप्रदेश के वित्त मंत्री श्री ब्रिजलाल बियाणी की "कल्पना कानन" नामक हिन्दी पुस्तक का स्व. प्रमिलाबाई ओक ने मराठी में अनुवाद कर मराठी साहित्य में एक भावरम्य ललित गद्यात्मक संग्रह निबन्ध उपस्थित कर दिया है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है।

विनोबाचार्य श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर और उनके शिष्य राम गणेश गडकरी के इस प्रदेश में आचार्य अत्रे, चि. वि. जोशी और पु. ल. देशपांडे की जोड़ के हास्यरस के लेखक न हों, यह दुर्भाग्य की बात है। आज के हास्यरस के लेखकों में इस प्रदेश के तरुणलेखक श्री पु. व्यं. दारव्हेकर, श्री राम डोके और श्री मधुकर आष्टिकर के नाम अवश्य उल्लेखनीय हैं।

मराठी में चरित्र-लेखन अंग्रेजी के अनुकरण से ही आरंभ हुआ है। इससे पहले के चरित्र ग्रंथ काव्य में थे और उनमें पुराणों में वर्णित देवताओं तथा वीरों के जीवन की लंबी-लंबी कहानियां लिखी रहती थी। गद्य में लिखा "लीला चरित्र" और महिपति द्वारा पद्य में लिखे संतों के चरित्र मराठी भाषा के सबसे पहले चरित्र ग्रंथ हैं। मध्यप्रदेश में संतों के जीवन-चरित्र अधिक परिमाण में लिखे मिलते हैं। इनमें श्री संत केसोजी महाराज, कोलबाजी महाराज, गुंगाजी महाराज इत्यादि संतों के जीवन-चरित्र केवल भक्ति-भाव से पूर्ण हैं और भक्तों के ही पढ़ने योग्य हैं। वरूड़ के श्री गोविन्द विठ्ठल राऊत ने "श्री संत सावता महाराज चरित्र" नामक एक चरित्र ग्रंथ लिखा है, जो सन् १९३० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ अवश्य अधिक प्रभावशाली और पठनीय लिखा गया है। बुलडाने के श्री पंढरीनाथ पाटील का लिखा "महात्मा फुले चरित्र" नामक जीवन चरित्र एक अच्छे चरित्र ग्रन्थों में गिना जाता है। मराठी में फुले जी की जीवनी पर लिखा यह पहला और एक ही विस्तृत जीवन चरित्र है और इस दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। सन् १९२९ में नागपुर के श्री उमाकान्त केशव उर्फ बाबा साहब आपटे ने पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का एक सुन्दर और सरस जीवन चरित्र लिखा है। नागपुर के दूसरे लेखक श्री अप्रबुद्ध ने सन् १९२६ में पूना के ब्रह्मर्षि अण्णा साहब पटवर्धन का जीवन चरित्र प्रकाशित किया जो बहुत विस्तृत है। इसके प्रतिरिक्त वामन दाजी ओक ने, जो कुछ समय तक इस प्रदेश में रहे थे, गुरु नानक की एक छोटी सी जीवनी लिखी है। प्रसिद्ध साहित्य सेवियों का व्यक्तित्व और साहित्य पर विवेचनात्मक जीवन चरित्र लिखने का श्रेय कम से कम इस प्रान्त में पहले श्री ग.त्र्यं. माडखोलकर और श्री.ना. बनहट्टी को देना होगा। आप लोगों ने अपने स्फूर्तिदाता श्री विष्णु कृष्ण चिपळूणकर का बृहत जीवन चरित्र सन् १९३१ में प्रकाशित किया। एक तो चरित्र नायक अद्वितीय व्यक्ति हैं और दूसरे दोनों लेखक अच्छे मंजे हुए सुप्रसिद्ध विवेचक और भाषा पंडित हैं। इसलिए सोने में सुहागे की तरह यह जीवन चरित्र मराठी में सबसे सुंदर ग्रंथ हो गया है। अभी एक वर्ष पहले ही माडखोलकर जी ने इस ग्रंथ का सुधरा हुआ द्वितीय संस्करण "चिपळूणकर—काल और कर्तृत्व" के नाम से प्रकाशित किया है। वर्धा के धर्मानंद कौसम्बी ने "बुद्ध लीला सार संग्रह" नामक गौतम बुद्ध विषयक पुस्तक लिखी जो मराठी में उस विषय की पहली पुस्तक है। इसके पश्चात् कौसम्बी जी ने "भगवान बुद्ध पूर्वार्ध व उत्तरार्ध" नामक दो ग्रंथ लिखे जिन्हें नागपुर की नवभारत ग्रंथमाला ने प्रकाशित किया और जो मराठी भाषा के लिये भूषण हो गए हैं। इन ग्रंथों में विद्वान् लेखक ने सिद्धार्थ गौतम की जीवनी एवं उनके कार्य और तत्त्वज्ञान का सांगोपांग विवेचन किया है। इन ग्रंथों के हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में भी अनुवाद हुए हैं।

इनके अतिरिक्त इस प्रान्त के उल्लेखनीय जीवन चरित्र "सर मोरोपंत जोशी चरित्र", "डा. हेडगेवार चरित्र" नाम के चरित्र ग्रंथ हैं जिन्हें उनके अनुयायियों ने लिखा है। सन् १९३० में श्री ना. के. बेहरे ने पहले बाजीराव पेशवा का जीवन चरित्र प्रकाशित किया जो भावनात्मक और आवेशपूर्ण है। प्राचीन काल के नागपुर के प्रसिद्ध शिक्षक श्री बलवंत हरि पंडित ने स्व. सत्यभामा बाई पंडित का जीवन चरित्र लिखा है जो मध्यप्रदेश के मराठी साहित्य में स्त्री विषयक पहला ही चरित्र ग्रंथ है।

अभी कुछ समय से श्री ज. रा. जोशी ने चरित्र लेखन में बड़ी लगन से पदार्पण किया है। डा. ना. भा. खरे के विस्तृत जीवन चरित्र का पहला भाग उन्होंने लगभग पन्द्रह वर्ष पहले ही प्रकाशित किया था। दूसरा बड़ा भाग भी सन् १९५० में प्रकाशित हो गया है। इस ग्रंथ में लेखक ने जो परिश्रम किया है वह कौतुकास्पद है। श्री जोशीजी

डा. केदार का वृहत् जीवन चरित्र लिख रहे हैं। डा. नाना साहब केदार का एक संस्मरण रूपी जीवनचरित्र श्रीमती रमाबाई केदार ने लिखा है जो सरस और पठनीय है।

गत दो वर्षों में प्रकाशित चरित्र ग्रंथों में, नागपुर के डा. वि. भि. कोलते का लिखा "श्री चक्रधर चरित्र" तथा वीर वामनराव जोशी और श्री ना. ग. अभ्यंकर का लिखा "महात्मा गांधी चे जीवन चरित्र" नामक दो चरित्र ग्रंथों का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरा ग्रंथ बम्बई से प्रकाशित हुआ है। ये दोनों ग्रंथ सिद्धहस्त लेखकों के द्वारा लिखे गये हैं।

आत्म-कथाओं में प्रथमतः धर्मानंद कौसम्बी के "प्रस्थान" और "निवेदन" नामक दो ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों में एक महान सत्योपासक ने अपने जीवन के अनुभवों का अत्यन्त संयमित शैली में जो निवेदन किया है वह पठनीय है। मध्यप्रदेश में पहली आत्मकथा श्री शिवराम खोंडदेव ओक ने लिखी। माडखोलकर जी की "दोन तपें" और "एका निर्वासिताची कहाणी" नामक दो आत्मकथाओं की तरह लिखी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। बैरिस्टर देशमुख ने "काल समुद्रांतील रत्नें" नाम की एक आत्मकथा लिखी है। अन्त में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रो. बनहट्टी द्वारा लिखे कुछ व्यक्तियों के परिचयात्मक लेखों का संग्रह उनके एक विद्यार्थी डा. माधव गोपाल देशमुख ने सन १६५१ में "एकावली" नाम से प्रकाशित किया। कुछ प्रख्यात भारतीयों के चरित्र और उनके कार्यों का विवेचन इस पुस्तक के लेखों में बहुत प्रभावशाली भाषा में मार्मिकता और संतुलन के साथ किया गया है।

इतिहास की खोज और तद्विषयक साहित्य में मध्यप्रदेश का मराठी विभाग बहुत आगे बढ़ा हुआ है और उसने बड़े उपयुक्त अनुसंधान किए हैं। क्योंकि विदर्भ का इतिहास अत्यन्त पुरातन और सम्पन्न होने के कारण उसकी ओर विद्वानों का ध्यान सहज ही में आकृष्ट हो गया। आज भी अनेक ऐतिहासिक स्थल और अवशेष अन्वेषकों के उत्खनन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। महाराष्ट्र के इतिहासाचार्य स्व. राजवाडे ने अपना कार्य आरंभ किया उससे पहले ही सन् १८६२ में वणी, जिला यवतमाल के स्व. श्री नीलकंठ लक्ष्मण ढुमे उर्फ सरमुकदम ने गोंडों के इतिहास और जमींदारों की सनदों के आधार पर "वणीचा इतिहास" नामक ग्रंथ लिखा है। यद्यपि वह आज भी अप्रकाशित है, तथापि मध्यप्रदेश के आद्य अन्वेषक का श्रेय उपयुक्त ग्रंथ को ही है। उन्हीं का "श्रीकृष्ण लीला सार संग्रह" नाम का दूसरा ग्रंथ रावबहादुर गोपालराव बुटी के आश्रय में सन् १८८५ में प्रकाशित हुआ जिस में महाभारत और पांडवों के काल के निर्णय का प्रयत्न किया गया है और श्रीकृष्ण से लेकर विक्टोरिया तक का भारत का इतिहास लिखा है। वर्तमान समय के वैज्ञानिक अनुसंधानों की दृष्टि से सर मुकदम के इस इतिहास ग्रंथ में बहुत सी खामियां हो सकती हैं, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आखिर वह प्रारम्भ का प्रयत्न है।

सन् १८८५ के पश्चात् नागपुर अनुसंधान का एक केन्द्र ही बन गया। नील सिटी हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक स्व. हरि माधव पंडित उसके प्रमुख थे। उनके मित्र वामन दाजी ओक, नीलकंठ बलवंत भवालकर, महामहोपाध्याय कृष्ण शास्त्री घुले, नारायणराव अलेकर आदि बड़े परिश्रमी और उत्साही अन्वेषक थे। इससे भी पहले चांदा के केशवराव जी भवालकर ने, जो एक सरकारी नौकर थे, सन् १८७१में "गोंडी भाषा—व्युत्पत्ति और व्याकरण" शीर्षक से कुछ लेख लिखे और उन्हें पूना के "विविधज्ञान विस्तार" नामक प्रसिद्ध मासिक पत्र में प्रकाशित कराया था। भाषा विज्ञान की दृष्टि से एक अत्यन्त उपेक्षित विषय पर मराठी में यह सबसे पहले विचार विमर्श हुआ है।

ऐतिहासिक खोज का पहला श्रेय भोंसला दरबार के रेजिडेन्ट जेंकिन्स के आश्रित स्व. विनायकराव औरंगाबादकर को है। छत्तीसगढ़ के प्राचीन शिलालेखों को सफलतापूर्वक पहले उन्होंने ही पढ़ा था। श्री रामपुर मिशन, बंगाल के प्रमुख डा. करे को बहुमूल्य सहायता देने वाले पंडित बैजनाथ शास्त्री कानफडे नागपुर के ही थे। उनका भी नाम उल्लेखनीय है।

स्व. हरि पंडित दूसरे प्रदेश से यहां आये थे, परन्तु इसी प्रदेश को उन्होंने अपना मान लिया था। आपने "विविध ज्ञान विस्तार" नामक मासिक पत्र में ऐतिहासिक विषयों पर अनेक लेख लिखे हैं। उनके मित्र वामन दाजी ओक ने सन् १८६० में "काव्य-संग्रह" नाम का एक मासिक पत्र निकाला जिसमें उन्होंने मोरोपंत, मुक्तेश्वर इत्यादि प्राचीन मराठी कवियों की अप्रसिद्ध और अन्धकार के गर्त में पड़ी कविताओं को अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया। ओक जी और उनके काव्य-संग्रह मासिक पत्र का स्थान केवल ऐतिहासिक अनुसंधान में ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मराठी साहित्य में महत्वपूर्ण हैं। अनेक प्राचीन कविताओं को प्रकाश में लाकर उन्होंने मराठी पाठकों को उनका ज्ञान करा दिया, अन्यथा वे अज्ञात ही रह जातीं। विशेषतः सुरजी के देवनाथ और वणी के गोविंद नामक कवियों की कविताओं को अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित कर उन्होंने विदर्भ साहित्य पर बड़े उपकार किये हैं। आप सरकारी नौकरी में इस प्रदेश के नागपुर और रायपुर नामक नगरों में रहे थे और उन्होंने बहुत सा अन्वेषण कार्य इन्हीं स्थानों से किया था।

श्री हरि पंडित के सहकारी नागपुर के श्री के. व्ही. लक्ष्मण राव और जबलपुर के श्री घंटैय्या नायडू ने भी विदर्भ के अन्वेषण कार्य में हाथ बटाया। के व्ही लक्ष्मणराव ने 'पंचवटी स्थान निर्णय' विषय पर पूना के 'विविधज्ञान विस्तार' नामक मासिक पत्र में लेख लिखे जिन पर विद्वानों में मतभेद हो जाने के कारण बड़ा वाद-विवाद खड़ा हो गया था और फिर अंत में हरि पंत जी ने उसका सुन्दर समारोप किया था। घंटैय्या नायडू ने 'मराठी भाषे ची पूर्वपीठिका' शीर्षक से एक बड़ा सुन्दर खोजपूर्ण लेख लिख कर मराठी में भाषा विज्ञान संबंधी लेख लिखने की नींव डाली। नागपुर के नारायणराव अलेकर, "पतितोद्धार मीमांसा" नामक संस्कृत प्रबंध के लेखक महामहोपाध्याय कृष्ण शास्त्री घुले और मारिस कालेज के अध्यापक महामहोपाध्याय के. ग. ताम्हन के नामों का भी इस प्रदेश के अन्वेषकों में उल्लेख करना चाहिये।

इतिहासान्वेषण के समान ही इतिहास-लेखन का भी महत्व है। इस प्रदेश का पहला इतिहासकार होने का श्रेय बुलढाने के स्व. यादव माधव काले को जाता है। काले जी सरकारी नौकर थे और आगे चलकर बड़े ऊंचे पद पर पहुंच गए थे। उन्होंने "वऱ्हाड़ चा इतिहास" और "नागपूर प्रान्ताचा इतिहास" नाम के दो बड़े ग्रंथ लिखे हैं। सरल भाषा, भरपूर जानकारी और सावधानतापूर्वक विषय-विवेचन इन ग्रंथों के विशेष गुण हैं जिनके कारण वे पठनीय हो गए हैं।

इसके पश्चात् लगता है कि प्रान्त के अधिकांश अन्वेषकों का ध्यान महानुभाव पंथ और उसके साहित्य की ओर आकृष्ट होगया था और इस कार्य के प्रारंभ का श्रेय डाक्टर यशवंत खुशाल देशपांडे को है। सन् १९२६ में डाक्टर साहब ने लोकनायक अणे के सहकार्य से "शारदाश्रम" नाम की एक संस्था यवतमाल में प्रस्थापित कर विदर्भ के इतिहासान्वेषण के कार्य को संगठित स्वरूप देने का प्रयत्न किया।

"शारदाश्रम" ने प्राचीन मराठी हस्तलिखित साहित्य की जिस प्रकार सावधानी से रक्षा की है और इतिहास का अध्ययन करने वालों की जो परम्परा निर्माण कर दी है उसे देखकर डाक्टर देशपांडे जी के कर्तृत्व की श्रेष्ठता का परिचय मिलता है। स्वयं डाक्टर साहब का अन्वेषण कार्य भी महान् है। संयोग से ही सन १९२० में महानुभाव साहित्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ। वे अनेक संतों से जाकर मिले और उनकी सांकेतिक लिपियों का उन्होंने अध्ययन किया और फिर अत्यन्त परिश्रमपूर्वक खोज के पश्चात् सन १९२६ में उन्होंने "महानुभावीय मराठी साहित्य" नामक अत्यन्त मौलिक ग्रंथ प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त "ऋद्धिपुर वर्णन," "परिसिद्धान्त सूत्र पाठ", "विष्णुदासाची कविता" नामक ग्रंथों का भी सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया है।

स्व. गो. ब. भवालकर और स्व. हरि नारायण नेने ने महानुभाव साहित्यान्वेषण का एक केन्द्र नागपुर में स्थापित किया था और उन्होंने "दृष्टांत पाठ" एवं "सिद्धान्त सूत्र" नामक ग्रंथ प्रकाशित किए, परन्तु विशेष महत्व के "लीला चरित्र नामक ग्रंथ का संपादन कर उसे अपनी टिप्पणी के साथ सन् १९३९में प्रकाशित किया जो विशेष उल्लेखनीय है।

यवतमाल के श्री वामन नारायण देशपांडे भी एक परिश्रमी अन्वेषक हैं। आद्य मराठी कवियित्री महदंबा के गीतों का संकलन कर उन्हें आप ही ने प्रथम प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त "नागदेव स्मृति" और "स्मृति स्थल" नामक दो ग्रंथों का भी सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया है। आज महानुभाव साहित्यान्वेषण में अग्रणी अखिल महाराष्ट्र के प्रख्यात विद्वान् डाक्टर विष्णु भिकाजी कोलते हैं। डाक्टर साहब ने भास्कर भट्ट बोरीकर की भगवद्गीता" का सम्पादन कर उसे अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया और उसके बाद शीघ्र ही इसी कवि के जीवन कार्यों पर पर लिखा अपना विवेचनात्मक प्रबंध भी प्रकाशित किया। सन् १६४५ में "महानुभावा चे तत्वज्ञान" और सन् १६४८ में "महानुभावांचा आचार धर्म" नामक आपके दो ग्रंथ प्रकाशित हुए जिन पर उन्हें पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई। डाक्टर कोलते जी आज भी अन्वेषण कार्य में लगे हुए हैं।

लोक गीतों और लोक कथाओं की खोज, संकलन एवं सम्पादन प्राचीन साहित्यान्वेषण की ही एक शाखा हैं। इस क्षेत्र में यवतमाल के कवि श्री पां. श्री. गोरे ने 'वन्हाडी लोक गीतें' नामक बरार के लोकगीतों का और चांदा के श्री वा. वि. जोशी ने लोक-कथाओं के सुन्दर संग्रह प्रकाशित किए हैं।

सुप्रसिद्ध अन्वेषक महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी को संयोग से कुछ प्राचीन सिक्के प्राप्त होगये थे। उन पर से आपने खोज की और पता लगाया कि वे विदर्भ के प्राचीन राज्य के हैं। आपके प्रायः बहुत से लेख अंग्रेजी भाषा में हैं। परन्तु "गाथा सप्तशती" के काल निर्णय, वाकाटक और राष्ट्रकूट राजाओं के विषय में आपने मराठी में भी बहुत से लेख लिखे हैं। आप की "संशोधन मुक्तावली" नामक पुस्तक प्रकाशित है। इसी प्रकार आपने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक और आधारों सहित "कालिदास" नामक पुस्तक लिखी है जिसे समूचे महाराष्ट्र के विद्वानों ने सराहा है।

हाल ही में यवतमाल के ना. ना. हूड ने "विदर्भ संशोधनाचा इतिहास" नामक एक पठनीय एवं उपयुक्त पुस्तक लिखी है। वणी के विद्वान डाक्टर यादव श्रीहरि अणे ने भी एक विस्तृत "वांग्मय सूचि" नाम की सूची तैयार की है जो शारदाश्रम में रखी है।

नागपुर में भी कई वर्षों से "मध्यप्रान्त संशोधन मण्डल" नाम की एक संस्था स्थापित है। इस संस्था के श्री हे. गो. तांडगे और श्री शं. गा. वट्टे खोजपूर्ण लेख लिखने में विख्यात हैं। तांडगे जी ने नागपुर का सांस्कृतिक इतिहास लिखा है।

इनके अतिरिक्त "दयालनाथ" का काव्य प्रकाशित करने वाले नागपुर के श्री अच्युतराव सीताराम साठे, अनेक लेखों और "रामायण कालीन लोक स्थितीचा इतिहास" नामक पुस्तक के लेखक, अकोला के स्व. विष्णु मोरेश्वर महाजनी, "गोस्वामी व त्यांचा संप्रदाय" नामक पुस्तक के रचयिता यवतमाल के श्री पृथ्वीगीर हरिगीर, मराठा कुलाचा इतिहास" के लेखक श्री गो. रा. दलवी आदि सभी विद्वानों ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक एवं स्वेच्छा से प्रेरित होकर मध्यप्रदेश के मराठी अन्वेषण कार्य में उल्लेखनीय सहयोग दिया है।

महानुभाव साहित्यान्वेषण के कार्य में माहूर के महंत श्री दत्तराज महानुभाव, ऋद्धिपुर के महंत श्री गोपीराज महानुभाव, उनके पंजाबी शिष्य पंडित बालकृष्ण शास्त्री आदि महाशयों ने अपना सहयोग प्रदान कर स्वयं भी उस विषय पर विवेचनात्मक लेख लिखे हैं। स्व. श्री गंगाराम मायाजी ढवरे ने "चक्रधर व महानुभाव" नाम की एक पुस्तिका लिखी थी।

प्राचीन मराठी काव्यों के टिप्पणी सहित संस्करण इस प्रदेश में बहुत प्रकाशित हुए। इस संबंध में प्रो. श्री. ना. बनहट्टी को पहला श्रेय दिया जायगा। आपने रघुनाथ पंडित का "नल दमयन्ती स्वयंवराख्यान" मोरोपन्त की "आर्या केकावली" और "श्लोक केकावली" नामक पुस्तकें अपनी अत्यन्त विस्तृत प्रस्तावना और टिप्पणी सहित प्रकाशित की हैं जिन्हें विद्वानों से मान्यता मिली है। वर्धा के हनुमनगढ़ के प्रो. श्रीधर बोवा परांजपे की "केकावली" पर लिखी टीका

भी प्रसिद्ध हैं। डा. मा. गो. देशमुख ने नागेश कृत "सीता स्वयंवर" तथा अकोला के प्रि. ना. रा. केलकर ने "दमयन्ती स्वयंवर" नामक काव्य अपनी प्रस्तावना और टिप्पणी सहित प्रकाशित किए हैं। श्रीमती सीताबाई जयवंत नामक एक उत्साही लेखिका ने मोरोपन्त के "रुक्मिणी हरण" और "सावित्री गीत" नामक गीतों का सम्पादन किया है। अकोला के श्री कृष्णमूर्ति ने "क्षत्रियांचा इतिहास" नामक पुस्तक तीन भागों में लिखी है। "भट्टांची भूत बकलाद" नामक पुस्तक भी उल्लेखनीय है। अन्वेषण कार्य में प्रि. मिराशी का नाम भी उल्लेखनीय है।

तत्त्वज्ञान और शास्त्रीय विषयों में इस प्रदेश के लेखकों ने मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत कर मराठी साहित्य और भाषा को काफी समृद्धशाली बना दिया है। अपनी विद्वत्ता और कर्तृत्व के कारण सिर्फ मध्यप्रदेश या महाराष्ट्र के ही नहीं, किन्तु समूचे भारत के आधुनिक पुरोगामी ऋषि के नाम से विख्यात डा. केशव लक्ष्मण उर्फ भाऊजी दप्तरी, मराठी में ज्ञानकोष बनाने का प्रचण्ड कार्य अकेले अपनी हिम्मत पर पूरा करने वाले डा. श्रीधर व्यंकटेश केतकर, "हिन्दी संस्कृति आणि अहिंसा" नामक अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त पुस्तक के लेखक प्रो. धर्मानंद कोसम्बी इत्यादि व्यक्ति इसी प्रदेश के हैं, यह बात मध्यप्रदेश के लिये अत्यन्त भूषणास्पद है। डाक्टर भाऊजी दप्तरी इसी प्रदेश के हैं और उन्हें अपने प्रदेश का अभिमान है। अपने व्याख्यानों में तथा वार्तालाप में वे केवल नागपुरी बोली या शब्दों का उपयोग करते हैं। यह उनकी एक विशेषता है। उन्होंने विविध विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं। नीचे उनके लिखे ग्रंथों की सूची दी जाती है :—

वैदिक कालगणना पद्धति व रामचंद्र जन्म काल निर्णय, करण-कल्पलता पूर्वार्ध व उत्तरार्ध, पंचांग चन्द्रिका, भारतीय ज्योतिषशास्त्र निरीक्षण, महाभारत युद्ध काल निर्णय, ग्रह गणित कुतूहल, चिकित्सा परीक्षण, सच्चिकित्सा प्रकाशिका, उपनिषदांचा वस्तुनिष्ठ व बुद्धिगम्य अर्थ, व्यास सूत्रे, धर्मविवाद स्वरूप, धर्म रहस्य, जैमिन्यर्थ दीपिका आदि। ये तो दप्तरी जी के मराठी ग्रंथ हुए। इनके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से ग्रंथ अंग्रेजी में भी लिखे हैं। वेद और प्राचीन भारतीय समाज के विषय में उनके विचार अत्यन्त मूलगामी और क्रान्तिकारी हैं। अनेक पूर्वाचार्यों के मतों का उन्होंने अपने ग्रंथों में खण्डन किया है। लोकमान्य तिलक ने ही नहीं, बल्कि आद्य शंकराचार्य जी ने भी अपने भाष्य में कहां कहां भूलें की हैं यह दिखाने से भी दप्तरी जी नहीं चूके। उनके सारे लेख प्रमाणभूत हैं और उनके गहरे अध्ययन का परिचय देते हैं। ज्योतिर्गणित तथा आयुर्वेद-होम्योपथी-विषयों में डाक्टर दप्तरी की जोड़ का अधिकारी विवेचक समूचे हिन्दुस्थान में विरला ही मिलेगा। "स्वतंत्र भारताचा पुढील मार्ग" नामक उनके कुछ लेखों का संग्रह प्रसिद्ध है और उनमें देश की वर्तमान दशा पर इस श्रेष्ठ विचारवान् के विचार पढ़ने को मिलते हैं। डाक्टर दप्तरी के विचार अत्यन्त पुरोगामी हैं और एक ऋषि की तरह ही अपरिग्रह का व्रत लेकर वे त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आयु आज ७५ वर्ष की है।

डाक्टर केतकर का जन्म रायपुर में हुआ और अमरीका से लौटने पर उन्होंने सन् १९१२ में नागपुर में ही ज्ञान-कोष की रचना का प्रारम्भ किया। ज्ञान-कोष का पहला प्रस्तावना खंड नागपुर से ही प्रकाशित हुआ था। केतकर जी की "भारतीय समाज शास्त्र" नाम की पुस्तक भी नागपुर की 'नव भारत ग्रंथमाला' ने प्रकाशित की थी। इस पुस्तक में हिन्दुओं की समाज रचना की शास्त्रीय मीमांसा की गई है।

शास्त्रीय विषयों में स्व. श्री. कृ. कोल्हटकर ने ज्योतिष विषयक कुछ लेख लिखे हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। वेद, उपनिषद, पुराणेतिहास एवं स्मृति संबंधी बहुत से लेख महामहोपाध्याय श्रीकृष्ण शास्त्री घुले ने लिखे और उनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। बाहर से नौकरी के निमित्त इस प्रदेश में आए डा. शं. दा. पेंडसे ने "ज्ञानेश्वराचे तत्त्वज्ञान" और "महाराष्ट्राचा सांस्कृतिक इतिहास" नामक दो ग्रंथ लिखे हैं। इसी तरह स्व. ह. ना. नेने ने "शिक्षण-कला व मानस शास्त्र" नाम का ग्रंथ लिखा है। श्री श्री. ना. बनहट्टी का विविध ज्ञानशाखाओं का संकलनात्मक विवेचन करने वाला "ज्ञानोपासना" नामक ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। अप्रबुद्ध और श्री बाल शास्त्री हरदास ने पुराण और भारतीय संस्कृति पर अनेक लेख लिखे हैं। स्व. श्री. व्यं. पुणतांबेकर की "नागरिक नीति" और प्रो. मुंजे की "अर्थ शास्त्र"

नामक पुस्तकों का भी उल्लेख आवश्यक है। साम्यवाद और गांधीवाद इत्यादि विषयों पर श्री पु. य. देशपांडे ने बहुत सा लिखा है। उनकी "नवी मूल्यें" और "गांधीजीच कां ?" नाम की दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। लोकनायक बापू जी अणे की "राजकीय लेख संग्रह" नाम की पुस्तक उस विषय के विद्यार्थियों के लिए पठनीय है। अणे जी ने धर्म इतिहास और साहित्य आदि विषयों पर भी प्रस्तावना तथा लेखों के रूप में विपुलता से लिखा है जो इस प्रदेश के मराठी साहित्य के लिए अनमोल सिद्ध होगा। विशेषतः उन्होंने हाल ही में महाविदर्भ के विषय में जो महान् लेख लिखा है उसमें उन्होंने अपनी प्रतिभासम्पन्न लेखनी से इस राज्य के मराठी साहित्य का इतिहास भी लिखा है जो अपूर्व है। उसमें विद्वान् लेखक की प्रगल्भ बुद्धि का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है और उसके भीतर के कलाकार के दर्शन होते हैं।

इन के अतिरिक्त यवतमाल के श्री रा. दा. दामले ने हाल ही में "समूहाचे मानस शास्त्र" नामक सुन्दर ग्रंथ लिखा है और नागपुर के श्री वि. गंधे ने खेलों पर बहुत से लेख लिखे हैं। उनकी "हुतूतू" और "क्रीडांगणावर" नामक खेलों सम्बन्धी पुस्तकें कम से कम मराठी में उस विषय की अपने ढंग की अपूर्व ही माननी होंगी।

स्व. नरहर लक्ष्मण उर्फ नाना आठवले ने मानस शास्त्र पर "बालकांचा मनोविकास" नामक एक अत्यन्त विवेचक ग्रंथ लिखा है। अमरावती के हरिहर देशपांडे ने "राजपूत राज्यांचा उदय व ऱ्हास" और "राजपूत संस्कृति" नामक दोनों जानकारी से भरे ग्रंथ लिखकर मराठी साहित्य को राजपूतों के बारे में अनमोल ग्रंथ प्रदान किए हैं। श्री वि. वा. कलंबेलकर ने मराठी में "संस्कृत साहित्याचा इतिहास" नामक एक बड़ा ग्रंथ लिखा है। स्व. दाजीबा नारायण बाडेगांवकर ने नागोजी भट्ट के "परिभाषेंदु शेखर" नामक ग्रंथ का सम्पूर्ण अनुवाद किया जो कुछ साल पहले ही प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ ने मराठी के व्याकरण विषयक साहित्य को अधिक समृद्ध कर दिया है।

इस प्रदेश के साहित्यालोचकों में साहित्याचार्य स्व. श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का नाम सबसे पहले हमारे सामने आता है। कोल्हटकर जी ने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साहित्य सेवी स्व.न.चि. केलकर के "तोतया चे बंड" नामक नाटक की जो आलोचना की वह मराठी साहित्य में आज भी आदर्श मानी जाती है। उनके पश्चात् श्री माडखोलकर, श्रीमती कुसुमावती बाई देशपांडे, प्रो. श्री. ना बनहट्टी, डा. मा. गो. देशमुख और प्रो. म. ना. देशपांडे इस प्रदेश के प्रमुख साहित्यालोचक हैं।

माडखोलकर जी एक शैलीकार आलोचक हैं और साहित्य एवं व्यक्ति की हृदयंगम समीक्षा करने में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने "स्वैर विचार" और वाङ्मय विलास" नाम की दो आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। उनके लेख संस्कृत साहित्य शास्त्र और संस्कृत साहित्य के संकेत से प्रभावित हुए हैं। श्रीमती कुसुमावती बाई ने अंग्रेजी भाषा के परिशीलन से स्फूर्ति प्राप्त की है। उनके स्फुट समालोचनात्मक लेखों का "पासंग" नामक संग्रह और "मराठी कादंबरी १ला और २रा भाग" नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। सूक्ष्म निरीक्षण, संयम और सहृदयता उनकी समीक्षाओं के विशेष गुण हैं। बनहट्टी जी के साहित्यालोचन में संस्कृत और आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के प्रवाहों का मेल मिलता है। इनकी आलोचना सन्तुलित और अचूक निर्णय वाली होती है। वे अनुरूप शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसके कारण उनकी सम्पूर्ण समीक्षा बड़ी शानदार हो जाती है। बनहट्टी जी ने साहित्यालोचन की समस्त प्रचलित पद्धतियों का यथावत अध्ययन करके मराठी के भावी साहित्यालोचन को किस दिशा से जाना चाहिये, इसका निश्चित और उचित मार्गदर्शन किया। बनहट्टी जी के कुछ ग्रंथों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त मोरोपन्त के सम्पूर्ण काव्य की अत्यन्त विस्तारपूर्वक समीक्षा करने वाला "मयूर काव्य विवेचन" नामक आपका ग्रंथ इस विषय का सर्वमान्य ग्रंथ माना जाता है। बनहट्टी जी ने मराठी की अनेक पत्र–पत्रिकाओं में भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक लेख लिखे हैं। इन सब लेखों को एकत्र कर उन्हें विषयानुसार खंडशः प्रकाशित करने के लिए उनके कुछ भूतपूर्व ख्यातनामा विद्यार्थियों ने "बनहट्टी ग्रंथ प्रकाशन मंडल" नाम की एक संस्था स्थापित की है। श्री त्रि. गो. देशमुख, संपादक "मराठी जग" इन के कार्यवाहक हैं। इस संस्था ने बनहट्टी जी के "नाट्य व रंगभूमि" और "वाङ्मय विमर्श" नामक दो बहुमूल्य ग्रंथ हाल ही में प्रकाशित किए हैं। डा. मा. गो. देशमुख ने "मराठीचे साहित्यशास्त्र" नामक

प्रबंध लिखा जिस पर आपको पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई। इस प्रबंध में आपने मराठी संत कवियों—ज्ञानेश्वर से रामदास तक के अनुशीलन से अत्यन्त रहस्योद्‌ग्राही विवेचन करके यह दिखाया है कि मराठी का साहित्य-शास्त्र संस्कृत के साहित्य शास्त्र से किस प्रकार भिन्न है। इस प्रबंध से आपको बड़ी ख्याति मिली। इस से पहले आप समय-समय पर समाचार-पत्रों एवं साहित्य पत्रिकाओं में साहित्य के प्रश्न तथा व्यक्ति पर आलोचनात्मक लेख लिखा करते थे। यद्यपि आपने थोड़ा लिखा है, पर जो लिखा है वह मौलिक है।

प्रो. अ. ना. देशपांडे प्रथमतः सामयिक पत्र पत्रिकाओं में फुटकर लेख और समालोचनायें लिखकर आलोचनात्मक साहित्य क्षेत्र में अग्रसर हुए। परन्तु हाल ही में "आधुनिक मराठी साहित्याचा इतिहास" नामक एक बहुमूल्य ग्रंथ लिखकर उन्होंने आलोचनात्मक साहित्य में अपना स्थान बना लिया। इस विशाल ग्रंथ के पहले भाग में देशपांडे जी ने ने सन् १८७४ से लेकर सन् १९२० तक के मराठी साहित्य का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन किया है।

उपर्युक्त प्रमुख पांच आलोचकों के अतिरिक्त और भी एक यशःप्राप्त आलोचक हैं जिनका मध्य प्रदेश के मराठी साहित्य में काफी ऊंचा स्थान है। वे हैं यवतमाल के अध्यापक, कवि और अन्वेषक श्री वामन नारायण देशपांडे जो अपने अद्यावत अभ्यास, गहन अध्ययन एवं मार्मिक समीक्षा के लिये विख्यात हैं। उनके लेखों का "विचार समीक्षा" नामक एक ही संग्रह प्रकाशित हुआ है। तथापि उन्होंने सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में कल्पित नाम से बहुत लिखा है। मराठी साहित्य में "स्फुट" लिखने की प्रथा आप ही ने डाली। "प्रतिभा" नामकी सुप्रसिद्ध पाक्षिक पत्रिका के लेखक "रामशास्त्री" वामन राव जी ही हैं। इस के अतिरिक्त बंबई के "नवयुग" नामक साप्ताहिक पत्र में "द्रोणाचार्य" के नाम से और नागपुर के "समाधान" नामक सामयिक पत्र में "समाधानी" के नाम से देशपांडे जी आलोचनात्मक लेख लिखा करते थे। उनके ये सारे लेख विचार परिलुप्त हैं।

इनके अतिरिक्त श्री पु. या. देशपांडे, डाक्टर वि. भि. कोलते, डा. शं. दा. पेंडसे, श्री बालशास्त्री हरदास और श्री आ. रा. देशपांडे आदि लेखकों ने भी आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। इन में डा. कोलते ने मराठी संतों के सामाजिक कार्यों पर हिन्दी भाषा में जो पुस्तक लिखी है, वह विशेष उल्लेखनीय है। खामगांव के श्री द. रा. गोमकाले और अमरावती के श्री शं. ना. सहस्रबुद्धे दोनों नाट्य समालोचक हैं। गोमकाले जी की "नाट्यकार कोल्हटकर" और सहस्रबुद्धे जी की "नाट्याचार्य खाडिलकर" नाम की आलोचनात्मक पुस्तक विशेष प्रसिद्ध हैं।

निबंधकारों में जिन का स्थान सचमुच में बहुत ऊंचा है, परन्तु जो किसी भी वर्गीकरण के भीतर नहीं हैं, ऐसे कुछ लेखकों का उल्लेख अब हमें करना है। इनमें आचार्य विनोबा भावे और आचार्य कालेलकर प्रमुख हैं। ये दोनों पश्चिम से इस प्रान्त में आए। वास्तव में "वसुधैव कुटुम्बकम्" मानने वाले इन विश्वात्माओं को किसी भी प्रदेश की सीमाएं कैसे बांध सकती हैं ? फिर भी वर्धा में बहुत समय तक रहने के कारण मध्यप्रदेश का उन पर निश्चित ही अधिकार पहुंचता है। इन दोनों गांधीवादी आचार्यों ने मराठी साहित्य को बहुत से बहुमूल्य साहित्यिक लेख प्रदान किए हैं। श्रेष्ठ औदार्य, कड़ा आत्म-निरीक्षण, मानसिक तपस्या और कर्मयोग के कारण विनोबा जी के प्रत्येक शब्द से पाठकों को महान् सामर्थ्य का बोध होता है। उनकी लेखन शैली अत्यन्त प्रसन्न, शब्द सहज ही सूझे हुए पर नाद मधुर, और वाक्य छोटे-छोटे परन्तु हृदयस्पर्शी होते हैं। "महाराष्ट्र धर्म" नामक मासिक पत्र में प्रकाशित उनके कुछ लेखों का "मधुकर" नामक संग्रह सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त "गीता" का "गीताई" नामक उनका रूपान्तर तो आज मराठी जगत् का धर्म ग्रंथ हो गया है। विचार गुण और लेखन गुण से विनोबाजी का साहित्य इतना समृद्ध है कि उसका थोड़े में विवेचन करना संभव नहीं हो सकता।

आचार्य कालेलकर जन्म से साहित्यिक और सौन्दर्यवादी कलाकार हैं। उनका प्रायः बहुत सा लेखन गुजराती भाषा में है। तथापि उनकी "हिंडलग्या चा प्रवास" नामक आलोचनात्मक पुस्तक मराठी में है। इसके अतिरिक्त "जिवंत व्रतोत्सव", "लोकमाता", "आमच्या देशाचें दर्शन", "हिमालयाचा प्रवास", "ब्रह्मदेशचा प्रवास" आदि, यात्रा तथा

प्रकृति वर्णनात्मक और "जीवन विहार", "जीवन आणि समाज", "समाज आणि समाज व्यवस्था" इत्यादि साहित्य, कला और समाज शास्त्र पर लिखी उनकी पुस्तकें विविध लेखकों ने मराठी में अनूदित की हैं। कालेलकर जी गांधीवाद के निष्ठावान् भाष्यकार हैं। आचार्य धर्माधिकारी ने कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। तथापि उनके अनेक व्याख्यान और लेख उनकी प्रगल्भ विचार संपदा और गहन परिशीलन की साक्ष देते हैं। अभी थोड़े ही दिन पूर्व "स्नेहाचे झरे" नाम की "प्रिय ताई" को लिखे पत्रों की उनकी एक छोटी पुस्तक प्रकाशित हुई है। उनकी शैली श्रेष्ठ और प्रौढ़ है। इनके अतिरिक्त श्री प्रभाकर दीवाण और श्री कुन्दन दीवाण के नाम भी, जो विनोबा जी के शिष्यों में से हैं, उल्लेखनीय हैं। प्रभाकर जी अच्छे कवि और आलोचक हैं तथा कुंदन जी छंद शास्त्र पर लिखा करते हैं। विनोबा जी के बंधु श्री शिवा जी नरहर भावे ने ज्ञानेश्वरी के शब्दों का एक उपयुक्त कोष तैयार किया है। हिन्दुस्थानी-मराठी कोष के संबंध में आचार्य कालेलकर और वामन चोरघड़े के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

सामयिक पत्रों में मासिक पत्रों का विचार करने पर हम देखते हैं कि हमारा देश कम से कम आरम्भ में तो पश्चिम महाराष्ट्र की बराबरी से आगे बढ़ा है। मराठी की सुप्रसिद्ध "निबंध माला" नामक मासिक पत्रिका जिस साल निकली, उसी साल यानी सन् १८७४ में अकोला के तत्कालीन प्रधानाध्यापक रावबहादुर विष्णु मोरेश्वर महाजनीने "ज्ञान संग्रह" नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। वह लगभग दो साल तक चला और तत्कालीन महत्वपूर्ण मासिक पत्रों में गिना जाता था। इसके बाद इस प्रदेश में नीचे लिखे मासिक पत्र निकले :—

मासिक पत्र का नाम	कहां से निकला ?	कब निकला ?
कारीगर ...	... नागपुर ...	१८८०
शेतकरी ...	... अमरावती ...	१८८३
काव्यसुमनांजली	... ,, ...	१८८६
नीरजोल्हास ...	... ...	१८६२
सरस्वती प्रकाश	... ,, ...	१६०२
बऱ्हाड़ शाला पत्रक	... ,, ...	१६०५
महाराष्ट्र वाग्विलास	... ,, ...	१६०६
शाला वृत्त ...	... नागपुर ...	१६०७
वीरशैव संजीवनी	... अमरावती ...	१६०६
सुबोध माला ...	... ,, ...	१६१६

महाराष्ट्र साहित्य सूची में यद्यपि इतने नाम मिले हैं, तथापि इन में दो-तीन मासिक पत्र ही प्रसिद्ध हुए। इनमें अमरावती की "महाराष्ट्र वाग्विलास" नामक मासिक पत्रिका साहित्यिक थी और डा. केतकर, य. खु. देशपांडे और बा. सं. गडकरी उसके संचालक थे। अमरावती की "सरस्वती प्रकाश" नाम की पत्रिका भी साहित्यिक ही थी। "शाला पत्रक" नामक मासिक पत्र शिक्षा विषयक था, जो सरकारी सहायता से ४० वर्ष तक चलता रहा।

सन् १६३१ के बाद नागपुर से कुछ अच्छी मासिक पत्रिकाएं निकलीं। ग्राम पंचायत विषयक "ग्रामणी" नाम का मासिक पत्र अनेक वर्षों तक अच्छा काम करता रहा। सन् १६३० के लगभग नागपुर से "वागीश्वरी" नाम की एक सुन्दर साहित्यिक पत्रिका निकली थी, परन्तु दुर्भाग्य से सन् १६३५ के लगभग वह बंद हो गई। तथापि उन्हीं संचालकों ने "विश्ववाणी" नाम की दूसरी मासिक पत्रिका निकाली। "वागीश्वरी" के सम्पादक श्री ब. वो. गर्ग थे। "विश्ववाणी" के सम्पादकों में वासुदेव राव फडनीस और बा. र. मोडक आदि लोग थे। सन् १६३५ के लगभग प्रो. बनहट्टी ने भारतीय साहित्य परिषद् की ओर से "विहंगम" नामक मासिक पत्रिका निकाली, जिसके सम्पादक श्री या. मु. पाठक थे। इस साहित्यिक पत्रिका के कारण, नागपुर के साहित्य विलास पर अच्छा रंग चढ़ा। मराठी साहित्य में वागी-

श्वरी, विश्व-वाणी और विहंगम नामक तीनों मासिक पत्रिकाओं का उनकी महत्वपूर्ण साहित्य सेवा और उनमें प्रकाशित उत्कृष्ट साहित्य के कारण बहुत बड़ा स्थान है, इसमें सन्देह नहीं। ये पत्रिकाएँ धनाभाव और योग्य संचालकों के न मिलने से सन् १९३८ के लगभग बन्द हो गई। इसी समय अमरावती से "कलादर्श" नाम का मासिक-पत्र निकलता था। इसी समय नागपुर से श्री वा. र. मोडक ने "मुलांचे मासिक" और श्री वि. ना. वाडेगांवकर ने "उद्यम" नाम के मासिक पत्र निकाले, जो आज तक सुचारु रूप से चल रहे हैं, और समूचे मराठी प्रदेश में विख्यात हो गए हैं।

अमरावती से संत तुकडोजी महाराज के संचालन में "गुरुदेव" नामक मासिक पत्र कई वर्षों से निकल रहा है। सन् १९४८ में "पूजा" और "उन्मेष" नाम की सुन्दर साहित्यिक मासिक पत्रिकाएँ निकली थीं, पर दोनों अल्पजीवी रहीं। चांदा से "मधुवन" नामक एक सुन्दर मासिक पत्र निकला था, पर वह भी शीघ्र ही बन्द हो गया। पर मोहेकर जी की "सुषमा" नामक मासिक पत्रिका जो सन् १९४७ में निकली थी, अभी तक चल रही है। सन् १९४६ से विदर्भ साहित्य संघ की मासिक मुख पत्रिका "युगवाणी", नागपुर से प्रकाशित होने लगी। प्रथम कुछ वर्षों तक श्री वामनराव देश-पांडे उसके सम्पादक थे। उनके पश्चात् श्री वामन चोरघडे उसके सम्पादक हुए। अब हर वर्ष उसके सम्पादक बद-लते रहते हैं। आजकल यही मध्यप्रदेश की एकमेव और प्रमुख मासिक पत्रिका है। इसके अतिरिक्त, बहुत साल तक सर्वोदय समाज की ओर से हिन्दी-मराठी में "सर्वोदय" नामक मासिक पत्र निकलता था, पर वह भी अब बंद हो गया है।

मासिक पत्रों के पश्चात् साप्ताहिक, पाक्षिक और दैनिक समाचार पत्रों का विचार करने पर अकोला को पहला श्रेय देना होगा। सन् १८६७ में "वऱ्हाड समाचार" नाम का इस प्रदेश का पहला मराठी साप्ताहिक पत्र अकोला से श्री फड़के ने निकाला, जो सन् १९१६ तक अच्छी तरह चल रहा था, पर सरकारी कोप के कारण सन् १९१९ में उसका प्रकाशन बन्द हो गया। पर मामा जोगलेकर ने उसे खरीद लिया और "प्रजापक्ष" नाम का साप्ताहिक समाचार निकाला जो सन् १९३५ तक चलता रहा। महाराष्ट्र का पहला साप्ताहिक पत्र स्व. बालशास्त्री जांभेकर का "दर्पण", सन् १८३२ में निकला और बरार का पहला समाचार पत्र सन् १८६७ में निकला, यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। "वैदर्भ" नाम का दूसरा मराठी साप्ताहिक पत्र श्री देवराव विनायक दिगंबर की सहायता से अकोला से ही निकला था।

सन् १९०२ में "हरिकिशोर" और "देशसेवक" नाम साप्ताहिक पत्र नागपुर से निकले, जिनकी बड़ी धूम रही। इन पत्रों ने "केसरी" और "काल" से स्फूर्ति प्राप्त की थी और वे लोकमान्य तिलक के गरम दल की राजनीति के समर्थक थे। "देश सेवक" के सम्पादक कुछ समय तक हरिपन्त पंडित थे। बाद में कुछ दिन तक स्व. गोपाल अनन्त ओगले रहे और अन्त में मराठी के एक ख्यातनामा पत्रकार स्व. अच्युत बलवंत कोल्हटकर "देश सेवक" के सम्पादक थे। स्व. कोल्हटकर आगे चल कर समूचे महाराष्ट्र में एक प्रसिद्ध सम्पादक हुए। यहां यह उल्लेखनीय है कि ऐसे विख्यात पत्रकार का जीवन नागपुर से आरम्भ हुआ था। सन् १९१० में प्रेस एक्ट लगा कर देशसेवक पर मुकदमा चलाया गया और उसका अन्त हो गया।

सन् १९०७ में नागपुर से नटेश अप्पाजी द्रविड़ ने 'सर्वेन्ट्स आफइंडिया सोसाइटी' की ओर से "हितवाद" नामक मराठी साप्ताहिक पत्र शुरू किया। वही आज का अंग्रेजी दैनिक "हितवाद" है। सन् १९०५ के लगभग अकोला से तिलक पक्षीय लोगों ने "स्वावलम्बी" नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। सन् १९१४ में नागपुर से बरार का "केसरी" माना जाने वाला "महाराष्ट्र" नाम का साप्ताहिक पत्र निकला। आगे शीघ्र ही वह द्विसाप्ताहिक और फिर दैनिक हो गया। सन् १९३५-३६ में डाक्टर खरे के "तरुण भारत" नामक साप्ताहिक पत्र का उदय हुआ, जो आगे चल कर अस्त हो गया, परन्तु सन् १९४१-४२ में दैनिक रूप में वह फिर प्रकट हो गया। यह मराठी का प्रमुख दैनिक है।

इस बीच अनेक साप्ताहिक पत्र निकले, उनमें अमरावती का "उदय" नामक द्विसाप्ताहिक पत्र श्री ना. रा. वामणगांवकर के सम्पादकत्व में आज भी अच्छी तरह से चल रहा है। इसी प्रकार हंबर्डे जी के सम्पादकत्व में "किरण" नाम का साप्ताहिक पत्र निकलता है। सन् १९३१ में अकोला से श्री ब्रिजलाल बियाणी ने "मातृभूमि" नामक साप्ता-

हिक पत्र की स्थापना की जो उसी वर्ष द्विसाप्ताहिक हो गया और अब तारीख ६ दिसम्बर १६५३ से दैनिक हो गया है। यह राष्ट्रीय विचारों का कांग्रेसपक्षीय पत्र है। स्व. प्रमिला बाई ओक ने, अपनी बुद्धिमत्ता और कर्तृत्व से इस पत्र की उन्नति की। नागपुर से सन् १६४७ में प्रो. बनहट्टी द्वारा सम्पादित "समाधान" नामक साप्ताहिक पत्र शुरू हुआ, जो सन् १६५१ तक चलता रहा। इसी प्रकार श्री पु. य. देशपांडे द्वारा सम्पादित "भवितव्य" नाम का पत्र भी ७-८ साल चल कर बन्द हो गया।

सन् १६३० के बाद "सावधान" नामक साप्ताहिक पत्र प्रवर्तीर्ण हुआ। इसके सम्पादक स्व. श्री माबकर थे। यह हिन्दू सभा-वादी पत्र था। अपने ओजस्वी लेखों और चुभती हुई आलोचना के कारण वह बड़ा लोकप्रिय हो गया था और मराठी के पत्रकारिता के इतिहास में चिरस्मरणीय हो गया है। उसमें स्व. वासुदेव फडनीस, श्री रा. बी. काली और श्री पु. भा. भावे, जैसे श्रेष्ठ शैलीकार और धुरंधर भाषा पंडित लिखा करते थे। आगे श्री भावे जी ने "सावधान" बन्द हो जाने पर, "आदर्श" नाम का जोरदार साप्ताहिक पत्र निकाला था।

सन् १६४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर इस प्रदेश में मराठी पत्रों की जैसे बाढ़-सी आ गई थी, जिनमें बहुत से नामशेष हो गए हैं। उनमें नागपुर प्रान्तिक कांग्रेस का मुखपत्र "नवसंदेश", अमरावती के वीर वामनराव जोशी का "स्वतन्त्र हिन्दुस्थान", चांदा से प्रकाशित "नवा मनु", नागपुर के श्री मा. ज. कानेटकर का "निःस्पृह", आदि, साप्ताहिक पत्र उल्लेखनीय हैं। साप्ताहिक पत्रों में आज इस प्रदेश में मेरे सम्पादकत्व में तारीख २ अक्तूबर १६४३ से "मराठी जग" नाम का साप्ताहिक पत्र निकल रहा है। आजकल यह दैनिक "मातृभूमि" के रविवार संस्करण के रूप में अकोला से प्रकाशित होता है। इसमें समाज, जीवन, संगीत, कला, राजनीति, आदि विषयों पर सारगर्भित लेख रहते हैं।

हाल ही में प्रकाशित "संधिकाल" पाक्षिक पत्र, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की ओर से प्रकाशित "राष्ट्रशक्ति", श्री बा. ना. सावजी का "वऱ्हाडा", अमरावती का "हिन्दुस्थान", यवतमाल का "लोकमत", नामक पत्र भी उल्लेखनीय हैं। इस प्रदेश के पत्र-जगत् में आजकल श्री यशवंत शास्त्री, केशव पोतदार, श्यामकान्त बनहट्टी, श्री फडनीस, आदि नवयुवक काम कर रहे हैं।

सन् १६३० तक इस प्रदेश में पुस्तक प्रकाशन का कोई संघटित व्यवसाय न था। सन् १६३० के बाद "वीणा प्रकाशन" और "सुविचार प्रकाशन मंडल" नामक प्रकाशन संस्थाएँ स्थापित हुई। श्री राजा भाऊ गर्गे के "वीणा प्रकाशन" ने, इस प्रदेश के तथा महाराष्ट्र के अनेक प्रसिद्ध लेखकों के उपन्यास प्रकाशित किए। "सुविचार प्रकाशन मंडल", इस प्रदेश की अग्रगण्य प्रकाशन संस्था है। उसके संचालक हैं, श्री पां. ना. बनहट्टी। इस संस्था ने "नव-भारत ग्रंथमाला" की ओर से केतकर, मिराशी, कोसम्बी, पुणतांबेकर, आदि जैसे प्रख्यात विद्वानों की ज्ञानप्रद पुस्तकें प्रकाशित कर मराठी साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है। श्री दि. भा. धुमाल की "नागपुर प्रकाशन" नाम की संस्था ने भी बहुत सा ललित साहित्य प्रकाशित किया है। श्री ल. वा. पडोळे उत्साही कार्यकर्ता ने "पूजा-प्रकाशन", नाम की प्रकाशन संस्था निकाली और उसकी ओर से बहुत सी उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित कीं। "हिन्द प्रकाशन" नाम की प्रकाशन संस्था ने बहुत सा शिशु साहित्य प्रकाशित कर खूब प्रसिद्धि प्राप्त की है। श्री ओ. ना. हुद्दार की "अभिनव ग्रंथमाला" का यहां अवश्य उल्लेख करना चाहिये। इनके अतिरिक्त "उद्यम प्रकाशन", नागपुर, "विनोबा साहित्य प्रकाशक", "ग्राम सेवा मंडल" तथा "हिन्दुस्थानी तालीमी संघ", यवतमाल का "शारदाश्रम प्रकाशन", नागपुर का विदर्भ साहित्य संघ प्रकाशन" और "मध्यप्रदेश संशोधन मंडल", आदि प्रकाशन संस्थाओं को भी उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित करने का श्रेय देना आवश्यक है।

प्रकाशन संस्थाओं की तरह साहित्यिकों और उस भाषा के भाषियों की एक संघटित सार्वभौम संस्था भी परम आवश्यक होती है। मध्यप्रदेश के मराठी भाषियों की प्रातिनिधिक एवं सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक संस्था "विदर्भ साहित्य संघ" है। इस संस्था का केन्द्रीय कार्यालय "विदर्भ साहित्य मन्दिर", नागपुर में अभ्यंकर मार्ग पर स्थित है और उसकी

शाखाएँ वर्धा, अमरावती, खामगांव, गोंदिया, भंडारा और हिंगनघाट में फैली हैं। इस संस्था की स्थापना मुख्यतः कवि भूषण बलवन्त गणेश खापर्डे तथा लोकनायक बापूजी अणे के प्रयत्नों से सन् १९२३ में अमरावती में हुई। सन् १९२६ तक इसका कार्य सुचारु रूप से चलता रहा और वार्षिक सम्मेलन भी होते रहे। तत्कालीन सम्मेलनों के सभापति श्री न. चि. केलकर, दादा साहब खापर्डे, इत्यादि गणमान्य साहित्यिक लोग थे। सन् १९३७ में इस संस्था का कार्य बन्द हो गया। आगे सन् १९४४ में प्रो. श्री. ना. बनहट्टी ने श्री द. शं. फड़के, प्रो. ना. कृ. दिवाणजी और श्री शं. ना. सहस्त्रबुद्धे के सहयोग से उसे पुनरुज्जीवित किया और उसी साल अकोट में डा. य. खु. देशपांडे की अध्यक्षता में उसका अष्टम अधिवेशन हुआ। इसके पश्चात् हर वर्ष उसके वार्षिक अधिवेशन होते रहे। इसका सत्रहवां अधिवेशन सन् १९५५ में श्री बाबासाहब खापर्डे की अध्यक्षता में नागपुर में हुआ। इसका १४ वां अधिवेशन सन् १९५१ में श्रीमती कुसुमावती बाई देशपांडे के सभापतित्व में जबलपुर में हुआ था। सन् १९४८ में विदर्भ साहित्य संघ का रौप्य महोत्सव गोंदिया में बिहार प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री लोकनायक बापूजी अणे की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया था। लोकनायक अणे जी ही इस संस्था के स्थायी ट्रस्टी हैं।

मध्यप्रदेश के निबन्धकार और आलोचक

श्री रामेश्वर शुक्ल "अंचल"

कविता के साथ-साथ गद्य साहित्य की अभिवृद्धि का प्राधान्य भारतेन्दु युग में ही स्वीकार किया गया था। निबन्ध और आलोचना का सूत्रपात उसी समय से माना जाता है। साहित्य के भाव पक्ष और भाषा पक्ष दोनों में परिष्कार उन्हीं के कार्यकाल में आरम्भ हुआ। मध्यप्रदेश की क्रमबद्ध गद्य-परम्परा का इतिहास भी हमें इसी समय से मिलता है। अपने इस लेख की सामग्री का प्रारम्भ मैंने यहीं से किया है। इसके पहिले मध्यप्रदेश निवासी लेखकों द्वारा लिखे गये गद्य के जो एक-दो नमूने मिलते हैं, उनमें बड़ी शिथिलता और पंडिताऊपन लिए उलझन से भरी अपरिष्कृत वाक्य-रचना और वाक्य योजना है। इसलिये मध्यप्रदेश में हिन्दी गद्य का विकास क्रम हमें यहीं से मानना चाहिये। प्रस्तुत लेख में मैंने साहित्यिक निबन्धकारों और उनकी कृतियों का अध्ययन ही उपस्थित किया है। हमारे प्रदेश में डा. हीरालाल, लोचनप्रसाद पाण्डेय, डा. हीरालाल जैन, पं. लज्जाशंकर झा, नाथूराम प्रेमी, दयाशंकर दुबे, डा. विद्याभास्कर, गोपाल दामोदर तामस्कर जैसे इतिहास, राजनीति, समाज-शास्त्र, पुरातत्त्व, अर्थशास्त्र, दर्शन और शिक्षा-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर उच्च कोटि के निबन्धकार हुए हैं, पर उनके निबन्धों का निरूपण मेरे लेख का विषय नहीं है। मेरी जानकारी साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित है।

भारतेन्दु काल से लेकर आज तक का समय आधुनिक काल है, जो विकास और परिवर्तन का काल है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में किसी युग ने इतने बहुमुखी विकास—इतनी विविध जगत्-जीवन पक्षों की अभिव्यक्ति का परिचय नहीं दिया। इसे सच्चे अर्थ में साहित्यिक क्रान्ति और नव-जागरण कह सकते हैं। साहित्यिक प्रवृत्तियों और रूपों की यह विविधता भाषा में अभिव्यक्ति-शक्ति का संचयन और प्रदर्शन देखते ही बनता है। इस जागृति और नव-निर्माण में मध्यप्रदेश का योगदान भी रहा है। यहां के साहित्य सेवियों और कवि, लेखकों ने यह भली भांति समझ लिया था—टेनिसन के अनुसार—कि कोई भी परम्परा और रूढ़ि यदि अपनी आयु से अधिक जीवित रहती है तो उसका सौन्दर्य कुरूपता में तथा उपयोगिता अमंगल में परिणत हो जाती है। गद्य-युग की मांग है—सशक्त गद्य के प्रसार द्वारा ही खोए हुए धार्मिक और सामाजिक स्वास्थ्य को फिर से पाया जा सकता है—इसे मध्यप्रदेश के साहित्यिकों ने भी अनुभव किया। भाषा के नये-नये प्रयोग और विषय-ज्ञान का प्रसार कर ये लेखक वर्तमान काल की नींव को सुस्थिर और शक्तिशाली बनाते रहे। हमारे प्रदेश में भी साहित्यिक निर्माण की व्यवस्था और भाषा परिष्कार का प्रयत्न दोनों साथ-साथ चलते रहे।

हिन्दी साहित्य में आलोचना का सूत्रपात, गुण-दोष-विवेचन की प्रणाली से हुआ, जिसने आगे चल कर एक सुव्यवस्थित परिपाटी का रूप ले लिया। हिन्दी में समालोचना का आरम्भ बहुत देर में हुआ। सबसे पहिले बदरी-नारायण चौधरी "प्रेम घन" ने "आनन्द कादंबिनी" पत्रिका में लाला श्रीनिवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" और गजाधरसिंह द्वारा अनूदित "बंग विजेता" की आलोचना की। उस समय तक आलोचना का उद्देश्य केवल दोषों का अन्वेषण होता था। आज आलोचना का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। कृति विशेष के समुचित अध्ययन से आगे बढ़ कर उसके सृजन की प्रक्रिया—स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों को समझने की चेष्टा भी की जाती है। द्विवेदी युग की आलोचना-कृतियों में साहित्य-विवेक के साथ-साथ सामयिक उपयोग की भावना भी शुरू हो गयी थी। लेखकगण प्राचीन और नवीन के प्रति एक सुसंतुलित दृष्टिकोण अपने सामने रखते थे। राष्ट्रीय और सुधारवादी प्रवृत्ति को लेकर वह पूरा का पूरा युग चला। प्राचीन आध्यात्मिकता की अपेक्षा एक व्यावहारिक

आदर्शों की ओर ही उनका झुकाव रहा—साथ ही कवि के व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक परिस्थितियों की अभिज्ञता भी साहित्यालोचन में स्थान पाने लगी। वर्तमान आलोचना का यह बीज-वपन था।

आगे चल कर विकास-क्रम के साथ-साथ आलोचना अधिकाधिक निबन्धात्मक होती गयी। आचार्य शुक्ल जी ने निबन्ध के अन्तर्गत ही साहित्यालोचन को लिया है। अपनी समीक्षाओं को भी उन्होंने निबन्ध या प्रबन्ध कोटि में रखा है। आलोचक अपने आलोचनात्मक विचारों को लघु या दीर्घ निबन्धों के रूप में प्रस्तुत करने लगे थे। बख्शी जी और पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी की कृतियां आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह ही हैं। अधिकांश नवीन लेखकों की आलोचनाओं में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। आलोचना और निबन्ध कला के इन अधिकाधिक निकट आने की प्रक्रिया का परिणाम कुछ विद्वानों के अनुसार यह हुआ कि भारतीय आलोचना-पद्धति की विशेषता में कमी आ गयी। जो आलोचना-पद्धति वस्तु तथ्य-सिद्धान्त और जीवन की पूर्णता को ही चरम सिद्ध मानती थी, वह बड़ी सीमा तक आलोचक के निजी व्यक्तित्व को भी प्रकट करने लगी। विषय की प्रधानता के साथ-साथ व्यक्ति की प्रधानता भी उसमें स्थान पाने लगी। परन्तु इससे जहां एक ओर आलोचक के आत्म-गोपन के भाव में कमी आई वहीं आलोचना तथ्य-निरूपण और सैद्धान्तिक विवेचन मात्र न रह कर ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आधारों को भी अपनाने लगी। युगों से चलते आ रहे सैद्धान्तिक आलोचना के धाराप्रवाह में व्याख्यात्मक और व्यक्तिप्रधान आलोचना के ये नये रूप साहित्यिकों को कम रुचिकर नहीं लगे। तथ्यों और सिद्धान्तों के प्रकाश में व्यक्ति का अपना समावेश आलोचक को सामाजिक श्रोता या रस-भोक्ता की दृष्टि देता है। कृति के भीतर व्याप्त सौन्दर्य या आनन्द के तथ्यों का उद्घाटन भी हो जाता है।

हिन्दी साहित्य के व्यापक इतिहास में जो स्थान एक विभाजक-रेखा-व्यक्तित्व के रूप में भारतेन्दु का है, वही हमारे प्रान्त में ठाकुर जगमोहनसिंह का है। उनके पहिले गद्य केवल संस्कृत-भाषा-टीका के रूप में आया था। कविता की भिन्न-भिन्न धाराएँ ही साहित्य को ओत-प्रोत किये थीं। उनके अन्तर्गत रची जाने वाली कृतियां, रस-सिद्धान्त और काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकती हैं, पर गद्य की जड़ ठाकुर जगमोहनसिंह के समय में ही जमी। उस समय तक छापाखानों की स्थापना अच्छी तरह हो गयी थी। यही नहीं, सन् १८७६ और १८८५ के भीतर प्रायः पच्चीस-तीस समाचार पत्र और ऐसी पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं, जिनमें समाचारों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ निबन्ध, इत्यादि अन्य साहित्यिक रचनाएँ भी निकला करती थीं। इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाज के प्रचार-कार्य ने भी हिन्दी के विस्तार में योग दिया। हिन्दी भाषा का रूप स्थिर हो चला। हिन्दी के गद्य साहित्य का वास्तविक उदय इसी काल में हुआ—शुद्ध साहित्यिक रचनाओं द्वारा।

देश और समाज की उपर्युक्त परिवर्तनशील प्रवृत्तियों ने निबन्ध और आलोचना की दिशा का निश्चय और उसके स्वरूप का निर्धारण किया। द्विवेदी-युग में आकर साहित्यिक विवेचना का स्तर अधिक बौद्धिक हुआ। गद्य में नये-नये रूप जन्म पा रहे थे। काव्य की रचना और समीक्षा में रीतिकालीन रस और अलंकार पद्धति का प्रयोग चल सकता था, परन्तु नये उपन्यास, नई कहानी, नये निबन्ध, नये यात्रा-विवरणों और काव्य या इतर साहित्यिक ग्रन्थों के अनुवाद भी सामने आ रहे थे। उनके विवेचन के लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता थी—पृथक्-पृथक् समीक्षा-दर्शों की आवश्यकता थी।

अनुवादों की परीक्षा, भाषा सम्बन्धी शुद्धता और प्रयोगों की आलोचना निर्दोषता से की जाती थी। अनुवादों में भावों की सम्यक् अवतारणा होनी चाहिये। आचार्य वाजपेयी के शब्दों में "हम देखते हैं, उस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का अनुवर्त्तन नहीं हो रहा था, बल्कि भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोष उद्घाटित कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोगकालीन समीक्षा का समय था। बीसवीं शताब्दी में आते-आते ये प्रयोग निश्चित सिद्धान्तों का रूप लेने लगे। प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रतिवर्तन से आगे बढ़ कर साहित्य-चेतना पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाने की ओर भी प्रवृत्त हुई। उसके रूपान्तर की ओर भी

लोगों का ध्यान गया। भारतेन्दु-युग का गोष्ठी-साहित्य, जो थोड़े से साहित्यिक रुचि वाले, एक वर्ग विशेष के लिए ही लिखा जाता था, अब सर्व साधारण में हिन्दी प्रचार के लिए एक बृहत् आन्दोलन का रूप लेने लगा। विषय वैभिन्य के अनुरूप भाषा की भंगिमा में अप्रत्याशित परिवर्तन आये। अनेक प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करने के लिए बात करने के रंग-रूप-ढंग में व्यावहारिक उतार-चढ़ाव के आदर्श निरूपित होने लगे।

ठाकुर जगमोहन सिंह का व्यक्तित्व एक शैली का व्यक्तित्व था। इनमें कवि और दार्शनिक का समन्वय है। अपने माधुर्य में पूर्ण होकर इनका गद्य काव्य की परिधि में आ जाता है। बाद में इनकी शैली को भी चण्डी प्रसाद "हृदयेश", राजा राधिकारमण सिंह, शिवपूजन सहाय, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, और एक सीमा तक जयशंकर प्रसाद ने भी अपनाया। उनके "श्यामा स्वप्न" में प्रकृति के सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण है। आचार्य शुक्ल जी ने अपने इतिहास में उनके सम्बन्ध में लिखा है :—"ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली शब्द शोधक और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बद्रीनारायण की शैली से मिलती जुलती है। पर उसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंगस्थलियों को मार्मिक ढंग से हृदय में जमाने वाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।" दूसरे स्थल पर आचार्य शुक्ल लिखते हैं :—"बाबू हरिश्चन्द्र, पण्डित प्रताप नारायण, आदि लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के ऊपर के क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहन सिंह जी ने नरक्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौन्दर्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि संस्कार के साथ भारतवर्ष की प्यारी रूप रेखा को मन में बसाने वाले, वे पहिले लेखक थे। कवियों की पुरानी प्यार की बोली में देश की दृश्यावलि के सामने रखने का मूक समर्थन तो उन्होंने किया ही है, साथ ही भाव प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप अंकित करने वाली एक प्रकार की प्रलाप शैली भी इन्होंने निकाली, जिसमें रूप विधान का वैलक्षण्य प्रधान था न कि शब्द विधान का। क्या ही अच्छा होता, यदि इस शैली का हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से विकास होता। तब बंग साहित्य में प्रचलित इस शैली का शब्द प्रधान रूप जो हिन्दी पर कुछ काल से चढ़ाई कर रहा है और काव्य क्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी-कभी विषय निरूपक निबन्धों तक का अर्थ ग्रास करने दौड़ता है, शायद जगह न पाता।" भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख सदस्यों में ठाकुर जगमोहन सिंह थे। वर्णनात्मक निबन्धों का एक प्रकार से इन्होंने ही सूत्रपात किया। वर्णनात्मक निबन्धों का लेखक, किसी प्राकृतिक वस्तु जड़ अथवा चेतन, कोई स्थान, प्रान्त अथवा और किसी मनोहर तथा आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। इस प्रकार के निबन्ध हिन्दी में बहुत कम हैं। आगे आने वाले यथार्थवादी साहित्य प्रवाह में सुन्दर-सुन्दर शब्द चयन वाली इस अलंकृत शैली और गद्यकाव्यावलि के लिए पाठकों का आकर्षण क्रमशः घटता गया। परन्तु विविध भावमयी प्रकृति का रूपमाधुर्य तो उसमें सुरक्षित है ही और हिन्दी गद्य के विकास क्रम में इस शैली का ऐतिहासिक महत्व माना जायेगा। इनकी उदात्त भावुकता, कल्पना की उड़ान, पौराणिक, रोमान्टिसिज्म, माधुर्य की व्यापकता और वर्णन की सजीवता उल्लेखनीय हैं। ये विशुद्ध निबंधकार थे, आलोचक नहीं। "श्यामा स्वप्न" इनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री हिन्दी में उदारवृत्ति के पोषक थे। ब्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों की काव्योपयोगिता पर इनका विश्वास था। जीवन की अन्तिम दशाब्दि में उन्होंने केवल गोपालन और कृषि विषयक साहित्य का निर्माण किया, पर वे हिन्दी में समालोचना सिद्धान्तों के सूत्रपातकर्ता भी थे। इस सम्बन्ध में डा. लक्ष्मी सागर ने अपने ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी साहित्य में लिखा है :—"साहित्य शास्त्र पर प्रकाश डालने वाला पहिला लेख पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत समालोचना था। उसमें लेखक ने तत्कालीन तत्त्वों द्वारा नवीन प्रकाशित पुस्तकों की चर्चा के रूप में समालोचना, हिन्दी में समालोचना की प्रथा, समालोचक का ग्रन्थ सम्बन्धी ज्ञान, सत्य प्रीति, शान्त स्वभाव, सहृदयता आदि गुणों पर प्रकाश डाला है। बीच-बीच में लेखक ने अंग्रेजी साहित्य के समालोचकों, उनके मतों और अंग्रेजी की आलोचना पद्धति के बारे में संकेत किये हैं। केवल गुण-दोष विवेचन प्रणाली से भिन्न, समालोचना सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली प्रथा का सूत्रपात हम अग्निहोत्री कृत समालोचना से मान सकते हैं।

समालोचना साहित्य का यह महत्वपूर्ण विकास था। आचार्य शुक्ल जी ने हिन्दी निबन्ध शैली के उन्नायक के रूप में उन्हें याद करते हुए लिखा है :—"इस उत्थान काल के आरंभ में निबन्ध का रास्ता दिखाने वाले दो अनुवाद ग्रन्थ प्रकाशित हुए-बेकन विचार रत्नावलि और निबन्धमालादर्श (चिपलूणकर के मराठी निबन्धों का अनुवाद) पहिली पुस्तक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की और दूसरी पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की। अग्निहोत्री जी ने मराठी से संस्कृत कवि 'पंचक' का अनुवाद भी दिया जिसमें संस्कृत के पांच महाकवियों का समय, जीवन चरित्र तथा उनकी रचनाओं के गुण-दोष का विवेचन मिलता है। उस समय यह आशा हुई थी कि इन दोनों अनुवादों के पीछे ये दोनों महाशय इसी प्रकार के मौलिक निबन्धों के लिखने में हाथ लगावें। पर ऐसा न हुआ। मिश्र बन्धुओं ने भी अपने इतिहास में अग्निहोत्री जी को हिन्दी का परम प्रसिद्ध गद्य लेखक माना है। उनकी भाषा में डा. श्रीकृष्ण लाल को मराठी और संस्कृत शब्दों के दर्शन हुए और कहीं-कहीं पुराने पण्डिताऊ प्रयोग भी पाये जाते हैं। आचार्य द्विवेदी के सहयोगी होते हुए भी उनकी भाषा में वह सफाई, व्याकरण की शुद्धता, ढलाव और व्यवस्था—वह परिष्कृत सौष्ठव नहीं है, पर उनकी रचना शैली उनके कार्यकाल को देखते हुए महत्वपूर्ण है।

इसी प्रसंग में पण्डित गणपति जानकीराम दुबे का नाम भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। 'गुजराती साहित्य का विकास' उनका गंभीर, विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध था जो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में छपा था। आपने इने-गिने लेख ही लिखे हैं। पर उस युग को देखते हुए आपकी भाषा की व्यवस्था और क्रम बद्ध भावों की नियोजना उल्लेखनीय है। भाषा में संस्कृत की तत्समता जो उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी, आपकी रचनाओं में मिलती है। प्रकृति सौन्दर्य के प्रति आप में झुकाव है और भाव प्रधान वर्णनात्मकता आपकी शैली की विशेषता है। साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में आपका उल्लेख कम देखने को मिलता है। इसी प्रकार "छत्तीसगढ़ मित्र" के दो लेखकों—पाण्डेय अनन्त राम तथा सूर्यनारायण शर्मा और रामराव चिंचोलकर का उल्लेख भी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में नहीं मिलता। पर उन्होंने विचारात्मक और भाव प्रधान निबन्ध लिखे हैं। उस युग को देखते हुए उनके निबन्धों का एक सीमा तक वही महत्त्व होना चाहिये जो बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों का है।

पं. माधव राव सप्रे की प्रतिभा बहुमुखी थी। राजनैतिक जाग्रति में आपका बड़ा हाथ रहा है। अपने समय में हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि में आपने बड़ा योग दिया। देहरादून हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद को भी आपने सुशोभित किया था। मध्यप्रदेश विशेष कर छत्तीसगढ़ को अन्धकार से प्रकाश में लाने में आपने बड़ा काम किया। समय-समय पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन और बहुतेरी बहुमूल्य पुस्तकों का प्रणयन भी आपने किया जिनमें छत्तीसगढ़ मित्र, हिन्दी केसरी, हिन्दी ग्रन्थ माला, हिन्दी गीता रहस्य, हिन्दी दास बोध,महाभारत की मीमांसा मुख्य हैं। वे स्वार्थत्यागी देशभक्त, सुयोग्य सम्पादक और श्रेष्ठ लेखक थे। पुस्तकों के रूप में निबन्ध लिखने की हिन्दी में जो प्रथा चली उसके अंतर्गत सप्रे जी की पुस्तक 'जीवन संग्राम में विजय पाने के उपाय,' रामचन्द्र शुक्ल के 'आदर्श जीवन' के समान ही श्रेष्ठ है। ऐसी पुस्तकों में एक विषय पर छोटे-छोटे निबन्धों का संग्रह होता है जिनमें ज्ञान के साथ साथ साहित्यिकता भी मिलती है। सप्रे जी ने गंभीर उपयोगी विषयों पर सुन्दर विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं जो आज भी पढ़ने में तरोताजा लगते हैं। आपके ओजस्वी निबंधों में सामयिक और राजनैतिक विषयों के समावेश के साथ-साथ सुबोधता, सुगमता और शैली में निष्कपट हार्दिकता है। उन्हें निबन्धकार ही माना जायेगा आलोचक नहीं। उस युग में ग्रेजुएट होकर भी, मराठी और संस्कृत के पण्डित होकर भी हिन्दी के प्रति उनका अनुराग और उस पर अधिकार असाधारण था। ऐसी प्रांजल भाषा और बहती-बोलती शैली उन्होंने पाई थी जो उस युग में द्विवेदीजी को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ थी। क्लिष्ट से क्लिष्ट भावों को प्रभावपूर्ण सादगी के साथ वे अभिव्यक्त करते थे।

पंडित कामताप्रसाद गुरु वैयाकरण के साथ-साथ निबन्धकार भी थे। हिन्दी में आलोचनात्मक प्रवृत्तियों के सूत्रपातकर्त्ताओं में उन्हें भी माना जाता है। गद्य-पद्य पर आपका समान अधिकार था। 'देशोद्धार' आपके फुटकर निबन्धों का संग्रह है और आपने खड़ी बोली की भाषा सम्बन्धी काव्योपयोगिता पर कई लेख लिखे हैं। कवि

और व्याकरणाचार्य के रूप में ही अधिक माने जाने के कारण आपका गद्यकार और निबन्धकार का रूप अधिक सामने नहीं आ सका। द्विवेदी मंडल के लेखकों में आपका अपना स्थान था। गंभीर साहित्य, सामाजिक शिष्टाचार, सामान्य मनोविज्ञान, नवयुवकोचित चरित्र-निर्माण आदि आपके स्वतंत्र निबन्धों के विषय हैं। गुरुजी जैसा आत्म नियंत्रण और विषय के प्रति एकात्म तल्लीनता कम लेखकों में मिलती है। उनकी शैली सरल, सुबोध और आख्यानक है। अत्यंत संयत और परिष्कृत भाषा, समालोचनात्मक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक की सी तटस्थता आपकी विशेषता है। जीवन के नैतिक आदर्शों और स्वस्थ सामाजिक चरित्र निर्माण के प्रति आपका आग्रह स्पष्ट है। विचारों के संगुफन में व्यवस्थित क्रम मिलता है। बोल-चाल की सामान्य भाषा और सुष्ठु साहित्यिक भाषा दोनों में आपकी समान गति थी।

रायसाहब रघुवरप्रसाद द्विवेदी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया—लेख और लेखमालाएं लिखीं। 'हितकारिणी', 'श्री शारदा', 'माधुरी' आदि में ये प्रकाशित हुईं। विनोद और नीति, शिक्षा और सील आपकी रचनाओं का प्रधान गुण माना जा सकता है। मध्यप्रदेश के लेखकों-कवियों की एक पूरी पीढ़ी को ही आपने प्रभावित किया है। भाषा का संस्कार उस युग में साहित्य का रूप खड़ा करने का एक साधन था। द्विवेदी जी ने भी यह किया। इतिहास, सदाचार और शिक्षा से सम्बन्धित विषयों पर ही उन्होंने अधिकतर लिखा है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन्हें आलोचक तो नहीं कहा जा सकता, पर विचारात्मक निबन्ध वे उच्च कोटि के लिखते थे। भाषा और शैली का बाह्य अलंकरण उनमें नहीं, एक प्रकार का साध्वीपन उनकी स्वाभाविक शैली में मिलता है जो सरल, बोधगम्य व्यावहारिक और आत्मीयता पूर्ण होती थी। उन तक आते-आते भाषा का स्वरूप आचार्य द्विवेदी द्वारा स्थिर हो चुका था। पर उसे शब्द चयन के सौन्दर्य द्वारा संवारना शेष था। मध्यप्रदेश के लिये द्विवेदी जी बाबू श्यामसुन्दर दास थे। उन्होंने निरन्तर वर्तमान का सर्जन और भविष्य का स्पष्टीकरण किया। क्रमबद्ध जीवन प्रवाह के समान ही उनके निबन्धों में सुनियोजित भाव प्रवाह और विचारतल्लीनता मिलती है। भाव-प्रकाशन के अन्य दो प्रकार व्यंगात्मक और आलोचनात्मक उनके निबन्धों में नहीं दृष्टिगोचर होते।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी मध्यप्रदेश के पुराने आलोचकों में सबसे ऊंचा स्थान रखते हैं। इनकी आलोचना शैली में दार्शनिक के चिन्तन और कवि की भावुकता के साथ-साथ जीवन के स्थायी मूल्यों की खोज का अनवरत प्रयास दिखाईदेता है। साहित्य के बाह्य प्रसाधन की अपेक्षा उसके अन्तरस्थ की सच्चाई पर वे अधिक जोर देते हैं। विश्व साहित्य, हिन्दी साहित्य विमर्श, प्रदीप, यात्री, आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कथा साहित्य उनका प्रिय विषय है और बड़ी तटस्थता के साथ वे कथाकारों की सफलता व असफलता का निदर्श करते हैं। उनके कुछ विशेष साहित्यिक आदर्श हैं जिनके अनुरूप वे कलाकार को देखना चाहते हैं। यहां तक कि अपनी साहित्यिक कल्पनाओं की वारम्बर पुनरावृत्ति करने में वे नहीं चूकते और पाठक को उनकी आलोचनाओं में खटकने वाली एकरसता भी मिलती है। पर जीवन के सत्यों और कला के मानों के प्रति बक्शीजी की आस्था गहरी है। इसलिये उनकी कथा साहित्य की आलोचना में बार-बार की जाने वाली कथा-रस की मांग और उसकी मनोरंजकता पर उनका आग्रह खटकता नहीं। साहित्य में जिस विशेषता की वे चाहना करते हैं उसे इतनी सच्चाई के साथ स्वतः अनुभव करते हैं कि पाठक के हृदय पर उनके लिखने का सीधा प्रभाव पड़ता है और उनकी आलोचक दृष्टि में वैविध्य का अभाव उसे खलता नहीं। उनके वैयक्तिक निबन्धों में भी यही गुण प्रधान है। उनमें बक्शी जी की आलोचनात्मक दृष्टि छिपी नहीं रह पाती और उनकी आसक्तियां-विरक्तियां बड़ी प्रखरता के साथ उभरती हैं। साहित्य के सिद्धान्तों और जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों को कलारूप और संलाप रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी उनमें पाई जाती है। प्राचीन और अर्वाचीन की समन्वय दृष्टि उनमें है। उनकी दार्शनिक वृत्ति उनके लेखक के हर क्षेत्र में दिखाई देती है। पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी की तुलना करने की प्रवृत्ति उन्हीं के सम्पादन काल में 'सरस्वती' में परिलक्षित हुई थी। इस प्रणाली के प्रवर्तन का श्रेय बक्शी जी को है।

स्वर्गीय पण्डित रामदयाल तिवारी की आलोचनाओं ने प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार को अपनी ओर आकर्षित किया था। मध्यप्रदेश की इस छिपी हुई प्रतिभा ने प्रकाश में आते ही चारों ओर से प्रशंसा के स्वर सुने थे। स्वर्गीय पण्डित मातादीन शुक्ल के सम्पादन काल में 'माधुरी' में उनकी आलोचनाएं पहिले पहल छपी। उनमें गंभीर चिन्तन, अध्ययन और तत्वनिष्ठा की गहरी छाप थी। 'माधुरी' में तीन चार लेख छपने के साथ ही तिवारी जी समर्थ समालोचक माने जाने लगे। यह सन् १९३३-३४ की बात है। मुझे याद है, उसी समय पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को एक इण्टरव्यू दिया था—"भविष्य किन का है।" उसमें उन्होंने स्वयं तिवारीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उमर खय्याम पर लिखी गयी तिवारी जी की आलोचना ने, जो 'माधुरी' के दो-तीन अंकों में छपी थी, प्रेमचन्द्र को अत्यधिक प्रभावित किया था। सचमुच वह लेखमाला बेजोड़ थी। इस के बाद 'माधुरी' में उनके चार लेख और छपे थे—साकेत समीक्षा, यशोधरा, समर्थ समालोचक और सत्याग्रह का स्वरूप। साकेत और यशोधरा पर इतनी सारगर्भित और स्वच्छ दृष्टि सम्पन्न कोई आलोचना आज तक नहीं लिखी गई। यदि तिवारी जी जीवित रहते और उसी गति से लिखते तो वे पं. रामचन्द्र शुक्ल के समकक्ष महान् आलोचक होते, ऐसा मेरा विश्वास है। उनका गांधी मीमांसा नामक ग्रन्थ आज भी गांधीवाद पर एक महान कृति है जो अनूठा और सर्वमान्य है। विद्वत्ता, विचार स्वातंत्र्य, आत्म-विश्वास, निर्भीकता, हृदयशीलता, वैज्ञानिक तटस्थता और राग द्वेषहीनता से उनकी आलोचनाएं परिपूर्ण होती थीं। एक दार्शनिक प्रकाश उनकी आलोचनाओं को प्रकाशित किये रहता था। आज आलोचनाओं और मौलिक निबन्ध-कारों में उनका कहीं उल्लेख नहीं होता—यह देख कर आश्चर्य और दुःख दोनों होते हैं। यदि तिवारी जी जीवित रहते तो वे एक व्यापक समीक्षा दर्शन का निर्माण और निरूपण करते, उनमें वह गंभीर अतलस्पर्शी जीवन दृष्टि और भारतीय साहित्य-परम्परा और जीवन दर्शन के प्रति अटूट निष्ठा थी। उमर खय्याम के शून्यवाद और भोग-वाद का उन्होंने जिस विश्लेषनात्मक ढंग से खण्डन किया था और उसके काव्य की अन्तःसार शून्यता को जैसी खरी कठोरता की कसौटी पर रखा था, उसे पढ़ कर उस समय समस्त हिन्दी संसार मुग्ध हो गया था। उनके साहित्यिक और विवेचनात्मक लेखों का संग्रह प्रकाशित हो सके तो हिन्दी का हित हो। मध्यप्रदेश के इस महान् आलोचक की कृतियां सर्व सुलभ हो जायेंगी।

पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र का गद्य, उनके प्रयोगात्मक-विवेचनात्मक निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। मिश्र जी की सांस्कृतिक जीवन दृष्टि और परिष्कृत वैज्ञानिक समीक्षा शैली उनकी अपनी विशेषता है। उनका विशाल अध्ययन और पैनी अन्तर्दृष्टि उनके विषय प्रतिपादन को मौलिकता और गंभीरता प्रदान करती है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा के साथ-साथ आप में नवीनता का सामंजस्य भी पाया जाता है। राजनीति और सामाजिक अर्थ नीति और वर्त्तमान युग के सांस्कृतिक संक्रमण और आदान प्रदान को लेकर लिखे गये आपके निबन्धों में विश्लेष-णात्मक, तर्कयुक्त बुद्धि ग्राह्य और वस्तु निष्ठ लेखन शैली के दर्शन होते हैं। 'तुलसी के राम और सीता' नामक आपकी एक छोटी पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। साहित्यिक और सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजनों के अवसर पर दिये गये आपके अनेक भाषण हैं जो विचार सामग्री और विषय की नवीनता की दृष्टि से स्वतंत्र निबन्ध जैसे प्रतीत होते हैं। 'सारथी' 'श्री शारदा', 'लोकमत' और प्रान्त की अन्य पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित आपके साहित्यिक आलोचना-त्मक लेखों का संकलन निकलने पर हिन्दी साहित्य को मध्यप्रदेश की एक अच्छी देन मिलेगी।

पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी हिन्दी के श्रेष्ठतम आलोचकों में हैं और मध्यप्रदेश का सौभाग्य है कि पिछले ९ वर्षों से उन्होंने उसे अपना कार्यक्षेत्र बना रखा है। 'माधुरी' में प्रकाशित उनके प्रारंभिक लेखों या 'कल्याण' के राम-चरित मानसांक आदि के सम्पादन के समय से ही उनकी सूक्ष्मदर्शी प्रतिभा का परिचय हिन्दी संसार को मिला। "प्रसाद" पर उनकी विशिष्ट पुस्तक प्रकाशित होते ही वाजपेयी जी आचार्य शुक्ल के बाद उनकी परम्परा का निर्वाह करने वाले आलोचकप्रवर गिने जाने लगे। कुछ लोग उन्हें रसवादी आलोचक कहते हैं—कुछ लोग उन्हें मूलतः व्याख्या-

कार मानते हैं। उनके दृष्टिकोण में समय-समय पर परिवर्तन भी हुए हैं, पर उन्होंने अपने आदर्शवाद को सदा अक्षुण्ण रखा है। उनकी आलोचना कभी वैयक्तिक या प्रभाववादी समीक्षा के हल्के स्तर पर नहीं उतरी। अपने गुरु आचार्य शुक्ल जी की भांति उन्हें भी भाषा और विचारों में संयम रखना खूब आता है। उनके पास अपना स्वतंत्र जीवन-सन्देश भी है जो वे बड़ी सफाई के साथ अपनी आलोचना में सुनाते हैं। प्रभाकर माचवे के शब्दों में कुल मिलाकर वाजपेयी जी का हिन्दी आलोचना को दान बहुत अधिक है। उन्होंने हमारी आलोचना को आगे बढ़ाया है। शुक्लजी का आग्रह जहां बुद्धिवाद और मर्यादावाद पर था, वाजपेयी जी रसवाद पर निर्भर रहने के कारण या और स्पष्ट करें तो अन्त: प्रज्ञा पर अधिक निर्भर रहने के कारण सहज निराला से नरोत्तम नागर तक के सब प्रकार के नूतन प्रयोगवादी साहित्य के व्याख्याकार और अनुमोदक बन गये। वाजपेयी जी को एक प्रकार से हिन्दी के रोमांटिक युग के साहित्य शास्त्र का निर्माता माना जा सकता है और उनकी समीक्षा पद्धति अभी विकासशील है। 'हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी," "आधुनिक हिन्दी साहित्य," "जयशंकर प्रसाद" और "नया साहित्य-नये प्रश्न" उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जो किसी भी गंभीर साहित्यिक के लिए पठनीय ही नहीं, आवश्यक भी हैं। प्रसाद, निराला, महादेवी, पन्त, आचार्य शुक्ल और मैथिलीशरण गुप्त पर उनके आलोचनात्मक निष्कर्षों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आवश्यकतानुसार उन्होंने ऐतिहासिक और तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक दशाओं के प्रभाव का उद्घाटन भी आलोच्य रचनाओं में किया है। इस प्रकार साहित्य की ऐतिहासिक रचना परम्परा के साथ उन्होंने आलोच्य कृति का तारतम्य मिलाया है। सामाजिक शक्तियों की यह आलोचनात्मक विश्लेषणा कहीं भी उनके सौन्दर्यात्मक मूल्यांकन में बाधक नहीं होती। पार्श्वभूमि के संगीत के समान यह उनके गुणात्मक मूल्यांकन के प्रभाव को बढ़ाती ही है। अपने नवीनतम ग्रंथ "नया-साहित्य--नये प्रश्न" में उन्होंने बड़े अधिकार के साथ लिखा है—"जिन कवियों के पास जीवन का यह रचनात्मक आधार नहीं है वे ही निराश और निस्तेज कृतियों की अंधियारी में स्वयं रहते हैं और पाठकों को भी रखते हैं।" मेरा आग्रह है कि श्रेष्ठ काव्य और इतर काव्य का यह अन्तर समझने की चेतना जो हमारे साहित्य में अबतक अविकसित स्थिति में है, तेजी के साथ जाग्रत की जाये। किसी काव्य या साहित्यिक कृति का श्रेष्ठत्व किसी संवेदन या रस विशेष में नहीं है बल्कि इस संवेदन की मनोवैज्ञानिक प्रांजलता, पुष्टता, और गहराई में है। श्रृङ्गार रस की एक कृति अपने छिछलेपन और कामुक अभिव्यंजना में प्रतिक्षण तिरस्कृत हो सकती है, वहीं उसी रस की एक दूसरी कृति अपनी स्वच्छ गंभीर संवेदनाओं के कारण कविता और काव्य रसिकों का कण्ठहार बन सकती है।......हिन्दी के क्षेत्र में अधिकाधिक काव्य विवेक को जाग्रत करने के प्रश्न को मैं शीर्ष प्राथमिकता देना चाहता हूं।" मध्यप्रदेश में समीक्षा और निबंध लेखन की जो नई पीढ़ी बन रही है और बनेगी उसकी जड़ में वाजपेयी जी की भावना का आधार होगा। उनके मतों और निष्कर्षों, विचारों और प्रतिपादनों से भले ही किसी का कुछ मतभेद हो परन्तु उनका यह व्यक्तित्व समर्थतम साहित्यिक व्यक्तित्त्वों में है, यह मानना होगा।

डा. रामकुमार वर्मा मध्यप्रदेश के आलोचकों और निबंधकारों में उच्च स्थान रखते हैं। कवि और एकांकी-नाटककार होने के साथ-साथ वे साहित्यिक निबंध और व्याख्यात्मक आलोचनाएं भी बड़ी अच्छी लिखते हैं। उनकी अनेक आलोचनात्मक कृतियां प्रकाशित हुई हैं। छायावाद, रहस्यवाद और नये साहित्य को लेकर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं में हृदय तत्त्व और बुद्धितत्त्व दोनों का सुखद सम्मिश्रण मिलता है। भिन्न-भिन्न कवियों और लेखकों की पुस्तकों की उनकी लिखी भूमिकाएं भी उनकी आलोचनात्मक क्षमता और काव्य मर्मज्ञता का पर्याप्त प्रमाण हैं। वर्मा जी मूलत: कवि हैं। उनका कवित्व उनके गद्य में बराबर उभरता है। उनका साहित्यालोचन भी इसीलिए जहां अत्यन्त सरस और पठनीय होता है वहीं उसमें गंभीर चिन्तन और प्रबुद्ध सोद्देश्यता का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। उनकी भावुकता प्रधान शैली और भावों का और कवि का मानवातिरेक कहीं-कहीं उनकी आलोचना को गीत काव्य की भांति व्यक्तिगत बना देता है। सफल अध्यापक होने के नाते उनका समझाने का ढंग बिलकुल अपना है और सफल नाटककार होने के नाते उनकी आलोचना और निबंधों में भी नाटकीय उतार-चढ़ाव हमें मिलता है। इन्हें रसवादी आलोचकों की श्रेणी में गिना जा सकता है। छात्रोपयोगिता का वे बराबर ध्यान रखते हैं और जो कुछ कहते हैं

सफाई के साथ कहते हैं। किसी प्रकार की दुरूहता या जटिलता उनकी कृतियों में नहीं है। छायावाद के उदयकाल में जब पुराने सम्पादकों और आलोचकों द्वारा उसका विरोध किया जा रहा था, उन्होंने अपने प्रारंभिक लेखों में उसका समर्थन किया। नये साहित्य पर लिखे गये उनके लेखों में यदि बिखरन है तो कबीर और रहस्यवादी साहित्य दर्शन पर लिखे गये उनके निबंधों और आलोचना ग्रंथों में शास्त्रीय विवेचन और विषय की गहरी पकड़ भी है। सब मिलाकर वे एक सफल व्यक्तिवादी आलोचक हैं।

डा. बलदेवप्रसाद मिश्र तुलसी साहित्य और भक्तिकालीन चिन्ताधारा के मर्मज्ञ के रूप में सामने आते हैं। मिश्र जी मूलतः दार्शनिक हैं और दार्शनिक पक्ष की ओर ही उनकी दृष्टि अधिक गई है। 'तुलसी दर्शन' नामक उनका ग्रंथ तो अनूठा और सर्वमान्य है ही। उनके स्फुट निबंध भी पर्याप्त संख्या में हैं जो उनकी मानसिक गठन और दार्शनिक अभिरुचि का पर्याप्त परिचय देते हैं। साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष की ओर उनकी दृष्टि सजग है और एक स्वाभाविक वैशिष्ठ्य उनकी रचनाओं में पाया जाता है। आलोच्य विषय के सामाजिक पक्ष पर भी आप ध्यान रखते हैं। मिश्र जी के कई साहित्यिक अभिभाषण मैंने पढ़े हैं, जो परम्परागत ज्ञान और पुरातन के प्रति बुद्धिगम्य आग्रह के लिए अधिक उल्लेखनीय हैं। आलोचक की अपेक्षा आप निबंधकार अधिक हैं। प्राचीन भक्ति काव्य, सन्त साहित्य और विभिन्न धार्मिक दार्शनिक मत मतान्तरों का अध्ययन आपने किया है और तुलसी के भक्ति भाव के निरूपण में उसका समुचित उपयोग भी। आपकी वाणी के अनुसार आपकी लेखनी में भी रस है और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि भी आप में है। परिष्कृत भाषा और विषय के साथ एकात्म होनेवाली शैली आपकी विशेषता है।

पण्डित प्रयागदत्त शुक्ल की विद्वत्ता बहुमुखी है। पुरातत्व, इतिहास, साहित्य की प्राचीन-अर्वाचीन गतिविधि और सांस्कृतिक अनुवर्तन सबका उन्हें प्रगाढ़ ज्ञान है। इतिहास, वैदिक सभ्यता, भारतीय संस्कृति, विगत धर्मों और सम्प्रदायों की गंभीर जानकारी उन्हें है। काव्य शास्त्र का भी आपको विशद ज्ञान है और ये सारी उपलब्धियां आपके लेखों में प्रचुर परिमाण में प्रकट होती हैं। मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का जैसा ज्ञान आपको है, वैसा कम लोगों को है। आपको निबंधकार ही कहना उचित होगा यद्यपि आपने साहित्यिक आलोचनाएं भी लिखी हैं। नयी कविता और इतर रचनाओं के प्रति आपका दृष्टिकोण सुलझा हुआ और सहानुभूतिपूर्ण है।

श्री लोकनाथ सिलाकारी के निबंधों में उनका साहित्य के इतिहास का ज्ञान प्रकट होता है। मध्यप्रदेश के साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले उनके निबंध में गवेषणात्मक प्रवृत्ति है। आलोचक की अपेक्षा निबंधकार ही वे अधिक हैं। जहां तक साहित्य के विशुद्ध ज्ञान और कवियों, लेखकों, साहित्यिक परम्पराओं और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत समय-समय पर लिखी गयी साहित्यिक कृतियों के ज्ञान का संबंध है सिलाकारी जी अलग दिखाई देते हैं। विशेष रूप से भक्ति काल, रीति काल और छायावाद युग के पूर्व आधुनिक काल का उनका अध्ययन पूर्ण है और विषय-नियोजन की क्षमता भी उनमें है। प्रान्त के साहित्यिक ऐतिहासिक दृष्टिसम्पन्न लेखकों में वे उल्लेख्य हैं।

अपने पूज्य पिता पंडित मातादीन शुक्ल का उल्लेख मैं अत्यन्त संकोचपूर्वक कर रहा हूं। आलोचक और निबंधकार का अपूर्व सामंजस्य उनमें था। पर अपने युग के अन्य साहित्यिकों की भांति कभी उन्होंने अपने लेखों और आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह नहीं प्रकाशित कराया। छात्र सहोदर में उनके लेख पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। 'आज', "मर्यादा" और 'अभ्युदय' में भी उन्होंने अनेक निबंध लिखे हैं जो साहित्यिक कम और तत्कालीन राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं को लेकर ही अधिक हैं। उनके गंभीर साहित्यिक निबंध उनके संयुक्त सम्पादन और प्रधान सम्पादन काल में 'माधुरी' में ही अधिकतर छपे हैं। भाषण का ओजपूर्ण प्रवाह, आलोच्य विषय की गहरी प्रामाणिक जानकारी विषय प्रतिपादन की नवीनता और रोचक तथा सुव्यवस्थित रचना-क्रम और विश्लेषण उनके लेखों की विशेषता हैं। कला और मानवीय वेदनायें, मल्ल रत्न, पृथ्वी प्रदक्षिणा, रायसाहब रघुवरप्रसाद द्विवेदी, पराधीन प्रकृति, पद्माकर

बिहारी, तुलसीदास आदि पर लिखी गयी उनकी आलोचनात्मक चर्चाएं उल्लेखनीय हैं। सैकड़ों पुस्तकों की सारगर्भित और साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि की आलोचनाएं उन्होंने माधुरी और सुधा में लिखी और नियमित रूप से आलोचना का स्तम्भ संभाला। जो कुछ भी लिखा उस पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। डा. श्रीकृष्ण लाल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास नामक अपने ग्रंथ में लिखा है :– "भावनात्मक निबंध कभी-कभी स्वागत भाषण का भी रूप ले लेते हैं जबकि लेखक नाटकीय ढंग से किसी अदृश्य व्यक्ति या वस्तु को संबोधन करके अपनी भावनाओं का पूर्ण और नाटकीय प्रदर्शन करते हैं। जुलाई १९१६ की 'मर्यादा' में पंडित मातादीन शुक्ल ने अपने "आशा" शीर्षक लेख में यही विशेषता दिखाई है।"

भदन्त आनन्द कौसल्यायन का निबंध संग्रह "जो न भूल सका" अनेक दृष्टियों से हिन्दी में अनूठा है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात को प्रभावशाली ढंग से कहना आनन्द जी की शैली है। छिपकर अपने को निलिप्त रखते हुए उन्होंने जीवन का निरीक्षण किया है। इतना मधुर और निर्मोह व्यंग हिन्दी में कम लिखा गया है। संस्मरणात्मक शैली में अधिकतर लिखे गये इन निबंधों में पूंजीवाद की, प्रतिक्रिया की, ढोंग ढकोसलों की और सामाजिक और व्यक्तिगत पाखंड की भारतीयों पर कस-कस कर चोटें की गयी हैं। पंडित कालिकाप्रसाद दीक्षित में आलोचक और निबंधकार दोनों का समन्वय है। कुशल संपादक होने के नाते आपके निबंधों में एक नैसर्गिक परिष्कार रहता है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों का सार ग्रहण कर आप विषय प्रतिपादन का क्रम सजाते हैं। आपके निबंधों का संकलन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। साहित्यिक, आलोचनात्मक, संस्मरणात्मक और विवेचनात्मक सभी प्रकार के निबन्ध आपने लिखे हैं। रामानुजलाल श्रीवास्तव हिन्दी में अंग्रेजी के सुलेखक हैं। आपकी शैली पर उर्दू के लहजे का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वही मुहावरेदारी, शैली की सजीवता, विषय और पाठक के बीच तत्काल स्थापित हो जाने वाली निकटता, प्रच्छन्न व्यंग आदि आपके लेखों में खूब मिलते हैं। ब्योहार राजेन्द्रसिंह के निबंधों में उनकी साहित्य निष्ठा और स्थान-स्थान से ज्ञान का संचय करने वाली मधुकर वृत्ति के दर्शन होते हैं। 'तुलसी की समन्वय साधना' आपकी प्रसिद्ध पुस्तक है। साहित्य से इतर विषयों में भी आपकी गति है। शैली में सरलता और अभिव्यक्ति की ईमानदारी है। अनेक प्रकार के निबंध आपने लिखे हैं। पर आपके साहित्यिक-विवेचनात्मक निबंध ही अधिक सफल हैं। श्री विनय मोहन शर्मा प्रांत के प्रसिद्ध लेखक और आलोचक हैं। आपके आलोचनात्मक निबंधों के अनेक संग्रह निकल चुके हैं। शुद्ध साहित्यिक विषयों पर तो आपकी आलोचनाएं हैं ही, प्रान्तीय बोलियों पर भी आपने कुछ अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। साहित्य-कला, साहित्यालोचन दृष्टिकोण पर ही आपके निबंध संग्रह हैं। निबंधकार की अपेक्षा आप में आलोचक की प्रवृत्ति ही अधिक दिखाई देती है। प्राचीनता और नवीनता का आपके दृष्टिकोण में सुखद सामंजस्य है। काव्यकला और काव्य कृतियों पर आपके आलोचनात्मक निबंध सर्वाधिक सफल हैं। आप की निबंध शैली और आलोचना प्रणाली में पत्रकार की परिचयात्मकता भी देखने को मिलती है। अपनी आलोचनाओं में आप प्रभाववादी ही अधिक हैं।

पंडित आत्मानन्द मिश्र ने शिक्षा विषयक निबंध अधिक लिखे हैं यद्यपि आपके साहित्यिक निबंधों की संख्या कम नहीं है। आपकी शैली सरल, सुबोध और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से सफल है। पंडित प्रभुदयालु अग्निहोत्री मंजे हुए निबंध लेखक हैं। संस्कृत साहित्य के विद्वान् होने के नाते आपकी शैली पर संस्कृत शैली का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गीत गोविंद, कालिदास का विरह वर्णन, प्रबोध चन्द्रोदय, हिन्दी काव्य में नारी का मातृरूप आदि आपने निबंध लिखे हैं। संस्कृत शैली की विशेष अभिरुचि होने पर भी आप उसके बोझिल पन से मुक्त हैं। डा. राम रतन भटनागर सागर विश्व विद्यालय में हिन्दी के प्रधान हैं। इस समय तक आप लगभग ५० पुस्तकों की रचना कर चुके हैं। आप मुख्य रूप से आलोचक हैं, निबंधकार नहीं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के आप मर्मज्ञ हैं। दीर्घ आलोचनात्मक निबंध मालायें स्वतंत्र पुस्तक का रूप ले सकेंगी। आपकी आलोचना दृष्टि गंभीर और पैनी है। प्राचीन काव्य और साहित्य के प्राचीन इतिहास के आपने आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं जो पठनीय हैं। कमलाकांत

पाठक प्रांत के तरुण लेखकों में तथा आलोचकों में ऊंचा स्थान रखते हैं। आप सागर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हैं और आधुनिक हिन्दी कविता का आपने विशेष अध्ययन किया है। आपने संस्कृत की शैली अपनायी है। इस कारण आपकी आलोचनाओं में तत्सम बोझिल पन पाया जाता है पर अन्तरत्त्व की दृष्टि से आप पाश्चात्य आलोचक दृष्टि लेकर चलते हैं। आप कुशाग्र बुद्धि के सुलझे हुए आलोचक हैं। श्री रामनारायण मिश्र ने अनेक निबंध लिखे हैं जो अधिकतर साहित्यिक विषयों को लेकर हैं। मराठी साहित्यिकों पर और साहित्य पर भी आपके निबंध पठनीय हैं। देवीदयाल चतुर्वेदी के साहित्यिक निबंध साहित्य की आलोचक वृत्ति से ओत-प्रोत हैं। नर्मदाप्रसाद खरे के साहित्यिक निबंधों में परिचायक की विवेचना अधिक मिलती है। श्री खरे जी के लेखों की संख्या अधिक है और प्रत्येक आधुनिक लेखक या उसके कार्य के संबन्ध में आपने प्रायः लिखा है। गजानन मुक्तिबोध के निबंधों में नई आलोचक दृष्टि और प्रगतिशील चित्त धारा के दर्शन होते हैं। विचारों का बाहुल्य और मौलिकता तो उनमें है ही, पर विषय शृंखला और नियोजन की पटुता की दृष्टि से उनके निबंधों में कलात्मक भाव टपकता है। भवानीप्रसाद तिवारी ने साहित्यिक निबंध लिखे हैं और कुछ उच्च कोटि के व्यक्तिगत निबंध भी। गहरा व्यंग, स्वस्थ जीवनदृष्टि और सामाजिक आलोचना आपके लेखों की विशेषता है। इनके अतिरिक्त शिवसहाय चतुर्वेदी, कृष्ण लाल हंस, रामेश्वर प्रसाद गुरु, प्रभागचन्द्र शर्मा, राजेश्वर गुरु, हरिकृष्ण त्रिपाठी, उमाशंकर शुक्ल (वर्धा), श्री राम शर्मा (अकोला), लक्ष्मी नारायण दुबे आदि नवयुवकोचित प्रवृत्तियों के तरुण लेखक भी हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में बराबर लिखा करते हैं। इनमें से अनेक कवि, कहानी लेखक और पत्रकार भी हैं। उपर्युक्त सभी लेखक कथात्मक, वर्णनात्मक, चिन्तनात्मक और परिचयात्मक निबंध लिखते रहते हैं, परन्तु अधिकतर उनके लेख समकालीन अथवा प्राचीन साहित्य और उसकी विशेषताओं की व्याख्या और आलोचनात्मक अथवा प्रशंसात्मक ऊहापोह तक ही सीमित रहते हैं।

साहित्य रूप की दृष्टि से निबंध सबसे आधुनिक रूप है। इसका प्रचार मासिक अथवा साप्ताहिक पत्रों द्वारा हुआ है। निबंधों का आधुनिक रूप यद्यपि पश्चिम की देन है तथापि हमारे यहां भी १६ वीं शताब्दी के गोष्ठी साहित्य के प्रतिनिधि निबंध लेखक थे। इनकी दृष्टि जीवन के समस्त पक्षों पर नहीं जाती थी—किसी विशेष पक्ष पर ही ये दृष्टि डालते थे। इधर एक बात और होगई है। साहित्य की अभिवृद्धि इस तीव्र प्रयास से हो रही है कि इसका सामयिक मूल्यांकन और विवेचन, उसकी प्रेरक सूत्र प्रवृत्तियों का विश्लेषण बहुत शक्तियां ले लेता है। वर्तमान युग की निबंध कला एक प्रकार से साहित्य के व्याख्यात्मक अध्ययन-मूल्यांकन तक ही सीमित है। इस दृष्टि से जो विविधता और विषयों का बाहुल्य हमें भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के निबंधकारों में मिलती है वह आज उपलब्ध नहीं है। उस समय तो जो विषय सामने आजाता था उसी पर निबंध लिखे जाते थे। आज साहित्यिक अधिक लिखे जाते हैं जो आलोचनात्मक भी होते हैं और आत्म परिचयात्मक भी। निबंधों के साहित्यिक रूप और शैली में पर्याप्त विकास हुआ है, परन्तु विषय विस्तार नहीं। अधिकतर साहित्यिक विषयों ने ही निबंध सर्जन को आच्छादित कर रखा है। आवश्यकता है कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों को निबंध के विषय और उपादान का रूप मिले।

मध्यप्रदेश के आधुनिक कथाकार

श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री

साहित्यिक दृष्टि से मध्यप्रदेश में नवीन युग का प्रारम्भ सन् १६२० से माना जा सकता है। खंडवा के "सुबोध-सिन्धु" से लेकर नागपुर के "हिन्दी केसरी" तक और "हिन्दी-केसरी" से लेकर जबलपुर के "कर्मवीर" तक जो साहित्यिक-प्रयत्न मध्यप्रांत में हुये, उनके बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींच सकना यद्यपि कठिन है, तथापि इन तीनों युगों की कृतियों में विषय, भाव और अभिव्यक्ति की भिन्नता, थोड़ा ध्यान देने से स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। इसका कारण है, ऐसा लगता है कि मध्यप्रदेश के शैलों और सरिताओं के समान उसकी भावभूमि अपनी हरीतिमा और अवदात-पूरता के लिए अपने अन्तः पर कम और वातावरण के आवर्तन-विवर्तन पर अधिक निर्भर रहती आयी है; ऐसा नहीं कि हिमाचल और हैमवती के समान आकाश की देन को पूरक—मात्र के रूप में ही ग्रहण करें। हां, एक बात अवश्य, कि ऊपर से जो आया, उसे अत्यन्त विशुद्धता और अपंकिलता के साथ उसने ग्रहण किया, इतनी अपंकिलता के साथ कि उसमें उसके अन्तर की ऋजुता और अनृतता ही साकार हो पायी। मध्यप्रदेश की साहित्यिक कृतियों में सादगी, निश्छलता और ईमानदारी अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में मिलती है। प्रभाव का अर्थ दोहराहट नहीं; और यदि अन्यत्र कहीं हो तो भी मध्यप्रदेश में बिलकुल नहीं। यों यह प्रभाव प्रायः प्रत्येक साहित्यिक जाग्रति के मूल में होता है। बंगाली नाट्य-कला ने हिन्दी छविगृहों को प्रेरणा दी, लोकमान्य ने सारे भारत के लेखकों को प्रभावित किया। उसी प्रकार "सुबोध-सिन्धु" स्व. दादाभाई नौरोजी से प्रभावित वातावरण में, "हिन्दी-केसरी" स्व. लोकमान्य तिलक के विचारों के प्रचारक के रूप में और "कर्मवीर" गांधी युग की चेतना के परिमाणस्वरूप निकला और इन सबका प्रभाव तत्कालीन साहित्यिक कृतियों पर भी परिस्फुटित हुआ।

आधुनिक युग के पूर्वार्ध के कहानी लेखकों में पं. माखनलाल चतुर्वेदी, स्व. सुभद्राकुमारी चौहान और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कहानी लेखक के साथ-साथ कवि भी रहे हैं। बख्शी जी ने कुछ दिनों के बाद कविता से कलम खींच ली किन्तु उसे समीक्षा की ओर प्रवाहित कर दिया। इसका प्रभाव इन लेखकों के कथा-साहित्य पर भी पड़ा। कविता तात्कालिक यश और संतोष दोनों दे सकती थी। वह कविता का युग था और तब साहित्यिक के लिए कवि होना अपरिहार्य सा था। फिर हमारे ये लेखक तो जन्मजात एवं बहुमान्य कवि थे, अतः उनकी उर्वर मनोभूमि का रस पहिले-पहल कविता को ही प्राप्त होता रहा। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इन तीनों लेखकों की कुछ कहानियां साहित्य में सदा अमर रहेंगी। यदि ये लोग मुख्यतः कहानी की ओर ध्यान देते तो सम्भवतः आज कथा-साहित्य की स्थिति कुछ भिन्न होती।

पं. माखनलाल चतुर्वेदी में कहानीकार की सूझ और प्रतिभा खूब है। यद्यपि कविताओं के मुकाबिले उनकी कहानियां कम ही प्रकाशित हैं फिर भी कहानियां उन्होंने लिखी बहुत हैं। उनकी लगभग १५० बड़ी और ३०० लघुकथाओं में, जहां तक मुझे मालूम है, कुल १० कहानियां "कला का अनुवाद" नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। इन कहानियों में श्री चतुर्वेदी जी का व्यंग—जो उनकी साधारण हलकी—फुलकी चर्चा में प्रायः देखा जाता है—खूब निखरा है। व्यक्ति की भीतरी—बाहरी विद्रूपताओं पर उनकी दृष्टि झट पहुंच जाती है, और वे उन्हें उघाड़कर रख देते हैं। क्या "मुहब्बत का रंग," क्या "बरसता सावन बैसाख होगया" और क्या "महंगी पहचान" सर्वत्र उनमें फब्तियां कसने और बड़े संकेतात्मक ढंग से एक नयी बात कह जाने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। कवि के समान कहानीकार के रूप में भी श्री चतुर्वेदी जी पूर्णतः मध्यप्रदेशीय हैं। भाव, शैली सभी में वे इस प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी

शैली में उनका निजीपन जितना झलकता है उतना बहुत कम लेखकों की कृतियों में पाया जाता है। उनकी शक्ति उसमें प्रस्फुटित हुई है और प्रभाव भी। बात को एक विशिष्ट घुमाव के साथ नये प्रतीकों में और अछूतेपन से कहना—उनकी विशेषता है। बातों पर इतना बल देकर उनके कसीदे काढ़ने के शौक ने उनके वक्तव्य को अक्सर ढक लिया है। फिर भी उनकी सूझ अपनी है। अपने जीवन-यात्री के पावों में सहसा गड़ जाने वाली या आंखों में चुभ जाने वाली चीजों का एक खाका उन्होंने प्रायः प्रस्तुत किया है। माखनलाल जी की कविताओं के समान उनकी प्रत्येक कहानी के पीछे कोई न कोई छोटी-मोटी घटना अवश्य विद्यमान है। मनोविश्लेषण इन कहानियों में यत्र-तत्र है, राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक चर्चा भी कहीं-कहीं है पर गौण रूप में। चारित्रिक विकास नहीं के बराबर और तत्त्व-निरूपण बहुत कम है। वास्तव में माखनलाल जी की कहानियों पर वे भले ही बड़े आकार की हों—लघु-कथा के लक्षण अपेक्षाकृत अधिक घटित होते हैं, इसीलिये उनमें संकेतात्मकता खूब है।

माखनलालजी की भाषा में अटपटापन है, स्थानीय शब्दों के प्रयोग भी हैं और वाक्य-रचना कहीं—कहीं अजनबी सी। उसमें सर्वत्र एक बांकापन है, देखिए—

"पैसेंजर गाड़ी, सोचा था, आधीरात को घर से मेल पकड़ने से, तो रास्ते में कहीं बदल लेना अच्छा होगा। सो, पैसेंजर गाड़ी। जीवन का मूल्य कूतने की उचित जगह। वे आते हैं, वे चले, और वे चले गये।"

"किन्तु मेरी आंखें, उस समय मेरे कानों पर आ बैठी थीं। मैं सुनकर देख रहा था और देखने की उन्हीं उंगलियों से वातावरण को छू रहा था, इतने ही में सारा छायावाद गद्य हो गया।"

श्री माखनलालजी की कहानियों का उचित मूल्यांकन तब तक सम्भव नहीं, जब तक उनमें से अधिकांश प्रकाशित न हो जायें।

श्री पदुमलाल जी बख्शी सम्पादक, समालोचक और निबन्धकार के साथ कहानी लेखक भी हैं। उनकी कहानियों का एक संग्रह "झलमला" नाम से प्रकाशित हुआ था। कुछ कहानियां "पंचपात्र" आदि उनके विविध रचना-संग्रहों में संग्रहीत हैं। उनकी अनेक कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं किन्तु पुस्तकाकार नहीं हो पायीं। कुछ कहानियां सर्वथा अप्रकाशित हैं। किसी वाद, विषय या पद्धति में न बंधकर श्री बख्शी ने जब जैसी इच्छा हुई, लिखा। उनके एकांकी भी आपको देखने को मिल जायंगे और कभी-कभी ऐसी रचनायें मिलेंगी जिन्हें आप न कहानी कह सकेंगे, न एकांकी और न निबंध।

श्री बख्शी जी कहानी के सम्बन्ध में एक विशिष्ट सिद्धान्त रखते हैं। उनके मत से कल्पना कहानी का मूल तत्त्व है, ऐसी कल्पना-जो पाठक के मन को समरस कर उसे अपने साथ भ्रमण करावे, हंसाये और रुलाये। इसीलिये श्री बख्शी जी देवकी नन्दन खत्री से लेकर प्रेमचंद तक के कथा साहित्य को ही वास्तविक कथा साहित्य मानते हैं। मनोविश्लेषणात्मक कहानी को वे पसन्द नहीं करते। अपनी एक कहानी में उन्होंने लिखा है, — "कुछ समय से विज्ञों की यह प्रवृत्ति हो गयी है, कि वे उपन्यास को मनोविज्ञान की तरह पढ़ने लगे हैं। मनोविज्ञान के तथ्यों के लिये उनका इतना आग्रह हो रहा है कि वे उन्हीं में कला की सार्थकता समझते हैं। अपने समान उपन्यास प्रेमी के लिये मैं जिस गुण को आवश्यक समझता हूं वह है उसकी कल्पनाशीलता।......जो लेखक मेरे हृदय में कल्पना का वह मोहजाल निर्मित नहीं कर सकते उनमें मेरी समझ के अनुसार कथा की कला नहीं है, अन्य चाहे जो गुण हों। इसी से प्रेमचंद्र की कहानियों में मेरे लिये जो आकर्षण है, वह प्रसाद जी की कहानियों में नहीं है।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि बख्शी जी कहानी का अर्थ कहानी मानते हैं। वे शैली की दृष्टि से कुछ पञ्चतन्त्र और हितोपदेश के समीप पहुंचती हैं, जिनमें एक व्यक्ति कोई सामान्य तथ्य प्रकट करता है और उसके समर्थन में किसी की सुनासी हुई घटना कहानी के रूप में उपस्थित करता है। इस तरह मूल कहानी किसी अन्य कहानी में अन्तर्भूत हो जाती है। बख्शी जी की प्रायः प्रत्येक कहानी किसी न किसी तथ्य के समर्थन के लिये है चाहे वह तथ्य

प्रारम्भ में उद्घाटित कर दिया गया हो, चाहे अन्त में। उषादेवी जी या जहूरबख्श के समान वे कहानी के लिए कहानी नहीं कहते या कह नहीं पाते। कहानियों के बीच-बीच में वे अपनी मान्यताओं की सविस्तर चर्चा करते नहीं हिचकते इसीलिए कभी-कभी तो कहानी के भीतर एक साथ लगातार छोटा-मोटा निबंध ही लिख जाते हैं। श्री बख्शी जी की कहानियां, ऐसा लगता है जैसे घटित-घटनाओं के ही साहित्यिक संस्करण हों। उनमें उनकी निजी चर्चा भी बहुत है। शायद ही किसी अन्य कहानीकार ने अपने सम्बन्ध की तथा अपने पास-पड़ोस के वातावरण की चर्चा कहानी के भीतर इतनी अधिक की हो। अनेक स्थानों पर इससे कहानियों के सौंदर्य में वृद्धि भी होती है पर प्राय वे किसी पराजित निराश लेखनी से प्रेरित सी मालूम पड़ने लगती हैं और ऐसा इस कारण होता है कि लेखक कभी निज को भूल नहीं पाता। बख्शी जी की "विपर्यय", "नन्दिनी", "सुखद-अंत" आदि अनेक कहानियों को आप सरलता से प्रेमचंद्र युग की श्रेष्ठ कहानियों के साथ पढ़ सकते हैं। इनमें लेखक स्वयं को भूल गया है। श्री बख्शी जी के चिन्तन के समान उनकी शैली भी बड़ी सरल, स्पष्ट और मधुर है—द्विवेदी—युगीन। उन्हें इसी दृष्टि से पढ़ा भी जाना चाहिये। उनकी अनेक कहानियां उनके व्यक्तित्व के समान ही निर्मलता और भोलापन लिये हुये हैं, जिनको एक बार पढ़कर मन को सन्तोष प्राप्त होता है।

स्व. श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हुये—"सीधे सादे चित्र", "उन्मादिनी", और "बिखरे मोती"। काव्य दो ही—'मुकुल' तथा झांसी की रानी"। इस प्रकार उनका कहानी साहित्य परिमाण में कविताओं से बड़ा है फिर भी हिन्दी जगत् श्रीमती सुभद्राजी को कवियित्री के रूप में ही विशेष जानता है और यह उचित भी है। वास्तव में वे कवि प्रथम थीं और कथाकार पीछे। कहानियां उन्होंने कहानीकार बनकर लिखी हैं। श्रीमती सुभद्राजी की कहानियों का कलेवर प्रायः छोटा, कथानक किसी मामूली घटना पर आश्रित, शैली सरल, सुलझी और आदर्श अत्यन्त स्थूल हैं। कहानी लेखिका के रूप में वे सुधारक हैं। "भग्नावशेष", "पापी पेट," "मंझली रानी", "परिवर्तन", "ग्रामीण," "अनुरोध" सभी कहानियां सामाजिक या वैयक्तिक न्याय, सहानुभूति और पर-दुःख-कातर पर आश्रित हैं। इन कहानियों में न उन्मादक रोमानी वातावरण है और न क्रांतिकारी स्फुलिंग। यह बात आशा के विपरीत सी लगती है। उनमें सहानुभूति और छिपा मातृ-हृदय ही अधिक मुखर है और इस बात का आभास मिलता है कि आगे चलकर इस वीर राष्ट्र सेविका का मातृत्व उसके सैनिक से प्रबल हो उठेगा। नारी की बेबसी, पीड़न और अभिशापों से उनका हृदय सदा द्रवित रहा है, फिर भी उनकी कहानियों में नारी के लिये क्रांति का ज्वलित सन्देश नहीं है। वे केवल एक क्षणिक झांकी, जीवन के कुछ मिनट, कुछ दिन पट पर चित्रित कर दूर जा खड़ी हो गयी हैं।

श्रीमती सुभद्रा जी कविता के क्षेत्र में भावना प्रधान रहीं। कल्पनाओं का चिन्तन उनका क्षेत्र नहीं। कहानी के क्षेत्र में भी उनकी यही स्थिति है। काव्य में उन्हें आशातीत सफलता मिली क्योंकि वहां हृदय से हृदय के मौन संभाषण के लिये अवकाश है। कहानी की स्थिति भिन्न है। वहां बुद्धि आगे और हृदय पीछे है। यही कारण है कि उनकी कहानियां प्रायः वर्णनात्मक कविता का विषय बन कर रह गयी हैं। फिर भी उनके सीधे-सादे चित्रों की सादगी में एक आकर्षण है, वही आकर्षण जो बेमुलम्मे की सरल भोली बात में होता है। श्रीमती सुभद्रा जी की कहानियों में उनके हृदय की धड़कन सुनायी पड़ती है। उनकी कहानियों के कथानकों की सादगी में भी कुछ नवीनता और पात्रों की सरलता में भी विचित्रता है, भाषा बहुत मधुर बोलचाल की और प्रवाहमय। उनके "बिखरे मोती" को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सेकसरिया पुरस्कार प्राप्त होने का गौरव प्राप्त है।

इस युग के लेखकों में श्रीमती उषादेवी और श्री जहूरबख्श ही ऐसे हैं जो केवल कहानी लिखते हैं। जहूर-बख्श सैकड़ों कहानियां आज तक लिख चुके हैं और उनके हाल ही में प्रकाशित "हम पिरवीडब्ल्ट हैं" के लिये मध्यप्रदेशीय शासन साहित्य परिषद् ने ५००) का पारितोषिक प्रदान किया है। मुंशी जहूर बख्श कदाचित् मध्यप्रदेश के एक मात्र कहानीकार हैं जिनकी कहानियां लगभग १६३० से आजतक समान आदर के साथ पढ़ी जा रही हैं। उनकी कहानियों के विषय विविध हैं। जीवन की रंगीनी, ठिठोली, गहराई, दर्द सभी कुछ उनमें अत्यन्त सफलता के साथ चित्रित हुआ है। फिर भी करुण पारिवारिक चित्र उपस्थित करने में वे सिद्धहस्त हैं। एक मुसलमान के नाते उन्होंने अपनी अनेक

कहानियों में भव्य इस्लामी वातावरण और मुस्लिम परिवारों, तथा उनकी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों की सही-सही खुशनुमा तसवीर पाठकों को दी है। वातावरण उत्पन्न करने में तो उन्हें यों भी कमाल हासिल है। कहानी के प्रारम्भ से ही वे पाठक को विश्वास में ले लेते हैं और उससे मैत्री स्थापित कर लेते हैं। वे जहां एक ओर करुण चित्रों के आकलन में सिद्धहस्त हैं वहां पुरमज़ाक, फबती भरे, गुदगुदा देने वाले फिसाने लिखने में भी। भाषा उनकी वफ़ादार बीबी है जो सुख-दुःख,आंसू-मुस्कान, हरम-जंगल, महल-झोपड़ो और मसजिद-कसाई खाने कहीं भी उनका साथ नहीं छोड़ती। श्री जहूरबख्श विशुद्ध संस्कृतमयी शैली में भी लिख सकते हैं और फसीह उर्दू में भी। उर्दू की जानकारी ने उनकी भाषा को गति, ओज और जिन्दादिली प्रदान की है। मुहावरों के प्रयोग में उनका सानी नहीं। उनके व्यंग बड़े मनोरंजक और मजाक बड़े मीठे होते हैं।

श्री जहूरबख्श ने द्वेष, ईर्ष्या, साम्प्रदायिकता, अन्ध विश्वास और गरीबी से भरी दुनिया को अपनी आंखों देखा और समझा है, जिन्दगी की, परिवार की और समाज की बड़ी भोंडी-भोंडी तसवीरें उनके सामने हैं। हिन्दू विश्वास परम्परा को वे एक अहिन्दू की दृष्टि से देख सके हैं और जैसा उन्हें दिखा, उन्होंने निःसंकोच दूसरों को भी दिखा दिया है। हिन्दी के कुछ पाठकों को कभी-कभी उसमें साम्प्रदायिकता भी झांकती दिखी है पर हमें हिन्दी और हिन्दू को अलग कर के देखना चाहिये, देखना भी होगा। हमारे लिये यही क्या कम गौरव की बात है कि श्री जहूरबख्श हिन्दी जगत् के प्रतिनिधि कहानीकारों में हैं।

श्रीमती उषादेवी मित्रा की मातृभाषा बंगला है। वे प्रारम्भ में बंगला में ही लिखती थीं और उनकी तत्कालीन कहानियां "वसुमती", भारतवर्ष", पंचपुष्प" आदि पत्रों में प्रकाशित होती थीं। उन्होंने सन् १९३३ में हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया और उनकी प्रथम हिन्दी कहानी "मातृत्व" "हंस" में प्रकाशित हुई जिससे स्व. श्री प्रेमचन्द जी अत्यन्त प्रभावित हुये और उन्होंने उन्हें एक पत्र में लिखा,"ऐसी दस कहानियां भी तुम लिख दो तो हिन्दी के गल्प लेखकों में तुम्हारा स्थान सर्वोत्तम हो जायगा।" तब से अबतक श्रीमती उषादेवी जी अनवरत गति से कहानियां और उपन्यास लिखती जा रही हैं। जिनमें "वचन का मोल", "पिया", "जीवन की मुसकान", "पथचारी" "आवाज", आदि उपन्यास और "आंधी के छन्द", "महावर", "सान्ध्य पूरवी", "नीम चमेली", "रागिनी", "मेघमल्हार", आदि कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उनकी ढेरों कहानियां मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।

श्रीमती उषादेवी कहानी कहने की कला में सिद्धहस्त हैं। उपन्यास और कहानी दोनों आप बालक की तरह चुपचाप बैठे सुनते रहिये—उत्सुक, "और-और" के जिज्ञासु बालक के समान—और लगेगा, बूढ़ी दादी बड़े प्यार से आपके सामने से रहस्य का पर्दा उठाती जा रही है। एक कौतूहल, उत्सुकता और जिज्ञासा जगाती चलती हैं उनकी कहानियां। उनका सूत्र कहीं नहीं टूटता, नीरसता कहीं नहीं आने पाती। उषादेवी जी की दूसरी विशेषता है, उनकी करुणार्द्रता। बंगाली काव्य के समान उनके कथा-साहित्य का अधिकांश गहरी टीस और वेदना से स्नात है। उजड़े बसन्त, बरसे बादल और लुटे सुहाग का सूनापन और रुआंसी जगा देने वाली उदासी उस पर बरसती है। इस कारण उनकी कथाओं का वातावरण प्रायः रहस्यमय, धुंधलका और कुछ-कुछ भय—भीगा रोमांच जगा देने वाला—सा हो गया है। उनकी कहानियों पर बंगला की छाप स्पष्ट है। उनकी भाषा पर भी बंगला प्रभाव है। इस कारण उनकी अभिव्यक्ति कई स्थानों पर अटपटी सी हो गयी है, किन्तु साथ ही उसमें काव्यत्व की मात्रा बढ़ गयी है। उषादेवी जी अपनी बात कहने के लिए पहले वातावरण तैयार कर लेती हैं। देखिये—

> "हवा की हल्की-हल्की मुस्कान उसके रोमकूपों में प्रवेश कर शरीर के रक्त को जमा दे रही थी। बलवीर को लगने लगा, जैसे वह क्रमशः जमती जा रही है और अब जम कर वह पत्थर की बन जायगी।
>
> "क्या पत्थर इसी तरह बनते हैं? सोच उठी बलवीर—ये जो बड़े काले पत्थर देखने में आते हैं, क्या वैसे ही गृहहीन मनुष्य ठंड में जम कर पत्थर बने हैं। सोच रही थी और सोचती ही चली गयी—तो उसके दोनों बच्चे, जो कि लाहोर में गड़े हैं, वे भी जम कर अब तक पत्थर बन गये होंगे।"

उपर्युक्त उदाहरण में उनकी भाषा और वर्णन शैली के गुण-दोष स्पष्ट हैं।

श्रीमती उषादेवी को जीवन और जगत् का बड़ा अनुभव है। पुरुष और स्त्री की शक्ति और दुर्बलताओं से वे पूर्ण अवगत हैं। कोलाहल भरे जंगल के एकान्त निभृत कोने में कभी माता की, कभी बहन की, कभी पत्नी की, कभी पुत्री की और कभी उपेक्षिता परित्यक्ता की उँगलियों से उन्होंने जो करुण, ओजोमय, दिव्य, स्वाभिमान पूर्ण और स्नेहिल भव्य नारी चित्र उतारे हैं, उन पर दृष्टि टिकी रह जाती है, किन्तु बंगाल की परम्परा के अनुरूप उनमें से हर एक में मातृच्छवि का ओज सर्वोपरि दमक उठा है।

प्रचार से दूर वे अभी भी बसाये जा रही हैं, काव्य, संगीत और प्रकृति माधुरी की त्रिवेणी के तट पर, अपनी कथा-साधना का प्रयोग। श्री प्रेमचन्द जी ने उनकी इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य कर के कहा था, "श्रीमती उषादेवी की कहानियों में प्राकृतिक दृश्यों के साथ मानव जीवन का ऐसा मनोहर सामञ्जस्य होता है कि रचना में संगीत की माधुरी का आनन्द आता है। साधारण प्रसंगों में रोमांस का रंग भर देने में उन्हें कमाल हासिल है।"

दूसरे खेवे के लेखकों में हम श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव, वनमाली, अंचल, प्रभुदयालु अग्निहोत्री, नर्मदाप्रसाद खरे, ज्योतिर्मय, अनन्त गोपाल शेवड़े, देवीदयाल चतुर्वेदी "मस्त", श्रीमती हीरा देवी चतुर्वेदी आदि को ले सकते हैं। ये लेखक सन् १९३५ और १९४५ के बीच प्रकाश में आये। यद्यपि इनमें श्री रामानुजलाल जी अवस्था की दृष्टि से हमारे समालोच्य काल के प्रथम दशक में आ सकते हैं। उनकी पहली कहानी सन् १९२७ में 'सरस्वती' में निकली थी, किन्तु कहानी कला के विकास की दृष्टि से वे प्रथम लेखकपञ्चक से बाद के ही माने जायेंगे। हिन्दी कहानी का स्वरूप सन् १९३० तक स्थिर हो चुका था और वह अन्य भारतीय भाषाओं के मुकाबिले में सशक्त हो चुकी थी। प्रेमचन्द और उनकी शैली के लेखक सुदर्शन, कौशिक, चतुरसेन शास्त्री आदि का दल हिन्दी उपन्यासों के प्रति पाठक के मन में आदर का स्थान पा चुका था और रोमाण्टिक लेखक क्षेत्र में प्रवतीर्ण हो चुके थे। फिर भी जैसा कि मैंने पहले कहा है, प्रयोगों के लिये मध्यप्रदेश की भूमि विशेष अनुकूल नहीं रही। प्रयोग संघर्षों में पहले हैं, चाहे वे संघर्ष जीविका के हों या दूसरी-तीसरी भूख के। मध्यप्रदेश की शान्त, स्वयंपूर्ण, परितुष्ट भूमि में संघर्षों को पनपने का अवकाश सदा ही कम रहा है। इसलिये यहां नये-नये प्रयोग आये भी तो उत्तरप्रदेश की नकल पर। फलतः वे सदा पुराने पड़ कर आये और तब आये जब उनमें लोगों को आकृष्ट करने का सामर्थ्य नष्ट हो चुकता रहा। जिन लोगों को सदा नये की भूख रहती है, वे कलाकार और पाठक हमारे लेखकों को इसीलिये द्वितीय श्रेणी का मानते रहे। उन्हें जिनकी आंखें योरोपीय साहित्य के नित नये वादों और टेकनीक के प्रयोगों से चमत्कृत होकर उनके पीछे-पीछे चलने में कृतार्थता का अनुभव करती थीं और जिनकी कलम उनकी नकल कर स्वयं को कृतकार्य मानती थी, भला कौन समझाता कि आत्मा और देह में क्या अन्तर है, वस्तु और रूप में कौन श्रेष्ठ है? किन्तु अनुकृति से अलग रहने का जो एक शुभ परिणाम होता है, वह इस प्रदेश की प्रायः रचनाओं पर हुआ। मध्यप्रदेश के शायद ही किसी लेखक का अपना निजी व्यक्तित्व न हो और शायद ही किसी लेखक की कृतियों में बासीपन मिले।

हां तो इन लेखकों तक आते-आते कहानी में घटना के बदले चरित्र के विकास को महत्त्व दिया जाने लगा था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सन् १९३० के बाद की मन्दी और बेकारी ने लोगों के मन को निराशाविष्ट कर दिया था। हिन्दी काव्य के क्षेत्र में भी वैचारिक और शैलीगत परिवर्तन हो रहे थे। अब वह कैशोर्य से बढ़ कर तारुण्य का स्पर्श करने लगी थी। ऐसी स्थिति में कहानीकारों का यह और दल सामने आया।

इन कथाकारों में श्री रामानुजलाल जी निहायत फक्कड़ तबियत के और जिन्दादिल लेखक हैं। कथा-शास्त्र का काफ़ी अध्ययन और मनन कर वे इस क्षेत्र में आये। उर्दू और फ़ारसी का भी सहारा उन्हें था। श्री बहरवस्त्रा की जिन्दादिली और परिहास को थोड़ा और सुष्ठु उन्होंने बनाया। उनके व्यंग में परिष्कार, हंसी में आवश्यक संयम और फक्कड़पन में साधुता है। कोई पन्द्रह कहानियां उन्होंने लिखीं, किन्तु जो लिखा पुरअसर। वस्तु, उसका संग-

उनकी परिहास कथाओं पर मराठी की सुविदित कहानी लेखिका और उनकी पत्नी सौ. यमुताई शेवड़े का प्रभाव स्पष्ट है। वस्तु और तन्त्र दोनों में श्री शेवड़े मोपासां के स्कूल के बाल पड़ते हैं। भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार है और बात को अत्यन्त सरल शब्दों में विस्तार किन्तु रोचकता के साथ कहने में सफल है।

श्री मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, श्री लक्ष्मीप्रसाद मिश्र "कविहृदय", श्री श्याम और श्री "चन्द्र" के कहानी-संग्रह उपलब्ध नहीं है। इसलिये उनकी कहानियों का विवेचन यहां सम्भव नहीं है। "कवि हृदय" सुन्दर लिखते थे, पर न जाने क्यों, उनकी लेखनी ने बीच में विश्राम ले लिया। उक्त तीनों कथाकारों की देन महत्त्वपूर्ण है।

तरुण बन्धुओं में—जिन्होंने अपेक्षाकृत देर से लिखना प्रारम्भ किया, किन्तु शीघ्र ही हिन्दी जगत् का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है, श्री हरिशंकर परसाई, श्री विष्णुदत्त अग्निहोत्री, श्री मधुकर खेर, श्री कुमार साहू, श्री नरेन्द्र, श्री शेष और श्री आनन्दमोहन श्रवस्थी मुख्य हैं। इनमें श्री परसाई का कहानी संग्रह "हँसते हैं, रोते हैं" प्रकाशित हो चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि विचारों की ईमानदारी, गहरी अनुभूति, संघर्षों से प्रत्यक्ष जूझकर और जीवन की भट्टी में तप-तप कर पाये हुए निखार, जीवन की प्रगति पर आस्था, प्रखर आलोचक के साथ मानवतावादी दृष्टिकोण, मस्ती, ज़िन्दादिली और भाषा पर अधिकार इन बातों का मिल कर जो संयुक्त प्रभाव कला पर पड़ना चाहिये, वह श्री परसाई में आप देख सकते हैं। उनकी कल्पना और अनुभूति में कितना बड़ा अन्तर होता है और अनुभूति के स्पर्श से कला कितनी प्रभावोत्पादक बन जाती है, यह किसी को देखना हो तो श्री परसाई की कहानियों में देखें।

श्री विष्णु दत्त अग्निहोत्री का एक कहानी संग्रह "सोने का सांप" दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ। श्री अग्निहोत्री कवि भी हैं। उनकी कहानियों में यौवन का उद्दाम स्वर है और छलकती भावुकता है। श्री मधुकर खेर, काफ़ी अरसे से लिखते आ रहे हैं। श्री खेर की जन-जन पर होने वाले अन्याय के प्रति असन्तोष की भावना है। वे जनसाधारण के मनों में व्याप्त असन्तोष को व्यक्त करते हैं। उन्हें जीवन का अच्छा अनुभव है और भाषा में प्रौढ़ता है। सरल सीधी शैली, दैनन्दिन जीवन के सूक्ष्म घटनाओं पर आधारित कथानक और मर्मस्पर्शी अवसान उनकी कहानियों की विशेषता है। श्री कुमार साहू का एक कहानी संग्रह "चट्टान के टुकड़े", कोई चार-पांच वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। इन कहानियों में कोई नया दृष्टिकोण या शैलीगत नावीन्य नहीं, किन्तु कथानक के गठन और उसके पेश करने में आकर्षण अवश्य है।

श्री रामनारायण उपाध्याय, ग्राम जीवन के शिल्पी हैं। ग्रामीण और कृषक जीवन को बहुत ज्यादा करीब से उन्होंने देखा-समझा है। उनकी कहानियों के एक संग्रह "अनजाने-जाने-पहिचाने" में जीवन के विविध अनुभवों का आकलन है। इन रेखाचित्रों में जीवन के छोटे-छोटे खण्डों का अंकन है। ये चित्र कलात्मक दृष्टि से भी बहुत मार्मिक और सम्पूर्ण उतरे हैं। हां, जहां लेखक उपदेशक बन गया है, वहां कला को क्षति अवश्य पहुँची है। फिर भी इसमें मतभेद नहीं हो सकता कि श्री उपाध्याय के हर रेखा चित्र में लेखक का ईमानदार, सरल, आत्मीयता भरा, साधक रूप स्पष्ट झलकता है और शैली में ग्रामीण का सा भोलापन।

श्री नरेन्द्र का एक कहानी संग्रह "ग्रहण के बाद" प्रकाशित हुआ है। श्री नरेन्द्र प्रगतिशीलता के समर्थक, जनवादी और यथार्थ के चित्रकार हैं। अभिव्यंजना पर उर्दू का प्रभाव है। श्री नरेन्द्र का पूरा नाम श्री देविनेनी विश्वनाथराव है, आप की मातृभाषा तेलगू है।

श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तव कहानीकार हैं और नाटककार भी। उनकी कहानियां काव्यमय वातावरण से ओत-प्रोत रहती है, और भाषा रसवन्ती। हल्के चुटकुले, चुटीले व्यंग और अदम्य जीवन आस्था कलाकार की कला में स्पष्ट झलकती है।

श्री आनन्द मोहन अवस्थी के "बन्धनों की रक्षा" और "लघु कथा संग्रह" ये दोनों संग्रह काफ़ी लोकप्रिय हैं। लघु कथाकार के नाते वे अपनी कथाओं में अनावश्यक से बच-बच कर चले हैं। कथानक, अभिव्यंजना, सभी दृष्टियों से नये प्रयोगों का प्रयास भी अवस्थी में दृष्टिगोचर होता है।

इन लेखकों के अतिरिक्त और भी नये-पुराने लेखक प्रान्त में बिखरे हैं, जिनकी इस लेख में चर्चा करना सम्भव न हो सका। श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, श्री शंकरलाल शुक्ल, श्री घनश्यामप्रसाद "श्याम", श्री केदारनाथ झा "चन्द्र", मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, श्री ब्रजभूषण सिंह "आदर्श" ने भी कहानियां लिखी हैं, किन्तु उनके उपलब्ध न हो सकने के कारण इस लेख में उन पर चर्चा न हो सकी।

कुल मिला कर इस सम्पूर्ण साहित्य का सिंहावलोकन करने से कुछ बातें बड़ी स्पष्ट दिख जाती हैं। एक तो मध्यप्रदेशीय कथा साहित्य में कृत्रिमता बिलकुल नहीं है। अधिकांश लेखकों ने तीव्र प्रेरणा से ही लिखा है, प्रकाशन के लिये नहीं। दूसरे यह साहित्य प्रायः आदर्शवादी है और मानव की उदात्त-वृत्तियों पर विश्वास करके चला है। तीसरे प्रगतिशील होते हुए भी, यह प्रगतिवादी नहीं है। जो लेखक क्रान्तिवादी लगते हैं, वे भी वास्तव में मानवतावादी ही हैं। वास्तव में हमारे प्रदेश का साहित्य संघर्ष का साहित्य नहीं है। उसमें शान्ति, मानवता और सहानुभूति का स्वर प्रबल है।

पण, विशुद्ध जनवादी प्रवृत्तियों का समर्थन और वास्तविक जीवन का यथातथ्य चित्रण उनकी विशेषता है। श्री ज्योतिर्मय का भावव्यञ्जना पर पूरा अधिकार है। उनकी भाषा प्रखर प्रवाहमय उर्दू बहुल है। हर दूसरी-तीसरी पंक्ति के बाद "डाट्स" की लम्बी पंक्ति से बिना नाम देखे आप श्री ज्योतिर्मय का अनुमान कर सकते हैं। मध्यप्रदेशीय कहानी लेखकों में उनकी शैली प्रगतिवादी लेखकों के ज्यादा समीप है।

मध्यप्रदेश से बाहर जाकर अपनी एकान्त साधना और अडिग निष्ठा से इस प्रदेश का गौरव बढ़ाने वाले साहित्य-सेवियों में श्री देवीदयाल चतुर्वेदी "मस्त" एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी का नाम आदरपूर्वक लिया जाना चाहिये। व्यवसाय से पत्रकार होते हुए श्री चतुर्वेदी जी ने हिन्दी कथा साहित्य को जो कुछ प्रदान किया है, वह गौरव की बात है। अब तक आपके 'अन्तर्ज्वाला', 'सन्नाटा', 'आवर्तन', 'उलटफेर', 'छोटी बात' और 'हवा का रुख' ये ६ कहानी-संग्रह और 'रैन बसेरा', 'आंख मिचौनी', 'रंग महल', 'दीपदान' 'भाग्यहीनों की बस्ती', 'प्यासी आंखें', 'अपना-पराया', 'अनुष्ठान', 'प्रवाह' और 'लक्ष्य बेध' ये १० उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'उड़ते पत्ते' नामक नया उपन्यास अभी अप्रकाशित है। इस प्रकार कुल मिला कर आपकी सत्रह पुस्तकें हैं। इनमें "प्रवाह" पर ५०० रुपये और "हवा का रुख" पर ३०० रुपये का पारितोषिक उत्तर प्रदेशीय सरकार ने तथा "हवा का रुख" पर ५०० रुपये का पारितोषिक मध्यप्रदेशीय सरकार ने प्रदान किया है।

सन् १९४० ईस्वी के बाद, विश्व के रंगमञ्च पर और स्वयं भारत में जिस तरह घटनायें घटित हुईं, उनकी प्रतिक्रिया साहित्य पर ; विशेषतः कथा-साहित्य पर तीव्र हुई। काव्य में रूढ़ता और कथा में ग्राहकता अधिक होती है। इस काल के हिन्दी कथा-साहित्य में वस्तुगत एवं शैलीगत क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। लेखकों ने पाठक का ध्यान वर्ग-संघर्ष की ओर, युग-घोष के दोहराने वाले के रूप में नहीं, ईमानदार विवेचक के रूप में खींचा। इस युग के उपन्यासकार ने पाठक की दृष्टि मनुष्य के अस्थिचर्म से हटा कर उसके अन्तर (मन) के दर्शन की ओर उन्मुख की। इसके परिणाम-स्वरूप कहानी के टेकनीक में परिवर्तन हुए, लघु और लघु-लघु कथाओं पर भी प्रयोग। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद जिस तरह हमारे देश के आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग हो रहे हैं, उसकी तरह साहित्य के प्रत्येक अंग में भी। श्री चतुर्वेदी जी मध्यप्रदेश के उन गिने चुने लेखकों में हैं, जो बदलती परिस्थितियों और उनके साथ बदलते हुए कला-रूपों और कला-मूल्यों के प्रति जाग्रत रहे हैं और जिन्होंने अपना मन और हृदय सहानुभूति के साथ उन्हें परखने और परख कर ग्रहण करने के लिये खुला रखा है। "हवा का रुख" मेरे इस कथन का साक्षी है।

श्री चतुर्वेदी जी विचारों में पूर्ण भारतीय हैं। इस शताब्दी में भौतिकता और अध्यात्म के प्रतिपादक दो महान् व्यक्तित्वों, मार्क्स और गांधी ने अपनी गतिशील विचारधारा से युग के हर मस्तिष्क को किसी न किसी प्रकार आन्दोलित किया। साहित्य पर इसका असर गहरा पड़ा। भारत का कथाकार उससे प्रभावित कैसे न रहता? प्रेमचन्द तक जैसे आदर्श और यथार्थ में, वैसे मार्क्स और गांधी के तत्त्वज्ञान में सन्तुलन बनाये रहने का प्रयत्न चला, किन्तु बाद में मार्क्स और फ्रायडवादी एक खेमे में तथा गांधी आत्मवादी स्पष्ट रूप से दूसरे खेमे में बंट गये। श्री चतुर्वेदी जी इस दृष्टि से गांधीवादी परम्परा के यथार्थ से दूर न हटते हुये भी, आदर्शवादी उपन्यासकार हैं।

श्री "मस्त" की कहानियों और उपन्यासों की कथावस्तु प्रायः हमारे बहुत समीप की, बहुत सुपरिचित है। ऐसा लगता है, जैसे लेखक स्वयं उन स्थितियों के बीच से गुजरा है। इसलिये उसमें इतनी स्वाभाविकता आ सकी है। इन रचनाओं में लेखक का विकसमान रूप सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। जैसे वह आगे बढ़ता गया है, घटनाओं पर कम निर्भर होता गया, पात्रों में चारित्रिक विकास आता गया है और मनोविश्लेषण में उसकी दृष्टि पैनी होती गयी। क्या ही अच्छा होता, यदि परिस्थितियों और समस्याओं के निरूपण के समान उनके समाधान की ओर भी लेखक उतना ही ध्यान दे पाया होता। पर आज जब कि विश्व के बड़े से बड़े मस्तिष्क लाख प्रयत्न कर के भी समाधान खोजने में असफल हो

रहे हैं, हम अपने कथाकार को ही क्यों दोष दें। इस दृष्टि से उनकी अनेक कहानियों को सहसा समाप्ति भी क्षम्य ही मानी जायगी। परिमाण की दृष्टि से श्री "मस्त" ने मध्यप्रदेश के कथाकारों में सबसे अधिक लिखा ही है।

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी का एक कहानी संग्रह 'उलझी लड़ियां' प्रकाशित हो चुका है और इसके अतिरिक्त कुछ फुटकर कहानियां। "उलझी लड़ियां" पर उत्तरप्रदेशीय सरकार से ५०० रुपये का पारितोषिक भी प्राप्त हुआ है। श्रीमती हीरादेवी जी विचार और चिन्तन के क्षेत्र में अपने पति की अनुगामिनी हैं। फिर भी हीरादेवी जी की कहानियों की विशेषता है, उनके भीतर बोलता नारी हृदय। कहानियां दैनन्दिन जीवन की सुपरिचित घटनाओं को लेकर लिखी गयी हैं। आधुनिक कहानी की टेकनीक पर भी वे खरी उतर सकती हैं। ये कहानियां पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती हैं और उसकी सहानुभूति प्राप्त कर लेती हैं। गृहस्थ जीवन की भावनाओं, उसके अनुरोध-विरोधों, सन्तति-नियमन, साहित्यिक के आर्थिक संकटों और ध्वंस-निर्माण की समस्याओं पर लेखिका के विचार गांधीवादी हैं। हीरादेवी जी की नारी के पास समस्यायें हैं, प्रश्न हैं, पीड़ा है। अपनी दयनीयता से वह सुपरिचित है, पर इस सबके समाधान के लिये आधुनिक नारी के समान उसके पास विद्रोह का स्फुलिंग नहीं। वह भीतर ही भीतर सुलगती, अपने सुखों की आहुति देकर आदर्शों के लिये जीना चाहती है। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण आपकी प्रायः कहानियों में सुस्पष्ट है। श्रीमती हीरादेवी जी कथा लेखिका के अतिरिक्त एकांकी लेखिका भी हैं।

श्री अनन्त गोपाल शेवड़े भी प्रतिभा-प्राप्त कहानीकार हैं। अंग्रेजी दैनिक की व्यवस्था, मराठी के अध्ययन और हिन्दी की समाराधना की त्रिवेणी के स्नान का पुण्य-लाभ करते हुए श्री शेवड़े जी ने हिन्दी कथा-साहित्य को जो दिया है, उसे हिन्दी जगत् ने स्नेहपूर्वक ग्रहण किया। 'ईसाईबाला', 'निशागीत', 'पूर्णिमा' और 'मृगजल' आदि चार उपन्यास आपके प्रकाशित हो चुके हैं और इनके साथ अनेकों कहानियां। 'निशागीत' बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ और उसके अनेक संस्करण निकल चुके। 'मृगजल' को मध्यप्रदेश सरकार की साहित्य परिषद् ने प्रदेश का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास स्वीकार कर १,००० रुपये से पुरस्कृत किया है।

कथाकार शेवड़े मध्यप्रदेश के कहानी लेखकों में कथावस्तु, शैली, आदर्श एवं भाषा दृष्टियों से एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। उनके उपन्यास व्यापक और उदार दृष्टिकोण लिये हुए आदर्शवादी हैं। ऐसे आदर्शवादी जिनके पात्र भावना और चिन्तन की ही नहीं, कर्म की कठोर किन्तु वरेण्य भूमि पर अपने आदर्शों को साकारता प्रदान करते पाठक के प्रेरणास्रोत बनने की क्षमता रखते हैं। श्री शेवड़े के उपन्यासों में धर्म-सम्प्रदाय, देश और काल की सीमा से परे स्नेह, त्याग और सेवा का सन्देश है। जितना दिव्य स्नेह, जितना उदात्त समर्पण श्री शेवड़े के उपन्यास और कहानियों में प्रस्फुटित हुआ है, उतना इधर हिन्दी में कम देखने में आता है। यौन सम्बन्धों और अस्वस्थ मनोविकारों के विषदीकृत निरूपणों और विश्लेषणों से बोझिल कथा-साहित्य की वर्तमान मरुभूमि में श्री शेवड़े के स्नेह-सिक्त उपन्यास शान्तिदायी लगते हैं। मराठी के पौरुष, कर्मठता, अनौपचारिकता, नारी के प्रति उदात्त भावना एवं हिन्दी क्षेत्र की भावुकता, आदर्शवादिता और शैली सज्जा का सम्मिश्रण श्री शेवड़े में स्पष्ट देखा जा सकता है। ईसाइयों—विशेषतः सुशीला, मरियम, नीना, जैसी ईसाई बालाओं की सेवावृत्ति और सादगी से वे बहुत प्रभावित मालूम होते हैं। इन नर्सों की छाप उनके मन पर अमिट है; कला के प्रति वे बड़े भावुक और आदर्शवादी हैं। वे अपनी एक कहानी की नायिका के विषय में कहते हैं—"वह इस नरश्रेष्ठ कलाकार की अभिभाविका है, बहन है, मां है; किन्तु वह नहीं है, जो नारी का चरम सुख है, जो नारी के जीवन की फलश्रुति है। वह कलाकार की प्रेयसी नहीं है, प्रेमपात्र है—हल्के और ओछे माने में, प्रेयसी नहीं, सबसे गम्भीर, सबसे गहरे और सबसे पुनीत अर्थ में।" उनके इस कथन में ही नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। वास्तव में श्री शेवड़े ने हिन्दी को बड़े पुनीत नारी चरित्र दिये हैं।

श्री शेवड़े के कथाकार का एक और पक्ष भी है, और वह है, मधुर व्यंग्यकार का, मराठी के व्यंग को उन्होंने हिन्दी में अधिक मधुर और श्लीलतर बना दिया है। उनका व्यंग विद्रूपण नहीं, परिहास, स्नेह-सिक्त परिहास है। उनकी 'रेशम का कोट', 'जेलर का रोमांस', 'तीसरी भूख', आदि दर्जनों कहानियां स्वस्थ एवं आदर्श हास्य-कथाओं के उदाहरण हैं।

ठन, शैली- सभी दृष्टियों से उनकी कहानियां उच्च स्तर की हैं। पशुपात्रों को आधार बना कर लिखी हुई उनकी कहानी "बिजली" काफ़ी प्रसिद्ध हुई। "मूंगे की माला", "भूल भुलैयां", उनकी शैली की प्रतिनिधि कहानियां हैं।

श्री वनमाली को हिन्दी कहानी का पाठक भली प्रकार पहचानता है। वे कम लिखते हैं, पर जब लिखते हैं, तो प्रथम कोटि का। अन्तर्जगत् में विचरण करने वाले इस लेखक की अन्तर्जगत् से बड़ी गहरी और सच्ची मैत्री है। अनन्त प्रकाश के किसी निभृत कोण में भटके, खोये, दुर्दर्श मेघ खण्ड के समान मानस गह्वर में छिपे, सोये भाव को पकड़ कर उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करने में वे बड़े पटु हैं। इसलिये वनमाली जी की कहानियां हिन्दी की नयी से नयी कहानियों के साथ हैं। वे केवल आख्यायिकायें लिखते हैं और इस कला में उनकी क़लम खूब मँज चुकी है। उनकी कथाओं में जीवन का कठोर यथार्थ चित्रित है, पर यथार्थ की विकृति कहीं नहीं। उनके यथार्थ में कटुता, उन्माद और असन्तोष नहीं, सच्ची सहानुभूति की वेदना है। श्री जगन्नाथप्रसाद चौबे "वनमाली" शब्दों का समुचित, सन्तुलित और वैज्ञानिक प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं।

श्री रामेश्वर शुक्ल "अंचल" कवि और उपन्यासकार साथ-साथ हैं। उनकी दर्जनों कहानियां और 'चढ़ती धूप', 'उल्का' तथा 'मरुप्रदीप', ये तीन उपन्यास प्रकाशित हैं। कवि अंचल के समान कहानीकार अंचल के भी दो रूप हैं—प्यास और अतृप्ति से सराबोर, आपादमस्तक रोमांसवादी और युगीन विषमताओं तथा अन्यायों के प्रति विद्रोही। अंचल जी की कहानियों और उपन्यासों में उनके दोनों रूप पूर्णतः निखरे हैं। कहानियों में जहां उनका प्रथम रूप साकार हुआ है, वहां उन्होंने आदर्शों की झीनी चादर में स्वयं को छिपाने का प्रयास कभी नहीं किया। प्रेम-शरीर का शरीर से मिलन, उसके अभाव में मनोव्यथा, मानसिक आलोडन, ऐसा शायद श्री अंचल जी स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस बात को साहस के साथ कहा। स्नेह के क्षेत्र में वे अति यथार्थवादी जान पड़ते हैं। एक सच्चे कलाकार के समान वे इस विषय में पूरे ईमानदार हैं—बाहर-भीतर एक समान। उनकी इस साहसिक क्रिया से समाज का कितना हित होगा या साहित्य की उद्देश्यपूर्ति में कहां तक सहायता मिलेगी, यह दूसरा प्रश्न है। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी रोमांटिक कहानियों में मादकता, मिठास है और मन को विलोडित करने की शक्ति है। और यह यथार्थ केवल यथार्थ के लिये नहीं, श्री अंचल जी ने उसे साधन बनाया है, सामाजिक आर्थिक अन्यायों पर कटाक्ष का; यद्यपि अधिकांश वह स्वयं साध्य बन गया है। जहां तक दूसरे स्वरूप का सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धिक स्तर पर वे वहां भी ईमानदार हैं, पर अनुभूति के अभाव में ये चित्र अतिरंजित और अस्वाभाविक बन गये हैं।

यही बात उनके उपन्यासों के विषय में कही जा सकती है। 'उल्का' और 'मरुप्रदीप' दोनों में नारी के संघर्ष की कहानी है। दोनों नारियों का संघर्ष जीवन की कुण्ठा और सड़न के प्रति है। इस संघर्ष में समाज की रूढ़ियों और अन्य परम्पराओं के विरुद्ध नारी का अभियान है, पर यह अभियान अकेले नहीं। दोनों के मुंहबोले भाई उनके सह-यात्री हैं—भाई जिसके मानस के एक कोने में छिप कर प्रेमी बैठा रहता है और अधरों पर भाई का घोष। मुंहबोले भाइयों के ये दोहरे चित्र आधुनिक कालेजी वातावरण की देन हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तीनों उपन्यासों में जीवन की प्रवृत्तियों एवं मानसिक—कायिक पिपासाओं का मनोरम चित्रण हुआ है, किन्तु उनका समाधान नहीं। समाधान है भी तो पात्रों में इतना नैतिक साहस नहीं कि वे अन्यायों का प्रतिशोध कर सकें। एक तो यह संघर्ष अब बहुत पुराना पड़ चुका है, दूसरे वह पूर्णतः व्यक्तिगत है, जिसे सामाजिक बनाया जा सकता था, किन्तु लेखक के घोर व्यक्तिवादी होने के कारण वैसा सम्भव न हो सका, तीसरे उससे कोई सन्देश चाहे क्रान्ति का हो, चाहे सुधार का, नहीं मिलता। शरत के 'शेष प्रश्न' की कमला के समान 'मरुप्रदीप' की नायिका भी निष्क्रिय पुतली बन कर रह गयी है।

जहां तक वस्तु को रूप देने का सम्बन्ध है, श्री अंचल की कुशलता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं। ऐसा लगता है, जैसे किसी स्वप्न लोक के धुंधले चित्र एक के बाद एक आकर उनके सामने अनायास उतरते जा रहे हैं—ऐसे चित्र जो स्वयं एक दूसरे से पूर्ण अपरिचित किन्तु उनके आंगन में हमजोली—से गलबांही डाल एकरस हो जाते हैं।

श्री अंचल इन चित्रों को तरतीब से सजाते जाते हैं, आवश्यकतानुसार उनमें यत्र-तत्र रंग भर देते हैं और यह देखिये एक सुन्दर प्रदर्शिनी बन गयी।

श्री अंचल जी जीवन के आलोचक भी हैं। मन की दुर्बल प्रवृत्तियों को वे खूब समझते हैं और उनसे लाभ उठाना जानते हैं। उनकी कथाओं को इससे बल मिला है। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार है, पर उर्दू का प्रयोग, जब वे करते हैं, भाषा में कृत्रिमता आ जाती है। कथाकार अंचल हिन्दी जगत् में अपना स्थान सुरक्षित कर चुके हैं।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन मूलतः निबन्धकार हैं। यद्यपि उनका घर सारा देश है और किसी एक प्रदेश के घेरे में बंधना उन्हें पसन्द नहीं। आज तो वे मध्यप्रदेश में रह भी नहीं रहे। फिर भी गत १२, १३ वर्ष राष्ट्रभाषा कार्य के नाते वे मध्यप्रदेश में रह कर यहां के इतने आत्मीय बन गये कि मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी डेढ़ वर्ष तक रहे। श्री आनन्द जी ने कोई दो दर्जन कहानियां लिखी हैं, जिनमें उनके मीठे-कड़वे अनुभवों का आकलन है। यह आकलन इतिहास की वस्तु होकर भी श्री आनन्द जी की लेखनी में पड़ कर कला बन गया है। मन की कोमल वृत्तियों का स्पर्श उन्होंने बड़ी सतर्कता से किया है और कथा चित्रों में चतुर शिल्पी के समान बहुत थोड़ा, हल्का रंग भर कर उन्हें मनोरम बना दिया है। आनन्द जी के अनुभवों में विविधता है, एक-एक बात को वे तोल कर कहते हैं, उनकी एक-एक बात में संयम और विवेक बोलते हैं। आनन्द जी की विशेषता उनके सन्तुलन में है। उनकी कथाओं में परिष्कार खूब है। चुटकी लेने, कटाक्ष और व्यंग या मीठे परिहास की कला में वे दक्ष हैं। धर्म, समाज, राजनीति, कुछ भी हो, बिना व्यक्ति का ख्याल किये वे चुटकी लेते चलेंगे, रूढ़ियों और अन्यायों की धज्जियां उड़ाते। उनकी लेखनी में अमृत है, पर अमृत पर छा जाने वाले विष के लिये "विषस्य विषमौषधम्" भी।

श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री की कोई डेढ़ दर्जन कहानियां अब तक निकल चुकी हैं। पहली कहानी "महामाया का प्रसाद", सन् १६३६ में "सरस्वती" में प्रकाशित हुई। इन कहानियों पर मत व्यक्त करना अन्य विद्वानों का काम है।

श्री नर्मदाप्रसाद जी खरे के दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे कवि हैं और कहानी लेखक भी। यह कहना कठिन है कि वे कवि रूप में अधिक सफल हैं या कहानीकार के रूप में। उनकी रचनाओं में उनके दोनों रूपों का क्रमिक निखार स्पष्ट देखा जा सकता है। 'नीराजना' से 'कथाकलश' तक वे बराबर आगे बढ़ते गये हैं।

जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में श्री खरे जी कोमल भावनाओं के शिल्पी हैं, उसी प्रकार कहानी में भी। श्रद्धा, त्याग, नम्रता, स्नेह, ये ही उनकी कहानियों के विषय हैं। नारी जीवन की निगूढ़ अन्तर्वृत्तियों या मनोदशाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण भले ही उनकी कथाओं में न हो किन्तु परिवार में प्रतिदिन घटित होने वाली छोटी-मोटी घटनायें, उसके खट्टे-मीठे अनुभव, नारी की अनेक स्थितियां, उसके स्नेह, ईर्ष्या, घृणा,विनय, आदि भाव भी खरे जी की लेखनी से बड़े सुन्दर उतरे हैं। मां की ममता, पत्नी का विश्वास और सहनशीलता, बहन का स्नेह, सब पर उनकी दृष्टि गयी है और सबको उन्होंने खूब निकट से देखा है। श्री खरे जी की कहानियों ने रोमांस दिया है, मादकता दी है; औद्धत्य, क्रान्ति, प्रतिहिंसा, चीत्कार कहीं नहीं। उनकी हर कहानी की परिणति शान्ति और माधुर्य में है।

श्री खरे जी उसी प्रकार के लम्बे विवरण देते हैं, अपने पात्रों की मानसिक स्थिति के, जैसे कि श्री प्रेमचन्द जी प्रारम्भ में दिया करते थे। यह प्रवृत्ति आगे चल कर धीरे-धीरे कम होती गयी है। "काली शेरवानी" उनकी श्रेष्ठतम कहानियों में है, जो कला के मापदण्ड पर भी खरी उतरती है।

श्री खरे जी की भाषा भी उनके विषयों के समान ही मधुर और कोमल है। शायद ही किसी कहानी में कोई कटु या कर्कश शब्द मिले। वास्तव में श्री खरे जी की कहानियां कवि हृदय की कहानियां हैं।

श्री सत्यनारायण "ज्योतिर्मय" की दर्जनों कहानियां अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। वे वर्तमान युग के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के कटु एवं स्पष्ट आलोचक हैं। दैनिक जीवन का गहरे यथार्थवादी दृष्टिकोण से निरू-

मध्यप्रदेश की काव्य प्रवृत्तियाँ

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

मध्यप्रदेश अपेक्षाकृत सुस्थिर और प्रशान्त प्रान्त रहा है—उसमें बड़ी उत्तेजनात्मक अथवा संघर्षमयी उतनी परिस्थितियां प्रायः नहीं रहीं और इस कारण यह स्थिति जैसे मध्यप्रदेश के काव्य की मुख्य पृष्ठभूमि बनी रही है। उसने इस प्रदेश के काव्य को धीर और प्रशान्त गति प्रदान की है जो मध्यप्रदेश के इस युग के काव्य की विशेषता कही जा सकती है। यहां का काव्य सम्पूर्ण प्रतिवादों से रहित रहा है, काव्यगत उग्रतायें भी यहां नहीं पायी जाती।

इस प्रदेश की आधुनिक–कविता में श्री माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा" और श्री रामेश्वरप्रसाद शुक्ल "अंचल" का काव्य अपनी विशेषतायें रखता है, ये दोनों ही कवि अपने-अपने क्षेत्रों में प्रवर्तक भी कहे जा सकते हैं। चतुर्वेदी जी ने काव्य में आध्यात्मिक राष्ट्रीयता और अंचल ने उद्दाम आकांक्षा का प्रवर्तन किया है।

यहां हम सुविधा के लिए इस प्रदेश के काव्य को तीन-चार अंचलों में रखकर देखना चाहेंगे। इन विभिन्न काव्य-अंचलों की कुछ न कुछ स्वतंत्र विशेषतायें भी हैं। प्रथम अंचल "सागर, दमोह, जबलपुर" का है, जिसे हम महाकोशल अंचल कह सकते हैं। द्वितीय रायपुर, बिलासपुर आदि का छत्तीसगढ़-अंचल है। तीसरा खण्डवा, होशंगाबाद आदि का निमाड़ी-अंचल और चौथा नागपुर-विदर्भ अंचल। इनमें से सागर-जबलपुर अंचल का काव्य भौगोलिक स्थिति के अनुसार अपेक्षाकृत उत्तरप्रदेशीय-काव्य के अधिक समीप है। यहां के कवियों का सम्पर्क वहां की काव्य-धारा से स्वभावतः अधिक है। छत्तीसगढ़ का इस अंचल से कुछ भौगोलिक पार्थक्य है और फलस्वरूप छत्तीसगढ़-अंचल के काव्य में किञ्चित् भिन्नता के साथ-साथ उसमें निकटवर्ती भाषाओं का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है। निमाड़-विभाग के काव्य पर पं. माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व की सामान्य छाप दिखती है। विदर्भ और नागपुर का अंचल वस्तुतः हिन्दी का अंचल नहीं है। फलस्वरूप वहां के काव्य में अपर-भाषाओं की काव्य शैली और प्रयोगों का पुट पाया जाता है। इस निबन्ध में हमारा कवियों की गणना का प्रयोजन नहीं है। यह मुख्य रूप से सामान्य प्रवृत्तियों का परिचायक लेख है। अतः मध्यप्रदेश के अनेक कवि-मित्रों का इसमें उल्लेख न हो तो इसमें आश्चर्य न माना जाय।

छत्तीसगढ़-अंचल के कवि—श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय और उनके अनुज श्री मुकुटधर पाण्डेय हिन्दी-काव्य से प्रायः उसी प्रकार सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार उत्तर प्रदेश में मैथिलीशरण गुप्त और उनके छोटे भाई सियारामशरण गुप्त। लोचनप्रसाद जी के काव्य में संस्कृत छन्द और भाषा रूपों का अधिक स्पष्ट निदर्शन है। उनके काव्य में पौराणिकता की छाया भी है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी कविता पर उड़िया और बंगला भाषा के काव्य का प्रभाव भी है। लोचनप्रसाद जी प्रमुखतः पण्डित कवि हैं। उनकी सारी भावधारा उपदेशोन्मुखी है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही उनकी कवितायें हिन्दी की तत्कालीन प्रतिनिधि पत्रिका "सरस्वती" में प्रकाशित होती रही हैं। गुप्त जी (श्री मैथिलीशरण गुप्त) और द्विवेदीजी (श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी) की उस समय की रचनाओं की अपेक्षा पाण्डेय जी की रचनायें फिर भी अधिक स्वच्छंद हैं। परन्तु द्विवेदी जी के सर्वग्रासी प्रभाव से उनकी कृतियां भी अछूती नहीं रह सकी हैं।

मुकुटधर जी की रचनायें दो वर्गों में रखी जा सकती हैं। एक वह वर्ग जिसपर उनके बड़े भाई की छाप है, दूसरा वर्ग जो उनकी स्वतंत्र-प्रेरणा से निर्मित है। वस्तुतः यह द्वितीय वर्ग ही मुकुटधर जी की ख्याति का मुख्य आधार

हैं। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य आन्दोलन के समय के काव्य-संग्रहों में उनकी कविता प्रमुख-स्थान पाती रही है। मुकुटधर जी की इन स्वच्छन्द रचनाओं पर उनकी निजी काव्य प्रतिभा का प्रभाव तो है ही, बंगला, उड़िया और अंग्रेजी की स्वच्छन्द काव्य-शैली का रंग भी चढ़ा हुआ है। उन दिनों प्राकृतिक-सौंदर्य, स्वच्छन्द प्रेम, असामान्य और अज्ञात की अभिलाषा की भावनाओं से समन्वित मुकुटधर जी की कविता विशेष रूप से लोकप्रिय हुई थी। इन कविताओं में देश और विदेश के स्वच्छन्दतावादी कवियों की भावना से बड़ा साम्य दिखाई दिया था। "कुररी के प्रति" शीर्षक उनकी कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

देख किसी माया-प्रान्तर का चित्रित चारु दुकूल
क्या तेरा मन मोहजाल में गया कहीं था भूल ?
क्या उसकी सौंदर्य-सुरा से उठा हृदय तब ऊब ?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब?
या होकर विभ्रान्त लिया था तूने पथ प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

इन तथा ऐसी ही पंक्तियों से हिन्दी के स्वच्छंदतावादी काव्य का आरम्भ हुआ था। खेद है कि मुकुटधर जी ने इसके बाद ही कविता लिखना बन्द कर दिया और वे युग-काव्य को अपनी भाव-सम्पत्ति से पुरस्कृत न कर सके।

यहां हम इस अंचल के एक अन्य कवि श्री पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी का भी उल्लेख करेंगे, जिन्होंने आगे चलकर-कविता का क्षेत्र छोड़ दिया और गद्य का क्षेत्र अपनाकर प्रचुर यशार्जन किया। बक्शी जी की काव्य रचनाओं पर एक ओर द्विवेदी जी का प्रभाव है तो दूसरी ओर युगगत स्वच्छन्द चेतना भी प्रतिबिम्बित हुई है। दोनों के सम्मिश्रण से बक्शी जी का काव्य एक तीसरा नया रूप ग्रहण कर लेता है,जिसमें न तो स्वच्छंद काव्य-भाव का निर्बाध प्रवाह है और न लौकिक तथा भौतिक लक्ष्यों का निर्देश। उनकी कविता तथाकथित "आध्यात्मिक" सांचे में ढल गई है। बक्शी जी अधिक समय तक काव्य रचना न कर सके इसका कारण कदाचित् यही है कि उन्होंने अपने को दो विरोधी संस्कारों और प्रभावों की खींचतान में पाया। कदाचित वे मूल रूप से कवि न होकर चिन्तक, विचारक और अध्येता ही रहे हैं।

महाकोशल अंचल के कवि:—आचार्य द्विवेदी जी के प्रमुख सहकारी और "सरस्वती" के स्थायी लेखक और कवि श्री कामताप्रसाद गुरु इस अंचल के खड़ी बोली के आरम्भिक कवियों में हैं। इनकी कविता की मुख्य विशेषता शब्द-परिमार्जन और भाषा के सुनियमित प्रयोग की रही है। इस क्षेत्र में इनका अधिकार स्वयं द्विवेदीजी मानते रहे हैं। "सरस्वती" के प्रमुख कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त पर भी इनकी भाषा परिष्कृति का प्रभाव पड़ा है।

इस अंचल की कविता का वास्तविक स्वरूप सुभद्राकुमारी की रचनाओं में ही दिखाई देता है। छायावाद युग के काव्य की कल्पना प्रियता और सूक्ष्म सज्जा से दूर रहते हुए भी इनकी कविताओं ने हिन्दी संसार को मुग्ध कर लिया था। सुभद्राजी के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि युग के काव्य प्रवाह से भिन्न गति का आधार लेकर भी वे युग की प्रमुख कवियित्री कहलाईं। सुभद्रा जी के काव्य की प्रमुख विशेषता उसकी सरल निष्कपट भावना है। गार्हस्थ्य जीवन के मार्मिक संवेदन उनके काव्य में अभिव्यक्त हुए हैं। माधुर्य और वात्सल्य की भावनाएं आयास रहित रूप में उनकी काव्य पंक्तियों में उतरी हैं। वे राष्ट्रीय कवियित्री भी हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता "झांसी की रानी" तथा "झांसी की रानी की समाधि पर" हिन्दी काव्य में अप्रतिम हैं। सुभद्रा जी को महाकोशल की प्रतिनिधि काव्य प्रतिभा कहा जा सकता है।

केशव प्रसाद पाठक और रामानुजलाल श्रीवास्तव इस अंचल के दो भावुक कलाकार हैं। इनकी भावुकता इन्हें अनेक काव्य दिशाओं में ले गई है। इनकी कलाप्रियता इन्हें देश-विदेश के कवियों का काव्य रस लेने और उसे रूपांतरित कर हिन्दी पाठकों के समक्ष रखने को प्रेरित कर सकी है। इन दोनों कवियों का अधिक महत्त्व हिन्दी काव्य

को दूसरी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं से समृद्ध करने में है। दोनों कवियों पर फारसी और उर्दू काव्य का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। प्रांत में और विशेष कर महाकोशल क्षेत्र में श्रेष्ठ काव्य परिष्कार की ओर नवयुवकों को प्रेरित करने में इनका विशेष हाथ है। इनकी कला-मर्मज्ञता और कविता की पहचान मार्मिक है जिसका लाभ महाकोशल के नवोदित कवियों को मिलता रहा है।

महाकाव्यों के प्रणेता दो प्रमुख कवि द्वारकाप्रसाद मिश्र और बलदेवप्रसाद मिश्र क्रमशः महाकोशल और छत्तीसगढ़ अंचल के होते हुये भी दोनों में यह बड़ी साम्यता है कि दोनों बड़े प्रबन्धों के रचयिता हैं। सांसारिक अनुभव और विस्तृत प्रबन्ध योजना में इनकी असाधारणता सिद्ध हुई है। साथ ही प्राचीन इतिहास और संस्कृति के ये मर्मज्ञ विद्वान हैं। दोनों की कविता पर गोस्वामी तुलसीदास के काव्य का प्रभाव दो भिन्न रूपों में पड़ा है। इन दोनों कवियों की भावधारा में वही अन्तर है जो क्रमशः कृष्ण चरित्र और रामचरित्र के भावकों में हो सकता है। द्वारकाप्रसाद मिश्र की अभिरुचि अधिक दार्शनिक है जब कि डाक्टर बलदेवप्रसाद के काव्य में नैतिक संस्कार अधिक प्रमुख हैं। इन दोनों कवियों ने क्रमशः व्यास और वाल्मीकि का उत्तराधिकार अपनाना चाहा है। यहां हम "कृष्णायन" और "साकेत संत" के काव्योत्कर्ष पर अधिक कुछ नहीं कहेंगे। परन्तु इन दोनों कवियों में उच्चकोटि का प्रबंध-कौशल और पाण्डित्य अत्यधिक स्पष्ट है। वर्तमान युग की पृष्ठभूमि पर इन महाकाव्यकारों का मूल्याङ्कन कठिनता से हो पाता है। इनके काव्य का गांभीर्य और विशालता भी वर्तमान पाठक के लिए बड़ा व्यायाम बन जाता है। फिर भी वर्तमान युग के हिन्दी काव्य में ये रचनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं।

श्री भवानीप्रसाद तिवारी प्रगीत काव्य के रचयिता मनस्वी कवि हैं। रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि का सुन्दर अनुवाद कर इन्होंने अपनी काव्य मर्मज्ञता का परिचय किया है। अपनी स्वतंत्र रचनाओं में वे एक मौजी कवि के रूप में दिखाई देते हैं। किसी एक विशिष्ट भावना या जीवन दृष्टि को न अपनाकर, इन्होंने विविध अवसरों पर विविध मनोवृत्तियों की परिचायक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। हिन्दी में ऐसे कवियों की संख्या कम है जो लोक सामान्य भूमि पर रहते हुए विविध अवसरों और मनोभावों के चित्र उपस्थित करते हैं। आए दिन व्यक्तित्वपरक और अन्तर्मुखी कृतियां ही अधिकता से प्रस्तुत की जा रही हैं। भवानीप्रसाद जी इसके अपवाद हैं। उनके काव्य में किसी एक वृत्ति का प्रधानता से आग्रह नहीं है। सागर क्षेत्र में श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी की भावनापूर्ण राष्ट्रीय रचनायें काफी प्रसिद्ध हो चुकी हैं। इस बीच सागर-विश्वविद्यालय में अध्यापक श्री कमलाकान्त पाठक के प्रगीत अपनी संवेदनशीलता और सूक्ष्म व्यंगात्मकता के गुणों से प्रचलित हो रहे हैं। श्री विष्णुदत्त अग्निहोत्री और श्री मुरलीधर दीक्षित कटनी जनपद के उल्लेख्य कवि हैं, जिनकी रचनायें प्रदेश में समादृत हुई हैं।

यहीं हम श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के काव्य-निर्माण का भी उल्लेख करेंगे, जिन्हें ऊपर मध्यप्रदेश की प्रतिनिधि काव्यधारा से भिन्न प्रकृति का स्रष्टा कहा गया है। वास्तव में 'अंचल' की कविता विशेष वैयक्तिक संवेदनों से इतनी ओत-प्रोत है कि वह इस प्रदेश की सामान्य और निर्वैयक्तिक काव्य-प्रकृति से मेल नहीं खाती। इसीलिए अंचल जी को प्रादेशिक कवियों की भूमिका पर रखकर देखना कठिन हो जाता है। 'अंचल' के काव्य में एक परिव्याप्त लालसा का उद्दाम मानसिक प्रवेग बहुत स्पष्ट है। वियोग-काव्य की भूमिका पर अंचल जी ने जो आवेगपूर्ण सौंदर्य चित्र अंकित किये हैं उनकी समता हिन्दी काव्य में कम ही मिलेगी। उनकी कविता में रूपों का आधिक्य है परन्तु आवश्यक काट-छांट और अन्विति की कमी भी है। उनके काव्य में कलाकार का पक्ष पिछड़ गया है। उपमायें और दृश्य-चित्र एक पर एक आते हैं परन्तु उनके सन्तुलित प्रभाव में फिर भी न्यूनता रह जाती है। ऐसी रचनायें थोड़ी हैं जिनमें कवि ने सम्पूर्ण एकाग्रता और एकसमता बरती हो। अंचल की कृतियों में इस कमी के रहते हुये भी अनेक प्रतिक्रामक गुण हैं, जिनसे उनकी कृतियां हिन्दी-काव्य जगत् में अपना स्थान बना चुकी हैं। अंचल के मुख्य गुण उनकी भावातिशयता और उनका प्रगल्भ पौरुष है जो आधुनिक हिन्दी कविता में उन्हें स्वतंत्र व्यक्तित्व देता है। श्री नर्मदाप्रसाद खरे और उनकी पत्नी श्रीमती शकुन्तला खरे का नाम भी यहां उल्लेखनीय है।

निमाड़ अंचल के कवि :—इस अंचल के कवियों में, जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, "भारतीय-आत्मा" का व्यक्तित्व इतना ऊंचा उठ चुका है कि दूसरे कवि उनकी छाया से बाहर निकलने में प्राय: असमर्थ रहे हैं। "वीरात्मा" के नाम से कविता करनेवाले श्री सुकदेव प्रसाद तिवारी की प्रारम्भिक कृतियों में "भारतीय आत्मा" की प्रेरणा परिव्याप्त है। जबसे तिवारी जी नागपुर आये और उन्होंने अध्यापन कार्य करते हुए अनेकानेक कवियों के काव्य का पारायण किया, तबसे उनकी कविता की रंगत बदली है। नागपुर में रहते हुये वीरात्मा जी की काव्य-कृतियों पर प्राचीन संस्कृत और हिन्दी कविता का परिमार्जित प्रभाव दिखाई देता है। वर्तमान समय में लिखी गई उनकी कवितायें अधिकतर अनुवाद रूप में हैं और एक विशेष प्रकार की कलात्मक समृद्धि लिये हुये हैं। यह समृद्धि अध्ययन और परिष्कृत अभिरुचि का परिणाम है।

श्री भवानीप्रसाद मिश्र इस अंचल के बड़े होनहार कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य को "भारतीय आत्मा" के प्रभाव से मुक्त कर लिया है। यह उनके लिए कम प्रशंसा की बात नहीं है। भवानीप्रसाद मिश्र में सुभद्राकुमारी चौहान की सी स्वाभाविक उद्भावना की मार्मिक शक्ति है। मध्यप्रदेश के प्रतिनिधि-कवियों में सुभद्रा जी के साथ भवानीप्रसाद मिश्र की गणना की जा सकती है। दोनों का काव्य स्थानिक वातावरण की नैसर्गिक सृष्टि है। दोनों की कविता में आयासरहित अवलंकृत प्रवाह है। इधर कुछ समय से हिन्दी कविता में प्रयोगवाद की पुकार उठी है, जिसकी हल्की आवाज़ इस प्रदेश में भी सुनाई देने लगी है। इस काव्यधारा के संयोजकों ने भवानीप्रसाद जी को अपने खेमे में लाने का आयोजन किया है। भवानीप्रसाद की नैसर्गिक प्रतिभा का सा कवि, आवश्यकता होने पर किसी भी प्रकार की रचना कर सकता है, परन्तु प्रयोगों के संकीर्ण घेरे में भवानीप्रसाद की प्रतिभा समा नहीं सकेगी, यह तथ्य प्रयोगवादियों से छिपा नहीं है।

यहीं हमें निमाड़ अंचल के सर्वप्रमुख कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य पर भी दृष्टिपात कर लेना है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दिनों में चतुर्वेदी जी दीर्घकाल तक कारावास में रहे हैं। इसी से इनकी कविता मुख्यत: राष्ट्रीय भावना से संवलित है। राष्ट्रीयता के साथ उनकी दूसरी प्रवृत्ति आत्म-विसर्जन की है जो उनके काव्य को आध्यात्मिक दिशा देती है। इन दोनों के सम्मिलन से चतुर्वेदी जी का काव्य आध्यात्मिक राष्ट्रीयता के रंग में रंग गया है। यह तो उनके काव्य का विधि-पक्ष है। उनका एक निषेध-पक्ष भी है, जो उनकी व्यंग्यात्मक रचनाओं में प्रस्फुटित हुआ है। यत्र-तत्र उनकी कविता में एक विशेष प्रकार की शृङ्गारिकता भी देखी जाती है, जो अधिकतर ऊहात्मक है। इन रचनाओं में चतुर्वेदी जी सूफ़ियों की रंगत लेकर आये हैं, यद्यपि इनके काव्य का भाव-क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक नहीं है, परन्तु इनकी सूझें असाधारण उत्कर्ष से समन्वित हैं। काव्य विषय के चुनाव में वे व्यक्तिमुखी प्रगीत कवि की भांति अपनी विशेष सीमा में बंधे हुये हैं। व्यापकता और फैलाव उनका गुण नहीं है, परन्तु भावना की गहराई उनके काव्य को पारदर्शिता का गुण देती है।

चतुर्वेदी जी के शब्द-चयन और भाषा प्रयोगों के सम्बन्ध में अनेक समीक्षकों ने अपनी सुसम्मतियां प्रकट की हैं। श्री अज्ञेय ने एक स्थान पर यह निर्देश किया है कि उस युग के काव्य पाठक भी वैसी ही दुरूह और अनिर्दिष्ट मनोवृत्ति के रहे हैं। इसलिये चतुर्वेदी जी की कविता की दुरूहता उन्हें अग्राह्य नहीं हुई। परन्तु यह विलक्षण तर्क है। काव्य-भाषा या काव्य प्रयोगों का विवेचन करने के लिए समय विशेष के पाठकों की तथाकथित स्थिति या अभिरुचि को माप-दण्ड बनाने की आवश्यकता नहीं है। चतुर्वेदी जी की भाषा और उनके शब्द-प्रयोग वस्तुत: उनकी भावना के साथ एक विचित्र कशमकश में पड़े दिखाई देते हैं। जान पड़ता है कि कवि की आवेगपूर्ण भावनाओं के साथ उसके शब्द-चयन की होड़ लग गई है। भावना और उसकी अभिव्यक्ति की इस दौड़ में चतुर्वेदी जी का शब्द संसार पिछड़ जाता है। उनको कुछ कृत्रिम रूप से शब्दों को और भाषा-प्रयोगों को नियोजित करना पड़ा है, परन्तु चतुर्वेदी जी के लिए यह महत्व की बात है कि भाव और भाषा—गिरा और अर्थ की इस विसर्ग संभव और अनिवार्य विसंगति को उन्होंने अपने असाधारण संकल्प तथा प्रेरणा द्वारा तिरोहित किया है और हिन्दी में अपनी अकाट्य प्रतिभा की प्रतिष्ठा की है।

नागपुर-विदर्भ अंचल के कवि :— इस अंचल में ऐसे कवि कम मिलेंगे जो इस क्षेत्र में रहते हुए हिन्दी की अपनी प्रतिभा से समन्वित हों–जिन्होंने इस प्रदेश में हिन्दी की स्वतंत्र परम्परा की स्थापना की हो। परन्तु हिन्दी के क्रमिक प्रसार और महाकोशल–नागपुर–विदर्भ के राजनीतिक संपर्कों के फलस्वरूप आशा है यहां भी हिन्दी का एक स्वतंत्र अंचल निर्मित हो सकेगा। ऊपर हमने "वीरात्मा" जी की चर्चा की है। स्वतंत्र राष्ट्रीय शासन की स्थापना के पश्चात् पिछले पांच-सात वर्षों में हिन्दी के अनेक उदीयमान कवि प्रान्त के विविध भागों से सिमटकर नागपुर पहुंचने लगे हैं। आश्चर्य नहीं, यदि निकट भविष्य में नागपुर हिन्दी काव्य का एक मौलिक और उल्लेखनीय केन्द्र बन जाय। पिछले कुछ वर्षों से वीरात्मा के अतिरिक्त श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री तथा रामेश्वरदयाल दुबे जैसे राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के कवि इस अंचल में हिन्दी की टेक रखे हुये हैं। इस बीच श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित "कुसुमाकर" भी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा में आगये हैं। अग्निहोत्री जी की कविता संस्कृतनिष्ठ है परन्तु इधर उनकी कविता पर से वह कृत्रिम आवरण क्रमशः दूर होता जा रहा है। श्री रामेश्वर दुबे के काव्य में राष्ट्रीयता ही उनका साथ दे रही है। इस क्षेत्र में हिन्दी कवियों का आगमन बढ़ने लगा है और इस क्षेत्र के काव्य पर उसका प्रभाव भी अब दृष्टिगोचर हो रहा है।

पिछली अर्द्ध शताब्दी के हिन्दी काव्य का यह संक्षिप्त विवरण है। इसमें कतिपय प्रौढ़ प्रतिभाओं का ही उल्लेख किया गया है। विगत पांच-सात वर्षों से हमारे इस प्रदेश में एक नवीन साहित्यिक अभ्युत्थान हुआ है और अनेक नई प्रतिभायें काव्यक्षेत्र में आगई हैं। इन नये कवियों की संख्या और उनकी साहित्यिक संभावनायें विशेष आशाप्रद हैं। यदि इन्हें समुचित प्रोत्साहन और समीचीन दिशा निर्देश प्राप्त होता रहा तो आश्चर्य नहीं इन में से अनेक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की काव्य प्रतिभा का अतिक्रमण कर जायें तथा इस प्रदेश को उन्नतर साहित्यिक गौरव प्रदान करें। पिछली पीढ़ी के साहित्यिकों ने जो नींव तैयार की है, वह एक दृढ़ विशाल-भवन के लिए पूर्णतः उपयुक्त है। उद्यान में नये पुष्प और नई कलिकायें अनूठे सौरभ से प्रान्तीय दिशाओं को आमोदित करने लगी हैं। इन्हें देखकर हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि इस प्रदेश में हिन्दी काव्य की परम्परा न केवल अक्षुण्ण रहेगी, वह अधिकाधिक विकसित होकर हमारी साहित्यिक सम्पन्नता पर चार चांद लगा देगी।

मध्यप्रदेश का हिन्दी नाट्य-साहित्य

श्री गोपाल शर्मा

जिन समाज में रंगमंच का अभाव हो, वहां नाट्य साहित्य का उचित विकास नहीं हो पाता। रंगमंच से केवल एक पर्दे से सजे हुए मंच का बोध नहीं होता। इसके अन्तर्गत कई बातें आती हैं। जिस समाज की अभिनय की ओर रुचि न हो, अभिनय कला को संगीत और चित्रकला के समान सम्मान और श्रद्धा की भावना से न देखा जाता हो, नाटक के प्रति आकर्षण के साथ-साथ उसके तंत्र और साहित्य-सम्बन्धी बारीकियों का अर्थ समझकर आनंद लेने की वृत्ति न उत्पन्न हुई हो उस समाज में रंगमंच का अभाव है, ऐसा समझना चाहिए। एक समय था जब नाट्य-साहित्य मुख्यतया अभिनय के लिये ही लिखा जाता था। कालिदास, भवभूति और शूद्रक आदि अनेक नाटककारों की सारी रचनाएं अभिनय-सुलभ हैं। नाटक की सार्थकता उसकी अभिनेयता में है। अन्यथा वह साहित्य की एक विशिष्ट लेखन-शैली बनकर रह जाती है। ऐसे साहित्यिक नाटकों पर कुछ समय बाद बड़ी कथाएं और उपन्यास हावी हो जाते हैं क्योंकि पात्रों, घटनाओं और कथानकों के तारतम्य का निर्माण उपन्यास लेखक स्वयं करते चलते हैं। वे अपनी टीकाओं द्वारा उन्हें सजीव बनाते चले जाते हैं। नाटक में अभिनेताओं के व्यवहार और घटनाओं का संघटन इस तारतम्य की सृष्टि करता है तथा दर्शकों के मानस-पटल पर जाग्रत होनेवाली कल्पनाएं तथा संयोजक टीकाएं लेखकीय वक्तव्य का स्थान ग्रहण कर लेती हैं। इस तरह नाटक अपने समग्र रूप का विकास करता चला जाता है। नाटक वास्तव में लेखक, अभिनेता और दर्शकों की सम्मिलित सृष्टि है। यही कारण है कि नाटक-लेखकों के कंधों पर एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। रंगमंच के तंत्र का ज्ञान, पात्रों की सजीवता, घटनाओं का औत्सुक्य और आकर्षण तथा स्वाभाविक कथोपकथन नाटक के प्राण हैं। इन सबको ध्यान में रखकर नाटक नहीं लिखा गया हो तो वह केवल साहित्यिक पाठ्य-सामग्री बनकर रह जाती है। एक समय था जब भारतीय हिन्दी भाषी समाज में रामलीला व नौटंकी का प्रचार था। जनता की मनोरंजन की भूख इनके द्वारा समय-समय पर तृप्त हो जाती थी। कभी-कभी कुछ रास मंडलियां भी आया करती थीं, जो अष्टछाप के काव्य साहित्य के आधार पर राधा-कृष्ण नृत्यों से पूर्ण संगीत-प्रधान कथानक प्रस्तुत करती थीं। रामलीला और रास-क्रीड़ा को लोग धार्मिक भावनाओं से देखते थे। गांवों में जो नौटंकियां हुआ करती थीं उनका प्रधान विषय वीर-गाथा अथवा उस प्रादेशिक भाग में प्रचलित कोई प्रेम-गाथा हुआ करती थी। सामान्य ग्रामीण जनता का मनोरंजन करने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

इसके उपरान्त भारतेन्दु युग में हिन्दी रंगमंच का निर्माण हुआ और अधिक से अधिक अभिनय नाटक लिखे गए और जनता के समक्ष प्रस्तुत किए गए। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रंगमंच स्थापित करने का प्रबल सामाजिक परिस्थितियों के कारण चिरस्थायी न रह सका। धीरे-धीरे पारसी थियेट्रिकल कंपनी ने जनता को मनोरंजन प्रदान करना आरम्भ किया परन्तु इनके नाटक साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि के नहीं थे। पारसी थियेट्रिकल कंपनी के अवसान-काल में ही सिनेमा का प्रादुर्भाव हो गया था। इससे पहले-पहल नाट्य साहित्य को बहुत बड़ा धक्का लगा और कुछ समय के लिये रंगमंच समाप्त ही हुआ दिखाई देने लगा, परंतु आज ऐसी स्थिति नहीं है। लोग सजीव व्यक्ति को अपने सम्मुख उनके और उनकी समस्याओं का अभिनय करते देखना चाहते हैं। अतएव हिन्दी रंगमंच का पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है।

मध्यप्रदेश के हिन्दी नाट्य-साहित्य की चर्चा करने से पहले हम उन नाटककारों को नहीं भूल सकते जिन्होंने कि अतीत में अनेक नाटक लिखकर मध्यप्रदेश को गौरव प्रदान किया है। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि और 'उत्तरराम-

चरित' के रचयिता भवभूति इसी प्रान्त की विभूति थे। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यहां के अधिकांश साहित्यकारों की प्रसिद्धि के पर्याप्त प्रकाशन की कमी का अनुभव आज भी हो रहा है। उसकी एक झलक भवभूति के इस कथन से भी दिखाई देती है—'कालो ह्ययं निरवधि: विपुला च पृथ्वी।"

संस्कृत-साहित्य के लौकिक काल में तो मध्यप्रदेश के दो राजवंशों के ऐतिहासिक नाटकों से कथानक लिया गया है। कालिदास ने महाकोशल के अग्निमित्र और विदर्भ की मालविका की प्रेमगाथा को लेकर 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा है। परन्तु मध्यप्रदेश के हिन्दी नाट्य साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ भारतेन्दु काल से ही माना जाना चाहिये। हिन्दी रंगमंच का सम्यक् प्रतिष्ठापन १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हुआ है। इसके पूर्व भी सन् १६०३ में रायगढ़ निवासी श्री अनंतराम पांडे ने 'कपटी-मुनि' नामक नाटक लिखा था। यह नाटक संयुक्तप्रान्त तथा छत्तीसगढ़ के अनेक स्थानों में सफलतापूर्वक खेला गया था। श्री जगमोहनसिंह के मित्र पं. मालिकराम त्रिवेदी ने 'रामराज्यवियोग' तथा 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक लिखे। इन नाटकों का अभिनय करने के लिये उन्होंने एक मंडली भी स्थापित की थी। ऐसा सुना जाता है कि यह मंडली अभी तक विद्यमान है। ज्ञात हुआ है कि श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के पिता श्री बख्शीराम ने 'हनुमान' नाटक का अनुवाद किया था। इन नाटकों के अतिरिक्त जबलपुर निवासी श्री खिलावनलाल ने 'प्रेम सुन्दर' नाटक और नरसिंहपुर निवासी श्री गणपतसिंह ने 'सत्योदय' नाटक लिखा था। क्रमबद्ध नाटकों के इतिहास के अभाव में इन नाटकों के रचना-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। भारतेन्दु काल में अंग्रेजी और संस्कृत में नाटकों के अनुवाद करने का प्रचलन आरम्भ हुआ था। उसके प्रभाव से मध्यप्रदेश भी अछूता नहीं था। सन् १८८८ में जबलपुर की निवासिनी एक महिला ने जिसका नाम 'आर्या' था 'मर्चेंट आफ वेनिस' का हिन्दी में अनुवाद किया था। इस अनुवाद पर तत्कालीन नाट्य शब्दावलि का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु के समय में दृश्य के लिये गर्भाङ्क का प्रयोग किया जाता था। इस नाटक के लिये भी दृश्य के लिये गर्भाङ्क का प्रयोग किया गया है। इस अनुवाद की भाषा आधुनिक हिन्दी के विकास काल की भाषा है। उदाहरणार्थ एक संवाद नीचे दिया जा रहा है—

"बसानिओ—हे अन्टोनिओ! यह बात आप पर छिपी नहीं है कि उस बात का है कि जिस बड़े ऋण में अति व्यय ने डाला है। उस ऋण से छूटे में जिस दुरबल उपाय से रह सकता हूं उसकी अपेक्षा अधिक आडम्बर दिखलाने वाले पदार्थों से अपनी कितनी संपत्ति व्यय किया और मैं अब ऐसी उत्तर प्रतिष्ठा से भ्रष्ट होने का कुछ बिलाप नहीं करता जिस ऋण में मेरे व्यर्थ व्यय के काल ने डाला है; उस बड़े ऋण से छुटकारा पाने का मुख्य उपाय, हे अन्टोनिओ! आप के द्रव्य और प्रीति के कारण मैं आपका ऋणी हूं आप की प्रीति से मैंने आज्ञा पाई है कि मैं अपने सब उद्देश को कहूं कि कैसे ऋण से अनृणी होऊं।

अन्टोनिओ—हे प्रिय बसानिओ! मुझसे यह वृतान्त कहो; जैसे आप सर्वदा मेरे माननीय हैं उसी प्रकार यह भी आदरणीय होय तो निश्चय रखिये कि मेरे रुपयों के तोड़े, मेरी शरीर और मेरे असंख्य द्रव्य, सब आप के काज के लिये तैयार है।"

लेखिका के इस अनुवाद को बनारस संस्कृत कालेज के पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने साहित्योपाध्याय सूर्यप्रसाद मिश्र के पास संशोधन के लिये भेजा था। अनुवाद की भूमिका एडवीन आर्नल्ड (Edwin Arnold) सी. एस. आय. ने दिसम्बर १८८० में लंदन से लिखकर भेजी थी। भारतेन्दु काल के उपरान्त द्विवेदी युग में मध्यप्रदेश में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' द्वारा सुप्रसिद्ध नाटक 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक लिखा गया था। शिवरीनारायण के पं. शुकलाल पांडे ने भी शेक्सपियर के 'कामेडी ऑफ एरर' का 'भूल-भुलैया' शीर्षक से अनुवाद किया।

मध्यप्रदेश के नाट्य साहित्य की चर्चा करते समय पं. माखनलाल जी चतुर्वेदी लिखित 'कृष्णार्जुन युद्ध' का स्मरण सर्वप्रथम आता है। यह नाटक हिन्दी साहित्य सम्मेलन (१६१७) के अवसर पर अत्यन्त सफलतापूर्वक खेला गया

था। 'कृष्णार्जुन युद्ध' में महाभारत की कथा का आधार लिया गया है। कथोपकथन में तत्कालीन प्रचलित शैली का प्रभाव स्पष्ट है—

अर्जुन—मैं शपथ खाकर कहता हूं।

सुभद्रा—किसकी ?

अर्जुन—तुम्हारी।

सुभद्रा—यह देह नाशवान् है।

अर्जुन—तुम्हारे मन की।

सुभद्रा—वह चंचल है।

अर्जुन—तुम्हारे हृदय की।

सुभद्रा—वह दुर्बल है। ... ...

'कृष्णार्जुन युद्ध' में साहित्य और रंगमंच का सुन्दर समन्वय है। इस नाटक में शिष्ट हास्य का भी समुचित समावेश है जिसका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

वत्स जियो कुछ वर्ष हर्ष को दूर भगाओ।
बनो दया के पात्र गात्र को क्षीण बनाओ।
सदा बढ़े मन्दाग्नि आंख की ज्योति घटाओ।
बन कर पुस्तक कीट जगत में ख्याति बढ़ाओ।
मेरा आशीर्वाद यह सिर घूमे, पर तुम नहीं।
रोग शोक चिन्ता भवन हो जाओ तुम शीघ्र ही।

डा. बलदेवप्रसाद मिश्र का रचना-क्षेत्र बहुमुखी है। समीक्षा, काव्य, निबन्ध, नाटक आदि सभी क्षेत्रों में आपने रचनाएं लिखी हैं। आपके मुख्य नाटकों के नाम हैं—'शंकर दिग्विजय', 'वासनावैभव', 'समाजसेवक', 'दानी सेठ' और 'क्रांति'। 'शंकर दिग्विजय' में शाक्त और बौद्धधर्म की विजय का उल्लेख है। 'दानी सेठ' एक प्रहसन है वह आधुनिक नाट्यतंत्र के अधिक निकट है। अधिकांश नाटकों का आधार पौराणिक कथाएं हैं। वर्तमान दर्शकों को इस तरह के नाटकों के प्रति रुचि नहीं रही है। आपके नाटकों के कथोपकथन काव्यमय और चमत्कारपूर्ण हैं तथा कुछ नाटकों की शैली में पारसी-नाट्य परंपरा का आभास भी मिलता है।

स्व. नर्मदाप्रसाद मिश्र ने भी कई एकाङ्कियों की रचना की है। उनके एकाङ्की, छात्रों द्वारा अभिनीत होते रहे हैं। कुछ एकाङ्की बाल-साहित्य की श्रीवृद्धि करते हैं। स्व. कामताप्रसाद गुरु ने भी नाटक लिखा है जो प्रकाशित हो चुका है। वैयाकरण होते हुये भी गुरुजी में नाटक लिखने की प्रवृत्ति हुई, यह तत्कालीन साहित्य-प्रभाव की पूर्ति की चिन्ता का परिणाम है।

मध्यप्रदेश के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार सेठ गोविन्ददास भारत के अग्रणी नाट्य प्रणेताओं में से एक हैं। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध नाट्यकृति "तीन नाटक" के 'प्राक्कथन' में लिखा है—"बाल्यावस्था से ही मुझे नाटकों से अनुराग रहा है" अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी नाट्य-साहित्य की उन्होंने महत्त्वपूर्ण सेवा भी की है। नाटकों के प्रति अपने इसी अनुराग के फलस्वरूप नाट्यकला सम्बन्धी पाश्चात्य तथा भारतीय शास्त्रीय-ग्रंथों का अध्ययन कर उन्होंने नाटक-सम्बन्धी अपने कुछ निजी मत भी स्थिर किए हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके अधिकांश नाटकों का कलापक्ष उनके निजी सिद्धान्तों से ही प्रभावित है। अपनी इस दीर्घकालीन साहित्य-साधना में उन्होंने विशेष रूप से नाटकों की ही सृष्टि की है।

सेठ गोविन्ददास की नाट्यकला पर विचार करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य में एकांकी नाटकों का उद्भव हो चुका था और वे शनैः-शनैः प्रगति के पथ पर अग्रसर भी हो रहे थे। कदाचित् इसीलिये सेठजी ने भी एकांकी नाटकों के सृजन की ओर विशेष ध्यान दिया है और पौराणिक ऐतिहासिक तथा विविध विषयों से सम्बन्धित एकांकियों के सृजन के साथ-साथ पाश्चात्य मनीषियों के विचारों से प्रभावित होकर पाश्चात्य विचार-धारा तथा नवीन तंत्र का समन्वय कर समस्यामूलक एकांकियों की भी सृष्टि की है जिनमें कि अतीत-गौरव के चित्रण के अतिरिक्त आधुनिक समाज के विविध वर्गों, समस्याओं तथा राजनैतिक आन्दोलनों का भी वास्तविक चित्रण किया गया है। जहां कि एक ओर उन्होंने सन् १९२० से अब तक के निजी अनुभवों पर आधारित भारतीय समाज तथा बहुमुखी मानवजीवन की आदर्शोन्मुख व्याख्या की है वहां साथ ही प्राचीन आर्य संस्कृति पर आधारित पौराणिक ऐतिहासिक नाटकों में वे सांस्कृतिक उपासक के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार सेठजी की नाट्य-साधना विशेष रूप से युग-सापेक्ष्य ही है और उन्होंने युग की आत्मा को लेकर ही हिन्दी नाट्य-साहित्य में प्रवेश किया है।

'हर्ष', 'दानवीर कर्ण', 'कर्तव्य', 'कुलीनता', 'शशिगुप्त' आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने 'विकास', 'सेवापथ' और 'प्रकाश' जैसे उल्लेखनीय समस्यामूलक नाटकों का सृजन भी किया है। 'भूदान यज्ञ' उनकी अत्याधुनिक प्रकाशित नाट्य कृति है जिसमें कि आचार्य विनोबा भावे के भूदान यज्ञ का महत्त्व चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और राजनैतिक एकांकी तथा प्रहसन भी लिखे हैं।* साथ ही 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन' नामक चार मोनोड्रामा का सृजन कर हिन्दी साहित्य को एक सर्वथा नवीन देन दी है।

अपने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में वे प्रसादजी की भांति आर्यसंस्कृति पर निर्भर से हैं तथा प्राचीन भारतीय गौरव, संस्कृति, आचार-विचार का प्रतिपादन करते हुए प्रधानतः प्राचीन संस्कृति का महत्त्व ही प्रतिपादित करते हैं। सेठजी ने प्रायः अपना कथानक उन्हीं स्थानों से चुना है जहां कि उन्हें अपने आदर्श का विचार-बिन्दु प्राप्त हुआ है और कदाचित् इसीलिये उनकी ऐतिहासिक नाट्यकृतियों की विचार-धारा सर्वथा इतिहास-सम्मत ही प्रतीत होती है। किसी घटना या व्यक्ति विशेष के चरित्र का अंकन करने के पूर्व तत्कालीन जीवन, मानव-समाज और संस्कृति का अध्ययन कर तदनुरूप वातावरण प्रस्तुत करने की चेष्टा ही उनके ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों या एकांकियों में दृष्टिगोचर होती है। प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा किंवदंतियों के अतिरिक्त उन्होंने राजतरंगिणी, 'शिवाजी एंड हिज टाइम्स', 'लेटर मुगल्स' तथा 'राजपूताने का इतिहास' नामक ग्रन्थों से भी अपने एकांकियों का कथानक चुना है।

जहां कि सेठजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में हमारा ध्यान पुरातन भारतीय आदर्शों तथा गौरव, चरित्र की दृढ़ता, उत्कर्ष और महानता की ओर आकृष्ट किया है वहां उन्होंने अपने सामाजिक एकांकियों में व्यंग्यात्मक दृष्टि से मानव-

---

* सेठजी के कुछ प्रसिद्ध एकांकी इस प्रकार हैं :—

सामाजिक—(१) धोखेबाज (२) ईद की होली (३) मानव मन (४) महाराज (५) व्यवहार (६) बूढ़े की जीभ (७) जाति उत्थान (८) फांसी (९) सच्चा सुख (१०) अधिकार लिप्सा (११) स्पर्धा (१२) चालीस घंटे

ऐतिहासिक व पौराणिक—(१) चन्द्रपीड़ और चर्मकार (२) जालौक और भिखारिणी (३) शिवाजी का सच्चा स्वरूप (४) निर्दोष की रक्षा (५) कृष्णकुमारी (६) सहित या रहित (७) प्रायश्चित्त (८) बाजीराव की तस्वीर (९) सच्ची पूजा

राजनैतिक—(१) यू. नी. (२) आई. सी. (३) भूख हड़ताल (४) सुदामा के तंदुल

प्रहसन—(१) हासंगावर (२) चौबीस घंटे (३) वह मरा क्यों? (४) कुछ आप बीती कुछ जग बीती

समाज के विभिन्न वर्गों तथा चरित्रों की न्यूनताओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। समाज में फैली हुई नाना समस्याओं पर विचार प्रकट करते समय कहीं तो उनका दृष्टिकोण व्यंग्यात्मक रहा है और कहीं भावुकतापूर्ण। उच्च शासनाधिकारियों की अनुभवहीनता और पदलिप्सा, पूंजीवादी समाज की विलासिता तथा एकांगिता, हिन्दू-मुस्लिम एकता का लाभ, ब्राह्मणों की पतितावस्था, दीन श्रमिकों और कृषकों का शोषण, मध्यमवर्गीय रोमांस-भावना, कवियों की कल्पना की सारहीनता, हिंसा-अहिंसा, धर्म और सत्य की व्याख्या, राजा-रईसों के चरित्रों की विविधता, अस्पृश्यता की समस्या, न्याय का सच्चा स्वरूप आदि विविध मनोभावों का चित्रण उनके एकांकियों तथा नाटकों में कुशलता के साथ हुआ है। सेठजी ने आधुनिक समाज की—विशेष कर मध्यमवर्गीय समाज की कटु आलोचना की है और प्रायः सर्वत्र ही गांधीवादी विचारधारा को ही आश्रय दिया है। सेठजी के समस्यामूलक एकांकी विशेष रूप में यथार्थ-वादी ही हैं। यद्यपि उनमें स्वाभाविकता भी है लेकिन कहीं-कहीं उपदेशात्मकता की भावना के फलस्वरूप उनका आदर्श स्वरूप चाहे अधिक स्पष्ट अवश्य हो जाता हो परन्तु स्वाभाविकता को तो ठेस ही पहुंचती है। उनके राजनैतिक एकांकियों में तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का ही चित्रण किया गया है। यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि इन एकांकियों का प्रणयन विशेष रूप से कारागार में ही हुआ है। इस प्रकार सेठजी का दृष्टिकोण व्यावहारिक आदर्श-वाद रहा है।

स्वीडन के प्रसिद्ध नाट्यकार स्ट्रेन्डबर्ग तथा अमेरिका के ओ' नील की शैली का अनुसरण करते हुए उन्होंने जो चार मोनोड्रामा लिखे हैं उनमें भी समाज और व्यक्ति की मनोवृत्तियों की ही आलोचना की गई है। "सच्चा जीवन" तो वास्तव में एक चित्रण प्रधान मोनोड्रामा ही है। इनमें चरित्र-चित्रण की आंतरिक गुत्थियों का विश्लेषण करने में सेठजी को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा सामाजिक तथा समस्यामूलक एकांकियों के सृजन में उन्होंने विशेष रुचि दिखलाई है।

रंगमंच की जो व्याख्या मैं आरंभ में कर चुका हूं उसे ध्यान में रखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि डा. रामकुमार वर्मा एक सफल नाटक और एकांकी लेखक हैं। रंगमंच की दृष्टि से उनकी रचनाएं खरी उतरती हैं तथा हिन्दी के लुप्तप्राय रंगमंच को नए तंत्र का आश्रय लेकर पुनरुज्जीवित करने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व्यंग, समस्याप्रधान, प्रायः सभी प्रकार के एकांकी लिखकर हिन्दी के नाट्य-साहित्य में विविधता और सजीवता उत्पन्न की है। वर्मा जी को ऐतिहासिक नाटक लिखने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके ऐतिहासिक पात्र किसी विशेष विचारधारा से प्रेरित मात्र कल्पनाजन्य मूर्तियां नहीं हैं वरन् उन में ऐतिहासिक शोध की प्रामाणिकता भी है। वर्मा जी ने लगभग बारह ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं, उनके नाम हैं— 'शिवाजी', 'समुद्रगुप्त', 'विक्रमादित्य', 'चारुमित्रा', 'पृथ्वीराज की आंखें', 'औरंगजेब की आखिरी रात', 'तैमूर की हार', 'प्रतिशोध', 'कलंक', 'रेखा', 'स्वर्ण श्री', 'कौमुदी महोत्सव', 'ध्रुवतारिका'। वर्मा जी ने अपने इन नाटकों में भी संकलन त्रय का निर्वाह बड़ी अच्छी तरह किया है। आज वह जमाना नहीं रहा जब बड़े-बड़े रंगमंचीय उपकरण इकट्ठे कर अनेकों दृश्यों और अनेकों वर्षों की घटनाएं प्रस्तुत की जाएं। दृश्यविधान और घटनाएं औत्सुक्य वर्धक, प्रभावोत्पादक तथा संघर्ष को निखारनेवाली होने के साथ ही साथ सरल और सुलभ होनी चाहिये। वर्माजी की सफलता का रहस्य इसी बात में है कि उनके नाटक रंगमंच की आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति करते हैं। गुप्तकालीन पात्रों के चरित्रों को उन्होंने कुशलता से निखारा है और सम्भाषण में कवित्व के साथ स्वाभाविकता का उचित समन्वय किया है।

भारत की हिन्दी भाषी तरुण-पीढ़ी को नाट्यकला की ओर प्रेरित करने का श्रेय निस्संदेह डा. वर्मा को ही है। कालेजों, छोटे-छोटे सांस्कृतिक समारोहों में उनके सामाजिक नाटकों को तरुणों ने बड़े चाव से अभिनीत किया है। समझ में नहीं आता इधर कुछ दिनों से डा. वर्मा सामाजिक एकांकियों की ओर से क्यों विमुख से हो गए हैं। 'एक तोले अफीम', 'उत्सर्ग', 'परीक्षा' नाटकों में उन्होंने नारी के मनोवेगों को आधार माना है उनका विश्लेषण किया है। 'एक तोले अफीम' में कुसुमधन्वा से आहत दो हताश जीवों का चित्रण है। 'चम्पक' में प्रेम त्रिकोण से भिन्न एक नवीन कथा है जिसमें

मानव एक पशु के प्रति ईर्ष्या का भाव दिखाता है और पशुप्रेमी के हृदय में नए सिरे से सहानुभूति जाग्रत करता है। 'सही रास्ते' एक उत्तम कोटि का सामाजिक व्यंग है जिसमें मनुष्य के दो रूपों का भलीभांति उद्घाटन किया गया है। वर्मा जी के अनेक नाटकों में इस प्रकार की व्यंग प्रणाली अपनाई गई है, जहां उन्होंने यथार्थ को निरावृत किया है समाज पर एक आलोचक की दृष्टि डाली है वहां कलात्मक रीति से उन्होंने आदर्श की ओर संकेत भी किया है।

डा. वर्मा के सामाजिक एकांकियों के चरित्र सजीव हैं उनकी गतिविधि अत्यन्त परिचित मालूम होती है तथा संवाद मार्मिक, और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। डा. वर्मा ने अपने नाटकों की भूमिका में लिखा है, जीवन के स्वाभाविक गति प्रवाह को एक बल देना अथवा उसकी दिशा में झुकाव ला देना ही मेरी नाटक-रचना का प्रमुख उद्देश्य रहा है। अपनी इस कला का प्रयोग मैं सामाजिक नाटकों में विशेष विश्वास के साथ कर सका हूं।

प्रांत के नाटक-लेखकों में स्व. ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान तथाश्री रामेश्वर गुरु "कुमार हृदय" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ठाकुर साहब ने "कुली प्रथा","उत्सर्ग","दुर्गावती" और "अम्बपाली" नाटक लिखे हैं। 'कुली प्रथा' में फिजी के कुलियों पर किये जाने वाले अत्याचार का चित्र खींचा गया है। 'उत्सर्ग' में शिवाजी के पुत्र संभाजी और कमला थोरात की प्रेम कथा है। इस नाटक का अधिक प्रचार हुआ है, परन्तु रंगमंच पर इसे खेलने में कठिनाई का अनुभव होता है। श्री रामेश्वर गुरु ने 'सरदार बा','निशीथ', भग्नावशेष, 'नक्शे का रंग' आदि नाटक लिखे हैं। संवादों की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट हो गई है। श्री गुरु का रंगमंच से निकट सम्पर्क बना रहता तो हमें और भी उपयुक्त नाटक प्राप्त होते। "सरदार बा" में गुजरात की वीरांगना का चित्रण है। "नक्शे का रंग" विश्वयुद्ध के समय प्रकाशित हुआ था। श्री ज्वालाप्रसाद जी ज्योतिषी के चार नाटक उपलब्ध हैं। उनके नाम हैं- "कृष्ण चरित्र", अन्तिम ओज,' "अजेय भारत' और 'अछूत'। ज्योतिषी जी ने अपने नाटकों को रंगमंच पर लाने का प्रयास भी किया है। उनका 'अजेय-भारत' नाटक पोरस और सिकंदर की कथा पर आधारित है। नाटक-अभिनय सुलभ है। संवाद प्रवाह-मय हैं। 'अछूत' एक एकांकी है। इनके अतिरिक्त स्व. श्यामाकान्त पाठक और लोकनायक जी सिलाकारी ने भी नाटक लिखे हैं।

राजेश्वर गुरु का "झांसी की रानी" नाटक सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ है। विषय सर्वविदित है तथा नाटक साहित्यिक दृष्टि से ओजपूर्ण है। परन्तु आधुनिक रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह नहीं लिखा गया। नाटक में तीन अंक हैं और अनेक दृश्य। संवाद प्रभावोत्पादक हैं। प्रान्त की महिला लेखिकाओं में श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी ने नाटकों की ओर विशेष रुचि दिखाई है। अभी-अभी उनका एक एकांकी-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। आपके एकांकी सामाजिक, पारिवारिक वर्ग-समस्या, व्यक्ति-वैचित्र्य सम्बन्धी विषयों को लेकर लिखे गए हैं। आपने सभ्यता के चमकीले आवरण के भीतर छुपी हुई जर्जरता और खोखलेपन की ओर संकेत किया। अधिकांश एकांकी कुछ परिवर्तनों के साथ सफलतापूर्वक अभिनय बनाए जा सकते हैं। आपके मुख्य-मुख्य एकांकी हैं—'भूल भुलैया', 'मुंह दिखाई,' 'रंगीन पर्दा' और 'माटी की मूरत'। श्री रामेश्वर दयाल एक अच्छे व्यंग लेखक हैं। आपके नाटकों में चुटकीले संवादों का गंभीर विषय वस्तु के साथ अच्छा समन्वय मिलता है।

मध्यप्रान्त की तरुण पीढ़ी में अनेक ऐसे लेखकों का आविर्भाव हो रहा है, जिनकी विशेष रुझान केवल नाटक और एकांकी लेखन की ओर ही है। मध्यप्रदेश की यह पीढ़ी केवल नाटक लिख ही नहीं रही वरन् साथ ही साथ रंगमंच और नाट्यतंत्र को समझने का सक्रिय प्रयास कर रही है। कई ऐसे लेखक हैं जो स्वयं अभिनय भी करते हैं और निर्देशन भी। नागपुर आकाशवाणी केन्द्र के खुलने से नई प्रतिभाओं को नाट्य साहित्य सृजन की पर्याप्त प्रेरणा मिली है। उक्त पीढ़ी के लेखकों में कई दोनों प्रकार के रंगमंच और ध्वनि नाटक लिख लेते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय लेखक हैं, इस निबन्ध का लेखक, श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, श्री भृंग तुपकरी, श्री अनिलकुमार तथा कमलाकर दाते। इस निबन्ध के लेखक ने लगभग २५ एकांकी लिखे हैं जिनमें 'नारी की व्याख्या,' 'दांतों का डाक्टर,' 'कपड़ों का सवाल', 'दिवाली के मेहमान,' 'मुक्ति की पुकार', 'झगड़े की जड़' आदि अनेक स्थानों और अवसरों पर सफलतापूर्वक अभिनीत हुए

हैं। 'दांतों के डाक्टर' नाटक का बंगला और गुजराती में अनुवाद भी हुआ है। इसके अतिरिक्त बड़े नाटकों में "सौंदर्य प्रतियोगिता", 'अपराधी कौन?' और "सरला" को रंगमंच पर पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। लेखक ने अधिकांश सामाजिक व्यंग ही लिखे हैं। 'दांतों के डाक्टर' में एक बेईमान महत्वाकांक्षी का चित्र है। 'नारी की व्याख्या' में उसे रहस्यमयी सिद्ध किया गया है। 'कपड़ों के सवाल' में समाज के दो वर्गों का राजनैतिक महत्वाकांक्षा पर व्यंग है। कृष्ण-किशोर श्रीवास्तव को रंगमंच का पर्याप्त अनुभव है। ये भी प्रधानतः व्यंग लेखक ही हैं। आपकी प्रकाशित रचनायें हैं :—"नाटक का नाटक" जो एक पूर्ण नाटक है तथा "रेखायें" जो एकाङ्कियों का संग्रह है। अधिकांश रचनाओं का विषय सामाजिक ही है। चरित्र-चित्रण में आप विशेष ध्यान देते हैं।

आकाशवाणी नागपुर के निकट संपर्क में रहने के कारण श्री भृङ्ग तुपकरी का एक सफल रेडियो नाटककार के रूप में विकास हुआ है। रेडियो-रूपकों में आपने विभिन्न तंत्रों के संबंध में प्रयोग भी किए हैं। आपको रंगमंच का भी पर्याप्त अनुभव है। 'दस का नोट' नामक नाटक का परिवर्तित रूप नागपुर रेडियो की ओर से गत वर्ष दिल्ली के 'तरुणोत्सव' में खेला गया था और सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया था। समय-समय पर आपके नाटक विद्यालयों में भी खेले जाते हैं। आपके नाटकों के विषय विविध हैं। राजनीति, व्यक्ति-चित्रण और सामाजिक समस्या-प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में आपने कुछ न कुछ लिखा है। नागपुर आकाशवाणी से ही सम्बन्धित दूसरे नाट्य लेखक हैं अनिल कुमार। आपने अनेक ध्वनि-रूपक लिखे हैं किन्तु रंगमंच की ओर आपकी रुचि नहीं है। सामाजिक ध्वनि–रूपकों में आपने समाज का विद्रूप मुखड़ा चित्रित करने की चेष्टा की और अनेक समस्याएं भी प्रस्तुत की हैं। "नागपुर में घोड़ों की हड़ताल" एक प्रहसन है। 'फागुन के दिन', 'किसान की मेहनत,' 'दूसरी कथा' एकांकी हैं। "निर्देशक"-सिने-जगत् के लेखकों की दुर्दशा पर व्यंग है। "मौत के बाद" में आपने एक मृत व्यक्ति के मरणोत्तर जीवन का चित्र खींचा है। इनके अतिरिक्त आपने कई ऐतिहासिक और संगीत रूपक भी लिखे हैं। दाते भी एक रेडियो रंगमंच नाटककार हैं। आपका लिखा हुआ एक नाटक अभिनीत भी हो चुका है। इनके अतिरिक्त रामेश्वरदयाल दुबे, प्रमोद वर्मा, कृष्ण मेहता, विलास शुक्ला तथा रानी सूरी आदि अनेक नाटक तथा एकांकी लेखक हैं, जिनसे मध्यप्रदेश के नाट्य-साहित्य को पर्याप्त आशाएं हैं। सिनेमा के बावजूद नाटकों का दिन-ब-दिन महत्व बढ़ता जा रहा है। उपयुक्त साधनों के अभाव में तथा हिन्दी भाषी जनता की इस ओर अधिक रुचि न होने पर भी नए नाटककार दृढ़ता से अपने मार्ग पर अग्रसर होते चले जा रहे हैं और आशा है कि भविष्य में मध्यप्रदेश अच्छे-अच्छे नाटक देने में समर्थ होगा।

मध्यप्रदेश की हिन्दी-मासिक-पत्र-पत्रिकाएं

श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव

कहावत है कि मिल्टन का साहित्य समझने के लिये एक मिल्टन की ही आवश्यकता होती है। गालिब के बारे में यह व्यंग्यात्मक शेर मशहूर ही है :—

"मज़ा कहने का तब है, इक कहे और दूसरा समझे।
मगर इनका कहा ये आप समझें या खुदा समझे॥

हमारे महाकवि केशवदास के काव्य की दुरूहता के संबंध में भी लोकोक्ति प्रसिद्ध है—"देन न चाहे जो राजा इनाम, तो पूछत केशव की कविताई।"

दूसरी ओर यह निर्विवाद सिद्ध है कि ये महान मानव ही साहित्य के स्तंभस्वरूप हैं। इन्हें समझे, न समझे या कम समझे, एक-मात्र इनसे किसी प्रकार निकट का नाता जोड़कर जन-साधारण साहित्यिक चेतना (लिटररी कांशसनेस) का अनुभव करता है। यह चेतना अपने आप में एक अमूल्य वस्तु है।

धार्मिक चेतना से इसका मूल्य अधिक स्पष्ट हो जाता है। बुद्ध, मुहम्मद, ईसा को कितने लोग समझते हैं? किन्तु इनके द्वारा प्राप्त धार्मिक चेतना से कितने लोग एक सूत्र में बद्ध हैं, एक मार्ग में अग्रसर हैं और एक सिद्धि के हेतु कर्मरत हैं।

जन-साधारण में धार्मिक, साहित्यिक, नैतिक आदि चेतनाओं का आविर्भाव ही स्वस्थ मानवता की प्राप्ति का लक्षण है। आधुनिक काल में मासिक पत्रिकाएं ही सत्साहित्य निर्माण के लिये प्रमुख अवलम्ब हैं। अब पाक्षिक, साप्ताहिक तथा कुछ दैनिक पत्र भी साहित्य को स्थान देने लगे हैं, परन्तु पिछले सौ वर्षों से आरम्भ होनेवाला आधुनिक हिन्दी का साहित्य मासिक पत्रिकाओं द्वारा ही प्रधान रूप से निर्मित किया गया है। इनके माध्यम से अपनी भाषा और भावों को परिष्कृत कर के या करते हुए लेखकों ने साहित्य के भंडार की श्री-वृद्धि की है, साहित्यिक चेतना प्रदान की है।

हिन्दी ने न केवल सत्साहित्य का निर्माण कर जन-साधारण को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया है, वरन् बिना किसी उत्पात या कटुता के उसने अपने विभिन्न अवयवों को समेट कर, एक-रसता और एक-रूपता भी स्थापित कर ली है। इस शान्ति प्रवृत्ति के कारण वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति में एकनिष्ठ सेवा अर्पित कर सकी है, राष्ट्र-निर्माण में पूर्ण सहयोग दे रही है और विश्व-बन्धुत्व की स्थापना में भी वह प्रमुख भाग ले सकेगी, यह आशा केवल कल्पना-मात्र नहीं कही जा सकती।

यों तो आधुनिक हिन्दी का जन्म सन् १८०३ माना जाता है, जब फोर्ट विलियम (कलकत्ता) में एक स्कूल की स्थापना हुई और हिन्दी की पुस्तकें लिखाई जाने लगीं, परन्तु पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि सन् १८५८, अर्थात् प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के कुछ समय बाद तक हिन्दी का विकास प्रायः शून्यवत् ही था।

इस सुषुप्त काल में जिन अहिन्दी भाषा-भाषी विद्वानों ने हिन्दी को पूर्णरूपेण उत्साह प्रदान किया वे ये थे :—

(१) लल्लूलाल जी—ये आगरा-निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने लगभग सन् १८०३ में "प्रेमसागर" की रचना की।

(२) श्री इंशाअल्ला खां—इन्होंने लगभग इसी समय "रानी केतकी की कहानी" की रचना की।

(३) राजा राममोहन राय—इन्होंने सन् १८२९ में कदाचित् हिन्दी का पहला पत्र निकाला, जिसका नाम "बंगदूत" था। इन्होंने वेदान्त सूत्रों के भाष्य का हिन्दी अनुवाद कर के प्रकाशित कराया।

(४) श्री तारामोहन मित्र—इनके प्रयत्न से काशी में लगभग सन् १८५० में "सुधाकर" पत्र प्रकाशित हुआ।

इसके कुछ समय बाद श्री नवीनचन्द्र राय ने लाहौर से "ज्ञानप्रदायिनी" पत्रिका निकाली और पंजाब में हिन्दी का खूब प्रचार किया। स्वामी दयानन्द (सन् १८६३) के अवतीर्ण होते ही हिन्दी की चारों ओर धूम मच गई। स्मरण रहे कि स्वामी जी गुजराती थे। यह भी उल्लेखनीय है कि मध्यप्रदेश में हिन्दी की उन्नति में महाराष्ट्रीय बन्धुओं का विशेष योग रहा है और है।

आधुनिक हिन्दी या नई धारा के उत्थान का प्रथम काल सन् १८६८ से १८९३ तक माना गया है। इसे "भारतेन्दु-काल" भी कहते हैं। भारतेन्दु जी के जीवन में ही हिन्दी की २७ पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं, जिनमें जबलपुर का साप्ताहिक "शुभचिन्तक", प्रकाशन तिथि सन् १८८३, सम्पादक श्री सीताराम, भी एक था।

पण्डित लोचनप्रसाद जी पांडेय ने जानकारी दी है कि लगभग सन् १८८९-९० में मध्यप्रदेश सरकार एक "एजूकेशन गजट" निकाला करती थी, जिसमें शिक्षा के अतिरिक्त कुछ साहित्यिक या मनोरंजक सामग्री भी रहती थी। उन्हीं से यह भी ज्ञात हुआ कि सन् १९०० के आसपास और भी कई मासिक-पत्र प्रकाशित हुए, जैसे "कृषि-समाचार" या "किसानी-समाचार" (सरकार द्वारा प्रकाशित); "गो-रक्षण" (नागपुर से प्रकाशित); "शिक्षा-प्रकाश" (जबलपुर से श्री दबीर द्वारा प्रकाशित); "हिन्दी मास्टर" (सरस्वती विलास प्रेस, नृसिंहपुर से प्रकाशित); "आर्य-वनिता" (आर्य-समाज, जबलपुर से प्रकाशित); नाम से ही इन पत्रिकाओं का उद्देश्य प्रकट है, पर इनमें यदाकदा साहित्यिक सामग्री भी रहती थी। सरकार ने अपने पत्र क्यों बन्द कर दिए, ज्ञात नहीं। अन्य पत्रों के बन्द होने का कारण आर्थिक समस्या ही हो सकती है।

हमारे प्रान्त का निर्माण सन् १८६१ में हुआ। लगभग यही समय आधुनिक हिन्दी के उत्थान का द्वितीय काल है, जो सन् १९०० के आसपास समाप्त होता है। इस काल में हम, मासिक पत्रों के प्रकाशन की दृष्टि से, अपने प्रान्त में कोई विशेष हलचल नहीं देखते। तब क्या हमारा प्रान्त साहित्य-सृजन से तटस्थ था?

ऐसी बात नहीं है। न केवल हमारे प्रान्त प्रत्युत समस्त भारत के गांवों की इकाई इतनी सम्पूर्ण थी कि शिक्षा, साहित्य और संस्कृत का कोई अभाव न था। गांव-गांव में कवि और गुणीजन निवास करते थे। युग बदल रहा था। यांत्रिक-युग का प्रवेश काल था। सर्वप्रथम कलकत्ता-बम्बई में प्रभाव पड़ा। वहीं मुद्रणालय खुले और समाचारपत्र प्रकाशित हुए। जहां तक हिन्दी का सम्बन्ध है, उसका सांस्कृतिक पुनर्निर्माण राम-कृष्ण की भूमि, उत्तरप्रदेश, से प्रारम्भ हुआ और स्वभावतः काशी और प्रयाग उसके केन्द्र हुए। ये स्थान तत्कालीन समस्त हिन्दी-भाषी जनता का प्रतिनिधित्व करते थे और सभी प्रान्तों के साहित्यिक उन्हें योग देते थे। हमारे प्रान्त में ठाकुर जगमोहनसिंह उस समय न केवल अखिल हिन्दी-जगत् के प्रख्यात साहित्यिक थे, वरन् भारतेन्दु जी के घनिष्ट मित्र तथा भारतेन्दु-मंडल के देदीप्यमान नक्षत्र थे। महामहोपाध्याय श्री जगन्नाथप्रसाद "भानु" कवि भी इस काल में ख्यातिप्राप्त हो चुके थे। सन् १८८५ में काशी के विद्वानों ने कहा था "आप तो साक्षात् पिंगलाचार्य हैं; कवियों में भानु हैं।" पण्डित विनायकराव भट्ट की कीर्ति भी हिन्दी-संसार में फैल चुकी थी। जबलपुर के 'भानु-कवि-समाज' ने (जो समयानुसार परिवर्तित होता हुआ, सन् १९२९ से "साहित्य-संघ" के नाम से प्रस्थापित है और जिसकी रजत-जयन्ती इस वर्ष मनाई जा रही है), इन्हें "कवि-नायक" की उपाधि दी थी। कवि-श्रेष्ठ राय देवीप्रसाद "पूर्ण" ने, जो जबलपुर में विद्यार्थी जीवन से ही कविता करने लगे थे, इस समय तक पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। ये सब महानुभाव तत्कालीन पत्रिकाओं-"भारतेन्दु चन्द्रिका", "हिन्दी प्रदीप", "आनन्द कादम्बिनी" आदि, में लेख, कविताएँ आदि देते रहते थे।

लगभग सन् १९०० से ठेठ खड़ी बोली का युग आरम्भ होता है, जो लगभग सन् १९२० तक "द्विवेदी-युग" के रूप में भी मान्य है।

"छत्तीसगढ़ मित्र" मध्यप्रदेश का प्रथम मासिक पत्र है, जो यथार्थ रूप में साहित्यिक था। इसका पहला अंक जनवरी, सन् १९०० में पेन्ड्रा (बिलासपुर) से प्रकाशित हुआ और अन्तिम दिसम्बर, १९३२ में। इसके प्रकाशक रायपुर के प्रसिद्ध जनसेवी स्वर्गीय पण्डित वामन बलीराम लाखे थे और सम्पादक स्वनामधन्य पण्डित माधवराव सप्रे तथा पण्डित रामराव चिंचोलकर (वकील, बिलासपुर)। श्री चिंचोलकर जी सन् १९०६ में ही गोलोकवासी हो गए। प्रथम कुछ अंक कैयूमी प्रेस, रायपुर से और बाद में देशसेवक प्रेस, नागपुर में छपते रहे। यह उल्लेखनीय है कि ठाकुर जगमोहन सिंह की भाषा उतनी ही परिष्कृत थी, जितनी आज किसी साहित्यिक की हो सकती है और सप्रे जी के उद्देश्य उतने ही प्रगतिशील थे, जितने आज किसी सम्पादक के हो सकते हैं।

"मित्र" हिन्दी को भारत की 'राष्ट्र-भाषा' मानता था। सप्रे जी अपने घर में भी मराठी न बोल कर हिन्दी बोलते थे। "मित्र" हिन्दी को ठोस, सुरुचिपूर्ण, प्रगतिशील साहित्य देना चाहता था। "मित्र" ने आलोचना के स्तर को बहुत ऊपर उठाया। अपने छोटे से जीवन में उसने तत्कालीन मासिकों में काफ़ी उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। प्रायः सब पत्रों ने उसकी नीति की प्रशंसा की और सब प्रसिद्ध साहित्यिकों ने उसे लेखादि दिए। "मित्र" के कालकवलित होने का कारण वही था—आर्थिक समस्या।

सप्रे जी ने इसके बाद सन् १९०५ में नागपुर में "हिन्दी ग्रन्थमाला" की नींव डाली, जो मासिक पुस्तक के रूप में प्रस्थापित हुई। प्रकाशक देशसेवक प्रेस था। इसने लगभग दस उत्तम पुस्तकें प्रकाशित कीं, जैसे "मिल" कृत "लिबर्टी" का अनुवाद—"स्वाधीनता", अनुवादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ; "महारानी लक्ष्मीबाई" आदि। "माला" में लेख, निबन्ध, कविताएँ आदि भी छपती थीं। अन्य स्थानीय बोलियों के स्थान में भारत भर में खड़ी बोली का प्रचार "माला" का उद्देश्य था। "हिन्दी कविता की भाषा", "खड़ी बोली की कविता" आदि लेख पण्डित कामताप्रसाद जी गुरु द्वारा लिखे गये थे, जिनमें यह प्रतिपादित किया गया था कि खड़ी बोली कविता तथा उच्चकोटि के साहित्य के निर्माण के लिये सर्वथा उपयुक्त है।

इसके बाद १९०७-१९०८ में सप्रे जी ने "हिन्दी-केसरी" साप्ताहिक का सम्पादन किया, जिसकी ओजस्विनी भाषा प्रसिद्ध थी। सप्रे जी प्रान्त की हिन्दी के स्तम्भ तो हैं ही, वे ओजस्विनी हिन्दी के पिता ही हैं। तथापि सप्रे जी का व्यक्तित्व साधु का, साहित्यिक तपस्वी का था। युग ने उन्हें राजनीति में भाग लेने के लिये प्रेरित किया, अन्यथा "गीता-रहस्य", "दास-बोध", "आत्म-विद्या", की कोटि की और भी सामग्री उनके द्वारा प्राप्त होती।

आगे "कर्मवीर" तथा "श्री शारदा" के संस्थापन में भी सप्रे जी का प्रमुख प्रभाव था। इस लेख की सीमा परिमित है। विद्वद्वर पण्डित गोविन्दराव हर्डीकर (वकील-सिहोरा) ने पण्डित माधवराव सप्रे की जीवनी लिख कर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इसे प्रकाशित कर एक स्तुत्य कार्य किया है। जिन्हें "छत्तीसगढ़ मित्र", "हिन्दी-ग्रन्थमाला", "हिन्दी-केसरी", "कर्मवीर", "श्री शारदा" तथा "राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर" और मध्यप्रदेश तथा अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कुछ अधिवेशनों का अधिक विवरण पढ़ना हो, वे सप्रे जी की इस जीवनी का अवश्य अवलोकन व मनन करें।

सन् १९०८ से १९११ तक हम प्रान्त में हिन्दी मासिक का अभाव देखते हैं। यह छोटा-सा सुषुप्त काल अन्य प्रान्तों में भी आया जान पड़ता है। प्रयाग की "सरस्वती" विशेष रूप से और "मर्यादा" ही इस समय कदाचित् समस्त हिन्दी प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करती थीं। इसका कारण सम्भव है, यह हो कि इस समय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने प्रखर प्रताप को प्राप्त हो रहे थे। जो अवधी-ब्रज मिश्रित पत्रिकाएँ निकालते थे, उनकी हिम्मत आगे आने की नहीं थी। जो विशुद्ध खड़ी बोली की पत्रिका निकालना चाहते थे, वे तैयारी में लगे हुए थे।

इस काल में पत्रिका की कमी रही हो, हमारे प्रान्त में लेखकों की कमी नहीं थी। वे पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं, नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी तथा अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में भी छाए हुए थे। सम्वत् १९६८ (सन् १९११) के द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरे भाग में हमारे तीन विद्वानों के लेख हैं :– पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री, पण्डित रघुवरप्रसाद द्विवेदी और पण्डित ताराचन्द दुबे। इन लेखकों ने प्रान्त के लेखकों के जो नाम गिनाए हैं, उनमें कुछ ये हैं : पण्डित लोचनप्रसाद जी पांडेय, पण्डित कामताप्रसाद जी गुरु, पण्डित प्यारेलाल जी मिश्र, पण्डित लज्जाशंकर झा, पण्डित गणेशदत्त पाठक, पण्डित नर्मदाप्रसाद मिश्र, पण्डित सुखराम चौबे "गुणाकर", पण्डित प्रयागदत्त शुक्ल, डाक्टर हीरालाल (डी. लिट्), पण्डित गणपतलाल चौबे, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी, बाबू जीवराखन लाल, सैयद अमीर अली "मीर", सेठ रामनारायण राठी आदि।

सन् १९१०-११ में "बालाघाट" और हितकारिणी" प्रकाशित हुई। "बालाघाट" स्थानीय शिक्षा-विभाग के अफ़सरों के उत्साह से प्रकाशित हुआ और एक वर्ष चला। "शिक्षा-प्रकाश" जो एक वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था, इस वर्ष "हितकारिणी" में परिवर्तित हो गया और कुछ दिन यूनियन प्रेस में छप कर सन् १९२१-२२ तक हितकारिणी प्रेस (पुराने यूनियन प्रेस) में छपता रहा। "हितकारिणी" प्रान्त की सबसे अधिक दीर्घजीवी पत्रिका थी।

पण्डित रघुवरप्रसाद द्विवेदी एक साथ उच्च कोटि के विद्वान्, साहित्यिक और उच्च कोटि के शिक्षक व वक्ता, तथा व्यक्तित्वशील मानव थे। उनका समस्त व्यक्तित्व "हितकारिणी" को प्राप्त था। कभी-कभी पूरा अंक उन्हें अकेले ही लिखना पड़ता था, परन्तु "हितकारिणी" के लिये उन्होंने कोई कष्ट बड़ा नहीं समझा। "हितकारिणी" साहित्य तथा शिक्षा, दोनों ही की पत्रिका थी। उसने समस्त शिक्षकों तथा साहित्यिकों के लिये द्वार खोल दिये। लेखकों से तो लेख लिये ही, उसने लेखक ढालना भी आरम्भ कर दिया जिन्हें अपने काम का समझा, उन्हें अपने पास खींच लिया, जैसे पण्डित नर्मदाप्रसाद मिश्र व पण्डित मातादीन शुक्ल। पण्डित शालिग्राम द्विवेदी भी एक प्रकार से "हितकारिणी" के कुटुम्बी थे। विद्यार्थियों को सबसे पहले इस पत्रिका में स्थान मिला। पूज्य पदुमलाल जी बख्शी विद्यार्थी-जीवन से "हितकारिणी" में लिखते थे, यह लेखक भी। अपने दस वर्ष के जीवन में "हितकारिणी" ने प्रान्त को लेखकों और कवियों से भर दिया। द्विवेदी द्वय ने इन लेखकों की भाव-भाषा परिष्कृत की तो गुरु जी ने व्याकरण सुधारा। फल यह हुआ कि "हितकारिणी" के लेखक पदुमलाल जी और मातादीन जी "सरस्वती" और "माधुरी" की गद्दी पर जा विराजे। यह कहना नितान्त सत्य है कि इन दस वर्षों का प्रान्तीय हिन्दी साहित्य अधिकतर शिक्षकों द्वारा निर्मित किया गया, यद्यपि डा. बल्देवप्रसाद मिश्र, भुन्नीलाल जी वर्मा, स्व. देवीप्रसाद जी गुप्त "कुसुमाकर", मावलीप्रसाद श्रीवास्तव, रामदयाल जी तिवारी तथा अन्य महानुभावों ने भी खुल कर हाथ बँटाया।

"हितकारिणी" के लेखक शहर-शहर, गांव-गांव में फैले थे। उनकी गणना सम्भव नहीं। तथापि विशेष प्रयोजनवश अप्रैल १९१८ से मार्च १९१९ तक की फाइल से कुछ नाम दिए जाते हैं : सर्वश्री गोविन्द रामचन्द्र चांदे, गजानन गोविन्द बाठले, गनपत राव गनोद वाले, दशरथ बलवंत यादव, रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे, बहुरबख्श, प्रियनाथ बसक, गोपाल दामोदर तामस्कर।

"हितकारिणी" की सफलता तथा दीर्घ जीवन के दो कारण ऊपर बतलाए गए हैं—द्विवेदी जी का व्यक्तित्व और उनकी उदार नीति। एक कारण और था। सरकार "हितकारिणी" की प्रति माह एक हजार प्रतियां ख़रीद लेती थी। "हितकारिणी" का अन्त राजनीतिक उथल-पुथल के कारण हुआ। शाला के राष्ट्रीय बनाने का प्रयत्न किया गया। सरकार की कोप-दृष्टि हुई। शाला तो बच गई पर पत्रिका गई, यद्यपि वार्षिकांक अब भी प्रकाशित होता है।

अप्रैल सन् १९१३ में खण्डवा से "प्रभा" प्रकाशित हुई। श्री कालूराम जी गंगराडे का नाम प्रधान सम्पादक के रूप में छपता था, पर पत्रिका के कर्त्ता, धर्त्ता, विधाता पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी थे। पत्रिका बहुत सज-धज से निकलती थी। लेखक हिन्दी के गणमान्य लेखकों की श्रेणी के ही होते थे। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त द्वारा अनू-

दित उमर खय्याम की कुछ रुबाइयां सचित्र प्रकाशित हुई थीं। दो साल के बाद "प्रभा" नागपुर से प्रकाशित होने लगी और कुछ दिन के बाद अस्त हो गई। सम्भवतः अर्थाभाव ही कारण रहा होगा। मार्च सन् १९२० में पण्डित मातादीन जी शुक्ल के सम्पादन में "छात्र-सहोदर" मासिक का जन्म हुआ। शुक्ल जी ने केवल अपनी शक्ति व साधनों से लगभग दो वर्ष तक यह पत्र चलाया। पत्र का कलेवर तथा पठन-सामग्री सुन्दर और सुरुचिपूर्ण होती थी। "हितकारिणी" और "छात्र-सहोदर" में यह भेद था कि सहोदर गान्धी जी की नीति का प्रबल समर्थक था, जब कि "हितकारिणी" किसी अंश तक सरकारी नीति का समर्थन करती थी। "छात्र सहोदर" से छात्रों तथा नए लेखकों को पर्याप्त स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। शुक्ल जी बतलाते थे कि वे उस समय प्रतिदिन १८ घंटे परिश्रम करते थे। खेद है कि इतने त्याग और परिश्रम के बाद भी "सहोदर" शुक्ल जी को लम्बा घाटा देकर समाप्त हो गया।

सन् १९१९ में जबलपुर में अखिल-भारतीय साहित्य-सम्मेलन और १९२० में मध्यप्रदेश सम्मेलन के अधिवेशन हुए। सन् १९२० में "कर्मवीर" भी बहुत धूम-धाम से प्रकाशित हुआ। इन सब कारणों से साहित्यिक वातावरण सजग और सचेष्ट हो उठा। उस समय प्रान्त और बाहर के अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों का निवास भी जबलपुर हो रहा था, यथा पण्डित माधवराव सप्रे, पण्डित सुन्दरलाल, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी। पण्डित मनोहर कृष्ण गोलवलकर तो सदा से साहित्य के पुजारी थे ही। इन सब के परामर्श से बाबू गोविन्ददास जी ने सन् १९२० में राष्ट्रीय-हिन्दी-मन्दिर की स्थापना की और तारीख २१ मार्च १९२० को "श्री शारदा" मासिक का जन्म हुआ। पण्डित नर्मदा-प्रसाद जी मिश्र, इसके सम्पादक थे और मावली प्रसाद जी श्रीवास्तव तथा बाद में स्व. मातादीन शुक्ल, सह-सम्पादक। कुछ समय बाद पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र भी "शारदा" के स्टाफ़ में आए।

मार्च १९२३ तक "श्रीशारदा" बहुत धूमधाम से निकली। उसमें बड़े-से-बड़े साहित्यिकों के लेख आदि प्रकाशित होते थे और सुन्दर मुखपृष्ठ तथा रङ्गीन और सादे चित्रों से उसकी सुन्दरता निखर उठती थी। प्रान्त के साहित्यिक जागरण का प्रमुख श्रेय "श्री शारदा" को भी है। "हितकारिणी", "प्रभा" "छात्र-सहोदर", के बन्द हो जाने के कारण, इस समय "श्री शारदा", प्रान्त की एकमात्र साहित्यिक पत्रिका थी। सन् १९२२ में पण्डित नर्मदा-प्रसाद मिश्र और पण्डित मातादीन शुक्ल "श्री शारदा" से हट गए। पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र के सम्पादन में वह मार्च १९२३ तक निकल कर, बन्द हो गई। "श्री शारदा" के बन्द हो जाने का कुछ कारण तो संचालक-मण्डल का आपसी मतभेद था, पर प्रधान कारण था बाबू गोविन्ददास जी की कृष्ण मन्दिर (जेल) यात्रा। "श्री शारदा" के साथ-साथ "शारदा-पुस्तक-माला" का भी प्रकाशन होता था। इसके सम्पादक पण्डित कामताप्रसाद जी गुरु और सहायक सम्पादक श्री मावलीप्रसाद जी श्रीवास्तव थे। माला से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जैसे "रसज्ञ रंजन", 'पण्डित महा-वीरप्रसाद द्विवेदी', 'हज़रत मुहम्मद की जीवनी', आदि।

सन् १९१५-१६ में पण्डित नर्मदाप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में किताबी-साइज़ में "शारदा-विनोद" गल्प-पत्रिका भी निकलती थी; प्रकाशक शारदा-भवन-पुस्तकालय, जबलपुर था। सन् १९२६से दो-तीन साल तक श्री शिरवेकर जी, सुपरिन्टेन्डेन्ट, नार्मल स्कूल, "शिक्षण-पत्रिका" निकालते रहे हैं। इसमें साहित्यिक सामग्री भी रहती थी।

मराठी "उद्यम" पत्र सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ था। पिछले १० वर्षों से उसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित हो रहा है। वह पत्र अपने ढंग का अलग और उल्लेखनीय है। उसका उद्देश्य सब प्रकार के उद्योग-धन्धों, व्यापार-व्यवसायों, आदि की व्यावहारिक, नित्य लाभ पहुँचाने वाली शिक्षा देना है।

"प्रेमा" का उल्लेख में अत्यन्त संकोचपूर्वक कर रहा हूँ। उसका प्रथम अंक अक्तूबर १९३० और अन्तिम अंक मार्च १९३३ में प्रकाशित हुआ। १९२७ में मैंने "प्रेमा-पुस्तकमाला" के प्रकाशन की बात सोची थी। सन् १९२८ में इंडियन प्रेस का कार्य आरम्भ किया। जबलपुर के साहित्यिक बन्धुओं से परिचय बढ़ा। "लोकमत" के कारण भाई परिपूर्णानन्द वर्मा, श्री सत्यकाम विद्यालंकार, बाबू कुलदीप सहाय, ठाकुर काशीप्रसाद सिंह आदि से

सम्पर्क हुआ। "लोकमत" बन्द होने पर परिपूर्णानन्द जी के सहयोग से "प्रेमा" प्रकाशित हुई। सम्पादन का भार उन्हीं पर था। मैं प्रबन्धक ही था। प्रशंसा होती गई, घाटा आता गया। कोई चारा न देख, परिपूर्णानन्द जी काशी चले गए। कुछ अंक वहीं से निकले। फिर "प्रेमा" जबलपुर आई। अन्त में दस-बारह हजार का घाटा देकर "प्रेमा" समाप्त हो गई।

सन् १९२० के बाद हिन्दी ने नया क़दम उठाया। उसने स्वतन्त्रता से सोचना शुरू किया। पुरानी परिपाटी से हट कर छायावाद, रहस्यवाद आदि की ओर उसका ध्यान गया। इधर विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के लिये द्वार खोल दिये। उसमें विवेचनात्मकता, गवेषणात्मकता, आलोचनात्मकता आई। लेखक, कवि आदि नवीन प्रयोगों के लिये तरस रहे थे। उस समय जबलपुर के साहित्यिक क्षेत्र में एक बड़ी होनहार मण्डली थी, जो आज ख्याति और प्रतिष्ठा से भरपूर हैं, यथा सर्वश्री केशवप्रसाद पाठक, भवानीप्रसाद तिवारी, भवानीप्रसाद मिश्र, नर्मदाप्रसाद खरे, ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, गुलाब प्रसन्न "शालाल", गौरीशंकर "लहरी", बद्रीनारायण शुक्ल, केशवप्रसाद वर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी "मस्त", प्यारेलाल "संतोषी", आदि। ये सब "प्रेमा" की सहायता को टूट पड़े। केशव-प्रसाद जी तो उसके प्रधान पथ-प्रदर्शक और नीति-निर्धारक थे। नर्मदाप्रसाद जी ने कभी उसे भिन्न माना ही नहीं। उस समय के सभी वयोवृद्ध और लब्ध-प्रतिष्ठित लेखकों ने "प्रेमा" को सहयोग दिया। आर्थिक सहयोग के लिये सरकार तथा संस्थाओं के बहुतेरे द्वार खटखटाए, पर व्यर्थ।

"प्रेमा" ने रस-विशेषांक निकाल कर एक रस-कोष बनाना चाहा था। वह अधूरा रह गया। हास्य-रसांक (सम्पादक श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा), शान्त-रसांक (सम्पादक श्री सम्पूर्णानन्द वर्मा), शृङ्गार-रसांक (सम्पादक श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी) और करुण-रसांक (सम्पादक श्री केशवप्रसाद पाठक) निकल पाए। बाकी के लिये बाद में प्रयत्न किया पर सफलता न मिली।

"प्रेमा" ने हिन्दी को उमर खय्याम व हालावाद दिया। ऊपर लिख आए हैं कि सन् १९१३ में श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने "प्रभा" में कुछ रुबाइयां अनूदित की थीं। तब से इस ओर कोई प्रयास नहीं हुआ था। "प्रेमा" में केशव-प्रसाद जी का सफल तथा प्रामाणिक अनुवाद इस जोर-शोर से प्रकाशित होने लगा कि अनुवादों की धूम मच गई। इसके प्रभाव से हालावादी कविताओं का आविर्भाव हुआ। श्री बच्चन जी की पहली कविता 'प्रेमा' में छपी थी। साथ-साथ "प्रेमा पुस्तकालय" का भी प्रकाशन हुआ। उमर खय्याम की रुबाइयां, प्रदीप आदि पहले और अब भी प्रकाशन होता है—प्राणपूजा (भवानी प्रसाद जी तिवारी), कुंजबिहारी काव्य-संग्रह आदि प्रकाशन हुए।

श्री ब्रिजलाल जी बियाणी ने अकोला से हिन्दी मासिक पत्र निकालने का कई बार प्रयत्न किया। सन् १९२६ में उन्होंने "राजस्थान" मासिक शुरू किया, जिसके सम्पादक सत्यदेव विद्यालंकार थे। यह मासिक कुछ समय ही चला। इसके पूर्व भी आपने एक मासिक पत्र का प्रकाशन किया था। फ़िलहाल आप "प्रवाह" नाम का मासिक-पत्र निकाल रहे हैं, जिसका उल्लेख आगे आयेगा।

पण्डित रविशंकर शुक्ल जी के संरक्षण में डिस्ट्रिक्ट कौन्सिल, रायपुर से, सन् १९२० के लगभग शायद कोई शिक्षा विषयक पत्रिका निकली थी। सन् १९३५ के लगभग फिर उन्हीं के संरक्षण में, उसी संस्था से "उत्थान" नामक मासिक-पत्र प्रकाशित हुआ। सम्पादक थे—पंडित सुन्दरलाल त्रिपाठी। पत्र इण्डियन प्रेस द्वारा सुन्दर रूप में मुद्रित किया जाता था। उसमें शिक्षा और साहित्य का अनुपात लगभग बराबर रहता था। शिक्षा-संस्थाओं और जनता, दोनों को "उत्थान" प्रिय था। वह लगभग साढ़े तीन वर्ष चला। पूज्य शुक्ल जी की रचनात्मकता तथा संगठनशीलता लोक प्रसिद्ध है। उनके प्रयत्न से राष्ट्रीय विद्यालय, कांग्रेस-भवन आदि कब के बन गए थे। उनके साथ भी कृष्णमन्दिर का प्रेम लगा था। वे जेल गए, "उत्थान" समाप्त हुआ।

इस बीच श्री केशवप्रसाद वर्मा के सम्पादकत्व में पटेरिया बुक-डिपो, रायपुर ने शैक्षणिक मासिक "शिक्षा" के कुछ अंक निकाले थे। श्री घनश्यामप्रसाद जी "श्याम" ने भी कुछ महीने एक मासिक प्रकाशित तथा सम्पादित किया था। श्री मास्टर बल्देवप्रसाद जी ने सागर से "बच्चों की दुनिया" निकाली थी। श्री कुलदीप सहाय जी ने कुछ दिनों तक "विकास" तथा "श्रीहरि" जी ने भी एक मासिक निकाला था। कुछ दिनों तक रायगढ़ से "छत्तीसगढ़" नामक मासिक भी निकला है। लड़ाई के समय में काग़ज़ की मँहगी और अन्य अड़चनों के कारण मासिक पत्र निकालना सम्भव नहीं था। सन् १९४६ के बाद जो पत्र नहीं चल पाए, वे ये हैं :—

"कला", कटनी की "परिमल" गोष्ठी द्वारा प्रकाशित तथा श्री बालचन्द्र जैन तथा श्री रमेशचन्द्र मिश्र द्वारा सम्पादित, तीन-चार अंक के बाद धनाभाव के कारण बन्द हो गई।

"समता", पण्डित रामेश्वर शुक्ल "अंचल" द्वारा सम्पादित तथा स्वस्तिक प्रेस, जबलपुर में मुद्रित। यह गम्भीर विचारों की अपनी कोटि की एक ही पत्रिका होती, परन्तु धनी ने दो-तीन अंकों के बाद ही मुख मोड़ लिया।

"युगारम्भ", आरम्भ में श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह जी द्वारा सम्पादित तथा उन्हीं के साहित्य प्रेस में मुद्रित। डेढ़-दो साल के बाद जबलपुर की "परिमल" गोष्ठी ने इसे ले लिया। श्री नर्मदाप्रसाद खरे, स्व. इन्द्र बहादुर खरे, श्री नरेन्द्र आदि के सतत और संयुक्त प्रयत्न से ग्यारह अंक ऐसे निकले कि वे अच्छी से अच्छी पत्रिका से टक्कर ले सकते थे, परन्तु धनाभाव के कारण बन्द कर देना पड़ा।

"प्रकाश", मध्यप्रदेश-सरकार द्वारा प्रकाशित और डा. रामकुमार वर्मा आदि द्वारा सम्पादित कुछ समय निकलकर शीघ्र ही बन्द कर दिया गया।

मध्यप्रदेश की मासिक पत्रिकाओं का इतिहास यहां समाप्त होता है। प्रचलित पत्रिकाओं का परिचय देना बाक़ी है। इतिहास बहुत सुखद नहीं है। वह हमें कुछ प्रश्नों पर विचार करने के लिए विवश करता है। हमारे प्रान्त में अच्छी से अच्छी पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि एक भी पत्रिका चिर-स्थायी नहीं हुई। पत्रिकाओं की अल्पायु का कारण सदैव अर्थाभाव रहा। सरकार की उदासीन वृत्ति के कारण ही हमारी पत्रिकायें पनपन नहीं पायीं। स्वतन्त्रता के बाद भी वह स्थिति जारी रही, जो खेदजनक है। अभी प्रान्त में जिन पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, उनका विवरण इस प्रकार है :—

(१) ए. सी. सी. पत्रिका, कटनी—यह एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी द्वारा संरक्षित है। उद्देश्य पारस्परिक प्रेम बढ़ाना तथा साहित्य व शिक्षा की सेवा करना। सम्पादक श्री विष्णुदत्त अग्निहोत्री। (२) नंदा—शिक्षक संघ, जबलपुर द्वारा प्रकाशित बालोपयोगी मासिक। (३) राष्ट्र भारती—वर्धा। प्रकाशक राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, वर्धा। सम्पादक श्री हृषीकेश शर्मा और श्री मोहनलाल भट्ट। कुछ समय पहिले नागपुर में "भारती" प्रकाशित की थी। कदाचित् "राष्ट्र भारती" उसी का सुसंस्थापित रूप है। पत्रिका सुन्दर तथा राष्ट्रोपयोगी है। (४) प्रतिभा, नागपुर—प्रकाशक प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड। सम्पादक श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति। अगस्त सन् १९५३ से ठाठ से प्रकाशित हो रही है और काफ़ी सुन्दर है। नरेन्द्र जी के रूप में उसे उद्योगी सम्पादक मिला है, यदि उचित सहारा दिया जाय तो "प्रतिभा" का काफ़ी विकास हो सकता है। (५) प्रवाह, अकोला—श्री ब्रिजलाल बियाणी द्वारा संरक्षित तथा राजस्थान प्रेस में मुद्रित। प्रकाशक हिन्द प्रकाशन। सम्पादक श्री शिवचन्द्र नागर तथा श्री शेखर। राजनीति से दूर विशुद्ध साहित्यिक मासिक। मुद्रण, सम्पादन प्रथम कोटि का। (६) मानवता, अकोला—श्रीमती राधादेवी गोयनका द्वारा सम्पादित तथा

मानवता प्रेस, अकोला द्वारा मुद्रित व प्रकाशित। गांधीवाद की नींव पर संचालित। यह अच्छी पत्रिकाओं की श्रेणी में है। (७) नई दिशा (त्रैमासिक), बिलासपुर—अभी निकली है। (८) रेखा, नागपुर—कहानी प्रधान, मासिक। हाल ही में प्रकाशन आरम्भ हुआ है। (९) राष्ट्र भाषा—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा प्रकाशित, उद्देश्य हिन्दी प्रचार। (१०) बापू—रायगढ़ से प्रकाशित और स्वामी गौरीशंकर जी महाराज द्वारा प्रकाशित। उद्देश्य नाम से ही प्रकट होता है। (११) बालगोपाल—शिशु कल्याण केन्द्र, मध्यप्रदेश द्वारा प्रकाशित और श्री रघुनाथप्रसाद तिवारी द्वारा सम्पादित। यह प्रान्त का बच्चों और अभिभावकों के लिए सुन्दर पत्र है। (१२) दीपक—समाज कल्याण विभाग द्वारा प्रकाशित। साक्षरता प्रचार के उद्देश्य से प्रकाशित। (१३) प्रगति—मध्यप्रदेश सरकार की प्रवृत्तियों का परिचय देने वाली पत्रिका। (१४) पुलिस पत्रिका। (१५) किसानी समाचार (१६) श्रमपत्रिका आदि विभागीय पत्रिकायें भी सरकार द्वारा प्रकाशित की जाती हैं।

मध्यप्रदेश में हिन्दी पत्रकारिता का विकास

श्री श्यामसुन्दर शर्मा

समाचार एवं समाचार पत्रों की व्याख्या तथा कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में अभी तक अनेक विद्वान अपने-अपने मत व्यक्त कर चुके हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में लगभग सभी विद्वान एक मत हैं कि समाचार-पत्र का कार्य क्षेत्र प्रमुख रूप से जनता और शासन के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी के रूप में है। समाचार पत्रों के बीच शासन का बड़ा हाथ रहता है। यद्यपि इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि शासन का स्वरूप निर्धारित करने में समाचार-पत्रों का प्रमुख योगदान होता है।

अंग्रेजी शासन की प्रशासनात्मक इकाई के रूप में मध्यप्रदेश ने अन्य प्रान्तों की अपेक्षा विलम्ब से प्रगति की और यही कारण है कि जब बंगाल, बम्बई, मद्रास आदि प्रान्तों में अनेक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों को लेकर व्यापक वाद-विवाद चलता रहा था—अनेक संस्थाएँ संघटित हो रही थीं और इसी जन-जाग्रति के फलस्वरूप अनेक समाचार पत्र भी प्रकाशित होने लगे थे, तब हमारा क्षेत्र पूर्णतया अविकसित एवं चेतनाहीन था। यहां तक कि जब कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन इस प्रान्त में बुलाने का प्रश्न उठा, तो सर फ़ीरोज़शाह मेहता ने इस प्रान्त को sleepy hollow (प्रसुप्त और खोखला क्षेत्र) कह कर सम्बोधित किया था। सन् १८६० ईस्वी में मध्यप्रदेश नामक प्रान्त का भारतीय प्रशासनात्मक इकाई का अवतरण हुआ और स्वाभाविक ही था कि हमारी जन चेतना इसके बाद ही जाग्रत होती। समाचार पत्र सर्वप्रथम गौराङ्ग महाप्रभुओं के स्वस्ति गान के हेतु ही निकले, जिनमें नागपुर से निकलने वाला "सी. पी. न्यूज़" और जबलपुर का "विक्टोरिया सेवक" इत्यादि उल्लेखनीय हैं। किन्तु मध्यप्रदेश के जन-जीवन में इनका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं बन सका और आज यह भी विदित नहीं है कि ये पत्र कब और क्यों बन्द हो गये। यह काल इस प्रदेश में समाचार-पत्रों का प्रारंभिक काल था। इस काल में स्वतन्त्र प्रेस या देश में चेतना पैदा करने वाले समाचार पत्रों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। अंग्रेजी शासन की छत्रछाया में शासन से प्रेरित जागृति मात्र इस काल में प्रकाशित किसी समाचार पत्र की कार्य-मर्यादा थी।

राममोहन राय, सुरेन्द्र मोहन बनर्जी, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि, अनेक समाज सुधारकों के विचारों की लहर सारे देश में व्याप्त हो गयी थी। लार्ड विलियम बेन्टिक ने जिस समय सती-प्रथा को बन्द करने का कानून बनाया, उसी समय से देश का ध्यान अनेक सामाजिक प्रश्नों की ओर आकर्षित हुआ और यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगी कि हमारे राष्ट्रीय मानस का विकास सामाजिक चेतना से ही आरम्भ हुआ। इधर हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य का यह प्रारम्भिक काल ही था और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द', पण्डित बालकृष्ण भट्ट इत्यादि प्रमुख रूप से खड़ी बोली के साहित्य सृजन में ही लगे हुए थे। इन्हीं सब कारणों से उत्तरप्रदेश की भांति ही हमारे प्रान्त में भी पत्रकारिता का प्रारम्भ मासिकों से हुआ, जिन्होंने प्रान्त के पाठकों को आकर्षित किया।

किन्तु अब समस्त देश के साथ ही हमारे प्रान्त में भी जन-मानस अधिक जाग्रत होने लगा एवं सार्वजनिक हलचल दृष्टिगोचर होने लगी। तब केवल साहित्यिक पत्रों से ही जनता की जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता था। इधर भारतीय राजनीति में भी लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में प्रथम बार सुस्पष्ट स्वातन्त्र्य आन्दोलन की रूपरेखा निर्धारित हुई थी और जन जागृति करवटें लेने लगी थी। स्पष्ट है कि इस समय की आवश्यकताओं को प्रमुख रूप से राजनीतिक एवं सामाजिक सामग्रीयुक्त पत्र ही पूरा कर सकते थे। यही युग था जब कि हमारे प्रान्त में पत्रकारिता ने एक नियमित

संस्था का रूप ग्रहण किया और हम देखते हैं कि सन् १९०७-१९०८ तक प्रान्त में विभिन्न भाषाओं में २८ पत्र निकल रहे थे। जब कि सन् १८९०-९१ में यह संख्या केवल ९ थी।

इस काल के पश्चात् मध्यप्रदेश में हिन्दी पत्रकारिता की प्रगति तीव्र हुई। जिसका श्रेय मध्यप्रदेश में हिन्दी पत्रकारिता के महारथी पण्डित माधवराव सप्रे, पण्डित रघुवरप्रसाद द्विवेदी, पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल और पण्डित प्रयागदत्त शुक्ल प्रभृति को है। पण्डित माधवराव सप्रे के संचालन एवं पण्डित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के सम्पादन में प्रकाशित "हिन्दी केसरी" सम्भवतः प्रान्त का सर्वप्रथम प्रभावशाली साप्ताहिक था। इसका प्रकाशन सन् १९०७ में हुआ तथा इसका प्रमुख उद्देश्य लोकमान्य तिलक की विचारधारा को प्रान्त में प्रसारित करना था। इसमें पूना से लोकमान्य द्वारा प्रकाशित "केसरी" के अग्रलेख का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होता था और ३,००० प्रतियों से प्रारम्भ होकर इस पत्र की सम्भवतः ६,००० प्रतियां तक बिकने लगी थीं। यहां तक कि सन् १९१८ में प्रकाशित "रोलट कमीशन" की रिपोर्ट में इस पत्र के सम्बन्ध में लिखा गया है कि इसने "जनता और सैनिकों में राजद्रोहात्मक विचारधारा को प्रसारित करने का प्रयास किया था।" स्वाभाविक ही था कि ऐसे पत्र को तत्कालीन सरकार का कोपभाजन बनना पड़ता और तारीख ३१ अगस्त १९०८ को राजद्रोह के आरोप में श्री सप्रे जी को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके बाद श्री सप्रे जी का नाता "हिन्दी केसरी" से टूट गया, किन्तु पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल के सम्पादन में वह सन् १९०९ तक बराबर धूमधाम से चलता रहा। उस समय नागरी प्रेस के संचालक डा. लिमये को धमकी दी गई कि अगर "हिन्दी-केसरी" उनके प्रेस से प्रकाशित हुआ, तो प्रेस जब्त हो जायेगा और इस पर उन्होंने "हिन्दी केसरी" को बन्द कर दिया। यद्यपि इसके पहिले खण्डवा से "सुबोध सिंधु" और जबलपुर से "शुभ-चिन्तक" ये दो हिन्दी साप्ताहिक निकल चुके थे, तथापि मध्यप्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता को नियमितता एवं बल-प्रदान करने में "हिन्दी केसरी" ने अविस्मरणीय योग दिया।

जैसे-जैसे प्रान्त में राजनीतिक चेतना बढ़ती जा रही थी और जनता में स्वराज्य भावना का उदय हो रहा था, वैसे-वैसे पत्रों की संख्या भी बढ़ती जा रही थी और साथ ही समाचार-पत्रों की गर्दन पर साम्राज्यवादी दमन का फन्दा अधिक कसा जा रहा था। ऊपर हम 'हिन्दी-केसरी' की चर्चा कर ही चुके हैं। नागपुर से निकलने वाले मराठी "देश-सेवक" साप्ताहिक का भी वही हाल हुआ। किन्तु हम देखते हैं कि इस दमन चक्र के बाद भी हमारे निर्भीक पत्रकार हताश नहीं हुए और सन् १९११-१२ में पत्रों की संख्या बढ़ कर ३१ हो गई। इस काल का सर्वाधिक सफल पत्र "मारवाड़ी" है, जो कि सन् १९०८ में नागपुर से पण्डित रुद्रदत्त शर्मा के सम्पादन में निकला। इसकी यह सफलता थी कि घोर दमन के काल में भी इस पत्र ने १० वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाए रखा। यह पत्र प्रमुखतया समाज सुधार का सन्देश देता था और इसमें राजनीति का आश्रय उन्हें खला। इस पत्र की यह विशेषता थी कि हिन्दी के अनेक प्रमुख पत्रकारों का इससे सम्बन्ध रहा। इस पत्र से सम्बन्धित प्रमुख व्यक्तियों के नाम ये हैं। श्री नन्दकुमार देव शर्मा, गंगाप्रसाद गुप्ता, बाबू शिवनारायण सिंह, पण्डित गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी, श्री सत्यदेव विद्यालंकार और श्री नारायण दत्त कश्यप। इन में से कुछ विद्वान् बाद में क्षितिज पर काफ़ी ऊँचे उठे।

इस समय तक प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया था और इसके साथ ही जन-जागरण भी क्रमशः व्यापक होता जा रहा था। "युद्धस्य वार्ता रम्या" के सिद्धान्त के अनुसार, इस समय तक जन-साधारण की समाचार तृष्णा बहुत बढ़ गई थी। इसके साथ ही हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन एक निश्चित स्वरूप धारण करता जा रहा था। १९१० से से १९१९ तक की अवधि में इस प्रदेश की काया में भी बड़ा परिवर्तन हो चुका था। सन् १९१४ में इस प्रदेश में चीफ कमिश्नर के सभापतित्व में विधान सभा स्थापित हुई थी और सन् १९१९ के सुधारों से यह प्रदेश गवर्नरी शासन के अन्तर्गत आगया था। इसी समय प्रदेश में हाईकोर्ट और विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

इन्हीं सब कारणों से इस काल ने समाचार पत्रों को संस्था के रूप में खड़ा होते देखा। इसके पहिले तक अनेक पत्र प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु उनमें स्थायित्व नहीं आ सका था। इसका प्रमुख कारण जनता में शिक्षा एवं

जिज्ञासा का अभाव एवं पत्र संचालन की बारीकियों का अज्ञान ही था। किन्तु युद्ध के पश्चात् ये समाचार पत्र संस्था का रूप ग्रहण करने लगे। इस समय की पत्रकारिता एक "मिशन" थी और देशभक्ति का जोश लेकर ही लोग इस व्यवसाय में प्रवेश करते थे। इस काल के पश्चात् कुछ समाचार पत्रों का अच्छा विकास हुआ और उन्होंने समाचार संस्था का रूप धारण किया। उदाहरणार्थ, सन् १९१३ में आरम्भ किया गया-"हितवाद", १९१४ में ही श्री ओगले द्वारा स्थापित "महाराष्ट्र" आदि। "हितवाद" के सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी द्वारा अंग्रेजी साप्ताहिक के रूप में आरम्भ किये जाने के पहिले वह मराठी साप्ताहिक था और श्री प्रभाकर पाध्ये उसके प्रथम सम्पादक थे। तत्पश्चात् अंग्रेजी संस्करण का संपादन श्री नटेश अप्पाजी द्रविड़ ने अनेक वर्षों तक गौरवपूर्ण ढंग से किया। लगभग इसी समय अन्य छोटे-छोटे स्थानों से भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं का निकलना आरम्भ हुआ, जैसे जबलपुर से 'शारदा', 'विनोद', 'कर्मवीर', कटनी से 'सी. पी. स्टैण्डर्ड', सोहागपुर से 'मित्र मण्डली समाचार', छिन्दवाड़ा से 'सी. पी. वीकली न्यूज', 'मारवाड़ी हितकारक' और रायपुर से 'कान्यकुब्ज नायक' इत्यादि. किन्तु इन में से कोई भी पत्र दीर्घजीवी नहीं हो पाया।

सन् १९०८ में "हिन्दी केसरी" के बन्द हो जाने पर प्रदेश में राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थक एक भी समाचार-पत्र न था। इस प्रश्न पर प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन में विचार किया गया। पं. विष्णुदत्त शुक्ल, डॉ. बी. एस. मुंजे और पं. माधवराव सप्रे की समिति भी निर्माण हुई थी। जिसके प्रयास से "संकल्प" नामक हिन्दी साप्ताहिक पत्र सन् १९१९ की विजयादशमी को निकला था। पत्र के संपादक श्री प्रयागदत्त शुक्ल और मुद्रक तथा प्रकाशक श्री शंकरराव लोंढे थे। उस समय लोकमान्य तिलक का होमरूल आन्दोलन देश में जोरों से चल रहा था। "संकल्प" के प्रकाशन में होमरूल लीग ने २ हजार की सहायता दी थी तथा प्रदेश के अन्य लोगों से ८ हजार रुपये मिले थे। सरकार ने 'संकल्प' से एक हजार की जमानत मांगी थी। जमानत देकर इस पत्र ने १ वर्ष तक लोक-जाग्रति का कार्य किया था। इसके बाद ही "कर्मवीर" का जन्म हुआ था।

सन् १९२० में जबलपुर से "कर्मवीर" साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय विचारधारा के इस स्फूर्तिदायक साप्ताहिक ने प्रांत की राजनीतिक एवं साहित्यिक चेतना को एक नवीन दिशा प्रदान की। इस समय देश की राजनीति में महात्मा गांधी के असहयोग सिद्धान्तों का बोलबाला था। गांधीवादी युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसने जन जागरण को बड़े-बड़े नगरों और कतिपय बुद्धिवादियों तक ही सीमित न रख, उसे गांव-गांव तक प्रसारित कर दिया था और इसीलिये समाचार-पत्रों का क्षेत्र भी व्यापक हो गया था। "कर्मवीर" मध्यप्रदेश में विशुद्ध राष्ट्रीय पत्रकारिता का प्रथम एवं निर्भीक प्रयास था और इसने प्रान्त की साहित्यिक एवं राजनीतिक चेतना को प्रबुद्ध करने में स्मरणीय योगदान किया। यह पत्र पंडित विष्णुदत्त शुक्ल एवं श्री माधवराव सप्रे के प्रयास से आरम्भ हुआ था और इसके सम्पादक थे पंडित माखनलाल चतुर्वेदी जो कि अब तक लेखनी के द्वारा "भारतीय आत्मा" के रूप में सारे भारत में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर, ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान आदि इसी पत्र के द्वारा हिन्दी जगत् के सामने आये। इस युग में 'कर्मवीर' का अपना प्रभाव था। "कर्मवीर" के माध्यम से हिन्दी को अनेक नये-नये प्रतिभावान लेखक मिले जिसका श्रेय पंडित माखनलाल चतुर्वेदी को है। परन्तु दुर्भाग्य से ई. राघवेन्द्रराव और पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी की राजनीतिक कशमकश में यह पत्र बन्द हो गया। कुछ समय पश्चात् "कर्मवीर" खण्डवा से प्रकाशित हुआ और तबसे लेकर आज तक बराबर चल रहा है, यद्यपि अब 'कर्मवीर' का कलेवर क्षीण होगया है। लगभग इसी समय चतुर्वेदी जी के दाहिने हाथ श्री आगरकर ने "स्वराज्य" नामक साप्ताहिक निकाला, जिसका संपादन अब उनके सुपुत्र श्री यशवंतराव आगरकर कर रहे हैं। नागपुर का 'प्रणवीर' अर्द्ध साप्ताहिक था और इस पत्र के प्रकाशन में श्री सतीदास मूंदड़ा का साहस उल्लेखनीय था। मराठी के तत्कालीन प्रसिद्ध पत्र "महाराष्ट्र" की तुलना में हिन्दी में वैसा ही प्रभावशाली पत्र पाठकों को समर्पित करना उनका उद्देश था।

काफी घाटा उठाकर यह पत्र बन्द हुआ। प्रणवीर-संस्था ने जन-जागृति की दृष्टि से प्रकाशन कार्य भी आरम्भ किया था। इनके प्रकाशनों में "वीर सावरकर का चरित्र" उल्लेखनीय हैं।

सन् १९३५ में श्री. ब्रिजलाल बियाणी जी के संचालन में अकोला से "नव-राजस्थान" नाम का साप्ताहिक पत्र आरम्भ हुआ, जिसके सम्पादक श्री. रामनाथ सुमन और श्री. रामगोपाल माहेश्वरी थे। यह प्रान्त का सबसे सुन्दर पत्र था और उसकी गणना देश के तत्कालीन चार-छः प्रमुख साप्ताहिकों में होने लगी थी। भारी घाटे के कारण यह पत्र १९३८ में बन्द हो गया। यह पत्र सरकार का कोपभाजन भी हुआ और उससे ग्यारह हजार रुपयों की जमानत मांगी गई थी। सन् १९३७ में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के पदारूढ़ होने पर यह जमानत वापस कर दी गयी।

साप्ताहिक पत्रों की इस गौरवपूर्ण परम्परा के पश्चात् यह स्वाभाविक ही था कि इसका विकास अन्य प्रान्तों की पत्रकारिता की भांति दैनिक पत्रों के रूप में हो। वैसे तो मध्यप्रदेश का प्रथम दैनिक "सन्देश" श्री. अच्युतराव कोल्हट-कर द्वारा सन् १९२० में ही आरम्भ किया गया था, किन्तु यह प्रयत्न असफल ही रहा। इस प्रकार जबलपुर से सन् १९३० में निकलने वाले "दैनिक लोकमत" को प्रान्त का प्रथम महत्वपूर्ण दैनिक-पत्र होने का गौरव प्राप्त होता है। यह पत्र सेठ गोविन्ददास जी ने निकाला था, जिसके सम्पादक पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र थे। उस समय यह पत्र १६ पृष्ठों में निकला था और तार, समाचार के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर लेख और टिप्पणियां भी होती थीं, जो बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं। सामयिक घटनाओं के चित्र आदि भी दिये जाते थे। "लोकमत" के समान सुसज्जित एवं बृहत् दैनिक-पत्र आज भी मध्यप्रदेश में देखने को नहीं मिलता। लगभग तीन साल बाद बाबू गोविन्ददास एवं पण्डित मिश्र की जेल-यात्रा के कारण यह पत्र बन्द हो गया। तत्पश्चात् सन् १९४२ में पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र ने "सारथी" साप्ताहिक निकाला जो छः माह बाद मिश्र जी के जेल जाने के कारण बन्द हो गया। यह काफी समय बाद सन् १९५३ से पुनः प्रकाशित हो रहा है, जो प्रान्त का काफी अच्छा राजनीतिक पत्र है।

मध्यप्रदेश के वर्तमान मुख्य मन्त्री पण्डित रविशंकर शुक्ल के प्रयास से सन् १९२६ में नागपुर से "महाकोशल" साप्ताहिक निकला, जिसका सम्पादन श्री. सीताचरण दीक्षित तथा श्री. सुन्दरलाल त्रिपाठी करते थे, किन्तु दो वर्ष बाद वह भी बन्द हो गया। यह भी एक साहसपूर्ण प्रयास था। यही "महाकोशल" रायपुर से कुछ समय पूर्व साप्ता-हिक प्रकाशित होता था और अब दैनिक के रूप में निकल रहा है। इसके प्रधान सम्पादक श्री. श्यामाचरण शुक्ल तथा सम्पादक श्री. वैशम्पायन हैं। लगभग इसी समय कुछ काल से बन्द पड़े साप्ताहिक "शुभचिन्तक" को भी श्री. मंगलप्रसाद विश्वकर्मा के सम्पादकत्व में श्री. बालगोविन्द गुप्त ने पुनः आरम्भ किया। श्री. नर्मदा प्रसाद खरे भी इसके कुछ समय तक सम्पादक थे। इस साप्ताहिक ने प्रान्त के साहित्यिक-जीवन को गतिशील बनाने में पर्याप्त योग दिया, किन्तु दुर्भाग्य से यह पत्र अब बन्द हो गया है।

"लोकमत" के पश्चात् प्रान्त का दूसरा सफल हिन्दी-दैनिक "नव-भारत" श्री रामगोपाल माहेश्वरी के सम्पादन में सन् १९३८ में प्रथम साप्ताहिक के रूप में आरम्भ हुआ। कुछ ही समय बाद वह अर्ध-साप्ताहिक हो गया और द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में (सन् १९३९ में) इसे दैनिक का रूप दे दिया गया। सन् १९५० में इस पत्र की एक शाखा जबलपुर में भी खुल गयी और यह पत्र बड़ी सफलतापूर्वक प्रकाशित हो रहा है। इधर के काल में मध्यप्रदेश की जन-जागृति और राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर करने में इस पत्र का प्रमुख योग रहा है। आज भी यही प्रान्त का प्रमुख राष्ट्रवादी पत्र है। पत्र के जबलपुर संस्करण के सम्पादक श्री. मायाराम सुरजन हैं। "नव-भारत" का भोपाल से भी दैनिक पूर्ति अंक प्रकाशित होता है। सन् १९४६ में श्री. गोविन्ददास जी एवं श्री. रामगोपाल माहेश्वरी के संयुक्त प्रयास से जबलपुर से एक और दैनिक पत्र "जय-हिन्द" नाम से निकला, जिसके प्रथम सम्पादक, "अमृत पत्रिका" के वर्तमान सम्पादक श्री. विद्याभास्कर थे। तत्पश्चात् श्री. कालिकाप्रसाद दीक्षित ने इसका सम्पादन किया। यह पत्र ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी के तत्वावधान में निकला था, जिसके मैनेजिंग एजेन्ट श्री. रामगोपाल माहेश्वरी एवं वर्तमान उप-शिक्षामन्त्री श्री. जगमोहनदास थे। कुछ समय पश्चात् श्री. माहेश्वरी जी इस पत्र की व्यवस्था से पृथक् हो गये। श्री. गोविन्ददास जी ने इस पत्र को चलाने में काफी प्रयास किया। अब यह पत्र दैनिक "नव-भारत" (जबल-पुर) के साथ सम्मिलित हो गया है। इसका साप्ताहिक संस्करण नागपुर, जबलपुर दोनों स्थानों से निकल रहा है, जिसके संचालक श्री. रामगोपाल माहेश्वरी हैं और सम्पादक प्रस्तुत लेख का लेखक। यह इस समय मध्यप्रदेश का प्रमुख साहित्यिक साप्ताहिक है।

सन् १९३९ में कलकत्ते के "लोकमान्य" के संचालक श्री रामशंकर त्रिपाठी ने "लोकमत" के नाम से नागपुर से दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। "लोकमत" का साप्ताहिक संस्करण भी प्रकाशित होता था, दैनिक और साप्ताहिक दोनों पत्रों के सम्पादक श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति थे। अब वही "लोकमान्य" नाम से प्रकाशित हो रहा है और उसके के सम्पादक श्री. रामाश्रय उपाध्याय हैं। "नव-भारत" का साप्ताहिक संस्करण श्री शैलेन्द्र कुमार के सम्पादकत्व में निकलता है। माहेश्वरी जी ने मराठी दैनिक "देशबन्धु" और अंग्रेजी साप्ताहिक "न्यू-इण्डिया" का प्रकाशन भी किया था, परन्तु ये बन्द हो गये। "नव-भारत" का साप्ताहिक संस्करण "नवजीवन" भी प्रकाशित होता था। इसके सम्पादक श्री मगनलाल कोठारी थे। कुछ समय पूर्व "तरुण भारत" की प्रकाशक नरकेसरी संस्था की ओर से "युगधर्म" हिन्दी-दैनिक का प्रकाशन आरम्भ किया गया है। यह पत्र १९५० से दैनिक हो गया। इसके सम्पादक पहले श्री राजीवलोचन अग्निहोत्री थे फिर इसके सम्पादक श्री कृष्णस्वरूप सक्सेना हुए। इस समय इसके सम्पादक श्री भगवतीधर वाजपेयी हैं। जबलपुर से "तिलक" नाम का अर्ध-साप्ताहिक स्व. मातादीन शुक्ल के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ था, जो लगभग ढाई वर्ष तक चला।

राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में मध्यप्रदेश के समाचार-पत्रों ने चिरस्मरणीय योगदान दिया। मध्यप्रदेश सदैव राष्ट्रीय विचार-धारा का क्षेत्र रहा है और यहां के समाचार-पत्रों ने भी सदैव इसी विचार-धारा को पाठकों तक पहुंचाने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयास में उन्होंने बड़े से बड़े बलिदान को छोटा समझा। उस समय पत्रकारिता का एक-मात्र साफल्य देश को पराधीनता की शृङ्खलाओं से मुक्त कराना ही माना जाता था और हम गर्व से कह सकते हैं कि हमारे प्रदेश के पत्रकार भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं रहे।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति एवं सन् १९४७ में स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश की पत्रकारिता के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पत्रकारिता को व्यवसाय के रूप में संगठित करने में द्वितीय महायुद्ध ने बड़ा सहयोग दिया और इसी बीच अनेक समाचार-पत्र आर्थिक स्थायित्व भी प्राप्त कर सके। इसके सिवाय, स्वाधीनता-संग्राम की सफल परिणति के पश्चात् पत्रकारिता "मिशन" न रहकर व्यवसाय का रूप धारण कर रही है और हमारा प्रान्त भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है। आज हमारे प्रान्त में हिन्दी के चार दैनिक "नव-भारत", "युगधर्म", "लोकमान्य" और "महाकोशल" प्रकाशित हो रहे हैं। इनके सिवाय दो आंग्ल-भाषा के दैनिक "हितवाद" और "नागपुर टाइम्स" तथा मराठी भाषा के तीन दैनिक "तरुणभारत", "महाराष्ट्र" तथा "मातृभूमि" प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे प्रदेश की पत्रकारिता प्रमुख रूप से नागपुर, जबलपुर और रायपुर में ही सीमित है तथा अन्य क्षेत्र इन पत्रों के नियमित सम्वाददाताओं से जुड़े हैं। हमारी साप्ताहिक पत्रकारिता भी अब पुष्ट हो रही है तथा दैनिकों के साप्ताहिक साहित्यिक-संस्करणों के अतिरिक्त ये साप्ताहिक भी प्रान्त की साहित्यिक प्रतिभा को प्रकाश में लाने का यत्न कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक दृष्टि से साप्ताहिक पत्रकारिता बहुत सफल नहीं हो सकी है, पर विभिन्न क्षेत्रों की दृष्टि से उनकी व्यापकता बढ़ रही है। प्रान्त के साप्ताहिक पत्रों में "सारथी", "कर्मवीर", "जयहिन्द" और "स्वराज्य" के अतिरिक्त, पण्डित भवानीप्रसाद तिवारी के सम्पादन में "प्रहरी" जबलपुर से राजनीति-प्रधान साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हो रहा है। स्वामी कृष्णानन्द 'सोख्ता' नागपुर से "नया खून" निकाल रहे हैं, जिसका प्रान्त के साप्ताहिक-पत्रों में अपना स्थान है। प्रान्त के मंजे पत्रकार श्री नन्दकिशोर "नवप्रभात" नाम से रोचक अर्ध-साप्ताहिक का प्रकाशन कर रहे हैं। रायपुर से श्री केशवप्रसाद वर्मा "अग्रदूत" साप्ताहिक का काफी समय से सफलता के साथ प्रकाशन कर रहे हैं। यहीं से भी श्री घनश्यामप्रसाद 'श्याम' ने "नवज्योति" मासिक का प्रकाशन आरम्भ किया था, जो अब साप्ताहिक है। बिलासपुर से श्री श्यामनारायण शुक्ल "तूफान" नाम का साप्ताहिक निकाल रहे हैं, जो अपने क्षेत्र में अच्छा प्रयास है। "पराक्रम" और "लोकमित्र" यहां के अन्य साप्ताहिक हैं। दुर्ग से श्री. केदारनाथ झा 'चन्द्र' ने "जिन्दगी" का काफी समय तक प्रकाशन किया जो अब बन्द है। रायपुर एवं नागपुर से लगभग पांच वर्षों तक चला कर श्री शिवनारायण द्विवेदी को अपने अर्ध साप्ताहिक पत्र "सावधान" का प्रकाशन स्थगित कर देना पड़ा। नागपुर से श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा का "आलोक" विगत १० वर्षों से प्रकाशित हो रहा है। आप "गृहिणी" एवं "राजस्थानी" नाम के दो मासिकों का भी प्रकाशन कर रहे हैं। नागपुर से विगत ५५ वर्षों से "आर्यसेवक" पत्र प्रकाशित हो रहा है। यह पाक्षिक और साप्ताहिक रूपों में प्रकाशित होता रहा है। इसके वर्तमान सम्पादक प्रो. इन्द्रदेवसिंह 'आर्य' हैं। यहीं से प्रकाशित "अग्रवाल समाचार" के सम्पादक श्री प्यारेलाल अग्रवाल और श्री हरिकिसन अग्रवाल हैं। यह अपने क्षेत्र में अच्छा प्रयास है।

नागपुर से कुछ समय पूर्व "विचार" नाम का सुन्दर साप्ताहिक श्री. हनुमानप्रसाद तिवारी और भवानीप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में निकलता था। कुछ समय के बाद यह बन्द हो गया। यही हाल श्री. माणिकचन्द्र बोन्द्रिया के सम्पादकत्व में निकलने वाले प्रथम मासिक और बाद में साप्ताहिक "कृषक" का रहा। "जनमत" नाम का साप्ताहिक समाजवादी पक्ष की ओर से लगभग २॥ वर्ष तक निकलता रहा।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि पिछले कुछ समय में कुछ मराठी भाषियों ने हिन्दी पत्र निकालने का उद्योग किया। श्री. एम. जे कानेटकर का "निःस्पृह", श्री. गोपालराव पाठक का "नागरिक" और श्रीमती कळमकर का "ग्रामसेवक", ऐसे ही प्रयत्न थे, जो उनके हिन्दी-प्रेम के द्योतक हैं। राजनांदगांव से डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र की प्रेरणा से "जनतन्त्र" साप्ताहिक का प्रकाशन हो रहा है। वर्धा से श्री. उमाशंकर शुक्ल अपने जिले की आवश्यकतानुसार "जागरण" साप्ताहिक हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं की सामग्री लिये हुये प्रकाशित कर रहे हैं। इटारसी से श्री. सुकुमार पगारे तथा अन्य सज्जनों ने साप्ताहिक पत्र निकालने का निरन्तर उद्योग किया, किन्तु उसमें सफलता नहीं मिली। नरसिंहपुर से "उदय" नाम का साप्ताहिक सजीवता लिये हुए निकला था, पर वह बन्द हो गया। सागर से श्री. ज्वाला प्रसाद ज्योतिषी ने "विन्ध्य-केसरी" नाम से अच्छा साप्ताहिक निकाला, जो अब बन्द है। स्वामी कृष्णानन्द यहां से "सिपाही" निकाल रहे हैं। "हण्टर" भी यहां से प्रकाशित हो रहा है। कटनी से श्री. गोविन्दप्रसाद शर्मा एवं अन्य सज्जनों ने जिले में जाग्रति के लिये साप्ताहिकों का प्रकाशन किया, परन्तु वे स्थायी न हो सके। छिन्दवाड़ा की भी यही स्थिति रही।

जबलपुर से "प्रकाश" साप्ताहिक निकलता रहा, जो अच्छा प्रयास था। वह अब सांध्य दैनिक हो रहा है। इसके अलावा कई साप्ताहिक-पत्रों के प्रकाशन का भिन्न-भिन्न नगरों से प्रयास हुआ जो क्षेत्रीय जाग्रति के प्रयत्न थे। उनकी उपयोगिता आज भी वैसी ही है।

जबलपुर के एक नवयुवक पत्रकार स्व. मोहन सिन्हा ने अपने अध्यवसाय से सांध्य दैनिक "प्रदीप" की नींव डाली थी। दुर्दैव ने उन्हें असमय में हमसे छीन लिया। अब उनकी मृत्यु के बाद "प्रदीप" यूं ही चल रहा है।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नया प्रयोग श्री वामन गोपाल शेवड़े ने "रहली की चिट्ठी" के रूप में किया। यद्यपि यह प्रयोग असफल हुआ तथापि इससे पत्रकारों की आगामी पीढ़ी अवश्य प्रेरणा ग्रहण करेगी और पत्रकारिता को केवल बड़े-बड़े नगरों और कुछ पढ़े लिखे लोगों की बौद्धिक कसरत का साधन न बनाकर गांव-गांव में उसे फैलावेगी।

इस समय तक इस प्रदेश में अनेक पत्र-पत्रिकायें अस्तित्व में आ गयी है, जिनकी संख्या २०० से अधिक है और इसलिए उन सबका विस्तृत विवेचन यहां सम्भव नहीं। इनमें से अनेक पत्र-पत्रिकायें हिन्दी भाषा में प्रकाशित होती हैं पर अधिकांश आर्थिक संकटग्रस्त हैं। इस अवनति की ओर हिन्दी के शुभचिन्तकों का ध्यान आकर्षित होना चाहिये। हिन्दी भाषा के महत्व और उज्ज्वल भविष्य को देखते हुए हिन्दी के पत्रों को पुष्ट एवं स्थिर बनाना अत्यन्त आवश्यक है

हल्वी भाषा और उसका साहित्य

श्री विनयमोहन शर्मा

हल्वी को हलबा जाति की बोली कहा जाता है। यह जाति छत्तीसगढ़ के अतिरिक्त, चांदा, विदर्भ और दक्षिण में जयपुर जमींदारी तक फैली हुई है। यह जाति जहां-जहां गई, वहां-वहां की स्थानीय बोलियों का अपनी बोली में समावेश करती गई। इस तरह इसके कई रूप हो गए। परन्तु इस बोली को केवल हलबा ही नहीं, बस्तर–कांकेर में अन्य व्यक्ति भी बोलते हैं। सन् १९५१ की "सेंसस रिपोर्ट" (जनगणना प्रतिवेदन) के अनुसार हल्वी बोलनेवालों की संख्या २,६२,८९४ है। इसका आशय यह है कि मध्यप्रदेश की कुल जनसंख्या में इस 'बोली' को १.२४ प्रतिशत व्यक्ति बोलते हैं। १९३१ की जनगणना के समय इसका अनुपात ०.९५ और सन् १९२१ की जनगणना के समय ०.९६ प्रतिशत था। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार केवल बस्तर में २,११४ व्यक्ति, चांदा जिले में १,७६० और बैतूल, दुर्ग, भंडारा, वर्धा एवं यवतमाल में ३२४ व्यक्ति इसे बोलते हैं। इसी रिपोर्ट के अनुसार जो व्यक्ति हल्वी को अपनी मातृभाषा के रूप में बोलते हैं, वे उसी के साथ हिन्दी, गोंडी और छत्तीसगढ़ी भी (सेंसस रिपोर्ट लेखक ने छत्तीसगढ़ी को हिन्दी से पृथक् बतलाने में भूल की है) बोलते हैं। हल्वी बोलनेवालों में ९९.२० प्रतिशत व्यक्ति दो-भाषिये (Bilingual) हैं। (देखिए सेंसस ऑफ इंडिया रिपोर्ट, जिल्द ७, भाग १-ए, पृष्ठ २७४ से २७९)/ ग्रियर्सन को भारतीय भाषाओं का अध्ययन करते समय हल्बी के जो नमूने प्राप्त हुए हैं वे अधिकतर विदर्भ में बसनेवाले हलबाओं के हैं, इसलिये उनमें मराठीपन अधिक है। उन्हें छत्तीसगढ़ की कांकेर रियासत से प्राप्त जो उदाहरण मिले हैं उनमें पूर्वी हिन्दीपन की छाप स्पष्ट है। यह देखकर ग्रियर्सन स्वयं असमंजस में पड़ गये। वे न उसे छत्तीसगढ़ी की उपबोली मानने को तैयार हुए और न मराठी की ही। ग्रियर्सन के यह लिखने के बावजूद हिन्दी की कतिपय भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में इस बोली के सम्बन्ध में भ्रान्त कथन मिलते हैं। हाल ही में प्रकाशित "भोजपुरी भाषा और साहित्य" में डॉ. उदयनारायण तिवारी लिखते हैं, "बस्तर की भाषा वस्तुतः हल्बी है। डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार यह मराठी की उप-भाषा है।" (पृष्ठ १६३) /परन्तु ग्रियर्सन ने तो उल्टी ही बात कही है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि वह उड़िया, छत्तीसगढ़ी, मराठी आदि की एक मिश्रित भाषा है। वे उसे न मराठी की उपभाषा मानते हैं और न छत्तीसगढ़ी हिन्दी की ही उपबोली कहते हैं। वे उसे छत्तीसगढ़ी की उपभाषा मानने को इसलिये तैयार नहीं हैं कि उसमें "ल" प्रत्यय और संबंधवाचक "च" पाया जाता है जो मराठी की विशेषता है।

इस सम्बन्ध में निवेदन है कि "ल" प्रत्यय मराठी की ही विशेषता नहीं है। पूर्वी हिन्दी और बिहारी में भूतकालीन क्रियारूप में "ल" पाया जाता है, यथा मराठी "गेला"—पूर्वी हिन्दी गइल। अब रहा 'च' प्रत्यय। यह मराठी में ही नहीं, पुरानी गुजराती में भी नरसी मेहता के पदों में बहुत प्रयुक्त हुआ है। यह संस्कृत 'त्यत्' प्राकृत 'च्च' से मराठी 'च' बना है। यह कहना कठिन है कि यह पुरानी गुजराती से मराठी में आया या मराठी से पुरानी गुजराती में चला गया। हल्वी में "च" षष्ठी का चिन्ह नहीं है; उसके लिये 'के' भी लगता है। ग्रियर्सन के उदाहरण को आगे उद्धृत किया गया है। उससे यह बात स्पष्ट हो जायेगी। यहां केवल उसके दो वाक्य दिये जाते हैं—यथा :—

(१) बाघ उठलो आउर हुनके (उसका) डावला (पंजा) मुसाफर एकदम पडला।

(२) हुनके (उनके) ढोर को कन्नु कन्नु मारते रेलो।

मराठी में सम्बन्धवाचक में 'के' का प्रयोग कभी नहीं होता।

ग्रियर्सन ने यह भी माना है कि उच्चार-प्रक्रिया, शब्द-भंडार, वचन और सर्वनाम रूपों में हलबी पूर्वी हिन्दी, छत्तीसगढ़ी के समान है। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि 'ल' और 'च' के प्रवेश से ही वे उसे हिन्दी की उप-बोली मानने से क्यों झिझके और उसे विचित्र मिश्र बोली कह कर रह गए। बस्तरी हलबी की कतिपय विशेषताएं ये हैं :—

(१) उसमें केवल दो ही लिंग पुल्लिंग और स्त्रीलिंग होते हैं। यहां भी वह मराठी का अनुकरण नहीं करती। मराठी में उपर्युक्त दो लिंगों के अतिरिक्त तीसरा नपुंसक लिंग भी होता है।

(२) बहुवचन का कोई चिह्न नहीं लगता। पद में 'मन' जोड़ने से बहुवचन बन जाता है, जैसे—बाबा (एकवचन)—बहुवचन बाबामन। बहुवाचक शब्द को जोड़ कर भी बहुवचन बना लिया जाता है, यथा—

खुबझन मुसा (बहुत से चूहे)

मराठी में बहुवचन के चिह्न होते हैं। छत्तीसगढ़ी में भी "मन" जोड़ने से बहुवचन बन जाता है।

(३) **कारक चिह्न—**

कर्ता—ने,	सम्बन्ध—चो, के,
सम्प्रदान—के, को,	अधिकरण—में,
अपादान—ले, से,	

कारक चिह्नों में 'चो' को छोड़कर शेष सब हिन्दी के हैं। 'ले' छत्तीसगढ़ी में अपादान का चिह्न है।

भूतकालीन 'ल' प्रत्यय की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब ग्रियर्सन की 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाग ६ से हलबी का उदाहरण दिया जाता है—

एक दुन बाघ कोनी बन में पडे सोउ रली। एकदम खुबझन मुसा हुनके पास आपलो बिलले निकरलो। हुनके आरोसे बाघ उठलो आउर हुनके डावला (पंजा) एकदुन (एक) मुसापर एकदम पडला। (बाघ) रीस में इलो। बाघ ने हुन मुसा को मारेबर तैयार हो रहिलो। मुसा अर्जी करलो। तुम चो आपन बाट (अपनी ओर) देखो। मोचो वोर (मेरी ओर) देख। मोचो मारले से तुचो का बडाई मीलोते। इतनो सुन बाघ ने मुसा को छोडिन घाती। मुसा ने अर्जी कर लो। वो कहलो, को नी दिन में आमलो येचे दाया का बदला दीहो। हुनके सुन बाघ हंसलो आउर बनबाट गैलो। थोड़े दिन पाछे हुन बन के पास के रहिलो। बीतामन फांदा लगावले। बाघ को फसावलो। क्योंकि हुन हुन के डोर को कल्लु कल्लु मारते रेलो (रहा) बाघ ने फांरी से निकल न रहलो। फेर निकल नहीं सकलो। आखिर हुन (वह) दुख के मारे नरिआवलो (चिल्लाया) हुनी (उस) मुसा ने जिनके बाघ छोडाउन दिले रहलो हुन नरिआलो सुन लो। हुन आपलो उपकार करिया के बोली जानलो आउर खोजत उथा उपरलो हुता बाघ फसा फसा पडला रहलो। हुन आपलो तेज चो दातों से फांदा को कतरलो आउर बाघ को छडावलो।

यह पुराना उदाहरण है। नीचे बस्तरी हलबी के वर्तमान रूप का उदाहरण दिया जाता है:—

हिन्दी अंश—नागपुर में अखिल भारतीय प्रजा समाजवादी पार्टी का जो अधिवेशन हुआ उसकी तुलना यदि समुद्र-मंथन से करें तो अनुपयुक्त न होगा। पहिले विष ही ऊपर आया और उसके मथनेवाले भयग्रस्त हुए। सदस्यों के साथ दर्शकों को भी दुःख हुआ। परन्तु आचार्य कृपलानी ने हंसते-विनोद करते हुए उसका पान कर लिया। एक बार ही दोनों गुटों के वोट गिने गए। जिसके परिणामस्वरूप कृपलानीजी तथा उनकी कार्यकारिणी में बहुमत से विश्वास प्रकट हुआ। इससे कृपलानीजी ने कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाया। वे विषपान कर अध्यक्षपद से अलग हुए।

हलबी में रूपान्तर—नागपुर ठाने प्रजासमाजवादी पार्टी चो, जोन सभा होती, हुनची बरोबरी समंदमंघतो संग करत, कांई बले अडवंग नी होय। बीख पहिले ऊपर इलो अउर हुनचो मंघतो बीता मन डरलों। मेंबर बीता मन के संगे ; दखतो बीता मन के बजे दुजा लागलो। आचार्य कृपलानी हंसुन हंसुन, ठठोली करन, हुन गोंठ मनमें पीडन दीला। दूनों वाट चो वोट ; वोटाक दांभ गिनला। गिनती काजे कृपलानी अउर हुनचो कमेटी स्वकाजे भारी वोट पडुन, विस्वास दखालो। मांतर कृपलानी कांई सुद चो स्वारतनी उठांलो। बीख के, पीडन सभापति पद के छोडलो।

यह वर्तमान हलबी का एक उदाहरण है जिसे जगदलपुर के वकील श्री रविशंकर बाजपेयी ने हमें प्रेषित किया है। इस अंश से बोली के कुछ रूपों की चर्चा की जायेगी।

ठाने——संस्कृत स्थान—प्राकृत—ठान और थान—हिन्दी ठान।

संयुक्त शब्द के प्रारम्भ में बोलियों में प्रायः स का लोप हो जाता है। प्राकृत में ठान और थान दोनों रूप मिलते हैं। संस्कृत की ठान में सप्तमी का "ए" लग जाने से ठाने हो गया। सप्तमी का "ए" रूप पूर्वी-पश्चिमी हिन्दी और मागधी प्राकृतोद्भूत भाषाओं में मिलता है।

चो—यह षष्टी रूप है। इसकी उत्पत्ति विवादास्पद है। इसको उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई जाती है :-
संस्कृत त्यत्—प्राकृत—च्च—मराठी—च। प्राकृत में भी षष्ठी का त्यान्त रूप मिलता है—
संस्कृत—अस्माकम्—प्राकृत—अहमेच्चयं *

कृष्णशास्त्री चिपलूणकर संस्कृत ईय से इसकी उत्पत्ति बतलाते हैं।† पर डा. गुणे ईय से "च" की उत्पत्ति निकालने में कठिनाई अनुभव करते हैं ... ईय इज्ज ज्ज (?) ‡

पर यह प्रत्यय मराठी में बहुतायत से प्रयुक्त होता है। गुजराती में नरसी मेहता के पदों में भी यह पाया जाता है। "नरसैंयाचा स्वामिए मुखड़ करि करि× जसोद रे। " नरसिंह बाललीला। +

जोन—पूर्वी हिन्दी जवन, जौन

होली—भूतकालिक "ल" प्रत्यय, मराठी के अतिरिक्त पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगला और असमिया में भी पाया जाता है। होली में खड़ी बोली हिन्दी धातु "होना" से भूतकालिक रूप "हुई" न बनाकर मराठी और पूर्वीय भाषाओं का "ल" जोड़कर गंगाजमुनी रूप "होली" बना लिया गया है। शुद्ध मराठी रूप होता "झाली"।

हलबी की इस विभिन्नता को देखकर ही तो ग्रियर्सन इसे उड़िया छत्तीसगढ़ी (पूर्वी हिन्दी) और मराठी की खिचड़ी (Admixture) कह कर रह गए।

अउर—(संयोजक पद) स्पष्टतः पूर्वी हिन्दी का रूप है।

(अ) हंसुन हंसुन	(हंसहंस कर)	ये अव्ययी भूतकालिक कृदन्त मराठी के हैं।
(ब) करन	(करके)	
(स) पडुन	(पड़ कर)	

* देखिये, 'यादवकालीन मराठी'—पृष्ठ १८३।
† देखिये 'मराठी व्याकरणावरील' निबन्ध पृष्ठ ६२।
‡ देखिये Comparative Philology, पृष्ठ ३०।
× देखिये 'यादवकालीन मराठी' भाषा पृष्ठ १८४।
+ देखिये वही—पृष्ठ १८४।

मराठी में ऊन महाराष्ट्री प्राकृत ऊण से आया है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी जाती है * —संस्कृत–त्वानम्—त्वीनम्—प्राकृत तार्ण, तूणं और ऊण—अपभ्रंश—एविणु एप्पिणु मराठी–ऊनि ऊन ऊनिया। मराठी में उन का उ दीर्घ (ऊ) है।

कांई—यह राजस्थानी, निमाड़ी, मालवी में 'क्या' के अर्थ में व्यवहृत होता है। यहां कोई के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मराठी में "काही "कोई" अर्थ होता है। सम्भवतः यह कोई मराठी काहीं से "ह" के लोप और 'का' पर अनुस्वार के आगम से बन गया है।

नी—यह निमाड़ी और मालवी (पश्चिमी हिन्दी) में "न" के अर्थ में बहुत प्रचलित है। खड़ी बोली नहीं से "ह" का लोप हो जाने से "नी" बन गया। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार भी लगाई जा सकती है—

संस्कृत—नहि—पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी—नाहीं, नाहि, नहीं —बुन्देली—नई —बस्तरी हलबी, निमाड़ी, मालवी—नीं।

कोष्ठी हलबी—छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले के अतिरिक्त नागपुर की कोष्ठी जाति में भी हलबी बोली जाती है। उपर्युक्त-हिन्दी अंश का नागपुरी कोष्ठी हलबी में हलबी भाषी श्री अनिलकुमार द्वारा किया रूपान्तर नीचे दिया जाता है:—

नागपुर मां प्रजा समाजवादी पार्टी को जो अधिवेशन भयो वो की बरोबरी समुद्र मंथन संग करनेमा कांही हरकत नहीं होणार। पहले जहर बरखा (बरत्या) आयो अन मंथन (घुसलन) करनेवाला डरान्या। सभासद बरोबरच देखनेवाला लोकसुध्दा दुखी भया। पर आचार्य कृपलानी न हसता हसता, मजाक करता करता, वो जहर पीय लेइस। दुयमही पार्टी का मत मोज्या गया। परिणाम अस्यो भयो की कृपलानी अन उंकी कार्यकारिणी मां बहुमत नं विश्वास देखाइस। एक ऽ पासलऽ कृपलानीजी नं आपलो काही फायदा नहीं करीस। वो जहर पीईस अन अध्यक्षपद ल अलग भयो।

उपर्युक्त हलबी अंश के कतिपय शब्दों पर टिप्पणी कर भाषा की परीक्षा करने का यत्न किया जाता है—

मां—यह अधिकरण का चिह्न खड़ी बोली के "में" अर्थ में अवधी में प्रचलित है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार है—

संस्कृत—मध्य—प्राकृत—मज्झहि—पश्चिमी हिन्दी—मांहि—अवधी—मां—हलबी—मां।

भयो—भूतकालिक क्रियापद। पश्चिमी हिन्दी ब्रजभाषा के कन्नौजी रूप में अत्यधिक प्रयुक्त है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार लगायी गई है—

संस्कृत—भवति—प्राकृत—भविग्रो—ब्रज—भयो—हलबी—भयो।

नहीं—खड़ी बोली का रूप है।

वोकी—संबन्धवाचक सर्वनाम है। अवधी रूप वहि कर, वहिकी—बुन्देली–ओकी, बाकी—हलबी—वोकी।

होणार—यह मराठी का भविष्यकालिक क्रियारूप है।

डरान्या—पश्चिमी हिन्दी—खड़ी बोली डरना का भूतकालिक एक वचन डरा, ब्रजभाषा "डरानो" का बहुवचन "डराने" होता है, इसीलिये हलबी में डरान्या बन गया।

लेइस—छत्तीसगढ़ी भूतकालिक क्रियारूप है। अवधी लिहिस—छत्तिसगढ़ी—लेइस।

बरोबरच—यह 'बराबर' का मराठीकृत रूप है। इसके साथ वाक्य में 'च' प्रत्यय खड़ी बोली "ही" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो दक्खिनी और नागपुरी हिन्दी में भी प्रचलित है।

---

* देखिये वही—पृष्ठ २४६।

अस्यो—खड़ी बोली "ऐसे" के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका पश्चिमी हिन्दी में "ऐसो" रूप होता है। यह मराठी "असा" से अस्यो बना प्रतीत होता है।

ल—यह सम्प्रदान प्रत्यय है जो छत्तीसगढ़ी में खूब प्रचलित है। इसकी उत्पत्ति प्राकृत "ले" प्रत्यय से लगायी जा सकती है।

भाषा के व्याकरण-रूप की परीक्षा से निम्न तथ्य प्रकट होते हैं :—

(१) क्रियापदों के सभी भूतकालिक रूप भयो, आयो, डराम्या, लेईस, आदि पूर्वी या पश्चिमी हिन्दी के हैं।

(२) क्रियापद का भविष्यकालिक रूप—होणार—सर्वथा मराठी का है।

(३) बल देने के लिये "ही" के अर्थ में "च" का प्रयोग मराठी का है जिसने नागपुरी और दक्खिनी हिन्दी में प्रवेश पा लिया है।

(४) "भी" के अर्थ में सुध्दा का प्रयोग मराठी का है।

(५) सर्वनाम रूप अस्यो, उंकी और "वो" प्रयुक्त हुए हैं। अस्यो में मराठीपन है और उंकी तथा वो क्रमशः खड़ी बोली के "उनकी" और "वह" के बोलचाल के उच्चरित रूप हैं।

(६) विभक्तियां प्रायः सभी पश्चिमी हिन्दी की हैं। अपादान की 'ल' विभक्ति छत्तीसगढ़ी की है।

(७) कोष्ठी हलबी के अंश में चौहत्तर शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उनमें 'हरकत' शब्द शुद्ध मराठी का है जो आपत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शेष सभी शब्द हिन्दी के हैं अर्थात् संस्कृत के तत्सम या तद्भव हैं। पार्टी, जंतर और मजाक शब्द यद्यपि विदेशी हैं तो भी वे हिन्दी में इतने अधिक प्रचलित हो चुके हैं कि उसी के अंग बन गये हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि बस्तरी हलबी में छत्तीसगढ़ीपन और मराठीपन है; परन्तु मराठीपन इतना कम है कि ग्रियर्सन को स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ा कि इसे मराठी की सच्ची उपबोली नहीं कहा जा सकता। नागपुरी कोष्टी में तो स्पष्ट ही हिन्दीपन अधिक है, परन्तु चान्दा, विदर्भ आदि स्थान में जो हलबी बोली जाती है उसमें हिन्दीपन बहुत कम है। सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार बस्तर के बाहर चांदा जिले के हलबी बोलनेवालों की संख्या अधिक है। चांदा में तेलुगु और मराठी भी बोली जाती है। अतएव चांदा की हलबी पर मराठी का प्रभाव अधिक हो सकता है। परन्तु बस्तर-कांकेर में इसकी संभावना नहीं दिख पड़ती। हलबी भाषा-भाषी तो मराठी को वैकल्पिक अथवा दूसरी भाषा के रूप में बोलते भी नहीं हैं। बस्तर-कांकेर में कभी मराठी भाषा का व्यापक प्रचलन रहा है, ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। इसके विपरीत हिन्दी या हिन्दुस्तानी के व्यापक प्रचार के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। सन् १७६६ में बंगाल के गवर्नर के निर्देश से टी. मोट्टे (T. Motte) ने मध्यप्रदेश के बस्तर-कांकेर होते हुए यात्रा की थी। उसका वर्णन 'अर्ली यूरोपियन ट्रवलर्स इन दि नागपुर टेरिटरीज' (नागपुर क्षेत्रों में प्रारम्भिक यूरोपियन यात्री) में मुद्रित हुआ है। उसमें वह लिखता है-अप्रैल ७....आज प्रातः लगभग ८ बजे मुझसे कहा गया है कि कांकेर का राजा साम सिंह आ रहा है।..........अभिवादन के पश्चात् मैंने उससे उत्तरीय सरकार (नार्दर्न सरकार्स) के मार्ग में पड़ने वाले भू-भाग के सम्बन्ध में प्रश्न किए। राजा ने स्वयं अनेक विविध प्रश्नों के उत्तर दिये। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि राजा हिन्दुस्तानी भाषा बड़ी धारा-प्रवाह-गति से बोल रहा था।* कांकेर और बस्तर हलबी भाषा प्रधान क्षेत्र हैं और वहां का राजा १८ वीं शताब्दी में हिन्दुस्तानी सहज गति से बोल सकता था। हो सकता है वह अपनी मातृभाषा हलबी बोल रहा हो जिसे मोट्टे ने हिन्दुस्तानी समझा हो। हो सकता है, वह हलबी के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी भी जानता हो। हिन्दुस्तानी उस समय भी अन्त-

* "I was surprised to find him speak the Hindustany Language with great fluency." (Early European Travellers in Nagpur Territories—Page 132.)

प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। सन् १७९५ में बंगाल-सरकार ने केप्टिन ब्लंट को कुछ सिपाहियों के साथ बरार-उड़ीसा और उत्तरीय सरकार के बीच मार्ग खोजने के लिए रवाना किया था। वह कोरिया, कांकेर, खैरागढ़-सिरोंचा (चांदा) होते हुए निजाम राज्य की ओर बढ़ गया था। जब वह चांदा जिले में पहुंचा तो मालेवाडा के गोंड राजा से उसकी खटपट हो गई। ब्लंट के पास मराठों का परवाना था जिसकी राजा ने जरा भी परवाह नहीं की। अतः ब्लंट उसे वस्तुस्थिति समझाना चाहता था। वह लिखता है " A man called his Diwan; who spoke a little bad Hindi was the interpreter between us," एक आदमी जो उसका दीवान कहलाता था और जो तनिक गलत हिन्दी बोलता था, हमारे बीच दुभाषिए का काम करता था। (देखिये 'ब्रिटिश रिलेशन विद दि नागपुर स्टेट इन दी [illegible] सेन्चुरी'—पृष्ठ१२६)। ग्रियर्सन के पूर्व छत्तीसगढ़-रियासतों के पोलिटिकल एजन्ट इ. ए. ब्रेट आई. सी. एस्. ने "छत्तीसगढ़ फ्यूडेटरी स्टेट्स" नामक ग्रन्थ में बस्तर की भाषाओं के सम्बन्ध में लिखा है— "Chief Languages used in the State are Hindi, Halvi, Telugu, and the various dialects of Gondi. Halvi is a corrupt form of Chhatisgarhi Hindi and is spoken by over 1,00,000 people in the Northern part of the state where Hindi is also spoken by 21,000" (रियासत में जो प्रमुख भाषाएं बोली जाती हैं, उनमें हिन्दी, हलबी, तेलगु, और गोंडी की विभिन्न बोलियां मुख्य हैं। हलबी छत्तीसगढ़ी हिन्दी का विकृत रूप है और उत्तर भाग के एक लाख से ऊपर व्यक्ति उसे बोलते हैं जहां हिन्दी बोलने वालों की संख्या भी इक्कीस हजार है)। ब्रेट ने ग्रियर्सन के भाषा-सर्वे के पूर्व बस्तर कांकेर की हलबी पर अपने विचार प्रकट किये थे।

सन् १७६६ में युरोपियन यात्री मोट्टे और सन् १६०६ में प्रकाशित छत्तीसगढ़ के पोलिटिकल एजेन्ट ब्रेट के 'छत्तीसगढी फ्यूडेटरी स्टेट्स' ग्रन्थ में हलबी को हिन्दी के अन्तर्गत ही माना है। संभव है, उन्होंने लोगों की बोली सुनकर ही अपनी धारणा बनाई हो। पर ग्रियर्सन ने कांकेर की हलबी के लिखित नमूने की छानबीन की और यह निष्कर्ष निकाला कि यह मराठी की उपभाषा तो निश्चित ही नहीं है पर इसे हिन्दी के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि इसमें सम्बन्धकारक 'च' और भूतकालिक "ल" प्रत्यय पाये जाते हैं जो मराठी भाषा की विशेषता है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि भूतकालीन "ल" प्रत्यय पूर्वी हिन्दी में भी विद्यमान है, अब रह जाता है सम्बन्धकारक "च" प्रत्यय। हलबी में सम्बन्धकारक "च" (चो) प्रत्यय ही नहीं, 'के' प्रत्यय भी प्रचलित है, जो निश्चय हिन्दी का है। यह "च" या "चो" प्रत्यय बस्तर-कांकेर में कैसे और कब से प्रविष्ट हो गया, इस पर भी विचार करना उचित होगा। यदि हलबी लिखित भाषा होती तो उसके प्रवेश का समय साहित्य के अध्ययन से निश्चित हो सकता था। अतः हमें, ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ही अनुमान लगाना होगा।

बस्तर और कांकेर राज्य यों तो बहुत समय तक स्वतंत्र रहे हैं पर जब अठारहवीं शताब्दी में मराठों का उत्कर्ष हुआ और उन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया तब ये रियासतें नागपुर शासन के अन्तर्गत आ गईं। छत्तीसगढ़ में रायपुर और रतनपुर में तो मराठों का सीधा शासन रहा था। पर बस्तर और कांकेर राजाओं से उनकी वार्षिक कर और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता की ही शर्त थी।

सन् १८३० में बस्तर के राजा ने वार्षिक कर के बदले में अपने राज्य का सिहावा परगना नागपुर के शासन को दे दिया था। ऐसी स्थिति में यदि सिहावा में मराठों की सेना के रहने से मराठी भाषा का "च" हलबाओं में "चो" होकर पहुंच गया है तो कौनसा आश्चर्य है? बस्तर से अधिक मराठों का सम्बन्ध कांकेर से रहा है। 'छत्तीसगढ़ फ्यूडेटरी स्टेट्स' में ब्रेट लिखता है "Under Maratha Kanker State was held on condition of furnishing a military contingent of 500 strong whenever needed." (पृष्ठ८) (मराठों के शासन-काल में कांकेर आवश्यकता पड़ने पर ५०० सबल सैनिक देने की शर्त में बंधा हुआ था) सेना में उत्तर और पश्चिम के हिस्से से सैनिक भर्ती होते

थे,जो (पछाहीं होते हुए भी) पुरबिया और मराठे कहलाते थे। छत्तीसगढ़ में मराठों के समय में शासन की क्या व्यवस्था थी, इसका वर्णन सन् १७९५ में ब्लंट नामक अंग्रेज ने किया है—"Their troops, who are chiefly composed of emigrants from the northern and western parts of Hindustan, are quartered upon the tenantry who in turn for accomodation and subsistence they offered them, require their assistance, whenever it may be necessary, for collecting the revenues. (देखिये ब्रिटिश रिलेशन विद नागपुर स्टेट् इन दी एट्टीन्थ सेन्चुअरी, पृष्ठ १३२ और १३३) मराठों की फौजें जिनमें उत्तरी और पश्चिमी हिन्दुस्थान के जवान थे, किसानों के बीच रह कर उनसे लगान वसूल करते और कराते थे। कृषक और सैनिकों की भाषाएं स्वभावतः एक दूसरे से प्रभावित होती रही होंगी।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि—बस्तर और कांकेर जिले की हलबी मुख्यतः हिन्दी भाषा की एक उपबोली है और चांदा तथा विदर्भ के कुछ भाग में बोली जाने वाली हलबी मराठी से आक्रान्त होने के कारण मराठी की उपबोली कही जा सकती है।

बस्तर और कांकेर की हलबी में "च" या "चो" प्रत्यय को छोड़कर प्रायः सभी मुख्य प्रवृत्तियां पूर्वी हिन्दी की पाई जाती हैं। उसमें मराठी का सम्बन्धकारक का केवल "च" प्रत्यय ही नहीं है, हिन्दी का "के" प्रत्यय भी विद्यमान है। ऐसा जान पड़ता है कि उसमें "च" अथवा "चो" प्रत्यय के मराठों के सम्पर्क से प्रविष्ट हो गया है। हलबी का व्याकरणिक ढांचा पूर्वी हिन्दी का है। उसमें समीपवर्ती उड़िया, तेलगु, गोंडी आदि भाषाओं के थोड़े बहुत शब्दों के प्रवेश से उसे अहिन्दी-परिवार की नहीं कहा जा सकता।

छत्तीसगढ़ी बोली

श्री काशीप्रसाद मिश्र

किसी भी बोली का जब लिपिबद्ध रूप हो जाता है और वह काफी बड़े क्षेत्र में एक ही ढंग पर बोली और लिखी जाने लगती है तब वह भाषा कहलाती है। यह भी कोई एकदम बंधा हुआ नियम न समझना चाहिये। एक भाषा की अनेक उपभाषाएं हो सकती हैं और एक बोली की अनेक उपबोलियां। फिर एक ही बोली कभी भाषा भी कही सकती है कभी बोली ही। अवधी राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक बोली मात्र है परन्तु बेला परतापगढ़ी, जौनपुरी, आदि की तुलना में उसे निःसंदेह भाषा मानना होगा। पूर्वी हिन्दी की दृष्टि से छत्तीसगढ़ी केवल मात्र एक बोली ही है क्योंकि यह उसी की एक शाखा मात्र है परन्तु 'लरिया' (सम्बलपुर जिले के पास की छत्तीसगढ़ी) 'खलौटी' (बालाघाट जिले के पास की छत्तीसगढ़ी) आदि के विचार से उसे एक भाषा भी कहा जा सकता है। हिन्दी के नाते तो निश्चयपूर्वक उसे हम एक बोली ही कहेंगे।

जो बोली लिपिबद्ध नहीं होती उसमें जल्दी-जल्दी और थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही परिवर्तन हो जाया करते हैं। छत्तीसगढ़ी की अपनी कोई विशिष्ट लिपि कभी रही ही नहीं। वह यदि हिन्दी लिपि (देवनागरी लिपि) में लिपिबद्ध हुई भी है तो बहुत कम। इसीलिये वह उत्तर की ओर बघेली से, पूर्व की ओर उड़िया से, दक्षिण की ओर तेलगू से और पश्चिम की ओर मराठी से प्रभावित हो गई है। आज यह समस्या है कि छत्तीसगढ़ी का वह कौन सा रूप होगा जिसे हम सर्वसम्मत कह सकें।

जब कि छत्तीसगढ़ शब्द ही आधुनिक है तब उस नाम से प्रसिद्ध "छत्तीसगढ़ी" को इस क्षेत्र की मूल बोली मानना सयुक्तिक न होगा। छत्तीसगढ़ की जातियों का इतिहास भी यह बताता है कि उनमें से अधिकांश बाहर से आई हुई हैं। उनमें से अनेक तो अभी भी घरों में अपनी अपनी विशिष्ट बोलियां बोला करती हैं। पारस्परिक व्यवहार के लिये उन्होंने अलबत्ता उस बोली को अपना लिया जो कदाचित् इस महारण्य के छत्तीसगढ़ के स्वामी हैहयवंशी कलचुरियों की बोलचाल की बोली रही हो अथवा जो उत्तरप्रदेश से आई हुई बहुसंख्यक जातियों की बोली हो। उसी का नाम पड़ गया होगा छत्तीसगढ़ी।

अवधी और छत्तीसगढ़ी का इतना अधिक मेल है कि एक बोली बोलने वाला मनुष्य दूसरी बोली को बड़ी सरलता से समझ लेता है। हमने तो एक उत्तरप्रदेशीय को यह कहते सुना था कि "काबर, कसगा, तोला, मोला, सिरतोन, लबारी, गोकी, बाप की" नामक सूत्र याद रख लिया जाय तो छत्तीसगढ़ी सीखे बिना ही उसे छत्तीसगढ़ी आ जायगी, क्योंकि इतने ही शब्दों का प्रयोग अवधी को सरलतापूर्वक छत्तीसगढ़ी रूप देने के लिये पर्याप्त है। निःसंदेह यह उक्ति की अतिरंजना है परन्तु फिर भी यह दोनों बोलियों के घनिष्ट सान्निध्य का पर्याप्त संकेत तो कर ही देती है।

अवधी और छत्तीसगढ़ी में पर्याप्त साम्य होते हुए भी दोनों में अब पर्याप्त वैभिन्न्य हो गया है। पूर्वकाल में कोसल तो एक ही था परन्तु वही क्रमशः उत्तर और दक्षिण कोसल में विभक्त हो गया। इस दक्षिण कोसल में (छत्तीसगढ़ में) जब उत्तर कोसल की बोली आई या पनपी तब यहां का स्वतंत्र भौगोलिक वातावरण पाकर कालान्तर में वह उत्तर कोसल की बोली से पृथक् होती चली गई और आज वही इतनी पृथक् हो गई है कि उसे अवधी कहा ही नहीं जा सकता।

एक ही बोली जब दो प्रदेशों में बंट जाती है तो प्रदेश-प्रदेश के अनुसार उच्चारण-सौन्दर्य या मुख-सुखता के कारण एक ही शब्द दो तरह बोला जाने लगता है। बोलियों में भेद पैदा करने का यह बहुत बड़ा कारण हो जाता है। संस्कृत फारसी आदि के तत्सम शब्द इसी मुख-सुखता के कारण जगह-जगह अनेकानेक तद्भव शब्दों के रूप में परिवर्तित हो गये और इसी मुख-सुखता के कारण अवधी के शब्द भी छत्तीसगढ़ी में कहीं-कहीं अपना नया सा रूप ले बैठे हैं। कुछ संज्ञा शब्दों का मुलाहिजा हो-जिनका रूप छत्तीसगढ़ी में क्या से क्या हो गया है। पृथ्वी पिरथी बन गई और हृदय हिरदे होगया यह तो ठीक, परन्तु हृष्ठ रोंठ बन गया और सत्य सिरतोन बन गया है। पूंछ लम्बी होकर पूंछी बन गई है और मुंह गोल होकर मूंहु बन गया है। चरित्र चरित्तर होगया और ज्ञान हो गया है गियान। ईंट पत्थर ईंटापखरा बन गये, मूर्ति ने मुरित का रूप ले लिया, स्वयं सँवागे बन गया और गोष्ठी ने गोठ का रूप धारण कर लिया। रुमाल बढ़कर उरमाल बन गया और इच्छा बन गई है हिच्छा। तिसना, सीत और भाखा सरीखे अनेकानेक तद्भव शब्द अवधी और छत्तीसगढ़ी में अपना रूप एक समान बनाए हुए हैं।

संभव है कि किसी एक ही 'अपभ्रंश' से उस ओर अवधी (उत्तर कोसली) का और इस ओर (छत्तीसगढ़ी' (दक्षिण कोसली) का विकास हुआ हो। यहां न तो क्रियापदों में कोई लिंगभेद माना जाता है और न सम्बन्धकारक के चिह्न में ही लिंगभेद विषयक किसी प्रकार की विकृति होती है। 'राम का बेटा' और 'राम की बेटी' के लिये एक ही प्रयोग होगा 'राम के बेटा-राम के बेटी'। 'तू जाता है' और 'तू जाती है' के लिये एक ही प्रयोग होगा 'तै जात हस,'। (इसीलिये तो हिन्दी के लिंगभेद के प्रयोग में कभी-कभी पढ़े लिखे बालक भी असावधानी से विपर्यय कर बैठते हैं और कह उठते हैं 'मेरा मां बाजार गया था और मेरी बाप घर में थी'), यह भारत की पूर्वी बोलियों का बंगला, उड़िया आदि का प्रभाव है। अवधी (बैसवाड़ी) में ऐसी गड़बड़ी नहीं है। छत्तीसगढ़ी में कर्ताकारक के चिह्न स्वरूप 'हर' का प्रयोग होता है जैसे 'मैं' हर जात रहव' 'ओ हर करिस'। इसका अवधी में पता नहीं चलता। इसी प्रकार के अन्य भी कई प्रयोग मिल जायेंगे जो पूर्वोल्लिखित बात की पूर्ति कर सकते हैं।

उत्तर कोसली में जिस प्रकार घोड़ा के घोड़वा और घोड़वना (घोड़ौना--घोड़उना) सरीखे रूप मिलते हैं उसी प्रकार छत्तीसगढ़ी में भी मिल सकते हैं। टोनहा, कछेरिया, नचकार सरीखे शब्द इधर भी संज्ञा-शब्दों से बना लिये जाते हैं। रोना से रोआसी, तैरने से तउराक, गिजर (हंसने) से गिजरा सरीखे क्रियापदों से बने शब्द यहां की बोली में भी पाये जायेंगे, परन्तु तर तम सरीखे तुलनात्मक प्रयोगों के लिये न अवधी में कोई अच्छा पर्याय मिलेगा न छत्तीसगढ़ी में। 'सुन्दरतम' को यहां की बोली में समझाया जायगा "सब्बो ते बढ़ियन निचट सुन्दर"।

यहां की क्रियाओं में भी द्विवचन नहीं होता। उनका वर्तमान कालिक रूप, 'चलना' क्रिया पद के साथ इस प्रकार होगा :—मैं चलत हों, हम चलत हन, तैं चलत हस तुम चलत हौ, ओ चलत है, उन चलत हैं। भूतकालिक रूप इस प्रकार होगा :— मैं चलेव, हम चलेन; तैं चले तुम चलेव; ओ चलिस, उन चलिन। भविष्यकालिक रूप इस प्रकार होगा :—मैं चलिहौं, हम चलब; तैं चलबे, तुम चलिहौ, ओ चलिहै, उन चलिहैं। संदिग्ध रूप इस प्रकार होगा :— मैं चलत होहौं, हम चलत होब, तैं चलत होबे, तुम चलत होहौ, ओ चलत होहै उन चलत होहैं। परन्तु छत्तीसगढ़ी में एक विचित्र बात यह है कि क्रियापदों के व्यवहार में शिष्ट लोगों का प्रयोग अलग रहा करता है और अशिष्ट लोगों का अलग। देहाती चमारों की छत्तीसगढ़ी यदि कोई शहराती दाउओं और पण्डितों के बीच बोलने लगे तो उपहास का पात्र बन जाय। अन्तर देखिये। वर्तमानकालिक रूप अशिष्ट लोगों के बीच इस प्रकार रहेगा :— मैं चलत हवौं, हम चलत हवन; तैं चलत हवस, तुम चलत हवौ, ओ चलत हवे, उन चलत हवैं। भविष्य कालिक रूप इस प्रकार होगा :—मैं चलहूं, हम चलबो या चलबोन, तैं चलबे, तुम चलहू; ओ चलही, उन चलहीं। संदिग्ध रूप इस प्रकार होगा :— मै चलत होहूं, हम चलत होबो, तैं चलत होबे, तुम चलत होहू, ओ या ओहर चलत होही, उन चलत होहीं। भूतकालिक रूप अलबत्ता ज्यों का त्यों मिल जाता है।

छत्तीसगढ़ी में कारक चिह्न प्राय: इस प्रकार होते हैं :—कर्ता में हर; कर्म में का, ला या ला, करण में ले या से, सम्प्रदान में का, ला, ला या बर; अपादान में ले, या से; सम्बन्ध में के; अधिकरण में मां, में या ऊपर; सम्बोधन में गा, गे, हे, ए, श्रो, या अश्रो। हीरालाल काव्योपाध्याय द्वारा लिखित तथा डाक्टर ग्रियर्सन द्वारा अनूदित छत्तीसगढ़ी के एकमात्र व्याकरण ग्रंथ में लिखा है कि "तीस वर्ष पहिले करण या अपादान कारक के चिह्न "ले" का प्रयोग अधिक होता था। अब 'से' के प्रयोग का जोर बढ़ रहा है।" इस व्याकरण को भी लिखे हुए ३४ से अधिक वर्ष व्यतीत होगये। बोली के विकास में तब की अपेक्षा अब और अधिक अन्तर आगया है। उदाहरणार्थ कर्म और सम्प्रदान के "का" की जगह "खा" का प्रयोग ही देख लिया जाय।

बहुवचन के लिये प्राय: "मन" का प्रयोग होता है, जैसे "बइला मन' या श्रो मन' जो कभी-कभी संक्षिप्त होकर बन जाता है 'बइलन" या 'उन' (उन जात रहिन—वे लोग जाते थे)। 'हर' कभी बहुवचन में, कभी आदरार्थ (आदरार्थे बहुवचनम्) में प्रयुक्त होता है और कभी कर्ताकारक एकवचन में, बिना किसी खास मतलब के प्रयुक्त हो जाता है। कदाचित् इसमें कुछ बुन्देली प्रभाव भी सम्मिलित होगया है। निश्चयात्मकता के लिये ही, ठिन, ठन, ठों, ठक, ठिक आदि का प्रयोग होजाता है। बङ्गाली और उड़िया में यही बात टा-टि-टी आदि में देखी जाती है। ही का प्रयोग दूसरे ढंग की निश्चयात्मकता के लिये हिन्दी में सर्व प्रचलित है, जैसे मैं नहीं ही जाऊंगा। इसके लिये छत्तीसगढ़ी में "च" का प्रयोग होता है (जो अवधी की दृष्टि में विचित्र ही सा लगता है); जैसे मैं नहिच जावं। यही संक्षिप्त होकर बन जाता है "मैं" नीच जावं, "भी" के लिये 'हूं' का प्रयोग अवधी में भी है और यहां भी। "महूं अर्थात् मैं भी।

संज्ञा से क्रियापद बनाने के कई सुन्दर उदाहरण छत्तीसगढ़ी में भी विद्यमान हैं। जैसे, गोठियाइस (उसने बात की) उहरियाइस (उसने रास्ता पकड़ा), थपरियाइस ((उसने थप्पड़ लगाये), सथाइस (उसने साथ की), करियाइस (वह काला पड़ गया) इत्यादि। खड़ी बोली हिन्दी में न जाने क्यों यह प्रवृत्ति कुंठित होगई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को चाहिय कि वह छत्तीसगढ़ी का यह गुण अपना ले।

काल-मान का बोध कराने के लिये कुछ सुन्दर शब्द-प्रयोग छत्तीसगढ़ के देहातों में प्रचलित हैं। ब्राह्म मुहूर्त से लेकर निशीथ तक के भिन्न-भिन्न कालमान का संकेत इस प्रकार दिया जाता है :—पहट ढीले के बेर, कुकरा बासत बेर, पहाती, सुआरी नहाए के बेर, खरिखा मढ़ाए के बेर, आगी बारे के बेर, भइंसा अन्धियार के बेर, सोआ परे रात के बेर। बेर या बेला ही को कहीं खनी और कहीं बखत या बेरा भी कह दिया जाता है।

कुछ मजेदार, कहावतों और पहेलियों के नमूने देखिये :—मन माड़ गइस (चित्त स्थिर हो गया—प्रसन्न हो गया), मैं सूत भुलाएव या सूत भुलाए (मैं इतना सो गया कि समय का भान ही न रहा), ओकर सुताई बूता तो देख (देखो तो उसने किस तरह सोने ही को मानो अपना धन्धा बना लिया है—कितना अन्धाधुन्ध सो रहा है वह)। "खस्सू बर तेल नहीं घोडसार बर दिया" (अपनी खाज में लगाने के लिये तो उसे तेल नहीं मिल रहा है परन्तु अश्वशाला तक में दिया जलाने की ठसक दिखा रहा है)। "घूर मा सूतं सरग के सपना" (लेटा हुआ तो है धूल में और कल्पना कर रहा है स्वर्ग के वैभव-विलासों की)।' हपटे बन के पथरा फोरे घर के सील" 'ठोकर तो खाता है वन के पत्थर से और झुंझलाकर बदला लेने की नीयत से फोड़ रहा है अपने ही घर की सिल को)।" "मोर ममा के नौ सौ गाय, रात चरे दिन बेड़े जाय" अथवा "परों भर लाई, गने न सिराई" (इन पहेलियों का उत्तर होगा "तारागण")। माटी के बोकरा चोकरा खाय, थोरे मारे अधिक नरियाय" (उत्तर होगा "मृदंग" अथवा "मांदर बाजा")।

हम पहिले ही कह आये हैं कि छत्तीसगढ़ में व्याकरण ग्रन्थ केवल एक मात्र लिखा गया है और वह भी ३४ वर्ष पूर्व। कोष ग्रन्थ तो नाम मात्र को नहीं है। शिलालेख या ताम्रपत्र इस बोली में लिखा हुआ एक आधा ही मिलता

है। पुराना लिखित साहित्य एकदम नहीं के बराबर है। हाल-हाल में कुछ लोगों ने कतिपय छोटी-छोटी पुस्तकें इस बोली में लिख डाली हैं, जिनमें से कुछ पर्याप्त लोकप्रिय भी हुई हैं। जैसे छत्तीसगढ़ी दान लीला। परन्तु स्थायी साहित्य की दृष्टि से उनका मूल्याङ्कन करना एक समस्या ही है। जनपदीय बोलियों और उनके समुचित विकास की ओर अब कतिपय विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है और समय की गति को परख कर के कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने, तथा आकाशवाणी के संचालकों ने भी, कुछ स्थान छत्तीसगढ़ी के लिये भी सुरक्षित रखना प्रारम्भ कर दिया है। रायपुर से तो हाल-हाल ही में एक काफ़ी अच्छी कोटि की मासिक पत्रिका विशुद्ध छत्तीसगढ़ी ही में निकलने लगी है। अतएव वह दिन दूर नहीं है, जब छत्तीसगढ़ी के सुन्दर-सुन्दर शब्द और प्रयोग समग्र हिन्दी भाषी जनता के समक्ष होंगे तथा वर्तमान हिन्दी की समृद्धि लिखित छत्तीसगढ़ी द्वारा इस भूखण्ड के साधारण जनों तक को सुलभ हो जायगी. परन्तु यह सब लिखने का यह अर्थ नहीं है कि छत्तीसगढ़ी में साहित्यिक चेतना का कभी किसी प्रकार अभाव रहा है। इसमें लिखित साहित्य का अभाव भले ही रहा हो, परन्तु मौखिक साहित्य की सामग्री तो प्रत्येक काल में प्रचुर मात्रा में विद्यमान रही है। इसके ग्रामगीतों की प्रथा, जिसमें कई जगह नई-नई पंक्तियां बना कर प्रश्नोत्तरी के ढँग पर युवकों और युवतियों को तुरन्त के बनाये हुए अपने पद्य सस्वर सुनाने पड़ते हैं; देवारों द्वारा रची और गाई हुई इसकी वीर गाथाएँ; इसकी मनोरंजक तथा कौतूहलवर्धक कहानियां, जिनमें प्रेम और युद्ध की अनोखी-अनोखी घटनाएँ भरी पड़ी हैं; किसी भी प्रान्त के ऐसे साहित्य से टक्कर ले सकती हैं।

छत्तीसगढ़ी का लोक-साहित्य

श्री प्यारेलाल गुप्त

भारतवर्ष के कोने-कोने में शक्ति की पूजा होती है और उसके लिए नया वर्ष अर्थात् चैत्र के प्रथम नौ दिन और फिर ठीक छः माह बीतने पर कुंवार शुक्ल पक्ष के नौ दिन निश्चित हैं। शक्ति की यह पूजा क्या नगर, क्या गांव—सभी जगह होती है। छत्तीसगढ़ का जनजीवन भी इस अवसर पर गीतों के स्वरों में राग-रागनियों को उतारने लगता है। भक्ति का अविराम भक्ति-धारा सारे प्रदेश में गूंज उठती है—

मैया, भुवन को अजब बनायो।
काहे न काट के भुवन बनाये मैया, काहि न काट दुआरे हो माय।
पहिरी फोरि के भुवन बनाये मैया, पाहन फोरि के दुआरे हो माय,
काहे न काटि के ईंट बनाये मैया, काहे न के गिलावा हो माय,
सोनन काटि के ईंट बनाये मैया, चांदिन के गिलावा हो माय,
कै कोसन के भुवन बनाये मैया, कै कोसन चहुं फेर हो माय,
दसें कोसन के भुवन बनाये मैया, बीसे कोसन चहुं फेर हो माय।

"आज शक्ति की स्थापना का दिन है, अतएव उसके लिए भवन बनाने की कल्पना की गई है, जिसकी नींव भरने के लिए पहाड़ फोड़ कर पत्थर निकाले जायेंगे। ईंट स्वर्ण की बनेगी और तरल चान्दी से गारा तैयार किया जायगा। चन्दन के उस चूने से उस भुवन की पोताई होगी, जिसमें अबरक का मिश्रण होगा। भुवन दस कोस का बनेगा और उसकी चौहद्दी बीस कोस की होगी।"

दिन में इस तरह नाना प्रकार की कल्पनाओं में लगा मानव-समुदाय रात को बारह मासा में मस्त हो जाता है। वर्षा ऋतु किसानों के जीवन-धन के रूप में प्रतिष्ठा पाती है। ऊपर मेघों से आच्छादित सघन गगनमण्डल को देख कर उसका मन-मयूर नाच उठता है और उसका कवि जाग जाता है :—

सावन बुंदिया रिमझिम बरसं, भादों गहिर गम्भीर हो माय।
कारी-कारी निसि अंधियारी, बिजुरी चमकि रहि जाय हो माय।
क्वांर महीना नौमी दसहरा, घर घर मानत हंव तिहार हो माय।
कातिक महीना धरम के हो मैया, तुलसा म दियना जलाय हो माय।
अगहन मास अगम के हो मैया, पूसे म लगत हय दुसाला हो माय।
माघ महीना मोरे अमुवा के डारी, फागुन रंग-गुलाल हो माय।
चैत मास बन टेसू फूलें मैया, बैसाखे म जुही नेवारी हो माय।
जेठ मासे घन पतिया पठोये, आवत लगे हो असाढ़ हो माय।

रामनौमी के दिन छत्तीसगढ़ के प्रत्येक गांव तथा नगर में नवरात का जलूस निकलता है। नवरात्र म घट-स्थापन के साथ-साथ, भूमि पर बांस की आयताकार चौहद्दी बना कर अनाज भिगोये जाते हैं, जिन्हें "विरही" कहते हैं, और ये ही पौधे बढ़ कर पीले-पीले अति सुन्दर दिखाई देने लगते हैं, जिन्हें स्त्रियां सजा कर सिर पर रख कर तालाब या

नदी में ठंडा करने जाती हैं। संग में गांव के स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियों का जलूस चलता है। नेवरात को लोग "जंवारा" भी कहते हैं।

चतुर्दिक हरियाली के बीच सावन सुदी नौमी आ जाती है और स्त्रियों तथा लड़कों में हलचल मच जाती है। आज के दिन छोटी-छोटी टोकनियों में अनाज बोया जाता है और देवी के गीत गाये जाते हैं :—

देवी गंगा, लहर तुरंगा,
तुहरे लहर परभू, भीजो आठो अंगा, अहो देवी गंगा।
पानी बिन मछरी, पवन बिन धान,
सेवा बिन भोजली के तरसे प्रान, अहो देवी गंगा।
गंगा हय गहिला, समुन्द चले लहरा,
हमरे भोजलि देवि के, लागे हवे पहरा, अहो देवी गंगा।
माड़ी भर जोंधरी, पोरिस कुसियारे,
जल्दी जल्दी बढ़ो भोजली, होवा हुसियारें, अहो देवी गंगा।

रक्षा-बन्धन के दिन जब भुजलियों का जलूस गाते हुए निकलता है, तब कई गीत गाये जाते हैं। भोजलियां तालाब में ठंडी कर दी जाती हैं और बड़ी रात तक गांव के युवा-युवति, लड़के-लड़कियां भोजली भेंट कर बड़ों के पैर छूते और आशीष प्राप्त करते हैं।

भादों की गणेश-चतुर्थी को गांव के पुराने गौटियों के यहां परम्परा के अनुसार गणेश जी की मूर्ति स्थापित की जाती है। इस अवसर पर विभिन्न वाद्य-यन्त्रों के साथ नृत्य और भजन होते रहते हैं। इन नाच-गानों में जो गीत गाये जाते हैं, वे विभिन्न प्रकार के होते हैं; जैसे—प्रभाती, दादरा, लावनी, भजन, दोहे, आदि। कुछ गीतों का तर्ज उनका अपना आप रहता है। कुछ गवैये अपने गीतों में शास्त्रीय संगीत का भी पुट देने लगे हैं। यहां तक कि सिनेमा गीतों की भी उन पर छाया पड़ गई है। कुछ गीतों में राधाकृष्ण की प्रेम सम्बन्धी लीलाओं का वर्णन विशेष रूप से रहता है। कुछ भक्तिभाव से परिपूर्ण रहते हैं :—

समलिया को आरति लागी हो,
लाल काहेन के दियना करो, काहेन करो बाती हो,
काहेन के तेल जराय के बारों सारी राती हो।
अरे लाल या तन के दियना, मनसा करो बाती,
प्रेम के तेल जराय के बारों सारी राती हो।
अरे लाल सावन-भादों, उहे बरखा रितु आई हो,
स्याम घटा घन घोर के मेघवा भर लाई हो।

इन उत्सवों में कई गीत तो ऐसे गाये जाते हैं, जो विरह-भावनाओं से परिपूर्ण रहते हैं, और जिनसे अन्तर्व्यथा फूटी पड़ती है :—

मोरे पिया गये परदेस, मोरे गुंइया, पिया गइन परदेस,
न कोउ आवें, न कोउ जावें, न भेजिए सन्देश।
काकरवर मैं मेंहदी रचावों, काहे संवारो केस,
काकरवर पकवान बनावों, कइसे सहों कलेस।

पिया बिन मोला* एको न भावे सास-ससुर के देस,
खोजेवर उनला मैं जाहौं धर बैरागिन भेस।
ठेंवत रहियें ननद जेठानी लगिस करेजवा मा ठेंस,
महुरा† खाके मैं सुतजाहौं‡, मिटही मोर कलेस।

गीत कुछ ऐसी तल्लीनता से, कुछ ऐसे करुणापूर्ण और दर्दभरे स्वरों में गाया जाता है कि लोगों की आंखें भर आती हैं। उनके तबले की मन्द ठनक और मंजीरे की सुरीली झलक की सम्मिलित स्वर-लहरियां सारे वातावरण को वियोग-जन्य मधुर पीड़ाओं से भर देती हैं।

देखते-देखते चैत्र मास समाप्त हो जाता है, पर छत्तीसगढ़ के पार्वतीय-प्रदेश में सवेरे काफ़ी ठंड पड़ती रहती है। महुवे के फल टपकने लगते हैं। उन्हें बीनने के लिए टोकनी लिए कितने नवयुवक और नवयुवतियां महुओं के पेड़ों के नीचे जा पहुँचते हैं। महुआ बीनते-बीनते "ददरिया" का स्वर गूंजने लगता है। ददरिया—गीतों की रानी है। इसे कुछ लोग साल्हो भी कहते हैं। इसे बहुधा लोग सम्वाद के रूप में गाया करते हैं। पुरुष तथा स्त्री दोनों इसमें भाग लेते हैं। प्रातःकाल प्रकृति के हरित परिधान की ओट से नीली साड़ी के घूंघट-पट को धीरे-धीरे खोलते हुए ऊषा के आरक्त मुखमण्डल की पहिली झलक की शोभा के साथ ही कोई नारी स्वर हृदय को छू लिया करता है—

करं मुखारी करौंदा रूख के,
एक बोली सुनादे आपन मुख के।

तत्काल उसी ढंग की लम्बी तान में दूसरी ओर से पुरुष-कण्ठ उत्तर देता है:—

एक ठिन आमा के दुई फांकी,
मोर आंखिच आंखी झुलथे तोरेच आंखी।

ददरिया में शृङ्गार के अतिरिक्त राष्ट्रीय-गीतों का बाहुल्य पाया जाता है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और देश के लाड़ले जवाहरलाल जी को लेकर कई छत्तीसगढ़ी-ददरियां बन गई हैं। ददरिया में मानव-हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक आधार पर सुन्दर चित्रण होता है। वे रहस्य और जीवन के जीवित-तत्त्वों से भरे रहते हैं।

फागुन मास लगते ही सारे प्रदेश में मस्ती छा जाती है। आम बौर उठते हैं और कोयल का राग वन-प्रदेश को झंकृत करने लगता है। गांवों के आदिमवासियों में भी मस्ती छा जाती है। वे नयी धोतियां और पगड़ियां खरीदते और लकड़ी के पुराने डंडों में तेल लगाते हैं, कोई-कोई नये डंडे भी बनवाते हैं। वर्ष में दो बार वे डंडा नाचते हैं—पहिली बार कुंवार में और दूसरी बार फागुन में डंडा नाच कुछ अंशों में गुजरात देश के "गरबा नृत्य" के सदृश होता है। मुख्य अन्तर यही है कि डंडा—पुरुषों का नाच है और "गरबा" स्त्रियों का। डंडा नाच में पुरुष-गण गाते जाते हैं और उसी की लय में अपना डंडा दूसरों के डंडों पर मारते हैं, जिनकी एक सी सम्मिलित ध्वनि बड़ी अच्छी लगती है। एक आदमी "कुहीं" कह कर कुहकी पाड़ता है। इस संकेत पर नाचने वाले अपनी गति बदल देते हैं और वे मण्डलाकार खड़े हो जाते हैं। तब मुखिया डंडों और मांदर की ध्वनि पर पहिले वन्दना करता है:—

पहिली सुमिरौं गनपति गौरा, दूसर महदेवा,
फेर लेव गुरु के नांव।
कंठ बिराजे सरसती माता भूले अच्छर देय बताय,
जो अच्छर सुधि बिसरहौं। लइहौं गुरु के नांव।
पाटी परा ले मोती भरा ले, झुमका लू रे मज पाट,
रैया रतनपुर अनमन जनमन गौने जाय मलार।

* * * *

---

*मुझे। †विष। ‡सो जाऊंगी।

तरिहारी नाना मोर ना ना री ना ना
कुम्हरा के बोले, भंया मितनवा
मोर बर घैला गढ़ देय (उइ) (संकेत ध्वनि)
सब बर गढ़बे ऐसन तैसन
मोर बर मन चित लाय (उइ)
गघरी के नांव गागर मती कइना (कन्या)
गुंडरी नगमत नांव (उइ)
दहरा के नाव बिछल मत दहरा
ठमकत पनिया जांय (उइ)
गुड़री गघरिया घठोंदा मढ़ाये, रोये हंडा पुकार।

छत्तीसगढ़ में, अन्य प्रान्तों की तरह होली का बड़ा महत्त्व है और सच पूछिये तो होली का वास्तविक मज़ा गांव के नैसर्गिक वातावरण में ही मिलता है। इस त्योहार के समय गांवों में जो चेतना मिलती है, वह नगरों में दुर्लभ है। छत्तीसगढ़ में विजयादशमी के अवसर पर नये चावल का और होली के अवसर पर नये गहूँ का नेवज या नवान्न खाते हैं। रात को "होले डांड़" में गांव के बाल-युवा-वृद्ध सभी लोग उपस्थित होते हैं और खूब नाच-गाना होता है—

बजे नगारा दसों जोड़ी, हां, राधा किशन खेलंय होरी।
दूनो हाथ धरे पिचकारी, धरे पिचकारी, धरे पिचकारी,
रंग गुलाल सबे बोरी; हां, राधा.....
दुचुवा, दहिया बचं न पाइस, ओहू मा रंग दिहिन घोरी, हां, राधा.......
सब सखियन मिल पकड़ किशन ल, वही रंग मा दे बोरी, हां राधा.......
तब राधा मुसकाय कहिन हां, अउ खेलिहा तूं होरी, हां, राधा........

फिर तो धुलेंडी मच जाती है। कीचड़, गोबर, राख कुछ नहीं बचने पाता।

होली की तरह दीवाली का त्योहार भी छत्तीसगढ़ में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है और यहां का सारा लोक-जीवन एक साथ मुखरित हो उठता है। स्त्रियां पैरों में महावर लगा कर और रंग-बिरंगे कपड़ों से अपना शृङ्गार कर नृत्य करती हैं। नृत्य के समय वे दल बना कर घूमती हैं। एक स्त्री के सिर पर छोटी सी टोकरी रहती है, उसमें अनाज के ऊपर मिट्टी के दो सुवे (तोते) बने रखे रहते हैं, जो कपड़े से घूंघट के नीचे मुख की तरह ढांक दिये जाते हैं। यह टोकनी बीच में रख दी जाती है और समस्त स्त्रियां दो दलों में बँट उसे मण्डलाकार घेर लेती हैं। अर्द्ध गोलाकार खड़े होकर पहिला दल गाने लगता है और दूसरा दल अर्द्ध गोलाकार की अवस्था में ताली बजा कर नाचने लगता है। जब दूसरा दल खड़ा होकर गाता है तो पहिला दल झुक कर तालियां बजाते हुए नाचता है। गीत का एक नमूना देखिए—

जाओ रे सुअना चन्दन वन, नन्दनवन आमा गौद लइ आव,
नारे सुआ हो आमा गोद लइ आव।
जाये बर जाहौं आमा गौद बर, कइसे के लइहौं टोर,
गोंड़न रेंगिहा पंखन उड़िहा, मुंहे म लइहा टोर,
लाये बर लाहौं आमा गौदला, काला मैं देहौं धराय,
गुड़ी म बैठे मोर बंधो रैया, पगड़िन बेहा अरभाय,
कैसे के चिन्हिहौं तोर बंधो रैया, कैसे के देहौं अरभाय,
अंग ओके पातर मुंह दुरदुरिया, चूहं मेछन के रेख।

यह सुआ-गीत है और छत्तीसगढ़ के कण्ठगीतों की परम्परा में सुआ-गीत का अपना विशिष्ट स्थान है। इन गीतों में वैसे तो विभिन्न रसों का सुन्दर परिपाक रहता है, पर विशेष रूप से इसमें करुण रस का समावेश होता है। सुआ गीत में मिट्टी के सुवे का विशेष स्थान है। एक सुआ महादेव का और दूसरा पार्वती का प्रतीक है। इसी टोकनी को लेकर आदिमवासी स्त्रियां घर-घर घूमतीं, गातीं और नाचती हैं और चावल, तेल तथा पैसे एकत्र कर दीवाली में गौरा-ब्याह का उत्सव मनाया जाता है। दीवाली की रात को शिव-गौरा का ब्याह होता है। मांदर और मंजीरे बजने लगते हैं। स्त्रियां "पर्रा" में लाई और दीपक रख कर, गाती हैं—

महादेव दुलरू बन आइन, छिवरी गौरा हांसिन हो,
मैना रानी रोवे लागिन, भूत परेतवा नाचन हो।
चंदा कहां पाया दुलरू, गंगा कहां पाया हो,
सांप कहां पाया ईसर (ईश्वर), कावर भभूत रमाया हो।
गौरा बर हम जोगी बनेन, अंग भभूत रमायन हो,
बैला ऊपर चढ़ के हम तो, बन बन अलख जगायेन हो।
अचहर पचहर लहर पटोरना, बछवा डाइज देइन हो,
हार नौलखा पाइन गौरा, महादेव मुसकाइन हो।
आंवर होगे भांवर होगे, आइन बरा सोंहारी हो,
गौरा महादेव सामी जी, हमर बाप महतारी हो।

और कई गीत मांदर के साथ गाये जाते हैं। उसी की धुन में नृत्य भी चलता है। गीत और नृत्य दोनों की तर्जें बदलती रहती हैं। तीसरे दिन धूमधाम के साथ मूर्तियों का जलूस निकाला जाता है। इसमें मांदर की धुन पर कुछ स्त्रियां बाल खोले हुए "झूमतीं" हैं और कुछ मर्द भी। मर्दों के हाथ-पैर पर सांट (रस्सी) मारी जाती है, पर वे चीं तक नहीं करते। फिर वे मूर्तियां तालाब के जल में ठंडी (प्रवाहित) कर दी जाती हैं और सब तालाब में स्नान कर के घर लौट आते हैं।

कातिकी एकादशी के दिन छत्तीसगढ़ के रावत फूले नहीं समाते। गांव भर के सारे रावत एकत्र होकर बाजे की धुन में, लाठी ऊँची कर के या हवा में घुमाते हुए एक विशेष अदा के साथ नाचने लगते हैं। इस नाच को छत्तीसगढ़ के कुछ भागों में "अहिरा" अर्थात् "अहिरा नाच" भी कहते हैं। रावत जाति का मुख्य व्यवसाय "गौ-पालन" है। ये अपने को श्रीकृष्ण जी का वंशज मानते हैं। दीपावलि के अवसर पर गोवर्द्धन की पूजा के दिन से इनका नाच आरम्भ होता है पर छत्तीसगढ़ के उत्तरीय भाग में रावतों का यह महान्-उत्सव कातिकी-एकादशी से आरम्भ हो पूर्णिमा तक और कभी-कभी दो-एक दिन बाद तक चलता रहता है। ये रावत, जिन लोगों की गाय चराते हैं, उनके यहां सदल बल नाचते हुए पहुँचते हैं और दुधारू गायों के गलों में "सुहई" बांध दोहा पढ़ते हैं :—

धन गोदानी भुंइया पावा, पावा हमर असीस
नाती पूत ले घर भर जावे, जीवा लाख बरीस।

"सुहई" पलास जड़ की छाल से बनती है। इसे गाय का रक्षा-बन्धन समझिए। रावत जाति का दूसरा गीत है, बांस-गीत। रावत अपने को श्रीकृष्ण जी का वंशज मानते हैं और उनकी बांसुरी के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हैं। इनके प्रियगीत "बांस-गीत" के गायन के साथ, क़रीब दो हाथ लम्बी, मोटे बांस की बनायी हुयी बांसुरी, जिसे ये "बांस" कहते हैं और जिससे भों-भों की आवाज बजाने पर निकलती है, बजाई जाती है। "बांस-गीत" भी विभिन्न रसों एवं भावों से भरा होता है।

छत्तीसगढ़ के जन-जीवन में करमा गीत का बहुत बड़ा स्थान है। दंत कथा है कि "कर्म" नामक कोई राजा था, उस पर विपत्ति पड़ी, उसने मानता मानी और नृत्य-गान शुरू किया, जिससे उसकी विपत्ति दूर हो गई। उसी समय से करमा-नृत्य गीत प्रचलित है। वास्तव में यह नृत्य-गीत लोगों के हृदय का उल्लास प्रकट करता है। रात्रि के समय जब मशाल के प्रकाश में मांदर की थापों के साथ करमा का गान होता है तो ऐसा लगता है कि प्रकृति के कंठ से निकले हुए यही बोल सच्चे हैं, जो टेढ़े-मेढ़े भी हैं, अटपटे भी हैं, समझ में आते भी हैं, नहीं भी आते। इन गीतों में एक मस्ती, एक तोड़, एक जिन्दादिली, एक संगीत और एक अद्भुत सरसता के दर्शन होते हैं।

ओ हो हो ऽऽऽ रे हाय ऽऽऽ रे,
कलप-कलप के धरती रोवे, भिन देखिहा मोला,
एक दिन अवसर आही, तोप देहूं तोला,
जिनगी के नइये भरोसा रे। (इत्यादि)।

* * * *

विवाह गीतों की परम्परा में छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों का अपना अलग स्थान है। ये गीत वैवाहिक अवसरों के अतिरिक्त अकती के त्योहार के समय भी सुनने को मिलते हैं। उस समय छोटी-छोटी लड़कियां अपने पुतरा-पुतरियों का ब्याह रचाती हैं और लोक-जीवन की एक सुन्दर झांकी उपस्थित करती हैं। मंडप छाते समय सारी लड़कियां गा उठती हैं—

नवा बन के हम कनई मंगायेन, बृन्दावन के बांसे हो।
वही बांस के हम मड़वा छायेन, छू गय धरती अकासे हो।

अर्थात्—नये वन की कनई (बांस की कोमल डालियां) और वृन्दावन से बांस मंगा कर हमने ऐसा मंडप छाया जिसने धरती से आकाश को छू लिया।

जब बारात आने लगती है, तो कोमल कण्ठ फिर दूसरे राग उतारने लगते हैं। बारात के द्वार में आते ही "मण्डप-गान" आरम्भ हो जाता है—

समधिन के टुरवा खबर लुये आइस, ओला गड़गै खदर-बन के खोंभा।
लानि देवे तें भइया बसुला वो बिधना, हेरि देवे ओकर तन के खोंभा।

अर्थात्—समधिन का पुत्र (दूलह) घास काटने गया तो उसकी देह में घास की फांसें गड़ गईं। उन फांसों को निकालने के लिए, है कोई भाई, जो बसूला और वींधना (काठ छीलने और छेदने के हथियार) ले आवे और उन फांसों को निकाल दे।

इस गीत में हास्य-रस का कितना सुन्दर समावेश हुआ है। जिस फांस को निकालने के लिए छोटी सी सुई चाहिए, वहां बसूला और बिधना मंगाये जा रहे हैं।

शादी की अन्य रस्में जब पूरी हो गई तो भांवरें पड़ने लगती हैं। इस अवसर पर प्रश्न तथा उनके उत्तरों से भरे हुए कल्पनापूर्ण अनेक गीत गाये जाते हैं। विवाह का अन्तिम और सबसे करुण समय होता है—बेटी की बिदा का। महात्मा कण्व से वैराग्यप्राप्त व्यक्ति भी जिस अवसर पर अपना संतुलन नहीं रख सके, तब अन्य संसारियों का कहना ही क्या? डोले पर दूलह-दुलहिन सजा कर बिठा दिये गये और वधू पक्ष की सारी लड़कियां तथा स्त्रियां सिसक-सिसक कर रो पड़ीं।

पांचों भाई के एक ठिन बहिनी, ओ मोरें भाई,
में तो जावत हों धियरी डकेल।

दाई-ददा के इन्दरी जरत हय, भौजी के जियरा जुड़ाय,
ओ मोरे बीरन, भौजी का जियरा जुड़ाय ॥१॥
भन रो तैं धियरी, तैं भन रो मोर बिटिया,
तोला दैइहौं मैं तिलरी (स्वर्ण आभूषण) गढ़ाय।
आइन कहां ले ये बटमारन जावत हंय डोलवा फंदाय,
हां मोरे दाई जावत हंय डोलवा फंदाय ॥२॥
गोई के अंगना म एक पेड़ लिमुवा, ओ मोरे दाई,
पंछी करत हंय बसेर, ओ मोरे धियरी,
पंछी करत हंय बसेर ॥३॥
दाई के अलौरिन औ ददा के दुलौरिन।
ओ मोरे बीरन, गरब टूटत हय ससुरार,
हां मोरे दाई, गरब टूटत हय ससुरार ॥४॥

अर्थात्—कौन इसका अर्थ समझावे? सब की आंखों से गंगा-जमुना बह रही थी। उन्हें वह दृश्य स्मरण हो आया, जब उन्होंने अपनी अपनी प्यारी बेटियों को विदा किया था।

बालक के जन्म पर सर्वत्र बड़ी धूमधाम से उत्सव मनाया जाता है। स्त्रियां विविध प्रकार के गीतों से नवजात शिशु और उसकी माता की आयु की कामनायें करती हैं। इन गीतों को "सोहर" के नाम से पुकारा जाता है। एक उदाहरण देखिए—

पहिली महीना जब लागे, अंग फरियाये हो, ललना,
अंग पियर मुंह हुर हुर, गरभ केइ लच्छन हो।
दूसर महीना जब लागै, सासु गम पाइय हो, ललना
जउनी गोड़ पछुआय, जिया सतलायेव हो।
तीसर महीना जब लागे, ननंद मुसकायेव हो, ललना
होइहैं लाल कन्हैया, पंचलड़ पावब हो।
चौथे महीना जब लागै, सासु पुलकायव हो, ललना
होइहैं बंस रखवार, मोतियन माल लुटइहौं हो।
पांच महीना जब लागे, बहू माटी खायेव हो, ललना
पान बीरा न सुहाय, सिट्ठा मुख लागेयव हो।
छय महीना जब लागै, पिया के पग लागयेंव हो, ललना
आवौं न सेजिया तुम्हार, अंग मोर भारीय हो।
सात महीना जब लागै, सासु कर जोरेय हो, ललना
न अब भीतर अमांव, दारुन दुःख होवेय हो।
आठ महीना जब लागै, आठो अंग भरिआयें हो, ललना
कस पहिरै पट चीर, न संभरे संभारेव हो।
नव महीना जब लागे, सासु सोवै अंगना हो, ललना
पीरा कब उठ जाय, पैंकहिन बुलवायेंव हो।
दस महीना जब लागै, जन्मै लाल कन्हैया हो, ललना
बजत हय अनंद बधैया, सखियन मंगल गावेंय हो।

भावार्थ—पहला मास जब लगा, तब गर्भिणी के सब अंग मोहक लगने लगे, मुंह पीला-पीला और उतरा सा दिखाई देने लगा, जो गर्भ धारण करने के लक्षण हैं।

दूसरे मास में सास को बहू के गर्भ स्थिर हो जाने का निश्चय होगया क्योंकि गर्भिणी बहू दाहिने पैर को चलते समय पीछे उठाने लगी और उसका जी मतलाने लगा था।

तीसरा महीना जब आरम्भ हुआ, तब ननंद मुसकुरा उठी। सोचने लगी यदि भगवान की कृपा से लाल पैदा हो गया तो पांच लड़ की सोने की माला मिलेगी।

चौथा मास लगने पर सास हर्ष से पुलक उठी। कहने लगी—वंश का रखवार पैदा होगा तो मोतियों की मालाएँ लुटाऊँगी।

पांचवें मास में गर्भिणी चूना मिट्टी (कैलशियम की कमी से) खाने लगी। उसे पान का बीड़ा भी अच्छा नहीं लगता था और मुंह सीठा-सीठा लगता रहता था।

छठे मास में वह पति के पैर पकड़ कर कहने लगी—"मुझे क्षमा करना, अब मैं आपकी सेज पर नहीं आ सकूंगी, मेरे अंग मुझे भारी-भारी लगते रहते हैं।"

सातवें मास के लगने पर वह सास को हाथ जोड़ कर कहने लगी—"मां! अब मुझे भोजन बनाने में बड़ा कष्ट होने लगा है, अतएव मुझे इस काम से छुट्टी दीजिए।"

आठवें मास में गर्भिणी के सारे अंगों में स्थूलता आ गई, उसे कपड़ा पहनना भी कठिन हो गया, कस कर पहनने पर भी कपड़ा बार-बार खिसक जाता था और संभाले नहीं संभलता था।

नवां मास जब लगा तब सास आंगन में सोने लगी। न जाने कब प्रसव की पीड़ा उठ जाय और पैंकहिन (दाई) बुलवानी पड़े।

दसवें मास में लाल पैदा हो गया, आनन्द बधैया बजने लगी और सखियां मंगल-गान गाने लगीं।

किसी भी साहित्य में वहां के लोक-जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाले गीतों के बाद कथा-कहानियों और कहावतों तथा बुझौवल का नम्बर आता है। छत्तीसगढ़ का जन-जीवन सदा उल्लास और उमंग के वातावरण में झूलता रहता है। रात को अंगीठी के पास प्रायः प्रत्येक घर में, बड़ी-बूढ़ियों के मुंह से विभिन्न प्रकार की शिक्षाप्रद और परी देश की कहानियां सुनी जा सकती हैं। ये कहानियां वहां के दैनिक-जीवन और समाज का सुन्दर चित्रण करती हैं। एक छत्तीसगढ़ी कहानी सुनिये :—

"एक गांव मा एक झन मोटियारी गोंड़िन रहिस। ओकर बाप महतारी सब्बे मर गये रहिन, फेर वे गोंड़िन बड़ चतुरा रहे। पूंजी पसरा घलो ओकर पास बने रहिस श्री बोला बिहाये बर कतको झन गोंड़ आइन फेर ओहर रजुवावे नइ करे। ओहर कहे—जौन मोला हरो देही तेकरेच संग बिहाव मे करिहौं। ये गोठल सुनके कतको झन ओकर इहां आइन फेर ओकर ले पार नइ पाइन।

"ओ हर का करे के जब कोनो सगा आवें तो गोड़ धोये बर पानी मढ़ा दे श्री कहे—"जांव दाई, पहुना आगवे हँव, उन् कर खावेव पीयाये बर चांउर-कोदई उधार-बाढ़ी मांग लावों। मुरही तो आंव, न कोनो कमैया न धमैया।" पहुना ल ऐसे सुना के जो बाहिर निकरे तो फेर तभेच घर लहुट के आवे जब पहुना हर असकिटिया के घर ले चल दे।

"एक दिन एक झन गोंड़ अइसे परन करके ओकर घर आइस के ये छोकरी ल हरोइच के लहुटिहौं। गोंड़िन हर ओला देखिस तो झटकुन खटिया ला दसा दिहिस और एक लोटा पानी सामू म मढ़ा के कहिस—"ये ला सगा, गोड़ धोवा श्री खटिया म बैठा। मैं हर पारा परोस ले चांउर-कोदई उधार लेके आवत हंव जब फेर जेवन बनाहौं।" ऐसे कहिके ओहर घर ले निकर गै श्री परोस म जाके बैठ गै।

"फेर वो गोंड़ नइच टरिस। परोस के भितिया के छेदा ले गोड़िन हर घेरी बेरी देखे तो कभू वो गोंड़ सुते दिखे, कभू भकाभक चोंगी पियत दिखे, कभू ढोला मारू के गीत गावत रहे। अइसने करत करत सांझ होगय। तो गोंड़िन हर खिसिया के अपने घर लहुट आइस अउ बड़ थकता सांही अंगना म बैठ के कहे लगिस—"जर जाय ये गांव दाई, न मांगे ले एक मुठा चांउर मिले, न एक गड़ी नून। अब सगा आगये हंय तेला खवावों तो खवावों कहां ले।"

"गोंड़ हर ये बात ल सुनिस तो थर थर कांपे लागिस। गोड़िन पूछिस—"तूं कावर कांपथा सगा, जर ताप चढ़त का?" गोंड़ हर कांपतेच कांपत कहिस—"सगा, मोला जर जूड़ कुछू नई चढ़ै, फेर तुंहर इहां के दूठन सांप ला देख के मोला डर लागत हय तेकर सेती कंपकंपासी आवत हय।"

"सांप! मोर घर एक्को ठन सांप नइये, सगा, तूं लबारी मारत हा।" गोड़िन हर अकबका के कहिस।

"हे सगा, तुंहर घर के भीतरी म दो ठन लम्मा लम्मा करिया कुसियार कोनहर म माड़े हय तइसे लम्मा वो सांप मन हंय, औ ओकर दांत तो तुंहर पडला म पातर चांउर रखे हय तैसने उज्जर उज्जर दिखत हय, औ उन्कर आंखी तो तुंहर मटकी म मसुरी दार धरे हय तैसने जुगजुग बरत हय।" ऐसे कहिके गोंड़ मुसकी ढारे लागिस।

"गोड़िन, गोंड़ के चलाकी ल सुन के मने मन बड़ खिसियाइस, फेर, उपरछवां हांस के कहिस—"मोर सुआ म मोर घर के फटिका ल उघार के मोर सब्बो जिनिस ल देख डारेय तो बने करेय। ये ल कुसियार, चूहा। तल चल में जेवन बना के रावत हंव।"

"गोड़िन जब रांध पसा के परसे बर थारी मड़ाइस तो देखथे तो मरकी म पीये बर पानी नई रह। "पानी लेके आवत हंव" कहि के वोहर तरैया चल दिहिस औ भटकुन पानी लेके आगे। फेर दार-भात औ साग थारी म परस के गोंड़ ल खाये बर बलाइस। गोंड़ हर पिढ़वा मा बैठ के देखिस तो दार म घीव डारेच नइ रहै। तो कहिस—"सगा, घीव बिना तो मोर कौरा नइ उठय। चिटिक यक घीव हरेतिस तो दे देतेय।"

गोड़िन कँदरा के कहिस—"मोर अनाथिन इहां घीव कहां पाहा सगा, बनी भूती कर के तो जिनगी चलावत हौं।"

"गोंड़ कहिस—"ऐसे करा सगा, मैं ये दे आंखी मूंद लेथौं और तूं वो छींका के थिउहा ठेकवा ल उतार के मोर थारी ऊपर उलट देहा अउ कहि देहा—"ये दे घीव परुस दिहौं" तो फेर मैं आंखी ल उघार देहौं अउ खाये लगिहौं। का करौं सगा, बिना घीव के मोर टोंटा म कौरा नइ धंसै तौन पाय के मैं तुंहला अतका दुख देत हंव।"

"गोड़िन कहिस—"ये मा का दुख हवे सगा! ल भाई, तुंहर मन मढ़ाये बर जइस कहिहा तइसने च करिहौं।" ऐसे कहिके वोहर छींका ले घीव के ठेकवा ल उतार के गोंड़ के थारी म ढरका दिहिस तो भकभकोवन ढेकवा के जम्मा घीव थारी म लिकवा गय। गोड़िन के मुंह सुक्खा परगै। वोला का गम के वो हर जब पानी लिहे बर तलैया गये रहिस तो गोंड़ हर छींका ले घीव के ढेकवा ल थागी ऊपर मड़ा के टछला दिहे रहिस।

"गोंड़ मने मन गजब हांसिस। ऊपर ले कहिस—"भइगे सगा, येदे मैं अब जेंवत हंव।" अइसे कहिके वो हर भात दार घीव साने लागिस।

"गोड़िन देखिस के ये गोंड़ हर तो बड़ चतुरा हय, अकेल्ले अकेल्ला अतेक सुग्घर गाय के घीव ल दार भात म सान के खा डारिही तो वो हर कहिस—"सुना सगा, हमर घर के रीत हवे के कोनो सगा पहुना आथे तो घर के मनखे हर ओकर संग बैठ के खाथे।"

"गोंड़ कहिस—"ये तो बने बात आय सगा, आवा न दूनो झन संग म बैठ के खाई।"

"गोड़िन हर गोंड़ के संग म खाये बर बैठ गय तो देखिस के जम्मा घीव ओकरे उहर वोहाय गये हय तो वो हर कहिस—"सगा, हमर एक झन परोसी के हाल ल तो सुना। वो मन दू भाई रहिन। गंज झगरा लड़ाई होंय तो पंच

मन बांटा खोटा करा दिहिन औ बीच अंगना म ये दे ऐसे भितिया उठा के वोहू ल बांट दिहिन।" अइसे कहिके गोड़िन हर बारी के जम्मा धीव ल अपन डहर वोहवा के भात के पार बांध दिहिस भितिया सांही।

"गोंड़ बड़ चतुरा रहे। श्रो हर कहिस—"सगा, त तो एक भाई के निस्तारे बंद हो गइस होहय। ये दे अइसे भीतिया के बीच म दुआरी रख देतिन तौ दून झन के निस्तार हो जातिस।" अइसे कहिके गोंड़ हर भात के पार म एक ठिन अंगुरी ले दुआरी बना दिहिस तौ जम्मा घीव वोहर के गोंड़ डहर आ गय।

"गोड़िन देखिस के ये गोंड़ ले पार पावब अघात मसकुल हय तौ श्रो हर दार-भात घीव जम्मा ल एकके म सान के कहिस के "सगा, अब तो दूनों झन के झगरा टूट गये हम अउ दूनो झन एक्के हो गये हँय।"

"गोंड़ हर हांस के कहिस—"तो सगा, तुंहर हमर झगरा चलो टूट गये हय श्रौ तूं हम दूना चला एक्के हो जाई।" अइसे कहिके श्रो गोंड़ हर एक कौंरा भात अपना हाथ ले गोड़िन ल खवा दिहिस श्रौ श्रो गोड़िन हर एक कौंरा भात दार गोंड़ ल खवा दिहिस। श्रौ बिहान भये दूनो झन के बिहाव होगे।" आशा है, हिन्दी के पाठक को इस कथा के भाषान्तर की आवश्यकता न होगी।

आश्चर्य है कि इन लोक गीतों, लोक-कथाओं और कहावतों के बनाने वाले अज्ञात कवियों तथा लेखकों का हम विस्मरण कर गये हैं। पुरातन काल से चला आ रहा वह लोक-साहित्य हमारे हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपयोगी और मूल्यवान अंग है। अनजान युग से लेकर आज तक अनेक हाथों में पड़ कर भी वह ज्यों का त्यों बना हुआ है, क्या यही हमारे लिए कम गौरव की बात है। छत्तीसगढ़ के प्रत्येक नागरिक को इस पर गर्व है और यह कहते हुए वह—अनुभव करता है "हमर कतका सुन्दर गीत, जैसे सुरुज कमल के पीत।"

बुन्देली बोली

श्री उमाशंकर शुक्ल (नागपुर)

बुन्देली भाषा की सीमा इस तरह है–पूर्व में पूर्वी हिन्दी की बघेली शाखा, उत्तर में पछांही हिन्दी की कन्नौजी और ब्रजभाषा–बोलियां, पश्चिम में राजस्थानी की मालवी या निमाड़ी बोली और दक्षिण में मराठी का प्रभाव है। यों तो प्रदेश के मराठी जिलों में जो उत्तरप्रदेश के निवासी बस गये हैं—उनकी बोलियों पर भी मराठी का खासा रंग चढ़ गया है—जिसके कारण नागपुर, भंडारा, चांदा तथा विदर्भ के अंचल में नागपुरी हिन्दी चल गई है उसमें मुहावरे और शब्दों के प्रयोग में भी स्पष्ट भिन्नता देख पड़ती है। वास्तव में बुन्देलखण्डी हिन्दी बोली की एक मधुर शैली है उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म कलात्मक और भावप्रवणता करने की सुन्दर क्षमता भी है। उसका सीधा सम्बन्ध ब्रजभाषा और खड़ी बोली के साथ है। पश्चिमी हिन्दी की पुत्री होने के नाते बुन्देलखण्डी ने सबसे अधिक विशेषता, आनुवंशिक रूप में शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश से तथा पश्चिमी हिन्दी से समृद्धि पायी है।

बुन्देलखण्डी की सामान्य विशेषतायें—पूर्वी भाषाओं में जहां लघु उच्चारण वाला "ए" और "ओ" होता है वहां बुन्देलखन्डी में "इ" और "उ" होता है। जैसे—चुड़िया, घोड़िया। हिन्दी की परिभाषाओं में संज्ञा के ५ रूप होते हैं—जैसे —अकारान्त, आकारान्त, ओकारन्त, वाकारान्त और अन्तमें "आना" तथा "औना" से अन्त होनेवाले शब्द जैसे घोड़, घोड़ा, घोड़ो, घुड़वा—घुड़ओवा, घुड़ोना। ब्रजभाषा के समान बुन्देलखण्डी में भी प्राय: अकारान्त पुल्लिग शब्द—ओकारान्त हो जाता है। जैसे तुमाओ। पर सम्बन्धसूचक शब्दों में वह विकार नहीं होता—जैस दादा, काका, बाबा का रूप—दद्दा, कक्का, और बब्बा प्रचलित है। बोली में जो स्त्रीलिंग शब्द "इन" प्रत्यय लगाने से बनते है, वे बुन्देली में "नी" प्रत्यय लगाने से बनते है। जैसे—बरऊ से बरौनी, नाऊ से नाऊनी। ओकारान्त तद्भव संज्ञाओं का विकारी रूप ए वचन में "ए" और बहुवचन में "अन" होता है। जैसे पूनो का पूनें और पूनन। दूसरी प्रकार की पुल्लिग संज्ञायें एक वचन में नहीं बदलती, किन्तु विकारी रूप के बहुवचन में अन्त में "अन" आ जाता है। जैसे—लड़का, लरकन। कुछ अकारान्त शब्दों का बहुवचन "ऐ" से भी बनता है। जैसे—गाय का गैया, बात का बतियां, छांय का छैया। इया से अन्त होने वाले स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन 'इयां' और विकारी बहुवचन 'इयन' लगाने से बनता है। जैसे—अमिया, अमियां, और अमियन। दूसरे प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों का कर्त्ता बहुवचन में 'ये' लगाने से बनता है जैसे—'बहुयें'। इकारान्त शब्दों के बहुवचन में 'ई' और विकारी बहुवचन में 'अन' व 'इन' प्रत्यय लगता है। जैसे—लुगाई, लुगाईं और लुगाइन। बुन्देली के कारक खड़ी बोली के समान ही करीब-करीब होते है।

कर्त्ता विकारी—ने, नें	सम्बन्ध—को, के, की
कर्म सम्प्रदान—कों और खो	अधिकरण—में, मं, मै
करण अपादान—से, सें, सों	

'हम' के लिये यहां सभी व्यक्तियों में अपन शब्द चलता है और 'मैं' के लिये हम शब्द का प्रयोग होता है।

बुन्देलखण्डी में क्रियार्थक संज्ञा (Verbal Noun) की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। जैसे बुलौआ '(बुलाना किया) बधाये (बधावा)।

बुन्देलखण्डी के अधिकांश तद्भव शब्द काल-भेद के कारण ही अनेक प्रकार के ध्वनि परिवर्तन से युक्त दिखाई पड़ते हैं जैसे—छबि का छव, राजति का राजत, शोभित का सोहत। स्थान-भेद के कारण बुन्देलखण्डी भाषा के शब्दों की ध्वनि में विशिष्ट परिवर्तन दिखलाई पड़ता है जो कि उसकी, बहिनों अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली में नहीं मिलता। जैसे—छीना, भीमना और खीव। इनका रूप खड़ी बोली में क्रमशः छूना, भूमना और खूब मिलता है। खड़ी बोली के कुछ अकारान्त शब्दों को ईकारान्त करने की प्रवृत्ति बुन्देलखण्डी भाषा में स्थान-भेद के कारण दिखाई पड़ती है।

विजातीय सम्पर्क के कारण बुन्देलखंडी भाषा के कुछ शब्दों के उच्चारण में ध्वनि-परिवर्तन दिखाई पड़ता है, जैसे—मराठी जाति के सम्पर्क के कारण 'हां' का उच्चारण 'हव' होता है।

राजनीतिक परिस्थिति के परिवर्तन के कारण शब्दों की कुछ ध्वनियों में विशिष्ट परिवर्तन हो जाते हैं, जैसे—कालेज, कांगरेस।

बुन्देलखंडी में दोनों शब्दों में 'आ' की ध्वनि 'अ' और आ' के बीच की ध्वनि है। इसी तरह की कई और नई ध्वनियां बुन्देलखंडी में आई हैं। मुसलमानों का यहां राजनीतिक केन्द्र नहीं रहा इसलिये यहां इस्लामी-प्रभाव दिखाई नहीं देता है, फलतः फारसी भाषा के शब्दों का प्रवेश बुन्देलखंड में बहुत कम हुआ है। उर्दू की ध्वनियां बुन्देलखंडी भाषा में प्रायः खटकने लगती हैं। ये तो खोजने पर भी न मिलेंगी।

बुन्देलखंड शिक्षा की दृष्टि से बहुत ही पिछड़ा हुआ है। इसलिये यहां के लोगों का सांस्कृतिक स्तर अब तक नहीं उठ सका है। इसलिये यहां के लोगों ने प्रमाद, अज्ञान, असावधानी, आदि के कारण बहुत से शब्दों की ध्वनियों में विशेष प्रकार का परिवर्तन कर दिया है।

उपर्युक्त कारणों से भाषा में विशेष प्रकार का ध्वनि-विकार होता है। आन्तरिक कारणों से सामान्य प्रकार का ध्वनि विकार होता है, जिसके ऊपर आगे विचार किया जावेगा। वर्ण विपर्यय, वर्णलोप, वर्णागम, अक्षरलोप, असावर्ण्य, सावर्ण्य, संधि तथा एकीभाव, मिथ्या सादृश्य जनित ध्वनि परिवर्तन तथा वर्णविकार आदि भाषा के भीतर सामान्य प्रकार का ध्वनि परिवर्तन उपस्थित करते हैं। इन ध्वनि परिवर्तनों के कारण उच्चारण की शीघ्रता, असावधानी, प्रमाद, अशक्ति, अज्ञान, सुख-दुःख, मिथ्या सादृश्य आदि हैं। अब इन में से एक-एक का उदाहरण आगे दिया जावेगा।

वर्ण-विपर्यय—वर्ण विपर्यय नामक ध्वनि-परिवर्तन वक्ता के प्रभाव, अज्ञान, उच्चारणशीघ्रता, असावधानी आदि के कारण होता है। इस प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन प्रायः अशिक्षित लोगों में ही अधिक होता है। लोक-गीतों का सम्बन्ध प्रायः जनपद जनता से है। इसलिये इसमें वर्ण विपर्यय के उदाहरण अधिक मिलते हैं। जैसे—सुसरार, सुसर (स्वर विपर्यय)। हते, भुदकी (वर्ण विपर्यय)।

वर्ण लोप—प्रत्येक शब्द में बल केवल एक ही वर्ण पर होता है शेष निर्बल होते हैं। निर्बल वर्ण प्रायः लुप्त हो जाते हैं। जैसे—दूलह का दूला। यहां बल 'दू' वर्ण पर है। 'ह' निर्बल वर्ण है इसलिये लुप्त हो गया।

उच्चारण की शीघ्रता अथवा असावधानी कभी-कभी दो सजातीय ध्वनियों में से किसी एक को लुप्त कर देती है। जैसे—मुकुट का मुकट। कभी-कभी मुख-सुख के लिये लोग नामों को संक्षिप्त कर देते हैं। इसमें कुछ वर्ण लुप्त हो जाते हैं। जैसे—कन्हैया का कनैया। कभी-कभी अज्ञान वश भी वर्णलोप हो जाता है, जैसे—अनोखे का नोखे, चाहत का चात।

अक्षर लोप—अक्ष-रलोप में उच्चारणशीघ्रता अथवा असावधानी के कारण दो सजातीय अक्षरों में से एक लुप्त हो जाता है। जैसे—राम ध्याई का राम धई।

वर्णागम—प्रत्येक प्रकार के आगम में स्वर-व्यंजन अथवा अक्षर का आगम किसी शब्द के आदि मध्य, अथवा अन्त में मुखसुख अथवा सुविधा के कारण होता है। किसी-किसी शब्द में कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजन आते हैं कि उनके उच्चारण में जब साधारण को असुविधा प्रतीत होती है इसके निवारणार्थ स्वर व्यंजन अथवा अक्षर का आगम होता है। जैसे—

स्त्री का तिरिया। बलिवर्द का बरदा (बैल)। माता का महतारी। कीर्ति से कीरति, ब्रज का बज्जुर आदि। मात्रा की कमी के निमित्त भी कभी-कभी कविता में वर्णागम होता है। इसकी प्रवृत्ति लोकगीतों में अधिक मिलती है।

जैसे—ससुर का ससुरा, दूध का दूधा।

कभी कभी अभ्यासगत पटुता के कारण भी आगम होता है। जैसे किसी शब्द में कठिन ध्वनि का आगम उच्चारण की सुविधा के कारण नहीं हो सकता उसका एक मात्र कारण अभ्यासगत पड़ता है जैसे। उम्र का उम्मर।

बुन्देलखंडी ब्रजभाषा के पश्चात् भारतवर्ष की दूसरी मधुरतम भाषा मानी जाती है। भाषा को मधुरतम बनाने के लिये कोमल वर्णों को शब्दों के भीतर रखने की आवश्यकता है। ये कोमल वर्ण या ध्वनि शब्द के अन्त में प्रत्यय के रूप में या दो संयुक्त व्यंजनों के बीच स्वर के रूप में आती है।

जैसे—बाबा का बाबुल, आजा का आजुल, फूल से फूलवा।

असावर्ण्य—असावर्ण्य का कारण मुखसुख है। कभी-कभी जब दो या सजातीय ध्वनियां एक ही भाषणावयव से उच्चरित होती हैं तब उनके उच्चारण में भाषणावयव के एक होने के कारण उलझन या थकान सी प्रतीत होती है तब उस में से एक वर्ण जो सबल होता है वह निर्बल वर्ण लुप्त कर देता है या परिवर्तन कर देता है। जैसे—मुकुल से मौर।

सावर्ण्य—सावर्ण्य का कारण मुखसुख अथवा सुविधा है। कभी-कभी विभिन्न स्थानों से उच्चरित होने वाले दो व्यंजनों के बीच इतनी अल्प विवृति रहती है कि उनके उच्चारण में असुविधा होती है। अतः सबल ध्वनि 'पुरु' या पर ध्वनि को अपने अनुसार परिवर्तित कर लेती है। फलतः दोनों ध्वनियां एक ही अथवा अति निकटवर्ती स्थान से उच्चरित होने के कारण सुविधापूर्वक उच्चरित हो जाती हैं।

जैसे—बाबा से बब्बा, बज्र से बज्जुरा, लावण्य से नोनो, दादा से दद्दा।

संधि तथा एकीभाव—संधि तथा एकीभाव का मूल कारण मुखसुख है। कभी-कभी किसी शब्द के उच्चारण में दो स्वरों के बीच की विवृति को अथवा मध्य व्यंजन को लुप्त कर देने से सुविधा होती है और कभी-कभी दो निकटवर्ती ध्वनियों में से एक के प्रभाव से दूसरी परिवर्तित हो जाती है तत्पश्चात् दोनों संधि नियम के अनुसार मिलकर एक हो जाते हैं।

जैसे—गमन—गवन—गौना। अवगुण—अवगुन—औगुण।

मिथ्या सादृश्य—मिथ्या सादृश्य जनित ध्वनि परिवर्तन का मूल कारण अज्ञान और प्रमाद है। विदेशी शब्दों की व्युत्पत्ति अथवा वर्ण विन्यास से अपिरिचित होने के कारण उनके उच्चारण में अशिक्षित जनता को असुविधा होती है। उस असुविधा के निवारणार्थ साधारण जनता ज्ञात वस्तुओं के आधार पर उनका उच्चारण करने लगती है। जैसे—फरफंद शब्द दंद-फंद मुहावरे के फन्द के आधार पर बना है।

वर्ण-विकार—वर्ण-विकार किसी भाषा में मुखसुख, असावधानी, प्रमाद, अशक्ति, अज्ञान आदि के कारण होता है। कभी-कभी भाषा की विशिष्ट प्रवृत्ति भी वर्ण विकार का कारण बन जाती है तथा कभी-कभी वर्ण विकार में ध्वनि परिवर्तन के बाह्य कारण जैसे—जलवायु, प्राकृतिक स्थिति आदि भी क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं। जैसे—नर्मदा का नरबदा, व्यथा का बिथा, चिड़िया का चिरइया (भाषा की कोमलीकरण की प्रवृत्ति के कारण) काग को

कमवा, वल्लभ को बलम (भाषा की विशिष्ट प्रवृत्ति से 'भ' का 'म' हो गया है) 'य' के स्थान पर 'ज' का विकार होता है।

वर्ण का बरन होता है (इसमें ध्वनि परिवर्त्तन का बाह्य कारण है क्योंकि शौरसेनी प्राकृत में 'ण' पाया जाता है)।

बुन्देलखंडी में 'व' या 'ब' का 'म' हो जाता है। जैसे—वहां का मांय और बौर का मौर।

बुन्देलखंडी में अंतिम तथा मध्य के 'ह' वर्ण को लोप करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है। कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति महाप्राणवर्ण को अल्पप्राण करने के रूप में दिखाई देती है।

अंतिम 'ह' का लोप करने की प्रवृत्ति—जैसे—काहू का काऊ, चाहें का चाय, रही का रई, रहें का रयें, नहीं का नई।

मध्य का 'ह' लोप करने की प्रवृत्ति—पहुंची—पौंची, रहत का रेत या रात, कहत का कात, कचहरी का कचेरी, सुहरी का सौरी।

महाप्राण को अल्पप्राण करने की प्रवृत्ति—सीधा का सूदो, पाहुना का पाउनो, बिहार का बिहार।

बुन्देलखंड में अंतिम 'ल' को 'र' करने की प्रवृत्ति है जैसे— काले को कारे, ब्यालू को ब्यारु, थाली का थारी, कलेजा का करेजा, निकाल का निकार, जाल का जार। बुन्देलखंडी में ध्वनि-परिवर्तन की यह विशेषता भाषा की विशिष्ट कोमलीकरण की प्रवृत्ति के कारण आ गई है।

अपश्रुति—शब्दों और रूपों की रचना में स्वर का बल कभी मूल प्रकृति (Base root) से प्रत्यय पर और कभी प्रत्यय से प्रकृति पर जाया करता है। इस बल के कारण स्वरों में भिन्न-भिन्न प्रकार का परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को अभिश्रुति या अपश्रुति कहते हैं। अपश्रुति के कई उदाहरण मिलते हैं। जैसे व्यथा से बिथा। इस बिथा शब्द में 'य', 'इ' में परिवर्तित हो गया है। इसका मूल कारण यही है कि बल 'य' के ऊपर है। सम्प्रसारण के नियम के अनुसार 'य' इ में परिवर्तित हो गया है। इसी नियम के अनुसार 'द्वन्द्व' शब्द 'दोंदना' के रूप में परिवर्तित हो गया है। सम्प्रसारण नियम के अनुसार 'द्वन्द्व' का दुंद हुआ और फिर संधिकरण के नियम के अनुसार द्वन्द्व का दोंद हुआ। क्रियार्थक संज्ञा बनाने के लिये 'ना' जोड़ कर दोंदना बनाया गया है। 'अमृत' शब्द में प्रधान बल 'ऋ' के ऊपर है इसलिये गुण के नियम के अनुसार अमृत से अमरत हो गया।

स्वराघात—शब्द के किसी हिस्से पर या वाक्य में किसी शब्द पर जो बल पड़ता है उसे स्वराघात कहते हैं। स्वराघात दो प्रकार के होते हैं सुर तथा बल। बल में श्वास की सारी शक्ति बल से बोले जाने के कारण उसी ध्वनि पर खर्च हो जाती है अतः वह स्वर सबसे अधिक ध्वनि से बोला जाता है और उसका पड़ोसी स्वर मौन हो जाता है। बल से उच्चरित होने वाला स्वर श्वास की सभी शक्तियों को चाहता है इसलिये वह अपने पड़ोसी स्वर के लिये श्वास की बहुत ही न्यून अथवा नास्ति रूप में शक्ति छोड़ता है। बुन्देली भाषा में बलात्मक स्वराघात बहुत मिलता है। बलात्मक स्वराघात के कारण दीर्घ वर्ण ह्रस्व तथा ह्रस्व वर्ण दीर्घ रूप में उच्चरित होने लगता है। जैसे तपासी से तापसि। यहां दीर्घ वर्ण स्वराघात के कारण ह्रस्व हो गया है क्योंकि बल प वर्ण के 'अ' स्वर के ऊपर पड़ता है इसलिये श्वास की सारी शक्ति 'अ' पर खर्च ही जाती है। अतएव 'स' वर्ण के दीर्घ 'ई' के लिये श्वास शक्ति बहुत कम बचती है तभी उसका उच्चारण ह्रस्व रूप में होता है। इसी प्रकार मथुरा का उच्चारण मथरा, जमुना का जमना, लई का लइ, एक का इक हो जाता है अर्थात् दीर्घ स्वर ह्रस्व में परिणित हो जाते हैं। कविताओं में कभी-कभी संगीतात्मकता के लिये कभी-कभी छन्दों में मात्रा की पूर्ति के लिये ह्रस्व स्वर का दीर्घ स्वर हो जाता है। इसका मुख्य कारण स्वराघात ही है। जैसे—दूध से दूधा, ससुर से ससुरा, गैल से गैला।

सुर—सुर कभी धातु, कभी प्रत्यय कभी उपसर्ग पर रहता है। सुर, प्रभाव रूप में स्वर की प्रकृति (Nature) को बदल देता है। प्राय: यह संवृत को विवृत और विवृत को संवृत कर देता है। इस सुर प्रधानता के कारण भाषा में संगीतात्मकता आजाती है। सुर का प्रभाव स्वरापश्रुति के प्रसंग में पहले दिखाया जा चुका है। सुर के ही प्रभाव के कारण गीतों में अमृत का अमरत और व्यथा का बिथा रूप में परिवर्तन हो गया है। इस सुर की प्रधानता से भाषा में मधुरता आ जाती है।

बुन्देलखंडी लोकगीतों में अर्थ परिवर्तन के कुछ उदाहरण-प्रत्येक भाषा में शब्दों की शक्ति घटती-बढ़ती रहती है। इस प्रकार के परिवर्तनों का कारण भी जनता का अज्ञान, भ्रम, मिथ्या-सादृश्य, प्रकार लाक्षणिक प्रयोग, ध्वन्यात्मक प्रयोग, उपचार आदि हैं। अर्थ परिवर्तन के कुछ उदाहरण तो बुन्देलखंडी में मौलिक ही हैं और कुछ दूसरी भाषा में मिलते हैं।

अर्थापदेश—जैसे 'सुगर' शब्द 'सुघर' से बना है जिसका अर्थ दूसरी बोलियों या प्रान्तीय भाषाओं में शारीरिक गठन या शारीरिक सौंदर्य 'सुगड़' या (Symmetrical beauty) से है। पर इन गीतों में 'सुगर' शब्द का प्रयोग चालाक के लिये हुआ है। अर्थापदेश के सिद्धान्त के अनुसार मूल अर्थ लुप्त होकर दूसरा अर्थ हो गया है। अर्थ परिवर्तन के इसी सिद्धान्त के अनुसार 'कसकत' शब्द जोकि खड़ी बोली, भोजपुरी आदि में चुभने के लिये या पीड़ा देने के लिये होता है वही बुन्देलखंडी में पसीजने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका मूल कारण यही हो सकता है कुछ शब्द एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में प्रयुक्त होने पर अपना अर्थ बदल देते हैं।

कहीं-कहीं बोलियों में अच्छे अर्थ रखने वाले शब्दों के भी बुरे अर्थ हो जाया करते हैं। इस प्रकार के अर्थ परिवर्तनों में अर्थापकर्ष का सिद्धान्त निहित रहता है। अर्थापकर्ष में कभी-कभी अतिशयोक्ति के कारण अपना बल कम कर देते हैं या गोपनीय भावों या अर्थों को व्यक्त करने के कारण अच्छे शब्द भी अपना गौरव खो बैठते है। बुन्देलखंडी में इसी प्रकार का 'राजा' शब्द है जोकि प्रिय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है चाहे वह प्रेमी हो या प्रेयसी। इसी प्रकार महाराज पंडित, महाजन और भैया आदि शब्द भी अपने मौलिक अर्थ से च्युत हो गये हैं और उससे बुरे अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

प्राय: जब शब्द उत्पन्न होते हैं तो उनमें बड़ी शक्ति होती है। उनका अर्थ बड़ा सामान्य और व्यापक होता है। पर दुनियां के व्यापारों में पड़कर जनता के अज्ञान अथवा असावधानी के कारण वे संकुचित हो जाते हैं। जैसे 'सपरलो' इस मुहावरे का अर्थ उत्तर प्रदेश में निवृत्त होने से है जिसमें शौच स्नान आदि भी सम्मिलित हैं। बुन्देलखंड में इसका प्रयोग केवल स्नान करने के लिये होता है। इसी प्रकार 'नोनी' शब्द भी है जो 'लावण्य' शब्द से बना है और जिसका अर्थ होता है सब नाटकीय रमणीयता या अच्छाई किन्तु गीतों में इसका प्रयोग केवल एक देशीय अच्छाई के लिये हुआ है।

कभी-कभी वातावरण की भिन्नता के कारण भी अर्थ बदल जाता है जैसे प्रजापति का प्रयोग बुन्देलखंड में कुम्हार के लिये होता है। कभी-कभी द्रव्य वाची शब्द जब अमूर्त्त अर्थ, भाव या गुण के लिये प्रयुक्त होता है तब उसके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इन प्रयोगों में प्राय: लाक्षणिक शक्ति काम करती है।

जैसे 'हाथी' मूर्त्तिवाची शब्द है परन्तु यह गीतों में विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है इससे इसका अर्थ बदल गया है यहां हाथी शब्द का अर्थ बड़ा या महान से है।

कभी-कभी शब्दों के प्रयोग में ढिलाई के कारण अर्थ बदल जाता है। अनपढ़ जनता में इस प्रकार की ढिलाई की सम्भावना रहती है। जैसे द्वन्द शब्द का अर्थ है शारीरिक या मानसिक द्वन्द्व पर बुन्देलखंडी गीतों में दोंदना शब्द शारीरिक शक्ति सम्बन्धी जबर्दस्त तथा झूठे आरोप के लिये प्रयुक्त हुआ है।

कभी-कभी व्यक्तिवाचक नाम भी अपने गुणों के कारण जनता में जाति वाचक रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं जैसे गंगा रामायण आदि। भारतवर्ष में कोई भी पवित्र नदी गंगा के नाम से पुकारी जाती है चाहे वह कृष्णा कावेरी, गोदावरी

हो। बुन्देलखंड में किसी भी नदी तालाब या झरने में स्नान करते हुये लोग वहां गंगा शब्द का ही प्रयोग करते हैं मानों वे गंगा में ही स्नान कर रहे हों।

जैसे—सपरलो गंगा जु की झिरिया हो।

इस पंक्ति में झिरिया शब्द का अर्थ छोटे-छोटे कुण्ड या झरनों से है पर गंगा जी में वह झिरिया तो नहीं होती।

बुन्देलखंड में ही इस तरह के झरने मिलते हैं इसलिये यहां गंगा शब्द का अर्थ विस्तृत हो गया है। भाषा के शब्द भंडार में अर्थोपकर्ष के उदाहरण कम मिलते हैं। यही बात जन-भाषा के लिये भी कही जा सकती है। किसी शब्द का अर्थ उत्कर्ष की अवस्था को अपने भीतर छुपे हुये किसी अर्थांश को उत्कृष्ट करके प्राप्त होता है जैसे—मुग्ध शब्द संस्कृत में सुन्दर या मूढ़ अर्थ को पहले देता है। किन्तु अब हिन्दी में मुग्ध शब्द में तनिक भी बुराई नहीं रह गई है, केवल अच्छाई रह गई है। बुन्देलखंडी गीतों में 'छैला' शब्द अर्थोपकर्ष के उदाहरण को बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है। 'छैला' शब्द का अर्थ पहले छलने वाले से था किन्तु बुन्देलखंडी गीतों में नायिका अपने सजे हुये नायक के लिये करती है। इसी प्रकार बतराना शब्द भी अर्थोपकर्ष का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'बतराना' शब्द का अर्थ बातचीत करना है जिसे हम लोग भाषा में गप्प करना कहते हैं किन्तु गीतों में 'बतराना' शब्द बातचीत करके समझाने या प्रसन्न करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

बुन्देलखंड का लोक साहित्य

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

बुन्देलखंड नाम का कोई पृथक् प्रदेश नहीं है और न पूर्व काल में ही कोई राजनैतिक इकाई के रूप में कभी उसका जुदा अस्तित्व रहा है। इतिहास प्रसिद्ध 'यजुर्होति प्रदेश' जो गुप्त काल में 'जेजाकभुक्ति' नाम से '(जुझौती) प्रसिद्ध था और जो विशेषत: विन्ध्याटवी में स्थित होने के कारण विन्ध्याचल खंड के नाम से भी सम्बोधित हुआ है तथा जिस कवि कुलगुरु कालिदास ने दशार्ण-देश (धसान नदी का देश) वर्णित किया है—वही प्रदेश अब लगभग चार-पांच सौ वर्षों से बुन्देलखंड कहलाने लगा है। यह भूभाग भारत के मध्यभाग में स्थित यमुना, नर्मदा, चम्बल तथा टोंस नदियों द्वारा वेष्टित तथा उसके उन समीपवर्ती जिलों तक विस्तृत है जहां बुन्देलखंडी बोली बोलने वाले लोग बसते हैं। भाषा ही जनपदों की खरी कसौटी है। एक बुन्देलखंडी बुझौवल में इस प्रदेश की सीमा का निर्धारण किया गया है—

> भैंस बंधी है ओरछा पड़ा हुशंगाबाद।
> लगवैया* है सागरे, चपिया † रेवापार।

इस बुझौवल का उत्तर 'बुन्देलखण्डी' ही हो सकता है। इस भू-भाग की संस्कृति समान है। व्रत-उत्सव, तीज-त्योहार, सभी जगह एक से मनाये जाते हैं। जो कजलियां महोबा, चंदेरी, ग्वालियर और कालिंजर में बोई जाती हैं वही सागर, मंडला और सिगौरगढ़ में भी। कजली की लड़ाइयां सभी जगहों में ढोलक की आवाज़ के साथ पूर्ण उत्साह के साथ गाई जाती हैं। ददरीं, फागें, दिवारीं; भगतें, भजन और वैवाहिक गीत सभी जगह एक ही से सुनने को मिलते हैं। बरात चाहे झांसी में लगे या सागर में, दमोह में लगे या होशंगाबाद में सभी जगह बरात लगाते समय "कहना के बड़े कोटिया जिन कोट उठाये" गीत आपको सुनने को मिलेगा। आल्हा भी आप सब जगह सुनेंगे। आल्हा, ऊदल, छत्रसाल और महारानी दुर्गावती की स्मृति आज भले ही धुंधली पड़ गई हो पर हरदौल लाला के चबूतरे हमारे गांव-गांव में बने हुए हैं—जो हमारी सांस्कृतिक एकता को एक सूत्र में बांधे हुए हैं।

इस भूखंड ने वैदिक तथा पौराणिक काल से लेकर बौद्ध, गुप्त, नाग, चंदेल, बुन्देला, यवन और अंग्रेजी राज्य के उत्थान तथा पतन को देखा है।

बृहत्तर बुन्देलखंड की सीमा समय-समय पर राजाओं की सत्ता के अनुसार घटती-बढ़ती रही है। महाराज छत्रसाल के समय की बुन्देलखंड की सीमा इन पद्यों द्वारा दरसाई गई है।

> इत जमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टोंस।
> छत्रसाल सों लरन की, रही न काहू हौंस॥
>
> * * *
>
> उत्तर समथल भूमि गंग जमुना सुवहति हैं।
> प्राची दिशि कैमूर सोन काशी सुलसति है।
> दक्खन रेवा विन्ध्याचल तन शीतल करनी।
> पश्चिम में चम्बल चंचल सोहति मन हरनी।
> तिन मधि राजे गिरि, वन सरिता सहित मनोहर।
> कीर्ति स्थल बुन्देलन को बुन्देलखण्ड बर॥

---

* लगवैया—दुहनेवाला। † चपिया—दूध देने का पात्र।

उपरि लिखित सीमाओं के अनुसार वर्तमान उत्तरप्रदेश के झांसी, जालौन, बांदा और हमीरपुर जिले; ग्वालियर राज्य के भिंड, ग्वालियर, गिर्द, नरवर, ईसागढ़, तथा भेलसा जिले; ओरछा, दतिया, समथर, पन्ना, चरखारी, बिजावर, अजयगढ़, छतरपुर आदि बुन्देलखण्डी ३६ रियासतें (जो अब विन्ध्यप्रदेश में विलीन हो चुकी हैं)। मध्यप्रदेश के उत्तर के जिले सागर, जबलपुर, मंडला, होशंगाबाद तथा भोपाल राज्य का अधिकांश भाग बुन्देलखंड के अन्तर्गत आता है।

बुंदेलखण्डी भाषा और उसका साहित्य—

बुन्देलखण्डी तथा ब्रजभाषा दोनों की उत्पत्ति शूरसेनी या पश्चिमी हिन्दी से हुई है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली से बुन्देली का निकट सम्बन्ध है। इसी कारण इन दोनों भाषाओं का उस पर प्रभाव भी अधिक पड़ा है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने भाषा के अनुसार जनपदों का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार किया है। "(१) शूरसेन (ब्रज तथा बुन्देली का क्षेत्र) (२) पांचाल (कन्नोजी भाषा का क्षेत्र) (३) कोशल और काशी (भोजपुरी क्षेत्र) (४) कुरुक्षेत्र (कुरुभाषा का क्षेत्र) इन सब भाषाओं को बुन्देली की सगी बहनें कहना अनुचित न होगा, क्योंकि उनमें अपने-अपने भूभाग की प्राकृतिक दशा, सांस्कृतिक भेद, जाति तथा भाषा विशेष के सम्पर्क के कारण उत्पन्न होने वाली निजी विशेषताओं के सिवा बहुत कुछ सादृश्य हैं। विशुद्ध रूप में बुन्देलखंडी झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, ओरछा, छतरपुर, पन्ना, चरखारी, दतिया, बिजावर, सागर, दमोह जिलों में बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप नरसिंहपुर, जबलपुर, मंडला, बालाघाट और भोपाल में पाये जाते हैं। आजकल जनपदीय बोलियों के विशुद्ध रूप के दर्शन शहरों में नहीं हो सकते हैं। सहज दर्शन तो देहात ही में होते हैं। बुन्देलखण्डी का विशुद्ध रूप आज भी उसके प्राचीन लोक-साहित्य—लोकवार्ताओं, ग्राम गीतों, सोहर, बधावे, फागों, भजनों, रसिया, लोकोक्तियों, मुहावरे आदि में पाया जाता है। बोल-चाल की प्राचीन तथा वर्तमान बुन्देलखण्डी में काफी हेरफेर होगया है। ब्रज के सम्पर्क में आनेवाली बुन्देलखण्डी पर स्वाभाविक रूप से ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार दक्षिण प्रान्त से सम्पर्क स्थापित होने से वहां की भाषाओं का प्रभाव बुन्देलखण्डी पर पड़े बिना नहीं रहा। बांदा जिले से आगे बढ़ो तो बघेली शुरू हो जाती है। अतएव बांदा और उसके आसपास की बुन्देलखण्डी पर बघेली का प्रभाव अनिवार्य है। कई अवस्थाओं में क्रियायें वही रही हैं परन्तु शब्दों के अर्थ और उनके उपयोग में बहुत हेरफेर हो गया है। भीतर के ऐसे क्षेत्रों में जहां अन्य भाषाओं का प्रभाव नहीं पड़ा वहां उसका विशुद्ध रूप आज भी मौजूद है।

ब्रजभाषा और बुंदेलखण्डी दोनों यमल बहने हैं। अतएव उनमें बहुत कुछ सादृश्य रहने पर भी वे अपनी विशेषताएं, निजी शैली तथा अपना जुदा अस्तित्व रखती हैं। "चौरे छोरा मांय मानु" और 'कावरे मौंड़ा मानत नैयां' में ब्रज भाषा और बुंदेली का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है।

बुन्देलखण्डी भाषा बहुत ही श्रुति मधुर और सरस है। बोली की मिठास के लिये लोग ब्रजभाषा की सराहना करते हैं, परन्तु बुन्देलखण्डी शब्दों में जो विनम्रता, लोच तथा सुकुमारता है उसके सामने ब्रजभाषा का लालित्य फीका पड़ जाता है। बुन्देली भाषा का लालित्य अनूठा है। उसके शब्द बहुत ही कोमल, श्रुति-मधुर तथा शिष्टता बोधक होते हैं। कविवर सत्यनारायण जी ने ब्रजभाषा के लालित्य के बारे में लिखा है:—

बरनन को करि सकत भला तेहि भाषा कोटी।
मचलि मचलि जामें मांगी हरि माखन-रोटी।

पर, बुन्देलखंडी भाषा के अन्यतम विद्वान् श्री कृष्णानंद जी गुप्त लिखते हैं कि "बुन्देली गीतों में जो भाषा का लालित्य प्रकट हुआ है उसके सामने ब्रजभाषा पानी भरती है।" यह व्यर्थ अभिमान की बात नहीं है। जो सज्जन बुन्देली लोक-साहित्य का अध्ययन करेंगे वे इस तथ्य को स्वीकार किये बिना नहीं रहेंगे।

लोगों की धारणा है कि कविता में प्रौढ़ तथा उच्च भावों का लाना प्रबुद्ध कवियों का काम है; देहात के अपढ़ गंवार उसे क्या जानें? पर जिन लोगों ने बुन्देली लोक-गीतों का अध्ययन किया है या करेंगे उनकी उपरिलिखित धारणा

अवश्य निर्मूल सिद्ध होगी। सुशिक्षित लोग यदि नाना प्रकार के छंदों द्वारा रचित जगत प्रसिद्ध महाकवियों के काव्यों को पढ़ कर आनंदानुभूति उपलब्ध करते हैं तो हमारे ग्रामीण स्त्री पुरुष अनगढ़ किन्तु भावपूर्ण गीतों द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं। उनके गीतों में भले ही शब्दाडम्बर तथा अलंकारों की बहुलता न हो परन्तु वे बड़े ही मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी अवश्य होते हैं, क्योंकि भाषा तो भावों का परिधान मात्र है। भाषा-भेद से भावों की व्यंजना में कोई बाधा नहीं पहुंचती।

बुन्देली भाषा में लोकवार्ताओं, लोक-गीतों, मुहावरों, कहावतों, अनुभव-वाक्यों आदि का अटूट भंडार भरा पड़ा है। इसका कारण यह है कि बुन्देलखन्ड का अतीत बड़ा गौरवमय रहा है। यहां की भूमि अनादि काल से कवि प्रसविनी रही है। इस भूमि को विश्व विख्यात बाल्मीकि, व्यास, तुलसी, केशव सरीखे भारत के श्रेष्ठतम कवियों को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त हुआ है। आल्हा, ऊदल, छत्रसाल, हरदौल जैसे वीर-शिरोमणि भी यहां पैदा हुए हैं। इनकी वीर गाथाएं आज भी घर-घर गाई जाती हैं। यही कारण है कि इन नर-पुंगवों की कीर्ति ग्राम्य-गीतों आदि रूप में परम्परा से चली आ रही है।

स्थानाभाव के कारण यहां बुन्देली लोक साहित्य के अन्य विषयों की चर्चा न करके ग्राम गीतों के कुछ उदाहरण पाठकों के मनोरंजनार्थ दिये जाते हैं।

सूरदास जी ने श्री कृष्ण की मुरली के विषय में अनेक ललित पद लिखे हैं। सूर के कृष्ण की मुरली ध्वनि सुनकर सारी प्रकृति स्तंभित रह जाती है पर यहां किसी देहाती अपढ़ कवि के कृष्ण की मुरली की टेर भी अपना कम प्रभाव नहीं रखती है। उसे सुन कर राधा का अचकना देखिये :—

सुन मुरली के टेर अचक रई राधा सुन मुरली की टेर।
होत भोर राधा पनियां खों निकरीं गउअन ढिलन की बेर।
छोड़ो कन्हैया प्यारे बांह हमारी हम घर सास कठोर।
कहा करै सास कहा करै ननदी, चलो कदम की ओट।

एक स्त्री जिसका पति रात्रि भर अपनी प्रेमिका के पास रहा है, उसके प्रातः काल घर आने पर यह बुन्देली राधिका अपने मुरलियावारे पति को देखिये कैसी करारी फटकार बतलाती है :—

ओई घरै जाव मुरलिया वारे, जहां रात रये प्यारे।
अब आबे को काम तुमारो, का है भवन हमारे।
हेरें बाट मुनैयां हुइये, करें नैन कजरारे।
खासी सेज सजाय महल में दियला धरें उजयारे।
भोर भये आ गए ईसुरी, जरे पै फोला पारे।

श्री कृष्णजी द्वारका में अपने महल में रुक्मनी जी के पास बैठे हैं। इस समय उन्हें सहसा अपनी जन्मभूमि ब्रज की याद आ जाती है। वे कहते हैं :—

सखी री मोय ब्रज बिसरत नैयां।
सोने रूपे की बनी द्वारका गोकुल कैसी छबि नैयां।
सखी री मोय ब्रज बिसरत नैयां।
उत्तम जल जमना की धारा बाकी भांत जल नैयां।
रुक्मनी मोय ब्रज बिसरत नैयां।
जो सुख कहिये माय जसोदा, सो सुख सपनें नैयां।
सखी री मोय ब्रज बिसरत नैयां।

कवि ने अपने सीधे सादे शब्दों में मातृभूमि के प्रति कैसा उत्कट प्रेम दरसाया है। द्वारका भले ही सोने की बनी हो परन्तु वह जन्मभूमि के साधारण मिट्टी के बने घरों के समक्ष सदा फीकी ही दिखेगी। यशोदा मैया की गोद में जो सुख पाया है वह त्रैलोक्य में दुर्लभ है।

नेक पठै दो गिरधारी जू कों मैया।
जे गिरधारी मोरे हिरदे बसत हैं— सो उनई के हात लगे मोरी गैया।
इतनी सुन के जसोदा मुसक्यानी। जाम्रो जाम्रो लाल लगा भ्राम्रो गैया।
कछु कारे कछु ग्रोड़े कमरिया, उनग्रों देख बिचक गई मोरी गैया।
कछुं देखें कहुं सेंट चलावें, मुख पै दूध गिरे मोरी मैया।
तू तो गुम्रालिन मद की माती। अबै तो हमारो प्यारो बारो है कनैया।

इस गीत का प्रत्येक पद कितना भावपूर्ण है, उसमें अनन्त प्रेम तथा अडिग विश्वास की कितनी गहरी छाप लगी है, उसका लेखा-जोखा करना असंभव है। 'नेक पठै दो गिरधारी जू को मैया' में गोपियों ने अपने हृदय की आकांक्षा तथा अनुनय-विनय को कितनी सरसता के साथ उंडेल कर यशोदा के हृदय को प्लावित कर दिया है, यह दर्शनीय है। 'सो उनई के हाथ लगँ मोरी गैया" में तो उनके परम विश्वास तथा चिरन्तन भावनाओं का परम सत्य प्रकट होता है।

अब रित आई बसंत बहारन, पान फूल पत भारन।
तपसी कुटी कंदरन माहीं, गई बैराग बिगारन।
हारन हद्द पहारन ग्रगरन धाम धवल जल धारन।
चाहत हती प्रीत प्यारे की, हा हा करत हजारन।

देखिये, वसंत ऋतु का कैसा सजीव चित्र खींचा है। असंत की बहार वन-पर्वत, खेत-खलिहान, नदी की धाराओं तथा धवल धामों में सर्वत्र फैल गई है। देखो, वह पहाड़ की गुफाओं में छिपे रहने वाले साधुओं के वैराग्य को बिगाड़ने के लिये वहां भी जा पहुंची। कंदराओं में छिपे साधु भी उससे नहीं बच सके।

गाड़ी वारे मसकिदे बैल अबैं पुरवैया के बादर ऊन आए।
कौना बदरिया ऊनई रसिया, कौना बरह गए मेह।
अबै पुरवैया के बादर ऊन आए।
अग्गम बदरिया ऊनई रसिया, पच्छम बरस गए मेह।
अबै पुरवैया के बादर ऊन आए।
घूंघटा बदरिया ऊनई रसिया, गलुआ बरस गए मेह।
अबै पुरवैया के बादर ऊन आए।

पुरवाई हवा से बादल आकाश में छा गए हैं। इस बुन्देली बाला को इस बात का ज्ञान है कि पुरवाई हवा चलने पर पानी शीघ्र बरसता है। इसलिये वह अपने गाड़ीवान को ताकीद करती है कि बैलों को जल्दी भगाओ, पानी आने वाला है। पर बादल भी बड़े हठी हैं। उसके घूंघटों पर उनहे बादल गलुओं पर बरस ही गए।

सदा तुरैया फूलें नहीं, सदा न साहुन होय।
सदा न कंसा रन खों चढ़ें, सदा न जीवे कोय।
असढ़ा तो गरजे अब सहुना लगे हो, बनमें कुहक रई मोर।
बीरन लुवौआ अब आये नहीं, भोरो सोंप सांप जो होय।

अपने भाई के आगमन की प्रतीक्षा में किसी रमणी ने असाढ़ तथा श्रावण मास के प्राकृतिक सौन्दर्य का कैसा मनोहर चित्र खींचा है।

चलतन परत पैंजना छमके, पाँउन गोरी धन के।
सुनतन रोम रोम उठ भ्रावत, धीरज रहत न मन के।
छूटे फिरत गैल खोरन में सुर मुख्त्यार मदन के
करवे जोग भोग कछु नातें, लुट गए बाला पन के
'ईसुर' कौन कसाइन डारे, जे ककरा कसकन के।

जब यह बुन्देली नायिका घर से निकलती है तो उसके पैजनों के छमाके से मुहल्ले के लोग चौंक पड़ते हैं। उन्हें ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानों उन्हें तंग करने के लिये मदन महीपति के कारिंदे गलीखोरों में छूट पड़े हों। यह भी सभी जानते हैं कि लम्बरदार के कारिन्दे गरीबों को बेहद सताते हैं।

गांव का कैसा सच्चा चित्र खींचा है। यह तो ठीक, पर वह कौन कसाई है जिसने उसके पैजनों में ये कसक के कंकड़ रखे हैं?

जो तन बाग बलम को नीको, सिचों सुहाग भ्रमी को।
श्रीफल फरे धरे चोली में मदरस चुअत लली को।
लेत पराग भ्रधर पै मधुकर विकसी कमल-कली को।
'ईसुर' कहत बचाएं रहियो छुए न छैल गली को।

कोई स्त्री भ्रपने शरीर को बलम का बाग घोषित करती है। सचमुच में इस 'बलम के बाग' ने काश्मीर के निशात बाग को भी मात कर दिया है। बड़ा भ्रजूवा बाग है। इस बाग के फलों से मदरस टपकता है। पर गली के छैलों से इसकी रक्षा करना नितान्त भ्रावश्यक है।

गोरी कठिन होत हैं, जितने ई रंग वारे।
कारे रंग के काटखात जब, जहर न जात उतारे।
कारे रंग के भंवर होत हैं, कलियन पर गुंजारे।
कारे रंग के काग पखोश्रा, पटियन जात उतारे। *
ककरिजिया खों भ्रोढ़ इसुरी, सकल कलेजे डारे।

सचमुच में काले रंग के बड़े भयंकर होते हैं। उनके काटे का कोई इलाज नहीं। काली काकरेजी भ्रोढ़नी भ्रोढ़ने वाली भी तो दर्शकों का कलेजा हिला जाती है। सूरदास के समान ईसुरी कवि ने भी काले रंग पर खूब फबतियां कसी हैं।

सपनन विलाय परे मोय सैयां, सुनो परोसन गुइंयां।
भ्रापुन भ्राय उसीसे † ठाड़े भपट परी मै पैयां।
उनके दृग दोऊ भर भ्राये, मोरी भरी भ्रबैयां।
'ईसुर' भ्रांख बखा में खुल गई, हतो उतै कोऊ नैयां।

भ्रहा! कैसा मधुर स्वप्न था। स्वप्न में चिर विरही पति से भेंट हुई। पर दईमार दैव से वह भी न सहा गया। उसने धोखे में उसकी भ्रांख खोल दी।

---

* उतारे—उपमा दिये जाते।

† उसीसे;—सिरहाने।

जो कऊं छैल छला हो जाते, तो उंगरन बिच राते*।
मों पोंछत गालन कों लगते, कजरा देत दिखाते।
घरी घरी घूंघट खोलत में, नजर सामने राते।
में चाहत ती लख में बिदते होत जाई कों जाते।
'ईसुर' दूर दरस के लाने†, ऐसें काय ‡ ललाते?

अपने प्रेमी के प्यार की प्यासी एक नायिका कहती है कि यदि मेरा प्रेमी छल्ला बन कर मेरी उंगलियों के बीच में रहता तो कितना अच्छा होता। फिर मैं उनके दर्शन को क्यों तरसती? मुंह पोंछते समय हमेशा मेरे कपोलों से लगता, काजल लगाते समय भी दिखता और घूंघट खोलते समय भी हर दम नजर के सामने रहता। कैसी मधुर कल्पना है।

हम पै बैरन बरसा आई,
हमें बचा लेव भाई।
चढ़ के अटा घटा न देखें, पटा देव अग लाई।
बारादरी दौरियन में हो, पवन न जाने पाई।
जे द्रुम कटा छटा फुलवगियां, हटा देव हर थाई।
पिय जस गाय सुनाग्रो 'ईसुर' जो जिय चाव भलाई।

यह विरहणी नायिका है। पति के विरह में वर्षा ऋतु उसे बैरिन सी प्रतीत होती है। इसलिये वह उससे बैरिन जैसा ही व्यवहार करती है। वर्षा के सभी सुख तथा मंगलदायक उपादानों को वह हटा देना चाहती है। वह तो उसी को अपना हितू मानती है जो उसके पिया का यश उसे सुनावें।×

---

* राते—रहते।

† लाने—लिये।

‡ काय—क्यों।

× इस लेख के लिखने में मैंने 'मधुकर' में प्रकाशित अनेक बुंदेलखण्ड सम्बन्धी लेखों से सहायता ली है। अतएव मैं उन सबके लेखकों का आभार मानता हूं—लेखक।

निमाड़ी-बोली

श्री कृष्णलाल 'हंस'

'निमाड़ी' मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिम और मध्यभारत के दक्षिण-पश्चिम भू-भाग से निर्मित एक ६४,३५ वर्गमील के क्षेत्रफल में स्थित भू-प्रदेश की लोक-भाषा है। यह भाग २१.४ और २२.५ उत्तर अक्षांश तथा ७४.४ और ७७.३ पूर्व देशांश के बीच स्थित है। विन्ध्य महाशैल इस प्रदेश की उत्तरी और सतपुड़ा इसकी दक्खिन सीमा के अडिग प्रहरी हैं। नर्मदा और ताप्ती के समान पुराणप्रसिद्ध ऐतिहासिक सरिताएं इस निमाड़ी-भाषी क्षेत्र को पावन और उर्वरा बनाती हैं। इस क्षेत्र की पूर्व-पश्चिम लम्बाई १५६.८ मील और उत्तर पश्चिम अधिक से अधिक चौड़ाई ६३.६ मील है। गत जन-गणना के अनुसार मध्यप्रदेशीय निमाड़ की जनसंख्या ५,२३,४९६ और मध्यभारतीय निमाड़ की जनसंख्या ६,६६,२९७ है। इस प्रकार सम्पूर्ण निमाड़ की जनसंख्या ११,८९,७९३ है, किन्तु यह सम्पूर्ण जन-संख्या निमाड़ी भाषी नहीं है। मध्यप्रदेशीय निमाड़ में १,१०,४०६ व्यक्तियों की मातृभाषा निमाड़ी है। मध्यप्रदेश के अन्य जिलों में भी १,१७१ निमाड़ी-भाषी निवास करते हैं। मध्यभारत के निमाड़ जिले में १,५७,८६६ व्यक्तियों की मातृभाषा निमाड़ी है। इसके अतिरिक्त धार जिले में १५,९२०, देवास में ३,३४२ झाबुआ में २,९९१ और इन्दौर जिले में ४५३ व्यक्ति निमाड़ी-भाषी हैं। कुछ निमाड़ी-भाषी अन्यत्र भी बसते हैं। इस प्रकार सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार निमाड़ी-भाषियों की कुल संख्या २,९२,२६१ है।

मध्यप्रदेश और मध्यभारत में स्थित उपर्युक्त क्षेत्र राजकीय दृष्टि से दो भागों में विभाजित है, किन्तु भाषा, वेश-भूषा, संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति, सामाजिक संगठन और भौगोलिक दृष्टि से यह समस्त एक ही भू-प्रदेश है। इसके उत्तर में मालवी, दक्षिण में मराठी और खानदेशी, पूर्व में निमाड़ी प्रभावित मालवी और पश्चिम में भीली-भाषी क्षेत्र हैं। निमाड़ की इस स्थिति का इस लोक-भाषा के स्वरूप-निर्माण पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

निमाड़ी का स्वरूप

डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' नामक विशाल ग्रन्थ के ९ वें खण्ड के द्वितीय भाग में 'राजस्थानी' पर विचार करते हुए इसे पांच भागों में विभाजित कर निमाड़ी को 'दक्षिणी राजस्थानी' लिखा है। इस तरह निमाड़ी ग्रियर्सन के मतानुसार राजस्थानी की एक लोक-भाषा है। इस लोक-भाषा के अध्ययन की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान आकर्षित न होने के कारण भाषा-विज्ञान के अन्य लेखक भी डा. ग्रियर्सन के अनुसार निमाड़ी को राजस्थानी के ही अन्तर्गत स्थान देते आ रहे हैं। केवल डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने उदयपुर विद्यापीठ में 'राजस्थानी' पर दिये अपने भाषण में डा. ग्रियर्सन से सहमत न होते हुए निमाड़ी के राजस्थानी की बोली होने में सन्देह व्यक्त कर विद्वानों द्वारा इस पर विचार होने का संकेत किया है।

ऐसा जान पड़ता है कि डा. ग्रियर्सन ने निमाड़ी को राजस्थानी का दक्षिणी रूप तो कह दिया, पर वे स्वयं ही किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। उन्होंने राजस्थानी की शाखाओं का विभाजन करते समय मालवी को राजस्थानी की दक्षिण पूर्वी शाखा और निमाड़ी को दक्षिणी शाखा कह दिया, पर जहां वे निमाड़ी पर पृथक् विचार करते हैं, वहां वे पहिले मालवी को राजस्थानी की बोली कहकर निमाड़ी को मालवी का ही एक रूप कहते हैं और अपना पूर्व विभाजन भूल जाते हैं। इसके पश्चात् फिर वे कहते हैं कि—"निमाड़ी राजस्थानी के एक रूप मालवी का ही परिवर्तित रूप है, पर इसकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं, जिससे हमें इसे मालवी से पृथक् एक स्वतंत्र लोकभाषा ही मानना पड़ेगा।"*

---

* लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द १, भाग २, पृष्ठ ६०।

डा. ग्रियर्सन ने अपने इसी ग्रंथ के प्रथम खण्ड में 'निमाड़ी' पर जो मत व्यक्त किया है, वह और भी भिन्न है। वहां वे कहते हैं :–"उत्तरी निमाड़ और उससे लगे हुए मध्यभारत के भोपाल राज्य में मालवी, खानदेशी और भीली से इस प्रकार मिल गई है कि वह एक नई बोली का ही रूप धारण कर निमाड़ी कहलाती है, जिसकी अपनी विशेषताएँ हैं। जिस अर्थ में मेवाड़ी जयपुरी, मेवाती और मालवी को वास्तविक रूप में राजस्थानी की बोली कहा जा सकता है उस अर्थ में निमाड़ी कठिनाई से एक बोली कही जा सकती है। यह वास्तव में मालवी पर आधारित अनेक भाषाओं का एक मिश्र रूप है।" *

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा. ग्रियर्सन ने ही अपने ग्रंथ के तीन स्थानों में निमाड़ी पर तीन मत व्यक्त किये हैं। इससे उनका किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर न पहुंचना स्पष्ट है। अब एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान फोसिथ का मत देखिये। उनके कथनानुसार "निमाड़ी मालवा और नर्मदा के उत्तर में बोली जानेवाली सामान्य हिन्दी के साथ मराठी और फारसी शब्दों का एक मिश्रण है।" † इससे फोसिथ का डा. ग्रियर्सन के अनुसार इसे राजस्थानी की एक बोली न मानकर सामान्य हिन्दी का एक रूप मानना स्पष्ट है।

स्व. बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने "भाषा-विज्ञान" ग्रंथ में निमाड़ी के सम्बन्ध में लिखा है :—

"इन्दौर के आसपास मालवा प्रान्त में और उसके चारों ओर दूर-दूर तक मालवी बोली जाती है। इसका मारवाड़ी से मिलता-जुलता एक रूप है जो रांगड़ी कहलाता है। उत्तर निमाड़ आदि में इसने खानदेशी के साथ एक विलक्षण और नया रूप धारण कर लिया है। इसी को निमाड़ी कहते हैं। निमाड़ी कोई स्वतंत्र बोली नहीं है। वह मुख्यतः मालवी के आधार पर बनी हुई एक संकर भाषा है।"

यहां बाबू श्यामसुन्दरदास डा. ग्रियर्सन से कुछ सीमा तक सहमत जान पड़ते हैं, पर उन्होंने "हिन्दी भाषा और साहित्य" नामक पुस्तक में मालवी के सम्बन्ध में जो स्पष्टीकरण दिया है, उसमें वे कहते हैं कि "भिन्न-भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से यह प्रकट है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती ब्रज भाषा से और मालवी बुन्देली से बहुत मिलती हैं।"

हम बाबू साहब के इस मत से पूर्णतः सहमत हैं। निमाड़ी पर अनुसंधान करते समय हम मालवी के स्वरूप का जितना अध्ययन कर सके, उसमें हमने देखा कि मालवी की प्रवृत्ति जितनी बुन्देली की प्रवृत्तियों से साम्य रखती है, उतनी वह राजस्थानी की किसी भी शाखा-बोली से साम्य नहीं रखती। यह देखते हुए ऐसा लगता है कि मालवी भाषा के सम्बन्ध में अधिक अनुसन्धान होने पर हमें उसे राजस्थानी की एक शाखा न मानकर उसे ब्रज, बुन्देली की तरह पश्चिम हिन्दी की एक स्वतंत्र लोकभाषा ही स्वीकार करना पड़ेगा। हमें निमाड़ी में अनेक भाषाओं के शब्दों का मिश्रण देखकर तथा उसका मालवी से अधिक साम्य पाकर उसे मालवी के आधार पर बनी एक संकर लोक-भाषा स्वीकार करने से कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, किन्तु हम उसे डा. ग्रियर्सन के अनुसार राजस्थानी भाषा-परिवार में स्थान न दे पश्चिमी हिन्दी की एक भिन्न लोक-भाषा मालवी के अन्तर्गत ही स्थान देना अधिक युक्तिसंगत मानते हैं।

हमने निमाड़ी के स्वरूप का अध्ययन करने के लिये इसके विभिन्न कालों की गद्य और पद्य सामग्री प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इसमें सबसे प्राचीन सामग्री सन्त सिंगा के दादा गुरु ब्रह्मगिरि का साहित्य है। हमें सन्त सिंगा के जीवन पर प्रकाश डालने वाली जो हस्तलिखित पुस्तक "सिंगाजी की परचुरी" प्राप्त हुई है, तदनुसार सन्त सिंगा की मृत्यु ६० वर्ष की अवस्था में सम्वत् १६६४ वि. में हुई थी। अतः इनका जन्म सम्वत् १५७४ वि. होना चाहिये। इनके गुरु मनरंगीर स्वभावतः ही अवस्था में उनसे बड़े होने चाहियें और उनके गुरु ब्रह्मगिरि उनसे भी बड़े होने चाहियें। यदि

* वहीं देखिये, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १७२।

† फोसिथ, निमाड़ प्रान्त की सैटलमैण्ट रिपोर्ट १८६५, पैरा १।

हम इस गुरु-परम्परा की एक-एक पीढ़ी केवल २५ वर्ष की मान लें, तो ब्रह्मगिरि सिंगाजी से ५० वर्ष बड़े होते हैं और इस प्रकार उनका जन्म सम्वत् १५२४ वि. के लगभग होना चाहिये। यदि उन्होंने ३५ वर्ष की अवस्था में भी पद्य-रचनायें आरंभ की हों, तो उनकी रचना आज से कम से कम ४५० वर्ष पूर्व की होनी चाहिये। इनके बहुत कम पद उपलब्ध हैं। इनके एक पद की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

"निरगुन ब्रह्म को चीना, जद भूल गया सब कीना।।
सोहं सबद है सार, सब घटमूं संचरा चार।
जहां लाग रहा एकतार, सब घटमूं श्री उंकार।।
कोई मीन-मारग ढूंढ लीना ।। "

ब्रह्मगिरि सन्त कबीर के समकालीन हैं। इनकी उपर्युक्त पंक्तियों में भी हम कबीर की विचार-धारा देखते हैं। भाषा की दृष्टि से इस पंक्तियों में खड़ी बोली की प्रधानता स्पष्ट है। कीना, लीना ब्रजभाषा से प्रभावित शब्द हैं। इसमें केवल जद और घटमूं ही ऐसे शब्द हैं, जो निमाड़ी कहे जा सकते हैं। ये शब्द भी हिन्दी के क्रमशः 'यदि' और 'घट में' शब्द के ही विकृत रूप हैं। यह निमाड़ी का आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष का पद्य-रूप है।

इसके पश्चात् हमें मनरंगीर, सिंगाजी, दलूदास, धनजीदास आदि के निमाड़ी पद्य मिलते हैं। ये निमाड़ी के एक दूसरे के पश्चात् के लोक-गायक संत हैं। मैंने सभी लोकगायकों की रचना पर अपने "निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य" विषय पर प्रस्तुत ग्रन्थ में सविस्तर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यह निमाड़ी भाषी संतों की शृंखला ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनकी रचना पर से सामान्य हिन्दी का प्रभाव कम होता गया और उसमें अधिकाधिक निमाड़ीपन आता गया। यही निमाड़ी के रूप का विकास-क्रम है।

मुझे अपनी मध्यभारतीय निमाड़ की यात्रा में कुछ ऐसे प्राचीन कागज-पत्र भी मिले है, जो निमाड़ी में लिखे गये हैं। इनमें सबसे प्राचीन पत्र श्रावण कृष्णा सप्तमी सं. १८५५ वि. का लिखा हुआ है। इस पत्र में हम निमाड़ी का आज से लगभग १५७ वर्ष पूर्व का निमाड़ी का गद्य-रूप देख सकते हैं। मैंने अपने उद्धोल्लेखित अनुसंधान-ग्रन्थ (थीसिस) में इस पत्र से आरंभ कर आज तक के निमाड़ी के विभिन्न कालों के गद्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन से भी मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि आरंभ में बोलचाल की हिन्दी और निमाड़ी के रूप में नाममात्र का ही अन्तर था। ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसमें सीमावर्ती बोलियों तथा निमाड़ी क्षेत्र में बाहर से आकर बसी जातियों के मातृभाषा के शब्द स्थान पाते गये और सामान्य हिन्दी अथवा बोलचाल की हिन्दी को एक नया रूप प्राप्त होता गया और इस तरह आज निमाड़ी मूलतः हिन्दी पर आधारित होते हुए भी गुजराती, राजस्थानी, मालवी, मराठी, भीली, बुन्देली और ब्रजभाषा के शब्दों का एक मिश्रण बन गई है। इसमें मालवी शब्दों का बाहुल्य है, किन्तु मालवी, जैसा कि हम पूर्व संकेत कर चुके हैं, कोई भिन्न भाषा नहीं, वरन पश्चिमी हिन्दी का ही एक रूप है। अतः हम कह सकते हैं कि निमाड़ी मूलतः हिन्दी पर और पर्याय से मालवी पर आधारित एक मिश्र बोली है।

व्याकरणिक रूप—किसी भी भाषा अथवा बोली के अध्ययन में उसके व्याकरणिक रूप का प्रधान स्थान होता है। विभिन्न भाषाओं अथवा बोलियों से समानता अथवा भिन्नता देखने के लिये उनके संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया के रूपों तथा कारक-रचना और काल-रचना पर तुलनात्मक विचार करना आवश्यक होता है। निमाड़ी के व्याकरणिक रूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी हमें यही करना पड़ेगा। इस दृष्टि से मैंने अपने अनुसंधान-ग्रन्थ में विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, जो यहां सम्भव नहीं है। अतः मैं पाठकों की जानकारी के लिये यहां कुछ उदाहरण देना ही पर्याप्त समझूंगा।

शब्दभेद—	हिन्दी	मालवी	निमाड़ी
संज्ञा	पैर	पग	पाँव
	मुंह	मूंठो	मुंठो
	बहिन	बेन	बहिण
	घोड़ा	घोरा	घोड़ो
	बैल	बेल	बईल
सर्वनाम	मैं ...	हूँ, म	हऊं
	हम	म्हें	हम
	हमारा	हमारो	हमारो, मारो
	तुम्हारा	तमारो	तुम्हारो, तारो
	वह	ऊ	ऊ
	उनका	वनको	उनको
	कौण	कोन	कुण, कोण
क्रिया	बैठो	बैठ	बठ
	मैं जाता हूँ	मैं (हूँ) जाऊँ	हऊं जावंच्
	मैं गया	हूँ गयो	हऊं गयो
	मैं मारूँगा	हूँ मारूंगो	हऊं मारिस

उपर्युक्त उदाहरणों से हम देखते हैं कि अधिकांश निमाड़ी शब्द हिन्दी और मालवी शब्दों से पृथक् हैं किन्तु उनकी प्रवृत्ति प्रायः मालवी के समान ही है, यद्यपि मूलतः वे हिन्दी पर ही आधारित हैं। उनमें जो अन्तर देखा जाता है, उसका कारण उच्चारण-भेद ही है। निमाड़ी मालवी के जितने समीप है उतनी हिन्दी के समीप नहीं है, पर दोनों का मूलाधार हिन्दी ही है। इससे इन दोनों लोकभाषाओं—मालवी और निमाड़ी को हिन्दी की ही बोलियां कहा जा सकता है। दोनों के कुछ अपने स्थानीय शब्द भी हैं और उनमें सीमावर्ती बोलियों के शब्द भी मिल गये हैं। इन दोनों प्रकार के मिश्रण ने ही उन्हें स्वतंत्र रूप प्रदान किया है।

कारक-रचना और काल-रचना में भी हम एक बहुत बड़ी सीमा तक हिन्दी, निमाड़ी और मालवी में साम्य पाते हैं। कारक-रचना में हिन्दी के कर्ताकारक की विभक्ति "ने" उच्चारण भेद से निमाड़ी और मालवी में 'न' होगई है। कर्म की विभक्ति "को" "ख" के रूप में परिवर्तित होगई है। करण कारक की विभक्ति "से" निमाड़ी और मालवी में "सी" होगई है। सम्प्रदान कारक की विभक्ति "के लिये" निमाड़ी में "कालेण" और मालवी में "वास्तऽ" होगई है। यह अवश्य ही एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। सम्बन्धकारक की विभक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अधिकरण कारक की विभक्ति "में" और 'पर' निमाड़ी में क्रमशः "मं" तथा 'उप्पर' होगई हैं। इसका कारण भी उच्चारण भेद ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार का नाममात्र का अन्तर हमें निमाड़ी की काल रचना में भी दिखाई देता है।

डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने राजस्थानी की पृष्ठभूमि पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "बारहवीं शताब्दी में समग्र उत्तर भारत और पश्चिम भारत में एक प्रकार की साहित्यिक अपभ्रंश प्रचलित थी। संस्कृत के पश्चात् इसी को सर्वाधिक साहित्यिक सम्मान प्राप्त था। यह पश्चिम अपभ्रंश या शौरसेनी अपभ्रंश भाषा थी। यह वास्तव में मध्यप्रदेश की भाषा थी, पर इसका अपभ्रंश रूप उत्तर में पंजाब तक, पश्चिम में सौराष्ट्र और सिन्ध तक तथा दक्षिण में नर्मदा तक छा गया था। यहां यह स्मरणीय है कि निमाड़ी नर्मदा की एक तटवर्ती भाषा है; अतः निमाड़ी के स्वरूप-निर्माण में इस शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव का योग स्वाभाविक है।

हमने अपने अनुसंधान-ग्रंथ में सोलहवीं शताब्दी की निमाड़ी का जो रूप दिया है, उस पर ब्रज भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि ब्रजभाषा-काव्य के व्यापक प्रभाव के कारण ही निमाड़ी के सन्तकवि ब्रह्मगिरि मनंगीर, सिंगाजी आदि की रचनाएं अपने को इस प्रभाव से न बचा सकीं। वह कबीर का युग था और उनकी निर्गुण विचारधारा बड़े वेग से नर्मदा के तटवर्ती भाग को भी प्रभावित कर रही थी, जिससे निमाड़ी के सन्त कवि भी उसी के

प्रवाह में प्रवाहित होगये। आगे चलकर निमाड़ी काव्य-रचना पर से कबीर की विचारधारा ही नही, पर उनकी भाषा का भी प्रभाव क्रमशः न्यून होता गया और ब्रजभाषा का प्रभाव बढ़ता गया। इतना ही नहीं, पर भाषा के साथ ही ब्रज-काव्य की सगुण धारा ने भी निमाड़ी में प्रवेश किया और परिणामस्वरूप निमाड़ी में रंकदास, दीनदास आदि सगुणोपासक भक्त लोक कवियों का आविर्भाव हुआ।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है निमाड़ी हिन्दी पर आधारित एक मिश्र लोक भाषा है। वर्तमान निमाड़ी में हमें केवल मालवी, भीली, मराठी तथा राजस्थानी के ही नहीं, वरन् फारसी और अंग्रेजी भाषा के शब्द भी अपभ्रंश रूप में मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ निम्नांकित शब्द देखिये :—

मालवी के शब्द :—अड़माप, अम्मरपट्टो, आदो, कंकोतरी, बिचल्ली, चोखा (चाँवल), तीस (प्यास), फेरा, बाप्यो, मंगता (भिखारी) आदि।

भीली के शब्द :—नाना, पन (पर), कवाड़तो (कहता), दाजी, वेरू, हेड़ (निकाल), सेंगली (फली) आदि।

गुजराती के शब्द :—तमे (तुझे), तारो (तेरा), मारो (हमारा), आपसे, अमीतु, आवसे, किदी, केम, छे, जवो, जिण, जेवो, तड़ाय आदि।

मराठी के शब्द :—आन (सौगन्ध), उंदरा (चूहा), कालजी (चिन्ता), डोळा (आंख), पिवळो (पीला), काळो (काला), रड़णू (रोना), लगण (लग्न), हिरवो (हरी), सकाळू (सवेरे), लेकरू (बच्चा) आदि।

राजस्थानी के शब्द :—कुकड़ो (मुर्गा), थारो (तेरा), बिलई (बिल्ली), इण, छोरी, ठेकाणू, झुलाड़सा, तई, दीधी आदि।

फारसी के शब्द :—अकल, इकरारनामो, उजर, कुदरत, जरीबाना, दरखास, दसखत, फिकर, मरज, रोजी आदि।

अंग्रेजी के शब्द :— इंजन, इनसपिट्टर, इसटाम, कोरट, ठेचण, पुलस, बोरड, मनेजर, रजीटर आदि।

इन विभिन्न भाषाओं के शब्दों का निमाड़ी में समावेश होने का मूल कारण निमाड़ी भाषी क्षेत्र में इन भाषा-भाषियों का अधिक संख्या में आकर बसना है। मालवी शब्द मालव भूमि से आकर निमाड़ में बसे तेली, कुम्हार, अहीर, गाडरी, गूजर, लोहार, बढ़ई और कुछ मालवी ब्राह्मणों के द्वारा; भीली भीलों के द्वारा; गुजराती सौराष्ट्र से आकर निमाड़ में बसे नागर, गूजर और गुजराती तेलियों द्वारा; मराठी मराठों और महाराष्ट्र ब्राह्मणों द्वारा; राजस्थानी राजस्थान से आये चौहान पवार, मोरी, तोमर, सोलंकी आदि राजपूतों तथा मारवाड़ से आये वैश्यों-द्वारा निमाड़ी में आये हैं। फारसी और अंग्रेजी शब्दों के समावेश का कारण निमाड़ी भाषी क्षेत्र में लगभग तीन-सौ वर्षों तक मुसलमानों का तथा लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक अंग्रेजों का राज्य रहना है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी पढ़े-लिखे निमाड़ियों द्वारा भी अंग्रेजी के अनेक शब्दों ने निमाड़ी भाषा में स्थान पाया। सरलता लोकभाषा की विशेषता है। वह अन्य भाषाओं के शब्द मूलरूप में कभी स्वीकार नहीं करती। उन्हें स्वीकार करने के पूर्व उन्हें अपने अनुकूल बना लेती है। यही कारण है कि फारसी और अंग्रेजी के ही शब्द नही, पर मराठी से आये शब्द भी निमाड़ी में अपने मूलरूप में ग्रहीत न हो सके।

आरम्भ में सामान्य हिन्दी और निमाड़ी में केवल उच्चारण भेद से ही कुछ अन्तर था, किन्तु जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, उसमें अन्य भाषा के शब्द मिलते गये और उसके स्वरूप में अन्तर होता गया, पर आज भी निमाड़ी-भाषी सम्पूर्ण भाग में निमाड़ी का समान रूप नहीं है। जाति-भेद और स्थान-भेद के साथ ही उसके रूप में भी अन्तर देखा जाता है। नागर और औदीच्य ब्राह्मणों-द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी गुजराती से अधिक प्रभावित होती है। भीलों, भिलालों, बंजारों-द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी में भीली शब्दों के अतिरिक्त कुछ मुण्डा परिवार की भाषाओं के भी शब्द रहते हैं। राजपूतों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी राजस्थानी की विभिन्न बोलियों मारवाड़ी, मेवाड़ी

और लड़ी जयपुरी से प्रभावित होती है। नार्मदीय ब्राह्मणों पर महाराष्ट्री जनों का अधिक प्रभाव देखा जाता है। वे महाराष्ट्र ब्राह्मणों की भाषा से ही नहीं, पर वेश-भूषा और उपासना-विधि से भी कम प्रभावित नहीं हैं। उनका "सोवळा" साफा और अपने नामों के आगे "राव" शब्द का प्रयोग इसी प्रभाव का 'परिणाम' है। यही कारण है कि उनके द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी में मराठी के शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है। उत्तर भारतीय ब्राह्मण भी निमाड़ी भाषियों से निमाड़ी में बोलते हैं, पर उनकी निमाड़ी हिन्दी से अधिक प्रभावित रहती है। अग्रवालों के द्वारा बोली जाने वाली निमाड़ी भी हिन्दी से अधिक निकट होती है। गूजरों का मूलस्थान गुजरात है, पर वे निमाड़ी-भाषी क्षेत्र में आकर बसने के वर्षों पूर्व मालवा में बस गये थे और वहीं से निमाड़ में आये। अतः इनके द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी मालवी से अधिक प्रभावित होती है। निमाड़ी भाषी क्षेत्र में बसे गुजराती कुनबियों की निमाड़ी गुजराती से और दक्षिण से आये कुनबियों की निमाड़ी मराठी से अधिक प्रभावित होती है।

स्थान-भेद के अनुसार उत्तरी निमाड़ की भाषा मालवी से, दक्षिणी निमाड़ की भाषा मराठी अथवा खानदेशी से, पूर्वी निमाड़ की भाषा मालवी और हिन्दी से तथा पश्चिमी निमाड़ की भाषा भीली और राजस्थानी (मारवाड़ी) से अधिक प्रभावित मिलेगी। एक तो भाषा स्वाभाविक ही परिवर्तनशील है, पर जब उसे लिखित रूप प्राप्त नहीं होता, तब लोकवाणी में उसके परिवर्तन की गति और भी द्रुत हो उठती है। लोकवाणी की यह परिवर्तनशीलता निमाड़ी में अधिक स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। हम खरगोन से खण्डवा तक के मध्यभाग में निमाड़ी का जो रूप देखते हैं, उसमें कुछ साम्य और स्थिरता अवश्य है। इसी भाग की निमाड़ी को हम "स्टेण्डर्ड निमाड़ी" कह सकते हैं।

निमाड़ी में कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो पूर्वोल्लेखित भाषाओं में से किसी में भी नहीं मिलते। इन्हें हम निमाड़ी की अपनी शब्द-सम्पत्ति कह सकते हैं। इनमें नित्योपयोगी शब्दों के अतिरिक्त कृषि-उपयोगी शब्द, मिट्टी के पात्रों के नाम तथा स्त्रियों के आभूषणों के नाम भी है। इनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं:—

नित्योपयोगी शब्द:– अड़भंग, (विचित्र, भयानक), अल्यांग (इस ओर), आंगळी (अंगुली), एल्लोसो (छोटा सा), केड़ो (गाय का बच्चा), खासड़ा (जूता), गारड़ी (गोरी), डांडा (मूर्ख), छमटी (पूंछ) आदि।

कृषि-उपयोगी वस्तुओं के नाम :— आरवा ('मोट का मुंह), कस्सी (कुदाली), गवाण (पशुओं को चारा खिलाने का स्थान), तावड़ा (गन्ने का रस पकाने की कढ़ाई) तिस्याती (बीज बोने की तीफन) आदि।

मिट्टी के पात्रों के नाम :— दरणी (दही जमाने का छोटा बर्तन), माट (बड़ा घड़ा), माथणो (दही मथने का बर्तन), पोट्या (छोटा बर्तन) आदि।

स्त्रियों के आभूषण :—

सिर के आभूषण....राखड़ी, वहेरा, झबा आदि।
कान के आभूषण....टोड़ी, तागला आदि।
गले के आभूषण....डुलरी, तामला, तिमण्या आदि।
बांह के आभूषण....अांवठया, बाकड़्या आदि।

निमाड़ी में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते हैं, जो गोरखनाथ, कबीर और मीरा की काव्य-रचनाओं में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित शब्द देखिये।

गोरखनाथ द्वारा प्रयुक्त :—अलूणी, आमिला, उलीचो, कीधा, ताण, तुळई, दुलीचो, नरवै, निवाणा, पावड़िया, वालड़ा आदि।

कबीर द्वारा प्रयुक्त :—कसुंभ, कुबज, तम्बोर, दमामा, बलेण्डा, दिसटी, गैब, मुकलाई, रलिया आदि।

मीरा द्वारा प्रयुक्त :—जिण, कान्हों, सांझ पड्या, धणी, विण, म्हेल, सायबा, रूड़ो, सुरत, तई, पीहड़, सौगन भागण आदि।

निमाड़ का लोक साहित्य

श्री रामनारायण उपाध्याय

मध्यप्रदेश की लोक-भाषाओं में निमाडी का महत्वपूर्ण स्थान है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार सभी दृष्टियों से इसका साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है।

जिस तरह यहां की ऊबड़-खाबड़ धरती में भी खेती लहलहाती है और भयंकर गर्मी के दिनों में भी पलाश में फूल मुस्कराते है, उसी तरह यहां ऊपर से कठोर लगने वाली "निमाडी भाषा" में भी आप मधुरतम स्वप्न, विराट कल्पनाओं, उद्यम महत्वाकांक्षाओं और सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वभाव-चित्रण से युक्त मनोरम स्वरूप वर्णन पायेंगे।

उपमाओं की दृष्टि से इसमें एक ओर यदि मानसरोवर की तरह पिता, गंगा की तरह मां, गुलाब के फूल की तरह बच्चे और ऊगते हुए सूर्य की तरह स्वामी का जिक्र है, तो सौन्दर्य की दृष्टि से इसमें ऐसी अनिंद्य सुन्दरियों का जिक्र है जिनका रूप दुश्मन की छांह से जलने लगता है और जिनके हाथ रेशम की डोर से युक्त सोने के घड़े को खींचते छिलते हैं।

प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से, यहां का सूर्य भी धरती के भाल पर लगे कुंकुम की तरह ऊगता है,और यहां के आम्र-वृक्ष मोतियों की तरह मौरते आये हैं।

यहां की निर्मल चांदनी रात में चांदनी की ही तरह उज्ज्वल लोक-गीत एवं लोक-कथायें गूंजती रही हैं।

गीत मनुष्य का स्वभाव है। हमारे जीवन में ऐसा एक भी कार्य नहीं जो बिना गीत के हो। किसान खेत में हल चलाता है तो गीत के साथ, मजदूर मिट्टी कूटता है तो गीत के साथ, स्त्रियां दही बिलौती है तो गीत के साथ और चक्की पीसती है तो चक्की के स्वर के साथ गीत की सुमधुर कड़ियां भी गूंजती आई है।

गीत, ताने बानों की तरह हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चुके हैं। हमारे यहां बच्चे के जन्म के गीत है, नामकरण-संस्कार के गीत है, जनेऊ के गीत हैं, ब्याह के गीत हैं। और आदमी जब मर जाता है तो उसे भी गाते-बजाते हुए ले जाने की प्रथा है। सम्पूर्ण जीवन स्वयम् एक सुन्दर संगीत है।

इन गीतों में मानव-मन की सुकोमल भावनाएं अंकित रही हैं। मनुष्य का मन जब अपने आप में नहीं समाता, या बेचैन हो उठता है तो वह किसी की याद में गाता, गुनगुनाता आया है।

इन गीतों के सहारे ही प्राचीन काल में मनुष्य इन्द्रधनुष की तरह रंगीन स्वप्न बुनता, गिरि-शिखरों की यात्रा करता, सागर की लहरों से खेलता और वायु की लहरों पर तैरते हुए अनन्त के ओर-छोर नापता आया है। गीत, एक साथी की तरह सदा उसका साथ देते आये हैं।

जिस गीत ने मुझे लोक-गीतों की ओर आकर्षित किया वह एक गनगौर गीत है। एक दिन मैं गांव के अपने घर में बैठा हुआ था। इसी बीच स्त्रियों का एक दल गीत की निम्न पंक्तियां गाते हुए वहां से निकला :—

"शुक्र को तारो रें ईश्वर ऊगी रह्यो

तेकी मख ऽ टीकी घडाव।

"हे प्रिय, वह जो आकाश में शुक्र का तारा दीख रहा है न, उसकी मुझे टीकी घड़वा दो।"

गीत की इस एक पंक्ति पर ही मैं मुग्ध रह गया। शिक्षा के नाम पर जिन्होंने एक अक्षर नहीं पढ़ा, और यात्रा के नाम पर अपने जिले की सीमा नहीं लांघी, विचार और भावनाओं की दृष्टि से उनके पास कितनी भव्य और विराट कल्पना है। उसके बाद तो मुझे अनेकों गीत मिले हैं, लेकिन इसकी टक्कर का गीत आज तक कहीं नहीं पा सका हूं।

पूरा गीत इस प्रकार है—

"शुक्र को तारो रे ईश्वर ऊंगी रह्यो,
तेको मख ऽ टीकी घड़ाव ॥१॥
ध्रुव को बादल ई रे ईश्वर तुली रह्यो,
तेको मख ऽ तहबोल रंगाव ॥२॥
सरग की बिजल ई रे ईश्वर कड़की रह्यो,
तेको मख ऽ मगजी लगाव ॥३॥
नव लख तारा रे ईश्वर चमकी रह्या,
तेकी मख ऽ अंगिया सिलाव ॥४॥
चांद सूरज रे ईश्वर ऊंगी रह्या,
तेको मख ऽ टूक्को लगाव ॥५॥
वासुकी नाग रे ईश्वर देखई रह्यो,
तेको मख ऽ वेणी गुंथाव ॥६॥
बड़ी हट वाल ई रे गौरल गोरड़ी ॥

अर्थ है—

"हे पतिदेव, यह जो आकाश में तेजस्वी 'शुक्र का तारा' चमक रहा है न, उसकी मुझे 'बिन्दी' घड़वा दो।

"और वह जो ध्रुव की ओर (उत्तर में) बरसने योग्य बदली छाई हुई है उसकी मुझे चूनर रंगवा दो।

"और सुनो, स्वर्ग में कड़कने वाली 'बिजली' की उसमें 'मगजी' लगवा देना।

"साथ ही आकाश में चमकनेवाले 'लाखों ताराओं', की मुझे 'कंचुकी' सिलवा देना कि जिसके अग्रभाग में सूर्य और चन्द्र जड़े हों।"

इस तरह बादल और बिजली से लगाकर, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र से युक्त अपनी चूनर और कंचुकी बनवाने का आग्रह करने के बाद वह एक चीज की और मांग करती है। और वह है अपने केशों में गूंथने के लिये चोटी का आग्रह। लम्बे चिकने केश स्त्री के सौंदर्य के साथ ही साथ सौभाग्य के सूचक भी रहे हैं।

वह कहती है "हे पतिदेव, यह जो इठलाता और बल खाता हुआ वासुकी नाग दीख रहा है उसकी मुझे वेणी गुंथवा दो।"

इस पर उसका पति कहता है "हे गौर वर्ण तनु, तू बड़ी हठ वाली है!"

इस गीत के संबंध में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "निमाड़ी गनगौर का यह गीत अकेला ही लाख गीतों के बराबर है। इसकी विराट कल्पना को देखकर मैं स्तब्ध रह गया। आकाश, सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, शुक्र, मेघ, विद्युत्, भारतीय आकाश के इन चिरन्तन उपकरणों से लोक-गीत की भावात्मा का शृंगार हुआ है, जो साहित्य में कहीं कहीं ही देखने में आता है। सचमुच यह निमाड़ी गीत, गीतों का राजा है।"

रूप-वर्णन की दृष्टि से गनगौर का एक गीत अद्वितीय है।

संस्कृत रीति ग्रंथों में स्त्री-सौंदर्य के लिये जिन उपमाओं का जिक्र किया है, उनमें से अधिकांश इस गीत में ज्यों की त्यों मिलती हैं।

गोवर्धनाचार्य के मत से स्त्री-शरीर में निम्नलिखित गुण होने चाहियें :—

"सौंदर्य, मृदुता, कृशता, अति कोमलता, कांति, उज्ज्वलता और सुकुमारिता।"

नासा के दोनों पुट समान होने चाहियें। इसके सिवा "सुग्गे की चोंच" से भी इसकी उपमा देने की रीति है।

"दांतों में श्वेतता, अधर भाग में लालिमा और अत्यन्त दीप्ति वर्णनीय गुण माने गये हैं। इन गुणों के लिये मुक्ता, माणिक्य, नारंगी, 'दाड़िम', कुन्दकली और तारों की उपमा देते हैं।"

सामुद्रिक लक्षणों में हाथ की अंगुलियों की कृषता को सौभाग्य का लक्षण बताया है। इसलिये इसकी उपमा, कभी कभी, "मूंगों की टहनियों" से दी गई है।

अब देखिये निमाड़ी के इस एक गीत में ये ही उपमायें कितनी सरल और सजीव होकर उतरी हैं।

गीत के बोल हैं—

"थारो काई काई रूप बखाणूं रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारी आंगल ई मूंग की सेंग ई रनुबाई,
सोरठ देस से आई ओ।
थारो सिर सूरज को तेज रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारी नाक सुआ की रेख रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारा डोला निंबू की फांक रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारा दांत दाड़िम का दाणा रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारा होंठ हिंगुल की रेख रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारा हाथ चम्पा की डाल रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारा पांय केल का खम्ब रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।
थारो काई काई रूप बखाणूं रनुबाई,
सोरठ देस सी आई ओ।"

अर्थ.—"हे देवी तुम्हारे किन किन स्वरूपों का वर्णन किया जाय? तुम सौराष्ट्र देश से जो आई हो। तुम्हारे हाथ की अंगुलियां मूंग की फली जैसी पतली, नरम और कोमल हैं और तुम्हारा चेहरा सूर्य की तरह देदीप्यमान है, तुम्हारी नाक सुये की चोंच की भांति अत्यन्त ही नुकीली है और तुम्हारी आंखें निंबू की फांक की तरह गोल, बड़ी और चमकीली हैं, तुम्हारे दांत अनार के दानों की तरह सुन्दर हैं। तुम्हारे ओंठ हिंगुल सदृश्य लालिमा लिये हुए हैं। तुम्हारे हाथ चम्पे की टहनी की तरह पतले और नाजुक हैं और तुम्हारे पांव केले के खम्ब की तरह गोल, चिकने और सीधे हैं। हे देवि! तुम्हारे किन किन स्वरूपों का वर्णन किया जाय। तुम सौराष्ट्र देश से जो आई हो।"

इन गीतों में हमारे पारिवारिक जीवन की भी अत्यन्त ही सुन्दर कल्पनाएं पिरोई गई हैं। आज कल सपने लिखने की रीति है, लेकिन लोक-गीतों में आज से जाने कितने समय पूर्व ही एक ऐसे स्वप्न की कल्पना की गई है जिसमें सुन्दर प्रतीकों के सहारे हमारे पारिवारिक जीवन का दर्शन कराया गया है। बात यह होती है कि रनु एक दिन स्वप्न में १४ वस्तुएं देखती है और सुबह उठने पर अपने पति से उनका अर्थ पूछती है। वह पूछती है कि "हे प्रिय, रात सपने में मैंने मानसरोवर देखा और भरा-पूरा भण्डार देखा, बहती हुई गंगा देखी और भरी-पूरी बावड़ी देखी, सावन की हरियाली तीज देखी और कड़कती हुई बिजली देखी, गोकुल का कन्हैया देखा और तरवरता बिच्छू देखा, गुलाब का फूल देखा और झिलमिलाता हुआ दीप देखा। केले का वृक्ष देखा और बांझ गन्ने का खेत देखा, पीला ओढ़े हुए स्त्री देखी और ऊगता हुआ सूर्य देखा।

हे पतिदेव, मुझे सपने का अर्थ बताइये।"

इस पर पति कहता है कि "हे रनु, मानसरोवर तुम्हारे पिता हैं और बहती हुई गंगा की तरह निर्मल तुम्हारी मां है। भरा हुआ भण्डार तुम्हारे ससुर हैं और भरी हुई बावडी तुम्हारी सास है। सावन की तीज तुम्हारी बहिन है और कड़कती हुई बिजली तुम्हारी ननद है। गोकुल का कन्हैया तुम्हारा भाई है और तरवरता बिच्छू तुम्हारा देवर है। गुलाब का फूल तुम्हारा पुत्र है और चमकता हुआ दीप तुम्हारा जवाई है। आंगन की केल तुम्हारी कन्या है और बांझ गन्ने का खेत तुम्हारी दासी है। पीला वस्त्र ओढ़े हुए स्त्री तुम्हारी सौत है और उगते हुए सूर्य की तरह देदीप्यमान तुम अपने पति को समझो।"

इस पर रनु कहती है कि "हे मेरे पतिदेव तुमने सपने का सही अर्थ बता दिया।"

हमारे यहां विवाह के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं वे भी अपने पीछे बड़ा ही गहरा अर्थ लिये रहते हैं। यद्यपि नई पीढ़ी के साथ इनका लोप होता जा रहा है और इनका स्थान हल्के, ओछे और उथले सिनेमा के गीत लेते जा रहे हैं, लेकिन हमारे विवाह-गीतों में जो भाव हैं, वह और कहां मिल सकता है? उनसे विश्वास और मान्यताओं का भी पता चलता है।

विवाह में मण्डप के दिन स्त्रियों के द्वारा रोने का रिवाज है। इस पर आज के लोगों द्वारा एतराज किया जाता है। लेकिन दर असल बात यह है कि जब बच्चे का ब्याह रचाया जाता है तो उस समय पूर्वजों की याद आना स्वाभाविक है। इस याद को लेकर एक गीत की रचना की गई है। इसमें मण्डप के दिन स्वर्ग तक उड़ने वाली एक गोधनी के जरिये अपने पूर्वजों के पास विवाह में पधारने का निमंत्रण भेजा जाता है। इस पर वे वहां से संदेशा भेजते हैं कि—

"जेम सर ऽ ओम ऽ सारजो, हमारो तो आवणो नी होय,
जड़ी दिया वज्र किवाड़, अग्गल जड़ी लुहा की जो।"

अर्थ है—"आप जिस तरह भी हो इस कार्य को निपटा लेना। हमारा तो आना नहीं हो सकता, कारण हमारे आने की राह मौत रूपी दरवाजों से बन्द है जिस पर लोहे की बडी बडी अरगलायें लगी हुई हैं।"

जीवन की लाचारी का कैसा करुण चित्र है। यदि इस अवसर पर भी मनुष्य को रोना न आवे तो और कब आवेगा।

ये लोक-गीत अपने साथ सुन्दर हास्य और शृंगार भी लिये हैं। एक उदाहरण उसका भी लीजिये :—

विवाह के अवसर पर एक गीत में वर अपनी अतुल सम्पत्ति का जिक्र करते हुए वधू से अपनी चांदनी पर चौसर खेलन के लिये आने का आमन्त्रण देता है तो वधू कहती है :—

"बना म्हारो हलदी भर्‌यो अंग,
म्हारी पाटी म ऽ गुलाल
म्हारी चोटी म ऽ अत्तर,
बना म्हारी चांदनी पर चौसर खेलण आवजो।"

"हे प्रिय, अभी मेरा हलदी से भरा हुआ अंग है, मांग में सिंदूर लगा है, चोटी इत्र से भीगी हुई है, भला मैं तुम्हारे यहां कैसे आ सकती हूं आज तो तुम ही मेरी चांदनी पर चौसर खेलने आ जाओ।"

इस पर भी जब उसकी सहेलियां उसीसे वहां जाने का आग्रह करती हैं तो वह कहती है—

"थारा रंगमहल कसो आऊं रे बना,
म्हारा झांझरिया जो बाजऽ,
म्हारा झांझरिया की रुणुक झुणुक,
म्हारा पिताजी सुणी लेसे।"

"हे प्रिय, मैं तुम्हारे रंगमहल में कैसे आऊं, मेरे पांवों की पैंजनियां जो आवाज करती हैं। यदि मेरे पायलों की रुनुक झुनुक ध्वनि मेरे पिताजी ने सुन ली तो?"

इस पर 'वर' मुस्कराते हुए जवाब देता है—

थारा पिताजी की गाल्ई तो बनी, मख बहुत ज प्यारी लाग

"हे प्रिय, तुम आ भी जावो। तुम्हारे पिताजी की गाली तो मुझे बहुत ही प्यारी लगती है।"

लोक-गीतों की तरह निमाडी लोक-कहावतें भी अत्यंत समृद्ध रही हैं। लोक-कहावतों में मानवीय जीवन का शताब्दियों का अनुभव गुंथा हुआ है। अनादि काल से मनुष्य की जो जीवन-यात्रा चली आ रही है, उसमें जहां भी रुकावट आई या उसने अपने मार्ग में विजय पाई है, वहीं उसने अपने अनुभवों को अत्यन्त ही बारीक ढंग से काव्यमयी भाषा में संजोकर रख लिये हैं। उसके ये अनुभव ही सुन्दर भावों से श्रृंगार कर, कल्पना के पंखों पर सवार हो, पैनी सूझ के सहारे लोक-कहावतों के रूप में सदियों से मानव का मार्ग-दर्शन करते आये हैं। देखिये—

एक निमाड़ी लोक-कहावत में परदेशी की प्रति का कैसा सही चित्र उतार कर रख दिया है। कहावत है—

"परदेसी की प्रीत
न फूस को तापणो"

"परदेशी की प्रीत फूस से तापने की तरह है। वह फूस की आग की तरह एक क्षण भभक कर दूसरे क्षण समाप्त हो जाती है।"

इसी तरह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में बड़ी ही सुन्दर बात कही गई है। कहा है—

"लुगाई ख ऽ शरम, न आदमी ख ऽ मरम।"

"स्त्री की शोभा 'शर्मीले' होने में, और पुरुष की 'मर्मीले' होने में है। जो आदमी 'मरम' की बात न जाने वह भी क्या आदमी है?"

ब्याह सगाई के समय, काफी छान-बीन के बाद जिससे भी रिश्ता कायम कर लिया जाता है, उसके बारे में कहा जाता है—

"बिंधा तो हुआ मोती।" जिसे चुन लिया वही मोती है।

सन्ध्या के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही सुन्दर कहावत है। चूंकि सांझ अपनी गोद में गरीब और अमीर सबको समान विश्राम देती है इसीलिये उसके बारे में कहा गया है—

"सबकी मांय सांझ।" सन्ध्या सबकी मां है।

ये कहावतें प्रकृति-वर्णन से भी खाली नहीं हैं। एक बरसाती कहावत में मां के परोसने से मघा के बरसने की तुलना की गई है। कैसी विराट स्नेहिल कल्पना है।

"मघा को बरसणो,
न माय को परसणो।"

यानी मघा में मेह ऐसे बरसता है, मानो मां परोस रही हो।

इसीलिये लोक-कथायें, सदियों से मनुष्य के मनोरंजन का साधन रही हैं। इन कथाओं में मनुष्य ने अपनी रंगीन कल्पनाओं के सहारे सुन्दर से सुन्दर चित्र संजोये हैं। इनमें कुछ भी असम्भव नहीं होता। यहां मनुष्य इच्छा मात्र से सात समुन्दर को लांघता, नौ खण्ड पृथिवी की परिक्रमा करता, पशु-पक्षियों से मनुष्य की तरह बातचीत करता और स्वप्न में देखी किसी द्वीप की ऐसी अनुपम सुन्दरी से ब्याह रचा लेता है जिसके समक्ष स्वर्ग की अप्सरा और पाताल-लोक की नाग-कन्याएं भी पानी भरती हैं।

अलंकार की दृष्टि से इनमें ऐसे बीहड़ जंगलों का वर्णन है जहां दिन में भी "न्हार डकार ऽ न चोर पुकार ऽ" —शेर दहाड़ते और चोर पुकारते हैं। तथा कहीं-कहीं तो ऐसे सुनसान बियाबान हैं जहां "चीड़ी नी चीड़ी को पूत"— "पर मारने वाले पक्षी तक" नजर नहीं आते।

इसमें ऐसे पथिकों का वर्णन भी है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये "रात-जबं ऽ भूई स लगी जाज"—रात जब जमीन को लग जाती है—तब भी अपना मार्ग चलना नहीं छोड़ते, और कभी "सामी-रात" और कभी "पाछली-रात"—"कभी रात को सामने लेकर और कभी रात को पीछे लेकर" निरन्तर चलते रहते हैं।

इस तरह निमाडी लोक-साहित्य, यहां के लोक-जीवन से तदाकार हो, सतत विकासशील रहा है।

भारतीय भाषाओं का भविष्य

डॉ. रघुवीर

जबसे भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की तबसे भाषा का प्रश्न जनता के सामने अनेक रूपों में आ रहा है। एक ओर हिन्दी-भाषी और दूसरी ओर अहिन्दी भाषी। एक ओर उत्तर भारतीय और दूसरी ओर दक्षिणात्य। एक ओर शुद्ध भारतीयता के पक्षपाती, दूसरी ओर अंग्रेजी के पण्डित।

आज शासन अंग्रेजी पण्डितों के हाथ में हैं। किसी कार्यालय में यदि चपरासी का स्थान भी रिक्त हो, तो पूछा जाता है—क्या अंग्रेजी जानते हो। अभी तक अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय सेवाओं की परीक्षाओं में अंग्रेजी अनिवार्य विषय है। उच्च पाठशालाओं में भी अंग्रेजी अनिवार्य है। इतना ही नहीं भारत की राजधानी दिल्ली में सबसे महंगी बच्चों की पाठशालाएं अंग्रेजी में ही अध्यापन करती हैं।

यदि यह कहा जाए कि स्वतन्त्रता के पश्चात् अंग्रेजी का प्रसार और प्रचार अनेक दिशाओं में वेग से बढ़ रहा है, तो अत्युक्ति न होगी। अंग्रेजी समाचारपत्रों की संख्या भी पहले की अपेक्षा अधिक है। प्रातः चाय पीने से आरम्भ करके रात की कॉफी तक पाश्चात्य रहन-सहन की अनुकृति तथा विदेशी भाषा में वार्तालाप उच्च वर्ग के कुलों में निश्शंक रूप से दिनानुदिन वृद्धि पा रहे हैं।

फिर भी देश की आत्मा के प्रतिनिधि देशीय भाषाओं के प्रेमानुशीली नर और नारी स्वप्न देख रहे हैं कि किसी दिन भारत में भारतीय भाषाओं का सूर्य उदय होगा।

यदि भारत में एक ही साहित्यिक भाषा होती, तो उसके सूर्य के उदय होने में विशेष आभ्यन्तरिक बाधायें न पड़तीं।

भारत एक राष्ट्र है, अतः इसकी एकता को बनाये रखना हमारा परम कर्तव्य है। भाषा के क्षेत्र में एकता के स्थान में वैविध्य है। संकीर्ण दृष्टि से देखते हुये अंग्रेजी भाषा भारत की भाषिक एकता का प्रतीक मानी जा रही है। सन्तोष की बात यह है कि यह दृष्टिदोष एक विशेष वर्ग तक ही सीमित है। यह वर्ग भारतीय भाषाओं के आगमन को ईर्ष्या और आशंका की दृष्टि से देखता है। यह वर्ग शक्तिमय है, इसलिये इसकी चतुराई और शासन की शक्ति प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से जब तक हो सके तब तक अंग्रेजी को चालू रखने और देशीय भाषाओं को दबाए रखने में लग रही है और लगती रहेगी। अंग्रेजी को निकालने के लिये भारतीय भाषाओं का परस्पर समीप लाना अपरिहार्य है। किन्तु जब तक अंग्रेजी मार्ग में से नहीं हटेगी, तब तक हमारी अपनी भाषाएं कैसे एक दूसरे के समीप आ सकती हैं? जब तक सभी भारतीय अंग्रेजी पढ़ेंगे और प्रयोग करेंगे तब तक हिन्दी अथवा अन्य भाषाओं का स्थान नगण्य रहेगा।

हमारे दैनिक जीवन से, हमारे घर से, अंग्रेजी का बहिष्कार, देश की प्रथम आवश्यकता है। इस देश में समाचार-पत्र विदेशी भाषाओं के न होकर अपनी भाषाओं के होने चाहिए। अंग्रेजी के द्वारा उदरपूर्ति करनेवाला वर्ग, भारतीयता से अनभिज्ञ और उसकी उपेक्षा करनेवाला वर्ग इन बातों को सुनकर रुष्ट होता है। किन्तु इसमें दोष का तनिक स्थान नहीं। हिन्दी क्षेत्रों में केवल हिन्दी पत्र ही चाहिए।

इस प्राक्कथन के पश्चात हम भारतीय भाषाओं पर आते हैं। हमारी भाषाओं और उपभाषाओं की संख्या दो सौ से ऊपर है। इनमें से उप-भाषाओं का विचार करना हमारे आज के प्रयोजन के लिये सार्थक नहीं। हमारी भाषाओं की संख्या बारह समझनी चाहिए,—आठ उत्तर भारत में और चार दक्षिण में। उत्तर की भाषाओं में संविधान ने कश्मीरी को भी स्थान दिया है। किन्तु कश्मीर राज्य ने कश्मीरी को राजभाषा न मान कर उर्दू को राज्यभाषा बनाया है।

अब अन्त में रही एक भाषा संस्कृत। संविधान ने महती दूरदर्शिता से संस्कृत को आधुनिक भारतीय भाषाओं में स्थान दिया है। संस्कृत हमारी स्रोत-भाषा है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और मध्यप्रदेश में संस्कृत हमारी मातामही धात्री, पोष्ट्री रही है और रहेगी। विशालता, गम्भीरता, प्राचीनता, विकास-क्षमता आदि गुणों में संस्कृत अनुपम तथा

अप्रतिद्वन्दिनी है। हमारी आधुनिक भाषाओं के साथ इसका अजर-अमर सम्बन्ध है। विदेशी भाषाओं की आसक्ति तथा स्वदेश-उपेक्षा के मद में कभी-कभी लोग संस्कृत का अपमान करते हुए दिखाई देते हैं। वे वास्तव में संस्कृत का नहीं किन्तु अपना अपमान करते हैं। संस्कृत का विकास स्वतंत्र भारत में हुआ। जब तक देश स्वतंत्र रहा, राजनीति में अथवा विचारों में, तब तक संस्कृत भारत के मस्तिष्क की जाज्वल्यमान पताका रही। यह भारत के गौरव को देशदेशान्तर में ले गई। जब से भारत वीर्यहीन और विचार-शिथिल हुआ, तब से विदेशियों ने हमको पददलित किया। फारसी बोलनेवाली जातियों ने हमारी भाषाओं को दबाया और यहाँ फारसी का बलात् प्रचलन किया। अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच और पोर्तुगाली जातियों ने हमारे समुद्री मार्ग बन्द किए और धीरे धीरे हमारे देश को हस्तगत किया। इन्होंने संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं को और भी नीचे दबाया और अपनी सहस्रों कोस दूर की भाषाओं को यहां स्थापित किया।

एक सहस्र वर्ष के पीछे आज अवसर मिला है कि दिल्ली की भाषा भारतीय भाषा हो।

आज संस्कृत लोक-भाषा नहीं, इसलिये यद्यपि साहित्य में इसका स्थान रहेगा किन्तु सामान्य जीवन में लोक-भाषाओं का ही स्थान होगा।

यह स्थिति उपस्थित होने पर समस्त देश की एक मुख्य भाषा संविधान ने हिन्दी घोषीत की और स्थानीय भाषाओं के रूप में अन्य ग्यारह भाषाओं को स्वीकार किया।

क्योंकि हिन्दी भारतीय भाषा है इसलिये स्वाभाविक रूप से अन्य भाषाओं के प्रयोक्ताओं के मन में भावना उत्पन्न होती है,—अब हमारी भाषाओं का देश में क्या स्थान होगा ?

हिन्दी-भाषियों को इस प्रश्न का समाधान करना होगा। अन्ततोगत्वा स्थिति निम्न-रूप में होगी। इस अन्तराल में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े संघर्ष होने की संभावना है, किन्तु वस्तुस्थिति का तर्क इतना प्रबल है कि दूसरी गति सम्भव प्रतीत नहीं होती—

१. हिमाचल, दक्षिणी पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यभारत, भूपाल, अजमेर और उत्तरीय मध्यप्रदेश—इन दस प्रान्तों में हिन्दी प्रशासन, शिक्षा तथा समस्त जनता के कार्य में एकमात्र भाषा होगी।

२. भाषानुसार आसाम, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र, तेलुगु, कन्नड, तामिल और मलयालम प्रदेशों की सीमाएं निर्धारित की जाएंगी और प्रत्येक प्रान्त में एक भाषा होने पर उसी भाषा में वहां का प्रशासन, शिक्षा और सार्वजनिक कामकाज चलेगा।

३. प्रत्येक प्रान्त में सीमाओं पर तथा बड़े नगरों में अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोक्ताओं की पर्याप्त मात्रा रहेगी। इन की सुविधा के लिये यह आवश्यक होगा कि पाठशालाओं में बच्चों के लिये अपनी-अपनी भाषाएं पढ़ने का समुचित प्रबन्ध हो तथा इन की भाषाओं के समाचारपत्र और साहित्य प्रशासन यथापेक्षित मात्रा में हों। व्यापार के क्षेत्र में भी इन को अपनी भाषा प्रयोग करने का अवसर होगा।

४. राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रयोग समस्त भारत में होगा; हिन्दी के द्वारा ही विभिन्न प्रान्तों में सम्पर्क की स्थापना होगी। अखिल भारतीय सेवाओं, अन्वेषणालयों, सम्मेलनों आदि की भाषा हिन्दी होगी।

५. सेना की भाषा हिन्दी होगी।

६. हिन्दी-भाषी प्रान्त अनेक हैं और रहेंगे। हिन्दी की सीमापर पंजाबी, गुजराती, मराठी, तेलुगु, उड़िया, बंगाली और आसामी विद्यमान हैं। ये भाषाएं हमारी पड़ोसी हैं। प्रत्येक प्रान्त को अपनी पड़ोसी भाषा के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा जनता को देनी होगी।

जो नियम हिन्दी के लिये दिया है वही अन्य भाषाओं को लागू होगा। उदाहरणतः मराठी प्रदेश की सीमाएं, गुजराती, हिन्दी, उड़िया, तेलुगु और कन्नड के साथ लगी हुई हैं तथा तामिल की सीमाएं मलयालम, कन्नड और तेलुगु से।

मातृभाषा और राष्ट्र भाषा ये दो ही भाषाएं अनिवार्य हो सकेंगी, शासन में तथा शिक्षा में। इनके अतिरिक्त अपने समीप की भाषा का प्रबन्ध होगा किन्तु वह भाषा अनिवार्य नहीं होगी।

७. ऊपर की स्थिति लाने के लिये अंग्रेजी का अधिपत्य दूर करना ही पड़ेगा। प्रशासन से हटते ही शिक्षालयों में अंग्रेजी वैकल्पिक करनी होगी। अंग्रेजी की छाया हटने पर ही हमारी नन्हीं भाषाओं के पौधे फलें और फूलेंगे।

८. अंग्रेजी से समाचारपत्र चाहे राजनियम से बन्द न किए जाएं किन्तु जनता को उनकी आवश्यकता नहीं रहेगी और जो धन एवं बुद्धि उनके चलाने में लग रही है, वह अपनी भाषा के पत्रों के चलाने में लगेगी।

९. विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी के साथ-साथ संसार की अन्य प्रमुख भाषाओं के अध्यापन का उपयुक्त प्रबन्ध रहेगा। मध्य और दक्षिणी अमेरिका के लिए हिस्पानी (स्पेनिश) और पोर्तुगाली, यूरोप के लिए जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी, इताली, पूर्व देशों में से आधुनिक उदीयमान जातियों की भाषाएं, यथा जापानी, चीनी, बर्मी, लंका की सिंहली, तिब्बत की भोट, मंगोल आदि। समुद्र के पार जावा, सुमात्रा, बाली, थाई तथा कम्बोज की भाषाएं, इत्यादि-इत्यादि।

लण्डन विश्वविद्यालय में दो सौ से अधिक भाषाओं के अध्यापन का प्रबन्ध है। हमारा राष्ट्र इंग्लैंड से विशाल बनेगा। हमारे विश्वसम्पर्क उनकी अपेक्षा किसी भी अवस्था में संकीर्ण न होंगे। केवल अंग्रेजी जानना शेष देशों की ओर से आंखें मींच लेना है। भोट, चीन आदि तो हमारे पड़ोसी हैं। इन भाषाओं के विज्ञ आज दस-बारह से अधिक नहीं। समय आने पर, चाहे वह समय समृद्धि का हो अथवा संकट का, हमें सहस्रों भोट और चीनी के जानने वालों की अपेक्षा होगी।

आज हम संसार को अंग्रेजों के द्वारा देखते हैं। उन्हीं के लिखे ग्रन्थ पढ़ते हैं। यह विभिन्न देशों के साथ अन्याय है। अंग्रेजों के लिखित भारत-सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़कर क्या कोई जर्मन अथवा जापानी भारत का सच्चा परिचय प्राप्त कर सकता है? यही दशा अंग्रेजों द्वारा लिखित अन्य देश विषयक ग्रन्थों की भी जाननी चाहिए। संसार के प्रत्येक देश से हमारा संपर्क सीधा होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए भारतीय विद्वान स्वयं विभिन्न विदेशों में जाकर उनकी भाषा और साहित्य का स्वयं बोध करेंगे और अपनी भाषा में साहित्य निर्माण करेंगे जिससे वास्तव में हमारी बुद्धि और ज्ञान का विस्तार होगा और अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक उपकार होगा।

१०. हमारी पाठशालाओं में अंग्रेजी का स्थान हमारी मातृभाषा, हमारी राष्ट्रभाषा और हमारी स्रोत-भाषा संस्कृत लेगी। फिर भी हमारे बच्चों की शक्ति और समय की इतनी बचत होगी कि अपनी भाषाओं और साहित्य के गहरे और विशाल अध्ययन के साथ-साथ वे सामान्य तथा विशेष विद्याओं में आज की अपेक्षा कहीं अधिक प्रवीणता प्राप्त कर सकेंगे। इस विषय की विशेष व्याख्या अपेक्षित है। आज बालक अंग्रेजी के बिना किसी आधुनिक विषय में वास्तविक प्रवेश के असमर्थ होता है। इसलिए बी. ए. और बी. एस् सी. के पूर्व तक भारतीय विद्यार्थी मौलिक चिन्तन के द्वार से दूर रहता है। अंग्रेजी का अर्गल हटते ही भारतीय साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ होगी और सर्वतोमुखी ज्ञान और विज्ञान के द्वार खुलने आरम्भ हो जाएंगे।

अंग्रेजी केवल विश्वविद्यालयों में रह जाएगी और वहां भी विकल्प रूप से। जैसा कि हम अभी निर्देश कर आए हैं, अंग्रेजी का विकल्प संसार की अन्य विकसित भाषाएं होंगी—जापानी, रूसी, जर्मन तथा फ्रांसीसी। भावी भारत के विद्वान तथा नेता अंग्रेजों के मानसिक दास न रहेंगे।

११. हमारे नवीन साहित्यसर्जन के लिए प्रथम आवश्यकता पारिभाषिक शब्दावली की है। ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारी आंग्ल मानसपुत्र अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शब्दों के प्रतिस्थानी भारतीय भाषा और शब्दोंको द्वेषबुद्धि से देखते हैं। पहले तो वे यथाशक्य असीम काल तक अंग्रेजी चालू रखने का यत्न कर रहे हैं, किन्तु इसमें सफलता न होते देख वे अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के शत-सहस्रग्रीव रावण के मुंह में बालिका तपस्विनी, नन्ही हिन्दी को झोंकना चाहते हैं—रोमन लिपि, रोमन संक्षेप, गणित और रसायन के सूत्र, फलों, फूलों और जड़ी-बूटियों के नाम, समासतः १५-२० लाख शब्द। आधुनिक समस्त ज्ञान के साधनभूत बुद्धिगम्य भाषांग निर्माण के मार्ग में वे पत्थर की भित्ति बनकर खड़े हो गए हैं। किन्तु यह निश्चय है कि इनके वक्ष स्थल का निष्चूर्णन करती हुई भारतीय गदा अपना मार्ग खोलेगी। रोगाणु जैसा सरल विषय, अंग्रेजी और लातीनी दुरूहता के अन्धतमस में लिपटता हुआ भारतीय विद्यार्थी को अपने समीप फटकने नहीं देता। जिस रोगाणु विषय का श्रीगणेश केवल आयुर्विज्ञान के विद्यार्थी अठारह-बीस वर्ष की आयु में ही कर सकते हैं, वह विषय भारतीय पदावली में सरल वेश धारण कर अपने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तथा रसास्वादन चौदह-पन्द्रह वर्ष के बालक को करा सकेगा।

भारतीय वैज्ञानिक शब्दावली का वही स्रोत है जो भारतीय साहित्यिक शब्दावली का। वे ही धातु, वे ही उपसर्ग, वे ही प्रत्यय, वे ही सन्धि, समास तथा कृदंत और तद्धित के नियम। घरेलू भाषा से साहित्यिक भाषा तक पहुंचने के लिये जो अन्तर है, उससे भी थोड़ा अन्तर साहित्यिक भाषा से वैज्ञानिक भाषा तक पहुंचने में पार करना होगा। ९५ प्रतिशत वैज्ञानिक शब्द तो साहित्यिक शब्दों से मूलतः सर्वथा अभिन्न होंगे। भेद केवल विषय का होगा।

भारतीय पारिभाषिक पदावली हमारी भाषाओं को एक सूत्र में बांधेगी। हमारी भाषाएं एक दूसरे के समीपतम आ जाएंगी।

१२. आधुनिक साहित्य-सर्जन के क्षेत्रमें हमको केवल पाठ्यपुस्तकों से ही संतोष न होगा। प्रत्येक विज्ञान और उसके अंगों तथा प्रत्यंगों का बोध करने के लिये हमारी भाषा जापानी के समान समृद्ध होगी। मैं जिस किसी भारतीय विश्वविद्यालय के बृहत् पुस्तकालय में दृष्टि डालता हूं तो प्रत्येक अलमारी में ९० प्रतिशत ग्रन्थ वे हैं जो अनुसंधान की दृष्टि से बीतयाम, गतप्राण और व्यर्थ हो चुके हैं।

प्रथम तो आधारभूत विश्वकोष रूपी ग्रन्थों का निर्माण, जिनमें प्रतिपादित विषय से सम्बन्धित सब सामग्री विद्यमान होगी। इन विश्वकोषों के संकलन में अद्यावधि जो अन्वेषण हुआ है, उसकी दृष्टि से निखिल सामग्री का व्यवस्थापन और समायोजन विराट् तथा अपूर्वकृत प्रयास होगा। अन्य देशों की भी वैज्ञानिक संस्थाएं हमारी ओर आदर-दृष्टि से झुकेंगी और हमारी कृतियों से लाभ उठाने की लालसा से हमारी भाषा को जानने की चेष्टा करेंगी। आज यह स्वप्न प्रतीत होता है, कल यह निष्पन्न तथ्य होगा। यह एक व्यक्ति तथा संस्था का काम नहीं किन्तु राष्ट्र द्वारा निष्पाद्य हमारी सामूहिक बुद्धि और प्रयास का अपूर्व फल। क्या प्राचीन भारत ने उच्चतम बौद्धिक उच्छ्राय की स्थापना न की थी? यदि की थी तो क्या इस युग में वह अपनी आत्मा को भूल जाएगा और नवीन ब्रह्मऋण से उऋण न होगा?

विश्वकोषों के सर्जन के साथ-साथ गवेषणात्मक प्रत्येक मार्गानुसंधायिका पत्रिकाओं की स्थापना होगी। नवीन विचारों की अनुश्रुति, विश्व के रहस्यों का आविष्कार—यह विज्ञान का गोचर है; प्रतिभाशाली मानवका नया क्रीडा-क्षेत्र है। भारत इस क्षेत्र में पदार्पण करेगा और अपनी सुषुप्त प्रज्ञा को जगाकर मानव को तुंगतम बुद्धिशृंगों पर आरूढ करेगा।

ऐतरेय ब्राम्हण का वचन है—

पुष्पिण्यो चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरे स्य सर्वे पाप्मानः श्रमेणप्रपथे हताः॥

ऋग्वेद के पथिकृत के नए मार्ग बनाते हुए उसकी जंघाओं में फूल विकसते हैं और आत्मा वैभवमय होकर फल-धारण करती है। मानव के सर्व पाप, विघ्न, बाधाएं इस लम्बे मार्ग में बुद्धिश्रम से हताहत होकर भूमिपर लेट जाती हैं और पथिकृत उनके देह को पददलित करता हुआ बढ़ता चला जाता है।

राजनीति के जगत् में स्वतन्त्रता, स्वाभिमान, स्वावलम्बन, सर्वसम्मत, अभीष्ट और श्रेयस्कर हैं। इनके बिना राष्ट्र दबा और सिकुड़ा हुआ रह जाता है। इस पर आधिपत्य करनेवाला राष्ट्र, इसकी प्राणवाहिनी नाड़ियों के रक्तरस का दुषण कर लेता है। सर्वथा यही स्थिति भाषा स्वातन्त्र्य की है। स्वभाषा वृद्धि का मार्ग खोलनेवाली और परभाषा-बुद्धि का शोषण करनेवाली है।

यो मं अन्नं यो मे रसं
वाचं श्रेष्ठां जिघांसति।
इन्द्रश्च तस्मा अग्निश्च
अस्त्रां हिंकारमस्यताम्॥

नाटक और रंगमंच

श्री गोविन्ददास

मानव का इस सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञानशक्ति के कारण है। निसर्ग ने मानव को, जो ज्ञानशक्ति दी है, वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। मानव ने अपनी ज्ञानशक्ति से जो कुछ उपार्जित किया है, उसे मोटे रूप से दो विभागों में बांटा जा सकता है—पहिला विज्ञान और दूसरा कला। यहां मैं इन दोनों शब्दों को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेता हूं; विज्ञान के अन्तर्गत सारे शास्त्रीय विषय आ जाते हैं और कला के अन्तर्गत सब प्रकार की कलायें। इस लेख से कला का ही सम्बन्ध है। कला के मोटे रूप से दो विभाग किये जा सकते हैं.—(१) वे सभी कलायें, जो पार्थिव संसर्ग होने पर ही आनन्द देती हैं यथा पाक-कला और (२) ललित कलायें, जो बिना किसी पार्थिव संसर्ग के चक्षु-इन्द्रिय अथवा श्रवणेंद्रिय से आनन्द देती हैं। इस लेख का सम्बन्ध ललित-कलाओं से है। ललित-कलाओं के मोटे रूप से पांच विभाग किये जाते हैं—(१) वास्तुकला, (२) मूर्तिकला, (३) चित्रकला, (४) संगीत-कला और (५) काव्यकला। इन पांचों कलाओं की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता इनके साधनों पर निर्भर है। जिस कला के निर्माण में जितने सूक्ष्म साधन होते हैं उस कला का स्थान उतना ही ऊंचा होता है क्योंकि कलाकार को साधनों की सूक्ष्मता के कारण अपनी कल्पना में स्वच्छन्दता प्राप्त रहती है। इसीलिये वास्तुकला से मूर्तिकला, मूर्तिकला से चित्रकला, चित्रकला से संगीत-कला और संगीतकला से काव्यकला ऊंची मानी जाती है।

काव्यकला के दो विभाग हैं.—(१) श्रव्य-काव्य और (२) दृश्य-काव्य। श्रव्य-काव्य से दृश्य-काव्य एक तो इसलिये ऊंचा है क्योंकि जहां श्रव्य-काव्य केवल श्रवणेन्द्रिय से आनन्द देता है वहां दृश्य-काव्य श्रवणेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों से। दूसरे दृश्य-काव्य में पांचों ललित-कलाओं का इकट्ठा समावेश रहता है।

संसार के विद्वान अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि सर्वप्रथम दृश्य-काव्य का प्रादुर्भाव और विकास भारत-वर्ष में ही हुआ था। दृश्य-काव्य पर जो सबसे प्रधान ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे हैं भरतमुनि का ग्रन्थ और यूनान के अरस्तू का ग्रन्थ। भरत मुनि ने दृश्य-काव्य के तीन प्रधान तत्त्व माने हैं.—वस्तु, नेता और रस। आश्चर्य की बात यह है कि अरस्तू ने भी दृश्य-काव्य के इन्हीं तीन तत्त्वों को प्रधानता दी है, प्लाट, हीरो और इमोशन। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि अरस्तू ने भरत मुनि से इन तीन तत्त्वों को लिया है, पर दो विद्वान किस प्रकार समान रूप से विचार करते हैं, इसका यह एक उदाहरण है।

संसार में जो पांच सर्वश्रेष्ठ नाटक माने जाते हैं, उनमें कालिदास का "अभिज्ञान शाकुन्तल" भी है।

आधुनिक काल में पश्चिम के नार्वे देश में ईब्सन नामक एक महान नाटककार हुए। भरत मुनि और अरस्तू के उपर्युक्त तीन तत्त्वों के अतिरिक्त ईब्सन ने कुछ और तत्त्व नाटकों में जोड़े। उनमें प्रधानतः समस्या है अतः आधुनिक काल में नाटकों में श्रेष्ठ नाटक के लिये जो प्रधान तत्व माने जाते हैं उनमें पहला तत्त्व समस्या आता है। समस्या के विकास के लिये वस्तु अर्थात् कथा की आवश्यकता होती है। कथा बिना पात्रों के नहीं बन सकती। पात्रों के साथ ही चरित्र-चित्रण आता है। चरित्र-चित्रण बिना संघर्ष के नहीं हो सकता। संघर्ष बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का होता है। बिना नेता (नायक) के नाटक की सूत्रबद्धता नहीं रह सकती इसलिये नेता प्रधान हो जाता है और इस सबके उपरान्त यदि रस (इमोशन) की उत्पत्ति न हो या रसभंग हो जाय तो वह दृश्य-काव्य काव्य-संज्ञा में आ ही नहीं सकता। अतः जिस नाटक में जितनी स्थायी और प्रबल समस्या होगी, जितनी मनोरंजक कथा होगी, जितना स्वाभाविक चरित्र-चित्रण होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा और जितनी सुन्दर रस की उत्पत्ति होगी, वह नाटक उतना ही श्रेष्ठ होगा। नाटक में जो कुछ कहा जाता है, वह लेखक के द्वारा नहीं परन्तु पात्रों के द्वारा ही। अतः कथोपकथन ही नाटक का प्राण है। नाटक के उसके दृश्य-काव्य होने के कारण किसी प्रकार की भी छोटी से छोटी अस्वाभाविकता सारे नाटक को भ्रष्ट कर देती है। ईब्सन ने नाटक में स्वाभाविकता लाने के लिये दो बातें और की थीं एक तो उन्होंने अपने बाद के नाटकों में स्वगत-कथन को कोई स्थान नहीं दिया। दूसरे संगीत का पूर्ण बहिष्कार किया। इंग्लैण्ड के बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, सर जेम्स बेरी, आयरलैण्ड के सीजे, फ्रांस के ब्रूइक्स, जर्मनी के हापमैन, इटली के

मेघदूत

पिरेन्डलो, स्वीडन के स्ट्रिण्डबर्ग आदि आधुनिक नाटककार इब्सन के ही अनुयायी हैं परन्तु स्वगत-कथन के न रहने से आन्तरिक संघर्ष सफलतापूर्वक दिखाना सम्भव नहीं रहता, अत: अमेरिका के यू. जी. ओ'नील तथा यूरोप के भी कुछ नाटककारों ने स्वगत-कथन के लिये कई नये ढंग निकाले हैं जैसे किसी चित्र के सम्मुख वार्तालाप अथवा किसी पालतू पशु-पक्षी से बातचीत अथवा टेलीफोन पर वार्ता। स्वगत-कथन के लिये इन में से किसी भी साधन का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। संगीत का भी पूर्ण बहिष्कार आवश्यक नहीं। हाँ, नाटक का हर पात्र हर परिस्थिति में गाये यह अस्वाभाविक है। पर स्वाभाविक रूप से भी व्यक्ति अनेक बार गाते हैं और इस तरह नाटक में संगीत का स्वाभाविक समावेश हो सकता है। इंग्लैण्ड के नाटककार नोएल कार्ड ने तो यहाँ तक कहा है कि बिना संगीत के नाटक अधूरा रहता है और ऐसे नाटक का कोई भविष्य नहीं है।

भारत का आधुनिक युग निर्माण का युग है। मैं उन व्यक्तियों में नहीं जो कला का काम केवल आनन्द देना मानते हैं (याने art for art sake)। हाँ, कला का कार्य व्याख्यान देना भी नहीं है। प्रत्यक्ष में मनोरंजन करते हुए परोक्ष-रीति से कला का कार्य मानव-मन में इस प्रकार की भावनाओं का प्रादुर्भाव करना है, जिनसे व्यष्टि और समष्टि का कल्याण हो सके। भारत के इस निर्माण के युग में नाटक और रंगमंच पार्थिव-निर्माण और चरित्र-निर्माण दोनों में महान कार्य कर सकते हैं। सिनेमा के इस युग में भी अमेरिका के हालीवुड सदृश स्थानों में भी नाटक का जो विकास हो रहा है, वह मैं हाल ही में देखकर आया हूँ। चीन के नवनिर्माण में नाटक और रंगमंच किस प्रकार योग दे रहे हैं, यह भी मैंने देखा है। यद्यपि मैं रूस नहीं गया तथापि चीन के देखने से रूस का बहुत सा हाल मालूम हो जाता है। रूस के नवनिर्माण में भी नाटक और रंगमंच ने बहुत बड़ा योग दिया है। एक ओर यदि हमें सिनेमा की आवश्यकता है तो दूसरी ओर नाटक और रंगमंच की भी। सच तो यह है कि तस्वीरें हाड़-मांस के शरीरों का स्थान नहीं ले सकतीं।

नाटकों का विकास रंगमंच के अभाव में जैसा होना चाहिये वैसा हो सकना सम्भव नहीं है। हमें दो प्रकार के रंगमंचों की आवश्यकता है (१) बड़े-बड़े शहरों में पूर्ण विकसित रंगमंचों की जिनमें बड़े से बड़े दृश्य दिखलाये जा सकें और (२) दूसरे देहात के लिये अत्यन्त सादे और चलते-फिरते रंगमंचों की। प्रथम प्रकार के रंगमंच मैंने फ्रांस में देखे। ये रंगमंच घूमनेवाले (रिवाल्विंग) थे और इनमें इस प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था थी कि उनके दृश्य देखकर आश्चर्य होता था। दूसरे प्रकार के रंगमंच मैंने वाशिंगटन में देखे। एक ही दृश्य में सारा नाटक खेला जाता था। शहरों के बड़े रंगमंचों में हमें दो बातों की ओर और भी ध्यान देना आवश्यक होगा,—(१) रोशनी की व्यवस्था और (२) ध्वनिप्रसारक (माइक्रोफोन) यन्त्र की व्यवस्था। हम उषा, सन्ध्या, मध्यान्ह, ज्योत्स्ना आदि की स्वाभाविक रोशनी बिजली के द्वारा रंगमंच पर सफलतापूर्वक दिखा सकते हैं और ध्वनि-प्रसारक यन्त्र अदृश्य रहते हुए भी उसका इस प्रकार का प्रबन्ध कर सकते हैं जिससे दर्शकों को ठीक मात्रा और परिमाण में कथोपकथन और संगीत सुन पड़े। यह नहीं कि धीरे कही जानेवाली बात भी चिल्लाहट के साथ कान में पड़े और संगीत बेसुरा हो जाय।

भारतवर्ष में कलकत्ते में कुछ घूमनेवाले (रिवाल्विंग) रंगमंच हैं परन्तु वे बहुत छोटे हैं। फ्रांस के रंगमंचों से इन रंगमंचों की कुछ तुलना नहीं हो सकती। दिल्ली में एक ही दृश्य में कुछ नाटकों का अभिनय देखा पर इसमें भी अभी बहुत विकास की आवश्यकता है।

हर्ष की बात है कि भारत सरकार का ध्यान इस ओर गया है और भारत सरकार ने 'संगीत-नाटक एकादमी' नामक संस्था की स्थापना की है। मेरा मत है कि हर राज्य में उस राज्य की आवश्यकता के अनुसार इस प्रकार की संस्था की स्थापना आवश्यक है।

काव्य परीक्षण

श्री चन्द्रप्रकाश वर्मा

एक बार किसी जिज्ञासु का प्रश्न था—कविता क्या है? उत्तर था—यदि तुम मुझसे यह न पूछो तो मैं जानता हूं और यदि तुम मुझसे यह पूछते हो तो मैं नहीं जानता।

यह प्रश्न और यह उत्तर सदा सनातन है, सदा अखंडित है, सदा अकाट्य है। स्थूल की परिभाषा सदा सरल है और सूक्ष्म की परिभाषा सदा कठिन है। कविता को परिभाषाबद्ध किया भी कैसे जाए। "हरि अनंत हरिकथा अनंता" की भांति उसका प्रसार अनंत और उसकी प्रकृति अगम्य है। हिमगिरि के हिम का विभव कोई ठीक-ठीक कैसे बतावे। नील कमल की सुरभि का कैसे परिचय दिया जाए। जल-ज्वार की अनगिनत लहरों के हर कंपन को कैसे पढ़ा जाए। कविता का मूल्यांकन मानव के लिए सदा एक समस्या ही है। जो एक शुद्ध अनुभूति है, जो केवल एक रस-तरंग है, उसकी परिभाषा कैसे हो। यदि कोई मुझ से मधुर फल का स्वाद पूछे तो मैं यही कह सकूंगा कि इसे तुम भी चखो। कबीर के शब्दों में—

अकथ कहानी प्रेम की, मोपै कही न जाय।
गूंगा केरी शर्करा, खावे और मुसकाय॥

पर वह मानव जो प्रकृति की रहस्यमय पुस्तक के पाठों को अनायास ही पढ़ सका है, वह मानव जिसके सधे हुए हाथों ने अणु और परमाणुओं के कंपन को अपनी जिज्ञासा के तुलादंड पर तौल लिया है, जिस बुद्धिजीवी ने सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को परिभाषा दी है, वह कविता को परिभाषा कैसे न देता। फलस्वरूप कविता की अनेक परिभाषाएं हमारे सामने आईं। किसी ने उसे जीवन की आलोचना कहा, तो किसी ने उसे संगीतमय विचार माना। किसी अन्य ने उसे कल्पना की तीव्रतम अभिव्यक्ति कहा, तो किसी ने उसे रसात्मकं वाक्यं काव्यं के स्वरूप में पहिचाना। त्रिकोणाकृति कांच के टुकड़े पर जब सूर्य की किरण गिरती है तब वह अनेक रंगों में विभक्त हो जाती है। हर रंग, किरण नहीं है, उस मूल श्वेत किरण का केवल एक पक्ष है। इसी प्रकार प्रत्येक परिभाषा कविता का एक पक्ष हो सकती है, स्वयं संपूर्ण कविता नहीं।

मनुष्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति सदा से यह रही है कि वह अपने उपयोग की वस्तुओं का मूल्यांकन करता आया है। जो वस्तु जितने अधिक उपयोग की सिद्ध होती रही वह उतनी ही संभवतः मानव जीवन के लिए मूल्यवान रही है। कविता का उपयोग मानव जीवन में रहा है, यह निर्विवाद है। वह महाकवि कालिदास की अमर काव्यकृति हो अथवा किसी ग्राम के ग्रामीण कवि की मेघों की श्यामल छाया तथा बूंदों की रसमयी फुहार के बीच गाई गई कोई गीत-पंक्ति। दोनों आदिकाल से मानव के रस बुभुक्षित मन को आहार देती आई हैं। मानव-सभ्यता का वह कोई भी युग क्यों न रहा हो, कविता मानव जीवन से अलग होकर नहीं जी सकी है। मानव समाज में काव्य की उपयोगिता रही है और इसलिए उसके मूल्यांकन के कुछ आधारभूत मापदंडों की चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है। मेरी दृष्टि से कविता का मूल्यांकन करते समय जिन तीन तत्वों का विचार आवश्यक है, वे तीन तत्व हैं—(१) अनुभूति, (२) अभिव्यक्ति और (३) अतिरंजना। सर्वप्रथम मैं अनुभूति तत्व पर विचार कर रहा हूं।

अनुभूति

अनुभूति सफल काव्य सृष्टि की पहली शर्त है। अनुभूति के अभाव में कविता संज्ञाहीन शरीर सी निश्चेष्ट रहेगी। मानव के हृदयगत भावों की यह एक बड़ी विशेषता रहती है कि वे अनेक हृदयखंडों में अवतरित होना चाहते हैं। वह अपने एकत्व को अनेकत्व में बांट देना चाहता है। यह कार्य-व्यापार तभी सफल और सार्थक है जब कवि की अनुभूति तीव्र और सच्ची हो। अनुभूति जितनी सच्ची होगी कवि मानव समाज का उतना ही अधिक प्रतिनिधित्व कर सकेगा।

वह उतना ही अधिक सार्वजनीन होगा। जिस प्रकार एक छोटे ओस बिंदु में आकाश का नीलप्रसार प्रतिबिम्बित हो उठता है उसी प्रकार उस कवि की कविता में व्यापक मानवता का राग सुनाई देगा। उस एक स्वर के लक्ष-लक्ष प्रति स्वर होंगे। उस एक ध्वनि की लक्ष-लक्ष प्रतिध्वनियां होंगी। कवि अपनी बात कहता हुआ मानों सबकी बात कह जाएगा। सूर की सच्ची अनुभूति कविता के छंदों में जब कृष्ण का शैशव गूंथती है तब मानों यशोदा का मातृत्व विश्वमातृत्व बन जाता है और कृष्ण का शैशव, विश्व-शैशव। "भीतर तें बाहर लों आवत। घर आंगन सब चलत सुगम भयो, देहरी में अटकावत।" बालक घर आंगन सब में क्रीड़ा करता है, दौड़ता है, किन्तु देहरी पर आकर उसकी गति मानो रुद्ध हो जाती है। शिशु का देहरी पार न कर सकना शैशव का कैसा सजीव चित्र है। मीरा के पास भी यही वैभव था। उसका प्रत्येक पद उसके भावावेश से प्रसूत अनुभूति का उज्वलतम चित्र है, जिसके चित्रण में रंग और तूलिका की सहायता नहीं ली गई है। वे चित्र आंसुओं की आड़ी-टेढ़ी रेखाओं द्वारा सहज रूप से बन गये हैं। उस कातर वियोगिनी को क्या पता था कि एक दिन उसके विकल उद्‌गारों की गणना उच्चकोटि के काव्य में की जावेगी। "मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई" में एक विलक्षण आत्मविस्मृति है। इस प्रकार श्रेष्ठ काव्य में अनुभूति का तत्व प्रथम और प्रमुख गुण बन जाता है।

अभिव्यक्ति

कविता के मूल्यांकन में जो दूसरा तत्व प्रधान है वह है अभिव्यक्ति का। किसी वस्तु का सौंदर्य बहुत अंशों में इस तत्व पर निर्भर रहता है कि वह किस प्रकार प्रकट किया जाता है। कविता के संबंध में भी यह सत्य पूर्ण रूप से घटित होता है। अभिव्यक्ति के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए ही तो काव्यक्षेत्र के अन्तर्गत छन्द तथा अलंकार विधान का समावेश किया गया है। भाषा, भाव के अनुकूल छंद, शब्द-चित्र, शब्द-संगीत, शब्द-चयन ये सारे गुण अभिव्यक्ति के अन्तर्गत कविता के सौंदर्य को बढ़ाते हैं। एक आलोचक के अनुसार कविता केवल हृदय की कला नहीं है, वह श्रुति की कला भी है। प्राचीन कवियों में नंददास अपनी इस विशेषता के लिए अत्यंत प्रसिद्ध हैं। उनकी रासपंचाध्यायी ऐसे शब्द-चित्रों से परिपूर्ण है। यहां एक उदाहरण दे रहा हूं जिसमें कवि ने कृष्ण की मनमोहक मधुर नादमय गति-संकुल रास क्रीड़ा का चित्रण किया है। इन पंक्तियों को पढ़कर वेणु-वाद्य आदि के स्वर हमारे श्रवणों में आ पड़ते हैं, और नृत्य की वह चपल गति, विद्युत तरंग सी दृष्टिपथ में झूल जाती है—

नूपुर कंकण किंकिणि करतल मंजुल मुरली,
ताल मृदंग, उपंग, चंग एकै सुर जुरली।

मृदुल मधुर टंकार, ताल झंकार मिली धुनि,
मधुर जंत्र की तार भंवर गुंजार रली पुनि।

तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कटतारन की,
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।

सांवरे मोहन संग नृतत्या ब्रज की बाला,
जनु घन मंडल खेलत मंजुल दामिनि माला।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि चित्रकार बन गया है। चित्र-निर्माण में उसने रंगों की सहायता नहीं ली। उसने वर्णों की व्यवस्था द्वारा ही काव्य-चित्र बना दिया।

अतिरंजना

कविता का मूल्यांकन करते समय जिस तीसरे और अंतिम तत्व की मैं यहां चर्चा कर रहा हूं, वह अतिरंजना तथा कल्पना का तत्व है। कल्पना के अभाव में कविता संभवतः एक शुष्क कथन मात्र रह जाएगी और तब वह इतनी रुचिकर प्रतीत न होगी। कल्पना ही उसे उस सौंदर्य से अभिषिक्त करती है जो सौंदर्य सहज ही अन्य उपकरणों से प्राप्त नहीं होता। यह जलधार है ऐसा न कह यदि हम ऐसा कहें कि—'नव उज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति। बिच बिच छहरति बूंद मनहु मुक्तामनि पोहति।' यह कथन अधिक आकर्षक बन गया है। सत्य वही है पर कल्पना ने उसके सौंदर्य को अधिक निखार दिया है।

विदेहनंदनी सीता का सौंदर्य साधारण सौंदर्य न था। उस असाधारण सौंदर्य को महाकवि तुलसी ने कैसी आकर्षक अतिरंजना द्वारा अभिव्यक्त किया है। वैदेही के सौंदर्य का सादृश्य तब प्राप्त होगा—

जो छबि सुधा पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदर सिंगारू, मथै पानि पंकज निज मारू।
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहि सीय सम तूल॥

पर यह सत्य ध्यान में रखने योग्य है कि कल्पना का भी एक अपना सत्य होता है। अति-रंजना भी विलक्षण तथा चमत्कृत करने वाली होती है, पर वह विकृत नहीं रहती। कवि की कल्पना और एक विक्षिप्त की कल्पना में अंतर यही है कि कवि-कल्पना भी एक स्वाभाविकता का सत्य अपने आप में छुपाए रहती है जब कि विक्षिप्त की कल्पना सर्वथा विश्रृंखल और असंबद्ध होती है। कल्पना के सहारे कवि चन्द्रमा को चांदी का चक्र कह सकता है क्योंकि चांदी के चक्र और चन्द्रमा में वर्ण और आकृति का साम्य है। वह चन्द्रमा की तुलना लोह चक्र से न कर सकेगा क्योंकि यह कल्पना ही विचित्र होगी। यों तो कवि को अधिकार है कि वह अतिरंजना और कल्पना के नवीन और चमत्कारित प्रयोग करे।

पर इस सत्य को वह दृष्टि से ओझल न होने दे कि उसकी कल्पना भी किसी स्वस्थ मस्तिष्क का एक रमणीक सत्य है। एक विचित्र कल्पना का उदाहरण यहां केशव की कविता से दे रहा हूं। सूर्योदय पर केशव की अनोखी सी कल्पना है।—

चढ़्यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुण मुख।
कीन्हो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिनु॥

इस प्रकार किसी सद्काव्य के मूल्यांकन में अनुभूति, अभिव्यक्ति और अतिरंजना इन तीन प्रमुख तत्वों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस त्रिधारा के संगम पर ही कविता का तीर्थ युगों से स्थित मानवता का कल्याण कर रहा है।

मध्यप्रदेश की संत-परम्परा

श्री प्रयागदत्त शुक्ल

धार्मिक एवं साम्प्रदायिक परम्पराओं से हमारी सामाजिक स्थिति का भी पता चलता है। एक ही धर्म के विविध सम्प्रदायों ने अपनी अपनी विभिन्नता प्रकट करके देश को कई स्वरूपों में विभक्त कर दिया है, परंतु कई सन्त ऐसे भी हुये हैं जिन्होंने पुरातनकाल में भी सबको एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। मुसलमानी शासन के पूर्व इस देश में भक्ति मार्ग के तीन प्रमुख प्रचारक हो गये हैं—जिनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य हैं। भगवान शंकर ने कहा है—"सृष्टि का आधार-तत्व एक ब्रम्ह है और अन्य सब मिथ्या है। जीव ही ब्रह्म है और उसका ब्रम्हमय हो जाना ही मोक्ष है"। माध्वाचार्य कहते हैं—"जगत सत्य है, भेद सत्य है (आभास नहीं) जीवों में ऊंच नीच का भेद नहीं और वे सभी हरि के सेवक हैं। आत्मज्ञान द्वारा आत्मानंद की अनभूति ही मुक्ति है। सात्विक भक्ति उसका साधन है। अनुमान प्रत्यक्ष और आप्तवाक्य प्रमाण हैं"। "चतुर्थ भक्ति मार्गी सम्प्रदाय* वल्लभाचार्य का है—जो मुगल कालीन है। उनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त—अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया संबंध रहित ब्रह्म ही अद्वैत तत्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ है।" भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों ने भक्ति का परमतत्व भगवान की शरण जाने से ही जाना है अर्थात् परमात्मा में अनन्य विशुद्ध प्रेम का होना ही भक्ति कहलाता है। यों तो सभी संत भक्ति मार्ग के अन्तर्गत आते हैं और उन्होंने जनता की विचार धारा में भी क्रांति पैदा की थी। जिसका आभास हमें इस संक्षिप्त विवरण से मिल जाता है। नाथों का सम्प्रदाय इनसे भिन्न है—जो कौलाचार (शैव) के अन्तर्गत गिना जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ† इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। मराठा देश में नाथ सम्प्रदाय का प्रचलन १२ वीं सदी के से जान पड़ता है। विदर्भ एवं महाराष्ट्र के प्रमुख संतजन इसी सम्प्रदाय में हो गये हैं। नाथ पंथ के संतों ने अपनी गुरु भाषा हिन्दी को अपनाया था। इसी से नाथ संप्रदाय के प्रत्येक मराठी साधुसंत की रचनाएं हिन्दी में भी मिलती हैं। ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई, नामदेव, भानुदास, जनार्दनस्वामी, एकनाथ, जनी जनार्दन, श्रीधर, सोहिरोबानाथ, अमृतराय, महीपत आदि संतों के कुछ पद हिन्दी में मिलते हैं।

---

* गोस्वामी श्री वल्लभाचार्य.—(ई. सन १४७९,—१५३१) उनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट और माता का नाम एल्लमागार था। इनके माता पिता जब काशी यात्रा के लिये जा रहे थे तब रास्ते में रायपुर जिले के चंपाझर (चंपारण्य) में वैशाख कृष्ण ११, संवत् १५३५ में इनका जन्म हुआ था। आगे चलकर अपनी प्रतिभा से ये कृष्ण के परम भक्त हुए थे। कहते हैं कि वृन्दावन में आप की भक्ति से प्रसन्न हो भगवान कृष्ण ने आचार्य को बालस्वरूप की उपासना करने की आज्ञा देते हुए उपासना की विधि बतलाई थी उसी का आपने प्रचार किया—जो पुष्टी मार्ग कहलाता है।

† मत्स्येन्द्रनाथ.—(समाधिकाल सन् १२०० ई. के लगभग) आदिनाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक—श्री दत्त की कृपा से उनको ज्ञान प्राप्त हुआ था। शाबरी तंत्र-मंत्रों के ज्ञाता और गोरखनाथ के गुरु थे। ये योगी और भोगी दोनों थे।

गोरखनाथ.—ये शुद्ध योगी, मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य शिवोपासक-अद्वैतवादी थे। इनके मठ बंगाल, नेपाल, काठियावाड, राजस्थान, महाराष्ट्र और यहां तक कि सिंहल द्वीप में भी पाये जाते हैं। इनका जन्म अयोध्या के निकट जयश्री ग्राम में हुआ था।

अजपा जपे सुनि मन धरे, पांचों इन्द्री निग्रह करे।
ब्रम्ह अगनि में जो होमे काया, तास महादेव बंदे पाया॥

महानुभाव चक्रधर.—१२ वीं सदी में जबकि महाराष्ट्र में यादवों का राज्य था—विदर्भ के रिद्धपुर ग्राम में चक्रधर स्वामी ने विस्तारित किया था जो आगे चलकर पंजाब और अफगानिस्तान तक फैल गया था। उस सम्प्रदाय का नाम "महानुभाव" (महान अनुभावस्त्वेवो वर्त यस्य स महानुभाव) है—जिसे "जयकृष्णी" भी कहते हैं। इस धर्म के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर भडोच के निवासी सामवेदी गुर्जर ब्राम्हण थे। उनके गुरु गोविंद प्रभु (ई. सन ११८८-१२८५) जिनको गुंडोबा भी कहते हैं—काण्वशाखीय ब्राह्मण रिद्धपुर के निकट काटसुरागव्हान ग्राम में रहते थे। बाल्यावस्था में माता पिता के मर जाने से उनका लालन पालन उनकी मौसी ने किया था। बचपने से कृष्ण भक्ति का रस लग गया और वह दिनों दिन चरमसीमा पर पहुंचता गया था। वे तपस्वी और दयालु संत थे। सांसारिक तापों से त्रसित जन इनके द्वार पर पहुंच कर शांति लाभ उठाते थे। चक्रधर स्वामी यात्रा करते हुए यहां पहुंचे थे और उनको सद्गुरु गुंडोबा से महानुभाव धर्म का रहस्य प्राप्त हुआ था। जिससे उनके हृदय में शांति का अनुभव हुआ था। चक्रधर स्वामी ने सांसारिक सुखों की अपेक्षा आनंदमय प्रभु के स्वरूप में विलीन हो जाना ही जीवन का लक्ष्य रखा था। स्वामीजी ने कृष्ण भक्ति का रहस्य जनता के सामने रखा था और वे उस युग के सुधारक भागवत थे। वस्तुतः उन्होंने गीतोक्त साधन ही लोगों को समझाया था।

चक्रधरजी ने परमात्मा पर प्रतिव्रता के समान निष्ठा रखने का जनता से आग्रह किया है जिसके लिये न वर्णधर्म और न लिंगभेद ही कोई रुकावट करता है। परमात्मा का दरबार ब्राम्हण से लेकर चाण्डाल तक तथा स्त्रियों के लिये खुला हुआ है। सभी जन प्रयास करने पर उसके समीप जा सकते हैं। व्यापक परमब्रम्ह नित्यमुक्त है। उनका कृष्ण विष्णु का अवतार नहीं है। इस सम्प्रदाय में श्री. हंस, दत्तात्रय, श्रीकृष्ण और चक्रधर परमात्मा के अवतार माने जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्पृश्यता, त्याग, स्वावलंबन, कर्म और शांति की स्वामी ने विस्तृत व्याख्या की है। गुरु से दीक्षा लेने पर प्रत्येक महानुभाव यह प्रतिज्ञा करता है—कि वह मद्य, मांस, परस्त्रीगमन, शिकार, चोरी और परद्वार सेवा से विमुख रहेगा। सिद्धांत और आचार की विस्तृत व्याख्या चक्रधर ने "सिद्धांत सूत्र" में की है।

चक्रधर का यह आंदोलन इस प्रदेश के पश्चिमी हिस्से में खूब फला फूला। हरिजनों को भी इस सम्प्रदाय में बराबरी का स्थान दिया गया है। चक्रधरजी के उपदेशों में कुछ पद हिन्दी में भी मिलते हैं। जैसे—

सुती बंधी स्थिर होई जेणे तुम्ही आई।
सो परो मोरो बैरी आणता काई॥

नागदेवाचार्य.—(ई. सन १२३६—१३०२) चक्रधर का लगाया हुआ वृक्ष नागदेवाचार्य के समय में खूब फला फूला। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने ग्रंथ सांकेतिक लिपियों में लिखा है। नागदेवजी की बहन उमाम्बा के कुछ पद हिन्दी-गुजराती मिली हुई भाषा में मिलते हैं। जैसे—

नगर द्वार हो भिक्षा करो हो बापुरे मोरी अवस्था लो।
जिहा जाओं तिहा आप सरिसा कोउ न करों मोरी चिन्ता लो।
हाट चोहट्टा पड रहूं—मांग पांच घर भिक्षा।
बापुड़ लोक मोरी अवस्था कोऊ न करी मोरी चिन्ता लो॥

चक्रधर स्वामी के शिष्य दामोदर पंडित भी हिन्दी में कहते हैं :—

स्फटिक मध्ये हीरा बेध कर गया।
उजपड़ो लापलो भिग कला॥

महानुभाव सम्प्रदाय के आचार्यों का केन्द्र स्थल इस प्रदेश में था। इनके प्रत्येक आचार्यों ने कुछ न कुछ हिन्दी में पद रचे हैं। रिद्धपुर और माहूर (जो कि इस प्रदेश में हैं।) महानुभावों के पवित्र स्थान हैं। १५ वीं सदी में इस सम्प्रदाय का प्रचार पंजाब में कृष्ण मुनि ने किया था—जो जाति के पंजाबी थे। इनके समय से लोग इस सम्प्रदाय को "जयकृष्णी" कहने लगे थे। इस सम्प्रदाय के लोग वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता को नहीं मानते हैं।

स्वामी मुकुन्दराज—नाथ मार्गी सम्प्रदाय के द्वारा महाराष्ट्र में भागवत सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई जिसके प्रवर्तक प्रसिद्ध ज्ञानेश्वर महाराज हुए हैं। उनसे पूर्व मध्यप्रदेश में स्वामी मुकुंदराज (ई. सन् ११२८—११९६) सतपुड़ा-घाटी के प्रधान संत थे जिनका लिखा हुआ "विवेक सिंधु" मराठी-काव्य ग्रंथ है। मुकुंदराज की गुरु परम्परा इस तरह है—आदिनाथ, हरिनाथ, रघुनाथ और मुकुंदराज। स्वामी हरिनाथ भंडारा जिले में वैनगंगा के तट पर आंभोरा में रहते थे और वहां उनकी समाधि है। उसी तरह रघुनाथ स्वामी की समाधि (रामगढ़) छिंदवाड़ा में और मुकुंदराज की समाधि बैतूल के निकट खेलड़ा के किले में है। उस समय में खेलड़ा पर राजा जैतपाल का राज्य था। कहते हैं कि राजा ने यह प्रतीज्ञा की थी, कि जो साधु घोड़े पर सवार होने में जितना समय लगता है उतनी अवधि में मुझे ईश्वर का दर्शन नहीं करा देगा उसे मेरे यहां जन्म भर मजदूरी करना पड़ेगा। बिचारे अनेकों साधु इसके शिकार बने और उन सबको तालाब खुदवाने का काम दिया गया था। वह तालाब आज भी खेलड़ा के निकट रावणवाडी में है। यह समाचार काशी में मुकुंदराज स्वामी को ज्ञात हुआ था और वे स्वयं राजा को उपदेश देने के लिए खेलड़ा पहुंचे थे। उस समय में तीन सौ साधु वहां कष्टमय जीवन बिता रहे थे। स्वामी के प्रभाव से राजा की प्रतीज्ञा पूरी हुई थी और सभी साधु मुक्त हुए थे। राजा जैतपाल उनका शिष्य हो गया था और इसी कारण से वहां मुकुन्दराज की समाधि है। यह जैतपाल राजा नरसिंहराय का पूर्वज था। यह जनश्रुति कहां तक सत्य है, यह कहना कठिन है।

रामानंदी-आंदोलन—१३ वीं सदी में श्री राघवानंद के शिष्य श्री रामानंद जी ने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक वैष्णव धर्म के तत्वों को प्रसारित करने का सफल प्रयास किया था। उस समय में यह तूती बज रही थी कि स्त्रियों और हरिजनों को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में रामानंद जी सामने आये थे। रामानंद ने स्त्रियों एवं ब्राम्हणेतरों को वैष्णवी दीक्षा देकर भगवन्मार्ग के अद्वितीय पथिक बनाकर एक महान राष्ट्रीय कार्य किया था। इस समय में मुसलमानों के आतंक से स्वधर्म की रक्षा करना आवश्यक था—इसलिये स्वामीजी ने यह निश्चय किया था, कि ब्रम्हचर्य, शारीरिक बल, अनन्य भक्ति और त्याग के बिना देश तथा धर्म की रक्षा तथा—भारतीय नारियों की सतीत्व-रक्षा नितान्त असंभव है। इसी कारण से उन्होंने एक "विरक्त दल" का संगठन किया था जो आज बैरागी कहलाते हैं। स्वामी रामानंद ने १४ वीं सदी में धर्म के लिये प्राण देनेवाले वैरागी विरक्त समाज की स्थापना की थी जो शीघ्र ही सारे देश में फैल गये थे। इस युग का नारा था :—

जाति-पांति पूछे नहिं कोई—हरि को भजे सो हरि का होई।

रामानंदजी ब्राम्हण और शूद्र सभी को प्रभु की अनंत लीलाओं के पात्र समझते थे। सभी को "श्रृण्वन्तुविश्वे अमृतस्य पुत्रा:" भगवान के पुत्र समझते थे। अनंतानंद, सुखानंद, सुरसरानंद, नरहरियानंद, पीपा, कबीर, भवानंद, सेना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी—स्वामीजी के प्रधान शिष्य थे—जिन्होंने आजीवन लोक-जागृति का कार्य इस देश में किया था। स्वामीजी ने अपने शिष्यों को वर्ण अभिमान से दूर रखा था। यदि ऐसा न होता तो उनके द्वादश शिष्य जो भिन्न-भिन्न वर्णों के थे—परस्पर प्रेमपूर्वक नहीं रह सकते थे। यदि स्ववर्णों का अभिमान जागृत होता तो अवश्य ही स्वामीजी के पश्चात् वह ज्वालामुखी फूट पड़ता कि जिससे रामानंद सम्प्रदाय का आज अस्तित्व भी न रह जाता था। आज भी रामानंदी सम्प्रदाय में चारों वर्णों का समावेश है। वेष-भूषा में भी समानता है, दण्डवत प्रणामादि में अभिन्नता है। जनश्रुति यह भी कहती है—कि केवल अयोध्या में स्वामीजी ने १० हजार यवनों को शुद्ध किया था।

मध्यप्रदेश में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव आज तक बना हुआ है—इन बैरागी और दशनामी संन्यासियों के मठ आदि इस प्रदेश के कोने-कोने में बिछे हुए है। इनमें भी गृहस्थ और विरक्त दो भेद हो गये। आज भी राजनांदगांव, और छुईखदान के राजा बैरागी हैं। इसी तरह प्रदेश के वर्तमान महंतगण और मठ संस्था समाजोपयोगी थीं।*

---

*उदाहरणार्थ मध्यप्रदेश के रामानन्दी मठों में से दो प्रमुख मठों का परिचय दे रहे हैं :—

(१) स्वामी गरीबदासजी का मठ रायपुर—जन्म संवत् १५६०—इनका आदि मठ पौनी, जिला भंडारा में था। उनके शिष्य स्वामी बलभद्रदासजी जिन्होंने रायपुर में दूधाधारी मठ को स्थापित किया था। उस समय में राजा जैतसिंह देव का राज्य रायपुर में था। वे केवल दुग्ध-आहारी थे। मराठों के शासन-काल में शिवाजी भोंसले स्वयं महंतजी से मिलने गये थे और मठ के खर्च के लिये जागीर प्रदान की थी। इस मठ के वर्तमान महन्त वैष्णवदासजी हैं।

(२) शिवरीनारायण मठ.—यह हैहय राजाओं के समय से चला आ रहा है। इस मठ के प्रवर्तक स्वामी दयारामजी ग्वालियर राज्य से आये थे। रतनपुर के हैहय राजा इस गद्दी के शिष्य थे। इस मठ के १३ महन्त अब तक हो चुके हैं—वर्तमान महंत लालदासजी हैं।

सूफियों का प्रभाव—मुसलमानों के साथ-साथ उनके फकीर भी आये थे और उनमें सूफी सन्त भी थे। सूफी मत का ब्रम्ह-वेदान्त, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सूफीमत में ब्रह्म एक है और वह किसी भी रूप या आकार से रहित है—वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तु विशेष में केन्द्रीभूत नहीं है—वह अगोचर और अज्ञेय है—वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अतः वह एकान्त रूप से एक ही है और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी स्थिति में जो ब्रम्ह का ज्ञान होता है—वह किसी भौतिक साधन से न होकर आत्मानुभूति से ही होता है। वे लोग प्रेम-प्रतीक के सहारे चलते हैं और उनके लिये इस्लाम की विधि-विधान रुकावट पैदा नहीं करती। हिन्दू, मुसलमानों को एक करने का प्रयास सूफी सन्तों ने भी किया है।

बहनिपुर के निकट बहादुरपुर ग्राम में "मुहम्मदशाह दूला" की दरगाह है—दूला साहब एक प्रसिद्ध साधु पुरुष थे, जो फारूकी सुलतान के शासन समय में वर्तमान थे। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को एक सरल प्रेममय मार्ग बताया था—जहां ईर्षा और द्वेष की बू बास न थी। इसी प्रेम-मार्ग के उनके वंशज कालान्तर में "पीरजादा" कहलाते थे। दूला साहब विष्णु के दसवें अवतार—कल्की को निष्कलंकी अवतार कहते हैं। उनके ग्रंथ में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की अच्छी बातें संग्रहीत हैं। खानदेश के गूजर और कुरमियों में उस पंथ का अधिक प्रचार हो गया था और अब भी है। ऐसे लोग वर्ष में एक बार अब भी वहां पहुंचते हैं। यों तो मुसलमानों के कई साधु सन्त इस प्रदेश में हुए हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

सिंगाजी—संवत् १६२३ के आसपास निमाड़ में सिंगाजी (जाति के अहीर) प्रसिद्ध संत हो गये हैं। सिंगाजी जंगलों में गाय चराते हुए भगवान के गीत गा-गा-कर मस्ती से रहा करते थे। सिंगाजी की मृत्यु संवत् १७१६ श्रावण पौर्णिमा को हुई थी। लोग आज भी कुंवार मास में सिंगाजी नामक स्थान में एकत्रित होते हैं और गुड़ चढ़ाते हैं। सिंगाजी के प्रसिद्ध शिष्य खेमदास भी एक साधु पुरुष थे। वे कहते हैं—

जहां अखण्ड ज्योति भरपूर, जहां झिलमिल बरसे नूर।
जहां ज्ञान भरा महमूर, कोई बिला पहुंचे सूर।
निर्गुण ब्रम्ह हैं न्यारा कोई समझो समझणहारा॥
खोजत ब्रम्हा जनम सिराणा मुनिजन पर न पाया।
खोजत-खोजत शिवजी थाके, वो ऐसा अपरंपारा।
शेष सहस मुख रटे निरंतर, रैन-दिवस एक सारा॥
ऋषि मुनि और सिद्ध चौरासी, वो तेंतिस कोटि पचिहारा।
त्रिकुट महल में अनहद बाजे, होत शब्द झनकारा।
सुखमण सेज शून्य में झूले, वो सोहं पुरुष हमारा।
वेद कथे अरु कहे निर्वाणी, श्रोता कहो बिचारा।
काम-क्रोध-मद-मत्सर त्यागो, ये झूठा सकल पसारा।
एक बूंद की रचना सारी, जाका सकल पसारा।
सिंगा जो भर नजरा देखा, वो ही गुरु हमारा॥

सिंगाजी जीवन के महान तत्वों के दृष्टा और अनुभूतियों के माधुर्य से पूर्ण अटपटे सरल गीतों के रचयिता थे। आज भी उन गीतों को गा-गा कर ग्रामीण-जन संसार-तापों से बचने का प्रयास करते हैं।

भीलत बाबा—नर्मदा तट के दूसरे महात्मा भीलत बाबा (जाति के अहीर) सिवनी-मालवा से ५ मील पर भमेरीदेव में रहते थे। यह जीवन मिट्टी के कलश के समान है और उसी तरह हमारा जीवन क्षण-भंगुर है—इस तत्व

को भीलत बाबा ने जाना था। इसीलिये तो शून्य में होनेवाले नक्कारे की आवाज को उन्होंने सुना था। वे सदा ही समाधिस्थ अवस्था में दिखायी देते थे। लोग कहते हैं कि उनके पास सर्प-दंश द्वारा ग्रसित जो मनुष्य पहुँचता था, वह अच्छा हो जाता था। उनके फुटकर पद भी यत्र-तत्र हमें मिल जाते हैं। भमेरी में भीलत बाबा की मूर्ति भी है।

श्री रामजी बाबा—आज से तीन सौ वर्ष पूर्व नर्मदा के किनारे धानावाड (जिला होशंगाबाद) के गूजर वंश में रामजी बाबा का जन्म हुआ था। उनके पिता किसानी करते थे। इनको बचपन से सत्संग करने का चसका लग गया, जिससे वे एकांत में जाकर प्रभु का भजन किया करते थे। कहते हैं, कि जब आपने पिता के कहने से हल चलाना प्रथम बार आरंभ किया, तब अकस्मात चरचराहट का शब्द सुनाई दिया। उन्होंने पीछे फिरकर देखा तो सारी भूमि पर खून बह रहा था। इस तरह खेती द्वारा जीवहिंसा होती देखकर इन्होंने कृषि-कर्म त्याग दिया था। फिर भी जीविका के लिये कुछ उद्यम करना आवश्यक था, इसलिये तमाखू बेचकर जीविका चलाते थे। वे दूकान पर तमाखू और तराजू रख देते थे और भजन किया करते थे। ग्राहक दूकान पर पहुंच कर तमाखू तौल लेता और पैसा रखकर चला जाता था। एक बार किसी ने उनसे अनुचित लाभ उठाना चाहा। उसने अपनी इच्छानुसार तमाखू तौल लिया और बहुत ही कम कीमत रखकर घर चला गया। घर जाकर उन्होंने फिर से तमाखू तौला—तो देखते हैं कि उसका तौल उतना ही रहा—जितना उन्होंने पैसा दिया था। इससे उसे लज्जा आई और बाबाजी के पास जाकर क्षमा मांग ली। ऐसी अनेकों घटनाओं से लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे बाबाजी के भक्तों की संख्या बढ़ने लगी और उन्हें भजन तथा नाम-संकीर्तन-लाभ मिलने लगा।

एक समय नर्मदा में बाढ़ आयी। गांव के लोग घर-द्वार छोड भागने लगे, पर रामजी बाबा अपनी झोपडी में भजन ही करते रहे। होशंगाबाद में इस समाचार से उनके शिष्यों को बड़ी चिन्ता हुई। वे लोग धानावाड गये और देखते हैं कि बाबाजी ध्यान में मग्न हैं। उनके कुटिया के चारों ओर नर्मदा का जल लहलहा रहा है किन्तु उनकी कुटिया सुरक्षित है। बाबाजी को कई सिद्धियां प्राप्त थीं—जिससे उन्होंने असंख्यों दीन-दुखियों के दुःख दूर किये। अन्तिम समय में उन्होंने सबको एकत्रित करके समारोह के साथ समाधि ली। इस समय में धानावाड में बाबाजी की समाधि बनी हुई है। उसके बाद उनके भक्तों ने होशंगाबाद, हतवांस और खापरखेड़ा में भी समाधियां स्थापित कर दी हैं।*

कबीर-पंथी सत्यनामी—हमारे प्रदेश में कबीर-पंथी अधिकता से पाये जाते हैं। कबीरदासजी के प्रमुख शिष्य धर्मदासजी गद्दी के प्रथम महंत थे। इसी वंश की एक गद्दी कवर्धा में है। संत रैदासजी सम्प्रदाय के सहस्त्रों लोग छत्तीसगढ़ में हैं। यहां के सतनामी लोग प्रायः कहा करते हैं—

हरि-सा हीरा छांडि कं, करं आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषं रैदास॥

१८वीं सदी में इसी सम्प्रदाय की एक शाखा "सत्यनामी" कहलायी—जिसके प्रवर्तक जगजीवनदासजी (जन्म संवत् १७२७) बाराबंकी जिले के चंदेल क्षत्रिय थे। उनका वचन है :—

सत समरथ तें राखि मन—करिय जगत को काम।
जगजीवन यह मंत्र—सदा सुक्ख—बिसराम॥

---

*इसी तरह रतनपुर में कई साधु पुरुष हो गये हैं—जिनमें युगलदास बाबा और जगमोहनदास कृष्णगिरि प्रमुख थे। श्री रामजी बाबा का एक भजन :—

बिन देही को पूजो जासे और देव नहीं दूजो। आतमब्रम्ह सकल से न्यारा आप माहीं सूझो॥
निरज् आगे शीष नवावे तोहे आग ब्रम्हना सूझो। प्रतिमा पूजे घंट बजावें तू कहां नादान रीझो॥
तीर्थ नरक में जगत् भुलाना कोई पार ब्रम्ह लख लीजो। निर्गुन स्वामी सचराचारा, जोंही लाहो लीजो॥
मानसी पूजा पूजो भाई आवागमन से रहजो। कहे रामदास सुनो भाई साधो, मोहे अखंड ब्रम्ह लो सूझो॥

घासीदासजी—सतनामी धर्म के चलानेवाले घासीदास दुर्ग जिले के गिरोदगांव के निवासी थे। घर में किसानी होती थी। उनके गुरु सतनामी साधु थे, जिनके द्वारा उनको सत्यनाम जपने का अनुराग उत्पन्न हो गया था। उनकी भक्ति से उनकी स्त्री ऊब उठी थी जिसके कारण वे शांत चित्त से प्रभु का जाप नहीं कर पाते थे। स्त्री की अवहेलना से घर-बार छोड़कर वे सोनाखान के जंगल में चले गये और एक तेंदू के वृक्ष के नीचे उन्होंने सत्य नाम की साधना आरंभ कर दी। कई दिन इस तरह बीत गये। अन्त में उनको सत्य-ज्ञान की अनुभूति हुई। अन्त में लोग उनको घर लिवा ले गये। क्रमशः अनेकों आश्चर्यजनक घटनाओं के कारण घासीदास का नाम सर्वत्र फैल गया और समस्त जाति वालों ने उनको अपना गुरु मान लिया जो अब सतनामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। घासीदास जी की आज्ञा थी—"सत्य नाम जपा करो, देवी, देवताओं का पूजन त्याग दो। सभी मनुष्य बराबर हैं। ऊंच-नीच कोई जाति नहीं है और न मूर्ति-पूजा में कोई सार है। अहिंसा परमधर्म है—इसलिये हिंसा करना पाप है।" . रायपुर से १८ मील पर भंडारी नामक ग्राम में घासीदासजी की समाधि है, जहां माघी पौर्णिमा को मेला लगता है। इसी "सतनामी" सम्प्रदाय के कुछ मठ छत्तीसगढ़ में हैं, जो आज भी चमार जाति के हरिजनों का नेतृत्व करते हैं।

बाबा प्राणनाथ—बुन्देलखण्ड में प्रणामी और धामी सम्प्रदाय के माननेवाले अधिक हैं। उसके प्रवर्तक "प्राणनाथ प्रभु" (जन्म संवत् १६७५) जामनगर के निवासी क्षेमजी क्षत्रिय के पुत्र थे। ये मथुरावासी देवचन्दजी के शिष्य थे। महाराज छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड में जो स्वराज्य स्थापित किया था उसके प्रेरक बाबा प्राणनाथ थे। इन्होंने हिन्दू और मुसलमानों में भाईचारा फैलाने का भरसक यत्न किया था। उनके विचारों का संग्रह "कुलजम स्वरूप" में संचित है, जो पन्ना के मन्दिर में संग्रहित है। धामी मूर्तिपूजा नहीं करते, तथा मांसाहार से दूर रहते हैं और न वर्ण-व्यवस्था को ही मानते हैं। इनका स्वर्गवास आषाढ़ कृष्ण तीज संवत् १७५१ को हुआ था।

"कुलजम स्वरूप" ग्रंथ में वेद और कुरान के वाक्यों को देखकर यह बताया गया है कि दोनों धर्मों में कोई अलगाव नहीं है। उन्होंने मूर्तिपूजा, जाति-भेद और ब्राम्हणों की श्रेष्ठता हटाने का यत्न किया था। उनके पदों का एक नमूना हम नीचे दे रहे हैं:—

खिन एक लेहु लटक भंजाय—जनमत ही तेरो अंग झूठो ; देखत ही मिट जाय ॥टेक॥
जीव निमिष के नाटक में, तूं रह्यो क्यों बिलमाय ?
देखत ही चली जात बाजी, भूलत क्यों प्रभुपाय ॥
आपको पृथ्वीपति कहावें, ऐसे केते गये बजाय ;
अमरपुर सिरदार कहिए, काल न छोड़त ताय ॥
जोवरे चतुर्मुख को छोड़त नाहीं, जो कर्ता सृष्टि-कहलाय ;
चारों तरफ, चौदे लोकों, काल पहुंच्यो आय ॥
पवन, पानी, आकाश, जमीं, जो अगिन जोत बुझाय ;
अवसर ऐसो जान के, तू प्राणपति लौ लाय ॥
देखन को ये खेल खिनको, लिये जाय लपटाय ;
"महामती" रदे रमें तासों, उपजत जाकी इच्छाय ॥

अमृतराय—भक्ति-ज्ञान के सुन्दर कवि एवं संत अमृतराय (सन् १६९८-१७५६ ई.) का जन्म फतखेड़ा में (विदर्भ में) हुआ था। इनका भक्ति-ज्ञान पर काव्य प्रसिद्ध है। इन्होंने हिन्दुओं को ज्ञानामृत पिलाकर हिन्दुत्व की रक्षा की थी और मुसलमानों को चमत्कार दिखाकर चुप किया था। इनकी समाधि औरंगाबाद में है। ये तो मराठी के प्रसिद्ध कवि थे और हिन्दी के बड़े रसिक थे।

आज कुंजनमों फूल के फूली व्रजपतराज ॥
फूलन के हार रुचिर श्रृंगार बन।
फूलन के मुकुट कुन्डल विचित्र सकल साज ॥आजि ॥१॥
फूलन को राउटी—फूलन की चौकी।
फूलन को बीलो अनुपम से जहाज ॥आजि॥२॥
फूल रही ग्वालिन हरदम दम गावत।
आन अलापत पखवाजन की आवाज ॥आजि॥३॥
अमृतराय साहब सों आप मों अर्पन दर्पन।
आप सुर सुर नर सिरताज ॥आजि॥४॥

देवनाथ—नाथ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध देवनाथ अंजनगांव सुर्जी (विदर्भ) के प्रमुख संत (ई. सन् १७५४-११८२१ थे। उनके पिता राजोपन्त अचलपुर रिसाले के ५ सौ सैवारों के नायक थे। इनका मूल नाम देवराव था। आरंभ में गवाभट्ट ने उनका झुकाव हनुमान-सेवा की ओर करवाया था। बाद में इन्होंने गोविन्दनाथ से दीक्षा ली थी। वैराग्य की मस्ती में इन्होंने सुन्दर काव्य रचना की है—क्योंकि इनको कीर्तन करने का चाव था। दूर-दूर से राजा महाराजा इनको अपने यहां बुलवाते। पूना में पेशवा सवाई माधवराव ने आपको कई दिनों तक रखा था। राजमाता गंगाबाई ने इनसे दीक्षा ली थी। बड़ौदा के गायकवाड़, नागपुर के भोंसले, ग्वालियर के सिंधिया आदि राजाओं ने भी इनको अपने यहां बुलवाया था। इनकी समाधि बरहानपुर में है। ये अपने समय के एक महान संत थे।

रमते राम फ़कीर, कोई दिन याद करोगे॥
कोइ दिन ओढे शाल दुशाला, कोइ दिन भगवे चीर॥१॥
कोइ दिन खावे मेवा मिठाई—कोइ दिन पीवे नीर॥२॥
कोइ दिन हाथी कोइ दिन घोड़ा—कोइ दिन पांव जंजीर॥३॥
कोइ दिन बस्ती कोइ दिन जंगल—कोइ दिन भुज पर सीर।-४॥
कोइ दिन महलो म्याने सोते—कोइ दिन गंगा तीर॥५॥
तुम अहो खुशाला रहो खुश हाला—फिर न मिले ये शरीर॥६॥
देवनाथ-प्रभुनाथ गोविन्दा—तू हैं सच्चा पीर॥७॥

दयालनाथ—दयालनाथजी देवनाथजी के प्रधान शिष्य (जन्म ई. सन् १७८८, समाधि १८३६) जाति के यजुर्वेदी ब्राम्हण थे। उनकी स्त्री का नाम राधाबाई था। एकनाथ सम्प्रदाय के १४ वें पुरुष थे। उनकी गुरु परम्परा में गोपालनाथ, गोविन्दनाथ, देवनाथ, दयालनाथ हैं। इनकी जन्मभूमि मुर्तिजापुर थी। देवनाथ और दयालनाथ दोनों ने उस समय में भक्ति का बड़ा प्रचार किया था। अंजनगांव में इनकी समाधि है।

जरा हंस हंस बेनु बजावोजी—तुम्हें दुहाई नंद चरनन की॥
लटपट पेच मुकुट पर छूटे। हंसि आवत तोरे लटकन की॥
घूंघट खोल दरस मोंहि दीजे। चोट चलावो उन अंखियन की॥
सब बनिता बिरहन की मारी। वृत्ति विकल पल छन मन की॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहे। चाल चलावे जैसी मटकन की॥
देवनाथ प्रभु दयाल तुम हो। आस लगी पद सुमरण की॥

मराठी मध्यप्रदेश के कुछ संतजन—मराठी मध्यप्रदेश में बहुत से योगी और संतजन हो गये हैं, जिनका परिचय यहां दिया जा रहा हैं—जिन में हिन्दू और मुसलमान दोनों जाति के हैं। प्रदेश के विविध स्थानों में कई सत्पुरुषों की पुण्यतिथियां और उत्सव मनाये जाते हैं। उनका परिचय हम यथाक्रम देना आवश्यक समझते हैं।

(१) विष्णुदास (स्थान माहुर)—नाथ सम्प्रदाय की दूसरी शाखा के ये प्रसिद्ध सन्त थे। बड़े समदर्शी और परोपकारी थे। इन्होंने बहुतों पर अनुग्रह किया था।

(२) रंगनाथ महाराज (सिदखेड़)—बचपन से ही ये पूर्ण ज्ञानी थे। लोग इनको रंगनाथ स्वामी का अंशावतार मानते थे। राजयोगी सा इनका रहन सहन था, किन्तु इन्होंने भक्ति का बड़ा प्रचार किया था। कहते हैं कि इन्होंने अनेकों के रोग हाथ फेर कर अच्छे किये थे। बहुतों को इन्होंने उपकृत किया, बहुतों पर अनुग्रह किया, अनेकों चमत्कार देखने में आये। सिदखेड में इनकी समाधि है।

(३) गोसावी नंदन (सिदखेड)—नाथ सम्प्रदाय के संत थे। मितभाषी और बड़े विरक्त थे। स्थान-स्थान पर इनकी मढ़िया भक्तो ने बनवायी हैं। सिदखेड़ में इनकी समाधि है।

(४) अप्पाजी महाराज (वणी)—इनका नाम था—श्रीनिवासराव सरमुकद्दम इजारदार। युवावस्था में इनको भगवद्भक्ति की धुन सवार हुई और विवाह होने पर भी इनका वैराग्य बढ़ता ही गया। ये बड़े संत थे और अनेकों पर इन्होंने कृपा की थी।

(५) सखाराम महाराज (लोनी)—बचपन से ही इनको वैराग्य हो गया था। इन्होंने बहुतों पर अनुग्रह किया था। इनको समाधिस्थ हुए लगभग ४० वर्ष हो रहे हैं। अगहन वदी ३० को लोनी में इनके नाम से बड़ा मेला लगता हैं, जहां सदावर्त का प्रबंध भी रहता हैं। यात्री प्रसाद लिये बिना नहीं लौटते।

(६) रामकृष्ण बुवा (वाशिम)—ये कर्मनिष्ठ ब्राम्हण, जगदम्बा के परम भक्त और महायोगी थे। इनकी विभूति से अनेकों की आधि-व्याधियां दूर हुई थीं। वाशिम में इनकी समाधि है, जिसे हजारों लोग पूजते हैं।

(७) उमरदेव (जलगांव)—उमरदेव जलगांव से १० पर मील पहाड़ी स्थान है—यहां एक महान् योगी हो गये हैं—जो योगी शिव-भक्त थे। एक कन्दरा में बैठकर वे शिवपूजन किया करते थे। लोगों के संकट यहां पहुंचने पर दूर हो जाते हैं—यह भावुकों का विश्वास है।

(८) शाहादावल (उपराई)—बरार में यह देवस्थान प्रसिद्ध है। कहते हैं कि यहां कोई शाह नाम के एक फकीर रहते थे, जो एक महान सिद्ध माने जाते थे। उनके निकट दावल नाम के एक महार जाति के संत रहते थे। दोनों में बड़ी घनिष्ठता भी थी। कहते हैं कि ये दोनों एक साथ ही मरे भी थे, इसलिये लोगों ने उनको एक स्थान में गाड़ दिया था। हजारों लोग इनकी समाधि को पूजकर अपनी कामना सफल करते हैं। समाधि के समीप चमेली का वृक्ष है,—जिसके फूल ठीक समाधि पर गिरा करते हैं।

(९) सुपेनाथ बुवा (पलसी-जलगांव)—इनकी विशेषता यह है कि विषैले प्राणियों का विष इनकी समाधि के दर्शन से उतर जाता है। गर्मी-सुजाक के रोग भी अच्छे होते हैं। इन महात्मा को हुए दो पीढ़ी बीत चुकी है।

(१०) फतेपुरी बाबा—८० वर्ष पूर्व ये संत हुवे हैं। इनका स्थान यहाँ से ६ मील दूर पहाड़ के नीचे है। पशुओं के सारे रोग इनकी विभूति लगाने से अच्छे होते हैं। स्त्रियों के लिये यह स्थान वर्ज्य है। लोग इनको स्वामी कार्तिकेय का अवतार मानते हैं।

(११) महासिद्ध बाबा—धनोग ग्राम के निकट इनकी समाधि है। इनके माता-पिता भी महासिद्ध थे और उसी तरह पांचों पुत्र भी। इनके दर्शन मात्र से रोगियों के रोग अच्छे होते हैं। माघ शुक्ल १५ को यहां यात्रा होती है। इनके अन्य भ्राता बालगोविंद बुवा, आनंजी बुवा, सावंजी बुवा, छोटे महासिद्ध बुवा और बीरोबा हैं।

(१२) नरहरिनाथ (देवलगांव राजा)—प्रसिद्ध संत शिवदिनकेसरी के पुत्र नरहरिनाथ की देवलगांव राजा में समाधि है। यहीं पर उनका एक मठ भी है।

(१३) संत नानासाहेब (पातूर)—मारकीनाथ बरार के एक प्रमुख संत थे जिनके शिष्य नानासाहब पातूर (अकोला जिले) में रहते थे। उनके अनेकों शिष्य सर्वत्र फैले हुये थे। माघ शुक्ल दशमी को यहां उनका जन्मोत्सव मनाया जाता है। उसी तरह सिदाजी बुवा की जयंती फाल्गुन शुक्ल २ को उनके शिष्य मनाते हैं। पातूर में शेख बाबू की दरगाह को भी लोग पूजते हैं।

(१४) ब्रम्हेन्द्र स्वामी धावड़शीकर (राजूर)—ये स्वामी महाराष्ट्र भर में प्रसिद्ध थे और उनका जन्मस्थान राजूर था। बाजीराव पेशवा (प्रथम) पूनावाले के गुरु थे।

(१५) भोलाराम जी (अचलपुर)—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समर्थ रामदासजी के भोलारामजी शिष्य थे, जिनकी यहाँ समाधि है। उसी तरह दूला रहमानशाह की मजार को बरार के मुसलमान और कुछ हिन्दू भी मनौती करते हैं।

(१६) सोनाजी बुवा (सोनाला)—इनकी समाधि पर कार्तिक पौर्णिमा के दिन यात्रा होती है।

(१७) नरसिंगदास बाबा (अकोट)—प्रसिद्ध योगी थे। बड़े प्रेमी और सदा ध्यान में मग्न रहते थे। इन्होंने निजाम सरकार के अफसर के सामने पत्थर के नंदी से तृण भक्षण कराया था। उसी स्थान पर उनका समाधि मन्दिर बना है।

(१८) उद्धवसुत (अंजनगांव)—उद्धवसुत का यहां मठ है।

(१९) शाहबुद्दीन पीर (मंगरूलपीर)—यह प्रसिद्ध पीर का स्थान है, जिसे निजाम सरकार ने जागीर दी थी।

(२०) पंचपीर (मेहकर)—मुसलमानों के पीर की यहाँ दरगाह है। यहीं पर हयात कलंदरशाह की दरगाह है।

(२१) रोकड़ाराम (कारंजा)—यहाँ रोकड़ाराम की समाधि और मठ है।

(२२) नागस्वामी (बोरखी)—नागस्वामी जाति के कान्यकुब्ज ब्राम्हण थे। जिसका श्रावण तीज को मेला भी लगता है।

(२३) योगानंद (जरुड़)—४० वर्ष पूर्व जरुड़ में प्रसिद्ध योगी योगानंद रहते थे, जो कान्यकुब्ज ब्राम्हण थे। वे दत्त के उपासक थे। प्रयाग में जाकर इन्होंने जल-समाधि ली थी।

(२४) झिंगरा (कुरह्रा-अचलपुर)—जाति के कुरमी—बचपनसे विरक्त थे। कुछ दिनों तक पिशाच वृत्ति से रहे थे। पूर्णा के तट पर इनकी समाधि है।

(२५) खटिया बुआ (अमरावती जिला)—ये जंगल में रहते थे और जो कोई मिलने जाता था पत्थर से मारते थे। पूर्णा के किनारे इनकी समाधि है।

(२६) कोलबाजी महाराज (पापेवाड़ा, नागपुर)—३०० वर्ष पूर्व कोलबाजी नामक संत पापेवाड़ा ग्राम में चन्द्रभागा नदी के किनारे रहते थे। ये भगवान कृष्ण के अवतार माने जाते थे। इनके रचे हुए पद भी मिलते हैं।

(२७) शेख फरीद (गिरड़-वर्धा)—शेख फरीद की यहाँ एक दरगाह है। मुसलमान कहते हैं कि यहाँ गिढोबा नामका एक हिन्दू राक्षस रहता था, जिसको कुश्ती में शेख फरीद ने मार डाला था। इसी कारण से लोग फरीद को पूजने लगे। ब्राम्हणेत्तर हिन्दुओं और मुसलमानों की यहाँ मनौती होती है। रामनवमी और मोहर्रम में यहाँ मेला लगता है।

(२८) बालाभाऊ (मेहकर)—इन पर नरहरि की कृपा थी। बैसाख मास में होनेवाली नृसिंह जयन्ती पर इनके शरीर में नृसिंह भगवान का प्रवेश होता था। इन्होंने जीवन भर परोपकार ही किया था। पीछे से सन्यास लेकर काशी में रहते थे।

(२९) शिवचरण गीर (अकोला)—प्रसिद्ध सन्त की समाधि है।

(३०) गोविन्द बाबा (बारशी-टाकली)—ये पटवारी थे, किन्तु वैराग्य होने से वे विरक्त की भाँति रहते थे।

(३१) गजानन महाराज (शेगांव)—ये महाराज अवधूत वृत्ति से रहते थे। अकोला में शहर के बीच एक चबूतरे पर बैठा करते थे। ये बीच-बीच में मौनव्रत धारण करते थे। तब भी रामनाम की ध्वनि उनके मुख से सुनायी पड़ती थी। देह धर्म के विषय में निश्चिन्त थे, चाहे जहां चाहे जो काम हो जाता था। कोई कुछ इनसे प्रश्न करता तो उसका उत्तर सदा चुने हुए गूढ़ार्थ व्यंजक शब्दों में देते थे। वे अकोला से शेगांव चले गये थे। जहाँ उन्होंने समाधि ली थी, वहीं पर एक बड़ासा मन्दिर बना दिया गया है और यात्रियों के ठहरने के लिये भी प्रशस्त स्थान है। शेगांव में चैत्र शुक्ल ९ को उनकी जयंती मनाई जाती है।

(३२) गोमाजी महाराज (नागझरी)—स्टेशन से १ मील पर इनकी समाधि है।

(३३) नानाजी महाराज (कापसी, वर्धा)—माघ मास में नानाजी महाराज का मेला होता है।

(३४) आबाजी महाराज (सोनेगांव, वर्धा)—आबाजी की यहाँ समाधि है।

(३५) केजाजी महाराज (घोराड, वर्धा)—घोराड में मेला लगता है।

(३६) तेलंगराव (आर्वी)—आर्वी में तेलंगराव स्वामी की समाधि है। जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों पूजते हैं।

मराठी मध्यप्रदेश में निम्न सन्तों की इस तरह जयन्ती मनाई जाती हैं

तिथि (१)	नाम (२)	स्थान (३)
चैत्र शुक्ल १ ...	... डाबाजी महाराज	... लोणीखेड़ा.
चैत्र शुक्ल २ ...	... सेवादास जयंती	... पोहरादेवी पुसद.
चैत्र शुक्ल ९ ...	... गजानन महाराज उत्सव ...	शेगांव.
चैत्र कृष्ण १ ...	... गोविंद महाराज उत्सव ...	बारशी-टाकली.
वैशाख कृष्ण ९ ...	... विठ्ठलानंद सरस्वती ...	अमरावती.
जेठ कृष्ण ११ ...	... हरीबुआ	आकोट.

तिथि	ग्राम	स्थान
(१)	(२)	(३)
आषाढ़ शुक्ल १	भगवंतरावजी पुण्यतिथि	आर्वी.
आषाढ़ कृष्ण ९	हरिबाबा कासार	बोरगांव-अचलपुर.
श्रावण शुक्ल ११	गोंवालकर	अचलपुर.
श्रावण कृष्ण ३	शिवचरण	अकोला.
श्रावण कृष्ण ४	फलसिद्ध स्वामी	साकरखेडा.
आश्विन शुक्ल ८	मीरन	देवली-वर्धा.
आश्विन शुक्ल १२	गोचरस्वामी	उमरखेड.
कार्तिक शुक्ल १५	अडकूजी महाराज	वरखेड-अमरावती.
कार्तिक कृष्ण २	सदानंद ब्रम्हचारी	चांदूर.
कार्तिक कृष्ण ३	नानाजी महाराज	कापशी.
कार्तिक कृष्ण १४	सखाराम महाराज	लोणी.
पौष शुक्ल २	नरसिंह सरस्वती	कारंजा.
पौष शुक्ल ८	विष्णु कवि	माहूर.
पौष शुक्ल ९	झिंगराजी महाराज	मुरहा-दर्यापुर.
पौष कृष्ण १	श्री गुरुदासजी	माहूर.
पौष कृष्ण ३०	केजाजी महाराज	घोराड-वर्धा.
माघ कृष्ण ४	गोमाजी महाराज	नागझरी.
फाल्गुन शुक्ल २	सिदाजी	पातूर.
फाल्गुन शुक्ल १३	अप्पाजी महाराज	आर्वी.

इसी तरह निम्न और भी सन्त प्रसिद्ध हैं—गुलाबराव महाराज, सैयद दाऊद (दहिहन्डा) और मदनशाह वली (चिखली)।

नर्मदा तट के कुछ संत—नर्मदा पुण्य नदी होने से उसके किनारे प्रत्येक रम्य स्थानों में अनेकों सिद्ध संतों के आश्रम आज तक वर्तमान हैं, जिन्होंने जनता को आत्मशांति और आत्मकल्याण का अनुपम मार्ग दिखाया है। नर्मदा के किनारे कई संतों की समाधियां मिलती हैं, पर उनके सम्बन्ध का परिचय देनेवाले क्रमश: लुप्त होते जा रहे हैं। फिर भी हम कुछ संतों का संक्षिप्त परिचय यहां दे रहे हैं :—

(१) नर्मदा की परिक्रमा करनेवालों में कमल भारती एक प्रमुख संत हो गये हैं, जिनके शिष्य गौरीशंकर महाराज थे। उन्होंने अपना आश्रम ओंकारेश्वर में बनाया था। ये एक सिद्ध महात्मा थे, जिनकी जमात में कई सिद्ध महात्मा रहते थे। कमल भारती का देहान्त संवत् १९१२ में हुआ, उस समय में उनकी आयु १०० वर्ष से अधिक थी। उनके चमत्कारों से चकित होकर कहते हैं कि मण्डला और होशंगाबाद के जिलाधीशोंने उनकी जमात को गांजा, भांग और शस्त्रों का परवाना और सनदें दी थीं। कमल भारती के शिष्य गौरीशंकर ने संवत् १९४४ को नर्मदामें सचेत समाधि ली। गौरीशंकर के पश्चात् नर्मदानन्द जमात के महन्त हुए थे। उनके उत्तराधिकारी काशीनन्दजी (स्वर्गवास संवत १९९०) और उनके उत्तराधिकारी रतिनन्दजी हैं।

(२) केशवानंदजी (धूनीवाले)—आरंभ में गौरीशंकर महाराज के जमात में थे। उनका अध्ययन काशी में आचार्य तक हुआ था। गौरीशंकरजी ने उनको योग की शिक्षा दी थी, वे दुर्गापाठी थे। कुछ दिनों तक सिरसिरी घाट पर रहे थे; किन्तु सांईखेडा के मालगुजार उनको अपने यहां लिवा लाये थे, जहां उनका निवास २० वर्षों तक था। उनका सभी जाति और सभी मतों के व्यक्तियों के साथ एक-समान व्यवहार था। यहां वे "धूनी-वाले दादा" के नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्होंने संवत् १९८६ में साईंखेडा छोड दिया और अपने शिष्यों के साथ इन्दौर, उज्जैन, बडवाह होते हुए खण्डवा आए और संवत् १९८७ (आषाढ शुक्ल ११ सोमवार) को उनका स्वर्गवास हुआ और खन्डवा के समीप भवानी माता के मन्दिर के पास उनकी समाधि है। उनके उत्तराधिकारी छोटे दादाजी हुए, जो खंडवा में ही समाधिस्थ हो गए। अभी इनके आश्रम में भक्तों का आवागमन होता रहता है।

(३) टेंभे स्वामी—वासुदेवानंद सरस्वती जाति के महाराष्ट्र ब्राम्हण खेड़ीघाट पर रहते थे ;—जो योग के अच्छे जानकार और संस्कृत के विद्वान थे। आपने अपनी तपस्या और भजन से असंख्य व्यक्तियों के दुःख दूर किये थे। लोग उनको "दत्त" का अवतार मानते थे। मराठी में उनका चरित्र भी छप गया है। उनके लिखे हुए संस्कृत और मराठी में २०–२२ ग्रंथ हैं। संवत् १९७१ को नर्मदा के तट पर उनका देहान्त हुआ।

(४) सीताराम महाराज—वासुदेवानन्द सरस्वती के भ्राता थे। उनके सत्संग से हजारों ने लाभ उठाया था।

(५) योगानन्दजी—श्री वासुदेवानंदजी के शिष्य थे। उनका पहला नाम कल्याणजी था। उन्होंने संवत् १९५२ में संन्यास लिया और स्वर्गवास संवत् १९८५ में गोदावरी के तटपर हुआ।

(६) मायानंदजी चैतन्य—(जन्म सं. १९२५) जाति के महाराष्ट्र ब्राम्हण और काशी के प्रसिद्ध विशुद्धानंद के शिष्य थे। संवत् १९६६ को सन्यास लेने पर उन्होंने नर्मदा की परिक्रमा की थी—जिसका विवरण उनकी एक पुस्तकमें अंकित है। आपने हिन्दी और मराठी में कविताएं लिखी हैं। ये अधिकतर ओंकारेश्वर में रहते थे। शिष्य लोग उनको बुद्ध का अवतार मानते थे। सन १९३४ में आप परमधाम को सिधार गए।

(७) दामोदरराव लचाटे—दमोह और जबलपुर के स्कूलों में आप अध्यापक थे। संवत् १९६५ से आप विरक्त होकर नर्मदा के किनारे रहने लगे। सन १९१९ में उन्होंने नर्मदा परिक्रमा पुस्तक लिखी थी।

(८) मौनी महाराज—जबलपुर-मन्डला सडक पर निरई डोंगरी में नर्मदा किनारे रहते थे। वे महान योगी थे। लोग कहते हैं कि वे पक्षिओंकी भाषा जानते थे। उनका देहान्त सन १९२२ को हुआ।

(९) रामफलजी—ये होशंगाबाद में बहुत दिनों तक पागल अवस्थामें थे। उनको वाक्‌सिद्धि थी। उनका स्वर्गवास ब्राम्हण घाट पर हुआ था।

(१०) फलहारी महाराज (ब्रम्हाणघाट)—ये मंत्र, यंत्र और योग द्वारा रोगों को अच्छा करते हैं।

(११) गोपालानंदजी—सोहागपुर से १२ मील नर्मदा के किनारे बगलवाडा में रहते हैं। आपने नर्मदा किनारे कई यज्ञ किये हैं।

(११) श्रीमती रामबाई (बुर्हानपुर की रहने वाली)—नर्मदा के किनारे खंडीघाट पर रहती थीं। उन्होंने नर्मदा की परिक्रमा की थी। परोपकार के कई कार्य उन्होंने किये थ। सन १९३० में उनका स्वर्गवास हुआ।

(१२) ओझा महाराज—उन्नाव जिले के रहनेवाले ब्रम्हचारी थे। ४० वर्षों में इन्होंने नर्मदा की ३ बार परिक्रमा की थीं। ये भजनानंदी गोसेवक थे। सन १९२० में ९० वर्ष का आयु में स्वर्गवासी हुए।

(१३) चन्द्रशेखरानंद—ये महात्मा खेडीघाट पर रहते थे। योग की क्रियाएं अच्छी तरह जानते थे। स्वर्गवास सन १९२८ में हुआ था।

(१४) स्वामी रामानंदजी—(जन्म सं. १९२२)—मकडाई के रहनेवाले थे। ये हंडिया में रहते थे। संवत् १९८५ में नर्मदाजी का मन्दिर बनवाया था। आपके आश्रम में ५ विद्यार्थी अन्न-वस्त्र पाते हैं तथा यात्रियों को सदावर्त दिया जाता है।

कृष्णनंदजी महाराज (रंकनाथजी) नजरपुरा (होशंगाबाद) जिले के रहने वाले थे। उनका देहान्त संवत् १९३२ में ८४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। वे एक अच्छे संत थे। उनकी कुछ रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। उसी तरह रहटगांव (जिला होशंगाबाद में) दीनदास महाराज हो गये हैं। उनका नाम सदाशिव जो रंकनाथ के शिष्य हैं। मंडला के हठयोगी सीताराम बाबा प्रसिद्ध हैं, जो कभी-कभी नागपुर के निकट रामटेक में भी जाकर रहते हैं।

यों तो छत्तीसगढ में तो अनेकों संतों का पता हमें लगा है, जिनमें से कई तो बडे बडे मठाधीश है। केवल रायपुर में ही बैरागियों के ही चार मठ है, जिनकी गद्दी पर अच्छे संत हुए हैं। इनके अलावा दुर्ग, बिलासपुर और रायपुर जिलों में संन्यासी और बैरागियों के पुरातन मठ हैं, जो अच्छे मालगुजार और साहूकार भी हैं। स्थल-संकोचवश हम परिचय देने में असमर्थ हैं।

नागपुर के संत—भोंसला काल के बंगाजी भुरे नागपुर के प्रमुख संत माने जाते थे। उनका स्वर्गवास सन् १८२९ में हुआ था। वे गणपति के भक्त थे। दूसरे संत मृत्युंजय कोकिल थे। जिनके शिष्य सीताराम शास्त्री और गजानन शास्त्री थे। कोकिल जी योग के अच्छे ज्ञाता थे। इसी युग के आयाचित महाराज थे जिनका प्रसिद्ध मठ नागपुर

में हैं। इसी भान्ति भोंसलाकालीन नागपुर के संत तेली बुआ, अवधूत बुवा, डोकेबुवा, गजानन साल्पेकर, गोपालराव ठमके, गणेबा महाराज, सुदाम बुवा, निकालस बुवा, विश्वंभर आवा, दादाजी साधु, गोपालजी हरदास, नानाजी महाराज दक्षिणामूर्ति थे। उसी तरह नागपुर के समीप मोहपा के तुकाराम बुवा, पौनार के केजाजी महाराज, मोहगाव के केशवदासजी और भंडारा के देवबाबा प्रमुख संत रहते थे। उसी तरह २० वीं सदी में भी नागपुर के जामदार बुवा और बाबा ताजुद्दीन प्रसिद्ध संत हो गये हैं।

प्रदेश के कुछ देवता—साधु-संतों की समाधियां, पीरों की मजारें और सतियों के चौरों का पूजन सर्वत्र होता है, किन्तु लोगोंने अन्य ग्राम देवता भी निर्माण कर दिय हे। सागर और जबलपुर जिले की ओर खेरमाता, दूल्हादेव, मिड़ोइया, नागदेव, मंगतदेव, गोंडबाबा और हरदौल लाला पूजे जाते हैं। देहाती स्त्रियां इनकी कहानियां भी सुनाती हैं। खेरमाता प्रत्येक गांव में इसलिये स्थापित हे कि वे रोगों से लोगों को बचाती हैं। हरदौल लाला हैजे से बचाते और विवाह में आंधी-पानी को आने से रोकते ही हैं। हरदौल लाला जुझारसिंह बुन्देला ओडछावाले का छोटा भाई था। जिस समय में युद्ध के कारण जुझारसिंह चौरागड़ में फंसा था—तब घर का प्रबंध भ्राता हरदौल को सौंप गया था। उसकी भावज उसे चाहती थी। जुझारसिंह को शक हो गया और उसने रानी के द्वारा हरदौल को विष दिलवाया, जिससे वह मर गया और लोग उसे पूजने लगे। दूल्हादेव भी विवाह और अन्य कार्यों में सहायता देते हैं। मिड़ोइया खेतों की मेड़ों पर रहते और खेत की उपजको नुकसान नहीं होने देते। घटोइया नदी-नालों के घाटों पर डटे रहते हैं। उनको नई दुलहनें ससुराल जाते समय सुपारी न चढ़ावें तो बीमार हो जांय। नागदेव नागपंचमी को पूजे जाते हैं। कई ग्रामों में बाघ द्वारा मृत्यु-प्राप्त गोंड बाबा मानता कराते हैं। उन्हें न मानो तो जंगल में शेर का डर बना रहता है। मंगतदेव भी बुन्देला थे उन्होंने बादशाही डेरा लांघ कर चंदेरी के तालमें स्त्रियों की भुजलियां सिरवा दी थीं, परन्तु इस काम के करने में वे मारे गये। वे देव बन गये, अब अन्य देवों के समान पूजा लेते हैं और भी कई स्थानीय देव-देवी हैं, जो अपनी पूजा किसी न किसी प्रकार करा लेते हैं।

कालिका देवी तो सर्वत्र विराजमान हैं। औरतें उन्हें गा-गाकर मनाती हैं।

> **रूप देख विकराल कांपे दसों दिगपाल।**
>
> **अब हूं हैं कौन हाल—कौन नहीं घबरान।**
>
> **माई कालिका की जय—माई कालिका की जय।**
>
> **माई हूजे अब शांत, कहे लीजे बलिदान।**

हनुमान तो संकट मोचन ही कहाते हैं—इसलिये प्रत्येक गांव में तो उनकी पूजा होती ही है।

छिन्दवाड़ा जिला में अहीरों के देवता "मालबाबा" हैं। लोग दीवाली में उनका पूजन करते हैं। अन्यत्र इस देवता का नाम "गुरैया बाबा" है। भैंसासुर, बाघदेव, हुलेरा, मटिया अनेक नाशक, त्रासक देवों की लोग मानता करते हैं और शीतला माता को मनाकर लोग शीतला का प्रकोप शांत करते हैं। छत्तीसगढ़ में भी अनेक देवता हैं—जिनमें ठाकुरदेव, बूढ़ादेव, भैंसासुर, सेहलादेव प्रमुख हैं। मराठी मध्यप्रदेश में कुछ देवताओं के नाम विचित्र से सुनायी देते हैं—भैंसासुर, बाघदेव, हुलेरा, मटिया, खंडोबा, म्हसोबा, होलेरादेव, आदि अनेक देवताओं की मनौती ग्रामवासी करते हैं। होली के समयमेंघनाथ की पूजा होती है। उसका प्रभाव संतान प्राप्ति के लिये किया जाता है। एक स्तंभ गाड़कर उसपर झुलाने के लिये एक लकड़ी लगायी जाती है। बदना करनेवाले को रस्सी से छाती के पास बांधते हैं और उसे ऊपर की लकड़ी में हिलगाकर ७ बार घुमाते हैं। इसका दूसरा नाम गल है। अरण्यवासियों के क्षेत्रों में भी सैकड़ों देवी-देवताओंका पूजन होता है। अधिकांशतः कई जिलों में हिन्दू और आरण्यक पूजन विधान की खिचड़ी हो गयी है, जिससे सर्वसाधारण ग्रामीणजन एक दूसरे के देवी-देवता पूजने लगे हैं। यह भी देखा जाता है कि नये-नये देवता भी पैदा होते जाते हैं और कुछ पुराने लुप्त होते जाते हैं।

ललित कला

श्री गणेशराम मिश्र

मानव ने जब से होश सम्हाला और जो कुछ भी अपना विकास किया वह प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित होकर ही किया। प्रकृति ही पुरुष की गुरु बनी और जननी भी। प्रकृति की गोद में खेल कर मानव ने उसकी अनुपम छटा से विमोहित होकर सौन्दर्य उपासना सीखी।

प्रारंभ में शरीरावयव के संकेत ही भाव-प्रदर्शन के साधन थे। उस के बाद सांकेतिक खरोष्टी लिपि का—चित्र लिपि का—आश्रय लिया गया और शनैः शनैः पाषाण ही उस चित्र-लिपि को स्थायी रूप देनेवाला साधन बन गया। विश्व के वन-गव्हर या कन्दरायें इस के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कालान्तर से चित्र-लिपि के दो रूप हो गये। एक लिपि, दूसरी मूर्तिकारी। वही सांकेतिक लिपि आगे सुसंस्कृत रूप धारण कर लेने पर संस्कृत कहलाई। और वर्णमाला कहलायी—देव नागरी लिपि। भाषा-लिपि का यह विकास उत्तर ध्रुवीय आदि आर्यों के अतिशय शीत के कारण नीचे उतरने के पहिले अवश्य हो गया होगा। अन्यथा संस्कृत देवभाषा को विश्वभाषा-जननी बनने का श्रेय प्राप्त होना कैसे संभव हो सकता ?

आदि आर्य—देव जन—सुसंस्कृत लिपि, भाषा, और कला विज्ञ हो जाने के बाद ही उत्तर ध्रुव से रशिया—ऋषिया या ऋषि प्रदेश होकर नीचे उतरे और संसार के निवास योग्य समस्त भागों में फैल गये। सब ने अपने अपने ढंग से उन्नति की और कालान्तर में सब बातों में अपनी सुविधानुसार तथा स्थान विशेष के वातावरणानुसार परिवर्तन करते गये। कंदराओं की चित्र-लिपियों की सादृश्य ही इस का एक अटल प्रमाण है। आगे जैसे-जैसे खोज होती जायगी वैसे-वैसे आर्य संस्कृति-परम्परा की श्रृंखला का पता लगता चला जायगा।

इन आदि आर्य कलाकारों ने एक ओर तो सांकेतिक लिपि के आधार पर चित्र संक्षिप्तीकरण करते-करते लिपि का आविष्कार किया और दूसरी ओर सांकेतिक लिपि का सुसंस्कृत वृद्धीकरण करते-करते मूर्तिकला तथा चित्र कला को जन्म दिया।

श्रृंखला-बद्ध लिखित आधुनिक ऐतिहासिक आधार पर कला विकास का, एक दूसरे विकासक्रम का भी पता लगता है और उसका आधार प्रकृति ही है। कला के नाते आदि-मानव ने सौन्दर्यमयी परिवर्तनशील प्रकृति के भिन्न-भिन्न मनमोहक परिधानों को लक्षित कर माधुर्य पान करना सीखा, वर्षा में धरणी का चोला बदलना, जगह जगह हरीतिमा की छटा का छा जाना, बसंत और शरद में लताओं तथा वृक्षों का रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करना, बहुरंगी पुष्पों से लदकर झूमना और फिर फलों से लदकर सुन्दरता की पराकाष्ठा करना। वैसे ही अंतरिक्ष का प्रातः सायं मनमोहक श्रृंगार करना आदि बातों ने मानव को आनंदातिरेक से विव्हल कर डाला। इस प्रकार इन सब मनमोहक वातावरण के मध्य रह कर मानव-मन भी सौंदर्यमय हो जाने के लिये मचलने लगा।

मानव ने अज्ञानता के कारण नहीं, सुन्दरता की मादक तथा उत्कट-भावना के कारण अपने शरीरको क्षत-विक्षत कर सुन्दर बनना प्रारम्भ कर दिया। पर यह विधान उसे बहुत महंगा तथा कष्टदायक पड़ा, कष्ट से बचने के लिये रंगों का प्रयोग प्रारम्भ किया गया और ताजियों के शेरों से भी कई दर्जे उत्कृष्ट चित्रकारी से उन्हों ने अपने शरीरोंको रंगना प्रारम्भ कर दिया। पर यह सुन्दरता का साधन भी स्थायी न बन सका। वर्षा के कारण उनका यह साधन भी असफल सिद्ध हुवा।

इसके बाद रंगों को शरीर पर स्थायी रखे जाने के लिये पहिली शरीर विक्षत कला के आधार पर कम कष्ट साध्य पर स्थायी रंग प्रथा का याने गुदने की कला का जन्म हुवा। यह गुदना गूदने की कला अत्यंत लोकप्रिय और आजन्म स्थायी सिद्ध हुई।

यह शरीर को सुन्दरता युक्त बनाने की स्थायी रंगीन प्रथा अत्यंत प्राचीनतम प्रथा है। यह खास कर एशिया के देश में स्त्रियों में और अन्य देशों म पुरुषों में भी आज भी विद्यमान है।

आधुनिक काल में तो इसको वैज्ञानिक आधार पर बड़े अच्छे तरीके से अपनाया जा रहा है और विश्व में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कई जगह इस का अभी भी प्रचार ज्यादा है।

आदिकालिक यह गूदन कला (टेटोइंग) रचना के सिद्धान्तों पर पूर्णतः आधारित रही है। तुलनात्मक सिद्धान्त तो इस का प्राण ही है। ज्यामिति की सर्पाकार वर्तुल रेखाओं के प्रयोग की ही इस में प्रधानता रही है। वनस्पतियों से निकाले गये केवल लाल, नीले, हरे रंग ही इस में काम में लाये जाते हैं।

रचना के कौन-कौन से सिद्धान्त उन की गूदन कला में निहत हैं यह वे पारिभाषिक शब्दों द्वारा प्रकट न कर सकते रहे हों परन्तु वे इन व्यापक सौन्दर्य के सिद्धान्तों का प्रयोग करते अवश्य थे। वे उन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ नहीं थे।

इस बात के प्रमाण स्वरूप भी आजकल के कलाकारों की कृतियों को लिया जा सकता है। हमारे कई आधुनिक कलाकार निरक्षर भले ही रहते हैं, परन्तु वे कला के अनेकानेक सिद्धान्तों का, अपने अनुभव के आधार पर प्रयोग अवश्य करते रहते हैं।

जिस प्रकार एक ओर इस गूदने की कला का विकास हुवा उसी प्रकार दूसरी ओर सांकेतिक चित्रांकन का विकास तक्षण कला के रूप में बढ़ा।

आदि कालिक विश्व के खोज कर निकाले गये चित्रों व मूर्तियों पर से ऐसा ही प्रतीत होता है कि मूल रूप में करीब करीब सब रचनाएं एक ही शैली की हैं, यद्यपि उसी काल की भारतीय चित्र व मूर्तियां कुछ विशेषता रखती हैं और इस से प्रतीत होता है कि भारतीयों ने बहुत द्रुत गति से अपनी उन्नति की थी।

भारतीय चित्र रचना क्रम—आर्यकलाकारों में से अंतरमुखी दृष्टि के आधार पर किसी ने मसी और लेखनी द्वारा, किसीने लौह लेखनी द्वारा तथा किसी ने केश लेखनी या तूलिका द्वारा सत्यं, शिवं, सुन्दरम के साकार दर्शन कराये।

कला का प्रचार आस्तिक धर्मभावना के आधार पर ही ज्यादा हुवा। आराधना के यत्नों में कवि, चित्रकार और शिल्पी अपने मानस चक्षुओं से अपने अपने आराध्य देव का या मनोगत प्रस्फुटित भावों का सुन्दरतम रूप भौतिक साधनों द्वारा या माध्यमों द्वारा करता चला आ रहा है और करता चला जायगा। जो जितना ध्यानस्थ होकर अपने आंतरिक भावों को, तीव्र वेदनाओं को साकार करता है वह उतना ही सुमधुर मंजुल साकार रूप उपस्थित कर सकता है।

परन्तु जो कलाकार आस्तिक नहीं रहता और केवलमात्र प्रकृति उपासक रहता है या भौतिकवादी होता है, उसकी कला भी बाहरी प्राकृतिक साधनों तथा उपकरणों तक ही सीमित रह जाती है। उसको पहिले साधन और आधार उपस्थित करना पड़ता है। परन्तु यह बात पौर्वात्य कलाकारों के कार्य-कलापों से बिल्कुल विपरीत प्रतीत होती है।

अर्थ कलाकार बाहर के उपकरण अथवा साधन संजोता नहीं बैठता। वह तो बाह्याडंबार के कारण अपने चर्म-चक्षु बन्द कर हृदय-दीपक संजोकर मनोगत भाव की अन्तरभूमि पर ही प्रथम अंकित करता है। और पाश्चात्य कलाकार मनो-भावानुकूल भौतिक सरंजाम अपने विस्फारित नेत्रों से संकलन किये हुए उपकरणों को व्यवस्थित कर अपना कार्य प्रारम्भ करता है।

पौर्वात्य कलाकार एकान्त में चक्षु बन्द कर भावात्मक तथा रागात्मक मनोगत भावों को प्रथम अन्तर में साकार कर लेता है और पाश्चात्य कलाकार साधन जुटाने के लिये इधर-उधर दौड़धूप करने लगता है।

पौर्वात्य कलाकार चिंतन में ज्यादा समय लगाता है और पाश्चात्य कलाकार माडल ढूंढने में तथा अनुकूल वातावरण को उपस्थित करने में ज्यादा समय तक व्यस्त रहता है।

पहिला कलाकार कार्य प्रारम्भ कर लोकोत्तर भाव प्रधानता के पीछे पड़ा रहता है और दूसरा सादृश्य या सद्रूपता के पीछे। और इस झंझट में वह मनोगत भावों से दूर हट जाता है।

पहिला अपनी उड़ान अथवा काल्पनिकतासे अलौकिक सौन्दर्य, अटल सत्यता को साकार करने में गर्क हो जाता है। दूसरा सांसारिक सुन्दरता की उत्कृष्टता तथा प्रकाशजन्य परिणामों के भंवर में फंस कर चक्कर काटता रहता है।

शैली के विचार से पहिला सुन्दर वक्र रेखाओं को, जो सुन्दरता की जननी समझी जातीं है, प्रधानता देता है। दूसरा सामने दिखने वाले पिंडों को—पदार्थों को या माडल को—तथा उस के ऊपर प्रस्फुटित होने वाले छाया प्रकाश के असर को प्रधानता देता है।

अपने ढंग की दोनों पद्धतियों में अनुपम, श्रेष्ठ तथा प्रभावोत्पादक और उपादेय कौन सी है इस बात का निर्णय विज्ञ पाठक ही करें। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ काल से वक्र रेखाओं के सौंदर्य तथा लालित्य को भारत के सिवाय अन्यत्र भी कलाकारों द्वारा प्रधानता दी जाने लगी है। और आर्य वक्र रेखांकन के लालित्य तथा महत्वपूर्ण भावाव्यक्ति की प्रतिष्ठा होने लगी है।

आर्य कलाकारों ने रागात्मक रचना (रिदिम) और रचनात्मक रूप (कनवेन्शनल फार्म) को इतनी प्रधानता आदि काल से दे रखी है कि पत्र, पुष्प, प्राणी की रचना (कम्पोजिशन) की तो बात ही अलग है पर मानवीय आकृति-युक्त रचनायें भी रागात्मक शैली से ओत-प्रोत हैं।

ये रचनात्मक रूप पुनरुक्तियों के लिये, रागात्मकता के लिये, कलाकारों के अनिवार्य प्रमुख सिद्धांत हैं। अन्यथा सौन्दर्य और रागात्मकता सध ही नहीं सकती। यही कारण है कि लोकोत्तर मानव (देव) आकृतियों के प्रेमी आर्य-कलाकारों ने ये कला सिद्धांत अपनी प्राचीन कला शैली में ओत प्रोत कर दिये थे। इसी कारण उन को प्राचीनतम कला कृतियां आधुनिक काल में भी, फिर चाहे वे मूर्ति रूप में हों चाहे चित्र रूप में अथवा रचना (डिज़ाइन) रूप में हों, खरी उतरतीं हैं। अनुपम, अद्वितीय और लोकोत्तर प्रतीत होती हैं।

मध्यप्रदेश का शिल्प-सौन्दर्य

श्री व्योहार राममनोहर सिंह

प्राचीन भारत के महान शिल्पयोगियों की चरम शिल्प-साधना, असाधारण सृजन-क्षमता एवं रूप-दक्षता का परिचय पर्वत गात्र में खोदित गुहा मंदिरों, भित्ति-चित्रों, मूर्तियों तथा उत्तुंग शिखरयुक्त मंदिरों के रूप में आज उपलब्ध हैं। जड़ पाषाण में शिल्पी ने ध्यान के द्वारा रूप की उपलब्धि करके अमूर्त भावना को मूर्त रूप प्रदान किया है। उसके स्पर्श से पत्थर में प्राण और अभिनव-सौन्दर्य स्पन्दित हो उठा है। मूर्ति अथवा चित्र में प्राणों के छन्दात्मक स्पन्दन और चेतना का प्रकाशन ही कला की श्रेष्ठता का परिचायक है। भारतीय शिल्पी शिल्प-साधना को ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानते थे। ऐतरेय ब्राम्हण के अनुसार "छन्दोमयमात्मनं कुरुते"—शिल्पी शिल्प के द्वारा ही स्वतः को छन्दोमय बनाता है। भारतीय शिल्प, कलाकारों की महान साधना और सौन्दर्य-भावना से छन्दोमय है, मुखरित है।

भारतवर्ष की शिल्प-संस्कृति विराट और गरिमामयी है। विश्व की श्रेष्ठतम कलाकृतियों में इसका उन्नत स्थान है। अन्य प्रदेशों की तरह मध्यप्रदेश के प्राचीन शिल्पियों ने भी इस शिल्प-वैभव के निर्माण में अपूर्व योगदान किया है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दि तक की जो कलाकृतियां उपलब्ध हुई हैं उनसे सिद्ध होता है कि पुरातत्व और कलात्मक सृष्टि की दृष्टि से यह प्रदेश ऐश्वर्यमण्डित है। रायगढ़ और सरगुजा रियासत में स्थित सिंघनपुर और जोगीमारा की प्रागैतिहासिक गुफाओं में भारतीय भित्ति-चित्रों के प्राचीनतम अवशेष उपलब्ध हुए हैं जो-कि इतिहास और कला की अमूल्य सम्पत्ति हैं। भारतीय स्थापत्य में ब्राम्हण-शैली के मंदिर का निर्माण सर्व-प्रथम गुप्तयुग में हुआ। गुप्त शैली पर निर्मित तिगवां का मंदिर पूर्वकालीन स्थापत्य के उद्भव की कहानी कह रहा है। गुप्त युग के बाद आठवीं शती की जो अनुपम कला-कृतियां प्राप्त हुई हैं उनमें सिरपुर और भद्रावती का नाम उल्लेखनीय है। सिरपुर की बौद्ध-कालीन धातु-प्रतिमाओं और ब्राम्हण-शैली के लक्ष्मण मंदिर में मनुष्य की श्रेष्ठ कलात्मक अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। सिरपुर के कलाकारों को भारत के सिद्धहस्त और उन्नत शिल्पियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। नवमी शती से बारहवीं शती तक चेदि प्रदेश के प्रतापी शासक हहय-वंशीय सम्राटों के राज्य-काल में निर्मित कलाकारों की शत-शत कृतियां से मध्यप्रदेश का कोना-कोना प्लावित है। यह शिल्प-सम्पदा इतनी प्रचुर संख्या में उपलब्ध है कि कलचुरि-कलाकार की अद्भुत सृजन-क्षमता पर आश्चर्य होता है। त्रिपुरी (तेवर), भेड़ाघाट, बिल्हरी आदि स्थानों में हमें कलचुरि-भास्कर्य के जो नमूने मिलते हैं वे इस प्रदेश के महान शिल्प-वैभव को सदियों तक समृद्धिशाली और अमर बनाये रखेंगे।

भारत के प्राचीन साहित्य एवं शिल्प-शास्त्रों में भित्ति-चित्रों का उल्लेख है। ईसा-पूर्व दूसरी व तीसरी शताब्दि के बौद्ध-पाली ग्रंथों में, मगध एवं कोशल देश के राजाओं के आमोद-गृहों में भित्ति-चित्रों एवं नाना अलंकरणों से चित्रित मण्डपों का वर्णन किया गया है। पांचवीं तथा छठवीं शताब्दि के चीनी यात्रियों के वर्णन से इसकी पुष्टि होती है श्रीकुमार रचित "शिल्परत्न", सोमेश्वर रचित "अभिलषितार्थ चिन्तामणि", मार्कण्डेय रचित "विष्णुधर्मोत्तरम्" तथा बसप्पनायक कृत "शिव तत्व रत्नाकर" आदि ग्रंथों में शिल्प-विषयक अत्यंत मूल्यवान सामग्री मिलती है। उस समय शत-शत प्रासाद एवं देव-स्थान चित्रकारों की तूलिका के स्पर्श से छन्दित हो उठे थे। इस अमूल्य निधि और परम्परा की अत्यंत अल्प कृतियां ही आज उपलब्ध हैं।

मध्यप्रदेश में जो प्राचीनतम भित्ति-चित्र उपलब्ध है, वे प्रागैतिहासिक काल के मानव की कलात्मक अभिव्यक्ति और प्रतिभा के उत्तम निदर्शन हैं। सिंघनपुर, जोगीमारा, होशंगाबाद की आदमगढ़ गुहा तथा पचमढ़ी की बनिया-बेरी गुफाओं में भारतीय भित्ति-चित्रों के जन्म की गाथा छिपी हुई है। अधिकांश चित्र आखेट विषयक हैं। जंगली पशुओं की क्षणिक भंगिमाओं के संयमित एवं यथार्थ रेखांकन की आश्चर्यजनक क्षमता का उद्घाटन इन चित्रों में मिलता है। केवल गेरुए, पीले और काले रंगों के सादे प्रयोग से ही प्रागैतिहासिक चित्रकार चित्त की अव्यक्त भावनाओं को व्यक्त करने में सफल हुआ है। आन्तरिक उल्लास के द्योतक इन चित्रों में जो सरलता, स्वच्छन्दता और वेग दिख पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सूक्ष्म प्रकृति पर्यवेक्षण एवं स्वतः-सिद्ध आवेग होने के कारण चित्रकार अल्पतम् स्पर्शों द्वारा अगाध भावनाओं की अभिव्यक्ति कर सका है।

रायगढ़ के सिंघनपुर ग्राम के पास मांद नदी के पूर्व की ओर फैली उपत्यका में खोदित गुफाओं में प्रागैतिहासिक चित्र प्राप्त हुए हैं। गेरुए तथा पीले रंग से सूखी रेखाओं द्वारा रहस्यमयी मानव आकृतियों एवं वन्य-पशुओं का अंकन पत्थर की दीवार पर किया गया है। कहीं-कहीं पर ज्यामितिक आकृतियां भी अंकित हैं, जिनका अभिप्राय लगाना कठिन है। हिरन, हाथी और खरगोश आदि पशुओं की स्वच्छन्द स्वाभाविक गति का वास्तविक चित्रण उस्तादी और तत्परता से किया गया है। एक स्थान पर आखेट का दृश्य अंकित है जिसमें विराट भैंसे को घेरकर शिकारी उसे मारने में तत्पर हैं। उसी दीवाल पर एक और प्रभावोत्पादक चित्र है। विशालकाय भैंसा तीरों-भालों से बुरी तरह घायल होकर मृत्यु की यातना से तड़प रहा है। अधिकांश चित्र मिट से गये हैं, अतः पहचानना मुश्किल है। फ्रान्स तथा स्पेन की अल्टामीरा आदि गुहाओं के प्रसिद्ध चित्रों के साथ सिंघनपुर के गुहा-चित्रों की तुलना की जा सकती है। इन चित्रों के निर्माण काल का पता लगाना अत्यंत कठिन है। अनुमानतः ईसा-पूर्व पांचवीं शती के पूर्व ही ये चित्रित किये गये थे।

मध्यप्रदेश की महादेव पर्वत श्रेणियों में प्रागैतिहासिक गुहा-चित्रों से युक्त अनेकों स्थान हैं, जिनका केन्द्र पचमढ़ी है। पचमढ़ी से पांच मील के घेरे में डोरोथी डीप, माउन्ट रोजा, महादेव, जम्बू द्वीप, माड़ादेव, बनिया बेरी और धुआंधार आदि स्थानों में मूल्यवान गुहाचित्र उपलब्ध हुए हैं। चित्रों का विषय है—वन्य पशुओं का आखेट, मधु-मक्खियों के छत्तों से मधु संचय, धनुष-बाणों से युक्त दो दलों का संघर्ष इत्यादि। इसके अलावा ग्रामीण जीवन संबंधी चित्र जैसे ग्वालों सहित गायों की कतारें, गोशाला, झोपड़ियों इत्यादि के चित्र भी मिलते हैं। वन्य और घरेलू पशुओं में हाथी, गुलबाघ, शेर, रीछ, जंगली सुअर, हिरन और मकर तथा घोड़े, बकरे एवं कहीं-कहीं कुत्तों का भी चित्रण है। डोरोथी डीप गुफा का एक चित्र विनोद प्रियता का दुर्लभ उदाहरण है। एक बन्दर पिछले पैरों पर खड़ा होकर बांसुरी बजा रहा है, पास ही छोटीसी खाट पर मनुष्य लेटा हुआ बांसुरी की ताल पर दोनों हाथों से ताली बजा रहा है। बनिया-बेरी गुफा में एक बड़े धन-चिन्हात्मक आकृति को घेरे हुए-पुरुषों का समूह खड़ा है जो कि हाथ में छतें जैसी वस्तु थामे हुए हैं।

सरगुजा रियासत स्थित रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा गुफाओं में भी पुरातनकालीन चित्र मिले हैं। अधिकांश चित्र गेरुए रंग से चित्रित हैं, कहीं-कहीं कपड़ों तथा आंखों में सफेद और बालों में काले रंगों का प्रयोग किया गया है। ये चित्र तत्कालीन सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं। अंकन पद्धति एवं विषयों की विभिन्नता ध्यान आकर्षित करती है। एक स्थान पर वृक्ष के नीचे बैठा हुआ पुरुष चित्रित है, बायें तरफ नृत्यरता कन्याओं एवं संगीत वादकों का दल है, दाहिनी ओर से जलूस जा रहा है जिसमें हाथी भी है। एक और दृश्य उल्लेखनीय है—एक बैठे हुए पुरुष के पास तीन वस्त्रावृत पुरुष अर्दली की तरह खड़े हैं, इस तरह अर्दली सहित दो और पुरुष बैठे हुए हैं। निम्न भाग में चत्याकार खिड़की युक्त घर है, जिसके सम्मुख एक हाथी तथा तीन वस्त्रावृत पुरुष खड़े हैं। इस समूह के पास तीन अश्वों से युक्त छत्र सहित रथ दर्शित किया गया है। दीवाल पर स्थान-स्थान पर ज्यामितिक अलंकरणों का सुन्दर चित्रण है। कहीं-कहीं मछली और मकराकृति की पुनरावृत्ति की गई है। पुराने चित्रों के ऊपर बाद में बनाये गये चित्र भी मिलते हैं। प्रस्तुत चित्रों की कथावस्तु का अनुमान लगाना कठिन है एवं किसी तत्कालीन धर्म से इनका संबंध द्विविधाजनक है। गुफा में प्राप्त अभिलेख की लिपि एवं चित्रों की अंकन-शैली से, जिसका भरहुत की मूर्तियों से कुछ साम्य है, हम इन चित्रों का समय निर्धारित कर सकते हैं। डा. ब्लाख इसे ईसा-पूर्व तीसरी शती का मानते हैं जबकि विंसेन्ट स्मिथ आदि कुछ पुरातत्वज्ञ इन्हें दूसरी शती ईसा-पूर्व में निर्मित मानते हैं।

प्रागैतिहासिक युग से लेकर ईसा की पांचवीं शती तक हमें कोई विशिष्ट कलाकृति उपलब्ध नहीं हुई है। मध्यप्रदेश में प्राप्त स्थापत्य-कला के अवशेषों में पांचवीं शताब्दी में निर्मित तिगवां का गुप्तकालीन मंदिर सब से प्राचीन है। गुप्त-काल से ही भारत में ब्राम्हण शैली के मंदिर-स्थापत्य का विकास आरम्भ हुआ। सपाट छत, चौकोर गर्भगृह एवं सिंहों से सुशोभित वीथिका वाले सुदृढ़ स्तंभों से युक्त मुख-मण्डप, यही पूर्वकालीन गुप्तशैली के मंदिरों की विशिष्टता है। ये मंदिर निर्माण की दृष्टि से बौद्धयुगीन गुहा मन्दिर का स्मरण दिलाते हैं। तिगवां के अलावा पूर्वकालीन गुप्त शैली के मंदिर सांची, एरण, और उदयगिरी में भी पाये गये हैं। मध्यप्रदेश के स्थापत्य में तिगवां के मंदिर का स्थान महत्व-पूर्ण है। गर्भगृह में नृसिंह मूर्ति स्थापित है। प्रवेश-द्वार की चौखट के ऊपरी दोनों कोनों पर वाहनों पर आरूढ़ गंगा और यमुना की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। यहां बौद्ध तोरणों में प्रयुक्त वृक्षिका यक्षिणी के प्रतीक का प्रभाव स्पष्ट दिखता है, किन्तु हिन्दू शैली पर निर्मित होने के कारण इनके आकार और विषय में परिवर्तन आ गया। यहां वृक्षिका (शाल भंजिका) का स्थान गंगा-यमुना की मूर्तियों ने ले लिया है, यह प्रयोग हमें केवल पूर्वकालीन गुप्त शैली के मंदिरों में मिलता है। उत्तरकालीन मंदिरों में गंगा-यमुना की मूर्तियां चौखट पर देहली के पास बनाई जाने लगीं। मकर पर आरूढ़ गंगा की

मूर्ति लालित्य पूर्ण है। गंगा की त्रिभंगी भंगिमा, अंग-सौष्ठव तथा आंखों की सजीवता अद्भुत छन्दात्मकता की परिचायक है। अशोक-पुष्प और वल्लरियों का अंकन शिल्पी के प्रकृति-प्रेम और आलंकारिक प्रतिमा का श्रेष्ठ निदर्शन है। मण्डप की दीवाल पर दशभुजी नन्दी और शेषशायी विष्णु की मूर्तियां हैं। मण्डप चार सुदृढ़ स्तम्भों से युक्त है जिनके मस्तक पर बैठे हुए सिंह उत्कीर्णित हैं। वेदिका पर सिंहों के प्रतीक का प्रयोग प्रसिद्ध अशोक-स्तंभों से प्रभावित है।

पर्वत गात्र में खनित गुहा मंदिरों के बाद स्थापत्य-कला का सर्वोच्च विकास विराट ऐश्वर्य-मण्डित शिखरों से युक्त मंदिरों के रूप में साकार हुआ जो कि इस प्रदेश के आध्यात्मिक केन्द्र थे एवं यहीं से धार्मिक व सामाजिक जीवन की व्यवस्था होती थी। देवताओं के आवास-स्थान मेरु पर्वत एवं हिमालय के उत्तुंग पर्वत शिखरों की कल्पना आठवीं शताब्दी में रूपायित हुई। महानदी के तट पर स्थित रायपुर जिले के अन्तर्गत सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर भारत के श्रेष्ठ कलात्मक सौन्दर्य एवं वास्तुकला का सुष्ठुतम प्रतीक है। आठवीं शती में महाराज हर्षवर्धन के राज्यकाल में इस मंदिर का निर्माण हुआ था। भारत में ईंट द्वारा निर्मित मंदिरों में इसका प्रमुख स्थान है।

लक्ष्मण मंदिर के शिखर की मौलिक आकृति अधिक नष्ट नहीं हुई है। मंदिर के सम्मुख स्तम्भों से युक्त मण्डप के भग्नावशेष हैं जो बाद में निर्मित प्रतीत होते हैं। सारा मंदिर विविध प्रकार के कलात्मक अलंकरणों से सुसज्जित है। शिखर अनेक खंडों में विभाजित है, मध्य में स्थापत्यात्मक काष्ठकार्य मण्डित विराट चैत्याकार गवाक्ष हैं। मण्डन-परक बंधनों, जालियों एवं पूर्ण सतर्कता से व्यवस्थित निम्नोन्नत अलंकरणों के कारण प्रकाश और छाया से अपूर्व एवं प्रभावोत्पादक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। प्रायः सभी अलंकरण दीवाल बनाने के बाद ही खोदे गये हैं। ईंटों के जोड़ों पर इस होशियारी और सफाई से खुदाई की गई है कि प्रतीत होता है जैसे सम्पूर्ण मंदिर एक ही वस्तु का बना हो। सतह पर आश्चर्यजनक चिकनाहट की गई है। पूर्व-मध्यकालीन मंदिरों की तरह प्रवेश-द्वार के ऊपर त्रिकोणाकार गवाक्ष हैं। प्रवेश-द्वार पर लाल पत्थर का बना हुआ सुन्दर तोरण मंदिर के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता है। तोरण पर वाराह, वामन, नृसिंह, राम आदि अवतारों एवं सूक्ष्म काष्ठकार्य सहित शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं। मंदिर के स्थपति गण वास्तु-कला में पूर्ण निष्णात, उन्नत एवं अनुभवी थे। लक्ष्मण देवालय का सुरुचि पूर्ण निर्माण, आलंकारिक तत्वों का कलापूर्ण विभाजन और संयोजन स्थपतियों के असाधारण शास्त्रीय-ज्ञान एवं सौन्दर्य-बोध का द्योतक है।

सिरपुर (श्रीपुर) में कुछ काल तक सोमवंशीय राजाओं का प्रभुत्व था जो कि पहले बौद्ध धर्मानुयायी थे किन्तु बाद में शैव हो गये। सिरपुर के आसपास बौद्ध तथा शैव प्रतिमाएं प्रचुरता से उपलब्ध हैं। पत्थरों पर बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं का अंकन कुशलता से किया गया है। गन्धेश्वर महादेव के मन्दिर में बौद्ध एवं हिन्दू प्रतिमाओं का अनुपम संग्रह है। बौद्ध मूर्तियों में बुद्ध की भूमि-स्पर्श मुद्रा, अवलोकितेश्वर एवं मार विजय की मूर्तियां अत्यंत सराहनीय हैं। सिरपुर में जो धातु प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं वे सौन्दर्य की दृष्टि से अद्वितीय हैं। पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, स्वर्णादित्य, मैत्रेय तथा बुद्ध के जीवन से संबंधित अनेकों धातु प्रतिमाएं भी मिली हैं। प्राप्त धातु प्रतिमाओं में वज्रयान की तारा की मूर्ति मध्यप्रदेश के कलात्मक-सौन्दर्य की श्रेष्ठतम प्रतीक है। सुन्दर केश-विन्यास, अंगों के सुठाम-गठन, अन्तर के सौम्यभावों का प्रदर्शन एवं आभूषणों का निर्माण कुशलता से किया गया है जिससे मूर्तिकार की अविश्रांत शिल्प-साधना का परिचय मिलता है। नालन्दा और कुर्किहार से प्राप्त धातु मूर्तियों से सिरपुर की प्रतिमाओं का अद्भुत साम्य है। प्रतिमाओं का निर्माण-काल आठवीं या नवमी शताब्दि निर्धारित किया गया है।

मध्यप्रदेश सरकार की ओर से हाल ही में सिरपुर में खुदाई का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है जिसमें मूल्यवान और दुर्लभ पुरातत्व सामग्री प्राप्त हुई है। प्राप्त सामग्री से सिद्ध होता है कि आठवीं शताब्दि में सिरपुर उन्नत शिल्प-कला का केन्द्र था। आनन्द प्रभ भिक्षु द्वारा निर्मित एक विशाल बौद्ध मठ प्राप्त हुआ है जिसमें तत्कालीन दैनिक जीवन में प्रयोग होनेवाली अनेकों वस्तुएं मिली हैं। मठ के द्वार पर गंगा की आदमकद मूर्ति है। आनन्दप्रभ भिक्षु द्वारा महा-शिव गुप्त बालार्जुन के राज्यकाल में लगाया हुआ आठवीं शताब्दि का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। ईंटों से निर्मित मठ में प्राप्त भगवान बुद्ध, यक्ष, कुबेर आदि की मूर्तियां तथा धातु प्रतिमाओं में वज्रपाणि और पद्मपाणि आदि गणों से युक्त भगवान बुद्ध की व्याख्यान मुद्रा की अतीव सुन्दर प्रतिमा उल्लेखनीय है। भगवान बुद्ध की भूमि-स्पर्श मुद्रा में स्थित विशाल मूर्ति असाधारण है। महिषासुर मर्दिनी, गणेश एवं शिव-पार्वती की ग्यारहवीं शताब्दि की शैव मूर्तियां भी खुदाई में उपलब्ध हुई हैं।

चांदा जिले में वरोरा से आठवें मील पर भांदक (भद्रावती) स्थित है जो बौद्ध, जैन, और हिन्दू भास्कर्य का अनुपम संगम-स्थल है। भद्रावती में बौद्ध धर्मानुयायी सोमवंशी राजा के राज्यकाल में सौ संघाराम थे जिनमें चौदह सौ भिक्षु रहते थे। पास ही पहाड़ी पर बीजासन नामक तीन गुफाएं हैं जिनमें बुद्ध भगवान की विशाल प्रतिमाएं खुदी हुई हैं।



यक्ष दम्पति   दसवीं शती
(शहीद स्मारक जबलपुर में संग्रहीत)







परिचारिका   बारहवीं शती
(शहीद स्मारक में संग्रहीत)



शाल भंजिका दसवीं शती

(प्राप्ति स्थान बिलहरी)



उमा महेश्वर ग्यारहवीं शती

(शहीद स्मारक जबलपुर में संग्रहीत)



सुर सुन्दरी बारहवीं शती
(तेवर में संग्रहीत)





तारा देवी ग्यारहवीं शती
(शहीद स्मारक जबलपुर में संग्रहीत)





भूमि स्पर्शमुद्रा-स्थित भगवान बुद्ध

बारहवीं शती। (प्राप्ति स्थान तेवर)





अवलोकितेश्वर ग्यारहवीं शती।

(प्राप्ति स्थान तेवर)

बौद्ध पुरातत्व के अनेकों मूल्यवान अवशेष यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। भद्रनाग का मंदिर स्थापत्य का अनुपम उदाहरण है। मंदिर के विमान एवं जंघा पर सूक्ष्म कारुकार्य दर्शनीय हैं। अनन्तशायी विष्णु और चरणसेविका लक्ष्मी के भावों की व्यंजना सूक्ष्मता से की गई है। मंदिर तेरहवीं शती का प्रतीत होता है।

नवमी शताब्दि से बारहवीं शताब्दि तक चेदि प्रान्त में कलचुरि राजाओं ने राज्य किया। कलचुरि शासक शिल्प और संस्कृति के उन्नायक थे एवं उनके संरक्षण में स्थापत्य और भास्कर्य कला सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकी। त्रिपुरी (आधुनिक तेवर) कलचुरि साम्राज्य की राजधानी होने के कारण अपार वैभव का केन्द्र थी। लिंग और पद्म पुराण में त्रिपुरी का उल्लेख है एवं त्रिपुरासुर से भी इसका संबंध जोड़ा गया है। त्रिपुरी में प्राप्त ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दि के सिक्कों से त्रिपुरी का ऐतिहासिक महत्व बढ़ गया है। कलचुरि वंश प्रवर्तक महाराज कोकल्ल देव प्रथम (सन् ८७५ से ९११) ने त्रिपुरी को अपनी राजधानी बनाकर गौरव प्रदान किया। त्रिपुरी के समीप ही महाराज कर्णदेव ने कर्णावती (करनबेल) नगरी बसाई थी जिसके अवशेषों में उस काल के अद्वितीय वस्तु एवं शिल्प-वैभव के दर्शन होते हैं। युवराज देव के समय त्रिपुरी वैभव के शिखर पर थी। कलचुरि कालीन शिल्पकला को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। (अ) कोकल्ल देव प्रथम के नाती युवराज देव प्रथम (९३० ई.), लक्ष्मणराज (९५०-९७० ई.) और युवराज देव द्वितीय के राजत्वकाल में निर्मित गुर्गी, चंद्रेही (विंध्यप्रदेश), बिलहरी, भेड़ाघाट एवं छोटी देवरी के अवशेष; (ब) कर्णदेव (१०४१-१०७३ ई.) के राजत्व-काल में निर्मित सोहागपुर, अमरकन्टक (विंध्यप्रदेश) और त्रिपुरी (तेवर) के अवशेष; (स) नरसिंह देव, जयसिंह देव और विजयसिंह देव (११५५ से ११८० ई.) के राज्यकाल में निर्मित मूर्तियों के भग्नावशेष।

कलचुरि कालीन भास्कर्य के श्रेष्ठतम उदाहरण और प्रतीक बिलहरी, भेड़ाघाट और तेवर में संग्रहीत हैं। कटनी से नौ मील पर बिलहरी ग्राम मूर्ति-प्राचुर्य के कारण कलाप्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करता है। लक्ष्मण सागर नामक विशाल जलाशय के पूर्वी तट पर मध्ययुगीन राजपूत द्वारा निर्मित एक गढ़ी है जिसके पास दसवीं एवं ग्यारहवीं शती की मूर्तियों का बाहुल्य है। लक्ष्मण सागर कलचुरि सम्राट लक्ष्मण राजद्वारा निर्मित जान पड़ता है। बिलहरी में प्राप्त शिलालेखों में नोहला देवी द्वारा निर्मित नोहलेश्वर और युवराज देव द्वारा निर्मित वैद्यनाथ मठों का उल्लेख मिलता है। कामकन्दला नाम से विख्यात, शैव मंदिर के भग्नावशेष बिलहरी की सम्पत्ति हैं। भग्नावशेषों से प्रतीत होता है कि यह मंदिर वास्तु नैपुण्य का अपूर्व परिचायक था। छः अलंकरण युक्त दीर्घ स्तंभों से युक्त मुख-मण्डप का एक भाग अभी भी खड़ा है। मंदिर का पाद-विन्यास प्रभावशाली है। तोरण पर नटराज एवं गणेश की आकर्षक मूर्तियां हैं। चण्डीमाई, लक्ष्मणसागर, विष्णु वाराह मंदिर आदि स्थानों पर बौद्ध, जैन और ब्राम्हण-शैली की मूर्तियां उच्च कोटि की हैं। गणेश और उमा-महेश्वर की मूर्तियों में शिल्पी ने सारी प्रतिभा संचित कर दी है। एक अतीव सुन्दर कमलाकृति विशाल मधुछत्र भी यहां पड़ा हुआ है जिसे बिलहरी का गौरव कहना उचित होगा। यह मधुछत्र किसी प्राचीन मंदिर की छत को शोभायमान करता रहा होगा। अद्भुत कारुकार्य युक्त यह मधुछत्र शिल्पी की रूप-दक्षता और अतुलनीय आलंकारिक क्षमता का ज्वलंत प्रमाण है। विष्णु वाराह मंदिर की विशाल वाराह मूर्ति शिल्पी की अगाध कल्पना-शक्ति की साकार प्रतिमा है। वाराह के शरीर पर गणेश, बारह आदित्यों और ग्यारह रुद्रों की कतारें उत्कीर्णित हैं।

प्रकृति का अनुपम क्रीड़ास्थल, पुण्य सलिला नर्मदा के प्रपातों की गर्जना से मुखरित भेड़ाघाट उच्चकोटि की शिल्पकला का अभूतपूर्व केन्द्र है। भेड़ाघाट का चौसठ योगिनी (वैद्यनाथ) या गौरीशंकर मंदिर अपने क्रोड में श्रेष्ठ शिल्पसम्पदा लिये हुए कलाप्रेमियों का तीर्थ बन गया है। शिलालेख के अनुसार गौरीशंकर मंदिर महाराज गयकर्ण देव की महारानी अल्हण देवी द्वारा नरसिंह देव के राज्य-काल में सन् ११५५-५६ में निर्मित हुआ था। मंदिर का अधोभाग पुरातन प्रतीत होता है। मुख-मण्डप और विमान की निर्माण शैली से सिद्ध होता है कि यह हिस्सा बहुत बाद में बनवाया गया है। मंदिर के अधोभाग की प्राचीनता, सीढ़ी पर लगे हुए प्राचीन मंदिर के बेलबूटे, आसपास बिखरे चैत्याकार खिड़कियों के टुकड़े एवं गर्भगृह की मूर्तियों के परिदर्शन से सिद्ध होता है कि आठवीं शताब्दि में इस स्थान पर स्थापत्य कौशल एवं नवीन परिकल्पना का परिचायक एक प्रकाण्ड मंदिर था। मंदिर के भग्न शिखर और मण्डप का जीर्णोद्धार अल्हणदेवी ने करवाया। मूल मंदिर को प्रदक्षिण किये हुए छज्जे और स्तम्भों से युक्त वृत्ताकार घेरे में पृथक खण्डों में ८१ मूर्तियां स्थापित हैं। यह वृत्ताकार दालान ही गौरीशंकर मंदिर का वैशिष्ट्य है जोकि चौरासी कोठरियों में विभक्त है। प्रत्येक कोठरी में एक एक देवी मूर्ति विराजित है। देवी मूर्तियों में अष्ट शक्ति, गंगा-यमुना, सरस्वती, ताण्डव नृत्यरता काली तथा प्रबोध चन्द्रोदय और रुद्र उपनिषद में वर्णित योगिनियों की मूर्तियां हैं। योगिनी मूर्तियों में सभी मूर्तियां भयावह, वीभत्स और विकट-दर्शना नहीं हैं। बहुतसी मूर्तियां अत्यंत सुश्री एवं सौन्दर्य मण्डित हैं।

मूर्तिकार, मुण्डमाला पहने एवं खोपड़ियों में रक्तपान करती हुई चण्डी और काली के भयावह और विकट कंकाल रूप को पत्थर में व्यक्त करने में जिस तरह सफल हुआ है, उसी तरह अपूर्व सुषमायुक्त, मनोरम मुखाकृति और कमनीय देह भंगिमा को रूपायित करने में दक्ष है। चण्डिका, लम्पटा, डाकिनी, भीषणी, वीभत्सा एवं छत्रधर्मिणी मूर्तियों में वीभत्स रूप का प्रदर्शन है। कलात्मकता और सौंदर्य की दृष्टि से वैष्णवी, जान्हवी, इन्द्रजाली, ऐंगिनी, तेरमवा (महिषासुर मर्दिनी), रणजिरा और रूपिणी अनुपम हैं। अठारह भुजी तेरमवा (महिषासुरमर्दिनी) की मूर्ति में सजीवता और गति है। महिषासुर का वध करती हुई दुर्गा के मुख पर अपूर्व तेज है। अज्ञान और ज्ञान के निरन्तर युद्ध एवं तामसिक प्रवृत्तियों पर विजय का लाक्षणिक अंकन किया गया है। दैत्य का कटा हुआ मस्तक पड़ा है। शक्ति का पुंज सिंह अपने पंजों से महिष के पृष्ठभाग को क्षत कर रहा है। दुर्गा के तेजोदीप्त नयन, सुदृढ़ गठन भंगिमा एवं अठारह भुजाओं का प्रसार प्रचन्ड शक्ति का द्योतक है। शरीर की दृढ़ता अन्तर के कठोर भावों को प्रकाशित करती है। गरुड़ और मकर पर आरूढ़ वैष्णवी और जान्हवी की मूर्तियां भास्कर्य कला की अतुलनीय कृतियां हैं। योगिनी मूर्तियों के आसन पर अंकित अक्षरों से इनका निर्माण काल दसवीं शताब्दि निश्चित किया गया है। कुषाण शैली की लाल पत्थर पर निर्मित पांच मूर्तियां भी चौंसठ योगिनी मंदिर में रखी हुई हैं जोकि कला की दृष्टि से साधारण हैं।

गौरीशंकर मंदिर के गर्भगृह में प्रधान मूर्ति नन्दी पर आरूढ़ शिव-पार्वती की है, यह शिल्पी की अभिनव रूप-दृष्टि का उदाहरण है। शिव थोड़ासा पीछे झुककर पार्वती की ओर देख रहे हैं। पार्वती का दर्पणयुक्त हाथ और भावो-द्दीपक मुख भंगिमा अति सुन्दर है। नन्दी की बायीं ओर कार्तिकेय मयूर पर आरूढ़ हैं। निम्नभाग में नृत्य करते हुए गणों का अंकन सजीव है। शिव-पार्वती की यह मूर्ति स्वर्गीय भाव, सुठाम-गठन और भाव व्यंजना के कारण मन को प्रभावित करती है। इसी गर्भ गृह में स्थित नृत्य गणेश की प्रतिमा मध्यप्रदेश में प्राप्त गणेश मूर्तियों में सर्वो-त्कृष्ट है। गणेश आठ भुजाओं से युक्त हैं। दो हाथों से सर्प को पकड़कर सिर के ऊपर उठाये हुए हैं। हाथों में परशु, पद्म, पाश एवं लड्डुओं का पात्र सुशोभित है। बायां हाथ अभय मुद्रा में तथा दायां हाथ और पैर नृत्य की मुद्रा में उठा हुआ है। कटि प्रदेश के आभूषण नृत्य के कारण आन्दोलित हो रहे हैं। गंधर्व गण मंजीर और मृदंग से ताल दे रहे हैं। नृत्य-मग्न होने के कारण मुख-मंडल आनन्दोल्लास से मस्त है जिसका अंकन शिल्पी की बड़ी सफलता है। संपूर्ण अंग नृत्य के छन्द और ताल से छन्दायमान हो रहे हैं।

भेड़ाघाट की ये प्रतिमाएं लालित्यपूर्ण अंग-सौष्ठव, एवं अद्भुत शिल्प सृष्टि के कारण कला-प्रेमियों में रस-संचार करती हैं। अंगों की कमनीयता, सुठाम देहश्री, कटि देश एवं वक्ष प्रदेश का सुन्दर गठन, नयनों के भाव प्रकाश एवं सूक्ष्म वस्त्रालंकारों का इस कुशलता से अंकन किया गया है कि मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। मूर्तियों की लीलायित भंगिमा, अंग-विन्यास, मनोरम भाव और सुन्दर मुखाकृति के दर्शन से चित्त में अपार आनन्द का उदय होता है। वस्त्रों की सिकुड़न एवं विभिन्न अलंकारों व आभूषणों की सूक्ष्म खुदाई दर्शनीय है। वलय, कंकण, कंठहार, हँसुली, मुक्ता-दाम, ताबीज, अनन्त मेखला, करधनी, चन्द्रहार इत्यादि आभूषणों के निर्माण में शिल्पी ने दक्षता प्राप्त की है। हाथ तथा पैर की कमनीय अंगुलियों की खुदाई में शिल्पी ने कमाल कर दिखाया है।

भेड़ाघाट और जबलपुर के मध्य में स्थित आधुनिक तेवर ग्राम में बिखरी हुई मूर्तियों एवं शिलाखण्डों के रूपमें हमें कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी के सांस्कृतिक एवं उन्नत शिल्प-ऐश्वर्य के दर्शन होते हैं। त्रिपुरी की प्राचीनता का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। तेवर ग्राम में निर्मित प्राचीन बावली के तट पर खेरमाई स्थान पर आसपास पाई गई मूर्तियों का उत्तम संग्रह है जिसमें कई मूर्तियां अत्यंत उच्चकोटि की हैं। रक्षा का प्रबंध न होने के कारण ये अमूल्य मूर्तियां धीरे धीरे गायब हो रही हैं। खेरमाई में संग्रहीत मूर्तियों में कार्तिकेय, सुरसुन्दरी, अन्धका-सुर वध मूर्तियां तथा ग्राम के भीतर पाई जानेवाली मूर्तियों में नृत्य गणेश, उमा-महेश्वर तथा बोधिसत्व की मूर्तियां उत्कृष्ट हैं।

कार्तिकेय की मूर्ति बुरी तरह से खण्डित होते हुए भी सुन्दर है। तीन सिर और बारह हाथों से युक्त देव-सेनापति कार्तिकेय अभंग मुद्रा में दंडायमान हैं, उनका वाहन मयूर पीछे खड़ा है। उन्नत-वक्ष, बलिष्ठ-भुजदंड पौरुष और उत्साह के प्रतीक हैं। सुर-सुन्दरी की मूर्ति में नारी का मनोहारी सौंदर्य प्रदर्शित किया गया है। मुख पर अत्यधिक कोमलता और लालित्य रूपायित है। नाना आभूषणों से बंधा बालों का जूड़ा, कानों के कुण्डल, गले की त्रिवली और ओठों पर मधुर हास्य सुरसुन्दरी के सौन्दर्य को द्विगुणित कर रहे हैं। ये देव कन्यायें इन्द्र द्वारा घोर तपस्या रत साधकों को तप से डिगाने के लिये भेजी जाती थीं। यह सुन्दरी दाहिने हाथ से शरीर के वस्त्रावरण को हटाकर अपने देह की कमनीयता को प्रदर्शित कर रही है। उमा-महेश्वर और गणेश की अनेकों सुन्दर मूर्तियां तेवर में मिलती

है। तेवर की बांसुरीवादन में तन्मय नारी-मूर्ति में तो कलात्मकता फूट पड़ी है। खेरमाई में लाल पत्थर पर उत्कीर्ण एक शिलापट्ट (बेस रिलीफ) में तत्कालीन समाज का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया गया है जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। वृक्ष के नीचे पलंग पर एक पुरुष लेटा हुआ है। सिरहाने की ओर बैठी हुई स्त्री उसकी ओर झुककर कान में कुछ कह रही है एवं पुरुष बड़ी तन्मयता से कान के नीचे हाथ रखे सुन रहा है। पलंग के दूसरी ओर दो स्त्रियां गोल तकिये पर बैठी हुई वार्तालाप में संलग्न हैं।

तेवर में प्राप्त बौद्ध मूर्तियों के बाहुल्य से सिद्ध होता है कि कलचुरि राजाओं का बंगाल के पाल तथा सिरपुर के सोमवंशी बौद्ध धर्मानुयायी राजाओं से अत्यंत सद्भावपूर्ण संबंध था एवं कलचुरि, शैव होते हुए भी अन्य धर्मों का यथेष्ट आदर करते थे। तेवर में उपलब्ध बुद्ध मूर्तियों में अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि, बोधिसत्व और भूमिस्पर्श मुद्रा में स्थित बुद्ध की प्रतिमाएं भारत के श्रेष्ठतम मूर्ति-शिल्प में स्थान पाने योग्य हैं। अवलोकितेश्वर पद्मपाणि की कल्पना विष्णु के सर्जक और रक्षक रूप की तरह ही की गई है। विष्णु के प्रतीकात्मक अलंकरणों से इसका काफी साम्य है। अवलोकितेश्वर के मुकुट पर अनन्त ज्योति के अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध अमिताभ स्थित हैं जो कि विष्णु की ही तरह मध्यान्ह सूर्य के समान तेजस्विता के प्रतीक हैं। अवलोकितेश्वर अर्ध-पर्यंक आसन में कमल पर विराजित हैं। वे बायें हाथ से उत्फुल्ल कमल की नाल थामे हैं तथा दाहिना हाथ वरद मुद्रा में शोभित है। दाहिना पैर अर्ध-योगपट्ट से कसा हुआ है। मुखमुद्रा पर स्मित हास्ययुक्त असीम गांभीर्य है। अवलोकितेश्वर करुणामयी दृष्टि से समस्त मानव जाति का अवलोकन कर रहे हैं। यह मूर्ति आध्यात्मिक सौन्दर्य की प्रतीक है। बोरोबुदुर (जावा) में प्राप्त आठवीं शती की प्रसिद्ध अवलोकितेश्वर मूर्ति से प्रस्तुत मूर्ति का अद्भुत साम्य है।

भगवान बुद्ध की भूमिस्पर्श मुद्रा में ध्यानरत मूर्ति के निर्माण में शिल्पी अत्यधिक सफल हुआ है। भाग्यवश यह सुन्दर मूर्ति खण्डित नहीं होने पायी है। चौड़ा वक्षस्थल, उन्नत ललाट, सुगठित बाहु एवं हाथों की उंगलियों का अंकन स्वाभाविक और पूर्ण है। यह मूर्ति अत्यंत सिद्धहस्त-शिल्पी की कृति जान पड़ती है। चीवर की किनार सुन्दर अलंकरणों से सुशोभित है। परिकर में भगवान बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाएं सुघड़ता से अंकित हैं।

कलचुरि कालीन भास्कर्य के श्रेष्ठतम प्रतीक बिलहरी, भेड़ाघाट और तेवर में संग्रहीत हैं। सारा मध्यप्रदेश ही उस काल की कलात्मक कृतियों से भरा पड़ा है। रोहणखेड़, पौनार, कारीतलाई, केलझर, बहुरीबन्द, लखनादौन, गढ़ा, पनागर, कामठा, रायपुर, आरंग, राजिम, रतनपुर, जांजगीर, पाली, कवर्धा, डोंगरगढ़ और नांदगांव आदि स्थानों में भी विविध-कालीन मूर्तिकला के सुन्दर नमूने उपलब्ध हैं।

जबलपुर के नव-निर्मित शहीद-स्मारक भवन में आसपास के स्थानों से एकत्रित कुछ अनुपम कलाकृतियां संग्रहीत हैं। इन मूर्तियों में सपरिकर विशाल विष्णुमूर्ति, पद्मपाणि बोधिसत्व, गरुड़, कल्याण-देवी, उमा-महेश्वर, शक्ति सहित गणेश, तारा और यक्ष दम्पत्ति सहित भगवान नेमिनाथ की प्रतिमाएं उच्चकोटि की हैं। इसके अलावा नारी-मूर्तियों में वृक्षिका, चंवरगृहिणी तथा परिचारिकाओं की अतीव सुन्दर मूर्तियां भी दर्शनीय हैं। महाकोशल की नारी के सौंदर्य, अंगसौष्ठव एवं मनोगत भावों के चित्रण में शिल्पी की कल्पना और रस-सृष्टि छलक रही है उठी है। सौन्दर्य और रूप की उपलब्धि शत-शत पाषाणों में मुखरित हो रही है। योगिनी मूर्तियों, उमा, गजलक्ष्मी, कल्याणीदेवी, तारा तथा यक्षिणी मूर्तियों के रूप में नारी के अवर्णनीय सौन्दर्य को शिल्पी ने निपुणता और तन्मयता से साकार रूप प्रदान किया है। नृत्य तथा गायन-वादन करती हुई अप्सराओं की ताल से समस्त प्रकृति आन्दोलित और पुलकित हो रही है। कवियों द्वारा कल्पित नारी-अंगों की विभिन्न उपमाएं शिल्पी की छेनी से रूपायित हो उठी हैं।

हमारे प्रदेश के शिल्पियों का स्थापत्य-ज्ञान, शिल्प-नैपुण्य, सौन्दर्य-बोध और सृजनात्मक-प्रतिभा आधुनिक युग के कला प्रेमियों को विस्मित करती हैं। इस प्रदेश का कलात्मक-वैभव युगों तक अपनी श्रेष्ठता, मौलिकता और उत्कृष्टता का अपूर्व परिचय देता रहेगा।

मध्यप्रदेश का संगीत और चित्रकला

श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित

भारतीय संगीत कला का आदि रूप हमें सामवेद में मिलता है। इसीलिये महाकवि रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—"प्रथम प्रभात उदित तव गगने–प्रथम सामरव तव तपोवने"। भारतीय संगीत कला अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है और उसके द्वारा धार्मिक भावनाओं—विशेषकर वैष्णव धर्म के प्रसार में सदा सहयोग प्राप्त हुआ। अनेकों मंदिरों और मठों में इस कला ने प्रौढ़ता प्राप्त की तथा अनेक कवियों ने भी इस कला को यशस्वी बनाया। भारतीय जीवन में प्रत्येक शुभ कार्य गायन-वादन से आरंभ होता है। शतपथ ब्राम्हण ग्रंथ में लिखा है—"ना सामा यज्ञोसि", अर्थात् कोई भी संगठित कार्य संगीत के बिना नहीं आरंभ होना चाहिये। ललित-कलाओं में काव्य और संगीत दोनों का ऊंचा स्थान है—क्योंकि इनमें अल्पतम मूर्त साधनों की सहायता से अधिक से अधिक रस की सृष्टि की जा सकती है। राग विज्ञान ग्रंथ के चतुर्थ भाग में लिखा है "संगीत कला में नाद की सहायता से रस का प्रकाश किया जाता है और काव्य कला में रस सृष्टि का प्रधान उपादान शब्द है"। नाद का महत्व बतलाते हुए नारद संगीत में भी लिखा है:—

न नादेन बिना गीत, न नादेन बिना स्वरः।
न नादेन बिना ग्रामस्तस्मान्नादात्मकं जगत ॥

काव्य और संगीत अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। काव्य में जो छंद योजना की जाती है, उससे काव्य में संगीत की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रकट है। भारतीय कवियों में से अधिकांश संगीत के जानकार रहे हैं और इन्होंने अपनी रचनाओं में संगीत का ध्यान रखा। माघ ने शिशुपाल वध में लिखा है कि "देवर्षि नारद श्रीकृष्ण के दर्शन करने को जाते समय अपनी 'महती' नाम की वीणा को अत्यंत कुतूहल से देख रहे थे, क्योंकि मार्ग में वायु के आघात से पृथक-पृथक ग्रामों की छाया अपने आप ही उस वीणा से सुनायी पड़ रही थी।" इस कथन में स्वरों के लिये "श्रुति मण्डल" शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह प्रकट होता है कि वे संगीत को "स्वर कंपन" (वायब्रेशन आफ साउन्ड) मानते थे। काव्य में रसों की संख्या ९ है, परन्तु संगीत में श्रृंगार, शान्त, वीर और करुण रस ही प्रधान हैं। हास्य, वीभत्स अथवा रौद्रादि रसों का उपयोग संगीत-शास्त्र में बहुत कम होता है।

भारतीय संगीत का आरंभ भरत मुनि से माना जाता है और उनके पश्चात् काश्यप, मतंग, हनुमत तथा नारदादि ऋषियों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इस प्रकार भारतीय संस्कृति एवं अन्य कलाओं की भांति संगीत कला का जन्म और विकास भी वन-उपवनों में होता रहा तथा इसमें समाज को उन्नत भावनाओं की ओर प्रेरित करनेवाली ईश्वर-भक्ति की धारणाओं को स्थान मिला। संगीत की अतुलनीय शक्ति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. सम्पूर्णानंद ने लिखा था कि "इंग्लंड में केल्ट जाति के मनुष्य प्राचीन काल में रहते थे। वे कई देवताओं के उपासक थे जो प्रायः पत्थरों के घेरे मात्र थे। उनमें एक पाषाण बहुत सीधा खड़ा है और उसके ऊपर दूसरा बड़ा पत्थर रखा है। यह पत्थर इस प्रकार ठहरा है कि थोड़े से धक्के से गिर सकता है किन्तु एक बड़ी विशेषता यह है कि जब कोई उस पत्थर के निकट पंचम या मध्यम स्वर अलापता है, तो यह हिलने लगता है और यदि कहीं गायन देर तक चलता रहे तो इसमें संदेह नहीं कि पत्थर गिर जाय। दूसरे स्वरों का इस पत्थर पर कोई असर नहीं होता।" इसी तरह की एक आश्चर्यजनक घटना स्विटजरलेंड के अस्कोना गांव में श्री. ओंकारनाथ के साथ घटित हुई। स्वामी विवेकानंद की एक शिष्या श्रीमती फरोवे एक एकान्त स्थान में निवास करती हैं। उन्होंने एक दिन श्री ओंकारनाथ का संगीत सुनने की इच्छा प्रकट की। पंडित जी निमंत्रण स्वीकार कर उक्त महिला के स्थान पर गये और जब आपने अपनी स्वर-लहरी छेड़ी तो वह ध्यान मग्न हो गयीं और बाद में बताया कि ध्यानावस्थित दशा में उन्हें एक छाया-चित्र दिखलाई पड़ा जिसका आकर उन्होंने कागज पर "ॐ" लिखकर बताया। वास्तव में समस्त संगीत शास्त्र वैज्ञानिक आधार पर विकसित हुआ है। एक इटालियन महिला का तो यहां तक कहना है कि यदि किसी रेतीले मैदान में कोई राग शुद्ध स्वरों में गाया जाय तो बालू पर एक चित्र सा बन जाता है। जब दूसरा राग गाया जायगा तो दूसरा चित्र बनेगा। इस महिला ने सितार पर जो राग बजाया उससे रेती पर वीणापाणि सरस्वती का रेखा-चित्र बन गया था!



नायिका--नाईन

चित्रकार :- सवाई चितेरा

संगीत परिवर्तनशील है—यह सिद्धांत श्री नारायणराव भातखण्डे ने भी स्वीकार किया है। अब तक अनेक परिवर्तन हुए हैं और यह क्रम आज भी जारी है। भारत में संगीत की दो पद्धतियां प्रचलित हैं: (१) हिन्दुस्तानी पद्धति और(२) कर्नाटकी। इन पद्धतियों में कुछ मुख्य अन्तर तो है ही, सबसे बड़ी बात यह है कि हिन्दुस्तानी पद्धति पर विदेशी यवनों का प्रभाव पड़ा है, किन्तु कर्नाटकी पद्धति इससे मुक्त है। इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का यत्न भी बराबर होता रहा है। १२ वीं सदी में संगीत रत्नाकर ग्रंथ के कर्त्ता श्री सारंगदेव ने अपने ग्रंथ के द्वारा यह प्रयत्न किया था और वर्तमान में भी कई लोग दोनों पद्धतियों का अभ्यास करने में गौरव अनुभव करते हैं। कुछ लोग दोनों को मिलाकर एक नवीनता भी पैदा करते हैं। मध्यप्रदेश के श्री. सुब्बाराव और श्रीमती मुटाटकर दोनों का अभ्यास रखते हैं। स्व. अब्दुल करीम खां यद्यपि हिन्दुस्तानी पद्धति के उस्ताद थे परन्तु उनके कुछ ग्रामोफोन रेकार्ड कर्नाटकी पद्धति के भी हैं। प्रसिद्ध फिल्मी पार्श्वगायिका लता मंगेशकर के पिता मास्टर दीनानाथ द्वारा गाये गये एक तेलगू गीत का रिकार्ड मिलता है। कुछ लोग कर्नाटकी राग व हिन्दुस्तानी संगीत में अपना नया रूपरंग लेकर भी आये हैं। कर्नाटकी का एक राग "अभोगी"—"खरहरप्रिया" के मेल में आ जाता है। इस मेल का नाम "थाट" है—जो अत्यंत मधुर भी है। स्व. भातखंडे का कथन था कि "इन दोनों पद्धतियों का परस्पर ऐसा सुयोग करके बतलाना चाहिये कि जिससे दोनों का हित होकर संगीत को राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हो।"

मध्यप्रदेश में इन पद्धतियों के बीच बहुत सौहार्द्र पाया जाता है और यह प्रान्त दोनों के समन्वय में विशेष रूप से सहायक होगा। भारतीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत भी अपना प्रभाव डाल रहा है, जिसके कारण "सिफनी" (Symphony) का प्रचार चल पड़ा है जिसमें दो स्वर एक साथ बजते हैं। आर्केस्ट्रा भी विदेशी है। विदेशी संगीत का स्वरैक्य (Hormony) और भारतीय संगीत का माधुर्य (Melody) दोनों मिलकर संगीत जगत में एक नया क्रम उपस्थित कर रहे हैं।

संगीत के परिवर्तनशील होने के कारण कई नई राग-रागिनियों का भी जन्म हुआ। वेदों में लिखा है कि "सूर्य रश्मियों के प्रभाव से मनुष्य के अन्तःकरण की अवस्था बदलती है। राग भी बदलते हैं।" कुछ नये रागों के नाम भी उनके प्रवर्त्तकों के आधार पर रखे गये हैं—जैसे, प्रसिद्ध तानसेन द्वारा गाया गया राग "मियां की मल्हार" कहलाया। "तुरक" या "तुरकतोड़ी" की भी यही बात है। आज ध्रुपद और धमार के जमाने से लोग खयाल और ठुमरी के जमाने में आ गये हैं और चंद्रनंदन, गौरी मंजरी, मदनमंजरी, श्यामन्तरसिया, लगन गंधार जैसे नये रागों की सृष्टि हो चुकी है। मारु-विहाग भी एक नया संशोधन है। यह कल्याण के थाट से गाया जाता है, परन्तु विहाग अंग से गाया जाता है। इसमें आरोह, ऋषभ, और धैवत वर्जित हैं एवं अवरोह सरल तथा सम्पूर्ण रहता है। तीव्र मध्यम आरोह-अवरोह में सरल लिया जाता है—जिससे शुद्ध विहाग इससे सर्वथा पृथक रहता है। वर्धा के अध्यापक पतकी ने इस सम्बन्ध में खोज करने का यत्न किया है। इस विषय पर उन्होंने "अप्रकाशित राग" नाम की पुस्तक भी लिखी है, जो अप्रकाशित है।

सन् १९५५ में अमरावती नगर में मध्यप्रदेश का संगीत सम्मेलन हुआ था। उसके अध्यक्ष प्रो. बी. आर. देवधर ने इस परिवर्तनशीलता का कारण संगीतशास्त्र का स्वर-शास्त्र (साइन्स आफ साउन्ड) होना माना था। संगीत-शास्त्र की एक विशेषता यह भी है कि वह साम्प्रदायिकता एवं प्रान्तीयता के बंधनों को नहीं मानता। कबीर, सूर, तुलसी और मीरा के पद सभी जगह गाये जाते हैं और हिन्दू तथा मुसलमान सभी इनकी रचनाओं को गाने में आनंद का अनुभव करते हैं। दक्षिण भारत के कवि और संतों के गीतों का भी यही हाल है। संस्कृत श्लोकों में दुर्गा की प्रशस्ति गाते हुए मुसलमानों को भी सुना गया है।

संगीत को मन्दिरों तथा मठों के अतिरिक्त राजदरबारों से भी प्रोत्साहन मिला है। मध्यप्रदेश में जबलपुर का गढ़ा स्थान पुष्टिमार्ग के अनुयायियों का केन्द्र रहा है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी यहां पर कुछ दिन रहे थे। उस समय में वहां की रानी प्रसिद्ध दुर्गावती थी। गढ़ा दर्बार में वैष्णव संगीतज्ञों को सदा प्रोत्साहन मिला था। अष्टछाप के कवि कुंभनदास और चतुरभुजदास गढ़ा के निवासी थे और दोनों गायन-कला में निपुण थे। कुंभनदास के भक्ति-भाव पूर्ण गायन की प्रशंसा सुनकर सम्राट अकबर ने उन्हें फतेपुर सिकरी बुलाया था और वहां उनका अच्छा सम्मान किया था। परंतु कुंभनदास वैरागी होने से उन्होंने एक पद में कहा था :—

"संतन को कहां सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियां टूटीं, बिसर गयो हरिनाम।"

गढ़ा के पुष्टिमार्गी सेवक भी अच्छे गायक थे। श्री. सुन्दरलालजी मिश्र (जन्म संवत् १८५५) बांदा के निवासी थे, परन्तु उनका अधिकांश जीवन जबलपुर में बीता था। वे ध्रुपद के सुन्दर गायक थे। प्रसिद्ध पखावज वादक कुदरुसिंह

इनके मित्र थे। उसी तरह सागर के श्री हीरालालजी हार्मोनियम बजाने में बड़े निष्णात थे। उनके साथीदार मधु जसोदी (जागड़ा) तबला बजाने में प्रसिद्ध थे। पंडित सुंदरलाल के पुत्र बिहारीलालजी मिश्र जबलपुर के संगीत के अच्छे जानकार हैं।

नागपुर का भोंसला दरबार सदा संगीतज्ञों का आश्रयदाता रहा है और जहां दूर-दूर से समय-समय पर से संगीतज्ञ दरबार में पहुंचा करते थे। आज भी वर्तमान राजा बहादुर रघोजीराव भोंसले संगीत के पूर्ण मर्मज्ञ हैं और वे स्वयं भजन करते हुए स्वरों में अपने आपको भूल जाते हैं। उनके प्रपितामह रघुजी भोंसले द्वितीय (सन् १८१६) संगीत शास्त्र के प्रेमी थे। उनके दरबार के संगीत समारोहों का जिक्र करते हुए तत्कालीन रेसीडेन्ट कोलब्रुक ने लिखा है कि—"जब रघोजी द्वितीय दरबार में बैठता था, तब शासकीय काम-काज की अपेक्षा गायन-वादन ही अधिक चलता था।" उनके उत्तराधिकारी रघोजी तृतीय ने कन्हान नदी के किनारे बाघोड़ा ग्राम में एक उत्सव किया था, जिसमें नागपुर के रेसिडेन्ट ने भी भाग लिया था। उत्सव का वर्णन करते हुए एक मराठा कवि ने लिखा है—

बाजे सारंगी-सितार-लागे पखावज ताल।
भले गवैया गाणार-सुरताल धरनार॥

बाघोड़ा के समारंभ में कई अंग्रेज मेहमान भी उपस्थित थे। इसके पूर्व सन् १७९९ में एक समारोह का वर्णन रेसीडेंट कोलब्रुक ने विस्तार के साथ किया है। नागपुर दरबार में दिल्ली, बनारस, पूना, हैदराबाद, ग्वालियर, इन्दौर आदि दरबार के प्रसिद्ध गवैया, तवायफें और कवि भी आया करते थे जिनका दरबार में यथोचित सत्कार होता था।

नागपुर में संगीत की वर्तमान परम्परा स्व. कृष्णशास्त्री घुले से आरंभ होती है। वे संगीत के अच्छे जानकार थे। उनके शिष्य बापूजी जोशी प्रसिद्ध थे जिनका गला बड़ा ही मधुर था। राजा बहादुर जानोजीराव भोंसले उनको बहुत चाहते थे। राजा साहब के आश्रित हस्सुखां हद्दूखां प्रसिद्ध गायक थे जो प्रसिद्ध संगीतज्ञ मुहम्मदखां के (ग्वालियर वाले के) शिष्य थे। उनका पुत्र रहमतखां भी अच्छा गायक था। नागपुर के बाळकृष्ण बुवा ध्रुपद, ख्याल, टप्पा और ठुमरी के उस्ताद माने जाते थे। उसी समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ बालाजी दीक्षित थे, जो कि बालासाहब बली के मामा थे। वे बापूजी जोशी को गायन में साथ देते थे और स्व. नारायणराव जोशी उनके साथ हारमोनियम तथा स्व. दिनकर बुवा तबला बजाते थे। इसी समय में भोंसले राजा के आश्रित उस्ताद वजीर अली और उनके शिष्य शिवबा उस्ताद गायन कला में निपुण थे। बापूजी के चचेरे भ्राता नानाजी जोशी पेटी बजाने में निपुण थे। इनके शिष्य स्व. श्यामराव बूट थे। बापूजी के दोनों पुत्र रामभाऊ जोशी और विनायकराव जोशी अच्छे संगीतज्ञ थे। रामभाऊ वेड़ेकर नाटक-मण्डली में थे और विनायकराव उस्ताद फैजमुहम्मदखां के शिष्य थे। बापूजी के शिष्यों में बालासाहब दीक्षित और नागोराव जोशी प्रमुख थे जो वेड़ेकर नाटक-मंडली में कुछ काल तक रहे थे। सन् १९०७-१० के मध्य में नागपुर में विट्ठलराव जुमले और आबाजी डाऊ दोनों संगीत के अच्छे कलाकार थे।

शारदा संगीत विद्यालय के संस्थापक बापूजी वेदरकर घुले शास्त्री के शिष्य थे। आपके शिष्यों में यशवंतराव डोंगरे और नानाजी बल्लवार प्रमुख थे। नागपुर के गंधर्व संगीत विद्यालय के स्थापनकर्ता श्री. आपटे संगीत के मर्मज्ञ थे। उसी तरह दिनकरराव पटवर्धन और गोविंदराव काळे ने मिलकर सीताबर्डी में एक गायनशाला स्थापित की थी। वास्तव में शास्त्रीय पद्धति की शिक्षा का आरंभ श्री. शंकरराव प्रवर्तक के द्वारा ही हुआ। इनकी शाला के प्रतिभाशाली स्नातक श्री. उठाभाजे और भाऊसाहब माडखोलकर थे। सन् १९२५ में स्व. शंकरराव ने नागपुर में अभिनव संगीत विद्यालय स्थापित किया और उसके बाद ही हिन्दुस्थानी संगीत शिक्षण प्रसारक मंडली की स्थापना हुई थी जिसकी परीक्षाओं को सरकार ने भी मान्य किया है। सन् १९४० में धंतोली के भातखंडे महाविद्यालय की स्थापना हुई जिसके आचार्य प्रभाकरराव खर्डेनवीस हैं। मराठी-भाषी क्षेत्र के निम्न संगीतज्ञ प्रमुख माने जाते हैं:—

श्री शंकरराव प्रवर्तक (जन्म सन् १८९०)—विदर्भ (लोणी) के निवासी हैं। आपकी संगीत शिक्षा ग्वालियर के विष्णु बुवा के यहां हुई। भास्कर बुवा बखले तथा राजकोट के स्व. अब्दुलकरीमखां के यहां आपने शिक्षा ली थी। स्व. भातखंडे से आपका घनिष्ट संबंध था। आपके शिष्यों में यादवराव जोशी, प्रभाकर जोशी, भालेराव, देवघरे, बल्लवार, प्रभाकरराव खर्डेनवीस और चम्पावती तैलंग मुख्य हैं। श्री प्रवर्तक वास्तव में नागपुर में संगीत के प्रवर्तक थे (मृत्यु १९५४)।

श्री बालासाहब बक्षी (जन्म १८९६) भारत संगीत गायन शाला के संस्थापक हैं। इन्होंने प्रसिद्ध गंधर्व नाटक-मंडली में भी काम किया था। आप नागपुर के आकाशवाणी केंद्र के कलाकार मन्डल के सदस्य हैं। श्री. रामभाऊ पर्वीकर नागपुर के उत्तम हारमोनियम बजानेवालों में से हैं। तबला, पखवाज और जलतरंग के बजाने में भी निष्णात हैं। आपकी संगीत शाला का नाम है गुरु वाद्यालय। स्व. बळीरामपन्त पंडे नागपुर के अच्छे संगीतज्ञ थे। पखावज और तबला बजाने में निपुण थे। आपके शिष्य रेडियो कलाकार बालासाहब आठवले, नीलकंठराव मूर्ते और कोलबा पिंपलघरे हैं।

उपर्युक्त कलाकारों के अतिरिक्त रावसाहब आकांत, ध्रुपद गायन में कुशल माने जाते थे। राघोबाजी मुठाळ तो हारमोनियम बजाने में मुख्य थे। ये वर्षों तक नार्मल स्कूल में संगीत के शिक्षक थे। श्री रघुनाथ केलकर ने नागपुर में गधर्व महाविद्यालय स्थापित किया था। सन् १९२१ से यह विद्यालय श्री विनायकराव पटवर्धन के तत्वावधान में चल रहा है। उसी तरह श्री गुणवंतराव मध्यप्रदेश के प्रमुख हारमोनियम वादक माने जाते हैं। ये स्व. दिनकरराव पटवर्धन और पंडित ओंकारनाथ के शिष्य थे। नागपुर के पुराने कलाकार जो अपनी कला से आज भी प्रांत को गौरवान्वित कर रहे हैं उनमें श्री गोविंद शिवरामपन्त विलायची और श्री बाला-साहब बक्षी मुख्य हैं। विलायचीजी ताल को संगीत की आत्मा मानते हैं। नारद कृत संगीत मकरंद में उसका समर्थन है जैसे—

दक्षिणाङ्गे स्थितो रुद्र उमावामे प्रतिष्ठिता।
शिवशक्तिमयो नादो मर्दले परिकीर्तितः॥

अर्थात् मृदंग या तबले में दाहिने में शिवजी निवास करते हैं और बायें में पार्वती रहती हैं। अतएव दोनों की आवाज शिव और पार्वती की ध्वनि समझना चाहिए। संगीत में समय के किसी भी भाग की समान चाल को "लय" कहते हैं। एक मात्रा से दूसरी मात्रा-वहन में जो समय लगता है उसे लय कहते हैं। विलायची और बक्षी के अलावा श्री सुब्बा-राव जी वीणा बजाने में सिद्धहस्त हैं। आप दोनों पद्धतियों के जानकार हैं। आपने प्रसिद्ध वीणावादक विश्वनाथ शास्त्री से वीणावादन और स्व. वामनराव जोशी से हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति का अभ्यास किया। श्री शंकरराव सप्रे श्रीराम संगीत विद्यालय के चालक हैं। आपने पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर से संगीत की शिक्षा पायी थी। बाला-साहब आठवले ३४ वर्षों से तबले पर लय का अभ्यास कर रहे हैं। आपने नागपुर में, दिल्ली और आगरा तबला-वादन शैली का आविष्कार किया है। दिल्ली के जुगनखां तथा मेरठ के हबीबुद्दीनखां से संगीत का अध्ययन किया है। आपका संबंध कई नाटक कंपनियों से भी था। नागपुर के पुराने संगीत-प्रेमी श्री लालजी हकीम हैं। उन्होंने संगीता-चार्य तानसेन के गीतों तथा रागों पर खोजपूर्ण बृहत ग्रंथ भी लिखा है जो कि संगीतशास्त्र को अनुपम देन होगी। आर्थिक कारणों से यह बृहत ग्रंथ अब तक अमुद्रित अवस्था में है पर पांडुलिपि देखने योग्य है। इसी तरह अमृतराव निस्तोन, प्रभाकरराव जोशी, राजाभाऊ देव, शंकर नारायण कोल्हटकर, प्रभाकरराव खर्डेनवीस, राजाभाऊ कोकजे, श्रीधरराव डगे, दत्तात्रय माधव बोधनकर, श्रीधरराव कोठेकर, डाक्टर सुमति मुटाटकर, श्रीमती उषाबाई और श्रीमती विजया नायक (मलकापुर) आदि प्रदेश के संगीत-कला में तज्ञ प्रमुख विद्वान माने जाते हैं।

विदर्भ की संगीत साधना.—विदर्भ की राजनीतिक परिस्थितियों ने वहां की जनता को संगीत की ओर अग्रसर होने का बहुत कम अवसर दिया है। फिर भी हमें पुराने संगीत के आचार्यों के कुछ नाम मिलते हैं। उनमें वाशिम के स्व. बाला शास्त्री, कारंजा के स्व. पांडुरंग महाराज, बालापुर के महबूब खां, आकोट के स्व. आनंदराव देशमुख तथा स्व. नामदेव बुवा के नाम मुख्य हैं। बड़ोदा के मौलाबख्श से शिक्षा पाकर नामदेव बुवा ने अमरावती में संगीत का केन्द्र बनाया था। स्व. दादासाहब खापर्डे के प्रोत्साहन से इनकी संस्था ने काफी प्रगति की। उससे निम्न संगीतज्ञों का लगाव था जिन्होंने सर्वत्र काफी ख्याति प्राप्त की थी जैसे स्व. गोपालराव बेडेकर, स्व. मुकुंद बोवा, स्व. नत्थूजी बुवा, स्व. वामन बुवा जोशी, स्व. बापूजी बेदरकर, श्री त्र्यंबकराव देशमुख और स्व. मुठाळ आदि। नत्थूजी बुवा की संगीतशाला बंबई और नागपुर में भी थी। भारत-प्रसिद्ध तबलची उस्ताद अलादिया खां भी अमरावती नगर के रहनेवाले थे। विदर्भ संगीत विद्यालय, मधुसूदन गायन विद्यालय, शारदा संगीत विद्यालय आदि संस्थाएं भी संगीत के विकास में अपना विशेष महत्व रखती हैं। विदर्भ के कुछ प्रसिद्ध कलाकारों का संक्षिप्त परिचय हम नीचे दे रहे हैं:—

श्री आनंदराव हरि असनारे—अभी १४ वर्ष की आयु है। इन्होंने कई अखिल भारतीय तबला-वादन प्रति-योगिता में प्रथम पुरस्कार पाया है।

गोविन्दराव तुताड़—आयु २९ वर्ष की है। अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन में इनको तबला वादन के लिये प्रथम पुरस्कार मिला था।

श्री अनाथ चौधरी—अमरावती के, जलतरंग वादन में विशेष निपुण हैं।

श्री वी. बी. देशपांडे—विग्रस के रहने वाले हैं। जबलपुर के भातखंडे संगीत विद्यालय के संचालक हैं। आपकी उपाधि संगीत विशारद की है।

कुमारी वनज आयंगर—यह बालिका कर्नाटक की संगीत का अमरावती में अध्ययन कर रही है।

श्री बलवंतराव काले—वर्धा के अच्छे संगीतज्ञ हैं।

श्री एम. बी. कासलीकर—यवतमाल के "संगीत शेखर" उपाधिधारी संगीतज्ञ हैं। ये नागपुर महाविद्यालय में संगीत के प्राध्यापक हैं।

श्री एकनाथ कुलकर्णी—बुलढाना निवासी सारंगी बजाने में निपुण हैं।

श्री जे. दे. पतकी—स्वावलंबी विद्यालय, वर्धा के अध्यापक हैं। आपके कई लेख संगीत पत्र में प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने "अप्रकाशित राग" एक ग्रंथ भी लिखा है। इसी तरह डी. व्ही. पनके (यवतमाल) श्री दिनकरराव देशपांडे (अकोला), जगन्नाथराव दळवी (खामगांव), चित्तरंजन साठे (आर्वी), श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् (वर्धा), आदि मराठी भाषी प्रदेश के प्रमुख संगीत शास्त्री हैं।

छत्तीसगढ़ के कलाकार.—विदर्भ के समान छत्तीसगढ़ (दक्षिण कोशल) में भी संगीत के निपुण कलाकारों का पता चलता है। उनमें से कुछ का परिचय नीचे दिया जा रहा है। मुलमुला (बिलासपुर) के मृदंगाचार्य भानसिंह एक अच्छे संगीतज्ञ थे। ध्रुपद और धमार के ये विशेषज्ञ थे। बिलासपुर के तबला वादक श्री. रामलाल आपके शिष्य हैं।

रायगढ़ के राजा स्व. चक्रधरसिंह तो सारे देश में संगीत प्रेमी के नाम से प्रसिद्ध थे। संगीत और नृत्यकला के अच्छे पारखी और प्रोत्साहन देने वालों में थे। आप तबला वादन में निपुण थे। संगीत शास्त्र पर आपने देश के विद्वानों को एकत्रित करके संस्कृत में कुछ ग्रंथ लिखवाये थे। जैसे—तालतोयनिधि, राग रत्नाकर। आपके शिष्यों में कार्तिक और कल्याण तो सारे देश के प्रसिद्ध कलाकार गिने जाते हैं। रायपुर के सारंगी वादक अमरसिंह अच्छे प्रसिद्ध थे और इसके लिये वे दूर-दूर से निमंत्रित किये जाते थे। इसी तरह रायपुर के तुलसीराम ठुमरी वादन में प्रसिद्ध थे। उनका स्वर्गवास सन् १९५० में हुआ। रामभरोस पोद्दार रायपुरवासी तबला बजाने के लिये प्रसिद्ध थे। सितार बजाने में भरेखा (रायपुर) तो प्रसिद्ध ही था जिस पर रायगढ़ नरेश की अच्छी कृपा थी। वर्तमान में भी रायपुर में कुछ अच्छे कलाकार हैं, जैसे महंत पुरुषोत्तमदास जी। ये नागरीदास मन्दिर के महन्त हैं। संगीत के इनके गुरु भृगुनाथजी थे। तबला, मृदंग, सितार, सरोद आदि बजाने में निपुण हैं, किन्तु हारमोनियम बजाने में तो अद्वितीय हैं। इसी तरह रायपुर के भैरोंप्रसाद श्रीवास्तव, शंकरराव देशपांडे, लक्ष्मणराव देशपांडे, प्रो. नारायण-स्वामी पिल्ले, विष्णु कृष्ण जोशी (रायपुर श्रीराम संगीत विद्यालय के संचालक), मुकुन्द कृष्ण जोशी (रायपुर संगीत विद्यालय के संचालक), कुमारी कमल जोशी, श्री. अरुण कुमार सेन, रामानंद कनोजे, प्रेमचंद बैस, कुमारी हेमलता जनस्वामी एम. ए., श्रीमती कुसुम मराठे आदि संगीत क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

दुर्ग के प्रसिद्ध तबला वादक श्री. सिद्धिनाथजी हैं। ख्याल और ठुमरी में श्री. दण्डे प्रसिद्ध हैं। राजनांदगांव के दाऊ कृष्णकिशोरदास कवि होते हुए भी संगीत के अच्छे मर्मज्ञ हैं। वहीं के स्व. भोंदूदास वैरागी सितारवादन और ध्रुपद गायन में प्रसिद्ध थे। वहीं के ठाकुर हीरासिंह गौतम अनंत संगीत मन्दिर के संचालक हैं। संगीत के साथ ही साथ आप अच्छे चित्रकार भी हैं। छुईखदान के महन्त अर्थात् राजागण संगीत के अच्छे प्रेमी थे। उनमें राजा लक्ष्मणदासजी तो कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनके यहां रामलीला बड़े ठाठ से होती थी। स्वयं लक्ष्मणदासजी पद रच कर गाते भी थे। खैरागढ़ के राजा कमल नारायणसिंह तो कवि होते हुए भी सुन्दर गवैया भी थे। लोग कहते हैं कि पखावज बजाते समय हाथी झूमने लगता था। इनका रचा हुआ "कमल प्रकाश रागमाला" ग्रंथ प्रसिद्ध है। राजा कमल नारायणसिंह के समान स्व. राजा लालबहादुरसिंह शास्त्रीय संगीत में निष्णात थे। वे स्वयं हार-मोनियम अच्छा बजाते थे। वर्तमान रानी पद्मावती साहिबा का भी संगीत से काफी अनुराग है। उनके द्वारा स्थापित इंदिरा संगीत विद्यालय संगीत क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रहा है। उसके प्रधानाचार्य श्री नारायणरावजी पाठक हैं। ये संगीताचार्य राजाभैया पूछवाले के शिष्य हैं। यों तो ये ग्वालियर के रहने वाले हैं परन्तु रानी साहिबा



यात्रा

चित्रकार:—श्री गणेशराम मिश्र, रायपुर



गड़रिया

चित्रकारः—कुमारी रीता चौधरी, नागपुर

के कारण खैरागढ़ में संगीत अध्यापक का कार्य करते हैं। तान और अलाप पर आप एक ग्रंथ भी लिख रहे हैं। परसोली (दुर्ग) के डोमारसिंह सितार बजाने में प्रसिद्ध थे। बुलबुला के ठाकुर सागरसिंह बंसी बजा कर लोगों को मोहित कर देते थे। और उसी भांति दुर्ग के सिद्धिनाथ झा तबला बजा कर लोगों को रिझाते थे। नदेली (बिलासपुर) के श्री. पचकोड़प्रसाद और देवांगन (दुर्ग) के जागेश्वरप्रसाद शास्त्रीय संगीत के अच्छे गायक थे।

महाकोशल के कलाकार.—बुरहानपुर के श्री. गोविंदराव बुरहानपुरकर (गुरुजी) इस समय में प्रदेश के अखिल भारतीय कीर्ति प्राप्त कलाकार हैं—जिनकी अवस्था ७८ वर्ष की है। इनके पिता एक अच्छे कलाकार थे इसी कारण से संगीत का विकास इनमें अच्छा हुआ है। स्व. गायनाचार्य हरहर बुवा से इन्होंने शास्त्रीय गायन का अभ्यास किया था। मृदंगवादन का अभ्यास इस अवस्था तक अखंड रूप से चला हुआ है—जिसमें इनकी स्पर्धा आज भी बिरले ही कर सकते हैं। आप इस वृद्धावस्था में भी भगवान के मंदिर में जाकर मृदंग द्वारा भगवान को रिझाते हैं। स्व. विष्णु दिगंबर पलुस्कर के साथ इन्होंने देश भर की यात्रा की है। देश के ही नहीं वरन् विदेश के लोगों ने इनकी कला की प्रशंसा की है। "मृदंग तबला वादन सुबोध" और "भारतीय ताल मंजरी" इनके रचे हुए ग्रंथ हैं—जिससे इनके ज्ञान की थाह लगती है। (सन् १९२१) अहमदाबाद संगीत सम्मेलन में इनको "मृदंगाचार्य" की उपाधि दी गई थी। गंधर्व महाविद्यालय स्वर्णजयंती उत्सव (१९५२) पर राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी के द्वारा आपका सम्मान किया गया था। भारत के प्रसिद्ध कलाकार उदयशंकर के "कल्पना" चित्र में आपने मृदंग वादन का कार्य किया। कलकत्ता और मद्रास के संगीत महा-सम्मेलनों में आपको पदक दिये गये हैं। हाल ही में २७ मार्च १९५५ को राष्ट्रपति की ओर से उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने आपका भारतीय संगीतज्ञ के नाते सम्मान किया—जो वास्तव में प्रदेश के लिये बड़े गौरव का विषय है।

जबलपुर संगीत का भी अच्छा केन्द्र रहा है। देश के प्रायः सभी प्रसिद्ध कलाकार यहां आते रहे। सन् १९५४ में यहां प्रदेश का संगीत सम्मेलन हुआ था, जिसके स्वागताध्यक्ष श्री. भवानीप्रसाद तिवारी थे। अध्यक्ष थे भारत प्रसिद्ध श्री रतनजनकर। प्रान्त के बाहर के भी कई कलाकार इस सम्मेलन में बुलवाये गये थे। इस सम्मेलन को सफल बनाने में भातखण्डे महाविद्यालय जबलपुर, ने अथक परिश्रम किया था। जबलपुर की पुरानी परम्परा के श्री. सुन्दरलाल मिश्र ने भी योगदान दिया था। जबलपुर में आज भी निम्न कलाकार प्रमुख हैं:—

श्रीमती बुलबुल चौधरी—(जन्म १९१९) में एम.ए., पीएच.डी. हैं। आपकी माता उषादेवी हिन्दी की प्रसिद्ध लेखिका हैं। संगीत के अतिरिक्त इनका अनुराग चित्रकला, मूर्तिकला और गृहविज्ञान से भी है। संगीत में आपने डाक्टरेट ली; उसका विषय था "भैरव राग"। पंडित ओंकारनाथ और नेपाल के संगीतज्ञ पं. महादेवप्रसाद से इनको संगीत की शिक्षा मिली है। आपके अनुसंधान कार्य का मार्गदर्शन प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री. रतनजनकर ने किया और सन् १९५० में सागर विश्वविद्यालय से इनको संगीत की डाक्टरेट मिली। भारत की आप प्रथम महिला हैं—जिन्होंने संगीत में इतनी ऊंची उपाधि प्राप्त की है। 'संगीत प्रदीप' आपकी लिखी पुस्तक विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत है।

जबलपुर के संगीतज्ञ श्री केशवराव ताम्हनकर ध्रुपद और धमार के प्रसिद्ध आचार्य हैं। यह कला इस परिवार की परम्परागत है। इनके पितामह अच्छे संगीतज्ञ थे; इसी कारण से इनकी शिक्षा घर में ही हुई ह। इसी तरह एस. बी. देशपांडे जबलपुर के प्रसिद्ध कलाकार माने जाते हैं। श्री. शूलपाणि मुकर्जी वायलिन बजाकर लोगों को मुग्ध कर लेते हैं। स्व. सुन्दरलाल सोनी की बांसुरी और तबला प्रसिद्ध है। स्व. सुन्दरलालजी के पुत्र श्री. बिहारीलालजी ध्रुपद, धमार और मल्हार गाने में सिद्धहस्त हैं। स्व. माधवराव सप्रे के सहयोगी श्री गोविन्दराव हार्डीकर अच्छे सितारवादक भी हैं। यों तो सागर राजधानी होने से पुराने जमाने में वहां पर भी कई अच्छे से अच्छे कलाकार हो गये हैं। कवि पद्माकर को, एक कवित्त पर रीझ कर एक लाख रुपये पुरस्कार देने वाले राजा रघुनाथराव सागर के ही सूबेदार थे। आज भी वहां के कई कलाकार अन्यत्र जा बसे हैं। फिर भी राजाभाऊ कोकजे और श्री. पी. जी. रिंगे वहां के अच्छे संगीतज्ञ माने जाते हैं। हमारे मुख्यमंत्री के मामा गणेशप्रसादजी ताल-स्वर के अच्छे ज्ञाता थे।

प्रान्त में केवल संगीतज्ञ ही नहीं हैं—संगीत संबंधी वादन यंत्रों का भी निर्माण होता है। जबलपुर और नागपुर के तबले बनाने वाले प्रसिद्ध हैं। अमरावती के श्री आसरकर द्वारा बनाई गई बांसुरी विदेशों तक पहुंच गई है और भारत के प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को भी भेंट की जा चुकी है। इसी तरह इन्होंने अंग्रेजी संगीत की ध्वनि प्रकट करने वाले कुछ यंत्र बनाये हैं, जिनमें से "आल्टोसेक्सोफोन" प्रसिद्ध है।

(२)

चित्रकला

भारत में अन्य कलाओं की भांति चित्रकला भी जन-जीवन का एक अंग रही है। अनेक त्यौहारों और विवाह आदि के अवसरों पर यह चित्रकला हमें चौक या रांगोली के रूप में दिखलाई पड़ती है। रांगोली का प्रचलन महाराष्ट्र में तो है ही, राजस्थान और दक्षिण भारत में भी यह किसी न किसी रूप में पाई जाती है। सन् १२७३ में भास्कर-भट्ट ने अपने मराठी-काव्य "शिशुपाल-वध" में "रांगवळी" शब्द का प्रयोग किया है और इसका "रांगोळी" रूप मराठी के मोरोपंत के "विराट-पर्व" में मिलता है। संस्कृत-साहित्य में भी इसका प्रयोग पाया जाता है। डाक्टर वी. राघवन ने अपने एक लेख "ग्लीनिंग्स फ्राम सोमदेव सूरीज यासतिलक चम्पू" में भी इसका उल्लेख किया था। यह लेख डाक्टर गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीटयूट, इलाहाबाद के "जर्नल" फरवरी १९४४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। 'मेघदूत' आदि संस्कृत के काव्यों में भी इस प्रकार की गृह-कलाओं का जिक्र है, जिनमें घर की स्त्रियों की कलापूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति पाई जाती है। घर के आंगन या छत इत्यादि को गोबर से लीपकर आटा, अनाज तथा शिलाचूर्ण आदि से जो चित्र बनाये जाते थे, उनमें कला का सुन्दर रूप मिलता था। 'नारद शिल्प' में इस चित्रांकन में चिड़ियों, सांपों, हाथियों और घोड़ों आदि के चित्र बनाये जाने का वर्णन है। कई प्रान्तों में दीवालों पर भी विशेष त्यौहारों और विवाहादि के अवसरों पर अनेक प्रकार के चित्र बनाये जाते है। मिट्टी के बर्तनों पर भी यह कला देखने योग्य होती है, जो मध्यप्रदेश के आदिवासियों के घरों में भी उपलब्ध है।

मध्यप्रदेश के सरगुजा, पचमढ़ी और होशंगाबाद के भित्ति-चित्र भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और इनका समय ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व अनुमानित किया जाता है। इन भित्ति-चित्रों में पशुओं, आखेटों और मनुष्यों के चित्र बड़ी बारीक रेखाओं में खिंचे हुए मिलते हैं। पचमढ़ी की बनियाबेरी पहाड़ी पर जो चित्र हैं, उनमें तत्कालीन जीवन की घटनाएँ अंकित जान पड़ती हैं।

मध्यप्रदेश में प्राचीन चित्रकला भित्ति-चित्रों के रूप में ही इधर-उधर पाई जाती है। सागर के सूबेदारों और नागपुर के भोंसलों के बाड़ों में भी पुराने चित्रकारों के कुछ चित्र उपलब्ध थे, जो अपने समय की भावनाओं की अभिव्यक्ति करने के लिए पर्याप्त थे। सूबेदारों के यहाँ के कुछ चित्रों का समावेश श्री सुन्दरलाल के ग्रन्थ "भारत में अंग्रेजी राज्य" में हुआ है। वहीं के एक चित्रकार का बनाया हुआ एक रंगीन चित्र इस ग्रन्थ में दिया गया है, जिसमें कलम की बारीकी रंगों का समन्वय और भावों का प्रकटीकरण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। इस चित्र पर कवि बिहारी का निम्नलिखित दोहा बहुत उपयुक्त जान पड़ता है :—

पांव महावर देन को नाइन बैठी आय।
पुनि-पुनि जानि महावरी ऐंडी मींड़त जाय॥

भोंसलों के यहां के अनेक चित्र उनके राजवाड़े में आग लगने से सन् १८६० में नष्ट हो गये। उनके यहां की कुछ प्राचीन पुस्तकों में, जैसे "दुर्गा-सप्तशती" और "रुक्मणी-हरण" आदि में सुन्दर चित्र सुरक्षित हैं। ये चित्र अनेक रंगों के मेल से बने हैं और इनमें सुनहला रंग भी दिया गया है। सैकड़ों वर्ष पुराने हो जाने पर भी इनका रंग ज्यों का त्यों है। अधिकांश पुस्तकें इस समय नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन चित्रों की कारीगरी देखने योग्य है।

प्रान्त के प्राचीन चित्रों पर मुगल और राजपूत शैली का प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ता है, परन्तु १९वीं शताब्दी में इन कलाओं का ह्रास होने लगा, जिसका कारण भारत पर विदेशी सत्ता का अधिकार और उसके द्वारा देश की संस्कृति एवं कला पर आघात होना था। पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने पर लोगों में भारतीय कला के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा होने लगा। सरकार की ओर से बम्बई और कलकत्ता में कला की शिक्षा देने के लिए जिन विद्यालयों की स्थापना हुई, उनके द्वारा भी पाश्चात्य कला को ही प्रोत्साहन मिला और एक वह समय था जब देश में रवि वर्मा जैसे कलाकारों के चित्र आदर पाने लगे थे। रवि वर्मा के चित्रों पर पाश्चात्य परम्पराओं और तड़कीले-भड़कीले रंगों का प्रभाव था।

स्वदेशी आन्दोलन ने देश की जनता का ध्यान केवल स्वदेशी वस्तुओं की ओर ही नहीं आकर्षित किया, वरन् भारतीय संस्कृति और कला के प्रति भी लोगों की अभिरुचि बढ़ने लगी। इस क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अरविन्द घोष जैसे लोगों की वाणी और कलम ने बहुत जबर्दस्त कार्य किया। भारतीय नहीं, पाश्चात्य-कलाकारों का ध्यान भी भारतीय चित्रकला की ओर आकर्षित हुआ और आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा ई. बी. हेवले के प्रयत्नों से भारतीय चित्रकला के गौरव को पुनः प्राण-प्रतिष्ठा मिलने लगी। आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, भारतीय कला के नवप्रतिष्ठापक और अन्यतम कलाकार के रूप में कभी भुलाये नहीं जा सकते। उनकी चित्रकला में पूर्वीकला की अभिनव परम्परा प्रस्फुटित हुई जिसने श्री अरविन्द घोष, डाक्टर आनन्द कुमार स्वामी और ई. बी. हेवले जैसे विद्वानों को भारतीय कला की प्रतिष्ठा प्रकट करने में विशेष सहयोग प्रदान किया।

नन्दलाल बसु, असित कुमार हालदार, वेंकटप्पा, समरेन्द्रनाथ और शैलेन्द्रनाथ दे आदि अवनीन्द्रनाथ के प्रमुख शिष्यों ने अपने गुरु का सन्देश भारत के कोने-कोने में पहुँचाया। भारत के सुप्रसिद्ध चित्रकार शारदाचरण उकील और रामेश्वर प्रसाद वर्मा के चित्रों ने "इण्डिया हाउस" को शोभा बढ़ाई। नन्दलाल बसु, अवनीन्द्रनाथ के प्रमुख शिष्य हैं और आपके चित्रों में भारतीय चित्रकला की आत्मा बोलती है। आपकी शैली का प्रभाव इस समय सभी प्रान्तों के चित्रकारों पर पड़ रहा है, जिससे हमारे प्रान्त के चित्रकार भी मुक्त नहीं हैं और यह कहना पड़ेगा कि नन्दलाल बसु के सम्पर्क में आने पर हमारे प्रान्त के तरुण-चित्रकारों में नवचेतना पैदा हो गई है।

गुजरात के श्री सोमालाल शाह और कनु देसाई भी इस युग के प्रमुख चित्रकार हैं, परन्तु उनकी कला दूसरे प्रांतों पर इतना प्रभाव नहीं डाल सकी जितना बंगाल के कलाकारों का पड़ा। इस प्राचीन और नवीन संधिकाल के बीच हमारे यहां के कुछ चित्रकार प्रमुख रूप से सामने आते हैं। श्री गणेशराम मिश्र (रायपुर निवासी) प्रांत के पुराने चित्रकार हैं। आपके चित्र 'माधुरी' और 'श्री शारदा' जैसे पत्रों में छपते रहे हैं। किसी समय आपने राष्ट्रीय भावनाओं का भी अपने चित्रों में अच्छा अन्कन किया।

स्व. उत्तमसिंह तोमर प्रांत के शिक्षा विभाग के एक उच्च अधिकारी थे। हाल ही में आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी चित्रकला में भावों की सुन्दर अभिव्यंजना और रंगों का संतुलित प्रयोग आकर्षक रूप में मिलता है। दृश्य-चित्रण में भी आप अत्यन्त कुशल थे। आपके द्वारा बनाया गया भेड़ाघाट (जबलपुर) का एक चित्र बड़ा स्वाभाविक और हृदयग्राही है। इस ग्रंथ में प्रकाशित आपका 'मीरा' (रंगीन चित्र) आपकी शैली और कला निपुणता पर प्रकाश डालता है।

आचार्य नन्दलाल बसु की शैली पर चित्रांकन करनेवाले कलाकारों में जबलपुर के ब्योहार राममनोहर सिंह तथा अमृतलाल बेगड़, मुलताई के श्री दीनानाथ भार्गव, नागपुर की कुमारी रीता चौधरी और धमतरी के श्री लक्ष्मी-नारायण पचौरी मुख्य हैं। इनकी कला में आचार्य बसु की कला का सुन्दर प्रतिबिम्ब मिलता है।

इधर कुछ वर्षों से श्री विनायक मासोजी भी नागपुर आ गये हैं। आप बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन कला भवन में अध्यापक रह चुके हैं और अपने दीर्घकालीन अनुभव एवं साधना के फलस्वरूप आपने चित्रकला की शिक्षा तथा चित्रांकन में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली है। आप एक अत्यन्त कुशल चित्रकार हैं और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में असाधारण निपुणता रखते हैं। हिमालय की प्राकृतिक और पार्वतीय सुषमा का सजीव और कमनीय चित्रण आपकी कला में मिलता है। शांतिनिकेतन के विभिन्न भवनों की दीवालों पर अंकित आपके चित्र दर्शकों को विमोहित कर देते हैं। गुरुदेव रवींद्रनाथ के 'नृत्य नाट्य' तथा रंगमंच की रूपसज्जा को संवारने में मासोजी ने अपनी मौलिक सूझ एवं कलामंडित प्रतिभा का अद्भुत परिचय दिया है।

ब्योहार राममनोहर सिंह.—शांतिनिकेतन में नन्दलाल बसु के निर्देशन में चार वर्षों की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आपने एक वर्ष तक भारत में प्रचलित भित्ति-चित्रों की विभिन्न शैलियों तथा अंकन-पद्धतियों का सूक्ष्म अध्ययन किया है। शांतिनिकेतन के छात्रावास में 'बुद्धजन्म' भित्ति-चित्र का चित्रण और भारतीय संविधान की हस्तलिखित प्रति को अलंकृत करने में आपका सहयोग रहा। एक वर्ष तक शांतिनिकेतन के भित्ति-चित्र-अंकन-निपुण शिक्षकों के साथ रहकर आपने जबलपुर के 'शहीद स्मारक' की दीवालों पर 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' की प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया। अखिल भारतीय चित्र प्रदर्शनी, नयी दिल्ली, में आपको एक चित्र पर विशेष पुरस्कार मिला। इस ग्रंथ में सम्मिलित आपके द्वारा बनाये गये रंगीन चित्र में 'मेघदूत' का एक काल्पनिक दृश्य है, जिसमें मेघ अलकापुरी में यक्ष की विरहिणी पत्नी के पास पहुंचता है।

श्री अमृतलाल बेगड़—शांतिनिकेतन में चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करने के बाद से आप जबलपुर के कलानिकेतन में कलाशिक्षक का कार्य कर रहे हैं। स्कूल के बच्चों में कला के प्रति उत्साह पदा करने में आपने सफलता प्राप्त की है। 'दामोदर घाटी योजना' के बोखारो स्थित विद्युत केंद्र के लिये भित्तिचित्र तयार करने में आपका सहयोग रहा।

श्री दीनानाथ भार्गव—शांतिनिकेतन की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आप प्रांत के मुल्ताई स्थान में मौन कला साधना कर रहे हैं और प्रचार से कोसों दूर हैं। आपके चित्रों में स्वाभाविकता और भावों की सुकुमारता विशेष रूप से पाई जाती है।

कुमारी रीता चौधरी—आप नागपुर हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री बी. के. चौधरी की सुपुत्री हैं। जनता के समक्ष अपनी कला को उपस्थित करने में आप विशेष संकोच अनुभव करती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया गया आपका चित्र 'गड़रिया' ग्रामीण जीवन का सुन्दर चित्रण करता है। आपके चित्रों में कला की अभिव्यक्ति मधुर ढंग से होती है। आपने शान्ति-निकेतन में रहकर चार वर्षों तक शिक्षा पायी। इस समय आपकी अवस्था लगभग १८-१९ वर्षों की है।

श्री लक्ष्मीनारायण पचौरी—आप गत वर्ष ही शांतिनिकेतन से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त कर अपने निवास-स्थान धमतरी आये हैं। विद्यार्थी जीवन में होनहार कलाकार के लक्षण आपमें स्पष्ट दिखलाई पड़ते थे। भविष्य में प्रांत को आपसे बहुत आशाएं हैं।

श्री रुद्रकुमार झा—शांतिनिकेतन के अतिरिक्त प्रांत के कुछ चित्रकारों ने जयपुर स्कूल आफ आर्ट में शिक्षा प्राप्त की है, जिसमें आप भारतीय शैली के कलाकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आप आजकल छिंदवाड़ा के आदिवासी संग्रहालय के लिये आदिवासियों के चित्रांकन में संलग्न हैं।

श्रीमती बुलबुल मित्रा—आप जबलपुर की संगीत और मूर्तिकला के साथ साथ चित्रकला में भी दक्षता रखती हैं। आपने 'भैरवराग' के संबंध में कई चित्र बनाए, जिनमें कला का उत्कृष्ट रूप मिलता है। रागनियों का चित्रांकन भारत की प्राचीन परम्परा है और इस परम्परा को श्रीमती मित्रा ने नये ढंग और नये रूप में उपस्थित करने में सफलता प्राप्त की है।

जबलपुर के प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय के प्रिंसिपाल श्री दास और श्री फलाण्डेकर—आप दोनों अच्छे चित्र-कार हैं। श्री दास का एक चित्र पेरिस की प्रदर्शनी में दिखलाया गया था। आपको चित्रों पर कई बार प्रदर्शनियों में पुरस्कार भी मिल चुका है। आप की शैली पर शांतिनिकेतन का प्रभाव जान पड़ता है, जबकि श्री फलाण्डेकर पर पाश्चात्यशैली का प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्यशैली का प्रभाव होने पर भी इनके चित्रों में पूर्णरूप से भारतीयता का लोप नहीं होता।

श्री रजा—आप लैन्डस्केप आर्टिस्ट के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं और 'इम्प्रेशन एक्सपर्ट' माने जाते हैं। आपने बम्बई स्कूल आफ आर्ट से फाइनल डिप्लोमा प्राप्त किया और दो वर्ष तक नागपुर के स्कूल आफ आर्ट में उसके पूर्व विद्यार्थी रहे। पिछले चार वर्षों से आप पेरिस में हैं।

श्री एम. ए. गड़े—आपने साइन्स कालेज, नागपुर से बी.एससी. किया और फिर बी.टी. करने के बाद नागपुर के शिक्षण महाविद्यालय में एक वर्ष तक अध्यापक रहे। आपको 'माडर्निस्ट' कलाकार माना जाता है और इस समय बम्बई में हैं।

श्री जी. के. जोशीराव—आप अमरावती जिला के निवासी हैं। मध्यप्रदेश सरकार से आपको कला की शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और सन् १९३८ में आपने बाम्बे स्कूल आफ आर्टस् से डिप्लोमा प्राप्त किया। इसके बाद भी आपने शिक्षा जारी रखी और एम.ए. तथा बी.टी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९४१ से आप सरकार के राजनीतिक विभाग में चित्रकला के सहायक तथा नागपुर विश्वविद्यालय के प्रमुख के रूप में कार्य कर रहे हैं। आप 'पोर्ट्रेट' विशेषज्ञ माने जाते हैं।

श्री बसंत देहाडराय—नागपुर की पोलीटेक्निक संस्था में अध्यापक हैं। आपने चित्रकला की शिक्षा बम्बई में प्राप्त की। आप आधुनिक शैली के चित्रकार हैं और आधुनिक भारतीय चित्रकला में विशेष अभिरुचि रखते हैं।



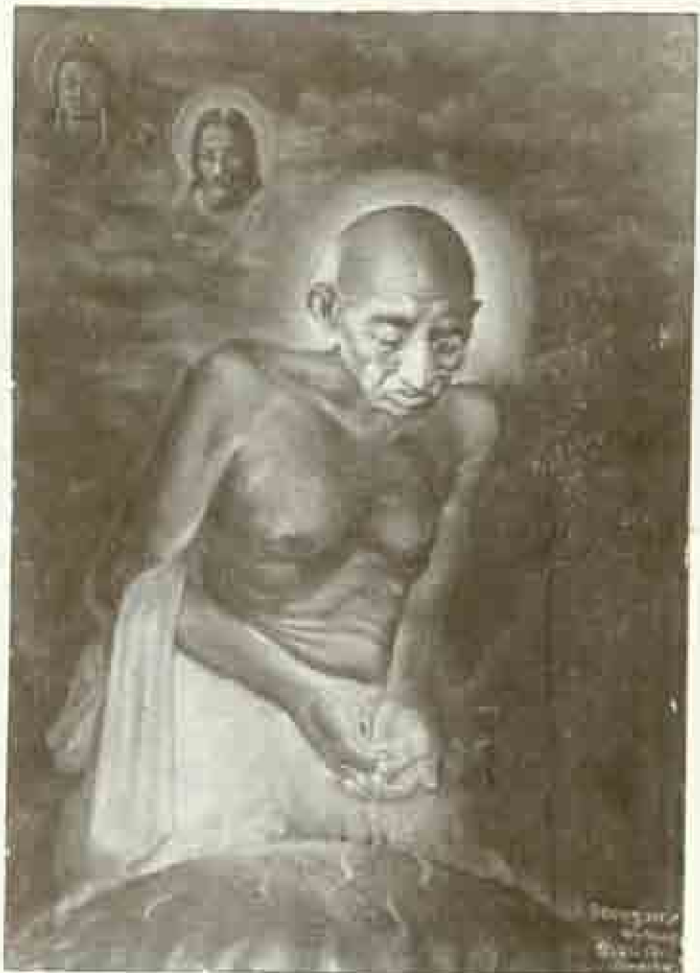
किसान परिवार



शिल्पी श्री पंधे गुरुजी, खामगांव

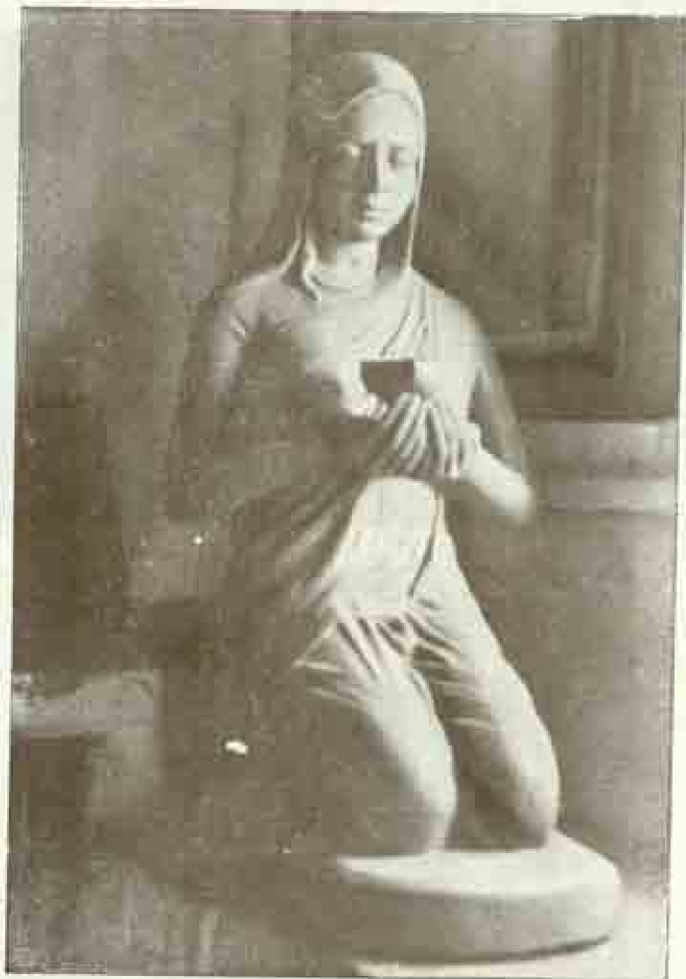


सन् ४२ का आन्दोलन ● चित्रकार: राम मनोहरसिंह



हे राम !

(महात्माजी को गोली लगने का दृश्य) शिल्पी : श्री सान्याल



प्रार्थना

शिल्पी : श्री पंधे गुरुजी



श्री गोविंदराव, बरहानपुर

जिन्हें दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी का उपराष्ट्रपति के हाथों पुरस्कार मिला



श्री राजाभाऊ नवसलकर

अमरावती के प्रसिद्ध संगीतज्ञ



श्री सैम्युअल

मुंह की सिटी द्वारा अभिनव संगीतकार, नागपुर



श्री नत्थूजी

जो तबलावादन में पुरस्कृत हुए हैं



काष्ट चित्र
शिल्पी : कुमारी रीता चौधरी



सरस्वती
चित्रकार : ठाकुर हीरासिंह

श्री पत्वे गुरुजी—आप खामगांव के तिलक राष्ट्रीय विद्यालय के प्रमुख आचार्य हैं और चित्रकला तथा मूर्ति-कला आदि में आपने अच्छी गति प्राप्त की है। आपकी चित्रकला में भारतीय शैली को ही विशेष रूप से प्रोत्साहन मिलता है, और उसमें भारतीय जीवन का अंकन है। आपके निरीक्षण में बनी हुई खामगांव विद्यालय के कलाभवन की इमारत भी भारतीय वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करती है। आपके अनेक शिष्य प्रान्त में फैले हुए हैं। आप ही के एक शिष्य का बनाया एक चित्र इस ग्रंथ में दिया गया है, जिसमें यह दिखलाया गया है कि संसार में इस समय अशान्ति की अग्नि प्रज्वलित हो रही है और महात्मा गांधी की हत्या के समय उनकी छाती में लगे गोली के घावों से बहता हुआ रक्त इस अग्नि को बुझाने का कार्य कर रहा है। इस चित्र में महात्मा गांधी की शान्तमुद्रा देखने योग्य है।

श्री हीरासिंह—आप राजनांदगांव के निवासी हैं और वहां पर चित्रकला तथा संगीत-कला दोनों के विद्यालयों का संचालन अनेक कठिनाइयों के बीच कर रहे हैं। आपके द्वारा बनाया हुआ वीणापाणि सरस्वती का एक चित्र इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है, जिससे आपकी कला का परिचय प्राप्त करना सुगम हो जायगा।

उपर्युक्त चित्रकारों के अतिरिक्त प्रांत में श्री. मनोहर, श्री इंगोले, श्री आठले तथा श्री कुलकर्णी भी अच्छे चित्रकार हैं और इनकी चित्रकला अपनी कुछ-न-कुछ विशेषताओं को लेकर अग्रसर हो रही है। आठले-बन्धुओं का मध्यप्रदेश के चित्रकारों में अच्छा स्थान है। आप दोनों भाई नागपुर स्कूल आफ आर्टस् और नागपुर म्यूजियम में क्रमशः कला का निर्माण-कार्य करते हैं। बड़े भाई नागपुर स्कूल आफ आर्टस् में प्रिंसिपाल हैं। आपने प्रान्त में कई नयी प्रतिभाओं को प्रोत्साहन दिया। आप पोर्ट्रेट बनाने में काफी सिद्धहस्त हैं। यद्यपि अभी मध्य-प्रदेश कला के क्षेत्र में अन्य प्रान्तों से पीछे है, फिर भी वहां उच्च कोटि के कलाकारों की कमी नहीं। प्राचीन काल में यह प्रांत कला और साहित्य का उत्तम केंद्र रहा है, जिसके अवशेष आज भी हमें ग्रामीण परम्पराओं में उपलब्ध होते हैं। यहां के आदिवासियों के जीवन में संगीत, नृत्य और चित्रकला सभी का सुन्दर समावेश पाया जाता है। आशा है कि निकट भविष्य में सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप यह प्रांत कला के क्षेत्र में अपना गौरवमय स्थान बनाएगा।



कला

साहित्य



यस्यास्तु कङ्कणमणिर्भवभूति रासीत्

पद्माकरेण परिपूजित पादपद्मा ।

भानोर्मरीचि निकरैरवभासमाना

सा शारदा भवतु नोऽभ्युदयाय सिद्धा ।।

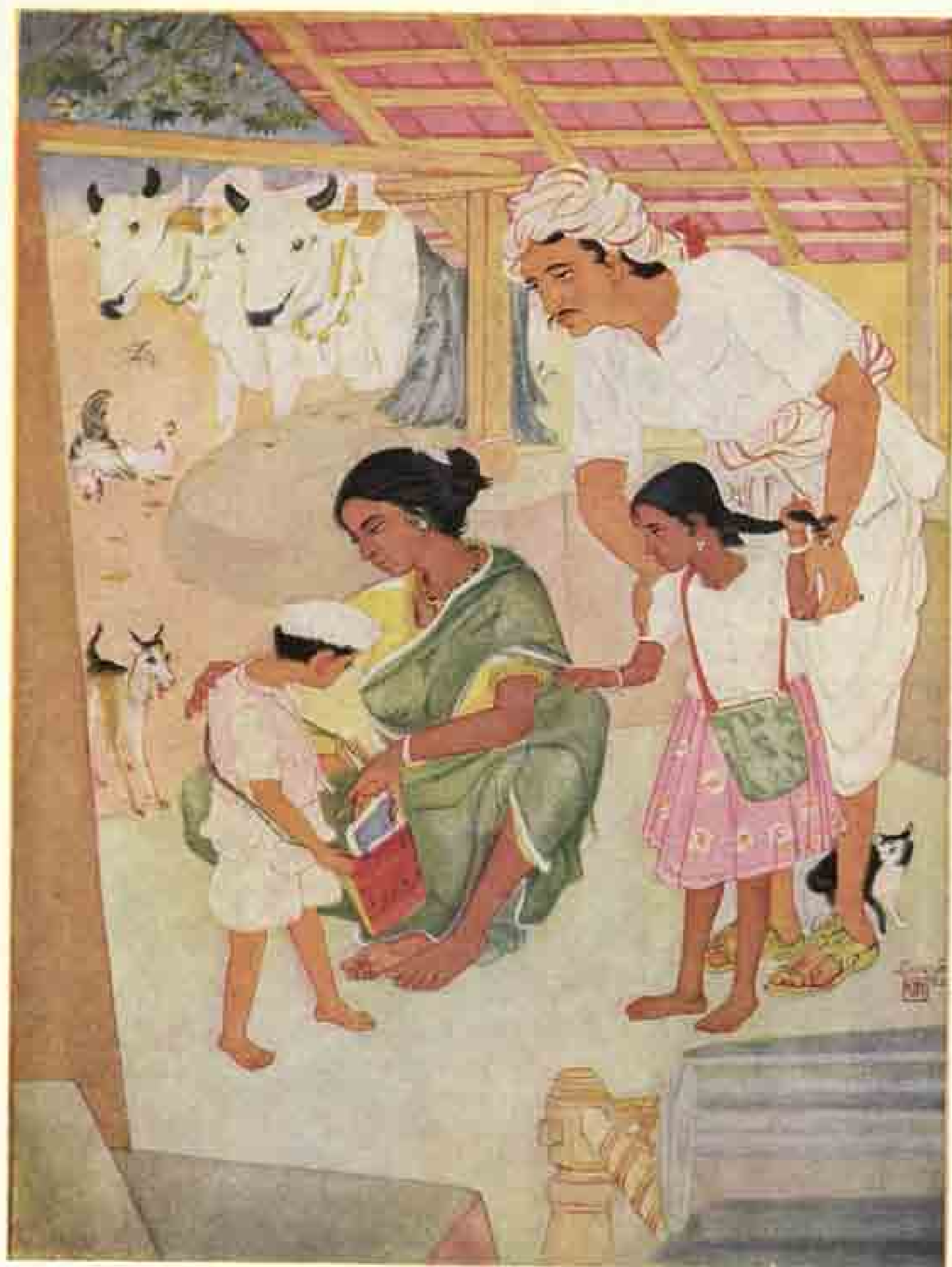
यत्र स्थिता जलदधावनजन्मभूमिर्यो

भारतीं हिमकिरीटवतीञ्चकार ।

कृष्णायनेन सुरभीकृतदिग्विभाग :

प्रान्तः स विश्वविदितो रविशङ्करस्य ।।

— श्री शिवनाथ मिश्र



गृहजीवन

चित्रकार :—श्री. मसोजी

मध्यप्रदेश के प्राकृतिक और आर्थिक साधन

श्री. पन्नालाल बल्हुआ

(मध्यप्रदेश के सांख्यिकी विभाग के सहयोग से)

मध्यप्रदेश देश के मध्यभाग में स्थित होने के कारण स्वनाम की सार्थकता सिद्ध करता है। १३०,२७२ वर्ग मीलों में फैला हुआ यह प्रदेश भारत का सबसे बड़ा राज्य है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह ब्रिटिश द्वीप पुंज तथा इटली से बड़ा और जापान एवं जर्मनी से कुछ ही छोटा है।

गत शताब्दी के साठवें वर्ष में प्राचीन सागर, नर्मदा तथा नागपुर विभागों के सम्मिलन से "मध्यप्रान्त" नाम के अन्तर्गत इस प्रदेश का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् सन् १९०३ में इसमें बरार जोड़ दिया गया और तब से यह "मध्यप्रान्त और बरार" के नाम से पुकारा जाने लगा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सन् १९४८ में इस प्रदेश के विस्तार को एक नवीन गति मिली, जब इसमें बस्तर, कांकेर, रायगढ़, सक्ती, उदयपुर, जशपुर, सरगुजा, कोरिया, चांगभाकर, कवर्धा, खैरागढ़, नांदगांव और छुईखदान आदि १४ देशी रजवाड़े भी अन्तर्लीन कर दिये गये। प्रशासनीय दृष्टि से सन् १९४८ तक यह प्रदेश चार कमिश्नरियों तथा १९ जिलों में विभाजित था। किन्तु अब इसमें २२ जिले हैं जो कि १११ तहसीलों में विभाजित किये गये हैं। गणराज्य दिवस, १९५० से अब यह सम्पूर्ण भू-भाग "मध्यप्रदेश" कहलाता है।

यह राज्य १८° उत्तर अक्षांश से २४° उत्तर अक्षांश तथा ७६° पूर्व देशांश से ८४° पूर्व देशांश तक फैला हुआ है। लम्बाई व चौड़ाई में अधिक अन्तर न होने से इसका आकार वर्गाकार है। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार उसका कुल क्षेत्रफल ९८,५७५ वर्गमील था; किन्तु अब वह बढ़कर १३०,२७२ वर्गमील हो गया है जो कि सम्पूर्ण देश के क्षेत्रफल का ९.७५ प्रतिशत है।

प्राकृतिक रचना की दृष्टि से इस प्रदेश के पांच स्वाभाविक विभाग हो सकते हैं, यथा—विन्ध्याचल की उच्चसमभूमि, नर्मदा का कछार, सतपुड़ा की उच्चसमभूमि, मैदानी भाग (जिसमें बरार, नागपुर व छत्तीसगढ का मैदान तथा महानदी का कछार सम्मिलित है), और दक्षिण की उच्चसमभूमि जिसमें अजंता, सिहावा तथा बस्तर की पर्वत-श्रेणियां शामिल हैं। नर्मदा, ताप्ती, वर्धा, वैनगंगा, इन्द्रावती, शिवनाथ, हसदेव तथा महानदी यहां की प्रमुख नदियां हैं, जो कि राज्य के लिये सिंचाई, यातायात और जलविद्युत् के साधन प्रस्तुत करती हैं। राज्य का ४८ प्रतिशत भाग वनों से आच्छादित है, जो उसके विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों को बहुमूल्य कच्चे माल की पूर्ति करता है।

वर्षा इस राज्य में मुख्यतः अरब सागर से आनेवाली मानसून हवाओं द्वारा असमान रूप से होती है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी भागों में प्रतिवर्ष वर्षा ३०" होती है, जबकि पूर्वी भागों में ६०" तक। राज्य के पूर्वी भागों में थल से लौटती हुई उत्तरी-पूर्वी हवाओं द्वारा ठण्ड में भी कुछ वर्षा हो जाती है। औसत रूप से यहां ४९" वर्षा होती है। जलवायु की दृष्टि से इस प्रदेश के स्थूलरूप से दो विभाग हो सकते हैं—उच्चसमभूमियां और मैदानी भाग। उच्चसमभूमियां सामान्यतः ठण्डी रहती हैं और मैदानी भाग अपेक्षाकृत गर्म।

उपजाऊ और उपयोगी भूमि की दृष्टि से भी राज्य की स्थिति संतोषजनक है। वैसे तो यहां विभिन्न प्रकार की भूमि उपलब्ध है, किन्तु इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीटयूट द्वारा तैयार किये गये भारत के भूमि-मानचित्र के अनुसार यहां मुख्यतः गहरी काली भूमि, काली भुरभुरी भूमि, काली चिकनी भूमि, काली रेतीली भूमि, लाल रेतीली भूमि और लाल और पीली भूमि पाई जाती है। गहरी काली भूमि (Deep Black Soil) गेहूं की फसल के लिये अत्यन्त उपयोगी होती है। यह अधिकांशतः नर्मदा और पूर्णा नदियों के कछारों में पाई जाती है। काली भुरभुरी भूमि (Black Clay Soil), जिसे "कपास की भूमि" (Black Cotton Soil) भी कहते हैं, कपास तथा ज्वार की फसलों के लिये बहुत उपयोगी होती है। इस प्रकार की भूमि बरार और सागर तथा वर्धा जिले के

पश्चिमी भागों में प्राप्य है। काली चिकनी भूमि (Black Loomy Soil) सतपुड़ा पर्वत-श्रेणियों तथा उसकी उच्चसमभूमियों में पाई जाती है। यद्यपि कृषि की दृष्टि से यह विशेष उपयोगी नहीं है, तथापि प्रदेश की मूल्यवान वन-सम्पत्ति इसी भूमि द्वारा पोषण पाती है। काली रेतीली भूमि (Black Sandy Soil) जबलपुर जिले के दक्षिणी भाग और नागपुर जिले के पूर्वी भाग से लेकर छत्तीसगढ़ के अधिकांश भागों में उपलब्ध है। लाल रेतीली भूमि (Red Sandy Soil) अधिकांशतः रायपुर जिले के दक्षिणी भाग, चांदा जिले के पूर्वी भाग तथा बस्तर और सरगुजा की उच्चसमभूमियों में पाई जाती है। इस प्रकार की भूमि में साल के सघन वन अधिक होते हैं तथा सपाट खुले मैदानी भागों में चांवल की फसल पैदा की जाती है। लाल और पीली भूमि (Red and Yellow Soil) कटनी के आसपास पाई जाती है और चांवल की फसल के लिये बहुत उपयुक्त होती है। अन्तिम प्रकार की भूमि मिश्रित भूमि (Mixed Soil) है जो मुख्यतः रायगढ़ जिले के पूर्वी भाग में पाई जाती है।

*जन-सम्पत्ति की दृष्टि से भी मध्यप्रदेश भरपूर है। उसके १४२ नगरों व ४८,४४४ ग्रामों में २१,२४७,५३३ जनसंख्या निवास करती है। कुल जनसंख्या में से ग्रामीण व नगरीय जनसंख्या क्रमशः ८७ तथा १३ प्रतिशत है। अतः स्पष्ट है कि अधिकांश मध्यप्रदेश अपने बिखरे हुए ग्रामों में ही बसा हुआ है उल्लेखनीय है कि ग्रामीण जनसंख्या में पुरुष-संख्या की अपेक्षा स्त्री-संख्या अधिक है किन्तु नगरीय जनसंख्या में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम है, यथा—ग्रामों में जबकि ९,१६७,८५० पुरुष व ९,२०२,३४४ स्त्रियां रहती हैं, तब शहरों में १,४९४,९६२ पुरुष व १,३८२,३७७ स्त्रियां हैं। किन्तु औसत रूप से राज्य में प्रति हजार पुरुष पीछे स्त्रियों की संख्या ९९३ है; अर्थात् इस दृष्टि से पुरुष-संख्या की अपेक्षा स्त्री-संख्या कम है।

राज्य में जनसंख्या वृद्धि भी काफी तेजी से हो रही है। उदाहरणार्थ: विगत ५० वर्षों में उसकी जनसंख्या लगभग ७७ लाख अधिक हो गई है। निम्नतालिका गत ५० वर्षों में राज्य की जनसंख्या-वृद्धि की गति चित्रित करती है:—

जनगणना वर्ष		कुल जनसंख्या (लाखों में)	दशवार्षिक वृद्धि प्रतिशतता ह्रास (−) अथवा वृद्धि (+)
१९०१	...	१३५	...
१९११	...	१५९	+१७.७
१९२१	...	१५८	—०.६
१९३१	...	१७८	+१२.६
१९४१	...	१९६	+१०.१
१९५१	...	२१२	+८.२

राज्य की जनसंख्या के जीवनयापन के अनेक साधन हैं, किन्तु उनमें से कृषि विशेष महत्त्वपूर्ण है, उदाहरणार्थ उसकी १६१.५ लाख, अर्थात् ७६ प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर ही आश्रित है। कृषि पर निर्भर करनेवालों में से अधिकांशतः तो कृषक व उनके आश्रित ही हैं, जो स्वयं चांवल, ज्वार, गेहूं, चना, तिलहन, दालें तथा कोदों व कुटकी, आदि प्रमुख फसलें पैदाकर अपनी जीविका चलाते हैं और कुछ भूमिहीन श्रमिक व उनपर निर्भर करनेवाले हैं जो कृषकों की मजदूरी कर अपना पेट पालते हैं। इसी तरह राज्य की लगभग १०.६ लाख जनसंख्या अन्य उत्पादन के साधनों पर अवलंबित है। इस श्रेणी में अधिकांशतः सूती कपड़ा, कागज, शीशा, सीमेन्ट और मृच्छिल्प प्रभृति बृहत् उद्योगों तथा हाथ-करघा और बीड़ी बनाने, चमड़ा पकाने व चमड़े के सामान बनाने तथा मिट्टी के बर्तन बनाने

*जनसंख्या से सम्बन्धित समस्त आंकड़े जनगणना, १९५१ पर आधारित हैं।

सदृश कुटीर उद्योगों में लगी हुई जनसंख्या, कोयला, मॅंगनीज, बाक्साइट, चूना, लोहा, अभ्रक और डॉलेमाइट जैसी खानों में काम करनेवाली जनसंख्या तथा वनोद्योग (लकड़ी काटना, वनोपज इकट्ठी करना, इत्यादि) में सेवायुक्त जनसंख्या वाणिज्य, यातायात और अन्य सेवाओं व विविध साधनों पर निर्भर करती है। इस तरह जीविका के अनुसार राज्य की समस्त जनसंख्या का विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

	कुल जनसंख्या (लाखों में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
(अ) कृषि साधनों पर अवलम्बित—		
(१) भू-स्वामी कृषक व उनके आश्रित	१०५.२	४९.५१
(२) पूर्णतः अथवा मुख्यतः दूसरों की भूमि पर खेती करनेवाले व उनके आश्रित।	९.५	४.४७
(३) खेती करनेवाले श्रमिक व उनके आश्रित	४३.४	२०.४१
(४) खेती न करनेवाले भू-स्वामी और कृषि-भाड़ा प्राप्त करनेवाले कृषक व उनके आश्रित।	३.४	१.६१
योग ...	१६१.५	७६.००
(ब) गैर-कृषि साधनों पर अवलम्बित—		
(१) कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन	२२.६	१०.६०
(२) वाणिज्य	९.३	४.३९
(३) यातायात	३.१	१.४७
(४) अन्य सेवाएं व विविध साधन	१६.०	७.५४
योग ...	५१.०	२४.००
कुल योग ...	२१२.५	१००.००

राज्य में प्रायः सभी धर्मों और मतों के माननेवाले रहते हैं, जिनमें से प्रमुख धर्मों के अन्तर्गत यहां २०,२१५,६०७ हिन्दू, ८००,७८१ मुसलमान, ८८,८०२ ईसाई, ३३,३९६ सिख और ९६,२५१ जैन निवास करते हैं। अनुसूचित व आदिमजातियों की जनसंख्या भी यहां काफी (क्रमशः २,८९८,९६८ व २,४७७,०२४) है। इसी प्रकार राज्य में विस्थापितों की संख्या भी बहुत बढ़ गई है यथा—फरवरी १९५१ तक यहां कुल ११२,७७१ विस्थापित व्यक्ति आ चुके थे, जिनमें से पुरुष तथा स्त्रियों की संख्या क्रमशः ६१,०७३ व ५१,६९८ थी। उल्लेखनीय है कि अब तक अधिकांश विस्थापित जीवन-यापन के विभिन्न साधनों में लग चुके हैं।

शिक्षा के उत्तरोत्तर विकास से मध्यप्रदेश में साक्षर व्यक्तियों की संख्या में भी काफी वृद्धि हो रही है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार यहां कुल २८५,२१४ साक्षर हैं, जिनमें से साक्षर पुरुष व स्त्रियों की संख्या क्रमशः २३२,२६५ व ५२,९४६ है। दूसरे शब्दों में राज्य की प्रतिशत साक्षरता १३.५ है जबकि पुरुष व स्त्रियों की यही प्रतिशतता क्रमशः २१.८ व ५.१ है। राज्य के विभिन्न जिलों की प्रतिशत साक्षरता की तुलना में अमरावती का स्थान सर्वप्रथम (२४.५ प्रतिशत) आता है। तत्पश्चात् नागपुर (२४.४ प्रतिशत), अकोला (२३.२ प्रतिशत), वर्धा (२१.२ प्रतिशत) और बुल्डाना (२०.८ प्रतिशत), आदि का क्रम आता है। उल्लेखनीय है कि राज्य के सरगुजा और बस्तर जिलों में सबसे कम प्रतिशत साक्षरता (क्रमशः ३.७ व ४.३) है। किन्तु कुछ वर्षों से राज्य सरकार की बहुमुखी शिक्षा-विकास योजनाओं की कार्यान्विति के फलस्वरूप इन जिलों में तथा राज्य के अन्य भागों में साक्षरता के क्षेत्र में प्रगति हो रही है।

इसी सिलसिले में राज्य की भाषाओं के विषय में कुछ उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। यहां लगभग ३७७ भाषाएं व उपभाषाएं मातृभाषा के रूप में बोली जाती हैं; तथापि हिन्दी और मराठी बोलनेवाली जनसंख्या अधिक है। राज्य में कुल १०,३२०,८७५ व्यक्ति हिन्दी व ६,१८६,४३८ व्यक्ति मराठी बोलते हैं; अर्थात् हिन्दी और मराठी बोलनेवालों की प्रतिशतता क्रमशः ४८.५७ व २९.१२ है। अन्य भाषाओं में कुछ हिन्दी की उपभाषाएं हैं। राज्य सरकार ने हिन्दी और मराठी को राज्य भाषाएं घोषित कर दिया है।

मध्यप्रदेश में कृषि

सदा से ही कृषि इस देश के सम्पूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा है। आज भी उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग संबंधी हमारी समस्त आर्थिक क्रियाएं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृषि पर आधारित हैं। यथार्थ में "भूमि" ही हमारी सबसे मूल्यवान सम्पत्ति है और खेती जीविका का प्रमुख साधन।

इस भू-भाग को प्रकृति ने विशाल कृषि-योग्य भूमि की देन दी है। इस समय राज्य की लगभग ४० प्रतिशत भूमि पर खेती होती है और लगभग ८ प्रतिशत भूमि वैज्ञानिक कृषि पद्धतियों द्वारा कृषि-योग्य बनाई जा सकती है। *राज्य के भू-अभिलेख विभाग के अनुसार सन् १९५२-५३ में उसकी कुल ८३० लाख एकड़ भूमि में से ३८५ लाख एकड़ भूमि कृषि-योग्य थी, जबकि २९१ लाख एकड़ भूमि पर खेती की गई। इन अंकों से स्पष्ट है कि इस प्रदेश में कृषि-भूमि के विस्तार के लिये अभी भी काफी क्षेत्र पड़ा हुआ है।

राज्य की विशेष भौगोलिक स्थिति, भूमि के प्रकार और प्रमुख फसलों के उत्पादन को दृष्टिगत रख उसे स्थूल रूप से तीन प्रकार के क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है, यथा—(अ) कपास व ज्वार का क्षेत्र, (ब) चांवल का क्षेत्र और (स) गेहूं का क्षेत्र। इन क्षेत्रों के अन्तर्गत आनेवाली कृषि-भूमि और प्रमुख फसलों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

कपास व ज्वार का क्षेत्र.—इस क्षेत्र में बरार के अकोला, अमरावती, बुलढाना और यवतमाल जिलों के अतिरिक्त वर्धा, नागपुर और निमाड़ जिले तथा वरोरा (चांदा जिला) और सौसर (छिंदवाड़ा जिला) तहसीलें आती हैं। इसका अधिकांश भाग दक्षिणी पठार में समाविष्ट है, जिसमें अधिकतर कपास की काली भूमि पाई जाती है। यह भूमि अपनी उर्वरा शक्ति और कुछ विशेष गुणों के लिये प्रसिद्ध है। वर्षाकाल में वह इतनी आर्द्रता संचित कर लेती है कि वर्ष भर बिना सिंचाई के भी उपजाऊ बनी रहती है। कपास, ज्वार, तिलहन और मक्का, आदि खरीफ फसलें इस भूमि पर बहुतायत से होती हैं।

चांवल का क्षेत्र.—इसके अन्तर्गत रायपुर, बिलासपुर, दुर्ग, भंडारा, बालाघाट और भूतपूर्व देशी रियासतों के क्षेत्र; चांदा जिले का अधिकांश भाग और जबलपुर तथा सागर जिलों के कुछ भाग आते हैं। इस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की जमीनें पाई जाती हैं, और इसीलिये यहां अनेक प्रकार की फसलें विभिन्न कृषि-पद्धतियों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं; किन्तु चांवल ही इस क्षेत्र की प्रमुख फसल है। यहां चांवल की खेती के लिये अनेक पद्धतियां अपनाई जाती हैं, जिनमें से रोपण विशेष प्रचलित है। बालाघाट, चांदा और भंडारा जिले में चांवल की खेती इसी पद्धति द्वारा की जाती है। किन्तु इसकी सफलता के लिये पर्याप्त जल-पूर्ति नितान्त आवश्यक है। चांवल पैदा करने की "बिआसी पद्धति" भी अधिक लोकप्रिय है। विशेष तौर पर रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग में यह बहुत प्रचलित है। इसी तरह अन्य क्षेत्रों में भूमि के प्रकार, वर्षा और सिंचाई की सुविधाओं के अनुसार विभिन्न पद्धतियां अपनाई जाती हैं।

गेहूं का क्षेत्र.—इस क्षेत्र में सागर, जबलपुर, होशंगाबाद, मंडला और मुलताई तथा सौसर तहसील को छोड़कर क्रमशः बैतूल व छिंदवाड़ा जिले आते हैं। चांवल क्षेत्र के समान इस क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार की भूमि पाई जाती है। राज्य के उत्तरी भाग में विन्ध्याचल की पर्वतश्रेणियां फैली हैं, जो कड़ी और कहीं कहीं रेतयुक्त पथरीली भूमि से बनी हुई है। कुछ भू-क्षेत्रों के अतिरिक्त अधिकांश भाग कृषि के लिये अयोग्य है। विन्ध्याचल के दक्षिण में नर्मदा नदी का कछार आता है जिसकी काली चिकनी मिट्टी गेहूं की फसल के लिये बहुत उपयुक्त है। जबलपुर और होशंगाबाद जिलों के विस्तृत गेहूं के क्षेत्र इसी भाग में आते हैं। नर्मदा कछार के दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत की शैलमालाएं फैली हुई हैं; किन्तु इनकी भूमि खेती की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, यद्यपि हमारे अमूल्य खनिज पदार्थों के विपुल संचय इसी क्षेत्र में भूगर्भित हैं। गेहूं के क्षेत्र में गेहूं के अतिरिक्त चना, मसूर, तेवड़ा और मटर, आदि रबी

*वन नीति समिति (मध्यप्रदेश शासन) का प्रतिवेदन।

फसलें बहुतायत से उत्पन्न की जाती हैं। इस समय यद्यपि इस क्षेत्र में सिंचाई की सुविधाएं बहुत ही स्वल्प हैं, किन्तु बैतूल, छिंदवाड़ा और सागर जिले के कुछ भागों में सिंचाई सफलतापूर्वक की जा सकती है। दो-फसली भूमि के विस्तृत क्षेत्र इस विभाग की अनोखी देन है। इस समय कुछ भू-भागों पर दो-फसली खेती की जाती है ; किन्तु अपेक्षित सिंचाई व सुविधाएं उपलब्ध होने पर इस दिशा में अधिक उन्नति की जा सकती है।

सम्पूर्ण देश की तुलना में इस राज्य की कृषि-उत्पादन सम्बन्धी स्थिति संतोषजनक है। उदाहरणार्थ, इस राज्य का प्रति-व्यक्ति दैनिक उत्पादन १७ औंस है। इस दृष्टि से दूसरे राज्यों की तुलना में उसका दूसरा स्थान आता है। इसी तरह प्रमुख फसलों के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्रफल और उनके उत्पादन की दृष्टि से भी राज्य की स्थिति संतोषप्रद है, यथा—चावल के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र और उसके उत्पादन की दृष्टि से उसका चौथा स्थान, कपास के क्षेत्र व उत्पादन की दृष्टि से दूसरा स्थान व गेहूं के क्षेत्र व उत्पादन की दृष्टि से उसका क्रमशः तीसरा व चौथा स्थान आता है, जबकि तिलहन के उत्पादन में उसे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है।

कृषि-विकास योजनाएं

इस राज्य में प्रति-व्यक्ति भूमि का क्षेत्रफल तथा उसका प्रति एकड़ उत्पादन अन्य राज्यों अथवा देशों की तुलना में काफी कम है। उदाहरणार्थ, मध्यप्रदेश में गेहूं का प्रति एकड़ उत्पादन केवल ३०५ पौंड ही है, जबकि उत्तरप्रदेश, बम्बई, अमेरिका, इटली और जापान की यही मात्रा क्रमशः ७८६, ४६७, ८८६, १,३८३ और १,७१३ पौंड है। इसी तरह चावल का प्रति एकड़ उत्पादन भी यहां केवल ४९६ ही है, जबकि उत्तरप्रदेश का यही उत्पादन ६२९ पौंड, मद्रास का १,०९८ पौंड, इटली का २,९६३ पौंड और जापान का २,०५३ पौंड है। अतः इस राज्य का भी प्रति एकड़ उत्पादन उपरोक्त राज्यों अथवा राष्ट्रों के समकक्ष लाने के लिये यहां आधुनिकतम एवं उत्कृष्ट कृषि-पद्धतियों, पर्याप्त सिंचाई-सुविधाओं, उत्तम खाद और बीज की व्यवस्था, पड़ती भूमि के कृष्यकरण, भूमि के संरक्षण, खेतों की चकबंदी, कृषि-अन्वेषण और समुचित कृषि-साख की पूर्ति, आदि की व्यवस्था अनिवार्य है। राज्य की वर्तमान कृषि-विकास योजनाओं में इन सभी कृषि विषयक कार्यों को स्थान दिया गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की कृषि-विकास योजनाएं

राज्य की वर्तमान अधिकांश कृषि-विकास योजनाएं प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आती हैं। योजना का उद्देश्य एक ओर तो राज्य में खाद्यान्न-आत्मनिर्भरता लाना है, और दूसरी ओर सन् १९५५-५६ तक यहां २.८१ लाख टन खाद्यान्न और २,००० लाख बोझे कपास का अतिरिक्त उत्पादन बढ़ाना है। दोनों ही उद्देश्यों से प्रेरित हो राज्य में योजना के अन्तर्गत अनेक कृषि-विकास योजनायें बनाई गईं जिन्हें सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा रहा है। इन योजनाओं के अन्तर्गत प्रस्तावित व्यय की संक्षिप्त रूपरेखा निम्न प्रकार है :—

कृषि-विकास योजनायें	विकास-व्यय लाख रुपयों में (१९५१-५२ से १९५५-५६ तक)
(१) प्रशासन तथा विस्तार	८८.२७
(२) शिक्षा और प्रशिक्षण	६.४७
(३) अन्वेषण	१०.७९
(४) भूमि-सुधार और कृष्यकरण	६५३.५०
(५) गौण सिंचाई योजनायें	१६०.४०
(६) खाद और उर्वरक वितरण	२९४.४९
(७) बीज वितरण योजनायें	१७०.९२
(८) औजारों की पूर्ति	८.५०
(९) अन्य योजनायें	२०.०६
योग ...	१,४१३.४०

सन् १९५३-५४ तक इन योजनाओं पर कुल ९१६.३७ लाख रुपये की राशि खर्च हो चुकी थी। इनके अन्तर्गत होनेवाले कार्य को स्थूलरूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) स्थायी कृषि विकास के लिये सामान्य कृषि विकास कार्य और (ब) खाद्य समस्या के निवारणार्थ अधिक अन्न उपजाओ योजनाओं के अन्तर्गत किया जानेवाला कृषि विकास कार्य।

(अ) सामान्य कृषि-विकास कार्य—

राज्य की कृषि व्यवस्था का पुनर्संगठन एवं स्थायी विकास करने के लिये यहां निम्नलिखित योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं :—

(१) कृषि विभाग के विस्तार के लिये अतिरिक्त कर्मचारी,
(२) कृषि-सहायकों का प्रशिक्षण,
(३) कृषि अन्वेषणशाला का विस्तार,
(४) स्नातकोत्तर प्रशिक्षण,
(५) निदर्शन कामदारों का प्रशिक्षण,
(६) कृषि-अधिदर्शकों का प्रशिक्षण,
(७) उद्यानशास्त्र अनुविभाग, क्षेत्रिकी अनुविभाग तथा सांख्यिकी अनुविभाग की स्थापना,
(८) भूमि-संरक्षण तथा कृषि-भूमि का विस्तार,
(९) कृषि-यंत्री अनुविभाग का विस्तार, और
(१०) पचमढ़ी उद्यान-विकास योजना।

कृषि-विकास योजनाओं की कार्यान्विति के लिये बड़ी तादाद में क्षेत्रिकी और निदर्शन कर्मचारियों की पूर्ति आवश्यक है। इस कार्य के लिये योजनावधि में ४३.७५ लाख रुपये की राशि खर्च करने की व्यवस्था की गई है। दूसरी योजना के अन्तर्गत ३.५३ लाख रुपये की निधि से कृषि विद्यालय का विस्तार किया जा रहा है, ताकि कृषि स्नातकों के शिक्षण व प्रशिक्षण की व्यवस्था हो सके। कृषि अन्वेषण कार्य को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से ४ लाख रुपये की लागत पर विभिन्न स्थानों में कार्यालय तथा प्रयोगशालायें खोलने का कार्य प्रगति पर है। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण योजना का उद्देश्य भी कृषि अन्वेषण को प्रोत्साहन देना है। इस योजना के अन्तर्गत योजनावधि में १.३४ लाख रुपये के व्यय से ५३ स्नातकों को देश की विभिन्न संस्थाओं में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण दिया जायेगा। निदर्शन कामदारों की प्रशिक्षण योजना १२० प्रशिक्षार्थियों को प्रशिक्षण देकर बन्द कर दी गई है। इसी प्रकार कृषि-अधिदर्शकों की प्रशिक्षण योजना भी इसी वर्ष ८० प्रशिक्षार्थियों को प्रशिक्षण देकर बन्द कर दी गई। सातवीं योजना के अन्तर्गत २.१६ लाख रुपये, १.७३ लाख रुपये और १.१८ लाख रुपये की लागत पर क्रमशः उद्यानशास्त्र अनुविभाग, क्षेत्रिकी अनुविभाग और सांख्यिकी अनुविभाग खोले जाने की योजना है। इनमें से उद्यानशास्त्र अनुविभाग फलवृक्षों व सागभाजियों की खेती को प्रोत्साहन देगा व उनसे सम्बन्धित विषयों पर अनुसंधान करेगा ; जबकि क्षेत्रिकी अनुविभाग फसलों का उत्पादन बढ़ाने व कृषि सम्बन्धी विभिन्न विषयों का अध्ययन करने का प्रयत्न करेगा। इसी तरह सांख्यिकी अनुविभाग कृषि-प्रयोग-क्षेत्रों के परीक्षणों से सम्बन्धित सम्यक-सामग्री का संकलन, विश्लेषण एवं निर्वचन करेगा। आठवीं योजना के अन्तर्गत ७.४० लाख रुपये के व्यय से भूमि के कटाव को रोकने व पड़ती भूमि का कृष्यकरण करने के लिये एक अनुविभाग खोले जाने का प्रावधान किया गया है। कृषि-यंत्री अनुविभाग की विस्तार योजना के लिये भी ७.८६ लाख रुपये का व्यय प्रस्तावित है, ताकि वह अपने कृषि औजारों के नमूने बनाने, कुओं की बोरिंग करने व बिजली के पम्प बैठाने जैसे कार्यों को उचितरूप से सम्पन्न कर सके। अन्तिम योजना के अन्तर्गत १.७२ लाख रुपये की निधि से पचमढ़ी को एक अच्छा स्वास्थ्य केन्द्र (हिल-स्टेशन) बनाया जा रहा है।

(ब) अधिक अन्न उपजाओ योजनाएं—

राज्य की पंचवर्षीय अधिक अन्न उपजाओ योजनाओं का उद्देश्य एक ओर तो उसकी प्रतिवर्ष बढ़नेवाली जनसंख्या को खाद्यान्न की पूर्ति करना है और दूसरी ओर अन्नाभाववाले राज्यों को खाद्यान्न का निर्यात करना है। इसी उद्देश्य से इन योजनाओं के अन्तर्गत खाद्यान्न उत्पादन सम्बन्धी वार्षिक लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं।

स्थायी योजनाएं.—स्थायी अधिक अन्न उपजाओ योजनाओं में भूमि-विकास और कृष्यकरण योजनाएं आती हैं। भूमि विकास योजनाओं के अंतर्गत रबी बन्धानों को बांधने, रबी क्षेत्रों को दो-फसली क्षेत्रों में बदलने और धान की खेती के लिये बंधान बांधने के कार्य आते हैं। इनमें से प्रथम दो कार्यों के लिये सरकार द्वारा कृषकों को ६०—९० रुपये व अंतिम कार्य के लिये ८४ रुपये प्रति एकड़ की दर से ऋण दिया जाता है। सन् १९४४-४५ से जून १९५३ तक ११७,३४१ एकड़ भूमि में नये रबी बंधान बांधे गये व १२७,७०० एकड़ भूमि में पुराने बंधानों को सुधारा गया। सन् १९५३-५४ में भी ४,१३३ एकड़ भूमि में बंधान बांधने का कार्य किया गया और सन् १९५४-५५ में दूसरी ३,००० एकड़ भूमि पर इसी कार्य को चालू किया गया। इसी तरह सन् १९५३-५४ तक २५,०११ एकड़ भूमि को दो-फसली भूमि में परिवर्तित किया गया जबकि सन् १९५४-५५ में ५५,००० एकड़ क्षेत्र को दो-फसली भूमि बनाने के प्रयत्न जारी थे। धान की खेती के लिये भी बंधान बांधने के कार्य में काफी प्रगति हुई है। सन् १९५३-५४ तक १०,३८४ एकड़ की भूमि में ऐसे बंधान बांधे जा चुके थे।

कृष्यकरण का कार्य केन्द्रीय हलयंत्र संगठन और मशीन हलयंत्र केन्द्र योजना के हलयंत्रों द्वारा किया जा रहा है। इसी उद्देश्य से कृषकों को हलयंत्र खरीदने के लिये पंचवार्षिक ऋण भी दिये जाते हैं। केन्द्रीय हलयंत्र संगठन के हल-यंत्रों द्वारा सन् १९५३-५४ तक २३६,१४४ एकड़ भूमि की जुताई की गई और सन् १९५४-५५ में ११०,००० एकड़ पर जुताई करने का कार्य किया जा रहा था। इसी तरह मशीन हलयंत्र केन्द्र यो जना के हलयंत्रों द्वारा सन् १९५३-५४ तक १३१,२५० एकड़ भूमि जोती गई और सन् १९५४-५५ में ३४,८०० एकड़ भूमि पर जुताई करने का कार्य हो रहा था। साथ ही, सन् १९५३-५४ तक निजी हलयंत्रों द्वारा अपनी भूमि पर जुताई करवाने के लिये कृषकों को २१.०६ लाख रुपये के तकावी ऋण भी दिये गये।

स्थायी अधिक अन्न उपजाओ योजनाओं की दूसरी श्रेणी है छोटी सिंचाई योजनाएं जिनके अंतर्गत् तालाबों और कुओं को खोदने व मरम्मत करने तथा रहटों और पानी के पम्पों को खरीदने के लिये कृषकों को तकावी ऋण देने के कार्य आते हैं। इन योजनाओं के अंतर्गत् १९५१—५३ में ५२३ तालाब व ७२४ कुएं खोदे गये तथा ६८५ रहट व ६४१ पम्प लगाये गये। इस समय इन योजनाओं का कार्य प्रगति पर है।

आवर्तक योजनाएं.—इनके अंतर्गत् खाद, उर्वरक तथा बीज वितरण योजनाएं आती हैं। सन् १९५४ में खाद और उर्वरक वितरण योजना के अंतर्गत् १४,२६२ टन अमोनियम सल्फेट, २६,१५२ टन कम्पोस्ट, ५८८ फास्फेटिक फरटीलायजर और ७१९ टन उर्वरक मिश्रण बांटा गया। बीज वितरण योजनाओं के अंतर्गत् गेरुवा निरोधक गेहूं के बीज और सुधरे हुए धान के बीज बांटे जाते हैं। उदाहरणार्थ, सन् १९५४ में १५,००० एकड़ भूमि के लिये गेरुवा निरोधक गेहूं के बीज व १५२,२३९ मन धान के सुधारे हुए बीज बांटे गये।

अधिक अन्न उपजाओ योजनाओं के अंतर्गत् आनेवाली दूसरी अप्रत्यक्ष योजनाओं में टिड्डियों और कीटाणुओं आदि से फसलों का संरक्षण करने और इसके लिये कृषकों को आवश्यक आर्थिक सहायता तथा सुझाव आदि देने के कार्य आते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना और कृषि

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी राज्य के कृषि-विकास को काफी महत्व दिये जाने की आशा है। हाल ही में तैयार की गई योजना की रूपरेखा के अनुसार राज्य के कृषि एवं ग्रामीण विकास के लिये ६,५१०.७८ लाख रुपये की निधि प्रस्तावित की गई है। अनुमान लगाया गया है कि उक्त व्यय से राज्य का खाद्यान्न उत्पादन ५०.६ लाख टन से ५९.६ लाख टन तक बढ़ाया जा सकेगा। इसके लिये वर्तमान खेती की पद्धतियों के स्थान पर उत्कृष्ट पद्धतियां अपनाई जाने की योजना है। इसी तरह राज्य में पौष्टिक एवं संतुलित भोजन की मात्रा बढ़ाने के लिये विशेष ध्यान दिया जाएगा। इसी उद्देश्य से गृहपालित पक्षियों एवं अंडों के उत्पादन में २०० प्रतिशत, दुग्ध-उत्पादन में ५० प्रतिशत, मत्स्य-उत्पादन में २०० प्रतिशत तथा साग-भाजियों के उत्पादन में ६० प्रतिशत वृद्धि करने के लक्ष्य प्रस्तावित किये गये हैं।

सिंचाई योजनाएं

खाद्यान्न-उत्पादन बढ़ाने, अकालों पर नियंत्रण रखने एवं कृषकों का आर्थिक-स्तर ऊंचा उठाने के लिये "सिंचाई" नितांत आवश्यक है। कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था तथा अपर्याप्त एवं अनियमित वर्षा को देखते हुए तो सिंचाई इस राज्य के लिये अनिवार्यता बन गई है। वैसे तो यहां सिंचाई की आवश्यकता का अनुभव १७ वीं शताब्दि में ही होने

लगा था, किन्तु इस ओर ठोस कार्य सन् १९०२ के बाद ही आरम्भ हुआ, जबकि सन् १९०१ के सिचाई आयोग ने अकालसुरक्षार्थ विभिन्न सिचाई-कार्य कार्यान्वित करने की जोरदार सिफारिशें की थीं। इस आयोग ने ३०० लाख रुपये के व्यय की एक २० वर्षीय योजना प्रस्तुत की थी, जिसके अनुसार ४५०,००० एकड़ चांवल की भूमि सींची जा सकती थी। तदनुसार, वेनगंगा और महानदी नदियों से अनेक नहरें निकाली गई और रायपुर, बिलासपुर, दुर्ग, भंडारा, बालाघाट, चांदा, जबलपुर और सागर (दमोह) जिलों में कई जल-संचयों का निर्माण किया गया। इन सिचाई कार्यों पर ३०० लाख रुपये की अपेक्षा ४५० लाख रुपये खर्च हुए जिनके द्वारा १० लाख एकड़ चांवल की भूमि सींची जाने का अनुमान लगाया गया। इसी तरह इस आयोग ने गेहूं की सिचाई के लिये भी कुछ योजनाएं प्रस्तुत की थीं, किन्तु इस ओर मुख्यतः पूंजी की कमी के कारण अधिक कार्य न किया जा सका।

राज्य म सिचाई कार्यों की विशेष प्रगति द्वितीय महायुद्ध काल और उसके बाद ही आरम्भ हुई, जबकि उसके सामने खाद्यान्न आत्मनिर्भरता के साथ ही अन्नाभाववाले राज्यों को खाद्यान्न निर्यात करने का प्रश्न खड़ा हुआ। इसके लिये राज्य में विभिन्न सिचाई कार्यों का निर्माण कार्य तीव्र गति से आरम्भ किया गया। फलस्वरूप प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वित होने के पूर्व यहां ३५ बड़े व ८७ छोटे सिचाई-कार्य चालू हो चुके थे जिनमें से बड़े सिचाईकार्यों द्वारा प्रतिवर्ष ७९४,४९५ एकड़ व छोटे सिचाई कार्यों द्वारा प्रतिवर्ष ५०,१०३ एकड़ भूमि सींची जाती थी। इनके अतिरिक्त बड़े सिचाई कार्यों में बालाघाट जिले की मुरम तालाब योजना और छिंदवाड़ा जिले की चीचबंद और अरी तालाब योजनाएं भी ५२·०९ लाख रुपये के व्यय से कार्यान्वित हो रही थीं। इनमें से मुरम तालाब और चीचबंद तालाब योजनाओं का कार्य सन् १९५१ के पहिले ही समाप्त हो चुका था; किन्तु अरी तालाब योजना का अपूर्ण कार्य पंचवर्षीय योजना में शामिल कर लिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की बड़ी सिचाई योजनाए

राज्य की प्रथम पंचवर्षीय योजना में अरी तालाब योजना के अतिरिक्त मंगुलपारा, सरोदा, गोंदली, सांपना दुधवा और डुकरीखेड़ा तालाब योजनाएं कार्यान्वित की जा रही हैं *।

इन योजनाओं में से अरी तालाब योजना का कार्य समाप्त हो चुका है। और अन्य ६ योजनाओं का कार्य तीव्र गति से चल रहा है। आशा है कि मंगुलपारा तालाब योजना, डुकरीखेड़ा तालाब योजना और सांपना तालाब योजना का कार्य जून १९५६ तक समाप्त हो जाएगा। इसी तरह सरोदा तालाब योजना का कार्य जून १९५७ तक और गोंदली तथा दुधवा तालाब योजनाओं के कार्य मार्च, १९५८ तक पूरे होने की आशा है।

छोटी सिचाई योजनाएं

उपरोक्त बड़ी सिचाई योजनाओं के अतिरिक्त राज्य में ३२४ लाख रुपये के व्यय से ४८ छोटी सिचाई योजनाएं भी कार्यान्वित की जा रही हैं। इनके समाप्त होने पर १२८,३८९ एकड़ भूमि पर सिचाई की जा सकेगी। इनके अतिरिक्त अधिक अन्न उपजाओ योजना के अन्तर्गत् भी इस समय १८ ग्राम सिचाई योजनाएं क्रियान्वित हो रही हैं; जबकि इसी तरह की ५० योजनाएं १८.७० लाख रुपये की लागत से पूरी हो चुकी हैं। इस श्रेणी की चालू योजनाओं पर १०.१७ लाख रुपये व्यय होगा। इन सभी ग्राम सिचाई योजनाओं से २०,३३१ एकड़ भूमि सींची जा सकेगी.

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सिचाई का स्थान

प्राप्त संकेतों के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सिचाई को अधिक महत्त्व दिये जाने की आशा है। आगामी योजना के अन्तर्गत् २१ बड़ी सिचाई योजनाएं प्रस्तावित की गई हैं, जिनमें से १६ योजनाओं का पर्यवेक्षण हो चुका है, और अन्य ५ योजनाओं का पर्यवेक्षण कार्य प्रगति पर है। सिचाई में अतिरिक्त जल-विद्युत उत्पादन इन योजनाओं की विशेषता होगी। जिन १६ योजनाओं का पर्यवेक्षण पूर्ण हो चुका है उनका कुल अनुमानित व्यय ५,६५३.०४ लाख रुपये होगा तथा उनसे १,८८६,८२० एकड़ भूमि सींचे जाने व २०,३०० किलोवाट जल-विद्युत्-शक्ति के उत्पादन की आशा है। इसी तरह अन्य योजनाओं पर (जिनका पर्यवेक्षण हो रहा है) अनुमानतः ४,७५८ लाख रुपये खर्च होंगे तथा उनसे १,०२७,५०० एकड़ भूमि सींची जा सकेगी व २६,००० किलोवाट विद्युत्-उत्पादन किया जा सकेगा। * उल्लेखनीय है कि हाल ही में तैयार की गई द्वितीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा के अनुसार योजनावधि में १,११६,००० एकड़ अतिरिक्त भूमि सींचे जाने का अनुमान लगाया गया है।

---

* योजना तथा विकास विभाग, मध्यप्रदेश शासन।

भू-राजस्व व्यवस्था

प्राचीनकाल में इस प्रदेश में जागीरदारी प्रथा प्रचलित थी, जिसमें राजा को स्वयं किसानों से भू-राजस्व वसूल करने का अधिकार होता था। यही प्रथा बहुत-कुछ अंशों में गोंड राजाओं के राजत्वकाल तक भी प्रचलित रही किन्तु इस काल में राजा कुछ चुने हुए मुखियों द्वारा, जो समयानुसार राज्य को सैनिक सहायता करते थे, भू-राजस्व एकत्रित करता था। तत्पश्चात् मराठाकाल में "मौजावारी प्रथा" का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अंतर्गत् परगना अधिकारी प्रतिवर्ष एक गांव विशेष का भू-राजस्व वर्ष की फसलों की दशा देखकर ही निर्धारित करता था। तत्पश्चात् गांव के मुखिये की सलाह से समस्त कृषकों में हलों की संख्यानुसार उसका वितरण कर दिया जाता था। किसानों को पट्टे पर (१ से ३ वर्ष की अवधि तक) भूमि जोतने के लिये दी जाती थी। आरंभ में अंग्रेजों ने भी इसी पद्धति को अपनाया। किन्तु किसानों को पट्टे पर दी जाने वाली भूमि की अवधि ३ से ५ वर्ष तक बढ़ा दी गई। सन् १९३५ और १९३८ में किये गये भूमि-बन्दोबस्तों के अंतर्गत यह अवधि २० वर्ष तक बढ़ा दी गई थी। तत्पश्चात् समयानुसार इस प्रथा में अनेक परिवर्तन किये गये, और देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति तक यहां मालगुजारी, रैयतवारी और ठेकेदारी प्रथाएं प्रचलित रहीं। इनमें से मध्यप्रान्त में मुख्यतः मालगुजारी प्रथा, बरार में मुख्यतः रैयतवारी प्रथा और विलीनीकृत देशी राज्यों में अंशतः ठेकेदारी और रैयतवारी प्रथाएं चालू थीं।

इनमें से रैयतवारी गांवों का प्रबंध राज्य-सरकार करती थी और किसान पटेलों के माध्यम से सरकार को भू-राजस्व (लगान) चुकाते थे। पटेल गांव का प्रबंधक होता था। किन्तु मालगुजारी, जमींदारी अथवा ठेकेदारी ग्रामों का प्रबंध मालगुजार, जमींदार अथवा ठेकेदार करते थे, और वे ही किसानों से भू-राजस्व एकत्रित कर उसका एक निश्चित भाग सरकार को चुकाते थे। किन्तु एक विशेष अधिनियम के अंतर्गत् सन् १९५१ से इन प्रथाओं का अंत हो गया है (इस अधिनियम का विशेष वर्णन आगे दिया गया है)।

इस समय सम्पूर्ण राज्य से भू-राजस्व के रूप में प्रति वर्ष लगभग ४ करोड़ रुपये की राशि (राज्य के कुल राजस्व का पंचमांश) एकत्रित की जाती है। इस राशि में कृषि-भूमि पर लगाई गई लगान की राशि का ही अधिकांश योग होता है। मध्यप्रान्त बन्दोबस्त अधिनियम, १९२९, और बरार भू-राजस्व संहिता, १९२८, के अंतर्गत् बन्दोबस्त के समय भू-राजस्व का निर्धारण किया जाता है। राजस्व अधिकारी भू-राजस्व का संकलन करते हैं। राज्य में अकाल या सूखा पड़ने अथवा अन्य किसी कारण से फसलों के बिगड़ जाने पर सरकार एक सुनिश्चित अनुपात में किसानों को भू-राजस्व पर छूट दे देती है अथवा उसका निलम्बन (Suspension) कर देती है। उदाहरणार्थ, सन् १९५४ में राज्य के किसानों को भू-राजस्व में १.१५ लाख रुपये की छूट दी गई और ५.५७ लाख रुपये की भू-राजस्व राशि निलम्बित कर दी गई।

भू-धारण व्यवस्था

राज्य के भू-धारियों को स्थूल रूप से निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जा सकता है :—

(अ) ऐसे कृषक जिन्हें भू-स्वामित्व और भू-स्थानान्तरण संबंधी समस्त अधिकार प्राप्त हैं. इस श्रेणी में क्षेत्र-भूस्वामित्वाधिकारी (Plot Proprietors) आते हैं,

(ब) ऐसे कृषक जिन्हें भू-स्वामित्व के समस्त किन्तु भू-स्थानान्तरण के सीमित अधिकार प्राप्त हैं। इस श्रेणी में अधिकांशतः भूतपूर्व मध्यप्रांत के मौरूसी काश्तकार आते हैं, और

(स) उप-काश्तकार और पट्टेदार।

प्रथम श्रेणी के अंतर्गत् अधिकांशतः बरार के कृषक आते हैं। मालगुजारी उन्मूलन के बाद अब भूतपूर्व मध्यप्रान्त और देशी रियासतों के भू-स्वामियों को निज-जोत की भूमि पर मालिक-मकबूजा अधिकार प्राप्त हो गये हैं। अतः ये भी प्रथम श्रेणी के भू-धारियों में गिने जाते हैं। दूसरी श्रेणी के कृषक मौरूसी काश्तकार, रैयत और काश्तकार कहलाते हैं, जिन्हें अपनी जमीनों पर पैतृक अधिकारों के साथ उनमें सुधार करने के अधिकार भी प्राप्त होते हैं। इन कृषकों को निश्चित नजराना देने पर प्रथम श्रेणी के भू-धारणाधिकार भी प्राप्त हो सकते हैं।

वार्षिक पट्टेदारी और उप-काश्तकारी (शिकमी) प्रथा भूतपूर्व मध्यप्रान्त और विलीनीकृत रियासतों में अधिक प्रचलित नहीं है। साथ ही, यहां कानून द्वारा इस प्रथा पर नियंत्रण लगा दिया गया है। कानून के अनुसार यदि काश्तकार या मालिक मकबूजा हकदार लगातार १० वर्षों में ७ वर्ष तक अपनी भूमि को पट्टे पर देते रहें तो उप-काश्त-

कार को एक राजस्वाधिकारी द्वारा मौरूसी काश्तकार घोषित किया जा सकता है ? और तब वह राज्य का काश्तकार बन जाता है। मालिक-मकबूजा हकदार का मौरूसी काश्तकार यद्यपि मालिक-मकबूजा हकदार का ही काश्तकार रहता है, किन्तु ऐसी भूमि पर उसको लगान का १२ गुना नजराना चुका देने पर उसे अपने मालिक मकबूजा हकदार के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। पहिले बरार में भी शिकमी प्रथा (subletting) काफी प्रचलित थी। किन्तु 'बरार दोमाला ग्राम काश्तकारी कानून संशोधन अधिनियम, १९५०', के अंतर्गत् दोमाला ग्रामों के पट्टेदारों और अस्थायी काश्तकारों को स्थायी काश्तकार घोषित कर इस प्रथा पर नियंत्रण लगा दिया गया। इसी तरह बरार काश्तकारी नियमन अधिनियम, १९५१, के पारित होने से भी इस प्रथा पर काफी नियंत्रण लग गया है।

भूमि-सुधार

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही राज्य सरकार का ध्यान इस प्रदेश की भू-धारण व्यवस्था में वान्छित सुधार करने की ओर केन्द्रित हुआ। ब्रिटिश शासन काल से चली आ रही मालगुजारी व जमींदारी प्रथा बहुत दोषपूर्ण हो गई थी। सरकार व कृषकों में प्रत्यक्ष संबंध न होने से और राज्य की भू-धारण एवं भू-राजस्व व्यवस्था में मध्यस्थों का महत्वपूर्ण स्थान रहने से कृषक-वर्ग का काफी आर्थिक शोषण होता रहा। इसके अतिरिक्त भू-धारण व्यवस्था में भी अनेक दोष हो गये थे। अतः कृषकों की स्थिति और भू-धारण व्यवस्था में उचित सुधार करने के लिये राज्य सरकार ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है—

मालगुजारी व जमींदारी प्रथा का उन्मूलन

मालगुजारी व जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने के लिये सबसे पहिले सितम्बर १९४६ में एक प्रस्ताव पारित किया गया था ; किन्तु विधान सभा में वह अक्टूबर १९४९ में ही विधेयक के रूप में आ सका। तत्पश्चात् ५ अप्रैल, १९५० को यह विधेयक 'मध्यप्रदेश स्वामित्वाधिकार (इलाके, महाल, दुमाला जमीनें) उन्मूलन अधिनियम, १९५०, के नाम से पारित किया गया। इस अधिनियम के लागू होने पर राज्य के ४३,००० ग्रामों से मालगुजारों, जमींदारों, जागीरदारों और माफीदारों के सम्पूर्ण स्वामित्वाधिकार समाप्त हो गये और अब सरकार और कृषकों के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया है।

उक्त अधिनियम के अंतर्गत मालगुजारों और जमींदारों की निज जोत, निज घर और उससे संलग्न भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी जमीनें, वन, झाड़, तालाब, कुएं, पोखर (निजी तालाब, कुएं अथवा पोखर छोड़कर), मत्स्य, जलधारा, नौकायन, फर्राडिया, ग्राम-क्षेत्र, हाट-बाजार और खनिज पदार्थ आदि, जिनपर पहिले मध्यस्थों का अधिकार था, सरकारी हो गये हैं। भूतपूर्व स्वामी अपनी निज-जोत की भूमि को क्षेत्र-स्वामित्वाधिकार के अंतर्गत रख सकते हैं। इसी तरह काश्तकार भी निश्चित नजराना देकर अपनी जमीनों पर क्षेत्र स्वामित्वाधिकार (Plot Proprietory Rights) प्राप्त कर सकते हैं।

भूतपूर्व स्वामियों या मध्यस्थों को उनके अधिकारों के उपलक्ष में मुआविजा दिया जा रहा है। छोटे छोटे स्वामियों को मुआविजे के अतिरिक्त पुनर्वास अनुदान (Rehabilitation grant) भी दिया गया है। इस प्रकार मुआविजे तथा पुनर्वास अनुदान की कुल राशि लगभग ५ करोड़ रुपये होती है, जिसमें से पुनर्वास अनुदान का शोधन तत्काल कर दिया गया। मुआविजे की राशि भी सभी स्वामियों को अधिकतम ८ किश्तों में चुका दी जाएगी। अबतक ३ करोड़ रुपये से अधिक मुआविजा चुका दिया गया है।

निस्तार समस्याएं और उनका निराकरण

मालगुजारी व जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से जनता के सभी निस्तार संबंधी साधन (वन, चरोखर भूमि, तालाब, आदि) सरकारी हो गये हैं। उदाहरणार्थ : लगभग १२७ लाख एकड़ वन-क्षेत्र जिससे जनता की इमारती व जलाऊ लकड़ी व चारे का निस्तार होता था ; २८,००० गांवों के सभी तालाब, जो पहिले जनता के निस्तार में आते थे और लगभग १२२ लाख एकड़ भूमि जिसमें आबादी, पहाड़ियां, सड़कें आदि स्थित हैं तथा जो जनता के निस्तारोपयोगी हैं, अब सभी सरकार के अधिकार में आ गये हैं। फलस्वरूप उक्त प्रथा के उन्मूलन के बाद जनता की निस्तार व चरोखर संबंधी अनेक समस्याएं खड़ी हो गईं। इनका निराकरण करने के लिये सरकार ने भू-सुधार विभाग खोला है, जिसके अंतर्गत अनेक निस्तार अधिकारी नियुक्त किये गये हैं। इन अधिकारियों ने अक्टूबर १९५४ तक १७,९०० ग्रामों की

निस्तार और चरोखर संबंधी समस्याओं की आंच पड़ताल समाप्त कर ली थी और ५,५७० ग्रामों में चराई और ५,००० ग्रामों में इमारती व जलाऊ लकड़ी के कटिबंध (Zones) निर्धारित कर दिये थे, ताकि जनता की उपरोक्त समस्याओं का समाधान हो सके।

खेतों की चकबंदी

हिन्दुओं और मुसलमानों की उत्तराधिकार प्रथा ने राज्य में खेतों के अपखन्डन और अन्तविभाजन की एक जटिल समस्या खड़ी कर दी है। इस प्रथा के फलस्वरूप खेतों के आकार बहुत ही छोटे हो गये हैं। निम्न तालिका से तत्संबंधी स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

खेतों का आकार (एकड़ों में)		कुल कृषि-भूमि की तुलना में खेतों के अंतर्गत प्रतिशत क्षेत्रफल
५ से नीचे	...	५१.४६
५—१०	...	१९.५४
१०—२०	...	१४.८२
२०—५०	...	१०.६९
५०—१००	...	२.५५
१००—५००	...	०.९३२७
५०० से ऊपर	...	०.००७३
योग	...	१००.००००

खेतों के आकार छोटे छोटे होने से न तो यांत्रिक खेती ही सम्भव है और न उत्कृष्ट कृषि पद्धतियां मितव्ययिता-पूर्वक अपनाई जा सकती हैं। इसी तरह प्रति एकड़ उत्पादन व्यय भी बढ़ जाता है। तात्पर्य यह कि कृषि-विकास के लिये ऐसे छोटे आकार वाले खेतों की चकबंदी बहुत आवश्यक है। इस ओर राज्य में सन् १९२८ में खेतों की चकबंदी संबंधी अधिनियम (Central Provinces Consolidation of Holdings Act, 1928) पारित कर सर्वप्रथम ठोस कदम उठाया गया। पहिले यह अधिनियम केवल छत्तीसगढ़ में ही लागू किया गया; किन्तु अब यह उन क्षेत्रों में भी लागू हो गया है जहां ट्रेक्टरों द्वारा भूमि जोती गई है। इस समय रायपुर, दुर्ग और सागर जिलों में चकबंदी का काम सफलतापूर्वक चल रहा है। इस अधिनियम के अंतर्गत अब तक लगभग २६ लाख एकड़ भूमि की चकबंदी हो चुकी है।

भूमि की सीमा निर्धारण

आजकल भू-सुधार के क्षेत्र में भूमि की सीमा निर्धारण एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया है। इस संबंध में योजना आयोग की सिफारिशों और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर सरकारी नीतियों के झुकाव से इस प्रश्न को और भी बल मिल गया है। अभी तक यहां एक व्यक्ति द्वारा रखी जाने वाली अधिकतम भूमि के सिलसिले में कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई है। किन्तु बरार में अवश्य बरार काश्तकारी नियमन अधिनियम के अंतर्गत परोक्षत: वैयक्तिक खेती के लिये अधिकतम ५० एकड़ तक भूमि रखने का प्रावधान है। इस प्रश्न की जटिलताओं का व्यापक अध्ययन करने और भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारण के सिलसिले में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिये राज्य सरकार ने एक भूमि सुधार समिति की स्थापना की है। आशा है कि यह समिति मई १९५६ तक अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकेगी।

भूमि संबंधी अधिनियमों का एकीकरण

इस प्रदेश में लगभग गत ५० वर्षों से भू-धारण संबंधी अनेक पद्धतियां प्रचलित रही हैं। सन् १९५० में राज्य में कुछ देशी रियासतों के विलीनीकरण से और भी नई भू-धारण पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु स्वामित्वाधिकारों के उन्मूलन के बाद राज्य की सभी जमीनें (कुछ अनुसूचित जमीनों को छोड़कर) सरकारी हो गई हैं। अत: यह आवश्यक हो गया कि इन विभिन्न पद्धतियों को एकीकृत किया जावे। इसी उद्देश्य से राज्य की विधान सभा में "भू-राजस्व

संहिता विधेयक, १९५३" (Land Revenue Code Bill, 1953) प्रस्तुत किया गया और वह गत वर्ष पारित भी हो गया है। वैसे तो विधेयक का मुख्य उद्देश्य भू-धारण संबंधी विभिन्न अधिनियमों का एकीकरण करना ही है, किन्तु उसमें भू-धारण, खेतों के वृक्षों, आबादी में मकान संबंधी जमीन के अधिकारों और बरार में पट्टाधारी अस्थायी काश्तकारों के अधिकारों जैसे भू-सुधार प्रश्नों का भी समावेश किया गया है।

भू-दान आन्दोलन

राज्य के भू-सुधार कार्यों में आचार्य विनोबा भावे द्वारा आरम्भ किये गये भू-दान आन्दोलन को भी प्रोत्साहन देने का प्रयास किया गया है। यहां एक भू-दान मंडल की स्थापना करने व आन्दोलन के अंतर्गत प्राप्त की गई भूमि को भूमिहीन व्यक्तियों में वितरित करने के कार्य को सुविधापूर्ण बनाने के लिये विधान सभा ने "मध्यप्रदेश भू-दान यज्ञ अधिनियम" पारित किया है। अधिनियमानुसार भू-दान मंडल की स्थापना हो चुकी है, जिसे राज्य सरकारने १९५४-५५ के वित्तीय वर्ष में ५०,००० रुपये का अनुदान भी दिया है।

कृषि-साख की पूर्ति

कृषकों की निर्धनता और उपरोक्त बहुमुखी कृषि-विकास योजनाओं की अनिवार्य आवश्यकता को देखते हुए राज्य के कृषकों को कृषि-कार्यों के समुचित सम्पादन के लिये पर्याप्त एवं सस्ती साख की पूर्ति की जाना जरूरी है। इस समय यहां कृषि साख की पूर्ति मुख्यतः राज्य-सरकार, सहकारी संस्थाओं, भूतपूर्व मालगुजारों व जमींदारों तथा ग्रामीण साहूकारों द्वारा की जाती है। इनमें से राज्य सरकार उपरोक्त कृषि कार्यक्रमों में दी जानेवाली वित्तीय सहायता के अतिरिक्त कृषकों को कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturists Loans Act) तथा भूमि-सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) के अन्तर्गत प्रतिवर्ष लाखों रुपये के दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती है।

इन अधिनियमों के अंतर्गत दिये जानेवाले दीर्घकालीन ऋणों के अतिरिक्त सरकार भू-राजस्व के निलम्बन (Suspension) व छूट (Remission) के रूप में और विभिन्न कष्ट-निवारण उपायों के अंतर्गत भी कृषकों को प्रतिवर्ष लाखों रुपये की तत्कालीन अथवा अल्पकालीन वित्तीय सहायता देती है। उदाहरणार्थ—सरकार ने सन् १९५४ में कृषकों को भू-राजस्व के निलम्बन व छूट के रूप में ३.७२ लाख रुपये तथा कष्ट-निवारण उपायों के अंतर्गत कुल ७.७५ लाख रुपये की आर्थिक सहायता दी।

इसी तरह सहकारी साख संस्थाएं* भूतपूर्व मालगुजार व ग्रामीण साहूकार भी कृषि-साख की पूर्ति में काफी हाथ बटाते हैं। इनमें से साहूकारों का योग विशेष महत्वपूर्ण है। किन्तु विभिन्न ऋण नियमन अधिनियमों के प्रादुर्भाव से और कुछ वर्षों से राज्य-सरकार व सहकारी साख संस्थाओं के इस क्षेत्र में अधिक प्रभाव बढ़ जाने से कृषि साख के इस स्रोत का महत्व क्रमशः घटता जा रहा है।

मध्यप्रदेश की वन-सम्पत्ति

ऋग्वेद द्वारा "वनस्पति शतवल्शो विरोह" का उद्घोष करनेवाले भारत भूमि-वासियों में वनों के महत्व की चेतनता प्रागैतिहासिक युग से ही पाई जाती है। पद्म-पुराण का "अपुत्र के लिये वृक्ष ही पुत्र हैं और एक वृक्ष सहस्र सुपुत्रों का कार्य करता है"—संदेश युगों से गूंजता आ रहा है। इस प्रकार वन सदा से हमारे राष्ट्रीय जीवन के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। अपनी बहुमुखी उपादेयता के कारण हमारी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उनसे प्रभावित है। एक ओर तो वे भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने तथा उसके कटाव को रोकने, फसलों के लिये अनुकूल जलवायु बनाने और वर्षा में सहायक होने के कारण "कृषि की पोषक माता" का रूप धारण करते हैं, और दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की उपयोगी वनोत्पत्ति की पूर्ति कर उनके उद्योगधन्धों को पनपने का विस्तृत क्षेत्र प्रदान करते हैं। ईंधन, लकड़ी व घास आदि दैनिक जीवनोपयोगी वस्तुओं की पूर्ति कर तो वे जन-जीवन व पशु-जीवन दोनों के ही अविभाज्य अंग बन गये हैं।

प्रकृति ने मध्यप्रदेश को भी इस अमूल्य सम्पत्ति से सम्पन्न बनाया है। सम्पूर्ण राज्य का लगभग ४८ प्रतिशत भू-भाग वनों से भरा है। अनुमानतः वर्ष १९५४ में मध्यप्रदेश में लगभग ६२ हजार वर्गमील का क्षेत्र वनाच्छादित

*इनका विशेष वर्णन अन्यत्र किया गया है।

था। सम्पूर्ण देश के वनों के बटवारे पर औसतन प्रत्येक व्यक्ति को जब कि ०.८ एकड़ वन-भाग मिलेगा तब यदि मध्यप्रदेश के वन क्षेत्र को केवल मध्यप्रदेश की ही आबादी में बांटा जावे तो प्रत्येक व्यक्ति को २ एकड़ वन-भाग मिलेगा। अतः स्पष्ट है कि मध्यप्रदेश वन-सम्पत्ति में धनी है। वर्ष १९५१ में की गई गणना के अनुसार मध्यप्रदेश के विभिन्न जिलों में निम्नानुसार वन-क्षेत्र पाये जाते हैं:—

जिला	कुल वन-भूमि (एकड़ों में)	जिला	कुल वन-भूमि (एकड़ों में)
(१)	(२)	(१)	(२)
१. सागर	१९,३६,०८६	१४. रायपुर	२४,९४,८२१
२. जबलपुर	६,९२,८८६	१५. बिलासपुर	२५,०४,३६४
३. मंडला	१६,१९,८९९	१६. अकोला	३,२८,८२४
४. होशंगाबाद	१५,१५,८१५	१७. अमरावती	१०,५५,५०९
५. निमाड़	१३,२८,२८२	१८. बुलडाना	३,८४,९७२
६. बैतूल	११,३०,१२३	१९. यवतमाल	९,३३,२४०
७. छिंदवाड़ा	२२,६८,६२७	२०. बस्तर	७६,२८,८९४
८. वर्धा	२,२१,५८०	२१. रायगढ़	१०,०४,४६८
९. नागपुर	६,२६,९९३	२२. सरगुजा	२९,४५,७००
१०. चांदा	४२,६५,९४२		
११. भंडारा	१०,०४,४८६	योग ...	३,९९,७६,१७८
१२. बालाघाट	११,२६,४११	अथवा	६२,४४१ वर्गमील।
१३. दुर्ग	१५,४५,२५८		

इस प्रदेश का समस्त वन क्षेत्र निम्नलिखित भागों में विभाजित है :—

(अ) सरकारी सुरक्षित वन,

(ब) असुरक्षित किन्तु राज्य सरकार के नियंत्रण में रहनेवाले वन,

(स) सरकारी स्वामित्व वाले ग्रामों के वन, और

(ड) भूतपूर्व मालगुजारों के स्वामित्व वाले ग्रामों के वन (जो कि अब राज्य सरकार ने अपने अधिकार में ले लिये हैं)।

इस वर्गीकरण के अनुसार राज्य की कुल वन-भूमि निम्न प्रकार है :—

वन	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)
(१)	(२)
(अ) सरकारी सुरक्षित वन	३२,३३६
(ब) सरकारी असुरक्षित वन (जो कि राज्य सरकार के नियंत्रण में हैं) ...	८,१८५
(स) सरकारी स्वामित्व के ग्रामों के वन	१,३८३
(ड) भूतपूर्व मालगुजारों के स्वामित्व के ग्रामों के वन	२०,५३७
कुल क्षेत्र वर्ग मील ...	६२,४४१

इन वनों से सरकार को होने वाली आय पिछले ५ वर्षों में लगभग ३॥ करोड़ रुपये रही है तथा भविष्य में भी उसे करोड़ रुपयों तक राजस्व प्राप्त होते रहने की आशा है।

वनोत्पत्ति

जहां तक वनोत्पत्ति का प्रश्न है राज्य में मिश्रित वनों, सागौन के वनों, साल के वनों व बांस के वनों के विस्तृत क्षेत्र हैं। इनसे प्राप्त होने वाली वनोत्पत्ति में इमारती लकडी, जलाऊ लकडी व अनेक प्रकार की गौण उपजें शामिल हैं। इमारती लकडी में सागौन, साज, सेमल, बीजा, हल्दुआ, तिन्सा, शीशम, सलई आदि किस्म की लकडी बहुतायत से पाई जाती है। सागौन की मूल्यवान लकडी जबलपुर, होशंगाबाद, सागर, बैतूल, छिंदवाडा, सिवनी, वर्धा, नागपुर, अमरावती, चांदा, यवतमाल और पश्चिमी बरार के वन-क्षेत्रों में काफी मात्रा में होती है। मंडला, बालाघाट, रायपुर, बिलासपुर, बस्तर और कांकेर के वनों में भी सागौन अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्य है। इन में से बोरी (होशंगाबाद) और अलापिली (चांदा) के वनों का सागौन अपनी उत्तम किस्म के लिये प्रसिद्ध है। साल लकडी के लिये बालाघाट, मंडला, बिलासपुर, दक्षिणी रायपुर, रायगढ एवं बस्तर के वन-क्षेत्र उल्लेखनीय हैं। दूसरी किस्मों की लकडी भी राज्य के मिश्रित वनों में विपुल मात्रा में पाई जाती है। इसी तरह जलाऊ लकडी सभी वनों में पाई जाती है।

इमारती एवं जलाऊ लकडी के अलावा राज्य के वनों से गौण वनोपजें भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। इनका मूल्य वर्ष १९५२-५३ में अनुमानतः लगभग १,१०,१७,००० रुपये था। गौण वनोपजों में मुख्य रूप से बांस, लाख, हर्रा, पशु-घास, अन्य घास, गोंद, खनिज पदार्थ, तेंदू के पत्ते और जडी-बूटियां शामिल हैं।

वनोत्पत्ति का औद्योगिक उपयोग

यह गौण वनोत्पत्ति उद्योगधन्धों के लिये अत्यंत उपयोगी होती है; बल्कि यूं कहा जाय कि कुछ उद्योग तो इन वनोपजों पर ही आधारित है तो अतिशयोक्ति न होगी। वनोत्पत्ति पर आधारित उद्योगधन्धे स्थूल रूप से तीन प्रकार के होते हैं—(अ) रासायनिक उद्योग—जिनमें कागज उद्योग, कोयला उद्योग, चमडा पकाने का उद्योग, लाख व चपडे के सामान बनाने का उद्योग, तेल व महुआ की शराब बनाने का उद्योग, वार्निश व कत्था बनाने का उद्योग, आदि शामिल हैं; (ब) यांत्रिक उद्योग—इनमें आरा मशीन के कारखाने, सेमल, शीशम और सागौन से प्लाईवुड बनाना, माचिस बनाना, हैंडिल व खिलौने आदि बनाना, फर्नीचर व कृषि औजार बनाना तथा टोकनियां व चटाइयां आदि बनाना शामिल है, और (स) औषधि निर्माण सम्बन्धी उद्योग—जिसके अन्तर्गत करंजी व आंवला आदि का तेल बनाना, त्रिफला बनाना व जंगली जडी-बूटियों से आयुर्वेदिक औषधियां बनाना शामिल है।

(अ) **रासायनिक उद्योग**.—रासायनिक उद्योगों की श्रेणी में कागज उद्योग * विशेष उल्लेखनीय है। इस उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल (बांस, सलाई व सबई घास आदि) की पूर्ति में यह राज्य सर्वाधिक सम्पन्न है। ईंधन व शक्ति के लिये यहां कोयला व विद्युत्-शक्ति की सुविधाएं भी प्राप्य हैं। इस दिशा में राज्य की साधन-सम्पन्नता को दृष्टि में रखते हुए ही भारत में सर्वप्रथम अखबारी कागज के उत्पादनार्थ नेपा मिल (निमाड जिला) और अन्य तरह के कागज के उत्पादन हेतु बल्लारपुर पेपर एन्ड स्ट्रा मिल (चांदा जिला) की स्थापना की गई।

कोयला उद्योग.—कागज उद्योग के पश्चात् वनोत्पत्ति पर आधारित उद्योगों में दूसरा स्थान कोयला उद्योग को प्राप्त है। राज्य के सुरक्षित वनों द्वारा प्राप्त कडी लकडी (जो इमारती कामों के लिये अनुपयोगी होती है) द्वारा विपुल मात्रा में कोयला बनाया जाता है। इससे राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तो होती है, किन्तु उसका अधिकांश भाग अन्य राज्यों को निर्यात कर दिया जाता है। इस समय कोयले का उत्पादन "खुली हवा पद्धति" द्वारा होता है। किन्तु वह अधिक दोषपूर्ण होने से कोयले का बहुत कुछ भाग अनुपयोगी हो जाता है। अतः कोयला उत्पादन की वैज्ञानिक एवं उत्कृष्ट पद्धति अपनाई जाना आवश्यक है।

चमडा पकाने का उद्योग.—कच्चा चमडा पकाने के आवश्यक पदार्थ इस राज्य में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। ऐसे पदार्थों में हर्रा सबसे महत्वपूर्ण है, जिसका न केवल आंतरिक व्यापार में बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बडा मान है। हर्रा के अतिरिक्त बबूल, कच्छ की छाल, धावडा के पत्ते आदि उपयोगी चीजें यहां काफी पाई जाती हैं। किन्तु अभी यह उद्योग असंगठित और हीन हालत में होने से इन पदार्थों का उपयोग राज्य में ही न होकर उनका अधिकांश भाग बाहर भेज दिया जाता है।

---

*इसका विशेष वर्णन अन्यत्र किया गया है।

लाख व चमड़े का सामान बनाना.—सम्पूर्ण देश में लाख व चपड़े के उत्पादन की दृष्टि से मध्यप्रदेश का आंशिक रूप से एकाधिकार है। लाख मुख्यतः घोंट, पलास और कुसुम नामक जंगली वृक्षों से जो क्रमशः दमोह, गोंदिया और धमतरी में अधिकांशतः पाये जाते हैं, काफी मात्रा में एकत्रित की जाती है। गोंदिया, धमतरी और रायगढ़ के लाख व चमड़े के कारखानों में उससे चमड़ा तैयार किया जाता है जिसका अधिकांश भाग कलकत्ता द्वारा अमरीका आदि देशों को निर्यात कर दिया जाता है। कुछ लाख का उपयोग चूड़ियां व अन्य वस्तुएं तैयार करने में भी किया जाता है। यह उद्योग डालर-अर्जक होने से उसका अधिक विस्तार किया जाना वान्छनीय है।

इस श्रेणी के अंतर्गत आने वाले उद्योगों में रूसा आदि तेल और कत्था तैयार करने जैसे उद्योग भी उल्लेखनीय हैं। रूसा द्वारा सुगंधित तेल तैयार करने का कुटीर उद्योग अमरावती, निमाड़, बैतूल और पश्चिमी बरार में, जहां रूसा घास बहुतायत से पाई जाती है, असंगठित अवस्था में पाया जाता है। परन्तु अधिकांश कच्चा माल इन स्थानों से निर्यात कर दिया जाता है। रूसा घास के अतिरिक्त इस राज्य के वनों में खस, लव्हेन्डर, केवड़ा आदि उपयोगी वनोपजें भी प्राप्य हैं, जिनका औद्योगिक उपयोग काफी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। खैर की लकड़ी से कत्था बनाने का उद्योग भी आर्थिक दृष्टि से राज्य का काफी लाभदायक उद्योग है। यह उद्योग सागर, होशंगाबाद और जबलपुर जिलों में केन्द्रित है। इन उद्योगों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के वार्निश व रंग बनाने तथा महुए से शराब उतारने के कुटीर उद्योग भी इस राज्य में असंगठित अवस्था में पाये जाते हैं।

(ब) यांत्रिक उद्योग.—वनोत्पत्ति पर आधारित यांत्रिक उद्योगों में आरा-मशीनों द्वारा लकड़ी चीरने व लकड़ी के विभिन्न सामान तैयार करने का उद्योग राज्य का सबसे महत्वपूर्ण उद्योग है। राज्य में इमारती लकड़ी की अपरिमित पूर्ति के कारण यह उद्योग नागपुर और जबलपुर जैसे औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्रों में काफी विकसित हो गया है। इसके अतिरिक्त सेमल, शीशम और सागौन से प्लाईवुड बनाने का उद्योग भी उल्लेखनीय है। किन्तु आवश्यक मशीनरी एवं साधनों के अभाव में उसका अभी अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। इसी तरह सेमल की लकड़ी से माचिस बनाने व विभिन्न प्रकार के खिलौने तैयार करने, बांस से टोकनियां व चटाइयां आदि बनाने और कृषि के औजार तैयार करने के कुटीर उद्योग राज्य के हजारों विकेन्द्रित ग्रामों में पाये जाते हैं।

(स) औषधि निर्माण सम्बन्धी उद्योग.—राज्य के विशाल वनों से हर्रा, बहेरा, आंवला और करंजी सदृश औषधोपयोगी अनेक वनोपजें और जड़ी-बूटियां अपरिमित मात्रा में प्राप्य हैं, जिनसे अनेक बहुमूल्य आयुर्वेदिक औषधियां तैयार की जा सकती हैं। किन्तु अभी तक इस उद्योग का वान्छनीय विकास नहीं हो पाया है। हर्ष की बात है कि राज्य सरकार ने इस उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये रायपुर में एक आयुर्वेदिक विद्यालय खोला है और उससे संलग्न एक आयुर्वेदिक-रसशाला की स्थापना करने पर भी विचार कर रही है जो औषधोपयोगी वनोपजों से आयुर्वेदिक औषधियां तैयार करने के सिलसिले में अनुसंधान करेगी।

राज्य के उपरोक्त उद्योगधन्धों की वर्तमान स्थिति फिलहाल उतनी संतोषजनक नहीं है जितनी कि होना चाहिये अथवा हो सकती है। यहां अमूल्य वनोत्पत्ति प्रचुर मात्रा में होते हुए भी उसका वान्छनीय औद्योगिक उपयोग नहीं हो पाया है।

वन-विकास योजनाएं

मध्यप्रदेश सरकार भी वन-विकास के लिये जागरूक है। उसने मालगुजारों व जमींदारों के स्वामित्व से वनों को अपने अधिकार में करने, वन्य-जीवन के रक्षार्थ उचित विधेयक बनाने और वन-विकास की बहुमुखी योजनाएं कार्यान्वित करने की ओर कदम बढ़ाया। इनमें से वन-विकास योजनाएं विशेष महत्त्व रखती हैं। इन योजनाओं का कार्य त्रिमुखी कहा जा सकता है—प्रथम-प्रशासनिक, द्वितीय-शैक्षणिक एवं प्रशैक्षणिक, एवं तृतीय-वन-विकास सम्बन्धी।

वन-विकास की योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित ४ योजनायें क्रियान्वित की जा रही हैं:—

(अ) वर्किंग प्लान सर्किलों की स्थापना,

(ब) चालू कामों को पूरा करना,

(स) वन-मार्गों और पुलों का निर्माण, और

(द) आदर्श वन-ग्रामों की स्थापना।

वर्किंग प्लान सर्किलों की स्थापना.—निश्चय किया गया है कि योजना काल में १५ वर्किंग प्लान सर्किल स्थापित किये जावेंगे। वर्ष १९५०-५१ में ७ वर्किंग प्लान सर्किलों का सर्वेक्षण पूर्ण हो चुका था तथा ६ प्लानों का सर्वेक्षण जारी था। योजना अवधि में स्थापित किये जानेवाले १५ वर्किंग प्लानों का सर्वेक्षणकार्य भी जारी है।

चालू कामों को पूरा करने की योजना.—युद्धकाल में युद्ध सामग्री की पूर्ति के कारण हमारे वन काफी उपेक्षित रहे तथा उनकी आवश्यकता से अधिक क्षति हुई। निजी जंगलों के स्वामियों ने भी उनका बुरी तरह उपयोग किया। क्षतिग्रस्त वनों की स्थिति सुधारने के उद्देश्य से प्रथम पंचवर्षीय योजना में २८०,००० एकड़ वनों को सुधारने का लक्ष्य निर्धारित किया है। वर्ष १९५१ से १९५३ तक ६२,५८३ एकड़ जंगलों के सुधार का कार्य पूर्ण हो चुका था। इस अवधि में कार्य की अपेक्षित प्रगति न हो सकने का मुख्य कारण प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव रहा है। चूंकि अब प्रशिक्षण कार्य तेजी पर है, अतः आशा की जाती है कि यह कार्य भविष्य में तीव्रगति से सम्पन्न किया जा सकेगा।

वन-मार्गों एवं पुलों का निर्माण.—राज्य के वन-क्षेत्रों में अच्छे मार्गों का न होना भी वन-विकास के लिये एक बडी रुकावट है। राज्य सरकार ने इस रुकावट को दूर करने के लिये वर्ष १९५६ तक २०० मील की सड़कों का निर्माण करने का निश्चय किया है। इस कार्य में वान्छनीय प्रगति हो रही है।

आदर्श वन-ग्रामों की स्थापना.—राज्य में १,१३२ वनग्राम हैं जिनकी आबादी १२०,७१६ है। इनमें से मुख्य-मुख्य ग्रामों में निम्नलिखित सुधार किये गये हैं:—

(अ) हस्तकला कौशल व प्राथमिक शिक्षण हेतु शालाओं की स्थापना करना,
(ब) मलेरिया निरोधक कार्यवाहियों का प्रबंध करना,
(स) बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना करना,
(ड) मनोरंजन के साधन जुटाना एवं
(इ) साप्ताहिक बाजार भराने की व्यवस्था करना।

इसके अतिरिक्त इन ग्रामों में समुचित जल-पूर्ति के लिये भी विशेष कार्य किये जा रहे हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वन—राष्ट्र की बहुमूल्य प्राकृतिक सम्पत्ति वनों से अधिकतम लाभ लेने के उद्देश्य से आशा की जाती है कि आगामी पंचवर्षीय योजना में वनों के विकास पर काफी व्यय किया जावेगा। संभावना है कि आगामी योजना में वन-विकास के लिये २० करोड़ रुपयों का प्रावधान किया जावेगा।

मध्यप्रदेश में पशुधन

सन् १९५१ की पशु-गणना के अनुसार देश की कुल २,९२२.२ लाख पशु-संख्या में से मध्यप्रदेश की कुल पशु-संख्या १७४.५८ लाख थी। किन्तु सन् १९५२-५३ में यह संख्या बढ़कर १९१.५९ लाख हो गई। देश के 'अ' और 'ब' वर्गीय राज्यों की गोधन-संख्या संबंधी तुलना में इस राज्य का चौथा स्थान (१४८.५९ लाख) आता है; जबकि उत्तरप्रदेश (२३५.१३ लाख), अविभाजित मद्रास (१५२.९७ लाख) और बिहार (१५२.९७ लाख) क्रमशः पहला, दूसरा तथा तीसरा स्थान प्राप्त करते हैं। विभिन्न वर्षों में मध्यप्रदेश की पशु-संख्या संबंधी स्थिति निम्नप्रकार थी*:—

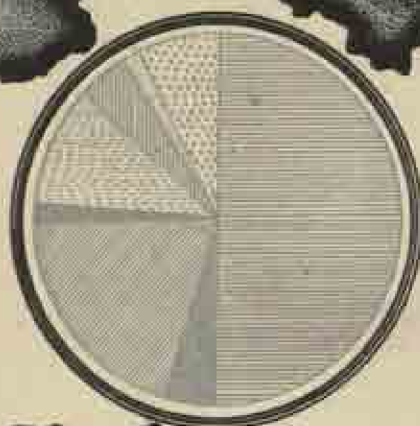
(संख्या हजारों में)

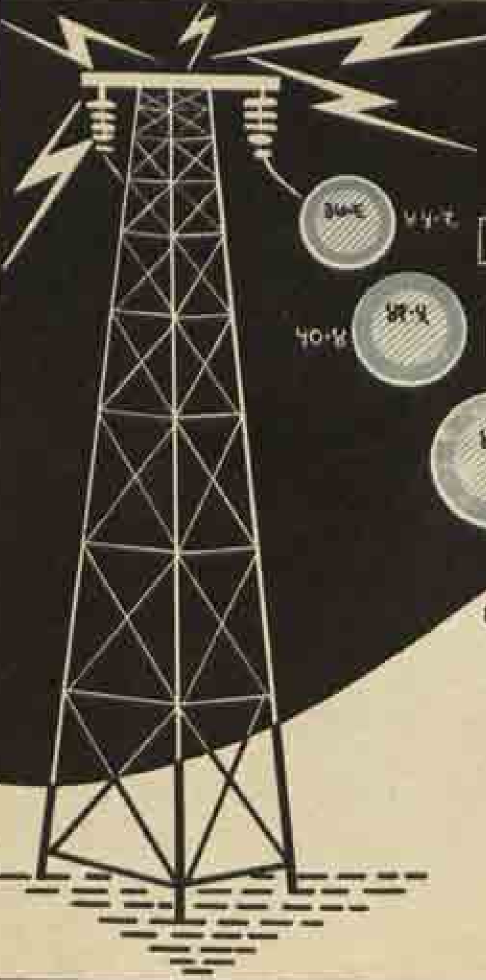
वर्ष		गोधन	भैंस	भेड़	बकरे व बकरियां	अन्य पशु	कुल पशुधन
(१)		(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
१९४६-४७	…	१०,५५३.०	१,८९६.७	२६४.४	१,४९२.१	११७.७	१४,३२३.९
१९४८-४९	…	१३,३८९.४	२,३९२.४	३०२.६	१,९७२.७	†१४२.७	१८,१९९.८
१९५०-५१	…	१४,८५८.३	२,५९९.८	३३०.४	२,३००.४	४३१.६	२०,५२०.५
१९५२-५३	…	१३,९८१.३	२,३८७.७	३४२.५	२,११४.४	३३३.५	१९,१५९.४

*प्राप्ति स्थान—भू-अभिलेख विभाग, मध्यप्रदेश शासन।
†इन अंकों में सुअरों की संख्या सम्मिलित नहीं है।


जनसंख्या
जनगणना १९५१
(जनसंख्या लाखों में)
सागर
जबलपुर
मंडला
सरगुजा
होशंगाबाद
छिंदवाड़ा
बिलासपुर
रायगढ़
निमाड़
बैतूल
बालाघाट
दुर्ग
नागपुर
भंडारा
अमरावती
रायपुर
वर्धा
बुलढाना
अकोला
यवतमाल
चांदा
बस्तर
संकेत
प्रत्येक बिन्दु = १ लाख जन-संख्या
कृषि जन-संख्या
गैर कृषि जन-संख्या

उप-जीविका के अनुसार जनसंख्या
(जनगणना १९५१)





विद्युत्-शक्ति का उत्पादन तथा उपभोग
(१० लाख किलोवाट आवर्स में)
उत्पादन
उपभोग
१९४७
५०.४
१९४८
१९४९
५८.०
१९५०
५२.९
६४.३
१९५१
८१.३
१९५२
७८.३
११९.३
१९५३
११२.९
१४५.२

औद्योगिक-उत्पादन

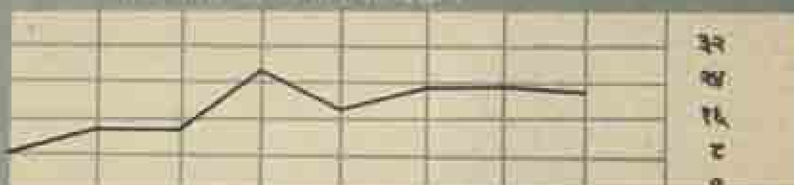
सूती कपड़े का उद्योग



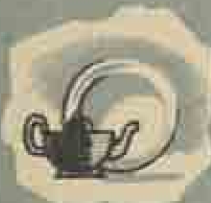


कांच





मृच्छिल्प उद्योग





सामान्य



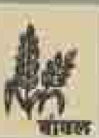


रंग तथा वार्निश उद्योग





आर्थिक प्रगति के सूचक















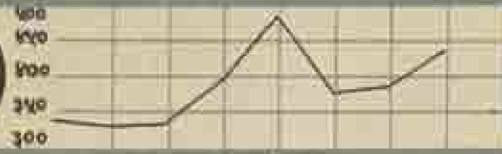






आर्थिक प्रगति के सूचक

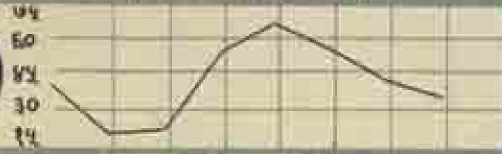
निर्यात (कोयला) (लाख टनों में)

(मैंगनीज)




(इमारती व अन्य लकड़ी)

आयात (शक्कर)




(लोहे का सामान)



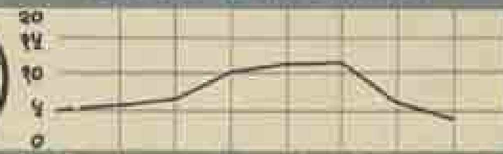

आय-व्ययक-स्थिति (करोड़ रुपयों में)




सेवायोजनालय (हजारों में)




दिलाई गई नौकरियों की संख्या

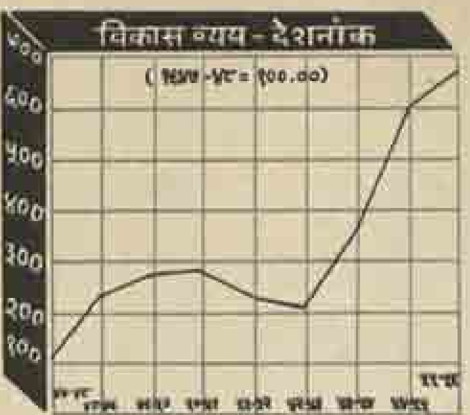
मिलों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या (हजारों में)




प्रति-व्यक्ति विद्युत-उपभोग (किलोवाट आवर में)




मध्यप्रदेश की
आयव्ययक - स्थिति



भारतीय अर्थ-व्यवस्था में मध्यप्रदेश

क्षेत्रफल



कपास-उत्पादन



वनाच्छादित क्षेत्र



गेहूँ-उत्पादन



कच्चे मेंगनीज का उत्पादन





कच्चे लोहे के संचय

अपनी बहुमुखी उपयोगिता के कारण इन पशुओं ने राज्य की अर्थ-व्यवस्था में गहरा स्थान प्राप्त कर लिया है। कृषि और आवागमन कार्यों में बैलों से लिये जानेवाले काम के अतिरिक्त राज्य को अन्य पशुओं से प्राप्त पदार्थों से भी काफी आर्थिक लाभ प्राप्त होता है। पशुधन से प्राप्त होनेवाले पदार्थों में दूध, घी, मक्खन, खोवा, छाना, हड्डियां सींग, खुर, चमड़ा, त्वचा व हड्डियों की खाद प्रमुख हैं। सन् १९५१ की पशु-गणना के अनुसार राज्य में पशुधन से प्राप्त होनेवाले पशु-पदार्थों का मूल्य २१,४५,६४,००० रुपये आंका गया है।

पशुधन से प्राप्त होनेवाले पदार्थों की मात्रा व उनका मूल्य

पशु-पदार्थ	मात्रा	मूल्य (लाख रुपयों में)
(१)	(२)	(३)
दूध—जिसका द्रवरूप में उपयोग किया जाता है	४,६१८.० हजार मन	९२३.६०
घी	३६९.० हजार मन	७३८.००
मक्खन	७७.० हजार मन	११५.५०
खोवा	२७.० हजार मन	२१.६०
छाना	३.५ हजार मन	२.१०
दही	३.३ हजार मन	०.३३
अन्य दूध संबंधी उत्पत्ति	११.४ हजार मन	२.२८
मांस	१४,४४८ टन	१४४.४८
हड्डियां	७,२०० टन	१.४४
ऊन	४,०१,८४० पौंड	५.५३
सींग और खुर	२६,६२० मन	२.६६
चमड़ा (बैल व भैंस)	२४,२३,६०० मन	१५२.२९
त्वचा	११,९४,३०० टुकड़े	३५.८३
	योग ...	२,१४५.६४

उपरोक्त पशु-पदार्थ अनेक लघु-प्रमाप व वृहत-प्रमाप उद्योगों की स्थापना व उनके विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, राज्य में चमड़ा पकाने व चमड़े के सामान बनाने का उद्योग और उर्वरक उद्योग बड़े पैमाने पर स्थापित किया जा सकता है। इसी तरह सींग, खुर, चमड़ा, ऊन, आदि से विभिन्न उपभोग्य पदार्थ बनाने वाले अनेक लघु-प्रमाप व कुटीर-उद्योग पनप सकते हैं। इस समय यहां चमड़े (चमड़ा पकाना व चमड़े का सामान बनाना) और ऊन (कताई व बुनाई) के कुटीर-उद्योगों का ही विशेष स्थान है, जिनके उपक्रमों की संख्या सन् १९५१ में क्रमशः ७०९ और २,९४४ थी।* फिर भी हम इन पदार्थों का अपेक्षित औद्योगिक उपयोग नहीं कर पाये हैं। आशा है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उनका वांछनीय उपयोग किया जाएगा, जिससे हजारों व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा और राज्य को लाखों रुपयों की आमदनी हो सकेगी।

पशु-संवर्धन व पशु-चिकित्सा।—उपर्युक्त विवरण से राज्य की अर्थ-व्यवस्था में पशुओं का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी स्थिति काफी दयनीय रही है। मालवी, निमाड़ी, उमरेथा और मालवी आदि कुछ जातियों के ढोरों के अतिरिक्त राज्य के अन्य ढोरों की हालत संतोषजनक नहीं है। समुचित चिकित्सा-व्यवस्था व

*प्राप्ति स्थान—जनगणना, १९५१.

खुराक के अभाव में वे दुर्बल और रोगग्रस्त होते हैं। उनकी उपेक्षित एवं दयनीय स्थिति के कारण उनसे प्राप्त होने वाले पदार्थों की मात्रा भी अपेक्षाकृत कम रहती है और इस तरह राज्य में उपलब्ध पशुओं से हम उतना लाभ नहीं उठा पाते हैं जितना कि लाभ मिल सकता है अथवा मिलना चाहिये।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार व राज्य सरकार ने पशुओं की दशा सुधारने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण योजनाएं बनाई हैं; जिन्हें क्रियान्वित किया जा चुका है, किया जा रहा है अथवा किया जावेगा। इन योजनाओं में जो अधिकांशतः प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत आती हैं, पशुओं की नस्ल सुधारने एवं पशु-चिकित्सा, पशु-चिकित्सा शिक्षा व प्रशिक्षण आदि की सुविधाएं प्रदान करने पर विशेष जोर दिया गया है। स्पर्शजन्य रोगों पर नियंत्रण करने की दिशा में भी काफी प्रयत्न किये जा रहे हैं। इसी तरह दुग्ध-उत्पादन बढ़ाने व दुग्ध पूर्ति की समुचित व्यवस्था करने के लिये भी राज्य सरकार प्रयत्नशील है।

पशुओं की नस्ल सुधारने की दिशा में राज्य में अनेक आदर्श-ग्राम केन्द्रों (Key Village Centres) की स्थापना विशेष उल्लेखनीय है। ऐसे हरएक केन्द्र में लगभग १० गांव आते हैं जिनमें ६०० से ८०० तक गायें पाई जाती हैं। प्रत्येक आदर्श-ग्राम केन्द्र में अच्छी नस्ल के ६ से ८ तक प्रमाणित सांड रखे जाते हैं। राज्य सरकार इन केन्द्रों को आगे चलकर पशु-प्रजनन केन्द्रों में बदलना चाहती है, ताकि विभिन्न जातियों के सांड पर्याप्त संख्या में मिल सकें और सम्पूर्ण राज्य में नस्ल-सुधार का कार्य सम्पन्न किया जा सके। फिलहाल सरकार ने तेलनखेड़ी, बोड, गढ़ी, देवल, पथरिया और हेटीकुण्डी में ऐसे ६ पशु-प्रजनन केन्द्र (Cattle Breeding Centres) भी खोले हैं, जिनका प्रमुख उद्देश्य नस्ल-सुधार करना ही है। इन केन्द्रों में नस्ल-सुधार के अतिरिक्त दुग्ध-उत्पादन बढ़ाने के भी प्रयत्न किये जाते हैं।

पशु-नस्ल-सुधार के हेतु सरकार द्वारा कृत्रिम रेतन केन्द्रों (Artificial Insemination Centres) की स्थापना भी महत्त्वपूर्ण है। अब तक राज्य में ऐसे ४ केन्द्र खुल चुके हैं तथा वे सफल भी हुए हैं। इन केन्द्रों की सफलता का आभास तो हमें इससे मिल जाता है कि केवल नागपुर कृत्रिम रेतन केन्द्र में ही सन् १९५३ में ५३२ गायें व २१४ भैंसें फलाई गईं।

एकटेमिया, एन्थ्रेक्स, पशुमाता आदि स्पर्शजन्य रोगों से पशुओं को बचाने के लिये भी राज्य सरकार का पशु-चिकित्सा विभाग कार्यरत है। राज्य के पशुओं की चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य राज्यों से आनेवाले पशुओं के स्पर्शजन्य रोगों पर भी नियंत्रण रखने का प्रयास किया जाता है। इस कार्य के लिये राज्य की सीमाओं पर २३ क्वारेन्टाईन स्टेशनों की स्थापना की गई है, जहां वर्ष १९५४ में १३२,४११ पशुओं को टीके लगाये गये। क्षीणकाय एवं अलाभकारी पशुओं के लिये राज्य सरकार ने देवल (सागर) में एक गोसदन भी बनाया है। इसके अतिरिक्त अलाभकारी गायों को हत्या से बचाने के लिये राज्य में ५२ गौशालायें व पिंजरापोल कार्यरत हैं, जिनमें ५८,००० पशु रह रहे हैं। इन संस्थाओं द्वारा प्रतिवर्ष ३,६३,००० रुपया खर्च किया जाता है। इनके कार्यों को अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से राज्य सरकार इस प्रयत्न में है कि पशुपालन एवं चिकित्सा विभाग की सहायता से इन संस्थाओं में रहनेवाले पशुओं को अधिक स्वस्थ व अधिक दूध देनेवाला बनाया जा सके।

पशु-चिकित्सा विभाग को अधिक साधन-सम्पन्न बनाने व पर्याप्त रूप से विस्तृत करने के लिये भी राज्य सरकार ने अनेक कदम उठाये है। इस हेतु विभाग में काम करनेवाले लोगों को प्रशिक्षित करने का कार्य प्रारंभ किया गया है। पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इस विभाग को ५०० से अधिक प्रशिक्षित व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ मिलने लगेगा। इसी उद्देश्य से राज्य सरकार ने जबलपुर में एक पशु-चिकित्सा महाविद्यालय भी प्रारंभ किया है।

शहराती क्षेत्रों में दूध की कमी पूरी करने व दुधारू पशुओं की दुग्ध-उत्पादन क्षमता बढ़ाने के उद्देश्य से राज्य-सरकार ने विभिन्न स्थानों पर दुग्धालय खोले हैं। फिलहाल सरकार इस प्रकार के २० दुग्धालय स्थापित करना चाहती हैं, जिनमें से ९ दुग्धालय स्थापित हो चुके हैं। इसी तरह पशुओं की दशा सुधारने की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित करने की दृष्टि से सरकार अनेकों पशु-प्रदर्शनियों को भी अनुदान देती है। यहां यह भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि पशु-संवर्धन के लिये उक्त सभी उपायों के अतिरिक्त सरकार ने पशुओं को कानून द्वारा भी संरक्षण प्रदान किया है। सन् १९४७ से ही राज्य में कुछ अनुचित परिस्थितियों में ढोर आदि के वध को नियंत्रित रखने के लिये एक अधिनियम लागू किया गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में राज्य सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यों के व्यय की रूपरेखा निम्न तालिका में दर्शाई गई है :—

विकास के शीर्षक	योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित कुल व्यय (लाख रुपयों में)
(१)	(२)
(अ) पशु चिकित्सा तथा पशु-संवर्धन—	
(१) प्रशासन	४१.००
(२) (क) शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान	२९.२२
(ख) पशु-निरीक्षकों तथा स्वास्थ्य सहायकों का प्रशिक्षण ...	३.०९
(३) पशु-चिकित्सा संबंधी सुविधायें	४.७१
(४) (क) पशुओं की नस्ल सुधारना	१७.५४
(ख) कृत्रिम रेतन केन्द्र	०.८५
(५) अन्य योजनायें	२.४२
(ब) दुग्धालयों की स्थापना व पूर्ति—	
(१) शहरों के लिये दुग्ध-पूर्ति	३४.९७
(२) अन्य योजनायें	१.९७
योग ...	१,३५.७७

प्रस्तावित योजना-व्यय में से अब तक पशु-संवर्धन व पशु-चिकित्सा हेतु ४२.२ लाख रुपये तथा दुग्धालयों की स्थापना व दुग्ध-पूर्ति हेतु १८.१ लाख रुपये व्यय हो चुका है। चालू वित्तीय वर्ष में भी पशु-चिकित्सा व संवर्धन पर २०.६ लाख व दुग्धालयों की स्थापना व दुग्ध-पूर्ति पर ९.९ लाख रुपयों के व्यय का प्रावधान रखा गया है। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत चालू वित्तीय वर्ष के अन्त तक लगभग १ करोड़ रुपये की राशि उक्त मद पर व्यय हो जावेगी तथा इस बात की पूर्ण आशा है कि योजनावधि तक प्रस्तावित १,३५.७७ लाख रुपयों के व्यय से राज्य सरकार अपनी प्रत्येक योजना को क्रियान्वित कर पशुधन की स्थिति में काफी सुधार कर सकेगी।

मध्यप्रदेश की खनिज संपत्ति

मध्यप्रदेश प्रकृति की इस बहुमूल्य देन से अन्य राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न है। राज्य के विभिन्न भागों में कोयला, मेंगनीज, चूने का पत्थर, फायर-क्ले, गेरू, कच्चा लोहा, फेलस्पार, ग्रेफाइट, बाक्साइट, अभ्रक, सिलिका, सेंड और फुलर्स अर्थ (सज्जीखार) आदि अनेक खनिज पदार्थ विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। कुछ स्थानों पर यूरेनियम पाये जाने का भी अनुमान किया जाता है, किन्तु अभी इसकी जांच-पड़ताल जारी है। राज्य के लिये किस खनिज पदार्थ का कितना महत्व है यह उसकी प्राप्ति, उपयोगिता व राष्ट्र अथवा विश्व में ऐसे खनिज पदार्थ की पाई जाने वाली मात्रा में हमारे योगदान पर निर्भर करता है।

कोयला इस राज्य के प्रमुख खनिजों में से है। राज्य में इस खनिज पदार्थ के विपुल संचय भूगर्भित हैं। उदाहरणार्थ, डाक्टर फाक्स द्वारा सन् १९३२ में किये गये अनुमान के अनुसार इस प्रदेश में लगभग ६,००० करोड़ टन कोयला भूगर्भित है। इसी तरह सन् १९४६ की कोयला खान समिति (कोल माइन्स कमेटी) के अनुसार यहां अच्छी किस्म का १.४२ करोड़ टन कोयला संचित है। प्रतिवर्ष राज्य की खानों से काफी मात्रा में कोयला निकाला जाता

है। वर्ष १९५२ में यहां ३,४५७,१५८ टन कोयला निकाला गया जब कि वर्ष १९५१ में यही मात्रा ३,२०८,९८८ टन थी। सम्पूर्ण देश में कोयले का वार्षिक उत्पादन लगभग ३६२ लाख टन है, जिसका ९.५ प्रतिशत भाग राज्य की लगभग ५२ खदानों से निकाला जाता है :—

कोयला क्षेत्रों के नाम	उत्पादन टनों में	
	वर्ष १९५२	वर्ष १९५१
(१)	(२)	(३)
कन्हान घाटी	५०८,४६५	४३०,३०३
पेंच घाटी	१,३८२,८७८	१,२२६,९०१
वर्धा घाटी	३१०,०९८	३५३,३४७
चिरीमिरी झगड़ा खान	१,२५१,२०४	१,१९६,५०६
हस्दोमंड	२,९८३	१,९३१
कोरबा (बिलासपुर)	१,५३०	६४३

प्रस्तावित भिलाई इस्पात उद्योग के स्थापित हो जाने पर राज्य की कोयला उत्पादन शक्ति काफी अधिक बढ़ जावेगी।

लोहा भी इस राज्य में प्रचुर मात्रा में संचित है। सुप्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री डाक्टर के. चटर्जी के अनुसार यहां लगभग १५० करोड़ टन लोहा भूगर्भित है। राज्य में लौह प्राप्ति के मुख्य क्षेत्र चांदा, दुर्ग, जबलपुर और होशंगाबाद (नरसिंहपुर) जिलों में स्थित हैं। चांदा जिले का लोहारा नामक लोह-क्षेत्र १,९५० फुट लम्बे, ६०० फुट चौड़े और ३६० फुट ऊंचे टीले में फैला हुआ है। दुर्ग के डोंडी-लोहारा लौह-क्षेत्रों में भी काफी लोहा संचित है। विशेष तौर पर यहां की डेली-राजहाड़ा पहाड़ियां, जो २० मील लम्बी और ४०० फुट ऊंची हैं, लोहे से भरपूर हैं। राज्य में पाया जानेवाला लोहा तीन प्रकार का होता है, यथा—हेमेटाइट, लेमेटिड और लेटोराइट। यहां का अधिकांश लोहा उत्तम दर्जे का माना जाता है, जिसमें आमतौर पर ६८ प्रतिशत शुद्ध लोहा, ०.०६४ प्रतिशत फास्फोरस तथा २१ प्रतिशत सिलिका का अंश पाया जाता है। विगत कुछ वर्षों में राज्य की लौह-उत्पादन क्षमता में अच्छी वृद्धि हुई है। १० लाख टन उत्पादन-क्षमतावाले भिलाई इस्पात उद्योग के खुल जाने पर राज्य की लौह-उत्पादन क्षमता में तीव्र गति से वृद्धि होगी।

मेंगनीज उत्पादन की दृष्टि से यह राज्य न केवल भारतवर्ष में ही वरन् समस्त विश्व में प्रख्यात है। वर्ष १९५१ में केवल मेंगनीज के निर्यात से भारत सरकार को २,५४,२०,२५७ रुपये की आय हुई थी। इस राशि में मध्यप्रदेश का हिस्सा ७२.२ प्रतिशत (१,८३,५६,४६७ रुपये) था। राज्य में अधिकांशतः बालाघाट, नागपुर, भंडारा और छिंदवाड़ा जिलों में मेंगनीज पाया जाता है। अनुमानतः राज्य के समस्त मेंगनीज क्षेत्रों में १०५ लाख टन उत्तम श्रेणी का और ३० लाख टन निम्न श्रेणी का मेंगनीज भूगर्भित है। यहां वर्ष १९५१ में मेंगनीज का उत्पादन ७०७,४०७ टन था, जिसका मूल्य ६,४२,०९,११६ रुपये आंका गया था। किन्तु अभी तक राज्य में ही इस मूल्यवान खनिज का औद्योगिक उपयोग न किया जाकर उसका अधिकांश भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, वर्ष १९५१ में देश से निर्यात किये जानेवाले मेंगनीज की कुल मात्रा में इस राज्य का लगभग ५५ प्रतिशत मेंगनीज सम्मिलित था। अभी तक अधिकतर टाटा आयर्न एण्ड स्टील कम्पनी तथा इन्डियन आयर्न एण्ड स्टील कम्पनी में ही राज्य के मेंगनीज की खपत होती रही; किन्तु अब रूरकेला (उड़ीसा) इस्पात उद्योग के खुल जाने तथा भिलाई इस्पात उद्योग के स्थापित होने पर इस राज्य के मेंगनीज की खपत काफी अधिक बढ़ जावेगी। साथ ही, इस खनिज की कीमतों में भी पुनः वृद्धि हो जाने से इस उद्योग का निकट भविष्य में ही काफी विकास हो सकेगा।

बाक्साइट—मैंगनीज की भांति बाक्साइट भी औद्योगिक दृष्टि से बहुत उपयोगी खनिज है। उसके भूगर्भित संचयों एवं वार्षिक उत्पादन की दृष्टि से इस राज्य की स्थिति काफी संतोषजनक है। बाक्साइट के संचय मुख्यत: जबलपुर जिले की कटनी तहसील में, बालाघाट जिले की बैहर तहसील में और कोरबा कोयला क्षेत्र के निकटवर्ती स्थानों में पाये जाते हैं। इनमें से जबलपुर एवं बालाघाट जिलों के बाक्साइट क्षेत्रों में विपुल मात्रा में यह खनिज भूगर्भित है। केवल जबलपुर जिले के जिन बाक्साइट संचयों की खोज हो चुकी है उनमें ५० से ६० लाख टन उत्तम श्रेणी के बाक्साइट का अनुमान किया गया है। इस समय राज्य की विभिन्न बाक्साइट खदानों से काफी बाक्साइट निकाला जाता है। उदाहरणार्थ, वर्ष १९५२ में ११ खदानों से २२,७०८ टन बाक्साइट निकाला गया जिसकी कीमत १,९६,८६२ रुपये होती है। वर्ष १९५३ में यही मात्रा लगभग ३०.३ हजार टन तक पहुंच गई थी। प्रस्तावित भिलाई इस्पात उद्योग खुल जाने पर इस उद्योग के विकास के लिये भी विस्तृत क्षेत्र खुल जावेगा।

चूने का पत्थर—मध्यप्रदेश में चूने का पत्थर निकालने का काम मुख्यत: जबलपुर, रायगढ व बिलासपुर जिलों में होता है। जबलपुर जिले में इस खनिज का उत्पादन वर्ष १९५१ व १९५२ में क्रमश: ६७७,९८० टन व ७२२,८५२ टन था। वर्ष १९५१ में कुल १५ खानों से यह खनिज निकाला गया किन्तु १९५२ में यह संख्या बढ़कर २७ हो गई। इसी तरह बिलासपुर एवं रायगढ जिले में टाटा आयर्न एण्ड स्टील कम्पनी ने वर्ष १९५२ में २८,०३० टन चूने का पत्थर निकाला; जब कि वर्ष १९५१ में इसी कम्पनी द्वारा निकाला गया यही खनिज २३,८१२ टन था। इस तरह सन् १९५२ में निकाले गये कुछ चूने के पत्थर का मूल्य लगभग ७५,०८,८२० रुपये आंका गया।

टाल्क—निकालने का कार्य मुख्यत: जबलपुर जिले में होता है। किन्तु उसकी उत्पादन मात्रा निश्चित नहीं है। सन् १९५२ में टाल्क का कुल उत्पादन १,३९४ टन था; जब कि १९५१ में २,०६० टन।

फायर-क्ले—के लिये भी जबलपुर जिला ही प्रमुख स्थान माना जाता है। वर्ष १९५२ में इस खनिज का कुल उत्पादन लगभग ३३ हजार टन था, जब कि वर्ष १९५३ में लगभग ३८ हजार टन।

अन्य खनिज पदार्थ—उपरोक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त इस राज्य में फेल्सपार, डोलेमाइट, ग्रेफाइट, अभ्रक, सिलिका सेंड और फुलर्स अर्थ आदि खनिज पदार्थ भी बहुत-कुछ मात्रा में उपलब्ध हैं। इनमें से फेल्सपार मुख्यत: छिंदवाड़ा जिले में पाया जाता है। राज्य में प्रतिवर्ष लगभग १० हजार रुपये का फेल्सपार प्राप्त किया जाता है। डोलेमाइट का उत्पादन वर्ष १९५२ में १४,१५० टन था जिसका मूल्य अनुमानत: ८५,००० रुपये होता है। उक्त दूसरे खनिज पदार्थ भी राज्य के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। वर्ष १९५२ में इन खनिजों का कुल उत्पादन-मूल्य लगभग ३५ हजार रुपये आंका गया।

मध्यप्रदेश के उद्योग

इस देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक औद्योगिक विकास की गति बहुत ही धीमी रही। बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति मध्यप्रदेश की भी थी। राज्य में अटूट एवं अमूल्य खनिज सम्पत्ति, वनोत्पत्ति, कृषि-उत्पत्ति और जल-शक्ति आदि की अपरिमित पूर्ति होते हुये भी उनका समुचित एवं वांछनीय औद्योगिक उपयोग नहीं किया जा सका। परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमने आर्थिक संयोजन का मार्ग अपनाया, जिसके अन्तर्गत देश के अन्य राज्यों के समान इस राज्य में भी भविष्य की सम्भावनायें उज्ज्वल हुई हैं।

मध्यप्रदेश के औद्योगिक क्षेत्र में अब तक जिन बृहत् प्रमाप उद्योगों का प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो उसकी अर्थ-व्यवस्था में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, उनमें से सूती कपड़े का उद्योग, सीमेन्ट उद्योग, कागज उद्योग, शीशा उद्योग, मृच्छिल्प (Ceramics) उद्योग, जनरल इंजीनियरिंग व इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग तथा शराब, पेन्ट, वार्निश और फल-संरक्षण उद्योग विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ वर्षों के बाद इन उद्योगों की शृंखला में भिलाई इस्पात उद्योग की भी गिनती शुरू हो जावेगी। उपरोक्त बृहत्-प्रमाप उद्योगों के अतिरिक्त इस राज्य में अनेक कुटीर व लघु प्रमाप उद्योग भी चल रहे हैं, जो अपने क्षेत्र में निजी महत्व रखते हैं।

सूती कपड़े का उद्योग.—सूती कपड़े का उद्योग मध्यप्रदेश का सब से प्रमुख उद्योग माना जाता है। यहां इस उद्योग के पनपने का सब से बड़ा कारण राज्य के विस्तृत कपास क्षेत्र हैं। सम्पूर्ण बरार, निमाड़ जिला, वर्धा जिला, नागपुर जिला, भण्डारा जिले का पूर्वीय क्षेत्र तथा चांदा जिले का उत्तरी क्षेत्र कपास उत्पादन के लिये प्रसिद्ध हैं। सूती कपड़े की मिलों के लिये ये स्थान कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति करते हैं। मध्यप्रदेश के इतिहास में सूती कपड़े की मिलों का स्वर्णिम् अध्याय खोलने का श्रेय सर जमशेद जी टाटा को है, जिन्होंने सन् १८७७ में यहां प्रथम मिल खोली। इस समय समस्त प्रदेश में सूती कपड़े के उद्योग की १७ मिलें हैं जो अधिकांशतः कपास-क्षेत्र में ही स्थित हैं। सन् १९५३ में इन सभी मिलों की स्थिर पूंजी २९१ लाख रुपये थी और उनमें २८,७१२ श्रमिक काम करते थे। इनके द्वारा मुख्यतः मध्यम व निम्न श्रेणी के सूती कपड़े का उत्पादन किया जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस उद्योग की उत्पादन-शक्ति में तीव्रगति से वृद्धि हुई है।

विशाल सूत की मिलों के साथ ही मध्यप्रदेश में प्रतिवर्ष लगभग २,५२० लाख गज कपड़ा तैयार कर सकने वाले १६८,२०० हाथ-करघे भी हैं।

सीमेन्ट उद्योग.—मध्यप्रदेश का दूसरा प्रमुख उद्योग सीमेंट उद्योग है। भारत में इस उद्योग का प्रथमतः प्रादुर्भाव सन् १९१२ में हुआ और तत्पश्चात् सन् १९१४ में ही मध्यप्रदेश में कटनी सीमेंट एन्ड इंडस्ट्रियल कम्पनी की स्थापना हुई। उस समय समस्त देश में सीमेंट उद्योग की केवल तीन ही इकाइयां थीं जिनमें से उपर्युक्त एक इकाई हमारे राज्य में थी। अतः सीमेंट उद्योग द्वारा देश की आर्थिक उन्नति में मध्यप्रदेश ने प्रारम्भ से ही हाथ बटाया है और आज तो सीमेंट उत्पादन में बिहार के पश्चात् इस राज्य का ही स्थान आता है। इस समय कैमोर (जबलपुर जिला) में स्थित असोसिएटेड सीमेंट कम्पनी का कारखाना समस्त देश में सीमेंट का सब से बड़ा कारखाना माना जाता है। इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता ३५०,००० टन है। गत कुछ वर्षों से इस उद्योग की उत्पादन-क्षमता में उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है। इस समय असोसिएटेड सीमेंट कम्पनी के समक्ष उक्त कारखाने के सुविस्तार की एक विशाल योजना है जिसके पूर्ण होने पर आशातीत सीमेंट का उत्पादन सम्भव हो सकेगा।

कागज उद्योग.—"कागज की खपत देश की बौद्धिक प्रगति का परिचायक है।" ज्यों ज्यों शैक्षणिक-विकास होता जाता है, कागज की मांग भी उसी गति से बढ़ती जाती है। विगत कुछ वर्षों से हमारे देश में ऐसी ही स्थिति परिलक्षित हो रही है। किन्तु जिस गति से यहां कागज की मांग बढ़ रही है उतनी ही गति से उसका उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। अतः स्पष्ट है कि इस देश में कागज उद्योग के विकास के लिये काफी क्षेत्र पड़ा हुआ है।

कागज उद्योग के लिये मध्यप्रदेश पूर्णतः साधनसम्पन्न है। कागज के लिये गूदा तैयार करने में उपयोगी बांस, सलई लकड़ी व सबई घास यहां बहुतायत से पाई जाती है। विद्युत्-शक्ति और ईंधन की पूर्ति के लिये भी यहां पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध हैं। इन्हीं सब सुविधाओं के फलस्वरूप राज्य में बल्लारपुर पेपर एन्ड स्ट्रा बोर्ड मिल्स (चांदा जिला) और नेपा मिल्स (निमाड़ जिला) नामक दो बड़े कागज के कारखाने खोले जा सके। इनमें से बल्लारपुर पेपर एण्ड स्ट्रा बोर्ड मिल्स का उत्पादन कार्य सन् १९५२ से ही प्रारंभ हो गया था। सन् १९५३ में इसने १,३२४ टन कागज तथा स्ट्रा बोर्ड का उत्पादन किया। पूर्ण विकसित होने पर यह कारखाना प्रतिदिन २० से २५ टन तक कागज का उत्पादन कर सकेगा। नेपा मिल्स का उत्पादन कार्य भी जनवरी १९५५ से प्रारंभ हो गया है। अखबारी कागज का उत्पादन करने वाली यह भारत की एकमात्र एवं प्रथम मिल है। भारत में प्रतिवर्ष लगभग ९०,००० टन अखबारी कागज की खपत होती है। यह मिल उक्त परिमाण का एक-तृतीयांश कागज उत्पादित करेगी। उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक वर्षों में ही राज्य के इस उद्योग की वार्षिक उत्पादनक्षमता काफी बढ़ गई है। उदाहरणार्थ, सन् १९५३ में इस उद्योग ने कुल १,३२४ टन कागज उत्पादित किया था ; किन्तु सन् १९५४ में यही मात्रा ७,३५२ टन पहुंच चुकी थी।

शीशा उद्योग.—शीशे का उद्योग मध्यप्रदेश के लिये नवीन नहीं है। बृहत्-प्रमाण उद्योगों के प्रादुर्भाव के पूर्व भी इसके कुछ ग्रामों में कांच की चूड़ियां आदि बनाई जाती थीं। इस समय बृहत्-प्रमाण पर नागपुर, जबलपुर, चांदा, गोंदिया इत्यादि स्थानों में बड़े-बड़े शीशे के कारखाने चल रहे हैं। शीशा उद्योग के लिये आवश्यक रेत, सोडा ऐश तथा चूना

प्रभृति कच्चे माल में से इस प्रदेश में जला हुआ चूना (burnt lime) बहुतायत से मिलता है। यही नहीं कटनी से यह पदार्थ उत्तरप्रदेश तथा बंगाल को निर्यात भी किया जाता है। किन्तु दूसरे पदार्थों का आयात करना पड़ता है। इस समय मध्यप्रदेश में पांच बड़े शीशे के कारखाने हैं जिनमें से "नागपुर ग्लास वर्क्स", "सेन्ट्रल ग्लास फैक्टरी" तथा "श्री ओनामा ग्लास वर्क्स" शीशे के कुछ प्रमुख कारखानों में से हैं। अभी इन कारखानों की स्थिति यह है कि इन्हें आवश्यकतानुसार कच्चा माल सुविधापूर्वक नहीं मिल पाता। यदि इन्हें कच्चा माल और रासायनिक पदार्थ इत्यादि अपनी मांग के अनुसार मिल सकें तो निकट भविष्य में ही इनकी उत्पादन-क्षमता द्विगुणित हो सकती है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रारंभिक वर्षों में राज्य के शीशा उद्योग ने काफी प्रगति की। किन्तु उसके बाद इस उद्योग की कच्चे माल की पूर्ति सम्बन्धी उपर्युक्त कठिनाइयों के फलस्वरूप आगामी वर्षों में अधिक प्रगति न हो सकी। विगत कुछ वर्षों से राज्य के इस महत्वपूर्ण उद्योग का विकास रुका हुआ है। अतः उसका पुनर्संगठन किया जाना एवं उसकी सभी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति करना बहुत जरूरी है।

अन्य उद्योग.—राज्य के अन्य बृहत्-प्रमाप उद्योगों में मृच्छिल्प,जनरल इंजीनियरिंग व इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, फल-संरक्षण, शराब तथा पेण्ट और वार्निश के उद्योग प्रमुख हैं। इन उद्योगों के लिये आवश्यक कच्चा माल राज्य के भू-गर्भित विपुल खनिज पदार्थों एवं उसके विशाल और बहुमूल्य वनों से अपरिमित मात्रा में उपलब्ध हो जाता है। इन उद्योगों में से सन् १९५३ में मृच्छिल्प एवं जनरल इंजीनियरिंग एवं इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के क्रमशः ५ और १९ कारखाने कार्य कर रहे थे जिनमें २,३२४ व १,९५१ श्रमिक सेवायुक्त थे तथा ३६ व ८२ लाख रुपये की पूंजी लगी हुई थी। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् उक्त विभिन्न उद्योगों के उत्पादन और विकास में आशातीत प्रगति हुई है।

भिलाई इस्पात उद्योग.—मध्यप्रदेश के उपरोक्त बृहत्-प्रमाप उद्योगों की श्रृंखला में एक विशाल उद्योग और जोड़ा जा सकेगा, जबकि आगामी कुछ ही वर्षों में दुर्ग जिले के भिलाई नामक स्थान में १० लाख टन वार्षिक उत्पादनक्षमता वाले प्रस्तावित इस्पात-उद्योग की स्थापना होगी। निस्संदेह इस विशाल उद्योग ने औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ कहे जाने वाले इस राज्य के बहुमुखी आर्थिक विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया है। न केवल औद्योगिक क्षेत्र में वरन् राज्य की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था में, जो आज मुख्यतः कृषि-प्रधान है, स्थायित्व एवं संतुलन स्थापित करने में यह उद्योग बहुत सहायक सिद्ध होगा।

मध्यप्रदेश में इस्पात उद्योग स्थापित करने की सम्भावनाओं का संकेत उन्नीसवीं शताब्दि से ही मिलता है, जबकि सन् १८८२ में प्रसिद्ध उद्योगपति श्री. जमशेदजी टाटा ने इस प्रदेश में अपना इस्पात उद्योग स्थापित करना चाहा था। सन् १९४४ में भारत सरकार के योजना तथा विकास विभाग द्वारा स्थापित लोहा और इस्पात समिति (Iron and Steel Panel) ने भी बल्लारपुर, तिलदा और भिलदा (बिलासपुर जिला) के आसपास इस्पात उद्योग आरंभ करने के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। किन्तु इस ओर वास्तविक प्रगति स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हुई, जबकि भारत सरकार ने विश्व बैंक, जर्मनी के कुप्स और डेमाग आदि के प्रतिनिधियों को इस विषय की छानबीन करने के लिये आमंत्रित किया था। इन संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने उक्त उद्योग की स्थापना के लिये भिलाई को सर्वोत्तम बताया। तत्पश्चात् रूस की विशेषज्ञ टोलियों ने भी उक्त मत का पोषण कर भिलाई में इस्पात उद्योग स्थापित करने का एक स्वर से निर्णय दिया। और फलस्वरूप अब इसी स्थान पर इस उद्योग की स्थापना के लिये भारत और रूस सरकार में समझौता हो गया है।

उपर्युक्त दोनों सरकारों के बीच हुए समझौते के अनुसार यद्यपि सम्पूर्ण कारखाना ३१ दिसम्बर १९५९ तक तैयार हो सकेगा तथापि उसके कुछ महत्वपूर्ण विभाग १९५८ के अंत तक तैयार हो जावेंगे। प्रारंभ में उसकी उत्पादन क्षमता ७५०,००० टन होगी, किन्तु बाद में वह १,०००,००० टन तक बढ़ाई जा सकेगी। कारखाने की स्थापना में अनुमानतः ४३ करोड़ रुपये व्यय होगा तथा उसको उत्पादन-योग्य बनाने में १०० करोड़ रुपये तक लग जावेंगे। तत्पश्चात् नगर बसाने, यातायात की सुविधाएं प्रदान करने एवं अन्य तत्संबंधी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कार्यों को मिलाकर कुल ४०० करोड़ रुपयों के व्यय का अनुमान लगाया गया है। कारखाने के लिये रूस से यंत्रों, उपकरणों तथा तांत्रिक मार्गदर्शन की प्राप्ति होगी। औद्योगिक प्रशिक्षण के लिये भारत और रूस दोनों ही देशों में समुचित व्यवस्था की

गई है। उक्त कारखाने के सर्वेक्षण का काम भी प्रगति पर है। इसी तरह प्रमुख उद्योग एवं तत्संबंधी अनेक सहायक उद्योगों के लिये आवश्यक भूमि की प्राप्ति के हेतु भी राज्य सरकार ने ५९ गावों को खाली करने के लिये सम्बन्धित ग्रामवासियों को सूचित कर दिया है।

प्रस्तावित इस्पात उद्योग की स्थापना के लिये भिलाई को ही क्यों चुना गया—जब इस प्रश्न पर हम विचार करते हैं, तो भिलाई का विशिष्ट महत्व स्पष्ट हो जाता है। किसी भी उद्योग की स्थापना के लिये कच्चे माल, सस्ता श्रम, शक्ति के साधन, जल-पूर्ति तथा यातायात और विक्रय की सुविधाएं नितांत आवश्यक होती हैं। इन दृष्टिकोणों से भिलाई का मूल्यांकन किया जाने पर उक्त क्षेत्र इस्पात उद्योग के लिये सर्वथा अनुरूप ठहरता है। इस्पात उद्योग के लिये आवश्यक खनिज पदार्थों में कच्चा लोहा, कोयला, फायर-क्ले, फ्लोरस्पार, सिलीका, टंगस्टन आदि प्रमुख हैं। उल्लेखनीय है कि भिलाई इस्पात उद्योग के लिए ये खनिज सरलता से आसपास के क्षेत्रों में ही प्राप्त हो सकेंगे। भिलाई के निकट ही डेली-राजहाडा, रावघाट, तथा बेलाडिल आदि क्षेत्र हैं जहां लगभग १,१५० लाख टन कच्चे लोहे के संचय भू-गर्भित हैं। इन संचयों के कच्चे लोहे में ६५ से ६९ प्रतिशत तक लौह तत्व पाये जाते हैं। इस उद्योग को कोयले की पूर्ति समीपस्थ पेंचवेली, कन्हान, कोरबा और गोरेदेवा के कोयला-क्षेत्रों से की जा सकेगी। अनुमान है कि इस राज्य में २७२ लाख टन उत्तम कोकिंग कोल और ५२.५ लाख टन उत्तम स्टील-कोल के भी संचय हैं। फायर-क्ले लखमी इत्तानाला के आसपास के प्रदेश से, जहां कि इस धातु की ५०० गज लम्बी तह जमी है, सुविधापूर्वक मिल सकता है। बाक्साइट के भी विपुल संचय बैहर, कटनी, मण्डला और सिवनी के क्षेत्रों में भू-गर्भित हैं। मेंगनीज के लिये तो मध्यप्रदेश को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। यह खनिज पदार्थ बालाघाट, छिंदवाडा, भण्डारा व नागपुर जिलों के भू-क्षेत्रों में अतुल मात्रा में भरा पडा है। इसी तरह अन्य खनिज पदार्थ भी इस उद्योग को सुविधापूर्वक मिल सकेंगे।

इस उद्योग को भिलाई के आसपास वाले क्षेत्र से सस्ते श्रम की पूर्ति भी सरलतापूर्वक की जा सकेगी। जलपूर्ति के लिये तन्दुला जलसंचय और गोंदली तथा दुधवा तालाब निकट ही हैं। साथ ही, मरोदा तालाब, जिसमें १,६६३ लाख घन फीट तक पानी आ सकता है, सफलतापूर्वक कृत्रिम रिजरवायर बनाया जा सकता है। उद्योग को विद्युत् शक्ति की पूर्ति भी रायपुर के ताप-विद्युत् केन्द्र से सरलतापूर्वक की जा सकती है। भिलाई बम्बई और कलकत्ता को जोड़ने वाले प्रमुख रेलमार्ग का एक स्टेशन है जो कि दुर्ग से ८ मील और रायपुर से १६ मील की दूरी पर स्थित है। इसी तरह विजगापट्टम बंदरगाह भी यहां से अधिक दूर नहीं है। तात्पर्य यह कि इस उद्योग को अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से भी अनुकूल स्थिति प्राप्त है। साथ ही, उपरोक्त सभी साधनों एवं सुविधाओं के सरलतापूर्वक उपलब्ध होने से इस उद्योग के अपेक्षित विकास की पूर्ण आशा है।

लघु-प्रमाप व कुटीर उद्योग.—वृहत-प्रमाप उद्योगों के साथ ही, मध्यप्रदेश में लघु-प्रमाप व कुटीर उद्योगों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। ग्रामीण जीवन में तो उन्होंने समरसता प्राप्त कर ली है। इन उद्योगों से राज्य के लाखों व्यक्ति अपना जीवनयापन करते हैं। मध्यप्रदेश के ऐसे उद्योगों को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, यथा—वस्त्र संबंधी लघु-प्रमाप व कुटीर उद्योग और अन्य उद्योग जो पहिली श्रेणी में नहीं आते।

मध्यप्रदेश के विभिन्न प्रकार के लघु-प्रमाप व कुटीर उद्योगों के कुल उपक्रमों की संख्या लगभग १२८,००० है, जिन में से वस्त्र संबंधी उद्योगों की उपक्रम-संख्या ५२ प्रतिशत है और अन्य उद्योगों की उपक्रम-संख्या ४८ प्रतिशत। वस्त्र संबंधी उद्योगों के अंतर्गत् हाथ करघे (बुनाई व कताई), ऊन व कृत्रिम रेशम की कताई व बुनाई, तथा वस्त्रों की छपाई, धुलाई और रंगाई करने व रस्सी और सुतली इत्यादि बनाने के उद्योग प्रमुख हैं। इन में से हाथ करघा उद्योग विशेष महत्वपूर्ण है। मध्यप्रदेश में हाथ करघों की कुल संख्या १६८,२६० है। दूसरी श्रेणी के उद्योगों में बीडी बनाने, तेल निकालने, चमडा पकाने व चमडे के सामान बनाने, मिट्टी के बर्तन, ईंट व खपरैल बनाने, टोकनियां बनाने और गुड उत्पादन करने के उद्योग तथा बढई व लोहारी के व्यवसाय विशेष उल्लेखनीय हैं।

आज के मशीन युग में मशीनों द्वारा निर्मित माल की प्रतियोगिता में न टिक सकने के कारण इन उद्योगों का दिनोंदिन ह्रास परिलक्षित होता है। राज्य सरकार इन उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर, कच्चे माल की पूर्ति कर और यातायात तथा क्रय-विक्रय की सुविधाएं जुटाकर इन उद्योगों के विकास के लिए यथासंभव प्रयत्न कर रही है। इन उद्योगों के विकासार्थ राज्य में ५ लाख रुपये की एक विकास योजना भी कार्यान्वित की जा रही है, जिसके अंतर्गत

बेरोजगारों और श्रमिकों के प्रशिक्षण व सेवानियोजन की व्यवस्था की गई है। इसी तरह पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नागपुर में एक औद्योगिक शाला की भी स्थापना की गई है जो वर्तमान कुटीर उद्योगों की विभिन्न समस्याओं का अनुसंधान करने, उत्पादन केंद्रों की व्यवस्था करने तथा कुटीर उद्योगों की प्रक्रियाओं के प्रदर्शन करने व तत्संबंधी व्यक्तियों को प्रौद्योगिक सलाह देने के महत्वपूर्ण कार्य करती है।

विद्युत् शक्ति का उत्पादन—उपरोक्त उद्योगों के संचालन, प्रकाश एवं सिंचाई कार्यों तथा अन्य विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मध्यप्रदेश में "विद्युत्-शक्ति का उत्पादन" उत्तरोत्तर स्वयं एक महत्वपूर्ण उद्योग बनता जा रहा है। यहां यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि विगत लगभग ५० वर्षों से राज्य में विद्युत्-शक्ति का उत्पादन अधिकांशत: प्रकाशकार्यों के लिये अथवा जनता के उपभोग के लिये ही होता रहा है, और आज भी हमारी अनेक विद्युत् विकास योजनाएं इसी उद्देश्य से कार्यान्वित की जा रही हैं। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद यहां नेपा मिल्स, बल्लारशा पेपर एन्ड स्ट्रा बोर्ड मिल्स प्रभृति मशीनों से संचालित विशालकाय कारखानों के हेतु भी बिजली पैदा करने के लिये उत्तरोत्तर ध्यान दिया जा रहा है, और आशा है कि निकट भविष्य में ही राज्य के बृहत्-प्रमाप औद्योगिक विकास के साथ औद्योगिक उपयोग के लिये विद्युत्-शक्ति का उत्पादन भी शीघ्रता से बढ़ सकेगा।

राज्य में कोयला द्वारा विद्युत्-शक्ति का उत्पादन वैसे तो सन् १९१३ से ही आरम्भ हो गया था, किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक इस ओर अधिक प्रगति न की जा सकी। उदाहरणार्थ, सन् १९४६ में राज्य की विद्युत्-उत्पादन क्षमता केवल २६,४८५ किलोवाट थी तथा यहां कुल ६५० मील लम्बी विद्युत्-पूर्ति लाइनें कार्य करती थीं। २० हजार किलोवाट विद्युत्-उत्पादन शक्तिवाले खापरखेडा ताप-विद्युत् केन्द्र की स्थापना से अब सम्पूर्ण राज्य में विद्युत् जाल बिछा देने के उद्देश्य से सरकार ने राज्य को दक्षिणी, पूर्वी और उत्तरी ग्रिडों में विभाजित कर दिया है। दक्षिणी ग्रिड योजना के अंतर्गत् केन्द्रीय ताप-विद्युत् केन्द्र—खापरखेडा, पेंचवेली एक्स्टेन्शन, गोंदिया एक्स्टेन्शन, बल्लारशा विद्युत् केन्द्र, चांदनी विद्युत् केन्द्र और नगर वितरण योजनाएं आती हैं। इनमें से खापरखेडा विद्युत् केन्द्र, बल्लारशा विद्युत् केन्द्र और चांदनी विद्युत् केन्द्र की उत्पादन-क्षमता क्रमश: ३०,०००, २२,५०० और १७,५०० किलोवाट हैं। इस समय बल्लारशा विद्युत् केन्द्र का निर्माण जारी है, किन्तु अन्य दोनों केन्द्र अपनी पूरी क्षमता से कार्य करने लगे हैं। पूर्वी ग्रिड योजना में रायपुर का ८ हजार किलोवाट उत्पादनक्षमता वाला विद्युत् केन्द्र आता है, जिस में ४ हजार किलोवाट वाली विस्तार योजना भी शामिल है। इसका निर्माण-कार्य अभी जारी है। उत्तरी ग्रिड में जबलपुर की विद्युत्-प्रदाय योजना आती है जिसके अंतर्गत जबलपुर के समीपवर्ती क्षेत्रों में विद्युत्-पूर्ति की जा रही है। इन विद्युत् केन्द्रों के अतिरिक्त इटारसी में एक ३ हजार किलोवाट उत्पादनक्षमता वाले विद्युत् केन्द्र का निर्माण कार्य भी चल रहा है।

उपरोक्त ताप-विद्युत् केन्द्रों की स्थापना एवं उनकी कार्यान्विति के फलस्वरूप विगत कुछ वर्षों से राज्य के विद्युत्-उत्पादन में तीव्रगति से वृद्धि हुई है। इसी तरह विद्युत्-उपभोग की गति में भी काफी प्रगति परिलक्षित हुई है।

उपरोक्त विद्युत् योजनाओं के अतिरिक्त हाल ही में १.३५ करोड रुपये की लागत की एक दूसरी योजना कार्यान्वित हो रही है जिसके अंतर्गत राज्य के अनेक शहरी क्षेत्रों में विविध कार्यों के लिये विद्युत्-पूर्ति की जा सकेगी। इसी तरह अन्य ७६ शहरों व गांवों में बिजली की पूर्ति करने के लिये एक और विद्युत् योजना स्वीकृत हो चुकी है। साथ ही राज्य की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिये ८ विशाल विद्युत् योजनाएं प्रस्तावित की गई हैं जिनका कुल व्यय अनुमानत: २,९६७.११ लाख रुपये होगा। इन सभी योजनाओं की कार्यान्विति से राज्य के अधिकांश भाग में विद्युत् जाल फैल जायगा और विभिन्न बृहत्-प्रमाप एवं लघु-प्रमाप उद्योगों एवं अन्य कार्यों के लिये पर्याप्त विद्युत्-शक्ति की पूर्ति की जा सकेगी।

आर्थिक सहायता केवल कागज, पेन्टस्, फल-संरक्षण तथा साबुन उद्योग को ही दी गई है। इसका प्रमुख कारण यह था कि राज्य में इन उद्योगों के लिये अन्य सब सुविधाएं होते हुए भी पूंजी के अभाव में उनकी यथापेक्षित प्रगति सम्भव नहीं हो पा रही थी।

प्रदेश में सरकार की ओर से उद्योगों को सहायता देने के लिये एक अधिनियम है। कुछ उद्योगों को उसके अन्तर्गत सहायता दी गई है। इसी सिलसिले में राज्य के विभिन्न उद्योगों को औद्योगिक वित्त निगम

(इन्डस्ट्रियल फाइनेन्स कार्पोरेशन) द्वारा दी गई आर्थिक सहायता भी उल्लेखनीय है। निगम ने ३० जून १९५४ तक सूती कपड़े के उद्योग को २२,७५,००० रुपये व मुच्छिल एवं शीशा उद्योग को ६,००,००० रुपये का ऋण दिया।

मध्यप्रदेश में सहकारिता

भारतवर्ष के अन्य भागों में जब कि सहकारिता लोगों के लिये एक पहेली थी, तब मध्यप्रदेश में सहकारी समिति की स्थापना हो चुकी थी। देश में सहकारिता आन्दोलन के प्रारंभ होने (२५ मार्च १९०४) से दो वर्ष पूर्व ही होशंगाबाद जिले के पिपरिया नामक स्थान में प्रथम सहकारी समिति की स्थापना हो चुकी थी। अतएव मध्यप्रदेश को यदि सहकारिता आन्दोलन का अग्रदूत कहा जावे तो अतिशयोक्ति न होगी। ५० वर्षों से भी अधिक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिये इस आन्दोलन ने अनेकों उतार-चढ़ाव देखे हैं और अनेकों संकटकालीन परिस्थितियों का सामना किया है।

१९ वीं सदी की अन्तिम दशाब्दि में देश में लगातार कई वर्षों तक सूखा पड़ने व फसलों के नष्ट होने से कृषकों की आर्थिक स्थिति क्रमशः बिगड़ती गई। ऐसी संकटकालीन स्थिति में कृषकों को कृषि-कार्यों के लिये सुलभ और सस्ती साख की पूर्ति करना अनिवार्य हो गया। इस समय साहूकार ही कृषि-साख की पूर्ति करने वाले प्रमुख स्रोत थे। किन्तु उनके द्वारा प्रदान की गई साख एक ओर तो अपर्याप्त होती थी, और दूसरी ओर अधिक ब्याज की दर के कारण महंगी भी। अतः इस समय एक ऐसी एजेंसी का होना आवश्यक हो गया जो कृषकों की वित्तीय आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति कर सके। इस हेतु वर्ष १९०४ में देश में सहकारी समिति अधिनियम पारित किया गया। यह अधिनियम हमारे राज्य में भी लागू हुआ। साख समितिया स्थापित करने के लिये सर्व प्रथम होशंगाबाद व बैतूल जिले चुने गये और तद्नुसार होशंगाबाद में व बैतूल में तीन सहकारी समितियों की स्थापना की गई। तत्पश्चात् सहकारी समितियों की शनैः-शनैः प्रगति होती गई। उदाहरणार्थ, सन् १९१२ में राज्य में ऐसी समितियों की संख्या २८२ तक पहुंच गई थी, जिनकी सदस्य-संख्या ७,२०३ थी व क्रियाशील पूंजी २,४८,०३१ रुपये। तत्कालीन नागरिक समिति योंकी संख्या केवल ८ ही थी; जब कि उनकी सदस्य संख्या १,२४७ व क्रियाशील पूंजी २,४८,०३१ रुपये। इसी अवधि में (वर्ष १९०४ में) सिहोरा (जबलपुर जिला) में सब से पहिले केन्द्रीय सहकारी बैंक की स्थापना हुई। इसी तरह सन् १९११ में प्रान्तीय सहकारी बैंक की स्थापना भी विशेष उल्लेखनीय है, जिसने राज्य की सम्पूर्ण सहकारी साख व्यवस्था पर नियंत्रण रख आन्दोलन को एक नई स्फूर्ति प्रदान की। सन् १९१२ तक प्रान्त में बालाघाट, होशंगाबाद, हरदा, बैतूल, अकोला, सिरोंचा और मुड़वारा में भी केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थापना हो चुकी थी जिन में कुल १,७४,५१६ रुपये की पूंजी लगी हुई थी।

सहकारिता आन्दोलन में वर्ष १९१२ के पश्चात् कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा घटना नहीं हुई किन्तु वर्ष १९२० में फसलों की खराबी के फलस्वरूप ऋण एवं वित्तीय सहायता की मांग काफी बढ़ गई। इस समय तक तो यह आन्दोलन अपनी शैशवावस्था में ही था। प्रान्तीय बैंकों व सहकारी साख समितियों में ऋण की मांग काफी बढ़ गई थी। जनता द्वारा जमा किये गये धन से कहीं अधिक की मांग की गई। इस समय ऐसी स्थिति में यदि प्रान्तीय सरकार इन बैंकों व समितियों की सहायता न करती तो शायद सहकारी आन्दोलन मृतप्राय हो जाता। किन्तु राज्य सरकार ने प्रान्तीय सहकारी बैंक को कुल ३६ लाख रुपये की राशि प्रदान कर राज्य के सहकारिता आन्दोलन को बड़े संकट से बचा लिया। इसी समय सहकारी आन्दोलन के सम्पूर्ण ढांचे का सिंहावलोकन करने के लिये एक समिति नियुक्त की गई थी जिसकी प्रायः सभी सिफारिशें मान ली गईं। सन् १९११-१२ में समितियों की संख्या ५४० थी जो वर्ष १९२१ में बढ़ कर ४,२५० तक पहुंच गई थी। अन्य सहकारी समितियों की संख्या भी ७६१ हो चुकी थी। सन् १९१८ में सहकारी स्टोर खोलने का भी श्रीगणेश हुआ तथा सन् १९२०-२१ तक ३१ स्टोर खुल चुके थे।

सन् १९२० से १९२८ तक प्रदेश में सहकारी आन्दोलन ठीक ढंग से चला; किन्तु सन् १९२८ के पश्चात् कृषि उत्पादनों के मूल्यों में एकदम गिरावट आने से सहकारिता आन्दोलन को पुनः संकटकालीन स्थिति से गुजरना पड़ा। इस समय कृषकों को दिये गये ऋण की राशि वसूल करना बैंकों के लिये अत्यंत कठिन काम हो गया। इस पर बैंकों ने कृषकों की जमीन ऋण की अदायगी के रूप में ले ली। किन्तु बैंकों के समक्ष अब ऐसी जमीनों की व्यवस्था करने की एक नई समस्या खड़ी हो गई। स्वभावतः इससे सहकारी आन्दोलन को एक बड़ा धक्का लगा। सन् १९४१ में जाकर सहकारी बैंकों की हालत सुधारने के लिये एक योजना क्रियान्वित की गई। साथ ही इस समय तक कृषि उत्पादनों के मूल्यों में वृद्धि के कारण इन बैंकों की आर्थिक स्थिति सुधर गई।

सहकारिता के इतिहास में वर्ष १९४२ के बाद का समय विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि इस अवधि में सहकारी आन्दोलन का सम्पूर्ण ढांचा ही ऊपर से नीचे तक बदल गया। इसके पहिले केवल साख समितियों की ही स्थापना पर जोर दिया गया था तथा गैर-साख समितियों की उपेक्षा की जाती रही। गैर-साख समितियों की संख्या भी नगण्य थी। किन्तु इस अवधि में गैर-साख समितियों की भी अच्छी प्रगति हुई। इसी समय आवश्यक वस्तुओं पर लगाये गये नियंत्रणों के कारण व्यापार-क्षेत्र में भी प्रतिद्वन्दिता काफी कम हो गई थी। अतः गैर-साख समितियों की स्थापना के लिये यह बड़ा ही सुन्दर अवसर था। इस समय में साख समितियों की अपेक्षा गैर-साख समितियों की स्थापना का कार्य काफी तेजी से हुआ।

वर्ष १९४२ व १९५३ के आंकड़ों की तुलनासे इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है:—

नाम	वर्ष १९४२ (३०-६-४२)	वर्ष १९५३ (३०-६-५३)
(१)	(२)	(३)
सहकारी साख आन्दोलन:—		
(अ) मध्यप्रदेश सहकारी बैंक	१	१
(ब) जिला अथवा तहसील सब-डिवीजन में केन्द्रीय सहकारी बैंक.	३५	४१
(स) प्राथमिक साख समितियां	४,५४८	८,४२२
सहकारी व्यावसायिक आन्दोलन:—		
(अ) मध्यप्रदेश सहकारी विपणन (मार्केटिंग सोसायटी).	...	१
(ब) कृषक संघ व उत्पादक संघ	५९	९६
(स) बहु-उद्देश्यीय समितियां	१६	८३१
सहकारी औद्योगिक आन्दोलन:—		
(अ) प्रान्तीय बुनकर सहकारी समिति ...	१	१
(ब) प्राथमिक बुनकर सहकारी समितियां ...	१२७	२७६
अन्य सहकारी समितियां:—		
सहकारी स्टोर्स, गृह-निर्माण आदि, आदि ...	२१६	९४९
योग ...	५,००३	१०,६१८

वर्ष १९५१ के पश्चात् से कन्ट्रोल (नियंत्रण) शिथिल होने तथा क्रमशः समाप्त होने के कारण सहकारी आन्दोलन को काफी क्षति पहुंची है; अन्यथा १९५१ से १९५३ तक तो स्थिति और सुदृढ़ हो गई होती।

सहकारिता के विभिन्न अंगों के कार्य

सहकारी साख आन्दोलन

अब तक के इतिहास में सहकारिता आन्दोलन का सबसे प्रमुख अंग सहकारी साख रहा है। वास्तव में सहकारी साख और विशेषकर कृषि क्षेत्र में सहकारी साख की आवश्यकता का अनुभव करते हुए ही इस आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया था तथा इसकी प्रगति का प्रमुख कारण भी "साख" की आवश्यकता ही रहा है। सहकारी साख के क्षेत्र में हुए कार्यों में कृषि-साख व गैर-कृषि साख दोनों ही शामिल हैं। दोनों ही प्रकार की साख सुविधाएं प्रदान करने के लिये राज्य में अनेकों संस्थाएं हैं जिनमें मध्यप्रदेश सहकारी बैंक, केन्द्रीय बैंक, जमीन रहन बैंक, काश्तकार साख समितियां व गैर-काश्तकार साख समितियां प्रमुख हैं।

उपरोक्त संस्थाएं कृषकों को साख की सुविधाएं प्रदान करती हैं। इनकी ब्याज की दर भी अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। किन्तु प्रायः देखा जाता है कि कृषक इन बैंकों व सहकारी समितियों से कम ब्याज की दर पर ऋण लेने के बदले सेठों व साहूकारों से अधिक दर पर ऋण लेते हैं। इसका एक कारण कृषकों की अज्ञानता तो है ही, किन्तु साथ ही, समय पर सुविधापूर्वक व सरलविधि से इन समितियों अथवा बैंकों से ऋण प्राप्त न होना भी एक प्रमुख कारण है। इसके अतिरिक्त बैंकों से ऋण प्राप्त करने के लिये कृषक को अपनी जमीन आदि रहन रखनी पड़ती है। किन्तु वह ऐसा करने से हिचकता है क्योंकि साहूकार यद्यपि ब्याज दर तो अधिक लेता है, तथापि बिना किसी वस्तु के रहन किये ही ऋण दे देता है। कृषि की वर्तमान स्थिति व सहकारी साख संस्थाओं द्वारा किये गये कार्यों को देखते हुए आज आवश्यकता इस बात की है कि कृषकों को ऋण देने के लिये सरल प्रणाली अपनाई जाय उन्हें ऋण सम्बन्धी अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान की जाय व इन संस्थाओं को अधिक लोकप्रिय बनाया जाय। साथ ही, अभी ऐसी संस्थाएं आर्थिक दृष्टि से इतनी सम्पन्न नहीं हैं कि वे कृषकों की आवश्यकतानुसार पर्याप्त ऋण की पूर्ति कर सकें। अतः इन्हें अधिक साधन-सम्पन्न बनाया जाना भी जरूरी है।

व्यावसायिक क्षेत्र में सहकारिता आन्दोलन

व्यावसायिक क्षेत्र में सहकारिता आन्दोलन "सहकारिता" का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। जिस प्रकार कृषि-उत्पादन के लिये व कृषकों की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सहकारी साख व्यवस्था आवश्यक है, उसी प्रकार व्यावसायिक क्षेत्र में भी सहकारिता आवश्यक है। व्यावसायिक क्षेत्र में सहकारिता के अन्तर्गत उत्पादक संघ, कृषक संघ, बहुउद्देश्यीय समितियां व विपणन समितियां आती हैं। कृषक को अपने उत्पादन का उचित मूल्य मिले, उसे अपने माल को बेचने में सरलता हो, व उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो, इस हेतु ऐसी समितियां व संघ काफी उपयोगी होते हैं। आज स्थिति कुछ ऐसी है कि कृषक अपने उत्पादन को, रखने की उचित व्यवस्था न होने और साहूकार का ऋण चुकाने व धनाभाव के कारण, रोककर नहीं रख सकता। फलस्वरूप उसे अनिवार्य रूप से अपना माल, चाहे वह कहीं भी और किसी भी भाव में बिके, बेचना पड़ता है। अतएव कृषक को उचित दाम नहीं मिलते और साहूकार लोग उसकी निर्बलता अथवा धनाभाव का अनुचित लाभ उठाते हैं। यह नितांत आवश्यक है कि कृषकों के उत्पादन को बेचने के लिये सुसंगठित विपणन समितियां हों जो कि कृषकों के हित को दृष्टि में रख उनके माल की उचित कीमतें दिला सकें। ऐसे अन्न-संग्रहालय भी होना चाहिये जहां कि किसान अपना अनाज सुरक्षित रख सकें। इसी तरह जब तक उनका अनाज बिक नहीं जाता तब तक उनकी वित्तीय आवश्यकताओं की भी समुचित पूर्ति होनी चाहिये। यदि इस प्रकार की विपणन समितियां, कृषक संघ व बहुउद्देश्यीय समितियां आवश्यकतानुसार कार्य करने लगें तो न केवल कृषि के क्षेत्र में, अपितु ग्रामीण कुटीर एवं लघु उद्योगों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिल सकेगा। इस दिशा में इस राज्य को अभी काफी प्रगति करना शेष है। यद्यपि राज्य सरकार भी इस ओर वाञ्छित कार्य करने के लिये प्रयत्नशील है; किन्तु यदि जनता और स्वायत्त-शासन संस्थाओं की ओर से भी सक्रिय कदम उठाये जाने लगें तो कृषकों को आशातीत लाभ होने लगेगा, मध्यस्थ वर्ग निकल जावेंगे और राज्य के कृषि एवं व्यावसायिक विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र खुल जावेगा।

औद्योगिक क्षेत्र में सहकारी आन्दोलन

कृषि एवं व्यावसायिक क्षेत्रों में सहकारिता की सफलता की अपेक्षा हमारे राज्य में औद्योगिक क्षेत्र में सहकारिता की सफलता अधिक रही है। यहां औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करनेवाली मुख्य सहकारी संस्थाएं बुनकरों की ही हैं।

हाथ-करघा उद्योग के विकास में इन संस्थाओं ने काफी सफलता प्राप्त की है और राज्य सरकार ने भी इस दिशा में काफी सहायता प्रदान की है। फलस्वरूप हाथ-करघा उद्योग में सहकारिता की सफलता अन्य उद्योगों के लिये एक अनुकरणीय विषय बन गया है।

इनके अतिरिक्त राज्य में गृह-निर्माण समितियों और सहकारी भान्डागारों आदि के विकास के लिये भी काफी विस्तृत क्षेत्र है। गृह-निर्माण के क्षेत्र में सहकारी समितियों द्वारा कुछ कार्य अवश्य किया गया है; किन्तु वह उतना उत्साहवर्धक नहीं है जितना कि होना चाहिये। यदि इस दिशा में भी जनता एवं सरकार पारस्परिक सहयोग से कार्य करें तो निश्चय ही ठोस प्रगति की जा सकती है।

लोक-वित्त

जहां तक मध्यप्रदेश का प्रश्न है उसकी आय अथवा राजस्व में अप्रत्यास्था (Inelasticity), अपर्याप्तता, व समाज कल्याण की दृष्टि से प्रति व्यक्ति व्यय का अल्पतम होना उसकी अपनी विशेषता रही है। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त हमारा प्रदेश सुदृढ़ आर्थिक नीति का अनुसरण कर उत्तरोत्तर विकास एवं उन्नति कर रहा है। यह तथ्य निम्नलिखित आय-व्ययकों की तालिका* से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है :—

मध्यप्रदेश की आय-व्ययक स्थिति

(लाख रुपयों में)

विवरण	१९४७-४८	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
कुल आय	१२,२४.९३	१७,३७.९८	१९,६०.०५	१९,६४.५२	२३,५९.८१
कुल व्यय	११,३५.९०	१६,१५.७१	१९,२६.३८	१६,७३.५७	१८,२२.०९
आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	+८९.०३	+७८.८७	+३३.६७	+२,९०.९५	+५,३७.७२

विवरण	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६
(१)	(७)	(८)	(९)	(१०)
कुल आय	२४,१४.६४	२५,२१.१२	२९,५०.५१	३२,८०.३७
कुल व्यय	१९,४९.६४	२५,०५.७८	३१,४२.२२	३५,६२.३७
आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	+४,६५.००	+२५.३४	—१,९१.७१	—२,८२.००

*प्राप्ति स्थान—राज्य सरकार के आय-व्ययक (मध्यप्रदेश)।

वर्ष १९४७ से वर्ष १९५५-५६ के आय-व्ययक का तुलनात्मक अध्ययन हमें यह स्पष्ट बतायेगा कि व्यय के किन मदों को हम कम कर सके हैं तथा किन मदों में अधिक व्यय किया जा रहा है:—

राज्य सरकार के आय व व्यय के साधन

(लाख रुपयों में)

आय		
विवरण (१)	१९४७-४८ (२)	१९५५-५६ (आयव्ययक अनुमान) (३)
केन्द्रीय उत्पाद शुल्क (जिसमें १४.०८ लाख रुपये का संपत्ति-शुल्क भी शामिल है)।	...	१,९०.२४
आय कर (जिसमें ५.४९ लाख का सम्पत्ति शुल्क भी शामिल है)।	१,७८.४४	३,००.८४
भू-राजस्व	२,३४.६५	५,५३.१३
मुद्रांक शुल्क ...	७१.३७	१,०६.९२
राज्य उत्पाद-शुल्क ...	१,९८.६६	१,९०.५७
वन	१,५१.८१	३,५७.५२
पंजीयन	१५.९८	२६.६१
मोटर गाड़ी अधिनियम के अन्तर्गत आय।	२२.०८	४४.४१
विद्युत् शुल्क ...	०.४३	१२.७०
तम्बाकू कर ...	४.९६	३.२४
मोटर स्प्रिट तथा लुब्रीकेन्ट पर बिक्री कर।	१३.२३	४५.७५
सामान्य बिक्री कर ...	६२.४५	२,३०.००
मनोरंजन शुल्क ...	२२.५६	२५.९७
व्यापार व्यवसाय व सेवा नियोजन कर।	३.६४	४.००
सिंचाई कर, आदि ...	१६.७८	२५.५१
ब्याज	१४.४९	८१.५१
लोक प्रशासन ...	७२.२२	९१.९१
लोक निर्माण कार्य ...	१५.०९	३३.०९
अन्य मद	२६.२६	७,०३.७३
केन्द्रीय शासन से अनुदान	...	८२.७२
केन्द्रीय शासन से प्राप्त धन-राशि।	९९.८३	९९.२६
सामुदायिक विकास योजनाओं केन्द्र से प्राप्त राशि।	...	१,५१.७४
योग ...	१२,२४.९३	३२,८०.३७

व्यय		
विवरण (१)	१९४७-४८ (२)	१९५५-५६ (आयव्ययक अनुमान) (३)
भूमि-कर सम्बन्धी ...	१,३९.४७	३,५८.०१
सिंचाई, इत्यादि ...	१८.८९	१,४४.८९
ऋण सेवाएँ ...	३१.४१	१,००.१८
सामान्य प्रशासन ...	१,४२.५३	३,२०.०८
न्याय प्रशासन ...	३५.३२	५४.०९
कारागार तथा अपराधी बसतिगृह।	१८.६२	२७.३५
पुलिस	१,७८.८९	२,५४.०५
वैज्ञानिक विभाग ...	०.६९	४.०८
शिक्षा	१,८३.९२	६,२८.६८
चिकित्सा	३६.४५	९९.४२
लोक स्वास्थ्य ...	२४.२९	८९.१६
कृषि	३३.७७	१,१५.६७
पशु-चिकित्सा ...	१२.७८	४३.१९
सहकारिता ...	९.१६	१८.८९
उद्योग तथा पूर्ति ...	७.२९	२५.२२
विविध विभाग ...	३.०८	१५.००
लोक निर्माण कार्य ...	१,४०.६३	६,३३.८१
अन्य शीर्षक ...	१,२१.३९	३,१९.७१
सामुदायिक योजनाएं	...	३,१०.१७
विद्युत् योजनाएं ...	५.३२	...
योग ...	११,३५.९०	३५,६२.३७

प्राप्ति स्थान—राज्य सरकार के आयव्ययक (मध्यप्रदेश)।

लोक-निर्माण एवं शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों पर वर्ष १९४७ में जब कि केवल १,२१.३९ लाख रुपये व १,८३.९२ लाख रुपये व्यय होते थे तब वर्ष १९५५-५६ में यही राशि बढ़कर ६,३३.८१ लाख रुपये व ६,२८.६८ लाख रुपये हो जाना तथा सामान्य प्रशासन पर १,४२.५३ लाख रुपये व कारागार व अपराधी वसतिगृह पर १,७८.८९ लाख रुपये व्यय के स्थान पर अब ३,२०.०८ लाख रुपये व २,५४.०५ लाख रुपये होना राज्य सरकार की कल्याणकारी गतिविधियों की उत्तरोत्तर प्रगति का परिचायक है। उक्त अवधि में राजस्व के साधनों में भी काफी वृद्धि हुई है। आय-कर (Income-tax) के मद में वृद्धिगत प्राप्तियां, सन् १९५२-५३ से राजस्व में एक नये मद का प्रारंभ, अर्थात् केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क (Union Excise Duties), वृद्धिगत अनुदानों, केन्द्रीय सरकार से प्राप्त आर्थिक सहायताओं एवं विशेष अनुदानों के फलस्वरूप हमारी राजस्व की स्थिति काफी प्रत्यास्थित (Elastic) हो गई है। वित्त आयोग (१९५२) की सिफारिशों के अनुसार प्राप्त आय-कर भाज्य समुच्चय (Divisible pool of Income-tax receipts) के ५५ प्रतिशत भाग में से ५.२५ प्रतिशत, व तम्बाखू, माचिस आदि के उत्पाद-शुल्क से प्राप्त ४० प्रतिशत शुद्ध आय वाले भाज्य समुच्चय में से ६.१३ प्रतिशत हिस्सा राज्य के लिये निर्धारित कर दिया गया है।

भू-राजस्व का हमारे राज्य के आयव्ययक के समस्त राजस्व मदों में प्रथम स्थान है। राजस्व के अन्य मदों में वन, बिक्री कर, उत्पाद-शुल्क एवं मुद्रांक-शुल्क सम्मिलित हैं। आशा है कि भविष्य में राज्य की आय में वृद्धि की दृष्टि से वन बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। किन्तु साथ ही मद्य-निषेध की नीति के उत्तरोत्तर कियान्वय से उत्पाद-शुल्क में कमी होने की प्रवृत्ति भी नजर आने लगी है। बिक्री-कर भी हमारी कर-नीति का एक प्रमुख साधन बनकर सन् १९५४-५५ में अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका है। बिक्री कर में यह वृद्धि सन् १९५४-५५ में अधिक चीजों (विशेषत: शक्कर) पर यह कर लगाये जाने के कारण तथा पिछले कर की वसूली के फलस्वरूप ही हुई है। विगत कुछ वर्षों से मुद्रांक-शुल्क से प्राप्त राजस्व स्थिरता लिये हुए है। यद्यपि फिलहाल मनोरंजन शुल्क से प्राप्त राजस्व अधिक नहीं है फिर भी लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठने पर इसमें भी वृद्धि होने की पूरी आशा है। आवश्यकता पड़ने पर सरकार बेटरमेंट लेवी का भी सहारा ले सकती है।

राजस्व में वृद्धि के साथ साथ व्यय के भी प्राय: सभी मदों में वृद्धि हुई है। किन्तु यह वृद्धि शिक्षा, लोक-निर्माण कार्य, उद्योग, सामान्य प्रशासन एवं ऋण सेवाओं के मदों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। पुलिस पर होनेवाले व्यय में विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। कर-राजस्व में वृद्धि के साथ ही साथ उसकी वसूली करने के साधनों पर भी खर्च बढ़ गया है। भू-राजस्व सम्बन्धी व्यय सन् १९४७-४८ में १,३९.४७ लाख रुपये से बढ़कर सन् १९५५-५६ में ३,५८.०१ लाख रुपये हो गया है। सन् १९५४-५५ में इसी मद के अन्तर्गत व्यय हेतु की गई मांग ६,२०.७७ लाख रुपये थी। इसका कारण यह था कि ३,१७.१९ लाख रुपये का खर्च भूतपूर्व जमींदारी इलाकों के सम्बन्ध में, भू-राजस्व मद के अन्तर्गत दर्शाया गया था। इसके पूर्व यह खर्च पूंजीगत लेखे के अन्तर्गत लिखा जाता था किन्तु अब फिर से राजस्व के अन्तर्गत लिखा जाने लगा है। किसी भी वर्ष प्राय: सुरक्षा सेवाओं पर (इन सेवाओं के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन, न्याय प्रशासन, कारागार तथा अभियुक्त बन्दोबस्त, पुलिस एवं विभिन्न विभाग सम्मिलित हैं) खर्च किये जानेवाले व्यय की अपेक्षा समाज सेवाओं पर (इन सेवाओं में वैज्ञानिक शिक्षा, औषधि, लोक स्वास्थ्य, कृषि, ग्रामविकास, पशुचिकित्सा, सहकारिता, उद्योग, आदि विभाग शामिल हैं) किये जाने वाले व्यय की तुलना में हम देखेंगे कि पहले की अपेक्षा अब समाज-सेवा कार्यों पर होनेवाले व्यय की राशि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। और ज्यों-ज्यों हम इस दिशा में प्रगति करेंगे, हम कल्याणकारी राज्य की ओर अग्रसर होते जावेंगे।

विकास व्यय पर भी राज्य सरकार ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है। राज्य सरकार का विकास व्यय सन् १९४७-४८ में ३,२२.१२ लाख रुपये से बढ़कर सन् १९५५-५६ में २१,६२.८८ लाख रुपये हो गया है,जो कि ५,७१.४५ प्रतिशत वृद्धि दर्शाता है। विकास योजनाओं को आर्थिक सहायता देने तथा मध्यप्रदेश में जमींदारी पद्धति को समाप्त कर देने के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति के लिये वर्ष १९५०-५१ से लगातार राज्य-विकास निधि में से प्रत्याहरण (withdrawal) किया जा रहा है।

यातायात व व्यापार

हमारी अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में है और जब तक ये ग्राम समुचित यातायात व्यवस्था से सुसम्बद्ध नहीं किये जाते, तब तक हम इस क्षेत्र में पिछड़े हुये ही माने जावेंगे। इस दृष्टि से मध्यप्रदेश तो और भी पिछड़ा हुआ प्रान्त है।

अन्य राज्यों की तुलना में हमारा राज्य काफी पीछे है। वर्ष १९५०-५१ में राज्य की कुल सड़कों की लम्बाई ११,१७५ मील थी जिसका विवरण इस प्रकार है :—

सड़कें		पक्की	कच्ची	योग
(१)		(२)	(३)	(४)
राष्ट्र की प्रमुख सड़कें	...	१,१६४	....	१,१६४
राज्य की सड़कें ...	...	४,८७४	३,७९३	८,६६७
स्वायत्त संस्थाओं की सड़कें	...	३२९	१,०१५	१,३४४
कुल योग	....	६,३६७	४,८०८	११,१७५

पंचवर्षीय योजना में सड़कों का विकास.—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हमारा राज्य इस दिशा में काफी पिछड़ा हुआ है, अतएव राज्य सरकार ने वर्ष १९५१—५६ की अवधि के लिये २,१७.७९ लाख रुपये की लागत की योजना बनाई है जिसमें १,२६८ मील लम्बी सड़कें बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। निर्धारित लक्ष्य में से सितम्बर, १९५४ तक राज्य में १,०२४ मील लम्बी सड़कें बन चुकी हैं तथा शेष २२४ मील लम्बी सड़कें भी योजना अवधि के पूर्व ही बन जावेंगी। इनके अतिरिक्त लगभग ७५० मील लम्बी ग्राम्य सड़कें भी ग्राम-सड़क विकास योजना के अन्तर्गत बन चुकी हैं। इन सड़कों के बनाने में कुल सड़क-निर्माण-व्यय का एक-तिहाई व्यय जनता व दो-तिहाई व्यय सरकार वहन करती है। इसी दिशा में सामुदायिक विकास योजना क्षेत्र व राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड भी कार्यरत हैं; जिनके प्रयत्नों से लगभग ७८३ मील लम्बी सड़कें बन चुकी हैं। दिसम्बर १९५४ के अन्त तक बनी इन सड़कों में १९२ मील पक्की व ५९१ मील कच्ची सड़कें हैं। इस प्रकार विगत चार वर्षों में ही राज्य में निर्धारित लक्ष्य की अपेक्षा लगभग दुगुनी, अर्थात् २,५५६ मील लम्बी सड़कें बन चुकी हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी राज्य सरकार ने सड़कों के लिये १,५०९ लाख रुपयों का व्यय करने की योजना बनाई है। उक्त राशि से लगभग १,७५० मील लम्बी सड़कों का निर्माण हो सकेगा।

सड़क यातायात के प्रमुख साधनों में बैलगाड़ी, मोटर वाहन, मोटर सायकल, टांगे, सायकल व रिक्शे आते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश यातायात बैलगाड़ी द्वारा ही होता है। मोटर यातायात के सम्बन्ध में राज्य सरकार ने कुछ उल्लेखनीय कदम उठाये हैं जिनमें से राज्य के मुख्य मार्गों के मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण विशेष महत्वपूर्ण है। राज्य सरकार व केन्द्रीय सरकार ने मिलकर प्रदेश की दो मुख्य मोटर यातायात कम्पनियों के अधिकांश हिस्से खरीद लिये हैं तथा अब राज्य का अधिकांश मोटर यातायात इन त्रिपक्षीय कम्पनियों द्वारा होता है। राज्य सरकार व केन्द्रीय सरकार द्वारा चालित इन त्रिपक्षीय मोटर कम्पनियों—दी सी. पी. ट्रान्सपोर्ट कम्पनी लिमिटेड व प्राविन्सियल ट्रान्सपोर्ट कम्पनी लिमिटेड ने पहले की अपेक्षा काफी प्रगति कर ली है।

रेल यातायात.—राज्य में रेल यातायात की सुविधायें बहुत कम हैं, किन्तु देश के मध्य में बसे हुये होने के कारण लगभग सभी दिशाओं से आने-जाने वाले प्रमुख रेलमार्ग राज्य में से ही होकर जाते हैं। यहां कुल २,५९६ मील लम्बी रेल्वे लाइनें हैं। राज्य के आयात एवं निर्यात व्यापार में इन रेल मार्गों का महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु फिर भी इस प्रदेश में रेल यातायात का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। राज्य के बस्तर जैसे विशाल क्षेत्रों में तो रेल यातायात की सुविधायें नगण्य हैं।

हवाई यातायात.—हवाई यातायात द्वारा हमारे राज्य की राजधानी नागपुर देश के प्रमुख शहरों से सम्बद्ध है। यहां से प्रतिदिन यात्रिक सेवा के अतिरिक्त हवाई डाक की व्यवस्था भी की जाती है। किन्तु इस क्षेत्र में भी अभी वांछनीय सुविधाओं की कमी है।

इस प्रकार राज्य की वर्तमान स्थिति को देखते हुये हम कह सकते हैं कि हमारे राज्य में यातायात की सुविधाओं की जितनी आवश्यकता है उतनी पूर्ति फिलहाल नहीं हो रही है। किन्तु राज्य सरकार एवं केन्द्रीय सरकार की भावी यातायात योजनाओं को देखते हुये आशा है कि इस विषय में शीघ्रता से पूर्ति होगी।

व्यापार

मध्यप्रदेश में कच्चे माल का विपुल भंडार है जो हमारे लिये बहुमूल्य सम्पत्ति व व्यापारिक प्रगति का मुख्य साधन है। राज्य में कच्चे माल की प्रचुरता के कारण आसपास के व्यापारीगण भी यहीं राज्य में आकर बस गये हैं। कच्चे माल के अतिरिक्त सीमेन्ट, सूती कपड़े और कांच के सामान आदि औद्योगिक उत्पादनों और तिलहन सदृश कृषि-उत्पादनों का भी राज्य की व्यापार-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रदेश से होने वाले निर्यात में उक्त प्रमुख वस्तुओं के अतिरिक्त पशु, पशुओं के सींग व हड्डियां, रंग, हर्रा, संतरे, खाद्यान्न, दूध, लाख, चमड़ा, खली, घी और ऊन आदि वस्तुओं का भी काफी निर्यात होता है।

निर्यात के अलावा हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आयात भी करना पड़ता है। राज्य के आयात व्यापार में जूट व जूट के सामान, शक्कर, लोहे की चादरें, तेल, तम्बाखू, कोकिंग, कोल और सूती कपड़े का स्थान विशेष उल्लेखनीय है।

उपरोक्त पदार्थों के अतिरिक्त हमें पशुओं, काफी, चाय, रंग, सूखे मेवे, अनाज, चमड़े के सामान, घी, रबर, ऊन और अभ्रक आदि का आयात भी आवश्यकतानुसार करना पड़ता है।

हमारे राज्य में आयात की अपेक्षा निर्यात की मात्रा ज्यादा है और निर्यात किये जानेवाली वस्तुओं में अधिकांशतः कच्चा माल ही रहता है। किन्तु यदि हम राज्य में ही इसे निर्मित माल में परिणित कर सकें तो हमारी काफी आर्थिक प्रगति हो सकेगी। हमारे राज्य के व्यापार की एक और उल्लेखनीय बात यह है कि हम जिन वस्तुओं का निर्यात करते हैं उन्हीं का आयात भी करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारे राज्य से निर्यात की जानेवाली वस्तुएं या तो अपेक्षाकृत कम अच्छी किस्म की होती हैं अथवा कच्चे रूप में माल निर्यात करने के उपरांत हम उसी माल को पक्के अथवा सुधरे हुए रूप में आयात करते हैं।

कुल मिलाकर हम अपने राज्य के व्यापार के संबंध में कह सकते हैं कि फिलहाल यद्यपि स्थिति संतोषजनक है फिर भी और अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रगति के लिये खुला है।

सामुदायिक विकास योजनाएं एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा

हमारे देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवा एवं सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रारंभ से भारतीय जन-जीवन में स्वतंत्र भारत की कल्पना को साकार करने वाला एक क्रान्तिकारी किन्तु शांतिपूर्ण युग का सूत्रपात हुआ है। इन योजनाओं द्वारा सदियों से उपेक्षित भारत के प्राण ग्राम एवं ग्रामीणों को सुख एवं समृद्धि के मार्ग पर आरूढ़ कर उनके जीवन-स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि करने का संकल्प किया जा रहा है।

देश की वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए गत मई १९५२ को राज्य सरकारों के परामर्श से सामुदायिक विकास की योजना स्वीकृत की गई। २ अक्टूबर १९५२ को देश भर में ५५ विकास योजनायें प्रारंभ की गईं और तब से यह कार्य निरंतर प्रगति कर रहा है। पंचवर्षीय योजनावधि के अन्त तक राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजनाओं के अन्तर्गत १,२०० सेवा खंडों की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। आशा की जाती है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक संपूर्ण देश राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंडों से आच्छादित हो जावेगा।

राष्ट्रीय स्तर पर प्रारंभ की गई इस योजना का उद्घाटन मध्यप्रदेश में भी, बापू की जन्मतिथि २ अक्टूबर (१९५२) से अमरावती, बस्तर, होशंगाबाद व रायपुर में विकास केन्द्रों की स्थापना से हुआ। तत्पश्चात् वर्ष १९५३ में ४ और विकास केन्द्र बालाघाट, बुलढाना, जबलपुर और मंडला जिलों में स्थापित किये गये। सामुदायिक विकास योजना के साथ साथ राज्य म ७५ राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंडों की भी स्थापना की गई। इस प्रकार वर्ष १९५३-५४ के अन्त तक ५८,९४ व ३४ आबादी वाले १३,०१२ ग्राम इन योजनाओं के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आ चुके हैं। वर्ष १९५२ में स्थापित सामुदायिक विकास योजनाओं पर अब तक ८८.९२ लाख रुपये व्यय हो चुके हैं। वर्ष १९५३ में स्थापित सामुदायिक विकास-केन्द्रों व राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंडों पर भी क्रमशः ५.५५ लाख व ३८.८ लाख रुपये व्यय किये जा चुके हैं। संपूर्ण राज्य को ३२९ खंडों में विभाजित किया गया है जोकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक स्थापित किये जा सकेंगे।

ग्रामीण जीवन से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर योजना के अन्तर्गत किये गये कार्यों में मुख्यतः कृषि विस्तार, सिंचाई, पशुपालन, शिक्षा, समाज शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सफाई, यातायात, ग्रामीण हस्तकलाकौशल आदि उल्लेखनीय हैं।

कृषि विकास कार्य.—कृषि विकास के क्षेत्र में योजनाओं के फलस्वरूप प्राप्त परिणाम लाभकारी एवं उत्साह-वर्धक रहे हैं। सामुदायिक योजनाओं की शुरुवात होने के पूर्व सुधरी किस्म के बीज व खाद का उपयोग करने वाला कृषि क्षेत्र अब बढ़कर दुगुना हो गया है। अब कृषकों में खलिहान एवं खाद उपयोग करने की वृत्ति दिनों दिन बढ़ रही है। जापानी पद्धति से धान की खेती करने की दिशा में भी काफी सफलता मिली है। कृमि विनाशक रसायनों का उपयोग भी बढ़कर ४ गुना हो गया है किन्तु आज इस सबके बावजूद अनुसंधान कार्य बढ़ाने की आवश्यकता महसूस होती है।

पशुपालन एवं पशु-संवर्धन.—पशुपालन एवं पशु-संवर्धन के हेतु बृहद् पैमाने पर पशु-चिकित्सा सुविधायें प्रदान करने व उत्तम पशु-सन्तति प्राप्त करने के लिये सुधरी हुई नस्ल के उन्नत पशुओं के उपयोग करने की दिशा में भी सफल प्रयास किए गए हैं। कृत्रिम रेतन केन्द्रों की स्थापना, मत्स्य पालन योजना आदि और भी अनेक कार्य इस दिशा में किये गये हैं।

शिक्षा.—योजना के अन्तर्गत १,२६४ नये स्कूल प्रारंभ किये गये हैं जिनके लिये अधिकांश इमारतें वहां की जनता के सहयोग एवं योजना की ओर से दी गई आंशिक सहायता द्वारा बनाई गई हैं। अधिकांशतः स्कूलों में अभी प्राथमिक शिक्षा ही दी जाती है, न कि बुनियादी शिक्षा।

समाज शिक्षा.—समाज शिक्षा के कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्राम-क्रीड़ा-केन्द्र, बालक मन्दिर, महिला समाज, खेलकूद के केन्द्र आदि अनेकों प्रयास काफी सफल एवं लोकप्रिय बन गये हैं। समाज शिक्षा योजना ग्रामीण जीवन को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न कर रही है। स्थान-स्थान पर "कला पथक" के नाम से कही जाने वाली सांस्कृतिक इकाइयां भी सतत कार्यशील हैं।

स्वास्थ्य एवं सफाई.—प्रत्येक सामुदायिक योजना खंड के सदर मुकाम में प्रारंभिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें बालकों के कल्याणार्थ सुविधाएं भी प्रदान की गई हैं। इन स्थानों पर चिकित्सा केन्द्र की स्थापना में जनता ने भी काफी योगदान किया है। प्रसूतिका गृह एवं शिशु कल्याण केन्द्रों के प्रति ग्रामीण क्षेत्रों में काफी दिलचस्पी बढ़ रही है। छोटे-छोटे ग्रामों में प्रसूतिका गृह बनाने की मांग आजकल काफी बढ़ रही है। इनमें जनता का सहयोग भी सराहनीय है। हाल ही में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंडों में १४ प्रारंभिक चिकित्सा केन्द्र खोलने की स्वीकृति प्रदान की है। मलेरिया-प्रतिबंधक उपाय भी इन क्षेत्रों में काफी लाभप्रद एवं महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं तथा सफलतापूर्वक प्रयोग में लाये जा रहे हैं।

हस्तकला कौशल.—ग्रामीण हस्तकला कौशल व कुटीर उद्योगों को बढ़ाने की दिशा में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है क्योंकि इस हेतु हस्तकला द्वारा निर्मित सामग्री के विक्रय की उचित व्यवस्था का सर्वथा अभाव है तथा और भी अनेकों अन्य कठिनाइयां हैं। तथापि अमरावती व बरूड़ में फल-संरक्षण उद्योग व २-३ खंडों में बृहद् पैमाने पर ईंटे बनाने का कार्य भी सफलतापूर्वक प्रारंभ किया गया है। ग्रामीण बढ़ई व लुहारों आदि को भी प्रशिक्षण दिया जा रहा है। चर्मोद्योग सदृश कुछ और भी छोटी-छोटी योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में मध्यप्रदेश

राष्ट्र की प्रगति उसके विभिन्न राज्यों अथवा प्रदेशों पर निर्भर करती है। ये राज्य राष्ट्र की ऐसी इकाइयां हैं कि जिनमें से एक के भी पिछड़ने पर सारे देश की प्रगति शिथिल हो जाती है। आज जब कि हमारा देश स्वतंत्र हो चुका है, हम कल्याणकारी राज्य और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना का संकल्प कर चुके हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि राष्ट्र की प्रत्येक इकाई, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अपना मूल्य व स्थान आंके। यहां मध्यप्रदेश को भी इसी कसौटी पर कस देखना है कि देश की एक इकाई के रूप में उसने कहां तक अपनी जिम्मेदारी निभाई है।

भारत-भूमि का ९.७५ वां हिस्सा मध्यप्रदेश की सीमा में आता है और १ व १७ के अनुपात में जनसंख्या हमारे राज्य में है। भारत कृषि-प्रधान देश है, अतः प्रत्येक इकाई द्वारा कृषि के क्षेत्र में किया गया योगदान अपना महत्व रखता है। वर्ष १९५१ में हमारे राज्य में २८,४८७,१४९ एकड का क्षेत्र विभिन्न फसलों द्वारा बोया गया था। इसी वर्ष बम्बई, उत्तर प्रदेश व मद्रास में भी क्रमशः ४१,०८१,५८०, ३९,२९१,८०५ तथा ३१,०५८,४६९ एकड भूमि बोई गई थी। सारे देश में फसलों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र में चतुर्थ स्थान प्राप्त करने का सौभाग्य हमारे राज्य को प्राप्त है। देश में जब कि खाद्यान्नों का अभाव था, मध्यप्रदेश ने इस समस्या के हल में भी अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है। वर्ष १९४९-५० से लेकर वर्ष १९५३-५४ तक देश में खाद्यान्न उत्पादन बढाने के अनवरत प्रयत्न किये गये। कुछ राज्यों को छोडकर प्रायः सभी राज्यों में कृषि-क्षेत्र व उत्पादन में वृद्धि हुई है। मध्यप्रदेश ने इस अवधि में २०.४ प्रतिशत उत्पादन वृद्धि कर समस्या के हल करने में महत्त्वपूर्ण हिस्सा बंटाया है। देश की प्रमुख फसलों के उत्पादन में भी मध्यप्रदेश का अच्छा स्थान है। उदाहरणार्थ इसी अवधि में गेहूं व चांवल के उत्पादन की दृष्टि से मध्यप्रदेश का देश में चौथा व कपास उत्पादन की दृष्टि से दूसरा क्रम रहा है।

औद्योगिक क्षेत्र में भी हमारा राज्य आगे बढ रहा है। वर्ष १९५१ में देश में कांच व कांच के सामान के निर्माण में मध्यप्रदेश का ५ वां व मृच्छिल्प उत्पादन में तीसरा स्थान रहा। वर्ष १९५२ में फल-संरक्षण व साग-भाजी उत्पादन में बम्बई के पश्चात् इस राज्य का ही स्थान रहा। इसी प्रकार वर्ष १९५३ में सूती कपडे के उत्पादन में भी हमारा स्थान ५ वां था। राज्य में बल्लारपुर पेपर मिल्स व नेपा मिल्स की स्थापना से यह प्रदेश कागज उद्योग की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। भिलाई के इस्पात कारखाने में उत्पादन प्रारंभ होते ही यह प्रदेश इस्पात-उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना लेगा।

औद्योगिक विकास की दृष्टि से किये गये प्रतिशत व्यय की दृष्टि से हमारे बाद ही उत्तर प्रदेश (६३.८१), उडीसा (५२.२१), मद्रास (४९.२६) तथा राजस्थान (४५.९७)आदि सब "अ" व "ब" श्रेणी के राज्यों का क्रम आता है। प्रति व्यक्ति पीछे औसत व्यय के हिसाब से भी मध्यप्रदेश के पश्चात् उत्तर प्रदेश (०.६ रुपये), हैदराबाद (०.६ रुपये) व मैसूर (०.४ रुपये) का स्थान आता है। समाज सेवा के क्षेत्र में भी मध्यप्रदेश का नाम विशेष रूप से सामने आया है। वर्ष १९५१ से १९५४ तक की अवधि में समाज सेवा कार्यों पर किये गये प्रति व्यक्ति व्यय की औसत की दृष्टि से मध्यप्रदेश का स्थान बम्बई व पश्चिमी बंगाल के पश्चात् आता है। मध्यप्रदेश के बाद आन्ध्र, मध्यभारत व अन्य "अ" तथा "ब" श्रेणी के राज्यों का क्रम है।

शिक्षा के विकास के लिये भी राज्य ने वर्ष १९५३-५४ में अपने व्यय का १९.० प्रतिशत भाग शिक्षा पर खर्च किया है, जबकि बम्बई ने १८.९ प्रतिशत, त्रावणकोर-कोचीन ने १७.८ प्रतिशत, हैदराबाद ने १६.९ प्रतिशत, मैसूर ने १६.८ प्रतिशत तथा बिहार व पेप्सू ने क्रमशः १५.६ व १५.४ प्रतिशत व्यय किया।

खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी मध्यप्रदेश का देश में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कच्चा लोहा, मैंगनीज और कोयले जैसे बहुमूल्य खनिज पदार्थों का हमारे राज्य में विपुल भंडार है। देश के सबसे अधिक खनिज-संचय हमारे प्रदेश में ही भूगर्भस्थ हैं। हमारा राज्य सारे देश के मैंगनीज उत्पादन का ५५ प्रतिशत भाग पूरा करता है। मैंगनीज के क्षेत्र में हमारा उत्पादन उडीसा से ढाई गुना व आसाम से चौगुना अधिक है। कोयला उत्पादन की दृष्टि से भी हमारा स्थान देश में तीसरा आता है। लोहे के उत्पादन के क्षेत्र में यद्यपि हम कुछ पीछे हैं किन्तु इसका प्रमुख कारण उत्खनन के साधनों का अभाव ही है, तथापि भिलाई के इस्पात कारखाने के खुलने पर हम अवश्य इस क्षेत्र में भी काफी आगे बढ जावेंगे। भू-गर्भस्थ लौह-संचय की दृष्टि से उडीसा के पश्चात् मध्यप्रदेश का ही क्रम आता है। अनुमानतः उडीसा में १६५.४ करोड टन लोहा भूगर्भस्थ है। इसी प्रकार मध्यप्रदेश में भी १५५.२ करोड टन लोहा भूगर्भस्थ होने का अनुमान लगाया गया है।

वन-सम्पत्ति की दृष्टि से हमारा राज्य सबसे प्रथम है। वनोत्पत्ति में इमारती लकडी व जलाऊ लकडी का सर्वाधिक उत्पादन करने का श्रेय मध्यप्रदेश को है। वर्ष १९५१ में इस राज्य ने कुल १६०,१३१,००० घनफुट लकडी का उत्पादन किया जब कि बम्बई (८२,३४२,०००) उत्तर प्रदेश (६७,४५८,०००) व पश्चिमी बंगाल (३९,४४२,०००) जैसे राज्य भी काफी पीछे रहे। इसी प्रकार गौण वनोत्पत्ति में भी हम महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(**टिप्पणी**.—अन्य राज्यों से मध्यप्रदेश के तुलनात्मक अध्ययन के लिये इस लेख में दी गई संपूर्ण सांख्यिकीय जानकारी अखिल भारतीय प्रकाशनों से ली गई है। स्वभावतः अन्य लेखों में दी गई तत्संबंधी जानकारी, जो कि राज्य सरकार के विभागीय प्रकाशनों से ली गई है, कुछ भिन्न हो सकती है।)

मध्यप्रदेश के वनवासी

श्री राजेन्द्रप्रसाद अवस्थी "तृषित"

मध्यप्रदेश में निवास करने वाले आदिमवासियों की संख्या २,४७७,०२४ है। उन्हें आदिवासी अथवा आदिमवासीके बदले में वनवासी कहना उपयुक्त समझता हूं और इस कारण मैं इस लेख में इसी "वनवासी" शब्द का प्रयोग कर रहा हूं। ये वनवासी किस नस्ल के हैं इस बात को निश्चित करने के लिए विद्वानों द्वारा निर्धारित नृतत्त्व-शास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। नृतत्त्व-शास्त्रियों ने मानव-शरीर के विभिन्न अंगों की रचना और उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा के आधार पर वनवासियों को द्राविड़ और मुण्डा (अथवा कोल)—इन दो नस्लों का बताया है। मुण्डा शब्द संथाली भाषा का "मांजही" है, जिसके अन्तर्गत कोलरी (कलेरियन), शावरी और खेरवारी आदि जातियों की बोलियां आती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मुण्डा-वंश के लोग ही भारत के आदिवासी हैं, द्राविड़ तो आर्यों के समान बाहर से आकर भारत में रहे। कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते, वे भारत की समस्त हिन्दू जाति को यहां की आदिमजाति मानते हैं और किसी तरह का वर्गीकरण करना पसन्द नहीं करते। यह निश्चित है कि सारे वनवासी अपने को हिन्दू मानते हैं और हिन्दू संस्कृति पर आस्था रखते हैं। अंग्रेज सरकार ने हरिजनों और वनवासियों को हिन्दुओं से अलग रखने की दृष्टि से इन जातियों की, जहां तक बन पड़ा है, संख्या बढ़ाकर दिखायी थी। उनका उद्देश्य हिन्दुओं की जनसंख्या और शक्ति को क्षीण करना था, इसलिए उन्हें हिन्दुओं से अलग करके उनमें अंग्रेजों ने द्वेषभाव भरे। इसका प्रमाण सन् १९३१ और १९४१ की जनसंख्या से मिलता है। सन् १९३१ में भारत की पर्वतीय जातियों की जनसंख्या लगभग पौन करोड़ दिखायी गयी थी, जो सन् १९४१ में अढ़ाई करोड़ से ऊपर कर दी गयी, अर्थात् जिन पौने दो करोड़ लोगों को उन प्रान्तों में सन् १९३१ में हिन्दू माना गया था, उनको एक ही कलम से हिन्दुओं से अलग करके वनवासियों में मिला दिया गया। अब स्वतंत्र भारत में इस भेदभाव को मिटाना बहुत आवश्यक हो गया है। इन वनवासियों को हिन्दुओं के अधिकाधिक पास लाने की आवश्यकता है। भारत के संविधान में इस ओर प्रयत्न किये गये हैं और इसीसे सन् १९५१ की जनसंख्या में वनवासियों की उपजातियों की अलग-अलग जनसंख्या नहीं दर्शायी गयी। उसमें भाषा के अनुसार जनसंख्या बतायी गयी है। मध्यप्रदेश में भाषा के अनुसार वनवासियों की जनसंख्या इस प्रकार है* :—

(१)	हल्बी	... ...	२६२,८९४
(२)	गोंडी	... ...	१,०८९,१४१
(३)	माड़िया	... ...	१४०,५८३
(४)	परजा (धुरवा)	...	१९,८४७
(५)	कुरुख (ओरांव)	...	९२,५३७
(६)	झरिया	... ...	१,१८०
(७)	कोरवा	... ...	१५,७२०
(८)	मुण्डा	... ...	१,१९०
(९)	कोरकू	... ...	१६९,८८२

हमारे राज्य में ओरोंव, कँवर (कवार), कोरवा (कोरकू), कोल, कोलम, कोली, डागी, कोलोह, खड़िया, खरवार, खोंड या कन्ध, चेरो, धंवर, नगासिया, पाण, परहैया, बनजारा, बिरजिया, बिरहोर, असुर, आंध, बेडिया, बैगा, भील, भुइहार, भूंजिया, भूमिज, भोंगटा, मलार, माहली, मुण्डा, लोहरा, वेदिया, शवर या सावरा और संथाल जाति के वनवासी निवास करते हैं।

*सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इंडिया, १९५१

इनमें से मध्यप्रदेश में सबसे ज्यादा गोंड पाये जाते हैं। समस्त भारतवर्ष में पाये जाने वाले गोंडों की दो-तिहाई आबादी यहाँ पर है। गोंडों के अतिरिक्त ओरॉव, कँवर (कवार), कोरवा (या पांडु), कोरकू, कोल, खोंड या कंघ, नगसिया, बैंगा, भील, मुंडा और शबर या सँवरा (सावरा) यहां की अन्य प्रमुख वनवासी जातियां हैं। इन जातियों के कई भेद और उपभेद भी हैं। गोंडों के तो अनेक भेद हैं। बस्तर में रहने वाले गोंडों में भतरा, मारिया, मुड़िया, कोया और परजा ये पांच प्रधान भेद मिलते हैं। नर्मदा घाटी के गोंडों में अगरिया, परधान और परहैया तीन भेद और भी हैं। इनके सिवाय राजगोंड, राज कोरकू, राज मुड़िया, नाइक गोंड, पित-भत्तरा उनकी कुछ उपजातियां हैं।

भाषा के आधार पर वनवासियों के दो प्रमुख भाग किये जा सकते हैं :—

(१) द्राविड—गोंड, कोरकू, खोंड, नगसिया और बैंगा इत्यादि।

(२) मुण्डा या कोल—ओरॉव, कँवर, कोल, शवर, भील, मुण्डा और संथाल इत्यादि।

गोंड मध्यप्रदेश में प्राय: सर्वत्र पाये जाते हैं परन्तु प्रमुखरूप से वे बस्तर और नर्मदा की घाटी में मिलते हैं। कोरकू छत्तीसगढ व झारखंड हिस्से में और बरार में, खोंड और नगसिया, बस्तर और चांदा में, बैंगा मण्डला, बालाघाट, बैतूल जिलों में, ओरॉव उडिया प्रदेश से लगे क्षेत्र यथा रायगढ, सिरगुजा आदि जिलों में, कँवर बिलासपुर और रायगढ में, कोल बघेलखंडी क्षेत्र के जबलपुर, मंडला, सागर और बिलासपुर जिलों में, शबर बिलासपुर, रायगढ और बुंदेलखंड में (बुंदेलखंड में इन्हें सौर कहते हैं), मुण्डा बिलासपुर और रायगढ में, संथाल बिहार से लगे मध्यप्रदेश के क्षेत्र में और भील राजस्थान से लेकर निमाड जिले तक के हिस्से में पाये जाते हैं।

बैंगाओं के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने लिखा है कि वास्तव में ये छत्तीसगढ के निवासी हैं। वहाँ से वे सतपुडा की पहाडी की ओर चले गए और बस गए। सर ग्रियर्सन ने उनकी भाषा का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि उनकी भाषा में छत्तीसगढी का पर्याप्त प्रभाव है अतः वे मूलरूप से छत्तीसगढी ही मालूम पडते हैं। यह तर्क कहां तक उचित होगा यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि छत्तीसगढी भाषा स्वत: ही अवधी का एक रूपान्तर मात्र है। वेरियर एल्विन के मतानुसार बैंगा*, भूमिया जाति की ही एक शाखा है। भुइंया अथवा भूमिया का अर्थ भूमिराजा या भूमिजन होता है। बैंगा भी अपने को भूमिजन मानते हैं। डॉ. रसल ने बैंगा का अर्थ भुइंया जाति के उन विशेष व्यक्तियों से लगाया है जो गुनाई-भुताई का काम करते हैं। सम्भवत: भुइंया जाति का जो वर्ग दवादारू और गुनाई-भुताई का कार्य करने लगा उसे बैंगा कहने लगे। छोटा-नागपुर और मध्यप्रदेश में ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए वनवासी जातियां बैंगा शब्द का प्रयोग करती हैं जो दवादारू का काम करते हैं। एल्विन साहब ने अपना मत इस आधार पर बनाया है कि बैंगा, कोल और गोंडों से भी पुराने हैं। वे उन्हें गोंडों से एकदम अलग मानते हैं और उन्हें कोल अथवा मुण्डा नस्ल का बताते हैं। परन्तु बैंगा अपने को गोंडों का ही एक अंग मानते हैं। इसके सम्बन्ध में एक लोक कथा प्रचलित है जो इस प्रकार है :—

"बैंगाबाबा बैंगा लोगोंके आदि पुरुष थे। इन्हीं का दूसरा नाम है नंगा बैंगा। नंगा बैंगा की उत्पत्ति एक तूंबे में से हुई। जब बाबा वसिष्ट ने उसे देखा तो उन्हें बहुत गुस्सा आया। उन्होंने उसको उठाया और जंगल में फेंक दिया। एक काली नागिन ने उसे उठाकर तीन बूंद दूध पिलाया और वह एक बांमी के पीछे छुप गई। उसके बाद नागिन को एक लडकी हुयी जिसका नाम रखा गया नंगा बैंगिन। नागिन ने ही नंगा बैंगा और नंगा बैंगिन को एक जगह पर पाला पोसा। जब वे बडे हुए तब उनका विवाह हो गया। नंगा बैंगा और नंगा बैंगिन के दो लडके हुए। उनमें से एक जंगल काटकर अपना पेट भरने लगा उसको बैंगा कहने लगे और दूसरा लडका खेती का काम करने लगा उसको गोंड कहने लगे। इस प्रकार दोनों की जो प्रजा हुई वह बैंगा और गोंड कहलाने लगी"।

सत्य कुछ भी हो लेकिन बैंगाओं का अपना व्यक्तित्व है। वे न तो गोंडों की तरह सभ्य हैं और भुइयों की तरह खेतीबारी में उतने दक्ष ही हैं। वनवासियों की अन्य जातियों के बीच इसी तरह की कुछ और भी लोक-कथायें सुनने मिलती हैं जिनसे पता लगता है कि वनवासी अन्त में अपने को एक मानते हैं और परोक्षरूप से भेदभाव के पक्ष में नहीं हैं।

*बैंगा—वेरियर एल्विन।

जनरल कनिंगहम ने गोंड़ शब्द की उत्पत्ति "गौड़" देश से बतायी है। पश्चिमी बिहार और पूर्वी बंगाल का कुछ भाग "गौड़" देश कहलाता था। कई विद्वान कनिंगहम के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। हिस्लाप ने बड़ी लम्बी छान-बीन के पश्चात् लिखा है कि गोंड़ शब्द तेलगू भाषा का "कोंड़" शब्द है। तेलगू में कोंड़ का अर्थ "पहाड़" होता है। आज भी गोंडों का केन्द्र स्थल तिलंगाना प्रान्त है। पहाड़ों के निवासी होने से समतल के लोग इन्हें "कोंड" कहते रहे होंगे। प्रसिद्ध विद्वान् टालेमी ने इनको "गोंड़लोई" लिखा है। गोंड स्वयं अपने को महादेव द्वारा उत्पन्न किया बताते हैं। उनका कहना है कि महादेवने मूल पुरुष लिंगों द्वारा इस जाति को अपनी संतानों में बांट दिया। इसीसे प्रत्येक गोंड़ महादेव का कट्टर भक्त है और उन पर अटूट आस्था रखता है। राजगोंड अपने को रावण की सन्तान कहते हैं, कुछ लोग अपने को क्षत्रिय भी बताते हैं। गोंडों में एक किवदन्ती प्रचलित है जिससे ज्ञात होता है कि उनका आदि स्थान "काचीकोपा-लोहागढ़" है। अनेक विद्वानों के मत से पचमढ़ी का "बड़ा महादेव" और "चौरागढ़" ही वास्तव में "काचीकोपा-लोहागढ" है।

भील और बैगाओं का वंश बहुत पुराना है। ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में उनके होने का उल्लेख मिलता है। भील तो पहिले राज्य भी कर चुके हैं। कहते हैं सिसोदिया वंश के पहिले मेवाड़ में भीलों का ही राज्य था। आज भी सिसोदियों का राज्याभिषेक भील सरदार करता है। इतना ही नहीं, द्रोणाचार्य का शिष्य एकलव्य भील-पुत्र ही था। रामायण काल में भी "भील राजा" और "भीलनी के बेर" का उल्लेख आया है। बैगाओं ने कभी राज्य नहीं किया। वे भीलों की तरह चतुर और चालाक नहीं रहे, वरन् हमेशा शान्त और एकान्त जीवन व्यतीत करते रहे हैं। सम्भवतः अपने इसी गुण के कारण वे सब से पीछे हैं। भील और बैगाओं के बीच खान-पान का व्यवहार नहीं है परन्तु दोनों की मूल भाषा मुण्डारी कही जाती है। गोंड और बैगाओं में पुरुषों के बीच खान-पान का व्यवहार होता है। शबर लोग भी अपने प्राचीन-साहित्य में भील ही कहे गये हैं और कोल, किरात तथा शबर एक ही श्रेणी के माने गये हैं।

"भील" शब्द की उत्पत्ति तामिल शब्द "विल" से मानी जाती है, जिसका अर्थ होता है—एक प्रकार का धनुष। भीलों द्वारा सदा धनुष रखे जाने के कारण ही सम्भवतः उन्हें यह नाम दिया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। भीलों को कुछ विद्वान् अनार्यों का वंशज मानते हैं, कोई विशाल-मुण्डा जाति की एक शाखा बतलाते हैं और कोई उन्हें सवर्ण हिन्दू जाति की एक शाखा कहते हैं। डा. हटन ने उनकी शारीरिक बनावट को ध्यान रखकर उन्हें एक मिश्रित नस्ल का बताया है। उनमें आस्ट्रेलियन और काकेशियन जाति के तत्व तथा मंगोलियन जाति का प्रभाव दिखायी देता है। इनकी उत्पत्ति के संबंध में हमें एक दन्त-कथा सुनने को मिली है, जिसके आधार पर उन्हें मिश्रित नस्ल का मानने पर कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। कथा इस प्रकार है—"एक बार पांच भील शंकर जी से मिलने गये। उन्हें देखकर पार्वती जी ने शंकर जी से कहा कि मेरे विवाह की खुशी में मेरे भाई आप को उपहार देने आ रहे हैं। शंकर जी ने तत्काल उठकर भीलों का स्वागत किया और चलते समय विदाई में उन्हें एक नन्दी भेंट किया। जाते समय पार्वती जी ने बताया कि नन्दी की कूबड में अतुलनीय सम्पत्ति है। भील लालच में पड गये और घर आकर उन्होंने नन्दी का वध कर दिया परन्तु उनके हाथ निराशा ही लगी। उन्हें कुछ भी धन न मिला। इसी समय पार्वती जी वहां प्रकट हुई और कुपित होकर उन्होंने भीलों को श्राप दिया कि तुम लोग कभी सुखी न रह पाओगे और तुम्हारी गणना किसी जाति में न होगी।"

बैगाओं के सम्बन्ध में अलग से कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण शायद यह है कि बैगा गोंडों की ही एक जाति है। गोंडों का सब से प्रारम्भिक रूप बैगा है; जो धीरे-धीरे सभ्य होते गये वे अपने को गोंड या अन्य उपजाति का कहने लगे।

कोरवा या कोरकुओं को मुण्डारी वंश का बताया जाता है। "कोर" का अर्थ मनुष्य होता है। "कू" लगाकर उसका बहुवचन बनता है। कर्नल डाल्टन के अनुसार कोरकू और कोरवा एक ही वंश के हैं। कोरकुओं के दो भेद हैं—

(१) राज कोरकू अपने को हिन्दू और राजपूत मानते हैं।

(२) मूल कोरकू आज भी अर्ध-सभ्यावस्था में हैं। इन के मुवासी, बावरिया, रूमा और बोंडोया—चार भेद हैं। हिस्लाप ने "महुवा" शब्द से मुवास शब्द की उत्पत्ति बताई है। इसी से मुवासी कोरकू बना है। ये छत्तीसगढ में, बावरिया-कोरकू बेतूल में, रूमा-कोरकू, अमरावती जिले में और बोंडोया कोरकू पचमढी के आस पास पाये जाते हैं।

कोल मूलतया मध्यप्रदेश ही की जाति मानी जाती है और यहीं से वे अन्य प्रांतों में गए। "कोल" शब्द संथाली भाषा के "हर" शब्द से निकला है। संथाली भाषा में इस जाति को "हार-हर-हो" अथवा "कोरो" कहते हैं, जिसका अर्थ मनुष्य होता है। डॉ. हीरालाल का कहना है कि 'कोल' शब्द संस्कृत भाषा का है। संस्कृत में उसका अर्थ शूकर होता है। सम्भवतः उच्चवर्ग के लोगों ने घृणा प्रदर्शन के लिए इन्हें यह नाम दिया हो।

भुइंहार-भूमिया अथवा भुइयां एक ही जाति के पर्यायवाची शब्द हैं। भुइयां या भूमियां शब्द "भूमि" सूचक हैं। मध्यप्रदेश के भुइयां अपने को "पाण्डुवंशी" कहते हैं और अपना सम्बन्ध पाण्डवों से बताते हैं। वे प्रतिवर्ष फाल्गुन मास में पाण्डवों की पूजा भी करते हैं।

ओरांव (उरांव) अपने को कुरुख या कुड़ुख कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति भी मुण्डाओं के "होडो" शब्द से मानी जाती है। फादर डेहर के कथनानुसार यह जाति मूलतया कर्नाटक की है। वहीं से धीरे-धीरे वह आसपास के क्षेत्रों में फैली। मध्यप्रदेश में इनके दो भेद हैं परन्तु अन्य स्थानों में उनके पांच भेद मिलते हैं।

मुण्डा शब्द तो बहुत विस्तृत है। इस वंश के अन्तर्गत अनेक वनवासी जातियां आती हैं। उन्हीं जातियों में मुण्डा भी एक जाति है। मुण्डा शब्द का अर्थ "ग्रामों का मंडल" कहा जाता है। अब तो यह जातिवाचक शब्द बन गया है। संस्कृत में "मुण्डा" का अर्थ "गांव का मुखिया" होता है। मुण्डा लोग अपने को "होडो-का" कहते हैं और मनुष्य के लिए "होडो" शब्द प्रयुक्त होता है। वनवासियों में प्रयुक्त ऐसे प्रत्येक शब्द का अर्थ एक ही होता है। आसाम के मिकिर अपने को "अर्लांग" कहते हैं। गारो अपने को "मण्डे" कहते हैं और कछारी अपने को "बोडो" कहते हैं। इन सारे शब्दों का अर्थ "मनुष्य" होता है। यही अर्थ मुण्डाओं के "होडो" शब्द का है। अब तो मुण्डा नस्ल और मुण्डा भाषा प्रसिद्ध हो गयी है।

खोंड या कंध जाति के लोग अपने को कुई या कुइंजु कहते हैं, जिसका अर्थ भी मनुष्य होता है। वैसे कोंड या खोंड तेलगू भाषा का शब्द है जिसका अर्थ पहाड़ है। पहाड़-प्रिय होने के कारण सम्भवतः उनका यह नाम पड़ा होगा। कहते हैं वास्तव में ये लोग भूमिया हैं और किसी जमाने में मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग में शासन भी करते थे।

संथाल वास्तव में बंगाल के निवासी हैं, वहीं से वे देश के अन्य क्षेत्रों में आये। उनका नामकरण भी बंगाल के मिदनापुर जिला के अन्तर्गत सिल्दा परगना में "सावंत" नामक स्थान से ही पड़ा। यह स्थान "सामन्त-भूमि" भी कहा जाता है।

वनवासियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत ग्रंथों में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलते हैं। भागवत ग्रंथ में लिखा है कि ध्रुव की सातवीं पीढ़ी में जो राजा बना, उसकी जांघों से निषाद की उत्पत्ति हुई। यह उस समय की बात है जब भारत में पुर, ग्राम आदि की कल्पना तक न थी। इससे जान पड़ता है कि वनवासी निषादों और पुर प्रवर्तक पृथु वंशजों को एक ही मूल-पुरुष की संतान माना गया है और दोनों को ही भारतीय कहा गया है। इसी तरह दूसरी कथा यह है कि सम्पूर्ण जीव-समाज की सृष्टि कश्यप से हुई जिनका स्थान कश्यप मेरु था। इन्हीं से देव, मनुष्य, राक्षस आदि विविध जीव उत्पन्न हुये हैं। उनकी एक पत्नी दिति से दैत्य हुए, दूसरी पत्नी अदिति से देवता हुए, तीसरी पत्नी कद्रू से नागलोक (नागा) हुए, चौथी पत्नी विनता से गरुड़ (गारुड़ी) जाति के लोग हुए इत्यादि, इत्यादि। इससे भी यह पता चलता है कि इन दोनों में मूल बन्धुत्व रहा है और दोनों ने ही अपने को भारतीय माना है। अन्य भी कई कथायें हैं जिनमें कहा गया है कि शंकर ने कभी किरात का वेष धारण कर लिया, कभी शबर का। यक्ष और रक्ष जातियां एक ही मूल पुरुष की संतान कही गयी हैं और अपने यहां देव योनियों में मानी गयी हैं। न तो वनवासियों की किसी दन्तकथा में और न आर्यों की ही किसी पौराणिक कथा में इस बात का पता चलता है कि आर्य अथवा ये वनवासी कहीं बाहर से आकर बसे और उन लोगों में भारतीय स्थल की प्राप्ति के लिए कोई भयंकर जातीय संघर्ष रहा हो। "देव-दानव" युद्ध की बातें अवश्य आयी हैं परन्तु उनमें यह संकेत नहीं दिया गया कि इनमें से कोई जाति बाहर से आई अथवा कोई अभारतीय करार दे दी गयी.

इस बात के पुष्ट प्रमाण उपस्थित हैं कि वैदिक काल से ही वनवासियों और शेष भारतीय आर्यों का न केवल पड़ोसियों का-सा ही सम्बन्ध था, किन्तु वैवाहिक सम्बन्ध भी हो जाया करता था। दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान कई प्रकार से होता रहता था। लोग कहते हैं कि सौभाग्य के समय के सिन्दूर-दान की प्रथा और अर्चा पद्धति में मूर्ति-पूजा की प्रथा यहां तक महादेव जी और उनके परिवार की कल्पना भी वनवासियों से ही ली गयी है। ये बातें उनकी भारतीय पृष्ठभूमि की अतिरिक्त प्रमाण हैं।

रहनसहन और पहिनावा.—वनवासी स्वभाव से बड़े सीधे-सादे और सरल होते हैं। वे रंग के काले तथा काफी हृष्ट-पुष्ट और सहिष्णु होते हैं। बस्तर के दक्षिणी भाग के कुछ गोंड ऐसे भी हैं जो श्वेत रंग के हैं। इन वनवासियों को यदि मिलाकर काम लिया जाय और सत्यता का व्यवहार किया जाय तो वे अपने प्राण न्यौछावर कर देते हैं किन्तु दुर्व्यवहार करने पर जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं। वे स्वभाव से छरबीले होते हैं और अपनी बातें छिपाने

की व्याप्ति उनमें अधिक है। पुरुष-वर्ग स्वभाव से आलसी होता है किन्तु उनमें साहस, विनोदप्रियता, धैर्य और स्नेह की प्रचुर मात्रा रहती है। इसीलिए अपनी निर्धनता को विस्मृत कर वे सदैव आनन्दमग्न रहते हैं।

ये जातियां प्रायः जंगलों में एक अलग "कॉलोनी" बनाकर नगरों से कोसों दूर रहती है। हां, इनमें से गोंड काफी आगे बढ़ चुके हैं। राजगोंड अपने को क्षत्रिय कहते हैं। कोल और कँवर अब अन्य सवर्ण-हिन्दुओं के पास रहने लगे हैं। भील, बावर और बैगा तीनों जातियां घने जंगलों में निवास करती हैं। इन तीनों जातियों के पुरुष लज्जा-निवारण के लिए केवल एक छोटीसी लंगोटी लगाते हैं और सिर में बड़े-बड़े बाल रखते हैं। बाल बनवाना उनके यहां पाप समझा जाता है। बैगा सिर खुला रखते हैं पर भील सिर पर पगड़ी बांधते हैं। अन्य वन्य-जातियों में बड़े बाल रखने की प्रथा नहीं है।

स्त्रियां अलंकारों के सिवाय अपने सारे शरीर को गुदाये रहती हैं। शरीर गुदाना उनके यहां मंगलसूचक समझा जाता है। वनवासी स्त्रियां आभूषण भी नाना तरह के पहिनती हैं। ये आभूषण प्रायः चांदी, कांसा, पीतल, कथीर अथवा तांबे के बने होते हैं। वे गले में मोतियों की नाना प्रकार के नक्शे वाली मालायें पहिनती है, जिनको बनाने में वे अपनी नैसर्गिक कला काम में लाती हैं। गले में हंसली, कन्ठी, छूटा आदि अनेक प्रकार की मालायें (हलबी में इन्हें "नेर" कहते हैं), कान में भारी वजन के कर्णफूल और बालियां, कलाइयों में चूड़ा, कंगना, पट्टाचूड़ी, अंगुलियों में मुंदरी, कमर में सांकरी, करडोरा या करधनी और पैर में मुड़ी, पैंजनिया, तोड़र इत्यादि पहिना जाता है।

व्यवसाय.—जंगलों में बसने के कारण वनवासियों का मुख्य व्यवसाय शिकार करना, जंगली-उपज एकत्रित करना और पहाड़ी ढंग की खेती करना है। उदर-पोषण के लिये उन्हें कड़ा परिश्रम करना पड़ता है। जीवन-रक्षा का उनका सबसे बड़ा साधन शिकार है। शिकार में वे बड़े निपुण होते हैं और धनुष-बाण सदा अपने साथ रखते हैं। बाण में वे एक विशेष प्रकार के जहर का उपयोग करते हैं जिसे "माहुर" कहा जाता है। माहुर बड़ा जहरीला होता है और खून में उसका थोड़ासा भी स्पर्श हो जाने से ही वह समस्त शरीर में फैल जाता है। इससे वे बड़े शेरों तक का शिकार कर डालते हैं। जंगलों में बड़े-बड़े फन्दे लगाकर भी ये अपना शिकार पकड़ते हैं। वृक्ष के दूध का लेप बनाकर उसे पक्षियों के नित्य बैठने की डालियों और टहनियों में लपेट देते हैं। उन पर बैठते ही पक्षियों के पंख फंस जाते हैं। अन्य छोटे-छोटे जंगली पशुओं को वे अन्य कई तरह की सूझबूझ से सरलतापूर्वक पकड़ लिया करते हैं। भील और बैगा पाखाना जाने के बाद शौच नहीं किया करते। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से उन्हें शेर खा जायगा। इसी से वे कई महीने नहाते भी नहीं।

वे धरती माता की छाती में कुसिया (हल की फाल) घुसेड़कर पीड़ा नहीं देना चाहते इसलिए "बेवर" की खेती किया करते हैं। पहाड़ की ढालू पर दो-तीन एकड़ सघन जंगल को "बेवर" कहते हैं। मई में झाड़ों को काटकर आग लगा दी जाती है। उनके जल जाने पर राख फैला देते हैं और पानी बरसते ही कोदों-कुटकी और तूर के बीज डाल देते हैं। कुछ वनवासी बेवर या पेंड़ू के साथ दाही तरीके की खेती भी करते हैं। दाही खेती का तरीका भी बेवर से मिलता जुलता है। अंतर यही है कि जहां झाड़ियां अधिक घनी होती हैं वहां वृक्षों की डगालों को काटकर वे जलाते हैं और फिर पानी बरस जाने के बाद बीज बोते हैं। भील इस प्रकार की खेती को "वालरा" खेती कहते हैं। राजगोंड खेती करने लगे हैं। अगरिया लोहार का काम, परधान पुरोहित का, सोलाहा बढ़ई का, गोचारी पशु चराने का काम करते हैं। ओझा तथा बैगा झाड़-फूंक के लिए अधिक विख्यात हैं। बड़े से बड़े रोग का नाश केवल झाड़-फूंक से किया जा सकता है, यह उनकी दृढ़ मान्यता है। कुछ भील टोलियां बनाकर रहते हैं और लूटने का धंधा करते हैं और कुछ अब चौकीदारी, पथ-प्रदर्शन आदि का व्यवसाय करने लगे हैं, खोंडों ने अब सैनिक-वृत्ति अपना ली है। कंवरा हल्दी की खेती अधिक किया करते हैं।

वनवासियों का भोजन सीधा-सादा होता है। उसमें मांस की मात्रा अधिक होती है। जंगली कन्दमूल, मकई, ज्वार आदि स्थानीय उपजें, भात, फल और पत्ते इनके प्रमुख भोजन हैं। भात से एक प्रकार का पतला पेय पदार्थ तैयार किया जाता है जिसे "पेज" कहते हैं। पेज दिन में ये ३-४ बार पीते हैं। यह सबसे सस्ता और उनका सबसे प्रिय भोजन है। मांस में बाघ, गीदड़ से लेकर सांप, मेंढक और पक्षियों तक को वे खा जाते हैं। पहिले बावर और खोंड मनुष्य बलि देने के लिये बदनाम थे। वे तारीपेन्नू देवी को प्रसन्न करने के बहाने मनुष्यों को मारकर खा जाते थे। उनका विश्वास था कि इस बलि से अच्छा अन्न उत्पन्न होता है। अब भैंसे की बलि दी जाती है। भोजन के साथ शराब आवश्यक है, सारे वनवासी शराब के बड़े शौकीन होते हैं और स्त्रियां भी शराब पीती हैं।

इन जातियों में संगठन और बन्धुत्व की प्रबल भावना पाई जाती है। इतिहास साक्षी है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में निवास करनेवाली इन जातियों में कभी आपस में बैर या युद्ध नहीं हुआ। भीलों में तो एक प्रथा ही बन गई है कि जितनी चीज होती है सब लोग बांटकर खाते हैं। कई बस्तियों में सारा ग्राम सामूहिक रूप से टैक्स देता है। भूमि पर पूरे समाज का अधिकार होता है और खेती के लिये जो जमीन साफ होती है, वह समझौते से बांट ली जाती है। यदि किसी वर्ष एक किसान के यहां अच्छी फसल न हो तो अगले वर्ष उसे सबसे अच्छी साफ की हुई जमीन दी जाती है। गोंडों में तो घोटुलगृह या किसी दूसरे नाम की एक पंचायत ही होती है। उसमें सब अविवाहित लड़के-लड़कियां खेलते-कूदते और नाचते गाते तथा सोते हैं। वह समाज-सेवा का उत्तम शिक्षणकेन्द्र होता है। अपने सारे वादविवाद और फैसले वे पंचायत द्वारा निबटाते हैं। गांव का कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति पंचायत का मुखिया होता है।

इनमें जातीय प्रथा बड़ी प्रबल है। 'भात-भात' का उनमें चलन है किन्तु व्यक्ति की आर्थिक-स्थिति को ध्यान में रखकर ही दण्ड दिया जाता है। यहां तक कि यदि किसी के पास १ ही रोटी हुई तो सारे जातीय लोग एक-एक टुकड़ा बांटकर साथ ले आते हैं। इसी तरह उनमें जाति-पांति का भेदभाव तो है पर इस भेदभाव को वे इस खूबी की तरह निबटा लेते हैं कि कभी कोई झगड़ा या आपस में मनमुटाव नहीं हो पाता।

रीति-रिवाज—पहाड़ी जातियां अपने गोत्रादि को वृक्ष, लता और जीव-जन्तुओं के नाम देती हैं। जिस जाति का जिस वस्तु से परिचय होता है, अर्थात् जो जिसका (जाति-चिन्ह) टोटम रहे, वह उस वस्तु या जानवर को आघात नहीं पहुंचाती और उसका सम्मान करती है।* प्रत्येक व्यक्ति टोटम के प्रति पूज्य और उपास्य-भाव रखता है। इसी प्रथा को 'गोत्र' कहते हैं। गोत्रों के नाम प्रायः नदी, पहाड़, पौधों या जंगली जानवरों के नामों पर रखे जाते हैं। समगोत्री भाई-बहिन माने जाते हैं और उनमें आपस में विवाह निषिद्ध है।

वनवासी, अपने रीति-रिवाजों में हिन्दू समाज की अन्य आम जनता की सबसे निम्न जाति के रीति-रिवाजों से मिलते-जुलते हैं। विवाह के पूर्व उनके यहां प्रधानतया दो संस्कार ही सम्पन्न होते हैं—एक नामकरण संस्कार और दूसरा लड़कियों के शरीर गुदाने का संस्कार। बच्चा पैदा होने के ६ सप्ताह के अन्दर नामकरण संस्कार होता है। गोंडों की कुछ उपजातियों में ३-४ सप्ताह के भीतर यह काम होता है। मुड़िया ६ सप्ताह में नाम रखते हैं, मुण्डा ८-१० दिन में ही नामकरण कर लेते हैं और भील, बैगा तथा शबर लगभग २ सप्ताह लेते हैं। नामकरण के दिन लोग घर स्वच्छ करके नवीन मिट्टी के बरतन लाते हैं। उसी दिन प्रसविनी स्त्री नहा-धोकर पवित्र होती है और अपने घर का कामकाज पूर्ववत् करने लगती है। उनके अधिकांश नाम हिन्दू नामों की तरह होते हैं। कुछ बच्चों के नाम पैदा होने वाले माह के अनुसार रखे जाते हैं, जैसे—असाड़, बैसाखू, भादरू (भादों में हुआ), फागू (फाल्गुन में हुआ) इत्यादि। कुछ नाम सप्ताह के दिनों पर दिये जाते हैं यथा—अयतू, मंगल, शनि, आदि। इसी तरह अकाल के समय पैदा हुए लड़के का नाम अकाली या कंगालू, महुआ बीनते समय पैदा हुये शिशु का नाम इरपा, आदि रखा जाता है।

एक स्थान पर वेरियर एल्विन ने लिखा है कि गोंडों के अधिकांश नाम गोंडी भाषा के हैं और हिन्दू नाम सिर्फ ४.२५ प्रतिशत हैं।† हमें ऐसा भान होता है कि श्री. एल्विन ने घने जंगलों में बसनेवाले विशुद्ध गोंडों के ही नामों के आधार पर यह निर्णय ले लिया है। वास्तव में गोंड ही नहीं, सारी वनवासी जातियों के नाम ७५ प्रतिशत से अधिक हिन्दू हैं।

इनके नामकरण में एक विशेषता होती है। इस नाम को माता-पिता कभी नहीं लेते। वह तो केवल पुनर्जन्म सिद्धान्त की पुष्टि के लिए रहता है। नामकरण के समय बालक के हाथ में चावल का एक दाना दे दिया जाता है और पुरोहित (सिरहा) क्रमवार परिवार के सारे मृतकों के असल नाम लेता है। जिसका नाम लेते समय बालक चावल छोड़ देता है, ऐसा समझा जाता है कि वही मृत व्यक्ति पुनर्जन्म लेकर आया है। कुछ स्थानों में बच्चे के हाथ में मुर्गी की हड्डी देकर मृतकों के नाम दुहराये जाते हैं और जिसके नाम लेने पर वह हड्डी छोड़ देता है वह उसी का प्रतिरूप माना जाता है। जिस व्यक्ति का प्रतिरूप यह बालक होता है वही उसका असल नाम रखा जाता है। बाद में एक और उपनाम चालू काम के लिये रख लेते हैं।

---

*"हमारी आदिम जातियां"—भगवानदास केला।

†"मुरिया एण्ड देयर घोटुल"—वेरियर एल्विन, पृष्ठ ७५।

गुदाने की प्रथा.—विवाह के पूर्व लड़कियों के शरीर को गुदाना बहुत आवश्यक है। यदि किसी लड़की का शरीर गुदाया नहीं गया तो विवाह के समय ससुर उसके पिता से गुदाने की कीमत लेता है। उनका विश्वास है कि यदि बिना गुदाये कोई स्त्री मर गयी तो मृत्यु के बाद उसे 'महापुरुष' सजा देगा। गोदने का काम लड़की की मां या घर का कोई स्याना करता है। कई स्थानों में ओझा स्त्रियां इस कार्य को करती हैं। गुदना गुदाने के संबंध में मुरिया गोंडों में एक कथा प्रचलित है।

कहते हैं संसार के प्रारंभ में जाति-पांति का कोई भेदभाव न था। एक दिन महापुरुष ने जातियों के निर्माण का निश्चय किया। उसने जिसे जाला दिया उसका नाम मछुआ, जिसे हल दिया उसे गोंड़ और जिसे कलम दी उसे ब्राम्हण की संज्ञा दी। अंत में महापुरुष के पास एक ढोल बची। उसने वह ढोल उन व्यक्तियों को दे दी जो रास्ते से जा रहे थे। इन लोगों का नाम महापुरुष ने ओझा रखा। ये लोग इसी ढोल को पीटकर गाते-बजाते अपना जीवन व्यतीत करने लगे। एक दिन एक ओझा जब शाम को घर आया तो घर में रोटी नहीं बनी थी। उसने उस-पर अपनी पत्नी को खूब मारा और कहा—"मैं तो दिन भर मिहनत करते मरा जाता हूं, तू निठल्ली बैठी रहती है।" पत्नी को इस पर बड़ा क्रोध आया क्योंकि वह वैसे ही दिन भर घर के काम-धन्धों से परेशान रहती थी। उसने इसी पर ८ दिन की भूख हड़ताल कर दी। आठवें दिन देवी ने अपने दूतों के द्वारा उस स्त्री को अपने पास बुलाया और जंगल में सरई के झाड़ से एक काला पदार्थ निकालकर बांस की सीकों से उसके गाल में गुदने बना दिये और कहा कि जाओ मैंने तुम्हें गोद दिया। अब तुम इसी पद्धति से अन्य पहाड़ी जातियों को गोदा करो। ये गुदने ऐसे जेवर हैं जो मरने के बाद भी शरीर के साथ जाते हैं। कुछ वनवासी स्त्रियां शरीर गुदाना जीवन की एक कड़ी परीक्षा मानती हैं। इस परीक्षा में जो लड़की सफल होती है, वह सुविधापूर्वक वैवाहिक जीवन का भार ढो सकती है। गुदाने के बाद ही लड़की के विवाह की खोज शुरू हो जाती है।

घोटुल.—बस्तर की माड़िया, मुरिया और अन्य वनवासी जातियों में घोटुल विवाह का हेतु समझा जाता है। वास्तव में घोटुल एक प्रकार का नंदन-विहार का स्थान है। वह गांव की सामूहिक सम्पत्ति समझा जाता है, जहां गांव के सारे अविवाहित युवक और युवतियां स्वतंत्रतापूर्वक इकट्ठे होकर मनोरंजन, वार्तालाप और प्रेमालाप कर सकते हैं। कई स्थानों में बहुतसी जमीन घोटुल-गृह को दान में दी जाती है। इस तरह के गृह बिहार, उड़ीसा और आसाम में भी पाये जाते हैं जिन्हें 'धुमकुरिया' कहते हैं। इन गृहों में सिर्फ एक दरवाजा होता है। गृह के भीतर नृत्यशाला के लिये एक खुला मैदान होता है। इसकी रखवाली के लिये एक कोटवार और एक अफसर होता है जिसे 'धंगर महतो' कहते हैं। प्रत्येक तीसरे साल इन अफसरों की नयी नियुक्ति होती है।

घोटुल में प्रत्येक अविवाहित युवक और युवती प्रवेश पा सकती है। प्रवेश प्रायः सरहुल त्यौहार के समय प्रति वर्ष दिया जाता है। कहीं-कहीं प्रति तीन वर्ष में प्रवेश देते हैं। इस समय माता-पिता अपने साथ कुछ उपहार, एक छोटा-सा मिट्टी का दिया और १५ दिन तक जल सके इतना तेल उपहार में देते हैं।

ज्योंही पृथ्वी पर संध्या की कालिमा उतरने लगती है घोटुल सारे गांव का आकर्षण केन्द्र बन जाता है। वह नगाड़ों की ध्वनि और कोलाहल से भर जाता है। वैसे धार्मिक उत्सव और त्यौहारों को छोड़कर वह दिन भर सूना पड़ा रहता है। पर्वों पर विभिन्न घोटुलों के सदस्य एक साथ मिला करते हैं। गांव के युवा लड़के और लड़कियां साथ में बिछावन लेकर घोटुल में एकत्रित होते हैं। आग की धूनी के सहारे फिर काफी रात तक किस्सा, कहानियां अथवा गायन-वादन या नृत्य होता रहता है। जब रात काफी हो चलती है तब एक साथ वहीं सब सो जाते हैं। जब कोई युवक या युवती अपना जीवन-साथी चुन लेती है तो उसकी सूचना घोटुल के मुखिया को दे दी जाती है। फिर एक दिन निश्चित किया जाता है। उस दिन मोटियारी युवती अपने मंगेतर को छोड़कर घोटुल के सारे सदस्यों को सम्बाखू बांटती है। घोटुल की सदस्य युवतियां उसके मंगेतर के बालों में कंघी करतीं और कान में कोई संदेश देती हैं। इसके बाद ही फिर अपनी-अपनी प्रथाओं के अनुसार विवाह सम्पन्न होता है।

घोटुल के नियंत्रण में प्रत्येक सदस्य को अनिवार्य रूप से रहना पड़ता है। नियमों का उल्लंघन करनेवाले को दण्ड दिया जाता है। दण्ड घोटुल के सदस्यों की राय पर घोटुल का मुखिया देता है। यह दण्ड मारपीट से लेकर जुर्माने तक होता है। कठोर अपराध पर निष्कासन तक कर दिया जाता है। विशेष त्यौहारों में एक घोटुल के सदस्य दूसरे गांव के घोटुल में जाकर नाचते-गाते हैं परन्तु शयन के लिये उन्हें अपने ही घोटुल पर आना पड़ता है, अन्यथा उनके चरित्र पर संदेह कर उन्हें घोटुल की सदस्यता से निकाल दिया जाता है। शादी के बाद लड़कियां कभी घोटुल में नहीं जातीं। युवक भी प्रायः नहीं जाते परन्तु विशेष आमन्त्रणों के समय अथवा अपना दूसरा विवाह करने के इच्छुक युवक वहां जा सकते हैं।



नृत्य सज्जा में एक वनवासी युवक



तीर से निशाना साधते हुए एक कोरवा वनवासी



बस्तर की माड़िया–युवती, अलंकारों से सुसज्जित हास्य मुद्रा में



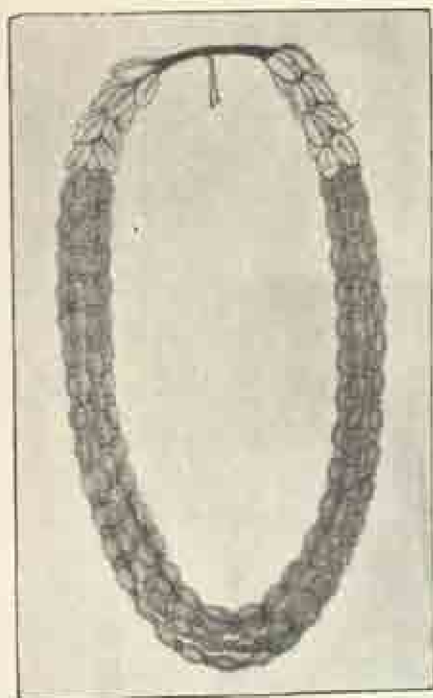
मुरिया (गोंड) युवक विवाह सज्जा में



वनवासियों के 'करमा-नृत्य'



वनवासियों का 'गेंडी-नृत्य'





वनवासियों के आभूषण व कला कृतियां







भारतीय गणराज्य दिवस कला–नृत्यों में पुरस्कार प्राप्त मध्यप्रदेश का कला पथक
(मुख्य मंत्री पं. रविशंकरजी शुक्ल के साथ)

विवाह प्रथायें.—वनवासियों में यौन सम्बन्धी सदाचार का बड़ी दृढ़ता से पालन किया जाता है परन्तु अपनी जाति में युवक-युवतियों को मिलने और अपने वर चुनने का पूरा अधिकार होता है। विवाह के पूर्व यौन सम्बन्ध को ये लोग बुरा भी नहीं मानते।

वनवासियों में दो प्रकार की परिवार प्रथायें पाई जाती हैं: (१) पितृमूलक परिवार और (२) मातृमूलक परिवार। पितृमूलक परिवार में वंश का नाम पिता से चलता है, पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी होता है और पत्नी को पति के घर में रहना पड़ता है। दूसरी व्यवस्था है मातृमूलक परिवार की। फ्रायड का कहना है कि समाज में सबसे पहिले मातृमूलक व्यवस्था ही प्रचलित हुई। आसाम की गारो और खासी जातियों में तथा मद्रास की कुछ पिछड़ी जातियों में यह प्रथा अभी तक चली आ रही है। इस व्यवस्था में स्त्री की प्रधानता होती है और विवाह के बाद पत्नी ससुराल नहीं जाती अपितु पति को ही पत्नी के घर में आकर रहना पड़ता है। वंश का नाम पत्नी के नाम से चलता है और बहिन की सन्तान ही माल की सम्पत्ति की अधिकारी होती है।

मध्यप्रदेश के वनवासियों में सर्वत्र पहले प्रकार की, अर्थात् पितृमूलक परिवार की ही व्यवस्था है।

बिष्टी.—वनवासियों के विवाह-कृत्य बड़े मनोरंजक होते हैं। मंडप के दूसरे दिन वर के घर का मुखिया वधू को लेने जाता है; इसे "बिष्टी" कहते हैं। "बिष्टी" अपने परिवार के कुछ सदस्यों सहित रात्रि भर वधू के घर रहता है। दूसरे दिन ये लोग मिलकर वधू के घर खाना पकाते और परिवार के समस्त व्यक्तियों को स्वयं परोसकर खिलाते हैं। पश्चात् "हल्दी" आदि के बाद "बिष्टी" वधू को अपनी पीठ पर चढ़ाकर वर के गांव ले जाता है। बिष्टी के साथ वधू-परिवार के स्त्री-पुरुष दोनों जाते हैं। गांव पहुंचकर उन्हें एक अलग "जनवासा" देकर ठहराया जाता है। रात्रि को "परगौनी", "बड़े परगौनी", "मुन्दरी पहिनावा" और "भांवर" आदि संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। इस अवसर पर ये खूब शराब पीते हैं, नाचते और गाते हैं। वर और वधू को भी नृत्य में सम्मिलित होना पड़ता है।

इनकी जाति में तलाक का आम रिवाज है। विवाह के बाद जब तक पति-पत्नी का आपस में प्रेम रहता है, तब तक तो दोनों साथ रहते हैं, परन्तु यदि उनमें कुछ भी अनबन हो गयी तो आपस में तलाक (छोड़-छुट्टी) दे दिया जाता है। तलाक की स्वतंत्रता पुरुष और स्त्री—दोनों को समान रूप से है।

वनवासियों में विवाह का मूल्य सन्तानोत्पत्ति और गृहकार्य चलाने तक ही सीमित होता है। गृहकार्य चलाने में पत्नी को पति की बराबरी से श्रम और मजदूरी करना पड़ती है। सन्तान का लोभ इनमें बहुत अधिक है, इसी से गोंडों में, विशेषकर छत्तीसगढ़ के माडिया गोंडों में एक अजीब-प्रथा प्रचलित है। जब युवती अपने जीवन में प्रथम बार रजोदर्शन करती है तो चार दिनों तक उसे अशुद्ध समझा जाता है। इन चार दिनों तक वह एक नकली शिशु बनाकर झूले में झुलाती रहती है। पांचवें दिन तालाब अथवा पास के किसी जलाशय में जाकर वह स्नान करती है और एक मुर्गी तथा पांच अंडे अपने बैगा पुरोहित को दान-स्वरूप दे देती है। बैगा यह भेंट झूलनादेवी को चढ़ाता है और बदले में उस युवती की गोद में झूलनादेवी की आकृति दे देता है। गोंडों का विश्वास है कि इससे विवाहोपरान्त शीघ्र सन्तान होती है।

लड़का और लड़की दोनों को अपना जीवन-साथी चुनने की पूरी स्वतंत्रता होती है। उनमें भाई और बहिन के बच्चों को आपस में विवाह करने का अधिकार है, ऐसे विवाह को दूध को वापिस लाना कहा जाता है। सबसे पहिले इसी तरह के सम्बन्ध की खोज की जाती है। जब ऐसा कोई सम्बन्ध उपलब्ध न हो, तब बाहर वर की तलाश की जाती है। यदि विवाह के पूर्व ही कोई कन्या किसी स्वजातीय के सहवास से गर्भवती हो जाती है तो फिर उसके नियमित विवाह की आवश्यकता नहीं होती। वर, कन्या के पिता को "डांड" (दण्ड) स्वरूप कुछ रुपये दे देता है। यदि कन्या उस व्यक्ति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहती हो तो उसे इसकी भी स्वतन्त्रता होती है। वह उस व्यक्ति पर हल्दी डाल देती है और यही विवाह मान लिया जाता है।

विवाह के अवसर पर साधारणतः कन्या पक्ष के स्त्री-पुरुष कन्या को लेकर वर के गांव जाते हैं। वहीं सारे वैवाहिक-कृत्य सम्पन्न होते हैं और अन्त में कन्या को वहीं सौंपकर ये लोग लौट आते हैं। कुछ वनवासी हिन्दू समाज की अन्य जातियों की भांति वर को कन्या के यहां ले जाने लगे हैं। इस तरह के ब्याह को "चढ़ ब्याह" कहा जाता है। कहीं-कहीं "लमसेना" रखने की प्रथा प्रचलित है। विवाह के पूर्व सम्पन्न कन्या का पिता किसी वर को अपने घर में लाकर रख लेता है। उसे वहां सभी तरह के कार्य करने पड़ते हैं। जब लड़की का पिता वर के कार्य से सन्तुष्ट

हो जाता है और यह जान लेता है कि वर परिश्रमी है तथा मिहनत कर लड़की का पेट सुगमता से भर सकता है, तब उन दोनों का विवाह कर दिया जाता है। लमसेना रखने की अवधि ३ वर्ष से लेकर ५ वर्ष तक रहती है। गन्धर्व विवाह प्रथा का भी इनमें प्रचलन है। वर जबरन कन्या को भगाकर ले जाता है और उससे विवाह कर लेता है। लेकिन ऐसा उसी स्थिति में होता है जब कन्या, वर के साथ भागने को तैयार हो जाती है। इनके समाज में विधवा विवाह का प्रचार है और बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् विधवा भाभी पर देवर का पूरा अधिकार होता है। मृतक-कृत्य सम्पन्न होने के बाद देवर भाभी को चूड़ी पहिना देता है और अपनी पत्नी बना लेता है।

वैसे तो इनमें प्राय: बाल-विवाह होते हैं और रजस्वला होने की स्थिति विवाह के बाद ही आती है। उस समय भी ऐसा ही किया जाता है। चार दिनों तक वधू के लिए वर का स्पर्श निषिद्ध है। झूलनादेवी का प्रसाद पाने के बाद समागम की छूट रहती है। माड़िया गोंड़ गर्भवती स्त्री को अशुद्ध मानते हैं और प्रसव होने तक उसे गांव के बाहर एक झोपड़ी में रखा करते हैं। इस बीच वह परिवार वालों के साथ न तो बातचीत कर सकती और न उन्हें देख सकती है। पर अब यह प्रथा धीरे-धीरे उठती जा रही है।

वनवासी जादू-टोना, जंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक इत्यादि पर बहुत आस्था रखते हैं इसलिये यदि कोई स्त्री गर्भवती न हो तो इनका सहारा लिया जाता है। तेज बहने वाले नाले का पानी भी गर्भाधान में सहायक माना जाता है। इन उपायों के असफल होने पर, माता बनने की इच्छुक युवतियां मासिक धर्म के बाद बहुधा पुरुषों की छाया लांघने का यत्न करती हैं ताकि वह छाया उन्हें माता बना सके। जब यह उपाय भी सफल नहीं होता तो रविवार की अर्द्धरात्रि को उसे बिलकुल नग्नावस्था में साज-वृक्ष के पास जाना पड़ता है, जहां "बूढ़ादेव" उसे माता बना देता है। उनका दृढ़ विश्वास है कि इनमें से कोई न कोई उपाय अवश्य सफल होता है।

अन्त्येष्टि क्रिया.—वनवासियों की अन्त्येष्टि-क्रिया बड़ी रोचक होती है। साधारणतया वे शव के पैरों को दक्षिण की ओर करके गाड़ा करते हैं लेकिन कुछ वनवासी अब मृतकों को जलाने भी लगे हैं। मृत्यु के ९वें दिन आत्मा को वापिस बुलाने की उनमें एक धार्मिक प्रथा है। मृतक के रिश्तेदार, विशेषकर स्त्रियां, मृतक की राख फेंकने नदी के किनारे जाती हैं और मृतक के नाम को जोर जोर से चिल्लाकर पुकारती हैं। फिर वे नदी में प्रवेश कर एक मछली अथवा किसी कीड़े को पकड़कर घर ले आती हैं और उसे अपने परिवार के पवित्र मृतकों के बीच में रख देती हैं। इस प्रकार उनका विश्वास है कि मृतक की आत्मा घर वापिस आ गई। कभी-कभी उस कीड़े (कदाचित केकड़ा) को इस विश्वास से खा लिया जाता है कि इस तरह आत्मा फिर बालक के रूप में जन्म लेगी। नदी में जो स्त्री पहिले मछली या कोई कीड़ा पकड़ती है, वह मृतक उसी के गर्भ से जन्म लेगा, ऐसा उनका विश्वास है।

पुरुष मूं डमुड़ाते हैं परन्तु उनके सिर के बाल नाई नहीं बनाता बल्कि मृतक के परिवार का ही एक व्यक्ति बनाता है। बैगाओं में मूंड मुंडाने की प्रथा नहीं है। दसवें दिन कर्म किया जाता है जिसे "कुन्डा मिलाना" कहते हैं। मृतक पितरों में मिला या नहीं यह देखने के लिए एक कटोरा भर पानी में दो चावल के दाने डाल दिये जाते हैं। यदि वे बहकर मिल जायें तो समझा जाता है कि मृतक पितरों में मिल गया। यदि दाने न मिलें तो एक माह तक पूजा होती है और फिर दाने डालकर परीक्षा की जाती है। जब भी दोनों चावल मिल जाते हैं तब गांव का पंडा गांव की सीमा पर एक खूंटी और त्रिशूल गाड़कर आसपास पत्थर की ढेरी लगा देता है जिसे "कोर" कहते हैं।

गोंड़ मरने के तीसरे दिन "कोज्नी" मनाते हैं। पितरों का पूजन हो जाने पर, सेमरिया को साथ लेकर घरवाले भोजन करते हैं। मृतक की पूजा के समय निम्न गोंड़ी मंत्र जपा जाता है:—

"खरा खरखरा गुट्टाते मंदाकीते कोज्नी जार-सुम कोज्नी".

कपड़ा बिछाकर एक पायली आटा उस पर डालकर △ यह चिन्ह बनाते हैं। पास में एक दीपक जलाकर उसे एक टोकने से ढांक देते हैं। कहते हैं, मृतक आकर उसमें चिन्ह बनाता है। सवेरे दीपक को पानी में बहाकर आटे की रोटी पकाते हैं और उसका प्रसाद सभी रिश्तेदारों को बांट देते हैं। इसके बाद शराब पीकर सब लोग खूब नाचते, गाते और आनन्द मनाते हैं।

कोल अपने मुर्दों को जलाते हैं। जलाने के पहिले शव को गरम पानी से नहलाकर सारे शरीर में तेल और हल्दी लगाते हैं। चिता पर शव के साथ वस्त्र, कुछ द्रव्य, गहने और कुछ भोजन भी रखा जाता है। पुराने जमाने में कोरवा जहां मरता था वहीं गाड़ दिया जाता था, किन्तु अब मरघट में ले जाते हैं। पांच वर्ष से कम की अवस्था वाले बच्चों को

वट-वृक्ष या महुआ-वृक्ष के नीचे गाड़ा जाता है। उरांव (मुन्डा) जाति में १०वें दिन सुअर या मुर्गी मारकर उसकी आंख, पूंछ, पैर, कान आदि अवयव काटकर गाड़ देते हैं और दहन-स्थान पर जाकर श्रद्धासहित भात समर्पण करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि ऊपर जिन प्रथाओं का वर्णन किया गया है, उनमें से कुछ प्रथायें सवर्ण हिन्दुओं में भी प्रचलित हैं।

धर्म.—अंग्रेजी जमाने में ईसाइयों ने वनवासियों को भिन्न रखने की दृष्टि से उन्हें प्रेतवादी जातियों के रूप में माना है। उन्होंने उन्हें "विदीन" अथवा "बोंगा होड़ा" कहकर संबोधित किया। "विदीन" का अर्थ धर्महीन और "बोंगा होड़ा" का आशय प्रेत पूजा बताया जाता है लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। संथाल, मुण्डा, हो, आदि वनवासी जातियां केवल भूतप्रेतों को ही "बोंगा" नहीं कहती बल्कि देवी-देवताओं के लिए भी बोंगा शब्द का प्रयोग करती हैं। संथालों में "ओड़ाक बोंगा" गृहदेवता के रूप में और "आतो बोंगा" ग्रामदेवता के रूप में पूजा जाता है। सूर्य और चन्द्र को सारे वनवासी देवता मानते हैं और विभिन्न नामों से उनकी पूजा किया करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वनवासियों में पूरी-पूरी आस्तिकता है और वे हिन्दुओं के ही देवताओं को विभिन्न नामों से पूजते हैं। इसीलिए डॉ. वेरियर एल्विन ने एक स्थान पर लिखा है—"(भारतीय) प्रायद्वीप के रहनेवाले परिवार में वनवासी जातियों का धर्म हिन्दू धर्म ही है। स्वयं हिन्दू धर्म में भी ऐसे बहुत से तत्त्व हैं, जिन्हें विज्ञान-वेत्ता प्रेतवादी कहेंगे। इसीलिए जनगणना के समय धर्म के खाने में वनवासी जातियों को शुरू से ही हिन्दू लिखना चाहिए था।"

देवी-देवता.—प्रायः सभी वनवासी जातियां हिन्दुओं के देवी-देवताओं को मानती हैं और उनकी पूजा करती हैं। महादेव उनका प्रमुख देव है जिसकी पूजा प्रत्येक वनवासी बड़ी श्रद्धा से करता है। यही देवता उनके गांव का रक्षक, खेती-किसानी में अतुलनीय सम्पत्ति का दाता और समय पर पानी लानेवाला समझा जाता है। काली, कंकाली या माता उनकी महत्त्वपूर्ण देवी के रूप में प्रतिष्ठा पाती है। प्रायः प्रत्येक गांव में देवी की एक मढ़िया होती है। इस देवी में रोगहरण की अद्‌भुत शक्ति मानी गई है। इसी से गांव को संक्रामक बीमारियों से बचाने के लिए प्रति वर्ष देवी की पूजा बड़े समारोह के साथ की जाती है। मड़ई वास्तव में देवी की ही पूजा है जिसके करने से गांव में माता, हैजा, प्लेग जैसी बीमारियों का प्रकोप नहीं हो पाता। बस्तर और चांदा के गोंड़ पहिले देवी को प्रसन्न करने के लिए नरबलि देते थे लेकिन अब भैंसा या बकरे की बलि दी जाती है।

गोंडों का "दूल्हादेव" चूल्हे के पास का देवता है। संतान पाने के लिए उसकी पूजा होती है। परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद भोज देने के पहिले इस देवता को खाना अर्पण करना आवश्यक माना जाता है। "मुरहकी या रातमायी" कुठिया के नीचे का देवता है जिसकी पूजा गोंड एकान्त में करते हैं। उनके पशुओं की रक्षा "होलेराय" करता है। इसी के साथ "भैंसासुर" की भी पूजा होती है। "बूढ़ा देव" गोंडों का बड़ा देव है जो मरे हुए व्यक्तियों को पुरखों में मिलाता है। आसाढ़ और कुंवार में गोंड़ "खेरमाई" का पूजन करते हैं। गोंडों के देवता "देवखल्ला" में रहते हैं। उनका पुरोहित उनकी नियमित पूजा करता है। "पोलो" देवता बोरे में बन्द रखा जाता है। "झूलना देवी" में सन्तान प्रदान करने की अद्‌भुत शक्ति मानी जाती है। इसी से विवाह के पूर्व गोंड़ युवती उसका प्रसाद अवश्य ग्रहण करती है।*

कोल, गोंड़ों के प्रायः सभी देव मानते हैं। साथ ही डोंगरदेव, बाघदेव, मुतवादेव और कुंवरदेव को भी पूजते हैं। उनका पुजारी भूमक जाति का होता है। भूइयों और बैगाओं का "बड़ावन देव" वृक्ष के तले निवास करता है। वह उन्हें भूत-प्रेत बाधा से बचाता है। भील हिन्दू देवी-देवताओं के सिवाय "खंडोबा" को भी पूजते हैं। उरावों के देव "धरमा" में संकटहरण की प्रबल शक्ति मानी जाती है। उसकी मनौती में सफेद मुर्गी की बलि दी जाती है। कंध या कोंध का प्रधान देव "बोरसी" है। शिकार जाने के पूर्व बैगा "मुसवासी" देव की अभ्यर्थना करते हैं। "ऋषयासन" उनका दूसरा देव है जो झाड़-फूंक का स्वामी समझा जाता है। कंध या कोंध का प्रधान देवता बोरसी (पृथ्वी) है। प्रति ४-५ बरस में वे बोरसी के नाम पर महिष की बलि देते हैं।

त्यौहार.—अन्य लोगों की तरह वनवासी भी विभिन्न त्यौहार बड़े आमोद-प्रमोद से मनाते हैं। जिस प्रकार हिन्दुओं में होली, दिवाली, दशहरा आदि त्यौहार मनाये जाते हैं, वनवासी भी इन सभी त्यौहारों को मनाते हैं। त्यौहारों के अवसर पर नृत्य व गीतों की प्रधानता रहती है।

---

*"विन्ध्याटवी के जंगल में"—श्री प्रयागदत्त शुक्ल।

ऋतु संबंधी त्यौहारों में बसन्त एक ऐसा त्यौहार है जो सारी वनवासी जातियां मनाती हैं। इस दिन सारे पुरुष और स्त्रियां नवीन परिधान धारण कर खूब उल्लास के साथ नाचती-गाती हैं। इस अवसर पर नवयुवक सुरापान कर वनविहार करते हैं। इस समय पुत्र पिता के सम्मुख अपनी प्रेमिका का चुम्बन लेने में भी नहीं सकुचाता। बसन्त के इस त्यौहार को उरांव "सरहुल" कहते हैं और संथाल "बाहा"। मुण्डा इस मदनोत्सव को "देशौली बोंगा" कहते हैं। चैत्र मास में होने वाले पर्व को मुण्डा "सरहुल बोंगा" कहते हैं। इसे "पुष्पोत्सव" कहना चाहिए। जेठ में "हुमरिया" पर्व होता है। इस समय कृषि-रक्षा के लिए भूतप्रेतों की पूजा की जाती है। भाद्र मास में सूर्योपासना के लिए मुण्डा "सिंग बोंगा" का पर्व मनाते हैं।

वनवासियों के जीवन में कृषि का बड़ा महत्त्व है इसलिए धान पकने के पूर्व और धान बोने के पहिले एक-एक उत्सव मनाया जाता है। जब धान पककर तैयार हो जाता है तो नवान्न या नयाखाई का त्यौहार बड़े हर्षपूर्वक मनाया जाता है। संथाल धान बोने के पहिले "एरोक" और कुछ पौधे बढ़ने के बाद "हरियड" का उत्सव मनाते हैं। नयाखाई को उरांव "कत्हाकी" कहते हैं।

भूमिया (या भुइयां) और उरांव कुंवार की एकादशी को करमा का त्यौहार मनाते हैं। इस दिन लोग शराब पीकर रात भर खूब नाचते गाते हैं।

लोकोत्सव—वनवासियों के लोकोत्सवों में मड़ई नामक त्यौहार की भी विशेष महत्ता है। यह त्यौहार कई जातियों में कई प्रकार से मनाया जाता है। केवल वनवासी ही नहीं किन्तु अनेकानेक भूमिजन जातियां भी इसे बड़े उत्साह से मनाती हैं। अहीर बड़े उल्लास से अपने जातीय नृत्य को इसके साथ संबद्ध करते हैं। केवट या निषाद भी मड़ई की स्थापना करते हैं और समझते हैं कि इससे उनके सारे रोग दूर होंगे और धन-धान्य की समृद्धि होगी। एक बांस में काले अथवा लाल रंग की कई पताकायें बांधकर उसकी स्थापना की जाती है और कहा जाता है कि इस स्थापना से कंकाली देवी प्रसन्न हो जायगी, जिसकी प्रसन्नता से कुटुम्ब में भयंकर संक्रामक बीमारियों का जोर कम होगा। कुछ लोग, विशेषतः केवट लोग, बांस के चारों ओर रस्सियां बांधकर उसमें कंदई नामकी जड़ी के टुकड़े लपेट देते हैं और ऊपर मोर के पंख खोंसकर उसे एक भव्य रूप दे देते हैं। कातिक से लेकर फाल्गुन तक सुविधानुसार कभी भी यह त्यौहार मनाया जाता है। जिसकी श्रद्धा हो वह अपने यहां मड़ई की स्थापना कर लेते हैं। जिसका सामर्थ्य होता है वह अपने गांव में मड़ई का सामूहिक महोत्सव मनाने का निमन्त्रण दे देता है। उसका निमंत्रण पाकर समीप के गांवों में स्थापित मड़इयां उस जगह लायी जाती हैं और वहां उनकी सामूहिक पूजा की जाती है। ऐसे अवसरों पर एक छोटा-मोटा मेला लग जाता है जो ४—६ घंटे के बाद समाप्त भी हो जाता है। मड़ई शायद छत्तीसगढ़ी शब्द है, जो मड़ाना अर्थात् स्थापित करना से बना हुआ है। इस तरह देवी की स्थापना ही मड़ई हुई।

मनोरंजन के साधन—वनवासी स्वभाव से ही बड़े विनोदी हैं। वे दिनरात जंगल में मंगल मनाया करते हैं। डॉ. वेरियर एल्विन ने लिखा है कि "वनवासियों ने मनोरंजन की कला में बहुत ऊंचे दर्जे की सफलता पायी है, जब कि साधारण भारतीय गांवों में वह नहीं पायी जाती"। वास्तव में यह सत्य है क्योंकि वनवासियों के लोकनृत्य मानव-जीवन के अविकसित काल की वह अविच्छिन्न कला है जिसका निर्माण मानव ने अपने जीवन के विभिन्न स्तरों पर अपनी रुचि और सामाजिक विकास के साथ किया। इसी से वे मानव-जीवन के सामाजिक विकास के विभिन्न सोपानों का आज भी प्रतिनिधित्व करते हुए मनोरंजन से भरपूर हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के शब्दों में—"यदि जीवन का स्रोत सूख नहीं गया है तो इन लोकनृत्यों के बोल स्वयं धरती के बोल बन जाते हैं, उनकी धुन वृक्षों और खेतों की धुन बन जाती है, लगता है जैसे सारी पृथ्वी स्वयं नाच उठती है।" इनके लोकनृत्यों को बार-बार देखकर भी मन कभी तृप्त नहीं होता क्योंकि युग-युग से भारतीय संस्कृति की विरासत का बोझ सम्हाले यह ग्राम-साहित्य और कला जन-जन के हाथों में पड़कर भी अछूते कौमार्य सी पवित्र और निर्मल बनी रही।

वनवासियों के सारे नृत्य राग-रागनियों से सम्पन्न होते हैं। संगीत उन का प्राण है, उसके बिना नृत्यों का अस्तित्व ही मिट जाता है इसलिये उनके सारे नृत्यों को नृत्य-गीत की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। नृत्य-गीतों को परम्परा में वनवासियों का "करमा" विश्व के महान् लोकनृत्यों में स्थान पाने की क्षमता रखता है। इसमें युवक और युवतियां अपनी आशाओं और उमंगों को इस अन्दाज से समा देती हैं कि बाहर से आया दर्शक अवाक् रह जाता है। नृत्य में पुरुष और स्त्री दोनों भाग लेते हैं, ढोलिये ढोल बजाते हैं, ढोल का स्वर लोककला के विकास की सम्पूर्ण कथागाथा कहता, दूर-दूर तक गूंज उठता है, वृक्ष झूम उठते हैं, खेत अंगड़ाई लेने लगते हैं और ढोल की आवाज सुनकर युवक तथा युवतियां अखाड़े की ओर चल पड़ती हैं। इस ढोल में मोहन की मन-मुग्धकारी मुरली का जादू होता है, इसी से न तो किसी को 'बुलऊआ'

चाहिए और न 'मनावा'। वे तो तन-मन की सुधि भूलकर अपनी आशाओं और उमंगों को व्यक्त करने के लिये दौड़ पड़ती हैं। लोक गीतों का कवि वास्तव में कवि नहीं किन्तु गायक होता है, इसीसे उसके गीत शास्त्रीय अथवा क्षेत्रीय बन्धनों से आबद्ध नहीं होते। वे तो अनन्त-आकाश में उड़ने वाले पक्षी की भांति स्वच्छन्द-गति से मानव-हृदयाकाश में उड़ते हैं, जिनमें जीवन की प्रत्येक क्रिया, एक पृष्ठभूमि बनकर झांक उठती है। पहिले कभी पुरुष मण्डली गीत आरम्भ करती है तो कभी महिला समुदाय। एक प्रश्न करता है तो दूसरा उत्तर देता है। बैगा, करमा नृत्य के समय एक विशेष-प्रकार की पोशाक पहिना करते हैं। सिर पर जंगली भैंस के सींग, शरीर में काले रंग का लहंगा और पैरों में घुंघरू बांधकर वे नाचते और गाते हैं। श्रावण की काली घटायें जब नवोदित बालिका की भांति यौवन की अंगड़ाई लेती गगन मण्डल में उमड़-घुमड़कर बलखाती और लहराती आगे बढ़ती हैं, तब श्रावण की घटाओं को देखकर बैगा-समुदाय "झूला" के स्वरों में झूल उठता है।

शैला और रीना वनवासियों के दूसरे प्रधाननृत्य गीत हैं। शैला पुरुषों का नृत्यगीत है तो रीना स्त्रियों का। दिवाली के दिन इन दोनों नृत्यों को विशेष सुन्दरता से किया जाता है। दशहरा के अवसर पर गाया जाने वाला प्रसिद्ध "दशहरा-नृत्य", शैला नृत्य ही है। बस्तर के वनवासियों के प्रधान नृत्य-गीतों में "परजा-नृत्य" का उल्लेखनीय स्थान है। वह पंजाब के "भंगरा" नृत्य से बहुत-कुछ मिलता है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जहां शास्त्रीय नृत्यों को एक लम्बे अभ्यास और शिक्षण के बाद भी पारंगत नहीं किया जा सकता, वहां ये वनवासी जन्म से ही बिना किसी विशेष शिक्षा के इन लोकनृत्यों में दक्ष पाये जाते हैं। एक-एक पग साथ गिरता और उठता है। गीत अपने एक से ताल और स्वर के साथ हवा की लहरों में तैरता रहता है और जहां तक भी वह पहुंचता है, हवा की लहरों से उसे चुपके से उठाकर कोई भी मनचली युवती उसके ताल में थिरकने तथा गाने लगती है। वनवासियों के ये लोकनृत्य-गीत हमारी पुरातन संस्कृति के जीते-जागते प्रतीक हैं, इसलिए इनकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है।

वनवासियों की उन्नति।—मध्यप्रदेश में वनवासियों की संख्या, पूरी जनसंख्या की लगभग एक-अष्टमांश है। किसी भी राज्य की इतनी बड़ी जनसंख्या की उपेक्षा सहज ही नहीं की जा सकती। यहां की सरकार ने उनकी उन्नति के लिए ठक्कर बाप्पा के नेतृत्व में एक कमेटी का निर्माण कर वनवासियों की समस्याओं का अध्ययन कराया। उसी के बाद राज्य की प्रथम पंचवर्षीय योजना में उन्हें समुचित स्थान दिया गया और शिक्षा-प्रचार, आर्थिक-सुधार, रोग-निवारण, स्वास्थ्य-संवर्धन, आवागमन की सुविधायें आदि कार्यों के लिये काफी द्रव्य व्यय किया गया। एक अलग "आदिमजाति कल्याण विभाग" की स्थापना की गई और वनवासी सेवा-मण्डलों को अधिक सुविधायें प्रदान की गईं।

भारत के संविधान में भी वनवासियों की अनुन्नत परिस्थिति को देखते हुए उनके लिए राज्य और राष्ट्र की विधान सभाओं में १० वर्ष तक रक्षित-स्थान रखे गये हैं। सरकारी नौकरियों की कार्यक्षमता को अबाधित रखते हुए वनवासियों को वहां उचित स्थान दिया जा रहा है। राष्ट्रपति को संविधान द्वारा इन वनवासियों के लिए विशेषाधिकारी नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। इन वनवासियों की देखरेख का भार राष्ट्रपति ने स्वयं अपने हाथ में रखा है और संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि राज्य सरकारों को वनवासियों तथा अनुसूचित प्रदेशों के प्रशासन के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए एक आदिमजाति मंत्रणा परिषद् स्थापित की जाय। यह परिषद् अब संगठित हो चुकी है और जिन राज्यों में वनवासी अधिक संख्या में हैं वहां वह अपना कार्य कर रही है।

वनवासियों की समस्यायें।—इतना होते हुए भी अभी वनवासियों को सभ्य बनाने में बड़ा प्रयत्न करना होगा। अधिकांश वनवासी ऐसी निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं जो अन्य लोगों को अत्युक्तिपूर्ण लगता है। उनके पास न तो पहिनने को कपड़े हैं और न दोनों जून खाने को भोजन। खेती-किसानी भी वे जो कुछ करते हैं, पुराने अंधविश्वासों में पली होने के कारण, नितान्त हानिप्रद है। वे जितना जमीन में बोते हैं, उतना भी उन्हें जमीन नहीं दे पाती। इसी कारण वनवासी प्रायः कर्ज के भयंकर भार से लदे होते हैं। अशिक्षा के तो वे केन्द्र ही हैं। इस कारण आज भी वे किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सके हैं। अब उन्हें प्रत्येक दृष्टि से ऊपर उठाने की आवश्यकता है, उनके गुणों की रक्षा करते हुए। वनवासियों की समस्या हमारे देश की कुछ ज्वलन्त समस्याओं में से है, कुछ लोग उन्हें दूसरे ही राजनैतिक रंग में रंगकर भारत में भेद-प्रभेद और फूट की प्रवृत्तियां बढ़ाना चाहते हैं। जिसका अनिष्ट स्पष्ट है। आवश्यकता इस बात की है कि ये लोग भी ऊंचे उठते हुए हमारे देश के सुदृढ़ नागरिक बनें। हमारी शक्ति, हमारी दिशायें इसी दिशा में केन्द्रित होनी चाहियें। वनवासियों के उत्थान की विचित्र योजनाओं के द्वारा हम इस लक्ष्य की ओर बढ़ेंगे भी।

गोंड़ों का आदिस्थान

श्री कालीचरण त्रिवेदी

यों तो इस प्रदेश का नाम ही प्राचीन काल में गोंडवाना था परन्तु कई लोगों का यह कथन है कि गोंड़ लोग कम से कम इस मध्यप्रदेश के मूल निवासी तो न थे। उनका जो राज्यघराना यहां स्थापित हुआ, उसका मूल पुरुष गोदावरी के दक्षिण से आया था, ऐसा निश्चित रूप से कहा जाता है। गोंड़ों को लोग द्रविड़ शाखा की जाति मानते हैं। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि गोंड लोग भी आर्यों की तरह बाहर से आये। भूगर्भवेत्ता बताते हैं कि पहिले एक ऐसा महाद्वीप था जो आफ्रिका के मदागास्कर से लगाकर मलयद्वीपसमूह तक जुड़ा हुआ था। वहीं से सम्भवतः गोंड़ों और कोलों का इस ओर आगमन हुआ। बलोचिस्तान की ब्राहुई जाति की बोली से उरांव लोगों की बोली का कुछ सादृश्य देखकर कुछ लोगों ने यह अनुमान कर लिया कि उरांव लोग द्राविड़ी जाति की उपशाखा हैं और उनका ऐसा भी अनुमान है कि समूचे द्रविड़ लोग भारत के उत्तर-पश्चिम कोने से आये होंगे, जैसे कि कोल लोग उत्तर-पूर्व से आये।

कौन बाहर से आये और कौन यहां के आदिनिवासी या मूलनिवासी हैं ये प्रश्न बड़े विवादास्पद हैं। अंग्रेज शासक लोग स्वतः बाहर से आये थे इसलिये उन्हें तो यही सिद्ध करने में बहुत सुविधा थी कि भारतवर्ष के सभी लोग बाहर से आये। उनके अनुसार पहिले कोल लोग आये फिर उनको जंगल और पहाड़ों की ओर खदेड़ते हुये द्राविड़ी गोंड़ लोग आये, फिर उन्हें भी परास्त करते हुए उत्तरीय आर्य आये। आजकल जो नये अनुसंधान किये जा रहे हैं उनके अनुसार भारतीय विचारकों का मत इस दिशा में प्रबल होता जा रहा है कि न तो आर्य लोग कहीं बाहर से आये और न वनवासी ही बाहर से आये,—फिर चाहे वे कोल हों या गोंड़ हों।

भूगर्भवेत्ताओं का यह भी तो कथन है कि किसी समय उत्तरीय भारत का भाग जलमग्न था और केवल दक्षिणी अन्तरीप का भाग ही अवस्थित था। गोंड़ लोग इसी भाग में विशेष रूप से पाये जाते हैं। बारीकी के साथ अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि कोलों के संघर्ष की बात तो प्राचीन आर्यग्रन्थों में कहीं कहीं आई भी है किन्तु उनमें न तो गोंड़ों के संघर्ष की कोई कथा ही है और न उनका नाम ही है, फिर यह कैसे माना जाय कि आर्य लोग गोंड़ों को खदेड़ते हुये इस भारतवर्ष में आगे बढ़े। कोलों की कई उपशाखाओं ने तो आर्यभाषा हिन्दी को ही अपनी मातृभाषा बना लिया है परन्तु द्राविड़ी वनवासी जातियों की दोनों प्रधान शाखाओं—अर्थात् गोंड़ों और उरांवों ने अभी भी अपनी भाषा नहीं भुलाई है। इससे भी यही विदित होता है कि उत्तर भारतीय वास्तव्य के कारण आर्यों और कोलों का घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो चुका होगा परन्तु दक्षिण भारत में गोंड लोग अपना अपेक्षाकृत स्वतंत्र विकास करते रहे हैं और इसीलिये अब तक अपनी बोली को कोलों की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में सुरक्षित रख सके हैं।

यदि ब्राहुई लोगों की बोली इन गोंड़ों या उरांवों से मिलती-जुलती है तो इतने पर से ही यह मान लेना युक्ति-संगत न होगा कि गोंड़ तथा उरांव लोग बलोचिस्तान के रास्ते से भारतवर्ष में आये। भाषा-सादृश्य के आधार पर यह क्यों न मान लिया जाय कि भारतवर्ष से ही द्रविड़ लोग बलोचिस्तान की ओर आगे बढ़े। आखिर, उरांव लोग दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ ही गये हैं और रांची तक फैल गये हैं। इसी प्रकार इनकी एक शाखा बलोचिस्तान की ओर भी चली गई होगी।

कोल लोगों की बोली तथा कुछ-कुछ रीति-नीति का सादृश्य तो मलय द्वीपपुञ्ज के निवासियों से मिल जाता है और आर्यों की बोली तथा उनकी रीति-नीति का सादृश्य एशिया और यूरोप के अनेक देशवासियों से मिल जाता है किन्तु द्रविड़ों की बोली का सादृश्य भारत के बाहर कहीं न मिलेगा। क्या यह पर्याप्त रूप से इंगित नहीं करता कि द्रविड़ लोग निश्चित रूप से यहीं के मूल निवासी होंगे?

गोंड़ों के विषय में पूर्वोल्लिखित राजकिंवदन्ती के आधार पर लोग यह मान लेते हैं कि वे सबके सब मध्यप्रदेश में दक्षिण गोदावरी से आये परन्तु यह आश्चर्य ही है कि सौ-दो सौ साल के भीतर ही अकस्मात इनके इतने घराने दक्षिण से आ गये कि उन्होंने मध्यप्रदेश के पाण्डवों, कलचुरियों और अन्य नरेशों को नष्ट-भ्रष्ट करके सब कुछ आत्मसात कर लिया।

उनकी न तो कोई अपनी लिपि है, न अपना विशिष्ट साहित्य। बुद्धि में भी वे इतने प्रखर नहीं हैं कि बात की बात में एक नये प्रदेश में पहुंचकर सभी पर अपना आतंक जमा लें और खेती, मजदूरी और शासन सभी कुछ अपना बैठें। इतिहास इस विषय में एकदम मौन है कि दक्षिण गोदावरी में अब गोंड लोग क्यों नहीं रह गये और दक्षिण गोदावरी का क्षेत्र छोड़कर हजारों और लाखों की संख्या में वे कुछ वर्षों के भीतर ही उत्तर गोदावरी की ओर क्यों आ गये। इसलिये अनुमान यही करना पड़ता है कि वे वस्तुत: इसी मध्यदेश के मूलनिवासी रहे होंगे। उनका पहिला राजा यादोराय पूर्वोल्लिखित किंवदन्ती के आधार पर भले ही दक्षिण गोदावरी की ओर से आया होगा।

गोंड़ों में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि उनका आदिस्थान काचीकोपा लोहागढ़ है। यह स्थान कई विद्वानों के मत से पचमढ़ी का ही स्थान माना जाता है जहां बड़े महादेव की कंदरा और चौरागढ़ का क्षेत्र समग्र गोंड़ जाति के लिये अब भी परमपूज्य है। इस किंवदन्ती के आधार पर भी, यदि पचमढ़ी को ही काचीकोपा लोहागढ़ मान लिया जाय तो मध्यप्रदेश ही गोंड़ों का आदिस्थान सिद्ध होता है।

गोंड़ों की शाखा-प्रशाखायें बहुत हो गई हैं। कुछ शाखायें तो भिन्न-भिन्न व्यवसायों के कारण बन गईं, जैसे—लोहे का काम करने वाले लोग अगरिया कहलाये, ढोर चराने वाले ग्वारी कहलाये, टोना-टम्बर और भविष्य बताने वाले लोग ओझा कहलाये, पुरोहिती करने वाले परधान कहलाये, बढ़ईगिरी वाले सोल्हा कहलाये। इसी प्रकार भिन्न क्षेत्रों में बस जाने के कारण इनके भिन्न भेद भी होते गये। कोंध या खोंद और कोलम तथा नेंघू नामक जातियां भी मूल में गोंड़ ही रही होंगी, ऐसा जान पड़ता है परन्तु वर्तमान काल में इनकी प्रधान शाखायें हैं—गोंड़ और उरांव। ये उरांव ही कहीं धांगर कहलाते हैं और कहीं कुरुख (स्मरण रहे कि कोरकू जाति कुरुख से भिन्न है और वह कोलों की एक उपशाखा है)। उरांव लोग अपने को कभी कभी दूसरों की देखादेखी, खड़िया कह दिया करते हैं, यद्यपि खड़िया जाति इन से सर्वथा भिन्न है। जमीन खोदने का काम खड़ियों ने भी अपनाया और उरांवों ने भी। इसलिये चूंकि दूसरों ने इन दोनों को खड़िया कहना शुरू कर दिया इसलिये इन्होंने भी अपने को खड़िया मान लिया, और धांगर तथा खड़िया पर्यायवाची शब्द हो गये।

सम्भव है, कुछ ऐसी ही बात इनको रावण के साथ जोड़ने में सफल हो गई हो। उरांव भी अपने को रावणवन्शी या रावणपुत कहते हैं और गोंड़ भी। रांची के सुप्रसिद्ध विचारक राय बाबू तो रावणपुत शब्द से ही उरांव शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। गोंड़ों में मेघनाथ पूजा का दृश्य इसी मध्यदेश में ही देखा जा सकता है। उनकी अनार्य भावना के कारण सम्भव है अन्य जातियों ने उन्हें रावणवन्शी कहना प्रारंभ कर दिया हो और कालान्तर में उन्होंने भी अपने को रावणवन्शी मान लिया हो, जैसे उरांव लोग अपने को खड़िया मान लेते हैं। राय बाबू ने उरांवों लोगों को किष्किन्धा के वानरो (अर्थात् उन अर्द्ध-सभ्य मनुष्यों जिन्होंने राम की सेना का कार्य किया था) का वंशज कहा है। ये लोग रावण के वंशज हों या बालि-सुग्रीव के वंशज हों, परन्तु इतना निश्चित है कि इनकी कोई भी शाखा भारत के बाहर उपलब्ध नहीं है, न इनकी बोली ही किसी अभारतीय बोली से मेल खाती है। ये गोदावरी के दक्षिण की ओर भी बहुत ही कम पाये जाते हैं और मध्यदेश के उत्तर की ओर भी बहुत कम क्षेत्रों में फैले हैं। अतएव कोई कारण नहीं है कि हम मध्यदेश अथवा मध्यप्रदेश को ही गोंड़ों का आदिस्थान क्यों न मानें ?

वनवासियों की समाज-व्यवस्था

डॉ. टी. बी. नायक

नागरी सभ्यता से दूर प्रकृति के एकान्त और शान्तक्रोड में बसनेवाली वनवासी* जातियों का जीवन अनियमित होते हुए भी नियमित मान्यताओं और विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं से बंधा हुआ है। वनवासियों का प्रायः सम्पूर्ण ग्राम एक सामाजिक-बंधन में गुथा होता है। बैगा लोगों के गांव देखिए, देखकर दंग रह जायेंगे—कितना सामूहिक और शक्ति-सम्पन्न उनका जीवन है। प्रत्येक घर एक दूसरे से मिला हुआ होता है। गांव की सीमा अच्छी तरह से साफ की हुई रहती है। गांव के बिलकुल बाहर एक मरघट रहता है, यहीं मेरो (सीमा) के बाहर गांव के दुःख दर्द को निकाला जाता है। इसी सरहद में एक बड़ा सा चौक बनाकर, उसके तीनों ओर घर बनाये जाते हैं और चौथी ओर से बांस या केतकी की बाड़ी लगायी जाती है। हर एक बाजू में छः-सात झोपड़ियां रहती हैं जो एक दूसरे से छोटी सी गली से अलग रहती हैं। झोपड़ी के पास बाड़ी लगायी जाती है। सारे रिश्तेदार यथासम्भव पास-पास घर बनाने का यत्न करते हैं। मुसाफिरों के लिये चौक के बाहर एक छोटी सी झोपड़ी (चट्टी) बनी रहती है। उरांव लोगों में भी गांव एक स्वयं सम्पूर्ण इकाई के रूप में पाया जाता है। साधारण उरांव गांवों में एकाध बाहरी-परिवार, एक दो अहीरों के घर, एकाध लोहार और कहीं कहीं एक-दो कुम्हारों के कुटुम्ब पाये जाते हैं। किसी किसी गांवों में घासी, जुलाहा और बसोर-चमारों की बस्ती भी पायी जाती है। भीलों के गांव भी लगभग इसी तरह के होते हैं।

वनवासियों की ग्राम-व्यवस्था बड़ी सुचारु रूप से संचालित होती है। प्रत्येक गांव में वहां का कार्य चलाने के लिये छोटे छोटे अधिकारी होते हैं। उरांव गांवों में अधिकारी इस प्रकार रहते हैं—

(१) पहान (बैगा)—जो किसी किसी गांवों में तीन साल के लिये नियुक्त किया जाता है। उसका काम आधिभौतिक दुनिया के साथ गांव के लोगों का सम्बन्ध स्थापित करना होता है। वह सारे गांव में झाड़ाई-फुंकाई का कार्य करता है और देव-प्रकोपों से गांव की रक्षा करता है।

(२) महतो—इसकी नियुक्ति तीन वर्ष के लिये होती है। यह गांव का भीतरी कारबार चलाता है, इसीलिये उरांव लोग कहते हैं कि पहान गांव बनाता है और महतो गांव चलाता है। महतो को कुछ जमीन बिना महसूल दी जाती है।

(३) पुजारी—इसका मुख्य कार्य 'पहान' को उसके कार्य में सहायता पहुंचाना है।

उरांव-गांव के अन्य कामदारों में बाजा बजाने के लिये 'घासी', ढोर चराने को 'अहीर', हथियार बनाने के लिये 'लोहार', संदेश लाने लेजाने के लिये 'गोराईत' और बर्तन बनाने के लिये 'कुम्हार' मुख्य हैं।

भील जाति में गांवों का मुखिया 'वसोवा' कहलाता है। उसको सहायता देने के लिये एक प्रधान रहता है। पुजारी देवी-देवताओं की पूजा करता है। वह रोगियों का उपचार भी किया करता है। कोतवाल, 'वसावो' के अर्दली के रूप में कार्य करता है। मडवी या बडवो गांव का गुरु है। किस रोग का कौन देव होता है, इसकी पूरी जानकारी उसे रहती है। भील-गांवों का चरवाहा 'गोरी' कहलाता है और उसे अछूतों की श्रेणी में रखा जाता है।

वनवासियों की एक जाति का समुदाय दूसरी जाति के समुदाय से जुड़ा रहता है। उदाहरण के लिये बैगा, गोंडों के पुरोहित होते हैं, यद्यपि इन दोनों के वंशों में अन्तर है। बैगा मुण्डा वंश के हैं और गोंड द्रविड़ वंश के। पुरातन-काल में जब द्रविड़ों ने मुण्डाओं को जीवन-संघर्ष में पराजित कर दिया तब कई मुण्डाओं का द्रविडीकरण भी हुआ, पर बैगाओं ने अपने को इस मेल से एकदम दूर रखा। मुण्डा और द्रविड वंशों में जब संघर्ष की स्थिति समाप्त हुयी तब उनमें आपस में समन्वय की भावना बढ़ी। उस समय गोंडों ने मुण्डाओं के देवी-देवताओं को अपने

---

*'वनवासी' शब्द हमने आदिमजातियों अथवा आदिवासियों के लिये प्रयुक्त किया है।

धार्मिक-जगत में समाविष्ट किया। मुण्डा जाति के देवी-देवताओं के साथ साथ परम्परागत मंत्रतंत्र और जादू-टोना जाननेवाले उनके पुजारी, गोंडों के भी पुजारी, बन गये। आज भी बैगा कमर में एक छोटासा कपडा लपेटकर गुफा-युग के वेष में रहते हैं। बीज बोना, फसल की रक्षा करना, फसल काटना, नवाखाई का त्यौहार, करमदेव की पूजा, जादू-टोना, शादी-ब्याह, जन्म तथा मृत्यु-संस्कार—इन सभी बातों में बैगा की सहायता के बिना गोंड कुछ नहीं कर सकते।

परधान (प्रधान), गोंडों की ही एक शाखा है और इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है। कुरई-बिछवा के गोंडों में हमने देखा है कि वे अपने देवस्थान में अपनी देवी के साथ अपने छोटे भाई परधान का भी एक देव रखते हैं। इतना ही नहीं जब परधान मंगेतरी के लिये निकलता है तो उसे कुछ न कुछ पाने का अधिकार होता है। नियमित रूप से मांगनेवाला परधान 'दसौंधी' कहलाता है और जिस गोंड से वह मांगता है उसे 'जजमान' कहते हैं। जब परधान अपने जजमान गोंड से मांगने जाता है तो वह पुरातन गोंड-राजाओं की कीर्ति बखानता है। ऐसे मांगनेवालों का गोंड बहुत सत्कार करते हैं। ठाकुर की जब सबसे बड़ी लडकी ब्याही जाती है तब परधान को 'सभा-दान' मिलता है, जिसमें एक रुपया और लडकी के हल्दीवाले कपडे मिलते हैं। आम शादियों में 'बिहावदान'; ठाकुर की जेष्ठ पुत्री के पुत्र जन्म के समय 'माचादान' और ठाकुर के मरणोपरान्त 'म्युआरदान' परधान को ही मिलता है।

रायपुर, दुर्ग, बिलासपुर और जबलपुर के अगारिया लोहे का काम करते हैं। उनमें भी गोंडों जैसे गोत्रादि होते हैं। शायद उनका गोंडों का व्यावसायिक सम्बन्ध हो। लोहे के हथियार बनाने के लिये ही सम्भवतः 'अगरिया' समुदाय बना हो। ओझा गायक का काम करते हैं। उन्हें एक प्रकार के भाट समझना चाहिये। गोंड स्त्रियों के शरीर में गुदना गोदना उनका ही काम है। इस तरह हम देखते हैं कि व्यावसायिक आधार पर हर जाति के कार्य अलग अलग बँटे हैं परन्तु उन सबमें सामाजिक एकता और साम्य विद्यमान है।

एक बात ध्यान देने की है कि इन वनवासियों में 'गोत्र' का बडा महत्व है। समगोत्री भाई-बहिन होते हैं और उनमें आपस में विवाह नहीं होता। गोत्रों का विभाजन भिन्न-भिन्न देवताओं को पूजनेवालों के आधार पर होता है। देवता को पूजने वाले चार विभागों में बंटे रहते हैं —(१) येरुंगगोंग (जो सात देवता पूजता है), (२) सारुगगोंग (छः देवता माननेवाले), (३) सयुंगगोंग (पांच देवता माननेवाले) और (४) नाउंगगोंग (चार देवता माननेवाले)। इन चार विभागों में १४ से लेकर २६ तक गोत्र होते हैं। सात देवतावाले गोंडों के गोत्र धुरवा, मरावी, मर्सकोला, मेंघराम, पंडरा, सुइया आदि; छः देवतावाले गोंडों के गोत्र अटराम, उगम, पेंडम, उईका, वाडिवा, बकडा आदि; पांच देववालों में इश्टांग, इरका, सैयाम, इत्यादि और चार देववालों में चिकराम, मरकाम, पुसाम, सुलाम, टेकम आदि गोत्रों के नाम होते हैं। ऐसे ही गोत्र कोरकुओं के होते हैं, अन्तर केवल उनके नामों में रहता है। यही बात भील तथा बैगाओं के सम्बन्ध में कही जायगी। श्री शरतचन्द्रराय ने उरांवों के बारे में लिखा है कि उनके गोत्र बहुत कुछ शिकार किये जानेवाले पशु-पक्षी तथा फल-फलों के नाम पर होते हैं।

वनवासियों की समाज-व्यवस्था में घोटुल का भी अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। यह समाज संगठन का केन्द्र होता है जहां पुरुष तथा स्त्रियां मिलकर काम करते हैं, परन्तु कहीं कहीं स्त्री तथा पुरुषों की अलग-अलग टोलियां बन जाती हैं और वे अलग-अलग शिकार आदि करने का काम करने लगते हैं। गोंडों में जब 'जेरी' मरती है तब स्त्री-पुरुषों के बीच एक उत्सव के रूप में लडाई होती है। एक बहुत ऊंचे खम्भे के ऊपर गुड, नारियल आदि बांध दिया जाता है और उसको उतारने के लिये गांव के जवान ऊपर चढने को प्रयत्नशील रहते हैं। गोंड युवतियां उन्हें मारती हैं और चढने नहीं देतीं। भीलों में भी होली के बाद का 'गोल गधेडो' का उत्सव ऐसा ही युवा-युवतियों की कशमकश का रहता है। बस्तर में कुमार-घरों की प्रथा है। इन कुमार-घरों के युवकों को 'चेलिक' तथा युवतियों को 'मोटियारी' के नाम से पुकारा जाता है। उरांव अपने कुमार-गृहों को जोंख, एरपा या दुमकुरिया कहते हैं। ये घर समाज-शिक्षण और समाज-व्यवस्था के केन्द्र होते हैं।

वनवासियों के समाज में परिवार और रिश्तेदारों का ज्यादा महत्व रहता है। भीलों के परिवार में, परिवार का मुखिया बाप होता है जो आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं को परिवार में बराबर चलाने का अधिकारी रहता है। उनका परिवार पितृपक्षी होता है। परिवार के अन्तरप्रबन्ध में स्त्री का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। उसके बिना परिवार का काम नहीं चल सकता। जब तक लडके अविवाहित रहते हैं तब तक वे मां-बाप के अनुशासन में रहते हैं परन्तु विवाह के बाद वे अपने माता-पिता से अलग बस जाते हैं। लगभग यही व्यवस्था अन्य पितृपक्षी वनवासियों में पायी जाती है। मध्यप्रदेश की समस्त वनवासी जातियां पितृपक्षी ही हैं।

रिश्तेदारों को मोटे तौर से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—भाई-बन्द और समधी या 'हगा' और 'हगवाडिया'। पहिले वर्ग का इनका रक्त-सम्बन्ध होने से वे परिवार के एक अंग समझे जाते है। ये रिश्तेदार उनको बहुत सहयोग देते हैं। समधी, पत्नी की ओर से परिवार में जुड़ा रहता है और वह भी परिवार का दूसरा अंग माना जाता है। इन्हीं व्यक्तियों के सहयोग से सम्पूर्ण परिवार का गठन समझना चाहिये। परिवार के सिवाय अन्य सवर्ण हिन्दू जातियों की तरह, अपने-अपने पारस्परिक सम्बन्धों के अनुसार परिजन और पुरजन भी परिवार के प्रचलन में यथायोग्य सहायता पहुंचाते हैं।

इतिहास इस बात का प्रमाण देता है कि हमारी पुरातन भारतीय संस्कृति में मेलजोल और आपसी निपटारे पर बहुत जोर दिया गया है। यह बात नहीं कि उस युग में लोगों में परस्पर मनोमालिन्य नहीं होता था और झगड़े फिसाद नहीं होते थे। झगड़े तो होना बहुत स्वाभाविक है लेकिन उनके निपटान का काम गांवों की पंचायत का ही होता था। यद्यपि यह प्रथा आज के नागरी-सभ्यता में पले व्यक्तियों में नहीं-सी है और हर छोटी बात के लिये अदालतों की शरण ली जाती है लेकिन आज भी वनवासियों में पंचायत का प्रमुख स्थान है। गांवों के सारे झगड़े एक पंचायत द्वारा ही निपटाये जाते हैं। फैसला करने के लिये पंचायत में गांव के वयोवृद्धों की एक कमेटी होती है। गांव का मुखिया उसका सरपंच होता है। इस पंचायत का निर्णय आज भी वनवासियों को पूरी तरह मान्य रहता है। वे पन्चों को 'पंच-परमेश्वर' कहा करते हैं। उरांव-पंचायत की कार्यविधि सुसंगठित रूप से संचालित होती है। फरियादी अपनी कहानी गांव के महतो अथवा पहान को सुना देता है। वह अक्सर गांव के बूढ़ों की पंचायत बुलाता है। वहां महतो, वादी द्वारा की गयी फरियाद सबके सामने प्रतिवादी को सुनाता है। प्रतिवादी को अपना मामला रखने का अवसर दिया जाता है और फिर सबकी सलाह से उचित फैसला दिया जाता है। अंग्रेज-शासन के पूर्व खूनी को पंचायत मृत्युदण्ड की सजा देती थी। चोर को पीटा जाता था, परस्त्रीगामी भी चोर समझा जाता था, और गांव के अनुशासन तथा निषेधों को भंग करनेवाले को जाति से बहिष्कृत किया जाता था। दण्ड-स्वरूप जो पैसा आता वह पंचायत की सामूहिक सम्पत्ति होती थी। उसका कुछ अंश पंचों को दारू पिलाने में खर्च किया जाता था। अब भी ये मान्यताएं बराबर चली जा रही हैं। बैगाओं में गाय, बिल्ली, कुत्ते को मारना, जेल जाना, पशुगमन, गोत्रगमन, जाति के बाहर विवाह करना, ऋतुनियमों का भंग करना आदि अपराध माना जाता है और इन सब अपराधों की बराबर सजा दी जाती है।

जंगल में रहनेवाले इन वनवासियों को हम असभ्य भले ही कहें परन्तु वे वास्तव में एक सुदृढ़ और सुसंगठित सामाजिक अनुशासन में बंधे रहते हैं। यही कारण है कि आर्थिक दृष्टि से हीन होने और जीवन-यापन की विषमताओं को झेलने के बावजूद, उनका जीवन नियमित, सरल और सीधा होता है। उनकी सारी समाज-व्यवस्थाएं स्वतः निर्धारित सिद्धान्तों पर आधारित रहती हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक वनवासी अपना परम कर्तव्य समझता है।

गोंडी बोली

श्री. आर. पी. नरोना

यह उत्तम होगा यदि मैं पहिले ही से बता दूं कि मैं न तो कोई भाषाशास्त्री हूं और न मैं किसी भी भाषा का वैयाकरण ही होने का दावा कर सकता हूं। सचाई तो यह है कि जब जब मैंने अपने बच्चों को अंग्रेजी या हिन्दी व्याकरण में सहायता देने की कल्पना की है, तब तब मैंने देखा है कि उन्होंने और भी कम नम्बर पाये हैं।

गोंडी बोली से मेरा पहिला परिचय उस समय हुआ जब मैंने १९४०-४१ ईसवी में श्री. ग्रिग्सन का सहायक होकर "आदिम जातीय जांच" का कार्य किया था। मैंने रेहली तहसील के गोंडों से और रायपुर तथा बिलासपुर जिले के गोंडों से उनकी गोंडी बोली सीखी। फिर, जब बस्तर में मुझे छः साल रहना पडा था, तब मैंने वहां के स्थानीय गोंडों से ही गोंडी की तीनों प्रधान उपबोलियां, जो वहां बोली जाती हैं, सीखीं। मुझे मद्रास के कोया लोगों से भी, जिनकी बोली गोंडी है, बात करने का अवसर मिला है।

यह जानकर कौतूहल होगा कि गोंडी बोली में "गोंड" अथवा "गोंडी" नाम का कोई शब्द नहीं है। गोंड लोग अपने को "कोयतूर" कहते हैं। जान पडता है कि उनके प्रधान साम्राज्यों का पतन हो जाने पर वे पहाड़ियों में चले गये और वहीं रहने लगे। तब वे अपने को "कोण्डा दोरल" कहने लगे। कोण्डा याने पहाडी और दोरलू याने अधिपति। "कोण्डा दोरलू" हुये "पहाडों के अधिपति"। विशाखापत्तन जिले के एजेन्सी क्षेत्रों में वे अब भी इसी नाम से पुकारे जाते हैं। बस्तर के दक्षिणी भाग में उन्होंने इस नाम को संक्षिप्त करके केवल "दोरला" अथवा "दोरल" रहने दिया है। मैदान के गोंडों ने अपना "कोयतूर" नाम ही कायम रखा जो नाम क्रमशः "कोय" में परिवर्तित हो गया। पूर्वी गोदावरी जिले और उडीसा के गोंड लोग आज भी इसी नाम से पुकारे जाते हैं। पहाडी गोंडों की दूसरी शाखायें जो मध्यप्रदेश में प्रविष्ट हुईं उन्होंने "कोण्डा दोरलू" को "कोण्ड" में संक्षिप्त कर दिया और यह "कोण्ड" ही कालान्तर में "गोण्ड" बन गया। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि "गोण्ड" या गोंड शब्द मूल कोयतूर भाषा में कभी भी प्रविष्ट न हो पाया था। वह तो अब हिन्दी से उधार लिये हुये शब्द की तरह व्यवहार में आने लगा है।

यदि दूसरी बोलियों या भाषाओं से लिये हुये उधार शब्दों को अलग कर दिया जाय तो मूल गोंडी बोली का शब्दकोष बहुत ही स्वल्प है—मुश्किल से छः सौ शब्द होंगे उसमें। वस्तुतः बहुत सामान्य विषयों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर, बिना उधार लिये हुये शब्दों के सहारे विशुद्ध गोंडी में बोलना असंभव व्यापार समझिये। यही कारण है कि गोंडी की उपबोलियां एक दूसरे से इतनी अधिक भिन्न हो गई हैं। एक उपबोली दूसरी से इसलिये भिन्न है क्योंकि उसने अपनी शब्दावली एक अलग ही स्वतंत्र विजातीय भाषा से उधार ली है। बैतूल की गोंडी, सागर की गोंडी और मण्डला की गोंडी ने उन क्षेत्रों में प्रचलित हिन्दी की बोली (बुन्देलखंडी) से ढेरों शब्दावली ली, रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग की गोंडी ने इसी प्रकार छत्तीसगढी से शब्दावली पाई; उत्तरीय बस्तर की गोंडी ने हलबी बोली से (जो पूर्वी हिन्दी की एक उपबोली है) बहुत उधार लिया और दक्षिणी बस्तर की गोंडी ने (जो "दोरली" कहाती है) तेलगू से बहुत प्रभाव पाया है। नागपुर जिले के "पंच म्हेली" क्षेत्र में जो गोंडी बोली जाती है वह मराठी से मिश्रित है और उसके कुछ ही दूर आगे, छिंदवाडा तथा होशंगाबाद की ओर, वह लगभग ५० प्रतिशत हिन्दी है।

मेरे विचार से यही प्रधान कारण है कि गोंड लोग अभी तक भी गोंडी को जातीय या प्रान्तीय भाषा के रूप में स्वीकार करना नहीं चाहते। प्रदेश के एक खंड से यदि वे दूसरे खंड को चले जांय तो वे वहां की बोली नहीं समझ पाते। उदाहरणार्थ उत्तरी बस्तर का गोंड शेर को 'दुआल' कहता है, दक्षिणी बस्तर में उसे 'पुली' कहा जाता है, कोलितमारा (नागपुर जिले) में उसे ही 'बाघ' कहते हैं और छिंदवाडा में वही 'शेर या बाघ' कहाता है। पानी को कोई 'जल', कोई 'ईरू', कोई 'नीरु' और कोई 'एय' कहते हैं। चीते को कोई 'चीता', कोई 'तेंदवा', कोई 'निराल' कहेंगे। तब वस्तुस्थिति यह है कि एक छोटे समुदाय में गोंडी बोली की उपयोगिता भले ही हो, परन्तु ज्योंही उसे देश के भिन्न भिन्न भागों में

प्रयुक्त होने वाले विचार-माध्यम और उक्ति-माध्यम के समान उपयोग में लाने की बात सोची जाती है त्योंही उसकी निरर्थकता आप ही स्पष्ट हो जाती है। कारण है विभिन्न विदेश भाषाओं से लदी हुई उसकी बेढव कर्जदारी। इसीलिये बस्तर के मेरे गोंड मित्रों ने प्राथमिक शालाओं में भी शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रखी जाने के लिये एड़ीचोटी का पसीना एक कर दिया। उनकी इच्छा केवल इतनी ही थी कि जो शिक्षक हिन्दी पढ़ावे वह गोंडी भी जानता हो।

ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब मुझे बड़े बड़े जनसमूह के सामने गोंडी में बोलना पड़ा है और ऐसे अवसरों पर बहुत ही सीधे-सादे विचारों के अतिरिक्त अन्य विचारों को गोंडी में समझाना बहुत ही कठिन हो गया था। मेरे लिये तो वह और भी कठिन था क्योंकि मैंने यथासम्भव विशुद्ध गोंडी शब्दों तक ही अपने को सीमित करना चाहा था। एक उदाहरण देखिये, जो मैं कहना चाहता था वह यह था—"बस्तर जिला प्रगति कर रहा है और बड़ी तीव्रगति से परिवर्तित होता जा रहा है। इन परिवर्तनों में कुछ कठिनाइयों का प्रकट हो जाना स्वाभाविक है। मैं और मेरे कर्मचारीगण यहां इसी उद्देश्य से हैं कि इस प्रकार की कठिनाइयां जहां तक कम की जा सकें की जायें"। जो मैंने कहा वह यह था—बस्तर जिला जप्पे बदले मात्रा, इद जप्पे बदले मात्रे के, केने दुक्खाम आत्रा, नन्ना आरु पोरे मूल इद जिला ता अफसर, दुक्खाम हुड़तोर, मती जप्पे नेहना आयार"। इसका मतलब होता है इस प्रकार—"बस्तर जिला जल्दी बदल रहा है। इतनी जल्दी बदल रहा है कि कई दुःख आ जाते हैं। मैं और इस जिले के सब अफसर उन दुःखों को ठीक कर देंगे। लेकिन वे हमारे सामने जल्दी ले आये जावें"। मुझसे अधिक से अधिक इतना ही हो सकता था। इतने पर भी मुझे रेखांकित शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ गया, जो गोंडी नहीं है, क्योंकि गोंडी में उनका कोई पर्यायवाची शब्द ही न था।

गोंडी बोली की सादगी का एक लाभ अवश्य है। वह यह कि वह आसानी से सीखी जा सकती है। इसलिये मुझे और भी आश्चर्य होता है जब मैं यह देखता हूं कि सरकारी मुलाजिमों में से तथा समाज सेवकों में से भी बहुत कम लोग ऐसे हैं जो गोंडी बोली सीखने की इच्छा करते हैं। कितने प्रतिशत ऐसे मनुष्य होंगे जो गोंडी जानते होंगे यह बताकर मैं किसी को चिन्ता में नहीं डालना चाहता। इतना ही समझ लिया जाय कि उनकी संख्या बहुत ही कम है। कहीं इसका कारण उनकी श्रेष्ठत्व भावना तो नहीं है? यदि ऐसा है तो वह भावना अब शीघ्र बदल जानी चाहिये। गोंडों का कोई हितसाधन नहीं कर सकता जबतक कि वह श्रेष्ठत्व के सब विचारों को दूर करके उनके साथ अपना तादात्म्य न स्थापित कर ले। आदिम जातीय क्षेत्रों में कार्य करने वाले प्रत्येक कार्यकर्त्ता से मेरा अनुरोध है कि वह गोंडी अथवा स्थानीय आदिम जातीय बोली अवश्य सीखे। वह सीखने में उसे छः महीने से अधिक समय न लगेगा।

मध्यप्रदेश के दर्शनीय स्थल

श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह

मध्यप्रदेश प्रकृति की गोद में बसे होने के कारण प्राकृतिक दृश्यों से भरा हुआ है। प्राचीन साम्राज्यों का केन्द्रस्थल होने के कारण अनेक ऐतिहासिक दर्शनीय स्थानों से परिपूर्ण है। साथ ही, धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति तथा प्रचारस्थली होने के कारण यहां कई धार्मिक स्थान हैं और उसी तरह वाणिज्य और औद्योगिक नगर भी स्थित हैं। यहां नर्मदा, ताप्ती, महानदी, वैनगंगा, शिवनाथ, वर्धा, पयोष्णी और इन्द्रावती के पावन तटों पर अनेक राज्यों तथा धार्मिक सम्प्रदायों का उदय और अस्त हो चुका है। परिणामस्वरूप उसके अवशेष, दुर्गों और राज्य-महलों, मन्दिरों और चैत्यों तथा आश्रमों और क्षेत्रों के रूप में आज भी उसके गौरवमय भूतकाल की स्मृति दिला रहे हैं। इस प्राकृतिक स्थली की शिलाओं पर प्राचीन इतिहास और पुरातत्व की अमर कहानी अमिट अक्षरों में अंकित है। प्रकृति और मानव—दोनों के सम्मिलन से इस प्रदेश में अनेक महत्वपूर्ण दृश्यों और स्थलों की सृष्टि हुई है। उसका चित्रण हम क्रमवार यहां अंकित कर रहे हैं।

जाहिर ठौर जिलों बिच नाना, तिनकों अब कछु सुनहु बखाना।

वर्णासर क्रम के अनुसारा, कहव कथा कछु कर विस्तारा॥

अमरावती जिला

अचलपुर—यादवकालीन नगर मुगलकालीन विदर्भ की राजधानी थी। "तवारिखे अमजदी" ग्रंथ के अनुसार सन् १०५८ में यहां ईल नामक धर्मी राजा का राज्य था जिसने इलिचपुर नगर बसवाया था। विदर्भ के इमादशाह नवाबों ने इसे राजधानी बनाया था। निजाम के शासनकाल में यही मुख्य नगर था। सन् १९०३ तक निकट ही परतवाड़ा में फौजी छावनी थी। यहां दुला-रहमानशाह की प्रसिद्ध दरगाह है जिसका जीर्णोद्धार मुगल सम्राट अलाउद्दीन खिलजी ने करवाया था। मुसलमान शासन-समय की यहां कई प्रशस्तियां मिली हैं जिनकी संख्या ५० के लगभग है। यहां कई सिक्के भी मिले हैं। यहां भोलाराम और देवनाथ सम्प्रदाय के भी मठ हैं तथा मुगल-कालीन कई इमारतें अपना वैभव आज भी प्रकट कर रही हैं। यह नगर परकोटे से घिरा हुआ विशाल द्वारों से युक्त है। यह नगर व्यापार का केन्द्र होने से यहां कपड़े की मिल, जीन तथा अन्य कारखाने भी हैं।

अमरावती—यहां सबसे प्रसिद्ध मन्दिर अंबादेवी का था जो महाभारतकालीन कुन्डलपुर नगर की सीमा पर था। लोग इसका नाम अम्बापुर कहते हैं और रुक्मिणी का हरण कृष्ण ने यहीं के मन्दिर से किया था। भोंसलों के शासन से इस नगर का महत्त्व बढ़ा और अंग्रेजी शासन में यह विदर्भ की राजधानी थी। यहां का परकोटा निजाम ने १७ वर्षों में बनवाया था। सन् १८१६ के हिन्दू-मुसलमानों के दंगे में यहां ७०० मनुष्य मारे गये थे। उस समय में यहां का शासक निजाम था। यहां की जुम्मा मसजिद ३०० वर्ष की पुरानी है। वर्तमान समय में व्यापार का केन्द्र होने से यहां कई कारखाने भी हैं।

आमनेर झिलपी—सतपुड़ा के मेलघाट अंचल में गर्गा और ताप्ती के संगम पर यह गांव बसा है। यहां के पुराने किले से पर्वतीय दृश्य बड़ा सुहावना लगता है। कहते हैं कि यहां तांतिया भील का अखाड़ा था। इसी नाम का दूसरा ऐतिहासिक ग्राम मोरसी जनपद में है। यहां की मसजिद में एक फारसी का लेख है जिसमें यह अंकित है कि सम्राट औरंगजेब के समय में राजा किसनसिंह ने लालखां के स्मारकार्थ बनवाया था।

कुन्डलपुर—वर्धा के तट पर अमरावती से २४ मील पर महाभारतकालीन विदर्भ के महाराजा भीष्मक की राजधानी थी। नल चम्पूकार ने उसका उल्लेख किया है। लोग कहते हैं कि इस नगर का विस्तार अमरावती तक था। रुक्माबाई के मन्दिर के समीप कार्तिक मास में यहां मेला लगता है।

गाविलगढ़—अमरावती से ६५ मील पर सतपुड़ा की चोटी चिकल्दा से एक मील पर पहाड़ी दुर्ग है। फिरिश्ता के अनुसार यहां का प्रसिद्ध किला सुलतान अहमदशाह बहामनी ने बनवाया था। यहां मुसलमान युग की कई इमारतें और प्रशस्तियां हैं। यह दुर्ग देखने योग्य है। इसके निकट चिखलदरा है जो कि सतपुड़ा के प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण पचमढ़ी के समान दर्शनीय स्थान है। ग्रीष्म में बरार के लोग शीतल वायु के आनंद के लिये पहुंचते हैं।

देऊरवाड़ा—अचलपुर से ७ मील पर पूर्णा नदी के तट पर नृसिंह का प्रसिद्ध मन्दिर है। हिन्दू लोग पर्वों पर यहां पहुंचकर शुद्धितीर्थ में स्नान करने का पुण्य मानते हैं। लोग कहते हैं कि हिरण्यकश्यप को मारकर नृसिंह ने यहीं पर अपने हाथ शुद्ध किये थे। यहां कई मन्दिर हैं।

मुक्तागिरि—अचलपुर से ८ मील पर मुक्तागिरि अथवा मेंढागिरि पर जैनियों का पवित्र स्थल है। कहा जाता है कि जैन सम्राट कलिंगाधिपति खारवेल के राज्य की दक्षिण सीमा पर स्थित था। यहां लगभग ५२ मन्दिर हैं। ये मन्दिर सुन्दर प्राकृतिक स्थल पर ऊंची शिलाओं पर बने होने के कारण बहुत ही आकर्षक दिखलाई पड़ते हैं। ३०० फुट ऊपर से गिरता हुआ एक स्वच्छ सुन्दर जलप्रपात उपत्यका को अपने निरंतर निनाद से मुखरित करता रहता है। जैन शास्त्रों के अनुसार यहां पुरातन काल में लाखों मुनियों ने मुक्ति पायी थी। यहां के मन्दिरों की मूर्तियां आध्यात्मिक कला का ज्वलंत प्रमाण हैं।

मंजिरा—मेलघाट के पर्वतीय अंचल में मंजिरा की गुफा देखने योग्य है।

मोरशी—अमरावती से १८ मील पर उसी जनपद का प्रमुख नगर है। यहां एक पुरानी गढ़ी है।

लासूर—इस जिले के लासूर ग्राम का "आनंदेश्वर देवालय" हेमाड़पन्त-कालीन है। इस मन्दिर की कला प्रेक्षणीय है।

अकोला जिला

अकोला—जिले का सदर मुकाम मोरना के तट पर अकोलसिंह ने यह नगर बसाया था। प्रशस्ति के अनुसार यहां का किला सम्राट औरंगजेब के शासनकाल में बनवाया गया था। यहां कुछ मुसलमानी शिलालेख भी हैं। व्यापार का केन्द्र होने से नगर की दिन पर दिन उन्नति हो रही है।

आकोट—अकोला से २८ मील पर है। भोंसलों के समय में यहां फौजी छावनी थी।

अर्नसिंग—वाशिम से वायव्य में १५ मील पर इस ग्राम में यादवकालीन मन्दिर है।

कारंजा—मूर्तिजापुर जनपद में रेल्वे स्टेशन है। गुरुचरित्र के अनुसार यहां कारंज—ऋषि का आश्रम था। यहां का बिंदुतीर्थ और ऋषि तालाब प्रसिद्ध हैं। रोकडाराम की समाधि और मठ भी हैं। यहां लाड़ जाति के जैन वैश्य अधिक रहते हैं।

कुटासा—अकोला से २४ मील पर। यहां यादवकालीन मन्दिर है।

गोरेगांव—अकोला से ८ मील पर। यहां यादवकालीन मन्दिर है।

नरनाला—आकोट से १२ मील पर विदर्भ का इतिहास प्रसिद्ध किला सतपुड़ा की एक चोटी पर है। इस किले का वर्णन अन्यत्र किया गया है। इस किले के २२ द्वार और ३६० बुर्ज हैं। यहां पर फारसी की चार प्रशस्तियां अंकित है जिससे किले के विषय में विवरण प्राप्त होता है। इस किले का घेरा १४ मील में है। यहां से पहाड़ी सुन्दर दृश्य दिखायी देता है।

निरद—अकोला के उत्तर में १४ मील पर हेमाड़पंती मन्दिर है।

पातुर—अकोला-वाशिम रोड पर अच्छा कसबा है। यहीं पर शातवाहन कालीन गुफा है।

पाटखेड (अकोला के दक्षिण में १८ मील पर), पांथा (बालापुर से १६ मील पर), पिंजर (अकोला से २० मील पर), आदि ग्रामों में यादवकालीन हेमाड़पंती मन्दिर हैं।

बालापुर—अकोला से १६ मील पर, म्हैस और मान नदी के संगम पर बसा है। किले के निकट ही बाला देवी का मन्दिर है। यह मुगलकालीन प्रमुख नगर है। यहां पुराने जमाने में कागज बनता था। अब भी पगड़ी और दरियां बनती हैं।

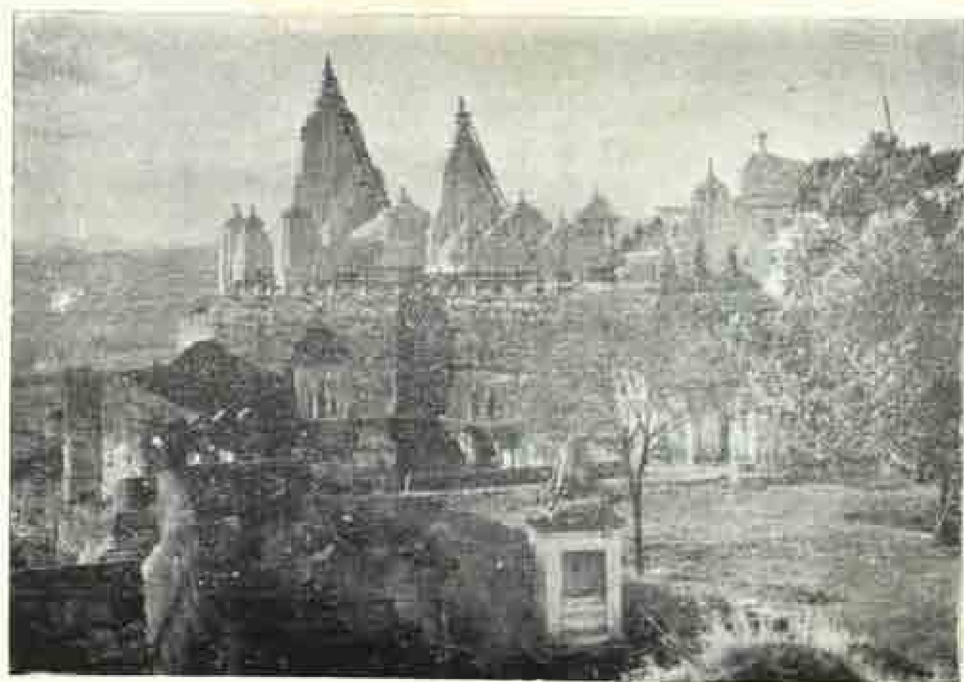
बार्शी-टाकली—अकोला से आग्नेय में १२ मील पर पुराना कसबा है। यहां के यादवकालीन मन्दिर में एक शिलालेख लगा हुआ है।



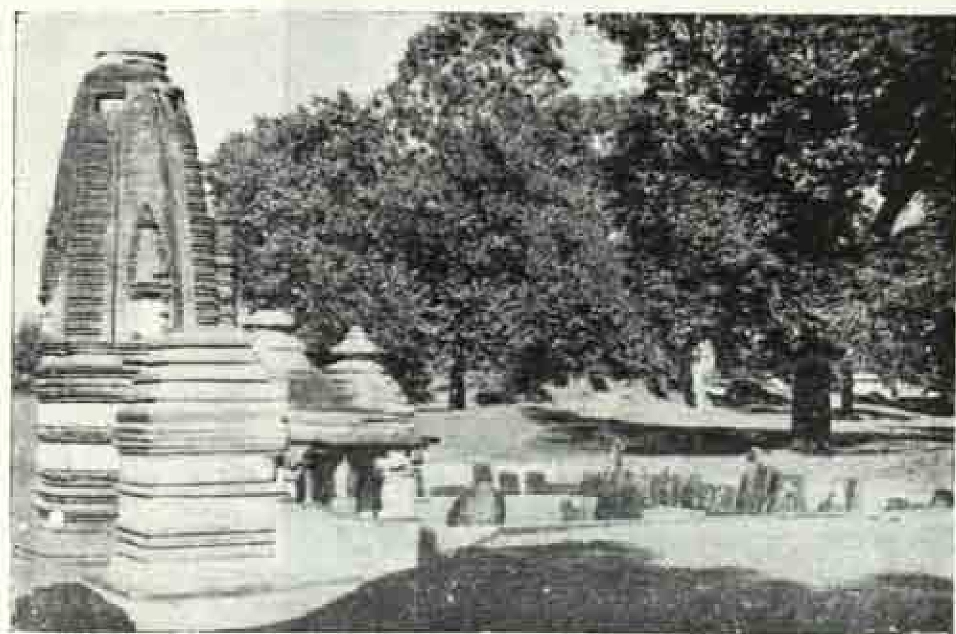
बन्दरकूदनी, भेड़ाघाट (जबलपुर)



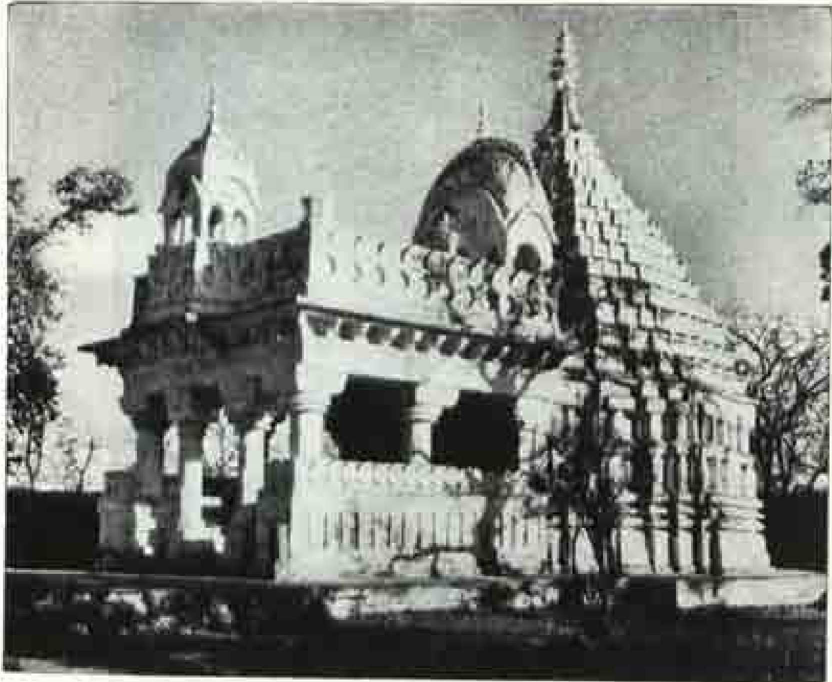
चित्रकूट (बस्तर) का सुप्रसिद्ध जल-प्रपात



रामटेक के प्रसिद्ध मन्दिर



लांजी [बालाघाट] के मन्दिर



गौरीशङ्कर मन्दिर, भेड़ाघाट



त्रिविक्रम, रतनपुर



सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) में सोमवंशी लक्ष्मण मन्दिर



वार्सी टाकली स्थित यादव कालीन भवानी मन्दिर



चारुआ (हरिपुरा) का गुप्तेश्वर मन्दिर
(वि० सं० १६५३ में खुदाई में उपलब्ध)

वाशिम—अकोला से ५२ मील पर जनपद का सदर मुकाम है। इस नगर का पुरातन नाम वत्सगुल्म है, यहां पर वत्स ने तपस्या की थी। यहां पद्मतीर्थ महान पवित्र माना जाता है—जिसके तट पर बालाजी का प्रसिद्ध मन्दिर है। पुराने जमाने में बरार के ज्योतिषी यहीं के अयनांश पर पंचांग बनाते थे। बरार के लोग यहां पर तीर्थ यात्रा के लिये पहुंचते हैं और यहां की यात्रा प्रसिद्ध है।

सिरपुर—वाशिम से वायव्य में १२ मील पर पुरातन ग्राम है। यहां यादवकालीन मन्दिर है जो अब संरक्षित स्मारक है। सिरपुर के मन्दिरों की शिल्पकला और पार्श्वनाथ की मूर्ति दर्शनीय है।

सिदखेड—अकोला से दक्षिण में ११ मील पर है। यहां पर भी हेमाडपंती मन्दिर है।

यवतमाल जिला

इस जिले के कलमनेर, कुन्हाड, जवलगांव, जुगद, साडगांव, तपोना, दाभाडी, दुधगांव, नेर, पाथरोट, पांडरदेवी, यवतमाल, लाक, लारखेड, लोहारा, वरुड, सोनावरोना आदि ग्रामों में यादवकालीन हेमाडपंती मन्दिर वर्तमान हैं। ढोकी और परसोरा स्थानों में प्रागैतिहासिक काल के अवशेष पाये जाते हैं।

कलंब—यवतमाल से पूर्व में १६ मील पर है। इस नगर का प्राचीन नाम कदंब था। गणेश पुराण में इस नगर का वर्णन है। यहां का गणेशकुन्ड महान पवित्र गिना जाता है। यहां का किला प्रसिद्ध है। यहां यादववंशी राजाओं के सिक्के भी मिले हैं। यहां का देवालय गुफा में है।

केलापुर—यवतमाल से ४२ मील पर पुराना किला है। यहां देवी और गणेश के मन्दिर भी हैं। सन् १८१८ में अंग्रेजों ने अंतिम पेशवा बाजीराव को यहां पर हराया था।

यवतमाल—जिले का सदर मुकाम है। यहां एक हेमाडपंती शैली का पुराना मन्दिर है।

बुलढाना जिला

इस जिले में हेमाडपंती मन्दिर निम्न ग्रामों में पाये जाते हैं—जैसे, अमडापुर, अजनी, अंबी, कोडाली, खामखेड, गिरोली, गीर्दा, चिखली, चिचरखेड, देऊलघाट, दुधा, धोत्रा, नान्द्रे, ब्रम्हपुरी, मड, मासरूल, मेहकर, लोणार, वडाली, बसंड, साकेगांव, सातगांव, सायखेडा, सिदखेडा, सेंदुरजना, सिंदखेड, सोनरी आदि। पिंपलनेर और वाडवा के दुर्ग प्रसिद्ध हैं।

कोथली—मलकापुर से १५ मील पर है। अजंता पहाड पर चढने के लिये यहां से गुजरना पडता है। शिवगंगा के तट पर दो पुराने मन्दिर हैं।

खामगांव—व्यापार का केन्द्र है।

जलगांव—यहां राजा भर्तृहरि का मन्दिर है। यहां पर मुगल काल का किला और टकसाल थी।

बुलढाना—जिले का सदर मुकाम है। मलकापुर से यहां मोटर द्वारा जाते हैं।

मलकापुर—रेल्वे स्टेशन है। मुगलकालीन प्रसिद्ध नगर है।

मेहकर—तहसील का सदर मुकाम है। इस नगर का पुराना नाम मेघंकर-क्षेत्र था। विष्णु ने मेघंकर दैत्य का वध यहीं पर किया था। यहां का परकोटा ४०० वर्ष का पुराना है। यहां का कसबिन महल, और पंचमहल देखने योग्य है। नदी के तट पर एक मठ है जो हेमाडपंती शैली का है—समीप ही नृसिंह का भी मन्दिर है।

लोनार—यह स्थान मेहकर से दक्षिण में १५ मील पर है। यह स्थान "विरज क्षेत्र" कहलाता है। यहां हेमाडपंती शैली के मन्दिर हैं। विष्णु ने यहीं पर लवणासुर का वध किया था। यहां कई पवित्र तीर्थ हैं। दैत्य-सूदन का मन्दिर चालुक्यों का बनाया हुआ है। यहां पहले नमक भी बनता था क्योंकि यहां के प्रसिद्ध सरोवर का जल खारा है।

सिंदखेड—मेहकर से पश्चिम में ३२ मील पर प्रसिद्ध ग्राम है। इस ग्राम का पुरातन नाम सिद्धखेटक या सिद्धक्षेत्र था। यहां के यादवों का घराना इतिहास में प्रसिद्ध था। प्रसिद्ध शिवाजी की माता इसी वंश की थीं।

नागपुर जिला

इस जिले के प्रागैतिहासिक अवशेषों के स्थान कलमेश्वर, नवेगांव हैं। उमाली, कोराडी, कोहली, धोराद, गोंडी, जुनापानी, टाकलघाट, नीलखोआ, वडगांव, बोरगांव, रायपुर, वाठोरा, मावरगांव, और हिंगना में पुरातन वृत्ताकार शवस्थान हैं। अदासा, अंभोरा, केलोद, जालपुर, पारसिवनी, भुगांव, वलनी और साकनेर में हेमाडपंती शैली के पुरातन मन्दिर हैं। पारसिवनी, रामटेक, माहुरझरी, नगरधन, नंदपुर, आदि स्थानों में पुरातत्त्व की सामग्री हैं। उमरेड, काटोल, गुमगांव, जलालखेडा, पालेवाडा, पाटनसावंगी, बजारगांव, भिवगड, भिवापुर आदि स्थानों में गोंडकालीन दुर्ग आज भी हैं।

अंभोरा—उमरेड तहसील में वैनगंगा पर बसा हुआ है। यहां मेला भी लगता है। चैतन्येश्वर का मन्दिर और हरिहरस्वामी की समाधि दर्शनीय है।

अदासा—यहां गणेशजी की विशाल मूर्ति है।

काटोल—नागपुर से ३६ मील पर है। लोग उसे "कुंतलपुर" बतलाते हैं।

नगरधन—वाकाटक कालीन नंदिवर्द्धन नगर है। यहां कोटेश्वर का पुराना मन्दिर है।

नागपुर—मध्यप्रदेश की राजधानी है। भोंसला शासन का यही केन्द्रीय नगर था।

भीवकुंड—उमरेड से २२ मील पर है। यहां ३ गुफाएं हैं—जिनका सम्बन्ध पांडवों से था, ऐसा स्थानीय लोग कहते हैं। गुफा में पांडवों की मूर्तियां भी हैं। यहीं के एक तालाब को भीवकुंड कहते हैं।

रामटेक—नागपुर से २४ मील पर एक दर्शनीय स्थान है। इस स्थान का पुरातन नाम सिंदुरगिरि और तपोगिरि है। यह स्थान नगर से ५०० फुट ऊंची पर्वतीय श्रेणी पर परकोटे द्वारा घिरा हुआ है जिसके अन्दर, राम, लक्ष्मण आदि के प्रसिद्ध कई मन्दिर हैं। लक्ष्मण के मन्दिर में एक शिलालेख यादवकालीन है—उसके पीछे राम का मन्दिर है और समीप ही रामझरोका स्थान है—जहां से बैठकर चारों ओर का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। इस पर्वत पर पहुंचने के लिये चारों ओर से पक्की सीढ़ियां बनी हुई हैं। यहां के मन्दिर मध्यकालीन ब्राम्हण कला के द्योतक हैं। परकोटे के बाहर मुख्य पश्चिमी द्वार के निकट मसजिद है और वहां से थोड़ी दूर पर "त्रिविक्रम" का गुप्तकालीन मन्दिर का मंडप बच गया है। यह गुप्तकालीन मन्दिर था।

वाकाटक सम्राज्ञी प्रभावती गुप्त की जो प्रशस्ति मिली है—उसमें इस स्थान का उल्लेख आया है। उस समय में वाकाटक वंश की राजधानी यहां से निकट ही नंदिवर्द्धन में थी। प्रभावती के पिता गुप्त सम्राट विक्रमादित्य चंद्रगुप्त थे। प्रशस्ति से पता चलता है कि रामगिरि पर भगवान राम के पद चिन्हों का पूजन होता था। इसी समय में महाकवि कालीदास का यहां आना सिद्ध होता है और तभी रामगिरि से उन्होंने मेघदूत काव्य का आरंभ किया है।

प्रथम दिवस आषाढ़ के चूमत शिखर गिरिन्द।
जल विहार रत गज सरिस, लखे मेघ के वृन्द॥

रामगिरि के दूसरे एक पहाड़ी पर नागार्जुन का भी स्मारक है। इन पहाड़ों के मध्य में कई तालाब और पवित्र स्थल हैं। प्रमुख तालाब अंबाला है—जो पक्का बंधा हुआ मन्दिरों से सुशोभित है। उसमें स्नान करके पवित्र होकर सीढ़ियों के द्वारा यात्री गण रामगिरि पर दर्शनार्थ चढ़ते हैं। हिन्दुओं के समान यह स्थान जैनियों के लिये भी पवित्र है। नगर से पूर्व की ओर जैन मन्दिर हैं। इस स्थल से यहां की लगभग १५ फुट की खडगासन तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति के कारण शांतिनाथ कहते हैं। समस्त जैनक्षेत्र भी परकोटे के समान अहाते से घिरा हुआ है—जिसके भीतर ८-९ जैन मन्दिर हैं। जिनमें पार्श्वनाथ और चंद्रप्रभ की सुन्दर मूर्तियां हैं। ये मूर्तियां १,५०० वर्ष पुरातन जान पड़ती हैं।

यह स्थल अपने आध्यात्मिक एवं भौतिक सौंदर्य के लिये अप्रतिम है और मध्यप्रदेश की प्राकृतिक छटा देखने के उत्सुक यात्रियों के लिये एक सुन्दर और अविस्मरणीय स्थल है।

वर्धा जिला

वर्धा जिले का पवनार—वाकाटकों की राजधानी प्रवरपुर थी। अलिपुर, अंजी, आष्टी, नाचनगांव, विसनूर, विरुल, रोहना, वायफल, हिंगनी आदि स्थानों में पुरातन दुर्ग हैं। पोहना और तलेगांव में यादवकालीन हेमाडपंती मन्दिर हैं।

आर्वी—वर्धा से २२ मील वर्धा नदी के तट पर है। प्रशस्ति में इस ग्राम का नाम "अरम्मी" है। यहां के हैलंगराव की समाधि को हिन्दू और मुसलमान दोनो पूजते हैं।

केलझर—वर्धा से १४ मील पर है। यहां के किले में गणेश की प्राचीन मूर्ति है जहां माघ मास में मेला लगता है। लोग उसका पुराना नाम "चक्रनगर" बताते हैं।

देवली—वर्धा से ११ मील पर है। यहां पर सन् ९४० की एक प्रशस्ति मिली थी।

देवलवाड़ा—आष्टी से ६ मील पर वर्धा के तट पर बसा है। समीप ही महाभारतकालीन कुन्दनपुर था। यहां कार्तिक में मेला लगता है।

वर्धा—नागपुर से ४९ मील पर जिले का सदर मुकाम है। उसका पुराना नाम "पालकवाडी" है। सन् १८६६ से इस नगर को व्यापारिक महत्व प्राप्त हुआ है।

चांदा जिला

इस जिले में प्रागैतिहासिक कालीन अवशेष खैर, डोकी और परसोरा ग्रामों में मिलते हैं। देवटोक में मौर्य-कालीन शिलालेख मिला है। वाकाटक कालीन प्रशस्तियां अड़गांव और देवटेक में मिली हैं। भद्रावती तो प्राचीन नगरी थी। घुघुस, गावरार, झाड़ापापड़ा, देऊलवाड़ा, मारन में तो गुहाएं हैं। निम्नस्थानों में हेमाड़पंती मन्दिर पाये जाते हैं:—आमगांव, खरवर्द, पोसरी, चुव्ल, चांदपुर, नलेश्वर, पानोबारस, महावाड़ी, मारोती, मार्कण्डेय (१० वीं सदी), येड्डा, आदि। केलझर, चामुर्शी, वागनाक, आदि गांवों में वृत्ताकार शवस्थान हैं। खटोरा, चिमूर, चंदन-खेडा, चांदा, टीपागढ़, शंकरपुर, सिरोंचा, सेगांव, मुरमगांव, बल्लालपुर, पल्लसगढ़ आदि गांवों में गोंडकालीन किले हैं। तड़ाली में तो रोमन सिक्के भी मिले हैं।

गवरार—भद्रावती के समीप है जहां पर बुद्धकालीन गुफा, कई सुन्दर मन्दिर और तालाब हैं। महल में सन् ११०९ की एक प्रशस्ति भी लगा दी गयी है।

चांदा—जिले का सदर मुकाम है। प्राचीन गोंड़ राजाओं की राजधानी थी। यह नगर चारों ओर परकोटे से घिरा हुआ है। उसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है।

बल्लारपुर—चांदा से ८ मील पर गोंड़ों की पुरानी राजधानी थी। इस स्थान से निकट सास्ती में तीन गुफाएं हैं जिनमें शिव की मूर्तियां हैं। उनमें प्रमुख लिङ्ग को केशवनाथ कहते हैं।

भद्रावती—कुछ दिनों के पूर्व इस गांव को लोग भांदक कहते थे। भद्रावती प्राचीन नगरी है। यह सोम-वंशियों की राजधानी थी। यहां प्रचुर पुरातत्त्व की सामग्री मिलती है। यहां बुद्ध और जैन-धर्म का प्रभाव रहा है। कॅनिंगहम् ने इस नगर को महाकोशल की पुरानी राजधानी कहा है।

मार्कण्डेय—चांदा से ४० मील पर वैनगंगा के तट पर बसा हुआ है। वास्तव में यह दर्शनीय स्थान है। यहां १० वीं सदी के लगभग २० मन्दिरों का समूह है। प्रसिद्ध विद्वान कॅनिंगहम् ने यहां के मन्दिरों की शिल्पकला की तुलना खजुराहो के चंदेल कला से की है। यहां मार्कण्डेय का मन्दिर प्रमुख है। शिल्पकला के विद्यार्थियों को यह स्थान अध्य-यन के लिये अवश्य देखना चाहिये। माघ मास में यहां मेला लगता है।

वैरागढ़—चांदा से ८० मील पर है। ९वीं सदी में माना राजा की यह नगर राजधानी थी। लोग उसका नाम "वज्राकर" बतलाते हैं। 'आइने अकबरी' में लिखा है कि यहां अच्छे हीरे पाये जाते थे। यह किला घने अरण्यों से घिरा हुआ है।

भंडारा जिला

कोरंबी, कचरगढ़ और बिजली ग्राम के निकट गुहाएं हैं। तिलोती खैरी, पीपलगांव, और ब्रम्बी स्थानों में वृत्ताकार शवस्थान मिलते हैं। किलों के लिये पौनी, अंबागड़, प्रतापगढ़, संनरी और सोनगढ़ी प्रसिद्ध हैं।

अम्बागढ़—भंडारा से १८ मील पर भोंसलाकालीन प्रसिद्ध किला है। मराठा शासन में यहां पर राजकीय कैदी रखे जाते थे जिनको प्राणदंड की सजा दी जाती थी।

भंडारा—नागपुर से ३८ मील पर जिले का सदर मुकाम है। रत्नपुर की प्रशस्ति में इस नगर का नाम "भानारा" था। यहां पर अम्बाई और निम्बाई के हेमाडपंती मन्दिर हैं। इस जिले में व्यापार के केन्द्र गोंदिया, तुमसर, तिरोड़ा, पौनी, आदि नगर हैं।

जबलपुर जिला

जबलपुर जिले में पुरातत्व और इतिहास की सामग्री प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। कुण्डम, त्रिपुरी, जबलपुर, भेड़ाघाट, मनुई, सिहोरा, आदि स्थानों में प्रागैतिहासिक अवशेष हैं। मौर्यकालीन अशोक का लेख रूपनाथ में, गोपालपुर में बौद्ध मूर्तिओं का प्राप्ति-स्थान, बघोरा में शातवाहन कालीन लेख, कुण्डा, तिगवां, बरगांव, रोण्ड, आदि ग्रामों में गुप्तकालीन मन्दिर, कारीतलाई, कुम्ही, गोपालपुर, गुर्गी, छोटी देवरी, जबलपुर, त्रिपुरी, पनागर, बहुरीबंद, बिलहरी, मझौली, मुरोया, सिमरा, आदि स्थानों में कलचुरिकालीन पुरातत्व की सामग्री है। अमाना, अमोदा, देवगढ़, बरगी, मगरधा और हिंडोरियों में पुरातन दुर्ग हैं।

कन्हवारा—कटनी से ९ मील पर है। यहां पुराने इमारतों के खण्डहर दो-तीन मील तक मिलते हैं।

कारीतलाई—कटनी से ३० मील दूर है। यहां प्राचीन मन्दिरों के ध्वंसावशेष हैं जो किसी समय बड़े नगर होने का प्रमाण देते हैं।

कुम्ही—सिहोरा से १० मील पर दर्शनीय स्थान है। यहां हिरन नदी की सात धाराएं हो जाने से सतधारे का मेला तिलसंक्रांति को होता है।

कमोरी—यह गांव कमोर (विंध्या की श्रेणी) की एक चोटी पर बसा है।

जबलपुर—प्राचीन नाम जाबालिपत्तन है। शहर के बीच बीच में पहाड़ी चट्टानें आगई हैं। अरबी में 'जबल' का अर्थ पहाड़ी होता है। शायद इसीसे उसका नाम जबलपुर रखा गया हो। इस शहर का एक मोहल्ला गढ़ा है जो गोंडों की राजधानी थी। निकट की एक पहाड़ी पर मदनमहल राजा संग्रामशाह का बनवाया है। यहां से शहर का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। पास ही जलाशय भी है। निकट ही शारदा देवी का मन्दिर, बाजना का मठ, आदि गोंडकालीन भवनों के खण्डहर हैं। यहां के पुराने किले के स्थान पर आज लार्डगंज बसा है। यह आधुनिक कला का उदीयमान नगर है, जो कि युद्ध-सामग्री के निर्माण, प्राकृतिक स्थिति तथा शिक्षण संस्थाओं के कारण महत्त्वपूर्ण हो गया है।

तेवर (त्रिपुरी)—जबलपुर से ८ मील पश्चिम में है। कलचुरियों की प्राचीन राजधानी त्रिपुरी को लोग अब तेवर कहते हैं। वहीं आज भी त्रिपुरेश्वर महादेव विराजमान हैं। कलाकारों ने उस युग में इस नगर की तुलना इन्द्रपुरी से की थी। ७० वर्ष पूर्व यहां सैकड़ों इमारतों के खन्डहर थे किन्तु मालगुजार ने उनको एक लाख रुपये में ठेकेदारों को बेंच दिया था जिससे पुल और सड़कें बनी थीं। पत्थर ढोने के लिये ट्रालियों का उपयोग किया गया था। यहां की पुरातत्त्व की सामग्री योरप और अमरिका के संग्रहालय में पहुंच गयी है।

कोनी—पाटन से ४ मील दूरी पर हिरन नदी के किनारे प्राचीन मंदिरों की पंक्ति, कैमूर के सुरम्य अंचल में दृष्टिगत होती है। यहां का सहस्त्रकूट चैत्यालय, तथा नंदीश्वर द्वीप की बनावट देखने योग्य है। यह जैनियों का पवित्र स्थल है।

बड़गांव—मुड़वारे से ४९ मील पर है, यहां गुप्तकालीन सोमनाथ का मन्दिर है। निकट में जैन मन्दिरों के खन्डहर हैं।

बहुरीबन्द—सिहोरा से १५ मील दूर है। यहां आज भी बहुत से पुरातन खण्डहर अपनी कहानी सुना रहे हैं। जैनतीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति १२ फुट ऊंची है, जिस पर १२ वीं सदी का लेख अंकित है। यहीं से २ मील पर तिगवां गांव है। यहां भी ३० मंदिरों के खण्डहर हैं, उनमें गुप्तकालीन मन्दिर भी है। प्राचीन कलाविदों के लिये यहां आज भी बहुत सी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

बिलहरी—मुड़वारा से ९ मील पर है। किसी समय में इस नगर का घेरा २४ मील में रहा होगा। यहां अनेकों मन्दिर थे जो अब खण्डहर हैं। पटपरे पर जो शिवमन्दिर है, लोग उसे "कामकन्दला" का महल कहते हैं। "कामकन्दला" की कहानी साहित्य में मिलती है। मुगल काल में यहां का पान प्रसिद्ध था।

भेड़ाघाट—नर्मदा के किनारे जबलपुर से १३ मील पर है। कहते हैं कि यहां भृगु ऋषि का आश्रम था। यहां पर नर्मदा बड़ी-बड़ी संगमर्मर की कोई १० फुट ऊंची चट्टानों को काट कर बही है। नर्मदा का प्रसिद्ध प्रपात धुंआधार है, जिसे देखने के लिये विदेशों के लोग भी भेड़ाघाट पहुंचते हैं। यहां नर्मदा दो पहाड़ी के बीच से बहती है जिसे किसी समय में बंदरकूद गया था, तबसे लोगों ने उसका नाम 'बंदर कूदनी' रख दिया। उसके आगे धार इतने सकरे स्थानों से बही है, कि लोगों ने जनेऊधारा नाम रख दिया। धुंआधार के समीप एक पहाड़ी पर कलचुरीकालीन



जलावतरण, पचमढ़ी



ओंकार-मान्धाता के प्रसिद्ध "ओंकारेश्वर-मन्दिर" का एक दृश्य



शुक्लजी सिरपुर में ७ वीं शताब्दी की बुद्ध—मूर्ति का निरीक्षण करते हुए



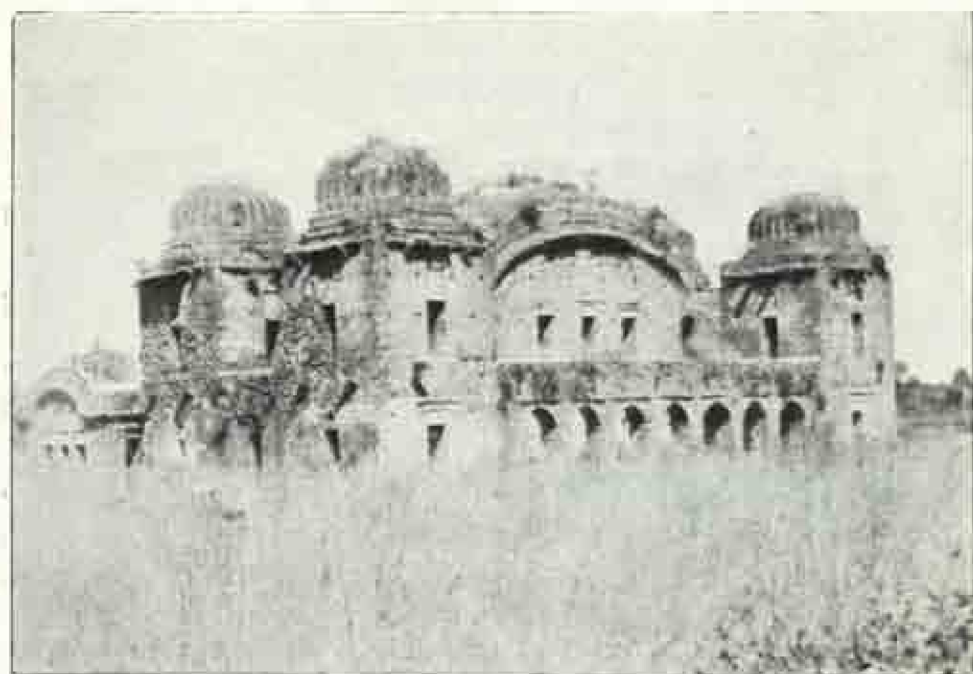
कुकर्रा मठ का प्राचीन मन्दिर



मण्डला में नर्मदाजी की मूर्ति



सहस्त्र धारा (नर्मदा) मंडला



रामनगर का प्राचीन किला



पार्वती परमेश्वर, रतनपुर



शिव मन्दिर, नोहटा

"चौंसठ जोगनी" का मठ है। यह मठ गोलाकार है, और ७९ खण्ड हैं, जिनमें देवियों की मूर्तियां हैं और पदस्थल में नाम भी खुदा है। एक कोने पर गौरीशंकर का प्रमुख मन्दिर है। यह गांव महंत हरदेवपुरी को माफी में दिया गया था।

रूपनाथ—सिहोरा से १९ मील तथा बहुरीबन्द से २ मील पर हैं। यहां शिव पंचलिंगी मन्दिर है। उसे रूपनाथ कहते हैं। यहां के ३ कुन्डों में सदैव पानी भरा रहता है। तिल संक्रान्ति पर यहां मेला लगता है। यहीं के चट्टान पर सम्राट अशोक का एक लेख अंकित है, जो ईस्वी सन् से २३२ वर्ष पूर्व का है।

सागर जिला

सागर जिले में प्रागैतिहासिक अवशेष केहलारी, गढ़ी, मोरीला, देवरी, बहुतराई, बुरखेरा, बुरघाना, मोर, दमोह, बुरमैका और संग्रामपुर में हैं। एरन में प्राचीन गणराज्य के सिक्के मिले हैं। यहां शातवाहन, हूणवंशी, तोरमानशाह, गुप्तकालीन शिलालेख, स्तंभ और मूर्तियां हैं। इसुरपुर, देवरी, बरगांव, रीठी, सड़ैया, सागर, कानोड़ाबारी, कुन्डलपुर, नांदचांद, नोहटा, बांदकपुर, मदनपुर, सकौर, सिमरा, आदि ग्रामों में कलचुरि शिल्पावशेष हैं। गोंडकालीन सभ्यता के स्मारक कटेनेरुगढ़, खुरई, गरोला, गौरझामर, जयसिंहनगर, देवरी, दूगह, नरयावली, पिठोरिया, बरेठा, बरोदिया कलां, बिनैका, बिलेहरा, मालथोन, रमना, रेहली, सानोदा, हीरापुर, इटौरा, कनवारा, गुगरा, जटाशंकर, सिगोरगढ़, तेजगढ़, नरसिंहगढ़, पंचमनगर, पुरनखेड़ा, बालाकोरी, मरियाडोह, राजनगर, रामनगर, रातगीर, आदि के दुर्ग हैं। गढ़पहरा और गढ़ाकोटा के दुर्ग दांगी राजाओं के स्मारक हैं। मुसलमानी शासन का प्रभाव कंजिया, खिमलासा, गढ़ौला, धामोनी, मरियाडोह, राहतगढ़, शाहगढ़ के किले और अन्य इमारतें प्रकट करती हैं।

एरन—सागर से ४६ मील पर जिले का सबसे पुरातन ग्राम है, जिसका पुराना नाम "ऐरकिन" था। यहां पर विविध समय की पुरातत्व सामग्री है। यहां पर गुप्त संवत् १९१ का एक सतीचौरा है और भारत के अन्य सतीचौरों से पुराना है।

कंजिया—सागर से ६९ मील पर है। यहां का किला वहजू बुन्देला ने बनवाया था। यहां पर सन् १६४१ की ईदगाह है।

खिमलासा—सागर से ४१ मील पर मुगलकालीन नगर है। संस्कृत शिक्षा का भी केन्द्र था।

गढ़ाकोटा—सागर से २८ मील पर ऐतिहासिक स्थान है।

देवरी—सागर से ४० मील पर सुखचैन नदी पर रामगढ़ था जिसे अब देवरी कहते हैं।

धामोनी—सागर से २९ मील पर है। मुसलमानी युग में जिले का प्रमुख नगर था। प्रसिद्ध मुगल सरदार अबुल फजल के गुरु बालजतीशाह यहीं पर रहते थे।

बान्दा—सागर से २० मील पर है। यहां जैनियों के मन्दिर हैं।

राहतगढ़—सागर के पश्चिम में २५ मील पर यह नगर है।

सागर—जबलपुर से ११४ मील पर है। यहां का प्रसिद्ध तालाब लाखा बंजारे ने खुदवाया था जिसके किनारे यह नगर बसा है। यह राज्य पेशवा की जागीर में था। आधुनिक समय में भी यह उन्नतिशील नगर है।

कुन्डलपुर—दमोह से १८ मील दूरी पर है। यहां कुंडलाकार पहाड़ी है, जहां जैनियों के ५७ मन्दिर हैं। इसमें एक मन्दिर में महावीर की मूर्ति १२ फुट ऊंची है। वर्धमान मंदिर के सामने वर्धमान सागर तालाब है। यह जैनियों का सांस्कृतिक स्थल है।

जटाशंकर—हटा से ८ मील वायव्य में एक मुसलमान शैली का किला है। किले के बाहर ११-१२ वीं सदी की कुछ मूर्तियां खण्डित पड़ी हैं। निकट ही नाले पर एक छोटासा शिवजी का मन्दिर है, जिसमें बख्तबली का निम्न पद अंकित है:—

माणिक पौष विशाल अति, स्वामि बली शिवमाल।
सेवक शंभुनाथ के, तुम बख्तेश—दयाल॥

बखतबली १८५७ के गदर में शाहगढ़ के राजा थे।

दमोह—जबलपुर से ६५ मील पर हैं। कहते हैं कि नल की रानी दमयंती ने इसे बसाया था। एक प्रशस्ति के अनुसार उसका पुराना नाम "दमनकपुर" था।

सिंगोरगढ़—दमोह से २८ मील पर है, कहते हैं कि यहां का किला राजा बेनू ने बनवाया था। यहां के लेख में किले का "गजसिंह दुर्ग" था, जिसका प्राचीन नाम गौरीगढ़ था। यों तो दमोह जनपद श्री गौरी कुमारिका क्षेत्र कहलाता था। रानी दुर्गावती यहां पर भी रहा करती थीं।

हटा—दमोह के उत्तर में २४ मील पर सुनार नदी के तट पर है। यहां मगलशाह पीर की दरगाह है। १७ वीं सदी में हटेसिंह ने यहां पर किला और चण्डी का मन्दिर बनवाया था।

मण्डला जिला

इस जिले में कुकरमठ, रामनगर और मण्डला प्रमुख स्थान हैं।

कुकरमठ—डिंडोरी से ९ मील पर है, यहां एक पुरातन शिवमन्दिर है। यहां का दृश्य दर्शनीय है।

मण्डला—जबलपुर से ५४ मील पर है। लोग कहते हैं कि उसका पुराना नाम "माहिष्मति" था, पुरातत्त्व-विद के निगहम के अनुसार उसका नाम महेश्वरपुर था। यहां नर्मदा का फैलाव और सहस्त्रधारा दर्शनीय हैं। एक कवि कहता है—

> महिषासुर की भूमि सो—माहिष्मत को राज।
> परशुराम की प्रिय पुरी—धर्म भूमि सुखसाज॥
> सहसबाहु साम्हत भयो—देवि नर्मदा धार।
> बहु बौरानो नहिं पायो—सहसधार बलपार॥
>
> राजगोंड को गढ किला—राजेश्वरी शुकवास॥
> माहिष्मति पश्चिम दिशा—जोजन तीन सुदूर।
> हैं सुखद त्रिपुरी नगर—भूमि बड़ी रणशूर॥

रामनगर—मण्डला नगर से १० मील पर नर्मदा के किनारे गढ़ा-मण्डला के गोंड राजाओं की राजधानी थी। यहीं पर राजगोंड राजाओं की वंशावली प्रशस्ति है। घने जंगल में नर्मदा के किनारे होने से स्थानदर्शनीय है।

होशंगाबाद जिला

इस जिले के उमरिया, झांसीघाट, झलई, तामिया, पचमढ़ी, बरमानघाट, बूढ़ीमाई, भुतरा, होशंगाबाद, सोन-भद्र, आदि स्थानों के प्रागैतिहासिक अवशेष और चित्रान्वित गव्हरों की प्रचुरता है। सिडीया, हरदा और जमुनिया में प्राचीन मुद्राएं मिली हैं, जो कुषाण और गुप्त काल की हैं। हंडिया, सोहागपुर, बागरा, जोगा, चवरपाठा, चौरागढ़, चिलवार और बचई के गोंड कालीन दुर्ग प्रसिद्ध हैं।

पचमढ़ी—प्रदेश के दर्शनीय स्थानों में मुख्य है। पिपरिया स्टेशन से ३१ मील दक्षिण में पहाड़ियों पर बसा है। तापमान और ऊंचाई की दृष्टि से पचमढ़ी अन्य प्रान्तों के पर्वतीय नगरों से तुलना नहीं कर सकता किन्तु प्राकृतिक दृश्यों की विपुलता, जल प्रपातों की सुन्दरता के कारण उसका एक अपना स्थान है। यहां के दर्शनीय स्थानों की संख्या सात पर पहुंचती है। यहां पर सातपुड़ा का सर्वोच्च शिखर धूपगढ़ समुद्रतल से ४४ सौ फुट ऊंचा है, यहां से सूर्यास्त और सूर्योदय का दृश्य बड़े ही मनोरम दिखते हैं। धूपगढ़ के बाद दूसरे पहाड़ पर प्रसिद्ध महादेव की गुफा है, जहां शिवरात्रि में मेला लगता है। इससे भी ऊंचा स्थान चौरागढ़ है, यात्री भगवान शिव को प्रसिद्ध शस्त्र त्रिशूल अर्पण करते हैं। इनके अतिरिक्त देखने के योग्य कई प्रपात हैं। नगर के समीपस्थ जटाशंकर, पांडव गुफाएं और छोटे महादेव भी दर्शनीय स्थान हैं। यहां पर प्रागैतिहासिक काल के गुहा चित्र कई स्थानों में मिलते हैं। ग्रीष्म काल में मध्यप्रदेश के धनिक और शासनकर्त्ता यहां आकर रहते हैं।

सोहागपुर—होशंगाबाद से ३२ मील पर पलकमती के किनारे है। लोग कहते हैं कि यहां बाणासुर रहता था। उसकी पुत्री उषा के नाम से अब तक यहां एक तलाई "उषातलाई" कहाती है। यहां भोंसलों के समय में एक टकसाल थी।

हंडिया—हरदा नगर से १३ मील पर है, फकीर हंडियाशाह ने इस ग्राम को नर्मदा के तट पर बसाया था। मुगलों के समय बुरहानपुर जाने का मार्ग (दिल्ली से) यहीं से था। नर्मदा के दूसरे तट पर प्रसिद्ध सिद्धनाथ का मन्दिर है।

हरदा—होशंगाबाद से ६० मील पर प्रसिद्ध नगर और व्यापारिक केन्द्र है।

होशंगाबाद—नागपुर से १८५ मील दूर नर्मदा के किनारे पर मालवाके हुशंगशाह ने इसे बसवाया था। यहां की आदमगढ पहाडी पर प्रागैतिहासिक कालीन चित्रकारी भी है। नर्मदा के किनारे जानकी सेठानी के द्वारा बनवाये घाट दर्शनीय है।

गाडरवारा—नरसिंहपुर से २२ मील पर है। इस नगर का पुराना नाम गडरियाखेरा है।

चौरागढ—गाडरवारा से २० मील पर गोंडों का प्रसिद्ध किला चौरागढ है। प्राचीन काल का यह रमणीय नगर अब जंगल के रूप में परिवर्तित हो गया है। राजा संग्राम के समय में उसका नाम चौकीगढ था। सतपुडा की श्रेणी पर यह किला बनवाया गया था, जहां जल का भी सुपास था।

नरसिंहपुर—नृसिंह के मन्दिर के कारण इस नगर का नाम नरसिंहपुर रखा गया था। यह मध्य-रेल्वे का स्टेशन है, जबलपुर से ४२ मील पर है।

बरहटा—नरसिंहपुर से १४ मील पर है। यहां की प्राचीन मूर्त्तियां योरोप के कई स्थानों में यात्री लोग उठाकर ले गये हैं। यह प्राचीन काल में पुरातन नगर था।

बरमानघाट—नर्मदा और बदरेवा का संगम यहां पर हुआ है। मकर सन्क्रान्ति पर बड़ा मेला लगता है। नर्मदा के मध्य में एक पहाडी टापू है, जहां पांच कुण्ड भी हैं।

निमाड जिला

असीरगढ—बुर्हानपुर से १४ मील पर निमाड का प्रसिद्ध किला है। उसकी ऊंचाई ८५० फुट है। सन् १३७० में आसा नामक अहीर ने उसका निर्माण किया था। यहां सर्व वर्मन की एक मुद्रा मिली है। यहां हिन्दू और मुगलकाल की प्रशस्तियां हैं। यह किला दृढता में अपना सानी नहीं रखता। उसकी दीवालें ३० फुट ऊंची, नीचे मैदान से आरम्भ होकर उच्च शिखरों तक चली गई हैं। प्राकृतिक घाटियां स्वाभाविक रूप से सुरक्षित किये हुये हैं। इसके अंदर पहुंचने के लिये दो ही मार्ग हैं—इनमें से मुख्य दक्षिण-पश्चिम की ओर है, जो कि ऊंची सीढियों से सात द्वारों को पार करता हुआ किले में प्रवेश करता है। अंतिम द्वार सत दरवाजा कहलाता है। वह २५ फुट ऊंची दोहरी दीवालों से सुरक्षित है। किले के सबसे ऊपर कई तालाब हैं जिस से किले के लोगों को जल कष्ट नहीं होता था। दुर्ग के अन्दर प्राचीन शिवमन्दिर भी है। इसके अन्दर एक ऐसा गहरा कूप है, जिसका सम्बन्ध गुप्त द्वार से है, जहां से किले के बाहर गुप्त रूप से आया जा सकता है। यहां के द्वारों पर मुगल सम्राटों के लेख भी हैं।

खन्डवा—जिले का मुख्य नगर जबलपुर से २६३ मील दूर है। यहां चार तालाब और कुछ प्राचीन मन्दिर हैं। प्रशस्तियों से पता चलता है कि सन् ११२८ में यहां नगर था।

बुर्हानपुर—खन्डवा से ४२ मील पर तापी नदी के तट पर बसा हुआ है। सन् १५०० में फारुकी वंश के सुलतान ने बुरानुद्दीन औलिया के नाम से यह नगर बसवाया था। फारुकी वंश के सुलतानों की यह राजधानी थी। ताप्ती के दूसरे तट पर जैनाबाद है। मुगलों के समय में यह नगर दक्षिण सूबे की राजधानी थी। यहां जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब सम्राट भी शासक रूप में रहे हैं। उस समय में दिल्ली के बाद दूसरा यही मुख्य नगर गिना जाता था। मुगल कालीन यहां कई इमारतें हैं। नगर चारों ओर से परकोटे से घिरा हुआ है। इस नगर का जल प्रबंध दर्शनीय है, तापी नदी की अन्तर धारा को तीन स्थानों पर छेडा गया और तीन कूपों के द्वारा ऊपर लाने का यत्न किया गया है, जिनको मूल भंडारा कहते हैं। मूल भंडारा और चिन्ताहरण नामक अन्तरवर्तीय जलाशय बुर्हानपुर के उत्तर में ५ मील पर बने हुये हैं और वे नगर की सतह से १०० फुट ऊंचे हैं। इन्हीं से नगर में भूमि के नीचे नीचे नालियों द्वारा जल पहुंचाया जाता था। यह प्रसिद्ध नगर मुगल काल में इन बातों के लिये प्रसिद्ध था:—

चार चीज अहत तोहफये बुर्हान।
गर्द, गर्म, गद औ गुरिस्तान ॥

मान्धाता—खन्डवा से ३२ मील पर नर्मदा के किनारे दर्शनीय स्थान है। सत्ययुग में सूर्यवंशी राजा मांधाताने यहां पर शंकर को प्रसन्न करने के लिये तपस्या की थी। यहां ओंकारेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर है। हिन्दुओं का पवित्र स्थान—१३ ज्योतिर्लिगों में है। यहां के मन्दिरों में सिद्धनाथ मन्दिर देखने योग्य है। पर्वो पर यहां हजारों यात्री आते हैं। लोग मांधाता का पुराना नाम, माहिष्मती, कहते हैं। मांधाता नर्मदा के दक्षिण तट पर एक द्वीप के रूप में

बसा हुआ है। ऊंचे ऊंचे पर्वत शिखर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। दक्षिण के द्वीप को शिवपुरी कहते हैं और दक्षिण तट पर ब्रम्हा और उत्तर तट पर विष्णु के नगर कहते हैं। यहां की पहाड़ियां वास्तव में "ओंकार" के आकार की दिखाई देती हैं।

बैतूल जिला

बैतूल जिले के अन्तर्गत खैरी, गोपालतलाई, झापल, धानोरा, नागझिरी, भोपाली, लालवाडी, में गुफाएं और नौगांव, भोंडियाकाफ में प्रागैतिहासिक खन्डहर हैं। यहां निम्नलिखित स्थानों में किले हैं—अटनेर, आमला, खेरला, भैंसदेही। गुप्त और राष्ट्रकूट वंश की प्रशस्तियां तिवरखेड, पट्टन, बैतूल और मुलताई में मिली हैं।

खेरला—बैतूल से चार मील पर प्रसिद्ध दुर्ग है। उसका प्राचीन नाम खेटकपुर रहा होगा।

बैतूल—जिले का मुख्य नगर है।

भोपाली—बैतूल से १८ मील पर है। यहां की पहाड़ियों में २-३ गुफाएं हैं। एक गुफा में शिव की मूर्त्ति है, जिसके ऊपर पानी की बूंद टपकती है। यह मूर्त्ति मुख्य द्वार से २० फुट के फासले पर है। दूसरी गुफा में पार्वती की मूर्ति है और तीसरी गायकोठा कहलाती है।

मुक्तागिरी—बैतूल से ६९ मील दूर बैतूल जिले में है, किन्तु उसका वर्णन हमने अमरावती जिले में दे दिया है क्योंकि वह स्थान अचलपुर से समीप है।

मुलताई—ताप्ती नदी का यह उदगम स्थान है। यहां एक कुन्ड बना है जिसे पवित्र माना जाता है।

छिन्दवाड़ा जिला

चिचोली—छिन्दवाडा से ४७ मील पर है—यहां शेख फरीद की दरगाह है। यहां का वट वृक्ष इतना फैला हुआ है कि जिसकी छाया में ५०० घोडे बांधे जा सकते हैं।

छिन्दवाडा—नागपुरसे ८१ मील पर बसा है। इस गांव का बसाने वाला रतन रघुवंशी था। यह जिला अरण्यमय होने से यहां कुछ व्यापार अवश्य होता है।

देवगढ़—छिन्दवाड़े से २४ मील पर गोंड वंश की राजधानी थी। गोंडकालीन दुर्ग, महल, द्वार, नौबतखाना आदि के खन्डहर दिखाई देते हैं—अब तो यह स्थान सतपुडा का अरण्यमय भाग हो गया है।

नीलकंठी—छिन्दवाडे से १४ मील पर है—यहां कई मन्दिरों के खन्डहर हैं—एक स्तंभ पर १० वीं सदी के राष्ट्रकूट वंशी कृष्ण का उल्लेख है।

छपारा—सिवनी से २२ मील पर जबलपुर रोड पर बैनगंगा के किनारे बसा है। नदी के तट पर गोंडकालीन राजा रामसिंह का किला बना हुआ है।

लखनादौन—सिवनी से ३८ मील पर है। यहां पर प्राचीन मन्दिर और इमारतों के भी अवशेष मिलते हैं। इस नगर का बसाने वाला लखन कुंवर था।

सिवनी—नागपुर से ८० मील पर है। यहां व्यापार का अच्छा केन्द्र है। यह जैन केन्द्र भी है और यहां क्षत्रियों के सिक्के भी मिले हैं।

बालाघाट जिला

इस जिले के तिरोडी, बालाघाट, रायघोली, लांजी आदि स्थानों में वाकाटक, शैल और यादव वंश की प्रशस्तियां मिली हैं। भीर गांव में एक हेमाड पंथी का मन्दिर है। लांजी, सोनसार और हट्टा में किले भी हैं। यह जिला अरण्यमय होने से बालाघाट, हट्टा, वारासिवनी और कटंगी व्यापार के साधारण केन्द्र हैं। दर्शनीय स्थानों में बहर और लांजी हैं।

बालाघाट—नागपुरसे १०३ मील पर है—जिले का सदर मुकाम है।

बैहर—बालाघाट से २० मील दूर घनी अरण्यमय पहाडी पर साधारण कस्बा है। यहां के दो मन्दिर पुराने हैं किन्तु पर्वतीय मार्ग का दृश्य देखने योग्य तथा आखेट के लिये योग्य स्थल है।



शिवरीनारायण (बिलासपुर) के मन्दिर



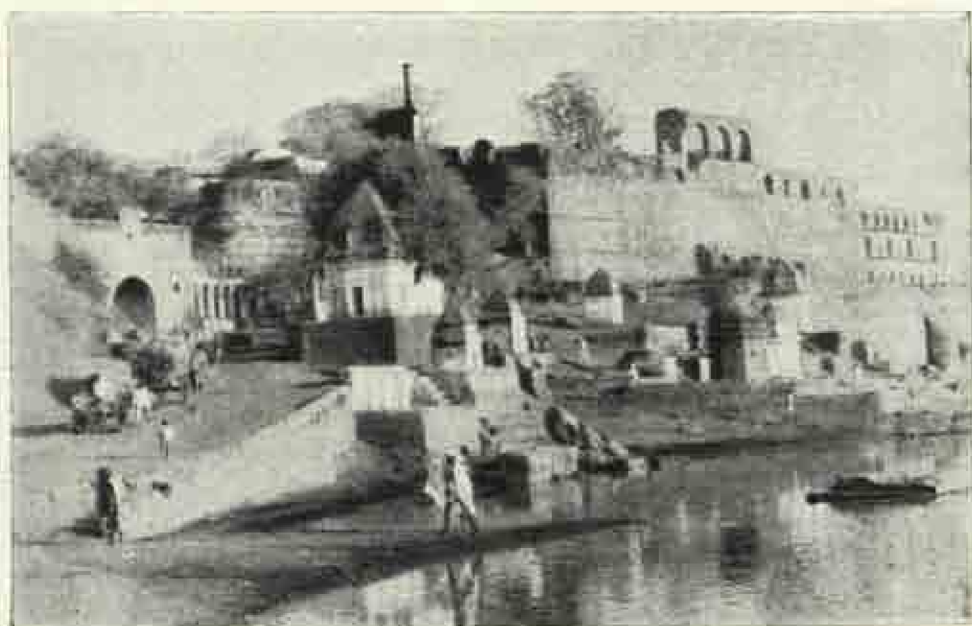
सुप्रसिद्ध जैन-तीर्थ-मुक्तागिरि के मन्दिर



शिव मन्दिर, पाली



वीरशाह का मकबरा, चांदा



तापी का किनारा, राजघाट, बरहानपुर



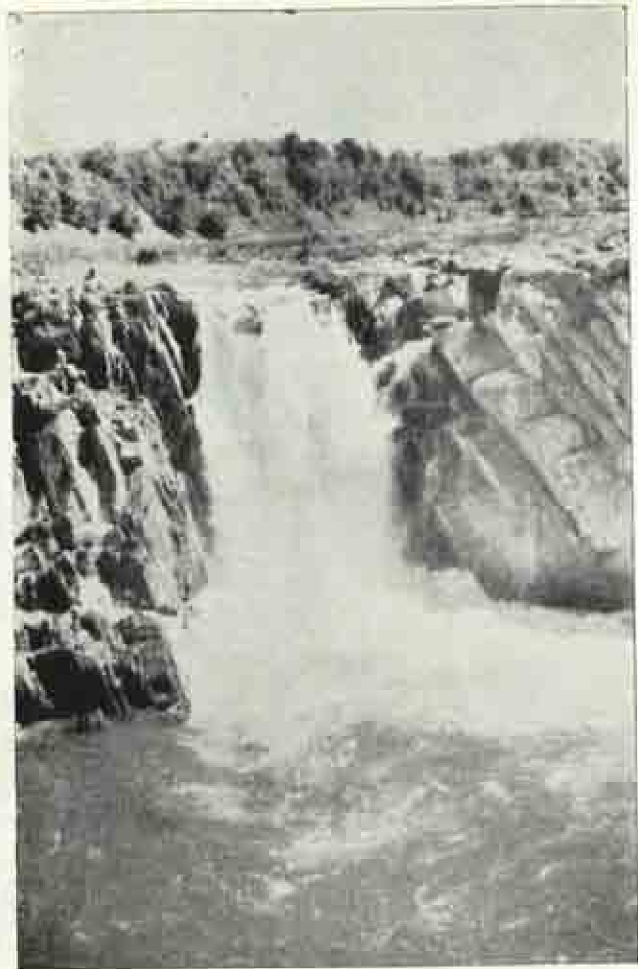
पठान दरवाजा, चांदा



विष्णु मन्दिर, जांजगीर



जैन मन्दिर आरंग



धुआंधार (नर्मदा) भेड़ाघाट

लांजी—बालाघाट से ३८ मील पर पुराना नगर है। सन् १९१४ की एक प्रशस्ति से पता चलता है कि यहां का किलेदार रतनपुर राज्य का मान्डलिक था। सारंगढ राज्य के पूर्वज यहीं पर रहते थे। किले में सबसे पुरातन मन्दिर महामाया का है। पास ही में कोटेश्वर महादेव का भी मन्दिर प्राचीन है। मराठों के समय में लांजी जिले का प्रमुख नगर था।

रायपुर जिला

इस जिले में आरंग, कुर्वई, खरियार, देवबलोद, तुरतुरीया, खलारी, नैरताल, नारायणपुर, बोरमदेव, राजिम, रायपुर, सिरपुर, आदि स्थानों में जैन देवालय, शरभपुर वंश, पाण्डुवंश, नलवंश और हैहयवंश की प्रशस्तियां, ९ वीं सदी के बौद्ध अवशेष, मुद्राएं आदि पुरातत्त्व की सामग्री मिली हैं। कुरुग, कागडीह, गढकुलझरी, गिधपुरी, डमरू, दौण्डी, सरखा, भाकरा और सोरार में दुर्ग हैं। सिहावा में मध्ययुगीन गुफा, सोनाभीर में वृत्ताकार शवस्थान हैं।

आरंग—महानदी के तट पर रायपुर से २२ मील पर सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों एवं तालाबों से परिपूर्ण नगर है। बागेश्वर का जैन मन्दिर दर्शनीय है।

खलारी—रायपुर से २८ मील पर है। जिसका प्राचीन नाम "खलवाटिका" था।

चम्पाझर—राजिम से ६ मील पर चंपाझर को लोग अब चंपारण्य कहते हैं। पुष्टि मार्गी वैष्णव कहते हैं कि यहा वल्लभाचार्य का जन्म हुआ था—इसी कारण से वैष्णवों का एक मन्दिर बन गया है जिसके कारण दूर दूर के वैष्णव आते हैं। यहां पर पुरातन चम्पकेश्वर महादेव का मन्दिर है। माघ में मेला भी लगता है।

तुरतुरिया—रायपुर से ५० मील पर है। लोग कहते हैं—यहां वाल्मिक ऋषि रहते थे। यहां के प्राकृतिक झरने को लोग सुरसरी गंगा कहते हैं। समीप ही बौद्ध धर्म की पुरातन मूर्तियां भी मिली हैं।

देवकोट—सिहावा से ८ मील पर महानदी के तट पर है—यहां ४ छोटे पुरातन मन्दिर हैं।

धमतरी—रायपुर से ४६ मील दूर है। यहां पर रामचंद्र का मन्दिर दर्शनीय है। जान पडता है कि मन्दिर में लगी हुई सामग्री सिरपुर से लायी गयी है।

बगोली—रायपुर से १८ मील पर सतनामी सम्प्रदाय के गुरु घासीदास की समाधि है। माघ में यहां हजारों सतनामी दर्शनार्थ आते हैं।

राजिम—रायपुर से २९ मील पर महानदी के तट पर है। प्राचीन काल में यहां बहुत से मन्दिर थे किन्तु अब ९ प्रमुख मन्दिर हैं—जिनमें राजीवलोचन प्रमुख है। पैरी और महानदी के मध्य में कुलेश्वर का मन्दिर है इस मन्दिर के चारों ओर परकोटा है—जिसकी ऊंचाई १६ फुट है—उसके द्वार पर निम्न दो वाक्य लिखे हैं :—

जाहि व्यापे अंब छूटत शिवगिरि गहि रहो।
जगतराऊ तहां सम्ब सम्भु सुखासन तहां रहो।

राजीवलोचन का मन्दिर पुरातन काल में राजिम तेलिन से मूर्ति लेकर जगतपाल राजाने बनवाया था। (१२वीं सदी) यहा पर एक प्रशस्ति भी लगी हुई है।

रायपुर—छत्तीसगढ का प्रमुख नगर है और अब प्रदेश का एक व्यापारिक केन्द्र है। यहां १४वीं सदी का हटकेश्वर मन्दिर है। यहां भी हैहयवंश का राजा राज्य करता था—उसका महल और किले के निशान बने हैं—समीप ही महामाया का मन्दिर है। नगर के बाहर विशाल दूधाधारी का मठ और मन्दिर है। आधुनिक समय में भी यह नगर सभी दृष्टि से प्रगति के पथ पर है।

रुद्री—धमतरी से २ मील पर कांकेर के राजवंश की पुरातन राजधानी थी। यहां पर सतनामी संप्रदाय के एक गुरु रहते थे, जिसके कारण माघ में मेला लगता है।

सिरपुर—महानदी के तट पर राजिम से ४० मील पर वीरान मौजा है। यहां के ध्वंसावशेष से जान पडता है कि यह नगर १० मील में फैला हुआ था। लोग उसका पुराना नाम सवरीपुर कहते हैं। यहां गंधेश्वर और लक्ष्मण के सोमवंशकालीन मन्दिर आज भी खडे हैं। कहते हैं कि महाभारत के प्रसिद्ध वीर अर्जुन का पुत्र बभ्रुवाहन यहीं पर रहता था। सरकार की ओर से यहां खुदाई का कार्य आरंभ किया गया है—जिसके कारण पुरातत्त्व की सामग्री प्रचुर मात्रा में मिली है।

सिहावा—रायपुर से ७६ मील पर है। कहते हैं कि यहां शृंगी ऋषि का आश्रम था। यहां के कर्णेश्वर मन्दिर में एक प्रशस्ति है। (शके ११९४) यहां माघ में मेला भी लगता है।

दुर्ग जिला

दुर्ग जिले के अर्जुनी स्थान में प्रागैतिहासिक अवशेष हैं। बालोद में मध्ययुगीन देवालय तथा कन्हीभावर, कावराहा, चिरचोरी, मजगहां और सोरर गांवों में वृत्ताकार पुरातन शव स्थान हैं। दुर्ग में सातवाहन और वाकाटक वंश की प्रशस्तियां मिली हैं और डोंडी तथा धमधा के किले प्रमुख हैं। खैरागढ़, राजनांदगांव, कवर्धा और छुईखदान पुरानी रियासतें नवीन विधान के अनुसार इस जिले में सम्मिलित कर ली गयी हैं।

दुर्ग—जिले का सदर मुकाम है। इस नगर का पुराना नाम शिवदुर्ग है। इस नगर से थोड़ी दूर पर सरकार एक बृहत फौलाद का कारखाना स्थापित कर रही है, जिसके कारण यह नगर औद्योगिक केन्द्र-स्थल बनेगा।

बिलासपुर जिला

इस जिले के अकलतरा, अडभार, अमोदा, कुगडा, कोटगढ़, कोनी, कोसगई, घोटिया, जांजगीर, पाली, डैकोनी, तुम्मान, पारगांव, पेंडरवा, पौनी, बिलाईगढ़, भगोंड, मलार, महामदपुर, लाफा, सरखों, रतनपुर, सिवरीनारायण, खरोद, सोनसारी आदि विविध ग्रामों में हैहय-वंश के सिक्के प्रशस्तियां और मंदिरादि प्राप्त हैं। कोटमी, अजमिरगढ़, अडभार, पेंडरा, कन्छोद, बिलाईगढ़ आदि स्थानों में पुराने दुर्ग हैं। बूढीखार में शातवाहन-कालीन लेख मिला है और कोरवा की गुफा देखने योग्य है।

कोटगढ़—अकलतरा नगर से ३ मील पर है। दुर्ग के पूर्व द्वार पर महामाया की मूर्ति है जहां पुराने जमाने में नर-बलि दी जाती थी।

चांपा—यह व्यापार का केन्द्र है। स्टेशन पर २ मील पर प्रसिद्ध पीथमपुर महादेव का स्थान है जहां प्रतिवर्ष शिवरात्रि पर मेला लगता है।

तुम्मान—बिलासपुर से ६० मील दूर है। हैहयवंश की पुरानी राजधानी पहाडियों के मध्य में है। पहाडियों के मध्य में होने से इस स्थान को तुम्मान-खोल कहते हैं, जहां अब १६ गांव बसे हैं। तालाब भी अनेकों हैं, जिनके १२६ नाम लोग आज भी बताते हैं। यहां के सतखन्डा महल के पास पुरानी मूर्तियां और मन्दिरों के खंडहर मिलते हैं।

पाली—बिलासपुर से २७ मील पर है। यहां के प्रमुख तालाब के किनारे कई प्राचीन मन्दिरों के खंडहर हैं फिर भी एक-दो ऐसे मंदिर हैं, जिनकी कला देखने और अध्ययन करने योग्य है। इन मन्दिरों का निर्माता जाजल्लदेव था।

बिलासपुर—जिले का सदर मुकाम अरपा नदी के किनारे है। चार सदी पूर्व यहां की बिलासा ढीमरी प्रसिद्ध थी। सन् १७७० में मराठों ने इसे नगर का रूप दिया था।

रतनपुर—बिलासपुर स्टेशन से १६ मील पर दर्शनीय नगर है। यहां के खंडहर आज भी प्रकट करते हैं कि वास्तव में यह नगर दक्षिण कोशल की राजधानी के योग्य है। सन् १८१८ तक यह छत्तीसगढ़ की राजधानी थी। यहां कई प्रशस्तियां और सिक्के मिले हैं। यह नगर ६० पारों में विभक्त था। यहां का प्राचीन किला बादलमहल कहलाता है। समीप ही एक पहडिया पर बिवाजी भोंसले द्वारा बनवाया हुआ रामचंद्र का मन्दिर है जो "रामटेक" कहलाता है। यह रामटेक नागपुर के निकट रामटेक की ही नकल है। प्रसिद्ध महामाया मन्दिर के निकट ही जन धर्म की कई मूर्तियां हैं। यहां पर लगभग छोटे मोटे ३०० तालाब हैं और कई प्राचीन मन्दिरों के खंडहर स्थित हैं जिनके अवलोकन से नगर की प्राचीनता और विशालता का आभास मिल जाता है।

सिवरीनारायण—बिलासपुर से ३९ मील पर महानदी के किनारे पर बसा है। यहीं पर जोंक नदी महानदी से आकर मिली है। लोग उसका नाम "सिवरी आश्रम" बतलाते हैं। यहां पर नारायण का मन्दिर प्रसिद्ध है जिसे "शबर" राजा ने बनवाया था। चन्द्रचूडेश्वर के मन्दिर में सन् ११६५ का एक लेख लगा हुआ है। माघ में यहां मेला लगता है। यहां से २ मील पर खरोद ग्राम है जहां पर हैहय-वंश द्वारा निर्मित शिव मन्दिर है।

रायगढ़ जिला

मध्यप्रदेश की कुछ रियासतों को जोड़कर यह जिला बनाया गया है। प्रागैतिहासिक-कालीन बहुतसी सामग्री इस जिले में मिली है। प्रदेश के चित्रित गह्वरों (Rock shelters with painting) में रायगढ़ नगर के निकट कावरा पहाड़ तथा सिंगनपुर के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनको देखने के लिये देश-देशान्तरों के लोग यहां पहुंचा करते हैं। सक्ति तहसील में गुंजी नामके स्थान में कुमार वरदत्त का लेख है जो सातवाहन काल का है, उसका समय ईसवी सन् की दूसरी शताब्दि है।

बस्तर जिला

इस जिले का सदर मुकाम जगदलपुर है। सन् १९४७ के पूर्व यहां का शासन ककातीय वंशी राजाओं के आधीन था। यह जिला अरण्य और पहाड़ों से व्याप्त है जहां के अरण्यवासी आज भी जंगल में मंगल कर रहे हैं। जगदलपुर में दंतेश्वरी देवी का मन्दिर पुरातन है; यह देवी राजवंश की कुलदेवी है। प्रत्येक विजयादशमी के दिन बड़े समारोह के साथ देवी का छत्र विशाल रथ पर निकाला जाता है। इस अवसर पर विराट मेला लगता है जिसमें कि सहस्त्रों की संख्या में समस्त बस्तर के नर-नारी एकत्रित होते हैं।

चित्रकूट प्रपात—जगदलपुर से २४ मील दूर सघन वन्य प्रदेश में इंद्रावती नदी उत्तुंगगिरि-शृंग से नीचे गहन खाड़ में १५० फुट की ऊंचाई से गिरती है। इस प्रपात का घर-घर स्वर बहुत दूर तक सुनाई देता है। प्रपात जितना ऊंचा है, उतना ही चौड़ा भी है। उसकी जलराशि का विपुल विस्तार और प्रपात का सौंदर्य जितना विराट है, उतना ही वह मनमोहक है। प्रपात से नीचे गिरता हुआ जल सहस्त्रों धाराओं में विभक्त हो जाता है तथा एक रजत-पट का सृजन करता है जिस पर इन्द्र-धनुष का रंगीन दृश्य सदा खेलता रहता है।

जगदलपुर पहुंचने का मार्ग रायपुर से मोटर द्वारा है।

राष्ट्रीय तीर्थ वर्धा

मध्यप्रदेश के ऐतिहासिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थलों के अतिरिक्त आधुनिक काल में वर्धा नगर ने, महात्मा गांधीजी के निवास के कारण देशव्यापी महत्त्व प्राप्त कर लिया है। हमारे प्रदेश के प्रसिद्ध दानी और नेता स्वर्गीय श्री जमनालाल जी बजाज ने साबरमती आश्रम के समान आश्रम स्थापित करने के उद्देश से महात्माजी से प्रार्थना की कि वे वर्धा को अपना केन्द्र बनावें। पहले-पहल उनके बहुत आग्रह करने पर बापू ने आचार्य विनोबा भावे को वर्धा भेजा और उन्होंने यहां पर सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। इसके बाद बापू जी भी बीच-बीच में आकर यहां रहने लगे। बजाज जी ने ग्रामोद्योग संघ के लिये अपना बगीचा प्रदान किया और यहां मगनभाई गांधी की स्मृति में मगन वाड़ी की स्थापना हुई। इसी स्थान पर सन् १९३५ में मगन संग्रहालय के विशाल भवन का निर्माण किया गया जहां कि समस्त देश के विभिन्न प्रांतों से ग्रामोद्योग की वस्तुओं का अपूर्व संग्रह एकत्रित किया गया। इनमें सबसे प्रधान वस्त्र-व्यवसाय है जिसे पुनरुज्जीवित करने के लिये महात्मा जी ने चरखे को ग्रामोद्योग रूपी सौर मंडल का सूर्य बनाया था। इस कारण वस्त्र-व्यवसाय से संबंधित सामग्री उसकी प्रारंभ से अंत तक समस्त प्रक्रियाओं तथा उसके ऐतिहासिक भौगोलिक तथा आर्थिक महत्त्व को सिद्ध करने वाले तथ्य और अंक संग्रहीत किये गये हैं।

सन् १९३० में जब महात्मा जी यह प्रण करके साबरमती आश्रम से निकल पड़े कि वे स्वराज्य प्राप्ति के पहले नहीं लौटेंगे तब श्री बजाज जी की प्रार्थना को उन्होंने स्वीकार किया कि वे वर्धा ही को अपना केन्द्र बनायें। उनके स्थायी रूप से रहने के कारण विधायक संस्थाओं की उन्नति होने लगी और महिलाश्रम, हिन्दुस्थानी प्रचार सभा, गो-सेवक चर्मालय आदि की स्थापना हुई। पहले महात्मा जी ने सत्याग्रह आश्रम (जहां आज महिलाश्रम स्थापित है) और फिर मगनवाड़ी को अपना निवास बनाया। जब उन्होंने सन् १९३६ में नगर को छोड़कर ग्राम निवास कर ग्राम सेवा करने का निश्चय किया तब सेवाग्राम का उदय हुआ। उसके साथ सेवाग्राम का निर्माण होते ही अखिल भारतीय चरखा संघ, तालीमी संघ, कस्तूरबा स्मारक औषधालय का निर्माण हुआ।

महात्मा जी के प्रभाव से वर्धा में अन्य संस्थाओं की भी स्थापना होने लगी। हिन्दुस्थानी तालीमी संघ की नीति से मतभेद होने के कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत राष्ट्रभाषा प्रचार सभा की स्थापना हुई और विस्तृत हिन्दी नगर बस गया। विनोबा जी की प्रेरणा से दत्त ग्राम में महारोगी सेवा मंडल के अन्तर्गत कुष्ट आश्रम की स्थापना हुई। श्री बजाज जी ने अपना अंतिम समय गो-सेवा में लगाने का निश्चय कर गो पुरी का निर्माण किया और वहीं रहने भी लगे। सन् १९४४ में कस्तूरबा राष्ट्रीय निधि की स्थापना बजाजवाड़ी में की गई। महात्मा जी के निधन के बाद उनके सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिये गांधी ज्ञान मंदिर की स्थापना हुई तथा विधायक कार्यों की संस्थाएं सम्मिलित होकर सर्व सेवा संघ की स्थापना हुई।

श्री विनोबा जी ने ग्राम स्वावलम्बन और समग्र ग्राम सेवा की दृष्टि से पवनार आश्रम की स्थापना की जो कि वर्धा के समीप पौनार नदी के किनारे स्थित है। इस स्थान पर कुछ प्राचीन मूर्तियां निकलीं जिनमें से विष्णु भगवान् की सुन्दर मूर्ति मगन संग्रहालय में स्थापित है। भरत और राम की भेंट की दूसरी सुन्दर मूर्ति तथा हनुमानजी की मूर्ति पौनार ही में स्थापित हैं। भरत-राम भेंट की मूर्ति बहुत ही भावपूर्ण है। इस प्रकार वर्धा नगर और उसके आसपास जन संस्थाओं के रूप में बापू की पावन स्मृति और उनके प्रवर्तित आंदोलनों का इतिहास विधायक संस्थाओं के रूप में सुरक्षित है जो कि राष्ट्रीय दृष्टि से मध्यप्रदेश के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इन सब ऐतिहासिक, धार्मिक, प्राकृतिक और राष्ट्रीय स्थलों के कारण मध्यप्रदेश का सिर गौरव से उन्नत है।

भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का स्थान

श्री शिवदत्त ज्ञानी

भारतीय संस्कृति अपने मौलिक रूप में देशकाल से अबाधित है और उसका विकास विश्व-जनीन सनातन सिद्धांतों पर हुआ है। इसके विकसित रूप में इसे भारतीय संस्कृति न कहते हुये मानव संस्कृति कहना अधिक उपयुक्त व युक्तिसंगत होगा। फिर भी मानव जीवन के विकास में भौगोलिक परिस्थितियों का अमिट सम्बन्ध रहा है। इसी तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक व भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त ही देश है। अत्यंत प्राचीनकाल से ही इस देश के सुसभ्य व सुसंस्कृत निवासियों ने एक अद्वितीय देश-काल से अपरिबाधित संस्कृति का विकास किया। यहां हमें इतिहास विशारदों के विभिन्न विवादों में नहीं पड़ना है जिनके अनुसार भारत में संस्कृति के आदि-प्रणेता आर्य, सुमेर निवासी या द्रविड थे। यहां केवल इतना ही अभीष्ट है कि प्रकृति देवी की लाड़ली भारतभूमि अत्यंत प्राचीनकाल से ही सांस्कृतिक विकास की क्रीड़ा-स्थली रही है।

भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही, भारतभूमि सस्य-श्यामला रहती है। यहां रोटी का सवाल बिलकुल जटिल नहीं हो सकता, यदि कोई बाहरी शक्ति यहां न रहे। प्राचीनकाल में यही हाल था; अन्न, वस्त्र बहुत ही सरलता से मिलते थे। इसीलिये यहां के निवासी जीवन के अन्य पहलुओं पर भी अच्छी तरह से विचार कर सके। जीवन, मरण, जीव, ब्रह्म, जगत् आदि सम्बन्धी प्रश्न उन्हें क्षुब्ध करने लगे। परिणामतः इस दिशा में अथक प्रयत्न किये गये, जिनको हम उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रंथों में देख सकते हैं। इन्हीं प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पुनर्जन्म, ब्रह्म, जीव, योग आदि पारलौकिक तत्वों व सिद्धांतों को समझा गया। भारतीय संस्कृति में जो पारलौकिक जीवन को महत्व दिया गया है, उसका यही कारण है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति दार्शनिक भूमि पर स्थित है। यहां के निवासियों ने जीवन के हरेक अंग को विकसित किया। अन्न, वस्त्रादि के सरलता से मिलने पर, वे आलसी व निकम्मे नहीं बने, किंतु उन्होंने अपने आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन को अधिक सुंदर, व्यवस्थित व सुसंगठित बनाया। इस प्रकार मानव हित को सामने रखकर एक सुंदर सर्वांगीण संस्कृति का विकास हुआ जिसका प्रचार विदेशों में भी किया गया।

भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने उसके सांस्कृतिक विकास में पूरी सहायता दी है। प्राकृतिक दृष्टि से भारत के तीन विभाग किये जा सकते हैं, जैसे—उत्तरीय मैदान, दक्षिण की उच्चसमभूमि व दक्षिण भारत। प्राचीन काल से ही उत्तरीय मैदान सांस्कृतिक विकास व राजनैतिक परिवर्तनों का केंद्र रहा है। आर्यों ने इसी में अपनी संस्कृति को विकसित किया, बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित किये व यहीं से दक्षिण पर साम्राज्य जमाया। दक्षिण की उच्चसमभूमि के दोनों सिरों पर पूर्वी व पश्चिमी घाट पहाड़ हैं व विन्ध्याचल से तुंगभद्रा तक इसका विस्तार है। यह भाग उत्तरीय मैदान के समान उपजाऊ नहीं है। इसके मध्यभाग में घना जंगल है जो कि आजकल मध्यप्रदेश के बैतूल, भण्डारा, बालाघाट, मण्डला आदि जिलों में स्थित है। प्राचीनकाल में यह "महा-कान्तार" कहलाता था जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के स्तंभ लेख में किया गया है। इस भाग ने भी प्राचीन भारत के राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास में अपना हाथ बटाया था। चंद्रवंशी ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु ने यहीं पर राज्य स्थापित कर अपना वंश चलाया था। राष्ट्रिक, आंध्र, वाकाटक, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने यहां राज्य किया व भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बटाया। दक्षिण भारत में प्राचीनकाल से ही पांड्य, चोल, केरल आदि राज्य स्थापित हुये थे। सांस्कृतिक दृष्टि से तो यह भाग भी अत्यंत ही प्राचीनकाल से भारत का एक अविकल अंग बन गया था।

भारतीय संस्कृति पर भौगोलिक व आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि उसका विकास समूचे भारत से सम्बन्धित है। फिर भी भारतीय संस्कृति के विकास में मध्यप्रदेश का क्या स्थान रहा है यह भी विचारणीय हो जाता है। विन्ध्याचल के दक्षिण में भारतीय संस्कृति के दक्षिण में भारतीय संस्कृति के विकास का इतिहास एक पहेली रूप है। फिर भी वैदिक व पौराणिक साहित्य की सहायता से इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। शर्याति के वंशज व भृगु के वंशजों ने पश्चिम भारत में सांस्कृतिक विकास किया। विन्ध्याचल

के दक्षिणवर्ती प्रदेश में जहां की विश्वामित्र के शाप से उनके ५० पुत्र आंध्र, पुलिन्द, मुतिब आदि के रूप में जंगली बन गये थे, कदाचित् सर्वप्रथम अगस्त्य मुनि ने प्रवेशकर ऋषियों के आश्रम के रूप में स्थान स्थान पर भारतीय संस्कृति के केंद्र स्थापित किये थे जिसका सुंदर चित्रण वाल्मीकि रामायण में किया गया है। कदाचित् इसी समय हमारे मध्यप्रदेश ने सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति के दर्शन किये हों। इसके पश्चात् भी इस भू-भाग में भारतीय संस्कृति का विकास उत्तरोत्तर होता ही रहा। इस विकास के परिणामस्वरूप मध्यप्रदेश ने भी भारतीय संस्कृति के विकास में अपना पूरा हाथ बटाया है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में मध्यप्रदेश का अपना स्थान है। उत्तर भारत व दक्षिण भारत के मध्य में स्थित होने से यहां पर विभिन्न सांस्कृतिक स्रोतों के सम्मिलन से भारतीय संस्कृति ने अपने परिपक्व व पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त किया। यद्यपि वैदिक साहित्य में इस भू-भाग का कोई उल्लेख नहीं आता फिर भी वैदिक साहित्य व उसके अंगों व उपांगों के विकास में इस भू-भाग में बसनेवाले विद्वान् ऋषियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यजुर्वेद व उसकी आपस्तंबादि विभिन्न शाखाओं के अध्ययन, अध्यापन के केंद्रों को संचालित करनेवाले ऋषि व मुनि यहां के वनों में अपने अपने आश्रम बनाकर रहते थे। दक्षिण भारत में वैदिक साहित्य व संस्कृति का विकास यहीं से हुआ था। वैदिक काल के पश्चात् भी इस भू-भाग ने भारत के सांस्कृतिक विकास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित रखा था। उत्तरोत्तर सांस्कृतिक विकास के परिणामस्वरूप उत्तर व मध्य भारत में विभिन्न सांस्कृतिक केंद्र विकसित हुये थे यथा—कुरु-पांचाल, कोशल, गौड़, अवन्ती, लाट, विदर्भ, महाराष्ट्र आदि। इन केंद्रों का विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन रहता था। इनका साहित्य, इनकी शैली, इनकी काव्यकलादि विशेषताओं से परिपूर्ण थीं। हमारे मध्यप्रदेश की स्थिति ऐसी है कि यहां इन केंद्रों में से कितने ही केंद्रों का मिलन होता है। उत्तर की ओर अवंती, कोशल, पूर्व में कलिंग, पश्चिम की ओर लाट, महाराष्ट्र व दक्षिण पश्चिम की ओर विदर्भादि सांस्कृतिक केंद्र स्थित थे। वाकाटकों व गुप्तों द्वारा राजनैतिक एकता प्रदान किये जाने के पूर्व राजनैतिक दृष्टि से इस भू-भाग का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। किंतु वैदिक काल के पश्चात् अपूर्व सांस्कृतिक विकास के युग में विभिन्न सांस्कृतिक अंशों के केंद्र बनने का सौभाग्य इसे अवश्य प्राप्त हुआ। कलिंग व कोशल के गुरुत्व व गांभीर्य, अवंती के सौष्ठव, लाट के माधुर्य, महाराष्ट्र के ओज व विदर्भ के प्रसाद आदि सांस्कृतिक व साहित्यिक गुणों को प्राप्त करने का सौभाग्य इसे प्राप्त हुआ था। इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक केंद्रों का यहां सम्मिलन होने से हमें इस भू-प्रदेश में इस सम्मिलन के परिणामस्वरूप एक नये जीवन के दर्शन होते हैं। साहित्य, कला, धर्म, दर्शनादि की दृष्टि से भी हमें वैविध्य व वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। इस वैविध्य व वैचित्र्य को हम कुछ अंशों में आज भी देख सकते हैं। मध्यप्रदेश के उत्तरीय भाग में मालवा व उत्तरप्रदेश, पश्चिमी व दक्षिणी भाग में महाराष्ट्र, व पूर्वीय भाग में उड़ीसा के रहन-सहन, भाषा, कला आदि का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। भिन्नत्व में अभिन्नत्व के दर्शन करना यह भारतीय संस्कृति की पूर्वार्जित परम्परा है। इसी परंपरा के अनुसार मध्यप्रदेश के भू-भाग ने, यद्यपि वह उस समय राजनैतिक एकता के सूत्र में बंधा नहीं था, विभिन्न सांस्कृतिक केंद्रों के सम्मिलन द्वारा सांस्कृतिक एकत्व के दर्शन किये और भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बटाया।

संस्कृत साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से भारत के सांस्कृतिक इतिहास में मध्यप्रदेश के इस महत्त्वपूर्ण स्थान का स्पष्ट पता चलता है। वैदिक काल से ईसा की प्रथम शताब्दी तक भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, काव्य, कलादि के विकास के द्वारा अपनी परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी। इसी परिपक्व अवस्था के समय मध्यप्रदेश को भी भारतीय संस्कृति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उत्तर भारत व दक्षिण भारत का सांस्कृतिक मिलन तथा भारतीय संस्कृति के विभिन्न विकास केंद्रों का सम्मिलन यहीं पर संभव था। यही कारण है कि इस भू-भाग ने व इसके प्राकृतिक सौन्दर्य ने अच्छे-अच्छे कवि-हृदयों को प्रेरणा प्रदान की। कविकुलगुरु कालिदास ने जो कि संभवतः ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में हुये, इसी भू-भाग से अपने उत्कृष्ट काव्य "मेघदूत" के लिये प्रेरणा प्राप्त की। हिमालय-वर्ती अलकापुरी से निष्कासित यक्ष ने प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण रामगिरी आश्रम (नागपुर के पास रामटेक) में शरण ली। उसने वहां से मेघ के द्वारा अपनी पत्नी के लिये संदेश भेजा। मेघ को अलकापुरी का मार्ग बताने के प्रसंग पर कविश्रेष्ठ ने रामगिरि आश्रम, मालक्षेत्र, आम्रकूट, रेवा आदि मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थान, नदी, पर्वतों का बहुत ही सुंदर चित्रण किया है। कवि के मध्यप्रदेश सम्बन्धी भौगोलिक ज्ञान से पता चलता है कि उसने इस प्रदेश में भी अपने जीवन का कितना ही समय व्यतीत किया होगा। यदि इस मन्तव्य को मान लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति, काव्य व कला के महान् पुरस्कर्ता व प्रतिनिधिस्वरूप कविश्रेष्ठ कालिदास को मध्यप्रदेश ने अमूल्य प्रेरणा प्रदान की है।

ईसा की चतुर्थ शताब्दी में भारत में गुप्त साम्राज्य का सूत्रपात हुआ, जो कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में सुवर्ण युग माना जाता है। इसी समय मध्यप्रदेश व उसके निकटवर्ती भू-भागों में वाकाटकों की सत्ता स्थापित थी। इतिहासकारों ने गुप्तों व वाकाटकों के परस्पर सम्बन्ध पर अभी पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला है किंतु शिला, ताम्रादि लेखों तथा तत्कालीन मुद्राओं के द्वारा उस सम्बन्ध को अच्छी तरह समझा जा सकता है। इन दोनों साम्राज्यों में वैवाहिक सम्बन्ध था व दोनों ही सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर हुये थे। जहां तक मध्यप्रदेश का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते है कि वाकाटक युग सांस्कृतिक विकास का सुवर्ण युग था। इसी युग में धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि की उन्नति अपनी चरम सीमा को पहुंच चुकी थी। इस युग में पौराणिक धर्म का विस्तार व प्रचार हुआ था। पौराणिक देवताओं के उपलक्ष में विभिन्न स्थानों में सुंदर-सुंदर मंदिर बनाये गये थे। उनमें से कुछ आज भी विद्यमान् है और मध्यप्रदेश की वास्तुनिर्माण कला का परिचय देते हैं। ६ ठी शताब्दी पश्चात् के उत्तर भारत के मंदिरों के जो दो विभाग किये जाते है, उसमें से उत्तर-पूर्व विभाग से सम्बन्धित मंदिर मध्यप्रदेश के सोहागपुर, अमरकंटक व छत्तीसगढ आदि स्थानों में हैं। इसी प्रकार के मंदिर जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वरादि में भी हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके शिखरों का आधार चतुर्भुज आकार का होता है। किंतु कोण अंदर की ओर कमान बनाते हुये ऊपर जाकर गोलाकार बनाते है। ये मंदिर तत्कालीन धार्मिक व सांस्कृतिक विकास का स्पष्ट परिचय देते हैं। ये विद्या के केंद्र रहते थे जहां वेदपाठी ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञादि धार्मिक कृत्य किया करते थे। इस कार्य में राज्य की ओर से भूमि का दान देकर पर्याप्त आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। वाकाटकों व गुप्तों के प्राचीन लेखों से यह बात प्रमाणित हो जाती है। साहित्य के क्षेत्र में इसी युग के विकास के परिणामस्वरूप मध्यप्रदेश ने संस्कृत साहित्य को भवभूति व भारवी जैसे उत्कृष्ट कवि प्रदान किये। भवभूति के "मालतीमाधव" व "उत्तररामचरित" में व भारवी के "किरातार्जुनीय" में जिस काव्य-कला के दर्शन होते हैं उसके द्वारा हम इन कवियों के हृदय व मानस को निर्माण करने का श्रेय मध्यप्रदेश को ही दे सकते हैं।

ईसा की ५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध व ६ ठी के पूर्वार्ध में हूणों के जो आक्रमण हुये और जिन्होंने गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया उनका प्रभाव मध्यप्रदेश पर भी पड़े बिना नही रहा। तोरमाण व मिहिरकुल इन दो बडे नेताओं ने भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया और अपने आतंक से जनता को भयभीत कर सांस्कृतिक जीवन को भय में डाल दिया। इन्हीं के दूसरे भाइयों ने इतना आतंक जमाया कि "हूण" नाम दुष्ट, निर्दय व राक्षस का पर्यायवाची बन गया। ये ही दुष्ट, निर्दय व राक्षसी हूण तोरमाण व मिहिरकुल के नेतृत्व में मध्यप्रदेश के सागर जिले में पहुंचे तब मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक प्रेरणा से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृति की शरण ली व उन्होंने शैवमत स्वीकार किया। सागर जिले के "एरण" गांव में तोरमाण व मिहिरकुल के स्तंभ-लेखों से इस मंतव्य के लिये स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस धर्म-परिवर्तन के पश्चात् हूणों ने धीरे-धीरे शांतिपूर्ण नागरिकों के रूप में जीवन व्यतीत करना सीख लिया। इन में से कुछ हूण रघुवंशी क्षत्रिय के रूप में आज भी इलाहाबाद जिले में पाये जाते हैं और बिस्नोई आदि के रूप में मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में पाये जाते है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस कार्य को योरोप की संस्कृति नहीं कर सकी उसी को सांस्कृतिक विकास के केंद्र मध्यप्रदेश ने किया।

जब उत्तर भारत में हर्ष साम्राज्य विकसित हो रहा था उस समय नर्मदा के दक्षिणवर्ती प्रदेश में चालुक्य सत्ता का विकास हुआ था। हर्ष को पुलिकेशिन द्वितीय से हार मान कर नर्मदा नदी को अपने साम्राज्य की दक्षिण सीमा मानना पडा था। इस प्रकार ईसा की ७ वीं शताब्दी में मध्यप्रदेश चालुक्य राज्य का अविकल अंग बन गया। इसके परिणामस्वरूप चालुक्य राज्य के सांस्कृतिक विकास का लाभ इसे भी हुआ। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से इस समय बहुत से परिवर्तन हुये। बौद्ध मत की अवनति प्रारंभ हो गई थी। हिंदु व जैन धर्म उत्कर्ष की ओर थे। यज्ञादि से सम्बन्धित कर्मकांड का अच्छा विकास होने लगा। इस सम्बन्धी ग्रंथ भी लिखे जाने लगे। पुराणों में वर्णित हिंदू धर्म का स्वरूप अधिक लोकप्रिय होने लगा व विष्णु, शिवादि पौराणिक देवताओं के कितने ही भव्य मंदिर बनाये गये। इस प्रकार चालुक्य युग में भी मध्यप्रदेश का सांस्कृतिक विकास उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होता गया।

चालुक्य युग के पश्चात् ८ वीं शताब्दी में मध्य व उत्तर भारत में एक प्रकार की राजनैतिक अराजकता छा गई थी। इसके कारण सांस्कृतिक विकास की गति कुछ अवरुद्ध हो गई। इस युग में मध्यप्रदेश का भू-भाग विभिन्न राज्यों में बंट गया था। इस राजनैतिक उथल-पुथल के कारण मध्यप्रदेश के सांस्कृतिक विकास का स्पष्ट पता नहीं चलता। किंतु इस युग के भग्नावशेषों के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन धार्मिक व सांस्कृतिक विकास का कुछ ज्ञान अवश्य होता है। मध्यप्रदेश के जबलपुर, छत्तीसगढ़ादि विभागों में इस युग का परिचय देनेवाले कितने ही

भग्नावशेष हैं, जहां के टूटे-फूटे मंदिरों में से कितनी ही प्राचीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। उनके आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन वास्तुनिर्माणकला व मूर्तिकला के विकास का पता चलता है। इसके पश्चात् जब भारत में मुस्लिम आक्रमणों का आरंभ हुआ और मुस्लिम सत्ता धीरे धीरे पैर जमाने लगी उस समय मध्यप्रदेश भी उसके प्रभाव से बच नहीं सका। मध्यप्रदेश के पश्चिमी व दक्षिणीय भाग पर १४ वीं व १५ वीं शताब्दी में फारुखी वंश का राज्य स्थापित हुआ जिसका केंद्र स्थान बुरहानपुर था। उस समय मध्यप्रदेश का यह प्राचीन नगर विश्व-विख्यात था। यहां के व्यापार व व्यवसाय ने अन्तराष्ट्रीय रूप धारण किया था। कितने ही विदेशियों ने इसे अपना केंद्र बनाया था। हिंदू-मुस्लिम संघर्ष व संकर्ष के परिणामस्वरूप इस नगर ने सामन्जस्यपूर्ण एक सुंदर सर्वग्राही संस्कृति को जन्म दिया। यहां की सुप्रसिद्ध जामा मस्जिद में आज भी अरबी लेख के नीचे संस्कृत लेख वर्तमान है जिसमें ज्योतिष-शास्त्र व धार्मिक मन्तव्यों के अनुसार मस्जिद के निर्माणादि का वर्णन है। इसी स्वास्थ्यप्रद वातावरण में अकबर के सेनापति व परम मित्र अब्दुल रहीम खानखाना ने अपने जीवन का कितना ही समय बिताकर भारतीय संस्कृति व संस्कृत साहित्य की सेवा की। इस साहित्य निर्माता पर भारतीय संस्कृति की कितनी गहरी छाप पडी थी, यह तो रहीम के काव्य का कोई भी विद्यार्थी जान सकता है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के विकास में मध्यप्रदेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति के विकास के विभिन्न युगों के दर्शन इस प्रदेश ने किये व उनसे प्राप्त सांस्कृतिक प्रेरणा को आत्मसात किया। ओंकार, मान्धाता, माल्खेड, कौण्डिन्यपुर, रामटेक, तेवर (त्रिपुरी) आदि यदि आज भग्नप्राय अवस्था में छोटे-छोटे ग्रामों के रूप में हैं फिर भी वे उस गौरवान्वित अतीत की स्मृति दिलाते है, जब मध्यप्रदेश ने सांस्कृतिक प्रेरणा प्राप्त कर विभिन्न सांस्कृतिक केंद्रों का अपने में एकीकरण किया।

संस्कृत साहित्य में मध्यप्रदेश के कतिपय पक्षी

श्री करुणाशंकर दवे

हमारे प्रान्त पर प्रकृति की विशेष कृपा है। अन्य नैसर्गिक धन के साथ वनस्पति तथा वन से सम्बन्धित पशु-पक्षी रूपी सम्पत्ति भी हमको पर्याप्त मात्रा में मिली है। भारत के सारे पक्षी ८६ वंशों में विभाजित किये गये हैं। इनमें से ६० से अधिक वंशों के अन्तर्भूत ४०० से अधिक जाति-उपजाति के पक्षी मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं जो हमारे वन, नदी, तालाब, उपवन और नगरों को सुशोभित करते हैं। हमारी प्राचीन सभ्यता में पक्षियों को काफी ऊँचा स्थान प्राप्त था। ऋषि अभिमन्यु के आश्रम पर पहुँचने पर स्वयं श्रीकृष्ण उनसे पूछते हैं कि आश्रम के पशु-पक्षी कुशल तो हैं। * पक्षी-प्रेम का अनुभव हमें अपने साहित्य में पद-पद पर होता है। इसका एक उत्तम और अत्यन्त प्राचीन उदाहरण हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है। कपिंजल (गौरा तीतर) हमारे प्रान्त में बहुधा खेतों के आसपास तथा छोटे घास के जंगलों में रहता है। अतएव, कृषि से इसका सम्बन्ध अतिशुभ माना गया है। नीचे दिये गये सूक्तांश में सहृदय ऋषि अपने आश्रम के निकट इसकी हर्षध्वनि सुनकर इसको सप्रेम आशीर्वाद देते हैं :—

मात्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मात्वा विदद् इषुमान् वीरो अस्ता ।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत् सुमंगलो भद्रवादी वदेह ।। *

२-४२-२ ।।

"हे मंगल सूचक (पक्षी), तुझको न तो श्येन वा सुपर्ण मारे और न कोई धनुर्धारी। यहां दक्षिण दिशा में उच्च स्वर से हमारे भावी कल्याण की बात कह"।

वृक्षों और पक्षियों के नित्य सम्बन्ध को सूचित करते हुए नारद जी एक महान् शाल्मलि (सेमर) वृक्ष का अभिनन्दन करते हैं :—

इदंच रमणीयं ते प्रतिभाति वनस्पते
यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि ॥
एषां पृथक् समस्तानां श्रूयते मधुरस्वरः
पुष्पसंमोदनकाले वाशतां सुमनोहरम् ॥

म. भा. १२-१५४-१७-१८ ।।

"हे वनपति, तेरी यह बात हमको बड़ी भली लगती है जो ये प्रमुदित पक्षी तुझमें रमण करते हैं। वसन्त-ऋतु में जब तू फूलता है तब इन सब के मधुर स्वर अलग-अलग सुनाई पड़ते हैं"।

वसन्त में सेमर का वृक्ष रक्तवर्ण मधुपूर्ण पुष्प-कटोरियों से भर जाता है और नाना प्रकार के मधुलोलुप पक्षी—शक्करखोरे, सारिकाएं, भुजंग, भृंगराज इत्यादि गुंजायमान भौंरे तथा मधुमक्खियां इस पर इकट्ठा होते हैं और उन सब का कलरव अत्यन्त मनोहर होता है। इसी दृश्य का उपरोक्त श्लोकों में वर्णन है।

हुद हुद नाम का एक सुन्दर चोटीदार पक्षी हमारे प्रान्त में होता है जो बहुधा गीली हरित भूमि पर अपने जोड़े के साथ चलता-फिरता देखने में आता है। इसको अपने डिंभ तथा नवजात शावकों से अत्यन्त प्रेम होता है। यहां तक कि यदि कोई इसकी मादा को घोंसले से निकालने का प्रयत्न करे तो उसके हाथ अक्सर उसकी पूंछ या दूसरे पर ही आते हैं क्योंकि मां घोंसले की पेंदी को अपने पंजों से जकड़ लेती है। यह बात प्राचीनों को भलीभांति मालूम थी और उन्होंने इसका नाम पुत्रप्रिया रख दिया। इसकी मधुर पुकार पु-पु-पु-पु-पु-पु के अनुरूप होती है। नर्मदा के उत्तर तट पर शिव सम्प्रदाय का शुक्ल तीर्थ नाम का एक आश्रम था। उसके आस पास बोलनेवाले पुत्रप्रिय पक्षियों की शिवभक्तों से तुलना करते हुए कवि ने पक्षी के नाम तथा स्वर का सामंजस्य बड़ी सुन्दरता के साथ किया है :—

पुत्र पुत्रेति वाशंते यत्र पुत्रप्रिया खगाः ।
यथा शिवप्रिया शैवाः नित्यं शिव शिवेतिच ।। स्क. पु. कौ. खण्ड ।।

---

* महाभारत १३-१४-६७ ।।

मध्यप्रदेश में अनेक प्रकार की बुलबुल होती हैं। इनमें से दो को कनेरा बुलबुल कहते हैं। दोनों देखने में सुन्दर तथा बैठक में रोबदार। एक के कान का भाग सफेद और तुर्रेदार चोटी सामने की ओर मुड़ी हुई, दूसरे की चोटी नोकदार खड़ी और कर्ण स्थान पर चोंच के कोने से लगाकर फूल की पंखुरियों के समान सफेद और लाल रंग के कुछ पर होते हैं; मानों उसने दुरंगे पुष्प का कर्णाभरण पहिन रखा है। बृहत्संहिता में इसको श्रीकर्ण और रामायण में पुष्पावतंसक कहा है। अशोकवाटिका के वर्णन में महाकवि वाल्मीकि ने इनको विशेष स्थान दिया है :—

निष्पत्र शाखां विहगैः क्रियमाणामिवासकृत्।
विनिष्पतद्भिः शतशश्चित्रैःपुष्पावतंसकैः ॥ ५-१५-७.

भावार्थ.—"अशोक वाटिका में सैकड़ों सुन्दर पुष्पावतंसक उड़ते फिरते थे और जिस शाखा पर जा बैठते उसे यह ऐसा ढक देते कि मानों इसमें पत्ते हैं ही नहीं। यह दृश्य हनुमान जी ने कई बार (असकृत्) देखा।

जलाशयों से आहार प्राप्त करनेवाले पक्षियों में से एक सफेद चील (शव चिल्ल) भी है जो महाकोशल के तालाबों पर मंडराती हुई अक्सर दिख जाती है। इसकी देह कुंकुम-वर्ण तथा सिर, गर्दन और छाती सफेद होती है। संस्कृत में इसे क्षेमंकरी कहते हैं। एक बार शिव जी अपने आश्रम से हिमालय की सैर करने चल पड़े। लौटने में विलम्ब होने से पार्वती जी के मन में कुछ शंका उत्पन्न हुई। उन्होंने तुरन्त क्षेमंकरी का रूप धारण किया और आकाश में चक्कर लगाकर उन्हें ढूंढ निकाला, अप्सराओं को मार भगाया और शिव जी को घर ले आईं। तब से क्षेमंकरी का दर्शन विघ्न का नाशक और शुभ का सूचक हो गया। कथा के अन्त में इसके नमस्करण का मंत्र भी पद्मपुराण में दिया है :—

कुंकुमारक्त सर्वांगि कुन्देन्दु धवलानने।
सर्व मंगलदे देवि क्षेमंकरि नमोस्तु ते ॥ सृष्टि खण्ड अ. ५३.

महाकवि भवभूति की जन्मभूमि विदर्भ में है। अपने नाटकों में जिन्होंने जिन पक्षियों का उल्लेख किया है वे सब केवल एक चकोर को छोड़कर, मध्यप्रदेश में मिलते हैं। उनमें वंजुल और पृणिका दो ऐसे होते हैं जिनका पता टीकाकारों को अभीतक नहीं लगा। वंजुल वह खदिर वर्ण छोटी-सी पनडुब्बी है जो तालाबों में रहती और किनारे पर उगनेवाले जल वेतस (वंजुल), गोंदला इत्यादि घने पौधों में अपना घोंसला बनाती है। इसी कारण उसको वंजुल का नाम दिया गया है। उसका स्वर हल्का तथा मधुर होता है और अनेक पक्षी अक्सर एक साथ बोलते हैं। शंबूक को दंड देने के निमित्त जब रामचन्द्र जी फिर से जनस्थान गये तब उन्हें फिर से पहिले देखे हुए दृश्यों का पुनःस्मरण हुआ और गोदावरी के शांत जल में क्रीडा करते हुए वंजुल पक्षियों तथा उनके निवासस्थान अर्थात् जलवेतस के घने समूहों को देखकर वे सहसा कह उठे—

आमन्त्र् वन्जुल रुतानि च तान्यमूनि।
नीरन्ध्र नीर निचुलानि सरित् तटानि ॥ उत्तररामचरित, २-२३

"अहो! यह हैं वन्जुलों के मधुर स्वर और वही निबिड निचुलादि पौधों से आवृत नदी तट"।

रामायण में भी वंजुल पक्षी का निर्देश इसी जनस्थान के वर्णन में मिलता है—सरितं वापि संप्राप्ता मीनवंजुल सेवितां (३-६१-१६) इसी काण्ड के ६१ वें सर्ग में वंजुल के बड़े भाई वंजुलक के प्रखर स्वर का वर्णन आता है। अनेक जलपक्षियों के साथ वंजुल फिर से वर्णित है (४-१३-८)। अतएव भवभूति ने भी राम को वंजुल का स्मरण कराया है, परन्तु पीछे के साहित्यिक वंजुल पक्षी को भूल गये और भ्रमवश कवि को मूल 'वंजुल रुतानि' को 'वंजुल लतानि' में बदल दिया जिससे वे वंजुल का अर्थ अशोक कर सकें। परन्तु इस ओर ध्यान ही न दिया कि अशोक पंचवटी या जनस्थान के आसपास क्या, वहां से सैकड़ों मील के भीतर भी नहीं होता। भाग्यवश कुछ हस्तलिखित प्रतियों में शुद्धपाठ 'वंजुल रुतानि' मिलता है जिसे सम्पादकों ने पाद-टिप्पणी के रूप में रख दिया है।

हमारे प्रान्त में नकटा नाम की एक बड़ी बदक होती है। सफेद सिर और गर्दन पर काले छींटे, नीली-काली पीठ और सीना सफेद होता है। इसे संस्कृत में नासाच्छिन्नी (नकटी), पृणिका अथवा नन्दीमुखी कहते हैं। यह नाम बड़े सार्थक हैं। मदकाल में अर्थात् ग्रीष्म से वर्षा ऋतु के अन्त तक नर बदक की चोंच पर एक जामुन के बराबर काली गठान सी उग आती है। तत्पश्चात् लोप हो जाती है। मद काल की अवस्था में यह पूरी अथवा बड़ी

नाकवाली—पूणिका*, नन्दीमुखी† नासाच्छिन्नी कहलाती है। भवभूति ने ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न-वर्णन में इसके आचरण की चर्चा की है —

तीराश्मन्तक शिम्बि चुम्बनमुखा धावन्त्यप: पूणिका:
—मालती माधव.

"तट की निकटवर्ती भूमि में जो पूणिकाएं अश्मन्तक की फलियों का आस्वादन कर रही थी वे अब (धूप से त्रस्त होकर) पानी में पैठ रही हैं।

हमारे तालाबों पर बनडा (मद्गु) नामका एक जलपक्षी होता है जो पानी के भीतर तेजी से तैर कर बरछी के समान अपनी पैनी चोंच से मछलियों को भोंकने में अत्यन्त निपुण है। शरीर की बनावट बहुत कुछ जल-कौए से मिलती है। परन्तु इसकी पीठ चितकबरी और गर्दन पतली तथा लम्बी होती है। जब पानी में तैरता है तब सांप के समान उसकी केवल गर्दन ही नजर आती है। देखनेवाले को अक्सर सांप का भ्रम होता है। हमारे प्राचीन ऋषि इससे भलीभांति परिचित थे। अश्वमेध में इसे मित्रदेव (सूर्य) का 'पशु' निर्वाचित किया है, क्योंकि जब यह पेट भर मछली खा चुकता है तब किसी अधबूड़े पेड की ठूठ पर धूप में अपने पंख फैला कर बैठा रहता है। इसी दृश्य को कवि कुमारदास ने अपने जानकी हरण महाकाव्य में एक सुन्दर उत्प्रेक्षा के रूप में चित्रित किया है। सरोवर के मध्यस्थित वृक्ष के एक तरफ साफ पानी है जिसमें मद्गु शिकार करता है और दूसरी तरफ कमलवन है जिसमें एक हंस विहार कर रहा है। धूप में सुखाने के लिये मद्गु पंख फैलाए ठूठ पर बैठा है। मानों वह हंस को इशारे से कह रहा है—

"सरोवर का इतना भाग (हे, हंस) तेरी कृपा से मेरे ही उपभोग के निमित्त अलग बचा रहे"—

इयत्प्रमाणोऽपि सर प्रदेश: तव प्रसादेन ममास्तु भौम्य: ।
इत्येष संदर्शयतीव मद्गु: हंसाय, शोषाय विसारितांस: ॥ ३-३०

रामायण में सीताजी ने राम की मयूर या हंस से और रावण की मद्गु से तुलना कर के रावण को धिक्कारा है (३-४७-४७; ५६-२०)।

भृंगराज हमारी सुपरिचित भुजंगा (कोलसा, भृंग) जाति के पक्षियों में सर्वश्रेष्ठ है। यह न केवल अन्य मधुर भाषी पक्षियों की सच्ची नकल करने में निपुण है वरन् इसके अपने स्वर भी जोरदार और अत्यन्त मधुर हैं। ऊँचे-नीचे स्वरों में सीटियों का ऐसा अद्भुत तांता बांध देता है कि सुननेवाला मुग्ध हो जाता है। अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हमारे पूर्वजों ने सारी पक्षि-जाति में इसे सर्वोत्तम गायक माना है। अश्वमेध में भृंगराज के नाम से इसे वाचस्पति का 'पशु' निर्दिष्ट किया है। यह हमारे प्रान्त के घने जंगलों में रहता है। श्री मद्भागवत् के कवि ने इस की कैसी प्रशंसा की है, देखिए—

पारावतान्यभृत‡ सारस चक्रवाक दात्यूह|| हंस शुक तित्तिरि बर्हिणां य:§।
कोलाहलो विरमतेऽचिर मात्र मुच्चै: भृंगाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥ ३-१५-१८.

प्रत्यक्ष में कवि कहता है कि जब भृंगराज (भृंगाधिप) हरिकीर्तन के समान गान आरम्भ करता है तब पारावतादि पक्षीगण शीघ्र ही चुप हो जाते हैं। परन्तु उसका अभिप्राय यह है कि भृंगराज का गान हम इतने तन्मय होकर सुनते हैं कि दूसरे मधुरवाक् पक्षियों की ध्वनि हमारे कान पर कुछ भी असर नहीं करती।

कलविंक—कालकण्ठ कलविंक को हिन्दी में दहियर कहते हैं। भारत के गायक पक्षियों में इसका स्थान बहुत ऊंचा है, विशेषकर बौद्ध साहित्य में जहां बुद्ध भगवान के मधुर भाषण की तुलना कलविंक के ब्रह्म स्वरों से बार-बार की गयी है। यह गौरैया से कुछ बडा होता है। सिर, पीठ और छाती काली, पूंछ और पंख काले और सफेद, पूंछ सदा खडी और बैठक शानदार होती है। इस में रूप और गुण दोनों मौजूद हैं¶ मानों सोने में सुगंध। बसन्त ऋतु में प्रतिदिन उषःकाल से ८-९ बजे तक और संध्या समय ५ से ७ बजे तक किसी ऊंचे वृक्ष की बाहरी टहनी पर बैठकर

* नासाच्छिन्नी तु पूणिका—कल्पद्रुकोश, त्रिकाण्डशेष।
† स्थला कठोरा वृत्ताच यस्यास्चञ्चु परिस्थिता।
नुटिका जम्बु सदृशी सेया नन्दी मुखीति सा ॥ भाव प्रकाश निघण्टु, मांस वर्ग!
‡ अन्यभृत, कोयल, || दात्यूह, पपीहा, § बर्ही, मोर,
¶ 'कलविंको यथा पक्षी दर्शनेन स्वरेणवा'—ललित विस्तर अध्याय १३.

अपनी मधुर तान सुनाता है। यह हमारे वन, उपवन और नगरों में भी रहता है। प्रभात वर्णन में महाकवि माघ ने कलविंकों के प्रातः गान के सहयोग से दिशा-देवियों की गाती हुई पनिहारिन युवतियों से सुन्दर तुलना की है—

वितत पृथुवरत्रा तुल्य रूपैर्मयूखैः कलश इव महीयान् दिग्भिरा कृष्यमाणः।
कृत कल कलविंकालाप कोलाहलाभिः जलनिधि जल मध्याद् एष उत्तार्यतेऽर्कः॥

—सुभाषितावलि, २१८५

भावार्थ—दिशा देवियां कलविंकों के मधुर सहगान के साथ, रज्जुवत् प्रसारित किरणों से कलश रूपी महान् सूर्यमण्डल को समुद्र की गहराई से ऊपर उठा रही हैं।

डूबते सूर्य के कषाय वर्ण प्रकाश को देखकर कवि अगले श्लोकार्द्ध में कलविंक के समकालिक गान का स्मरण करता है—

मदकल कलविंकी काकुनान्दी करेभ्यः क्षितिरुह शिखरेभ्यो भानुमान् उच्चिनोति॥

—अनर्घ राघव, २, ४, ५.

भावार्थ—अब सूर्य भगवान वृक्षों की चोटियों से, जिन पर बैठे गानमत्त कलविंक हर्षध्वनि कर रहे हैं, अपने कषाय वर्ण प्रकाश को समेट रहे हैं।

पण्डुक जाति के अनेक पक्षी हमारे प्रांत में होते हैं; उनमें राज पण्डुक (हारीत) सबसे सुन्दर होता है। पीठ और पंख हरे, सिर नीला-भूरा, गर्दन और छाती गहरी, डैंडिया लाल होती है। घने जंगल में रहता है और कभी-कभी रास्ते में अपने जोड़े के साथ चुगता हुआ दिख जाता है। मत्स्य पुराण में प्राचीन वाराणसी के एक बड़े उपवन का वर्णन है। उपवन के बीच में कमलों से सुशोभित एक सरोवर है जिसमें हंस क्रीडा कर रहे हैं। तटस्थित मार्ग के दोनों तरफ पुष्पित कदली वृक्षों की पंक्तियां खड़ी हैं। इस मार्ग में मयूर नृत्य कर रहा है और उसके गिराये हुए चन्द्रिका-युक्त पंखों से भूमि सुरंजित हो रही है। उपवन में इधर उधर चलते-फिरते अनेक हारीत वृन्द भी उसकी शोभा को विशेष रूप से बढ़ा रहे हैं। देखिए, कितना सुन्दर वर्णन है—

हंसानां पक्षपात प्रचलित कमल स्वच्छ विस्तीर्ण तोयं
तोयानां तीरजात प्रविकच कदली वाट नृत्यम् मयूरम्।
मायूरैः पक्ष चन्द्रैः क्वचिदपि पतितैः रंजित क्ष्मा प्रदेशं
देशे देशे विकर्ण प्रमुदित विलसन् मत्त हारीत वृन्दम्॥

—अध्याय १८०.

क्या हमारे प्रान्त को भी कभी ऐसे ही एकाधिक महान वन-उपवन का सौभाग्य प्राप्त होगा जहां नाना प्रकार के पशु-पक्षी अभयदान की सुरक्षा में सुखपूर्वक रहते हुए हमारे आनन्द तथा ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायक हो सकें?

मध्यप्रदेश में शिक्षा तथा राज-भाषाओं की प्रगति

श्री रमाप्रसन्न नायक

किसी स्वतंत्र राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने कर्तव्य और अधिकार भली भांति समझे। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह तभी किया जा सकता है जब कि प्रत्येक नागरिक सुशिक्षित हो। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व, यदि कहा जाए कि इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, बल्कि उदासीनता ही बरती जाती थी तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। पिछले डेढ़ सौ वर्षों से हमारी अधिकांश शिक्षा अंग्रेजी के माध्यमसे ही होती ही रही। राज-भाषा भी अंग्रेजी ही रही। फलस्वरूप हिन्दी और प्रांतीय भाषाएं पनपने नहीं पाईं। उनका उपयोग केवल ललित साहित्य के क्षेत्र में ही होता रहा। अंग्रेजी को राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण वह दिन प्रति दिन फलती फूलती रही और दूसरी तरफ हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं से हमारा संबंध अलगसा होता गया। यह राष्ट्र के सम्मान के सर्वथा प्रतिकूल ही था। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सभी का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। हमारे देश की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए, भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजना बनाई। योजना के अन्तर्गत शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। शिक्षा की उन्नति पर ही देश की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक उन्नति निर्भर है। साथ ही इस महत्वपूर्ण तथ्य को भी भुलाया नहीं जा सकता कि शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा अंग्रेजी न होकर हमारी भाषा ही होना चाहिए। अंग्रेजी भाषा जनता और शासन के बीच एक ऊंची दीवार बनकर खड़ी थी। भारत के संविधान निर्माताओं को इस बात का अनुभव हुआ कि इस दीवार को गिराकर राष्ट्र की भाषा के जरिए ही जनता और शासन के बीच निकट सम्पर्क स्थापित करना अत्यंत आवश्यक है। यदि राष्ट्र की चेतना को बलवान बनाना है तो जीवन के समस्त क्षेत्रों में उसको अपनी भाषा के जरिए सक्रिय भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। अतएव सन् १९४९ में संविधान द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाया गया और देश के राजकाज में हिन्दी को प्रचलित करने के लिए २६ जनवरी १९५० से १५ वर्ष की अवधि निश्चित की गई। संविधान में राज्यों को इस बात की भी सुविधा दी गई कि प्रादेशिक क्षेत्रों में वहां की भाषा भी राजभाषा बनाई जा सकती है।

इस प्रकार शिक्षा और भाषा के लिए विशिष्ट योजनाएं बनाई गईं। हमारे प्रान्त की पंचवर्षीय शिक्षा योजना १० करोड़ रु. की है। उद्देश्य यह रहा है कि इस दस करोड़ की राशि से शिक्षा की वर्तमान सुविधाओं में भरसक सुधार किया जाए और देश की परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा की नई सुविधाएं दी जाएं। उदाहरण के लिए जिन शालाओं और महाविद्यालयों में स्थान की संकीर्णता थी, शिक्षकों की कमी थी और शिक्षण सामग्री अपर्याप्त थी उन्हें इस योजना से सहायता देकर अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया। जिन क्षेत्रों में शिक्षा की सुविधाएं या तो बिलकुल न थीं या इतनी कम थीं कि नहीं के बराबर, उनमें से अधिकांश में नई शालाएं खोली गईं, और उन क्षेत्रों में जहां कृषि, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा की सुविधाएं नितांत आवश्यक थीं उनमें यथासंभव ऐसी सुविधाएं भी दी गईं।

शिक्षा की व्यवस्था पांच श्रेणियों में बंटी रहती है—पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च। पांचवीं श्रेणी को औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का नाम दिया जा सकता है। इस प्रान्त में पूर्व माध्यमिक शालाएं बहुत कम हैं। ४ से ६ वर्ष की अवस्था के बालक-बालिकाओं की प्रवृत्ति, प्रकृति और ज्ञानेन्द्रियों का सर्वांगीण विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर होना उनकी भावी शिक्षा की नींव माना गया है। इस प्रकार की विशिष्ट शिक्षा के लिए प्रशिक्षित शिक्षिकाओं की पूर्ति हेतु जबलपुर तथा नागपुर में दो पूर्व प्राथमिक मान्टेसरी प्रशिक्षण शालाएं योजना के अन्तर्गत खोली गईं। इनसे प्रतिवर्ष १२० प्रशिक्षित शिक्षिकाएं प्राप्त होंगी।

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। अभी तक योजना के अन्तर्गत ३,२०० नई प्राथमिक शालाएं ऐसे स्थानों में खोली गई हैं जहां अभी तक कोई शाला न थी। इस वर्ष १,००० प्राथमिक शालाएं और खोली जा रही हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी १,००० नई प्राथमिक शालाएं प्रतिवर्ष खुलेंगी। प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों का वेतन जो पहले १२ से २० रुपये मासिक तक रहा करता था अब कम से कम ३० रुपये कर दिया गया है। महंगाई

भत्ते की दर भी बढ़ाई गई है। इसमें स्थानीय निकायों को जो आर्थिक हानि हुई उसे योजना की निधि में से पूरा किया जा रहा है। शालाओं की बढ़ती संख्या के साथ प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी दूर करने के लिए इस योजना के अन्तर्गत ११ नई प्रशिक्षण शालाएं खोली गईं। इस वर्ष प्रान्त के प्रत्येक जिले में एक-एक प्रशिक्षण शाला खुल जाएगी। वर्तमान शालाओं को बुनियादी शाला में परिवर्तित करने का सुव्यवस्थित कार्यक्रम वर्तमान योजनाके अन्तर्गत आरम्भ हो चुका है। अगली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ही यह प्रयत्न किया जा सकेगा कि ६ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक की अवस्था के सब बालक-बालिकाओं को निःशुल्क तथा अनिवार्य बुनियादी शिक्षा मिले।

माध्यमिक शालाओं का भार इस प्रान्त में प्रधानतः गैर-सरकारी शालाएं वहन करती हैं। योजना द्वारा प्राप्त निधि से उनको परिरक्षण अनुदान, भवन अनुदान तथा सज्जा-सामग्री के लिए लगभग ४१ लाख रुपये दिए गए। पूर्व माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए अमरावती में दो प्रशिक्षण विद्यालय खोले गए—एक पुरुषों के लिए, दूसरा महिलाओं के लिए। खण्डवा में तीसरा प्रशिक्षण विद्यालय पुरुषों के लिए खोला गया। प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय, जबलपुर में मास्टर आफ एजूकेशन तथा एम. ए. (मनोविज्ञान) की कक्षाएं खोली गई ताकि शिक्षा की उच्चतर आवश्यकताओं के लिए योग्य व्यक्ति उपलब्ध हो सकें। भारत सरकार द्वारा बैठाए गए माध्यमिक शिक्षा आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशों को इस प्रान्त में कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। आयोग की सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश यह है कि देश में बहुमुखी माध्यमिक-शालाएं स्थापित की जाएं। इन शालाओं की विशेषता यह रहेगी कि इनमें विविध पाठ्यक्रम होंगे ताकि विद्यार्थी अपनी अभिरुचि, योग्यता तथा भावी उद्देश्य को ध्यान में रख कर उचित पाठ्यक्रम चुन लें। इस कार्य के लिए विद्यार्थी को मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन की बहुत आवश्यकता होती है। इसके लिए पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक व्यावसायिक मार्गदर्शन केन्द्र (व्होकेशनल गाइडेन्स ब्यूरो) जबलपुर में स्थापित किया गया है। इस वर्ष २२ बहु-मुखी माध्यमिक शालाएं, प्रत्येक जिले में एक स्थापित हो रही हैं। १०—१५ वर्षों में प्रान्त की सब माध्यमिक शालाओं को बहुमुखी बनाने की योजना है। इन शालाओं से उत्तीर्ण होकर विद्यार्थी तीन वर्षों में ही विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त कर सकेगा।

प्रौद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के लिए योजना के अन्तर्गत अभी ४ कृषि माध्यमिक शालाएं खोली गई हैं तथा आगे और खोली जाएंगी। व्यावसायिक शिक्षा देने के लिए औद्योगिक शालाओं को व्यावसायिक माध्यमिक शालाओं में परिवर्तित किया जा रहा है। इस वर्ष से सब औद्योगिक शालाएं व्यावसायिक शालाओं में परिवर्तित हो जाएंगी। इनसे उत्तीर्ण हुए विद्यार्थी शाला में सीखे हुए व्यवसायों द्वारा अपनी जीविका चला सकेंगे। योजना के अन्तर्गत दो प्रौद्योगिक माध्यमिक शालाएं भी खुली हैं जिनमें एन्जीनियरिंग की प्रथम शिक्षा दी जाएगी।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शासकीय महाविद्यालयों को भी नए भवन, सज्जा-सामग्री तथा अतिरिक्त शिक्षक दिए गए ताकि उनकी कार्यक्षमता बढ़ सके। प्रान्त के दोनों विश्वविद्यालयों को—नागपुर और सागर—लगभग ३७ लाख रुपयों का अनुदान दिया गया। गैरसरकारी महाविद्यालयों को १९ लाख रु. अनुदान दिया गया। जबलपुर में एक गृह विज्ञान महाविद्यालय खोला गया। द्वितीय योजना में ८ नए महाविद्यालयों तथा छात्रावासों की स्थापना, दोनों विश्वविद्यालयों को उनके विकास के लिए अनुदान, ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना, विविध शिल्प कला मंदिर (पॉलीटेक्निक्स), तथा एन्जीनियरिंग महाविद्यालयों की स्थापना आदि कई ऐसी योजनाएं हैं जिनमे उच्च शिक्षा की वर्तमान सुविधाओं में बहुत सुधार हो जाएगा और प्रान्त तथा देश की आवश्यकतानुसार नई शैक्षणिक सुविधाएं भी प्राप्त हो सकेंगी।

भारत सरकार की विशेष सहायता से जबलपुर तथा अमरावती में उत्तर बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किए गए हैं। पुस्तकालय स्थापित किए गए हैं, जनता के सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए कम्युनिटी सेन्टर्स स्थापित किए गए हैं। जबलपुर में प्रौढ़ शिक्षित ग्रामीणों को ग्रामोपयोगी उच्च शिक्षा देने के लिए जनता महाविद्यालय खोला गया है। भारत सरकार की बेकारी निवारण योजना के अन्तर्गत १,५८० नान-मैट्रिक और ५०० मैट्रिक शालाओं में शिक्षक नियुक्त किए गए हैं। प्रत्येक जिले में इस वर्ष से एक चलता-फिरता पुस्तकालय स्थापित किया गया है जिसके द्वारा ग्राम-ग्राम में शिक्षित जनता के ज्ञानवर्धन और मनोरंजन के लिए पुस्तकें पहुंचाई जाएंगी। योजना काल में १०० रुपये मासिक से कम वेतन पानेवाले सरकारी तथा स्थानीय निकाय के कर्मचारियों के बालकों को शाला-शुल्क में पूरी और १०० से २०० रुपये मासिक वेतन पाने वालों को आधी छूट दी गई है। भूमि-हीन श्रमिकों के तथा पिछड़ी हुई जातियों के बालकों की निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। गैर-सरकारी शालाओं के शिक्षकों के बालकों को भी सरकारी कर्मचारियों के बालकों के समान शाला-शुल्क में पूरी या आधी छूट दी गई है। इन योजनाओं से इतनी बड़ी संख्या में बालक-बालिकाएं शिक्षा प्राप्त करने लगेंगे कि हमारे संविधान के अनुसार यथा-समय ६ से १४ वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा आरंभ करना कुछ सरल हो जाएगा।

जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में हमारे प्रान्त ने अभूतपूर्व उन्नति की है उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी वह अग्रणी है। शासन और जनता के बीच खड़ी भाषा-रूपी दीवार को तोड़ने के लिए ही मध्यप्रदेश शासन ने सन् १९५० में राजभाषा अधिनियम बनाया जिसके द्वारा शासन एक निश्चित तारीख से सारे सरकारी कार्यालयों में हिन्दी और मराठी भाषाओं में काम करने के आदेश दे सकता था। परन्तु इस प्रकार का आदेश देने के पहले यह अत्यंत आवश्यक था कि वर्तमान परिस्थितियों का भली भांति अध्ययन कर लिया जाए तथा कर्मचारियों को पहले हिन्दी-मराठी भाषाएं सिखाई जाएं, हिन्दी-मराठी शीघ्रलेखक तथा मुद्रलेखक तैयार किए जाएं तथा विभिन्न विभागों में प्रतिदिन काम में आने वाली नियमावलियों के हिन्दी-मराठी अनुवाद तैयार किए जाएं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए भाषा विभाग की स्थापना की गई जिसके जरिए इन बातों के क्रमशः इन्तजाम की व्यवस्था की गई। कुछ नियमावलियों और आवश्यक शब्दावली तैयार करने के बाद तारीख १ सितम्बर १९५३ से, कुछ अपवादों को छोड़कर, सारे मध्यप्रदेश में सभी सरकारी कामों के लिए हिन्दी और मराठी भाषाओं का उपयोग करने के आदेश दिए गए।

पिछले पांच सालों में भाषा विभाग ने प्रशासन शब्दावलिया के चार पुष्प प्रकाशित किए जिनमें विभिन्न विभागों के लगभग १० हजार शब्दों, वाक्यांशों और अभिव्यक्तियों के हिन्दी-मराठी पर्याय दिए गए हैं। एक प्रशासन शब्द कोष भी प्रकाशित किया गया। इस कोष का संशोधित और परिवर्धित संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अलावा भाषा विभाग ने प्रशासन शब्दकोष का हिन्दी-मराठी से अंग्रेजी का संस्करण भी तैयार किया है ताकि कर्मचारीगण हिन्दी-मराठी शब्दों के अंग्रेजी रूप सरलतापूर्वक समझ सकें।

जिन कर्मचारियों की भाषा हिन्दी अथवा मराठी नहीं थी, उन्हें ये भाषाएं सिखाने के लिए शासन ने पिछले पांच वर्षों में विभिन्न जिला केन्द्रों में हिन्दी-मराठी भाषा-कक्षाएं खोलीं। इसी प्रकार अंग्रेजी शीघ्रलेखकों और मुद्रलेखकों को हिन्दी-मराठी शीघ्रलेखन-मुद्रलेखन सिखाने के लिए, इन विषयों की कक्षाएं खोली गईं।

शब्दावली एवं कोष कार्य के साथ ही साथ भाषा विभाग ने भिन्न-भिन्न विभागों की तेरह नियम-पुस्तिकाओं का हिन्दी-मराठी में अनुवाद कर लिया है। नियम पुस्तिकाओं का अनुवाद करना अत्यंत कठिन कार्य है। जिन भाषाओं में अभी तक विधि शैलिक तथा वैज्ञानिक शब्दावली न हो, जिनमें आजकल की कानूनी लेखनशैली का विकास न हुआ हो, उन भाषाओं में ऐसे साहित्य को तैयार करना बड़ा ही कठिन होता है। पहले तो नई शैली तैयार करनी होती है जिससे जनता अपरिचित होती है और दूसरे, उसमें विशेषार्थी शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। इससे कठिनाई दुगुनी हो जाती है। परंतु जो अनुवाद भाषा विभाग ने किए हैं, उनमें प्रचलित शब्दावली के साथ ही साथ नई तांत्रिक शब्दावली का उचित समन्वय कर एक नई कानूनी शैली का विकास करने का यत्न किया गया है और इस बात का ध्यान रखा गया है कि भविष्य में जब अंग्रेजी पुस्तिकाएं काम में नहीं लाई जाएंगी तब ये अनुवाद प्रामाणिक सिद्ध हों।

भाषा विभाग द्वारा तैयार की गई मार्गदर्शिका नामक पुस्तिका से अब यह गलतफहमी दूर हो गई है कि हिन्दी या मराठी भाषाओं में अभी अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने की क्षमता नहीं है। आज सचिवालय और राज्य के प्रायः सभी कार्यालयों में बड़ी आसानी से हिन्दी और मराठी में काम किया जा रहा है।

परन्तु भाषा की समस्या केवल शासन के स्तर पर ही हल नहीं हो सकती। नई पीढ़ी को तैयार करने तथा उस भाषा के साहित्य-निर्माताओं को प्रोत्साहित करने से इस संपूर्ण योजना को अपूर्व बल मिलता है। इसीलिए नागपुर विश्वविद्यालय को हिन्दी और मराठी माध्यम से इंटरमीडिएट और बी. एससी. की शिक्षा देने तथा पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए राज्य शासन ने १९५१ से १९५४ तक ४,६१,६०० रुपये की सहायता दी।

साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने के लिए तथा ललित साहित्य के सर्वांगीण विकास के साथ ही साथ शैलिक और वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए शासन ने मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् नाम की संस्था स्थापित की। शासन साहित्य परिषद् का जनता से पर्याप्त संपर्क है। इसने गत वर्ष ११ हिन्दी और ८ मराठी साहित्यकारों को १५,७५० रुपये के पुरस्कार प्रदान किए हैं। इसके साथ ही जनता के लाभ के लिए भाषण मालाएं आयोजित की जाती हैं।

शासन ने साहित्यिक और प्रचार कार्य करनेवाली संस्थाओं को अनुदान भी दिया है। अभी तक मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन को १६,८९० रुपये, विदर्भ साहित्य संघ को २२,५०० रुपये तथा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को ८,००० रुपये की राशि सहायता के रूप में प्रदान की गई हैं।

हिन्दी की लिपि में सुधार की दृष्टि से मध्यप्रदेश शासन ने लखनऊ लिपि सुधार सम्मेलन के कुछ निर्णय स्वीकार किए हैं। सम्मेलन के शेष निर्णय इसलिए अस्वीकार कर दिए गए क्योंकि उनको अपनाने से हमारी परम्परागत लिपि में विकृति उत्पन्न होने की आशंका थी।

उच्च न्यायालय, राजस्व मंडल, लेखा विभाग आदि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहां अब भी अंग्रेजी में कार्य हो रहा है। क्योंकि इन क्षेत्रों की शब्दावलियां अभी तैयार नहीं हैं। शब्दावलियां तैयार हो जाने पर इन विभागों की पुस्तिकाओं का अनुवाद किया जा सकेगा। पारिभाषिक शब्दों को भली-भांति समझना सरल नहीं है। इस कठिनाई को ध्यान में रखकर एक ऐसा कोष बनाने की योजना है जिसमें शब्दों के अर्थों के साथ साथ उनकी व्युत्पत्तियां और प्रयोगों आदि का भी विशेष उल्लेख हो। शब्दावली का ठीक ठीक उपयोग करना भी बडा महत्व रखता है। कहां किस शब्द की आवश्यकता है, कहां पर पारिभाषिक शब्द रखना चाहिए, कहां नहीं, कौन सा प्रयोग शुद्ध है, किन शब्दों के कितने अर्थ होते हैं और किन किन स्थानों पर उनका उपयोग होना चाहिए, इन सब बातों का विस्तारपूर्वक निर्देश करने के लिए 'भाषा प्रयोग' नामक एक पुस्तक तैयार करने की योजना है।

सामान्य विज्ञान में जनता की रुचि उत्पन्न करने के लिए मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के जरिए सामान्य विज्ञान संबंधी साहित्य को अनूदित और प्रकाशित करने का भी निश्चय किया गया है।

किसी राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिए उसके सांस्कृतिक सम्मान की भावना को जागृत करना आवश्यक होता है। भाषा इस क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। अपनी भाषाओं को शासन के क्षेत्रों में लाकर शासन और जनता के बीच निकट संपर्क स्थापित किया जा सकेगा। जनता कानून को अपनी ही भाषा के जरिए समझने में समर्थ होगी। राष्ट्र के विद्यार्थी अपनी ही भाषा के जरिए वैज्ञानिक और शैक्षिक क्षेत्रों में शिक्षा सुलभता से प्राप्त कर सकेंगे और साहित्यकार अधिक प्रेरणामय, अधिक उन्नतिशील साहित्य निर्माण करने में समर्थ होंगे; तभी राष्ट्र का सर्वांगीण विकास होगा। हमारा प्रान्त इस ओर सतत जागरूक रह कर उन्नति के पथ पर आरूढ होता जा रहा है। "अपनी भाषा में अपना कार्य" ही हमारा ध्येय है।

मध्यप्रदेश में स्थानिक स्वराज्य

डॉ. महादेवप्रसाद शर्मा

मध्यप्रदेश में भी भारत के अन्य भागों की भांति ही स्थानिक स्वराज्य का आधुनिक इतिहास गत शताब्दि के उत्तरार्द्ध में आरम्भ होता है। सन् १८६१ ई. में मध्यप्रान्त की पृथक प्रान्त के रूप में स्थापना हुई। सन् १८६३ में इसके चीफ कमिश्नर ने जिलाधीशों को आज्ञा दी कि जिन-जिन नगरों में चुंगी लगाई जाती है उनमें म्युनिसिपैल्टियां स्थापित की जावें। इस प्रकार ९५ म्युनिसिपैल्टियों की स्थापना हुई। अभी तक इन संस्थाओं के नियमन का कोई कानून न था; सब कुछ प्रान्तीय सरकार के आदेशानुसार ही हुआ था। परन्तु १८६४ में ११ बड़े नगरों में जिनमें नागपुर भी सम्मिलित था, लखनऊ म्युनिसिपल एक्ट, १८६४ लागू किया गया। इसके उपरान्त मध्यप्रान्त की म्युनिसिपैल्टियां समय-समय पर पंजाब म्युनिसिपल एक्ट, १८६७ मध्यप्रान्त म्युनिसिपल एक्ट १८७३, और मध्यप्रान्त म्युनिसिपल एक्ट १८८९ के अनुसार विनियमित होती रहीं। १९१९ के सुधारों के बाद मध्यप्रान्त म्युनिसिपल एक्ट १९२२ बना जो बाद के अनेक संशोधनों और परिवर्तनों सहित आज भी मध्यप्रदेश की म्युनिसिपैल्टियों का विनियमन करता है। बरार सन् १९०३ ई. तक एक पृथक प्रान्त था। परन्तु उक्त वर्ष वह प्रशासन के विषय में मध्यप्रान्त से जोड़ दिया गया। १९२४ ई. तक बरार का अपना अलग म्युनिसिपल कानून १८८६ का था। परन्तु इसके बाद मध्यप्रान्त म्युनिसिपल एक्ट १९२२ वहां भी लागू कर दिया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मध्यप्रान्त और बरार की पृथक पृथक संज्ञा का अन्त करके इस राज्य को मध्यप्रदेश का नाम दिया गया।

यह तो हुई नगरों की स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं के विकास की बात। ग्रामीण क्षेत्रों के लिये सन् १८६३ ई. के एक सरकारी आदेश के अनुसार प्रत्येक जिले में एक स्थानिक समिति स्थापित की गयी, जिसके सदस्यों में कमिश्नर, डिप्टी कमिश्नर तथा सरकार द्वारा नाम-निर्देशित अन्य व्यक्ति होते थे। १८८३ ई. के लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट एक्ट के अनुसार प्रत्येक जिले में एक डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल और प्रत्येक तहसील में एक लोकल बोर्ड की स्थापना हुई जिनके कुछ सदस्य सरकार द्वारा नाम-निर्देशित और कुछ निदिष्ट योग्यता रखनेवाले मत दाताओं द्वारा निर्वाचित होते थे। १९२० ई. के लोकल सेल्फ गवर्नमेंट ऐक्ट द्वारा डिस्ट्रिक्ट काउन्सिलों और लोकल बोर्डों को कुछ अधिक लोकतंत्रात्मक रूप दिया गया और उनकी शक्तियों में भी कुछ वृद्धि की गयी। १९२० ई. में एक ग्रामपंचायत कानून बना जिसके अनुसार थोड़े से चुने हुये गांवों में ग्राम पंचायतों की स्थापना हुई।

इस प्रकार सन् १९२०—२२ तक मध्यप्रदेश में स्थानिक संस्थाओं के संगठन का ढांचा तो तैयार हो गया और नगरों में नगरपालिकाएं, जिलों में जिला काउन्सिल, तहसील में लोकल बोर्ड और कुछ गांवों में ग्राम पंचायतों की स्थापना हो गयी। परन्तु ये संस्थाएं न तो लोकतंत्रात्मक थीं, न सशक्त और न कार्यक्षम। उनके सदस्यों में कुछ सरकार द्वारा नाम-निर्देशित होते थे। निर्वाचित सदस्य भी संकुचित मताधिकारानुसार चुने जाने के कारण जनता के वास्तविक प्रतिनिधि न थे। स्थानिक संस्थाओं के संगठन के दोषयुक्त होने के कारण उनमें दलबन्दी का प्राबल्य था और कार्यक्षमता की न्यूनता। उनकी आय के साधन इतने कम थे कि वे सदा आर्थिक अभाव-ग्रस्त रहा करती थीं। वास्तव में विदेशी सरकार को स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं को सबल व सक्षम बनाने की कोई परवाह न थी। उसने तो उन्हें प्रदर्शन और स्वराज्य के विकास के प्रति उदासीनता के अभियोग से बचने के लिये स्थापित किया था।

देश के स्वतंत्र होने पर जब देश के वास्तविक प्रतिनिधि सत्तारूढ़ हुये और उनके सामने सुदृढ़ लोकतंत्र के निर्माण की समस्या आई तो उन्होंने इस सम्बन्ध में स्थानिक स्वराज्य के महत्व को समझा। वास्तव में स्थानिक स्वराज्य राष्ट्रीय स्वराज्य की आधारशिला है। इसके द्वारा नागरिकों का स्वशासन की कला में प्रशिक्षण होकर उनमें स्वावलम्बन और आत्मविश्वास की भावना विकसित होती है जिससे राष्ट्रीय स्वराज्य और लोकतंत्र सुदृढ़ तथा परिपुष्ट बनते हैं। अतएव, स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों के पदारूढ़ होते ही समस्त देश में स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं के सुधार और पुनर्निर्माण का कार्य वेग और उत्साह से प्रारंभ हुआ। इस कार्य में मध्यप्रदेश ने कई बातों में समस्त देश में अग्रसर होने का परिचय दिया और उसके द्वारा किये गये परिवर्तनों का कई राज्यों में अनुसरण

हुआ जैसे स्थानीय संस्थाओं के अध्यक्षों का जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन, नाम-निर्देशन का अन्त इत्यादि। ग्रामीण क्षेत्रों के लिये उसकी जनपद योजना ने समस्त देश का ध्यान आकर्षित किया और एक से अधिक राज्यों को विकेन्द्रीकरण की प्रेरणा दी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के थोड़े से वर्षों में स्थानिक स्वराज्य को समुन्नत, व्यापक और प्रगतिशील बनाने के लिये जो कार्य मध्यप्रदेश शासन ने किये हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

प्रथम स्थान में सभी स्थानीय संस्थाओं के वयस्क मताधिकारानुसार निर्वाचन की व्यवस्था की गयी जिससे कि उन्हें सच्चा लोकतंत्रात्मक रूप प्राप्त हो और उनके सदस्य जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकें। अब राज्य निवासी प्रत्येक स्त्री-पुरुष, यदि उसकी आयु २१ वर्ष से कम नहीं है, तो अपने क्षेत्र की स्थानिक संस्थाओं के निर्वाचन में मतदान का अधिकारी है। नाम-निर्देशित सदस्यों की प्रणाली का अन्त कर दिया गया जिससे स्थानिक संस्थाओं के सभी सदस्य निर्वाचित होते हैं।

द्वितीय स्थान में स्थानिक संस्थाओं को अधिक व्यापक बनाने और उन्हें जनता के अधिक निकट सम्पर्क में लाने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्र के स्थानिक स्वराज्य-संगठन में आमूल परिवर्तन कर दिया गया। जिले में एक जिला काउन्सिल के स्थान पर प्रत्येक तहसील में एक-एक जनपद सभा स्थापित की गई। इस प्रकार स्थानिक सत्ता का भौगोलिक विकेन्द्रीकरण होकर वह जनता के अधिक सन्निकट आ गई। इतना ही नहीं, जनपद योजना में प्रशासनिक कार्यों के भी विशाल विकेन्द्रीकरण की नीति निहित है। उसके अनुसार उपयुक्त समय पर पुलिस और न्याय-प्रबन्ध को छोड़कर, राज्य शासन के लगभग अन्य सभी विषय जनपद सभाओं को हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। ऐसा होने पर अनेक विषयों के प्रबन्ध में, जो अभी दुहरी व्यवस्था दिखलाई देती है कि कुछ काम स्थानीय कर्मचारी करें और कुछ राज्य शासन के कर्मचारी, उसका अन्त होकर समस्त शासन एकतामय हो जायगा। जनपद योजना की एक तृतीय क्रान्तिकारी विशेषता नगर और ग्रामीण क्षेत्रों की पृथकता का अन्त करना है। इसके अनुसार किसी जनपद क्षेत्र में स्थित नगर पालिकाएं (महानगरपालिकाओं को छोड़कर) उसके अभिन्न अंग हैं। वे अपने क्षेत्र की जनपद सभा में अपने प्रतिनिधि भेजती हैं व जनपद कोष में भी निर्दिष्ट धनराशि देने को बाध्य की जा सकती हैं। आज दिन मध्यप्रदेश में दो महानगरपालिकाएं, ११२ नगरपालिकाएं तथा ९६ जनपद सभाएं स्थापित हैं।

तृतीय स्थान में स्वशासन को जनता के द्वार तक पहुंचा देने के लिये समस्त राज्य में ग्राम पंचायतों का जाल सा बिछा देने की व्यवस्था की गयी है। मध्यप्रदेश में कुल ४४,९९२ गांव हैं। इनके लिये कुल १६,६८८ पंचायतें स्थापित करने की योजना है। बड़े गांवों की अपनी अलग पंचायतें होती हैं और छोटे गांवों में दो-दो या तीन-तीन के समूह के लिये एक-एक। इनमें से लगभग सात हजार पंचायतें स्थापित हो चुकी हैं। शेष पंचायतें भी शीघ्र स्थापित हो जायेंगी। ग्रामों में उठनेवाले छोटे-मोटे झगड़ों के निर्णयार्थ चार-चार या पांच-पांच ग्राम पंचायत क्षेत्रों के लिये एक-एक न्याय पंचायत स्थापित की गई है। इनकी संख्या १,५०० के लगभग पहुंच चुकी है।

चतुर्थ स्थान में मध्यप्रदेश सरकार ने स्थानिक संस्थाओं के प्रशासन को सक्षम तथा समुन्नत बनाने के लिये कई महत्त्वपूर्ण आयोजन किये हैं। नगरपालिकाओं के अध्यक्ष का अब जनता द्वारा निर्वाचन होता है जिससे कि विख्यात, सुयोग्य और प्रभावशाली व्यक्ति ही इस पद के लिये चुने जा सकें। उनकी शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि करके उन्हें नगर शासन का वास्तविक अध्यक्ष बना दिया गया है। नागपुर और जबलपुर के दो सब से बड़े नगरों में महानगरपालिकाएं (सिटी कार्पोरेशन) स्थापित किये गये हैं जिनमें डिप्टी कमिश्नर के पद का अनुभव रखने वाले अधिशासी (एक्जिक्यूटिव आफिसर) के हाथों में शासन-संचालन का कार्य रखा गया है। इसी प्रकार जनपद सभाओं में भी एक्स्ट्रा-असिस्टेंट कमिश्नर के पद वाले अनुभवी अफसरों के हाथ में स्थानिक शासन की बागडोर सौंपी गई है। किसी भी शासन के सुचारु रूप से संचालित होने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें सुदक्ष, कार्यपटु तथा सन्तुष्ट व स्थायी कर्मचारी हों। अतएव स्थानिक संस्थाओं के कर्मचारियों के पदों को सुरक्षित करने के लिये समुचित प्रबन्ध किया गया है। किसी प्रकार के दण्ड अथवा पदच्युति के विरुद्ध उन्हें शासन के समक्ष अपील करने का अधिकार दिया गया है। स्थानिक कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये नागपुर विश्वविद्यालय में सार्वजनिक प्रशासन व स्थानिक स्वायत्त शासन का शिक्षण-विभाग स्थापित किया गया है, जिसमें राज्य की विभिन्न स्थानिक संस्थाओं से उनके चुने हुये कर्मचारी प्रतिवर्ष प्रशिक्षण के लिये आते हैं। उनके प्रोत्साहनार्थ शासन ने स्थानिक संस्थाओं को यह आदेश दिया है कि प्रशिक्षित कर्मचारियों को दो वर्ष की वेतनवृद्धि तुरन्त ही दे दी जावे और उच्चतर पदों की नियुक्ति में उनको प्रथम

ध्यान रखा जावे। अभी हाल ही में शासन ने पंचायतों के लिये २,००० सचिवों की नियुक्ति की व्यवस्था की है। स्थानिक कर्मचारियों की योग्यता के आधार पर नियुक्ति हो, इसलिये अब से ३-४ वर्ष पूर्व स्थानिक सेवा आयोग अधिनियम पारित किया गया, यद्यपि कुछ कारणों से अभी उसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका है।

पंचम और अन्तिम स्थान में स्थानिक संस्थाओं की आर्थिक-दशा को सुधारने के लिये उनकी कर लगाने की शक्ति तथा राज्य शासन से उन्हें दिये जानेवाले अनुदानों में वृद्धि की गई है। १९४६-४७ में नगरपालिकाओं को ६.७ लाख का सरकारी अनुदान मिलता था। परन्तु १९५१-५२ में वह बढ़कर १९.९९ लाख अर्थात् तिगने के लगभग हो गया। जनपद सभाओं को १९५१-५२ में १८.९४ लाख का अनुदान प्राप्त था जो उनकी आय का ५३.७ प्रतिशत अर्थात् आधे से अधिक था। १९५३ के संशोधित अधिनियम के अनुसार जनपदों को भूमि-कर व लगान पर १८ पाई प्रति रुपये के स्थान में ३० पाई प्रति रुपये उपकर लगाने का अधिकार मिला। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार ने उन्हें भूमि-कर के १ प्रतिशत के बराबर अतिरिक्त अनुदान देने की व्यवस्था की। महानगरपालिकाओं को साधारण नगरपालिकाओं की अपेक्षा कर लगाने तथा ऋण लेने के कहीं अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये हैं।

इस संक्षिप्त विवरण से यह ज्ञात हो जायेगा कि गत कई वर्षों में मध्यप्रदेश की सरकार ने स्थानिक स्वराज्य को सर्वांगीण प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप यहां की स्थानिक स्वायत्त शासन व्यवस्था न केवल व्यापक और सुदृढ़ किन्तु कई बातों में अन्य भारतीय राज्यों के अनुकरण की भी वस्तु बन गई है। लोक-कल्याण राज्य, जो आज हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य है, अपनी जन-सेवा की योजनाओं को जनता तक स्थानीय संगठनों की सहायता से ही पहुंचा सकता है। पूर्णतया विकसित, जागरूक और सक्षम स्थानिक स्वराज्य संस्थाएं ऐसे राज्य की सफलता के लिये परमावश्यक हैं। मध्यप्रदेश ने इस सामयिक आवश्यकता का अनुभव कर उस दिशा में उल्लेखनीय कदम बढ़ाया है।



मध्यप्रदेश की न्याय-प्रणाली का विकास

श्री शिवनाथ मिश्र

जिन भू-भागों से वर्तमान मध्यप्रदेश का निर्माण हुआ है उन्हें एक शासन अथवा न्याय-व्यवस्था के नीचे आये हुये कुछ अधिक समय नहीं हुआ। उसके पूर्व विभिन्न भू-भागों की इतिहास-शृंखलाएं परस्पर भिन्न रही हैं और सामान्यतः उनमें किसी तारतम्य अथवा एकरूपता की अपेक्षा करना कठिन है। यों तो अखिल भारतीय दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहास ग्रंथों के अनुसार यह समूचा प्रदेश सम्राट अशोक अथवा मुगल बादशाहों के साम्राज्य के अन्तर्गत था; परन्तु पाटलिपुत्र अथवा दिल्ली की सत्ताओं ने स्थानीय शासकों से यदा-कदा थोड़ा बहुत कर अथवा सम्मान प्राप्त करके चक्रवर्तित्व का संतोष भले ही पा लिया हो, पर वे न तो यहां के विभिन्न भू-भागों के शासन अथवा न्याय प्रणाली में एकता ही ला सके और न यहां की परस्पर भिन्न परंपराओं और मान्यताओं पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव डाल सके।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यहां के अनेक भू-भागों की संस्कृतियां, सामाजिक जीवन तथा राज्य परंपरायें भिन्न होते हुये भी सब कहीं किसी न किसी रूप में पंचायत प्रणाली प्रतिष्ठित थी। इस प्रणाली को यदि इस प्रदेश की न्याय परंपरा का मेरुदण्ड कहा जाय तो अनुचित न होगी। प्राचीन काल में इसकी प्रभाविता केवल नैतिकता पर आधारित थी और वह सत्ता के बल से वंचित थी। मराठों के राज्यकाल में, जब इस प्रदेश के अधिकतर भाग में एक न्याय-प्रणाली प्रतिष्ठित हुई तब राजसत्ता द्वारा पुरस्कृत न्याय-व्यवस्था में पंचायतों को भी अंशतः स्थान प्राप्त हुआ। अंग्रेजी अमलदारी में शासन व्यवस्था परिपुष्ट हुई तथा नियम आदि में भी सुसंबद्धता उत्पन्न हुई। परन्तु इसके साथ ही साथ अंग्रेज शासक जनता को राज्य व्यवस्था से, अतएव न्याय व्यवस्था से, अलग ही रखना चाहते थे। फलतः न्याय व्यवस्था पूर्णतः शासकीय कर्मचारियों के अधिकार में आ गई और पंचायतों का महत्व उत्तरोत्तर क्षीण होता गया। कुछ अवैतनिक दण्डाधिकारी अवश्य नियुक्त हुये, परन्तु इस पद्धति का उद्देश्य जनता को सहयोग-प्राप्ति न होकर मुख्यतः राजभक्ति का सम्मान ही था। कालांतर में स्वातंत्र्य भावना के विकास तथा अन्ततोगत्वा स्वातंत्र्य प्राप्ति के फलस्वरूप पंचायत प्रणाली का पुनरुज्जीवन हुआ, उसका क्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तीर्ण होता गया तथा पंचों के विधिवत् निर्वाचन का भी प्रबंध किया गया। परन्तु इस बीच में विधियों (कायदों) में विपुलता के साथ जटिलता आ चुकी थी, अतएव न्याय व्यवस्था के संचालन के लिये लोक-प्रतिनिधित्व से अधिक विधि-पाण्डित्य की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। ऐसी परिस्थिति में एक विवक्षित क्षेत्र के बाहर और एक विवक्षित स्तर के ऊपर पंचायतों का विकास नहीं हो सकता था। तथापि पंचायत प्रणाली की परिधि के बाहर के क्षेत्र में न्याय व्यवस्था को प्रशासकीय प्रभाव से मुक्त करने की दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं। संक्षेप में इस प्रदेश की न्याय प्रणाली के विकास की यही रूप-रेखा है।

मराठों की न्याय व्यवस्था—सन् १७५६ में मायोजी भोंसले ने केवल नागपुर शहर के छोटे-छोटे फौजदारी मामलों के निर्णयार्थ एक न्यायालय स्थापित कर दिया था। इसके अतिरिक्त मराठों के राज्य काल में कोई विशेष न्यायालय नहीं थे, और न कोई लिखित कानून ही था। मुसलमानों पर मुस्लिम कायदा तथा शास्त्रियों के निर्वचनानुसार हिन्दू कायदे के दायसम्बन्धी सिद्धान्त हिन्दुओं पर लागू किये जाते थे। निर्णयार्थ प्रकरणों का कोई व्यवस्थाबद्ध विभाजन नहीं था, परन्तु सामान्यतः एक हजार रुपयों से अधिक के दीवानी मामलों का स्वतः राजा द्वारा निर्णय होता था और शेष मामले उनके मूल्य अथवा महत्व के अनुरूप छोटे-बड़े अधिकारियों के समक्ष लाये जाते थे।

राजा के अतिरिक्त कमाइसदार तथा पटेल न्यायदान करते थे। कमाइसदार अपनी इच्छानुसार फडनवीस, बरार के पांडे अथवा सम्बन्धित ग्राम के पटेल की मदद लिया करते थे। अपने-अपने क्षेत्र में जागीरदारों को भी कमाइसदारों के अधिकार प्राप्त थे। कमाइसदार या तो स्वयं निर्णय देते, अथवा यदि वे चाहते तो पंचायत बुलवाने का आदेश दे दिया करते। पटेलों को दीवानी मामलों के निर्णय के अधिकार नहीं थे। वे ऐसे मामलों में केवल पंचायत जुड़ा सकते थे। पंचायत में ग्राम के सम्मानित व्यक्ति यथासम्भव उभय पक्षों की सम्मति से लिये जाते थे।

प्रत्येक गांव में पटेल तथा जनता द्वारा संयुक्त रूप से चुना हुआ एक महाजन होता था जो पटेलों के बीच के विवादों तथा ग्रामवासियों के आपसी झगड़ों को निपटाया करता था। कुछ जातियों के प्रमुख, जो सेठिया कहलाते थे, जातिगत विवादों का निपटारा करते थे। आवश्यकतानुसार सेठियों की पंचायतें भी बुलाई जाती थीं और उनका

निर्णय सामान्यतः अन्तिम माना जाता था। ये झगड़े कभी कभी राजा तक पहुंच जाते थे, परन्तु ऐसे प्रसंग विरले ही होते थे।

ग्रामीण पंचायतों की कार्यवाही न तो सुव्यवस्थित ढंग से सम्पन्न होती थी और न वह लेखबद्ध ही की जाती थी, परन्तु वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा बुलाई हुई पंचायतों का क्रमबद्ध अभिलेख बनता था और उनके निर्णय पुष्टीकरणार्थ उन अधिकारियों को भेजे जाते थे। किसी भी अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध राजा के समक्ष अपील की जा सकती थी।

छोटे-मोटे फौजदारी मामलों में पटेल हलका सा अर्थदण्ड दे सकते थे, परन्तु सभी महत्वपूर्ण अपराधिक प्रकरण शासकीय अधिकारियों द्वारा ही निर्णीत होते थे। स्वतः राजा तथा कमाइसदारों द्वारा दण्ड व्यवस्था संचालित होती थी।

उन दिनों कोई लिखित दण्डविधि तो नहीं थी, परन्तु कुछ साधारण मान्यतायें अवश्य थीं। सेंध के मामलों में यदि गृहस्वामी चोरी का माल बतला सके तो उसे उसका तीन-चतुर्थांश मिल जाता था तथा शेष भाग सरकार-जमा हो जाता था। यदि कोई चोर रंगे हाथों पकड़ा गया तो मालधनी उसे कुछ तमाचे या जूते लगा सकता था। यदि वह थाने में पहुंचाया गया तो उसे कोड़े लगाकर महीना-पंद्रह दिन बन्द रखा जाता था और यदि वह कुछ देने योग्य हुआ तो उस पर अर्थदण्ड भी लगाया जाता था। ऐसे अपराधों पर दस बार तक उपर्युक्त प्रकार की सजा हो सकती थी। इसके बाद ऐसे अपराध की पुनरावृत्ति होने पर अपराधी की नाक, हाथ अथवा अंगुलियां काट ली जाती थीं।

गिरोहबन्द डकैती के मुलजिमों को गांव के बाहर काठ मार कर तब तक कोड़े लगाये जाते जब तक वे अपने साथियों तथा लूट के माल का पता न दे दें। इस प्रकार माल का पता चलने पर उसका तीन-चतुर्थांश मालधनी को तथा एक-चतुर्थांश सरकार को मिलता था। यदि धनी स्वयं माल का पता लगा ले तो उसे पूरा माल मिल जाता था। यदि डकैती के साथ शारीरिक क्षति अथवा हत्या हुई हो तो अपराध के अनुरूप कोड़े लगाने, अंग-भंग अथवा मृत्युदण्ड की योजना होती थी।

हत्या के लिये ब्राम्हणों तथा स्त्रियों को छोड़ कर अन्य अपराधियों को सामान्यतः प्राणदण्ड होता था। कभी कभी पति आदि की हत्या के लिये स्त्री की नाक काट ली जाती थी। कुछ जातियों में मृत व्यक्ति के रिश्तेदारों को आर्थिक प्रतिकर दे कर हत्या के जुर्म से बरी होने की प्रथा थी। यदा-कदाचित् अपराधी की सम्पत्ति भी शासन द्वारा जब्त कर ली जाती थी।

अविवाहिता स्त्री के गर्भिणी होने पर उसे थाने पर ले जाया जाता था और जार के रूप में वह जिस-जिस का नाम ले लेती थी उस पर बिना किसी अन्य प्रमाण के भारी अर्थदण्ड लगा दिया जाता था। सामान्यतः इसका कुछ अंश दण्डकर्ता अधिकारी की जेब में जाता था।

जाली सिक्के बनाने वालों के हाथ कुचल दिये जाते थे। छल और प्रवंचना के लिये कोड़े लगाने, कारावास अथवा अर्थदण्ड की व्यवस्था थी।

इस प्रकार हमने देखा कि विशेषतः दीवानी मामलों में भोंसला शासन ने पंचायत प्रणाली को किसी हद तक शासकीय न्यायव्यवस्था में स्थान दिया। परन्तु न्याय के लिये सत्ता का द्वार खटखटाना एक अत्यंत व्ययसाध्य प्रक्रिया थी। जीतनेवाले से शुकराना तथा हारने वाले से जुर्माना लिया जाता था। प्रतिवादी के आव्हानार्थ कमाइसदार भात-मसाला वसूल करते थे तथा आदेशिका वाहक के खर्च के लिये रोज-खुराक भी वादी को देना पड़ता था। राज-दरबार से आदेशिका निकलने पर अश्वारोही अथवा ऊंट-सवार हरकारों का खर्च देना पड़ता था। इन सभी खर्चों के परिमाण बहुत बड़े-बड़े थे, अतएव बिना राजसत्ता का आश्रय लिये पंचायतों के द्वारा झगड़ों के निपटाने की परंपरा मराठा काल में अव्याहत चलती रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भोंसला दरबार के सिर पर अंग्रेज रेसिडेंट आ बैठा। प्रथम रेसिडेंट रिचार्ड जेंकिन्स ने यहां की न्याय प्रणाली को सुव्यवस्थित अवश्य किया, परन्तु विदेशी होने के नाते न्याय-व्यवस्था का प्रत्येक अंगोपांग शासन-व्यवस्था के साथ आबद्ध करना उसके लिये स्वाभाविक ही था। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, भोंसलों के समय में शासकीय न्यायदान बहुत महंगा था। इसके अतिरिक्त कोई सुसंगठित एवं विनियमित पद्धति न होने से पंचायतों में पंचों की मर्जी अथवा व्यक्तिगत सनक का बोलबाला था और यह मर्जी या सनक धन अथवा प्रभुता द्वारा प्रभावित भी हो सकती थी। जातीय अथवा अन्य निम्न-स्तर की पंचायतों में पंचों की प्रसन्नता के लिये भोजन, पान

तथा नृत्य, गीतादि की व्यवस्था भी हुआ करती थी जिससे कभी-कभी पंचायतों की कार्यवाहियों तथा निर्णयों में विकृति भी आ जाती थी। इस प्रकार जेन्किन्स को एक नवीन न्याय प्रणाली के पुरस्थापन का बहाना अथवा अवसर अनायास प्राप्त हो गया।

जेन्किन्स की न्याय प्रणाली—जेन्किन्स की न्याय प्रणाली का स्वरूप मराठा काल की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित तो था, परन्तु, जैसा कि अपेक्षित ही था, वह दो सिद्धान्तों पर आधारित थी—एक तो पंचायतों पर अंकुश और दूसरा पुलिस तथा प्रशासन का महत्व। नागपुर शहर के लिये एक दीवानी अदालत की स्थापना हुई। इसमें पांच सौ रुपयों तक के मामलों का निर्णय छोटी अदालत करती थी जो पुलिस अधीक्षक (सुपरिंटेन्डेंट) के मातहत थी। अर्जी पुलिस सुपरिन्टेन्डेंट को ही दी जाती थी। अदालत के निर्णय से यदि किसी पक्ष को असंतोष हुआ तो वह पुलिस सुपरिन्टेन्डेंट के पास पुष्टीकरण के लिये भेजा जाता था। वह या तो उसे मान लेता था या कुछ अधिक प्रक्रियाओं का आदेश देता था, जिनके पूर्ण होने पर वह स्वतः निर्णय दिया करता था। बड़ी अदालत, जिसका अध्यक्ष रेसिडेंट का एक सहकारी हुआ करता था, पांच सौ रुपयों के ऊपर के मामलों का निर्णय करती थी तथा छोटी अदालत के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनती थी। अन्तिम अपील रेसिडेंट के समक्ष होती थी।

शहर के बाहर कमाइसदार तीन सौ रुपयों तक के मामलों का फैसला करते थे और संबंधित परगने में पुलिस सुपरिंटेंडेंट के दौरे पर आते ही उसके समक्ष कमाईसदार के निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। पंचायतों का उपयोग या तो उलझे हुए हिसाबों को सुलझाने के लिये होता था अथवा फरीकों के आवेदन पर। जितने दिन मामला पंचायत के पास अटका रहे उतने रुपये हारने वाले फरीक से वसूल किये जाते थे। अधिकतर नगर की छोटी अदालत तथा कमाइसदार की अदालत के मामलों में ही पंचायतों का उपयोग होता था और इसलिये उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील पुलिस सुपरिंटेंडेंट ही सुनता था। वैसे न्यायालय के निर्णय के बाद भी हारे हुए पक्ष के आवेदन पर मामला पंचायत के सुपुर्द किया जा सकता था। जेन्किन्स स्वीकार करता है कि पंचायत प्रणाली में अनेक दोष होते हुए तथा उपर्युक्त अंकुशों के रहते हुए उसके समय में पंचायतों का प्रचुर परिमाण में उपयोग होता था।

नगर में न्यायाधीश तथा दण्डाधिकारी पुलिस सुपरिंटेंडेंट ही होता था। हत्या तथा राजद्रोह को छोड़ कर सभी अपराधों के मामलों के निर्णय का अधिकार उसे था। हत्या तथा राजद्रोह के मामले बड़ी अदालत के समक्ष जाते थे। देहाती क्षेत्रों में कमाईसदार छोटे-मोटे फौजदारी मामलों का निर्णय करता था परंतु तीन दिन से अधिक कैद की सजा के लिये पुलिस सुपरिंटेंडेंट की मंजूरी आवश्यक होती थी। बड़े मामलों का निर्णय स्वयं पुलिस सुपरिंटेंडेंट करता था परन्तु दो वर्ष से अधिक की कैद के लिये रेसिडेंट की मंजूरी लेनी पड़ती थी।

सामान्य अपराधों को पांच श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया था जिनमें क्रमशः प्राणदण्ड, आजीवन कारावास, तथा चौदह, सात और उससे कम वर्षों के कारावास का अधिकतम दण्ड दिया जा सकता था। उचित मामलों में अर्थदण्ड, संपत्ति-ग्रहण, देशान्तर, शारीरिक दण्ड अथवा सार्वजनिक भर्त्सना के दण्ड भी दिये जाते थे।

सन् १८६१ में एक चीफ कमिश्नर के नीचे मध्यप्रदेश का निर्माण हुआ। पहले इस में नागपुर प्रान्त तथा सागर और नर्मदा क्षेत्रों का समावेश हुआ। दूसरे वर्ष इसमें संबलपुर क्षेत्र भी जोड़ दिया गया, जिसमें छत्तीसगढ़ शामिल है। बाद में संबलपुर क्षेत्र का कुछ अंश उड़ीसा में सम्मिलित कर दिया गया। बरार का शासन यों तो अंग्रेजी सत्ता के नीचे सन् १८५३ में ही आ गया था, तथापि वह पूर्णतः मध्यप्रदेश की न्याय प्रणाली के नीचे सन् १९०५ में आया। वैसे सन् १८५३ से सन् १९०५ तक बरार की न्याय प्रणाली में जैसे कुछ परिवर्तन हुए वे मध्यप्रदेश में होने वाले तत्सम-परिवर्तनों से तत्वतः भिन्न नहीं थे, अतएव इस अल्प समीक्षा में उनका विशेष आकलन अनावश्यक होगा।

जेन्किन्स की न्यायपद्धति नागपुर प्रान्त में जिस पूर्णता और व्यापकता से व्यवहृत हो रही थी, वैसी अन्य क्षेत्रों में न हो पाई थी। उधर अंग्रेजी राज्य का मूल केन्द्र बंगाल था और अंग्रेजी कायदे (जो बंगाल रेगुलेशन्स के नाम से प्रख्यात थे) वहीं की परिस्थिति के अनुरूप बने थे। उन्हें उनके मूल रूप में सर्वत्र लागू करना कठिन था। इस प्रकार कुछ क्षेत्र गैर-रेगुलेशन क्षेत्र माने गये। इनमें से एक क्षेत्र पंजाब था जहां की तत्कालीन न्याय-प्रणाली से जेन्किन्स की व्यवस्था बहुत कुछ मेल खाती थी। इधर नर्मदा क्षेत्र का वातावरण तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में प्रचलित प्रणाली के बहुत कुछ अनुकूल था और संबलपुर क्षेत्र के लिये तो बंगाल रेगुलेशन्स की पद्धति भी अंशतः उपयुक्त जान पड़ती थी। इन सब बातों के ऊहापोह के फलस्वरूप सन् १८६५ में प्रथम मध्यप्रदेश कोर्टस् एक्ट प्रवर्तित हुआ।

उक्त एक्ट के अनुसार आठ प्रकार के न्यायालयों की स्थापना हुई जिनके मौलिक तथा अपील के अधिकार नीचे दर्शाये हैं :—

क्रमांक	न्यायालय	क्षेत्राधिकार	मौलिक अर्थाधिकार	अपील के अधिकार
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
(१)	तहसीलदार, द्वितीय वर्ग	तहसील	१०० रु. तक के दावे	
(२)	तहसीलदार, प्रथम वर्ग	„	३०० रु. तक के दावे	
(३)	सहायक आयुक्त, तृतीय वर्ग	जिले का अंश	५०० रु. तक के दावे	
(४)	सहायक आयुक्त, द्वितीय वर्ग	„	१,००० रु. तक के दावे	
(५)	सहायक आयुक्त, प्रथम वर्ग	„	५,००० रु. तक के दावे	
(६)	उपायुक्त (डिप्टी कमिश्नर)	जिला	५,०००रु. से ऊपर के दावे	(१) से (४) के मौलिक निर्णयों पर।
(७)	आयुक्त (कमिश्नर)	विभाग	„	(५) तथा (६) के सभी निर्णयों पर।
(८)	न्याय-आयुक्त (जुडीशियल कमिश्नर).	संपूर्ण प्रदेश	„	(७) के मौलिक निर्णयों पर तथा (६) और (७) के अपीलेट निर्णयों पर।

इसके अतिरिक्त लघु-वादों के लिये उचित स्थानों में लघु-वाद (स्मॉल कॉज) न्यायालयों की व्यवस्था हुई। जिले के न्यायालय में दीवानी कार्य का वितरण उपायुक्त (डिप्टी कमिश्नर) के जिम्मे रहा।

इस प्रकार पुलिस के हाथों से तो न्याय-दान व्यवस्था निकाल ली गयी, परंतु वह सामान्य प्रशासन के एक उपांग के रूप में ही रही आयी। गत शताब्दि के अंत में कमिश्नरों की मदद के लिये कुछ न्याय-सहायकों की नियुक्तियां हुईं। ये पूर्णतः न्यायाधिकारी थे और कमिश्नरों के अधीन नहीं थे। इन नियुक्तियों को इस प्रदेश में प्रशासन तथा न्याय व्यवस्था के वियोजन का पहला कदम मानना चाहिये। सन् १८८५ में कोर्टस् एक्ट के संशोधन द्वारा शासन को यह अधिकार भी दे दिया गया था कि उपायुक्तों की मदद के लिये दीवानी न्यायाधीशों तथा तहसीलदारों की मदद के लिये मुन्सिफों की नियुक्तियां करे। सन् १९०१ में कमिश्नरों से फौजदारी अधिकार भी निकाल लिये गये तथा प्रदेश के चार विभागों में पूर्वोक्त न्याय-सहायकों को विभागीय न्यायाधीश बना दिया गया।

सन् १९०४ में कोर्टस् एक्ट में आमूलाग्र परिवर्तन हुए और इसके फलस्वरूप दीवानी न्याय-व्यवस्था सामान्य प्रशासन से पूर्णतया वियुक्त हो गयी तथा न्याय-आयुक्त के तत्वावधान में विभागीय न्यायाधीशों जिला न्यायाधीशों, उप-न्यायाधीशों (सब-जजों) तथा मुंसिफों द्वारा ही सारे दीवानी मामले निर्णीत होने लगे। विभागीय न्यायाधीशों को सत्र (सेशन) के पूर्णाधिकार तथा दीवानी अपीलों के अधिकार दिये गये तथा अपने-अपने विभागों के न्याय कार्य का संचालन तथा निरीक्षण भी उन्हीं के जिम्मे किया गया। मुंसिफों को पांच सौ रुपयों तक के, सब-जजों को ५,००० रुपयों तक के तथा जिला न्यायाधीशों को अधिक मूल्यों के दावों के निर्णय के मौलिक अधिकार मिले। १,००० रुपयों तक के दावों के निर्णयों पर जिला न्यायाधीश को, ५,००० रुपयों तक के दावों के निर्णयों पर विभागीय न्यायाधीश को तथा अधिक मूल्य के दावों के निर्णयों पर न्याय आयुक्त को अपील के अधिकार प्राप्त हुए। अपील के निर्णय पर अपील सुनने के अधिकार केवल न्याय आयुक्त को ही दिये गये।

सन् १९०५ में बरार की न्याय-व्यवस्था सदा के लिये मूल मध्यप्रदेश की न्याय-व्यवस्था में सन्निहित हो गयी। उसके पूर्व बरार की न्याय-प्रणाली स्वतंत्र रूप से विकसित हो रही थी परंतु, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इस विकास की रूपरेखा मूल प्रदेश की न्याय-प्रणाली के विकास से तत्वतः भिन्न नहीं थी।

सन् १९१० में हत्या के मामलों की अपीलों तथा जटिल स्वरूप की दीवानी अपीलों के लिये न्याय आयुक्त के न्यायालय में एक से अधिक न्यायाधीश के संयुक्त न्यायपीठ (बेंच) के निर्माण की व्यवस्था हुई। इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे उक्त न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या चार तक पहुंच गयी। सन् १९३६ में इस प्रान्त में भी उच्च न्यायालय स्थापित हो गया जिसने न्याय-आयुक्त के न्यायालय का स्थान ले लिया।

सन् १९१७ में विभागीय न्यायाधीशों तथा मुंसिफों के पद समाप्त कर दिये गये। जिला न्यायाधीशों को विभागीय न्यायाधीशों के अधिकार दिये गये। द्वितीय श्रेणी के सब-जज को ५,००० रुपयों तक तथा प्रथम श्रेणी के सब-जजों को १०,००० रुपयों तक के दावों के मौलिक अधिकार दिये गये तथा जिला न्यायाधीश को ५,००० रुपयों तक के दावों के निर्णयों पर अपील सुनने तथा १०,००० रुपयों से ऊपर के दावों का निर्णय करने के अधिकार प्राप्त हुए। कुछ प्रथम श्रेणी के सब-जजों को व्यक्तिगत रूप से जिला जज के अधिकार भी दिये जाने लगे। अब अधीनस्थ न्यायाधीश (सब-जज) को व्यवहार न्यायाधीश (सिविल जज) कहा जा रहा है। अभी हाल में अपर जिला न्यायाधीशों का एक अलग वर्ग ही निर्मित हो गया है।

उपर्युक्त विकास-क्रम मुख्यतः दीवानी क्षेत्र का है। फौजदारी क्षेत्र में भारतीय दण्ड विधान तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रवर्तन ने शीघ्र ही व्यवस्था उत्पन्न कर दी। तदनुसार तीन श्रेणी के दण्डाधिकारी, सत्र-न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय विहित पद्धति के अनुसार अपराधिक मामलों तथा अपीलों के निर्णय दे रहे हैं। प्रथम श्रेणी के दण्डाधिकारियों के निर्णयों पर अपीलें तथा सत्र-प्रकरण तो उच्च न्यायालय के तत्वावधान में हैं परंतु निम्नतर श्रेणी के दण्डाधिकारियों के निर्णयों पर अपीलें तथा दण्डाधिकारियों द्वारा निर्णीत होनेवाले मामले जिला दण्डाधिकारियों के तत्वावधान में ही चल रहे हैं।

इस प्रदेश के निर्माण के बाद ही विपुलता तथा व्यापकता के साथ सभी क्षेत्रों में कायदों का निर्माण आरंभ हुआ। न्यायदान की प्रक्रिया, न्याय-शुल्क, आदि के संबंध में भी कायदे बनाये गये। अतएव यह अपेक्षित ही था कि अभिवक्ता (वकील) वर्ग भी शनैः शनैः एक व्यवस्थित ढांचे पर आधारित और आकारित हो।

जहां कायदों की बारीकियों का आश्लेषण-विश्लेषण निष्णात मस्तिष्कों द्वारा होता है, वहां निर्णयकर्ताओं का विधि-पण्डित होना भी आवश्यक हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि एक विशेष स्तर के ऊपर पंचायत प्रणाली नहीं जा सकती थी। कुछ तो इस कारण, और कुछ विदेशी शासन की मनोवृत्ति के फल-स्वरूप, सन् १८६१ के बाद पंचायत प्रणाली इस प्रदेश की न्याय-व्यवस्था से सर्वथा वियुक्त हो गयी।

परंतु सन् १९४७ में, जब कि देश स्वातंत्र्य के सिंहद्वार पर पहुंच चुका था, ग्रामीण क्षेत्रों में न्याय पंचायतों की प्रतिष्ठा के लिये कानून द्वारा व्यवस्था की गयी। आरंभ में तो इन पंचायतों के पंचों की नियुक्ति शासन द्वारा ही की गयी तथा कुछ ही क्षेत्रों में न्याय पंचायतें स्थापित हुईं, परंतु अंततोगत्वा समूचे प्रदेश में जनता द्वारा निर्वाचित पंचों द्वारा परिचालित पंचायतों की प्रतिष्ठा होनेवाली है तथा यह अभियान बहुत कुछ आगे बढ़ चुका है। इन पंचायतों के अधिकार छोटे-मोटे मामलों तक ही सीमित हैं परंतु वे दीवानी तथा फौजदारी दोनों ही क्षेत्रों को आवेष्ठित करते हैं। इन न्यायालयों की प्रक्रियाएं अत्यंत सीधी-सादी हैं और इनमें वकीलों का प्रवेश नहीं होता। इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील नहीं होती, परंतु घोर एवं स्पष्ट स्वरूप की चूकों के निराकरणार्थ उच्चतर श्रेणी के न्यायाधीशों द्वारा इन पंचायतों के निर्णयों के पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गयी है। आज की कानूनी जटिलताओं को देखते हुए इन पंचायतों के क्षेत्र और अधिकार किस परिमाण में विस्तृत हो सकते हैं, इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान पंचायतों की सफलता पर ही निर्भर है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता के नीचे जो अवैतनिक दण्डाधिकारी नियुक्त होते थे वे अधिकतर विदेशी शासन के हिमायती हुआ करते थे। सन् १९४७ में अवैतनिक दण्डाधिकारियों की इस परंपरा का अंत हो गया और सन् १९४७ में नगर न्याय पंचायतों की स्थापना की व्यवस्था हुई। इनके पंच भी आरंभ में शासन द्वारा नियुक्त हुए थे, परंतु अंततोगत्वा ये सब निर्वाचन द्वारा लिये जानेवाले हैं तथा इन पंचायतों का क्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तीर्ण हो रहा है। इन्हें प्रथम वर्ग तक के दण्डाधिकार हैं तथा ये छोटे-मोटे दीवानी मामलों का भी निर्णय करती हैं।

इस प्रकार दीवानी क्षेत्र में तो न्याय व्यवस्था अंशतः जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में और पूर्णतः प्रशासन व्यवस्था के बाहर आ चुकी है। फौजदारी क्षेत्र के उच्चतर स्तर में भी वह सामान्य प्रशासन के बंधनों से मुक्त हो चुकी है, परंतु सामान्य स्तर में वह अभी भी जिला दण्डाधिकारी द्वारा संचालित होती है। सन् १९५० में कुछ न्याय दण्डाधिकारियों (जज-मजिस्ट्रेटों) की नियुक्तियां हुईं, जो यथासंभव न्यायदान के अतिरिक्त और कोई प्रशासकीय कार्य नहीं करते। इनके निरीक्षण का अधिकार भी सत्र न्यायाधीशों को दे दिया गया है, यद्यपि ये जिला दण्डाधिकारी के अंकुश से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। यह रहा-सहा अंकुश दूर करने तथा न्याय-व्यवस्था को प्रशासन व्यवस्था से पूर्णतः वियुक्त करने का प्रश्न भी विचाराधीन है और इसका हल निकट भविष्य में ही हो जावेगा, ऐसी आशा की जाती है।

विकेन्द्रित शासन-व्यवस्था की कुछ समस्याएं

श्री अमरेश्वर अवस्थी

विकेन्द्रित शासन-व्यवस्था का सर्वोत्कृष्ट नमूना स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में पाया जाता है। स्थानीय शासन की अनेक समस्याओं में सर्वाधिक पेचीदा समस्या इन समस्याओं पर केन्द्रीय नियंत्रण की है।

सन् १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के लगभग प्रत्येक राज्य में स्थानीय संस्थाओं के ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इन संस्थाओं की बनावट प्रजातांत्रिक आधार पर कर दी गयी है; उनके कार्य बढ़ा दिये गये हैं; उनके अधिकार विस्तृत हो गये हैं तथा उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ की जा रही है। किन्तु, साथ साथ इन संस्थाओं पर राज्य सरकार का नियंत्रण कम होने के बजाय बढ़ गया है। इस बात को लेकर काफी आलोचना की गयी है।

किन्तु, यदि हम ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य देशों की स्थानीय शासन-व्यवस्था का अध्ययन करें तो पता चलता है कि भारत की तरह अन्य देशों में भी आधुनिक प्रवृत्ति स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय नियंत्रण को विस्तृत करने की है। स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय नियंत्रण की आवश्यकता अब सर्वमान्य हो गयी है। सच तो यह है कि केन्द्रीय एवं स्थानीय शासन एक ही शासन व्यवस्था के अंग हैं और स्थानीय संस्थाएं अपने सीमित क्षेत्रों में जिस सत्ता का प्रयोग करती हैं वह केन्द्रीय सरकार द्वारा ही उनको दी जाती है। उनकी स्वतः कोई सत्ता नहीं होती। अतएव, जब कोई स्थानीय संस्था सुगठित प्रशासन के मौलिक सिद्धान्त का उल्लंघन करती है अथवा उस क्षेत्र के हितों पर किसी प्रकार आघात करती है, तब यह अनिवार्य हो जाता है कि उससे उच्च, निष्पक्ष तथा अधिक कार्यकुशल सत्ता उस मामले में हस्तक्षेप करे। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि प्रजातंत्रात्मक राज्य में स्थानीय एवं केन्द्रीय शासन के हितों में कोई विरोध नहीं होता है। प्रजातंत्रीय भारतीय गणराज्य के लिए भी यही बात लागू है। अतएव, विचारणीय प्रश्न केन्द्रीय नियंत्रण की सार्थकता न होकर उस नियंत्रण को अमल में लाने के समुचित साधनों का है।

भारत के अन्य राज्यों के समान मध्यप्रदेश में भी राज्य सरकार स्थानीय संस्थाओं पर या तो प्रत्यक्ष रूप से स्वयं नियंत्रण करती है या अप्रत्यक्ष रूप से अपने पदाधिकारियों द्वारा करती है। संक्षेप में, राज्य सरकार के नियंत्रण की आदेशिका इस प्रकार है :—स्थानीय शासन के विभिन्न विभागों का पर्यवेक्षण और नियंत्रण उस जिले के उन सरकारी विभागों के सर्वोच्च पदाधिकारी करते हैं। उदाहरणार्थ, लोक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा का निर्देशन एवं पर्यवेक्षण सिविल सर्जन करता है, शिक्षा विभाग का स्कूलों का डिप्टी इंस्पेक्टर और लोक कर्म विभाग का एक्जिक्यूटिव इंजिनियर। इनके अतिरिक्त, शक्तिशाली उपायुक्त को अनेक अधिकार प्राप्त हैं जिनके द्वारा वह स्थानीय संस्थाओं का पर्यवेक्षण, नियंत्रण एवं निर्देशन करता है। इसी प्रकार इन संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था का विस्तृत नियंत्रण लेखा-परीक्षा विभाग द्वारा किया जाता है। इन सबसे कहीं अधिक अधिकार राज्य सरकार को प्राप्त हैं। वह स्थानीय संस्थाओं को निश्चित कार्य करने के लिए बाध्य कर सकती है और आपद्काल में उनको निश्चित अवधि के लिए विघटित भी कर सकती है।

किन्तु, अनुभव यह है कि स्थानीय संस्थाओं का पर्यवेक्षण तथा देखरेख समुचित रूप से नहीं होते। इसके कई कारण हो सकते हैं। सरकारी पदाधिकारी या तो अपने ही सरकारी कामों में इतने संलग्न रहते हैं कि उनके पास इतना अवकाश नहीं रहता कि वे स्थानीय निकायों की सुचारु रूप से देखरेख कर सकें अथवा वे इन विषयों के प्रति उदासीन रहते हैं। इसके अतिरिक्त इन पदाधिकारियों को स्थानीय स्वशासन की परम्पराओं की न तो पूरी जानकारी होती है और न स्थानीय समस्याओं के प्रति उनमें आवश्यक सहानुभूति ही पायी जाती है। साधारणतः वे स्थानीय निकायों को या तो फालतू समझते हैं या आवश्यक दोषपूर्ण संस्था मानते हैं। अतएव, एक समुचित पर्यवेक्षक अभिकरण के अभाव से स्थानीय निकायों को बहुत हानि हुई है। इस बात से मध्यप्रदेश जनपद जांच समिति (१९५२) भी सहमत है।

१९२० के पहिले भी स्थानीय निकायों की देखरेख के लिए एक पर्यवेक्षक और नियंत्रक अभिकरण की आवश्यकता महसूस की गई थी। इसी आशय से सी. पी. स्थानीय स्वशासन विधेयक (१९१९) के प्रारूप में एक "केन्द्रीय नियंत्रक मंडली" का आयोजन किया गया था। अन्त में यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका तथापि स्थानीय निकायों के लिए एक

पृथक पर्यवेक्षक अभिकरण की जरूरत मान ली गई और सी. पी. स्थानीय स्वशासन अधिनियम (१९२०) में पर्यवेक्षक पदाधिकारियों की नियुक्ति का आयोजन किया गया (अनुच्छेद ६६)। इस अनुच्छेद के अनुसार पर्यवेक्षकों की नियुक्ति का प्रश्न उठा। किन्तु, इस वर्ष की आयुक्तों की परिषद् ने नवीन और पृथक पर्यवेक्षकों की नियुक्ति का विरोध किया तथा यह सिफारिश की कि पहिले की तरह स्थानीय निकायों के पर्यवेक्षण का कार्य सरकारी विभागों के पदाधिकारियों द्वारा ही किया जाये। अतः १९२० के अधिनियम के ६६वें अनुच्छेद को अमल में नहीं लाया जा सका। किन्तु, १९४७ में अपने राज्य की स्थानीय शासन-व्यवस्था के पुनर्गठन के अवसर पर यह प्रश्न फिर उठा और १९४८ के नवीन "स्थानीय स्वशासन अधिनियम" में पुनः स्थानीय शासन की जांच व देखरेख के लिए पर्यवेक्षकों की नियुक्ति का आयोजन किया गया (अनुच्छेद ९८)। किन्तु अभी तक इस दिशा में कोई कार्रवाई नहीं हुई। जनपद जांच समिति ने भी इस ओर राज्य सरकार का ध्यान आकर्षित किया है।

यह समस्या केवल मध्यप्रदेश की ही नहीं है। अन्य राज्यों में भी स्थानीय स्वशासन संस्थाओं पर बाहरी नियंत्रण के उचित साधनों का विषय विचाराधीन है। इस सम्बन्ध में कई सुझाव भी पेश किये जा चुके हैं। इस सिलसिले में दो प्रश्न उठते हैं: (१) यह नियंत्रण स्थानीय शासन विभाग के द्वारा होना चाहिये अथवा इसके लिए पृथक निकाय का संगठन आवश्यक है; और (२) पर्यवेक्षण का कार्य सरकारी पदाधिकारियों द्वारा होना चाहिये अथवा उसके लिए पृथक पदाधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिये।

पहिले प्रश्न के सम्बन्ध में यू. पी. स्थानीय स्वशासन समिति (१९३९) ने अपने प्रतिवेदन में यह सुझाव दिया था कि स्थानीय निकायों पर नियंत्रण का कार्य एक पृथक "स्थानीय स्वशासन मण्डली" के हाथ में सौंपना चाहिये। वर्तमान स्थानीय शासन विभाग के विरुद्ध शिकायत यह है कि वह स्थानीय शासन की समस्याओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता। जनपद जांच समिति के समक्ष गवाही देते हुए एक उच्च सरकारी पदाधिकारी ने स्वीकार किया कि सरकारी विभाग स्थानीय समस्याओं के निबटाने में प्रायः सुस्त एवं उदासीन रहा है और स्थानीय निकायों को आवश्यक सहायता एवं निर्देशन देने में असफल रहा है। किन्तु, यह दृष्टिकोण सर्वमान्य नहीं है। नागपुर विश्वविद्यालय के सार्वजनिक प्रशासन तथा स्थानीय स्वशासन विभाग के अध्यक्ष डाक्टर महादेवप्रसाद शर्मा तथा इस विषय के वेत्ता प्रोफेसर वेंकटरंगय्या एक पृथक मण्डली के संगठन की आवश्यकता नहीं समझते। लेखक के मतानुसार इन दो दृष्टिकोणों का समन्वय किया जा सकता है। उसका सुझाव यह है कि स्थानीय निकायों पर राज्य सरकार के नियंत्रण के प्रयोग के लिए एक "स्थानीय शासन मण्डली" की रचना होनी चाहिये। इस मण्डली का अध्यक्ष स्थानीय शासन विभाग का मंत्री तथा इसके सदस्यों में एक शिक्षा विशेषज्ञ, एक लोक स्वास्थ्य विशेषज्ञ, एक इंजिनियर तथा दो या तीन ऐसे व्यक्ति हों जो स्थानीय समस्याओं की खूब जानकारी रखते हों। इस मण्डली का सेक्रेटरी "स्थानीय अधिकारियों का निर्देशक" के समान स्थानीय शासन विभाग का प्रधान हो। जनपद जांच समिति ने भी बम्बई राज्य की तरह अपने राज्य में भी ऐसे पदाधिकारी की नियुक्ति की सिफारिश की है। इस पद पर ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति होनी चाहिये जिसने भारत और अन्य देशों में चालू स्थानीय शासन-व्यवस्था का विशेष अध्ययन किया हो। यह मण्डली विभिन्न स्थानीय निकायों के कार्यों की देखरेख करेगी तथा उनका पर्यवेक्षण, नियंत्रण और निर्देशन करेगी। साथ ही साथ वह राज्य भर में स्थानीय सेवाओं के विकास के लिए योजना तैयार करेगी और उसको कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होगी।

जहां तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है स्थानीय शासन के विशेषज्ञों के अनुसार विशिष्ट सेवाओं की देखरेख और पर्यवेक्षण का कार्य चालू व्यवस्था के अनुसार सरकारी पदाधिकारियों के हाथों में ही रहना चाहिये क्योंकि स्थानीय निकायों के पास उस स्तर के अधिकारियों को नियुक्त करने के साधन नहीं हैं। यदि इस कार्य के लिए सरकारी पदाधिकारियों की संख्या पर्याप्त न हो तो सरकार उसमें वृद्धि कर सकती है। इनके अतिरिक्त, साधारण पर्यवेक्षण के लिए पृथक पर्यवेक्षकों की नियुक्ति होनी चाहिए। इनकी संख्या आवश्यकता के अनुसार निर्धारित की जा सकती है। इन पर्यवेक्षकों को स्थानीय प्रशासन, कानून व वित्तीय व्यवस्था का विशेष अध्ययन व जानकारी होनी चाहिये। इन पदाधिकारियों का काम होगा—स्थानीय संस्थाओं के प्रस्तावों एवं निर्णयों की जांच करना, उनके कानूनों व नियमों को लागू करना, और उनकी त्रुटियों तथा कुकृत्यों को राज्य सरकार की निगाह में लाना। स्मरणीय है कि मद्रास राज्य में पृथक पर्यवेक्षकों की नियुक्ति की जाती है।

अद्वैत वेदान्त में अनध्यस्त-विवर्त के नए सिद्धान्त का आविष्कार

श्री वा. ना. पंडित

ईश्वर जगत् और जीव का परब्रम्ह से कार्यकारण सम्बन्ध बतलाने के लिये भारतीय दर्शनशास्त्रों में भिन्न भिन्न प्रकार के 'वाद' स्वीकृत किए गए हैं। उनमें आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्तवाद ये तीन प्रमुख हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रणेता भगवान् श्री. शंकराचार्य ने इनमें से विवर्तवाद को स्वीकार किया है। इस विवर्तवाद के दृष्टान्त रज्जु-सर्प या शुक्तिका-रजत ये है और इसी विवर्त को मायावाद, अज्ञानवाद, भ्रमवाद या अध्यासवाद कहते हैं। विवर्त शब्द का अर्थ है विशेष रूप से प्रतीत होना (विशेषेण वर्तते इति विवर्तः)। अनध्यस्त विवर्त के इस नए सिद्धांत का सम्बन्ध शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त से ही होने के कारण प्राधान्येन अद्वैत वेदान्त का ही विचार हमें यहां करना है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में परब्रम्ह का स्वरूप सच्चित् और आनंद माना गया है। परब्रम्ह से ही जगत् तथा जीव की उत्पत्ति शास्त्रों में बतलाई गई है (जन्माद्यस्य यतः)। अतः सच्चित् और आनंद रूप ब्रह्म ही जगत् और जीव का कारण है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार कार्य नाम की कारण से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। कारण ही इस विशेष अवस्था से कार्य कहलाया जाता है। उदाहरण के लिये मिट्टी का घड़ा लीजिए। मिट्टी से ही वह तैयार किया जाता है इसलिये उस घड़े का कारण मिट्टी कहलाई जाती है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से जब घड़े का विचार किया जाता है तब यह दिखाई देता है कि मिट्टी के अतिरिक्त घड़ा नाम की कोई चीज नहीं है। मिट्टी को ही विशेष आकार तथा नाम रूप आदि देकर घड़ा हम कहते हैं और इसलिये घड़ा जब नष्ट हो जाता है तो पुनः उसकी मिट्टी बन जाती है। स्पष्ट है कि मिट्टी और घड़ा इन दोनों में एक ही वस्तु मिट्टी विद्यमान है। किन्तु विशेष नाम, रूप तथा व्यवहार के कारण मिट्टी को ही हम घड़ा कहते हैं। इस दृष्टि से यद्यपि घड़े का कारण हम मिट्टी कह सकते हैं और मिट्टी का कार्य घड़ा कह सकते हैं तथापि तात्त्विक दृष्टि से ये दो स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। मिट्टी का ही विशेष रूप घड़ा है और इस दृष्टि से घड़े को मिट्टी का विवर्त अथवा मिट्टी की विशेष अवस्था कही जा सकती है। यही स्थिति सोने पर प्रतीत होनेवाले अलंकारों की है। सुवर्ण और अलंकार यद्यपि शब्दभेद से भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि अलंकार नाम की सोने से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। सुवर्ण ही भिन्न नाम रूप से अलंकार कहलाया जाता है। अतः सुवर्ण के अधिष्ठान पर या आधार पर अलंकार विवर्त है। शांकर तत्त्वज्ञान में जीव तथा जगत् का परब्रम्ह से कार्यकारण सम्बन्ध बतलाने के लिये सुवर्णालंकार या मृत्तिका-कुंभ इस प्रकार के दृष्टान्त दिये गए हैं और ये सब विवर्त के दृष्टान्त हैं।

जिस प्रकार सुवर्णालंकार, मृत्तिका-घट इत्यादि दृष्टान्त जीव-जगत् का परब्रम्ह से कार्यकारण सम्बन्ध बताने के लिये दिये गये हैं उसी प्रकार से शुक्तिका-रजत् और रज्जू-सर्प इत्यादि दृष्टान्त भी दिये गये हैं। रज्जु पर भासमान होनेवाला सर्प, रज्जु से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। रज्जु ही अपने अज्ञान के कारण सर्प रूप से अपने को प्रतीत होती है। इसी प्रकार शुक्तिका पर होनेवाले रजत् के भास में शुक्तिका का ही ज्ञान वास्तव में हमें होता है। किन्तु हम वह न जानते हुए रजत् नाम की कोई अन्य वस्तु वहां समझते हैं। इन दोनों उदाहरणों में अधिष्ठान-रूप मूल वस्तु ही विशेष रूप से हमें प्रतीत होती है। इसलिये इन दोनों में प्रतीत होनेवाले सर्प या रजत् अनुक्रम में रज्जु तथा शुक्तिका के विवर्त कहलाए जाते हैं। शांकर वेदान्त में ईश्वर, जीव तथा जगत् का परब्रम्ह से कार्यकारण सम्बन्ध बतलाने के लिये इन दोनों प्रकार के उदाहरणों का उपयोग किया गया है और इन दोनों उदाहरणों में रहने वाले कार्यकारण सम्बन्ध को विवर्तरूप कार्यकारण सम्बन्ध कहा गया है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का विचार किया जाए तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि इन दोनों प्रकार के दृष्टान्तों में अधिष्ठान की विशेष रूप से प्रतीति होने के कारण प्रतीयमान अथवा भासमान वस्तु ही विवर्त मानी गई है तथापि इन दोनों दृष्टान्तों में एक मूलभूत भेद है। वह भेद यह है कि सुवर्णालंकार के दृष्टान्त में अलंकार की प्रतीति होते समय अधिष्ठान रूप सुवर्ण का ज्ञान नष्ट नहीं होता। अधिष्ठान रूप सुवर्ण का ज्ञान कायम रखकर ही अलंकारों की प्रतीति होती है। किन्तु यह स्थिति रज्जु-सर्प या शुक्तिका-रजत् के दृष्टान्तों में नहीं है। वहां तो सर्प या शुक्तिका की प्रतीति रज्जु तथा शुक्तिका के ज्ञान का लोप हुए बिना नहीं हो सकती। अतः संक्षेप में यह कहा

जा सकता है कि सुवर्णालंकार या मृत्तिका-घट इत्यादि दृष्टान्तों में अधिष्ठान के ज्ञान का लोप होकर प्रतीति नहीं होती है। किन्तु रज्जु-सर्प में अधिष्ठान के ज्ञान का लोप होकर प्रतीति होती है। अतः यद्यपि यह सभी विवर्तों के उदाहरण माने जा सकते हैं तथापि इन दोनों में भेद करने की दृष्टि से सामान्य रूप से उपयोग में लाए जानेवाले विवर्त शब्द में कुछ भेद दर्शक विशेषण उसमें लगाना आवश्यक है।

शांकर वेदान्त में यद्यपि इन दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का उपयोग ईश्वर-जीव, तथा जगत् का ब्रम्ह से सम्बन्ध बतलाने के लिये किया गया है तथापि सूक्ष्म रूप से यदि उन पर विचार किया जाये तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनमें से रज्जु-सर्प या शुक्तिका-रजत् इत्यादि दृष्टान्तों का प्रयोग ज्ञानपूर्वक प्रतीत होनेवाले जीव तथा जगत् के लिये किया गया है। ज्ञानोत्तर प्रतीत होनेवाले जीव तथा जगत् के लिये अर्थात दूसरे प्रकार के सुवर्णालंकार या मृत्तिका-घट इत्यादि दृष्टान्तों का उपयोग किया गया है। शांकर वेदान्त का प्रसिद्ध सिद्धान्त यह है कि ब्रम्ह सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रम्ह रूप है, उससे वह दूसरा नहीं है (ब्रम्ह सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रम्हैव नापरः)। इस सिद्धान्त के दो भाग होते हैं। पूर्व भाग है ब्रम्ह सत्य और दूसरा भाग है जगन्मिथ्या। सिद्धान्त तो यही है कि जो जो प्रतीयमान है वह सब ब्रम्ह है। इसी का अर्थ है प्रतीयमान सब सच्चिदानंद स्वरूप है। क्योंकि ब्रम्ह का लक्षण सच्चित् और आनन्द है। यद्यपि सभी ब्रम्ह रूप हैं और इसी का अर्थ सब सच्चिदानन्द-रूप है तथापि इस प्रकार की प्रतीति जन-साधारण को नहीं होती। जन-साधारण तो इसके विपरीत असत् जड़ और दुःख इत्यादि गुणों से युक्त जगत् नाम की कोई वस्तु है ऐसा समझते हैं और यह प्रतीति सच्चिदानन्द-रूप ब्रम्ह की विरोधी है। शंकराचार्य कहते हैं कि सच्चिदानन्द-रूप ब्रम्ह से निकले हुए जगत् और जीव तत्त्वतः सच्चिदानन्द रूप ही होने चाहिये और सभी का अनुभव भी इसी प्रकार का होना चाहिये। यदि ऐसा अनुभव आता न हो तो हमारे ज्ञान या दृष्टिकोण में कुछ त्रुटियां हैं। इसी को हम विपरीत ज्ञान या अज्ञान कहते हैं। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। अज्ञान का मतलब विपरीत ज्ञान है। जिन लोगों को जगत् और जीव का अनुभव सच्चित् और आनन्द रूप से आता है वे यथार्थ ज्ञानी कहलाये जाते हैं। शुकाचार्य इत्यादि सभी महानुभावों का अनुभव सच्चिदानन्द रूप होने के कारण शंकराचार्य उन महात्माओं के ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहते हैं और उन महात्माओं को यथार्थ ज्ञानी अथवा परब्रम्ह रूप मानते हैं। हम जैसे लोगों का अनुभव इन महात्माओं के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण वे हमारे अनुभव को गलत अनुभव कहते हैं। उसी का दूसरा नाम है अज्ञान। इस विपरीत अयथार्थ प्रतीति को हटाने के लिये उन्होंने इस विपरीत धर्मों से प्रतीत होनेवाले जगत् को मिथ्या, भ्रमरूप व अज्ञानरूप कहा है। अर्थात् शंकराचार्य के तत्वज्ञान में मायावाद, भ्रमवाद, अज्ञानवाद, अध्यासवाद इत्यादि नामों से व्यवहृत होनेवाला विवर्तवाद, सच्चिदानन्द रूप के विपरीत धर्मों से प्रतीत होनेवाले जीव तथा जगत् के सम्बन्ध में लागू किया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान की निवृत्ति के बाद केवल एक ब्रम्ह के सिवाय दूसरी कोई वस्तु अवशिष्ठ नहीं रहती और ज्ञानोत्तर सभी नामरूप आकार सच्चिदानन्द-रूप ब्रम्ह के वाचक होते हैं। श्री शंकराचार्य ने 'छान्दोग्यउपनिषद' में स्पष्ट रूप से कहा है कि सद्रूप ब्रम्ह से एकरूपता से प्रतीयमान होनेवाला सभी व्यवहार और सभी विकार सत्य ही हैं। सद्रूप ब्रम्ह से उन्हें यदि अलग समझते हो तो वे सब मिथ्या या भ्रमरूप हैं। (अतः सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं, सतोऽन्यत्वे चानृतत्वमिति। छान्दोग्य ६-३-२)। स्पष्ट है कि ब्रम्ह के भिन्न धर्मों से प्रतीत होनेवाले पदार्थों के वाचक नाम रूपादि के यद्यपि मिथ्या या भ्रमरूप कहे जा सकते हैं, तथापि ज्ञानोत्तर ब्रम्ह के वाचक होनेवाले नाम रूपादि मिथ्या या भ्रमरूप नहीं कहे जा सकते। अर्थात् ज्ञानपूर्व परब्रम्ह रूप अधिष्ठान पर नाम रूपादिक जो विवर्त हैं वे ज्ञानोत्तर उसी प्रकार के विवर्त नहीं हो सकते। ज्ञानपूर्वक व ज्ञानोत्तर जो ये दो विवर्त रहते हैं उन्हीं का भेद बतलाने के लिये इन दो प्रकार के दृष्टान्तों का शांकर तत्वज्ञान में उपयोग किया गया है। ज्ञानपूर्वक विवर्त में अज्ञान रहने के कारण उसे अज्ञानपूर्वक विवर्त कहा जा सकता है और ज्ञानोत्तर अज्ञान की निवृत्ति होने के कारण उसे ज्ञानपूर्वक विवर्त कहा जा सके। यह ज्ञान और अज्ञान का भेद अधिष्ठान के ज्ञान अथवा अज्ञान को ध्यान में रखकर किया गया है। अर्थात् अधिष्ठान का ज्ञान जिसमें लुप्त होकर अधिष्ठान के धर्मों के विपरीत धर्मों की प्रतीति होती है उसे अज्ञानपूर्वक विवर्त कहना होगा और इसके विरुद्ध जिसमें अधिष्ठान के ज्ञान को कायम रखकर प्रतीति होती है उसे ज्ञानपूर्वक विवर्त कहना होगा।

ज्ञान होने के बाद ज्ञानी की मुक्ति की सत्ता किस प्रकार मानी जाए यह प्रश्न शांकर वेदान्त में उपस्थित किया गया है। यदि मुक्ति की सत्ता सद्रूप मानी जाती है तो ब्रम्ह एक ही सत्य होने के कारण द्वैत निर्माण होगा। यह यदि असत्य मानी जाती है तो उसे अज्ञानरूप मानना होगा। किन्तु यह स्थिति अज्ञान का नाश कर प्राप्त हो जाने के कारण उसे अज्ञानरूप नहीं माना जा सकता। यदि सदसद्रूप माना जाता है तो ये दोनों धर्म विरुद्ध होने के कारण उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि उसे सदसद्रूप से भिन्न अनिर्वचनीय माना जाय तो वह भी संभव नहीं है क्योंकि

अनिर्वचनीय सत्ता भ्रम की या अज्ञान की होती है। फिर इसे किस प्रकार माना जाए ? अद्वैत वेदान्त में कई विद्वानों ने इसे पंचम प्रकारक माना है। इसका कारण यह है कि चारों प्रकार के अन्तर्गत वह नहीं आ सकती। ज्ञानी पुरुष विदेह मुक्ति की प्राप्ति होने तक तो स्फुरणरूप रहता है। उसकी यह दशा अद्वैत रूप होने के कारण यद्यपि द्वैत-मूलक नहीं मानी जा सकती तथापि स्फुरणरूप होने के कारण पूर्णतया अभिन्न भी नहीं मानी जा सकती। इस दशा में स्फुरण होने के कारण विदेह मुक्ति समान वह एकरूप नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में वह दशा स्फुरणरूप होने के कारण उसका अस्तित्व विवर्तरूप है किन्तु उसमें अधिष्ठान के ज्ञान का लोप होने का दोष न होने के कारण उसकी विवर्तता अज्ञानयुक्त विवर्तता के समान नहीं है। उसका स्वरूप बतलाने के लिये यदि दृष्टान्त ही देना हो तो यह कहा जा सकता है कि सुवर्ण पर प्रतीयमान होने वाले अलंकार के समान सच्चिदानंदरूप ब्रम्ह पर प्रतीयमान होने वाला वह ज्ञानरूप ब्रम्ह या चैतन्य का स्फुरण है। उसकी विवर्तता इस अवस्था में भी कायम रहती है। किन्तु अज्ञानजन्य विवर्तता से भेद बतलाने के लिये दूसरा कोई समर्पक शब्द अद्वैत वेदान्त में उपयोग में नहीं लाया गया है। अद्वैत वेदान्त के कतिपय ग्रंथों में इसे पंचम प्रकारक कहा गया है ; लेकिन उस पंचम प्रकारक की कल्पना अद्वैत वेदान्त का अध्ययन करने वाले विद्वानों को व्यवस्थित रूप से नहीं आ पाती। उसे समुचित शब्द से व्यक्त करना आवश्यक है।

इस स्थिति को समुचित शब्द में व्यक्त करने का पहला महान् यत्न विदर्भ के प्रसिद्ध जन्मान्ध संत श्री गुलाबराव महाराज ने भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में पहली बार किया है। उन्होंने शांकर वेदान्त का विवर्त शब्द लेकर उसमें अन्तर्भूत रहने वाले अज्ञान की कल्पना निकालने के लिये अनभ्यस्त शब्द का प्रयोग किया। अधिष्ठान और भास में प्रतीत होने वाले भेद को मिटाकर तथा अधिष्ठान के ज्ञान को कायम रखकर जो भास रहता है उसकी सत्ता विकारक है पर विशेष रूप प्रतीति होने के कारण विवर्त यह कहलाया जाता है, तथापि वह विवर्तता अधिष्ठान का ज्ञान लुप्त कर न रहने के कारण उसे अध्यस्त नहीं कहा जा सकता। रज्जु-सर्प, शुक्तिका-रजत इत्यादि दृष्टान्त इसी दृष्टि से अध्यस्त कहे जाते हैं और ज्ञानोत्तर रहने वाले ज्ञानी की स्थिति तथा ज्ञानोत्तर प्रतीत होने वाला नाम, रूपात्मक जगत्, ज्ञानी की ज्ञान दशा, ईश्वर तथा शरीरधारी होते हुए भी सच्चिदानंद रूप रहने वाले भगवान् के अवतार, शरीर इत्यादि अनभ्यस्त विवर्त कहे जाते हैं। शांकर वेदान्त के पूर्णतया अनुयायी होते हुए भी अद्वैत सिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती, अप्पैया दीक्षित, श्रीधराचार्य इत्यादि ज्ञानियों ने ज्ञानोत्तर भक्ति को स्वीकार किया है और उनकी भक्ति का आलंबन जो भगवद्विग्रह है, वह अनभ्यस्त विवर्त होने के कारण उनके अद्वैत ज्ञान में विरोध उत्पन्न नहीं हो पाता। महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के आचार्य श्री ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि तथा हिन्दी के तुलसीदास इत्यादि संतों ने अद्वैत तत्वज्ञान को पूर्णतया स्वीकार किया है। फिर भी उन्होंने भक्ति का प्रतिपादन किया है। इस प्रतिपादन को देखकर कई विद्वानों के सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि इन संतों ने अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय किस किस प्रकार किया। यह समस्या एक ही पारिभाषिक शब्द से हल हो सकती थी और वह शब्द है अनभ्यस्त विवर्त। भगवान् और भक्तों के प्रेम-व्यवहार में भगवान् और भक्तों के शरीर अनभ्यस्त विवर्त रूप होने के कारण वे ब्रम्ह से भिन्न नहीं रहते, तुलसीदासजी के सगुण ब्रम्ह भगवान् श्री रामचंद्रजी, इस दृष्टि से अनभ्यस्त विवर्त होने के कारण उनका अद्वैत ज्ञान तथा श्री रामचंद्रजी के आलंबन को लेकर उनके द्वारा की गई भक्ति उनके तत्वज्ञान के विरोधी नहीं है। ज्ञान और भक्ति का समन्वय इस नए सिद्धान्त से तत्वज्ञान के इतिहास में श्री गुलाबराव महाराज ने किया है और इस मध्यप्रदेश की जनता की दृष्टि से एक गौरव और अभिमान की बात यह है कि इस नए सिद्धान्त के आविष्कारकर्त्ता इसी प्रान्त के हैं। श्री गुलाबराव महाराज का जन्म अमरावती जिले में माधान गांव में १८८१ में हुआ और १९१५ में वे ब्रम्हीभूत हो गए। वे जन्मान्ध थे। उन्होंने अपनी केवल ३४ वर्ष की आयु में वेदान्त, साहित्य, आयुर्वेद इत्यादि विविध विषयों पर २४ ग्रंथ मराठी में लिखे हैं। उनके सभी ग्रंथों में प्रायः इस अनभ्यस्त विवर्त के सिद्धान्त का विवरण आया है जो उनकी अलौकिक बुद्धिमत्ता का परिचायक है।

मध्यप्रदेश में ग्रामीण जागृति

श्री गोरेलाल शुक्ल

इस देश के जीवन में किसी भी राजसत्ता ने गांव गांव का जीवन नियंत्रित करने का प्रयास नहीं किया। पुराण और इतिहास इस बात की पुष्टि करते हैं। गांव की व्यवस्था और नियंत्रण वहीं के रहनेवाले कुछ व्यक्ति किया करते थे, जिन्हें स्थानिक जनता का विश्वास और आदर प्राप्त रहता था। इसे आज हम पंचायत प्रथा के नाम से जानते हैं। रामायण काल में पांच पंचों की राय से ही राजकाज चलाया जाता था, भले ही वह गांव के स्तर पर हो या राजधानी के स्तर पर। महाभारत काल में भी यही परिपाटी थी। शरशय्या पर पड़े भीष्म पितामह के पास जब पांडवगण मार्गदर्शन के लिये पहुंचे तब पितामह के कुशल प्रश्नों में एक प्रश्न ग्रामणी के विषय में था। ये ग्रामणी वर्तमान समय के पंचों के पर्याय थे। मौर्य काल से लेकर मराठों के समय तक पंचायतों का अस्तित्व इतिहास की सामग्री है।

उत्तरदायित्व देने से ही उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है। हमारे इतिहास में जब तक पंचायत प्रथा सजीव रही तब तक ग्राम्य क्षेत्रों की जनता सबल, स्वावलम्बी और सुखी रही यह निर्विवाद है। गत दो तीन सौ वर्षों में सत्ता का उत्तरोत्तर केन्द्रीकरण होता गया। सदियों से जो जिम्मेदारियां गांवों के हाथ में थीं वे क्रमशः लुप्त होती गईं और उसी अनुपात में वहां की जनता परमुखापेक्षी और अकर्मण्य बनती गई।

यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी कि गांवों को स्वयंपूर्ण बना देने से ही देश सुखी और बलशाली हो जायेगा। देश एक श्रृंखला है। सात लाख गांव इसकी कड़ियां हैं। अलग अलग कड़ियों का कोई मूल्य नहीं; उनमें कोई शक्ति नहीं। किन्तु जब कड़ियां श्रृंखलाबद्ध होती हैं तब सशक्त बनती हैं और सार्थक भी। गांवों का स्वायत्त शासन इस बड़ी तसवीर को सामने रखकर चले तभी देश सुखी और सबल बनेगा। जब तक देश में शांति रही और आवागमन निरापद रहा तब तक गांवों का जीवन उन्मुक्त रहा और राष्ट्रीय जीवन को उनसे पोषण मिलता रहा। ग्यारहवीं सदी के आसपास देश की जीवन-धारा कुंठित हुई। न केवल राजनीतिक क्षेत्र में बड़े बड़े उतार चढ़ाव आने शुरू हुये वरन् सामाजिक क्षेत्र में एक भूचाल ही आ गया। धार्मिक एकता की भावना से अनुप्राणित और ऊंच-नीच के भेदभाव से रहित एक विदेशी समाज का धक्का हमारा जर्जरित समाज न सह सका और उसके पैर लड़खड़ाने लगे। अराजकता और सामाजिक संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि हमारा ग्रामीण जीवन अधिकाधिक अंतर्मुखी बनता गया। बाहर की दुनिया से उसका सम्पर्क कम होता चला गया और कूपमंडूकता घर करती गई। गत तीन सौ वर्षों में गांवों पर दुहरी मार पड़ी। देश के एक सजीव अंग होने की भावना तो उनमें रही ही नहीं ऊपर से रही सही जिम्मेदारियां भी उनसे छीन ली गईं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि बहिरंग की दरिद्रता अनिवार्यतः अंतरंग को भी दरिद्र बना देती है। हमारे गांव धन से दरिद्र तो थे ही, मन से भी दरिद्र हो गये। अज्ञान ने अंगद के समान पांव जमाये। आशा और उमंग का स्थान नीरसता और निराशा ने ले लिया। जीवन परिश्रम और बुभुक्षा का एक शुष्क क्रममात्र रह गया।

आज से प्रायः पचीस वर्ष पूर्व ग्रामीण जीवन की अमावस्या थी, यह कहना अत्युक्ति न होगा। ऐसा गहरा अन्धकार छाया हुआ था कि कहीं से प्रकाश की एक रेखा भी दृष्टिगोचर नहीं होती थी। स्वयं अपने हित के लिये प्रयत्न करना तो कोसों दूर रहा, ऐसी बातों की ओर लोग कान तक नहीं देते थे। यह जड़भरत का वैराग्य नहीं था, जिससे देवता प्रसन्न होते थे। यह कुम्भकर्ण की निद्रा थी, जिस पर देश के हितचिन्तक आंसू बहाते थे। मध्यप्रदेश के गांव कोई अपवाद नहीं थे। सन् १९२० ई. में एक पंचायत अधिनियम द्वारा गांवों को कुछ जिम्मेदारियां दी गईं। पर इनका क्षेत्र इतना संकुचित था कि ग्रामीण जीवन पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। योजना निष्प्राण थी अतः गतिहीन थी। २५ वर्षों में केवल १,१०० पंचायतें मध्यप्रदेश में स्थापित हो पाईं, जबकि गांवों की संख्या ४८,००० है। तहसील के स्तर पर लोकल बोर्ड और जिले की सतह पर डिस्ट्रिक्ट कौंसिल काम कर रही थीं। किन्तु उनका विधायक कार्य शिक्षा तक ही सीमित था। उनकी दो प्रमुख कमजोरियां थीं जो उनकी कार्यक्षमता को अत्यधिक सीमित बनाती थीं। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं और सरकार के बीच एक गहरी खाई थी। दोनों अपने ढंग काम

किया करती थीं और परस्पर कोई समन्वय नहीं था। इससे इन संस्थाओं को सरकारी संगठन और साधनों का कोई लाभ नहीं मिलता था। आर्थिक अवस्था अच्छी न होने के कारण ये संस्थायें न तो विभिन्न विधायक कार्य हाथ में ले सकतीं थीं और न उनके लिये कर्मचारी ही रख सकती थीं।

जिन क्षेत्रों में मालगुजारी प्रथा थी वहां जन जीवन का अंधकार और भी गहरा था। गांव का नेतृत्व स्वभावतः मालगुजार के हाथ में रहता था किन्तु उसे गांव के उन्नति की चिंता क्यों होने लगी? लगान वसूल कर लेने और दैनिक जीवन में तरह तरह की सुविधायें पा लेने में ही वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता था। एक साधारण किसान की कोई आवाज नहीं थी। अपनी बेहतरी के बारे में सोचने का या कोशिश करने का उसे कोई मौका नहीं था। उसकी आंखों के सामने कोई मंजिल नहीं थी और न उसके मन में कोई आशा या उमंग।

गांधीजी के दूसरे सत्याग्रह आन्दोलन ने एक अभूतपूर्व चेतना को जन्म दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक नवीन संकल्प और उत्साह की लहर दौड़ी और गांव भी इससे अछूते न बचे। इस चेतना का रूप मुख्यतः राजनीतिक था। लोगों ने समझना शुरू किया कि परतंत्रता एक अभिशाप है। स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे प्राप्त करने तक हमें विश्राम नहीं लेना है। गांधीजी जानते थे कि केवल राजनीतिक आन्दोलन से ही देश स्वतंत्रता के योग्य नहीं होगा। जहां हम कुछ नष्ट करने जा रहे हैं वहां कुछ निर्माण भी करना होगा। इसीलिये उन्होंने राजनीतिक कार्यक्रम के साथ ही साथ विधायक कार्यक्रम पर भी जोर दिया। उन्होंने "गांव की ओर" का नारा बुलंद किया और खादी और कुटीर उद्योग को स्वतंत्रता-संग्राम के अमोघ अस्त्र घोषित किये। इस आन्दोलन से सशंकित हो सरकार ने स्वयं ग्रामोन्नति की ओर कुछ ध्यान देना प्रारंभ किया। कुछ गांवों में ग्राम सुधार का कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। पर सार्वजनिक सहयोग न मिलने के कारण इन कार्यक्रमों का रूप सरकारी ही रहा और ये कहीं भी पनप न पाये। सरकारी कार्यकर्ताओं में एक ही व्यक्ति अपनी लगन के कारण उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर सका और वह था कर्नल ब्रायन। उसने ग्राम सुधार की एक व्यवहारिक योजना तैयार की और इसके द्वारा पंजाब के कई गांवों में नया जीवन फूंका। संभवतः भारत सरकार के सैनिक विभाग की सक्रिय सहानुभूति और पंजाब के गांवों में सैनिकों का बाहुल्य उसकी सफलता के मूल में था। मध्यप्रदेश में स्थानिक परिस्थिति के अनुसार न तो कोई सर्वांगीण योजना ही बनाई गई और न किसी सरकारी कार्यकर्ता ने कर्नल ब्रायन के समान ग्राम सुधार को अपना "मिशन" ही बनाया।

१५ अगस्त, १९४७ से भारतवर्ष के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। जनता और शासन के बीच की खाई मिटी और पहली बार दोनों ने मिलकर देश को सुखी और समृद्ध बनाने की ठानी। मध्यप्रदेश में एक साथ ही कई उल्लेखनीय कदम उठाये गये। एक नया पंचायत एक्ट बनाया गया जिसके अनुसार गांवों की व्यवस्था और विकास का कार्य तथा न्याय दान अलग अलग कर दिये गये। गांवों की उन्नति से संबंधित सारे कार्य ग्राम पंचायतों को सौंप दिये गये और उन्हें भरपूर आमदनी के जरिये दिये गये। डिस्ट्रिक्ट कौन्सिल का अन्त कर दिया गया और उनके स्थान पर जनपद सभायें स्थापित की गई। इस प्रकार शासन की इकाई छोटी कर दी गई जिससे विकास का कार्य प्रभावशाली ढंग से चल सके और सामाजिक सेवाओं (सोशियल सर्विसेस) का लाभ अधिक से अधिक जनता को मिल सके। यह प्रयोग एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है क्योंकि उसने पहली बार नौकरशाही और जनता के प्रतिनिधियों के बीच का भेदभाव दूर करके उनका संश्लेषण (सिनथैसीस) किया। इस संस्था को जनपद के जीवन से संबंधित सारे कार्य दिये और इनके संपादन के लिये आवश्यक अर्थ और कर्मचारियों की व्यवस्था की गई। सदस्यों और मुख्य कार्य-पालनाधिकारी के बीच काम का बंटवारा इस चतुराई से किया गया कि जिससे जनता की इच्छानुसार नीति निर्धारण हो और नीति का परिपूरण बिना किसी बाधा के सुचारु रूपसे चले। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन संस्थाओं और शासन के बीच की दीवार टूटी, कृत्रिम भेदभाव मिटा और गांवों की जनता पर अपनी बेहतरी की जिम्मेवारी आई।

मालगुजारी प्रथा का अन्त एक आर्थिक सुधार कहा जाता है। वास्तव में यह उससे कहीं अधिक है। इससे न केवल किसान को आर्थिक लाभ हुआ वरन उसके जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया। किसी मशीन का बेजान पुर्जा होने के बजाय वह अपने आप को एक हस्ती समझने लगा और उसे स्वयं पर विश्वास जागा। सदियों के मौन के बाद अब उसका कंठ फूटा।

स्वतंत्रता मिलते ही हैदराबाद की समस्या ने विकट रूप धारण किया। उस समय इस रियासत की सीमा पर रहने वाली जनता को बड़ी बड़ी यंत्रणाओं का सामना करना पड़ा। इस संकट ने मध्यप्रदेश में एक अभूतपूर्व आन्दोलन का सूत्रपात किया। यों कहिये कि अभिशाप में से वरदान जागा। गांवों की जनता सदियों के अत्याचार

के कारण दबी और सहमी हुई थी। वह अपनी मदद आप कर सकने में असमर्थ हो चली थी और उसमें अनुशासन का अभाव था। करीब ८० सैकड़ा जनता कठिनाई के समय सहारा दे सकने के बजाय खुद ही सहारा मांगती थी। सन् १९४७ ई. के नवंबर मास में शासन ने निश्चय किया कि हैदराबाद की सीमा पर स्थित गांवों के निवासियों को आत्मरक्षा के लिये तैयार किया जाए। अकोला, बुलढाणा, यवतमाल और चांदा जिलों में जो अनुभव आये उससे यह हो गया कि ग्रामीणों में बलबुद्धि या त्याग की कमी नहीं। ये गुण उनमें सुषुप्त हैं। उन्हें केवल जागृत करना है। जहां सौ आदमियों के शिक्षण की व्यवस्था थी वहां हजार आदमी सामने आये। लोणार शिविर में एक नवयुवक की एक मात्र संतान की मृत्यु हो गई पर उसने घर जाने से इन्कार कर दिया। मुझे वह दृश्य अभी तक स्मरण है जब मुख्य-मंत्री जी लोणार आये और उन्होंने गद्गद होकर इस नवयुवक की पीठ ठोंकी। उपयुक्त प्रयोग ने होमगार्ड की ग्रामीण शाखा को जन्म दिया और जिलों-जिलों में सैकड़ों की संख्या में ग्रामीण नवयुवक अनुशासन और आत्मविश्वास का पाठ सीखने लगे। एक दूसरी दिशा में भी जन-जागरण को प्रेरणा मिली। ग्राम-सैनिकों के प्रशिक्षण में ग्राम-सुधार का भी समावेश किया गया था। प्रत्येक सैनिक के सामने यह आदर्श रखा जाता था कि उसने जनता के पैसे से जो ट्रेनिंग पाई है उसका कुछ लाभ जनता को देना उसका धर्म है। यदि वह रोज आधे घंटे का समय भी अपने गांव की तरक्की के लिये देता है तो वह बहुत बड़ी देशसेवा करता है। हर जिले में एक गांव चुना गया जिसमें एक अधिकारी के निरीक्षण में स्थानिक सैनिक ग्राम-सुधार का कार्य करते थे। इन प्रयत्नों से जो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, वह अधिकांश स्थानों में स्थायी नहीं रहा। सैनिकों द्वारा सुधारी गई गलियां फिर ऊबड़-खाबड़ हो गईं। उनके द्वारा साफ किये गये तालाब फिर सिवार से भर गये और उनके द्वारा बनाये गये सोकपिट दुबारा नहीं खोले गये किन्तु इन प्रयत्नों का अप्रत्यक्ष परिणाम महत्त्वपूर्ण रहा। स्वयंसेवकों के द्वारा ग्राम-सुधार का प्रयत्न इतने बड़े पैमाने पर और इस सुव्यवस्थित तरीके से अब तक नहीं किया गया था। ऊंची जाति और घरों के लड़के हंसी खुशी से सड़क साफ करें और कचरे की टोकरी कांधे पर लेकर चलें यह गांवों के लिये एक अपूर्व दृश्य था। अधिकांश सैनिकों के निम्न मध्यम वर्ग होने के कारण सर्व साधारण पर उनका जितना प्रभाव पड़ना चाहिये था उतना नहीं पड़ा। फिर भी इन सैनिकों के उदाहरण ने गांव वालों को सोचने के लिये बाध्य किया।

संविधान ने प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार दिया है। देश का शासन किस प्रकार चलेगा इसका निर्णय वस्तुतः उन लक्षावधि लोगों के हाथ में आ गया जो अपना नाम तक नहीं लिख सकते और जिन्हें गांव के बाहर की दुनियां का ज्ञान ही नहीं है। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का कार्यक्षेत्र बढ़ाया गया है और उन्हें अधिकाधिक अधिकार दिये गये हैं। यदि सर्वसाधारण को इन संस्थाओं की उपयोगिता विदित नहीं है तो इनका उद्देश्य कभी सफल नहीं होगा। भारत जितना विशाल है उतना ही गरीब है। ३६ कोटि जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा करना कोई हंसी-खेल नहीं है। इसके लिये प्रत्येक नागरिक को प्रयत्न करना होगा। यह वह तभी करेगा जबकि उसे नये युग में अपने कर्तव्यों का ज्ञान होगा और वह यह समझने लगेगा कि समष्टि के कल्याण में ही उसका कल्याण निहित है। इस विचार के प्रसार के लिये समाज शिक्षण योजना का सूत्रपात किया गया। देश में सर्वप्रथम मध्यप्रदेश ने ही समाज शिक्षण का महत्त्व पूरी तरह आंका और इसके प्रसार के लिये धन-जन संबंधी सारी सुविधाएं दीं। इसकी साक्षरता योजना के अंतर्गत लाखों स्त्री-पुरुष साक्षर हुए और इससे भी महत्त्व की बात तो यह हुई कि श्राव्य-चाक्षुष साधनों द्वारा लाखों व्यक्तियों तक नागरिकता का संदेश पहुंचाया गया। फिल्म और कलापथक, रेडियो और चलते-फिरते पुस्तकालयों ने ग्रामीण जनता के लिये वह गवाक्ष खोल दिया जिससे कि वे घर बैठे देश-विदेश का दर्शन कर सकते थे।

इस राज्य में और देश के अन्य भागों में ग्राम-सुधार के जो प्रयत्न हुए उनसे कुछ आधारभूत बातें लक्ष्य में आईं। सबसे महत्त्व की बात तो यह थी कि बाहर के कार्यकर्ता और पैसे से गांवों की स्थायी उन्नति नहीं हो सकती। जनता के लिये साथ काम करने से ही गांव आगे बढ़ेंगे। हमारे गांवों की सबसे बड़ी आवश्यकता स्थानिक नेतृत्व का निर्माण है। सरकारी कर्मचारियों या सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के सारे प्रयास इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए होने चाहिए ताकि जैसे-जैसे स्थानिक नेता सामने आवें वैसे-वैसे ये पीछे हटते जाएं। दूसरी बात यह देखने में आई कि विभिन्न सरकारी विभाग अपने-अपने क्षेत्र में भरसक कार्य करते हैं किन्तु उनके कार्यों में परस्पर समन्वय न होने के कारण एक ग्रामीण के जीवन पर उनका प्रभाव नगण्य-सा ही होता है। साथ ही कई कर्मचारियों के गांव में जाने के कारण किसान कुछ भ्रम में पड़ जाता है और यह नहीं सोच पाता कि आखिर वह क्या

करे और क्या न करे। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार के विभिन्न विभागों की ओर से एक ही प्रतिनिधि गांव में जाए और विकास कार्यों में लगे हुए विभिन्न विभागों का परस्पर समन्वय रहे। अनुभव के इस निचोड़ का लाभ उठाते हुए सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा का संगठन किया गया। इनके द्वारा न केवल विकास कार्य तेजी से आगे बढ़ रहा है वरन् प्रशासन की परम्परा में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहा है। समुचित आर्थिक सहायता और तज्ञों (टेक्निकल एक्सपर्टस्) की सुलभता से जनता का विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और वह मुक्त-हस्त से सहयोग दे रही है।

जन-जागरण में चुनाव का जो हाथ रहा है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में नवीन युग का संदेश और विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्र का कर्त्तव्य चुनाव ने ही घर-घर पहुंचाया है। सन् १९५१-५२ के साधारण चुनाव ने किसान-किसान को विभिन्न विषयों का खंडन-मंडन सुनने का अवसर दिया। इसी तरह जनपदों के चुनावों में गांव-गांव और घर-घर कार्यकर्त्ता गये। चर्चा तहसील तक ही सीमित रहती थी, फिर भी गांवों के लोगों ने जाना कि तहसील का कारोबार किस तरह चलता रहा है और उसमें उनकी आवाज की क्या कीमत है। कुछ छोटे पैमाने पर ग्राम-पंचायतों के चुनाव भी यही कार्य कर रहे हैं।

आज से ३० वर्ष पूर्व गांधीजी ने जो सपना देखा था उसकी ओर देश की भांति मध्यप्रदेश भी बढ़ रहा है। जनता देश की गतिविधि समझने लगी है और इसके पुनर्निर्माण के लिए कमर कस रही है। गांवों पर से अंधकार का आवरण उठता जा रहा है और उनमें आशा की स्वर्णिम-आभा खिलने लगी है। इस जागरण के निर्माण में निस्संदेह शासन का बहुत बड़ा हाथ रहा है क्योंकि अपनी योजनाओं के द्वारा उसने गांवों में स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास की नींव डाली है। उन्नततम देश-प्रेम से प्रेरित हो सैकड़ों व्यक्तियों ने ग्रामीण जागृति के लिए जो प्रयत्न किये हैं उनका उल्लेख न करना सत्य के प्रति अपराध होगा। ऐसे निस्वार्थ, विधायक कार्यकर्ताओं के प्रति ग्रामीण-समाज सदा ऋणी रहेगा।



विद्यामन्दिर योजना

श्री नित्येन्द्रनाथ शील

इस प्रदेश में शिक्षा के सुधार की अपेक्षा, शिक्षा का प्रसार अधिक महत्व का प्रश्न है। पिछड़े हुए इलाकों में हजारों ऐसे छोटे-ग्राम हैं जिनकी जनसंख्या १००/१२५ से अधिक नहीं है; वहां साधारण स्कूल चलाना अत्यन्त कठिन हो जाता है क्योंकि स्कूल की औसत हाजरी १५/२० के अन्दर ही रहती है। इसलिये प्रति बालक पर शिक्षा का औसत खर्च अत्यन्त अधिक पड़ जाता है। यह भी अच्छी तरह देख लिया गया है कि किसी भी स्कूल में आसपास के गांवों के लड़के बहुत कम आते हैं।

इस तरह के छोटे २ ग्राम इस प्रदेश में कम से कम २०,००० होंगे। प्रदेश के कुछ हिस्सों में शिक्षा का कुछ भी प्रबन्ध न किया जाय, यह एक अत्यन्त अवांछनीय परिस्थिति है। इन ग्रामों के बच्चों को पढ़ाने के लिये आज हमारे पास न कोई उपाय है, और न हमारी आर्थिक परिस्थिति ही ऐसी है कि हम कुछ विशेष इस दिशा में अग्रसर हो सकें। इन ग्रामों में स्कूल खोलने से वार्षिक खर्च ८ करोड़ से भी अधिक होगा।

महात्माजी ने इस कठिन समस्या को हल करने के लिये जो उपाय सोचा था वह आज की बुनियादी शिक्षा से कुछ विभिन्न था—शिक्षा विभाग के अधिकारी जब पहिले पहल उनसे मिले, उन्होंने उनसे स्पष्ट कह दिया था, कि मैं स्कूल को स्वावलंबी बनाना चाहता हूं। बच्चों को तीन घन्टे तक सूत कातना पड़ेगा। कताई की आमदनी से ही शिक्षक का वेतन दिया जावेगा। यही उनकी प्रथम कल्पना थी। इस योजना में धीरे २ सुधार किये गये—यहां तक कि उसका स्वरूप ही बदल गया। आज बुनियादी शिक्षा, शिक्षा सुधार की योजना बन गई है। बुनियादी स्कूलों पर खर्च दूसरे स्कूलों से अधिक हो जाता है। इसी समस्या को हल करने के लिये शुक्लजी ने एक दूसरा उपाय सोचा था और वह उनकी विद्यामन्दिर योजना थी।

इस प्रान्त में जमीन की कीमत अधिक नहीं है। बड़े किसान जो नौकरों के भरोसे खेती करते हैं जमीन से बहुत कम आमदनी पाते हैं। इसलिये उन्हें आशा थी कि इस तरह के बड़े २ भूमिस्वामी सहज ही में अपनी कुछ जमीन शिक्षा के विस्तार के लिये दान करेंगे। मन्दिर, मठ इत्यादि संस्थाओं को चलाने के लिये भूमिदान की प्रथा इस देश में प्राचीन काल से चल रही है, इसलिये उन्होंने अपनी पाठशाला का नाम विद्यामन्दिर रखा। वे चाहते थे कि दूर दूर के ग्रामों में जहां हम स्कूल नहीं खोल सकते, इस तरह से प्राप्त जमीन पर एक शिक्षित युवक को ले जाकर हमेशा के लिये बसाया जावे। उसकी जीविका उस जमीन की आमदनी से चले और वह उस ग्राम के बालकों को शिक्षा देवें, यह योजना केवल उन्हीं ग्रामों के लिये थी, जहां स्कूल नहीं है।

शुक्लजी की प्रथम कल्पना बहुत सीधी सादी थी। इस देश की प्राचीन प्रथा, जिसके प्रमाण हमें पुराने शिला-लेखों से लेकर सन् १८३७ में लिखी गई एडम साहब की रिपोर्ट तक में मिलते हैं, उनकी योजना का आधार था। महात्माजी की तरह शुक्लजी भी केवल आर्थिक समस्या को हल करना चाहते थे।

इस योजना के लिये पहिली आपत्ति आई कि विद्यामन्दिर गुरु यदि खेती करेगा तो वह पढ़ायगा कब? सिलेबस कैसे पूरा होगा? विद्यामन्दिर के लड़के आगे चलकर मिडिल स्कूल में कैसे चल सकेंगे? इन आपत्तियों को दूर करने के लिये योजना में कई सुधार किये गये।

खेती मोहकमें से सुझाव आया कि विद्यामन्दिरों में खेती विभाग के जमादार रखे जावें। वे वहां आदर्श तरीके से खेती करें ताकि ग्रामवासियों को शिक्षा मिले और साथ ही साथ खेती विभाग का भी काम चले। तालीमी संघ से सुझाव आया कि विद्यामन्दिरों में बुनियादी शिक्षा दी जावे।

उत्साह के आवेग में ये सारे सुझाव स्वीकार कर लिये गये। विद्यामन्दिर योजना की रूपरेखा बड़ी सुन्दर और आकर्षक बन गई। केवल डी. पी. आई डॉ. सेनगुप्ता ने एक दिन कुछ दबी हुई जबान से कहा था कि ये सब आभूषण ही योजना को दबाकर खतम कर देंगे। वे शीघ्र ही अवकाश लेकर चले गये, बात वहीं रह गई।

सन् १९३९-४० तक सारे प्रान्त में ८३ विद्यामन्दिर खुल गये, जिनमें कुल ३,०४४ एकड़ जमीन में काश्त होती थी। जब तक इनकी देखरेख ठीक से होती रही, वे चलते रहे। हर वर्ष स्वावलंबी विद्यामन्दिरों की संख्या बढ़ती गई। सन् १९४२ में केवल ५ विद्यामन्दिर ऐसे रह गये जो स्वावलम्बी नहीं थे। उनमें कताई का काम भी खूब होता था। उन दिनों लोग विद्यामन्दिर देखकर प्रसन्न होते थे। कई स्थानों में तो बड़े मनोरम दृश्य दिखाई देते थे।

इस प्रदेश के देहातों में एक पुरानी कहावत है "खेती आप सेती"—खेती खेत वाले से ही चलती है। यह धन्धा ऐसा विचित्र है कि इसे वही चला सकता है, जिसकी जीविका उस पर निर्भर है। हमने चाहा था कि खेती मोहकमे का जमादार अथवा प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्य खेती चलाकर गुरुजी का वेतन देंगे। इस योजना के अन्दर सबसे बड़ी भूल यही थी। खेती जिसके हाथ गई उसी ने उसका नाजायज फायदा उठाया; गुरु को तनख्वाह नहीं मिली। जैसे जैसे देखरेख में कमी होती गई वैसे वैसे विद्यामन्दिर बिगड़ते गये और टूटने लगें।

विद्यामन्दिर की सफलता के लिये जमीन बहुत अच्छी होनी चाहिये, रकबा २०-२५ एकड़ से अधिक नहीं होना चाहिये—रकबा अधिक होने से काम भी बहुत बढ़ जाता है। खेती का काम विद्यामन्दिर गुरु को ही सम्भालना पड़ेगा तब ही उसकी आमदनी से उसकी जीविका चल सकेगी। इसलिये यह हमें मंजूर करना पड़ेगा कि विद्यामन्दिरोंकी पढ़ाई दूसरे स्कूलों से कम होगी। फिर भी जहां आज घोर अन्धकार छाया हुआ है उन इलाकों में विद्यामन्दिर टिमटिमाते हुए प्रदीपों की तरह सिद्ध हो सकते हैं। उनसे कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य होगा।

प्रदेश में आगे चलकर यदि भूमि वितरण का मौका आवे तो उस समय फिर एक बार इस योजना पर विचार करने का अच्छा अवसर आवेगा, क्योंकि पिछड़े हुए क्षेत्रों के छोटे छोटे ग्रामों में शिक्षा-विस्तार के लिये आज भी यह योजना काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।



मध्यप्रदेश की वन-नीति

श्री कामताप्रसाद सागरीय

जंगल मंगल खान। जंगल जनता प्राण॥

मनुष्य की सृष्टि गहन वनों में ही हुई थी। प्रारंभिक अवस्था में वह अपना उदर-पोषण वन्य प्राणियों के मांस तथा वनों में उपलब्ध कन्द-मूल, फल-फूल, आदि पर ही कर लेता था। धीरे धीरे जब उसकी बुद्धि विकसित हुई उसका ध्यान सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास तथा घातक प्राणियों से रक्षा करने के कष्टों को कम करने पर गया। उसने पशुपालन प्रारंभ किया और उनके तथा अपने रहने के लिये आश्रय बनाये। इस प्रकार गोत्रों अर्थात् गौओं के घाताओं के रूप में समाज संगठन प्रारंभ हुआ। कालान्तर में हमारे किसी प्रतिभावान् पूर्वज ने चुने हुए घासों के बीज स्वच्छ भूमि पर बोकर शस्योत्पादन किया। इस प्रकार कृषि का आविष्कार हुआ।

कृषिकर्म के लिये जब उसने उपजाऊ धरती पर खड़े वनों को काटा और बिखरी-पड़ी वनस्पति को दूर करने के श्रम को बचाने के लिये उसे जलाया तब उसे अनुभव हुआ कि राख से मिली मिट्टी पर उपज अच्छी होती है। पर वर्षानु-वर्ष उसी भूमि पर कृषि करने पर जब उसकी उर्वरता क्षीण हो गई तब उसने स्थानान्तर कर दूसरे वनों को काटा और उस भूमि पर खेती की। इसी "दाहया" प्रथा से जन-वन संघर्ष का श्री गणेश हुआ। समय पाकर यह प्रथा इतनी रूढ़ हो गई कि मनुष्य की यह धारणा सी हो गई कि उसकी उत्तरोत्तर उन्नति वनों का दाहसंस्कार कर उनकी चिता पर ही निर्माण किया जा सकता है। ऐसे पुरुष-प्रकृति संग्राम में प्रथम विजय सर्वदा पुरुष की ही हुई क्योंकि उसने वन विध्वंस का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

त्यक्त अनुर्वर भूमि स्वभावतः पुनः वनाच्छादित नहीं हुई जैसा कि मनुष्य का अनुमान था। फलतः आवश्यक वनोपज लकड़ी, ईंधन, घास आदि का अभाव हो गया। वर्षा का पानी, जिसे सोख लेने की वनतल भूमि में क्षमता होती है, धरती में न समाने के कारण उसे काट कर बहा ले जाने लगा। इससे खेतों की शस्योत्पादन की शक्ति घटती गई। फलतः मनुष्य की जीवन समस्या क्रमशः जटिल होती गई, मानों प्रकृति ने प्रतिकार द्वारा पुरुष को चेतावनी दी कि उसकी विजय अस्थायी थी। मनुष्य का गर्व चूर्ण हुआ और उसे बोध हुआ कि प्रकृति की अवहेलना उसकी भूल थी जिसमें उसके आत्म-विनाश का विषबीज मिला हुआ था। हठात् उसका ध्यान भूक्षर-अवरोध और निकटस्थ वनों को चिरोपयुक्त बनाये रखने की ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार वन-विज्ञान का जन्म हुआ। सच ही कहा है—आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।

स्वाभाविक वनों में, विशेषकर जबकि लम्बी अवधि से उनका अतिप्रयोग होता आया हो, वैज्ञानिक संवर्धन विधि सहसा लागू नहीं की जा सकती। ऐसे वनों में अनियंत्रित पातन के परिणाम स्वरूप उपयोगी वनस्पति की मात्रा घट जाती है और ऐसी अनुपयोगनीय वनस्पति का, जिसमें प्रतिकूल परिस्थिति के अवरोध की नैसर्गिक क्षमता होती है, बाहुल्य हो जाता है। अतः वन विवर्धन के लिये, पहिले उसका संरक्षण, फिर निरीक्षण, तदोपरान्त अनुसंधानों द्वारा उचित उपचार का शोध और अन्त में इन अनुभवों का प्रयोग ऐसे क्रम की आवश्यकता पड़ती है। तब कहीं सतत उपयोगी वनस्पति का प्रादुर्भाव किया जा सकता है।

इस निर्दिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वनस्वामी एक दूरदर्शी वन-व्यवस्था सम्बन्धी नीति निर्धारित करे और फिर उसे कार्यान्वित करने का प्रबंध करे।

ऐसी वन-नीति के मूल सिद्धान्त क्या होने चाहिये इसका निर्णय करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि वनों से समाज को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष क्या लाभ हो सकते हैं और वन-संवर्धन पर दुर्लक्ष्य तथा उनके प्रति उदासीनता से क्या हानि होने की संभावना है।

प्रत्यक्षतः वनों से काष्ठ, ईंधन, घास तथा अन्य वनोपज प्राप्त होती है जो स्थानीय वासियों की प्रधान आवश्यकतायें हैं। अतिरिक्त वन पदार्थ जैसे इमारती लकडी, बांस, लाख, हर्रा, आदि को बेचकर समाज हित-साधन के लिये धन प्राप्त किया जा सकता है, तथा वन व्यवस्था संबंधी कार्यों में तथा वनोपज पर निर्भर उद्योगों से स्थानीय जनता को जीविकोपार्जन की सुविधा भी दी जा सकती है।

परोक्षरीति से, वन जल-वायु को समशीतोष्ण बनाते हैं, भूक्षर का अवरोध करते हैं तथा कृषिभूमि को अधिक समय तक आर्द्र रखते हैं जिससे शस्योत्पादन अधिक हो जाता है। वनविहार स्वास्थ्यकर होता है तथा वनश्री की शोभा मनोमोहिनी और स्फूर्तिदायिनी होती है। सच तो यह है कि सुसंवधित वन प्रकृति की एक अत्यंत कल्याणकारी देन है।

वनों से कृषि का घनिष्ट संबंध है। इसीलिये किसी ने उन्हें कृषिकिंकर की संज्ञा दी है। पर वास्तव में ऐसा कहकर उनका अपमान-सा किया है। वनों से ही कृषि परिपोषित होती है, अतः उन्हें कृषि-धात्री कहना ही उपयुक्त होगा।

वनों से पूरा पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जब उनका यथाविधि अधिरक्षण, संवर्धन तथा परिपालन किया जावे। किंचित ही असावधानी या अतिप्रयोग से स्वलधर्म प्रतिकूल हो जाने पर वनों का क्रमशः ह्रास होने लगता है और अन्त में वे पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप कृषिभूमि तथा वनस्थली के स्थान में मरुमरीचिका का आधिपत्य हो जाता है। समाज में त्राहि त्राहि का चीत्कार प्रारंभ हो जाता है। ऐसी गंभीर परिस्थिति ही मनुष्य को उर्वराभूमि की प्राप्ति के लिये संघर्ष पर बाध्य करती है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य तथा कलह का मूल कारण यही है।

मध्यप्रदेश एक पार्वत्य भूमिखंड है जो उत्तर भारत के समतल प्रदेश और दक्षिण की उच्च समभूमि के मध्य स्थित है। प्रदेश का विस्तार १३१,००० वर्ग मील है जिसका लगभग आधा भाग वनाच्छादित है। पर वनों तथा कृषिभूमि का विभाजन संतुलित नहीं है। विदर्भ, नागपुर और छत्तीसगढ़ के मैदानी भागों में वन अपर्याप्त हैं; लोगों को ईंधन-चारे की कठिनाई है जिसके कारण गोबर का खाद के लिये उपयोग न कर उसके कंडे बनाकर जलाये जाते हैं और पेड़ों के पत्ते काट काट कर पशुओं को खिलाये जाते हैं। इसके विपरीत दूर के पहाड़ी भागों में वनों का बाहुल्य है और उनकी दशा भी अच्छी है, पर कहीं कहीं 'दाहया' की कुप्रथा भी अभी तक चालू है।

औसतन प्रति १,००० व्यक्तियों पीछे १,७०० एकड़ कृषिभूमि, २,००० एकड़ वन भूमि और ७५० पशुओं का अनुपात आता है, जो यदि वन तथा कृषि भूमि का ठीक तरह उपयोग किया जावे, और पशु हृष्ट-पुष्ट रखे जावें तो बहुतही संतोषजनक होगा। पर अभी खेती की प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम है और पशुओं की दशा बहुत ही गिरी हुई। वनों की दशा में भी बहुत कुछ सुधार संभव है विशेष कर उन वनों में जो कुछ समय पहिले तक निजी स्वामित्व में थे और अंधाधुंध कटाई और चराई के कारण नष्ट-प्राय हो गये हैं।

फिर भी प्रदेश में आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पन्न होता है—विशेषकर चांवल। जनता का जीवनस्तर अभी नीचा होने के कारण वनोपज की खपत कम है और भारी प्रमाण—में वृद्धि से अधिक—उसका निर्यात हो रहा है जिसे रोकना आवश्यक है। शासन द्वारा निर्धारित वन नीति का एक मात्र ध्येय यह है कि वन इस प्रकार संवधित किये जावें और उनका उपभोग इस तरह किया जाये कि जनता की निस्तार संबंधी मांगें सुविधापूर्वक पूरी होती रहें और साथ ही साथ वन स्वामी अर्थात् सरकार को वनों से अधिकाधिक आय होती रहे। इसी नीति के तत्वों का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

वनविशेष में परिस्थिति-गुण तथा उन पर की मांग के अनुकूल उपचार लागू करने के लिये वनों को चार वर्गों में विभक्त करने का अभिस्ताव नीति में किया गया है :—

(१) तेज ढाल वाली पहाड़ियों पर के वनों में अतिप्रयोग से भूक्षर की आशंका है। कुछ वन अनियंत्रित कटाई और चराई से अब केवल नाममात्र के वन रह गये हैं। इन्हें विश्रांति देना आवश्यक है जिससे वे स्वभावतः पुनः वनाच्छादित हो जावें। इन्हें "संरक्षण वन" कहा गया है।

(२) बड़ी इमारती लकड़ी तथा दूसरी वाणिज्यिक वनोपज उत्पन्न करने की क्षमता रखने वाले वनों से उत्तरोत्तर अधिक आय प्राप्त करते रहने के लिए परिस्थिति के अनुकूल वैज्ञानिक विधिविशेष द्वारा संवर्धन करना आवश्यक है, जिससे उनमें उपयोगी वनस्पति का प्रादुर्भाव हो और वह ठीक तरह बढ़ सके, जैसे सागौन, साल, सेमल, सालई की लकड़ी, बांस, आदि। इन्हें बृहद्वन की संज्ञा दी है।

(३) वे वन जो स्थिति तथा उनकी उत्पादन क्षमता के कारण जनता की निस्तारी मांग की पूर्ति के लिये समुपयुक्त हैं इन्हें निस्तार-वन कहा गया है।

(४) वनों के वे भाग जो वृक्षों के अतिपातन के फलस्वरूप अब नाममात्र के वन रह गये हैं पर जिनमें चराई के उपयुक्त घास उपलब्ध है, इन्हें उपवन की संज्ञा दी गई है।

संरक्षण वनों की दशा सुधारने तथा भूक्षर का अवरोध करने के लिये उनमें चराई तथा कटाई बन्द रखी जाती है। वृहद् वनों की व्यवस्था में, क्योंकि उनसे निरन्तर अधिकतम आय प्राप्त करना होता है, बहुत ही सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। उनका सविस्तर पर्यवेक्षण तथा वृक्षों की परिगणना कर यह मालूम करना पड़ता है कि कहां किस वय के पेड़ समय समय पर, कितने प्रमाण में उपलब्ध होंगे। तत्पश्चात् उपयुक्त संवर्धन विधि द्वारा उनका पातन तथा परिपालन किया जाता है। वनों की व्यवस्था भी इसी प्रकार की जाती है; अन्तर केवल इतना ही है कि उनमें नई उपज बीज से या कृत्रिम बीज पैदा करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि अधिकांश उपयुक्त जाति के पेड़ों के ठूठों से जो पीके निकलते हैं वही बढ़ने पर उनसे छोटी लकड़ी प्राप्त हो जाती है।

मध्यप्रदेश के अधिकांश पशु, चारा और चराई के लिये समीप के वनों पर ही निर्भर हैं क्योंकि चारे की खेती नहीं की जाती और खूंटे पर बांध कर खिलाना बहुत महंगा पड़ता है। लगातार अनियंत्रित चराई से वृक्षों और चराई के घासों को नुकसान होता है और क्रमशः उनका ह्रास होने लगता है। अतएव चराई पर नियंत्रण रखना आवश्यक समझा गया है। यह मध्यप्रदेश की वन-व्यवस्था की एक विशेषता है जिसकी ख्याति है। अतः उसका संक्षिप्त वर्णन अप्रासंगिक न होगा।

प्रौढ़ पेड़ों के काट लेने पर नवजात पौधों को ठीक तरह बढ़ने देने के लिये कुछ वर्षों तक चराई बन्द रखना आवश्यक समझा गया है। बाद में लगातार चराई के परिणाम स्वरूप जब अच्छी घास की कमी हो जाती है तब फिर कुछ वर्षों तक चराई बन्द कर दी जाती है जिससे घासों का बीज जमकर उससे नये पौधे आ जावें ऐसे चारण तथा संवार की अवधि वनविशेष पर निर्भर है। उदाहरणार्थ सागोन के वनों में नई उपज की ५ वर्ष की वय तक रक्षा की जाती है। बाद में १० साल की चराई के पश्चात् घास की उपज बढ़ाने के लिये फिर तीन साल चराई बन्द रखना आवश्यक समझा गया है।

चराई का अधिकतम आपात भी वनविशेष के लिये निर्धारित कर दिया गया है। उतने ही पशु चराने की अनुमति दी जाती है जिससे प्रत्येक पशु को कम से कम वृहद् वनों में तीन, निस्तार वनों में दो तथा क्षुपवनों में एक एकड़ भूमि उपलब्ध हो क्योंकि यदि इससे कम भूमि उपलब्ध हुई तो वनों के ह्रास की आशंका रहती है। साथ ही साथ जहां संभव है वहां चराई के लिये खुले वनों का आधा, एक तिहाई या चौथाई हिस्सा प्रति वर्ष वर्षा ऋतु में बन्द रखा जाता है, जिससे उसमें घास के पौधों की संख्या बढ़ जावे।

उपर्युक्त चारण-संवार की अवधि तथा आपात की अधिकतम योजना अनुभवी वन-वैज्ञानिकों के निरीक्षण पर आधारित है। सर्वोत्कृष्ट उपचार तो अनुसंधानों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है, जिसके लिये धन तथा विशेषज्ञों की सुविधा वननीति में अभिस्तावित है।

इन नियंत्रणों के साथ ही साथ पशुस्वामियों की सुविधा के लिये और एक ही स्थान पर अधिक चराई न होने पावे, इस उद्देश्य से वनों को छोटे छोटे चराई के क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है और प्रत्येक क्षेत्र में किन किन गांवों के कितने पशु चराये जा सकते हैं, यह निर्धारण करने के लिये गांव गांव में परिपृच्छा करने के बाद एक चारण-योजना बनाई जाती है। इस योजना के अनुसार क्षेत्रों के दो प्रकार, सुगम तथा दुरस्थ, पशुस्वामियों के दो भेद, खेतिहर तथा अन्य और पशुओं के दो वर्ग, कृषिकर्म के लिये अनिवार्य तथा वाणिज्यिक माने जाते हैं। सुगम वनों में किसानों के कृषिकर्म में उपयुक्त पशुओं को अधिमान दिया जाता है उनसे शुल्क भी कम लिया जाता है।

ऐसी विस्तृत चराई योजना का एक मात्र ध्येय यह होता है कि वनों को सतत उत्पादनशील रखते हुए आवश्यक पशुओं के चराने की अधिक से अधिक सुविधा दी जा सके।

उपरोल्लिखित वन-व्यवस्था संबंधी मूल-तत्वों का यथाविधि पालन किया जा सके इसी हेतु से जब कभी वनविशेष का वन कार्य संबंधी उपक्रम (वर्किंग प्लॉन) संशोधित किया जाता है तब वनाधिकारी द्वारा विहित वनोपचारों का एक विशेष आगम-अधिकारी द्वारा परिनिरीक्षण और फिर यथावश्यक परिवर्तन किया जाता है। उन क्षेत्रों में जहां

वन अपर्याप्त हैं उपयुक्त भूमि का वन-खेती की विधि द्वारा वनीकरण किया जाना आवश्यक समझा गया है। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण विदर्भ के "बबूल वन" हैं। खेती के लिये वनभूमि देना तभी उचित माना गया है जबकि ऐसा करने पर उस क्षेत्र की जनता की वनोपज संबंधी मांग की पूर्ति में कोई कठिनाई होने की संभावना न हो और अवनित भूमि पर स्थायी रूप से खेती की जा सके।

वन्य प्राणी वनों का ही एक अंग हैं। अतएव वैज्ञानिक अध्ययन तथा मनोविनोद के हेतु, उपयुक्त स्थानों में उनको नैसर्गिक अवस्था में आश्रय देना तथा समीप के वनों से हिंस्र तथा हानिकारक वन्य प्राणियों का निर्मूलन आवश्यक है।

वनवासियों को जिनके बिना वन-कार्य पूरे नहीं किये जा सकते सुखपूर्वक बसने, तथा उन्हें स्वास्थ्य, शिक्षा तथा मनोविनोद की सुविधा देना भी वननीति का एक मुख्य अभिस्ताव है।

इस प्रकार की दूरदर्शी व जनहितकारी वननीति का अभिपूरण तभी संभव है जब जनता उसके उद्देश्यों को ठीक तरह समझे और उन्हें कार्यान्वित करने में शासन को योगदान दे।

जनता को यह समझाना है कि शासन का जिस पर वनों की सुव्यवस्था का भार है एक मात्र ध्येय वनों का सुधार कर उन्हें सन्तानोत्पादक तथा हितकर बनाये रखना ही है, तभी कहीं लोगों की निस्तारी मांगों की सुविधापूर्वक तथा स्वल्प मूल्य में पूर्ति होना, तथा वनों से राष्ट्रहित साधन के कार्यों के लिये अधिकाधिक धन प्राप्त करना संभव है। यह तभी हो सकेगा जब जनता अपनी और विशेषकर भावी सन्तान की भलाई के लिये अपनी वनविध्वंस तथा अतिप्रयोग की प्रवृत्ति पर निग्रह का अंकुश लगावे। वास्तव में इस युग में प्रत्येक नागरिक का यही धर्म है।



उन दिनों का मध्यप्रदेश

श्री लज्जाशंकर झा

मेरे बालपन में मध्यप्रदेश में शिक्षा का बहुत अभाव था। प्रदेशभर में कोई कालिज न था। सिर्फ एक सरकारी हाई स्कूल सागर में था और दो पादरियों के हाई स्कूल नागपुर और जबलपुर में थे। जिले के सदर मुकामों में सरकारी अँगरेजी मिडिल स्कूल देखने में आते थे और उनमें भी इने गिने विद्यार्थी। दूसरी तीसरी अँगरेजी तक बालक पढ़ा नहीं कि जिला अधिकारियों के गुर्गे सरकारी नौकरी का लालच देकर बहका ले जाते थे। इस पर हेडमास्टर और जिला अधिकारियों में चक चक भी हो जाया करती थी। देशी अफसर देशी भाषाओं में ही अपना काम करते थे और अँगरेज अफसरों को भी देशी भाषा अच्छी तरह सीखनी पड़ती थी। अँगरेजी जानने वाले केवल कुछ बंगाली वकील, उत्तर प्रान्त और बम्बई प्रान्त से आये हुए शिक्षा विभाग के हेडमास्टर या डिप्टी इन्स्पेक्टर या 'किरण्टे साहब' (एँग्लो इंडियन) ही मिलते थे। मध्यप्रदेश भर में केवल एक या दो बँगाली असिस्टेन्ट सर्जन पाये जाते थे, बाकी अँगरेज या किरण्टे डॉक्टर अथवा पटने में देशी भाषा में सीखे हुए अस्पताल डॉक्टर जिन्हें २५ से ५० रुपये तक तनख्वाह मिलती थी, देखने में आते थे, और दस पांच को छोड़कर ये भी अजीब थे। अस्पतालों से लोग बहुत घृणा करते थे, कहावत थी कि फाँसी लग जाय तो हरज नहीं, पर अस्पताल न जाना पड़े। वैद्यों पर ज्यादा भरोसा होना स्वाभाविक था। परन्तु वैद्यों का भी इलाज कौन कराता था? झाड़फूंक और जादूटोना, मंत्र जप आदि पर अच्छे से अच्छे लोग भी अधिक भरोसा करते थे। चारों तरफ इतना अन्धकार होते हुए भी यह देखने में आता था कि सागर के महाराष्ट्र ब्राम्हणों में संस्कृत विद्या का अधिक प्रचार था और उनमें कई अच्छे पंडित, ज्योतिषी, वैद्य और कर्मकाण्डी पाये जाते थे और देहात में भी अनेक देशी गुणी जन मिल जाते थे। मैंने कई विद्वान देखे जो कि बिहारी, केशव, तुलसी आदि हिन्दी कवियों का मार्मिक अध्ययन कर सके थे।

स्त्री शिक्षा की स्थिति तो और भी खराब थी। सागर और नरसिंहपुर जिलों को छोड़कर पुत्री शालाएँ बहुत कम देखने को मिलती थीं और इन जिलों में भी उनकी स्थिति दयनीय थी। शिक्षिका को हर तरह का अपमान सहना पड़ता था, मदद देना तो दूर रहा, जो डिप्टी इन्स्पेक्टर स्त्रियों के नॉर्मल स्कूलों के लिये शिक्षिका भरती करते थे, वे अर्काटी के समान दुष्ट समझे जाते थे। जो स्त्री नार्मल स्कूल में भरती हुई कि उसे गई बीती समझा जाता था। उन दिनों प्रथा थी कि जो स्त्री नार्मल स्कूल में भरती हो, तो उसका पति कुछ पढ़ा हो तो पुरुषों के नार्मल स्कूलों में भरती कर दिया जाता था। यदि न पढ़ा हो तो स्त्री की शाला में चपरासी बना दिया जाता था। ऐसे लोगों को दम्पत्ति कहते थे। पर लोगों ने तोड़ मरोड़ कर उनका 'दमपट्टी' नाम रक्खा था इससे उस काल के सामाजिक विकृत दृष्टिकोण का भास होता है। एक कहावत उन दिनों प्रचलित थी कि "जनम की दुखिया करम की हीन, तिन्ह कहँ राम पाठिका कीन्ह"। बड़े संतोष की बात है कि लोग अब स्त्री-शिक्षा का महत्त्व समझने लगे हैं और स्त्री शिक्षिकाओं को मान मिलने लगा है।

मध्यप्रदेश के नार्मल स्कूल

सन् १८६४ ई. में जब मध्यप्रान्त एक अलग प्रदेश के रूप में बना, तब सरकार को इस बात की भारी कठिनाई मालूम हुई, कि उसे केवल घर के पढ़े लोग शिक्षक के काम के लिये मिल सकते थे। घर के पढ़े लोग, कोई भाषा में अच्छे तो गणित में कच्चे, गणित में अच्छे तो भाषा में कच्चे, भाषा जानने पर भी केवल देहाती बोली बोल सकते थे। भूगोल के नाम तो पूरी सफाई रहती थी। इसलिये उनकी घरेलू शिक्षा के दोषों की पूर्ति करने के लिये सरकार ने तीन नार्मल स्कूल—दो हिन्दी जिलों के लिये जबलपुर और रायपुर में, और एक मराठी जिलों के लिये नागपुर में खोले। उद्देश्य केवल इतना था कि घरेलू शिक्षा की पूर्ति की जावे और रजिस्टर भरना तथा पत्रों का उत्तर देना सिखाया जावे। कुछ दिनों के बाद जब प्राथमिक शालाएँ चलने लगीं तब प्रायमरी पास विद्यार्थियों को दो-तीन साल अपनी ही शाला में मानीटरी पर रखकर और काम सिखाकर नार्मल स्कूल में लेने लगे। उद्देश्य केवल यही था कि पांचवीं-छठवीं की पढ़ाई हो जावे और रजिस्टर भरना, पत्रोत्तर देना, तथा गोली-यंत्र,

चाक, झाडन और काले तख्तों का समुचित उपयोग सीख ले। शिक्षा-विज्ञान सिखाने का तब उद्देश्य नहीं था। एक साल की शिक्षा पाने के बाद वे प्राथमिक शालाओं में ६ रुपये पर नायब-शिक्षक नियत होते थे। कुछ चुने हुए विद्यार्थियों को एक साल की शिक्षा और देकर हिन्दी मिडिल स्कूलों में ७ या ८ रुपये पर नायबी देते थे। समय ऐसा था कि जब मेरे पिता ने पं. सुखराम चौबे को ७ रुपये की नायबी पर मालथौन (सागर) भेजा, तब वे अपने को निहाल समझने लगे। मानीटरों को २ या ३ रुपये तनख्वाह में मिलते थे। नार्मल स्कूल में छात्रवृत्ति पहले साल ४ रुपये और दूसरे साल ५ रुपये दी जाती थी। कई लोग इतने में अपना गुजारा करते थे और कुछ मदद घर को भी भेज देते थे।

शिक्षा-विज्ञान की पढाई बहुत वर्षों बाद शुरू हुई, तो भी नार्मल स्कूलों का महत्व इतना अधिक माना जाता था कि जबलपुर और नागपुर नार्मल स्कूलों के लिये ऊँची तनख्वाह पर अंगरेज निरीक्षक नियत किये जाते थे, जो कुछ साल काम करने के बाद इन्स्पेक्टर बन जाते थे। ये अंगरेज अफसर देशी भाषा तो कम जानते थे पर खूब कसकर काम लेते थे। नतीजा यह हुआ कि जबलपुर नार्मल स्कूल में काम सिखाये शिक्षक मध्यप्रदेश के उत्तरीय जिलों में बडा अच्छा काम कर गये और हिन्दुस्थान भर की सर्वोत्तम प्राथमिक शालाओं में उत्तरीय जिलों की शालाएँ गणना में आने लगीं।

मध्यप्रदेश के लोगों का जीवन

मध्यप्रदेश के जीवन में सस्तापन एक अनोखी बात थी, कारण यह था कि सिर्फ दो ही रेल की लाइनें इस प्रदेश में थीं। एक लाइन भुसावल, खंडवा, नरसिंहपुर, जबलपुर होती हुई प्रयाग को जाती थी और दूसरी लाइन भुसावल से बरार होती हुई वर्धा, नागपुर तक जाती थी। बाकी कहीं रेल का नामोनिशान न था। पक्की सडकें भी इनी गिनी, फौजी हित के हेतु बनी थीं। जनता के हित के लिये सडकें बनती न थीं, एक पक्की सडक जबलपुर से नागपुर तक गई थी, दूसरी जबलपुर से सागर को। ये सडकें जबलपुर, सागर और कामठी की छावनियों को जोडती थीं। वैसे ही एक फौजी सडक कामठी से रायपुर और सम्बलपुर की छावनियों को जोडती थी। पांचवीं सडक नागपुर से छिन्दवाडा होती हुई पचमढी को जाती थी और पीपार-पिपरिया पहुंचकर रेल से सम्बन्ध मिलाती थी। यह सडक भी अंगरेज लोगों को गर्मी में पचमढी पहुंचाने को बनवाई गई थी। एक प्रसिद्ध सडक, जो आमों की सडक कहलाती थी, मिर्जापुर से जबलपुर होती हुई बम्बई को जाती थी। उसके दोनों तरफ आमों के झाड लगे थे, जिससे मुसाफिरों को धूप न लगे। यह भी अंगरेज अधिकारियों तथा व्यापारियों को बम्बई से कलकत्ता ले जाने के लिये बनी थी, और ऐसी चलती थी कि सडक के किनारे शहरों की आमद रफ्त देखने को मिल जाती थी। अब यह सडक टूट गई है।

देशी लोगों का आवागमन घोडों, ऊँट गाडियों पर ही होता था। माल ढोने का काम बंजारे लोग करते थे। हजार पांच-सौ बैलों को एक साथ लादकर अनाज और दूसरी चीजें एक जिले से दूसरे जिले को ले जाते थे।

इन सब कारणों से देश बडा सस्ता था। छत्तीसगढ में, जोकि रेल से बहुत दूर था, बहुत ही सस्ता था। मेरे घर के पुराने आंकडों से पता चलता है कि गेहूं रुपये का ५०—५५ सेर, हलका चावल १॥ मन, बढिया चावल १। मन, तिल्ली का तेल ५ सेर, घी २॥ सेर, और दाल एक मन के अन्दाज मिलती थी। नौकरों की तनख्वाह भी विस्मयकारक थी। पुरुष नौकर १॥ रुपया माहवार पर, स्त्री बारह आने पर, पंखेवाले चार-आठ आने में मिल जाते थे। तुर्रा यह कि मेरे पिता ने जो नौकर वहाँ जाने पर रखो थे वे आठ बरस तक जमे रहे और बदली होने पर ही उन्होंने नौकरी छोडी। सागर रेल से कुछ ज्यादा पास था, तोभी गेहूं रुपये का मन भर मिल जाता था। चना सवा मन, दूध सामने दुहा दो या तीन पैसे सेर, घी २॥ सेर, तेल ४—४। सेर, लकडी के गाडे ५ या ६ आने में, देशी जूते ४ या ५ आने में। नौकरों की तनख्वाहें इस प्रकार थीं—सरकारी चपरासी ४ रुपये, ढीमर २॥ या ३ रुपये, बरोनी १। रुपया, पुलिस कान्स्टेबिल ६ रुपये। इतने पर भी जो एक समय नौकर हो गया उसने कभी नौकरी छोडी नहीं और हर समय सुख-दुःख में काम आया। जब हम लोग सागर छोडकर चले तब उनका दुःख देखा न जाता था।

लोगों का जीवन भी बडा सादा देखने में आया। मोटा खाना, मोटा पहिनना और सात्विक जीवन व्यतीत करना। तमाखू, पान का शौक तो था, पर इसके सिवाय कोई दूसरी आदतें खाने पीने की न थीं। सागर कस्बे को

छोड़कर तरकारी भाजी भी न मिलती थी। वहां भी हम लोग कौड़ियों से तरकारी भाजी लेते थे। एक पैसे में ६४ कौड़ी और ८ कौड़ी की १ दमड़ी। एक दमड़ी की एक लौकी, दो एक दमड़ी के कुम्हड़े और दो-चार कौड़ियों में भाजी मिल जाती थी। केवल आलू और गोभी खरीदने के लिये तांबे का पैसा लगता था।

इनेगिने सरकारी नौकरों को छोड़कर, जो हफ्ते में एक बार हजामत बनवाते थे, लोगों को देखने से ऐसा मालूम होता था कि नाई और धोबी से दुश्मनी हो गई है। महीनों में कहीं भूले भटके हजामत बनवा ली तो गनीमत थी, और धोबी को कपड़े देना भी एक पर्व के समान माना जाता था। लोग सब कपड़े हाथ से फींचकर रस्सी माटी तथा सज्जी मिट्टी से साफ कर लेते थे। साबुन से मानों पूर्व जन्म का वैर था। एक कहावत प्रचलित थी—"सब वस्त्रों में मने आई मोको कमरी, धोबी साला मर जाय पर न पावे दमड़ी"। नाई धोबी से इतना द्वेष होते हुए भी उनकी सत्ता प्रबल थी। समय आने पर अपना हक लेने में चूकते न थे। शादी विवाह के समय नाई यदि रूठ जाय तो मुश्किल पड़ जाती थी, कार्य में अनेक विघ्न आने लगते थे। गणेश जी के रूठ जाने से जो कठिनाइयां श्रीकृष्ण को भोगनी पड़ीं, उनका दिग्दर्शन हो जाता था। इसी तरह मेहतर तक अपना प्रभाव लोगों पर जमा लेते थे। नाई ही विवाह संबंध जोड़ते थे और उनके रूठ जाने पर अच्छे अच्छे घरों का फजीता हो जाता था। उसका काम था जिवनार के लिये पत्तल लाना, मशाल जलाना, निमंत्रण देना, आगंतुकों का स्वागत करना, कर्मकाण्ड में मदद देना। हजामत बनवाई एक पैसा ही लगती थी, पर साथ ही उसे आध घंटे तेल मालिश भी करनी पड़ती थी। पर समय आने पर गांव या बिरादरी का बादशाह बन बैठता था।

खाने पीने तथा छुआछूत का विचार लोगों में बहुत था और सिवाय अपनी ही बिरादरी के इनेगिने घरों को छोड़कर लोग कहीं भोजन को न जाते थे। यदि बहुत आग्रह हुआ तो फलाहारी मिठाई से काम चलाते थे। परन्तु, जाति भेदभाव बहुत होने पर भी थोड़ा बहुत जनतंत्र का वातावरण हरजगह देखने में आता था। गांव का चमार महतर भी यदि अवस्था में बड़ा हो, तो उसे काका, दादा कहकर लोग पुकारते थे। वह भी बड़े से बड़े घर के बच्चों या अन्य लोगों को अनुचित कार्यवाही करने पर डांट लगाने में चूकता न था। सुख-दुःख के समय गांव या मुहल्ले के लोग हर तरह मदद करते थे और अपना काम समझकर उसे सम्हाल लेते थे। इस तरह सब लोग आपस में सुख-दुःख बांट लेते थे।

अतिथि सत्कार की भावना बड़ी प्रबल थी। कोई भी परदेशी आया कि दो-तीन रोज तक उसके खाने पीने और रहने की सुविधा गांव वाले मुफ्त कर देते थे। यहां तक देखने में आया कि पैसा दिखाने पर अपना अपमान समझते थे। जवाब मिलता था कि क्या भगवान ने अन्न, दूध, दही, घी, पैसा लेकर दिया है, जो हम तुमसे पैसा लें?

उन दिनों टीप, दस्तावेजें लिखने की प्रथा न थी, आदमी की जबान काफी समझी जाती थी, जबानी रुपया उधार लिया, बिना गवाह के चुकाया, न लिखा न पढ़ी—ऐसा सच्चा व्यवहार रहता था। बहुत हुआ तो पीपल का पत्ता हाथ में लेकर, जनेऊ छूकर या बच्चे का हाथ पकड़कर या मंदिर में, यदि कह दिया कि हमने रुपया चुका दिया है, तो महाजन को चुप्पी साधनी पड़ती थी—

"कौले मर्दां जां दारद"

मर्द की जबान पक्की होती है, ऐसी फारसी में कहावत है। यही बात हरएक जगह देखने को मिलती थी। लोगों के झगड़े मुहल्ले वाले या पंच लोग तय कर लेते थे। अदालत जाने का काम नहीं पड़ता था। किसी गांव का कोई मनुष्य यदि अदालत गया, तो उस गांव के लोग लुच्चे समझे जाते थे और उनको विवाह सम्बन्ध करने में कठिनाई पड़ने लगती थी। लोग अदालत में जाना तो हीन समझते थे और जाते थे तो सच सच बात कह देते थे; और अपना कुसूर छिपाते न थे। हरएक जिले में एक-दो बंगाली वकीलों को छोड़कर देशी वकील देशी भाषा में देशी ढंग से वकालत करते थे, और दंद फंद का नजारा बहुत कम देखने में आता था।

यह सब कुछ होते हुये भी उस समय इस देश में गहरे अंधकार का वातावरण हर जगह देखने में आता था। अंधविश्वास, जादू-टोना, टोटका, पुरश्चरण, मूठ चलाना, शकुन-अपशकुन और नजर लगाना आदि का प्रचार बहुत था। बात बात पर इनका प्रयोग होता था। कोई भोजन करता हो, और उसकी तरफ कोई ध्यान से देख ले तो उसकी नजर लगाने के दोष पर आफत कर दी जाती थी। किसी के घर पर नीबू की चार फांककर सिंदूर भर दूसरे घर के द्वार पर रख देने पर लोग समझते थे कि हमारे घर की व्याधि दूसरे घर चली गई और इस पर मुहल्ले भर में क्लेश पैदा होता था। किसी से लड़ाई झगड़ा हो गया कि मंत्र पढ़कर मूठ छोड़ दी जाती थी। किसी ने अपकार किया कि उसका विनाश करने के लिये शाक्त धर्म की प्रथा के अनुसार पुरश्चरण कराया जाता था। मंडला जिला

शाक्त धर्म के टोटकों का केन्द्र था। सांप काटने पर मंत्र द्वारा विष उतारने के प्रयोग बहुत चलते थे। मंत्र सिद्ध लोग उड़द या कौड़ी लेकर मंत्र पढ़कर काटने वाले सांप को पकड़ बुलाने की चेष्टा करते थे। दिवाली के समय तीन दिन नग्नावस्था में श्मशान में मंत्र सिद्ध करते थे। छत्तीसगढ़ जादू-टोने का भारी केन्द्र था और उसका दर्जा बंगाल और कामरूप के बाद ही आता था। प्रदेश भर में गांव गांव, मुहल्ले मुहल्ले, गली गली, भूत, प्रेत, पिशाच, डाकन, चुड़ैलन, जिन्न आदि के निवास स्थान माने जाते थे। भय का वातावरण हर जगह देखने में आता था। सागर में एक बार अफवाह उड़ी कि ऊंटनी ने अंडा दिया है। लोगों की देखने को भीड़ लग गई। लोग बेवकूफ बनकर जब लौटे तो यह कहकर मन को समझाने लगे कि किसी रंगरेज की माठ (रंग बनाने की नांद) बिगड़ गई है और उसने सुधारने को गप्प छोड़ी है।

यह सब होते हुए भी यह देख संतोष होता था कि देशी कारीगरी कस्बे कस्बे, गांव गांव किसी न किसी रूप में प्रचलित थी, जैसे निमाड़ में जैनाबाद और शाहपुर के बने देशी कागज, जिनकी बहियां बनती थीं। जबलपुर जिले में पनागर, बघराजी और मझगवां आदि स्थानों में लोहे का सामान (तवा, कढ़ाई, कैंची, करछुली आदि) तैयार होता था। वैसे ही सागर जिले में शाहगढ़, देवरी आदि स्थानों में भी लोहे की चीजें तैयार होती थीं। छत्तीसगढ़ तथा नरसिंहपुर जिलों में कोसे के कपड़े इतने बढ़िया बनते थे कि १५—२० साल तक चलना कठिन न जाता था। नागपुर जिले में उमरेड, रामटेक, खापा, नरखेड आदि स्थानों में उम्दा सूती व रेशमी साड़ी, धोतियां, उपर्णे और साफे इतने अच्छे बनते थे कि उनके सामने विलायती माल फीका जंचता था और ये कपड़े बरसों चलते थे। जबलपुर में कांच की चूड़ियां ढालकर लोग बहुत अच्छी बनाते थे, और हजारों मन चूड़ियां यहां से भेजी जाती थीं। जबलपुर के पीतल तांबे के बर्तन, मंडला, चीचली और हटा के कांसे, फूल और रांगे के बर्तन प्रसिद्ध थे। छीपों, रंगरेजों और कोरी कोष्टों के हुनर भी देखने लायक थे। अंग्रेजी राज्य में उनकी नीति के कारण यह सब नष्ट हो गया।

मध्यप्रदेश के ऐतिहासिक परिवर्तन

मुझे इस प्रदेश में तीन महत्त्वपूर्ण स्थितियां देखने को मिलीं और हरएक स्थिति में महत्त्वपूर्ण और विकृत अनुभव हुए। पहला समय तो वह था कि जब अंग्रेजी सत्ता परिपूर्ण थी और देशी लोग तीन कौड़ी के योग्य न समझे जाते थे। यह समय बंगाल विभाजन के समय तक पूर्ण रूप से रहा और १९२० ई. में असहयोग आन्दोलन के समय नष्ट हुआ।

दूसरा समय परिवर्तन काल है जो १९२० से लेकर १९४७ तक चला। इस काल में अंग्रेजी राज्य की नस नस ढीली होती गई और अंग्रेजों के हाथ से सत्ता निकलती गई।

तीसरा काल स्वतंत्रता-दिवस से शुरू होता है।

पहले काल में हिन्दुस्थानियों की ऐसी बेकदरी थी, कि सिवाय छोटी नौकरियों के उनको कहीं भी मानपूर्वक स्थान नहीं था। मैंने वह समय देखा है, जबकि इस प्रदेश में एक भी हिन्दुस्थानी डिप्टी कमिश्नर, कप्तान पुलिस, सिविल सर्जन, जंगल अफसर या स्कूलों का इन्स्पेक्टर न था, ऐसे किसी ऊंचे स्थान में हिन्दुस्थानी को जगह न थी, ऊंची से ऊंची जगह जो किसी हिन्दुस्थानी को मिल सकती थी वह थी एक्स्ट्रा-असिस्टेंट कमिश्नरी (अनुवाद—जिला साहब के फालतू मददगार)। इस स्थान पर देशी आदमियों को इतने अबेरे लेते थे कि ढाई सौ, तीन सौ से अधिक मासिक तनख्वाह बिरले को ही मिल पाती थी। कुछ एंग्लोइंडियन ही जो सुगमता से लिये जाते थे, चार सौ पांच सौ तक पहुंचते थे और उनके नखरे सच्चे विलायतियों से भी अधिक होते थे। यहां तक तमाशा देखा कि जब हाईस्कूल सागर में था, तब हेडमास्टर और तीन सहकारी शिक्षक अंग्रेज थे, नॉर्मल स्कूल के निरीक्षक तथा कामठी के हेडमास्टर तक विलायती थे और वे विशेष पढ़े लिखे भी न थे।

गदर के बाद जब इस प्रदेश की व्यवस्था की गई, तब फौजी अफसरों को चुन चुन कर मुख्य मुख्य स्थानों में नियत किया गया। कर्नल-मेजर हुए तो डिप्टी कमिश्नर हो गये और कप्तानों को पुलिस का निरीक्षक बना दिया। यही कारण है कि पुलिस निरीक्षक को अभी तक कप्तान पुलिस कहते हैं।

ये फौजी अफसर बुद्धि बल में तो मामूली रहते थे, पर निडर, शारीरिक परिश्रम खूब करने वाले और प्रजा का दुःखदर्द जल्दी समझने वाले होते थे। पहाड़, जंगल, खतरे की जगह में निडर होकर घोड़े पर सवार होकर पहुंचते। घोड़े पर सवार होकर गांव गांव, गली गली, मेंड़ मेंड़ का चक्कर लगाते और लोगों के दुःखदर्द की छानबीन करते। उनके समय में प्रजा की पुकार सुनी जाती और दफ्तर वालों तथा छोटे मुलाजिमों की चालबाजियां अधिक न चल पाती थीं।

फौजी होने के नाते जो हुकुम वे दे दें, उनकी तामील वहीं आनन फानन करा देते थे ; लिखापढ़ी में उनका मन नहीं लगता था और शिकार के बड़े प्रेमी होते थे। इतना सब होने पर भी अंग्रेजियत की बू उनमें प्रबल थी। बूढ़े से बूढ़े छोटे साहिब को एक मामूली गोरे को सलाम करना पड़ता था और जिसने जरा भी ऐंठ दिखाई कि कुचल दिया जाता था।

उस समय की जब याद आती है तब आत्मा कांपने लगती है और रह रह कर उर्दू भाषा का एक मिसरा याद आता है कि "जमीं पर किसके हों हिन्दू रहें अब, खबर ला दे कोई तह तुस्सरा की" याने हिन्दू (भारतीय) के लिये दुनियां में जगह नहीं है, परलोक से बुलावा मिले तभी ठीक हो।

आजकल भी कांग्रेस की किसी व्यवस्था से असंतुष्ट होकर कुछ लोग भ्रमवश यह कहते सुने गये हैं, कि इससे तो अंग्रेजी राज्य अच्छा था। ईश्वर न करे कि वह समय फिर देखने को आवे। हम लोगों को कितने जहर के घूंट पीने पड़े, यह हमीं लोग जानते हैं।

अंग्रेज और भारतीयों में भेदभाव के दो-एक दृष्टान्त देता हूं। पुराने जमाने में हरएक जिले में दरबार होते थे, और चबूतरे पर चीफ कमिश्नर और उनके अंग्रेज साथियों के सिवाय डिप्टी कमिश्नर, सिविल सर्जन, और कप्तान पुलिस आदि बैठते थे। अंग्रेज अफसर ऊपर बिठलाये जाते थे। एक गोखले नाम के हिन्दुस्थानी सर्जन तीन महीने के लिये बांदा में सिविल सर्जन बनाये गये। उन्होंने दरबार के समय चौतरे पर बैठने का आग्रह किया। इस कुसूर पर उसे फिर सिविल सर्जन की या कोई अच्छी जगह न मिली।

मध्यप्रदेश सरकार के प्रधान सचिव कुंजबिहारीलाल सेठ के पिता श्री. मोहनलाल दमोह में हेडमास्टर थे। एक अंग्रेज इन्स्पेक्टर के बूट से किसी लड़के की स्लेट फूट गई। इस पर हेडमास्टर साहिब ने इन्स्पेक्टर साहब से आग्रह किया कि लड़के को नई स्लेट दें। नई स्लेट तो देनी पड़ी, पर मोहनलाल जी को शिक्षा विभाग छोड़ना पड़ा और पीछे से दूसरा झगड़ा खड़ा होने पर नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

पंड्या शंकरनाथ नाम के देहरादून पास एक सज्जन मंडला में जंगल अफसर नियत हुए। उन्होंने दो-चार फौजी अफसरों को जंगल में बिना लाइसेंस लिये नियम विरुद्ध शिकार करने पर चालान किया। फौजी अफसरों का तो कुछ न हुआ, पर इन्हें ऐसी डांट पड़ी कि दुःखी होकर सख्त बीमार पड़े और अपने प्राण छोड़ दिये।

एक मुसलमान अफसर मंडला में डिप्टी कमिश्नर बनाये गये और रोब में आकर कमिश्नर से बराबरी का व्यवहार करना शुरू किया। उन्हें भी ऐसा चटाका दिया गया कि नौकरी छोड़नी पड़ी। इस तरह के अनेक उदाहरण देखने को मिले और हिन्दुस्थानी की क्या कदर है यह समझने का मौका मिला।

जब फौजी अफसर सन् १८९० के आसपास पेन्शन पर गये तब इंडियन सिविल सर्विस के नवयुवक उनके स्थान में आने लगे और योग्यता में कहीं बढ़कर निकले। तथा फौजी अफसरों की मातहती में रहने से दौड़-धूप में भी मुस्तैद रहे, पर पीछे से आने वाले दौड़ धूप कम करने लगे और कागजी घोड़े अधिक चलाने लगे। परन्तु अंगरेजियत की बू फौजी अफसरों से ज्यादा ही पाई गई।

इंडियन सिविल सर्विस का एक अर्थ यह भी होता है कि "हिन्दी-विनयी सेवक"। पर इस मुहकमे के अफसर न हिन्दी, न विनयी, न सेवक थे। वे तो देश के बादशाह बन बैठे थे।

अनेक दोष होते हुए भी इन लोगों में अनेक गुण भी थे ; एक तो रुपयों पैसों के मामले में बहुधा बेलाग रहते थे। रिश्वत शायद ही कोई लेता हो। जिसके बारे में अफवाह उड़ जाय, उसको हिकारत से देखते थे। सबूत मिलने पर एकदम बैरंग कर बिलायत भेज देते थे। जाहिरा तो कुछ कहा न जाता था ; पर भीतरी भीतर सख्ती से कार्रवाई की जाती थी। मैंने अपने समय में इस तरह के पांच छः अंगरेज अफसरों का फजीता होते देखा है, पर क्या मजाल कि कोई अंगरेज अफसर किसी हिन्दुस्थानी के सामने यह कबूल करे कि फलाना अंगरेज बेईमान निकला।

दूसरे इनमें कर्तव्यपरायणता की बुद्धि भी प्रबल थी, और काम कसकर लेना जानते थे। देशी अफसरों की बात तो दूर रही अंगरेज अफसर भी काम में ढीला पाया गया कि उसकी शामत आ जाती थी। कर्तव्य के समय मुरव्वत करना वे जानते न थे। मैंने कई अंगरेज अफसरों को काम में गफलत करने के कारण, भगाये जाते देखा। पर तोभी व्यर्थ की बकवाद न होने पाती थी और देशी आदमी को कानोंकान खबर न पड़ने पाती कि फलाने साहिब को किस कारण अर्द्धचन्द्र मिला।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद हिन्दुस्थानियों की कुछ ऐसी कमर टूट गई थी कि उनमें आत्म-सम्मान की मात्रा प्रायः लोप हो गई थी। सरकारी या गैर-सरकारी लोगों के मन में अंगरेजों को खुश रखना, यही जीवन का ध्येय हो गया था। अंगरेज जो कहे वही प्रमाण माना जाता था। उनकी आज्ञा का पालन आँख मीचकर किया जाता था। देश की इज्जत का लोगों को ख्याल न था। परन्तु इस वक्त भी स्वाभिमान का एकदम अभाव न था। कई अफसर अपने प्रखर स्वाभिमान का परिचय देने से न चूकते थे जिन्हें इसके लिये काफी भुगतना भी पड़ा। मुझे ऐसे कई उदाहरण मालूम हैं।

इस समय में अंग्रेजी राज्य का एक अच्छा प्रभाव यह भी हुआ कि देशी अफसरों में रिश्वत का बाजार ठंडा पड़ने लगा। अंगरेज अफसरों में अपना घमंड था, परन्तु कई विनयी, समझदार और दूरदर्शी भी थे। कई अफसरों ने यह ध्वनि व्यक्त की कि भारत स्वतंत्र होकर रहेगा। उत्तरप्रदेश के एक गवर्नर ने पं. जवाहरलाल जी के स्वतंत्र भारत में प्रधान-मंत्री होने की बात इसी समय मेरे एक मित्र से कही थी।

परिवर्तन काल

सन् १९२० के उपरांत एक परिवर्तन काल आया, जिसमें कुछ चुने हुए देशी अफसरों को ऊँचे ओहदे मिलना शुरू हुए और देशी लोगों को कुछ अधिक अधिकार दिये जाने लगे। इसी समय मैं भी आई. ई. एस. में लिया गया।

सन् १९२०-२१ में महात्मा गांधी जी के चलाये असहयोग आन्दोलन के कारण सरकार की व्यवस्था ढीली पड़ने लगी। मुझे उन दिनों आई. ई. एस. में होने के कारण भीतरी हाल जानने का मौका मिलता रहा, और विरोधी नेताओं से मेल बना रहने के कारण, आन्दोलन के विषय में थोड़ा बहुत परिचय होता ही रहा। इतना कहना बस है कि ब्रिटिश सरकार के राज्य की नींव बेतरह हिल गई और आगे और भी कमजोर होती गई। जालियांवाला बाग की घटना और पंजाब मार्शल लॉ के दुरुपयोग के कारण देशी अफसरों में भीतर भीतर कड़आपन आ गया। अंगरेज अफसर भी समझ गये कि उनकी सत्ता अब बहुत दिन न चल सकेगी। वे भी काम में ढीले पड़ने लगे और अपनी सत्ता कायम रखने के लिये हल्के दर्जे की चालबाजियां शुरू करने लगे जैसे—हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा कराना, मुसलमानों का पक्ष लेना, लोगों में आपस में भेद उत्पन्न करना आदि। होशियार इतने थे कि स्वार्थी देशी लोगों के द्वारा उपद्रव कराकर स्वतः दूर रहते थे—"भुस में आग लगाय, जमालो दूर खड़ी"।

जैसे ये लोग पहले कर्त्तव्यशील, निडर और मिहनती होते थे वैसे अब न रहे ; कठिन समस्या या उलझन उत्पन्न हो या अप्रिय काम कराना हो, देशी अफसरों को सामने खड़ा कर देते थे। दौरे में रसद बेगार मुफ्त मिलने में कठिनाई पड़ने लगी कि डेरा ले जाकर दौरा करना भी बन्द कर दिया। मोटरकार का उपयोग बढ़ जाने से, डॉक बँगले और सड़कें बन जाने के कारण, सड़क किनारे के गाँवों का ही दौरा होता था। देशी भाषा सीखने की रुचि भी निकल गई। सन् १९३०-३१ और १९४२ के आन्दोलन के बाद तो ब्रिटिश सरकार की नस-नस ढीली पड़ गई, और कितने दिनों में कूच होगा केवल यही प्रश्न उनके सामने रह गया।

सन् १९४७ में कई अँगरेज कहकर गये थे कि तुम लोग झक मारोगे और काम सम्हालने के लिये वापिस बुलाओगे, परंतु देश के नेताओं की बुद्धिमानी से उनका स्वप्न भंग हो गया। हमारे प्रदेश में स्वतंत्रता मिलने के बाद कुछ संदिग्ध अंग्रेज अफसरों को श्री. शुक्लजी ने फौरन अलग कर दिया जो उनकी दूरदर्शिता का एक उदाहरण है।

एक निजी अनुभव

सन् १८९६ ई. में कालेज से निकलने के उपरान्त मुझे जबलपुर में डिप्टी इन्स्पेक्टरी मिली और दौरे पर रहना पड़ा। संवत् ५३ का अकाल शुरू हो गया था, और लोगों में भुखमरी फैल रही थी। विशेष करके आदिमजाति तथा अछूत वर्ग के लोगों में भुखमरी अधिक थी।

बुढ़ागर (पनागर के पास) मुकाम पर कुछ नहीं तो १५० कोल गोंड़ आदि भख से मर रहे थे, और जब मैंने उनमें लाई बँटवाने की व्यवस्था करवानी चाही तो ४-५ सेर से अधिक लाई गाँव भर में न मिली। भारी अन्न देने में जोखिम था। हवेली में कुछ अन्न पैदा हुआ था, पर पहाड़ी इलाकों में कुछ पैदा न हुआ। लोगों की तकलीफ देखी न जाती थी। एक खूबी देखने में आई कि जहाँ मैं ठहरता था, वहाँ दरवाजे न थे, न मेरे पास कोई हथियार था, और रुपये-पैसे भी थे। पर तोभी न मेरी चोरी कहीं हुई, न गाँव वालों की। लोग भूखों मर गये, पर पाप से बचे। यह आर्य सभ्यता का नमूना था।

पाटन (शहपुरा) के दौरे के समय वहाँ के रेवन्यू इन्स्पेक्टर ने मुझसे स्वतः कहा कि फसल हवेली में केवल चार आना हुई है। जबलपुर लौटने पर जब जिला अधिकारी को यह बात बतलाई गई, तो वे बिगड़े और कहने लगे कि रेवन्यू इन्सपेक्टर ने मुझे आठ आना की फसल बतलाई है।

इस मिथ्या व्यवहार के लिये सिवाय करम ठोंकने के और क्या इलाज था? पहला सबक यह मिला कि सरकारी रिपोर्ट भरोसे की नहीं होती।

शहर लौटने के बाद ही राजा गोकुलदास के महल में बाबू गोविन्ददास का जन्म हुआ और बड़ी बड़ी खुशियाँ मनाई जाने लगीं, कई लाख रुपये खर्च किये गये, पाँच-पाँच सौ रुपये रोज पर फर्स्ट क्लास का टिकिट देकर ९-१० नाचनेवाली बुलाई गईं, हजारों मन मिठाई रोज तैयार होने लगी। सब कुछ हुआ पर रह-रह कर यह प्रश्न मेरे और दूसरों के मन में उठता था कि आखिर भुखमरों के लिये क्या इन्तजाम है? शहर के रईस, मईस, दुकानदार, सरकारी नौकर, अफसर, इनिया-बनिया सब भोजनों को बुलाये गये। एक हजार से ऊपर गोरे सिपाही भी बुलाये गये, जिनके खिलाने में प्रति मनुष्य ५—७ रुपये खर्च हुआ, बेहिसाब शराब कबाब उड़ी, मैं नया आदमी आया था तो भी हर रोज बुलौआ मिलता था और जाना भी पड़ा। पर रह रहकर यही प्रश्न मेरे और अन्य लोगों के मन में दबी जबान से उठता था कि पुण्य तो तब होता, जब अकाल पीड़ित लोगों की इन रुपयों से रक्षा की जाती और जिला तबाही से बचता।

उसी समय रोमन कैथलिक पादरियों ने एक अनाथालय नांदालभाटे (जबलपुर) के पास खोला था और उसमें करीब ९०० कंगाल इकट्ठे किये गये थे और उनके खाने-पीने की व्यवस्था पादरी लोग करते थे, जो जीते बचे वे सब ईसाई बनाये जाते थे।

विचार करने पर ऐसा दिखता है कि ऐसे ही कारणों से नवजात बालक के मन में भी कुछ विकार हुए होंगे और बड़े होने पर बाबू गोविन्ददास जी क्रान्तिकारी नेता बने और उन्होंने अपने घर की पुरानी रूढ़ि भी बदल दी। "कर्म विपाक" का क्या अच्छा नमूना देखने में आया?

सैकड़ों वर्ष की गुलामी भोगने के उपरान्त इस देश को सन् १९४७ से स्वतंत्रता मिली है। हमारे देशवासियों को यह मौका मिला है कि अपने देश की व्यवस्था स्वयं सम्हालें और उसे धन-धान्य से परिपूर्ण कर दें। उसको हर तरह की उन्नति के मार्ग पर ले जावें। लाहौर के प्रसिद्ध कवि इकबाल ने जो स्वप्न इस सदी के आरम्भ में देखा था वह अब सत्य हुआ। उनके वचन बड़े मार्मिक थे—

इलाही वो दिन आवेगा।
जब अपना राज देखेंगे॥
अपनी ही जमीं होगी।
और अपना आसमाँ होगा॥

जमीन तो अपनी हो गई पर आसमाँ (ईश्वर की दया) अभी पूरी तरह अपना नहीं हुआ। यह तभी होगा जब हम सब पुरुष-स्त्री, युवक, बूढ़े-जवान, सरकारी नौकर, अफसर, राजनैतिक जन, मंत्रीगण सब मिलकर एक चित्त हो, एक भाव से तल्लीन हो, देश के उत्थान का भरपूर प्रयत्न करें। यज्ञ-मंडप में यज्ञ आरम्भ करने के पहले जो ऋग्वेद मंत्र पुरोहित अवधारण के साथ कहता है उसका हर घड़ी हरएक को ध्यान देने का मेरा नम्र निवेदन हर व्यक्ति से है:—

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
यथा वः सुसहासति॥"

—ऋ. —१०,१९१,४

अर्थात्—तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो, और तुम्हारा मन एक समान हो, तथा तुम्हारा अन्तःकरण एक समान हो, जिससे तुम्हारा सुसाहय होगा, अर्थात् संघ शक्ति की दृढ़ता होगी।

मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर

श्री मु. श्री. पन्वे

इस प्रदेश का नाम व स्थान भारत का मान चित्र देखते ही अपने नाम की सार्थकता प्रकट करता है। प्राचीन काल में यह दण्डकारण्य प्रदेश कहा जाता था। विन्ध्य पर्वत ने इसकी उत्तरी सीमा का निर्माण किया है। सतपुडा ने अपनी खंडित पर्वत श्रेणियों से इस प्रदेश का मध्य भाग सजाया है। इसकी नैऋत्य दिशा जगत्प्रसिद्ध अजन्ता पहाडियों ने घेर ली है। पूर्व दिशा दण्डकारण्य से भरी हुई है। नर्मदा विन्ध्य को स्थान स्थान पर छेदकर पश्चिम की ओर बहती है। मध्यप्रदेश प्रागैतिहासिक काल से प्रकृति की गोद में फूला फला है। कलात्मक सृजन प्रकृति की सौंदर्यमयी प्रेरणा द्वारा ही होता है। मानव और उसकी कल्पनाएँ इच्छाशक्ति प्रकृति के अन्तर्बाह्य सौंदर्य को हेरने के लिये लालायित हो जाती हैं। दो-तीन हजार वर्ष पूर्व मानव की सौंदर्यमयी प्रेरणा इच्छा शक्ति, कल्पना, कैसी थी, यह इतस्ततः बिखरे हुए टूटे फूटे खण्डहर, अपनी मूक वाणी से मन को मोहित कर लेते हैं। मध्यप्रदेश में पड़े हुए इन्हीं भग्नावशेषों तथा मूर्तियों का परिचय इस लेख द्वारा कराने का प्रयत्न किया गया है।

ऐतिहासिक भूमिका.—मध्यप्रदेश के प्रागैतिहासिक काल से आज तक इस प्रान्त पर अनेक राज्यवंशों ने राज्य किया है। किन्तु प्रत्येक राज्यवंश की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकना कठिन ही रहा है। पर, सातवीं शताब्दि से लेकर मुसलमानी काल तक की जानकारी हमें प्राप्त होती है। ऐतिहासिक खोजों द्वारा पता चलता है कि आज के मध्यप्रदेश पर जब हैहय वंश का राज्य विस्तार हुआ उस समय महाकोशल के एक बडे भाग पर चेदिवंश के राज्य की स्थापना हो गयी थी। हैहय वंश का मूल स्थान महिष्मण्डल और डाहल में था। महिष्मण्डल की राजधानी माहिष्मती, निमाड जिले के वर्तमान मान्धाता में थी। डाहल की राजधानी जबलपुर जिले में त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) में थी। इन स्थानों पर प्राप्त होने वाले अवशेष अपनी विशेषता प्रकट करते हैं।

मूर्ति कला तथा वास्तु-शिल्प का विकास बौद्ध काल से १४ वीं-१५ वीं शताब्दि तक इस प्रदेश में जारी रहा। बौद्ध काल के हनीयान और महायान सम्प्रदायों के शिल्पावशेष बहुत कम मिलते हैं। परन्तु गुप्तकाल की कला, चालुक्यों के प्रभाव की कला और शिल्प कला के नमूने अब भी मिलते हैं। भारत की वास्तु शिल्प रचना, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध धर्म, पंथ, उपासना पद्धति, दर्शन तथा शासकों की रुचि से बंधा हुआ रहा है। इसी भूमि के प्राकृत सौंदर्य से सृजित कला द्रविड, बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि विभागों में बंट गई है। साथ ही यूनानियों एवं आर्यों की कला-पद्धति के समन्वय से गांधार-कला पद्धति का जन्म हुआ। इस कला पद्धति के नमूने मध्यप्रदेश में कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। दूसरा विभाग मुसलमानी शासन-काल का माना जाता है। इस काल में भारत की मूर्ति तथा शिल्प कला में बहुत परिवर्तन हुआ। मूर्ति कला का लगभग लोप सा ही हो गया। मन्दिरों एवं राज प्रासादों की रचना में भी परिवर्तन हुआ। इस काल के अवशेष मध्यप्रदेश में काफी मिलते हैं।

बरार-प्राचीन विदर्भ—प्रदेश का पश्चिमी भाग विदर्भ है। भारत के प्रागैतिहासिक काल से यह भाग समृद्ध तथा साहित्य एवं अन्य अनेक कलाओं की दृष्टि से उन्नत माना जाता रहा है। बडे बडे प्रभावशाली राजवंशों ने इस पर शासन किया है। भोजकट प्रान्त इसी विदर्भ के अन्तर्गत था। श्री रामचन्द्र ने अपने वनवास का अधिकांश समय इसी दण्डकारण्य में बिताया। नर्मदा के दक्षिण के अनेक स्थलों का भ्रमण श्री रामचन्द्र ने किया था। इसी काल में नर्मदा के उत्तरी अंचल में सहस्रार्जुन, कार्तवीर्य महिष्मण्डल में राज्य कर रहा था। कार्तवीर्य रावण का समकालीन था। श्रीकृष्ण तथा विदर्भ के राजा भीष्मक इस प्रान्त से सम्बद्ध थे। भीष्मक की राजधानी कौडिण्य-पुर में थी। इस काल के कलावशेष नाम मात्र को भी प्राप्य नहीं हैं। सम्भव है कि कौडिण्यपुर के आसपास के स्थानों का उत्खनन कराने पर इस स्थान के प्रागैतिहासिक काल पर कुछ प्रकाश पडे। केवल अकोला जिले के पातूर नामक गांव में पहाडों के पत्थरों में खुदी हुई गुफाएं विदर्भ के बौद्धकालीन इतिहास पर कुछ प्रकाश डालती हैं।

नाग, महाकोशल और छत्तीसगड प्रदेश.—भेडाघाट और उसके निकटस्थ त्रिपुरी (तेवर) के आसपास कई बौद्ध मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। मध्यप्रदेश के चारों कोनों में उस काल में बौद्ध धर्म का प्रचार था। भद्रावती (भद्रपत्तन—भांदक) के भी क्षत्रिय राजा बौद्ध हो गये थे। कदाचित मध्यप्रदेश में भद्रावती से बडा नगर दूसरा कोई उस जमाने

में नहीं रहा। जिस समय सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेन सांग भारत-भ्रमण कर रहा था, उस समय वह भांदक भी गया था। उसे वहां पर सौ संघाराम मिले थे जिन में दस हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। वहां कई बौद्ध मन्दिर भी थे। किन्तु, आज कुछ टूटे फूटे स्तम्भों एवं मूर्तियों के अलावा और कुछ नहीं है।

रायपुर जिले के तुरतुरिया नामक स्थान में बौद्ध भिक्षुणियों का विहार था। वहां पर भगवान बुद्ध की विशाल मूर्ति अभी तक विद्यमान है। बौद्ध धर्म का लोप हो जाने पर भी इस स्थान पर आज भी महिलाएं ही पुजारिन होती हैं। सिरगुजा में जिसका पूर्व नाम झारखंड था, रामगढ़ के पर्वतीय क्षेत्र में बौद्ध गुफाएं और नाटक-शालायें हैं।

प्रकृति की गोद में खेलने वाली आदिमजाति.—मध्यप्रदेश की आदिमजातियों का स्थान भारत की सांस्कृतिक धरोहर में बहुत ऊंचा है। इस प्रदेश में प्रागैतिहासिक काल से आज तक इनके वंश कायम हैं। शबर, गोंड, भिल्ल, कोरकू आदि लोग घने जंगलों में प्रकृति की गोद में खेलने वाले हैं। गोंड शासक भी रहे हैं। इनकी चित्रकला चित्र लिपि के समान है। आदिमजातियों की नृत्य पद्धति वेशभूषा, केश रचना, कला पूर्ण है। इनके सामूहिक नृत्य की वेश-भूषा, वाद्य, गीत और अंग प्रत्यंग के अभिनय से प्रकृति में छिपा हुआ लालित्य, नाद, लय, वर्ण तथा आकार-वैचित्र्य प्रकट होता है। इनके नृत्य देश की सांस्कृतिक धरोहर बन गये हैं। इनके नृत्य देखकर अजन्ता की गुफाओं में चित्रित भित्ति चित्रों की याद अनायास हो आती है। इनके लोक गीत इनके वन्य जीवन की झांकी देते हैं। रचनाएं सीधी सादी किन्तु हृदय को भावनाओं से भर देने वाली होती हैं।

इस प्रकार की ऐतिहासिक पार्श्व भूमि के साथ मध्यप्रदेश में स्थान स्थान पर प्राप्त होने वाले मूर्तियों, मन्दिरों के अवशेषों की सूची के साथ विशेष उल्लेख्य अवशेषों की कला का विवेचन करने का प्रयत्न हम आगे करेंगे।

कलाव शेषों की सूची

(१) चौसष्ठ योगिनी मन्दिर.—भेड़ाघाट, जबलपुर, ११वीं शती।
(२) शिव मन्दिर.—मार्कन्डी, जिला चांदा, १०-११वीं शती।
(३) विष्णु मन्दिर, वराह, ध्वजस्तम्भ.—एरण, ५-६वीं शती।
(४) सिद्धनाथ मंदिर—ओंकार-मांधाता जिला निमाड, ११–१२वीं शती।
(५) विष्णु मंदिर.—जांजगीर, जिला बिलासपुर, ११वीं शती।
(६) जैन मंदिर.—आरंग, जिला रायपुर, १३ वीं शती।
(७) शिव मन्दिर.—सातगांव, जिला बुलडाना, १२-१३वीं शती।
(८) दैत्यसूदन मन्दिर.—लोणार, जिला बुल्डाना, १२-१३वीं शती।
(९) बालाजी की मूर्ति (सारंगपाणी).—मेहेकर, १२-१३वीं शती।
(१०) शिव मन्दिर का प्रवेश द्वार.—नोहटा, जिला सागर, ११वीं शती।
(११) लक्ष्मण मन्दिर.—सिरपुर, जिला रायपुर, ७वीं शती।

चौसष्ठ योगिनियों का मन्दिर.—जबलपुर के निकट भेड़ाघाट में नर्मदा के किनारे यह मन्दिर है। १०-११वीं शताब्दी में कलचुरि राजवंश का यहां राज्य था। त्रिपुरी (तेवर) इसकी राजधानी थी। इतिहासकारों ने इस प्रदेश की शिल्पकला के जो कालखण्ड बनाये उसमें त्रिपुरी की कलचुरि शिल्पकला को सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है। भेड़ाघाट का चौसष्ठ योगिनी मन्दिर इस कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। पाशुपत पंथी शैव उपासकों का यह प्रमुख स्थान था। इसे गोलकी मठ भी कहते हैं। इसके बीचोंबीच शिव मन्दिर है। उसके आसपास वर्तुलाकार बहुत कम ऊंचाई और चौड़ाई का दालान है। इसी दालान में योगिनियों की मूर्तियां स्थापित हैं।

प्राचीन काल की भारतीय मूर्तिकला केवल बाह्य-आकार प्रमाण पर आधारित नहीं थी। विश्व में जो अदृश्य, निराकार सत्य है, उसके प्रतीक को मूर्ति का रूप प्रदान करना ही भारतीय कलाकारों का लक्ष्य था। योगिनियों की मूर्तियों की रचना इसी सिद्धान्त पूर्ति के प्रयास का फल है। कलाकारों को सृष्टि के सृजन में पुरुष और प्रकृति, इन दो शक्तियों का दर्शन हुआ। प्रकृति की शक्ति की उपासना करने की प्रेरणा उसे हुई। उसने प्रकृति को नारी रूप प्रदान कर उन्हें दैवी गुणों की उपमा और अलंकार प्रदान किये। नारी की मानवीय भौतिक यष्ठि-कल्पना लुप्त हो गई और

दैवी गुणों को अंग-प्रत्यंगों द्वारा प्रकट करने वाली सरस्वती, लक्ष्मी, शक्ति, दुर्गा, काली, पार्वती, गंगा, यमुना, आदि की मूर्तियां दैवी संज्ञा पाकर प्रकट हुईं। इसी सिद्धान्त के आधार पर चौसष्ठ योगिनियों की मूर्ति रचना हुई और उन्हें गोलकी मठ में स्थापित किया गया। दैवी गुणों के प्रतीक स्वरूप मूर्ति-निर्माण में भारतीय कलाकारों का उस समय संसार में सर्वोत्कृष्ट स्थान था। उस काल के यूनानी कलाकार मानव देह की वास्तविकता की परमोत्त्व अवस्था प्रकट करके मानव आकार में देवत्व लाना चाहते थे। किन्तु वे असफल रहे। कारण, मूर्तियों में भौतिक देह की यथार्थता प्रकट करने से मूर्तियां विकारोत्पादन का साधन बन गयीं। भारत के मध्यकालीन मूर्ति एवं वास्तु कला के अवशेषों में चौसष्ठ योगिनियों का मण्डलाकार मन्दिर एक विशिष्टता है। वह यूनानियों के मण्डलाकार एम्फी थिए-टरों का बहुत कुछ स्मरण करा देती है।

चांदा जिले के मार्कन्डी का मन्दिर वैनगंगा के किनारे चट्टानों पर बना हुआ है। मन्दिर में स्थापित शिव के ताण्डव रूप की मूर्ति ठीक नहीं मालूम होती। दक्षिण भारत के मन्दिरों में शिव के ताण्डव रूप की जो प्रसिद्ध मूर्तियां हैं, उनके कला-कौशल का अंशमात्र भी यहां की मूर्ति में नहीं आ पाया है। खजुराहो की कला के अनुसार यह मूर्ति भी है पर इसमें भी स्वाभाविकता नहीं मिलती।

सागर जिले के नोहटा स्थान पर स्थित शिव मन्दिर का प्रवेश द्वार ११वीं शताब्दी के अप्रतिम पत्थर की खुदाई का नमूना है। शिव चरित्र की कुछ कथाएं उस पर खुदी हैं।

एरण का विष्णु मन्दिर, वराह स्वजस्तम्भ मध्यप्रदेश की प्राचीनतम कला का नमूना है। ५वीं-६वीं शताब्दी के वैष्णव पंथी मन्दिर की यह रचना मन्दिर शिल्प के विकास क्रम का द्योतक है। समुद्रगुप्त के काल में सागर के निकट बीना नदी के किनारे एरण में "स्वभोग नगर" का निर्माण किया गया था, ऐसा ऐतिहासिक खोजों से पता चलता है।

विदर्भ में बुल्ढाना जिले के मेहेकर स्थान में स्थित विष्णु की मूर्ति ई. सन् १३५० की है। इस समय एक विशाल मन्दिर में इस मूर्ति की स्थापना की गई थी, ऐसा मालूम होता है। उसके स्तम्भों की विशालता और कला देख कर सहज ही अनुमान हो जाता है कि यहां के विष्णु मन्दिर का स्वरूप क्या रहा होगा। आज का मन्दिर तो सौ-दो सौ वर्ष पुराना भी न होगा। इस प्रकार की विष्णु-मूर्ति मध्यप्रदेश में और कहीं नहीं है। मेरे भ्रमण और निरीक्षण में यही एक ऐसी मूर्ति मिली, जो भारतीय मूर्ति-निर्माण नियमों के अनुरूप है और साथ ही अत्यन्त सुन्दर भी।

मूर्ति, शिल्प, चित्र आदि ललित कलाएं समाज की मनोभावना और आचार विचार का दर्पण होती हैं। इस का विकास ही वस्तुतः प्रभावपूर्ण संस्कृति का विकास है। उपरोक्त कला-कृतियों में भारत की आन्तरिक भावनाओं का सजीव दर्शन होता है। भारतीय कला के इन सच्चे नमूनों से भारत की सत्प्रवृत्तियों की कल्पना की जा सकती है।

मध्यप्रदेश में बौद्ध संस्कृति का प्रभाव

श्री भवानीशंकर नियोगी

सर विलियम हंटर ने ई. सन् १८८२ में "द इंडियन एम्पायर, इट्स पीपुल्स, हिस्ट्री एण्ड प्राडक्ट्स (तृतीय संस्करण)" ग्रंथ प्रकाशित किया। इस ग्रंथ में उन्होंने एक अध्याय भारत में बौद्ध धर्म पर लिखा। छठी शताब्दि में जब यह धर्म ब्राम्हण-धर्म से विकसित हुआ, तबसे लेकर १९वीं शताब्दि तक के इतिहास का सिंहावलोकन करने के बाद लेखक ने लिखा है :—

"बौद्ध धर्म का जीता जागता रूप किसी संस्था विशेष में सीमित नहीं है, परन्तु इसका वास्तविक स्वरूप तो लोकधर्म में निहित है। हिन्दू धर्म का प्रत्येक नया अध्याय बंधुत्व के मूलभूत सिद्धांत से प्रारंभ होता है। मानव मात्र के प्रति उदारता और नम्रता भारतवर्ष का सहज धर्म है। वह विनम्र हिन्दू का प्रमुख गुण है।"

भारत के इतिहास में सन् १८८२ का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस सन् में लार्ड रिपन ने भारत के नगरों की नगर-पालिकाओं की व्यवस्था में स्वायत्त शासन की नींव डाली और सर विलियम हण्टर की अध्यक्षता में स्थापित एक आयोग ने प्राथमिक, माध्यमिक तथा कालेज की शिक्षा में नये सुधारों की सिफारिश की। उस समय तक भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का जन्म नहीं हुआ था।

हिन्दू धर्म के नव प्रवाह के संबंध में सर विलियम हण्टर ने जो भविष्यवाणी की थी, वह आश्चर्यजनक है। आपने लिखा कि—

"भारत की वर्तमान स्थिति में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान बहुत कम संभव जान पड़ता है। योरप और अमेरिका के धार्मिक विचारों पर भी बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों का नये रूप में प्रभाव पड़ रहा है। बौद्ध धर्म मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा के रूप में सामने आयेगा। मनुष्य जो बोयेगा वह काटेगा। वह आत्मा संयम की ओर अग्रसर मानव मात्र के प्रति उसके हृदय में दया का संचार करेगा और जीवन को उच्च एवं सुन्दर बनानेवाले धर्म के रूप में सामने आयेगा।"

सन् १८८२ में किसी ने स्वप्न में भी यह ख्याल नहीं किया होगा कि उसके बाद की शताब्दि में एक ऐसे महापुरुष का जन्म होगा जो "अक्रोधेन जिनेक्रोध असाधु साधुना जिने" के सिद्धांत को, जो उस समय एक चमत्कार सा ही था, लेकर अवतरित होगा और वह उस सिद्धांत का उपयोग ऐसे साम्राज्य को उखाड़ फेंकने में करेगा जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। यह महान घटना महारानी विक्टोरिया के उस स्वर्ण जयन्ती महोत्सव के पश्चात् घटित हुई जब ब्रिटिश सत्ता अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर थी।

मध्यप्रदेश में अहिंसात्मक संग्राम की पताका फहराई गयी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी मध्यप्रदेश की ओर क्यों आकर्षित हुए और उन्होंने अपना निवास स्थान इस प्रान्त में क्यों बनाया? इसका कारण क्या यह नहीं हो सकता कि भारत के हृदय मध्यप्रदेश में बुद्ध की आत्मा अदृश्य रूप से कार्य कर रही थी।

नागपुर से २४ मील दूर रामटेक के निकट एक पहाड़ी है जो आज की नागार्जुन पहाड़ी के नाम से विख्यात है। बौद्ध धर्म के माध्यमिक दर्शन के जन्मदाता के नाते नागार्जुन का बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। माध्यमिक दर्शन की उत्पत्ति बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय से हुई। उनका शून्यता का सिद्धान्त निर्वाण सिद्धान्त की भांति ही गलत समझा गया। परन्तु आज यह माना जाने लगा है कि आप का तात्पर्य उस तथ्यता से था जिसकी उपलब्धि गौतम बुद्ध को हुई थी। मुख्य कठिनाई मनुष्य द्वारा आत्मतत्व के समझे जाने में थी। एक पाश्चात्य लेखक ने लिखा था कि यदि आत्मतत्व की अपरिमित स्थिति पर जोर दिया जाता है तो लोग केवल निरर्थक मोक्ष के रूप में बौद्ध धर्म के निर्वाणतत्व की भ्रमपूर्ण व्याख्या करते हैं (काउसेज इन ह्यूमन अफेयर्स, पृ. १८०)। नागार्जुन बाल्य-काल में ही घर से निकाल दिये गये क्योंकि ज्योतिषियों ने बताया था कि यदि वे घर में रहेंगे तो मृत्यु हो जायेगी। यहां आप

की मुलाकत एक बौद्ध भिक्षु से हुई जो आप की विलक्षण बुद्धि से प्रभावित हुआ और उसने आपके उज्वल भविष्य की सूचना दी। उसने आपको नालंदा विश्वविद्यालय में भरती करा दिया जहां धीरे धीरे आप इस विश्वविद्यालय के प्रमुख हो गये। गया (बिहार) से १५ मील दूर उत्तर में आप के नाम की एक पहाड़ी भी है।

बौद्धकालीन भग्नावशेष मध्यप्रदेश में अधिकतर छत्तीसगढ़ में अर्थात् राजिम, बलोदा, तथा सिरपुर में पाये जाते हैं। बलोदा शिवरीनारायण से तीन मील दूर जोंक नदी के दाहिने किनारे पर है और जिस समय मेजर-जनरल कनिंघम ने इस स्थान की यात्रा की उस समय यहां दो मंदिर थे जिनमें में एक मंदिर में काले पत्थर पर तीन फुट की एक मूर्ति बनी हुई थी, जो अन्य स्थानों पर पाई जानेवाली बुद्ध की मूर्तियों से मिलती-जुलती थी। जब आप रायपुर के दूधाधारीमठ में गये तो आपको वहां बौद्धकालीन अनेक अवशेष मिले, जिन्हें सिरपुर में लाया गया बताया जाता था। हाल ही में डाक्टर दीक्षित ने सिरपुर स्थान का पता लगाया और बुद्ध तथा उनके समय के अनेक अवशेषों की जानकारी प्राप्त की है जिससे सिद्ध होता है कि किसी समय सिरपुर बौद्ध धर्म के कार्य-कलापों का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

भांदक एक दूसरा स्थान है जहां पर बौद्धकालीन प्रभाव बड़ी अधिक मात्रा में पाया जाता है। भांदक नागपुर से १०८ मील दूर चांदा जिले में है और यह महाभारत तथा जैमिनी अश्वमेध यज्ञ में उल्लिखित भद्रावती नगर जान पड़ता है। यह गांव से थोड़ी दूर दक्षिण में भद्रनाथ या भद्रनाग का मंदिर है। यहां प्राप्त एक शिला-लेख नागपुर म्यूजियम में पहुंचा दिया गया और उसका प्रकाशन डाक्टर स्टेवेन्सन द्वारा हुआ था। परन्तु दूसरे मूल का अनुवाद डाक्टर हीरालाल की दृष्टि से आश्चर्य का विषय था। यह एक बौद्ध शिला-लेख है, बुद्ध को "जिन" तथा "तामिन" कहा गया है और उससे पता लगता है कि राजा सूर्यघोष का पुत्र राजप्रासाद के ऊपर से गिरने के कारण मर गया था। इसके पश्चात् उदयन पांडुवंशीय राजा हुआ था। इसने महाकोशल पर शासन किया जिसकी प्रथम राजधानी भांदक थी। चीनी यात्री युवान चांग इस स्थान पर आया था जिसने लिखा है कि यहां १०० संघाराम और लगभग १० हजार साधु थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी थे जो जनता के बीच रहते थे। यहां पर देव मंदिर भी थे। उसके मतानुसार राजा क्षत्रिय था जो बौद्ध धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धा रखता था। उसे कलाओं के अध्ययन में भी अभिरुचि थी। जान पड़ता है कि युवान चांग पर उसके तर्क शास्त्रज्ञान का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह शास्त्रार्थ की कला सीखने के लिये एक मास तक महाकोशल में रहा।

भांदक में एक शिला-लेख ब्राम्ही लिपि में लिखा हुआ मिला था। परंतु पूर्व इसके कि उसका विषय पढ़ा जाये, वह खो गया। अनेक बौद्ध गुफाओं में से केवल दो बच रही हैं जिनमें से एक गांव के दक्षिण में है और दूसरी विजासन की पहाड़ी पर है। अन्तिम गुफा में एक लम्बा बरामदा है जो पहाड़ी में ७१ फीट तक चला गया है और उसके अंत में एक बेंच पर बैठी हुई भगवान बुद्ध की प्रतिमा है। इस बरामदे के दाएं-बाएं प्रवेशस्थल पर भी दो बरामदे हैं और हर एक में बुद्ध की एक प्रतिमा जड़ित है। इन बरामदों में एक शिला-लेख है जो बहुत घिस गया है और जिसे पढ़ना संभव नहीं। गांव के पूरब की ओर एक तालाब है जिसके बीच में एक द्वीप स्थित है। पाषाण स्तंभों का एक पुल द्वीप को मध्य भूमि से मिलाता है। इस पुल की कुल लम्बाई १३६ फीट और चौड़ाई ७·२ फीट है। इसमें मूर्तियां सुशोभित थीं, जिनमें से कुछ जैन मूर्तियां भी थीं। इनमें से एक मूर्ति जैन समाज द्वारा एक शानदार मंदिर में स्थापित की गई है। विचित्र बात तो यह है कि यहां विष्णु और महाकाली की तीन सिर और षटभुजा वाली मूर्तियां भी हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भद्रावती हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म का केन्द्र रही है।

पचमढ़ी में स्थित पांडव गुफाएं भी बौद्धकालीन हैं और उनकी बनावट अलोरा, अजन्ता और करला की गुफाओं से मिलती-जुलती है। मंडला जिले के डिंडोरी स्थान के आसपास भी कुछ ऐसे भग्नावशेष मिलते हैं जो बौद्धकालीन भिक्षुओं की गति-विधि के द्योतक हैं।

मेजर-जनरल कनिंघम ने "आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया" में १४ शिला-लेखों का जिक्र किया है जिनमें से ११ शिला-लेख गुफाओं के और ११ पाषाण स्तम्भों के हैं। सरगुजा जिले के रामगढ़ स्थान में भी एक गुफा का शिल-लिख है। इसी प्रकार के दो पहाड़ियों में खुदे शिला-लेख देवटेक और रूपनाथ में हैं। देवटेक नागभीर स्टेशन से दो या तीन मील की दूरी पर है। इस स्थान के मंदिर में ९ फीट लम्बी और ३॥ फीट चौड़ी शिला पर खुदाई है। उसके अक्षर मिट गये हैं। परंतु अशोक स्तम्भों पर खुदे हुए अक्षरों से मिलते-जुलते जान पड़ते हैं। रूपनाथ में प्राप्त अशोक स्तम्भ ठीक स्थिति में था और उसपर लिखे गये अक्षर पढ़े जा सके हैं।

वैदिक आर्य गोंडवाना की ओर बढ़ गये। परंतु बौद्ध भिक्षु वर्षा ऋतु जंगलों के बीच बिताकर जहां अंधकार था वहां धर्म का प्रकाश करते रहे। रूपनाथ में प्राप्त अशोक के शिला-लेख में नीचे लिखी बातें अंकित हैं :—

"(१) देवानाम प्रिय कहते हैं—दो वर्ष से कुछ अधिक हुआ, परंतु मैं अच्छी तरह प्रगति न कर सका। परंतु साल भर पूर्व जब मैं संघ में सम्मिलित हो गया, तब से मैं धर्म के मार्ग पर अच्छी प्रगति कर रहा हूं। जो देवता अलग रहे थे, वे इस अवधि में मेरे द्वारा मनुष्यों से मिलते रहे, यह मेरे प्रयत्नों का फल है। इसे प्राप्त करना केवल महापुरुषों के लिए भी संभव नहीं है क्योंकि प्रयत्न करके साधारण से साधारण व्यक्ति भी दिव्य सुख का अनुभव करता है।

(२) इसी उद्देश्य से यह घोषणा की जा रही है कि छोटों और बड़ों को इस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। सीमाप्रांत निवासियों (अन्त अपितु जानन्ति) को भी विदित हो। प्रक्रम की यह भावना सदा-सर्वदा बनी रहे। यह प्रयत्न दिन पर दिन वृद्धि गत होता हुआ कम से कम ढाई गुना हो जायेगा।

(३) यह विषय चट्टानों पर खुदा हुआ है और उसे इस प्रकार बार बार दुहराया गया है "यहां एक पाषाण स्तंभ है। यह इस पाषाण स्तम्भ पर उत्कीर्ण होना चाहिये।"

उपरोक्त उद्धरण से 'जम्बू द्वीपे क्षुद्रस्य उदारस्य' (क्षुद्र और महान) शब्द ध्यान देने योग्य हैं। प्रक्रम की यह भावना चिरस्थायी बने (अयम प्रक्रमस्य किमिति ? चिरस्थिति का स्यात)।"

अशोक का ध्यान समस्त जम्बू द्वीप (भारत) पर था और प्रक्रम का उपदेश हर छोटे बड़े को उसने दिया था, जिसे बुद्ध का अवतार कहा जा सकता है।

क्या हमारा देश अशोक चक्र-चिन्ह पर अभिमान नहीं कर सकता जो उस धर्मचक्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसकी स्थापना भगवान बुद्ध ने बनारस के सारनाथ में की थी। क्या उससे हमें नवभारत के निर्माण में सतत प्रक्रम का उपदेश नहीं मिलता ?

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन

३८ वर्षों की प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन

देश के विकास के साथ अन्य उपांगों का स्वाभाविक विकास होता है। उस नियम के अनुसार सन् १९०६ की कांग्रेस ने "स्वराज्य" का राष्ट्रीय मन्त्र देश के सामने रखकर जनता से बलिदान की मांग की, और तब स्वराज्य के साथ ही साथ स्वभावतः राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी राष्ट्र के सम्मुख आया। मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस की विचार-धाराओं से उत्तर-प्रदेश में हिन्दी और उर्दू के विवाद ने उग्र रूप धारण किया और जिसके फलस्वरूप सन् १९१० में काशी नगरी में महामना मदनमोहन मालवीय के हाथों से "अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन" की स्थापना हुई; उसके उद्देश्यों में राष्ट्रभाषा का प्रचार तथा साहित्य की भण्डार-वृद्धि मुख्य थे। इसी प्रसंग पर बंगाल के नेता जस्टिस शारदाचरण मित्र ने यह घोषित किया था कि "हिन्दी राष्ट्रभाषा—और देवनागरी ही राष्ट्रलिपि होगी।" सम्मेलन का कार्य दिन पर दिन देश में व्यापक होता गया। श्रेय तपस्वी बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जी को है जिन्होंने आरम्भ से लेकर अब तक इस संस्था का संचालन किया है। भारत के स्वाधीनता के इतिहास में सन् १९१६ का वर्ष विशेष महत्त्व रखता है। इसी प्रसंग पर देश के नेताओं ने विशेषतः लोकमान्य तिलक, श्रीमती एनी बेसंट और महात्मा गान्धी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया और उससे सम्मेलन के आन्दोलन को काफी बल मिला और उस गतिविधि को राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो गयी।

प्रान्तीय सम्मेलन का जन्म.—सम्मेलन के छः अधिवेशन देश के विभिन्न नगरों में होने के बाद सातवां अधिवेशन मध्यप्रदेश की ओर से जबलपुर में ५, ६ और ७ नवम्बर १९१७ को बिहार के प्रकाण्ड पण्डित रामावतार शर्मा की अध्यक्षता में हुआ। स्वर्गीय पण्डित विष्णुदत्तजी शुक्ल के प्रयास से यह अधिवेशन सफलता के साथ सम्पन्न हुआ, जिसके कारण प्रदेश में नयी जागृति और उत्साह का निर्माण हुआ था। प्रदेश के महाराष्ट्रीय बन्धुओं ने इस कार्य में पूरा सहयोग दिया था, जिनमें सर्वश्री स्वर्गीय मुधोलकर, जी. एस. खापर्डे, डॉ. बी. एस. मुंजे, माधवराव अणे, स्वर्गीय गोल-वलकर, आदि, प्रमुख नेता भी थे। जबलपुर के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के कारण ही प्रदेश साहित्य सम्मेलन का जन्म हुआ। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन तीन प्रमुख अवस्थाओं से अब तक गुजरा है। उसके उतार-चढ़ाव की कहानियां भी कम मनोरंजक नहीं हैं। उस समय के सम्मेलन के कार्यकर्त्ता दो विचारधारा के लोग थे—एक तो सरकारी कर्मचारी व शिक्षाधिकारी और दूसरे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता। दोनों की कार्यप्रणाली भिन्न होने से उसका असर सम्मेलन पर भी हुआ। सरकारी कर्मचारी फूंक-फूंक कर पांव रखते थे कि कहीं उनका गोरा अफसर रुष्ट न हो जाय और उधर कार्यकर्त्तागण स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये बार-बार जेल के सींकचों में बन्द होते थे। बस इन्हीं दोनों टांगों पर सम्मेलन का शरीर रखा हुआ था। यही कारण है कि सम्मेलन कभी जागृत और कभी निद्रित अवस्था में दिखायी देता था। विशुद्ध साहित्य पर जीविका चलानेवाले इस प्रदेश में थे ही नहीं। कुछ पत्रकार थे, जो साहित्य और राजनीति में दखल रखते थे, इसलिये वे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की श्रेणी में गिने जाते थे। राजनीति से संन्यास लेने पर पण्डित माधवराव सप्रे के समान, साहित्य पर जीविका चलानेवाले बहुत ही थोड़े थे। गुलामी ने जनता को भी अज्ञानता के गर्त में ढकेल रखा था।

सन् १९१९ तक मध्यप्रदेश में हिन्दी का अच्छा साप्ताहिक पत्र तक न था, फिर दैनिक की तो कल्पना करना ही व्यर्थ है। भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर अधिवेशन में सप्रेजी ने जनता से अपील की थी कि मध्यप्रदेश से एक सुन्दर साप्ताहिक पत्र निकालने में धनिक-बन्धु सहायता दें। उसका समर्थन पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल और डॉ. मुंजे ने किया था, पर ४ वर्षों तक इस सम्बन्ध में कोई प्रगति नहीं हुई। उसका प्रधान कारण सरकार का आतंक-कारी प्रेस एक्ट था। इस विधि के द्वारा जिला मजिस्ट्रेट सबसे प्रथम नगद जमानत मांगता था और वह कब जब्त कर ली जायगी, इसका ठिकाना न था।

आरम्भिक अवस्था—प्रदेश की विचित्र अवस्था में साहित्य सम्मेलन के संगठन का कार्य पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल के अनुरोध से पण्डित माधवराव सप्रे ने अपने कन्धे पर उठाया था। यही कारण था कि सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन रायपुर में तारीख ३० और ३१ मार्च १९१८ को टाउन हाल में बैरिस्टर तथा विधान सभा के सदस्य पण्डित प्यारेलाल

मिश्र की अध्यक्षता में हुआ था। अध्यक्ष का भाषण जो नागरी प्रचारिणी सभा की त्रैमासिक पत्रिका में आज भी हमको पढ़ने के लिये मिलता है, उससे पता चलता है कि अध्यक्ष स्वयं ब्रजभाषा और खड़ी बोली के झगड़े से बेजार थे। उन्होंने भाषण में दोनों की खूबियाँ बतलायी पर अपना मत निर्भीकता से प्रकट न कर सके। प्रस्तावों की भाषा में स्वावलंबन और निर्भीकता का अभाव था, क्योंकि पहले प्रस्ताव में यह कहा गया था कि "हे प्रभु, युरोप के महायुद्ध में हमारी सरकार विजयी हो" "हमारे प्रभु पंचम जार्ज", "भुवस्त्र शरद : शताम्"। इस शैली के प्रस्तावों से संस्था की तत्कालीन स्थिति साफ प्रकट होती है।

सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन खण्डवा की धर्मशाला के मण्डप में तारीख १८ और १९ अप्रैल सन् १९१९ ई. को विधान सभा के सदस्य पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल की अध्यक्षता में हुआ था। प्रथम अधिवेशन की कार्यप्रणाली देखकर मध्यप्रदेश के चीफ कमिश्नर ने सरकारी नौकरों को भाग लेने की आज्ञा सरकारी गजट द्वारा घोषित की। विशेष बात यह थी कि मंच के प्रमुख स्थान पर सम्राट् पंचम जार्ज का चित्र रखा गया था। इसका तात्पर्य यही था कि सरकार यह समझे कि यह संस्था राजनीति से अलिप्त है। द्वितीय सम्मेलन के पांच प्रस्ताव प्रमुख थे : (१) राष्ट्र भाषा हिन्दी हो (२) शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो (३) प्रान्त में एक ऐसा प्रेस खोला जावे, जहां से हिन्दी का दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक-पत्र निकले और प्रदेश के लेखकों की पुस्तकें उसके द्वारा प्रकाशित हों (४) नगरपालिका और जनपदों की सारी कार्यवाही हिन्दी भाषा में हो और (५) नागपुर के भावी विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य विषय रखा जावे, आदि।

इस समय में देश के राजकीय क्षितिज में जो परिवर्तन हुआ उसका मूल कारण महात्मा गान्धी का असहयोग आन्दोलन था जिसके द्वारा शासन की प्रतिष्ठा हिल गयी थी। उसका असर देश की विभिन्न संस्थाओं पर भी हुआ। सम्मेलन उससे अछूता न रहा, क्योंकि उसका सभापति उन्हीं को चुना गया, जो कि असहयोगी थे। राजनैतिक प्रांतीय परिषद् के साथ मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन सागर में मई सन् १९२० ई. को बाबू गोविन्ददास की अध्यक्षता में हुआ। अध्यक्ष ने अपने भाषण में साहित्य की अवस्था का चित्र प्रतिनिधियों के सामने रख दिया। इसी अधिवेशन में सम्मेलन का एक विधान और वर्ष भर तक कार्य करने वाली स्थायी समिति* का निश्चय हुआ। वहीं पर जबलपुर में स्थायी कार्यालय रखने का निश्चय भी हुआ था।

प्रगति का प्रथम सिंहावलोकन (१९२०)—अध्यक्ष ने कहा था कि "अब स्वतन्त्रता का युग आरम्भ हुआ है, और हमें पूर्ण विश्वास है कि अब वह समय शीघ्र आने वाला है, जब हम पूर्ण स्वराज्य का उपभोग करेंगे और हमारे साहित्य में स्वतन्त्रता की झलक दिखने लगेगी। काव्य, नाटक, दृश्य-काव्य, उपन्यास, इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति,

---

*सम्मेलन की प्रथम स्थायी समिति—सम्मेलन का स्थायी कार्यालय जबलपुर में रखा गया था। पदाधिकारियों में से अध्यक्ष—बाबू गोविन्ददास, उपाध्यक्ष—पण्डित प्यारेलाल मिश्र, पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल, पण्डित रविशंकर शुक्ल, डॉ. बा. शि. मुंजे, मन्त्री—पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी, उप-मन्त्री—श्री. बालमुकुन्द त्रिपाठी, अर्थ-मन्त्री—श्री. नर्मदा प्रसाद मिश्र, आय-व्यय परीक्षक—श्री. गणेशचन्द्र प्रामाणिक।

स्थायी समिति के ३० सदस्य—

बरार से—श्री. जी. एस. खापर्डे, पण्डित अमृतलाल (अचलपुर)।

नागपुर से—श्री. जमनालाल बजाज, श्री. श्रीकृष्णदास जाजू, श्री. शिवनारायण वाजपेयी, श्री. गोवर्द्धन शर्मा, श्री. प्रयागदत्त शुक्ल।

छत्तीसगढ़ से—पण्डित माधवराव सप्रे, पण्डित लोचनप्रसाद पांडे, सैयद अमीर अली "मीर", पण्डित कुंजबिहारी अग्निहोत्री, श्री. घनश्यामसिंह गुप्त, पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र।

नर्मदा विभाग से—सेठ हरीशंकर (हरदा), पण्डित नारायण प्रसाद वकील, श्री. दौलतसिंह चौधरी, पण्डित रामलाल वद्य, श्री. देवकृष्ण वाहेती।

जबलपुर विभाग से—ब्योहार रघुवीर सिंह, श्री. केदारनाथ रोहण, पण्डित शिवदयाल मिश्र, श्री. झुन्नीलाल वर्मा, श्री. उमेशदत्त पाठक।

जबलपुर से—पण्डित मनोहर पन्त गोलवलकर, पण्डित रघुवरप्रसाद द्विवेदी, पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पण्डित विनायकराव, पण्डित गोविन्दलाल पुरोहित, पण्डित कामताप्रसाद गुरु, श्री. नाथूराम मोदी।

कला-कौशल, वीर-साहित्य, सम्पादन-कला, महिला-साहित्य, साहित्य की आलोचना आदि, में स्वतन्त्रता की झलक स्पष्ट दिखेगी। गत वर्ष हमारे प्रदेश से ३२ पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, जिनमें सार-युक्त ग्रन्थ मुश्किल से दो या तीन होंगे। विगत वर्ष में ५८ ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे। इस हीनता को देखकर किस हिन्दी भाषी को दुःख न होगा? गत ५ वर्षों का ब्योरा लेने पर हमारे प्रदेश के लेखकों ने जो पुस्तकें लिखीं,—उनमें उल्लेख योग्य केवल पण्डित माधवराव सप्रे द्वारा अनुवादित लोकमान्य तिलक का गीतारहस्य, पण्डित विनायक राव की विनायकी टीका, पण्डित रघुवरप्रसाद द्विवेदी का सदाचार दर्पण, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध, पण्डित लोचनप्रसाद पांडे कृत मेवाड़ गाथा, डॉ. हीरालाल के दमोह दीपक और जबलपुर ज्योति, पण्डित प्रयागदत्त शुक्ल का मध्यप्रदेश का इतिहास, श्री. भगाडे साहब की ज्ञानेश्वरी का अनुवाद है।" प्रदेश की पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि "कर्मवीर" के द्वारा जनता में नवजीवन की शक्ति पैदा हुई है। नागपुर का "मारवाड़ी" अपने दायरे में अच्छा कार्य कर रहा है और उसी तरह "संकल्प" का संकल्प स्तुत्य है। "सुबोध सिन्धु" और "आर्यसेवक" को अपनी दशा सुधारना चाहिये। मासिक पत्रों में "श्री शारदा", प्रदेश की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। "छात्र सहोदर" ने छात्रों के साथ सहोदरता आरम्भ की है। सिवनी की "शिक्षण कौमुदी" और बिलासपुर का "विकास" भी साधारण उपयोगी है। शिक्षा के विषय में आपने कहा था—"हमारी शिक्षा हिन्दी के द्वारा हो। पुस्तकालयों के कार्य को आगे बढ़ाया जाये और हमारी विधान सभा की कार्यवाही हिन्दी में हो तथा हिन्दी के प्रचार के लिये सतत उद्योग की आवश्यकता है। विधान सभा में हम ऐसे प्रतिनिधियों को भेजें, जो हिन्दी के समर्थक हों। इस सुधार से जनता में वह योग्यता और उत्साह उत्पन्न होने की आशा है, जिसके लिये अधिकांश में शासन सुधार की सृष्टि हुई है।"

प्रस्तावों के रूप में निम्न प्रस्ताव मुख्य थे—सरकार के जिला दफ्तरों में हिन्दी भाषा का व्यवहार हो। सरकार से प्रार्थना है कि वह अपनी सरकारी और कानूनी भाषा को जिसका हिन्दीपन केवल अक्षरों में है, जनता के लाभ के लिये सरल करने की कृपा करे। प्रदेश के भिन्न भिन्न स्थानों में हिन्दी पुस्तकालय स्थापित हों और हिन्दी लेखकों की एक सूची तैयार की जावे। इस तरह तृतीय सम्मेलन में १६ प्रस्ताव स्वीकृत किये गये थे। प्रस्ताव नं. २, ३, ४, ५, ६, ८, ९, १३, १५ और १६ प्रस्ताव सरकार के पास भेजे गये थे, पर सरकार ने कोई उत्तर नहीं दिया। ४, ८, १३, १५, १६ वें प्रस्ताव शिक्षा विभाग से संबंध रखते थे। प्रस्ताव नं. ७ हिन्दू विश्वविद्यालय के पास भेजा गया था, जिसमें यह आग्रह किया गया था कि वह अपना माध्यम हिन्दी करे। प्रस्ताव नं. ११ से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से निवेदन किया गया था कि वह अपनी कार्यवाही हिन्दी में करे और उसी तरह का एक प्रस्ताव जिला बोर्डों के संबंध में था। सम्मेलन का चतुर्थ अधिवेशन १२, १३ और १४ मार्च १९२१ को जबलपुर में पं. लोचनप्रसाद पांडे की अध्यक्षता में हुआ था। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पं. रघुवरप्रसाद द्विवेदी, अंग्रेजी शासन के समर्थकों में से थे, जिसके कारण अधिवेशन को सफल बनाने में कई तरह की बाधा आयी थी, किन्तु फिर भी दूसरे दिन कांग्रेस नेताओं ने भाग लेकर उसकी कार्यवाही में तेजस्विता ला दी थी। सरकार से निवेदन या प्रार्थना करने वाले प्रस्तावों को बिदाई दे दी गई थी। जैसे—श्री. नाथूराम मोदी ने यह प्रस्ताव पेश किया था कि "म्युनिसिपल, जनपद और कोआपरेटिव के समान अर्द्ध-सरकारी संस्थाएं कई बार प्रार्थना करने भी अपना कामकाज हिन्दी में नहीं करतीं, इसलिये जनता से अनुरोध है कि वे निर्वाचन में उसी को वोट दें जो हिन्दी सेवा करने की प्रतिज्ञा करे।" इस प्रस्ताव पर श्री. घनश्यामसिंह गुप्त, पं. कुंजबिहारीलाल अग्निहोत्री और श्री. भैयालाल जैन के भाषण हुए थे। इसी तरह प्रान्तीय अदालतों और विधान सभा की कार्यवाही हिन्दी में न होने से सम्मेलन असंतोष व्यक्त करता है। इस प्रस्ताव पर खूब चलचल चली थी। मूल प्रस्ताव के समर्थक थे पं. चन्द्रगोपाल मिश्र, श्री. मनोहरपंत गोलवलकर और श्री. रुद्रप्रतापसिंह; पर ठाकुर लक्ष्मणसिंह और पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र आदि ने विरोध करते हुए कहा था कि इस प्रस्ताव पर हम असंतोष व्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में उसका अर्थ होता है कि हम सरकार से यह प्रार्थना कर रहे हैं कि विधान सभा आदि का काम हिन्दी में हो। हमारी कांग्रेस ने यह निश्चय किया है कि हम कोर्ट और कौन्सिलों का बहिष्कार करें। ऐसी अवस्था में विधान सभा से असंतोष प्रकट कर यह आशा न रखें कि उनका सारा कार्य हिन्दी में हो। यह विवाद उग्र हो जाने से अन्त में यह प्रस्ताव स्थगित ही कर दिया गया। तीसरे दिन की बैठक में कांग्रेस को इसलिये धन्यवाद दिया गया था कि उसने अपनी कार्यवाही हिन्दी में भी करने की अनुमति दे दी थी। इन सबमें महत्व का प्रस्ताव यह स्वीकृत किया गया था कि—"मध्यप्रदेश में हिन्दी विश्वविद्यालय स्थापित किया जावे।" पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने एक प्रस्ताव के द्वारा प्रदेश के लेखक और कवियों से आग्रह किया "कि वे लोग अपनी रचनाएं स्वाधीनता प्राप्त करने के ध्येय से लिखें, जिससे जनता में जागृति हो।" इस तरह जबलपुर का चतुर्थ अधिवेशन राष्ट्रीय भावनाओं के साथ संपन्न हुआ। उसके कारण सरकारी पदस्थ हिन्दी साहित्य सेवियों में काफी क्षोभ फैल गया था। उसके कारण सरकारी कर्मचारी संस्था से कुछ समय के लिये पृथक से हो गये।

सम्मेलन का पांचवा अधिवेशन ४ मार्च १९२२ को नागपुर में पं. रविशंकर शुक्ल की अध्यक्षता में हुआ। विधान सभा के अध्यक्ष सर गंगाधरराव चिटनवीस, डॉ. मुंजे, शिक्षा मंत्री श्री नारायणराव केळकर, श्री जमनालाल बजाज, श्री दादासाहब खापर्डे, श्री मनोहरपंत गोलवलकर, रायसाहब रघुबरप्रसाद द्विवेदी, पं. कामताप्रसाद गुरु आदि ने सम्मेलन को सफल बनाने में सक्रिय योग दिया। सबसे महत्त्व की बात यह थी कि सम्मेलन में महात्मा गांधी का पत्र भी पढ़ा गया था।* नागपुर सम्मेलन में विधान में कई संशोधन किये गये, जिनके अनुसार स्थायी समिति के सदस्यों की संख्या ४० रखी गई। अध्यक्ष ने भाषण के अन्त में साहित्यकारों से यह अपील की—स्वतंत्रता के अभाव में आज यह देश कितना बेचैन हो रहा है, यह आपके सामने है; अतएव हिन्दी-साहित्य-प्रेमी वर्तमान के स्वातंत्र-संग्राम से उदासीन रहते हुए उत्तम साहित्य के निर्माण का मुख देखते हों—तो इससे बढ़कर आश्चर्य की बात कोई नहीं हो सकती। भारत का हृदय पददलित है। दलित हृदय में उच्च भावनाओं का संचार और संस्कार कहाँ? भारत का कंठ अनिष्टकारी शक्तियों के द्वारा कुंठित हो रहा है। कुंठित हृदय से सच्चे हृदयोद्‌गार का निःसरण किस तरह संभव हो सकता है? हृदयोद्‌गार के अवरोध में साहित्य-निर्माण की संभावना कैसी?

इस सम्मेलन में १० प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। सम्मेलन ने तीन उप-समितियां भी बनायीं जिनमें से एक राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, दूसरी समालोचना समिति और तीसरी विभक्ति निर्णय समिति। इस सम्मेलन में विदर्भ का प्रतिनिधित्व श्री ब्रिजलाल बियाणी ने किया था और उन्होंने आगामी अधिवेशन को अकोला के लिये निमंत्रण दिया था, पर राजनैतिक आंदोलन में व्यस्त हो जाने से सम्मेलन का अधिवेशन १० वर्षों के लिये टल गया। इधर इसी बीच में स्थायी मंत्री पं. बालमुकुन्द त्रिपाठी के देहावसान के कारण कार्यालय अस्त-व्यस्त हो गया। सम्मेलन पुस्तकालय और सम्मेलन के कागज-पत्र भी लुप्त हो गये। सम्मेलन के जीवन की प्रथम अवस्था यहीं पर समाप्त हो गई।

सम्मेलन की नई चेतना.—हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों में नवचैतन्य सन् १९३५ से फिर से आया। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का २४ वां अधिवेशन इन्दौर में हुआ था। उस प्रसंग पर मध्यप्रदेश की ओर से पं. प्रयागदत्त शुक्ल ने स्व. जमनालालजी बजाज की अनुमति लेकर स्थायी समिति में यह प्रस्ताव रखा था कि सम्मेलन का २५ वां अधिवेशन नागपुर में हो। मद्रास वालों का भी आग्रह था, पर महात्मा गांधी ने नागपुर वाला प्रस्ताव मान लिया। इस अवसर पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन की रजत-जयंती बाबू राजेन्द्रप्रसादजी (हमारे वर्तमान राष्ट्र-पति) की अध्यक्षता में मनाई गई थी। इस अधिवेशन को सफल बनाने का अथक प्रयास स्वागताध्यक्ष श्री. ब्रिजलाल बियाणी ने किया। इस सम्मेलन में महात्मा गांधी, श्रीमती कस्तूरबा, सरदार पटेल, श्री राजगोपालाचार्य, उस समय के राष्ट्रपति पं. जवाहरलाल नेहरू, श्री कन्हैयालाल मुंशी, बाबू प्रेमचंद, राजर्षि टंडन, श्री जैनेन्द्र कुमार, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री बालकृष्ण नवीन, श्री. रामनरेश त्रिपाठी, पं. लक्ष्मीधर बाजपेयी, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, पं. माखनलाल चतुर्वेदी आदि अनेकानेक प्रमुख साहित्यिकों ने भाग लेकर उसे सफल बनाया था। सबसे महत्त्व की बात यह थी कि श्री काका कालेलकर के प्रयास से नागपुर में ही सम्मेलन के साथ में अखिल भारतीय साहित्य परिषद की स्थापना महात्मा गांधी की अध्यक्षता में हुई थी जिसका उद्देश्य था भारत की समस्त भाषाओं के साहित्यिक एक मंच पर बैठकर साहित्य-विकास का कार्यक्रम तैयार करें। श्री. कन्हैयालाल मुंशी और श्री. काका कालेलकर उसके संचालक थे और उसका मुखपत्र "हंस" (सम्पादक श्री प्रेमचंद और श्री मुंशी) था। नागपुर अधिवेशन से इस प्रदेश में फिर से साहित्य का नवचैतन्य उत्पन्न हुआ।

साबरमती, २५-१-१९२२

*महाशय,

आपका पत्र महात्माजी को मिला। उनकी राय में इस राज्यक्रांति के समय साहित्य संबंधी संस्थाओं का आगामी कर्तव्य (१) राज्यक्रांति में मदद दें ऐसी किताबों का हिन्दी में लिखा जाना, अनुवाद करके फैलाना और (२) हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का पुरा यत्न करना और उसके लिये द्राविड़ देश में हिन्दी शिक्षकों का भेजा जाना, होना चाहिये। मद्रास में हिन्दी प्रचार का काम हो रहा है, पर इतना बस नहीं।

श्री प्रयागदत्त शुक्ल,
मंत्री, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
सीताबर्डी, नागपुर.

आपका—
सुरेन्द्र.

कटनी के साहित्य प्रेमियों के उत्साह से सम्मेलन का ६ वां अधिवेशन कटनी में पं. माखनलाल चतुर्वेदी की अध्यक्षता में हुआ। जिसके लिये ब्योहार राजेन्द्रसिंह ने काफी प्रयास किया था। स्वागताध्यक्ष श्री दयाशंकर मावाशंकर दवे थे। इसी सम्मेलन के साथ में प्रान्तीय कवि सम्मेलन का अधिवेशन पं. कामताप्रसाद गुरु की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन हो जाने के बाद भी सम्मेलन का स्थायी कार्यालय पुष्ट रीति से न जम सका। परिणाम यह हुआ कि वर्ष भर तक कोई कार्य न हुआ। फिर भी सूखे हुए ठूंठ पर जल-सिंचन से उसमें नवीन पल्लव अवश्य उग आये थे।

सप्तम अधिवेशन सागर में पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में हुआ जिसकी निश्चित तिथि व कार्यवाहियों का विवरण उपलब्ध नहीं है और इसके बाद भी सम्मेलन के स्थायी कार्य में कोई मजबूती नहीं आई। इसी कारण से सम्मेलन २-४ वर्षों तक सुस्त पड़ा रहा। इस समय तक न तो सम्मेलन का कहीं स्थायी कार्यालय था और न उसके कार्यकर्त्ताओं का ठीक पता लगता था।

सन् १९३९ में पं. बलदेवप्रसाद मिश्र को स्फूर्ति हुई कि सम्मेलन को फिर से एक गति दी जाय और उसका समर्थन ब्योहार राजेन्द्रसिंह ने किया। रायपुर के तरुण साहित्यिक श्री घनश्यामप्रसाद 'श्याम' ने सम्मेलन को सफल बनाने का भार अपने ऊपर लिया—जिसके कारण सम्मेलन का अष्टम अधिवेशन रायपुर में रायगढ़ के राजा चक्रधरसिंह की अध्यक्षता में हुआ। इस सम्मेलन तक सम्मेलन की यह स्थिति थी कि न तो सम्मेलन की कोई नियमावली ही थी और न किसी प्रकार की परम्परागत दिशा पड़ी। फिरभी अष्टम सम्मेलन पर्याप्त सफल रहा। किसी अन्य स्थल से निमंत्रण के अभाव में सम्मेलन का नवम अधिवेशन फिर भी मिश्रजी के प्रयास से रायपुर में ही हुआ। यह सन् १९४१ की बात है। अध्यक्ष हुए ब्योहार राजेन्द्रसिंह और प्रधान मंत्री श्री घनश्यामप्रसाद 'श्याम'। तीन वर्षों तक सम्मेलन का कार्यालय रायपुर में ही रहा। ब्योहारजी ने उद्योग करके सम्मेलन का दशम सम्मेलन सागर में करवाने की व्यवस्था की जिसके अध्यक्ष थे डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र। सम्मेलन का कार्य इसी समय से सिलसिलेवार आरंभ हुआ। रायपुर सम्मेलन में सम्मेलन की एक नियमावली बनायी गई थी, जो सागर अधिवेशन में स्वीकृत की गई।

इसमें प्रधान मंत्री श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी चुने गये। पश्चात् ११ वां अधिवेशन सन् १९४५ में नागपुर में हुआ और मनोनीत अध्यक्ष श्री कामताप्रसाद गुरु की अस्वस्थता के कारण फिर से वह भार डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र को सौंपा गया। प्रधान मंत्री श्री विश्वंभरप्रसाद शर्मा चुने गये। नागपुर अधिवेशन में प्रदेश के प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिकों ने भाग लिया था।

सम्मेलन का विकास—श्री ब्रिजलाल बियाणी के निमंत्रण पर सम्मेलन का १२ वां अधिवेशन १४ दिसंबर १९४७ को अकोला में बाबू गोविन्ददास की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। उसी दिन स्थायी समिति की प्रथम बैठक भी हुई थी। अध्यक्ष ने सम्मेलन की नयी कार्यकारिणी घोषित की जिसके मंत्री श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री थे। अकोला की श्रीमती राधादेवी गोयनका ने सम्मेलन के द्वारा प्रति वर्ष ५०० रु. का पुरस्कार देने की घोषणा की। सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि सम्मेलन का स्थायी कार्यालय नागपुर में ही हो। सम्मेलन-भवन बनाने के लिये एक समिति भी बनायी गयी और सम्मेलन का वार्षिक व्यय ६ हजार रुपयों का निश्चित किया गया। अकोला सम्मेलन के पश्चात् प्रति-मास एक विज्ञप्ति प्रकाशित होती थी, जिससे सम्मेलन की गतिविधि का पूरा आभास मिल जाता था। इसी समय से प्रान्तीय सरकार ने प्रति वर्ष ५ हजार की सहायता देने का निश्चय किया, जिससे सम्मेलन के कार्यों को काफी बल मिला।

सम्मेलन का १३ वां अधिवेशन (१९४९) में राजनांदगांव में श्री भदन्त आनंद कौसल्यायन की अध्यक्षता में हुआ। उसी सम्मेलन में प्रधान मंत्री का भार ब्योहार राजेन्द्रसिंह पर सौंपा गया। इसीके पूर्व सम्मेलन कार्यालय के द्वारा एक ग्रंथमाला प्रकाशित करने का कार्य आरंभ हुआ, जिसमें विनयकुमार के गीत, निमाड़ी लोकगीत और बख्शीजी के निबंध, प्रमुख पुस्तकें थीं। इस वर्ष में पं. माधवराव सप्रे की जीवनी और नवान दो ग्रंथों का प्रकाशन सम्मेलन के द्वारा किया गया। इस वर्ष भी सरकार से सम्मेलन को ५ हजार की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी।

हमारी मातृभाषा हिन्दी का भारत की राज्य-भाषा घोषित हो जाना इस वर्ष की महान घटना है। वह तो देश की स्वभावतः राष्ट्रभाषा है ही। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आदेशानुसार प्रान्त भर में "हिन्दी दिवस" मनाया गया।



सम्मेलन के १५ वें गोंदिया अधिवेशन का एक दृश्य : अध्यक्ष श्री वियाणीजी भाषण दे रहे हैं।



सम्मेलन के गत १६ वें दुर्ग अधिवेशन का दृश्य : डॉ. रामकुमार वर्मा उद्घाटन भाषण देते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं।

डॉ. रघुवीर के नेतृत्व में पारिभाषिक शब्दावली निर्माण का कार्य जनवरी १९४७ में आरंभ हो गया। अनेकों अध्यापकों तथा विशेषज्ञों ने उसमें योगदान दिया है। उसके अनुसार अर्थ, वाणिज्य और प्रशासन शब्द-कोष प्रकाशित हुए हैं। साथ ही वन, शिक्षा, खनिजशास्त्र तथा कृषि की शब्दावली भी तैयार हो रही हैं। साथ ही भौतिक शास्त्र, गणित, विज्ञान, प्राणिशास्त्र तथा वनस्पति-शास्त्र पर पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई हैं। पारिभाषिक शब्दावली के साथ-साथ राष्ट्र-भाषा प्रमाणीकरण का कार्य भी हमारे शासन ने अपने हाथ में लिया है। गत ४ जनवरी तक नागपुर में पं. रविशंकर शुक्ल की अध्यक्षता में राष्ट्र-भाषा प्रमाणीकरण की परीक्षा हुई—उसका उद्घाटन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने किया था। इसमें देश के १३ विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। असल में यह कार्य भारत सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिये था, जैसा कि श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने उक्त परिषद के प्रारंभिक भाषण में कहा था। परिषद में भिन्न-भिन्न वक्ताओं ने इसी बात पर जोर दिया था कि—

(१) यह कार्य अखिल भारतीय रूप में केन्द्रीय शासन तथा राज्यों के सहयोग से किया जावे। इस कार्य के लिये अध्यक्ष को अधिकार दिये गये थे।

(२) शासन, शिक्षा, न्याय आदि के लिये अंग्रेजी के स्थान पर समान शब्दावली निर्माण करने के लिये, एक हिन्दी-अंग्रेजी बृहत कोष का निर्माण करना परम आवश्यक है।

परिषद ४ विभिन्न खंडों में बंट गई थी, जिसके जिम्मे निम्न कार्य किये गये :—

(अ) हिन्दी भाषा की प्रामाणिक, व्यापक और सुकर शब्दावली बनाने के लिये तुरन्त क्रियात्मक पग बढ़ाना।

(आ) हिन्दी के वर्ण-विन्यास तथा उच्चारण को प्रामाणिक रूप देना।

(इ) हिन्दी व्याकरण को प्रामाणिक रूप देना।

(ई) नागरी-लिपि को प्रामाणिक रूप देना।

इन चारों विषयों पर समितियों ने उपयोगी सुझाव दिये—जो उसके विवरण में देखे जा सकते हैं। अब आवश्यकता यह है, कि इस कार्य को आगे बढ़ाया जावे और अखिल भारतीय आधार पर कार्य किया जावे।

हिन्दी की शब्दावली, व्याकरण, लिपि का उच्चारण निश्चित हो जाने के साथ हिन्दी माध्यम का प्रश्न उपस्थित होता है, जिसके लिये सम्मेलन बराबर अनुरोध कर चुका है।

इस दिशा में हमारे प्रदेश में उपयोगी कार्य हुआ है। अक्टूबर १९४९ में पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र ने देश के उप-कुलपतियों की एक सभा नागपुर में बुलायी थी, जिनमें उपयोगी निर्णय किये गये। इसके बाद विश्वविद्यालय कमीशन ने भी मातृभाषा माध्यम के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव किये। २२ जुलाई १९५० को मुख्य मंत्री पं. रविशंकर शुक्ल ने फिर एक परिषद बुलाई, जिनके निर्णय इस तरह हैं :—

(१) नागपुर विश्वविद्यालय में कला और विज्ञान में पढ़ाई और परीक्षा के लिये बी. ए. तक हिन्दी या मराठी माध्यम स्वीकार करना विद्यार्थी की इच्छा पर रहे।

(२) सागर विश्वविद्यालय के उक्त विषयों के लिये केवल हिन्दी माध्यम रहे।

(३) नागपुर की परीक्षाओं के लिये उक्त विश्वविद्यालयों ने उन्हें अंग्रेजी माध्यम का विकल्प रखा है—वह वैसा ही रहे।

(४) बी. एस. सी. परीक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तकें तुरन्त बनाई जावें।

(५) हिन्दी की एम. ए. कक्षाएं बनाने के बाद हिन्दी माध्यम द्वारा पढ़ाई हो। विज्ञान संबंधी विषयों पर जब तक पाठ्य-पुस्तकें तैयार नहीं हो जाती तब तक इसकी पढ़ाई व परीक्षा अंग्रेजी ही में हो।



पं. जवाहरलालजी म. प्र. हिंदी साहित्य सम्मेलन के श्री फतेहचन्द मोर हिंदी भवन के शिलान्यास के अवसर पर भाषण देते हुए : मंच पर श्री शुक्लजी, प्रमुख साहित्यिक तथा दानदाता बैठे हैं।



नागपुर में बन रहे उक्त भवन का दृश्य-चित्र

(६) मेडिकल, इंजीनियरिंग, पशु-चिकित्सा, कृषि तथा शिक्षा महाविद्यालयों में जैसे ही पाठ्य-पुस्तकें तैयार हो जावें, हिन्दी माध्यम जारी कर दिया जावे।

(७) भाषा विभाग ६ मास के भीतर रिपोर्ट दे कि उक्त पाठ्य-पुस्तकें बनने में कितना समय लगेगा? उसका साधन क्या होगा? और हिन्दी माध्यम जारी करने की तिथि कौन सी हो सकती है?

(८) माध्यमिक शिक्षा बोर्ड अंग्रेजी माध्यम को बन्द करने का निर्णय शीघ्र करे।

अंतिम प्रस्ताव पर उक्त बोर्ड ने १९ अगस्त को यह निर्णय किया कि सन् १९५२ में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी माध्यम आरंभ कर दिया जायगा। साथ ही अहिन्दी वालों के लिये हिन्दी विषय अनिवार्य कर दिया जावे।

सम्मेलन ने स्मृतिरक्षा, साहित्यकारों का अभिनंदन, साहित्यिक समारोह (तुलसी जयंति, वसंतोत्सव आदि) मनाये। इस वर्ष में कार्य-समिति की ५ बैठकें तथा स्थायी समिति की २ बैठकें हुई थीं।

बस्तर जिले के जगदलपुर नगर में सन् १९५० का सम्मेलन का १४ वां अधिवेशन खूब सफल रहा। उसके उद्घाटक पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र थे। बस्तर नरेश स्वागताध्यक्ष और अध्यक्ष श्री. पदुमलाल पन्नालाल बख्शी थे। इस अधिवेशन में प्रधान मंत्री श्री. स्वराज्यप्रसाद त्रिवेदी चुने गये।

जगदलपुर सम्मेलन के बाद सम्मेलन की गतिविधि फिर मंद हो गई। इसलिये उपाध्यक्ष पं. बलदेवप्रसाद मिश्र ने अध्यक्ष की अनुमति से सम्मेलन का कार्यालय नागपुर में रखने की व्यवस्था की और उसका भार श्री. ललिताप्रसाद पुरोहित को सौंपा। श्री. स्वराज्यप्रसाद त्रिवेदी ने मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। श्री. पुरोहित जी ने परिश्रमपूर्वक सम्मेलन में नवचैतन्य उत्पन्न किया और सम्मेलन का अधिवेशन गोंदिया में कराने का प्रयास किया।

वर्तमान प्रवृत्तियां।—सम्मेलन की नई प्रवृत्तियां गोंदिया के १५ वें अधिवेशन से आरंभ होती हैं जो ४ और ५ अक्टूबर १९५२ को श्री. ब्रिजलाल बियाणी (अर्थ मंत्री, मध्यप्रदेश) की अध्यक्षता में हुआ। सभापति के अपने भाषण में हिन्दी के कर्त्तव्य का सुन्दर चित्रण था। सम्मेलन की कार्यवाही के प्रसार का प्रबंध उत्तम था। पत्रकारों के अतिरिक्त, डाकुमेंटरी फिल्म व्यवस्था और रेडिओ द्वारा रिले-व्यवस्था भी की गयी थी। ललित साहित्य कार्यक्रम भी सुन्दर रहा। "अंधेरी रात में दीपक जलाये कौन बैठा है"—इस गीत के स्वर लहरी के साथ ललित कला सम्बन्धी कार्यक्रम समाप्त हुआ।

इस सम्मेलन से एक नवीन प्रणाली आरंभ हुई और वह है कि प्रदेश के ख्यातिप्राप्त पुराने साहित्यकारों का सम्मान। श्री. लज्जाशंकरजी झा, श्री. सुखरामजी चौबे "गुणाकर", पं. मातादीनजी शुक्ल, श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी, पं. प्रयागदत्त शुक्ल, पं. हृषीकेष शर्मा, पं. लोचनप्रसाद पाण्डेय और पं. मुकुटधर पाण्डेय इन अष्ट साहित्यकारों का इस अधिवेशन में सम्मान सम्मेलन के द्वारा किया गया। साहित्यकारों को चांदी के "कासकेट" में एक-एक अभिनंदन-पत्र समर्पित किया गया जिसमें उनकी सेवाओं का उल्लेख था। इस अधिवेशन के प्रस्तावों में निम्न प्रस्ताव महत्त्व-पूर्ण थे, जैसे—"यह सम्मेलन पारिभाषिक शब्दावली को महत्त्व देता है। जो शब्दावली रखी जा रही है वह योग्य नहीं है। हिन्दी तथा मराठी पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करने के लिये कार्य किया जाय। विदर्भ साहित्य संघ ने पारिभाषिक शब्दावली की आलोचना करते हुए एक उपसमिति बनाई है। प्रदेश के पत्रों में उस सम्बन्ध में काफी चर्चा हुई है। प्रान्त के विद्वानों से सलाह लेकर तब उन शब्दों का निर्माण किया जाय, सारे विद्वानों का संगठन किया जावे तथा अलग अलग ऐसे शब्दों को बनायें जिसे सरकार माने"। इस प्रस्ताव पर काफी चर्चा हुई और अन्त में यह स्पष्टीकरण किया गया कि सरकार अधिकारी विद्वानों के द्वारा और साहित्यिक संस्थाओं का परामर्श करके शब्दावली तैयार करे।

सम्मेलन ने सरकार से यह भी आग्रह किया था कि मध्यप्रदेश सरकार साहित्यकारों को पुरस्कार देकर सम्मानित करे। परंतु यह प्रस्ताव वापिस इसलिये ले लिया गया कि सरकार इस संबंध में उचित कदम उठा रही है। गोंदिया सम्मेलन के बाद अध्यक्ष ने अपनी नवीन कार्यकारिणी की घोषणा की जिसके अनुसार श्री रामगोपाल माहेश्वरी को प्रधान मंत्री का भार सौंपा गया। अध्यक्ष बियाणीजी तथा मंत्री श्री माहेश्वरीजी के कारण सम्मेलन

के विविध कार्यों को नवचैतन्य प्राप्त हुआ। नवीन कार्य समिति की प्रथम बैठक ११ जनवरी १९५२ को हुई जिसमें आगामी वर्ष का आय व्यय का अनुदान स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार १६ हजार रु. का व्यय होने का अंदाज किया गया था। इसी प्रसंग पर श्री. माहेश्वरीजी ने नागपुर में सम्मेलन भवन के संबंध में डेढ़ लाख रुपयों की योजना पेश की, जिसमें सम्मेलन द्वारा यह निधि एकत्रित किये जाने और ५० हजार रु. राज्य सरकार से नियमानुसार अनुदान की अपेक्षा, यह अनुमान कृता गया था। भवन के लिये राज्य सरकार से जमीन प्राप्त करने के कार्य के संबंध में भी जानकारी दी गई थी। इसी तरह प्रदेश के भिन्न भिन्न जिलों में जिला अधिवेशन करने तथा जनता में साहित्यिक जागृति के लिये भी सम्मेलन की ओर से प्रयास किया गया। सम्मेलन के आंदोलन का प्रभाव यह हुआ कि साहित्य निर्माण के लिये सरकार ने एक लाख की निधि घोषित की और उसकी विनियोग की योजना में ९० हजार रु. की राशि अन्य भाषाओं से हिन्दी के अनुवाद-कार्य में और १० हजार रुपये हिन्दी-मराठी के योग्य ग्रंथों पर पुरस्कार के लिये नियत किये।

इसी बीच, मध्यप्रदेश सरकार ने हिन्दी-मराठी को प्रांत की राज्य-भाषा घोषित करने तथा कुछ अपवादों को छोड़कर समस्त कार्य प्रादेशिक भाषाओं में करने की घोषणा की। सम्मेलन की एक समस्या की इस प्रकार पूर्ति हुई।

सन् १९५३ में सम्मेलन की एक चिरकालीन आवश्यकता—अपने भवन के निर्माण का स्वप्न साकार होता दिखाई पड़ा। अध्यक्ष महोदय के सद्प्रभाव से सम्मेलन भवन की योजना मूर्त रूप में सामने आई। उन्हें तुमसर के प्रतिष्ठित नागरिक सर्वश्री सेठ नरसिंहदासजी मोर, सेठ गोपीकिसनजी अग्रवाल एवं सेठ दुर्गाप्रसादजी सराफ से कुल मिलाकर १ लाख १ हजार रुपये की निधि से "श्री फतेहचंद मोर हिन्दी भवन" बनाने का अभिवचन मिला।

इस बीच प्रांतीय सरकार द्वारा सम्मेलन-भवन के लिये अम्बाझरी रोड पर लगभग पौन एकड़ जमीन का प्लाट प्रदान किया गया। इसके बाद सम्मेलन के लिये उपयुक्त भवन का, जिसके साथ रंगमंच भी रहेगा, नक्शा तैयार कराया गया।

सम्मेलन भवन का शिलान्यास—सम्मेलन भवन का शिलान्यास ५ जनवरी १९५४ को राष्ट्रनायक पं. जवाहरलालजी नेहरू के करकमलों द्वारा होना सम्मेलन के इतिहास में चिरस्मरणीय घटना रहेगी। अध्यक्ष श्री बियाणीजी का अनुरोध इस संबंध में आपने प्रसन्नतापूर्वक माना जो पंडितजी की हिन्दी एवं साहित्य के प्रति रुचि का सुन्दर प्रमाण है। इस अवसर पर पंडितजी ने जो भाषण दिया वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था। सम्मेलन भवन के शिलान्यास का समारोह एक सांस्कृतिक और साहित्यिक वातावरण में किया गया और उस समारोह की सर्वत्र सराहना हुई।

इस अवसर पर भाषण देते हुए सम्मेलन के अध्यक्ष श्री बियाणीजी ने कहा कि—"प्रांतीय हिंदी साहित्य के इतिहास में आज का दिन अवश्य एक घटना बनकर रहेगा। हिन्दी के इतिहास में भी यह एक महत्त्वपूर्ण घड़ी है। हिंदी आज एक नये युग की देहली पर खड़ी है। प्रादेशिक भाषा से राजभाषा का स्थान उसने प्राप्त कर लिया है और अब राष्ट्रभाषा में विकसित होने जा रही है। वह उसके लिये एक नवनिर्माण वेला है। राजभाषा घोषित होने के बाद एकाएक ही इसपर महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक भावों और विचारों के आदान-प्रदान का उसे माध्यम बन जाना है। राजनीति, शासन-तंत्र और विज्ञान की नित्य नई आवश्यकताओं के लिये उसे भरपूर उतरना है। उसे इतनी सर्वसुगम, लचीली और गुणग्राही होना है कि देश भर की नाना शैलियों और अंगों के हर नये पदों को आश्रय दे सके। यह सब होते हुए एक क्षण भी यह भ्रम न हो कि उसकी अन्य प्रादेशिक भाषाओं से किसी तरह की स्पर्धा है। हिन्दी की तो आकांक्षा केवल इसके सिवाय और कुछ नहीं कि वह सही अर्थों में राष्ट्र के विभिन्न टुकड़ों के बीच की सुनहरी कड़ी बन जाय।

श्री नेहरूजी द्वारा शिलान्यास—इसके पश्चात् पं. जवाहरलालजी ने तालियों की करतल-ध्वनि के बीच शिलान्यास की विधि पूर्ण की। आपने चांदी के काँचे से सीमेंट लगायी और जंजीर में बंधा पत्थर छोड़ दिया। इस अवसर पर पृष्ठ संगीत के तौर पर आकाशवाणी केन्द्र द्वारा आयोजित संगीत की मधुर ध्वनि गूंजती रही। शिलान्यास विधिवत् कराने का कार्य अकोला के सांस्कृतिक विद्यालय के संचालक पं. भवानीशंकरजी द्वारा सम्पन्न हुआ। श्री. नेहरू ने जिस चांदी के घमेले व करनी से शिलान्यास किया था वे चीजें उन्हें भेंट की गई, परन्तु पंडितजी ने वे चीजें सम्मेलन को भेंट कर दीं। इसके

पश्चात् पंडित जवाहरलालजी ने साहित्य-प्रदर्शनी का निरीक्षण किया जहां मध्यप्रदेश के प्रमुख साहित्यिकों के ग्रंथ लेखकों के हाथ से निकाले गये परिचय-चित्रों के साथ रखे गये थे। प्रान्त की पत्र-पत्रिकाएं, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के हिन्दी प्रचार-सम्बन्धी ग्रंथ एवं विवरण आदि सामग्री तथा राज्य के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित सामग्री भी इसमें रखी गई थी। यह संग्रह देखकर पंडित जवाहरलालजी ने प्रसन्नता व्यक्त की।

पं. जवाहरलालजी ने इस अवसर पर कहा कि—"साहित्य का प्रश्न मुझे बहुत प्यारा है। हर देश के लिये साहित्य का सम्बन्ध जीवन से बंधा हुआ होता है।" दुर्बल देश का साहित्य दुर्बल ही होता है। उसी प्रकार दुर्बल साहित्य देश को दुर्बल बना देता है। आपने अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन के कथन को दुहराते हुए बतलाया कि एक देश के साहित्य से जाना जा सकता है कि वह देश कैसा है। यह कहते हुये कि साहित्य का सवाल बुनियादी सवाल है, नेहरूजी ने कहा कि साहित्य के आइने में देश को देखा जा सकता है।

प्रधान मंत्री ने कहा—अब राष्ट्रभाषा के सवाल पर बहस की कोई गुंजाइश नहीं है। श्री. बियाणीजी के इस कथन का उल्लेख करते हुए कि हिन्दी किसी दूसरी भाषा के मार्ग में बाधक नहीं होगी, नेहरूजी ने कहा कि भाषा के क्षेत्र में एक के बढ़ने से दूसरी घटती नहीं बल्कि विचार-विनिमय के माध्यम से उसका विकास होता है। नेहरूजी ने साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा में कम से कम दूरी रखने की अपील करते हुए कहा कि साहित्य की उन्नति दफ्तरों में नहीं होती। उन्होंने कहा कि ऐसे तो बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा में कुछ फर्क रहता ही है, पर अगर यह फर्क बहुत ज्यादा हो जावे तो फिर साहित्य दुर्बल बन जाता है।

नेहरूजी ने अपने भाषण में कविता और कहानियों की रचनाओं को वांछनीय बतलाते हुए कहा कि हिन्दी के लेखकों को उन हजारों प्रश्नों पर भी लिखना चाहिये, जो कि रोज उठा करते हैं। ऐसी रचनायें होनी चाहिये जिनसे आज की दुनिया को समझने में मदद मिले। उन्होंने साहित्य सम्मेलनों से विशेष रूप से आग्रह किया कि वे साहित्य की अन्दरूनी हालत को भी सुधारने का प्रयत्न करें।

नेहरू जी ने आगे कहा कि हिन्दी के पीछे शक्ति है। उसे संस्कृत का स्रोत प्राप्त है। उसके दायें बायें दूसरी भाषायें हैं।

समारोह के अंत में श्री बियाणीजी ने अतिथियों का आभार प्रदर्शन किया और वन्देमातरम् गायन के पश्चात् समारोह समाप्त हुआ। इस समारोह में राज्यपाल डा पट्टाभि सीतारामय्या, मुख्य मंत्री पं. रविशंकरजी शुक्ल के अलावा अन्य मंत्रीगण, उच्च अधिकारी, प्रमुख नागरिक व साहित्यप्रेमी उपस्थित थे। बाहर से लगभग २०० प्रति-निधि इस समारोह में भाग लेने के लिये आये थे।

सम्मेलन द्वारा सरकारी नियमानुसार राज्य सरकार से एक-तिहाई अनुदान देने की प्रार्थना की गई। तद-नुसार राज्य सरकार ने ५० हजार रुपयों की निधि सम्मेलन को प्रदान कर दी है।

भवन निर्माण का कार्य बहुत अग्रसर हो चुका है और उसके शीघ्र पूर्ण होने की आशा है।

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १६वाँ अधिवेशन ११ और १२ अक्टूबर को दुर्ग नगर में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन की भी अध्यक्षता श्री ब्रिजलालजी बियाणी ने की और उसका उद्घाटन हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार, कवि एवं समालोचक डॉ रामकुमार वर्मा के द्वारा हुआ।

पंडाल के पास ही गांधी विद्यालय के भवन में साहित्य प्रदर्शनी का आयोजन था। इस प्रदर्शनी को लगभग १५ हजार व्यक्तियों ने देखा। इससे प्रान्त की साहित्यिक गतिविधि जानने में लोगों को सहायता मिली। स्वागता-ध्यक्ष श्री मोहनलाल बाकलीवाल थे। तदनंतर अध्यक्ष श्री ब्रिजलाल बियाणी ने अपने भाषण में कहा कि—देश में भाषा की समस्या बहुत विचारणीय है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। राष्ट्रभाषा का अर्थ उस भाषा से है जिसे समस्त राष्ट्र बोलता हो, राष्ट्र की शिक्षा का वह माध्यम हो और राष्ट्र का कार्य, राज्य का कारबार उस भाषा

में चलता हो। जिस भाषा में ये तीनों गुण हों वह पूर्णतया देश की राष्ट्रभाषा कहलाने योग्य होती है। इस दृष्टि से यद्यपि हिन्दी समस्त राष्ट्र की बोलचाल की भाषा नहीं है तो भी व्यापक रूप में यदि समस्त राष्ट्र में किसी भाषा द्वारा काम चल सकता है, तो वह भाषा है हिन्दी। सारे देश में यही भाषा सबसे अधिक बोली जाती है। हमारे संविधान ने हिन्दी को राजभाषा के रूप में और १४ अन्य प्रान्तीय भाषाओं को प्रादेशिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की है।

श्री बियाणी जी ने डॉ. रघुवीर की प्रशंसा करते हुए कहा कि अंग्रेजी की चुनौती को स्वीकार करने का सबसे बड़ा श्रेय डॉ. रघुवीर को है। उन्होंने हिन्दी के शब्दकोष में नये-नये शब्दों को जन्म देकर प्रशंसनीय वृद्धि की है, परन्तु इस चुनौती को स्वीकार करते समय यदि हम हिन्दी को क्लिष्ट बनाते हैं तो हमारी गति अवरुद्ध हो जायगी। इसलिए हिन्दी प्रेमियों का कर्त्तव्य है कि वे हिन्दी को सरल और जनभाषा बनावें। हिन्दी को न संस्कृत बनाया जाये और न संस्कृत को हिन्दी, अपितु उसका जनजीवन के अनुकूल नवनिर्माण किया जावे। हिन्दी का शब्दभंडार संस्कृत से तो लिया जाय परन्तु अन्य प्रादेशिक भाषाओं का दर्वाजा भी खुला रहना आवश्यक है। श्री बियाणी जी ने कहा कि भाषा रूपी शस्त्र का उपयोग साहित्यिक करता है। वह चाहे तो किसी शब्द का उपयोग विनाश के लिए कर सकता है और चाहे तो उसी शब्द को विकास के कार्य में लगा सकता है। इससे साहित्यकारों का कर्त्तव्य है कि वे भाषा में अमृत का प्रवाह बहायें ताकि यदि हिन्दी आज अपनी व्यापकता से राष्ट्रभाषा बनी है तो कल उसकी इज्जत उसकी मधुरता तथा सरलता के कारण हो।

इस अधिवेशन में राज्य के वयोवृद्ध साहित्यिक श्री मावलीप्रसादजी श्रीवास्तव को चांदी के पात्र में एक मानपत्र समर्पित किया गया जिसमें साहित्य के क्षेत्र में उनकी सेवाओं का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया गया था।

इस सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किये गये :—

सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव

(१) "मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन केन्द्रीय सरकार से अनुरोध करता है कि संविधान में उल्लिखित काल में हिन्दी को उसका स्थान प्राप्त होने की दृष्टि से (अ) हिन्दी शब्दसंग्रह कार्य को दो वर्ष की अवधि में पूर्ण किया जाय, (ब) हिन्दी में विविध साहित्य के सृजन के लिये ठोस कदम उठाये जायें, (क) हिन्दी संबंधी तमाम कार्यों को जिनमें हिन्दी टेलीप्रिन्टर, तार आदि हैं, प्राथमिकता प्रदान की जावे और हिन्दी संबंधी योजनाओं के संबंध में हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकारों का अधिकाधिक सहयोग लिया जाय।"

(२) "मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन राज्य सरकार द्वारा एक लाख वार्षिक अनुदान से शासन साहित्य परिषद की स्थापना, पुस्तकालयों को खरीदी गयी पुस्तकों पर १२॥ प्रतिशत अनुदान, सम्मेलन भवन के लिये ५० हजार रुपयों का अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था आदि कार्यों के लिये धन्यवाद देता है। सम्मेलन का मत है कि, इनसे प्रांतीय साहित्य की वृद्धि और प्रोत्साहन के कार्य को अवश्य सहायता मिलेगी। तथापि सम्मेलन अनुभव करता है कि उद्दिष्ट की पूर्ति के लिये शासन साहित्य परिषद के नियमों में कुछ संशोधन की आवश्यकता है। सम्मेलन का सुझाव है कि (१) उक्त परिषद में सम्मेलन को अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय। (२) पुरस्कार के लिये विषयों का विभाजन, (अ) साहित्य व (ब) विज्ञान—इस रूप में किया जाय और पुरस्कारों का वितरण श्रेष्ठ ग्रंथों के बीच प्रतिस्पर्द्धा के बजाय उन्हें प्रोत्साहन की दृष्टि से किया जाय। (३) वार्षिक अनुदान का विभाजन वर्तमान आधार पर न किया जाकर उसे (अ) अन्तर्प्रांतीय साहित्य के अनुवाद, (ब) प्राचीन वैज्ञानिक व मौलिक श्रेष्ठ ग्रंथों के प्रकाशन, (स) पुरस्कारों के लिये वर्तमान से अधिक रकम, (द) साहित्य व लोक भाषाओं की खोज, अन्वेषण, संग्रह, संपादन आदि के लिये व्यवस्था व सहायता और (इ) अत्यंत आवश्यकता की स्थिति में मान्य साहित्यकारों को सहायता आदि मदों में उचित प्रमाण में विभाजित किया जाय।"

(३) "चित्रपट आधुनिक समय में जागृति के महत्वपूर्ण साधन हैं, तथापि हिन्दी में अभी जो अधिकांश चित्रपट तैयार हो रहे हैं—वे समाज के नैतिक स्तर पर आक्रमण करने वाले तथा कला, साहित्य एवं भाषा की दृष्टि से उसका स्तर गिराने वाले हैं। सम्मेलन का केन्द्रीय सरकार से अनुरोध है कि वह इस प्रकार के चित्रों पर शीघ्रातिशीघ्र नियन्त्रण लगाये।"

छत्तीसगढ़ के साहित्यसेवियों द्वारा इसी अधिवेशन में श्री शुक्ल जी को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जो आगामी कार्यकारिणी को विचारार्थ सौंपा गया। कार्यकारिणी ने अगली सभा में विचार कर श्री रविशंकरजी शुक्ल को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निर्णय किया, जिसके अनुसार सम्मेलन की ओर से इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के निर्माण का कार्य पूर्ण हो रहा है।

भविष्य के लिये अनेक योजनाएँ सम्मेलन के विचारार्थ हैं। प्रान्त की इस प्रतिनिधि संस्था को प्रान्त के समस्त साहित्यकारों का लगनपूर्ण सहयोग प्राप्त है और यही इस संस्था की सुदृढ़ नींव भी है।

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की वर्तमान कार्यसमिति इस प्रकार है:—

अध्यक्ष—श्री ब्रिजलाल जी बियाणी। उपाध्यक्ष—(१) पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी और (२) डॉ बलदेवप्रसाद जी मिश्र। प्रधान मन्त्री—श्री रामगोपाल जी माहेश्वरी। संयुक्त मन्त्री—श्री प्रभुदयाल जी अग्निहोत्री। साहित्य मन्त्री—श्री नर्मदाप्रसाद जी खरे। मन्त्री, नर्मदा विभाग—श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह जी। मन्त्री, छत्तीसगढ़ विभाग—श्री केदारनाथ जी झा "चन्द्र"। मन्त्री, विदर्भ विभाग—श्रीजगन्नाथ सिंह जी बैस। मन्त्री, नागपुर विभाग—श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति।

सदस्य—(१) डॉ. हीरालाल जैन, (२) श्री विनयमोहन शर्मा, (३) श्री रामेश्वर शुक्ल "अंचल", (४) श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, (५) श्री नरसिंहदास मोर, (६) श्री हृषीकेश शर्मा, (७) श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित "कुसुमाकर", (८) श्री घनश्यामप्रसाद "श्याम", (९) श्री गोविन्दप्रसाद शर्मा, (१०) श्री उमाशंकर शुक्ल और (११) श्री छबीलाल गुप्त।



Commemoration Vol. — Shukla
Shukla — Commemoration Vol.


CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
New Delhi